प्रकाशक

मोतीलाल जालान

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९९ से २०१४ तक ११,२५०

सं० २०२५ चतुर्थ संस्करण ५,०००

सं० २०२९ पञ्चम संस्करण ५,०००

कुल २१,२५०

मुद्रकः-टाइम टेबुल प्रेस बड़ा गणेश-वाराणसी

मूल्य छः रुपये पचास पैसे

प्रथम संस्करणकी प्रस्तावना

यस्य बोधोदये तावत् स्वप्नवद् भवति भ्रमः ।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

(अष्टावक्रगीता)

आज प्रायः इक्कीस वर्ष होते हैं जब मैंने पहले-पहले बृहदारण्यक उपनिषद्का एक वाक्य सुना था। वह क्षण इस जीवनमें कभी भूल सकूँगा ऐसी आशा नहीं है। उस समय मैं आगरा कालेजका विद्यार्थी था। एक दिन स्थानीय डी० ए० वी० हाईस्कूलमें कोई उत्सव था। एक श्रोताके रूपमें मैं भी वहाँ बैठा था। मेरे श्रद्धेय बन्धु श्रीधर्मेन्द्रनाथजी शास्त्री, तर्कशिरोमणिका भाषण हो रहा था। उन्होंने याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीके प्रसङ्गकी चर्चा करते हुए मैत्रेयीके ये शब्द कहे—

'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।' (२।४।३)

उस समयसे यह वाक्य मेरा पथप्रदीप बन गया। वैराग्यकी जागृतिके लिये इसकी जोड़का कोई दूसरा वाक्य मैंने सम्भवतः अपने जीवनमें नहीं सुना। इससे अधिक मर्मस्पर्शी कोई दूसरी बात कही जा सकती है—ऐसी मेरी कल्पना भी नहीं है।

अस्तु, आज करुणामय प्रभुने उसी उज्ज्वल रत्नकी खानि इस महाग्रन्थको जनताके सामने रखनेका मुझे सौभाग्य दिया है। इसकी महिमाका वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखाना है। वस्तुतः उपनिषद् ही तत्त्वज्ञानके आदि स्रोत हैं। उनसे निकलकर ही विविध वाङ्मयके रूपमें विकसित हुई ज्ञान-गङ्गा जीवोंके संसार-तापको शमन करती है। बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयब्राह्मणके अन्तर्गत है। कलेवरकी दृष्टिसे यह समस्त उपनिषदोंकी अपेक्षा बृहत् है तथा अरण्य (वन) में अध्ययन की जानेके कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं। इस प्रकार

'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका नाम 'बृहदारण्यक' हुआ है। यह बात भगवान् भाष्यकारने ग्रन्थके आरम्भमें ही कही है। किन्तु उन्होंने केवल इसकी आकारनिष्ठ बृहत्ताका ही उल्लेख किया है; वार्त्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य तो अर्थतः भी इसकी बृहत्ता स्वीकार करते हैं—

'बृहत्त्वाद्ग्रथन्तोऽर्थाच्च बृहदारण्यक मतम् ।' (सं० वा० ९)

उनकी यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। भाष्यकारने भी जैसा विशद और विवेचनापूर्ण भाष्य बृहदारण्यकपर लिखा है वैसा किसी दूसरे उपनिषद्पर नहीं लिखा। उपनिषद्भाष्योंमें इसे हम उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति कह सकते हैं।

इस प्रकार सामान्य दृष्टिसे विचार करके अब हम संक्षेपमें इसके कुछ प्रधान प्रसङ्गोंका दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न करते हैं। ग्रन्थके आरम्भमें अश्वमेध ब्राह्मण है। इसमें यज्ञीय अश्वके अवयवोंमें विराट्के अवयवोंकी दृष्टिका विधान किया गया है। इसके कुछ आगे प्रजापतिके पुत्र देव और असुरोंके विग्रहका वर्णन है। इन्द्रियोंकी दैवी और आसुरी वृत्तियाँ देव और असुररूपसे भी मानी जा सकती हैं। इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्मुख ही हैं।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः ।' (क० उ० २ । १ । १)

अतः सामान्यतः वैषयिक या आसुरी वृत्तियोंकी ही प्रधानता रहती है। इसीसे असुरोंको ज्येष्ठ और देवोंको कनिष्ठ कहा गया है। पुण्य और पापसंस्कारोंके कारण इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका उत्कर्ष और अपकर्ष होता रहता है। शास्त्रविहित कर्म और उपासनासे दैवी वृत्तियोंका उत्कर्ष होता है और उन्हें छोड़कर स्वेच्छाचार करनेसे आसुरी वृत्तियोंका बल बढ़ जाता है। एक बार देवताओंने उद्गीथके द्वारा असुरोंका पराभव करनेका निश्चय किया। उद्गीथ एक यज्ञकर्मका अङ्ग है, उसके द्वारा उन्होंने आसुरी वृत्तियोंको दबानेका विचार किया। उन्होंने वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और त्वक्के अभिमानी देवताओंसे अपने लिये उद्गान करनेको कहा। उन देवताओंमेंसे

प्रत्येकने अपने-अपने कर्मद्वारा दैवी वृत्तियोंकी प्रबलताके लिये उद्गान किया; किन्तु उस कर्मका कल्याणमय फल स्वयं ही भोगना चाहा। यह उनका स्वार्थ था। ऋत्विक्‌का धर्म है कि वह जो कुछ क्रिया करे उसका फल यजमानके लिये ही चाहे। यह स्वार्थ स्वयं ही आसुरी वृत्ति है, इसलिये उनका वह कर्म व्यर्थ हो गया। अन्तमें मुख्यप्राणसे इस कर्मके लिये प्रार्थना की गयी। प्राण परम उदार और सर्वथा अनासक्त है। वह किसी भी विषयको स्वयं नहीं भोगता तथा उसकी कृपासे सारी इन्द्रियाँ अपने विषयोंको भोगती हैं। अन्य सब इन्द्रियाँ सोती भी हैं और जागती भी, किन्तु प्राण सर्वदा सजग रहता है। अतः उसके उद्गान करनेपर असुरोंका दाँव बिलकुल खाली गया और देवताओंकी विजय हुई। इस आख्यायिकासे श्रुति यही बताती है कि पापवृत्तियोंका मूल वस्तुतः स्वार्थ ही है; जबतक हृदयमें स्वार्थका कुछ भी अंश है तबतक जीव भोगासक्तिरूप पापमय बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और जिसने स्वार्थका सर्वथा त्याग कर दिया है उसपर संसारके किसी भी प्रलोभनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

इसके बाद द्वितीय अध्यायके आरम्भमें दृप्तबालाकि गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद है। काशिराज अजातशत्रु तत्त्वज्ञ था और गार्ग्य दृप्त—ज्ञानाभिमानी था। उसने जब अजातशत्रुसे कहा कि मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करता हूँ तो राजाने उसे उसी क्षण एक सहस्र सुवर्णमुद्रा भेंट किये। इससे श्रुति यह सूचित करती है कि जो सच्चे महानुभाव होते हैं वे दूसरेके दोषकी ओर न देखकर उसका आदर ही करते हैं। साथ ही इससे ब्रह्मविद्याकी महत्ता भी सूचित की है, जिसकी केवल प्रतिज्ञा करनेपर ही गुणग्राही विद्वान्‌ने वक्ताके प्रति अपनी अनुपम उदारता व्यक्त कर दी। इसके पश्चात् गार्ग्यने जिन-जिन आदित्यादिके अभिमानी पुरुषोंमें ब्रह्मत्वका आरोप किया, राजा अजातशत्रुने उन्हें परिच्छिन्न द्वमात्र बताकर उनकी उपासनाका भी विशिष्ट फल बताते हुए उन सबका निषेध कर दिया। इस प्रकार अपनी

बुद्धिकी गति कुण्ठित हो जानेसे गार्ग्यका अभिमान गलित हो गया और उसने ब्रह्मज्ञानके लिये राजाकी ही शरण ली। राजा उसका हाथ पकड़कर महलके भीतर ले गया और वहाँ सोये हुए एक पुरुषके पास जाकर प्राणके अभिमानी चन्द्रमाके 'बृहत, पाण्डरवास, सोम, राजन्' इत्यादि नाम लेकर पुकारा। किन्तु इन नामोंसे पुकारनेपर वह पुरुष नहीं उठा। तब राजाने उसे हाथसे दबाया और वह तुरंत उठकर खड़ा हो गया। इस प्रसङ्गद्वारा श्रुति यह बताती है कि जितने भी नाम-रूपाभिमानी देव हैं वे वस्तुतः विज्ञानमय आत्मा नहीं हैं; विज्ञानात्मा नाम-रूपसे परे है। सामान्यतया सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी हृदयदेशमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः वही सबका प्रेरक और सच्चा भोक्ता है, अन्य इन्द्रियाभिमानी देव भी उसीकी विभूतियाँ हैं, उसकी सत्ताके बिना उनकी स्वतन्त्र शक्ति कुछ भी नहीं है। इन्द्रियोंको प्रेरित करनेके कारण ये प्राण हैं किन्तु प्राणोंका भी प्रेरक होनेसे वह प्राणोंका प्राण है।

इसी अध्यायके चौथे ब्राह्मणमें याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीका संवाद है। याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थीं- मैत्रेयी और कात्यायनी। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी स्त्रियोंके समान बुद्धिवाली। सम्प्रदायभेदसे इसी उपनिषद्में यह प्रसङ्ग चतुर्थ अध्यायके पञ्चम ब्राह्मणमें फिर आया है। वहाँ इन दोनोंके विषयमें यह बात स्पष्ट कही है। जब याज्ञवल्क्यकी इच्छा संन्यास लेनेकी हुई और उन्होंने दोनों स्त्रियोंको अपनी सम्पत्ति बाँटनेका प्रस्ताव किया तो कात्यायनीके मुखसे तो कुछ निकला नहीं, क्योंकि वह प्रेयःकामिनी थी, उस धनमें ही उसका सारा सुख निहित था; किन्तु मैत्रेयी थी श्रेयःकामिनी। उसने कहा, 'यदि धनसे भरी हुई यह सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी?' 'याज्ञवल्क्य बोले, धनसे अमरताकी आशा तो नहीं की जा सकती; हाँ, सम्पन्न पुरुषोंका जैसा भोगमय जीवन होता है वैसा ही तुम्हारा हो सकता है?' बस, अब मैत्रेयीको

सच्ची कुंजी हाथ आ गयी और उसने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? मुझे तो वही बात बताइये जिससे मैं अमर हो सकूँ।' वस्तुतः यही विवेक और वैराग्यका सच्चा स्वरूप है, जिसके हृदयमें यह वृत्ति जाग्रत् नहीं हुई वह किसी भी प्रकार परमार्थ-तत्त्वको ग्रहण नहीं कर सकता। मैत्रेयीकी उत्कट जिज्ञासा देखकर भगवान् याज्ञवल्क्यने उसे ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया। उन्होंने ब्रह्म और आत्माका अभेद प्रतिपादन करते हुए आत्माके लिये ही सबकी प्रियता, आत्मज्ञानसे ही सबका ज्ञान, आत्मासे भिन्न किसी भी वस्तुको देखनेमें पराभव, आत्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंके उत्पत्ति और प्रलय तथा अज्ञानमें ही अनात्मवस्तुओंकी सत्ता बताकर अन्तमें यह उपदेश किया कि जिसकी दृष्टिमें सब कुछ आत्मा ही हो जाता है उसके लिये कर्ता, क्रिया और करणका सर्वथा अभाव हो जाता है। वहाँ सूँघना, सुनना, मनन करना और जानना आदि कोई क्रिया नहीं रहती तथा वह आत्मतत्त्व किसीका ज्ञेय भी नहीं है, क्योंकि सबका ज्ञाता तो वह स्वयं ही है।

इसके आगे मधुब्राह्मण है। मधु अनेकों प्रकारके पुष्पोंका सार या कार्य होता है तथा पुष्प उसके कारण होते हैं। मधु उपकार्य है और पुष्प उपकारक हैं। यह उपकार्य-उपकारकभाव ही इस ब्राह्मणमें 'मधु' नामसे कहा गया है। अतः यहाँ यह दिखाया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् और दिशा आदि सभी पदार्थ चारों भूतोंके कार्य हैं तथा भूत उनके कारण हैं। इस प्रकार उनका परस्पर उपकार्य-उपकारक-सम्बन्ध है और इस नातेसे वे एक दूसरेके मधु हैं। यह तो हुई व्यावहारिक दृष्टि, किन्तु परमार्थतः उनका अधिष्ठान वह ज्योतिर्मय अमृतमय पुरुष ही है। वही उनका अध्यात्म—मूलभूत अर्थात् वास्तविक स्वरूप है। इसीका नाम आत्मा है और यह आत्मा ही अमृत ब्रह्म और सर्वरूप है। इस प्रकार इस ब्राह्मणमें अधिष्ठान-दृष्टिसे सम्पूर्ण प्रपञ्चकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन किया गया है

और 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (२ । ५ । १९) इस श्रुतिसे स्पष्ट कह दिया है कि वह आत्मतत्त्व ही अपनी मायाशक्तिसे अनेकों आकार धारण करके क्रीडा कर रहा है।

यहाँ मधुकाण्ड समाप्त होता है। इसके आगे दो अध्याय याज्ञवल्कीय काण्डके हैं। इसके आरम्भमें ही राजा जनकके बहुत दक्षिणावाले यज्ञका प्रसङ्ग है। उनके यहाँ पाञ्चालदेशके सभी विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। उन्होंने यह घोषणा कर दी कि जो उनमें सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी हो वह मेरी गोशालामें बँधी हुई दस सहस्र गौएँ जिनके सींगोंमें दस-दस सुवर्णमुद्रा बँधे हुए हैं, ले जाय। एकत्रित ब्राह्मणोंमेंसे किसीका ऐसा साहस न हुआ जो ब्रह्मज्ञानी जनकके सामने अपनेको सर्वश्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता घोषित कर सके। उस समय याज्ञवल्क्यने उठकर अपने ब्रह्मचारीको आज्ञा दी कि इन गौओंको खोलकर ले जाओ। इससे ब्राह्मणोंमें बड़ा क्षोभ हुआ और उनमेंसे एकने पूछा कि क्या तुम ही हम सबमें विशेष ब्रह्मज्ञानी हो? इसपर याज्ञवल्क्यने जो उत्तर दिया वह एक सच्चे महानुभावके अनुरूप ही था। वे बोले 'ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी इच्छावाले हैं।' इसके पश्चात् एक-एक करके उनमेंसे कई ब्राह्मणोंने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किये और उन्होंने उन्हें समाधानकारक उत्तर देकर शान्त कर दिया। अन्तमें गार्गी खड़ी हुई। ब्रह्मवादिनी गार्गीने इस लोकसे आरम्भ करके उत्तरोत्तर प्रत्येक कारणका कारण पूछा। अन्तमें जब ब्रह्मलोकका भी कारण पूछा तो याज्ञवल्क्यने उसे रोक दिया, क्योंकि यह अति प्रश्न था। जहाँ किसी विषयका निर्णय करनेके लिये प्रश्नोत्तर होता है वहाँ निःसन्दिग्ध वस्तुके विषयमें भी सन्देह करना एक अपराध माना जाता है। इसी प्रकारके नियमको भङ्ग करनेसे शाकल्यका सिर कट गया था, जिसका आगे नवें ब्राह्मणमें उल्लेख है। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्यने प्रश्न किये, किन्तु उपस्थित ब्राह्मणोंमेंसे कोई भी उनका उत्तर देनेका साहस नहीं कर सका। इस प्रकार तृतीय अध्याय समाप्त होता है।

चतुर्थ अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद है। जनकने भिन्न-भिन्न आचार्योंसे वाक्, प्राण, चक्षु आदिको ही ब्रह्मरूपसे सुना था। याज्ञवल्क्यने उनमेंसे प्रत्येकके आयतन (गोलक) और प्रतिष्ठा (अधिष्ठान) पूछे। किन्तु जनकने उन आचार्योंसे उनके विषयमें कुछ सुना नहीं था। तब याज्ञवल्क्यजीने उनके आयतन और प्रतिष्ठा बताकर उनकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपासना करनेका विधान किया और उनमेंसे प्रत्येककी उपासनासे देवलोककी प्राप्ति बतलायी। जनकने प्रत्येक उपासनाका फल सुननेपर उसीको परम पुरुषार्थ मानकर याज्ञवल्क्यको एक हजार गौ देना चाहा। किन्तु याज्ञवल्क्यने कहा कि शिष्यको कृतार्थ किये बिना धन लेना मेरे पिताके सिद्धान्तके विरुद्ध है, इसलिये मैं यह दक्षिणा स्वीकार नहीं कर सकता। द्वितीय ब्राह्मणमें जनकको अधिकारी समझकर याज्ञवल्क्यजीने विराट्का वर्णन करते हुए उस सर्वात्माका प्रत्यगात्मामें उपसंहार करके परब्रह्मका उपदेश किया है। इससे जनक कृतकृत्यताका अनुभव करके अपना सारा राज्य गुरुदेवके चरणोंमें समर्पण कर देते हैं। इस प्रकार इस प्रकरणका उपसंहार होता है।

इस अध्यायके तीसरे और चौथे ब्राह्मणोंमें भी जनक और याज्ञवल्क्यका ही संवाद है। इस प्रकार यद्यपि याज्ञवल्क्य इस संकल्पसे गये थे कि मैं स्वयं जनकसे कुछ नहीं कहूँगा। परन्तु पहले वे उन्हें इच्छानुसार प्रश्न करनेका वर दे चुके थे। इसलिये उन्होंने स्वयं ही प्रश्न कर दिया कि 'यह पुरुष किस ज्योतिवाला है?' बस, यहींसे प्रश्नोत्तरके क्रमसे इन दोनों ब्राह्मणोंमें आत्मतत्त्वका बड़े विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। यहाँ विविध प्रकारसे यही निर्णय हुआ है कि आत्मा ही चरम ज्योति है। वह स्वयंप्रकाश है। स्वप्नावस्थामें वही सम्पूर्ण दृश्यको खड़ा कर लेता है। सम्पूर्ण विषयोंका भोक्ता होनेपर भी वह सर्वथा असंग है। सुषुप्तावस्थामें वह सारे प्रपञ्चका उपसंहार करके अपने आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रहता है। वही द्रष्टाकी दृष्टि, ज्ञाताकी ज्ञाति,

तर्हि ? स्वभावेनैव नित्येन प्रकाशेन। तथायमप्यात्मा अविपरिलुप्तस्वभावया दृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते ।

गौणं तर्हि द्रष्टृत्वम् ।

न, एवमेव मुख्यत्वोपपत्तेः; यदि ह्यन्यथाप्यात्मनो द्रष्टृत्वं दृष्टम्, तदास्य द्रष्टृत्वस्य गौणत्वम्, न त्वात्मनोऽन्यो दर्शनप्रकारोऽस्ति; तदेवमेव मुख्यं द्रष्टृत्वमुपपद्यते नान्यथा—यथा आदित्यादीनां प्रकाशयितृत्वं नित्येनैव स्वाभाविकेनाक्रियमाणेन प्रकाशेन, तदेव च प्रकाशयितृत्वं मुख्यं प्रकाशयि तृत्वान्तरानुपपत्तेः; तस्मान्न 'द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलुप्यते' इति न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्ति ।

ननु—अनित्यक्रियाकर्तृविषय एव तृच्प्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगो दृष्टः, यथा छेत्ता भेत्ता

फिर क्या बात है ? वे अपने स्वभावरूप नित्यप्रकाशसे प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा भी अपनी अविनाशस्वरूपा नित्यदृष्टिके कारण 'द्रष्टा' ऐसा कहा जाता है।

शङ्का—तब तो इसका द्रष्टृत्व गौण है।

समाधान—नहीं, इसी प्रकार तो इसका मुख्यत्व सिद्ध हो सकता है; यदि आत्माका द्रष्टृत्व किसी दूसरे भी प्रकारसे देखा गया होता तो इसके द्रष्टृत्वकी गौणता हो सकती थी, किंतु आत्माके दर्शनका कोई अन्य प्रकार तो है नहीं; अतः इसी प्रकार आत्माका मुख्य द्रष्टृत्व उपपन्न हो सकता है, किसी अन्य प्रकारसे नहीं; जिस प्रकार कि आदित्यादिका प्रकाशकत्व अपने स्वरूपभूत, नित्य एवं अकृत्रिम प्रकाशके कारण है, और यही प्रकाशकत्व मुख्य भी है; क्योंकि उसका कोई अन्य प्रकाशक होना सम्भव नहीं है, अतः 'द्रष्टाकी दृष्टिका सर्वथा लोप नहीं होता' इस उक्तिमें विरोधका लेश भी नहीं है।

शङ्का-किंतु तृच्प्रत्ययान्त शब्दका प्रयोग तो अनित्य क्रियाके कर्ताके विषयमें ही देखा गया है, जैसे छेत्ता, भेत्ता, गन्ता इत्यादि; उन्हींके

गन्तेति, तथा द्रष्टेत्यत्रापीति चेत् ?

न, प्रकाशयितेति दृष्टत्वात् ।

भवतु प्रकाशकेऽन्यथासम्भवात्, न त्वात्मनीति चेत् ?

न, दृष्ट्यविपरिलोपश्रुतेः ।

पश्यामि न पश्यामीत्यनुभवदर्शनान्नेति चेत् ?

न, करणव्यापारविशेषापेक्षत्वात्; उद्धृतचक्षुषां च स्वप्ने आत्मदृष्टेरविपरिलोपदर्शनात् ।

तस्मादविपरिलुप्तस्वभावैवात्मनो दृष्टिः, अतस्तयाविपरिलुप्तया

समान द्रष्टा पदमें भी समझना चाहिये—ऐसा कहें तो ?

समाधान-ऐसी बात नहीं है, क्योंकि [नित्यप्रकाशस्वरूप आदित्यादिके विषयमें] 'प्रकाशयिता' ऐसा प्रयोग देखा जाता है ।

शङ्का-प्रकाशकोंमें कोई अन्य प्रकार न हो सकनेके कारण वहाँ भले ही ऐसा प्रयोग हो जाय, परंतु आत्माके विषयमें तो ऐसा नहीं हो सकता ।

समाधान-नहीं, क्योंकि यहाँ भी आत्मदृष्टिके लोप न होनेका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति है ।

शङ्का—मैं देखता हूँ, मैं नहीं देखता—ऐसा विपरीत अनुभव देखा जानेके कारण आत्माकी दृष्टि नित्य नहीं हो सकती—ऐसा कहें तो ?

समाधान-ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह अनुभव तो [चक्षु] इन्द्रियके विशेष व्यापारकी अपेक्षासे है; इसके सिवा जिनकी आँखें नष्ट हो गयी हैं, उनकी भी स्वप्नमें आत्मदृष्टिका अविपरिलोप (सद्भाव) देखा जाता है । अतः आत्माकी दृष्टि तो [1]अविपरिलुप्तस्वभावा ही है, इसलिये यह पुरुष उस अविनाशिनी

१. कभी नष्ट न होनेवाली ।

दृष्ट्या स्वयंज्योतिःस्वभावया पश्यन्नेव भवति सुषुप्ते।

कथं तर्हि न पश्यतीति ?

उच्यते—न तु तदस्ति। किं तत् ? द्वितीयं विषयभूतम्। किं विशिष्टम् ? ततो द्रष्टुरन्यदन्यत्वेन विभक्तं यत् पश्येद् यदुपलभेत। यद्धि तद्विशेषदर्शनकारणमन्तःकरणं चक्षूरूपं च, तदविद्ययान्यत्वेन प्रत्युपस्थापितमासीत्। तदेतस्मिन् काल एकीभूतम्, आत्मनः परेण परिष्वङ्गात्। द्रष्टुर्हि परिच्छिन्नस्य विशेषदर्शनाय करणमन्यत्वेन व्यवतिष्ठते। अयं तु स्वेन सर्वात्मना सम्परिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेनात्मना प्रिययेव पुरुषः; तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च। तदभावाद् विशेषदर्शनं नास्ति, करणादिकृतं हि तन्नात्मकृतम्;

स्वयंज्योतिःस्वरूपा दृष्टिसे स्वप्नमें देखता ही रहता है।

शङ्का—तो फिर 'नहीं देखता' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान-बतलाते हैं-यहाँ तो वह वस्तु ही नहीं है। वह कौन ? दूसरी विषयभूत वस्तु। किस विशेषणसे युक्त ? उस द्रष्टासे अन्य अर्थात् अन्यरूपसे विभक्त, जिसे कि वह देखे—उपलब्ध करे। क्योंकि जो उस विशेष दर्शनका कारण चक्षुरूप अन्तःकरण था, वह अविद्याके द्वारा अन्यरूपसे प्रस्तुत किया हुआ था। इस समय प्रत्यगात्माका परमात्माके साथ आलिङ्गन होनेके कारण वह एकरूप हो गया है। परिच्छिन्न द्रष्टाके विशेष दर्शनके लिये ही इन्द्रियाँ अन्य रूपसे स्थित होती हैं। किंतु इस समय, जैसे पुरुष अपनी प्रियासे आलिङ्गित होता है, उसी प्रकार यह स्वयं सर्वात्मभावसे अपने परमरूप प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित रहता है; इसलिये उस अवस्थामें इन्द्रिय और विषय पृथक्‌रूपसे विद्यमान नहीं रहते और उनका अभाव होनेके कारण विशेषदर्शन भी नहीं होता, क्योंकि वह तो इन्द्रियादिका किया हुआ ही होता है, आत्माका किया

आत्मकृतमिव प्रत्यवभासते;	हुआ नहीं होता; आत्माका किया हुआ-सा तो भासता ही है, अतः
तस्मात् तत्कृतेयं भ्रान्तिरात्मनो	उसीके कारण ऐसी भ्रान्ति होती है कि आत्माकी दृष्टिका लोप होता
दृष्टिः परिलुप्यत इति ॥२३॥	है ॥ २३ ॥

यद् वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥ यद् वै तन्न रसयते रसयन् वै तन्न रसयते न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद् रसयेत् ॥ २५॥ यद् वै तन्न वदति वदन् वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद् वदेत् ॥ २६॥ यद् वै तन्न शृणोति शृण्वन् वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥ यद् वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यन्मन्वीत ॥२८॥ यद् वै तन्न स्पृशति स्पृशन् वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् स्पृशेत् ॥ २९ ॥ यद् वै तन्न

विजानाति विजानन् वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद् विजानीयात् ॥ ३० ॥

वह जो नहीं सूँघता सो सूँघता हुआ ही नहीं सूँघता। सूँघनेवालेकी गन्धग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे सूँघे ॥ २४ ॥ वह जो रसास्वाद नहीं करता सो रसास्वाद करता हुआ ही नहीं करता। रसास्वाद करनेवालेकी रसग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसका रस ग्रहण करे ॥ २५ ॥ वह जो नहीं बोलता सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता। वक्ताकी वचन-शक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, जिसके विषयमें वह बोले ॥ २६ ॥ वह जो नहीं सुनता सो सुनता हुआ ही नहीं सुनता। श्रोताकी श्रवणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह सुने ॥ २७ ॥ वह जो मनन नहीं करता सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता। मनन करनेवालेकी मननशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह मनन करे ॥ २८ ॥ वह जो स्पर्श नहीं करता सो स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करनेवालेकी स्पर्शशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसे वह स्पर्श करे ॥ २९ ॥ वह जो नहीं जानता सो नहीं जानता हुआ ही नहीं जानता। विज्ञाताकी विज्ञाति (विज्ञानशक्ति) का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं होता, जिसे वह विशेषरूपसे जाने ॥ ३० ॥

समानमन्यत्, यद् वै तन्न जिघ्रति। यद् वै तन्न रसयते। यद् वै तन्न वदति। यद् वै तन्न शृणोति। यद् वै तन्न मनुते। यद् वै तन्न स्पृशति। यद् वै तन्न विजानातीति। मननविज्ञानयोः दृष्ट्यादिसहकारित्वेऽपि सति चक्षुरादिनिरपेक्षो भूतभविष्यद्वर्तमानविषयव्यापारो विद्यत इति पृथग्ग्रहणम्।

'यद् वै तन्न जिघ्रति' 'यद् वै तन्न रसयते' 'यद् वै तन्न वदति' 'यद् वै तन्न शृणोति' 'यद् वै तन्न मनुते' 'यद् वै तन्न स्पृशति' और 'यद् वै तन्न विजानाति' इत्यादि अन्य मन्त्रोंका अर्थ पूर्ववत् है। मनन और विज्ञान यद्यपि दृष्टि आदिके सहकारी हैं, तथापि इनका चक्षु आदि इन्द्रियोंसे निरपेक्ष रहकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान विषयसम्बन्धी व्यापार रहता ही है, इसलिये इनका पृथक् ग्रहण किया गया है।

किं पुनर्दृष्ट्यादीनाम् अग्नेरौष्ण्यप्रकाशनज्वलनादिवद्धर्मभेदः, आहोस्विदभिन्नस्यैव धर्मस्य परोपाधिनिमित्तं धर्मान्यत्वमिति ?

प्रश्न—क्या अग्निके धर्म उष्णता, प्रकाशन और ज्वलनादिके समान दृष्ट्यादि धर्मोंका भेद है, अथवा एक [धर्मीसे] अभिन्न धर्मका ही अन्य उपाधिके कारण विभिन्नधर्मत्व है ?

अत्र केचिद् व्याचक्षते— आत्मवस्तुनः स्वत एवैकत्वं नानात्वं च; यथा गोर्गोद्रव्यतयैकत्वम्, सास्नादीनां धर्माणां परस्परतो भेदः। यथा स्थूलेष्वेकत्वं नानात्वं च, तथा निरवयवेष्वमूर्तवस्तुष्वेकत्वं नानात्वं चानुमेयम्। सर्वत्राव्यभि-

उत्तर—इस विषयमें कोई-कोई ऐसी व्याख्या करते हैं—आत्मवस्तुका एकत्व और नानात्व स्वतः ही है; जिस प्रकार गौका गोद्रव्यरूपसे एकत्व है और उसके [1]सास्नादि धर्मोंका परस्पर भेद है। जिस प्रकार स्थूल पदार्थोंमें एकत्व और नानात्व हैं, उसी प्रकार निरवयव और सूक्ष्म वस्तुओंमें भी एकत्व और नानात्वका अनुमान करना चाहिये। इस नियमका सर्वत्र

१. गौके गलेकी लटकती हुई खालको सास्ना कहते हैं। गौके सास्ना, सींग, खुर आदि धर्मोंका परस्पर भेद है।

चारदर्शनादात्मनोऽपि तद्वदेव दृष्ट्यादीनां परस्परं नानात्वम्, आत्मना चैकत्वमिति ।

आत्मनि दृष्ट्यादि-शक्तिभेदकल्पना-निरसनम्

न, अन्यपरत्वात् । न हि दृष्ट्यादिधर्मभेदप्रदर्शनपरमिदं वाक्यं यद् वै तदित्यादि । किं तर्हि ? यदि चैतन्यात्मज्योतिः, कथं न जानाति सुषुप्ते ? नूनमतो न चैतन्यात्मज्योतिः; इत्येवमाशङ्काप्राप्तौ, तन्निराकरणायैतदारब्धं यद् वै तदित्यादि । यदस्य जाग्रत्स्वप्नयोश्चक्षुराद्यनेकोपाधिद्वारं चैतन्यात्मज्योतिःस्वाभाव्यमुपलक्षितं दृष्ट्याद्यभिधेयव्यवहारापन्नम्, सुषुप्ते उपाधिभेदव्यापारनिवृत्तावनुद्भास्यमानत्वादनुपलक्ष्यमाणस्वभावमप्युपाधिभेदेन भिन्नमिव यथाप्राप्तानुवादेनैव विद्यमानत्वमुच्यते ।

अव्यभिचार देखा जाता है; अतः इसी न्यायसे आत्माकी भी दृष्टि आदिका तो परस्पर नानात्व है और आत्मदृष्टिसे एकत्व है ।

किंतु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इन वाक्योंका तात्पर्य और ही है । ये 'यद् वै तत्' इत्यादि वाक्य दृष्ट्यादि धर्मोंका भेद प्रदर्शित करनेके लिये नहीं हैं । तो फिर किसलिये है ?-[बतातें हैं, सुनो—] यदि चैतन्यात्मज्योति है तो वह सुषुप्तमें क्यों नहीं जानती ? अतः निश्चय ही चैतन्यात्मज्योति है नहीं; ऐसी आशङ्का प्राप्त होनेपर, उसका निराकरण करनेके लिये ही 'यद् वै तत्' इत्यादि वाक्यका आरम्भ किया गया है । जागरित और स्वप्नअवस्थाओंमें जो इसकी चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावता चक्षु आदि अनेकों उपाधियोंके द्वारा दृष्टि आदि नामके व्यवहारको प्राप्त हुई देखी गयी है, सुषुप्तिमें उपाधिभेदरूप व्यापारकी निवृत्ति हो जानेपर वह अभिव्यक्त नहीं होती और इसलिये उसका स्वभाव भी उपलक्षित नहीं होता, तो भी यथाप्राप्त भेदका अनुवाद करते हुए उपाधिभेदसे भिन्न हुएके समान ही उसकी विद्यमानता बतलायी गयी है; अतः उस अवस्थामें

तत्र दृष्ट्यादिधर्मभेदकल्पना विवक्षितार्थानभिज्ञतया ।

सैन्धवघनवत् प्रज्ञानैकरसघन-श्रुतिविरोधाच्च; "विज्ञानमानन्दम्" (बृ० उ० ३ । ९ । २८) "सत्यं ज्ञानम्" (तै० उ० २ । १ । १) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ३ । १ । ३) इत्यादि श्रुतिभ्यश्च ।

शब्दप्रवृत्तेश्च; लौकिकी च शब्दप्रवृत्तिश्चक्षुषा रूपं विजानाति, श्रोत्रेण शब्दं विजानाति, रसनेनान्नस्य रसं विजानाति, इति च सर्वत्रैव च दृष्ट्यादिशब्दाभिधेयानां विज्ञानशब्दवाच्यतामेव दर्शयति; शब्दप्रवृत्तिश्च प्रमाणम् ।

दृष्टान्तोपपत्तेश्च, यथा हि लोके स्वच्छस्वाभाव्ययुक्तः स्फटिकस्तन्निमित्तमेव केवलं हरितनीललोहिताद्युपाधिभेदसंयोगात् तदाकारत्वं भजते; न च स्वच्छस्वाभाव्यव्यतिरेकेण हरित-

दृष्ट्यादि धर्मभेदकी कल्पना विवक्षित अर्थको न जाननेके कारण ही है ।

'आत्मा लवणखण्डके समान प्रज्ञानैकरसघनस्वरूप है' ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे विरोध होनेके कारण भी यह कल्पना उचित नहीं है । तथा "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" एवं "प्रज्ञान ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होनेके कारण भी यह ठीक नहीं है ।

शब्दकी प्रवृत्तिसे भी [चैतन्यके भेदकी कल्पना ठीक नहीं है]; 'नेत्रसे रूपको जानता है, श्रोत्रसे शब्दको जानता है, रसनासे अन्नके रसको जानता है' ऐसी शब्दकी लौकिकी प्रवृत्ति भी सर्वत्र ही दृष्टि आदि शब्दोंके वाच्योंको विज्ञानशब्दकी वाच्यता दिखलाती है और शब्दकी प्रवृत्ति भी प्रमाण ही है ।

इस विषयमें दृष्टान्त भी बन सकता है, जिस प्रकार लोकमें स्वच्छस्वभावयुक्त स्फटिक मणि हरित, नील एवं लोहितादि उपाधियोंके संसर्गसे केवल उन्हींके कारण उनके आकारकी हो जाती है; स्वतः स्फटिकके तो स्वच्छस्वरूपत्वके सिवा हरित,

नीललोहितादिलक्षणा धर्मभेदाः स्फटिकस्य कल्पयितुं शक्यन्ते; तथा चक्षुराद्युपाधिभेदसंयोगात् प्रज्ञानघनस्वभावस्यैव आत्मज्योतिषो दृष्ट्यादिशक्तिभेद उपलक्ष्यते; प्रज्ञानघनस्य स्वच्छस्वाभाव्यात् स्फटिकस्वच्छस्वाभाव्यवत् ।

नील एवं लोहितादि धर्मभेदकी कल्पना की ही नहीं जा सकती, उसी प्रकार चक्षु आदि उपाधिभेदके संयोगसे ही प्रज्ञानघनस्वरूप आत्मज्योतिके दृष्टि आदि शक्तिभेद उपलक्षित होते हैं; क्योंकि स्फटिककी स्वच्छस्वभावताके समान प्रज्ञानघन भी स्वच्छस्वभाव है।

स्वयंज्योतिष्ट्वाच्च; यथा च आदित्यज्योतिरवभास्यभेदैः संयुज्यमानं हरितनीलपीतलोहितादिभेदैरविभाज्यं तदाकाराभासं भवति, तथा च कृत्स्नं जगदवभासयच्चक्षुरादीनि च तदाकारं भवति । तथा चोक्तम्—"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते" (४ । ३ । ६) इत्यादि ।

स्वयंज्योति होनेके कारण भी आत्मभेद अनुपपन्न है, जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकाश्यभेदोंसे संयुक्त होनेपर हरित, नील, पीत एवं लोहितादि भेदोंसे अभिन्न और उन्हींके आकारका भासता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् और चक्षु आदिको प्रकाशित करनेवाली चैतन्यात्मज्योति तदाकार हो जाती है। ऐसा ही कहा भी है—"सुषुप्तिमे यह आत्मज्योतिके द्वारा ही बैठता है" इत्यादि।

न च निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यते कल्पयितुम्, दृष्टान्ताभावात् । यदप्याकाशस्य सर्वगतत्वादिधर्मभेदः परिकल्प्यते, परमाण्वादीनां च गन्धरसाद्यनेकगुणत्वम्, तदपि निरूप्यमाणं परोपाधिनिमित्तमेव भवति ।

इसके सिवा निरवयव पदार्थोंमें अनेकरूपताकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है। आकाशके जो सर्वगतत्वादि धर्मभेद और परमाणु आदिके जो गन्ध-रस आदि अनेक गुणयुक्त होनेकी कल्पना की जाती है, वह भी विचार करनेपर अन्य उपाधिके कारण ही है।

आकाशस्य तावत् सर्वगतत्वं नाम न स्वतो धर्मोऽस्ति। सर्वोपाधिसंश्रयाद्धि सर्वत्र स्वेन रूपेण सत्त्वमपेक्ष्य सर्वगतत्वव्यवहारः। न त्वाकाशः क्वचिद् गतो वा अगतो वा स्वतः। गमनं हि नाम देशान्तरस्थस्य देशान्तरेण संयोगकारणम्, सा च क्रिया नैवाविशेषे सम्भवति; एवं धर्मभेदा नैव सन्त्याकाशे।

आकाशका जो सर्वगतत्व है, वह स्वतः उसका धर्म नहीं है। सम्पूर्ण उपाधियोंका आश्रय होनेके कारण ही जो उसकी स्वरूपसे सर्वत्र सत्ता है, उसकी अपेक्षासे उसके सर्वगतत्वका व्यवहार होता है। स्वतः आकाश तो न कहीं गया है और न नहीं गया है, किसी देशान्तरमें स्थित वस्तुके किसी अन्य देशसे संयोग होनेका जो कारण है, उसे ही गमन कहते हैं। वह गमनक्रिया किसी निर्विशेष वस्तुमें होनी सम्भव नहीं है, इस प्रकार आकाशमें धर्मभेद हैं ही नहीं।

तथा परमाण्वादावपि। परमाणुर्नाम पृथिव्या गन्धघनायाः परमसूक्ष्मोऽवयवो गन्धात्मक एव। न तस्य पुनर्गन्धवत्त्वं नाम शक्यते कल्पयितुम्। अथ तस्यैव रसादिमत्त्वं स्यादिति चेन्न, तत्राप्यबादिसंसर्गनिमित्तत्वात्। तस्मान्न निरवयवस्यानेकधर्मवत्त्वे दृष्टान्तोऽस्ति।

इसी प्रकार परमाणु आदिमें भी समझना चाहिये। गन्धघनभूता पृथिवीका जो अत्यन्त सूक्ष्म गन्धात्मक अवयव है, उसे ही परमाणु कहते हैं। उसीके गन्धवत्त्व (गन्धगुणयुक्त होने) की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि कहो कि उसीका रसादियुक्त होना तो सम्भव है ही, तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसमें जो रसादिमत्त्व है, वह जलादिके संसर्गके कारण है। अतः निरवयव वस्तुके अनेक धर्मयुक्त होनेमें कोई दृष्टान्त नहीं है।

एतेन दृगादिशक्तिभेदानां पृथक्चक्षूरूपादिभेदेन परिणाम-

इसीसे परमात्मामें दृष्टि आदि शक्तिभेदोंके जो चक्षु एवं रूपादि

भेदकल्पना परमात्मनि प्रत्युक्ता ॥ २४-३० ॥

भेदके परिणामभेदोंकी कल्पना की गयी है, उसका भी खण्डन कर दिया गया[1] ॥ २४-३० ॥

जागरित और स्वप्नमें पुरुषको विशेष ज्ञान होनेमें हेतु

जाग्रत्स्वप्नयोरिव यद् विजानीयात्तद् द्वितीयं प्रविभक्तमन्यत्वेन नास्तीत्युक्तम्। अतः सुषुप्ते न विजानाति विशेषम्।

जागरित और स्वप्नके समान जिसे पुरुष जाने, ऐसी उससे अन्यरूपसे विभक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है—यह बात ऊपर कही गयी। इसलिये सुषुप्तिमें उसे किसी विशेषका ज्ञान नहीं होता।

ननु यद्यस्यायमेव स्वभावः किन्निमित्तमस्य विशेषविज्ञानं स्वभावपरित्यागेन? अथ विशेषविज्ञानमेवास्य स्वभावः; कस्मादेष विशेषं न विजानातीति?

शङ्का—किंतु इसका यदि यही स्वभाव है तो अपने स्वभावको छोड़कर इसे विशेष ज्ञान होता ही क्यों है? और यदि विशेष विज्ञान ही इसका स्वभाव है तो इसे सुषुप्तिमें विशेषका ज्ञान क्यों नहीं होता?

उच्यते, शृणु—

समाधान-बतलाते हैं, सुनो—

यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद् रसयेदन्योऽन्यद् वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत् स्पृशेदन्योऽन्यद् विजानीयात् ॥ ३१ ॥

जहाँ (जागरित या स्वप्नावस्थामें) आत्मासे भिन्न अन्य-सा होता है वहाँ अन्य अन्यको देख सकता है, अन्य अन्यको सूँघ सकता है, अन्य

---

१. भर्तृप्रपञ्चका मत है कि परमात्मामें दृष्टि, घ्राति इत्यादि भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। उनमें दृष्टिका चक्षु और रूपाकारसे परिणाम होता है तथा घ्रातिका घ्राणेन्द्रिय और गन्धाकारसे। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके भी पृथक् पृथक् परिणाम होते हैं। इस कल्पनाका 'परमात्मा निरवयव और एकरस है' इस युक्तिसे निराकरण करा दिया गया।

अन्यको चख सकता है, अन्य अन्यको बोल सकता है, अन्य अन्यको सुन सकता है, अन्य अन्यका मनन कर सकता है, अन्य अन्यका स्पर्श कर सकता है, अन्य अन्यको जान सकता है ॥ ३१ ॥

यत्र यस्मिञ्जागरिते स्वप्ने वा अन्यदिव आत्मनो वस्त्वन्तरमिवाविद्यया प्रत्युपस्थापितं भवति, तत्र तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितादन्यः अन्यमिव आत्मानं मन्यमानः, असत्यात्मनः प्रविभक्ते वस्त्वन्तरे, असति चात्मनि ततः प्रविभक्ते, अन्योऽन्यत् पश्येदुपलभेत् । तच्च दर्शितं स्वप्ने प्रत्यक्षतो 'घ्नन्तीव जिनन्तीव' इति । तथान्योऽन्यज्जिघ्रेद् रसयेद् वदेच्छृणुयान्मन्वीत स्पृशेद् विजानीयादिति ॥ ३१ ॥

जहाँ-जिस जागरित या स्वप्नमें अन्यके समान अर्थात् अविद्याद्वारा उपस्थित की हुई आत्मासे भिन्न कोई और वस्तु होती है, वहाँ आत्मासे भिन्न किसी अन्य वस्तुके न होनेपर तथा आत्माके उससे भिन्न न होनेपर भी उस अविद्याद्वारा प्रस्तुत की हुई वस्तुसे अपनेको अन्यवत् मानता हुआ अन्य अन्यको देखता अर्थात् उपलब्ध करता है । यह बात स्वप्नावस्थामें 'मानो मारते हैं, मानो वशमें करते हैं' इस अनुभवद्वारा प्रत्यक्ष दिखायी गयी है । इसी प्रकार अन्य अन्यको सूँघ सकता है, चख सकता है, बोल सकता है, सुन सकता है, मनन कर सकता है, स्पर्श कर सकता है, जान सकता है ॥ ३१ ॥

सुषुप्तिगत आत्माकी अभिन्न स्थिति

यत्र पुनः साविद्या सुषुप्ते वस्त्वन्तरप्रत्युपस्थापिका शान्ता, तेनान्यत्वेन अविद्याप्रविभक्तस्य वस्तुनोऽभावात् तत् केन कं पश्येज्जिघ्रेद् विजानीयाद् वा ? अतः—

किंतु जहाँ सुषुप्तावस्थामें अन्य वस्तुको प्रस्तुत करनेवाली वह अविद्या शान्त हो जाती है, वहाँ उससे भिन्न रूपसे अविद्याद्वारा विभक्त वस्तुका अभाव हो जानेके कारण वह किस इन्द्रियसे किसे देखे, सूँघे अथवा जाने ? इसलिये—

सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

जैसे जलमें वैसे ही सुषुप्तिमें एक अद्वैत द्रष्टा है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है—ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया। यह इस (पुरुष) की परमगति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परमानन्द है। इस आनन्दकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

स्वेनैव हि प्राज्ञेनात्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेन सम्परिष्वक्तः समस्तः सम्प्रसन्न आप्तकाम आत्मकामः सलिलवत्स्वच्छीभूतः सलिल इव सलिल एको द्वितीयस्याभावात्। अविद्यया हि द्वितीयः प्रविभज्यते; सा च शान्तात्र अत एकः। द्रष्टा दृष्टेरविपरिलुप्तत्वादात्मज्योतिःस्वभावायाः; अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्।

अपने ही स्वयंज्योतिःस्वभाव प्राज्ञात्मासे सम्यक् प्रकारसे आलिङ्गित, अपरिच्छिन्न, सम्यक् प्रसादयुक्त, आप्तकाम, आत्मकाम, जलके समान स्वच्छ, मानो जलमें [अर्थात् जैसे जलमें प्रतिविम्बित उसका साक्षी शुद्ध जलरूप ही है वैसा ही] एक द्रष्टा है, क्योंकि उससे भिन्न दूसरेकी सत्ता नहीं है। दूसरेका विभाग तो अविद्याद्वारा ही होता है और वह यहाँ शान्त हो गयी है; इसलिये एक द्रष्टा है। आत्मज्योतिःस्वभावा दृष्टिका लोप न होनेके कारण वह द्रष्टा है तथा अन्य द्रष्टव्यका अभाव होनेके कारण वह अद्वैत है।

एतदमृतमभयम् । एष ब्रह्मलोको ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः । पर एवायमस्मिन् काले व्यावृत्तकार्यकरणोपाधिभेदः स्वे आत्मज्योतिषि शान्तसर्वसम्बन्धो वर्तते हे सम्राट् ! इति हैवं हैनं जनकमनुशशास अनुशिष्टवान् याज्ञवल्क्य इति श्रुतिवचनमेतत् ।

यह अमृत और अभय है । यह ब्रह्मलोक है-जहाँ ब्रह्म ही लोक है ऐसा यह ब्रह्मलोक है । हे सम्राट् ! इस समय अपनी देहेन्द्रियरूप उपाधिसे छूटकर सब सम्बन्धोंसे मुक्त हो परमात्मा ही अपनी आत्मज्योतिमें वर्तमान रहता है । इस प्रकार याज्ञवल्क्यने इस जनकको अनुशासन-उपदेश किया-यह श्रुतिका वाक्य है ।

कथं वानुशशास ? एषास्य विज्ञानमयस्य परमा गतिः । यास्त्वन्या देहग्रहणलक्षणा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता अविद्याकल्पितास्ता गतयोऽतोऽपरमा अविद्याविषयत्वात् । इयं तु देवत्वादिगतीनां कर्मविद्यासाध्यानां परमोत्तमा यः समस्तात्मभावः, यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानातीति ।

किस प्रकार उपदेश किया ?-इस विज्ञानमयकी यह परम गति है । इससे भिन्न जो ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त शरीरग्रहणरूपा गतियाँ हैं वे अविद्याकल्पित हैं, अतः अविद्याकी विषय होनेके कारण वे अपरमा (निकृष्ट) हैं । किंतु यह जो सर्वात्मभाव है, वह कर्म और उपासनाद्वारा साध्य देवत्वादि गतियोंसे परम-उत्तम है, जहाँ कि पुरुष किसी अन्यको नहीं देखता, किसी अन्यको नहीं सुनता और न किसी अन्यको जानता है ।

एषैव च परमा सम्पत् सर्वासां सम्पदां विभूतीनामियं परमा स्वाभाविकत्वादस्याः; कृतका ह्यन्याः सम्पदः । तथैषोऽस्य परमो लोकः, येऽन्ये कर्मफलाश्रया

यही परम सम्पत् है, सम्पूर्ण सम्पदाओं अर्थात् विभूतियोंमें यह श्रेष्ठ है; क्योंकि यह स्वाभाविक है और दूसरे प्रकारकी सम्पत्तियाँ कृत्रिम हैं तथा यह इसका परम लोक है, दूसरे जो कर्मफलके आश्रित

लोकास्तेऽस्मादपरमाः। अयं तु न केनचन कर्मणा मीयते, स्वाभाविकत्वात्; एषोऽस्य परमो लोकः।

तथैषोऽस्य परम आनन्दः। यान्यन्यानि विषयेन्द्रियसम्बन्धजनितान्यानन्दजातानि तान्यपेक्ष्य एषोऽस्य परम आनन्दो नित्यत्वात्। "यो वै भूमा तत् सुखम्" (छा० उ० ७।२३।१) इति श्रुत्यन्तरात्। यत्रान्यत् पश्यत्यन्यद् विजानाति तदल्पं मर्त्यममुख्यं सुखम्; इदं तु तद्विपरीतम्, अत एवैषोऽस्य परम आनन्दः।

एतस्यैवानन्दस्य मात्रां कलामविद्याप्रत्युपस्थापितां विषयेन्द्रियसम्बन्धकालविभाव्यामन्यानि भूतान्युपजीवन्ति। कानि तानि? तत एवानन्दादविद्यया प्रविभज्यमानस्वरूपाण्यन्यत्वेन तानि ब्रह्मणः परिकल्प्यमानान्यन्यानि सन्त्युपजीवन्ति भूतानि विषयेन्द्रियसम्पर्कद्वारेण विभाव्यमानाम् ॥ ३२ ॥

लोक हैं; वे इससे निकृष्ट हैं। किंतु यह स्वाभाविक होनेके कारण किसी भी कर्मद्वारा प्राप्त नहीं होता; अतः यह इसका परम लोक है।

तथा यह इसका परम आनन्द है। दूसरे जो विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले आनन्द हैं, उनकी अपेक्षा यह उत्कृष्ट आनन्द है, क्योंकि यह नित्य है, जैसा कि "जो भूमा है, निश्चय वही सुख है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है। जहाँ अन्यको देखता है, अन्यको जानता है, वह अल्प, मर्त्य और अमुख्य सुख है, किंतु यह उससे विपरीत है, इसीसे यह इसका परम आनन्द है।

इसी आनन्दकी अविद्याद्वारा प्रस्तुत तथा विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धके समय होनेवाली मात्रा कलाके आश्रित दूसरे जीव जीवन धारण करते हैं। वे जीव कौन हैं? जो उस आनन्दसे ही अविद्यावश विभक्तस्वरूप तथा ब्रह्मसे पृथक्-रूपसे परिकल्पित अन्य जीव हैं, वे विषय और इन्द्रियोंके सम्पर्कद्वारा उस आनन्दकी कल्पित मात्राके उपजीवी होते हैं ॥ ३२ ॥

निष्पाप और निष्काम श्रोत्रियके सार्वभौम आनन्दका दिग्दर्शन

यस्य परमानन्दस्य मात्रा अवयवा ब्रह्मादिभिर्मनुष्यपर्यन्तैर्भूतैरुपजीव्यन्ते, तदानन्दमात्राद्वारेण मात्रिणं परमानन्दमधिजिगमयिषन्नाह, सैन्धवलवणशकलैरिव लवणशैलम् ।

ब्रह्मासे लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी जीव जिस परमानन्दकी मात्रा—अवयवके उपजीवी हैं उस आनन्दकी मात्राके द्वारा सेंधा नमकके टुकड़ेसे नमकके पर्वतका ज्ञान करानेके समान उसके मात्री (अंशी) परमानन्दका बोध करानेको इच्छासे श्रुति कहती है—

स यो मनुष्याणाꣳराद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो

बिभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

वह जो मनुष्योंमें सब अङ्गोंसे पूर्ण समृद्ध, दूसरोंका अधिपति और मनुष्यसम्बन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्रियोंद्वारा सबसे अधिक सम्पन्न होता है, वह मनुष्योंका परम आनन्द है। अब जो मनुष्योंके सौ आनन्द हैं, वह पितृलोकको जीतनेवाले पितृगणका एक आनन्द है। और जो पितृलोकको जीतनेवाले पितरोंके सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्वलोकका एक आनन्द है। तथा जो गन्धर्वलोकके सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवोंका, जो कि कर्मके द्वारा देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है। जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्मसिद्ध) देवोंका एक आनन्द है और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है] जो आजानदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह प्रजापतिलोकका एक आनन्द है और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है] जो प्रजापतिलोकके सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोकका एक आनन्द है और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है] तथा यही परम आनन्द है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। [जनक बोले-] 'मैं श्रीमान्‌को सहस्र [गौएँ] देता हूँ, अब आगे भी आप मोक्षके लिये ही उपदेश करें।' यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी डर गये कि इस बुद्धिमान् राजाने तो मुझे सम्पूर्ण प्रश्नोंके निर्णयपर्यन्त [उत्तर देनेको] बाँध लिया ॥३३॥

स यः कश्चिन्मनुष्याणां मध्ये राद्धः संसिद्धोऽविकलः समग्रावयव इत्यर्थः, समृद्ध उपभोगोपकरणसम्पन्नो भवति; किञ्चान्येषां समानजातीयानामधिपतिः स्वतन्त्रः पतिर्न माण्डलिकः, सर्वैः समस्तैः, मानुष्यकैरिति

मनुष्योंमें जो कोई राद्ध—संसिद्ध—अविकल अर्थात् सम्पूर्ण अवयवोंसे युक्त, समृद्ध—भोगसामग्रीसे सम्पन्न तथा अन्य सजातीय पुरुषोंका अधिपति—स्वतन्त्र स्वामी होता है, माण्डलिक[1] नहीं; एवं सम्पूर्ण मानुष्यक (मनुष्यसम्बन्धी) भोगोंसे—'मानुष्यकैः'

१. जो सम्पूर्ण भूमण्डलका मालिक न होकर किसी छोटेसे मण्डलका शासक हो, उसे माण्डलिक कहते हैं।

दिव्यभोगोपकरणनिवृत्त्यर्थम्, मनुष्याणामेव यानि भोगोपकरणानि तैः सम्पन्नानामप्यतिशयेन सम्पन्नः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः ।

तत्र आनन्दानन्दिनोरभेदनिर्देशान्नार्थान्तरभूतत्वमित्येतत्। परमानन्दस्यैवेयं विषयविषय्याकारेण मात्रा प्रसृतेति ह्युक्तम् "यत्र वा अन्यदिव स्यात्" इत्यादिवाक्येन । तस्माद् युक्तोऽयम् 'परम आनन्दः' इत्यभेदनिर्देशः । युधिष्ठिरादितुल्यो राजात्रोदाहरणम् ।

इष्टं मनुष्यानन्दमादिं कृत्वा शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेणोन्नीय परमानन्दं यत्र भेदो निवर्तते तमधिगमयति । अत्रायमानन्दः शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेण वर्धमानो यत्र वृद्धिकाष्ठामनुभवति, यत्र गणितभेदो निवर्तते, अन्यदर्शनश्रवण-

इस पदका प्रयोग दिव्यभोगसामग्रीकी निवृत्तिके लिये है अर्थात् जो मनुष्योंकी ही भोगसामग्रियाँ हैं, उनसे जो लोग सम्पन्न हैं, उनमें भी जो सबसे अधिक सम्पन्न होता है, वह मनुष्योंका परम आनन्द है।

यहाँ आनन्द और आनन्दवान्के अभेदका निर्देश किया गया है, इसलिये आनन्दी आत्मासे आनन्द कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । विषय और विषयीरूपसे यह परमानन्दका ही अंश फैला हुआ है—यह बात "जहाँ कोई दूसरेके समान हो" इत्यादि वाक्यसे कही गयी है। अतः यहाँ 'यह परम आनन्द है' ऐसी अभेदोक्ति उचित ही है। इसमें युधिष्ठिर आदिके समान राजा उदाहरण है।

श्रुति अनुभवसिद्ध मानुष आनन्दसे आरम्भ करके उसका उत्तरोत्तर क्रमशः सौ-सौगुना उत्कर्ष दिखाते हुए जहाँ भेदकी निवृत्ति हो जाती है, उस परमानन्दको प्रदर्शित करती है। यह आनन्द क्रमशः उत्तरोत्तर सौगुना बढ़ता हुआ जहाँ वृद्धिकी पराकाष्ठातक पहुँच जाता है, जहाँ अन्य दर्शन, श्रवण और मननका अभाव हो जानेके कारण

मननाभावात्, तं परमानन्दं विवक्षन्नाह —

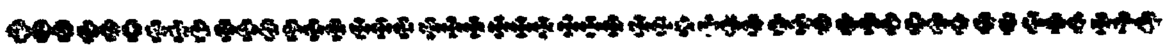
संख्याका व्यवहार नहीं रहता, उस परमानन्दका वर्णन करनेकी इच्छासे यहाँ श्रुति कहती है—

अथ ये मनुष्याणामेवम्प्रकाराः शतमानन्दभेदाः स एकः पितृणाम्। तेषां विशेषणं जितलोकानामिति, श्राद्धादिकर्मभिः पितॄंस्तोषयित्वा तेन कर्मणा जितो लोको येषां ये जितलोकाः पितरः; तेषां पितॄणां जितलोकानां मनुष्यानन्दशतगुणीकृतपरिमाण एक आनन्दो भवति।

मनुष्योंके आनन्दके जो इस प्रकारके सौ भेद हैं, वह पितृगणका एक आनन्द है। 'जितलोक' यह उन पितृगणका विशेषण है, जिन्होंने श्राद्धादि कर्मोंसे पितरोंको संतुष्ट कर उस कर्मसे पितृलोकको जीता है; वे जितलोक पितृगण होते हैं; मनुष्यानन्दका सौ गुना किया हुआ परिमाण उन जितलोक पितृगणका एक आनन्द होता है।

सोऽपि शतगुणीकृतो गन्धर्वलोके एक आनन्दो भवति। स च शतगुणीकृतः कर्मदेवानामेक आनन्दः। अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मणा ये देवत्वं प्राप्नुवन्ति ते कर्मदेवाः। तथैव आजानदेवानामेक आनन्दः—आजानत एव उत्पत्तित एव ये देवास्ते आजानदेवाः। यश्च श्रोत्रियोऽधीतवेदः, अवृजिनो वृजिनं पापं तद्रहितो यथोक्तकारीत्यर्थः; अकामहतो वीततृष्ण आजानदेवेभ्योऽर्वाग्विषया-

वह भी सौ गुना किये जानेपर गन्धर्वलोकमें एक आनन्द होता है और वह सौ गुना करनेपर कर्मदेवोंका एक आनन्द है। अग्निहोत्रादि श्रौतकर्मके द्वारा जो देवत्व प्राप्त करते हैं, वे कर्मदेव कहलाते हैं। इसी प्रकार आजानदेवोंका एक आनन्द [कर्मदेवोंके आनन्दसे सौगुना] होता है। आजान अर्थात् उत्पत्तिसे ही जो देवता होते हैं, वे आजानदेव कहलाते हैं और जो श्रोत्रिय—वेद पढ़ा हुआ, अवृजिन—वृजिन पापको कहते हैं उससे रहित, अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म करनेवाला है तथा अकामहत—आजानदेवोंसे नीचे जितने विषय हैं



वन्तो विषयास्तेषु; तस्य चैवम्भूतस्य आजानदेवैः समान आनन्द इत्येतदन्वाकृष्यते चशब्दात् ।

तच्छतगुणीकृतपरिमाणः प्रजापतिलोके एक आनन्दो विराट्शरीरे । तथा तद्विज्ञानवाञ्श्रोत्रियोऽधीतवेदश्चावृजिन इत्यादि पूर्ववत्; तच्छतगुणीकृतपरिमाण एक आनन्दो ब्रह्मलोके हिरण्यगर्भात्मनि । यश्चेत्यादि पूर्ववदेव । अतः परं गणितानिवृत्तिः। एष परम आनन्द इत्युक्तः; यस्य च परमानन्दस्य ब्रह्मलोकाद्यानन्दा मात्राः, उदधेरिव विप्रुषः।

एवं शतगुणोत्तरोत्तरवृद्ध्युपेता आनन्दा यत्रैकतां यान्ति, यश्च श्रोत्रियप्रत्यक्षोऽथैष एव सम्प्रसादलक्षणः परम आनन्दः। तत्र हि नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति;

उनमें तृष्णारहित है; उस इस प्रकारके पुरुषका आनन्द भी आजानदेवोंके समान ही होता है—यह अर्थ ['यश्च' इसके] 'च' शब्दसे निकलता है।

वह सौगुना किया हुआ आजानदेवोंका आनन्द प्रजापतिलोकमे—विराट् शरीरमें एक आनन्द है। तथा विराट्के उपासक श्रोत्रिय—अधीतवेद, निष्पाप, निष्काम पुरुषको भी वैसा ही आनन्द होता है—इत्यादि सब अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। उसके भी सौगुने किये हुए परिमाणवाला ब्रह्मलोकमें अर्थात् हिरण्यगर्भात्मामें एक आनन्द है। 'यश्च' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। इससे आगे गणनाकी निवृत्ति हो जाती है। यह परम आनन्द है—ऐसा कहा गया है, समुद्रके बूँदके समान ब्रह्मलोकादिके आनन्द जिस परमानन्दके केवल अंशमात्र हैं।

इस प्रकार उत्तरोत्तर सौगुनी वृद्धिको प्राप्त हुए आनन्द जहाँ एकताको प्राप्त हो जाते हैं और जो श्रोत्रियको प्रत्यक्ष है, वही सम्प्रसादरूप परम आनन्द है। वहीं न कोई दूसरा देखता है, न कोई दूसरा

अतो भूमा, भूमत्वादमृतः; इतरे तद्विपरीताः ।

अत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे तुल्ये, अकामहततत्वकृतो विशेष आनन्दशतगुणवृद्धिहेतुः । अत्रैतानि साधनानि श्रोत्रियत्वावृजिनत्वाकामहतत्वानि तस्य तस्यानन्दस्य प्राप्तावर्थादभिहितानि; यथा कर्माण्यग्निहोत्रादीनि देवानां देवत्वप्राप्तौ । तत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वलक्षणे कर्मणी अधरभूमिष्वपि समाने इति न उत्तरानन्दप्राप्तिसाधने अभ्युपेयेते । अकामहततत्वं तु वैराग्यतारतम्योपपत्तेरुत्तरोत्तरभूम्यानन्दप्राप्तिसाधनमित्यवगम्यते । स एष परम आनन्दो वितृष्णश्रोत्रियप्रत्यक्षोऽधिगतः । तथा च वेदव्यासः—"यच्च काममुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति ।

सुनता है; इसलिये वह भूमा है और भूमा होनेके कारण अमृत है । अन्य आनन्द उससे विपरीत [अर्थात् नाशवान्] हैं ।

यहाँ [भिन्न-भिन्न पर्यायोंमें] श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व तो समान हैं, किंतु अकामहतत्वके कारण जो विशेषता है, वही आनन्दकी सौगुनी वृद्धिका कारण है । जिस प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म देवताओंके देवत्वकी प्राप्तिके कारण हैं, उसी प्रकार यहाँ ये श्रोत्रियत्व, अवृजिनत्व और अकामहतत्व उस-उस आनन्दकी प्राप्तिमें साधन हैं-यह बात अर्थतः कह दी गयी । इनमें श्रोत्रियत्व और अवृजिनत्वरूप कर्म तो निम्नभूमियोंमें भी समान हैं, इसलिये वे आगेके आनन्दोंकी प्राप्तिमें हेतु नहीं माने जाते, किंतु अकामहतत्व तो वैराग्यका तारतम्य हो सकनेके कारण आगे आगेकी भूमियोंके आनन्दोंकी प्राप्तिका साधन है-ऐसा ज्ञात होता है । वही तृष्णाहीन श्रोत्रियको प्रत्यक्ष होनेवाला परम आनन्द है-ऐसा ज्ञात होता है । ऐसा ही व्यासजी भी कहते हैं-"लोकमें जो भी कामजनित सुख है और जो दिव्य महान् सुख है, ये तृष्णाक्षयजनित सुखके सोलहवें अंशके समान भी नहीं हैं ।"

एष ब्रह्मलोको हे सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः। सोऽहमेवमनुशिष्टो भगवते तुभ्यं सहस्रं ददामि गवाम्। अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति व्याख्यातमेतत्।

'हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। [जनक बोले-] 'इस प्रकार उपदेश किया हुआ मैं श्रीमान्‌को-आपको सहस्र गौएँ देता हूँ। अब आगे मोक्षके लिये ही कहिये।' इस प्रकार इसकी पहले व्याख्या की जा चुकी है।

अत्र ह विमोक्षायेत्यस्मिन् वाक्ये याज्ञवल्क्यो बिभयाञ्चकार भीतवान्। याज्ञवल्क्यस्य भयकारणमाह श्रुतिः—न याज्ञवल्क्यो वक्तृत्वसामर्थ्याभावाद् भीतवानज्ञानाद् वा। किं तर्हि ? मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा मामन्तेभ्यः प्रश्ननिर्णयावसानेभ्य उदरौत्सीदावृणोदवरोधं कृतवानित्यर्थः। यद् यन्मया निर्णीतं प्रश्नरूपं विमोक्षार्थं तत्तदेकदेशत्वेनैव कामप्रश्नस्य गृहीत्वा पुनः पुनर्मां पर्यनुयुङ्क्त एव, मेधावित्वादिति। एतद् भयकारणम्—सर्वं मदीयं विज्ञानं कामप्रश्नव्याजेनोपादित्सतीति ॥ ३३ ॥

यहाँ 'मोक्षके लिये ही कहिये' इस वाक्यके कहनेपर याज्ञवल्क्यजी डर गये। श्रुति याज्ञवल्क्यजीके भयका कारण बतलाती है-याज्ञवल्क्यजी बोलनेका सामर्थ्य न रहनेसे अथवा अज्ञानवश नहीं डरे। तो फिर क्या बात थी? इसलिये कि इस मेधावी राजाने मुझे सभी अन्तोंके लिये-प्रश्ननिर्णयोंके लिये उदरौत्सीत्—आवृत कर दिया अर्थात् रोक लिया। मैंने मोक्षके लिये जिस-जिस प्रश्नका निर्णय किया है, उसे यह मेधावी होनेके कारण कामप्रश्नके एकदेशरूपसे ग्रहण करके फिर भी प्रश्न किये ही जाता है। उनके भयका यही हेतु है कि कामप्रश्नके मिषसे ही यह तो मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है ॥ ३३ ॥



सम्बन्ध-भाष्य

अत्र विज्ञानमयः स्वयंज्योतिरात्मा स्वप्ने प्रदर्शितः। स्वप्नान्तबुद्धान्तसंचारेण कार्यकरणव्यतिरिक्तता। कामकर्मप्रविवेकश्चासङ्गतया महामत्स्यदृष्टान्तेन प्रदर्शितः। पुनश्चाविद्याकार्यं स्वप्न एव घ्नन्तीवेत्यादिना प्रदर्शितम्। अर्थादविद्यायाः सतत्त्वं निर्धारितम्—अतद्धर्माध्यारोपणरूपत्वमनात्मधर्मत्वं च।

तथा विद्यायाश्च कार्यं प्रदर्शितं सर्वात्मभावः स्वप्न एव प्रत्यक्षतः 'सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः' इति। तत्र च सर्वात्मभावः स्वभावोऽस्य, एवम् अविद्याकामकर्मादिसर्वसंसारधर्मसम्बन्धातीतं रूपमस्य साक्षात् सुषुप्ते गृह्यते इत्येतद् विज्ञापितम्।

स्वयंज्योतिरात्मा, एष परम आनन्दः; एष विद्याया विषयः; स एष परमः सम्प्रसादः सुखस्य

यहाँ स्वप्नमें विज्ञानमय आत्माको स्वयंज्योति दिखाया गया है। स्वप्नस्थान और जागरितस्थानमें संचारके द्वारा उसकी देह और इन्द्रियोंसे भिन्नता दिखायी गयी तथा महामत्स्यके दृष्टान्तसे असङ्गताके कारण उसका काम और कर्मोंसे पार्थक्य भी प्रदर्शित किया गया है। फिर 'घ्नन्तीव' इत्यादि वाक्यसे यह दिखाया गया है कि अविद्याका कार्य स्वप्न ही है। इससे स्वतः ही आत्मापर अनात्मधर्मोंका आरोप करना तथा अनात्मधर्म होना अविद्याका स्वरूप दिखलाया गया।

इसी तरह 'मैं सर्व हूँ—ऐसा मानता है, वह इसका परमलोक है' इस वाक्यद्वारा प्रत्यक्षतः स्वप्नमें ही सर्वात्मभाव विद्याका कार्य दिखलाया गया। वहाँ सर्वात्मभाव इसका स्वभाव है, इस प्रकार यह सूचित किया गया कि सुषुप्तावस्थामें इस आत्माका अविद्या, काम और कर्मादि सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंके सम्बन्धसे अतीत रूप प्रत्यक्ष ग्रहण किया जाता है।

आत्मा स्वयंप्रकाश है, यह परम आनन्दस्वरूप है; यह विद्याका विषय है; वह यह आत्मा ही परम

च परा काष्ठा—इत्येतदेवमन्तेन ग्रन्थेन व्याख्यातम्। तच्चैतत् सर्वं विमोक्षपदार्थस्य दृष्टान्तभूतं बन्धनस्य च। ते चैते मोक्षबन्धने सहेतुके सप्रपञ्चे निर्दिष्टे विद्याविद्याकार्ये, तत् सर्वं दृष्टान्तभूतमेवेति, तद्दार्ष्टान्तिकस्थानीये मोक्षबन्धने सहेतुके कामप्रश्नार्थभूते त्वया वक्तव्ये इति पुनः पर्यनुयुङ्क्ते जनकः—अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति।

तत्र महामत्स्यवत् स्वप्नबुद्धान्तौ असङ्गः संचरत्येक आत्मा स्वयंज्योतिः—इत्युक्तम्। यथा चासौ कार्यकरणानि मृत्युरूपाणि परित्यजन्नुपाददानश्च महामत्स्यवत् स्वप्नबुद्धान्तावनुसंचरति तथा जायमानो म्रियमाणश्च तैरेव मृत्युरूपैः संयुज्यते वियुज्यते च। 'उभौ लोकावनुसंचरति' इति संचरणं स्वप्नबुद्धान्तानुसंचारस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन सूचितम्। तदिह

सम्प्रसाद और सुखकी पराकाष्ठा है—यह सब यहाँतकके ग्रन्थद्वारा बतलाया गया और यह सब मोक्षपदार्थ तथा बन्धनका दृष्टान्तभूत है। विद्या और अविद्याके कार्यभूत उन इन मोक्ष और बन्धनका हेतु और विस्तारके सहित निरूपण किया गया, किंतु वह सब दृष्टान्तरूप ही है, अतः कामप्रश्नके विषयभूत तथा उनके दार्ष्टान्तिकस्थानीय मोक्ष और बन्धनोंका आपको हेतुके सहित वर्णन करना चाहिये—इसीसे जनक फिर प्रश्न करता है कि इससे आगे मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये।

ऊपर यह बतलाया गया था कि महामत्स्यके समान स्वप्न और जागरितमें एक ही स्वयंप्रकाश असङ्ग आत्मा संचार करता है। जिस प्रकार यह मृत्युके रूप देह और इन्द्रियोंको त्यागता एवं ग्रहण करता हुआ महामत्स्यके समान क्रमशः स्वप्न और जागरितस्थानोंमें संचार करता है, उसी प्रकार जन्म और मरणको प्राप्त होता हुआ भी मृत्युके रूपोंसे संयुक्त और वियुक्त होता है। 'दोनों लोकोंमें क्रमशः संचार करता है' इस वाक्यद्वारा संचारको स्वप्न और जागरितके अनुसंचारके दार्ष्टान्तिकरूपसे दिखाया है। उस संचारका यहाँ

विस्तरेण सनिमित्तं संचरणं वर्णयितव्यमिति तदर्थोऽयमारम्भः। तत्र च बुद्धान्तात् स्वप्नान्तम् अयमात्मानुप्रवेशितः। तस्मात् सम्प्रसादस्थानं मोक्षदृष्टान्तभूतम्। ततः प्रच्याव्य बुद्धान्ते संसारव्यवहारः प्रदर्शयितव्यः, इति तेनास्य सम्बन्धः।

उसके कारणसहित विस्तारपूर्वक वर्णन करना है—इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

वहाँ (सतरहवें मन्त्रमें) इस आत्माका जागरितसे स्वप्नान्तमें अनुप्रवेश कराया गया है। अतः सम्प्रसाद (सुषुप्त)-स्थान मोक्षका दृष्टान्तभूत है। वहाँसे च्युत करके जागरितमें संसारका व्यवहार प्रदर्शित करना है, अतः उसीसे इस (आगेके वाक्य) का सम्बन्ध है—

आत्माकी संसाररूप जागरित-स्थानमें पुनरावृत्ति

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

वह यह पुरुष इस स्वप्नान्तमें रमण और विहार कर तथा पुण्य और पापको देखकर ही पुनः गये हुए मार्गसे ही यथास्थान जागरित-अवस्थाको ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

स वै बुद्धान्तात् स्वप्नान्तक्रमेण सम्प्रसन्न एष एतस्मिन् सम्प्रसादे स्थित्वा, ततः पुनरीषत् प्रच्युतः स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववद् बुद्धान्तायैव आद्रवति ॥ ३४ ॥

जागरितसे स्वप्नान्तक्रमद्वारा सम्प्रसादको प्राप्त हुआ वह यह पुरुष इस सम्प्रसादमें स्थित रहकर फिर वहाँसे थोड़ा च्युत हो स्वप्नान्तमें रमण और विहारकर—इत्यादि सब पूर्ववत् समझना चाहिये—फिर जागरितस्थानको ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

मुमूर्षुकी दशाका वर्णन

इत आरभ्यास्य संसारो वर्ण्यते; यथायमात्मा स्वप्नान्ताद् बुद्धान्तमागतः, एवमयमस्माद् देहाद् देहान्तरं प्रतिपत्स्यत इत्याहात्र दृष्टान्तम्—

अब यहाँसे आगे संसारका वर्णन किया जाता है; जिस प्रकार यह आत्मा स्वप्नस्थानसे जागरित-स्थानमें आया है, उसी प्रकार यह इस देहसे दूसरे देहको प्राप्त होगा—सो इसमें श्रुति दृष्टान्त बतलाती है—

तद् यथानः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

लोकमें जिस प्रकार बहुत अधिक बोझ लादा हुआ छकड़ा शब्द करता चलता है, उसी प्रकार यह देही आत्मा प्राज्ञात्मासे अधिष्ठित हो शब्द करता हुआ जाता है, जब कि यह ऊर्ध्वोच्छ्वास छोड़नेवाला हो जाता है ॥ ३५ ॥

तत्तत्र यथा लोकेऽनः शकटं सुसमाहितं सुष्ठु भृशं वा समाहितं भाण्डोपस्करणेन उलूखल-मुसलशूर्पपिठरादिनान्नाद्येन च सम्पन्नं सम्भारेण आक्रान्तमित्यर्थः, तथा भाराक्रान्तं सदुत्सर्जच्छब्दं कुर्वद् यथा यायाद् गच्छेच्छाकटिकेनाधिष्ठितं सत्, एवमेव यथोक्तो दृष्टान्तोऽयं शारीरः शरीरे भवः,

यहाँ जिस प्रकार लोकमें सुसमाहित—सुष्ठु अथवा अत्यन्त समाहित अर्थात् भाण्डादि गृहसामग्री—ऊखल, मूसल, सूप और पिठर[1] आदिसे तथा खाद्यसामग्रीसे सम्पन्न, तात्पर्य यह कि अत्यन्त बोझेसे लदा हुआ छकड़ा उपर्युक्त प्रकारसे बोझेसे दबा होनेके कारण गाड़ीवानके बैठकर हाँकनेपर शब्द करता चलता है, इसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त बताया गया है, यह शारीर अर्थात् शरीरमें

१. थाली या मथानी ।

कोऽसौ ? आत्मा लिङ्गोपाधिः, यः स्वप्नबुद्धान्ताविव जन्ममरणाभ्यां पाप्मसंसर्गवियोगलक्षणाभ्यामिहलोकपरलोकावनुसंचरति। यस्योत्क्रमणमनु प्राणाद्युत्क्रमणम्, स प्राज्ञेन परेण आत्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेन अन्वारूढोऽधिष्ठितः—अवभास्यमानः, तथा चोक्तम्—'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते' इति, उत्सर्जन् याति।

रहनेवाला, कौन है वह ? लिङ्ग-देहोपाधिक आत्मा, जो कि स्वप्न और जागरितस्थानोंके समान [देह और इन्द्रियरूप] पापके संयोग और वियोगरूप जन्म और मरणके द्वारा क्रमशः इस लोक और परलोकमें संचार करता है तथा जिसके उत्क्रमणके साथ साथ प्राणादिका उत्क्रमण होता है, वह स्वयंज्योतिःस्वरूप प्राज्ञ अर्थात् परात्मासे अन्वारूढ-अधिष्ठित यानी अवभासित हुआ-जैसा कि कहा है कि 'यह आत्मज्योतिसे ही इधर-उधर जाता है'-शब्द करता जाता है।

तत्र चैतन्यात्मज्योतिषा भास्ये लिङ्गे प्राणप्रधाने गच्छति तदुपाधिरप्यात्मा गच्छतीव। तथा श्रुत्यन्तरम्—"कस्मिन्न्वहम्" (प्र० उ० ६ । ३) इत्यादि "ध्यायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति च; अत एवोक्तं प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ इति। अन्यथा प्राज्ञेनैकीभूतः शकटवत् कथमुत्सर्जन् याति। तेन लिङ्गोपाधिरात्मा उत्सर्जन् मर्मसु निकृत्यमानेषु दुःखवेदनया आर्तः शब्दं कुर्वन् याति गच्छति।

उस समय चैतन्यात्मज्योतिसे भास्य प्राणप्रधान लिङ्गदेहके जानेपर उस लिङ्गदेहरूप उपाधिवाला आत्मा भी जाता-सा जान पड़ता है। ऐसी ही "किसके उत्क्रमण करनेपर मैं उत्क्रान्त होता हूँ" तथा "ध्यानसा करता है" इत्यादि अन्य श्रुतियाँ भी हैं; इसीसे 'प्राज्ञात्मासे अधिष्ठित हुआ' ऐसा कहा है; नहीं तो प्राज्ञात्मासे एकीभूत होनेपर यह छकड़ेके समान शब्द करता कैसे जाता ? अतः लिङ्गोपाधिक आत्मा मर्मस्थानोंके छेदन किये जानेपर (मर्मस्थानोंसे छूटनेपर) दुःख और वेदनासे व्याकुल हो शब्द करता हुआ जाता है।

तद् कस्मिन् काल इति। उच्यते यत्रैतद् भवति। एतदिति क्रियाविशेषणम्। ऊर्ध्वोच्छ्वासी यत्रोर्ध्वोच्छ्वासीत्वमस्य भवतीत्यर्थः। दृश्यमानस्याप्यनुवदनं वैराग्यहेतोः—ईदृशः कष्टः खल्वयं संसारः, येनोत्क्रान्तिकाले मर्मसु उत्कृत्यमानेषु स्मृतिलोपो दुःखवेदनार्तस्य पुरुषार्थसाधनप्रतिपत्तौ चासामर्थ्यं परवशीकृतचित्तस्य। तस्माद् यावदियमवस्था नागमिष्यति, तावदेव पुरुषार्थसाधनकर्तव्यताथाम् अप्रमत्तो भवेदित्याह कारुण्याच्छ्रुतिः॥ ३५॥

[यदि कहें। ऐसा किस समय होता है? तो जिस समय ऐसा होता है, वह बतलाया जाता है। यहाँ 'एतत्' क्रियाविशेषण है। ऊर्ध्वोच्छ्वासी अर्थात् जहाँ इसका ऊर्ध्वोच्छ्वास हो जाता है। यह अवस्था दिखायी देनेवाली है, तो भी वैराग्यके लिये इसका अनुवाद किया जाता है—निश्चय ही यह संसार ऐसा कष्टप्रद है कि देहत्यागके समय मर्मस्थानोंका छेदन होनेपर दुःख और वेदनासे व्याकुल हुए पुरुषकी स्मृति नष्ट हो जाती है तथा उस परवशचित्त पुरुषका पुरुषार्थके साधनोंकी प्राप्तिमें कोई सामर्थ्य नहीं रहता। अतः जबतक यह अवस्था न आवे तबतक ही पुरुषको पुरुषार्थसाधनोंके करनेमें सावधान रहना चाहिये—ऐसा श्रुति करुणावश कहती है॥ ३५॥

ऊर्ध्वोच्छ्वास क्यों और किसलिये होता है?

तदस्योर्ध्वोच्छ्वासित्वं कस्मिन् काले किंनिमित्तं कथं किमर्थं वा स्यात्। इत्येतदुच्यते—

उसका ऊर्ध्वोच्छ्वास किस समय किस कारणसे किस प्रकार और किसलिये होता है। यह बतलाया जाता है—

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद् यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्ध-

नात् प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

वह यह देह जिस समय कृशताको प्राप्त होता है, वृद्धावस्था अथवा ज्वरादि रोगके कारण कृश हो जाता है, उस समय जैसे आम, गूलर अथवा पिप्पल-फल बन्धनसे छूट जाता है, वैसे ही यह पुरुष इन अङ्गोंसे छूटकर फिर जिस मार्गसे आया था, उसीसे प्रत्येक योनिमें प्राणकी विशेष-अभिव्यक्तिके लिये ही चला जाता है ॥ ३६ ॥

सोऽयं प्राकृतः शिरःपाण्यादिमान् पिण्डो यत्र यस्मिन् कालेऽयमणिमानं अणोर्भावमणुत्वं कार्श्यमित्यर्थः, न्येति निगच्छति, किंनिमित्तम्? जरया वा स्वयमेव कालपक्वफलवज्जीर्णः कार्श्यं गच्छति। उपतपतीत्युपतपज्ज्वरादिरोगः, तेनोपतपता वा, उपतप्यमानो हि रोगेण विषमाग्नितयान्नं भुक्तं न जरयति, ततोऽन्नरसेनानुपचीयमानः पिण्डः कार्श्यमापद्यते। तदुच्यते उपतपता वेत्यणिमानं निगच्छति।

वह यह प्राकृत-शिर एवं हाथ-पाँव आदि अवयवोंवाला पिण्ड जिस समय अणिमा-अणुभाव-अणुत्व अर्थात् कृशताको 'न्येति' प्राप्त हो जाता है। किस कारणसे? वृद्धावस्थासे-कालद्वारा पकाये हुए फलके समान स्वयं ही जीर्ण-कृश हो जाता है। अथवा उपतपतुसे-जो समीप रहकर तपाता है, वह ज्वरादि रोग 'उपतपत्' (उपताप) कहलाता है, उससे; क्योंकि रोगसे उपतप्त हुआ पुरुष विषम अग्नि हो जानेके कारण खाये हुए अन्नको नहीं पचा सकता, अतः अन्नके रससे वृद्धिको प्राप्त न होनेवाला पिण्ड कृशताको प्राप्त हो जाता है। इसीसे यह कहा जाता है कि 'उपतपता वा'-अथवा ज्वरादि रोगसे कृशताको प्राप्त हो जाता है।

यदा अत्यन्तकार्श्यं प्रतिपन्नो जरादिनिमित्तैः, तदोर्ध्वोच्छ्वा-

जिस समय वृद्धावस्थादि कारणोंसे शरीर अत्यन्त कृशताको प्राप्त हो जाता है, उस समय जीव ऊर्ध्वोच्छ्वास

सी भवति; यदोर्ध्वोच्छ्वासी, तदा भृशाहितसम्भारशकटवदुत्सर्जन् याति। जराभिभवो रोगादिपीडनं कार्श्यापत्तिश्च शरीरवतोऽवश्यम्भाविन एतेऽनर्था इति वैराग्यायेदमुच्यते।

यदासावुत्सर्जन् याति तदा कथं शरीरं विमुञ्चति? इति दृष्टान्त उच्यते—तत्तत्र यथा आम्रं वा फलम्, उदुम्बरं वा पिप्पलं वा फलम्—विषमानेकदृष्टान्तोपादानं मरणस्यानियतनिमित्तत्वख्यापनार्थम्, अनियतानि हि मरणस्य निमित्तान्यसंख्यातानि च। एतदपि वैराग्यार्थमेव; यस्मादयमनेकमरणनिमित्तवांस्तस्मात् सर्वदा मृत्योरास्ये वर्तत इति—बन्धनात्—बध्यते येन वृन्तेन सह स बन्धनकारणो रसो यस्मिन् वा बध्यते इति वृन्तमेवोच्यते बन्धनम्, तस्माद् रसाद् वृन्ताद् वा

लेने लगता है; और जिस समय ऊर्ध्वोच्छ्वास लेने लगता है, उस समय वह अत्यन्त भाराक्रान्त छकड़ेके समान शब्द करता हुआ प्रयाण करता है। देहधारीके लिये जरासे अभिभव, रोगादिकी पीड़ा और कृशताकी प्राप्ति—ये अनर्थ अवश्यम्भावी हैं; इसलिये वैराग्यके लिये ऐसा कहा जाता है।

जिस समय वह शब्द करता हुआ प्रयाण करता है, उस समय किस प्रकार देहका त्याग करता है? इसमें दृष्टान्त कहा जाता है—सो जिस प्रकार आम्र फल, उदुम्बर (गूलर) अथवा पिप्पलफल—यहाँ कई विषम दृष्टान्त मृत्युके अनियतनिमित्तत्वको सूचित करनेके लिये हैं, क्योंकि मृत्युके कारण अनिश्चित और अगणित हैं। यह कथन भी वैराग्यके लिये ही है; क्योंकि यह देह मरणके अनेकों कारणोंवाला है, इसलिये सर्वदा मृत्युके मुखमें ही पड़ा हुआ है। बन्धनसे—जिसके द्वारा फल वृन्तसे बँधा रहता है, वह बन्धनका कारणभूत रस अथवा जिसमें वह बँधा रहता है, वह वृन्त ही बन्धन कहा गया है, उस रस या वृन्तरूप

बन्धनात् प्रमुच्यते वाताद्यनेकनिमित्तम्; एवमेवायं पुरुषो लिङ्गात्मा लिङ्गोपाधिरेभ्योऽङ्गेभ्यश्चक्षुरादिदेहावयवेभ्यः सम्प्रमुच्य सम्यङ्निर्लेपेन प्रमुच्य, न सुषुप्तगमनकाल इव प्राणेन रक्षन्; किं तर्हि? सह वायुनोपसंहृत्य, पुनः प्रतिन्यायं पुनःशब्दात् पूर्वमप्ययं देहाद् देहान्तरमसकृद् गतवान् यथा स्वप्नबुद्धान्तौ पुनः पुनर्गच्छति तथा पुनः प्रतिन्यायं प्रतिगमनं यथागतमित्यर्थः। प्रतियोनि योनिं योनिं प्रति कर्मश्रुतादिवशादाद्रवति।

किमर्थम्? प्राणायैव प्राणव्यूहायैवेत्यर्थः। सप्राण एव हि गच्छति, ततः प्राणायैवेति विशेषणमनर्थकम्; प्राणव्यूहाय हि गमनं देहाद् देहान्तरं प्रति; तेन

बन्धनसे वायु आदि अनेकों कारणोंवश [फल] छूट जाता है; वैसे ही यह पुरुष-लिङ्गात्मा-लिङ्गोपाधिक जीव इन अङ्गोंसे अर्थात् शरीरके चक्षु आदि अवयवोंसे सम्प्रमुक्त होकर अर्थात् सम्यक्-निर्लेपभावसे छूटकर जिस प्रकार सुषुप्तावस्थामें जानेके समय प्राणके द्वारा इसकी रक्षा करता है, उस प्रकार नहीं; तो किस प्रकार? प्राणवायुके सहित इन्द्रियोंका उपसंहार करके पुनः प्रतिन्याय-यहाँ 'पुनः' शब्दसे यह आशय है कि जिस प्रकार जीव पुनः-पुनः जागरित और स्वप्न-अवस्थाओंमें जाता है, उसी प्रकार पहले भी यह एक देहसे दूसरे देहमें बारंबार गया था; अतः पुनः प्रतिन्याय—जैसे पहले आया था वैसे ही दूसरे देहमें चला जाता है। प्रतियोनि अर्थात् अपने कर्म और विद्याके अनुसार प्रत्येक योनिमें जाता है।

किसलिये जाता है? प्राणके लिये ही अर्थात् प्राणव्यूहके लिये ही। प्राणके सहित तो जाता ही है, ऐसी स्थितिमें 'प्राणायैव' यह विशेषण व्यर्थ होगा; लिङ्गात्माका जो एक देहसे दूसरे देहमें जाना है, वह प्राणके

ह्यस्य कर्मफलोपभोगार्थसिद्धिः, न प्राणसत्तामात्रेण। तस्मात्तादर्थ्यार्थं युक्तं विशेषणं प्राणव्यूहायेति ॥ ३६ ॥

व्यूहकी विशेष अभिव्यक्तिके लिये ही होता है; उसीसे उसके कर्मफलभोगकी सिद्धि होती है, केवल प्राणकी सत्तासे ही नहीं; अतः प्राण भोगका अङ्ग है-यह सिद्ध करनेके लिये 'प्राणव्यूहाय' यह विशेषण देना उचित है ॥ ३६ ॥

देहान्तरग्रहणका प्रकार

तत्रास्येदं शरीरं परित्यज्य गच्छतो नान्यस्य देहान्तरस्योपादाने सामर्थ्यमस्ति, देहेन्द्रियवियोगात्; न चान्येऽस्य भृत्यस्थानीया गृहमिव राज्ञे शरीरान्तरं कृत्वा प्रतीक्षमाणा विद्यन्ते; अथैवं सति कथमस्य शरीरान्तरोपादानमिति?

शङ्का-मरणकालमें इस शरीरको छोड़कर जानेवाले पुरुषमें दूसरे देहको ग्रहण करनेका सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि उसके देह और इन्द्रियोंका वियोग हो जाता है और राजाके लिये घर बनाकर प्रतीक्षा करनेवाले सेवकोंके समान इसके लिये दूसरा देह बनाकर प्रतीक्षा करनेवाले इन्द्रियादि हैं नहीं; ऐसी स्थितिमें इसका अन्य देह ग्रहण करना कैसे सम्भव हो सकता है?

उच्यते—सर्वं ह्यस्य जगत् स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वायोपात्तं स्वकर्मफलोपभोगाय चायं प्रवृत्तो देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्सुः; तस्मात् सर्वमेव जगत् स्वकर्मणा प्रयुक्तं तत्कर्मफलोपभोगयोग्यं साधनं

समाधान-बतलाते हैं-इस जीवके लिये सारा संसार अपने कर्मफलभोगके साधनरूपसे प्राप्त हुआ है और स्वकर्मफलभोगके लिये ही यह एक देहसे दूसरा देह प्राप्त करनेका इच्छुक होकर प्रवृत्त होता है; अतः स्वकर्मसे प्रेरित सारा ही जगत् उसके कर्मफलभोगके योग्य साधन होनेसे

कृत्वा प्रतीक्षत एव; "कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते" इति श्रुतेः; यथा स्वप्नाज्जागरितं प्रतिपित्सोः; तत् कथम्? इति लोकप्रसिद्धो दृष्टान्त उच्यते—

उसकी प्रतीक्षा करता ही है; जैसा कि "पुरुष भूतपञ्चकद्वारा रचे हुए शरीरको सर्वतः व्याप्त करके उत्पन्न होता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, जैसे कि स्वप्नावस्थासे जागरितस्थानको प्राप्त करनेकी इच्छावाले पुरुषका शरीर पहलेहीसे तैयार रहता है; सो कैसे? इस विषयमें यह लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त कहा जाता है—

तद् यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

सो जिस प्रकार आते हुए राजाकी उग्रकर्मा एवं पापकर्ममें नियुक्त सूत और गाँवके नेतालोग अन्न, पान और निवासस्थान तैयार रखकर 'ये आये, ये आये' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार इस कर्मफलवेत्ताकी सम्पूर्ण भूत 'यह ब्रह्म आता है, यह आता है' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं ॥ ३७ ॥

तत्तत्र यथा राजानं राज्याभिषिक्तमायान्तं स्वराष्ट्रे, उग्रा जातिविशेषाः क्रूरकर्माणो वा प्रत्येनसः, प्रति प्रत्येनसि पापकर्मणि नियुक्ताः प्रत्येनसस्तस्करादिदण्डनादौ नियुक्ताः सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामण्यः—सूता वर्णसङ्करजातिविशेषा ग्रामण्यो ग्रा-

उसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार अपने राष्ट्रमें आते हुए राज्याभिषिक्त राजाकी उग्र जातिविशेष अथवा क्रूर कर्म करनेवाले एवं प्रत्येना—प्रत्येक एनस् यानी पापकर्ममें नियुक्त अर्थात् चौरादिको दण्ड देने आदि कार्योंमें नियुक्त सूत और ग्रामणी—सूत एक वर्णसंकर जातिविशेष है तथा ग्रामणी ग्रामके नेताओं (मुखिया

अनेतारस्ते पूर्वमेव राज्ञ आगमनं बुद्ध्वा, अन्नैर्भोज्यभक्ष्यादिप्रकारैः, पानैर्मदिरादिभिः, आवसथैश्च प्रासादादिभिः प्रतिकल्पन्ते निष्पन्नैरेव प्रतीक्षन्ते 'अयं राजा आयात्ययमागच्छति' इत्येवं वदन्तः।

लोगों) को कहते हैं—वे पहलेहीसे राजाके आनेका समाचार जानकर भक्ष्यभोज्यादिरूप अन्न और मदिरा आदि पान तथा महल आदि आवसथ (निवासस्थान) के सहित 'प्रतिकल्पन्ते' अर्थात् तैयार किये हुए इन अन्न-पानादिके सहित 'यह राजा आता है, राजा आता है' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं।

यथायं दृष्टान्तः, एवं हैवंविदं कर्मफलस्य वेदितारं संसारिणमित्यर्थः, कर्मफलं हि प्रस्तुतं तदेवंशब्देन परामृश्यते, सर्वाणि भूतानि शरीरकर्तॄणि करणानुग्रहीतॄणि चादित्यादीनि, तत्कर्मप्रयुक्तानि कृतैरेव कर्मफलोपभोगसाधनैः प्रतीक्षन्ते। 'इदं ब्रह्म भोक्तृ कर्तृ चास्माकमायाति तथेदमागच्छति' इत्येवमेव च कृत्वा प्रतीक्षन्त इत्यर्थः ॥३७॥

जैसा यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार इस ऐसा जाननेवाले अर्थात् कर्मफलके ज्ञाता संसारीकी—यह कर्मफलका ही प्रसङ्ग है, इसलिये 'एवं' शब्दसे उसीका परामर्श किया गया है—शरीरकी रचना करनेवाले सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियोंके अनुग्राहक सूर्यादि देवता, उसके कर्मोंसे प्रेरित होकर उसके किये हुए कर्मफलभोगके साधनोंके सहित प्रतीक्षा करते हैं। वे 'यह ब्रह्म अर्थात् कर्ता-भोक्ता जीव हमारे पास आ रहा है तथा यह आ रहा है' ऐसा भाव रखकर उसकी प्रतीक्षा करते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३७ ॥

प्राणोंके देहान्तरगमनका प्रकार

तमेवं जिगमिषुं के सह गच्छन्ति ? ये वा गच्छन्ति ते

इस प्रकार जानेके लिये तैयार हुए उस जीवके साथ कौन जाते हैं ? और जो परलोक-शरीरकी रचना

किं तत्क्रियाप्रणुन्ना आहोस्वित् तत्कर्मवशात् स्वयमेव गच्छन्ति परलोकशरीरकर्तॄणि च भूतानीति; अत्रोच्यते दृष्टान्तः—

करनेवाले आदित्यादि भूत जाते वे उसके वागादि व्यापार [कहने आदि] से प्रेरित जाते हैं अथवा उसके कर्मवश स्व ही जाते हैं—इसमें दृष्टान्त कहा जाता है।

तद् यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार जानेके लिये तैयार हुए राजाके अभिमुख होकर उग्रकर्मा और पापकर्ममें नियुक्त सूत एवं गाँवके नेतालोग जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ऊर्ध्वोच्छ्वास लेने लगता है तो अन्तकालमें सारे प्राण इस आत्माके अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं ॥ ३८ ॥

तद् यथा राजानं प्रयियासन्तं प्रकर्षेण यातुमिच्छन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यस्तं यथाभिसमायन्त्याभिमुख्येन समायन्त्येकीभावेन तमभिमुखा आयन्त्यनाज्ञप्ता एव राज्ञा केवलं तज्जिगमिषाभिज्ञाः, एवमेवेममात्मानं भोक्तारमन्तकाले मरणकाले सर्वे प्राणा वागादयोऽभिसमायन्ति।

वह दृष्टान्त—जिस प्रकार जानेकी तैयारी करनेवाले अर्थात् प्रकर्षसे जानेकी इच्छावाले अर्थात् जानेकी अत्यन्त इच्छा रखनेवाले राजाके अभिमुख होकर उसके उग्रकर्मा और पापकर्ममें नियुक्त सूत एवं गाँवके नेतालोग एक साथ मिलकर सामने आते हैं; राजाकी आज्ञाके बिना ही केवल उसकी जानेकी इच्छा जानकर ही तैयार हो जाते हैं, उसी प्रकार अन्तकाल यानी मरणसमयमें वागादि सम्पूर्ण प्राण भोक्ता आत्माके सम्मुख एकत्रित हो जाते हैं।

यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवतीति व्याख्यातम् ॥ ३८ ॥

'यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इसकी व्याख्या पहले कर दी गयी है ॥३८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्याये तृतीयं ज्योतिर्ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

मरणोन्मुख जीवकी दशाका वर्णन

स यत्रायमात्मा—संसारोपवर्णनं प्रस्तुतम्। तत्रायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य इत्युक्तम्। तत् सम्प्रमोक्षणं कस्मिन् काले कथं वा ? इति सविस्तरं संसरणं वर्णयितव्यमित्यारभ्यते—

'स यत्रायमात्मा' यहाँ संसारके उपवर्णनका प्रसङ्ग है। उसमें 'यह आत्मा इन अङ्गोंसे सम्यक् प्रकारसे मुक्त होकर' ऐसा कहा गया है। वह आत्माकी सम्यक् मुक्ति किस समय अथवा किस प्रकार होती है—इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना है—इसीसे आरम्भ किया जाता है—

स यत्रायमात्माबल्यं न्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

वह यह आत्मा जिस समय दुर्बलताको प्राप्त हो मानो सम्मोहको प्राप्त हो जाता है, तब ये वागादि प्राण इसके प्रति अभिमुखतासे आते हैं। वह इन [प्राणोंकी] तेजोमात्राको सम्यक् प्रकारसे ग्रहण करके हृदयमें ही अनुक्रान्त (अभिव्यक्त ज्ञानवान्) होता है। जिस समय यह चाक्षुष पुरुष सब ओरसे व्यावृत्त होता है, उस समय मुमूर्षु रूपज्ञानहीन हो जाता है ॥ १ ॥

सोऽयमात्मा प्रस्तुतो यत्र यस्मिन् कालेऽबल्यमबलभावं निएत्य गत्वा, यद् देहस्य दौर्बल्यं तदात्मन एव दौर्बल्यमित्युपचर्यतेऽबल्यं न्येत्येति, न ह्यसौ स्वतोऽमूर्तत्वादबलभावं गच्छति। तथा सम्मोहमिव — सम्मूढता सम्मोहो विवेकाभावः, सम्मूढतामिव न्येति निगच्छति। न चास्य स्वतः सम्मोहोऽसम्मोहो वास्ति, नित्यचैतन्यज्योतिःस्वभावत्वात्। तेनेवशब्दः सम्मोहमिव न्येतीति; उत्क्रान्तिकाले हि करणोपसंहारनिमित्तो व्याकुलीभावः, आत्मन इव लक्ष्यते लौकिकैः; तथा च वक्तारो भवन्ति, सम्मूढः सम्मूढोऽयमिति।

अथवा उभयत्र इवशब्दप्रयोगो योज्यः, अबल्यमिव न्येत्य सम्मोहमिव न्येतीति, उभयस्य

वह यह प्रस्तुत आत्मा जिस समय अबल्य—अबलभावको प्राप्त होकर, यहाँ जो देहकी दुर्बलता है, वह आत्माकी ही दुर्बलता है, इस प्रकार उपचारसे कहा जाता है कि अबलभावको प्राप्त होकर, स्वयं अमूर्त होनेके कारण यह अबलभावको प्राप्त नहीं होता। तथा मानो सम्मोहको [प्राप्त होता है] सम्मूढताको ही सम्मोह कहते हैं, सम्मोहका अर्थ है विवेकका अभाव, इस प्रकारकी सम्मूढताको मानो प्राप्त होता है। इसे स्वतः सम्मोह अथवा असम्मोह है भी नहीं, क्योंकि यह नित्यचैतन्यज्योतिःस्वरूप है। इसीसे 'सम्मोहमिव न्येति' इसमें 'इव' शब्दका प्रयोग किया गया है; क्योंकि लौकिक पुरुषोंको उत्क्रान्तिके समय इन्द्रियोंके उपसंहारके कारण होनेवाली व्याकुलता आत्माकी-सी जान पड़ती है और ऐसा ही कहनेवाले कहते भी हैं कि यह सम्मूढ—अत्यन्त अचेत हो गया है।

अथवा 'अबल्यम्' और 'सम्मोहम्' दोनोंहीके साथ 'इव' शब्दका प्रयोग करना चाहिये; अर्थात् मानो अबलताको प्राप्त होकर मानो सम्मूढताको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि दोनों-

परोपाधिनिमित्तत्वाविशेषात्; समानकर्तृकनिर्देशाच्च ।

अथास्मिन् काले एते प्राणा वागादय एनमात्मानमभिसमायन्ति । तदास्य शरीरस्यात्मनोऽङ्गेभ्यः सम्प्रमोक्षणम् । कथं पुनः सम्प्रमोक्षणम् ? केन वा प्रकारेणात्मानमभिसमायन्ति ? इत्युच्यते—

स आत्मा एतास्तेजोमात्राः—तेजसो मात्रास्तेजोमात्रास्तेजोऽवयवा रूपादिप्रकाशकत्वाच्चक्षुरादीनि करणानीत्यर्थः, ता एताः समभ्याददानः सम्यङ् निर्लेपेनाभ्याददान आभिमुख्येनाददानः संहरमाणः—तत्स्वप्नापेक्षया विशेषणं समिति, न तु स्वप्ने निर्लेपेन सम्यगादानम्, अस्ति त्वादानमात्रम्, 'गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुः;' (बृ० उ० २ । १ । १७) "अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय" (४ । ३ । ९) "शुक्रमादाय" (४ । ३ । ११)

हीका अन्योपाधिकृत होना समान है, तथा दोनोंहीका एक कर्ता बतलाया गया है ।

इस समय ये वागादि प्राण इस आत्माके अभिमुख आते हैं । तब इस देही आत्माका अङ्गोंसे सर्वथा मोक्ष होता है । किंतु वह मोक्ष कैसे होता है और किस प्रकार ये आत्माके अभिमुख आते हैं ? सो बतलाया जाता है—

वह आत्मा इन तेजोमात्राओं-को—तेजकी मात्रा तेजोमात्रा यानी तेजके अवयव अर्थात् रूपादिकी प्रकाशक होनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियाँ तेजोमात्रा हैं, उन इन इन्द्रियोंका समभ्यादान—सम्यक् अर्थात् निर्लेपभावसे अभ्यादान—अभिमुखतया आदान अर्थात् उपसंहार कर, हृदय यानी पुण्डरीकाकाशमें ही अनुक्रान्त—अन्वागत होता है अर्थात् बुद्धि आदिके विक्षेपका उपसंहार हो जानेपर हृदयमें ही अभिव्यक्तविज्ञानवान् होता है । 'समभ्याददानः' इस क्रियापदमें 'सम्' यह विशेषण स्वप्नकी अपेक्षासे है, क्योंकि स्वप्नमें निर्लेपभावसे चक्षु आदि-का उपसंहार नहीं होता, केवल आदान (उपसंहार) मात्र तो होता

इत्यादिवाक्येभ्यः—हृदयमेव पुण्डरीकाकाशमन्ववक्रामत्यन्वागच्छति हृदयेऽभिव्यक्तविज्ञानो भवतीत्यर्थः, बुद्ध्यादिविक्षेपोपसंहारे सति।

न हि तस्य स्वतश्चलनं विक्षेपोपसंहारादिविक्रिया वा; "ध्यायतीव लेलायतीव" (४।३।७) इत्युक्तत्वात्। बुद्ध्याद्युपाधिद्वारैव हि सर्वविक्रियाध्यारोप्यते तस्मिन्।

कदा पुनस्तस्य तेजोमात्राभ्यादानम् इत्युच्यते—स यत्रैव चक्षुषि भवश्चाक्षुषः पुरुष आदित्यांशो भोक्तुः कर्मणा प्रयुक्तो यावद्देहधारणं तावच्चक्षुषोऽनुग्रहं कुर्वन् वर्तते, मरणकाले त्वस्य चक्षुरनुग्रहं परित्यजति, स्वमादित्यात्मानं प्रतिपद्यते। तदेतदुक्तम्—"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्" (३।२।१३) इत्यादि।

है, जैसा कि "वाक् गृहीत हो जाती है, चक्षु गृहीत हो जाती है" "इस सर्ववान् लोककी मात्राका ग्रहण कर" "शुक्रको ग्रहण कर" इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है।

आत्माके चलन अथवा विक्षेपोपसंहारादि विकार स्वतः नहीं होते; जैसा कि "ध्यायतीव लेलायतीव" इत्यादि मन्त्रद्वारा कहा गया है। बुद्धि आदि उपाधियोंके द्वारा ही उसमें सब प्रकारके विकारका आरोप किया जाता है।

किंतु उसकी तेजोमात्राओंका उपसंहार कब होता है? सो बतलाया जाता है—जिस समय भी वह चक्षुमें रहनेवाला चाक्षुष पुरुष आदित्यांश, जो भोक्ताके कर्मसे प्रेरित होकर जबतक देह धारण किया जाता है, तबतक उसके नेत्रोंका उपकार करता हुआ विद्यमान रहता है, मरणकालमें इसके चक्षुका उपकार करना छोड़ देता है, अर्थात् अपने आदित्यस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। इसीसे यह कहा है—"जब इस मृत पुरुषकी वागिन्द्रिय अग्निमें, प्राण वायुमें और नेत्र आदित्यमें लीन हो जाते हैं" इत्यादि।

पुनर्देहग्रहणकाले संश्रयिष्यन्ति, तथा स्वप्स्यतः प्रबुध्यतश्च; तदेतदाह—चाक्षुषः पुरुषो यत्र यस्मिन् काले पराङ् पर्यावर्तते परि समन्तात् पराङ् व्यावर्तत इति, अथात्रास्मिन् कालेऽरूपज्ञो भवति, मुमूर्षू रूपं न जानाति। तदा अयमात्मा चक्षुरादितेजोमात्राः समभ्याददानो भवति स्वप्नकाल इव ॥ १ ॥

ये देहग्रहणके समय पुनः उसका आश्रय ले लेंगे, ऐसा ही सोने और जागनेवाले पुरुषके विषयमें भी होता है। इसीसे श्रुति कहती है· जिस समय चाक्षुष पुरुष पराङ् पर्यावर्तन—सब ओरसे अपनी ओर व्यावर्तन कर लेता है, उस समय पुरुष अरूपज्ञ हो जाता है अर्थात् मुमूर्षुको रूपका ज्ञान नहीं होता। उस समय स्वप्नकालके समान यह आत्मा चक्षु आदि तेजोमात्राओंको सब ओरसे सम्यक्—निर्लेपभावसे ग्रहण करनेवाला होता है ॥ १ ॥

लिङ्गात्मामें विभिन्न इन्द्रियोंके लय और उसके उत्क्रमणका वर्णन

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

[चक्षु-इन्द्रिय लिङ्गात्मासे] एकरूप हो जाती है, तो लोग 'नहीं देखता' ऐसा कहते हैं, [घ्राणेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है, तो 'नहीं

सूँघता' ऐसा कहते हैं, [रसनेन्द्रिय] एक रूप हो जाती है तो 'नहीं चखता' ऐसा कहते हैं, [वागिन्द्रिय] एक रूप हो जाती है तो 'नहीं बोलता' ऐसा कहते हैं [श्रोत्रेन्द्रिय] एक रूप हो जाती है तो 'नहीं सुनता' ऐसा कहते हैं, [मन] एकरूप हो जाता है तो 'मनन नहीं करता' ऐसा कहते हैं, [त्वगिन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'स्पर्श नहीं करता' ऐसा कहते हैं और यदि [बुद्धि लिङ्गात्मासे] एक रूप हो जाती है तो 'नहीं जानता' ऐसा कहते हैं। उस इस हृदयका अग्र (बाहर जानेका मार्ग) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, उसीसे यह आत्मा नेत्रसे, मूर्द्धासे अथवा शरीरके किसी अन्य भागसे बाहर निकलता है। उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, प्राणके उत्क्रमण करनेपर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रियवर्ग) उत्क्रमण करते हैं; उस समय यह आत्मा विशेष विज्ञानवान् होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेशको ही जाता है; उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (अनुभूत विषयोंकी वासना) भी जाते हैं ॥ २ ॥

एकीभवति करणजातं स्वेन लिङ्गात्मना, तदैनं पार्श्वस्था आहुर्न पश्यतीति। तथा घ्राणदेवतानिवृत्तौ घ्राणमेकीभवति लिङ्गात्मना, तदा न जिघ्रतीत्याहुः। समानमन्यत्। जिह्वायां सोमो वरुणो वा देवता, तन्निवृत्त्यपेक्षया न रसयत इत्याहुः। तथा न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशति न विजानातीत्याहुः।

जब इन्द्रियवर्ग अपने लिङ्गदेहके साथ एकरूप हो जाते हैं, तब आसपास बैठे हुए लोग कहते हैं—'यह नहीं देखता'। इसी प्रकार जब घ्राणदेवताके निवृत्त होनेपर घ्राणेन्द्रिय लिङ्गात्माके साथ एकरूप हो जाती है, तब 'नहीं सूँघता' ऐसा कहते हैं। शेष अर्थ इसीके समान है। जिह्वामें सोम या वरुण देवता है, उसकी निवृत्तिकी अपेक्षासे 'नहीं चखता' ऐसा कहते हैं। इसी तरह 'नहीं बोलता, नहीं सुनता, मनन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, नहीं जानता' ऐसा कहते हैं।

तदोपलक्ष्यते देवतानिवृत्तिः करणानां च हृदय एकीभावः ।

तत्र हृदय उपसंहृतेषु करणेषु योऽन्तर्व्यापारः स कथ्यते—तस्य हैतस्य प्रकृतस्य हृदयस्य हृदयच्छिद्रस्येत्येतत्, अग्रं नाडीमुखं निर्गमनद्वारं प्रद्योतते स्वप्नकाल इव स्वेन भासा तेजोमात्रादानकृतेन स्वेनैव ज्योतिषा आत्मनैव च । तेनात्मज्योतिषा प्रद्योतेन हृदयाग्रेणैष आत्मा विज्ञानमयो लिङ्गोपाधिर्निर्गच्छति निष्क्रामति । तथा आथर्वणे 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति" (प्र० उ० ६ । ३) "स प्राणमसृजत" (प्र० उ० ६ । ४) इति ।

तत्र चात्मचैतन्यज्योतिः सर्वदाभिव्यक्ततरम् । तदुपाधिद्वारा ह्यात्मनि जन्ममरणगमना-

उस समय इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी निवृत्ति और इन्द्रियोंका हृदयमें एकीभाव उपलक्षित होता है।

उस समय इन्द्रियोंका हृदयमें उपसंहार हो जानेपर जो अन्तर्व्यापार होता है, उसका वर्णन किया जाता है-उस इस प्रकृत हृदयका अर्थात् हृदयच्छिद्रका अग्र नाडीमुख अर्थात् बाहर निकलनेका द्वार प्रद्योतित-अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, जिस प्रकार स्वप्नकालमें आत्मज्योतिसे स्थित रहता है, उसी प्रकार इस समय भी तेजोमात्राओंके ग्रहणके कारण आत्मज्योतिसे तथा स्वयं अपने-आपसे ही प्रकाशित हो जाता है। उस आत्मज्योतिसे प्रकाशित हृदयद्वारसे यह लिङ्गौपाधिक विज्ञानमय आत्मा निकल जाता है। ऐसा ही आथर्वण (प्रश्न) उपनिषद्में भी कहा है- "[उसने सोचा-] मैं किसके उत्क्रमण करनेपर उत्क्रान्त होऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होनेपर प्रतिष्ठित हो जाऊँगा" "उसने प्राणकी रचना की" इत्यादि।

उस लिङ्गात्मामें आत्मचैतन्यज्योति सर्वदा अत्यन्त अभिव्यक्त रहती है। उस उपाधिके द्वारा ही आत्मामें जन्म, मरण, गमन,

गमनादिसर्वविक्रियालक्षणः संव्यवहारः; तदात्मकं हि द्वादशविधं करणं बुद्ध्यादि । तत् सूत्रं तज्जीवनं सोऽन्तरात्मा जगतस्तस्थुषश्च । तेन प्रद्योतेन हृदयाग्रप्रकाशेन निष्क्रममाणः केन मार्गेण निष्क्रामति ? इत्युच्यते—

चक्षुष्टो वा आदित्यलोकप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं कर्म वा यदि स्यात् । मूर्ध्नो वा ब्रह्मलोकप्राप्तिनिमित्तं चेत् । अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः शरीरावयवेभ्यो यथाकर्म यथाश्रुतम् ।

तं विज्ञानात्मानमुत्क्रामन्तं परलोकाय प्रस्थितं परलोकायोद्भूताकूतमित्यर्थः; प्राणः सर्वाधिकारिस्थानीयो राज्ञ इवानूत्क्रामति; तं च प्राणमनूत्क्रामन्त वागादयः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति । यथाप्रधानान्वाचिख्यासा इयम्, न तु क्रमेण सार्थवद् गमनमिह विवक्षितम् ।

आगमन आदि सम्पूर्ण विकाररूप व्यवहार होते हैं और तद्रूप ही बुद्धि आदि बारह इन्द्रियाँ हैं। वह सूत्र है, वह जीवन है और वही स्थावर-जंगमका अन्तरात्मा है। उस प्रद्योतसे अर्थात् हृदयाग्रके प्रकाशसे निकलनेवाला आत्मा किस मार्गसे निकलता है, सो कहा जाता है—

यदि उसका ज्ञान या कर्म आदित्यलोककी प्राप्तिका कारण होता है तो वह चक्षुद्वारसे निकलता है। यदि ब्रह्मलोककी प्राप्तिका कारण होता है तो मूर्धदेशसे निकलता है। इसी प्रकार अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार वह शरीरके अन्यान्य देश या अवयवोंसे निकल जाता है।

उस विज्ञानात्माके उत्क्रान्त-परलोकके लिये प्रस्थित अर्थात् परलोकगमनके लिये वासनायुक्त होनेपर, राजाके सर्वाधिकारीके समान प्राण उसके साथ-साथ उत्क्रमण करता है और उस प्राणके उत्क्रान्त होनेपर वागादि सारे ही प्राण उसके साथ-साथ उत्क्रमण करते हैं। यहाँ लोगोंके समूहके समान विज्ञानात्मा, प्राण और इन्द्रियोंका एक साथ मिलकर क्रमसे जाना विवक्षित नहीं है, बल्कि उनके प्राधान्यके अनुसार उसका उल्लेख करना अभीष्ट है।

तदैष आत्मा सविज्ञानो भवति स्वप्न इव विशेषविज्ञानवान् भवति कर्मवशान्न स्वतन्त्रः; स्वातन्त्र्येण हि सविज्ञानत्वे सर्वः कृतकृत्यः स्यात्, नैव तु तल्लभ्यते; अत एवाह व्यासः—"सदा तद्भावभावितः" (गीता ८ । ६) इति । कर्मणा तूद्भाव्यमानेनान्तःकरणवृत्तिविशेषाश्रितवासनात्मकविशेषविज्ञानेन सर्वो लोक एतस्मिन् काले सविज्ञानो भवति । सविज्ञानमेव च गन्तव्यमन्ववक्रामत्यनुगच्छति विशेषविज्ञानोद्भासितमेवेत्यर्थः ।

उस समय यह आत्मा सविज्ञान होता है अर्थात् स्वप्नके समान अपने कर्मवश विशेष विज्ञानवान् होता है, स्वतन्त्रतासे नहीं; यदि स्वतन्त्रतासे विज्ञानवान् हो सकता तो सभी कृतकृत्य तो हो जाते; किंतु वह कृतकृत्यता तो [सभीको] प्राप्त नहीं होती; इसीसे व्यासदेवने कहा है—'हृदयमें सदा उसी भावका चिन्तन करते रहनेसे [वह उसीको प्राप्त होता है]'। अतः इस समय सब लोग कर्मद्वारा उद्भूत अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषके आश्रित रहनेवाले वासनात्मक विशेष ज्ञानसे सविज्ञान होते हैं। इस प्रकार सविज्ञान अर्थात् विशेष विज्ञानसे उद्भासित होकर ही अपने गन्तव्य स्थानको अनुक्रमण-अनुगमन करता है।

तस्मात् तत्काले स्वातन्त्र्यार्थं योगधर्मानुसेवनं परिसंख्यानाभ्यासश्च विशिष्टपुण्योपचयश्च श्रद्दधानैः परलोकार्थिभिरप्रमत्तैः कर्तव्य इति । सर्वशास्त्राणां यत्नतो विधेयोऽर्थो दुश्चरिताच्चोपरमणम् । न हि तत्काले शक्यते किञ्चित् सम्पादयितुम्; कर्मणा नीयमा-

अतः परलोककी इच्छा रखनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंको उस समय स्वातन्त्र्य प्राप्त करनेके लिये प्रमादहीन होकर निरन्तर योगधर्मोंका सेवन, विवेकका अभ्यास और विशेषरूपसे पुण्यका संचय करना चाहिये। सम्पूर्ण शास्त्रोंके विधेय अर्थका आचरण करना चाहिये तथा दुष्कर्मसे दूर रहना चाहिये। किंतु उस (उत्क्रान्तिके) समय कुछ भी सम्पादन नहीं किया जा सकता,

नस्य स्वातन्त्र्याभावात्; "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" (३ । २ । १३) इत्युक्तम् । एतस्य ह्यनर्थस्योपशमोपायविधानाय सर्वशाखोपनिषदः प्रवृत्ताः । न हि तद्विहितोपायानुसेवनं मुक्त्वा आत्यन्तिकोऽस्यानर्थस्योपशमोपायोऽस्ति; तस्मादत्रैवोपनिषद्विहितोपाये यत्नपरैर्भवितव्यमित्येष प्रकरणार्थः ।

क्योंकि कर्मद्वारा ले जाये जाते हुए जीवकी स्वतन्त्रता नहीं रहती; इस विषयमें "पुण्यकर्मसे पुरुष पुण्यवान् होता है और पापकर्मसे पापी" ऐसा ऊपर कहा जा चुका है । इस अनर्थकी निवृत्तिका उपाय बतानेके लिये ही समस्त शाखाओंकी उपनिषदें प्रवृत्त हुई हैं । उनके विधान किये हुए उपायके निरन्तर सेवनके बिना इस अनर्थकी आत्यन्तिक निवृत्तिका कोई और उपाय नहीं है; अतः इस उपनिषद्विहित उपायके अनुष्ठानमें ही प्रयत्न करते रहना चाहिये-यही इस प्रकरणका तात्पर्य है ।

शकटवत् सम्भृतसम्भार उत्सर्जन् यातीत्युक्तं किं पुनस्तस्य परलोकाय प्रवृत्तस्य पथ्यदनं शाकटिकसम्भारस्थानीयम्, गत्वा वा परलोकं यद् भुङ्क्ते? शरीराद्यारम्भकं च यत् तत् किम्? इत्युच्यते—तं परलोकाय गच्छन्तमात्मानं विद्याकर्मणी, विद्या च कर्म च विद्याकर्मणी विद्या सर्वप्रकारा विहिता प्रतिषिद्धा च, अविहिता

ऊपर यह कहा गया है कि गाड़ीके समान जिसने बोझा धारण किया हुआ है, वह जीव शब्द करता हुआ जाता है; किंतु गाड़ीवानके राहखर्चके समान परलोकके लिये जानेवाले इस जीवकी रास्तेकी भोजनसामग्री क्या है, जिसे यह परलोकमें जाकर खाता है? तथा जो उसके शरीरादिका आरम्भक है, वह भी क्या है? सो बतलाया जाता है परलोकको जानेवाले उस आत्माके साथ विद्या और कर्म—सब प्रकारकी विहित और प्रतिषिद्ध तथा अविहित और

अप्रतिषिद्धा च, तथा कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च अविहितमप्रतिषिद्धं च, समन्वारभेते सम्यगन्वारभेते अन्वालभेते अनुगच्छतः । पूर्वप्रज्ञा च—पूर्वानुभूतविषया प्रज्ञा पूर्वप्रज्ञा अतीतकर्मफलानुभववासनेत्यर्थः ।

सा च वासना अपूर्वकर्मारम्भे कर्मविपाके चाङ्गं भवति; तेनासावप्यन्वारभते, न हि तया वासनया विना कर्म कर्तुं फलं चोपभोक्तुं शक्यते; न ह्यनभ्यस्ते विषये कौशलमिन्द्रियाणां भवति । पूर्वानुभववासनाप्रवृत्तानां त्विन्द्रियाणामिहाभ्यासमन्तरेण कौशलमुपपद्यते; दृश्यते च केषाञ्चित् कासुचित् क्रियासु चित्रकर्मादिलक्षणासु विनैवेहाभ्यासेन जन्मत एव कौशलं कासुचिदत्यन्तसौकर्ययुक्तास्वप्यकौशलं केषाञ्चित् । यथा विषयोपभोगेषु स्वभावत एव केषाञ्चित् कौशलाकौशले दृश्येते । तच्चैतत् सर्वं पूर्व-

अप्रतिषिद्ध विद्या ही यहाँ विद्या है एवं विहित और प्रतिषिद्ध तथा अविहित और अप्रतिषिद्ध कर्म ही कर्म हैं-ये विद्या और कर्म सम्यक् अन्वारम्भ अन्वालम्भन अर्थात् अनुसरण करते हैं । तथा पूर्वप्रज्ञा पूर्वानुभवसम्बन्धिनी प्रज्ञा अर्थात् अतीत कर्मफलानुभवकी वासना भी [साथ जाता है] ।

वह वासना ही अपूर्व कर्मके आरम्भ और कर्मविपाकमें अङ्ग होती है; अतः यह भी उसके साथ जाती है; उस वासनाके बिना यह कर्म करने और उसका फल भोगनेमें समर्थ नहीं होता; क्योंकि जिस विषयका अभ्यास नहीं होता, उसमे इन्द्रियोंकी कुशलता भी नहीं होती । यहाँ पूर्वानुभवकी वासनासे प्रवृत्त हुई इन्द्रियोंकी बिना अभ्यासके कुशलता होनी सम्भव है; यह बात देखी ही जाती है कि किन्हीं पुरुषोंकी चित्रकलादिके समान क्रियाओंमें भी बिना अभ्यासके जन्मसे ही कुशलता होती है और किन्हीं-किन्हींकी अत्यन्त सुगम क्रियाओंमें भी कुशलता नहीं होती । जैसे विषयोपभोगमें भी किन्हींकी स्वभावतः ही कुशलता या अकुशलता देखी जाती है । सो यह सब

[पूर्वप्रज्ञ]ोद्भवानुद्भवनिमित्तम्, तेन [पूर्व]प्रज्ञया विना कर्मणि वा [फ]लोपभोगे वा न कस्यचित् [प्र]वृत्तिरुपपद्यते ।

पूर्वप्रज्ञके उद्‌बुद्ध और अनुद्‌बुद्ध होनेके कारण ही होती है। इसलिये पूर्वप्रज्ञाके बिना किसीकी भी कर्म या उसके फलोपभोगमें प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है।

तस्मादेतत् त्रयं शाकटिकसम्भारस्थानीयं परलोकपथ्यदनं विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यम्। यस्माद् विद्याकर्मणी पूर्वप्रज्ञा च देहान्तरप्रतिपत्त्युपभोगसाधनम्, तस्माद् विद्याकर्मादि शुभमेव समाचरेत् यथेष्टदेहसंयोगोपभोगौ स्यातामिति प्रकरणार्थः ॥ २ ॥

अतः गाड़ीवानके राहखर्चकी सामग्रीके समान ये विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा नामक तीन पदार्थ ही परलोकके मार्गकी भोजन-सामग्री हैं। चूँकि विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा-ये देहान्तरकी प्राप्ति और उपभोगके साधन हैं, इसलिये शुभ विद्या और कर्मादिका ही आचरण करे, जिससे कि अभीष्ट देहकी प्राप्ति और उपभोग हों-यही इस प्रकरणका तात्पर्य है ॥ २ ॥

एवं विद्यादिसम्भारसम्भृतो देहान्तरं प्रतिपद्यमानः, मुक्त्वा पूर्वं देहं पक्षीव वृक्षान्तरं देहान्तरं प्रतिपद्यते। अथवा आतिवाहिकेन शरीरान्तरेण कर्मफलजन्मदेशं नीयते।

इस प्रकार विद्यादिके भारसे लदा हुआ, देहान्तरको प्राप्त करनेवाला जीव पूर्वदेहको छोड़कर वृक्षसे दूसरे वृक्षको जानेवाले पक्षीके समान, अन्य देहको प्राप्त करता है अथवा एक दूसरे आतिवाहिक देहसे कर्मफलके उद्‌भव-स्थान (देवलोकादि) को ले जाया जाता है।

किञ्चात्रस्थस्यैव सर्वगतानां करणानां वृत्तिलाभो भवति।

शङ्का-क्या उसे यहाँ स्थित रहते हुए ही सर्वगत इन्द्रियोंकी वृत्ति प्राप्त

आहोस्विच्छरीरस्थस्य संकुचितानि करणानि मृतस्य भिन्नघटप्रदीपप्रकाशवत् सर्वतो व्याप्य पुनर्देहान्तरारम्भे संकोचमुपगच्छन्ति ? किञ्च मनोमात्रं वैशेषिकसमय इव देहान्तरारम्भदेशं प्रति गच्छति ? किं वा कल्पनान्तरमेव वेदान्तसमय इति ।

उच्यते—"त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः" (बृ० उ० १ । ५ । १३) इति श्रुतेः— सर्वात्मकानि तावत् करणानि, सर्वात्मकप्राणसंश्रयाच्च; तेषामाध्यात्मिकाधिभौतिकपरिच्छेदः प्राणिकर्मज्ञानभावनानिमित्तः । अतस्तद्वशात् स्वभावतः सर्वगतानामनन्तानामपि प्राणानां कर्मज्ञानवासनानुरूपेणैव देहान्तरारम्भवशात् प्राणानां वृत्तिः संकुचति विकसति च । तथा चोक्तम्—"समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण" (बृ० उ० १ ।

हो जाती है ? अथवा शरीरस्थ जीवकी संकुचित इन्द्रियाँ मरनेपर, फूटे हुए घड़ेके प्रकाशके समान सर्वत्र व्याप्त होकर, देहान्तरका आरम्भ होनेपर पुनः संकोचको प्राप्त हो जाती हैं ? अथवा वैशेषिक सिद्धान्तवालोंके मतानुसार केवल मन ही देहान्तरके देशमें जाता है ? किंवा वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार कल्पनान्तर ही देहान्तरकी प्राप्ति है ?

समाधान—बतलाते हैं-"वे ये सभी समान और सभी अनन्त हैं" इस श्रुतिके अनुसार तथा सर्वात्मक प्राणके आश्रित होनेसे इन्द्रियाँ तो सर्वात्मक ही हैं; उनका आध्यात्मिक और आधिभौतिक परिच्छेद प्राणियोंके कर्म, ज्ञान और भावनाके कारण है। अतः उनके अधीन होनेके कारण, स्वभावतः सर्वगत और अनन्त होनेपर भी भोक्ता प्राणोंके कर्म, ज्ञान और वासनाके अनुसार ही देहान्तरके आरम्भवश प्राणोंकी वृत्तिका संकोच या विकास होता है। ऐसा ही कहा भी है "यह प्राण चींटीके प्रमाणका है, मच्छरके समान है, हाथीके बराबर है, इन तीनों लोकोंके समान है और इस सबके

३ । २२) इति । तथा चेदं वचनमनुकूलम्—"स यो हैताननन्तानुपास्ते" (बृ० उ० १ । ५ । १३) इत्यादि "तं यथा यथोपासते" इति च ।

समान है"। इसी प्रकार "जो भी इन अनन्तोंकी उपासना करता है" तथा "उसकी जो जिस प्रकार उपासना करते हैं" इत्यादि वचन भी अनुकूल हो सकते हैं।

तत्र वासना पूर्वप्रज्ञाख्या विद्याकर्मतन्त्रा जलूकावत् सततैव स्वप्नकाल इव कर्मकृतं देहाद् देहान्तरमारभते हृदयस्थैव । पुनर्देहान्तरारम्भे देहान्तरं पूर्वाश्रयं विमुञ्चति—इत्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त उपादीयते—

इनमें कर्म और ज्ञानके अधीन जो पूर्वप्रज्ञा नामकी वासना है, वह जोंकके समान सर्वत्र व्याप्त रहते हुए ही हृदयस्थित रहकर जैसे स्वप्नावस्थाके शरीरकी रचना करती है, उसी प्रकार इस देहसे भिन्न दूसरे कर्मजनित देहको रच लेती है। फिर देहान्तरका आरम्भ हो जानेपर अपने पूर्वाश्रित देहको त्याग देती है—इस विषयमें यह दृष्टान्त बतलाया जाता है—

देहान्तरगमनमें जोंकका दृष्टान्त

तद् यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥ ३ ॥

वह दृष्टान्त—जिस प्रकार जोंक एक तृणके अन्तमें पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रयको पकड़कर अपनेको सकोड़ लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको मारकर-अविद्या (अचेतनावस्था) को प्राप्त कराकर दूसरे आधारका आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेता है ॥ ३ ॥

तत्तत्र देहान्तरसंचार इदं निदर्शनम्—यथा येन प्रकारेण तृणजलायुका तृणजलूका तृण-

उस देहान्तरसंचारमें यह उदाहरण है—यथा जिस प्रकार तृण-जलूका (घासपर चलनेवाली जोंक)

स्थान्तमवसानं गत्वा प्राप्य अन्यं तृणान्तरमाक्रमम्, आक्रम्यत इत्याक्रमस्तमाक्रमम् आक्रम्या-श्रित्य, आत्मानम् आत्मनः पूर्वा-वयवम् उपसंहरत्यन्त्यावयव-स्थाने; एवमेव अयमात्मा यः प्रकृतः संसारीदं शरीरं पूर्वोपात्तं निहत्य स्वप्नं प्रतिपित्सुरिव पात-यित्वा अविद्यां गमयित्वा अचेतनं कृत्वा स्वात्मोपसंहारेण, अन्य-माक्रमं तृणान्तरमिव तृणजलूका शरीरान्तरं गृहीत्वा प्रसारितया वासनया आत्मानमुपसंहरति, तत्रात्मभावमारभते; यथा स्वप्ने देहान्तरमारभते स्वप्नदेहान्त-रस्थ इव शरीरारम्भदेश आरभ्य-माणे देहे जङ्गमे स्थावरे वा।

तृणके अन्त अन्तिम भागपर पहुँच-कर दूसरे तृणरूप आक्रमका—जो आक्रान्त किया जाय उसे आक्रम कहते हैं, उस आक्रम यानी आधार-का आश्रय ले अपनेको अर्थात् अपने पूर्वावयवको पिछले अवयवके स्थानमें सकोड़ लेती है; इसी प्रकार यह संसारी आत्मा, जिसका यहाँ प्रकरण है, इस अपने पूर्वप्राप्त शरीरको मारकर—स्वप्नप्राप्तिकी इच्छावालेके समान गिराकर, इसे अविद्याको प्राप्त कराकर अर्थात् अपने आत्माके उपसंहारद्वारा अचेतन कर, तृणजलूकाके एक तृणसे दूसरे तृणपर जानेके समान दूसरे आक्रम यानी शरीरान्तरको अपनी फैली हुई वासनासे ग्रहणकर अपना उपसंहार कर लेता है, अर्थात् उसीमें आत्मभाव करने लगता है; जिस प्रकार यह स्वप्नमें देहान्तरका आरम्भ करता है उसी प्रकार स्वप्नदेहान्तरस्थ जीवके समान यह शरीरारम्भदेशमें अर्थात् आरम्भ किये हुए जङ्गम या स्थावर देहमें आत्मभाव कर लेता है।

तत्र च कर्मवशात् करणानि लब्धवृत्तीनि संहन्यन्ते; बाह्यं च कुशमृत्तिकास्थानीयं शरीरमा-रभ्यते। तत्र च करणव्यूहमपेक्ष्य

वहीं कर्मवश इन्द्रियाँ भी वृत्ति-युक्त होकर संगठित हो जाती हैं और कुश-मृत्तिकास्थानीय बाह्य शरीरका भी आरम्भ हो जाता है। फिर उसीमें इन्द्रियव्यूहकी अपेक्षासे

वागाद्यनुग्रहायाग्न्यादिदेवताः संश्रयन्ते । एष देहान्तरारम्भविधिः ॥ ३ ॥

वागादि इन्द्रियोंका उपकार करनेके लिये अग्नि आदि देवता आश्रय ले लेते हैं। यही देहान्तरके आरम्भकी विधि है ॥ ३ ॥

आत्माके देहान्तरनिर्माणमें सुवर्णकारका दृष्टान्त

तत्र देहान्तरारम्भे नित्योपात्तमेवोपादानमुपमृद्योपमृद्य देहान्तरमारभते, आहोस्विदपूर्वमेव पुनः पुनरादत्त इति ? अत्रोच्यते दृष्टान्तः—

उस देहान्तरके आरम्भमें जीव नित्य ग्रहण किये हुए उपादानको ही बिगाड़-बिगाड़कर उसीसे देहान्तरका आरम्भ करता है अथवा पुनः पुनः नवीन उपादान ग्रहण करता है। इसमें दृष्टान्त बतलाया जाता है—

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥

उसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सोनार सुवर्णका भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूपकी रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको नष्ट कर—अचेतनावस्थाको प्राप्तकर दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्यभूतोंके नवीन और कल्याणतर रूपकी रचना करता है ॥ ४ ॥

तत्रैतस्मिन्नर्थे—यथा पेशस्कारी पेशः सुवर्णं तत् करोतीति पेशस्कारी सुवर्णकारः, पेशसः

उस इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार पेशस्कारी-पेशस् सुवर्णको कहते हैं, उसे जो बनावे वह पेशस्कारी-सोनार, पेशस् अर्थात्

सुवर्णस्य मात्रामपादायापच्छिद्य गृहीत्वा अन्यत् पूर्वस्माद् रचनाविशेषान्नवतरमभिनवतरं कल्याणात् कल्याणतरं रूपं तनुते निर्मिनोति। एवमेवायमात्मेत्यादि पूर्ववत्।

नित्योपात्तान्येव पृथिव्यादीन्याकाशान्तानि पञ्च भूतानि यानि 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इति चतुर्थे व्याख्यातानि पेशःस्थानीयानि, तान्येवोपमृद्योपमृद्य, अन्यदन्यच्च देहान्तरं नवतरं कल्याणतरं रूपं संस्थानविशेषं देहान्तरमित्यर्थः, कुरुते। पित्र्यं वा पितृभ्यो हितं पितृलोकोपभोगयोग्यमित्यर्थः, गान्धर्वं गन्धर्वाणामुपभोगयोग्यम्, तथा देवानां दैवम्, प्रजापतेः प्राजापत्यम्, ब्रह्मण इदं ब्राह्मं वा; यथाकर्म यथाश्रुतमन्येषां वा भूतानां सम्बन्धि शरीरान्तरं कुरुत इत्यभिसम्बध्यते ॥ ४ ॥

सुवर्णकी मात्राका अपादान—अपच्छेदन अर्थात् ग्रहण कर; पूर्वरचनाविशेषसे भिन्न दूसरा नवीनतर और कल्याणसे भी कल्याणतर रूप बनाता है, उसी प्रकार यह आत्मा—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है।

आत्माके नित्यगृहीत जो पृथ्वीसे लेकर आकाशपर्यन्त सुवर्णस्थानीय पाँच भूत हैं, जिनकी 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इस वाक्यसे चतुर्थ प्रपाठकमें[1] व्याख्या की गयी है, उन्हींको बिगाड़-बिगाड़कर दूसरे-दूसरे देहान्तरको अर्थात् पूर्वापेक्षा नवीन और कल्याणतर रूप—संस्थानविशेष यानी देहान्तरको रच लेता है। पित्र्य—जो पितरोंके लिये उपयोगी हो अर्थात् पितृलोकके उपभोगके योग्य हो, गान्धर्व—जो गन्धर्वोंके उपभोगयोग्य हो, इसी प्रकार देवताओंके लिये उपयोगी—दैव, प्रजापतिके लिये उपयोगी—प्राजापत्य और जो ब्रह्माका है, उस ब्राह्म शरीरकी तथा इसी प्रकार कर्म और ज्ञानके अनुसार वह अन्य भूतोंसे सम्बद्ध शरीरान्तरकी रचना कर लेता है—इस प्रकार इसका सम्बन्ध है ॥ ४ ॥

—:*:—

१. उपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें।



सर्वमय आत्माकी कर्मानुसार विभिन्न गतियोंका निरूपण

येऽस्य बन्धनसंज्ञका उपाधिभूताः, यैः संयुक्तस्तन्मयोऽयमिति विभाव्यते, ते पदार्थाः पुञ्जीकृत्येहैकत्र प्रतिनिर्दिश्यन्ते—

इस आत्माके जो बंधनसंज्ञक उपाधिभूत पदार्थ हैं और जिनसे संयुक्त होकर यह तद्रूप है-ऐसा समझा जाता है, उन पदार्थोंका यहाँ एक जगह एकत्रित करके निर्देश किया जाता है—

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद् यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः—काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥ ५ ॥

वह यह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ इदंमय (प्रत्यक्ष) और अदोमय (परोक्ष) है, वह वही है। वह जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला है, वैसा ही हो जाता है। शुभ कर्म करनेवाला शुभ होता है और पापकर्मा पापी होता है। पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है और पापकर्मसे पापी होता है। कोई-कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है, वह जैसी कामनावाला होता है

वैसा ही संकल्प करता है, जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

स वा अयम्, य एवं संसरत्यात्मा, ब्रह्मैव पर एव, योऽशनायाद्यतीतः। विज्ञानमयो विज्ञानं बुद्धिस्तेनोपलक्ष्यमाणस्तन्मयः। 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (४ । ३ । ७) इति ह्युक्तम् । विज्ञानमयो विज्ञानप्रायः, यस्मात्तद्धर्मत्वमस्य विभाव्यते "ध्यायतीव लेलायतीव" (४ । ३ । ७) इति ।

जो आत्मा इस प्रकार संसरित होता (इहलोक-परलोकमें गमनागमन करता)है, वह यह परब्रह्म ही है, जो कि क्षुधा-पिपासादि धर्मोंसे परे है। वह विज्ञानमय-विज्ञान बुद्धिको कहते हैं, उससे उपलक्षित होनेवाला अर्थात् तन्मय है। उसके विषयमें "यह आत्मा कौन है? जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है" ऐसा कहा जा चुका है। विज्ञानमय अर्थात् विज्ञानप्राय; क्योंकि "ध्यायतीव लेलायतीव" इत्यादि वाक्यसे इसका विज्ञानधर्मत्व प्रतीत होता है।

तथा मनोमयो मनःसंनिकर्षान्मनोमयः। तथा प्राणमयः प्राणः पञ्चवृत्तिस्तन्मयः, येन चेतनश्चलतीव लक्ष्यते। तथा चक्षुर्मयो रूपदर्शनकाले। एवं श्रोत्रमयः शब्दश्रवणकाले। एवं तस्य तस्येन्द्रियस्य व्यापारोद्भवे तत्तन्मयो भवति।

इसी प्रकार वह मनोमय है— मनकी संनिधिके कारण वह मनोमय है तथा प्राणमय है—प्राण पाँच वृत्तियोंवाला है, तन्मय वह है, जिससे कि वह चेतन चलता हुआ-सा देखा जाता है तथा रूपदर्शनके समय वह चक्षुर्मय है। एवं शब्द सुननेके समय वह श्रोत्रमय है। इसी प्रकार उस-उस इन्द्रियके व्यापारका प्रादुर्भाव होनेपर वह तत्तद्रूप हो जाता है।

एवं बुद्धिप्राणद्वारेण चक्षुरादिकरणमयः सञ्शरीरारम्भक-

इस प्रकार बुद्धि और प्राणके द्वारा वह चक्षु आदि इन्द्रियमय होकर शरीरा-

पृथिव्यादिभूतमयो भवति। तत्र पार्थिवशरीरारम्भे पृथिवीमयो भवति। तथा वरुणादिलोकेषु आप्यशरीरारम्भे आपोमयो भवति। तथा वायव्यशरीरारम्भे वायुमयो भवति। तथा आकाशशरीरारम्भे आकाशमयो भवति।

रम्भक पृथिवी आदि भूतमय हो जाता है। उस समय वह पार्थिव शरीरका आरम्भ होनेपर पृथिवीमय हो जाता है तथा वरुणादि लोकोंमें जलीय शरीरका आरम्भ होनेपर जलमय होता है एवं वायव्य शरीरका आरम्भ होनेपर वायुमय होता है और आकाशशरीरका आरम्भ होनेपर आकाशमय हो जाता है।

एवमेतानि तैजसानि देवशरीराणि तेष्वारभ्यमाणेषु तन्मयस्तेजोमयो भवति। अतो व्यतिरिक्तानि पश्वादिशरीराणि नरकप्रेतादिशरीराणि चातेजोमयानि। तान्यपेक्ष्याह—अतेजोमय इति।

इसी प्रकार ये देवशरीर तैजस हैं, इनका आरम्भ होनेपर वह तद्रूप अर्थात् तेजोमय हो जाता है। इनसे भिन्न पशु आदिके शरीर और नारकीय जीवोंके तथा प्रेतादिके शरीर अतेजोमय हैं। उनकी अपेक्षासे श्रुति कहती है—'अतेजोमयः।

एवं कार्यकरणसङ्घातमयः सन्नात्मा प्राप्तव्यं वस्त्वन्तरं पश्यन्निदं मया प्राप्तमदो मया प्राप्तव्यमित्येवं विपरीतप्रत्ययस्तदभिलाषः काममयो भवति। तस्मिन् कामे दोषं पश्यतस्तद्विषयाभिलाषप्रशमे चित्तं प्रसन्नमकलुषं शान्तं भवति, तन्मयोऽकाममयः।

इस प्रकार यह आत्मा देहेन्द्रियसंघातमय होकर, अन्य प्राप्तव्य वस्तुको देखता हुआ, 'यह मैंने प्राप्त कर ली है और वह मुझे प्राप्त करनी है' इस प्रकार विपरीत ज्ञानयुक्त होकर इसकी अभिलाषावाला अर्थात् काममय होता है और उस कामनामें दोष देखनेपर जब तत्सम्बन्धी अभिलाषा निवृत्त हो जाती है, तब चित्त प्रसन्न-निष्कल्मष अर्थात् शान्त हो जाता है, इसलिये तन्मय अर्थात् अकाममय होता है।

एवं तस्मिन् विहते कामे केनचित् स कामः क्रोधत्वेन परिणमते, तेन तन्मयो भवन् क्रोधमयः। स क्रोधः केनचिदुपायेन निवर्तितो यदा भवति तदा प्रसन्नमनाकुलं चित्तं सदक्रोध उच्यते, तेन तन्मयः। एवं कामक्रोधाभ्याम् अकामाक्रोधाभ्यां च तन्मयो भूत्वा धर्ममयोऽधर्ममयश्च भवति। न हि कामक्रोधादिभिर्विना धर्मादिप्रवृत्तिरुपपद्यते। "यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत् कामस्य चेष्टितम्" इति स्मरणात्।

धर्ममयोऽधर्ममयश्च भूत्वा सर्वमयो भवति। समस्तं धर्माधर्मयोः कार्यं यावत्किञ्चिद् व्याकृतम्, तत् सर्वं धर्माधर्मयोः फलं तत् प्रतिपद्यमानस्तन्मयो भवति। किं बहुना, तदेतत्सिद्धमस्य यदयमिदम्मयो गृह्यमाणविषयादिमयः,तस्मादय-

इसी प्रकार किसीके द्वारा उस कामनाका विघात होनेपर वह काम क्रोधरूपमें परिणत हो जाता है, इसलिये तद्रूप होकर वह क्रोधमय हो जाता है। वह क्रोध जब किसी उपायसे निवृत्त हो जाता है, तब चित्त प्रसन्न और अनाकुल होनेपर अक्रोध कहा जाता है, उसके कारण वह अक्रोधमय हो जाता है। इस प्रकार काम क्रोध और अकाम-अक्रोधके कारण तन्मय होकर वह धर्ममय और अधर्ममय भी हो जाता है, क्योंकि कामक्रोधादिके बिना धर्मादिकी प्रवृत्ति होनी भी सम्भव नहीं है। "जीव जो-जो भी कर्म करता है, वह वह कामकी ही चेष्टा है" इस स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है।

धर्ममय और अधर्ममय होकर वह सर्वमय हो जाता है। जितना कुछ व्याकृत है वह सब धर्म और अधर्मका ही कार्य है, वह सब धर्म और अधर्मका ही फल है, उसे प्राप्त करनेवाला भी तन्मय हो जाता है। अधिक क्या? इसके विषयमें यह बात सिद्ध ही है कि यह इदंमय—गृह्यमाण विषयादिमय है; इसलिये

अदोमयः। अद इति परोक्षं कार्येण गृह्यमाणेन निर्दिश्यते। अनन्ता ह्यन्तःकरणे भावनाविशेषाः, नैव ते विशेषतो निर्देष्टुं शक्यन्ते। तस्मिंस्तस्मिन् क्षणे कार्यतोऽवगम्यन्ते, इदमस्य हृदि वर्ततेऽदोऽस्येति। तेन गृह्यमाणकार्येणेदम्मयतया निर्दिश्यते, परोक्षोऽन्तःस्थो व्यवहारोऽयमिदानीमदोमय इति।

अदोमय भी है। 'अदः' इस पदसे गृह्यमाण कार्यसे भिन्न परोक्ष वस्तुका निर्देश होता है। अन्तःकरणमें अनन्त भावनाविशेष हैं, उसका विशेषरूपसे निर्देश नहीं किया जा सकता। समय-समयपर उनके कार्यसे ही यह पता चलता है कि इसके हृदयमें यह भावना है और उसके हृदयमें यह। उस गृह्यमाण कार्यसे इनका इदंमयरूपसे निर्देश किया जाता है और जो अन्तःकरणमें स्थित परोक्ष व्यवहार है, वह इस समय अदोमय है।

संक्षेपतस्तु यथा कर्तुं यथा वा चरितुं शीलमस्य सोऽयं यथाकारी यथाचारी, स तथा भवति। करणं नाम नियता क्रिया विधिप्रतिषेधादिगम्या, चरणं नामानियतमिति विशेषः। साधुकारी साधुर्भवतीति यथाकारीत्यस्य विशेषणम्, पापकारी पापो भवतीति च यथाचारीत्यस्य।

संक्षेपतः तो, जिसका जैसा करने या आचरणमें लानेका स्वभाव है, वह यथाकारी और यथाचारी होता है, जो यथाकारी (जैसा करनेवाला) है वह वैसा ही हो जाता है। विधि और प्रतिषेधसे ज्ञात होनेवाली जो नियत क्रिया है, उसका नाम 'करना' है और अनियत आचरणका नाम 'आचरणमें लाना' है, यह इन दोनोंका भेद है। साधु करनेवाला साधु होता है—यह 'यथाकारी' इस पदका विशेषण है और पाप करनेवाला पापी होता है—यह 'यथाचारी' इस पदका विशेषण है।

ताच्छील्यप्रत्ययोपादानाद्

'यथाकारी और यथाचारी' इन पदोंमें

अत्यन्ततात्पर्यतैव तन्मयत्वम्, न तु तत्कर्ममात्रेणेत्याशङ्क्याह—

पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति। पुण्यपापकर्ममात्रेणैव तन्मयता स्यान्न तु ताच्छील्यमपेक्षते। ताच्छील्ये तु तन्मयत्वातिशय इत्ययं विशेषः।

तत्र कामक्रोधादिपूर्वकपुण्यापुण्यकारिता सर्वमयत्वे हेतुः, संसारस्य कारणम्, देहाद्देहान्तरसंचारस्य च। एतत्प्रयुक्तो ह्यन्यदन्यद् देहान्तरमुपादत्ते। तस्मात् पुण्यापुण्ये संसारस्य कारणम्। एतद्विषयौ हि विधिप्रतिषेधौ। अत्र शास्त्रस्य साफल्यमिति।

'णिनि' इस ताच्छील्य[1] प्रत्ययको ग्रहण किया गया है, इसलिये कर्ममें अत्यन्त परायण होनेका स्वभाव ही तन्मयता है, केवल उस कर्ममात्रसे तन्मयता नहीं होती—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—पुण्यकर्मसे पुरुष पुण्यवान् हो जाता है और पापकर्मसे पापी हो जाता है अर्थात् पुण्य-पापरूप कर्मसे ही पुरुषको तन्मयता प्राप्त हो जाती है, उसे वैसे स्वभाव होनेकी अपेक्षा नहीं रहती। ताच्छील्य (वैसा स्वभाव) होनेपर तो तन्मयताकी अधिकता होती है—इतना ही अन्तर है।

ऐसी स्थितिमें कामक्रोधादिपूर्वक पुण्य या अपुण्यका आचरण करना ही जीवके सर्वमयत्वका हेतु, उसके संसारका कारण तथा एक देहसे दूसरे देहमें जानेका हेतु सिद्ध होता है। इससे प्रेरित होकर ही जीव दूसरे-दूसरे देहको ग्रहण करता है। अतः पुण्य और पाप संसारके कारण हैं। इन्हींके विषयमें विधि और प्रतिषेध होते हैं और यहीं शास्त्रकी सफलता है।

1. वह इसका स्वभाव है—इस अर्थमें होनेवाले प्रत्ययको ताच्छील्य-प्रत्यय कहते हैं। यहाँ 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३ । २ । ७८) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार 'णिनि' प्रत्यय हुआ है।

अथो अप्यन्ये बन्धमोक्षकुशलाः खल्वाहुः—सत्यं कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीरग्रहणकारणम्, तथापि कामप्रयुक्तो हि पुरुषः पुण्यापुण्ये कर्मणी उपचिनोति। कामप्रहाणे तु कर्म विद्यमानमपि पुण्यापुण्योपचयकरं न भवति। उपचिते अपि पुण्यापुण्ये कर्मणी कामशून्ये फलारम्भके न भवतः। तस्मात् काम एव संसारस्य मूलम्। तथा चोक्तमाथर्वणे—"कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र" (मु० उ० ३। २। २) इति। तस्मात् काममय एवायं पुरुषो यदन्यमयत्वं तदकारणं विद्यमानमपीत्यतोऽवधारयति काममय एवेति।

यहाँ दूसरे बन्धमोक्षकुशल पुरुष कहते हैं—यह ठीक है कि कामादिपूर्वक पुण्य और पाप ही शरीर-ग्रहणके कारण हैं तो भी कामनासे प्रेरित हुआ पुरुष ही पुण्य-पापरूप कर्मोंका संग्रह करता है। कामनाका नाश होनेपर तो विद्यमान कर्म भी पुण्य-पापकी वृद्धि करनेवाला नहीं होता तथा कामनारहित होनेपर संग्रह किये हुए पुण्य-पाप कर्म भी फलके आरम्भक नहीं होते। अतः कामना ही संसारका मूल है। ऐसा ही आथर्वणश्रुतिमें भी कहा है—'जो पुत्र-पशु आदि कामनाओंको ही सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ उनकी इच्छा करता है, वह उन कामनाओंके कारण उन-उन स्थानोंमें जन्म लेता है।" अतः यह पुरुष काममय ही है; इसका जो अन्यमयत्व है, वह विद्यमान रहते हुए भी [इसके सर्वमयत्वका] कारण नहीं है, इसीसे श्रुति निश्चय करती है कि यह काममय ही है।

यस्मात् स च काममयः सन् यादृशेन कामेन यथाकामो भवति, तत्क्रतुर्भवति। स काम ईषदभिलाषमात्रेणाभिव्यक्तो यस्मिन् विषये भवति, सोऽविहन्यमानः स्फुटी-

क्योंकि वह काममय होकर जैसी कामनासे युक्त अर्थात् 'यथाकाम' होता है 'तत्क्रतु' होता है। थोड़ी-सी अभिलाषामात्रसे अभिव्यक्त हुई वह कामना जिस विषयमें होती है, वह उससे आहत न होकर स्फुट

भवन् क्रतुत्वमापद्यते। क्रतुर्नामाध्यवसायो निश्चयो यदनन्तरा क्रिया प्रवर्तते।

यत्क्रतुर्भवति यादृक्कामकार्येण क्रतुना यथारूपः क्रतुरस्य सोऽयं यत्क्रतुर्भवति, तत् कर्म कुरुते, यद्विषयः क्रतुस्तत्फलनिर्वृत्तये यद् योग्यं कर्म, तत् कुरुते निर्वर्तयति, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते, तदीयं फलमभिसम्पद्यते। तस्मात् सर्वमयत्वेऽस्य संसारित्वे च काम एव हेतुरिति ॥ ५ ॥

होनेपर क्रतुरूप हो जाती है। 'क्रतु' अध्यवसाय अर्थात् निश्चयको कहते हैं, जिसके पीछे क्रियाकी प्रवृत्ति होती है।

यह 'यत्क्रतु' होता है अर्थात् कामनाके कार्यरूप जिस प्रकारके क्रतुसे यह युक्त होता है, इस प्रकार यह जैसे क्रतुवाला होता है, वही कर्म करता है। इसका जिस विषयको लेकर क्रतु होता है, उसका फल सिद्ध करनेके लिये जो योग्य कर्म होता है, उसीको करता और जैसा कर्म करता है, वही अभिसम्पन्न होता अर्थात् उसीका फल प्राप्त करता है। अतः इसके सर्वमयत्व और संसारित्वमें कामना ही कारण है ॥ ५ ॥

कामनाके अनुसार शुभाशुभ गति तथा निष्काम ब्रह्मज्ञके मोक्षका निरूपण

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

उस विषयमें यह मन्त्र है—इसका लिङ्ग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी फलको यह साभिलाष होकर कर्मके सहित प्राप्त

करता है। इस लोकमें यह जो कुछ करता है, उस कर्मका फल प्राप्तकर उस लोकसे कर्म करनेके लिये पुनः इस लोकमें आ जाता है; अवश्य ही कामना करनेवाला पुरुष ही ऐसा करता है। अब जो कामना न करनेवाला पुरुष है [उसके विषयमें कहते हैं] जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तत्तस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति। तदेवैति तदेव गच्छति, सक्त आसक्तस्तत्रोद्भूताभिलाषः सन्नित्यर्थः, कथमेति? सह कर्मणा यत् कर्म फलासक्तः सन्नकरोत्तेन कर्मणा सहैव तदेति तत् फलमेति। किं तत्? लिङ्गं मनः—मनःप्रधानत्वाल्लिङ्गस्य मनो लिङ्गमित्युच्यते।

अथ वा लिङ्ग्यतेऽवगम्यतेऽवगच्छति येन तल्लिङ्गं तन्मनो यत्र यस्मिन्निषक्तं निश्चयेन सक्तमुद्भूताभिलाषमस्य संसारिणः, तदभिलाषो हि तत् कर्म कृतवान्, तस्मात्तन्मनोऽभिषङ्गवशा-

तत्—उस विषयमें यह श्लोक अर्थात् मन्त्र भी है। तदेवैति—उसीको जाता है, सक्त आसक्त होकर अर्थात् उसमें अपनी अभिलाषा प्रकट कर, किस प्रकार जाता है? कर्मके सहित अर्थात् जिस कर्मको उसने फलासक्त होकर किया था, उस कर्मके सहित ही वह उसके फलके प्रति जाता है। वह (जानेवाला) कौन है? लिङ्ग—मन, लिङ्गदेह मनःप्रधान है, इसलिये मनको 'लिङ्ग' ऐसा कहा जाता है।

अथवा जिसके द्वारा लिङ्गन—अवगम होता है अर्थात् जिससे साक्षी जानता है, उसे लिङ्ग कहते हैं, इस संसारीका वह मन जिसमें निषक्त—निश्चयपूर्वक सक्त अर्थात् उद्भूताभिलाष होता है यानी अपनी अभिलाषा प्रकट करता है; उस अभिलाषासे युक्त होकर ही उसने वह कर्म किया था, इससे अर्थात् उस चित्तकी आसक्तिके कारण ही

देवास्य तेन कर्मणा तत्फलप्राप्तिः। तेनैतत् सिद्धं भवति, कामो मूलं संसारस्येति। अत उच्छिन्नकामस्य विद्यमानान्यपि कर्माणि ब्रह्मविदो वन्ध्याप्रसवानि भवन्ति; "पर्याप्तकामस्य कृतात्मनश्च इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" (मु० उ० ३। २। २) इति श्रुतेः।

इसे उस कर्मसे उस फलकी प्राप्ति हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि काम ही संसारका मूल है। अतः जिसकी कामना निवृत्त हो गयी है, उस ब्रह्मवेत्ताके विद्यमान कर्म भी वन्ध्याकी संतति हो जाते हैं; जैसा कि "आप्तकाम और शुद्धचित्त पुरुषकी सारी कामनाएँ यहीं लीन हो जाती हैं" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

किञ्च प्राप्यान्तं कर्मणः—प्राप्य भुक्त्वा अन्तमवसानं यावत् कर्मणः फलपरिसमाप्तिं कृत्वेत्यर्थः; कस्य कर्मणोऽन्तं प्राप्येत्युच्यते—तस्य यत्किञ्च कर्मेहास्मिँल्लोके करोति निर्वर्तयत्ययम्, तस्य कर्मणः फलं भुक्त्वा अन्तं प्राप्य तस्माल्लोकात् पुनरत्यागच्छत्यस्मै लोकाय कर्मणे। अयं हि लोकः कर्मप्रधानः, तेनाह—'कर्मणे' इति, पुनः कर्मकरणाय। पुनः कर्म कृत्वा फलासङ्गवशात् पुनरमुं लोकं यातीत्येवम्। इति नु एवं नु कामय-

तथा कर्मके अन्तको प्राप्तकर अर्थात् जहाँतक कर्मका अन्त यानी अवसान हो वहाँतक उसे पाकर—भोगकर यानी कर्मफलकी परिसमाप्ति करके; किस कर्मका अन्त पाकर? सो बतलाया जाता है—इस लोकमें यह जो कुछ कर्म करता है उसका अर्थात् उस कर्मका फल भोगकर—उसका अन्त पाकर उस लोकसे, कर्म करनेके लिये, पुनः इस लोकमें आ जाता है। यह लोक ही कर्मप्रधान है, इसीसे श्रुति कहती है—'कर्मणे' अर्थात् पुनः कर्म करनेके लिये। इसी प्रकार पुनः कर्म करके फलासक्तिके कारण पुनः परलोकमें जाता है। इस प्रकार जो कामना

मानः संसरति। यस्मात् कामयमान एवैवं संसरत्यथ तस्मादकामयमानो न क्वचित् संसरति।

फलासक्तस्य हि गतिरुक्ता। अकामस्य हि क्रियानुपपत्तेरकामयमानो मुच्यत एव। कथं पुनरकामयमानो भवति? योऽकामो भवत्यसावकामयमानः। कथमकामतेत्युच्यते—यो निष्कामो यस्मान्निर्गताः कामाः सोऽयं निष्कामः। कथं कामा निर्गच्छन्ति? य आप्तकामो भवत्याप्ताः कामा येन स आप्तकामः।

कथमाप्यन्ते कामाः? आत्मकामत्वेन। यस्यात्मैव नान्यः कामयितव्यो वस्त्वन्तरभूतः पदार्थो भवति। आत्मैवानन्तरोबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एक-

करनेवाला है वह संसार बन्धनको प्राप्त होता है। चूँकि कामना करनेवाला ही इस प्रकार संसरित होता है, इसलिये जो कामना करनेवाला नहीं है, वह कभी संसार-बन्धनमें नहीं पड़ता।

फलासक्तकी गति तो बतला दी गयी; किंतु जो निष्काम है, उसकी क्रिया सम्भव न होनेके कारण कामना न करनेवाला पुरुष तो मुक्त ही हो जाता है, किंतु जीव कामना न करनेवाला कैसे होता है? जो अकाम होता है, वही कामना न करनेवाला है। अकामता कैसे होती है? सो बतलाया जाता है—जो निष्काम है अर्थात् जिससे कामनाएँ निकल गयी हैं, वह पुरुष निष्काम कहलाता है। कामनाएँ किस प्रकार निकल जाती हैं? जो आप्तकाम होता है अर्थात् जिसने सब कामनाओंको प्राप्त कर लिया है, वह आप्तकाम है [उसकी कामनाएँ नहीं रहतीं]।

कामनाओंकी प्राप्ति कैसे होती है? आत्मकाम होनेसे। जिसकी कामनाका विषय आत्मा ही होता है, कोई अन्य वस्तुरूप पदार्थ नहीं होता। आत्मा ही अन्तर-बाह्यरहित, पूर्ण प्रज्ञानघन और एकरस है;

रसः, नोर्ध्वं न तिर्यङ् नाध आत्मनोऽन्यत् कामयितव्यं वस्त्वन्तरम्। यस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद्वा, एवं विजानन् कं कामयेत। ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति, न चासावन्यो ब्रह्मविद आप्तकामस्यास्ति। य एवात्मकामतया आप्तकामः स निष्कामोऽकामोऽकामयमानश्चेति मुच्यते। न हि यस्य आत्मैव सर्वं भवति, तस्यानात्मा कामयितव्योऽस्ति। अनात्मा चान्यः कामयितव्यः सर्वं चात्मैवाभूदिति विप्रतिषिद्धम्। सर्वात्मदर्शिनः कामयितव्याभावात् कर्मानुपपत्तिः।

आत्मासे भिन्न कामनाके योग्य कोई अन्य वस्तु न ऊपर है, न इधर-उधर है और न नीचे है। जिसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वह किसके द्वारा किसे देखे, सुने, मनन करे अथवा जाने? इस प्रकार जाननेवाला किसकी कामना करे। जो पदार्थ अन्यरूपसे जाना जाता है, वही कामनाके योग्य होता है और यह अन्य पदार्थ आप्तकाम ब्रह्मवेत्ताकी दृष्टिमें है नहीं। अतः जो भी आत्मकाम होनेके कारण आप्तकाम होता है, वही निष्काम, अकाम और कामना न करनेवाला भी है; इसलिये मुक्त हो जाता है। जिसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो जाता है उसके लिये कामनाके योग्य कोई अनात्मा नहीं रहता। कोई दूसरा कामनाके योग्य अनात्मा भी रहे और सब कुछ आत्मा भी हो गया—ऐसा कथन तो विपरीत ही है। अतः सर्वात्मदर्शीके लिये कामनाके योग्य वस्तुका अभाव हो जानेके कारण कर्म सम्भव नहीं है।

ये तु प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्म कल्पयन्ति ब्रह्मविदोऽपि, तेषां नात्मैव सर्वं भवति; प्रत्यवायस्य जिहासितव्यस्य आत्मनोऽन्यस्य

जो लोग प्रत्यवायकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मवेत्ताके भी कर्मकी कल्पना करते हैं, उनके लिये सब आत्मा ही नहीं होता, क्योंकि प्रत्यवाय तो आत्मासे भिन्न कोई अन्य त्यागने

अभिप्रेतत्वात् । येन चाशनायाद्यतीतो नित्यं प्रत्यवायासम्बद्धो विदित आत्मा, तं वयं ब्रह्मविदं ब्रूमः । नित्यमेव अशनायाद्यतीतमात्मानं पश्यति । यस्माच्च जिहासितव्यमन्यमुपादेयं वा यो न पश्यति, तस्य कर्म न शक्यत एव सम्बन्धुम्, यस्त्वब्रह्मवित्तस्य भवत्येव प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्मेति न विरोधः । अतः कामाभावादकामयमानो न जायते, मुच्यत एव ।

योग्य पदार्थ ही माना गया है । ब्रह्मवेत्ता तो हम उसे कहते हैं, जिसने आत्माको क्षुधादिसे अतीत और प्रत्यवायसे असम्बद्ध जाना है । वह सर्वदा क्षुधादिसे अतीत आत्माको ही देखता है; क्योंकि जो आत्मासे भिन्न किसी हेय या उपादेय वस्तुको नहीं देखता उससे कर्मका सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है; जो ब्रह्मवेत्ता नहीं है, उसीको प्रत्यवायकी निवृत्तिके लिये कर्मकी आवश्यकता है, इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है । अतः कामनाका अभाव होनेके कारण कामना न करनेवाला पुरुष जन्म नहीं लेता, वह मुक्त ही हो जाता है.

तस्यैवमकामयमानस्य कर्माभावे गमनकारणाभावात् प्राणा वागादयः, नोत्क्रामन्ति नोर्ध्वं क्रामन्ति देहात् । स च विद्वानाप्तकाम आत्मकामतयेहैव ब्रह्मभूतः । सर्वात्मनो हि ब्रह्मणो दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शितमेतद्रूपम्—"तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपम्" (बृ० उ० ४ । ३ । २१) इति ।

इस प्रकार कामना न करनेवाले उस पुरुषके कर्मोंका अभाव हो जानेके कारण गमनका कोई कारण न रहनेसे उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं करते—देहसे ऊपरकी ओर नहीं जाते । और आत्मकामताके कारण आप्तकाम हुआ वह विद्वान् यहीं ब्रह्मभूत हो जाता है । "वह यह निश्चय ही इसका आप्तकाम, आत्मकाम और अकामरूप है" इस प्रकार यह दृष्टान्तरूपसे उस ब्रह्मका ही रूप दिखाया गया है । 'अथा-

तस्य हि दार्ष्टान्तिकभूतोऽयमर्थ उपसंह्रियतेऽथाकामयमान इत्यादिना ।

स कथमेवम्भूतो मुच्यत इत्युच्यते—यो हि सुषुप्तावस्थमिव निर्विशेषमद्वैतमलुप्तचिद्रूपज्योतिःस्वभावमात्मानं पश्यति, तस्यैवाकामयमानस्य कर्माभावे गमनकारणाभावात् प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति । किंतु विद्वान् स इहैव ब्रह्म, यद्यपि देहवानिव लक्ष्यते, स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । तस्मान्न हि तस्याब्रह्मत्वपरिच्छेदहेतवः कामाः सन्ति, तस्मादिहैव ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न शरीरपातोत्तरकालम् ।

मोक्षस्य भावान्तरत्वप्रतिषेधः

न हि विदुषो मृतस्य भावान्तरापत्तिर्जीवतोऽन्यो भावो देहान्तरप्रतिसन्धानाभावमात्रेणैव तु ब्रह्माप्येतीत्युच्यते । भावान्तरापत्तौ हि मोक्षस्य सर्वोपनिषद्विवक्षितोऽर्थ आत्मैकत्वाख्यः स

कामयमानः' इत्यादि वाक्यसे यह उसीके दार्ष्टान्तिकभूत अर्थका उपसंहार किया गया है ।

वह इस प्रकारका साधक किस प्रकार मुक्त होता है ? सो कहा जाता है—जो सुषुप्ति-अवस्थामें स्थितकी भाँति निर्विशेष, अद्वैत, अलुप्तचिद्रूप ज्योतिःस्वरूप आत्माको देखता है, उस कामना न करनेवाले पुरुषके कर्मोंका अभाव हो जानेके कारण गमनका कोई कारण न रहनेसे उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं करते; किंतु वह विद्वान् यहीं ब्रह्मरूप हो जाता है, यद्यपि वह देहवान्-सा दिखायी देता है, किंतु वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है; क्योंकि उसके अब्रह्मत्वके परिच्छेदकी हेतुभूता कामनाएँ नहीं रहतीं, इसलिये वह यहीं ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, शरीरपातके पश्चात् नहीं ।

मरे हुए विद्वान्‌को भावान्तरकी प्राप्ति नहीं होती अर्थात् उसका जीवितावस्थासे भिन्न भाव नहीं होता, देहान्तरका संयोग न होनेसे ही 'वह ब्रह्मको प्राप्त होता है' ऐसा कहा जाता है। यदि मोक्ष कोई भावान्तरप्राप्ति मानी जाय तो सम्पूर्ण उपनिषद्‌का विवक्षित जो आत्मैक्यरूप

बाधितो भवेत्, कर्महेतुकश्च मोक्षः प्राप्नोति, न ज्ञाननिमित्त इति। स चानिष्टः, अनित्यत्वं च मोक्षस्य प्राप्नोति, न हि क्रियानिर्वृत्तोऽर्थो नित्यो दृष्टः। नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते, "एष नित्यो महिमा" (बृ० उ० ४। ४ २३) इति मन्त्रवर्णात्।

न च स्वाभाविकात् स्वभावाद्न्यन्नित्यं कल्पयितुं शक्यम्। स्वाभाविकश्चेद्ग्न्युष्णवदात्मनः स्वभावः, स न शक्यते पुरुषव्यापारानुभावीति वक्तुम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यं प्रकाशो वाग्निव्यापारानन्तरानुभावी। अग्निव्यापारानुभावी स्वाभाविकश्चेति विप्रतिषिद्धम्।

ज्वलनव्यापारानुभावित्वम् उष्णप्रकाशयोरिति चेन्न, अन्योपलब्धिव्यवधानापगमाभिव्यक्त्यपेक्षत्वात्। ज्वलनादिपूर्वक-

सिद्धान्त है, वह बाधित हो जायगा तथा मोक्ष कर्मनिमित्तक हो जायगा, ज्ञाननिमित्तक नहीं रहेगा और यह इष्ट नहीं है, क्योंकि इससे मोक्षकी अनित्यता भी प्राप्त होती है, कर्मसे निष्पन्न होनेवाला पदार्थ नित्य नहीं देखा गया और मोक्ष तो नित्य ही माना गया है, जैसा कि यह "ब्राह्मणकी नित्य महिमा है" इस मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है।

इसके सिवा स्वाभाविक (अकृत्रिम) स्वरूपसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ नित्य है—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। यदि अग्निके उष्णत्वके समान मोक्ष आत्माका स्वाभाविक स्वरूप है तो उसके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुषके व्यापारद्वारा पीछेसे होनेवाला है। अग्निका उष्णत्व या प्रकाश भी अग्निके व्यापारके पीछे होनेवाला नहीं है। वह अग्निके व्यापारके पीछे होनेवाला है और स्वाभाविक भी है—ऐसा कहना तो विरुद्ध है।

यदि कहो कि अग्निके उष्णत्व और प्रकाशका ज्वलन व्यापारके पीछे होना तो सिद्ध होता ही है—तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह तो दूसरेकी उपलब्धिके व्यवधानकी निवृत्तिकी अभिव्यक्तिकी अपेक्षासे है।* ज्वलनादि व्यापारपूर्वक जो

* आगे इसी वाक्यकी व्याख्या की जाती है।

मग्निः उष्णप्रकाशगुणाभ्यामभिव्यज्यते तन्नाग्न्यपेक्षया, किं तर्ह्यन्यदृष्टेरग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ धर्मौ व्यवहितौ, कस्यचिद् दृष्ट्या त्वसम्बध्यमानौ, ज्वलनापेक्षया व्यवधानापगमे दृष्टेरभिव्यज्येते। तदपेक्षया भ्रान्तिरुपजायते—ज्वलनपूर्वकावेतौ उष्णप्रकाशौ धर्मौ जाताविति।

यद्युष्णप्रकाशयोरपि स्वाभाविकत्वं न स्यात्। यः स्वाभाविकोऽग्नेर्धर्मः, तमुदाहरिष्यामः। न च स्वाभाविको धर्म एव नास्ति पदार्थानामिति शक्यं वक्तुम्, न च निगडभङ्ग इवाभावभूतो मोक्षो बन्धननिवृत्तिरुपपद्यते, परमात्मैकत्वाभ्युपगमात् "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६।२।१) इति श्रुतेः। न चान्यो बद्धोऽस्ति,

अग्नि अपने उष्ण और प्रकाश-गुणोंके सहित अभिव्यक्त होता है, वह अग्निकी अपेक्षासे नहीं है, तो फिर क्या बात है?—अग्निके उष्णत्व और प्रकाशरूप धर्म दूसरेकी दृष्टिसे व्यवहित (ओझल) हैं अर्थात् किसीकी दृष्टिसे असम्बद्ध हैं, अतः ज्वलनकी अपेक्षासे दृष्टिके उस व्यवधानकी निवृत्ति होनेपर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इसीसे यह भ्रान्ति हो जाती है कि ये उष्णत्व और प्रकाश-धर्म ज्वलनपूर्वक उत्पन्न हुए हैं।

यदि उष्णत्व और प्रकाश भी अग्निके स्वाभाविक धर्म नहीं हैं तो जो भी अग्निका स्वाभाविक धर्म हो हम उसीको इसमें उदाहरण देंगे। पदार्थोंका स्वाभाविक धर्म है ही नहीं—ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता। बेड़ियोंके टूटनेके समान मोक्ष भी बन्धन-निवृत्तिरूप अभावमय धर्म है—ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है" इस श्रुतिके अनुसार परमात्माकी एकता स्वीकार की गयी है। परमात्मासे भिन्न कोई दूसरा

यस्य निगडनिवृत्तिवद् बन्धननिवृत्तिर्मोक्षः स्यात् । परमात्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावं विस्तरेणावादिष्म । तस्मादविद्यानिवृत्तिमात्रे मोक्षव्यवहार इति चावोचाम । यथा रज्ज्वादौ सर्पाद्यज्ञाननिवृत्तौ सर्पादिनिवृत्तिः ।

येऽप्याचक्षते मोक्षे विज्ञानान्तरमानन्दान्तरं चाभिव्यज्यत इति तैर्वक्तव्योऽभिव्यक्तिशब्दार्थः । यदि तावल्लौकिक्येव उपलब्धिर्विषयव्याप्तिरभिव्यक्तिशब्दार्थः, ततो वक्तव्यं किं विद्यमानमभिव्यज्यतेऽविद्यमानमिति वा ? विद्यमानं चेद् यस्य मुक्तस्य तदभिव्यज्यते तस्यात्मभूतमेव तदिति, उपलब्धिव्यवधानानुपपत्तेर्नित्याभिव्यक्तत्वान्मुक्तस्याभिव्यज्यत इति विशेषवचनमनर्थकम् ।

बद्ध है नहीं, जिसकी बेड़ियोंके टूटनेके समान बन्धननिवृत्तिरूप मुक्ति हो । परमात्मासे भिन्न किसी अन्य वस्तुका अभाव हम पहले विस्तारसे बतला चुके हैं । अतः अविद्याकी निवृत्तिमात्रसे ही मोक्ष-व्यवहार होता है—ऐसा हमारा कथन है, जिस प्रकार कि रज्जु आदिमें सर्पादिके अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर सर्पादिकी भी निवृत्ति हो जाती है ।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि मोक्षमें किसी विज्ञानान्तर या आनन्दान्तरकी अभिव्यक्ति होती है, उन्हें 'अभिव्यक्ति' शब्दका अर्थ बतलाना चाहिये । यदि लौकिकी उपलब्धि अर्थात् विषयव्याप्ति ही 'अभिव्यक्ति' शब्दका अर्थ है तो यह बतलाना चाहिये कि विद्यमान सुखकी अभिव्यक्ति होती है या अविद्यमानकी ? यदि कहें विद्यमान सुखकी अभिव्यक्ति होती है तो जिस मुक्तके प्रति उस विद्यमान सुखकी अभिव्यक्ति होती है, उसका तो वह आत्मस्वरूप ही है, अतः नित्याभिव्यक्त होनेसे उसकी उपलब्धिमें कोई व्यवधान न हो सकनेके कारण वह मुक्तको अभिव्यक्त होता है—ऐसा विशेष वचन कहना व्यर्थ ही है ।

अथ कदाचिदेवाभिव्यज्यते, उपलब्धिव्यवधानादनात्मभूतं तदिति, अन्यतोऽभिव्यक्तिप्रसङ्गः। तथा चाभिव्यक्तिसाधनापेक्षता। उपलब्धिसमानाश्रयत्वे तु व्यवधानकल्पनानुपपत्तेः सर्वदाभिव्यक्तिरनभिव्यक्तिर्वा। न त्वन्तरालकल्पनायां प्रमाणमस्ति। न च समानाश्रयाणामेकस्यात्मभूतानां धर्माणामितरेतरविषयविषयित्वं सम्भवति।

और यदि वह कभी-कभी ही अभिव्यक्त होता है तो उसकी उपलब्धिमें व्यवधान रहनेके कारण वह अनात्मभूत है, तब तो उसकी दूसरे (साधन) से अभिव्यक्ति होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होता है और इस प्रकार अभिव्यक्तिके साधनकी भी अपेक्षा हो जाती है। यदि उपलब्धिसमानाश्रयत्व माना जाय[1] तो व्यवधानकी कल्पना न हो सकनेके कारण या तो उसकी सर्वदा अभिव्यक्ति ही होगी या अनभिव्यक्ति ही। इन दोनोंके बीचकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है। एक ही आश्रयवाले अर्थात् एकहीके आत्मभूत धर्मोंका परस्पर विषय-विषयीभाव होना सम्भव नहीं।

आत्मनो बन्धमोक्षविचारः

विज्ञानसुखयोश्च प्रागभिव्यक्तेः संसारित्वम्, अभिव्यक्त्युत्तरकालं च मुक्तत्वं यस्य-सोऽन्यः परस्मान्नित्याभिव्यक्तज्ञानस्वरूपादत्यन्तवैलक्षण्यात्, शैत्यमिवौष्ण्यात्;

पूर्व०-विज्ञान और आनन्दकी अभिव्यक्तिसे पूर्व जिसका संसारित्व और अभिव्यक्तिके पश्चात् मुक्तत्व बतलाया जाता है, वह अत्यन्त विलक्षण होनेके कारण नित्याभिव्यक्तज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न है, जैसे उष्णतासे शीतलता।

१. अर्थात् उपलब्धि और उपलब्धिके विषय विज्ञान एवं आनन्द—इन दोनोंका एक आत्मा ही आश्रय है—ऐसा माना जाय।

परमात्मभेदकल्पनायां च वैदिकः कृतान्तः परित्यक्तः स्यात् ।

सिद्धान्ती-इस प्रकार परमात्मासे भेदकी कल्पना करनेमें तो वैदिक सिद्धान्तका परित्याग हो जाता है ।

मोक्षस्य इदानीमिव निर्विशेषत्वे तदर्थाधिकयत्नानुपपत्तिः शास्त्रवैयर्थ्यं च प्राप्नोतीति चेत् ?

पूर्व०-यदि इस समयके समान मोक्षकी कोई विशेषता न मानी जायगी तो उसके लिये अधिक प्रयत्न करना सम्भव नहीं होगा तथा शास्त्रकी व्यर्थता भी प्राप्त होगी—यदि ऐसा कहें तो ?

न, अविद्याभ्रमापोहार्थत्वात्; न हि वस्तुतो मुक्तामुक्तत्वविशेषोऽस्ति, आत्मनो नित्यैकरूपत्वात्; किंतु तद्विषया अविद्या अपोह्यते शास्त्रोपदेशजनितविज्ञानेन; प्राक्तदुपदेशप्राप्तेस्तदर्थश्च प्रयत्न उपपद्यत एव ।

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अविद्यारूप भ्रमकी निवृत्तिके लिये होनेके कारण उनकी सार्थकता है । परमार्थतः मुक्तत्व और अमुक्तत्वमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि आत्मा सर्वदा एकरूप ही है । किंतु शास्त्रजनित विज्ञानसे तद्विषयक अज्ञानका नाश होता है और उस शास्त्रोपदेशके प्राप्त होनेसे पहले उसके लिये प्रयत्न करना भी उचित ही है ।

अविद्यावतोऽविद्यानिवृत्त्यनिवृत्तिकृतो विशेष आत्मनः स्यादिति चेत् ?

पूर्व०-अविद्यावान् आत्माका अविद्याकी निवृत्ति एवं अनिवृत्तिके कारण रहनेवाला भेद तो रहेगा ही ।

न, अविद्याकल्पनाविषयत्वाभ्युपगमात्, रज्जूषरशुक्तिका-

सिद्धान्ती-नहीं, क्योंकि आत्माको अविद्याजनित कल्पनाका विषय माना गया है; इसलिये रज्जु, ऊसर,

गगनानां सर्पोदकरजतमलिनत्वादिवद्दोष इत्यवोचाम ।

तिमिरातिमिरदृष्टिवदविद्याकर्तृत्वाकर्तृत्वकृत आत्मनो विशेषः स्यादिति चेत् !

न, "ध्यायतीव लेलायतीव" इति स्वतोऽविद्याकर्तृत्वस्य प्रतिसिद्धत्वात्; अनेकव्यापारसंनिपातजनितत्वाच्च अविद्याभ्रमस्य; विषयत्वोपपत्तेश्च; यस्य च अविद्याभ्रमो घटादिवद् विविक्तो गृह्यते, स न अविद्याभ्रमवान् ।

'अहं न जाने मुग्धोऽस्मि' इति प्रत्ययदर्शनादविद्याभ्रमवत्त्वमेवेति चेत् !

शुक्ति और आकाशमें भासनेवाले सर्प, जल, रजत और मालिन्यसे जैसे उनमें कोई दोष नहीं आता, उसी प्रकार आत्मामें भी अविद्याजनित कल्पनासे कोई दोष नहीं आ सकता—ऐसा हम कह चुके हैं।

पूर्व०—तिमिर-रोगयुक्त और तिमिर रोगमुक्त दृष्टिसे जैसे चन्द्रमाका भेद प्रतीत होता है, वैसे ही अविद्याके कर्ता और अकर्ता होनेसे आत्मामें भी भेद हो जायगा !

सिद्धान्ती–नहीं, क्योंकि 'ध्यान-सा करता है, चञ्चल-सा होता है" इस श्रुतिद्वारा स्वयं आत्माके अविद्याकर्ता होनेका निषेध किया गया है। इसके सिवा अविद्यारूप भ्रम तो अनेक व्यापारोंके मेलसे उत्पन्न होता है तथा वह आत्माका विषय भी है। अतः जिसके द्वारा अविद्यारूप भ्रम घटादिके समान प्रत्यक्षतया ग्रहण किया जाता है, वह अविद्यारूप भ्रमवाला नहीं हो सकता !

पूर्व०–'मैं नहीं जानता, मूढ़ हूँ' ऐसा अनुभव देखा जानेके कारण तो आत्मा अविद्यारूप भ्रमवाला ही सिद्ध होता है !

न, तस्यापि विवेकग्रहणात्; न हि यो यस्य विवेकेन ग्रहीता; स तस्मिन् भ्रान्त इत्युच्यते; तस्य च विवेकग्रहणम्, तस्मिन्नेव च भ्रमः—इति विप्रतिषिद्धम्; न जाने मुग्धोऽस्मीति दृश्यते इति ब्रवीषि—तद्दर्शिनश्च अज्ञानं मुग्धरूपता दृश्यत इति च-तद्दर्शनस्य विषयो भवति, कर्मतामापद्यत इति। तत् कथं कर्मभूतं सत् कर्तृस्वरूपदृशिविशेषणम् अज्ञानमुग्धते स्याताम्? अथ दृशिविशेषणत्वं तयोः, कथं कर्म स्याताम्—दृशिना व्याप्येते? कर्म हि कर्तृक्रियया व्याप्यमानं भवति; अन्यच्च व्याप्यम्, अन्यद् व्यापकम्; न तेनैव तद् व्याप्यते; वद कथमेवं सति, अज्ञानमुग्धते दृशिविशेषणे स्याताम्? न चाज्ञानविवेकदर्शी अज्ञान-

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उस अनुभवका भी पृथक् करके ग्रहण होता है और जो जिसका पृथक् करके ग्रहण करनेवाला है; वह उसमें भ्रान्त है—ऐसा कहा नहीं जा सकता। उसीका तो पृथक् करके ग्रहण होता है और उसीमें भ्रान्ति है—ऐसा कहना तो विरुद्ध है। 'मैं नहीं जानता, मुग्ध हूँ' यह अनुभव दिखायी देता है—ऐसा तुम कहते हो और ऐसा भी कहते हो कि उसे देखनेवालेकी अज्ञान एवं मुग्धरूपता देखी जाती है—इस प्रकार तो वे अज्ञानादि दर्शनके विषय अर्थात् कर्मरूपताको प्राप्त हो जाते हैं। तब कर्मभूत होकर वे अज्ञान और मुग्धता कर्तृस्वरूप साक्षीके विशेषण किस प्रकार हो सकते हैं? और यदि वे साक्षीके विशेषण हैं तो वे उसके कर्म कैसे हो सकते हैं अर्थात् साक्षीसे व्याप्त कैसे होंगे? कर्म तो कर्ताकी क्रियासे व्याप्त होनेवाला होता है तथा व्याप्य दूसरा होता है और व्यापक दूसरा; वह उसीसे व्याप्त नहीं होता। ऐसी स्थितिमें बतलाओ, अज्ञान और मुग्धता साक्षीके विशेषण किस प्रकार हो सकते हैं? तथा अज्ञानको अपनेसे पृथक् देखनेवाला—अज्ञान-

आत्मनः कर्मभूतमुपलभमान उपलब्धृधर्मत्वेन गृह्णाति—शरीरे कार्श्यरूपादिवत्, तथा।

सुखदुःखेच्छाप्रयत्नादीन् सर्वो लोको गृह्णातीति चेत्!

तथापि ग्रहीतुर्लोकस्य विविक्तैवाभ्युपगता स्यात्। 'न जानेऽहं त्वदुक्तं मुग्ध एव,' इति चेद् भवत्वज्ञो मुग्धः, यस्तु एवंदर्शी, तं ज्ञम् अमुग्धं प्रतिजानीमहे वयम्। तथा व्यासेनोक्तम्—'इच्छादि कृत्स्नं क्षेत्रं क्षेत्री प्रकाशयति' इति, 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्—" (गीता १३। २७) इत्यादि शतश उक्तम्। तस्मान्नात्मनः स्वतो बद्धमुक्तज्ञानाज्ञानकृतो विशेषोऽस्ति, सर्वदा समैकरसस्वाभाव्याभ्युपगमात्।

को अपना कर्मभूत अनुभव करनेवाला उसे शरीरान्तर्गत कृशता और रूपादिके समान साक्षीके धर्मरूपसे नहीं ग्रहण करता।

पूर्व०—सुख दुःख, इच्छा और प्रयत्नादि [आत्माके धर्मों] को तो सभी लोग ग्रहण करते हैं!

सिद्धान्ती—इस प्रकार भी ग्रहण करनेवाले पुरुषकी पृथक्ता ही स्वीकार की जाती है। और तुमने जो कहा कि 'मैं नहीं जानता, मुग्ध ही हूँ', सो तुम भले ही अज्ञ या मुग्ध रहो, किंतु जो इस प्रकार देखनेवाला है वह तो ज्ञाता और अमुग्ध ही है—ऐसी हमारी प्रतिज्ञा है। व्यासजीने भी ऐसा ही कहा है कि 'क्षेत्री (आत्मा) इच्छादि सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।' "समस्त भूतोंमें समानरूपसे स्थित और उनके नष्ट होनेपर भी नष्ट न होनेवाले परमेश्वरको" इत्यादि सैकड़ों प्रकारसे उसका वर्णन किया गया है। अतः स्वयं आत्माकी बद्धमुक्त एवं ज्ञान अज्ञानके कारण कोई विशेषता नहीं होती; क्योंकि उसे सर्वदा समान और एकरसस्वरूप माना गया है।

ये तु—अतोऽन्यथा आत्मवस्तु परिकल्प्य बन्धमोक्षादिशास्त्रं च अर्थवादमापादयन्ति, ते उत्सहन्ते खेऽपि शाकुनं पदं द्रष्टुम्, खं वा मुष्टिना आकष्टुम्, चर्मवद् वेष्टितुम्; वयं तु तत् कर्तुमशक्ताः; सर्वदा समैकरसम् अद्वैतम् अविक्रियम् अजम् अजरम् अमरम् अमृतम् अभयम् आत्मतत्त्वं ब्रह्मैव स्मः—इत्येष सर्ववेदान्तनिश्चितोऽर्थ इत्येवं प्रतिपद्यामहे। तस्माद् ब्रह्माप्येतीति उपचारमात्रमेतत्—विपरीतग्रहवद्देहसंततेर्विच्छेदमात्रं विज्ञानफलमपेक्ष्य ॥ ६ ॥

किंतु जो लोग आत्मतत्त्वको अन्य प्रकारसे कल्पना कर बन्ध-मोक्षादि शास्त्रको केवल अर्थवाद बतलाते हैं, वे तो आकाशमें भी पक्षीके चरणचिह्न देखना चाहते हैं अथवा आकाशको मुट्ठीसे खींचना और उसे चमड़ेके समान लपेटनेकी इच्छा करते हैं; हम तो ऐसा करनेमें समर्थ हैं नहीं; हम सर्वदा सम, एकरस, अद्वैत, अविकारी, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभयरूप आत्मतत्त्व ब्रह्म ही हैं—यही सम्पूर्ण वेदान्तोंका निश्चित अर्थ है—ऐसा समझते हैं। अतः विपरीतग्रहणसे होनेवाली देहसंतति का विच्छेदमात्र जो विज्ञानका फल है, उसकी अपेक्षासे 'ब्रह्मको प्राप्त होता है' यह कथन उपचारमात्र है ॥ ६ ॥

स्वप्नबुद्धान्तगमनदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकः संसारो वर्णितः। संसारहेतुश्च विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा वर्णिता। यैश्चोपाधिभूतैः कार्यकरणलक्षणभूतैः परिवेष्टितः संसारित्वमनुभवति, तानि चोक्तानि। तेषां साक्षात्प्रयोजकौ

स्वप्न और जागरित अवस्थाओंमें जानेका जो दृष्टान्त दिया गया था उसके दार्ष्टान्तिक संसारका वर्णन कर दिया गया। संसारके हेतुभूत विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञाका भी निरूपण किया गया; और जिन उपाधिभूत देह एवं इन्द्रिय-लक्षणभूतोंसे परिवेष्टित हुआ जीव संसारित्वका अनुभव करता है उनका भी उल्लेख कर दिया गया। उनके

धर्माधर्माविति पूर्वपक्षं कृत्वा काम एवेत्यवधारितम्। यथा च ब्राह्मणेन अयमर्थोऽवधारितः, एवं मन्त्रेणापीति बन्धं बन्धकारणं चोक्त्वोपसंहृतं प्रकरणम् 'इति नु कामयमानः' इति।

'अथाकामयमानः' इत्यारभ्य सुषुप्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकभूतः सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः। मोक्षकारणं च आत्मकामतया यद् आप्तकामत्वमुक्तम्, तच्च सामर्थ्यादात्मज्ञानमन्तरेण आत्मकामतयाप्तकामत्वमिति—सामर्थ्याद् ब्रह्मविद्यैव मोक्षकारणमित्युक्तम्। अतो यद्यपि कामो मूलमित्युक्तम्, तथापि मोक्षकारणविपर्ययेण बन्धकारणमविद्या-इत्येतदप्युक्तमेव भवति। अत्रापि मोक्षो मोक्षसाधनं च ब्राह्मणेनोक्तम्; तस्यैव दृढीकर-

साक्षात् प्रेरक धर्म और अधर्म हैं—ऐसा पूर्वपक्ष करके यह निश्चय किया गया कि काम ही उनका प्रेरक है। जिस प्रकार ब्राह्मणभागके द्वारा इस अर्थका निश्चय किया था, वैसे ही मन्त्रके द्वारा भी बन्ध और बन्धके कारणका वर्णन कर 'इति नु कामयमानः' इत्यादि पदोंसे इस प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया।

फिर 'अथाकामयमानः' इस प्रकार आरम्भ कर सुषुप्तावस्थारूप दृष्टान्तके दार्ष्टान्तिकभूत सर्वात्मभावरूप मोक्षका वर्णन किया गया। यहाँ मोक्षका कारण जो आत्मकामत्वके द्वारा आप्तकामत्व बतलाया गया है, वह आत्मकामत्वद्वारा आप्तकामत्व प्रकरणकी सामर्थ्यसे आत्मज्ञानके बिना हो नहीं सकता, अतः सामर्थ्यसे ब्रह्मविद्या ही मोक्षका कारण बतलायी गयी है। इसलिये यद्यपि संसारका मूल काम है—यह बतलाया गया है, तथापि यह बात भी कही हुई हो ही जाती है कि मोक्षके कारण ज्ञानसे विपरीत अज्ञान ही बन्धनका कारण है। यहाँ भी मोक्ष और मोक्षका साधन—ये ब्राह्मणभागद्वारा बतलाये गये हैं।

र्थाय मन्त्र उदाह्रियते श्लोकशब्दवाच्यः—

उसीको दृढ करनेके लिये श्लोकशब्दवाच्य मन्त्रका उल्लेख किया जाता है—

विद्वान्‌का अनुत्क्रमण

तदेष श्लोको भवति । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति । तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

उसी अर्थमें यह मन्त्र है—जिस समय इसके हृदयमें आश्रित सम्पूर्ण कामनाओंका नाश हो जाता है तो फिर यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यहीं (इस शरीरमें ही) उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सर्पकी केँचुली बाँबीके ऊपर मृत और सर्पद्वारा परित्यक्त हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है और यह अशरीर अमृत प्राण तो ब्रह्म ही है—तेज ही है। तब विदेहराज जनकने कहा, 'वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र गौएँ देता हूँ' ॥ ७ ॥

तत् तस्मिन्नेवार्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति। यदा यस्मिन् काले सर्वे समस्ताः कामाः तृष्णाप्रभेदाः प्रमुच्यन्ते, आत्मकामस्य ब्रह्मविदः समूलतो विशीर्यन्ते, ये प्रसिद्धा लोके इहामुत्रार्थाः पुत्रवित्तलोकैषणालक्षणा अस्य प्रसिद्धस्य पुरुषस्य हृदि बुद्धौ श्रिता

'तत्'—उसी अर्थमें यह श्लोक यानी मन्त्र है—जब—जिस समय सर्व अर्थात् समस्त काम—तृष्णाओंके भेद सर्वथा छूट जाते हैं, आत्मकामी ब्रह्मवेत्ताकी वे समस्त कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं; जो लोकमें प्रसिद्ध पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणारूप ऐहिक और पारलौकिक कामनाएँ इस पुरुषके हृदय—बुद्धिमें आश्रित हैं [वे जब

आश्रिताः—अथ तदा मर्त्यो मरणधर्मा सन्, कामवियोगात् समूलतः, अमृतो भवति ।

अर्थादनात्मविषयाः कामा अविद्यालक्षणा मृत्यव इत्येतदुक्तं भवति; अतो मृत्युवियोगे विद्वान् जीवन्नेव अमृतो भवति । अत्र अस्मिन्नेव शरीरे वर्तमानो ब्रह्म समश्नुते, ब्रह्मभावं मोक्षं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । अतो मोक्षो न देशान्तरगमनाद्यपेक्षते । तस्माद् विदुषो नोत्क्रामन्ति प्राणाः, यथावस्थिता एव स्वकारणे पुरुषे समवनीयन्ते; नाममात्रं हि अवशिष्यते—इत्युक्तम् ।

कथं पुनः समवनीतेषु प्राणेषु देहे च स्वकारणे प्रलीने विद्वान् मुक्तोऽत्रैव सर्वात्मा सन् वर्तमानः पुनः पूर्ववद् देहित्वं संसारित्वलक्षणं न प्रतिपद्यते ? इत्यत्रोच्यते—तत्रायं दृष्टान्तः—यथा लोके अहिः सर्पः, तस्य

समूल नष्ट हो जाती हैं] तब यह मर्त्य—मरणधर्मा होनेपर भी कामनाओंका समूल नष्ट हो जानेके कारण अमृत हो जाता है ।

यहाँ अर्थतः यह बात कह दी गयी कि अनात्मविषयक कामनाएँ ही अविद्यारूप मृत्यु हैं, अतः मृत्युका वियोग हो जानेपर विद्वान् जीवित रहते हुए ही अमृत हो जाता है । वह यहाँ—इस शरीरमें ही रहता हुआ ब्रह्मको अर्थात् ब्रह्मभावरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है । अतः मोक्षको देशान्तरमें जाने आदिकी अपेक्षा नहीं है; इसलिये विद्वान्के प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता । वे जैसेके तैसे ही अपने कारण पुरुषमें पूर्णतया लीन हो जाते हैं, केवल नाममात्र ही बच रहता है—ऐसा ऊपर कहा गया है ।

किंतु प्राणोंके लीन हो जानेपर तथा देहके अपने कारणमें मिल जानेपर विद्वान् किस प्रकार मुक्त होकर अर्थात् यहीं सर्वात्मा होकर विद्यमान रहते हुए पूर्ववत् पुनः संसारित्वरूप देहिभावको प्राप्त नहीं होता ? इस विषयमें अब कहा जाता है—उसमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार लोकमें अहि—सर्प, उसकी

निर्ल्वयनी—निर्मोकः, सा अहि-निर्ल्वयनी, वल्मीके सर्पाश्रये वल्मीकादावित्यर्थः, मृता प्रत्यस्ता प्रक्षिप्ता अनात्मभावेन सर्पेण परित्यक्ता, शयीत वर्तेत एवमेव यथायं दृष्टान्तः, इदं शरीरं सर्पस्थानीयेन मुक्तेन अनात्मभावेन परित्यक्तं मृतमिव शेते।

अथेतरः सर्पस्थानीयो मुक्तः सर्वात्मभूतः सर्पवत्तत्रैव वर्तमानोऽप्यशरीर एव, न पूर्ववत् पुनः सशरीरो भवति। कामकर्मप्रयुक्तशरीरात्मभावेन हि पूर्वं सशरीरो मर्त्यश्च; तद्वियोगादथ इदानीमशरीरः, अत एव च अमृतः, प्राणः प्राणितीति प्राणः-'प्राणस्य प्राणम्' (४।४।१८) इति हि वक्ष्यमाणे श्लोके, "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छा० उ० ६।८।२) इति च श्रुत्यन्तरे; प्रकरणवाक्यसामर्थ्याच्च पर एव आत्मा अत्र प्राणशब्दवाच्यः; ब्रह्मैव परमात्मैव। किं पुनस्तत्? तेज एव विज्ञानं ज्योतिः, येन

निर्ल्वयनी—काँचुली अर्थात् सर्पकी काँचुली वल्मीक—सर्पके आश्रय यानी बाँबी आदिपर मृत और प्रत्यस्त—सर्पद्वारा अनात्मभावसे प्रक्षिप्त—परित्यक्त होकर पड़ी रहती है; इसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त है, यह शरीर सर्पस्थानीय मुक्त पुरुषके द्वारा अनात्मभावसे परित्यक्त होकर मरे हुएके समान पड़ा रहता है।

और उससे भिन्न जो सर्पस्थानीय सर्वात्मभूत मुक्त पुरुष है, वह सर्पके समान वहीं रहता हुआ भी अशरीर ही रहता है, पूर्ववत् पुनः शरीरयुक्त नहीं होता। वह पहले कामकर्मप्रयुक्त शरीरात्मभावसे ही सशरीर और मरणधर्मा था; उसके न रहनेसे अब वह अशरीर है और इसीलिये अमृत है; वह प्राण—प्राणक्रिया करता है, इसलिये प्राण है। 'वह प्राणका प्राण है' ऐसा आगे कहे जानेवाले मन्त्रमें और "हे सोम्य! मन प्राणरूप बन्धनवाला है" ऐसा एक अन्य श्रुतिमें कहा भी है। प्रकरणके वाक्यकी सामर्थ्यसे भी यहाँ परमात्मा ही 'प्राण' शब्दका वाच्य है। ब्रह्म ही अर्थात् परमात्मा ही है। और वह क्या है? तेज ही है—विज्ञानरूप ज्योति ही है, जिस

आत्मज्योतिषा जगदवभास्यमानं प्रज्ञानेत्रं विज्ञानज्योतिष्मत् सदविभ्रंशद् वर्तते ।

यः कामप्रश्नो विमोक्षार्थो याज्ञवल्क्येन वरो दत्तो जनकाय, सहेतुको बन्धमोक्षार्थलक्षणो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूतः स एष निर्णीतः सविस्तरो जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकारूपधारिण्या श्रुत्याः; संसारविमोक्षोपाय उक्तः प्राणिभ्यः । इदानीं श्रुतिः स्वयमेवाह—विद्यानिष्क्रयार्थं जनकेनैवमुक्तमिति; कथम् ? सोऽहमेवं विमोक्षितस्त्वया भगवते तुभ्यं विद्यानिष्क्रयार्थं सहस्रं ददामि—इति ह एवं किल उवाच उक्तवान् जनको वैदेहः ।

अत्र कस्माद् विमोक्षपदार्थे निर्णीते, विदेहराज्यमात्मानमेव च न निवेदयति, एकदेशोक्ताविव सहस्रमेव ददाति ? तत्र कोऽभिप्राय इति ?

आत्मज्योतिसे अवभासित होता हुआ जगत् प्रज्ञानेत्र और विज्ञानज्योतिर्मय होकर विशेषरूपसे च्युत न होता हुआ विद्यमान रहता है ।

याज्ञवल्क्यने विमोक्षके लिये जनकको जो कामप्रश्नरूप वर दिया था, उस दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूत बन्धमोक्षार्थलक्षण सहेतुक प्रश्नका जनक याज्ञवल्क्य-आख्यायिकारूपधारिणी श्रुतिने विस्तारपूर्वक निर्णय कर दिया तथा प्राणियोंको संसारसे मुक्त होनेका उपाय भी बतला दिया । अब श्रुति स्वयं ही कहती है कि इस विद्याका बदला चुकानेके लिये जनकने इस प्रकार कहा । किस प्रकार? आपके द्वारा इस प्रकार विमुक्त किया हुआ मैं इस विद्यादानसे उऋण होनेके लिये आप श्रीमान्‌को एक सहस्र [गौएँ] देता हूँ—ऐसा विदेहराज जनकने कहा ।

यहाँ मोक्षतत्त्वका निर्णय हो जानेपर भी जनक विदेहराज्य और अपनेको ही समर्पण क्यों नहीं कर देता? उसका जैसे एकदेश ही कहा गया हो—इस प्रकार केवल सहस्र [गौएँ] ही क्यों देता है? इसमें उसका क्या अभिप्राय है?

अत्र केचिद् वर्णयन्ति—अध्यात्मविद्यारसिको जनकः श्रुतमप्यर्थं पुनर्मन्त्रैः शुश्रूषति; अतो न सर्वमेव निवेदयति; श्रुत्वाभिप्रेतं याज्ञवल्क्यात् पुनरन्ते निवेदयिष्यामीति हि मन्यते, यदि चात्रैव सर्वं निवेदयामि, निवृत्ताभिलाषोऽयं श्रवणादिति मत्वा, श्लोकान् न वक्ष्यति—इति च भयात् सहस्रदानं शुश्रूषालिङ्गज्ञापनायेति।

यहाँ कोई-कोई ऐसा कहते हैं—जनक अध्यात्मविद्याका रसिक है, वह सुनी हुई बातको भी पुनः-पुनः मन्त्रोंके द्वारा सुनना चाहता है। इसलिये वह सारेको ही समर्पण नहीं करता। वह ऐसा समझता है कि याज्ञवल्क्यसे अपना सारा अभिमत विषय सुनकर अन्तमें सर्वस्व समर्पण करूँगा तथा उसे यह भय भी है कि यदि मैं यहीं सब कुछ दे डालूँगा तो याज्ञवल्क्यजी यह समझकर कि अब इसकी श्रवण करनेकी इच्छा निवृत्त हो गयी है, मन्त्रोंद्वारा इसका वर्णन नहीं करेंगे। अतः यह सहस्रदान उसकी शुश्रूषाके लिङ्गको सूचित करनेके लिये है।

सर्वमप्येतदसत्, पुरुषस्येव प्रमाणभूतायाः श्रुतेर्व्याजानुपपत्तेः। अर्थशेषोपपत्तेश्च—विमोक्षपदार्थे उक्तेऽपि आत्मज्ञानसाधने आत्मज्ञानशेषभूतः सर्वैषणापरित्यागः संन्यासाख्यो वक्तव्योऽर्थशेषो विद्यते; तस्माच्छ्लोकमात्रशुश्रूषाकल्पना अनृज्वी; अगति-

किंतु ये सब बातें ठीक नहीं हैं; क्योंकि साधारण मनुष्योंकी भाँति प्रमाणभूत श्रुतिके लिये किसी बहानेकी आवश्यकता नहीं हो सकती। इसके सिवा, अभी कुछ वक्तव्य अर्थ शेष है, इससे भी सहस्रमात्र दान संगत है। मोक्ष-तत्त्वका निरूपण हो जानेपर भी आत्मज्ञानका साधन और आत्म-ज्ञानका शेषभूत सर्वैषणात्यागरूप संन्याससंज्ञक वक्तव्य विषय अभी अवशिष्ट है ही। अतः मन्त्रश्रवणमात्र-की इच्छाकी कल्पना करना क्लिष्ट

का हि गतिः पुनरुक्तार्थकल्पना; सा चायुक्ता सत्यां गतौ। न च तत् स्तुतिमात्रमित्यवोचाम।

ननु एवं सति 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव' इति वक्तव्यम्—

नैष दोषः; आत्मज्ञानवद् अप्रयोजकः संन्यासः पक्षे प्रतिपत्तिकर्मवत्—इति हि मन्यते; "संन्यासेन तनुं त्यजेत्" इति स्मृतेः। साधनत्वपक्षेऽपि न 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव' इति प्रश्नमर्हति, मोक्षसाधनभूतात्मज्ञानपरिपाकार्थत्वात् ॥ ७ ॥

है। एक बार कहे हुए विषयके पुनः कहनेकी कल्पना करना तो अगतिकगति है। गति रहते हुए तो वैसी कल्पना करनी उचित नहीं है। और यह [संन्यासादि] स्तुतिमात्र हैं नहीं—यह हम पहले कह चुके हैं।

प्र०—किंतु यदि ऐसा होता तो इसके आगे विमोक्षके लिये ही कहिये' ऐसा कहना चाहिये था ?

उ०—यहाँ यह दोष नहीं है, क्योंकि जनक ऐसा समझता है कि आत्मज्ञानके समान संन्यास मोक्षका प्रयोजक (साक्षात् साधन) नहीं है, प्रतिपत्तिकर्मके[1] समान उसका पाक्षिक अनुष्ठान किया जा सकता है, जैसा कि "संन्यासके द्वारा शरीर त्याग करे" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है। यदि उसे (विविदिषासंन्यासको) साधन-पक्षमें माना जाय तो भी उसके विषयमें 'इससे आगे मोक्षके लिये ही कहिये' ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि संन्यास तो मोक्षके ही साधनभूत आत्मज्ञानके परिपाकके लिये है ॥ ७ ॥

आत्मकामी ब्रह्मवेत्ताको मोक्ष प्राप्त होता है—इसमें प्रमाणभूत मन्त्र

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो

१. ज्ञानके साधनभूत कर्मोंको यहाँ प्रतिपत्तिकर्म कहा गया है।

मा ँ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥

उस विषयमें ये मन्त्र हैं—यह ज्ञानमार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन है। वह मुझे स्पर्श किये हुए है और मैंने ही उसका फल साधक ज्ञान प्राप्त किया है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोकमें जीते-जी ही मुक्त होकर शरीर-त्यागके बाद उसी मार्गसे स्वर्गलोक अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मोक्ष इत्येतस्मिन्नर्थे मन्त्रब्राह्मणोक्ते, विस्तरप्रतिपादका एते श्लोका भवन्ति । अणुः सूक्ष्मः पन्था दुर्विज्ञेयत्वात्; विततः विस्तीर्णः, विस्पष्टतरणहेतुत्वाद्वा 'वितरः' इति पाठान्तरात्, मोक्षसाधनो ज्ञानमार्गः । पुराणश्चिरंतनो नित्यश्रुतिप्रकाशितत्वात्, न तार्किकबुद्धिप्रभवकुदृष्टिमार्गवदर्वाकालिकः । मां स्पृष्टो मया लब्ध इत्यर्थः; यो हि येन लभ्यते, स तं स्पृशतीव संबध्यते । तेनायं ब्रह्मविद्यालक्षणो मोक्षमार्गो मया लब्धत्वात् 'मां स्पृष्टः' इत्युच्यते ।

आत्मकाम ब्रह्मवेत्ताका मोक्ष होता है—मन्त्र और ब्राह्मणद्वारा कहे हुए इस अर्थमें उसके विस्तारका प्रतिपादन करनेवाले ये मन्त्र हैं—यह ज्ञानमार्ग दुर्विज्ञेय होनेके कारण अणु—सूक्ष्म है तथा वितत यानी विस्तीर्ण है, अथवा जहाँ [माध्यन्दिनी शाखाके अनुसार 'विततः' के स्थानमें] 'वितरः' ऐसा पाठान्तर है, वहाँ विस्पष्टतरणका हेतु होनेके कारण ज्ञानमार्ग मोक्षका साधन है [—ऐसा अर्थ समझना चाहिये]। यह पुराण अर्थात् नित्य श्रुतिद्वारा प्रकाशित होनेके कारण पुरातन है, तार्किकोंकी बुद्धिसे उत्पन्न हुए कुदृष्टिरूप मार्गोंके समान अर्वाचीन नहीं है। यह मेरे द्वारा स्पृष्ट है अर्थात् मुझे प्राप्त है। जो जिसके द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह उसे स्पर्श-सा करता है—उससे संबद्ध होता है। इसीसे यह ब्रह्मविद्यारूप मोक्षमार्ग मुझे प्राप्त होनेके कारण 'मुझे स्पर्श किये हुए है' ऐसा कहा जाता है।

न केवलं मया लब्धः किं त्वनुवित्तो मयैव; अनुवेदनं नाम विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानतानिष्ठाप्राप्तिः, भुजेरिव तृप्त्यवसानता; पूर्वं तु ज्ञानप्राप्तिसंबन्धमात्रमेवेति विशेषः।

मैंने इसे केवल प्राप्त ही नहीं किया है अपि तु मैंने ही इसका अनुवेदन भी किया है। विद्याके परिपाककी अपेक्षासे जो उसकी फलपर्यन्त स्थितिकी प्राप्ति है, उसे अनुवेदन कहते हैं, जैसे भोजनका पर्यवसान तृप्तिमें होनेवाला है। मां' स्पृष्टः' इस पूर्ववाक्यमें तो केवल ज्ञानप्राप्तिका सम्बन्धमात्र ही बतलाया गया है इतना उससे इसका अन्तर है।

किम् असावेव मन्त्रदृगेको ब्रह्मविद्याफलं प्राप्तः, नान्यः प्राप्तवान्, येन 'अनुवित्तो मयैव' इत्यवधारयति ?

शङ्का—क्या अकेले इस मन्त्रद्रष्टाने ही ब्रह्मविद्याका फल प्राप्त किया है, किसी दूसरेने प्राप्त नहीं किया, जिससे कि वह 'मेरेद्वारा ही अनुवित्त है' ऐसा निश्चय करता है।

नैष दोषः, अस्याः फलम् आत्मसाक्षिकमनुत्तममिति ब्रह्मविद्यायाः स्तुतिपरत्वात्; एवं हि कृतार्थात्माभिमानकरम् आत्मप्रत्ययसाक्षिकमात्मज्ञानम्, किमतः परमन्यत् स्यात्—इति ब्रह्मविद्यां स्तौति। न तु पुनरन्यो ब्रह्मवित् तत्फलं न प्राप्नोतीति, "तद् यो यो देवानाम्" (बृ० उ० १।४।१०) इति सर्वार्थश्रुतेः।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यह वाक्य 'इस विद्याका अनुत्तम फल आत्मसाक्षिक है' इस प्रकार ब्रह्मविद्याकी स्तुति करनेवाला है। इस प्रकार आत्मज्ञान 'मैं कृतार्थ हूँ' ऐसा आत्माभिमान करनेवाला और स्वानुभवसिद्ध है, इससे बढ़कर और क्या हो सकता है ?—इस प्रकार श्रुति ब्रह्मविद्याकी स्तुति करती है। कोई अन्य ब्रह्मवेत्ता इस फलको प्राप्त नहीं करता—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि 'देवताओंमेंसे जिस-जिसने उसे जाना" ऐसी सबके कृतार्थत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति है।

तदेवाह—तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण धीराः प्रज्ञावन्तः—अन्येऽपि ब्रह्मविद इत्यर्थः, अपियन्ति अपिगच्छन्ति, ब्रह्मविद्याफलं मोक्षं स्वर्गं लोकम्; स्वर्गलोकशब्दस्त्रिविष्टपवाच्यपि सन्निह प्रकरणान्मोक्षाभिधायकः। इतः अस्माच्छरीरपातादूर्ध्वं जीवन्त एव विमुक्ताः सन्तः ॥ ८ ॥

यही बात श्रुति बतलाती है—उस ब्रह्मविद्यारूप मार्गसे धीर—बुद्धिमान् अर्थात् दूसरे भी ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मविद्याके फल मोक्ष—स्वर्गलोकको प्राप्त करते हैं। 'स्वर्गलोक' शब्द देवलोकका वाचक होनेपर भी यहाँ प्रकरणवश मोक्षका वाचक है। इतः—इस शरीरका पतन होनेके पश्चात् जीवित रहते हुए ही विमुक्त होकर [शरीरपातानन्तर मोक्ष प्राप्त करते हैं] ॥ ८ ॥

मोक्षमार्गके विषयमें मत-भेद

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलँ हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ ९ ॥

उस मार्गके विषयमें मतभेद है। कोई उसमें शुक्ल और कोई नीलवर्ण बतलाते हैं तथा कोई पिङ्गलवर्ण, कोई हरित और कोई लोहित कहते हैं। किंतु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्मद्वारा अनुभूत है। उस मार्गसे पुण्य करनेवाला परमात्मतेजःस्वरूप ब्रह्मवेत्ता ही जाता है ॥ ९ ॥

तस्मिन् मोक्षसाधनमार्गे विप्रतिपत्तिर्मुमुक्षूणाम्; कथम्? तस्मिन्—शुक्लं शुद्धं विमलमाहुः केचिन्मुमुक्षवः; नीलम् अन्ये, पिङ्गलम् अन्ये; हरितं लोहितं

उस मोक्षसाधनरूप ज्ञानमार्गमें मुमुक्षुओंका मतभेद है; किस प्रकार? कोई मुमुक्षु तो उसमें शुक्ल शुद्ध अर्थात् निर्मल (उज्ज्वल वर्ण) बतलाते हैं, दूसरे नील वर्ण कहते हैं तथा अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार अन्य मुमुक्षुगण उसमें पिङ्गल, हरित और लोहित

च यथादर्शनम् । नाड्यस्तु एताः सुषुम्नाद्याः श्लेष्मादिरससंपूर्णाः 'शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य' (४ । ३ । २०) इत्याद्युक्तत्वात् ।

आदित्यं वा मोक्षमार्गम् एवंविधं मन्यन्ते —"एष शुक्ल एष नीलः" (छा० उ० ८ । ६ । १) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । दर्शनमार्गस्य च शुक्लादिवर्णासंभवात्, सर्वथापि तु प्रकृताद् ब्रह्मविद्यामार्गादन्य एते शुक्लादयः ।

ननु शुक्लः शुद्धोऽद्वैतमार्गः ।

न, नीलपीतादिशब्दैर्वर्णवाचकैः सहानुद्रवणात्; यान् शुक्लादीन् योगिनो मोक्षपथान् आहुः, न ते मोक्षमार्गाः; संसारविषया एव हि ते—"चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" (बृ० उ० ४ । ४ । २) इति शरीरदेशान्निःसरणसंबन्धाद् ब्रह्मादिलोकप्रापका हि ते । तस्मादयमेव मोक्षमार्गः—य आत्मकामत्वेन आप्तकामतया सर्वकामक्षये गमनानुप-

वर्ण बतलाते हैं। किंतु ये श्लेष्मादि रससे परिपूर्ण सुषुम्नादि नाडियाँ ही हैं, क्योंकि उन्हींके विषयमें 'शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य' इत्यादि कहा गया है।

अथवा वे आदित्यरूप मोक्षमार्गको ऐसा मानते हैं, जैसा कि 'यह शुक्ल है, यह नील है" इत्यादि अन्य श्रुतिमें कहा गया है। ज्ञानमार्गके तो शुक्लादि वर्ण होने असम्भव हैं; सभी प्रकार प्रकृत ब्रह्मविद्यारूप मार्गसे तो ये शुक्लादि भिन्न ही हैं।

पूर्व०—किंतु शुक्ल अर्थात् शुद्ध तो अद्वैतमार्ग हो सकता है!

सिद्धान्ती नहीं, क्योंकि इसका वर्णवाचक नील पीतादि शब्दोंके साथ उच्चारण किया गया है। योगीलोग जिन शुक्लादि मोक्षमार्गोंके विषयमें कहते हैं, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं; उनका विषय तो संसार ही है—"चक्षुसे, मूर्धासे अथवा शरीरके किन्हीं अन्य भागोंसे" इस प्रकार शरीरके भागोंसे जीवके निकलनेका सम्बन्ध होनेके कारण वे तो ब्रह्मलोकादिकी प्राप्ति करनेवाले ही हैं। अतः जो आत्मकामत्वके द्वारा आप्तकाम हो जानेसे सम्पूर्ण कामनाओंका

यत्रौ प्रदीपनिर्वाणवच्चक्षुरादीनां कार्यकरणानामत्रैव समवनयः—इति एष ज्ञानमार्गः पन्थाः, ब्रह्मणा परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेन त्यक्तसर्वैषणेन, अनुवित्तः। तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण ब्रह्मविदन्यः अपि एति।

कीदृशो ब्रह्मवित् तेन एति? इत्युच्यते—पूर्वं पुण्यकृद् भूत्वा पुनस्त्यक्तपुत्राद्येषणः, परमात्मतेजस्यात्मानं संयोज्य तस्मिन्नभिनिर्वृत्तस्तैजसश्च—आत्मभूत इहैव इत्यर्थः; ईदृशो ब्रह्मवित् तेन मार्गेण एति।

न पुनः पुण्यादिसमुच्चयकारिणो ग्रहणम्, विरोधादित्यवोचाम; "अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः। शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः॥" (महा० शा० ४७। ५५) इति च स्मृतेः; "त्यज धर्ममधर्मं च"

क्षय हो जानेपर कहीं जाना सम्भव न होनेसे दीपकके बुझ जानेके समान चक्षु आदि देह और इन्द्रियोंका यहीं लीन हो जाना है—यही मोक्षमार्ग है। 'एष पन्थाः' यह ज्ञानमार्ग ब्रह्मके द्वारा अर्थात् जिसने समस्त एषणाएँ त्याग दी हैं, उस परमात्मस्वरूप ब्रह्मज्ञके द्वारा ही अनुवित्त है। उस ब्रह्मविद्यारूप मार्गसे अन्य ब्रह्मवेत्ता भी ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है।

उस मार्गसे किस प्रकारका ब्रह्मवेत्ता जाता है? सो बतलाया जाता है—पहले पुण्य करनेवाला होकर फिर पुत्रादि एषणाओंसे मुक्त हो जो परमात्मतेजमें अपनेको जोड़कर उसीमें उपशान्त हो गया है अर्थात् इस शरीरमें ही उस परमात्मतेजसे सम्पन्न आत्मभूत हो गया है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता उस मार्गसे जाता है।

यहाँ 'पुण्यकृत्' शब्दसे पुण्यादिसमुच्चय करनेवालोंको ग्रहण नहीं किया गया; क्योंकि ज्ञान और कर्मका परस्पर विरोध है—ऐसा हम कह चुके हैं। इस विषयमें "पाप और पुण्यकी निवृत्ति होनेपर जिसे पुनर्जन्मसे निर्भय एवं शान्त संन्यासी प्राप्त करते हैं, उस मोक्षात्माको नमस्कार है" ऐसी स्मृति भी है तथा "धर्म और अधर्मका त्याग करो"

इत्यादिपुण्यापुण्यत्यागोपदेशात्; "निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्। अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥" "नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च।

उपदेक्ष्यति च इहापि तु—"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्" (४।४।२३) इति कर्मप्रयोजनाभावे हेतुमुक्त्वा, "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः" (४।४।२३) इत्यादिना सर्वक्रियोपरमम्। तस्माद् यथाव्याख्यातमेव पुण्यकृत्त्वम्।

अथवा यो ब्रह्मवित् तेन एति, स पुण्यकृत् तैजसश्च—इति ब्रह्मवित्स्तुतिरेषा; पुण्यकृति तैजसे च योगिनि महाभाग्यं प्रसिद्धं लोके,

इत्यादि प्रकारसे पुण्य पापके त्यागका भी उपदेश दिया गया है। "जो सब प्रकारकी आशाओंसे रहित, आरम्भ-शून्य, नमस्कार और स्तुति आदि न करनेवाला, निषिद्धाचरणसे रहित और क्षीणकर्मा है, उसे देवगण ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) मानते हैं" तथा "ब्रह्मवेत्ताका ऐसा कोई धन नहीं है जैसा कि एकता, समता, सत्यता, शील, स्थिति, अहिंसा, सरलता और विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंसे निवृत्ति होना है" इत्यादि स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है।

यहाँ भी "यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य महिमा है, जो कर्मसे न तो बढ़ती है और न घटती ही है" इस प्रकार कर्मके प्रयोजनके अभावमें हेतु बतलाकर "अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त [उपरत होकर]" इत्यादि वाक्यसे सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरतिका उपदेश दिया जायगा। अतः यहाँ जिस प्रकार ऊपर व्याख्या की गयी है, वही 'पुण्यकृत्' का स्वरूप है।

अथवा जो ब्रह्मवेत्ता उस मार्गसे जाता है वह पुण्यकर्मा और तैजस है—इस प्रकार यह ब्रह्मवेत्ताकी स्तुति है। पुण्यकृत् और तैजस योगीमें महाभाग्य रहता है—यह लोकमें प्रसिद्ध है; अतः लोकमें

ताभ्याममतो ब्रह्मवित् स्तूयते प्रख्यातमहाभाग्यत्वाल्लोके ॥ ९ ॥

प्रख्यात महाभाग्यशाली होनेके कारण इन दोनों विशेषणोंसे ब्रह्मवेत्ताकी स्तुति की जाती है ॥ ९ ॥

विद्या और अविद्यारत पुरुषोंकी गति

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥ १० ॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानसंज्ञक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्या (कर्मकाण्डरूप त्रयीविद्या) में रत हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

अन्धम् अदर्शनात्मकं तमः संसारनियामकं प्रविशन्ति प्रतिपद्यन्ते; के ? ये अविद्यां विद्यातोऽन्यां साध्यसाधनलक्षणाम् उपासते, कर्म अनुवर्तन्त इत्यर्थः । ततस्तस्मादपि भूय इव बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति; के ? ये उ विद्यायाम्, अविद्यावस्तुप्रतिपादिकायां कर्मार्थायां त्रय्यामेव विद्यायाम्, रता अभिरताः । विधिप्रतिषेधपर एव वेदः, नान्योऽस्ति इति, उपनिषदर्थानपेक्षिण इत्यर्थः ॥ १० ॥

अन्ध अर्थात् संसारके नियामक अदर्शनात्मक (अज्ञानरूप) अन्धकारमें प्रवेश करते हैं; कौन ? जो अविद्या—विद्यासे भिन्न साध्यसाधनरूप कर्मकी उपासना अर्थात् अनुगमन करते हैं; और उससे भी भूयः इव—मानो अधिकतर अन्धकारमें वे प्रवेश करते हैं; कौन ? जो विद्यामें अर्थात् अविद्यारूप वस्तुका प्रतिपादन करनेवाली कर्मार्था त्रयीविद्यामें रत यानी अभिनिविष्ट हैं अर्थात् जो ऐसा समझकर कि वेद तो विधि-प्रतिषेधपरक ही है, उससे भिन्न नहीं है, उपनिषदर्थकी उपेक्षा करनेवाले हैं ॥ १० ॥

अज्ञानियोंको प्राप्त होनेवाले अनन्द लोकोंका वर्णन

यदि ते अदर्शनलक्षणं तमः प्रविशन्ति, को दोषः ? इत्युच्यते—

यदि वे अदर्शनात्मक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं तो दोष क्या है ? यह बतलाया जाता है—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः ॥ ११ ॥

वे अनन्द (असुख) नामके लोक अन्धतमसे व्याप्त हैं; वे अविद्वान् और अज्ञानीलोग मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

अनन्दा अनानन्दा असुखा नाम ते लोकाः, तेन अन्धेनादर्शनलक्षणेन तमसा आवृता व्याप्ताः—ते तस्याज्ञानतमसो गोचराः । तान् ते प्रेत्य मृत्वा अभिगच्छन्ति अभियान्ति; के ? ये अविद्वांसः; किं सामान्येन अविद्वत्तामात्रेण ? नेत्युच्यते—अबुधः, बुधेः अवगमनार्थस्य धातोः क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपम्, आत्मावगमवर्जिता इत्यर्थः; जनाः प्राकृता एव जननधर्माणो वा इत्येतत् ॥ ११ ॥

अनन्द—अनानन्द अर्थात् असुख नामके वे लोक उस अन्ध—अदर्शनरूप अन्धकारसे आवृत—व्याप्त हैं; अर्थात् वे उस अज्ञानान्धकारके विषय हैं। उन्हें वे मरकर प्राप्त होते हैं; कौन ? जो अविद्वान् हैं; क्या सामान्य अविद्वत्तामात्रसे ही उन्हें प्राप्त होते हैं। नहीं; यह बतलाया जाता है—जो अबुध हैं, यह अवगत्यर्थक बुध् धातुका क्विप्-प्रत्ययान्तरूप है, अर्थात् जो आत्मज्ञानसे रहित हैं वे जनाः—उपर्युक्त प्राकृत लोक ही अथवा जननधर्मी [मनुष्यादि ही उन लोकोंको प्राप्त होते हैं] ॥ ११ ॥

आत्मज्ञकी निश्चिन्त स्थिति

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १२ ॥

यदि पुरुष आत्माको 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके पीछे संतप्त हो ? ॥ १२ ॥

आत्मानं स्वं परं सर्वप्राणिमनीषितज्ञं हृत्स्थमशनायादिधर्मातीतम्, चेद् यदि, विजानीयात् सहस्रेषु कश्चित्; चेदिति आत्मविद्याया दुर्लभत्वं दर्शयति; कथम् ? अयं पर आत्मा सर्वप्राणिप्रत्ययसाक्षी, यो नेति नेतीत्याद्युक्तः, यस्मान्नान्योऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता, समः सर्वभूतस्थो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः—अस्मि भवामि—इति; पूरुषः पुरुषः, स किमिच्छन्—तत्स्वरूपव्यतिरिक्तम् अन्यद्वस्तु फलभूतं किमिच्छन् कस्य वा अन्यस्य आत्मनो व्यतिरिक्तस्य कामाय प्रयोजनाय; न हि तस्य आत्मन एष्टव्यं फलं न चाप्यात्मनोऽन्यः अस्ति, यस्य

यदि सहस्रोंमें कोई एक आत्माको—अपने परस्वरूपको—सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिवृत्तिको जाननेवाले हृदयस्थ और क्षुधादि धर्मोंसे अतीत आत्माको विशेषरूपसे जान जाय, 'चेत्' इस निपातसे श्रुति आत्मविद्याकी दुर्लभता प्रकट करती है, किस प्रकार जान जाय ? यह पर आत्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रत्ययों (ज्ञानों) का साक्षी, जो 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंद्वारा कहा गया है, जिससे भिन्न कोई दूसरा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है तथा सम, सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप है, वह मैं हूँ—इस प्रकार जो पुरुष [जान जाय] वह क्या इच्छा करता हुआ—उस अपने स्वरूपके अतिरिक्त किस दूसरी फलभूत वस्तुकी इच्छा करता हुआ अथवा किस आत्मासे भिन्न वस्तुकी कामना अर्थात् प्रयोजनके लिये—क्योंकि उस आत्माके लिये कोई इच्छा करनेयोग्य फल है ही नहीं और न आत्मासे भिन्न कोई अन्य पदार्थ ही है, जिसकी



कामाय इच्छति, सर्वस्य आत्मभूतत्वात्; अतः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्, भ्रंशेत्, शरीरोपाधिकृतदुःखमनु दुःखी स्यात्, शरीरतापमनुतप्येत ।

अनात्मदर्शिनो हि तद् व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरेप्सोः । 'ममेदं स्यात्, पुत्रस्य इदम्, भार्याया इदम्' इत्येवमीहमानः पुनः पुनर्जननमरणप्रबन्धरूढः शरीररोगमनु रुज्यते, सर्वात्मदर्शिनस्तु तदसम्भव इत्येतदाह ॥ १२ ॥

कामनासे वह इच्छा करे क्योंकि वह तो सबका आत्मस्वरूप हो जाता है। अतः वह क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनाके लिये शरीरके पीछे संतप्त—भ्रष्ट हो? अर्थात् शरीररूप उपाधिके दुःखके पीछे दुःखी हो—शरीरके तापसे अनुतप्त हो।

जो शरीरादि अनात्मोंमें आत्मबुद्धि करनेवाला है, आत्मासे भिन्न वस्तुकी इच्छा करनेवाले उस अनात्मज्ञको ही वह (अनुताप) [हो सकता है]। 'मुझे यह मिल जाय, पुत्रको यह मिल जाय, पत्नीको यह हो जाय' इस प्रकार इच्छा करता हुआ वह पुनः-पुनः जन्म-मरणपरम्परामें पड़ा रहकर शरीरके रोगके पीछे रोगी होता है। किंतु सर्वात्मदर्शीको ऐसा होना असम्भव है—यही बात श्रुति यहाँ बतलाती है ॥ १२ ॥

आत्माका महत्त्व

किं च—

इसके सिवा—

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३ ॥

इस अनेकों अनर्थोंसे पूर्ण और विवेक विज्ञानके विरोधी विषम

शरीरमें प्रविष्ट हुआ आत्मा जिस ब्राह्मणको प्राप्त और ज्ञात हो गया है, वही विश्वकृत् (कृतकृत्य) है । वही सबका कर्ता है, उसीका लोक है और स्वयं वही लोक भी है ॥ १३ ॥

यस्य ब्राह्मणस्य, अनुवित्तः—अनुलब्धः, प्रतिबुद्धः साक्षात्कृतः, कथम्? अहमस्मि परं ब्रह्मेत्येवं प्रत्यगात्मत्वेनावगतः; आत्मा अस्मिन् संदेह्ये संदेहे अनेकानर्थसंकटोपचये, गहने विषमे—अनेकशतसहस्रविवेकविज्ञान-प्रतिपक्षे विषमे प्रविष्टः; स यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तः प्रतिबोधेनेत्यर्थः स विश्वकृद् विश्वस्य कर्ता;

जिस ब्राह्मणको आत्मा अनुवित्त अनुलब्ध और प्रतिबुद्ध-साक्षात्कृत है, किस प्रकार—'मैं परब्रह्म हूँ' इस प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूपसे ज्ञात है; इस संदेह्य—संदेह अर्थात् अनेकों अनर्थ-समूहोंके पुञ्ज और गहन—विषम यानी विवेक-विज्ञानके अनेकों शतसहस्र प्रतिपक्षोंके कारण विषमस्थानमें प्रविष्ट हुआ जो आत्मा है, वह जिस ब्राह्मणको प्रतिबोध—साक्षात्कारके द्वारा उपलब्ध है—ऐसा इसका तात्पर्य है, वह विश्वकृत्—विश्वका कर्ता (रचनेवाला) है ।

कथं विश्वकृत्त्वम्, तस्य किं विश्वकृदिति नाम इत्याशङ्क्याह—स हि यस्मात् सर्वस्य कर्ता, न नाममात्रम्; न केवलं विश्वकृत् परप्रयुक्तः सन्, किं तर्हि? तस्य लोकः सर्वः; किमन्यो लोकः, अन्योऽसौ? इत्युच्यते स उ लोक एव; लोकशब्देन

उसका विश्वकर्तृत्व किस प्रकार है, क्या 'विश्वकृत्' यह उसका नाम है? ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—क्योंकि वही सबका कर्ता है, यह केवल उसका नाम ही नहीं है। वह किसी अन्यके द्वारा प्रेरित होनेसे विश्वकृत् नहीं है; तो फिर क्या बात है? उसीका सारा लोक है। तो क्या लोक दूसरा है और वह दूसरा है?—इसपर कहा जाता है—वही लोक भी है। यहाँ

आत्मा उच्यते; तस्य सर्व आत्मा, स च सर्वस्यात्मेत्यर्थः ।

य एष ब्राह्मणेन प्रत्यगात्मा प्रतिबुद्धतया अनुविश्व आत्मा अनर्थसंकटे गहने प्रविष्टः स न संसारी, किंतु पर एव; यस्माद् विश्वस्य कर्ता सर्वस्य आत्मा, तस्य च सर्व आत्मा । 'एक एवाद्वितीयः पर एवास्मि' इत्यनुसंधातव्य इति श्लोकार्थः ॥ १३ ॥

'लोक' शब्दसे आत्मा कहा गया है । तात्पर्य यह है कि सब आत्मा उसके हैं और वह सबका आत्मा है।'

आत्मा अनर्थपूर्ण और गहन-शरीरमें प्रविष्ट है—इस प्रकार जिस इस प्रत्यगात्माको ब्राह्मणने साक्षात्कारके द्वारा उपलब्ध कर लिया है, वह संसारी जीव नहीं है, अपितु पर ही है; क्योंकि वह विश्वका कर्ता है, सबका आत्मा है और उसीके सब आत्मा हैं। इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि मैं एकमात्र अद्वितीय परमात्मा ही हूँ'—ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये ॥ १३ ॥

आत्मज्ञानके बिना होनेवाली दुर्गति

किं च—

तथा—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १४ ॥

हम इस शरीरमें रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं [तो कृतार्थ हो गये] यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है । जो उसे जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं; किंतु दूसरे लोग तो दुःखको ही प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

इहैव—अनेकानर्थसंकुले सन्तो भवन्तः, अज्ञानदीर्घनिद्रामोहिताः सन्तः, कथंचिदिव ब्रह्मतत्त्वम् आत्मत्वेन अथ विद्मो विजानीमः,

यहीं—इस अनेकों अनर्थपूर्ण शरीरमें रहते हुए ही अर्थात् अज्ञानरूप दीर्घ निद्रासे मोहित रहते हुए ही किसी प्रकार यदि हम उस ब्रह्मतत्त्वको—प्रकरण-प्राप्त इस ब्रह्मको आत्मभावसे

तदेतद् ब्रह्म प्रकृतम्; अहो वयं कृतार्था इत्यभिप्रायः। यद्येतद् ब्रह्म विजानीमः, तद् न चेद् विदितवन्तो वयम् वेदनं वेदः, वेदोऽस्यास्तीति वेदी, वेद्येव वेदिः, न वेदिः अवेदिः, ततः अहम् अवेदिः स्याम्। यदि अवेदिः स्याम्, को दोषः स्यात्? महती अनन्तपरिमाणा जन्म-मरणादिलक्षणा विनष्टिः—विनशनम्। अहो वयमस्मान्महतो विनाशाद् निर्मुक्ताः, यदद्वयं ब्रह्म विदितवन्त इत्यर्थः।

यथा च वयं ब्रह्म विदित्वा अस्माद् विनशनाद् विप्रमुक्ताः, एवं ये तद्विदुः, अमृतास्ते भवन्ति; ये पुनः नैवं ब्रह्म विदुः, ते इतरे ब्रह्मविद्भ्योऽन्ये अब्रह्मविद इत्यर्थः दुःखमेव जन्ममरणादिलक्षणमेव अपियन्ति प्रतिपद्यन्ते न कदाचिदप्यविदुषां ततो विनिवृत्तिरित्यर्थः; दुःखमेव हि ते आत्मत्वेनोपगच्छन्ति ॥ १४ ॥

जान लें तब तो अहो! हम कृतार्थ हो गये—ऐसा इसका अभिप्राय है। हम जिस इस ब्रह्मको जानते हैं; यदि उसे हमने न जाना होता, 'वेद' का अर्थ वेदन है, जिसे वेद (ज्ञान) है, उसे वेदी कहते हैं, वेदीको ही 'वेदि' कहा गया है, जो वेदि न हो वह 'अवेदि' है, तो इससे मैं अवेदि हो जाता। यदि मैं 'अवेदि' हो जाता तो क्या दोष होता? महती—जन्म मरणादिरूप अनन्त परिमाणवाली विनष्टि—क्षति होती। तात्पर्य यह है कि हमने जो अद्वय ब्रह्मतत्त्वको जान लिया है, इससे अहो! हम महान् विनाशसे मुक्त हो गये हैं।

जिस प्रकार ब्रह्मको जानकर हम इस विनाशसे सम्यक् प्रकारसे मुक्त हो गये हैं, इसी प्रकार जो उसे जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। किंतु जो उसे इस प्रकार नहीं जानते, वे इतर—ब्रह्मवेत्ताओंसे भिन्न अन्य लोग अर्थात् अब्रह्मवेत्ता जन्म-मरणादिरूप दुःखको ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि अज्ञानियोंकी उससे कभी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वे दुःखको ही (दुःखमय शरीरको ही) आत्मभावसे ग्रहण करते हैं ॥ १४ ॥

अभेददर्शी आत्मज्ञकी निर्भयता

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥१५॥

जब भूत और भविष्यके स्वामी इस प्रकाशमान अथवा कर्म-फलदाता आत्माको मनुष्य साक्षात् जान लेता है तो यह उससे अपनी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता ॥ १५ ॥

यदा पुनरेतमात्मानम्, कथंचित् परमकारुणिकं कंचिदाचार्यं प्राप्य ततो लब्धप्रसादः सन्, अनु पश्चात् पश्यति साक्षात्करोति स्वमात्मानम्, देवं द्योतनवन्तं दातारं वा सर्वप्राणिकर्मफलानां यथाकर्मानुरूपम्, अञ्जसा साक्षात्, ईशानं स्वामिनं भूतभव्यस्य कालत्रयस्येत्येतत्—न ततस्तस्मादीशानाद् देवादात्मानं विशेषेण जुगुप्सते गोपायितुमिच्छति ।

सर्वो हि लोक ईश्वराद् गुप्तिमिच्छति भेददर्शी; अयं त्वेकत्वदर्शी न बिभेति कुतश्चन; अतो न तदा विजुगुप्सते, यदा ईशानं देवमञ्जसा आत्मत्वेन पश्यति । न तदा निन्दति वा कंचित्,

किंतु जिस समय मनुष्य किसी प्रकार किसी परम करुणामय आचार्यके पास पहुँचकर उससे प्रसाद पाकर फिर इस आत्माको देख लेता है अर्थात् इस देव—द्योतनवान् अथवा कर्मोंके अनुसार प्राणियोंके सम्पूर्ण कर्मफलोंको देनेवाले तथा भूत-भविष्यत् आदि तीनों कालोंके स्वामी अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेता है, उसे अञ्जसा—साक्षात् जान लेता है; तो उस ईशानदेवसे अपनेको विशेषरूपसे सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं करता ।

भेददर्शी सभी लोग ईश्वरसे अपनी रक्षा चाहते हैं; किंतु यह अभेददर्शी किसीसे नहीं डरता; इसलिये जब यह ईशानदेवको साक्षात् आत्मरूपसे देखता है तो अपनेको सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं करता अथवा 'न विजुगुप्सते'—उस समय किसीकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि

सर्वम् आत्मानं हि पश्यति, स एवं पश्यन् कमसौ निन्द्यात्? ॥१५॥

सबको अपना आत्मा ही देखता है। जो इस प्रकार देखनेवाला है, वह किसकी निन्दा करे ? ॥ १५ ॥

देवोंद्वारा उपास्य आयुसंज्ञक ब्रह्म

किं च—

तथा—

यस्माद्र्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥

जिसके नीचे संवत्सरचक्र अहोरात्रादि अवयवोंके सहित चक्कर लगाता रहता है, उस आदित्यादि ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप अमृतको देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं ॥ १६ ॥

यस्मादीशानाद् अर्वाक्, यस्मादन्यविषय एवेत्यर्थः, संवत्सरः कालात्मा सर्वस्य जनिमतः परिच्छेत्ता, यम् अपरिच्छिन्दन् अर्वागेव वर्तते, अहोभिः स्वावयवैः—अहोरात्रैरित्यर्थः; तद् ज्योतिषां ज्योतिः—आदित्यादिज्योतिषामप्यवभासकत्वात्, आयुरित्युपासते देवाः, अमृतं ज्योतिः—अतोऽन्यद् म्रियते, न हि ज्योतिः ।

जिस ईशानसे अर्वाक् अर्थात् जिससे दूसरे ही विषयवाला संवत्सर कालात्मा—जो सम्पूर्ण उत्पन्न होनेवालोंका परिच्छेद करनेवाला है, उस (ईशान) का परिच्छेद न करता हुआ 'अहोभिः' अर्थात् अपने अवयव अहोरात्रके द्वारा उससे नीचे ही रहता है, आदित्यादि ज्योतियोंके भी प्रकाशक होनेके कारण उस ज्योतियोंके ज्योतिकी देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं। वह अमृत ज्योति है, उससे अन्य ज्योति मरती है, परन्तु यह ज्योति नहीं मरती।

सर्वस्य हि एतज्ज्योतिः आयुः; आयुर्गुणेन यस्माद् देवास्तद्ज्योतिरुपासते, तस्मादायुष्म-

यह ज्योति सभीकी आयु है। क्योंकि देवगण इस ज्योतिकी आयुरूप गुणके कारण उपासना करते हैं, इसलिये वे आयुष्मान् होते

न्तस्ते । तस्मादायुष्कामेन आयु-गुणेनोपास्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ १६ ॥

हैं। अतः तात्पर्य यह है कि जिसे आयुकी इच्छा हो वह ब्रह्मकी आयुरूप गुणके द्वारा उपासना करे ॥ १६ ॥

सर्वाधारभूत ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ

किं च—

तथा—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

जिसमें पाँच पञ्चजन और [अव्याकृतसंज्ञक] आकाश भी प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ । उस ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

यस्मिन् यत्र ब्रह्मणि, पञ्च पञ्चजनाः—गन्धर्वादयः पञ्चैव संख्याता गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि—निषादपञ्चमा वा वर्णाः; आकाशश्च अव्याकृताख्यः - यस्मिन् सूत्रम् ओतं च प्रोतं च - यस्मिन् प्रतिष्ठितः; "एतस्मिन् नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः" (३ । ८ । ११) इत्युक्तम्; तमेव आत्मानम् अमृतं ब्रह्म मन्ये अहम्, न चाहमात्मानं ततोऽन्यत्वेन जाने । किं तर्हि ? अमृतोऽहं ब्रह्म विद्वान् सन्; अज्ञानमात्रेण तु मर्त्योऽहमासम्; तदपगमाद् विद्वानहममृत एव ॥ १७ ॥

जिसमें—जिस ब्रह्ममें पाँच पञ्चजन—गन्धर्वादि, क्योंकि गंधर्व पितर, देव, असुर और राक्षस—इस प्रकार वे पाँच ही गिने गये हैं, अथवा निषाद जिनमें पाँचवाँ है, वे ब्राह्मणादि वर्ण तथा अव्याकृत-संज्ञक आकाश, जिसके विषयमें 'जिसमें सूत्र ओतप्रोत है' ऐसा कहा गया है, ये सब जिसमें प्रतिष्ठित हैं, "हे गार्गि! इस अक्षरमें ही आकाश ओतप्रोत है" ऐसा पहले कहा भी गया है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ, उससे भिन्नरूपसे मैं आत्माको नहीं जानता । तो फिर क्या हुआ ?—उस ब्रह्मको जाननेवाला होनेसे मैं अमृत हूँ, मैं अज्ञानमात्रसे ही मरण-धर्मा था, उसकी निवृत्ति हो जानेसे मैं ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

ब्रह्मको प्राणका प्राणादि जाननेवाले ही उसे जानते हैं।

किं च तेन हि चैतन्यात्मज्योतिषावभास्यमानः प्राण आत्मभूतेन प्राणिति तेन प्राणस्यापि प्राणः सः—

तथा उस आत्मभूत चैतन्यात्मज्योतिसे प्रकाशित होता हुआ ही प्राण प्राणक्रिया करता है, इसलिये वह प्राणका भी प्राण है—

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥

जो उसे प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका मन जानते हैं वे उस पुरातन और अग्रच ब्रह्मको जानते हैं ॥ १८ ॥

तं प्राणस्य प्राणम्; तथा चक्षुषोऽपि चक्षुः; उत श्रोत्रस्यापि श्रोत्रम्; ब्रह्मशक्त्यधिष्ठितानां हि चक्षुरादीनां दर्शनादिसामर्थ्यम्; स्वतः काष्ठलोष्टसमानि हि तानि चैतन्यात्मज्योतिःशून्यानि, मनसोऽपि मनः— इति ये विदुः—चक्षुरादिव्यापारानुमितास्तित्वं प्रत्यगात्मानम्, न विषयभूतं ये विदुः, ते निचिक्युः—निश्चयेन ज्ञातवन्तो ब्रह्म, पुराणं चिरन्तनम्, अग्र्यम् अग्रे भवम्। "तद्यदात्मविदो विदुः" (मु० उ० २।२।९) इति ह्याथर्वणे ॥ १८ ॥

उसे जो प्राणका प्राण तथा चक्षुका भी चक्षु एवं श्रोत्रका भी श्रोत्र जानते हैं;—क्योंकि ब्रह्मकी शक्तिसे अधिष्ठित चक्षु आदिमें ही दर्शनादिका सामर्थ्य है, चैतन्यात्मज्योतिसे शून्य होनेपर तो वे स्वतः काष्ठ और मिट्टीके ढेलेके समान हैं—तथा वह मनका भी मन है— इस प्रकार जो जानते हैं अर्थात् चक्षु आदिके व्यापारसे जिसके अस्तित्वका अनुमान होता है, उस प्रत्यगात्माको जो 'वह इन्द्रियोंका विषयभूत नहीं है' इस प्रकार जानते हैं उन्होंने पुराण—पुरातन और अग्रच—आगे रहनेवाले ब्रह्मको निश्चय ही जाना है। "वह जिसे आत्मवेत्ता जानते हैं" ऐसा आथर्वण-श्रुतिमें भी कहा है ॥ १८ ॥

नानात्वदर्शीकी दुर्गतिका वर्णन

तद्ब्रह्मदर्शने साधनमुच्यते— | उस ब्रह्मदर्शनमें साधन बतलाया जाता है—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

ब्रह्मको आचार्योपदेशपूर्वक मनसे ही देखना चाहिये। इसमें नाना कुछ भी नहीं है। जो इसमें नानाके समान देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेन आचार्योपदेशपूर्वकं चानुद्रष्टव्यम्। तत्र च दर्शनविषये ब्रह्मणि नेह नाना अस्ति किंचन किंचिदपि। असति नानात्वे, नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया, स मृत्योर्मरणात्, मृत्युं मरणम् आप्नोति। कोऽसौ? य इह नानेव पश्यति। अविद्याध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः ॥ १९ ॥

परमार्थज्ञानसे संस्कारयुक्त हुए मनसे ही आचार्योपदेशपूर्वक उसे देखना चाहिये। उस दर्शनके विषयभूत ब्रह्ममें नाना कुछ भी नहीं है। नानात्वके न रहते हुए ही [जो] अविद्यासे उसमें नानात्वका आरोप करता है, वह मृत्यु यानी मरणसे मृत्यु—मरणको प्राप्त होता है। वह कौन है? जो इसमें नानाके समान देखता है। तात्पर्य यह है कि अविद्याजनित आरोपके सिवा परमार्थतः द्वैत नहीं है ॥ १९ ॥

ब्रह्मदर्शनकी विधि

यस्मादेवं तस्मात्— | क्योंकि ऐसा है, इसलिये—

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥ २० ॥

उस ब्रह्मको [आचार्योपदेशके] अनन्तर एक प्रकारसे ही देखना

रसयिताकी रसनाशक्ति, वक्ताकी उक्ति, श्रोताकी श्रुति, मन्ताकी मति और विज्ञाताकी विज्ञाति है। इस प्रकार सबका स्वरूप होनेसे उसका कभी अभाव नहीं होता, क्योंकि जब जो कुछ रहता है उसका वास्तविक स्वरूप स्वयं आत्मा ही है। इस प्रकार जब वही सबका स्वरूप है तो उक्त दृष्टि आदिके विषय भी उससे भिन्न नहीं हैं। अतः एक अलुप्तशक्तिस्वरूप द्रष्टा ही सर्वमय है, वही निरतिशय आनन्दस्वरूप है और उसीके लेशमात्र आनन्दसे अन्य सब विषय आनन्दरूप जान पड़ते हैं। वह आत्मा सर्वरूप है। जिसे ऐसा बोध हो गया है वह निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है। उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। वह ब्रह्मरूप ही है और ब्रह्मरूपसे ही स्थित हो जाता है। इसके आगे चतुर्थ अध्यायके अन्ततक याज्ञवल्क्यजीने बड़ी ओजपूर्ण भाषामें इसी तत्त्वका वर्णन किया है। फिर पञ्चम ब्राह्मणमें याज्ञवल्कीय काण्डकी पद्धतिसे पूर्वोक्त याज्ञवल्क्य-मैत्रेयि-संवादका ही वर्णन है और छठे ब्राह्मणमें आचार्यपरम्पराके उल्लेखपूर्वक मधुकाण्ड समाप्त होता है।

इससे आगे पञ्चम अध्यायसे खिलकाण्ड आरम्भ होता है। इसमें कई प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन है। आरम्भमें ही एक बड़ा रोचक आख्यान है। प्रजापतिके पुत्र देव, असुर और मनुष्य अपने पिताके यहाँ रहकर ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं और प्रजापतिसे उपदेश करनेकी प्रार्थना करते हैं। प्रजापति बारी-बारीसे उन तीनोंको एक ही अक्षर 'द' का उपदेश करते हैं और इस एक ही अक्षरसे उन्हें अपने-अपने लिये उपयुक्त उपदेश मिल जाता है। भोगप्रधान देवता समझते हैं, 'पिताने हमें दमन (इन्द्रियसंयम) करनेका उपदेश किया है', क्रूरप्रकृति असुर समझते हैं, 'प्रजापतिने हमें दया करनेका आदेश किया है' और अर्थलोलुप मनुष्य मानते हैं, 'पिताने हमें दान करनेकी आज्ञा दी है।' इस प्रकार अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उपयुक्त उपदेश पाकर वे कृतकृत्य हो जाते हैं।

इसके सिवा इस अध्यायमें और भी कई प्रकारकी उपासनाएँ हैं। फिर छठे अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें इन्द्रियोंके विवादद्वारा प्राण-

चाहिये। यह ब्रह्म अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, [अव्याकृतरूप] आकाशसे भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है ॥ २० ॥

एकधैव एकेनैव प्रकारेण विज्ञानघनैकरसप्रकारेण आकाशवन्निरन्तरेण अनुद्रष्टव्यम्, यस्मादेतद् ब्रह्म अप्रमयम् अप्रमेयम्, सर्वैकत्वात्; अन्येन हि अन्यत् प्रमीयते; इदं त्वेकमेव, अतोऽप्रमेयम्; ध्रुवं नित्यं कूटस्थमविचालीत्यर्थः।

एकधा—एक प्रकारसे ही अर्थात् आकाशके समान निरन्तर एकमात्र विज्ञानघन रसस्वरूपसे ही अनुदर्शन करना चाहिये (आचार्योपदेशके अनन्तर देखना चाहिये); क्योंकि यह ब्रह्म अप्रमय—अप्रमेय है, कारण ब्रह्ममें सबकी एकता है। अन्यके द्वारा ही अन्यकी प्रमिति (प्रमा-बुद्धि) होती है, किंतु ब्रह्म तो एक ही है, इसलिये यह अप्रमेय है तथा ध्रुव—कूटस्थ यानी विचलित न होनेवाला है।

ननु विरुद्धमिदमुच्यते—अप्रमेयं ज्ञायत इति च; 'ज्ञायते' इति प्रमाणैर्मीयत इत्यर्थः, 'अप्रमेयम्' इति च तत्प्रतिषेधः।

शङ्का—किंतु 'ब्रह्म अप्रमेय है और वह जाना जाता है' यह कथन तो विरुद्ध है। जाना जाता है—इससे तो यही तात्पर्य है कि प्रमाणोंद्वारा उसका मान होता है और अप्रमेय—ऐसा कहनेसे उसका प्रतिषेध होता है।

नैष दोषः, अन्यवस्तुवद् अनागमप्रमाणप्रमेयत्वप्रतिषेधार्थत्वात्; यथा अन्यानि वस्तूनि आगमनिरपेक्षैः प्रमाणैर्विषयी-

समाधान-यहाँ यह दोष नहीं है; क्योंकि 'अप्रमेयम्' यह विशेषण, अन्य वस्तुओंके समान उसके आगमातिरिक्त प्रमाणसे प्रमित होनेका प्रतिषेध करनेके लिये है। जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ आगमकी अपेक्षा न रखकर अन्य प्रमाणोंका विषय

क्रियन्ते, न तथा एतदात्मतत्त्वं प्रमाणान्तरेण विषयीकर्तुं शक्यते; सर्वस्यात्मत्वे केन कं पश्येद् विजानीयात्—इति प्रमातृप्रमाणादिव्यापारप्रतिषेधेनैव आगमोऽपि विज्ञापयति, न तु अभिधानाभिधेयलक्षणवाक्यधर्माङ्गीकरणेन; तस्मान्नागमेनापि स्वर्गमेर्वादिवत् तत् प्रतिपाद्यते; प्रतिपादयित्रात्मभूतं हि तत्; प्रतिपादयितुः प्रतिपादनस्य प्रतिपाद्यविषयत्वात्, भेदे हि सति तद् भवति।

होती हैं; उस प्रकार यह आत्मतत्त्व किसी अन्य प्रमाणद्वारा विषय नहीं किया जा सकता। सभीके आत्मा होनेपर किसके द्वारा किसे देखे अर्थात् जाने—इस प्रकार शास्त्र भी प्रमाता-प्रमाणादि व्यवहारका प्रतिषेध करके ही उसका बोध कराता है, प्रतिपाद्य-प्रतिपादकरूप वाक्यके धर्मको स्वीकार करके नहीं। अतः शास्त्र भी उसका स्वर्ग एवं मेरु आदिके समान प्रतिपादन नहीं करता; क्योंकि वह तो प्रतिपादन करनेवालेका आत्मा ही है। प्रतिपादन करनेवालेका प्रतिपादन तो प्रतिपाद्यको विषय करनेवाला होता है और यह भेद होनेपर ही सम्भव है।

ज्ञानं च तस्मिन् परात्मभावनिवृत्तिरेव; न तस्मिन् साक्षादात्मभावः कर्तव्यः, विद्यमानत्वादात्मभावस्य; नित्यो हि आत्मभावः सर्वस्य, अतद्विषय इव प्रत्यवभासते; तस्मादतद्विषयाभासनिवृत्तिव्यतिरेकेण न तस्मिन्नात्मभावो विधीयते; अन्यात्मभावनिवृत्तौ, आत्मभावः स्वात्मनि

यहाँपर अर्थात् देहादि अनात्मवस्तुओंमें आरोपित आत्मभावकी निवृत्ति ही ब्रह्मविषयक ज्ञान है। उस (ब्रह्म) में साक्षात् आत्मभाव करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि आत्मभाव तो उसमें विद्यमान ही है। सबका ही ब्रह्मके साथ आत्मभाव नित्य सिद्ध है, केवल अज्ञानवश वह अब्रह्मविषयक-सा प्रतीत होता है; अतः अब्रह्मविषयक आत्मावभासकी निवृत्तिके सिवा उसमें आत्मभावका विधान नहीं किया जाता। 'अन्यात्मभावकी निवृत्ति हो जानेपर अपने आत्मामें

स्वाभाविको यः, स केवलो भवतीति—आत्मा ज्ञायत इत्युच्यते; स्वतश्चाप्रमेयः प्रमाणान्तरेण न विषयीक्रियते इति उभयमप्यविरुद्धमेव ।

जो स्वाभाविक आत्मभाव है, वह शुद्ध हो जाता है; इसलिये आत्मा जान लिया गया—ऐसा कहा जाता है; किंतु स्वयं वह अप्रमेय है—किसी भी अन्य प्रमाणका विषय नहीं होता; अतः उसका अप्रमेयत्व और ज्ञान दोनों विरुद्ध नहीं हैं ।

विरजो विगतरजः, रजो नाम धर्माधर्मादिमलम्, तद्रहित इत्येतत् । परः—परो व्यतिरिक्तः सूक्ष्मो व्यापी वा आकाशादपि अव्याकृताख्यात् । अजः—न जायते; जन्मप्रतिषेधाद् उत्तरेऽपि भावविकाराः प्रतिषिद्धाः, सर्वेषां जन्मादित्वात् । आत्मा, महान् परिमाणतो महत्तरः सर्वस्मात्, ध्रुवोऽविनाशी ॥ २० ॥

विरज—रजोहीन है, रज धर्म-अधर्मादिरूप मलको कहते हैं, उससे रहित है । 'आकाशात्परः'—अव्याकृतसंज्ञक जो आकाश है, उससे भी पर—व्यतिरिक्त—सूक्ष्म अथवा व्यापक है । अज—जन्म नहीं लेता; जन्मका प्रतिषेध करनेसे 'अस्ति वर्धते' आदि आगेके भावविकारोंका भी प्रतिषेध हो जाता है; क्योंकि सबका आरम्भ जन्मरूप भावविकारसे ही होता है । वह आत्मा है, महान् है—परिमाणमें सबसे बड़ा है तथा ध्रुव—अविनाशी है ॥ २० ॥

ब्रह्मनिष्ठामें अधिक शास्त्राभ्यास बाधक है

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति

बुद्धिमान् ब्राह्मणको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये । बहुत शब्दोंका अनुध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करे; वह तो वाणीका श्रम ही है ॥ २१ ॥

तमीदृशमात्मानमेव, धीरो धीमान् विज्ञाय उपदेशतः शास्त्रतश्च, प्रज्ञां शास्त्राचार्योपदिष्टविषयां जिज्ञासापरिसमाप्तिकरीम्, कुर्वीत ब्राह्मणः—एवं प्रज्ञाकरणसाधनानि संन्यासशमदमोपरमतितिक्षासमाधानानि कुर्यादित्यर्थः ।

धीर अर्थात् बुद्धिमान् ब्राह्मण उस ऐसे आत्माको ही आचार्यके उपदेश और शास्त्रसे जानकर, शास्त्र और आचार्यने जिसके विषयका उपदेश किया है तथा जो जिज्ञासाकी सर्वथा समाप्ति कर देनेवाली है, ऐसी प्रज्ञा (बुद्धि) करे । तात्पर्य यह है कि इस प्रकारकी प्रज्ञा उत्पन्न करनेके साधन संन्यास, शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधिका पालन करे ।

न अनुध्यायात्—नानुचिन्तयेत्, बहून् प्रभूतान् शब्दान्; तत्र बहुत्वप्रतिषेधात् केवलात्मैकत्वप्रतिपादकाः स्वल्पाः शब्दा अनुज्ञायन्ते, "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्" (मु० उ० २ । २ । ६) "अन्या वाचो विमुञ्चथ" (मु० उ० २ । २ । ५) इति च आथर्वणे । वाचो विग्लापनं विशेषेण ग्लानिकरं श्रमकरम्, हि यस्मात्, तद् बहुशब्दाभिध्यानमिति ॥२१॥

बहुत-से शब्दोंका अनुध्यान—अनुचिन्तन न करे । यहाँ बहुत्वका प्रतिषेध करनेसे केवल आत्माका एकत्व प्रतिपादन करनेवाले थोड़े-से शब्दोंके अनुशीलनके लिये अनुमति सूचित होती है । आथर्वणश्रुतिमें भी कहा है—"आत्माका ॐ इस प्रकार ध्यान करे", "अन्य वाणीका त्याग करो" इत्यादि । क्योंकि वह अधिक शब्दोंका अनुध्यान वाणीका विग्लापन—विशेषरूपसे ग्लानि करनेवाला अर्थात् श्रम उत्पन्न करनेवाला है ॥ २१ ॥

आत्माके स्वरूप, उसकी उपलब्धिके साधनभूत संन्यास और आत्मज्ञकी स्थितिका प्रतिपादन

सहेतुकौ बन्धमोक्षावभिहितौ मन्त्रब्राह्मणाभ्याम्; श्लोकैश्च पुन-

मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंके द्वारा बन्ध और मोक्षका कारणसहित निरूपण किया गया; फिर मन्त्रोंके

मोक्षस्वरूपं विस्तरेण प्रतिपादितम् । एवमेतस्मिन् आत्मविषये सर्वो वेदो यथोपयुक्तो भवति, तत्तथा वक्तव्यमिति तदर्थेयं कण्डिका आरभ्यते । तच्च यथा अस्मिन् प्रपाठकेऽभिहितं सप्रयोजनमनूद्य अत्रैवोपयोगः कृत्स्नस्य वेदस्य काम्यराशिवर्जितस्य—इत्येवमर्थं उक्तार्थानुवादः 'स वा एषः' इत्यादिः ।

द्वारा विस्तारसे मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया । इस प्रकार इस आत्मविषयमें जिस तरह सारा वेद उपयोगी होता है, उसे उसी प्रकार बतलाना है, अतः इसी प्रयोजनसे यह कण्डिका आरम्भ की जाती है । इस प्रपाठकमें सप्रयोजन (फलयुक्त) आत्मज्ञानका जिस प्रकार निरूपण किया गया है, उसी प्रकार उसका अनुवाद करके, काम्यवेदराशिको छोड़कर शेष सम्पूर्ण वेदका इसीमें उपयोग है—यह दिखानेके लिये, 'स वा एषः' इत्यादि मन्त्रमें उसका अनुवाद किया गया है—

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव

पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा, जो कि यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो यह हृदयमें आकाश है, उसमें शयन करता है। वह सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासन करनेवाला और सबका अधिपति है। वह शुभ कर्मसे बढ़ता नहीं और अशुभ कर्मसे छोटा नहीं होता। यह सर्वेश्वर है; यह भूतोंका अधिपति और भूतोंका पालन करनेवाला है। इन लोकोंकी मर्यादा भङ्ग न हो—इस प्रयोजनसे वह इनको धारण करनेवाला सेतु है। [उपनिषदोंमें जिसके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया गया है] उस इस आत्माको ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। इसीको जानकर मुनि होता है। इस आत्मलोककी ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर चले जाते (संन्यासी हो जाते) हैं। इस संन्यासमें कारण यह है—पूर्ववर्ती विद्वान् संतान [तथा सकाम कर्म आदि] की इच्छा नहीं करते थे। [वे सोचते थे—] हमें प्रजासे क्या लेना है? जिन हमको कि यह आत्मलोक अभीष्ट है। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते थे। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों एषणाएँ ही हैं। वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता, वह अशीर्य है, उसका नाश नहीं होता, असङ्ग है, वह कहीं आसक्त नहीं होता, बँधा नहीं है, इसलिये व्यथित नहीं होता तथा उसका क्षय नहीं होता। इस आत्मज्ञको ये दोनों (पाप-पुण्यसम्बन्धी शोक,

हर्ष) प्राप्त नहीं होते। अतः इस निमित्तसे मैंने पाप किया है [—ऐसा पश्चात्ताप] और इस निमित्तसे मैंने पुण्य किया है [ऐसा हर्ष]— इन दोनोंको ही वह पार कर जाता है। इसे किया हुआ और न किया हुआ नित्यकर्म [फलप्रदान और प्रत्यवायके द्वारा] ताप नहीं देता॥ २२॥

स इति उक्तपरामर्शार्थः कोऽसावुक्तः परामृश्यते ? तं प्रतिनिर्दिशति—य एष विज्ञानमय इति। अतीतानन्तरवाक्योक्तसंप्रत्ययो मा भूदिति, य एषः। कतम एषः ? इत्युच्यते— विज्ञानमयः प्राणेष्विति।

'सः' यह शब्द पूर्वोक्तके परामर्शके लिये है। वह पूर्वोक्त कौन है जिसका श्रुति परामर्श करती है ? 'य एष विज्ञानमयः' ऐसा कहकर श्रुति उसका प्रतिनिर्देश करती है। पूर्वोक्त मन्त्रके पहलेवाले[1] वाक्यमें कहे हुए आत्माको ही न समझ लिया जाय, इसलिये 'य एषः' (जो यह) ऐसा कहा है। यह कौन सा ? सो 'विज्ञानमयः प्राणेषु' इस वाक्यसे कहा जाता है।

उक्तवाक्योल्लिङ्गनं संशयनिवृत्त्यर्थम्, उक्तं हि पूर्वं जनकप्रश्नारम्भे 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (४। ३। ७) इत्यादि। एतदुक्तं भवति—योऽयम् 'विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादिना वाक्येन प्रतिपादितः स्वयंज्योतिरात्मा, स एष कामकर्माविद्यानामनात्मधर्मत्वप्रतिपादनद्वारेण

यहाँ पूर्वोक्त वाक्यका उल्लेख संशयनिवृत्तिके लिये है। पहले जनकके प्रश्नके आरम्भमें 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि कहा है। यहाँ कहना यह है कि 'विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि वाक्यसे जिस स्वयंज्योति आत्माका प्रतिपादन किया गया है, उस इस आत्माको 'काम, कर्म और अविद्या- ये अनात्माके धर्म हैं'

1. बीसवें मन्त्रके 'विरजः पर आकाशात्' इत्यादि वाक्यमें।

ओक्षितः, परमात्मभावमापादितः-पर एवायं नान्य इति; एष स साक्षान्महानज आत्मेत्युक्तः। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्विति यथाव्याख्यातार्थ एव।

य एषोऽन्तर्हृदये—हृदयपुण्डरीकमध्ये य एष आकाशो बुद्धिविज्ञानसंश्रयः, तस्मिन्नाकाशे बुद्धिविज्ञानसहिते शेते तिष्ठति; अथवा संप्रसादकाले अन्तर्हृदये य एष आकाशः पर एव आत्मा निरुपाधिको विज्ञानमयस्य स्वस्वभावः, तस्मिन् स्वस्वभावे परमात्मन्याकाशाख्ये शेते; चतुर्थे एतद् व्याख्यातम्—'क्वैष तदाभूत्' इत्यस्य प्रतिवचनत्वेन।

स च सर्वस्य ब्रह्मेन्द्रादेः, वशी सर्वो हि अस्य वशे वर्तते; उक्तं च—"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" (३।८।९) इति। न केवलं वशी, सर्वस्य ईशानः-ईशिता च ब्रह्मेन्द्रप्रभृतीनाम्। ईशितृत्वं च कदाचि-

ऐसा कहकर उन धर्मोंसे मुक्त कर दिया गया है और 'यह पर ही है अन्य नहीं है' ऐसा कहकर उसे परमात्मभावको प्राप्त करा दिया गया है; वही यह साक्षात् 'महान् अजन्मा आत्मा है' ऐसा कहा गया है। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, इसका अर्थ पूर्व व्याख्याके समान ही है।

'य एषोऽन्तर्हृदये'—हृदयकमलके भीतर जो यह बुद्धि-विज्ञानका आश्रयभूत आकाश है, उस बुद्धि-विज्ञानसहित आकाशमें यह शयन करता अर्थात् रहता है अथवा सुषुप्तिके समय जो यह हृदयके भीतर आकाश अर्थात् विज्ञानमयका स्वस्वरूप निरुपाधिक परमात्मा ही है, उस अपने स्वरूपभूत परमात्माकाशमें यह शयन करता है। [1]चतुर्थ प्रपाठकमें 'उस समय यह कहाँ था?' इस प्रश्नके उत्तररूपसे इसकी व्याख्या की जा चुकी है।

वही ब्रह्मा एवं इन्द्रादि सबका वशी है; सभी इसके वशमें रहते हैं। [हे गार्गि!] "इस अक्षरके ही प्रशासनमें" ऐसा कहा भी है। केवल वशी ही नहीं, ब्रह्मा एवं इन्द्रादि सबका ईशान—ईशन अर्थात् शासन करनेवाला भी है। ईशितृत्व

१. उपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें।

ज्जातिकृतम्—यथा राजकुमारस्य बलवत्तरानपि भृत्यान् प्रति, तद्वन्मा भूदित्याह—सर्वस्याधिपतिः—अधिष्ठाय पालयिता, स्वतन्त्र इत्यर्थः, न राजपुत्रवदमात्यादिभृत्यतन्त्रः।

त्रयमप्येतद् वशित्वादि हेतुहेतुमद्रूपम्—यस्मात् सर्वस्याधिपतिः, ततोऽसौ सर्वस्येशानः, यो हि यमधिष्ठाय पालयति, स तं प्रतीष्ट एवेति प्रसिद्धम्, यस्माच्च सर्वस्येशानः, तस्मात् सर्वस्य वशीति।

किं चान्यत्, स एवंभूतो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषो विज्ञानमयो न साधुना शास्त्रविहितेन कर्मणा भूयान् भवति, न वर्धते पूर्वावस्थातः केनचिद्धर्मेण, नो एव शास्त्रप्रतिषिद्धेन असाधुना कर्मणा कनीयान् अल्पतरो भवति, पूर्वावस्थातो न हीयत इत्यर्थः।

(शासकत्व) कभी-कभी जातिकृत भी होता है, जैसा कि राजकुमारका अपनेसे अधिक बलशाली सेवकोंके प्रति भी शासन है, परमात्माका शासकत्व वैसा न समझा जाय इसलिये श्रुति कहती है—सबका अधिपति—सबका अधिष्ठाता होकर पालन करनेवाला अर्थात् स्वतन्त्र है, राजकुमारके समान मन्त्री आदि सेवकोंके अधीन नहीं है।

ये वशित्वादि तीनों ही हेतुहेतुमद्रूप हैं।[1] क्योंकि यह सबका अधिपति है, इसलिये यह सबका ईशान है। जो जिसका अधिष्ठाता होकर पालन करता है, वह उसके प्रति ईशन करता ही है—यह प्रसिद्ध है। और चूँकि यह सबका ईशान है, इसलिये सबका वशी है।

इसके सिवा दूसरी बात यह है कि वह इस प्रकारका हृदयस्थित ज्योतिःस्वरूप विज्ञानमय पुरुष साधु अर्थात् शास्त्रविहित कर्मसे भूयान् नहीं होता। अपनी पूर्वावस्थाकी अपेक्षा किसी धर्मके कारण बढ़ नहीं जाता और न किसी असाधु अर्थात् शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्मसे कनीयान्—यानी बहुत छोटा ही होता है अर्थात् पूर्वावस्थासे हीन नहीं होता।

१. अर्थात् एकमें दूसरा हेतु है।

किं च सर्वो हि अधिष्ठानपालनादि कुर्वन् परानुग्रहपीडाकृतेन धर्माधर्माख्येन युज्यते, अस्यैव तु कथं तदभाव इत्युच्यते—यस्मादेष सर्वेश्वरः सन् कर्मणोऽप्यीशितुं भवत्येव शीलमस्य, तस्माद् न कर्मणा संबध्यते। किं च एष भूताधिपतिर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामधिपतिरित्युक्तार्थं पदम्।

इसके सिवा [यह देखा जाता है कि] अधिष्ठान और पालनादि करनेवाले सभी लोग दूसरोंपर कृपा या कठोरताके कारण धर्म या अधर्म संज्ञक उनके फलसे युक्त होते हैं, इस आत्माको ही वे फल क्यों नहीं प्राप्त होते? सो बतलाया जाता है—क्योंकि यह सबका ईश्वर है, अतः इसका स्वभाव कर्मका शासन करनेवाला भी है, इसलिये कर्मसे इसका सम्बन्ध नहीं होता। तथा यह भूताधिपति अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतोंका अधिपति है—इस प्रकार इस पदका अर्थ पहले कहा जा चुका है।

एष भूतानां तेषामेव पालयिता रक्षिता। एष सेतुः, किंविशिष्ट इत्याह—विधरणः—वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता, तदाह—एषां भूरादीनां ब्रह्मलोकान्तानां लोकानाम् असंभेदाय असंभिन्नमर्यादायै। परमेश्वरेण सेतुवद् विधार्यमाणा लोकाः संभिन्नमर्यादाः स्युः, अतो लोकानामसंभेदाय

उन्हीं भूतोंका यह पालयिता—रक्षा करनेवाला है यह सेतु है; किन विशेषणोंवाला सेतु है। सो श्रुति बतलाती है—विधरण अर्थात् वर्णाश्रमादि व्यवस्थाका विधारण करनेवाला; यही बात श्रुति कहती है—इन भूर्लोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकोंके असम्भेदके लिये अर्थात् मर्यादाका भेदन न होनेके लिये। यदि परमेश्वर सेतुके समान लोकोंका विधारण न करें तो उनकी मर्यादा टूट जाय। अतः लोकोंके

सेतुभूतोऽयं परमेश्वरः, यः स्वयं ज्योतिरात्मैव एवंवित् सर्वस्य वशी—इत्यादि ब्रह्मविद्यायाः फलमेतन्निर्दिष्टम् ।

असम्भेदके लिये यह परमेश्वर, जो कि स्वयंज्योति आत्मा ही है, सेतुस्वरूप है। इस प्रकार जाननेवाला वशी है—इत्यादि वाक्यसे यह ब्रह्मविद्याका फल ही दिखाया गया है।

'किंज्योतिरयं पुरुषः' इत्येवमादिषष्ठप्रपाठकविहितायामेतस्यां ब्रह्मविद्यायाम् एवंफलायां काम्यैकदेशवर्जितं कृत्स्नं कर्मकाण्डं तादर्थ्येन विनियुज्यते, तत् कथमित्युच्यते—तमेतम् एवंभूतमौपनिषदं पुरुषम्, वेदानुवचनेन मन्त्रब्राह्मणाध्ययनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणेन, विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति। के ? ब्राह्मणाः, ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम्, अविशिष्टो हि अधिकारः त्रयाणां वर्णानाम्। अथवा कर्मकाण्डेन मन्त्रब्राह्मणेन वेदानुवचनेन विविदिषन्ति, कथं विविदिषन्ति ? इत्युच्यते—यज्ञेनेत्यादि ।

'किंज्योतिरयं पुरुषः' इस प्रकार आरम्भ होनेवाले छठे [1]प्रपाठकमें विहित इस प्रकारके फलवाली ब्रह्मविद्यामें काम्यकर्मरूप एकदेशको छोड़कर शेष सारा कर्मकाण्ड ज्ञानोत्पत्तिके लिये उपयुक्त होता है; सो किस प्रकार। यह बतलाया जाता है—उस इस ऐसे औपनिषद पुरुषको वेदानुवचन अर्थात् नित्यस्वाध्यायरूप मन्त्र और ब्राह्मणभागके अध्ययनद्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। कौन ? ब्राह्मण; यहाँ ब्राह्मण शब्दका ग्रहण क्षत्रिय और वैश्यको भी उपलक्षित करानेके लिये है; क्योंकि इसमें तीनों ही वर्णोंका समान अधिकार है। अथवा कर्मकाण्डभूत मन्त्रब्राह्मणरूप वेदानुवचनके द्वारा उसे जाननेकी इच्छा करते हैं; किस प्रकार जाननेकी इच्छा करते हैं; सो 'यज्ञेन' इत्यादि वाक्यद्वारा कहा जाता है।

ये पुनर्मन्त्रब्राह्मणलक्षणेन वेदानुवचनेन प्रकाश्यमानं विवि-

किंतु जो ऐसी व्याख्या करते हैं कि मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेदानुवचनके द्वारा प्रकाशित होनेवाले ब्रह्मको

1. उपनिषद्के इस चतुर्थ अध्यायमें ।

दिषन्ति—इति व्याचक्षते, तेषाम् आरण्यकमात्रमेव वेदानुवचनं स्यात्, न हि कर्मकाण्डेन पर आत्मा प्रकाश्यते, "तं त्वौपनिषदम्" (३ । ९ । २६) इति विशेषश्रुतेः । वेदानुवचनेनेति च अविशेषितत्वात् समस्तग्राहि इदं वचनम्, न च तदेकदेशोत्सर्गो युक्तः ।

जाननेकी इच्छा करते हैं, उनके मतानुसार आरण्यकमात्र ही वेदानुवचन है; क्योंकि कर्मकाण्डद्वारा परमात्मा प्रकाशित नहीं होता; जैसा कि "उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ" ऐसी विशेष श्रुतिसे ज्ञात होता है । किंतु 'वेदानुवचनेन' यह पद विशेषणयुक्त न होनेके कारण समस्त वेदको ही ग्रहण करनेवाला है, उसके एक भागको छोड़ देना उचित नहीं है ।

ननु त्वत्पक्षेऽप्युपनिषद्वर्जमित्येकदेशत्वं स्यात्—

शङ्का—किंतु [दूसरी व्याख्याके अनुसार] तुम्हारे पक्षमें भी 'उपनिषद्को छोड़कर' इस प्रकार एकदेशत्व हो ही जाता है !

न, आद्यव्याख्याने अविरोधादस्मत्पक्षे नैष दोषो भवति। यदा वेदानुवचनशब्देन नित्यः स्वाध्यायो विधीयते, तदा उपनिषदपि गृहीतैवेति, वेदानुवचनशब्दार्थैकदेशो न परित्यक्तो भवति। यज्ञादिसहपाठाच्च—यज्ञादीनि कर्माण्येव अनुक्रमिष्यन् वेदानुवचनशब्दं प्रयुङ्क्ते; तस्मात् कर्मैव वेदानुवचनशब्देनोच्यत इति गम्यते; कर्म हि नित्यस्वाध्यायः ।

समाधान—नहीं, पहली व्याख्यामें ऐसा कोई विरोध न होनेके कारण हमारे पक्षमें यह दोष नहीं होता । जब कि वेदानुवचन शब्दसे नित्य स्वाध्यायका विधान किया गया है तो उसमें उपनिषद् भी आ ही गया; इस प्रकार वेदानुवचन शब्दके अर्थका एक देश नहीं छूटता । इसका यज्ञादिके साथ पाठ होनेसे भी यही सिद्ध होता है। श्रुति यज्ञादि कर्मोंका अनुक्रम करते हुए ही वेदानुवचन शब्दका प्रयोग करती है । इससे यह ज्ञात है कि वेदानुवचन शब्दसे कर्म ही कहा गया है क्योंकि नित्यस्वाध्याय तो कर्म ही है।

कथं पुनर्नित्यस्वाध्यायादिभिः कर्मभिरात्मानं विविदिषन्ति ? नैव हि तान्यात्मानं प्रकाशयन्ति, यथोपनिषदः ।

नैष दोषः, कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात्; कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम्; तथा ह्याथर्वणे—'विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु० उ० ३ । १ । ८) इति; स्मृतिश्च—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इत्यादि।

कथं पुनर्नित्यानि कर्माणि संस्कारार्थानीत्यवगम्यते ?

"स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदम् मेऽनेनाङ्गमुपधीयते" इत्यादिश्रुतेः सर्वेषु च स्मृतिशास्त्रेषु कर्माणि संस्कारार्थान्येव आचक्षते "अष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः" इत्यादिषु।

शङ्का—किंतु नित्यस्वाध्यायादि कर्मोंसे आत्माको जाननेकी इच्छा किस प्रकार करते हैं ? क्योंकि उपनिषदोंके समान वे तो आत्माको प्रकाशित ही नहीं करते ।

समाधान—यह दोष नहीं आ सकता; क्योंकि कर्म चित्तशुद्धिके कारण हैं। कर्मोंसे संस्कारयुक्त हुए विशुद्धचित्त पुरुष ही उपनिषत्प्रकाशित आत्माको बिना किसी रुकावटके जान सकते हैं। ऐसा ही "तब विशुद्धचित्त हुआ पुरुष ध्यान करके उस निष्कल आत्माको देखता है" इस आथर्वण श्रुतिसे भी सिद्ध होता है तथा "पापकर्मोंका क्षय हो जानेसे पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होता है" ऐसी स्मृति भी है।

शङ्का—किंतु नित्यकर्म चित्तशुद्धि करनेके लिये हैं—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—"वही आत्मयाजी है जो ऐसा जानता है कि इस कर्मसे मेरा यह अङ्ग संस्कारयुक्त होता है, इस कर्मसे मेरा यह अङ्ग योग्य होता है" इत्यादि श्रुतिसे यह जाना जाता है। "अड़तालीस संस्कार हैं" इत्यादि समस्त स्मृतिशास्त्रोंमें भी कर्मोंको चित्तशुद्धिके लिये ही बतलाया गया

गीतासु च—"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥" (१८।५) "सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥" (४।३०) इति । यज्ञेनेति—द्रव्ययज्ञा ज्ञानयज्ञाश्च संस्कारार्थाः; संस्कृतस्य च विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानोत्पत्तिरप्रतिबन्धेन भविष्यति; अतो यज्ञेन विविदिषन्ति ।

दानेन—दानमपि पापक्षयहेतुत्वाद् धर्मवृद्धिहेतुत्वाच्च । तपसा, तप इत्यविशेषेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्राप्तौ विशेषणम्—अनाशकेनेति; कामानशनमनाशकम्, न तु भोजननिवृत्तिः; भोजननिवृत्तौ म्रियत एव, न आत्मवेदनम् ।

वेदानुवचनयज्ञदानतपःशब्देन सर्वमेव नित्यं कर्म उपलक्ष्यते; एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं

है । गीता में भी—"यज्ञ, दान और तप—ये बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं" "यज्ञोंद्वारा जिनके पाप नष्ट हो गयें हैं—ऐसे ये सभी लोग यज्ञवेत्ता हैं" ऐसा कहा है । 'यज्ञेन' इस पदसे द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ लेने चाहिये, ये दोनों ही संस्कारके लिये हैं; संस्कारयुक्त विशुद्धचित्त पुरुषको ही बिना किसी प्रतिबन्धके ज्ञानोत्पत्ति होगी। इसीसे यज्ञद्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं ।

दानके द्वारा उसे जाननेकी इच्छा करते हैं, क्योंकि पापक्षयका कारण और धर्मवृद्धिका हेतु होनेके कारण दान भी ब्रह्मज्ञानका साधन है तथा तपके द्वारा, तपसे सामान्यतः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकी प्राप्ति होती है, इसलिये 'अनाशकेन' यह उसका विशेषण दिया जाता है; मनमाना भोजन न करना ही अनाशक तप है, भोजनका सर्वथा त्याग कर देना नहीं। भोजनको सर्वथा त्याग देनेपर तो पुरुष मर ही जाता है, इससे आत्मज्ञान नहीं होता ।

वेदानुवचन, यज्ञ, दान और तप—इन शब्दोंसे सारा ही नित्यकर्म उपलक्षित होता है। इस प्रकार काम्यकर्मरहित सम्पूर्ण नित्यकर्म

सर्वम् आत्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते; एवं कर्मकाण्डेनास्यैकवाक्यतावगतिः।

आत्मज्ञानकी उत्पत्तिके द्वारा मोक्षके साधन होते हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डसे इस (ज्ञानकाण्ड) की एकवाक्यता ज्ञात होती है।

एवं यथोक्तेन न्यायेनैतमेव आत्मानं विदित्वा यथाप्रकाशितम्, मुनिर्भवति, मननान्मुनिः—योगी भवतीत्यर्थः; एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, नान्यम्।

इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे ऊपर मन्त्र एवं ब्राह्मणद्वारा बतलाये हुए इस आत्माको ही जानकर मुनि होता है। तात्पर्य यह है कि मनन करनेके कारण मुनि यानी योगी हो जाता है। इसीको जानकर मुनि होता है, किसी औरको नहीं।

ननु अन्यवेदनेऽपि मुनित्वं स्यात्; कथमवधार्यते—एतमेवेति?

शङ्का—किंतु मुनि तो अन्य वस्तुको जाननेपर भी हो सकता है, फिर इसीको जानकर—इस प्रकार निश्चय क्यों किया जाता है?

बाढम् अन्यवेदनेऽपि मुनिर्भवेत्; किन्त्वन्यवेदने न मुनिरेव स्यात्, किं तर्हि? कर्म्यपि भवेत् सः; एतं त्वौपनिषदं पुरुषं विदित्वा मुनिरेव स्यात्; न तु कर्मी; अतोऽसाधारणं मुनित्वं विवक्षितमस्येत्यवधारयति—एतमेवेति। एतस्मिन् हि विदिते, केन कं पश्येदित्येवं क्रियासम्भवान्मननमेव स्यात्।

समाधान—ठीक है, दूसरेको जाननेपर भी मुनि हो सकता है, किंतु दूसरेको जाननेपर केवल मुनि ही नहीं होता, तो फिर क्या होता है? वह कर्मी भी होता है। किंतु इस औपनिषद पुरुषको जाननेपर तो मुनि ही होता है, कर्मी नहीं होता। अतः इसका असाधारण मुनित्व बतलाना अभीष्ट है, इसीसे 'एतमेव' (इसीको) इस प्रकार श्रुति निश्चय करती है; क्योंकि इसे जान लेनेपर 'किसके द्वारा किसे देखे?' इस श्रुतिके अनुसार क्रिया असम्भव हो जानेसे फिर मनन ही होगा।

किं च एतमेव आत्मानं स्वं लोकमिच्छन्तः प्रार्थयन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजनशीलाः प्रव्रजन्ति प्रकर्षेण व्रजन्ति, सर्वाणि कर्माणि संन्यस्यन्तीत्यर्थः ।

'एतमेव लोकमिच्छन्तः' इत्यवधारणान्न बाह्यलोकत्रयेप्सूनां पारिव्राज्येऽधिकार इति गम्यते; न हि गङ्गाद्वारं प्रतिपित्सुः काशीदेशनिवासी पूर्वाभिमुखः प्रैति । तस्माद् बाह्यलोकत्रयार्थिनां पुत्रकर्मापरब्रह्मविद्याःसाधनम्, "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा"[1] इत्यादिश्रुतेः । अतस्तदर्थिभिः पुत्रादिसाधनं प्रत्याख्याय, न पारिव्राज्यं प्रतिपत्तुं युक्तम्, अतत्साधनत्वात् पारिव्राज्यस्य । तस्मात् 'एत-

तथा इस आत्मा अर्थात् स्वलोककी इच्छा—प्रार्थना करनेवाले 'प्रव्राजी'—प्रव्रजनशील पुरुष प्रव्रजन—प्रकर्षसे व्रजन (गमन) करते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास (पूर्णतया त्याग) कर देते हैं ।

'इसी लोककी इच्छा करनेवाले' ऐसा निश्चय करनेसे जाना जाता है कि बाह्य तीनों लोकोंकी इच्छा करनेवालोंका संन्यासमें अधिकार नहीं है । गङ्गाद्वार (हरिद्वार) पहुँचनेकी इच्छावाला कोई काशीनिवासी पूर्वाभिमुख होकर नहीं जाता । अतः जिन्हें बाह्य तीनों लोकोंकी इच्छा है, उनके लिये पुत्र, कर्म और अपरब्रह्मविद्या साधन हैं, जैसा कि "यह लोक पुत्र द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, किसी और साधनसे नहीं" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः उनकी इच्छा रखनेवालोंको पुत्रादि साधनका परित्याग कर संन्यास ग्रहण करना उचित नहीं है; क्योंकि संन्यास उनका साधन नहीं है । अतः 'इसी

१. बृहदारण्यकमें इससे मिलती-जुलती श्रुति इस प्रकार है—'अयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' (१ । ५ । १६) ।

मेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति युक्तमवधारणम् ।

आत्मलोकप्राप्तिर्हि अविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानमेव, तस्मादात्मानं चेल्लोकमिच्छति यः, तस्य सर्वक्रियोपरम एव आत्मलोकसाधनं मुख्यमन्तरङ्गम्, यथा पुत्रादिरेव बाह्यलोकत्रयस्य । पुत्रादिकर्मण आत्मलोकं प्रति असाधनत्वात् । असंभवेन च विरुद्धत्वमवोचाम । तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्त्येव, सर्वक्रियाभ्यो निवर्तेरन्नेवेत्यर्थः । यथा च बाह्यलोकत्रयार्थिनः प्रति नियतानि पुत्रादीनि साधनानि विहितानि, एवमात्मलोकार्थिनः सर्वैषणानिवृत्तिः पारिव्राज्यं ब्रह्मविदो विधीयत एव ।

लोककी इच्छा करनेवाले संन्यास करते हैं' ऐसा निश्चय करना ठीक ही है ।

अविद्याकी निवृत्ति होनेपर स्वात्मामें स्थित होना ही आत्मलोककी प्राप्ति है, अतः जिसे आत्मलोककी ही इच्छा है, उसके लिये सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरत होना ही आत्मलोकका मुख्य एवं अन्तरङ्ग साधन है, जिस प्रकार कि बाह्य तीनों लोकोंका साधन पुत्रादि ही हैं । पुत्रादि कर्म आत्मलोकके साधन नहीं हैं तथा पुत्रादि कर्म और संन्यास दोनोंका एक साथ होना असम्भव है—इसलिये हम इन्हें परस्परविरुद्ध बतलाते हैं । अतः आत्मलोककी इच्छा करनेवाले परिव्राजक हो ही जायँ, अर्थात् उन्हें सम्पूर्ण क्रियाओंसे निवृत्त हो ही जाना चाहिये । जिस प्रकार बाह्य तीनों लोकोंकी इच्छावालोंके लिये पुत्रादि नियत साधनोंका विधान किया गया है, इसी प्रकार आत्मलोकके इच्छुक ब्रह्मवेत्ताके लिये सम्पूर्ण एषणाओंकी निवृत्तिरूप पारिव्राज्य (संन्यास) का विधान है ही ।

कुतः पुनस्ते आत्मलोकार्थिनः प्रव्रजन्त्येवेत्युच्यते; तत्र अर्थवादवाक्यरूपेण हेतुं दर्शयति—एतद्ध स्म वै तत्। तदेतत् पारिव्राज्ये कारणमुच्यते—ह स्म वै किल पूर्वे अतिक्रान्तकालीना विद्वांसः—आत्मज्ञाः, प्रजां कर्म अपरब्रह्मविद्यां च; प्रजोपलक्षितं हि त्रयमेतद् बाह्यलोकत्रयसाधनं निर्दिश्यते 'प्रजाम्' इति। प्रजां किम्? न कामयन्ते, पुत्रादिलोकत्रयसाधनं न अनुतिष्ठन्तीत्यर्थः।

ननु अपरब्रह्मदर्शनमनुतिष्ठन्त्येव, तद्बलाद्धि व्युत्थानम्।

न, अपवादात्; "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" (२।४।६) "सर्वं तं परादात्—" (२।४।६) इति अपरब्रह्मदर्शनमप्यपवदत्येव, अपर-

किंतु वे आत्मलोकके इच्छुक पुरुष संन्यास करते ही हैं ऐसा क्यों कहा जाता है? इसमें श्रुति अर्थवादवाक्यरूपसे हेतु दिखलाती है—"एतद्ध स्म वै तत्"—उस पारिव्राज्यमें यह कारण बतलाया जाता है—प्रसिद्ध है कि पूर्व अर्थात् भूतकालीन विद्वान् आत्मज्ञ प्रजा, कर्म और अपरब्रह्मविद्याकी [कामना नहीं करते]—'प्रजाम्' इस पदसे यहाँ इहलोक, पितृलोक और देवलोक—इन तीनों लोकोंके तीनों साधनोंका, जिनको 'प्रजा' शब्दसे उपलक्षित किया है, निर्देश किया जाता है। प्रजाका क्या करते हैं? उसकी कामना नहीं करते। अर्थात् बाह्य लोकत्रयके पुत्रादि साधनोंका अनुष्ठान नहीं करते।

शङ्का—किंतु अपरब्रह्मोपासनाका अनुष्ठान तो करते ही हैं, क्योंकि उसीके बलसे व्युत्थान होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि उसका तो अपवाद किया गया है। "जो आत्मासे ब्रह्मको पृथक् जानता है, ब्रह्म उसको परास्त कर देता है" "[जो सर्वको आत्मासे पृथक् जानता है] सर्व उसको परास्त कर देता है" इस प्रकार श्रुति अपरब्रह्मदर्शनका भी अपवाद ही करती है; क्योंकि

ब्रह्मणोऽपि सर्वमभ्यान्तर्भावात्; "यत्र नान्यत्पश्यति" (छा० उ० ७ । २८) इति च; पूर्वापरबाह्यान्तरदर्शनप्रतिषेधाच्च "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इति; "तत्केन कं पश्येत् ... विजानीयात्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इति च; तस्मान्न आत्मदर्शनव्यतिरेकेण अन्यद् व्युत्थानकारणमपेक्षते ।

अपरब्रह्मका भी सर्वके भीतर ही अन्तर्भाव है । "जहाँ अन्यको नहीं देखता" ऐसा भी कहा ही है । तथा "ब्रह्म अपूर्व, अनपर, अनन्तर और अबाह्य है" इस प्रकार ब्रह्ममें पूर्व, अपर, बाह्य एवं अन्तर दृष्टियोंका भी प्रतिषेध किया ही है और "उस समय किसके द्वारा किसे जाने ?" ऐसा भी कहा ही है । अतः आत्मदर्शनके सिवा व्युत्थानके किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं है ।

कः पुनस्तेषामभिप्रायः ? इत्युच्यते — किं प्रयोजनं फलं साध्यं करिष्यामः प्रजया साधनेन; प्रजा हि बाह्यलोकसाधनं निर्ज्ञाता; स च बाह्यलोको नास्त्यस्माकमात्मव्यतिरिक्तः; सर्वं हि अस्माकमात्मभूतमेव, सर्वस्य च वयमात्मभूताः । आत्मा च नः आत्मत्वादेव न केनचित् साधनेनोत्पाद्य आप्यो विकार्यः संस्कार्यो वा ।

तो फिर [व्युत्थान करनेमें] उनका क्या अभिप्राय होता है ? सो बतलाया जाता है । हम प्रजारूप साधनसे किस प्रयोजन—फल अर्थात् साध्यका सम्पादन करेंगे ? प्रजा तो बाह्यलोकका साधन समझी गयी है और वह बाह्यलोक हमारे लिये आत्मासे भिन्न नहीं है; हमारे लिये तो सब आत्मस्वरूप ही है और हम भी सबके आत्मस्वरूप ही हैं तथा हमारा आत्मा भी आत्मा होनेके कारण ही किसी साधनसे उत्पाद्य, आप्य, विकार्य अथवा संस्कार्य नहीं है ।



यदप्यात्मयाजिनः संस्कारार्थं कर्मेति, तदपि कार्यकरणात्म-दर्शनविषयमेव, इदं मे अनेन अङ्गं संस्क्रियते—इत्यङ्गाङ्गित्वादिश्रवणात्, न हि विज्ञानघनैकरसनैरन्तर्यदर्शिनोऽङ्गाङ्गिसंस्कारोपधानदर्शनं संभवति। तस्मान्न किञ्चित् प्रजादिसाधनैः करिष्यामः; अविदुषां हि तत् प्रजादिसाधनैः कर्तव्यं फलम्; न हि मृगतृष्णिकायामुदकपानाय तदुदकदर्शी प्रवृत्त इति तत्र ऊषरमात्रमुदकाभावं पश्यतोऽपि प्रवृत्तिर्युक्ता; एवमस्माकमपि परमार्थात्मलोकदर्शिनां प्रजादिसाधनसाध्ये मृगतृष्णिकादिसमेऽविद्वद्दर्शनविषये न प्रवृत्तिर्युक्तेत्यभिप्रायः।

और ऐसा जो कहा है कि कर्म आत्मयाजीके सँस्कारके लिये है, वह भी देह और इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धि करनेको लक्ष्य करके ही है; क्योंकि इसके द्वारा मेरे इस अङ्गका संस्कार होता है—इस प्रकार श्रुतिसे उसमें अङ्गाङ्गित्व-भाव ज्ञात होता है। जो निरन्तर एक विज्ञानघनरसस्वरूपको ही देखता है, उसके लिये अङ्गाङ्गिसंस्कारोंका अवलम्ब देखना सम्भव नहीं है, इसलिये प्रजादि साधनोंसे हम कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध करेंगे। जो अविद्वान् हैं, उन्हें ही उन प्रजादि साधनोंसे फल प्राप्त करना है। मृगतृष्णामें जल देखनेवाला जलपानके लिये उसकी ओर जाता है, इसलिये उसे ऊसरमात्र और उसमें जलका अभाव देखनेवालेकी भी प्रवृत्ति होनी ही चाहिये—ऐसी बात नहीं है। इसलिये जो अज्ञानियोंकी दृष्टिका विषय और मृगतृष्णादिके समान है, उस प्रजादिसाधनसे साध्य फलमें हम परमार्थ आत्मलोकदर्शियोंकी भी प्रवृत्ति होनी उचित नहीं है—ऐसा इसका अभिप्राय है।

तदेतदुच्यते—येषामस्माकं परमार्थदर्शिनां नः, अयमात्मा अशनायादिविनिर्मुक्तः साध्वसाधुभ्यामविकार्योऽयं लोकः फलमभिप्रेतम्; न चास्यात्मनः साध्यसाधनादिसर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तस्य साधनं किञ्चिदेषितव्यम्; साध्यस्य हि साधनान्वेषणा क्रियते; असाध्यस्य साधनान्वेषणायां हि, जलबुद्ध्या स्थल इव तरणं कृतं स्यात्, खे वा शाकुनपदान्वेषणम्। तस्मादेतमात्मानं विदित्वा प्रव्रजेयुरेव ब्राह्मणाः, न कर्म आरभेरन्नित्यर्थः; यस्मात् पूर्वे ब्राह्मणा एवं विद्वांसः प्रजामकामयमानाः।

वही बात यहाँ बतलायी जाती है—जिन हम परमार्थदर्शियोंको यह क्षुधादिधर्मसे रहित तथा शुभाशुभ कर्मसे अविकार्य आत्मलोकरूप फल अभिप्रेत है; साध्यसाधनादि सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित इस आत्माको किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं है; जो साध्य होता है, उसीके साधनकी खोज की जाती है, असाध्यके साधनकी खोज करनेमें तो मानो जलबुद्धिसे स्थलमें तैरना है अथवा आकाशमें पक्षीके पदोंकी खोज करना है। अतः इस आत्माको जानकर ब्राह्मणलोग सब कुछ त्याग कर चले जायँ (संन्यासी हो जायँ), किसी कर्मका आरम्भ न करें—ऐसा इसका तात्पर्य है; क्योंकि इस प्रकार जाननेवाले पूर्ववर्ती ब्राह्मण भी प्रजाकी इच्छा करनेवाले नहीं थे।

त एवं साध्यसाधनसंव्यवहारं निन्दन्तः 'अविद्वद्विषयोऽयम्' इति कृत्वा, किं कृतवन्तः? इत्युच्यते—'ते ह स्म किल पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्यादि व्याख्यातम्।

वे इस प्रकार साध्यसाधनरूप व्यवहारकी निन्दा करते हुए 'यह सब अज्ञानियोंका विषय है' ऐसा सोचकर, क्या करते थे? सो बतलाया जाता है—'वे निश्चय ही पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे पृथक् होकर भिक्षाचर्या करते थे, इस प्रकार इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है।

तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुः—इत्येष विधिरर्थवादेन संगच्छते; न हि सार्थवादस्य अस्य लोकस्तुत्याभिमुख्यमुपपद्यते; प्रव्रजन्तीत्यस्यार्थवादरूपो हि 'एतद्ध स्म' इत्यादिरुत्तरो ग्रन्थः। अर्थवादश्चेत्, नार्थवादान्तरमपेक्षेत; अपेक्षते तु 'एतद्ध स्म' इत्याद्यर्थवादं 'प्रव्रजन्ति' इत्येतत्।

इसलिये आत्मलोककी इच्छा करनेवाले प्रव्रजन करें—संन्यासी हो जायँ—इस प्रकार वह विधि अर्थवादसे संगत होती है। इस अर्थवादसहित विधि-वाक्यका आत्मलोककी स्तुतिके लिये होना सम्भव नहीं है; 'प्रव्रजन्ति' इस विधि-वचनका अर्थवादरूप 'एतद्ध स्म' इत्यादि आगेका ग्रन्थ है। यदि 'प्रव्रजन्ति' यह वचन भी अर्थवाद ही होता तो इसे दूसरे अर्थवादकी अपेक्षा नहीं हो सकती थी। किंतु 'प्रव्रजन्ति' इस ग्रन्थको 'एतद्ध स्म' इत्यादि अर्थवादकी अपेक्षा है ही।

यस्मात् पूर्वे विद्वांसः प्रजादिकर्मभ्यो निवृत्ताः प्रव्रजितवन्त एव, तस्मादधुनातना अपि प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुः—इत्येवं संबध्यमानं न लोकस्तुत्यभिमुखं भवितुमर्हति; विज्ञानसमानकर्तृकत्वोपदेशादित्यादिना अवोचाम।

क्योंकि प्रजादि कर्मोंसे निवृत्त हुए पूर्ववर्ती विद्वान् प्रव्रजित हुए ही थे, इसलिये आधुनिक ब्रह्मवेत्ता भी प्रव्रजन्ति अर्थात् प्रव्रजन (संन्यास) करें, इस प्रकार सम्बन्ध रखनेवाला वाक्य आत्मलोककी स्तुतिके लिये होना सम्भव नहीं है, क्योंकि विज्ञान और व्युत्थानका एक ही कर्ता है—ऐसा श्रुतिका उपदेश है—इत्यादि कथनसे हम यह बात पहले कह चुके हैं।

वेदानुवचनादिसहपाठाच्च, यथात्मवेदनसाधनत्वेन विहितानां वेदानुवचनादीनां यथार्थत्वमेव, नार्थवादत्वम्, तथा तैरेव

वेदानुवचनादिके साथ इसका पाठ होनेसे भी यह स्तुत्यर्थक नहीं हो सकता; जिस प्रकार आत्मज्ञानके साधनरूपसे विहित वेदानुवचनादि यथार्थ हैं—अर्थवाद नहीं हैं, उसी

सह पठितस्य पारिव्राज्यस्य आत्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनार्थवादत्वमयुक्तम् ।

फलविभागोपदेशाच्च; 'एतमेवात्मानं लोकं विदित्वा' इति अन्यस्माद् बाह्याद् लोकादात्मानं फलान्तरत्वेन प्रविभजति, यथा "पुत्रेणैवायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोकः" (१ । ५ । १६) इति ।

न च प्रव्रजन्तीत्येतत् प्राप्तवादकस्तुतिपरम्, प्रधानवच्चार्थ-

प्रकार उनके साथ ही पढ़े गये पारिव्राज्य (संन्यास) का भी आत्मलोककी प्राप्तिका साधन होनेके कारण अर्थवाद होना उचित नहीं है ।

फलविभागका उपदेश दिये जानेके कारण भी यह स्तुत्यर्थक नहीं है । 'इस आत्मलोकको ही जानकर' इस वाक्यसे श्रुति अन्य लोकोंसे आत्माका फलान्तररूपसे विभाग करती है, जिस प्रकार कि "यह लोक पुत्रसे ही प्राप्तव्य है, किसी अन्य कर्मसे नहीं तथा कर्मसे पितृलोक प्राप्तव्य है" इस वाक्यद्वारा पुत्रादि साधनोंका फलविभाग किया गया है ।

इसके सिवा प्रमाणान्तरसे प्राप्त [वायु आदि] के समान भी 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य स्तुतिपरक (अर्थवाद[1]) नहीं हो सकता । तथा अन्य प्रधान कर्मोंके समान इसे

१. अर्थवाद तीन तरहके होते हैं—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद । जहाँ अन्य प्रमाणोंसे विरोध हो वह गुणवाद कहलाता है । जैसे 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्य यहाँ यूप (पशु बाँधनेके लिये स्थापित काष्ठ) को सूर्य कहा है, जो प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है । इसी प्रकार जो अन्य प्रमाणोंद्वारा ज्ञात अर्थका बोध करानेवाला है, उसे अनुवाद कहते हैं । जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि शीतकी दवा है) इत्यादि । अग्निसे शीतका कष्ट दूर होना प्रत्यक्ष है । इसके सिवा जो अन्य प्रमाणोंसे न तो ज्ञात हो और न विरुद्ध ही हो, उस अर्थका बोधक वाक्य भूतार्थवाद कहलाता है । जैसे 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेके लिये वज्र उठाया) इत्यादि ।

वादापेक्षम्, सकृच्छ्रुतं स्यात्; तस्माद् भ्रान्तिरेवैषा—लोकस्तुतिपरमिति।

अर्थवादकी अपेक्षा भी है।[1] यदि इसका श्रुतिमें एक ही बार श्रवण होता तो यह अविवक्षित एवं स्तुतिपरक माना जाता, पर इसका तो अनेकों बार श्रवण हुआ है। अतः यह आत्मलोककी स्तुतिके लिये है—ऐसा विचार भ्रान्ति ही है।

न च अनुष्ठेयेन पारिव्राज्येन स्तुतिरुपपद्यते। यदि पारिव्राज्यमनुष्ठेयमपि सदन्यस्तुत्यर्थं स्यात्, दर्शपूर्णमासादीनामप्यनुष्ठेयानां स्तुत्यर्थता स्यात्। न चान्यत्र कर्तव्यतैतस्माद् विषयान्निर्ज्ञाता, यत इह स्तुत्यर्थो भवेद्। यदि पुनः क्वचिद् विधिः

अनुष्ठान करने योग्य पारिव्राज्यसे किसीकी स्तुति नहीं हो सकती। यदि अनुष्ठानके योग्य होकर भी पारिव्राज्य दूसरेकी स्तुतिके लिये हो सकता है, तो दर्श-पूर्णमासादि अनुष्ठेय कर्म भी स्तुतिके लिये ही सिद्ध होंगे। इस आत्मज्ञानरूप विषयको छोड़कर और कहीं इसकी कर्तव्यता नहीं ज्ञात हुई, जिससे कि यहाँ यह स्तुत्यर्थक हो। यदि कहीं पारिव्राज्य

'प्रव्रजन्ति' में किसी भी प्रकारके अर्थवादकी सम्भावना नहीं है। इसीका यहाँ बार बार समर्थन किया गया है। 'प्रमाणान्तरसे प्राप्तके समान' ऐसा कहकर यहाँ अनुवादरूप अर्थवादका खण्डन किया गया है। जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्र चलनेवाला देवता है) यह एक वाक्य है। वायुका शीघ्रगामी होना प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है। अतः यह अनुवादमात्र होनेके कारण अर्थवाद है। परंतु उसके समान 'प्रव्रजन्ति' (संन्यास लेते हैं) यह वचन किसीकी स्तुति करनेवाला नहीं है; क्योंकि यह अन्य प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं है।

१. इसके सिवा जो प्रधान कर्म होते हैं, उन्हींकी फलादिके द्वारा स्तुति की जाती है, वे स्वयं किसीकी स्तुति नहीं होते; जैसे दर्श-पूर्णमासादि प्रधान कर्मोंकी उनके फल स्वर्गप्राप्ति आदिसे स्तुति की जाती है, उसी प्रकार पारिव्राज्यकी भी आत्मलोकप्राप्तिद्वारा स्तुति की गयी है और यह स्वयं किसीकी स्तुति नहीं करता। इससे भी इसका अर्थवाद होना सम्भव नहीं है।

परिकल्प्येत पारिव्राज्यस्य, स इहैव मुख्यो नान्यत्र संभवति । यदप्यनधिकृतविषये पारिव्राज्यं परिकल्प्यते, तत्र वृक्षाद्यारोहणाद्यपि पारिव्राज्यवत् कल्प्येत, कर्तव्यत्वेनानिर्ज्ञातत्वाविशेषात् । तस्मात् स्तुतित्वगन्धोऽप्यत्र न शक्यः कल्पयितुम् ।

यद्ययमात्मा लोक इष्यते, किमर्थं तत्प्राप्तिसाधनत्वेन कर्माण्येव नारभेरन्, किं पारिव्राज्येनेति ?

अत्रोच्यते—अस्य आत्मलोकस्य कर्मभिरसंबन्धात् । यमात्मानमिच्छन्तः प्रव्रजेयुः, स आत्मा साधनत्वेन फलत्वेन च उत्पाद्यत्वादिप्रकाराणामन्यतमत्वेनापि कर्मभिर्न संबध्यते;

(संन्यास) की विधिकी कल्पना की जाय, तो यहीं मुख्य विधि होगी। उसका अन्यत्र होना सम्भव नहीं है। यदि [कर्मके] अनधिकारीके विषयमें पारिव्राज्यकी कल्पना की जाय, तो उसके लिये तो पारिव्राज्यके समान वृक्ष आदिपर चढ़ने आदिकी भी कल्पना की जा सकती है; क्योंकि कर्तव्यरूपसे ज्ञात न होनेमें दोनों समान हैं।[1] अतः इस वाक्यके स्तुतिरूप होनेकी लेशमात्र भी कल्पना नहीं की जा सकती।

शङ्का—यदि आत्मरूप लोककी इच्छा की जाती है, तो उसकी प्राप्तिके साधनरूपसे कर्मोंका ही आरम्भ क्यों नहीं करते, पारिव्राज्यसे क्या प्रयोजन है ?

समाधान-इसपर हमारा यह कथन है कि इस आत्मलोकका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध न होनेके कारण इसके लिये कर्मोंका आरम्भ नहीं किया जाता है। लोग जिस आत्माकी इच्छा करते हुए संन्यास करें, उस आत्माका साधनरूपसे, फलरूपसे अथवा उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य, विकार्य—इन चार प्रकारोंमेंसे किसी भी एक रूपसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध

१. अर्थात् अनधिकारीके लिये न तो संन्यास ही कर्तव्य बताया गया है और न वृक्ष आदिपर चढ़ना आदि ही।

तस्मात् 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते'—इत्यादिलक्षणः ।

यस्मादेवंलक्षण आत्मा कर्मफलसाधनासम्बन्धीसर्वसंसारधर्मविलक्षणः, अशनायाद्यतीतः, अस्थूलादिधर्मवान्, अजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः सैन्धवघनवद्विज्ञानैकरसस्वभावः स्वयंज्योतिरेक एवाद्वयः, अपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः—इत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्थापितम्, विशेषतश्चेह जनकयाज्ञवल्क्यसंवादेऽस्मिन्; तस्मादेवंलक्षणे आत्मनि विदिते आत्मत्वेन नैव कर्मारम्भ उपपद्यते। तस्मादात्मा निर्विशेषः ।

न हि चक्षुष्मान् पथि प्रवृत्तोऽहनि कूपे कण्टके वा पतति; कृत्स्नस्य च कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात्; न चायत्नप्राप्ये

नहीं होता । अतः 'वह नेति-नेति इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं किया जाता'-इत्यादि वचनोंसे बताये हुए लक्षणवाला है ।

क्योंकि ऐसे लक्षणवाला आत्मा कर्मके फल या साधनसे असम्बद्ध सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे विलक्षण क्षुधादि धर्मोंसे अतीत, अस्थूलत्व आदि धर्मोंसे युक्त, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय, लवणखण्डके समान एकमात्र विज्ञानरसस्वरूप, स्वयंज्योति, एकमात्र, अद्वितीय, अपूर्व, अनपर, (जिससे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट तत्त्व नहीं हो) अनन्तर और अबाह्य है—ऐसा आगम और तर्कद्वारा निश्चय किया गया है और विशेषतः यहाँ इस जनक-याज्ञवल्क्यसंवादमें इसका निरूपण किया गया है; अतः ऐसे लक्षणोंवाले आत्माको आत्मस्वरूपसे जान लेनेपर कर्मका आरम्भ होना सम्भव नहीं है । इसलिये आत्मा निर्विशेष है ।

कोई भी नेत्रवाला दिनके समय मार्गमें चलता हुआ कूएँ या काँटोंमें नहीं गिरता; और कर्मके भी सारे फलका ज्ञानके फलमें ही अन्तर्भाव हो जाता है; तथा जो वस्तु बिना प्रयत्नके ही प्राप्त हो सकती है, उसके

वस्तुनि विद्वान् यत्नमातिष्ठति। 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्। इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥' "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" (४। ३३) इति गीतासु। इहापि चैतस्यैव परमानन्दस्य। ब्रह्मवित्प्राप्यस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीत्युक्तम्। अतो ब्रह्मविदां न कर्मारम्भः।

लिये समझदार व्यक्ति प्रयत्न भी नहीं करता। जैसा कि कहा है—"यदि अपने पास ही शहद मिल जाय तो फिर पर्वतपर किसलिये जाय? अपने अभीष्ट पदार्थके मिल जानेपर कौन समझदार उसके लिये प्रयास कर सकता है?" तथा गीतामें कहा है—"हे पार्थ! सारा-का सारा कर्म ज्ञानमें पूर्णतया समाप्त हो जाता है।" यहाँ भी यही कहा है कि ब्रह्मवेत्ताके प्राप्त करने योग्य इसी परमानन्दके अंशके ही सहारे दूसरे समस्त भूत जीवित रहते हैं। अतः ब्रह्मवेत्ताओंके लिये कर्मके आरम्भकी आवश्यकता नहीं है।

यस्मात् सर्वैषणाविनिवृत्तः स एष नेति नेत्यात्मानमात्मत्वेनोपगम्य तद्रूपेणैव वर्तते, तस्माद् एतमेवंविदं नेति नेत्यात्मभूतम्, उ ह एव एते वक्ष्यमाणे न तरतो न प्राप्नुतः—इति युक्तमेवेति वाक्यशेषः। के ते? इत्युच्यते—'अतोऽस्मान्निमित्तात् शरीरधारणादिहेतोः पापम्

क्योंकि सम्पूर्ण इच्छाओंसे निवृत्त होकर 'वह यह आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है' इस प्रकारके आत्माको आत्मरूपसे जानकर तद्रूपसे ही विद्यमान रहता है, अतः इस प्रकार जाननेवाले इस 'नेति-नेति' आत्मस्वरूप हुए पुरुषको ये आगे बतलाये जानेवाले दोनों प्राप्त नहीं होते, सो उचित ही है—इस प्रकार 'इति' शब्दके आगे 'युक्तमेव' यह वाक्यशेष है। वे [प्राप्त न होनेवाले] दो क्या हैं, सो बतलाया जाता है—[पहली बात यह है कि] 'अतः' अर्थात् इस निमित्तसे यानी शरीरधारणादिके

अपुण्यं कर्म अकरवं कृतवानस्मि, कष्टं खलु मम वृत्तम्, अनेन पापेन कर्मणा अहं नरकं प्रतिपत्स्ये'—इति योऽयं पश्चात् पापं कर्म कृतवतः—परितापः स एनं नेति नेत्यात्मभूतं न तरति।

तथा—'अतः कल्याणं फलविषयकामान्निमित्ताद् यज्ञदानादिलक्षणं पुण्यं शोभनं कर्म कृतवानस्मि, अतोऽहमस्य फलं सुखमुपभोक्ष्ये देहान्तरे' इत्येषोऽपि हर्षस्तं न तरति। उभे उ ह एव एष ब्रह्मविदेते कर्मणी तरति पुण्यपापलक्षणे। एवं ब्रह्मविदः संन्यासिन उभे अपि कर्मणी क्षीयते—पूर्वजन्मनि कृते ये ते, इह जन्मनि कृते ये ते च; अपूर्वे च नारभ्येते।

किं च नैनं कृताकृते—कृतं नित्यानुष्ठानम्, अकृतं तस्यैव अक्रिया, ते अपि कृताकृते एनं

कारण मैंने पाप—अपुण्य कर्म किया, यह मेरे लिये बड़े ही क्लेशका कारण हुआ, इस पापकर्मके कारण मैं नरकको प्राप्त होऊँगा'—इस प्रकार जिसने पापकर्म किया है, उस पुरुषका जो यह पश्चात्ताप है, वह इस 'नेति-नेति' इस श्रुतिसे वर्णित आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए पुरुषको नहीं प्राप्त होता।

इसी प्रकार [दूसरी बात यह है—] 'अतः—इस फलविषयक कामनारूप निमित्तसे मैंने कल्याण—यज्ञ-दानादिरूप पुण्य अर्थात् शुभ कर्म किया है, इसलिये मैं दूसरे शरीरमें इसका फलरूप सुख भोगूँगा'—इस प्रकारका हर्ष भी उसे नहीं प्राप्त होता। यह ब्रह्मवेत्ता इन पाप-पुण्यरूप दोनों ही प्रकारके कर्मोंसे पार हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता संन्यासीके जो पूर्वजन्ममें किये होते हैं, वे और जो इस जन्ममें किये होते हैं वे—दोनों ही प्रकारके कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा नये कर्मोंका भी आरम्भ नहीं होता।

इसी प्रकार इसे कृत और अकृत—कृत नित्यानुष्ठानको कहते हैं और अकृत उसे न करनेको—वे कृत

न तपतः; अनात्मज्ञं हि कृतं फलदानेन, अकृतं प्रत्यवायोत्पादनेन तपतः। अयं तु ब्रह्मविदु आत्मविद्याग्निना सर्वाणि कर्माणि भस्मीकरोति, "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" (गीता ४।३७) इत्यादिस्मृतेः; शरीरारम्भकयोस्तु उपभोगेनैव क्षयः। अतो ब्रह्मविदकर्मसम्बन्धी ॥२२॥

और अकृत भी इसे ताप नहीं पहुँचाते। जो अनात्मज्ञ है, उसे ही कृत तो फलप्रदानके द्वारा और अकृत प्रत्यवाय उत्पन्न करके ताप पहुँचाते हैं। यह ब्रह्मवेत्ता तो आत्मज्ञानरूप अग्निसे सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देता है, जैसा कि "जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्म कर देता है" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है। जो [प्रारब्धरूपसे] नूतन शरीरकी उत्पत्ति करानेवाले पाप-पुण्य कर्म होते हैं, उनका तो उपभोगसे ही क्षय होता है, इसलिये ब्रह्मवेत्ताका कर्मसे सम्बन्ध नहीं है ॥ २२ ॥

ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति और याज्ञवल्क्यके प्रति जनकका आत्मसमर्पण

तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥



यही बात ऋचाद्वारा कही गयी है—यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य महिमा है, जो कर्मसे न तो बढ़ती है और न घटती ही है। उस महिमाके ही स्वरूपको जाननेवाला होना चाहिये, उसे जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता। अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है, सभीको आत्मा देखता है। उसे [पुण्य पापरूप] पापकी प्राप्ति नहीं होती, यह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है। इसे पाप ताप नहीं पहुँचाता, यह सारे पापोंको संतप्त करता है। यह पापरहित, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है, तुम इसे पहुँचा दिये गये हो—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। [तब जनकने कहा—] 'वह मैं श्रीमान्‌को विदेह देश देता हूँ, साथ ही आपकी दासता (सेवा) करनेके लिये अपने-आपको भी समर्पण करता हूँ' ॥ २३ ॥

तदेतद् वस्तु ब्राह्मणेनोक्तमृचा मन्त्रेण अभ्युक्तं प्रकाशितम्। एष नेति नेत्यादिलक्षणो नित्यो महिमा, अन्ये तु महिमानः कर्मकृता इत्यनित्याः; अयं तु तद्विलक्षणो महिमा स्वाभाविकत्वान्नित्यो ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य त्यक्तसर्वैषणस्य।

ब्राह्मणके द्वारा कही गयी यह बात ऋचा अर्थात् मन्त्रद्वारा भी कही—प्रकाशित की गयी है। यह 'नेति-नेति' इत्यादि श्रुतिके द्वारा लक्षित आत्मा नित्य महिमा है; दूसरी जो महिमाएँ हैं वे तो कर्मद्वारा सम्पन्न हुई हैं इसलिये अनित्य हैं; किंतु ब्राह्मण अर्थात् सम्पूर्ण एषणाओंका त्याग करनेवाले ब्रह्मवेत्ताकी यह उनसे विलक्षण महिमा स्वाभाविक होनेके कारण नित्य है।

कुतोऽस्य नित्यत्वमिति हेतुमाह—कर्मणा न वर्धते शुभलक्षणेन कृतेन वृद्धिलक्षणां विक्रियां न प्राप्नोति; अशुभेन कर्मणा नो

इसकी नित्यता क्यों है—इसमें श्रुति हेतु बतलाती है—यह कर्मसे नहीं बढ़ती अर्थात् किये हुए शुभरूप कर्मसे यह वृद्धिरूप विकारको प्राप्त नहीं होती। तथा अशुभ कर्मसे

कनीयान् नाप्यपक्षयलक्षणां विक्रियां प्राप्नोति। उपचयापचयहेतुभूता एव हि सर्वा विक्रिया इति एताभ्यां प्रतिषिध्यन्ते। अतोऽविक्रियात्वान्नित्य एष महिमा। तस्मात् तस्यैव महिम्नः, स्याद् भवेत्, पदवित्—पदस्य वेत्ता, पद्यते गम्यते ज्ञायत इति महिम्नः स्वरूपमेव पदम्, तस्य पदस्य वेदिता।

किं तत्पदवेदनेन स्यादित्युच्यते—तं विदित्वा महिमानम्, न लिप्यते न सम्बध्यते कर्मणा पापकेन धर्माधर्मलक्षणेन, उभयमपि पापकमेव विदुषः।

यस्मादेवमकर्मसम्बन्धी एष ब्राह्मणस्य महिमा नेति नेत्यादिलक्षणः, तस्माद् एवंवित् शान्तः—बाह्येन्द्रियव्यापारत उपशान्तः, तथा दान्तः—अन्तःकरणतृष्णातो निवृत्तः,—उपरतः सर्वैषणाविनि-

कनीयान्—क्षयरूप विकारको प्राप्त नहीं होती। समस्त विकार वृद्धि या क्षयके ही हेतुभूत हैं, अतः इन दो विकारोंके प्रतिषेध द्वारा उन सभीका प्रतिषेध कर दिया जाता है। इसलिये अविक्रिय होनेके कारण यह नित्य महिमा है। अतः उस महिमाका ही पदवित्—स्वरूपको जाननेवाला होना चाहिये। ['पद्यते इति पदम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] जिसको प्रतिपत्ति—अवगम अर्थात् ज्ञान होता है, वह पद है; अतः यहाँ स्वरूप ही पद है, उस पदका वेत्ता (जाननेवाला) 'पदवित्' कहलाता है।

उस पदको जाननेसे क्या होगा, सो बतलाया जाता है—उस महिमाको जानकर पुरुष पाप—धर्माधर्मरूप कर्मसे लिप्त—सम्बद्ध नहीं होता। ज्ञानीके लिये तो [पाप-पुण्य] दोनों पापके तुल्य ही हैं।

क्योंकि इस प्रकार यह 'नेति नेति' इत्यादि लक्षणवाली ब्राह्मणकी महिमा कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है, इसलिये इस प्रकार जाननेवाला शान्त—बाह्य-इन्द्रिय-व्यापारसे उपशान्त, दान्त—अन्तःकरणकी तृष्णासे निवृत्ति, उपरत—सम्पूर्ण

मुक्तः संन्यासी, तितिक्षुर्द्वन्द्वसहिष्णुः, समाहितः—इन्द्रियान्तःकरणचलनरूपाद् व्यावृत्त्या ऐकाग्र्यरूपेण समाहितो भूत्वा; तदेतदुक्तं पुरस्तात्—"बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य" इति; आत्मन्येव स्वे कार्यकरणसंघाते आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं पश्यति।

एषणाओंसे सर्वथा निवृत्त संन्यासी, तितिक्षु-द्वन्द्व (सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी आदि) सहन करनेवाला और समाहित—इन्द्रिय और अन्तःकरणके चलनरूपसे व्यावृत्त होकर ऐकाग्र्यरूपसे समाहित हो—यही बात पहले "बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया जानकर" इस वाक्यद्वारा कही गयी है—आत्मामें अर्थात् देहेन्द्रियसंघातरूप अपनेमें अन्तर्वर्ती चेतन आत्माको देखता है।

तत्र किं तावन्मात्रं परिच्छिन्नम्? नेत्युच्यते—सर्वं समस्तमात्मानमेव पश्यति, नान्यद् आत्मव्यतिरिक्तं वालाग्रमात्रमप्यस्तीत्येवं पश्यति; मननान्मुनिर्भवति जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं स्थानत्रयं हित्वा।

तो क्या उस शरीरमें वह उतने ही परिमाणवाले परिच्छिन्न आत्माको देखता है? इसपर कहा जाता है 'नहीं', वह सबको आत्मा ही देखता है। आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु बालके अग्रभागके बराबर भी नहीं है—इस प्रकार वह देखता है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति संज्ञक तीनों अवस्थाओंको छोड़कर मनन करनेके कारण मुनि हो जाता है।

एवं पश्यन्तं ब्राह्मणं नैनं पाप्मा पुण्यपापलक्षणस्तरति, न प्राप्नोति; अयं तु ब्रह्मवित् सर्वं पाप्मानं तरति—आत्मभावेनैव व्याप्नोति, अतिक्रामति। नैनं पाप्मा कृताकृतलक्षणस्तपति

इस प्रकार देखनेवाले इस ब्राह्मणको पुण्य-पापरूपी दोष नहीं तरता—नहीं प्राप्त होता। किंतु यह ब्रह्मवेत्ता तो सम्पूर्ण पापको तर जाता है—उसे आत्मभावसे ही व्याप्त—आक्रान्त कर लेता है। इसे कृताकृतरूप पाप

इष्टफलप्रत्यवायोत्पादनाभ्याम् ; सर्वं पाप्मानमयं तपति ब्रह्मवित् सर्वात्मदर्शनवह्निना भस्मीकरोति ।

इष्टफलप्रदान और प्रत्यवायोत्पादनके द्वारा ताप नहीं पहुँचाता और यह ब्रह्मवित् सम्पूर्ण पापको तप्त करता यानी सर्वात्मदर्शनरूप अग्निसे भस्म कर देता है ।

स एष एवंविद् विपापो विगतधर्माधर्मः, विरजो विगतरजः, रजः कामः, विगतकामः, अविचिकित्सः—छिन्नसंशयः, अहमस्मि सर्वात्मा परं ब्रह्मेति निश्चितमतिः, ब्राह्मणो भवति ।

वह यह इस प्रकार जाननेवाला विपाप—धर्माधर्महीन, विरज—विगतरज, 'रज' कामको कहते हैं, अतः निष्काम, अविचिकित्स—संशयहीन और 'मैं सर्वात्मा परब्रह्म हूँ' इस प्रकार जिसका निश्चय है वह ब्राह्मण हो जाता है ।

अयं त्वेवंभूत एतस्यामवस्थायां मुख्यो ब्राह्मणः, प्रागेतस्माद् ब्रह्मस्वरूपावस्थानाद् गौणमस्य ब्राह्मण्यम् । एष ब्रह्मलोकः—ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोको मुख्यो निरुपचरितः सर्वात्मभावलक्षणः, हे सम्राट् ! एनं ब्रह्मलोकं परिप्रापितोऽसि अभयं नेति नेत्यादिलक्षणम्—इति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

इस अवस्थामें ऐसी स्थितिको प्राप्त हुआ यह ब्रह्मवेत्ता ही मुख्य ब्राह्मण है। इस ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति होनेसे पूर्व तो इसका ब्राह्मणत्व गौण ही है [मुख्य नहीं] । यह ब्रह्मलोक है—ब्रह्म ही लोक है अर्थात् मुख्य (प्रधान) एवं उपचाररहित सर्वात्मभावरूप ब्रह्मलोक यही है। हे सम्राट् ! इस 'नेति नेति' इत्यादिरूपसे लक्षित अभय ब्रह्मलोकको तुम्हें पहुँचा दिया—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ।

एवं ब्रह्मभूतो जनको याज्ञवल्क्येन ब्रह्मभावमापादितः प्रत्याह—सोऽहं त्वया ब्रह्मभाव-

इस प्रकार याज्ञवल्क्यद्वारा ब्रह्मभावको प्राप्त कराये हुए ब्रह्मभूत जनकने उत्तर दिया, आपके द्वारा

मापादितः खन् भगवते तुभ्यं विदेहान् देशान् मम राज्यं समस्तं ददामि, मां च सह विदेहैर्दास्याय दासकर्मणे—ददामीति चशब्दात् सम्बध्यते। परिसमापिता ब्रह्मविद्या सह संन्यासेन साङ्गा सेतिकर्तव्यताकः; परिसमाप्तः परमपुरुषार्थः, एतावत् पुरुषेण कर्तव्यम्, एषा निष्ठा, एषा परा गतिः, एतन्निःश्रेयसम्, एतद् प्राप्य कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवति, एतत् सर्ववेदानुशासनमिति ॥ २३ ॥

ब्रह्मभावको प्राप्त कराया हुआ मैं आप श्रीमान्‌को विदेहदेश अर्थात् अपना सारा राज्य देता हूँ तथा विदेहदेशके साथ अपने-आपको भी दास्य—दासकर्मके लिये देता हूँ—इस प्रकार 'च' शब्दसे 'ददामि' (देता हूँ) इस क्रियाका सम्बन्ध लगाया जाता है। संन्यास, अङ्ग और इतिकर्तव्यताके सहित ब्रह्मविद्याकी सर्वथा समाप्ति हो गयी। परम पुरुषार्थका पर्यवसान हो गया। पुरुषको इतना ही कर्तव्य है, यही निष्ठा है, यही परा गति है और यही निःश्रेयस है। इसे पाकर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है और यही सम्पूर्ण वेदका अनुशासन है ॥ २३ ॥

आत्मा अन्नाद और वसुदान है—इस प्रकारकी उपासनाका फल

योऽयं जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकायां व्याख्यात आत्मा—

इस जनक-याज्ञवल्क्य-आख्यायिकामें जिस आत्माकी व्याख्या की गयी है—

स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा अन्न भक्षण करनेवाला और कर्मफल देनेवाला है। जो ऐसा जानता है, उसे सम्पूर्ण कर्मोंका फल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

स वै एष महान् अज आत्मा अन्नादः सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्ता, वसुदानः—वसु धनं सर्वप्राणिकर्मफलम्, तस्य दाता, प्राणिनां यथाकर्म फलेन योजयितेत्यर्थः; तमेतमजमन्नादं वसुदानमात्मानमन्नादवसुदानगुणाभ्यां युक्तं यो वेद, स सर्वभूतेष्वात्मभूतः—अन्नमत्ति, विन्दते च वसु सर्वं कर्मफलजातं लभते सर्वात्मत्वादेव, य एवं यथोक्तं वेद ।

वह यह महान् अजन्मा आत्मा अन्नाद—सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित रहकर समस्त अन्नोंका भोक्ता, वसुदान—वसु—धन अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंका कर्मफल उसे देनेवाला है; अर्थात् प्राणियोंको उनके कर्मानुसार फलसे संयुक्त करनेवाला है। उस इस अजन्मा, अन्नाद और वसुदान आत्माको जो अन्नाद और वसुदान गुणोंसे युक्त जानता है, वह समस्त भूतोंमें आत्मभूत हुआ अन्न भक्षण करता है; तथा जो ऐसा अर्थात् उपर्युक्त विषयको जानता है, वह सर्वात्मा होनेके कारण ही वसु यानी सम्पूर्ण कर्मोंका फल प्राप्त करता है।

अथवा दृष्टफलार्थिभिरप्येवंगुण उपास्यः; तेन अन्नादो वसोश्च लब्धा, दृष्टेनैव फलेन अन्नात्तृत्वेन गोऽश्वादिना चास्य योगो भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथवा जिन्हें [अन्न और धनरूप] दृष्टफलकी इच्छा है, उनको भी ऐसे गुणोंवाले ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। इससे वह अन्नाद और धन प्राप्त करनेवाला होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष प्राप्त होनेवाले ही अन्नादत्व और गौ, घोड़े आदि फलसे उसका योग होता है ॥२४॥

ब्रह्मके स्वरूप और ब्रह्मज्ञकी स्थितिका वर्णन

इदानीं समस्तस्यैवारण्यकस्य योऽर्थ उक्तः, स समुच्चित्य अस्यां कण्डिकायां निर्दिश्यते, एतावान् समस्तारण्यकार्थ इति—

अब इस सारे ही आरण्यकमें जो बात कही गयी है, वह संगृहीत करके इस कण्डिकामें बतलायी जाती है कि सारे आरण्यकका इतना ही तात्पर्य है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳहि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥ २५ ॥

वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है। अभय ही ब्रह्म है, जो ऐसा जानता है वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है ॥ २५ ॥

स वा एष महानज आत्मा अजरो न जीर्यत इति, न विपरिणमत इत्यर्थः, अमरः—यस्माच्च अजरः, तस्माद् अमरः, न म्रियत इत्यमरः; यो हि जायते जीर्यते च, स विनश्यति म्रियते वा; अयं तु अजत्वाद् अजरत्वाच्च अविनाशी यतः, अत एव अमृतः। यस्माद् जनिप्रभृतिभिस्त्रिभिर्भावविकारैर्वर्जितः तस्माद् इतरैरपि भावविकारैस्त्रिभिस्तत्कृतैश्च कामकर्ममोहादिभिर्मृत्युरूपैर्वर्जित इत्येतत्।

वही यह महान् अजन्मा आत्मा जीर्ण नहीं होता, इसलिये अजर है अर्थात् इसका विपरिणाम नहीं होता। 'अमरः'—क्योंकि अजर है, इसलिये अमर है, जो नहीं मरता उसे अमर कहते हैं। जो उत्पन्न होता अथवा जीर्ण होता है, वही विनष्ट होता अथवा मरता है। चूँकि यह अज और अजर होनेके कारण अविनाशी है, इसीलिये अमृत है। क्योंकि यह जन्मादि तीन भावविकारोंसे रहित है, इसलिये अन्य तीन भावविकारोंसे तथा उनसे होनेवाले मृत्युरूप काम, कर्म और मोहादिसे भी रहित है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

अभयोऽत एव; यस्माच्चैवं पूर्वोक्तविशेषणः, तस्माद् भयवर्जितः, भयं च हि नाम अविद्याकार्यम्, तत्कार्यप्रतिषेधेन भावविकारप्रतिषेधेन चाविद्यायाः प्रतिषेधः सिद्धो वेदितव्यः। अभय आत्मा

इसीसे यह अभय भी है। इस प्रकार चूँकि यह पूर्वोक्त विशेषणोंवाला है, इसलिये भयशून्य है; भय तो अविद्याका ही कार्य है, अविद्याके कार्य और भावविकारोंके प्रतिषेधसे अविद्याका प्रतिषेध भी सिद्ध हुआ समझना चाहिये। इस

एवंगुणविशिष्टः किमसौ ? ब्रह्म परिवृढं निरतिशयं महदित्यर्थः। अभयं वै ब्रह्म, प्रसिद्धमेतद् लोके—अभयं ब्रह्मेति। तस्माद्युक्तमेवंगुणविशिष्ट आत्मा ब्रह्मेति।

य एवं यथोक्तमात्मानमभयं ब्रह्म वेद, सोऽभयं हि वै ब्रह्म भवति। एष सर्वस्या उपनिषदः संक्षिप्तोऽर्थ उक्तः। एतस्यैवार्थस्य सम्यक् प्रबोधाय उत्पत्तिस्थितिप्रलयादिकल्पना क्रियाकारकफलाध्यारोपणा चात्मनि कृता, तदपोहेन च नेति नेतीत्यध्यारोपितविशेषापनयद्वारेण पुनस्तत्त्वमावेदितम्।

यथैकप्रभृत्यापरार्धसंख्यास्वरूपपरिज्ञानाय रेखाध्यारोपणं कृत्वा एकेयं रेखा, दशेयम्, शतेयम्, सहस्रेयम्—इति ग्राह-

प्रकारके गुणोंसे युक्त यह अभय आत्मा क्या है ? ब्रह्म—सब ओरसे बढ़ा हुआ अर्थात् निरतिशय महान्। ब्रह्म अभय ही है; लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि ब्रह्म अभय है, इसलिये ऐसे गुणोंवाला आत्मा ब्रह्म है—यह कहना उचित ही है।

जो इस प्रकार उपर्युक्त आत्मारूप अभय ब्रह्मको जानता है, वह निश्चय अभय ब्रह्म ही हो जाता है। यह समस्त उपनिषद्का संक्षिप्त अर्थ कहा गया। इसी अर्थका अच्छी तरह ज्ञान करानेके लिये आत्मामें उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयादिकी कल्पना तथा क्रिया, कारक और फलका अध्यारोप किये गये हैं। तथा उसके अपोहनके द्वारा अर्थात् 'नेति-नेति' इत्यादि रूपसे अध्यारोपित विशेषकी निवृत्तिद्वारा पुनः तत्त्वका ज्ञान कराया गया है।

जिस प्रकार एकसे लेकर परार्धतककी संख्याके स्वरूपका परिज्ञान करानेके लिये रेखाओंका अध्यारोपण करके [अर्थात् अनेकों रेखाएँ खींचकर] यह (पहली) रेखा एक है, यह (दूसरी) रेखा दश है, यह (तीसरी) सौ है, यह (चौथी) सहस्र है—इस प्रकार ग्रहण कराते हैं

यति, अवगमयति संख्यास्वरूपं केवलम्, न तु संख्याया रेखात्मत्वमेव, यथा च—अकारादीन्यक्षराणि विजिग्राहयिषुः पत्रमषीरेखादिसंयोगोपायमास्थाय वर्णानां सतत्त्वमावेदयति, न पत्रमष्याद्यात्मतामक्षराणां ग्राहयति—तथा चेहोत्पत्त्याद्यनेकोपायमास्थायैकं ब्रह्मतत्त्वमावेदितम्, पुनस्तत्कल्पितोपायजनितविशेषपरिशोधनार्थं नेति नेतीति तत्त्वोपसंहारः कृतः। तदुपसंहृतं पुनः परिशुद्धं केवलमेव सफलं ज्ञातमन्तेऽस्यां कण्डिकायामिति ॥ २५ ॥

तथा उन रेखाओंद्वारा केवल संख्याके स्वरूपका ज्ञान कराते हैं, किंतु वास्तवमें संख्या रेखारूप ही नहीं है। तथा जिस प्रकार अकारादि अक्षरोंको ग्रहण करानेकी इच्छावाला पुरुष कागज, स्याही और रेखाओंके संयोगरूप उपायका आश्रय लेकर वर्णोंका स्वरूप समझा देता है, कागज-स्याही आदि ही अक्षरोंके स्वरूप हैं—ऐसा नहीं समझाता, उसी प्रकार यहाँ उत्पत्ति आदि अनेकों उपायोंका अवलम्बन कर एक ब्रह्मतत्त्वका ही बोध कराया गया है। फिर उस कल्पित उपायसे पैदा हुए विशेषका निरास करनेके लिये 'नेति नेति' ऐसा कहकर तत्त्वका उपसंहार किया है। फिर अन्तमें वह उपसंहृत, परिशुद्ध, केवल ज्ञान ही अपने फलके सहित इस कण्डिकामें बतलाया गया है ॥ २५ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्याये चतुर्थं शारीरकब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

आगमप्रधानेन मधुकाण्डेन ब्रह्मतत्त्वं निर्धारितम्। पुनः तस्यैवोपपत्तिप्रधानेन याज्ञवल्कीयेन काण्डेन पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहं कृत्वा विगृह्यवादेन विचारितम्। शिष्याचार्यसम्बन्धेन च षष्ठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतम्। अथेदानीं निगमनस्थानीयं मैत्रेयीब्राह्मणमारभ्यते। अयं च न्यायो वाक्यकोविदैः परिगृहीतः—'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' इति।

अथवाऽऽगमप्रधानेन मधुकाण्डेन यदमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमभिहितम्, तदेव तर्केणाप्यमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमधिगम्यते। तर्कप्रधानं हि याज्ञवल्कीयं काण्डम्; तस्माच्छास्त्रतर्काभ्यां निश्चितमेतत्—यदेतदात्मज्ञानं ससंन्यासममृतत्वसाधनमिति।

[द्वितीय अध्यायमें] आगमप्रधान मधुकाण्डद्वारा ब्रह्मतत्त्वका निश्चय किया गया। फिर [तीसरे अध्यायमें] युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्डद्वारा उसीके पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर जल्पन्यायद्वारा विचार किया गया और तदनन्तर इस छठे प्रपाठक [अर्थात् चतुर्थ अध्यायमें] गुरु-शिष्यसम्बन्धसे प्रश्नोत्तरकी शैलीद्वारा उसका विस्तारपूर्वक विचार करके उपसंहार किया गया। उसके पश्चात् अब निगमनस्थानीय मैत्रेयीब्राह्मण आरम्भ किया जाता है। वाक्यमर्मज्ञोंने इस न्यायको स्वीकार भी किया है यथा—'हेतुका उल्लेख करके प्रतिज्ञाका पुनः कथन करना निगमन है' इति।

अथवा आगमप्रधान मधुकाण्डने जिस संन्यासयुक्त आत्मज्ञानको अमृतत्वका साधन बतलाया है, वही ससंन्यास आत्मज्ञान तर्कसे भी अमृतत्वका साधन जाना जाता है। याज्ञवल्कीय काण्ड तर्कप्रधान ही है; अतः यह जो अमृतत्वका साधन संन्यासयुक्त आत्मज्ञान है, वह शास्त्र और तर्क दोनोंहीसे निश्चित है।

तस्माच्छास्त्रश्रद्धावद्भिरमृतत्वप्रेप्सुभिरेतत् प्रतिपत्तव्यमिति आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवति, अव्यभिचारादिति। अक्षराणां तु चतुर्थे यथा व्याख्यातोऽर्थः, तथा प्रतिपत्तव्योऽत्रापि । यान्यक्षराण्यव्याख्यातानि तानि व्याख्यास्यामः ।

इसलिये अमृतत्व-प्राप्तिके इच्छुक एवं शास्त्रोंमें श्रद्धा रखनेवाले पुरुषोंको इसे प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि शास्त्र और युक्ति दोनोंहीके द्वारा निश्चय किया हुआ अर्थ अव्यभिचारी होनेके कारण श्रद्धेय होता है। इन अक्षरोंके अर्थको तो चतुर्थ प्रपाठक [यानी द्वितीय अध्याय] में जिस प्रकार व्याख्या की गयी है, वैसी ही यहाँ भी समझनी चाहिये। वहाँ जिन अक्षरोंकी व्याख्या नहीं की गयी, उनकी व्याख्या हम यहाँ करेंगे।

याज्ञवल्क्य और उनकी दो स्त्रियाँ

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञेव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥

यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्यकी मैत्रेयी और कात्यायनी ये दो भार्याएँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी तो स्त्रियोंकी-सी बुद्धिवाली ही थी। तब याज्ञवल्क्यने दूसरे प्रकारकी चर्या प्रारम्भ करनेकी इच्छासे [कहा—] ॥ १ ॥

अथेति हेतूपदेशानन्तर्यप्रदर्शनार्थः; हेतुप्रधानानि हि वाक्यान्यतीतानि। तदनन्तरमागमप्रधानेन प्रतिज्ञातोऽर्थो निगम्यते मैत्रेयीब्राह्मणेन। हशब्दो वृत्तावद्योतकः।

'अथ' यह शब्द यह दिखानेके लिये है कि यह सिद्धान्तप्रतिपादक प्रकरण हेतुका उपदेश करनेके बाद आरम्भ किया गया है; क्योंकि इससे पहले हेतुप्रधान वाक्य कहे जा चुके हैं। उनके पश्चात् अब आगमप्रधान मैत्रेयीब्राह्मणद्वारा पहले प्रतिज्ञा किये हुए अर्थका निगमन किया जाता है। 'ह' शब्द पूर्ववृत्तको सूचित करनेवाला है।

याज्ञवल्क्यस्य ऋषेः किल द्वे भार्ये पत्न्यौ बभूवतुः—आस्ताम्-मैत्रेयी च नामत एका, अपरा कात्यायनी नामतः। तयोर्भार्ययोर्मैत्रेयी ह किल ब्रह्मवादिनी ब्रह्मवदनशीला बभूव आसीत्; स्त्रीप्रज्ञा—स्त्रियां या उचिता सा स्त्रीप्रज्ञा—सैव यस्याः प्रज्ञा गृहप्रयोजनान्वेषणालक्षणा, सा स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि तस्मिन् काल आसीत् कात्यायनी। अथैवं सति ह किल याज्ञवल्क्योऽन्यत् पूर्वस्माद् गार्हस्थ्यलक्षणाद् वृत्तात् पारिव्राज्यलक्षणं वृत्तमुपाकरिष्यन्नुपाचिकीर्षुः सन् ॥ १ ॥

प्रसिद्ध है, याज्ञवल्क्य ऋषिकी दो भार्याएँ—पत्नियाँ थीं; एक मैत्रेयी नामवाली थी और दूसरी कात्यायनी नामवाली। उन दोनों पत्नियोंमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी—ब्रह्मसम्बन्धी भाषण करनेवाली थी। किंतु कात्यायनी उस समय 'स्त्रीप्रज्ञा'—जो प्रज्ञा स्त्रियोंके योग्य हो, उसे स्त्रीप्रज्ञा कहते हैं, जिसकी वह स्त्रीप्रज्ञा अर्थात् गृहसम्बन्धी प्रयोजनकी ही खोजमें रहनेवाली बुद्धि थी, ऐसी स्त्रीप्रज्ञा ही थी। ऐसी स्थितिमें याज्ञवल्क्यने अन्य अर्थात् गार्हस्थ्यरूप पूर्वचर्यासे भिन्न संन्यासरूप चर्याका आरम्भ करनेके इच्छुक होकर [कहा—] ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ २ ॥

'अरी मैत्रेयि !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा—'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम) से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जानेवाला हूँ, अर्थात् संन्यास लेनेका विचार है। इसलिये [मैं तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ' ॥ २ ॥

हे मैत्रेयीति ज्येष्ठां भार्यामामन्त्रयामास, आमन्त्र्य चोवाच

'हे मैत्रेयि !' इस प्रकार याज्ञवल्क्यने बड़ी स्त्रीको लक्ष्य करके सम्बोधन किया और उसे बुलाकर

ह—प्रव्रजिष्यन् पारिव्राज्यं करिष्यन् वै अरे मैत्रेयि। अस्मात् स्थानाद् गार्हस्थ्यादहमस्मि भवामि। मैत्रेयि अनुजानीहि माम्, हन्त इच्छसि यदि, ते अनया कात्यायन्या अन्तं करवाणि—इत्यादि व्याख्यातम्॥२॥

कहा, 'अरी मैत्रेयि! मैं इस गार्हस्थ्य-आश्रमसे प्रव्रजन—पारिव्राज्य (संन्यास) स्वीकार करनेवाला हूँ। सो हे मैत्रेयि! तू मुझे अपनी अनुमति दे, और यदि तेरी इच्छा हो तो इस कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ'—इत्यादि वाक्यकी व्याख्या पहले की जा चुकी है॥२॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति॥३॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ, अथवा नहीं?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, भोग सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा, धनसे अमृतत्वकी तो आशा है नहीं'॥३॥

मैत्रेयीका अमृतत्व-साधनविषयक प्रश्न

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति॥४॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें'॥४॥

सा एवमुक्ता उवाच मैत्रेयी—सर्वेयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, नु किं स्याम्, किमहं वित्तसाध्येन कर्मणा अमृता, आहो न स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्य इत्यादि समानमन्यत् ॥

इस प्रकार कहे जानेपर उस मैत्रेयीने कहा, 'यदि यह सारी पृथिवी धनसे पूर्ण हो जाय तो क्या उस धनसाध्य कर्मसे मैं अमर हो जाऊँगी अथवा नहीं ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं' इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ३-४ ॥

याज्ञवल्क्यजीका सान्त्वनापूर्वक समाधान

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥

उन याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'निश्चय ही तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी तूने हमारे प्रिय (प्रसन्नता) को बढ़ाया है । अतः हे देवि ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तेरे प्रति इस (अमृतत्वके साधन) की व्याख्या करूँगा । तू मेरे व्याख्या किये हुए विषयका चिन्तन करना' ॥ ५ ॥

स ह उवाच—प्रियैव पूर्वं खलु नः—अस्मभ्यं भवती, भवन्ती सती, प्रियमेव अवृधद् वर्धितवती निर्धारितवती असि; अतस्तुष्टोऽहम्, हन्त इच्छसि चेदमृतत्वसाधनं ज्ञातुम्, हे भवति, ते तुभ्यं तदमृतत्वसाधनं व्याख्यास्यामि ॥ ५ ॥

उन्होंने कहा, तू निश्चय ही पहले भी हमारी प्रिया रही है, अब भी तूने हमारे प्रियकी ही वृद्धि की है, प्रसन्नताको ही बढ़ाया है—संतोषजनक निश्चय किया है, इसलिये मैं तुझपर प्रसन्न हूँ । अब यदि तू अमृतत्वका साधन जानना चाहती है तो हे भवति—हे देवि ! मैं तेरे प्रति उस अमृतत्वके साधनकी व्याख्या करूँगा ॥ ५ ॥

प्रियतम आत्माके लिये ही सब वस्तुएँ प्रिय होती हैं

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि ! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; पशुओंके प्रयोजनके लिये पशु प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पशु प्रिय होते हैं, ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवोंके प्रयोजनके लिये देव प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देव प्रिय होते हैं। वेदोंके प्रयोजनके लिये वेद प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये वेद प्रिय होते हैं; भूतोंके प्रयोजनके लिये भूत प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये भूत प्रिय होते हैं; सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं, अतः अरी मैत्रेयि ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासन (ध्यान) करनेयोग्य है। हे मैत्रेयि ! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर इन सबका ज्ञान हो जाता है' ॥ ६ ॥

आत्मनि खलु अरे मैत्रेयि दृष्टे; कथं दृष्ट आत्मनि ? इत्युच्यते—पूर्वमाचार्यागमाभ्यां श्रुते, पुनः तर्केणोपपत्त्या मते विचारिते, श्रवणं त्वागम-मात्रेण, मते उपपत्त्या, पश्चाद्

'हे मैत्रेयि ! निश्चय ही आत्माका दर्शन हो जानेपर; किस प्रकार आत्माका दर्शन हो जानेपर, सो कहा जाता है—पहले आचार्य और शास्त्रद्वारा श्रवण और फिर तर्क एवं युक्तिसे मनन और विचार करनेपर; शास्त्रमात्रसे तो श्रवण, युक्तिसे मनन और पीछे विशेषरूपसे जान लेनेपर

विज्ञाते - एवमेतन्नान्यथेति निर्धारिते; किं भवति ? इत्युच्यते—इदं विदितं भवति; इदं सर्वमिति यदात्मनोऽन्यत्, आत्मव्यतिरेकेणाभावात् ॥६॥

अर्थात् यह ऐसा ही है, अन्य प्रकारका नहीं है—ऐसा निश्चय कर लेनेपर क्या होता है ? सो बतलाया जाता है—यह ज्ञात हो जाता है अर्थात् यह सब जो कि आत्मासे भिन्न है, जान लिया जाता है; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं ॥ ६ ॥

भेददृष्टिसे हानि दिखाकर 'सब कुछ आत्मा ही है' इस तत्त्वका उपदेश—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान् वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥ ७ ॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न समझता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकोंको आत्मासे भिन्न जानता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओंको आत्मासे भिन्न समझता है। वेद उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदोंको आत्मासे भिन्न जानता है। भूत उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतोंको आत्मासे भिन्न समझते हैं। सब उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न जानता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत और ये सब जो कुछ भी हैं; यह सब आत्मा ही है ॥ ७ ॥

तमयथार्थदर्शिनं परादात् पराकुर्यात्, कैवल्यासम्बन्धिनं कुर्यात्—अयमनात्मस्वरूपेण मां पश्यतीत्यपराधादिति भावः ॥७॥

तात्पर्य यह है कि उस अनात्मदर्शीको 'यह मुझे आत्मासे भिन्नरूपमें देखता है' इस अपराधसे परादात्—पराकृत—परास्त अर्थात् कैवल्यसे सम्बन्धरहित कर देते हैं ॥ ७ ॥

सबको 'आत्मा' रूपसे ग्रहण करनेमें दृष्टान्त—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

वह दृष्टान्त ऐसा है कि जिसपर लकड़ी आदिसे आघात किया जाता है, उस दुन्दुभि (नक्कारे) के बाह्य शब्दोंको जिस प्रकार कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किंतु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको ग्रहण करनेसे उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है ॥ ८ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

वह [दूसरा] दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे मुँहसे फूँके जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समथ नहीं होता, किंतु शङ्ख या शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ९ ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

वह [तीसरा] दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, किंतु वीणा या वीणाके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है ॥१०॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥ ११ ॥ स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषांꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२ ॥

वह [चौथा] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूएँ निकलते हैं, उसी प्रकार हे मैत्रेयि! ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक (ब्राह्मण-मन्त्र), सूत्र (वैदिक वस्तुसंग्रहवाक्य), सूत्रोंकी

व्याख्या, मन्त्रोंकी व्याख्या, इष्ट (यज्ञ), हुत (हवन किया हुआ), आशित (खिलाया हुआ), पायित (पिलाया हुआ) यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत हैं, सब इसीके निःश्वास हैं ॥ ११ ॥ वह [पाँचवाँ] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन [प्रलयस्थान] है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका दोनों हाथ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका दोनों चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाक् एक अयन है ॥ १२ ॥

चतुर्थे शब्दनिश्वासेनैव लोकाद्यर्थनिश्वासः सामर्थ्यादुक्तो भवतीति पृथङ् नोक्तः । इह तु सर्वशास्त्रार्थोपसंहार इति कृत्वार्थप्राप्तोऽप्यर्थः स्पष्टीकर्तव्य इति पृथगुच्यते ॥ ११-१२ ॥

चतुर्थ प्रपाठक [अर्थात् द्वितीय [1]अध्याय] में शब्द-निःश्वासके द्वारा ही सामर्थ्यसे लोकादि अर्थनिःश्वास भी कह दिये गये—ऐसा विचार कर उन्हें अलग नहीं कहा । किंतु यहाँ तो सारे शास्त्रका उपसंहार करना है, इसलिये अर्थतः प्राप्त विषयको भी स्पष्ट कर देना चाहिये, इसीलिये उन्हें अलग कहा गया है ॥ ११-१२ ॥

---

१. द्वितीय अध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणका दसवाँ मन्त्र भी इसी प्रकार है, परंतु वहाँ 'व्याख्यानानि' तक कहा है । ये सब शब्दमय निःश्वास हैं । यहाँ 'इष्टं हुतं···सर्वाणि च भूतानि' इतना पाठ अधिक है । ये सब अर्थरूप निःश्वास हैं । अतः वहाँ शब्दनिःश्वासोंसे ही अर्थनिःश्वासोंका भी उपलक्षण समझना चाहिये ।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

उसमें [छठा] दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार नमकका डला अन्तर और बाह्यसे रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, हे मैत्रेयि! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य-भेदसे शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। यह इन भूतोंसे [विशेषरूपसे] उत्थित होकर उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मर जानेपर इसकी संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि! इस प्रकार मैं कहता हूँ—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १३ ॥

सर्वकार्यप्रलयेऽविद्यानिमित्ते सैन्धवघनवदनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एक आत्मावतिष्ठते पूर्वं तु भूतमात्रासंसर्गविशेषाल्लब्धविशेषविज्ञानः सन्, तस्मिन् प्रविलापिते विद्यया विशेषविज्ञाने तन्निमित्ते च भूतसंसर्गे न प्रेत्य संज्ञा अस्ति—इत्येवं याज्ञवल्क्येनोक्ता ॥ १३ ॥

अविद्याजनित सम्पूर्ण कार्यका सर्वथा लय हो जानेपर लवणखण्डके समान अन्तर और बाह्यसे रहित परिपूर्ण, प्रज्ञानघन एक आत्मा ही स्थित रहता है। पहले तो वह भूतमात्राके संसर्गविशेषसे विशेष विज्ञानको प्राप्त रहता है, फिर विद्याके द्वारा उस विशेष विज्ञान और उससे होनेवाले भूतमात्रके संसर्गके सर्वथा लीन कर दिये जानेपर मरणके पश्चात् उसकी संज्ञा नहीं रहती—ऐसा याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीके प्रति कहा ॥ १३ ॥

निर्विशेष आत्माके विषयमें मैत्रेयीकी शङ्का और याज्ञवल्क्यका समाधान

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा

अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानु-
च्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥

वह मैत्रेयी बोली, 'यहीं श्रीमान्‌ने मुझे मोहको प्राप्त करा दिया है। मैं इसे विशेषरूपसे नहीं समझती।' उन्होंने कहा, 'अरी मैत्रेयि! मैं मोहकी बात नहीं कह रहा हूँ। अरी! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है' ॥ १४ ॥

सा होवाचात्रैव मा भगवान् तस्मिन्नेव वस्तुनि प्रज्ञानघन एव न प्रेत्य संज्ञा अस्ति, इति मोहान्तं मोहमध्यमापीपिपत्—आपीपदद् अवगमितवानसि संमोहितवानसीत्यर्थः। अतो न वा अहमिममात्मानमुक्तलक्षणं विजानामि विवेकत इति।

वह बोली—यहीं इस प्रज्ञानघनके विषयमें ही, 'मरनेपर इसकी संज्ञा नहीं रहती' ऐसा कहकर श्रीमान्‌ने मुझे मोहमें—मोहके बीचमें 'आपीपिपत्' प्राप्त करा दिया है, अर्थात् मुझे संमोहित कर दिया है। अतः इस उपर्युक्त लक्षणवाले आत्माको मैं विवेकपूर्वक नहीं समझती।

स होवाच नाहं मोहं ब्रवीम्य-विनाशी वा अरेऽयमात्मा। यतो विनष्टुं शीलमस्येति विनाशी न विनाश्यविनाशी, विनाशशब्देन विक्रिया, अविनाशीत्यविक्रिय आत्मेत्यर्थः। अरे मैत्रेय्ययमात्मा प्रकृतोऽनुच्छित्तिधर्मा—उच्छि-त्तिरुच्छेदः, उच्छेदोऽन्तो विनाशः, उच्छित्तिर्धर्मोऽस्येत्यु-

उन्होंने कहा—मैं मोहकी बात नहीं कहता, क्योंकि हे मैत्रेयि! यह आत्मा अविनाशी है। जिसका विनष्ट होनेका स्वभाव हो उसे विनाश कहते हैं, जो विनाशी न हो वह अविनाशी कहलाता है, विनाशी शब्दसे विकार सूचित होता है, अतः आत्मा अविनाशी अर्थात् अविकारी है। अरी मैत्रेयि! यह आत्मा, जिसका प्रकरण है, अनुच्छित्तिधर्मा है—उच्छित्ति उच्छेदको कहते हैं, उच्छेद—अन्त अर्थात् विनाश, उच्छित्ति जिसका धर्म हो उसे

च्छित्तिधर्मा, नोच्छित्तिधर्मा अनुच्छित्तिधर्मा । नापि विक्रियालक्षणो नाप्युच्छेदलक्षणो विनाशोऽस्य विद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

उच्छित्तिधर्मा कहते हैं, जो उच्छित्तिधर्मा नहीं है वही अनुच्छित्तिधर्मा कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इसका न तो विकाररूप विनाश होता है और न उच्छेदरूप ही ॥ १४ ॥

उपदेशका उपसंहार और याज्ञवल्क्यका संन्यास

चतुर्ष्वपि प्रपाठकेष्वेक आत्मा तुल्यो निर्धारितः, परं ब्रह्म । उपायविशेषस्तु तस्याधिगमेऽन्यश्चान्यश्च, उपेयस्तु स एवात्मा यश्चतुर्थे 'अथात आदेशो नेति नेति' इति निर्दिष्टः । स एव पञ्चमे प्राणपणोपन्यासेन शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादे निर्धारितः, पुनः पञ्चमसमाप्तौ, पुनर्जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे, पुनरिहोपनिषत्समाप्तौ । चतुर्णामपि प्रपाठकानामेतदात्मनिष्ठता, नान्योऽन्तराले कश्चिदपि विवक्षितोऽर्थः—इत्येतत्प्रदर्शनायान्त उपसंहारः—स एष नेति नेत्यादिः ।

चारों ही प्रपाठकोंमें एक ही समान आत्माका निश्चय किया गया है; वह परब्रह्म है । किंतु उसके बोधके लिये उपायविशेष भिन्न-भिन्न है, उपेय तो वह आत्मा ही है, जिसका चतुर्थ प्रपाठक [अर्थात् द्वितीय अध्याय] में 'अथात आदेशो नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया है । उसीका पञ्चम प्रपाठक (तृतीय अध्याय) में प्राणरूप पणके उल्लेखद्वारा शाकल्य-याज्ञवल्क्यसंवादमें निश्चय किया गया है; फिर पञ्चम प्रपाठककी समाप्तिमें, तत्पश्चात् जनक-याज्ञवल्क्य-संवादमें और फिर यहाँ उपनिषद्की समाप्तिमें भी उसीका निर्णय किया गया है । इन चारों ही प्रपाठकोंका तात्पर्य इस आत्मामें ही है; इनके बीचमें कोई और अर्थ विवक्षित नहीं है—यह दिखानेके लिये अन्तमें 'स एष नेति नेति' इत्यादि उपसंहार किया गया है ।

यस्मात् प्रकारशतेनापि निरूप्यमाणे तत्त्वे नेति नेत्यात्मैव निष्ठा नान्योपलभ्यते तर्केण वागमेन वा, तस्मादेतदेवामृतत्वसाधनं यदेतन्नेति नेत्यात्मपरिज्ञानं सर्वसंन्यासश्चेत्येतमर्थमुपसंजिहीर्षन्नाह—

चूँकि तत्त्वका सैकड़ों प्रकारसे निरूपण होनेपर भी उसका पर्यवसान 'नेति नेति' इस प्रकारसे निरूपण किये गये आत्मामें ही है, युक्ति अथवा शास्त्रसे कहीं अन्यत्र उसका तात्पर्य नहीं देखा जाता, अतः यह जो 'नेति नेति' इस प्रकार आत्माका परिज्ञान होना तथा सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास करना है, वही अमृतत्वका साधन है—इस प्रकार इस अर्थका उपसंहार करनेकी इच्छासे याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतर ँ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतर ँ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतर ँ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् तत् केन कं जिघ्रेत् तत् केन क ँ रसयेत् तत् केन कमभिवदेत् तत् केन क ँ शृणुयात् तत् केन कं मन्वीत तत् केन क ँ स्पृशेत् तत् केन कं विजानीयाद् येनेद ँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥



जहाँ [अविद्यावस्थामें] द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यका रसास्वादन करता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका मनन करता है, अन्य अन्यका स्पर्श करता है और अन्य अन्यको विशेषरूपसे जानता है। किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसका रसास्वादन करे, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका मनन करे, किसके द्वारा किसका स्पर्श करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा पुरुष इस सबको जानता है, उसे किस साधनसे जाने? वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है—उसका ग्रहण नहीं किया जाता, अशीर्य है—उसका विनाश नहीं होता, असङ्ग है—आसक्त नहीं होता, अबद्ध है—वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने? इस प्रकार तुझे उपदेश कर दिया गया। अरी मैत्रेयि! निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्यजी परिव्राजक (संन्यासी) हो गये ॥ १५ ॥

एतावदेतावन्मात्रं यदेतन्नेति नेत्यद्वैतात्मदर्शनमिदं चान्यसहकारिकारणनिरपेक्षमेवारे मैत्रेय्यमृतत्वसाधनम्। यत् पृष्टवत्यसि 'यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूह्यमृतत्वसाधनम्' इति, तदेतावदेवेति विज्ञेयं त्वयेति हैवं किलामृतत्वसाधनमात्मज्ञानं प्रियायै भार्यायै उक्त्वा याज्ञवल्क्यः किं कृतवान्? यत् पूर्वं प्रतिज्ञातं

हे मैत्रेयि! 'एतावत्'-बस, इतना ही जो कि यह 'नेति नेति' इस प्रकार अद्वैत आत्माका साक्षात्कार करना है, वही किसी दूसरे सहकारी कारणकी अपेक्षासे रहित अमृतत्वका साधन है। तूने जो पूछा था कि श्रीमान् जो अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें,' सो वह साधन इतना ही है-ऐसा तुझे जानना चाहिये। इस प्रकार अपनी प्रिया भार्याको यह अमृतत्वका साधनरूप आत्मज्ञान बतलाकर याज्ञवल्क्यने क्या किया? जिसकी उन्होंने पहले प्रतिज्ञा

प्रव्रजिष्यन्नस्मीति तच्चकार विजहार प्रव्रजितवानित्यर्थः । परिसमाप्ता ब्रह्मविद्या संन्यासपर्यवसाना । एतावाननुपदेशः, एतद् वेदानुशासनम्, एषा परमनिष्ठा, एष पुरुषार्थकर्तव्यतान्त इति ।

की थी कि मैं परिव्राजक (संन्यासी) होनेवाला हूँ वही किया अर्थात् परिव्राजक हो गये ।

इस प्रकार जिसका संन्यासमें पर्यवसान हुआ है, वह ब्रह्मविद्या समाप्त हुई । इतना ही उपदेश है, यही वेदकी आज्ञा है, यही परमनिष्ठा है और यही पुरुषार्थ अर्थात् कर्तव्यताका अन्त है ।

शास्त्रार्थपरामर्शो

इदानीं विचार्यते शास्त्रार्थविवेकप्रतिपत्तये । यत आकुलानि हि मिथोविरुद्धवचनोपन्यासश्च वाक्यानि दृश्यन्ते—"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः" (ईशा० २) "एतद् वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्" (महाना० २५ । १) इत्यादीन्यैकाश्रम्यज्ञापकानि, अन्यानि चाश्रमान्तरप्रतिपादकानि वाक्यानि—"विदित्वा व्युत्थाय प्रव्रजन्ति" "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" (जाबालोप० ४) "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा"

अब शास्त्रके तात्पर्यका विवेकज्ञान होनेके लिये विचार किया जाता है, क्योंकि परस्परविरोधी वाक्य देखे जाते हैं—"जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे", "जीवनपर्यन्त दर्शपूर्ण मासद्वारा यजन करे", "इस लोकमें कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे", 'यह जो अग्निहोत्र है, जरा-मरणपर्यन्त होनेवाला सत्र है" इत्यादि वाक्य गार्हस्थ्यरूप एक ही आश्रमके ज्ञापक हैं और इनके सिवा दूसरे वाक्य अन्य आश्रमके प्रतिपादक हैं—"ज्ञान होनेपर गृहस्थाश्रमसे ऊँचे उठकर परिव्राजक हो जाते हैं", "ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रमी बने और गृहस्थसे वानप्रस्थ होकर परिव्राजक हो जाय", "अथवा इसके विपरीत ब्रह्मचर्यसे, गृहसे या वनसे ही परिव्राजक

(जाबालोप० ४) इति "द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात् संन्यासश्च तयोः संन्यास एवातिरेचयति" इति "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" (महानारा० १० । ५) इत्यादीनि ।

तथा स्मृतयश्च—"ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति", अविशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत् तमावसेत्" तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते" तथा—"वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्रपौत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम् । अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ।।" "प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् । आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।।" इत्याद्याः ।

हो जाय", ये "दो ही मार्ग अभ्युदय और निःश्रेयसके प्रधान साधन हैं, पहले कर्ममार्ग और फिर संन्यास, उनमें संन्यासहीको श्रुति अधिक ठहराती है", 'कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं, किन्हीं-किन्हींने एकमात्र त्यागसे ही अमृतत्व प्राप्त किया है" इत्यादि ।

इसी प्रकार "ब्रह्मचर्यवान् पुरुष परिव्राजक होता है", "जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं हुआ है, वह जिस आश्रममें चाहे उसीमें निवास करे" "कोई कोई उसके लिये आश्रमका विकल्प बतलाते हैं"[1] तथा 'ब्रह्मचर्यके द्वारा वेदाध्ययन कर फिर पितृगणका उद्धार करनेके लिये पुत्र-पौत्रों की इच्छा करे और विधिवत् अग्न्याधान कर यज्ञानुष्ठान करनेके अनन्तर वनमें प्रवेश कर [अर्थात् वानप्रस्थ होकर] मुनि (संन्यासी) होनेकी इच्छा करे ।" "जिसमें सर्वस्व दक्षिणामें दे दिया जाता है, ऐसी प्राजापत्य-इष्टि (यज्ञ) करके अग्नियोंको आत्मामें स्थापित कर ब्राह्मणको घरसे निकल [कर संन्यासी हो] जाना चाहिये" इत्यादि स्मृतियाँ भी हैं।

१. अर्थात् वह क्रमशः एक आश्रमसे दूसरेमें जाय अथवा बिना क्रमके ब्रह्मचर्यसे ही संन्यासी हो जाय । ये तीनों स्मृतिवाक्य आश्रमका विकल्प बतलानेवाले हैं । आगेके वाक्य क्रम सूचित करते हैं; इस प्रकार इनमें परस्परविरोध है ।

एवं व्युत्थानविकल्पक्रमयथेष्टाश्रमप्रतिपत्तिप्रतिपादकानि हि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि शतश उपलभ्यन्त इतरेतरविरुद्धानि। आचारश्च तद्विदाम्, विप्रतिपत्तिश्च शास्त्रार्थप्रतिपत्तॄणां बहुविदामपि। अतो न शक्यते शास्त्रार्थो मन्दबुद्धिभिर्विवेकेन प्रतिपत्तुम्। परिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येषां वाक्यानां विषयविभागः शक्यतेऽवधारयितुम्। तस्मादेषां विषयविभागज्ञापनाय यथाबुद्धिसामर्थ्यं विचारयिष्यामः।

इस प्रकार व्युत्थानके विकल्प, क्रम और यथेष्ट आश्रमोंमें प्रवेश करनेका प्रतिपादन करनेवाले एक-दूसरेसे विरुद्ध सैकड़ों श्रुति वचन और स्मृति-वाक्य देखे जाते हैं। श्रुति-स्मृतियोंके ज्ञाताओंके आचार भी विभिन्न हैं तथा [जैमिनिप्रभृति] शास्त्रमर्मज्ञोंमें बहुज्ञ होनेपर भी मतभेद देखा जाता है। अतः मन्द-बुद्धि पुरुषोंके लिये विवेकपूर्वक शास्त्रका मर्म समझना असम्भव है। जिनकी बुद्धि शास्त्र और युक्तिमें सब प्रकार निष्णात है, वे ही इन वाक्योंके विषयविभागका निर्णय कर सकते हैं। अतः इनके विषय-विभागको सूचित करनेके लिये हम अपनी बुद्धि और सामर्थ्यके अनुसार विचार करेंगे।

'यावज्जीव' श्रुत्यादिवाक्यानां पूर्वपक्षोत्थापनम् अन्यार्थासंभवात् क्रियावसान एव वेदार्थः। "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" इत्यन्त्यकर्मश्रवणाज्जरामर्यश्रवणाच्च लिङ्गाच्च "भस्मान्तँ शरीरम्" (बृ० उ० ५।१५।१) इति

पूर्व०—'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि वाक्योंका कोई दूसरा अर्थ न हो सकनेके कारण वेदका तात्पर्य कर्ममें ही समाप्त होनेवाला है। यह बात "उस (अग्निहोत्री) को यज्ञपात्रोंके सहित भस्म करते हैं" इस प्रकार अग्निहोत्रीके अन्त्येष्टिकर्ममें यज्ञपात्रकी आवश्यकताका श्रवण होनेसे, जरा-मरणपर्यन्त अग्निहोत्रका विधान होनेसे तथा "शरीर भस्मान्त है" ऐसा गार्हस्थ्यसूचक लिङ्ग होनेसे भी ज्ञात

न हि पारिव्राज्यपक्षे भस्मान्तता शरीरस्य स्यात् । स्मृतिश्च—"निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः । तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥" इति । समन्त्रकं हि यत् कर्म वेदेनेह विधीयते तस्य श्मशानान्ततां दर्शयति स्मृतिः । अधिकाराभावप्रदर्शनाच्चात्यन्तमेव श्रुत्यधिकाराभावोऽकर्मिणो गम्यते । अग्न्युद्वासनापवादाच्च "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इति ।

होती है । संन्यास पक्षमें तो शरीर की भस्मान्तता हो ही नहीं सकती* । इसके सिवा "जिसके गर्भाधानसे लेकर श्मशानपर्यन्त सभी संस्कारोंका विधान मन्त्रोंद्वारा बताया गया है, उसीका इस शास्त्रमें अधिकार समझना चाहिये, किसी दूसरेका नहीं" ऐसी स्मृति भी है । यहाँ वेदने जिस कर्मका मन्त्रपूर्वक विधान किया है, वह कर्म श्मशानपर्यन्त होता है, ऐसा स्मृति प्रदर्शित कर रही है । अधिकारका अभाव प्रदर्शित करनेसे तो कर्म न करनेवालेका श्रुतिमें सर्वथा ही अधिकार नहीं है—ऐसा जाना जाता है । इसके सिवा "जो अग्निका उच्छेद करता है, वह देवताओंका वीरहा है" इस प्रकार अग्न्युच्छेदकी निन्दा करनेसे भी यही सिद्ध होता है ।

तत्राक्षेपः ननु व्युत्थानादिविधानाद् वैकल्पिकं क्रियावसानत्वं वेदार्थस्य ।

सिद्धान्ती—[किंतु हमारे विचारमें तो] व्युत्थानादिका विधान होनेके कारण वेदार्थका क्रियामें समाप्त होना वैकल्पिक है ।

व्युत्थानादिश्रुतीनामन्यार्थत्वप्रतिपादनम् न, अन्यार्थत्वाद् व्युत्थानादिश्रुतीनाम् । "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत", इत्येवमादीनां

पूर्व०—नहीं, क्योंकि व्युत्थानादि श्रुतियोंका तात्पर्य दूसरा ही है । [उसीको विशद करते हैं—] क्योंकि "जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे" "जीवनपर्यन्त दर्श-पूर्णमासद्वारा यजन करे" इत्यादि श्रुतियाँ जीवनमात्र-

* क्योंकि संन्यासीके शरीरका दाहसंस्कार नहीं होता ।

भूतीनां जीवनमात्रनिमित्तत्वाद् यदा न शक्यतेऽन्यार्थता कल्पयितुं तदा व्युत्थानादिवाक्यानां कर्मानधिकृतविषयत्वसंभवात् ।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः" (ईशा० २) इति च मन्त्रवर्णात् "जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा" इति च जरामृत्युभ्यामन्यत्र कर्मवियोगच्छिद्रासंभवात् कर्मिणां श्मशानान्तत्वं न वैकल्पिकम् । काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुग्राह्या एव श्रुत्येति व्युत्थानाद्याश्रमान्तरविधानं नानुपपन्नम् ।

पारिव्राज्यक्रमविधानस्यानवकाशत्वमिति चेत् ।

न; विश्वजित्सर्वमेधयोर्यावनिमित्तवाली होनेके कारण, जब कोई अन्य तात्पर्य होनेकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, तो व्युत्थानादि वाक्योंका कर्मके अनधिकारियोंके विषयमें होना सम्भव है ।

"कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे" इस मन्त्रवर्णसे भी यही सिद्ध होता है; तथा "इससे वृद्धावस्थाके कारण मुक्त होता है अथवा मृत्युसे" इस प्रकार जरा और मृत्युके सिवा अन्यत्र कर्मका त्याग अथवा अवकाश सम्भव न होनेसे कर्मियोंका श्मशानान्त होना वैकल्पिक नहीं है । कर्मके अनधिकारी काने और कुबड़े लोगोंपर भी श्रुतिको अनुग्रह करना ही है, इसलिये उनके लिये व्युत्थानादि अन्य आश्रमोंका विधान करना अयुक्त नहीं है ।

सिद्धान्ती–तो फिर [ब्रह्मचर्यसे लेकर] पारिव्राज्य (संन्यास) तकके आश्रमोंका क्रमविधान निरवकाश होगा[1] ।

पूर्व०–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विश्वजित् और सर्वमेध यज्ञोंमें जीवन-

1. अर्थात् उस विधिके पालनका अवसर न मिलनेसे श्रुतिमें उसका विधान व्यर्थ होगा ।

पारिव्राज्यक्रमविधानवाक्यस्यानवकाशत्वानिवारणम्

-ज्जीवविध्यपवादत्वात्। यावज्जीवमग्निहोत्रादिविधेर्विश्वजित्सर्वमेधयोरेवापवादः, तत्र च क्रमप्रतिपत्तिसम्भवः 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति। विरोधानुपपत्तेः—न ह्येवंविषयत्वे पारिव्राज्यक्रमविधानवाक्यस्य कश्चिद् विरोधः क्रमप्रतिपत्तेः। अन्यविषयपरिकल्पनायां तु यावज्जीवविधानश्रुतिः स्वविषयात् संकोचिता स्यात्। क्रमप्रतिपत्तेस्तु विश्वजित्सर्वमेधविषयत्वान्न कश्चिद् बाधः।

परमतनिराकरणपूर्वकं स्वमतस्थापनम्

न, आत्मज्ञानस्यामृतत्वहेतुत्वाभ्युपगमात्। यत् तावत् 'आत्मेत्येवो-

भर अग्निहोत्र करनेकी विधिका यह क्रमविधायक वचन अपवाद (बाधक) है [अतः व्यर्थ नहीं है]। यावज्जीवन अग्निहोत्रादिकी जो विधि है, उसका विश्वजित् और सर्वमेध यज्ञमें ही अपवाद है[1] इसलिये वहाँ 'ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ बने और गृहस्थसे वनवासी होकर परिव्राजक हो' ऐसी आश्रमोंकी क्रमशः प्रतिपत्ति सम्भव है। इस प्रकार उन वाक्योंमें कोई विरोध नहीं आ सकता—पारिव्राज्यके क्रमका विधान करनेवाले वाक्यका ऐसा विषय मान लेनेपर क्रमप्रतिपत्तिका कोई विरोध नहीं रहता। उसका कोई अन्य विषय कल्पना करनेपर तो यावज्जीवन कर्मका विधान करनेवाली श्रुतिको अपने विषयसे संकोच कर देना होगा। क्रमप्रतिपत्तिका विषय तो विश्वजित् और सर्वमेध यज्ञ हैं, इसलिये उसका कोई बाध नहीं होता।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि आत्मज्ञानको अमृतत्वका हेतु माना गया है। 'आत्मेत्येवोपासीत'

१. क्योंकि विश्वजित् और सर्वमेध—इन दो यज्ञोंमें सर्वस्व दान कर दिया जाता है, इसलिये फिर अग्निहोत्रादि कर्मकी सामग्री न रहनेसे उनका होना असम्भव हो जाता है। अतः उन यज्ञोंमेंसे किसीका अनुष्ठान करनेवालेके लिये ही अन्याश्रममें जानेकी विधि है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

पासीत' इत्यारभ्य 'स एष नेति नेति' एतदन्तेन ग्रन्थेन यदुपसंहृतमात्मज्ञानं तदमृतत्वसाधनम्—इत्यभ्युपगतं भवता ।

तत्र 'एतावदेवामृतत्वसाधनम्, अन्यनिरपेक्षम्' इत्येतन्न मृष्यते ।

तत्र भवन्तं पृच्छामि किमर्थमात्मज्ञानं मर्षयति भवानिति ?

शृणु तत्र कारणम्—यथा स्वर्गकामस्य स्वर्गप्राप्त्युपायमजानतोऽग्निहोत्रादि स्वर्गप्राप्तिसाधनं ज्ञापयति, तथेहाप्यमृतत्वप्रतिपित्सोरमृतत्वप्राप्त्युपायमजानतः "यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्येवमाकाङ्क्षितममृतत्वसाधनम् "एतावदरे" इत्येवमादौ वेदेन ज्ञाप्यत इति ।

एवं तर्हि यथा ज्ञापितमग्निहोत्रादि स्वर्गसाधनमभ्युपगम्यते

यहाँसे लेकर 'स एष नेति नेति' यहाँतकके ग्रन्थसे जिस आत्मज्ञानका उपसंहार किया गया है, वह अमृतत्वका साधन है—ऐसा आपने स्वीकार किया है ।

पूर्व०-किंतु वहाँ अन्य किसी (कर्म आदि) की अपेक्षासे रहित केवल ज्ञान ही अमृतत्वका साधन है-यह कथन हम नहीं सह सकते ।

सिद्धान्ती-तो मैं श्रीमान्‌से पूछता हूँ कि आप आत्मज्ञानको किसलिये सहन करते हैं ।

पूर्व०-इसमें जो कारण है वह सुनिये- जिस प्रकार स्वर्गप्राप्तिका उपाय न जाननेवाले स्वर्गकामी पुरुषको श्रुति अग्निहोत्रादि स्वर्गप्राप्तिके साधन बतलाती है, उसी प्रकार यहाँ भी अमृतत्वप्राप्तिका साधन न जाननेवाले अमृतत्वप्राप्तिके अभिलाषीको वेदके द्वारा "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इत्यादि मन्त्रोंमें "यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्यादि प्रकारसे इच्छा किये हुए अमृतत्वके साधनका बोध कराया जाता है ।

सिद्धान्ती-इस प्रकार तो, जैसे श्रुतिके द्वारा ज्ञात कराये हुए अग्निहोत्रादि स्वर्गके साधन माने जाते हैं,

तथेहाप्यात्मज्ञानम्; यथा ज्ञाप्यते तथाभूतमेवामृतत्वसाधनमात्मज्ञानमभ्युपगन्तुं युक्तम्; तुल्यप्रामाण्यादुभयत्र ।

उसी प्रकार यहाँ आत्मज्ञान भी समझना चाहिये। जिस प्रकार ज्ञान कराया गया है, उसी प्रकार आत्मज्ञानको अमृतत्वका साधन मानना उचित है; क्योंकि श्रुतिका प्रामाण्य दोनों जगह समान है।

यद्येवं किं स्यात् ?

पूर्व०-यदि ऐसा माना जाय तो इससे क्या सिद्ध होगा ?

सर्वकर्महेतूपमर्दकत्वादात्मज्ञानस्य विद्योद्भवे कर्मनिवृत्तिः स्यात्। दाराग्निसम्बद्धानां तावदग्निहोत्रादिकर्मणां भेदबुद्धिविषयसम्प्रदानकारकसाध्यत्वम्। अन्यबुद्धिपरिच्छेद्यां ह्यग्न्यादिदेवतां सम्प्रदानकारकभूतामन्तरेण न हि तत् कर्म निर्वर्त्यते। यया हि सम्प्रदानकारकबुद्ध्या सम्प्रदानकारकं कर्मसाधनत्वेनोपदिश्यते, सेह विद्यया निवर्त्यते—"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० उ० १।४।१०) 'देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्

सिद्धान्ती—आत्मज्ञान कर्मके सम्पूर्ण हेतुओंका निवर्तक है, इसलिये ज्ञानोदय होनेपर कर्मकी निवृत्ति हो जायगी। पत्नी और अग्निसे सम्बद्ध जो अग्निहोत्रादि कर्म हैं, वे भेदबुद्धिके विषय [1]सम्प्रदानकारकद्वारा साध्य हैं। अन्य बुद्धिसे परिच्छेद्य एवं सम्प्रदानकारकभूता अग्नि आदि देवताके बिना वह कर्म निष्पन्न नहीं हो सकता और जिस सम्प्रदानकारक बुद्धिसे सम्प्रदानकारक कर्मके साधनरूपसे उपदेश किया जाता है, वह इस ज्ञानावस्थामें ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है; जैसा कि "वह अन्य है मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है, वह नहीं जानता", "जो देवताओंको अपनेसे भिन्न समझता है, देवता उसे परास्त कर देते हैं,

१. जिसके उद्देश्यसे कुछ दिया जाता है; उसे सम्प्रदानकारक कहते हैं। अग्निसाध्य कर्मोंमें अग्निके उद्देश्यसे आहुति दी जाती है, इसलिये अग्निमें सम्प्रदानकारकत्व है; अतः वह कर्म सम्प्रदानकारकसाध्य कहा जाता है।

वेद" (४ । ५ । ७) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (४ । ४ । १९) "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (४ । ४ । २०) "सर्वमात्मानं पश्यति" (४ । ४ । २३) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

"जो यहाँ नाना देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है", "निरन्तर एकरूप ही देखना चाहिये", "सबको आत्मरूप देखता है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है।

न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम् व्यवस्थितात्मवस्तुविषयत्वादात्मज्ञानस्य। क्रियायास्तु पुरुषतन्त्रत्वात् स्याद् देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम्। ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते। यथाग्निरुष्ण आकाशोऽमूर्त इति तथात्मविज्ञानमपि।

आत्मज्ञानका विषय कूटस्थ नित्य आत्म-वस्तु है, इसलिये उसे देश, काल एवं निमित्त आदिकी अपेक्षा नहीं है। कर्म तो पुरुषके अधीन है, इसलिये उसे देश, काल एवं निमित्तादिकी अपेक्षा है। किंतु ज्ञान वस्तुतन्त्र होनेके कारण देश, काल, निमित्त आदिकी अपेक्षा नहीं रखता। जिस प्रकार अग्नि उष्ण है और आकाश अमूर्त है—इन ज्ञानोंको देशादिकी अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार आत्मज्ञानको भी नहीं है।

नन्वेवं सति प्रमाणभूतस्य कर्मविधेर्निरोधः स्यात्। न च तुल्यप्रमाणयोरितरेतरनिरोधो युक्तः।

पूर्व०—किंतु ऐसा माननेपर तो प्रमाणभूत कर्मविधिका बाध हो जायगा और समान प्रमाणोंमेंसे एक-दूसरेका बाध होना उचित नहीं है।

न, स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रनिरोधकत्वात्, न हि विध्यन्तरनिरोधकमात्मज्ञानं स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रं निरुणद्धि।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञान तो स्वाभाविक भेदबुद्धिमात्रका बाधक है, वह अन्य विधिका बाधक नहीं है, वह तो केवल स्वाभाविक भेदबुद्धिका ही बाध करता है।

तथापि हेत्वपहारात् कर्मानुपपत्तेर्विधिनिरोध एव स्यादिति चेत् ।

पूर्व०—इस प्रकार भी तो हेतुकी निवृत्तिसे कर्मोंका होना असम्भव होनेके कारण विधिका ही निरोध हुआ ।

न, कामप्रतिषेधात् काम्यप्रवृत्तिनिरोधवददोषात् । यथा स्वर्गकामो यजेतेति स्वर्गसाधने यागे प्रवृत्तस्य कामप्रतिषेधविधेः कामे विहते काम्ययागानुष्ठानप्रवृत्तिर्निरुध्यते न चैतावता काम्यविधिर्निरुद्धो भवति ।

सिद्धान्ती—नहीं, कामनाके प्रतिषेधसे सकाम प्रवृत्तिके बाधके समान इसमें कोई दोष नहीं है । जिस प्रकार 'स्वर्गकी कामनावाला यजन करे'—इस वचनसे जो पुरुष स्वर्गके साधनभूत यज्ञमें प्रवृत्त है, उसकी कामनाका कामप्रतिषेधविधिके अनुसार बाध हो जानेपर उसकी सकाम यज्ञके अनुष्ठानकी प्रवृत्ति रुक जाती है; किंतु इतनेहीसे सकाम कर्मोंकी विधिका बाध नहीं हो जाता ।[1]

कामप्रतिषेधविधिना काम्यविधेरनर्थकत्वज्ञानात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्निरुद्ध एव स्यादिति चेत् ।

पूर्व०—कामप्रतिषेधविधिसे सकाम कर्मविधिकी व्यर्थताका बोध हो जानेसे काम्यकर्मोंमें प्रवृत्ति न हो सकनेके कारण उसका निरोध हो ही जायगा—ऐसा कहें तो ?

भवत्वेवं कर्मविधिनिरोधोऽपि ।

सिद्धान्ती—इस प्रकार भले ही कर्मविधिका भी निरोध हो जाय ।

यथा कामप्रतिषेधे काम्यविधेरेवं प्रामाण्यानुपपत्तिरिति

पूर्व०—जिस प्रकार कामनाका प्रतिषेध होनेपर काम्यविधिका प्रतिषेध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानसे कर्मविधिका बाध हो जानेपर उसका प्रामाण्य नहीं हो सकता । कर्म

१. क्योंकि जिनकी कामना निवृत्त नहीं हुई है, उनके लिये तो वह विधि सार्थक रहती ही है ।

चेत् । अननुष्ठेयत्वेऽनुष्ठातुरभावादनुष्ठानविध्यानर्थक्यादप्रामाण्यमेव कर्मविधीनामिति चेत् ।

न प्रागात्मज्ञानात् प्रवृत्त्युपपत्तेः । स्वाभाविकस्य क्रियाकारकफलभेदविज्ञानस्य प्रागात्मज्ञानात् कर्महेतुत्वमुपपद्यत एव, यथा कामविषये दोषविज्ञानोत्पत्तेः प्राक् काम्यकर्मप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यादेव स्वर्गादीच्छायाः स्वाभाविक्यास्तद्वत् ।

तथा सत्यनर्थार्थो वेद इति चेत् ।

न, अर्थानर्थयोरभिप्रायतन्त्रत्वात् । मोक्षमेकं वर्जयित्वान्यस्याविद्याविषयत्वात्पुरुषाभिप्रायतन्त्रौ ह्यर्थानर्थौ, मरणादिकाम्ये-

अनुष्ठान करनेके योग्य नहीं है, ऐसा सिद्ध होनेपर अनुष्ठानकर्ताका अभाव हो जानेसे जब अनुष्ठानविधिकी सार्थकता ही नहीं रही तो कर्मविधियोंकी अप्रामाणिकता ही होगी—ऐसा यदि कहें तो ?

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं; क्योंकि आत्मज्ञानसे पूर्व कर्ममें प्रवृत्ति हो सकती है । स्वाभाविक क्रिया, कारक और फलरूप भेदज्ञानका आत्मज्ञानसे पूर्व कर्ममें हेतु होना सम्भव है ही; जिस प्रकार कि कामनाके विषयमें दोषबुद्धि होनेसे पूर्व स्वर्ग आदिकी स्वाभाविक इच्छा ही काम्यकर्मोंमें सकाम मनुष्यकी प्रवृत्ति करानेमें कारण हो ही सकती है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ।

पूर्व०—ऐसा माननेपर तो वेद अनर्थका हेतु है—यह सिद्ध होगा ।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि अर्थ और अनर्थ तो उद्देश्यके अधीन हैं । एकमात्र मोक्षको छोड़कर और सब अविद्याके ही विषय हैं । इसलिये अर्थ और अनर्थ तो पुरुषके अभिप्रायके ही अधीन हैं कारण [महाभारतादिमें महाप्रस्थानरूप] मरण आदिकी इच्छासे भी इष्टियों (यज्ञों) का विधान

ष्टिदर्शनात्। तस्माद् यावदात्मज्ञानविधेराभिमुख्यं तावदेव कर्मविधयः। तस्मान्नात्मज्ञानसहभावित्वं कर्मणामित्यतः सिद्धमात्मज्ञानमेवामृतत्वसाधनम् 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इति, कर्मनिरपेक्षत्वाज्ज्ञानस्य। अतो विदुषस्तावत् पारिव्राज्यं सिद्धं सम्प्रदानादिकर्मकारकजात्यादिशून्याविक्रियब्रह्मात्मदृढप्रतिपत्तिमात्रेण वचनमन्तरेणाप्युक्तन्यायतः।

तथा च व्याख्यातमेतत् 'येषां नोऽयमात्मायं लोकः' इति हेतुवचनेन पूर्वे विद्वांसः प्रजामकामयमाना व्युत्तिष्ठन्तीति पारिव्राज्यं विदुषामात्मलोकावबोधादेव। तथा च विविदिषोरपि सिद्धं पारिव्राज्यम्, "एतमेवात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इति

देखा जाता है। अतः जबतक पुरुष आत्मज्ञानसम्बन्धी विधिके अभिमुख न हो जाय तभीतक कर्मविधियाँ हैं। इसलिये कर्मोंका आत्मज्ञानके साथ रहना सम्भव नहीं है, अतः 'हे मैत्रेयी! निश्चय यही अमृतत्व है' इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान ही अमृतत्वका साधन है, क्योंकि ज्ञानको कर्मकी अपेक्षा नहीं है। इसलिये कोई प्रमाणभूत वचन न होनेपर भी उक्त न्यायसे सम्प्रदानादि कर्मोंके कारक एवं जाति आदिसे शून्य अविकारी ब्रह्ममें ही सुदृढ़ आत्मभावके बोधमात्रसे ही विद्वान्‌के लिये तो संन्यास सिद्ध ही हो जाता है।

इसी प्रकार 'जिन हमको यह आत्मलोक अभीष्ट है' इस हेतुवाक्यके द्वारा यह भी व्याख्या कर ही दी गयी है कि पूर्ववर्ती विद्वान् प्रजा आदिकी इच्छा न करके गृहत्याग कर देते थे; अतः आत्मलोकके ज्ञानमात्रसे विद्वानोंके लिये पारिव्राज्य (संन्यास) सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही "इस आत्मलोककी ही इच्छा रखनेवाले परिव्राजक (संन्यासी) होते हैं" इस वचनसे जिज्ञासुके लिये भी पारिव्राज्य सिद्ध

द्वचनात् । कर्मणां चाविद्वद्विषयत्वमवोचाम । अविद्याविषये चोत्पत्त्यादिविकारसंस्कारार्थानि कर्माणीत्यत आत्मसंस्कारद्वारेणात्मज्ञानसाधनत्वमपि कर्मणामवोचाम यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीति ।

होता है । कर्म अज्ञानियोंके लिये हैं-यह भी हम कह चुके हैं। अविद्याके क्षेत्रमें भी उत्पत्ति आदि विकार और संस्काररूप प्रयोजनके लिये कर्म हैं, इसलिये हमने 'यज्ञादिके द्वारा आत्माको जाननेकी इच्छा करते हैं' ऐसा कहकर चित्तके संस्कारद्वारा कर्मोंका आत्मज्ञानमें साधन होना भी बतलाया है ।

अथैवं सति अविद्वद्विषयाणामाश्रमकर्मणां बलाबलविचारणायामात्मज्ञानोत्पादनं प्रति यमप्रधानानाममानित्वादीनां मानसानां च ध्यानज्ञानवैराग्यादीनां सन्निपत्योपकारकत्वम्, हिंसारागद्वेषादिबाहुल्याद् बहुक्लिष्टकर्मविमिश्रिता इतरे, इत्यतः पारिव्राज्यं मुमुक्षूणां प्रशंसन्ति—

"त्याग एव हि सर्वेषामुक्तानामपि कर्मणाम् ।
वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमोऽवधिः ॥"

"किं ते धनेन किमु बन्धुभिस्ते किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं

ऐसी स्थितिमें अज्ञानियोंसे सम्बद्ध आश्रमकर्मोंके बलाबलका विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि अमानित्वादि यमप्रधान और ध्यान-ज्ञान-वैराग्यादि मानस कर्म आत्मज्ञानकी उत्पत्तिमें सन्निपत्योपकारक (साक्षात् उपयोगी) हैं। अन्य कर्म हिंसा एवं राग-द्वेष आदिकी बहुलताके कारण बहुत से क्लिष्ट कर्मोंसे मिले हुए हैं; इसलिये मुमुक्षुके लिये पारिव्राज्य (संन्यास) की ही प्रशंसा करते हैं; यथा—"सम्पूर्ण उक्त कर्मोंका भी त्याग ही करना चाहिये । इस मोक्षकी परम अवधि वैराग्य ही है ।" "हे ब्राह्मण ! जो तू एक दिन मरेगा ही, तो तेरे लिये धनसे, बन्धुओंसे अथवा स्त्रियोंसे क्या प्रयोजन है ? तू अपनी बुद्धिरूपी गुहामें प्रविष्ट आत्माका अनुसंधान

पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥"

एवं सांख्ययोगशास्त्रेषु च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न उच्यते । कामप्रवृत्त्यभावाच्च । कामप्रवृत्तेर्हि ज्ञानप्रतिकूलता सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धा, तस्माद् विरक्तस्य मुमुक्षोर्विनापि ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्याद्युपपन्नम् ।

ननु सावकाशत्वादनधिकृतविषयमेतदित्युक्तम्, यावज्जीवश्रुत्युपरोधात् ।

नैष दोषः, नितरां सावकाशत्वाद् 'यावज्जीव'श्रुतीनाम् अविद्वत्कामिकर्तव्यतां ह्यवोचाम सर्वकर्मणाम् । न तु निरपेक्षमेव

कर देख, तेरे पिता-पितामह आदि कहाँ चले गये ?"

इसी प्रकार सांख्य और योग-शास्त्रोंमें भी संन्यास ज्ञानका समीपवर्ती कहा जाता है। कामनाकी प्रवृत्तिका अभाव होनेके कारण भी वह ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन है। सकामप्रवृत्ति ज्ञानके प्रतिकूल है, यह तो सभी शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है; अतः विरक्त मुमुक्षुके लिये ज्ञान न होनेपर भी 'ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ले ले' इत्यादि विधि उचित ही है।

पूर्व०-किंतु हम यह पहले कह चुके हैं कि [सामग्रीके अभावमें] 'जीवनभर अग्निहोत्र करे' इस विधिका निरोध हो जानेसे 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इस श्रुतिको अवकाश मिल जाता है, इसलिये यही मानना उचित है कि संन्यास कर्मके अनधिकारीके लिये ही है।

सिद्धान्ती-यहाँ यह दोष नहीं आ सकता; क्योंकि जीवनभर अग्निहोत्र विधान करनेवाली श्रुतियोंको सदा ही अवकाश है [उनका कभी निरोध नहीं होता]; क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंकी कर्तव्यता अज्ञानी और सकाम पुरुषोंके लिये है, यह हम बता आये हैं। बिना किसी इच्छाके

जीवननिमित्तमेव कर्तव्यं कर्म, प्रायेण हि पुरुषाः कामबहुलाः, कामश्चानेकविषयोऽनेककर्मसाधनसाध्यश्च, अनेकफलसाधनानि च वैदिकानि कर्माणि दाराग्निसम्बन्धपुरुषकर्तव्यानि पुनः पुनश्चानुष्ठीयमानानि बहुफलानि कृष्यादिवद् वर्षशतसमाप्तीनि च गार्हस्थ्ये चारण्ये वा, अतस्तदपेक्षया 'यावज्जीव' श्रुतयः, "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इति च मन्त्रवर्णः। तस्मिंश्च पक्षे विश्वजित्सर्वमेधयोः कर्मपरित्यागः। यस्मिंश्च पक्षे यावज्जीवानुष्ठानं तदा श्मशानान्तत्वं भस्मान्तता च शरीरस्य।

ही केवल जीवनके निमित्त ही कर्म कर्तव्य नहीं है, प्रायः लोग अधिक कामनाएँ रखनेवाले होते हैं, कामनाके विषय भी बहुत-से हैं और वे अनेकों कर्म एवं साधनोंसे साध्य हैं; वैदिक कर्म भी अनेक फलोंके साधन हैं और वे स्त्री और अग्निसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषके ही कर्तव्य हैं, बारंबार अनुष्ठान किये जानेपर वे कृषि आदिके समान बहुत-से फल देनेवाले हैं तथा गार्हस्थ्य अथवा वानप्रस्थ आश्रममें सौ वर्षोंमें समाप्त होनेवाले हैं; अतः उनकी अपेक्षासे आजीवन अग्निहोत्रका विधान करनेवाली श्रुतियाँ और "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" यह मन्त्रवर्ण है। उसी पक्षमें विश्वजित् और सर्वमेधमें कर्मका परित्याग भी है और जिस पक्षमें कर्मका जीवनभर अनुष्ठान विहित है, वहीं शरीरका अन्त श्मशान और भस्मके रूपमें होता है।

इतरवर्णापेक्षया वा यावज्जीवश्रुतिः। न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति। तथा "मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः" "एकाश्रम्यं त्वाचार्याः" इत्येवमादीनां

अथवा आजीवन कर्मका विधान करनेवाली श्रुति ब्राह्मणेतर वर्णोंकी अपेक्षासे भी हो सकती है; क्योंकि क्षत्रिय और वैश्यके लिये संन्यासकी प्राप्ति नहीं है तथा "जिसकी विधि मन्त्रोंद्वारा बतलायी गयी है" "आचार्योंने इनको एकाश्रमी बतलाया है"

क्षत्रियवैश्यापेक्षत्वम् । तस्मात् पुरुषसामर्थ्यज्ञानवैराग्यकामाद्यपेक्षया व्युत्थानविकल्पक्रमपारिव्राज्यप्रतिपत्तिप्रकारा न विरुध्यन्ते । अनधिकृतानां च पृथग्विधानात् पारिव्राज्यस्य "स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा" इत्यादिना । तस्मात् सिद्धान्याश्रमान्तराण्यधिकृतानामेव ॥ १५ ॥

इत्यादि वाक्य क्षत्रिय और वैश्यकी अपेक्षासे हैं । अतः पुरुषके सामर्थ्य, ज्ञान, वैराग्य और कामनादिकी अपेक्षासे व्युत्थानके विकल्प तथा क्रमसे संन्यासग्रहणके प्रकारोंका विरोध नहीं है । स्नातक[1] हो अथवा अस्नातक[2] हो, उत्सन्नाग्नि[3] हो अथवा अनग्नि[4] हो" इत्यादि वाक्यद्वारा अनधिकारियोंके लिये तो पारिव्राज्यका अलग ही विधान किया है अतः यह सिद्ध हुआ कि आश्रमान्तर अधिकारियोंके लिये ही हैं ॥ १५ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्याये पञ्चमं मैत्रेयीब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्कीय काण्डकी वंश-परम्परा

अथ वꣳशाः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात् पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात् कौशिकः कौण्डिन्यात् कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च

---

१. जिसने विद्यासनातिके अनन्तर गुरुगृह त्याग किया हो ।

२. जिसने विद्यासनातिसे पूर्व ही गुरुगृह छोड़ दिया हो ।

३. जिसने स्त्रीके रहते हुए ही अग्निको त्याग दिया हो ।

४. जिसने स्त्रीके न रहनेपर अग्निको छोड़ा हो ।

गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गौतमाद् गौतमः सैतवात् सैतवः पाराशर्यायणात् पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद् गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात् सौकरायणः काषायणात् काषायणः सायकायनात् सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥ घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात् पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद् वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात् काप्यात् कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात् कुमारहारितो गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद् विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद् वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात् पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात् त्वाष्ट्राद् विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद् दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात् प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः

सनारुः सनातनात् सनातनः सनगात् सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अब [याज्ञवल्कीय काण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे, और गौतमसे तथा गौतमने ॥ १ ॥ आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गौतमसे, गौतमने सैतवसे, सैतवने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने गार्ग्यायणसे, गार्ग्यायणने उद्दालकायनसे, उद्दालकायनने जाबालायनसे, जाबालायनने माध्यन्दिनायनसे, माध्यन्दिनायनने सौकरायणसे, सौकरायणने काषायणसे, काषायणने सायकायनसे, सायकायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने ॥ २ ॥ घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे, और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजन्धनिसे, औपजन्धनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे, विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपाद् बाभ्रवसे, वत्सनपाद् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने मृत्यु प्राध्वंसनसे, मृत्यु प्राध्वंसनने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे, परमेष्ठीने ब्रह्मासे [यह विद्या प्राप्त की]। ब्रह्म स्वयम्भू है; ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ३ ॥

अथानन्तरं याज्ञवल्कीयस्य काण्डस्य वंश आरभ्यते यथा मधुकाण्डस्य वंशः । व्याख्यानं तु पूर्ववत् । ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नम ओमिति ॥ १-३ ॥

अथ—आगे याज्ञवल्कीय काण्डका वंश आरम्भ किया जाता है। जैसा कि मधुकाण्डका वंश था। इसकी व्याख्या तो पूर्ववत् समझनी चाहिये। ब्रह्म स्वयम्भू है, ब्रह्मको नमस्कार है, ॐ इति ॥ १-३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्याये षष्ठं वंशब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



पञ्चम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

पूर्णब्रह्म और उससे उत्पन्न होनेवाला पूर्ण कार्य

पूर्णमद इत्यादि खिलकाण्डमारभ्यते। अध्यायचतुष्टयेन यदेव 'साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरो निरुपाधिकोऽशनायाद्यतीतो नेति नेती'ति व्यपदेश्यो निर्धारितः यद्विज्ञानं केवलममृतत्वसाधनम्, अधुना तस्यैवात्मनः सोपाधिकस्य शब्दार्थादिव्यवहारविषयापन्नस्य पुरस्तादनुक्तान्युपासनानि कर्मभिरविरुद्धानि प्रकृष्टाभ्युदयसाधनानि क्रममुक्तिभाञ्जि च तानि वक्तव्यानि इति परः सन्दर्भः, सर्वोपासनशेषत्वेनोङ्कारो दमं दानं दयामित्येतानि च विधित्सितानि।

अब 'पूर्णमदः' इत्यादि [1]खिलकाण्ड आरम्भ किया जाता है। चार अध्यायोंके द्वारा जिस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म तथा जिस सर्वान्तर, निरुपाधिक, क्षुधादिसे रहित और 'नेति-नेति' इस प्रकार संकेत किये जाने योग्य आत्माका निश्चय किया गया है तथा जिसका भलीभाँति ज्ञान हो जाना ही एकमात्र अमृतत्वका साधन है, शब्दार्थादि व्यवहारकी विषयताको प्राप्त हुए उसी सोपाधिक आत्माकी उन उपासनाओंका, जिनका कि पहले उल्लेख नहीं हुआ और जो कर्मसे अविरुद्ध, परम उत्तम अभ्युदयकी साधनभूत एवं क्रममुक्तिकी प्राप्ति करानेवाली हैं, अब वर्णन करना है, इसीलिये आगेका ग्रन्थ है; सम्पूर्ण उपासनाओंके अङ्गरूपसे ओंकार, दम, दान और दया—इनका विधान करना अभीष्ट है।

---

१. पूर्वकथित विषयसे अवशिष्ट विषयको 'खिल' कहते हैं। अतः खिलकाण्डका अर्थ 'परिशिष्ट प्रकरण' समझना चाहिये।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ १ ॥

वह (परब्रह्म) पूर्ण है और वह (सोपाधिक ब्रह्म भी) पूर्ण है । यह (कार्यात्मक) पूर्ण (कारणात्मक) पूर्णसे ही उत्पन्न होता है । इस पूर्णका पूर्ण (अविद्याकृत अन्यत्वाभास) निकाल लेनेपर पूर्ण ही बच रहता है ॥ १ ॥

पूर्णमदः पूर्णं न कुतश्चिद् व्यावृत्तं व्यापीत्येतत् । निष्ठा च कर्तरि द्रष्टव्या । अद इति परोक्षाभिधायि सर्वनाम, तत् परं ब्रह्मेत्यर्थः । तत् सम्पूर्णमाकाशवद् व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकं च तदेवेदं सोपाधिकं नामरूपस्थं व्यवहारापन्नं पूर्णं स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव नोपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना ।

तदिदं विशेषापन्नं कार्यात्मकं ब्रह्म पूर्णात् कारणात्मन उदच्यत उद्रिच्यत उद्गच्छतीत्येतत् । यद्यपि कार्यात्मनोद्रिच्यते तथापि यत् स्वरूपं पूर्णत्वं परमात्मभावं तन्न जहाति पूर्णमेवोद्रिच्यते ।

'पूर्णमदः'-पूर्णम्—जो कहींसे भी व्यावृत्त नहीं है, यानी व्यापक है । पूर्ण शब्दमें जो निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्यय हुआ है, उसे कर्ता अर्थमें समझना चाहिये । 'अदः' यह पद परोक्ष अर्थको बतलानेवाला सर्वनाम है, इसका अर्थ है वह—परब्रह्म । वह सम्पूर्ण है, यानी आकाशके समान व्यापक, अन्तररहित और उपाधिशून्य है । वही यह नाम-रूपमें स्थित व्यवहारदशाको प्राप्त सोपाधिकरूप भी पूर्ण है अर्थात् अपने परमात्मस्वरूपसे व्यापक ही है—उपाधिपरिच्छिन्न (सीमित) विशेषरूपसे व्यापक नहीं है ।

वह यह विशेषभावको प्राप्त हुआ कार्यात्मक ब्रह्म पूर्णसे कारणात्मक ब्रह्मसे 'उदच्यते'—उद्रिक्त होता अर्थात् उद्भूत (प्रकट) होता है । यद्यपि यह कार्यरूपसे प्रकट होता है तो भी इसका स्वरूपभूत जो पूर्णत्व अर्थात् परमात्मभाव है, उसे नहीं छोड़ता अर्थात् पूर्ण ही प्रकट होता है ।

पूर्णस्य कार्यात्मनो ब्रह्मणः पूर्णं पूर्णत्वमादाय गृहीत्वा आत्मस्वरूपैकरसत्वमापद्य, विद्यया अविद्याकृतं भूतमात्रोपाधिसंसर्गजमन्यत्वावभासं तिरस्कृत्य पूर्णमेवानन्तरमबाह्यं प्रज्ञानघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्मावशिष्यते ।

'ब्रह्म वै' इत्यादि-मन्त्रेण समानार्थत्व-प्रदर्शनम्

यदुक्तम् 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् तस्मात्तत् सर्वमभवत्' (१ । ४ । १०) इत्येषोऽस्य मन्त्रस्यार्थः । तत्र ब्रह्मेत्यस्यार्थः पूर्णमद इति । इदं पूर्णमिति ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यस्यार्थः । तथा च श्रुत्यन्तरम् "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" (क० उ० २ । १ । १०) इति । अतोऽदःशब्दवाच्यं पूर्णं ब्रह्म तदेवेदं पूर्णं कार्यस्थं नामरूपोपाधिसंयुक्तमविद्ययोद्रिक्तम् । तस्मादेव परमार्थस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासमानम् । तद् यदात्मानमेव परं पूर्णं ब्रह्म विदित्वा 'अहमदः पूर्णं

इस पूर्ण यानी कार्यरूप ब्रह्मका सम्पूर्ण पूर्णत्व 'आदाय'-लेकर अर्थात् उसे आत्मस्वरूपके साथ एकरस करके विद्याके द्वारा अविद्याकृत भूतमात्रोपाधिके संसर्गसे होनेवाली भेद-प्रतीतिको मिटा देनेपर पूर्ण ही अर्थात् अन्तरबाह्यशून्य प्रज्ञानघनैकरसस्वरूप शुद्ध ब्रह्म ही शेष रहता है ।

पहले जो यह कहा गया था 'ब्रह्म[1] वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् तस्मात् तत् सर्वमभवत्' यही इस मन्त्रका भी अर्थ है । इसमें 'ब्रह्म' इस पदका अर्थ है 'पूर्णमदः' और 'इदं पूर्णम्' यह 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस वाक्यका अर्थ है । ऐसी ही एक दूसरी श्रुति भी है "यदेवेह[2] तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।" अतः 'अदः' शब्दवाच्य जो पूर्णब्रह्म है वही 'इदं पूर्णम्' अर्थात् कार्यवर्गमें स्थित नाम-रूपात्मक उपाधिसे युक्त अविद्याजनित (कार्यब्रह्म) है । वह उसी परमार्थस्वरूप परब्रह्मसे अन्यके समान प्रतीत होता है । ऐसी स्थितिमें जब अपनेको ही पूर्ण परब्रह्म जानकर 'मैं ही वह पूर्ण ब्रह्म हूँ'

१. आरम्भमें यह एक ब्रह्म ही था, उसने अपनेको जाना, इसलिये वह सर्व हो गया ।

२. जो यहाँ है, वही परलोकमें है और जो परलोकमें है, वही यहाँ (इस देहेन्द्रियरूप उपाधिमें) है ।

ब्रह्मास्मि' इत्येवं पूर्णमादाय तिरस्कृत्यापूर्णस्वरूपतामविद्याकृतां नामरूपोपाधिसम्पर्कजामेतया ब्रह्मविद्यया पूर्णमेव केवलमवशिष्यते । तथा चोक्तम्—'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (१ । ४ । १०) इति ।

इस प्रकार पूर्णत्वको लेकर इस ब्रह्मविद्याके द्वारा अविद्याकृत नाम-रूपोपाधिके संसर्गसे उत्पन्न हुई अपूर्णरूपताका तिरस्कार कर दिया जाता है तो केवल पूर्ण ही रह जाता है। यही बात 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इस वाक्यके द्वारा कही गयी है।

यः सर्वोपनिषदर्थो ब्रह्म स एषोऽनेन मन्त्रेणानूद्यत उत्तरसम्बन्धार्थम् । ब्रह्मविद्यासाधनत्वेन हि वक्ष्यमाणानि साधनान्योङ्कारदमदानदयाख्यानि विधित्सितानि खिलप्रकरणसम्बन्धात् सर्वोपासनाङ्गभूतानि च ।

जो सारे उपनिषद्का अर्थभूत [ब्रह्म] है, उसीका आगेके ग्रन्थसे सम्बन्ध प्रदर्शित करनेके लिये इस मन्त्रके द्वारा अनुवाद किया जाता है तथा जो खिलप्रकरणके सम्बन्धसे सारी उपासनाओंके अङ्गभूत हैं, उन ओङ्कार, दम, दान और दयासंज्ञक साधनोंका भी यहाँ ब्रह्मविद्याके साधनरूपसे विधान करना अभीष्ट है।

द्वैताद्वैतवादिमत-प्रदर्शनम्

अत्रैके वर्णयन्ति पूर्णात् कारणात् पूर्णं कार्यमुद्रिच्यते । उद्रिक्तं कार्यं वर्तमानकालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण । पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णतामादायात्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारणरूपम् । एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि

यहाँ एक पक्षवाले (द्वैताद्वैतवादी) विद्वान् ऐसा वर्णन करते हैं कि पूर्ण कारणसे पूर्ण कार्य उत्पन्न होता है। वह उत्पन्न हुआ कार्य वर्तमान समयमें भी पूर्ण ही है, अर्थात् द्वैतरूपसे परमार्थ वस्तुभूत ही है। फिर प्रलयकालमें पूर्ण कार्यकी पूर्णताको लेकर उसका आत्मामें ही आधान करनेपर कारणरूप पूर्ण ही रह जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—तीनों ही कालोंमें

कालेषु कार्यकारणयोः पूर्णतैव । सा चैकैव पूर्णता कार्यकारणयोर्भेदेन व्यपदिश्यते । एवं च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म ।

यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्यात्मक एव । यथा च जलं सत्यं तदुद्भवाश्च तरङ्गफेनबुद्बुदादयः समुद्रात्मभूता एवाविर्भावतिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्या एव । एवं सर्वमिदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरङ्गादिस्थानीयम्, समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म ।

एवं च किल द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यम्, यदा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिकावदनृतम्, अद्वैतमेव परमार्थतः, तदा किल कर्मकाण्डं विषयाभावादप्रमाणं भवति । तथा च विरोध एव स्यात्—वेदैकदेशभूतोपनिषत् प्रमाणम्, परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वात्; अप्रमाणं कर्मकाण्डम्, असद्द्वैतविषयत्वात् । तद्विरोधपरिजिही-

कार्य-कारणकी पूर्णता ही है। यह एक पूर्णता ही कार्य-कारणके भेदसे कही जाती है। इस प्रकार द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म है।

जिस प्रकार समुद्र जल-तरङ्ग-फेन बुद्बुदादिरूप ही है और उसमें जैसे जल सत्य है, उसी प्रकार उससे होनेवाले आविर्भाव-तिरोभाव-धर्मी तरङ्ग, फेन एवं बुद्बुदादि भी समुद्ररूप और परमार्थ सत्य ही हैं। इस प्रकार यह जलतरङ्गादिस्थानीय सारा द्वैत परमार्थ सत्य ही है और परब्रह्म तो समुद्रके जलस्थानीय ही है।

इस प्रकार द्वैतके सत्य होनेपर ही कर्मकाण्डकी प्रामाणिकता हो सकती है। जब द्वैत केवल द्वैत-सा तथा अविद्याकृत और मृगतृष्णाके समान मिथ्या है, परमार्थतः अद्वैत ही सत्य है—ऐसा कहते हैं तब तो अपने विषयका अभाव हो जानेके कारण कर्मकाण्ड अप्रामाणिक ही हो जाता है और ऐसा माननेपर परमार्थ अद्वैत वस्तुका प्रतिपादन करनेवाली होनेके कारण वेदकी एकदेशभूत उपनिषदें तो प्रामाणिक हैं; किंतु असत् द्वैतविषयक होनेसे कर्मकाण्ड अप्रामाणिक है—यह विरोध अनिवार्य होगा, अतः उस विरोधका

एषा श्रुत्यैतदुक्तं कार्यकारणयोः सत्यत्वं समुद्रवत् 'पूर्णमदः' इत्यादिनेति ।

परिहार करनेकी इच्छासे ही 'पूर्णमदः' इत्यादि मन्त्रद्वारा श्रुतिने समुद्रके समान यह कार्य-कारणकी सत्यता बतलायी है ।

तदसत्, विशिष्टविषयापवादविकल्पयोरसम्भवात् । न हीयं सुविवक्षिता कल्पना, कस्मात् ? यथा क्रियाविषय उत्सर्गप्राप्तस्यैकदेशेऽपवादः क्रियते, यथा "अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" (छा० उ० ८।१५।१) इति हिंसा सर्वभूतविषयोत्सर्गेण निवारिता, तीर्थे विशिष्टविषये ज्योतिष्टोमादावनुज्ञायते; न च

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि [निर्विशेष ब्रह्ममें] विशिष्टके विषयभूत अपवाद और विकल्प सम्भव नहीं हैं । [आपकी] यह कल्पना सुविवक्षित (युक्तियुक्त) नहीं है । क्यों ?—जिस प्रकार क्रियाके विषयमें उत्सर्गसे (सामान्यतः) प्राप्त किसी क्रियाका किसी एक देशमें [विशेष वचनद्वारा] अपवाद कर दिया जाता है; जैसे "तीर्थों (पुण्यकर्मों) को छोड़कर अन्यत्र सभी प्राणियोंकी हिंसा न करता हुआ" इस वाक्यमें जिस सब प्राणियोंकी हिंसाका सामान्यतः निवारण किया है, उसकी तीर्थ यानी विशिष्ट विषय—ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंमें अनुज्ञा दी जाती है ।*

* वास्तवमें इस श्रुतिके द्वारा कहीं भी हिंसाका विधान नहीं प्राप्त होता है । इसके द्वारा तो सर्वत्र अहिंसाका ही आदेश किया गया है । छान्दोग्य-उपनिषद्में श्रीशंकराचार्यने 'अन्यत्र तीर्थेभ्यः' की व्याख्या इस प्रकार की है—'भिक्षानिमित्तमटनादिनापि परपीडा स्यादित्यत आह—अन्यत्र तीर्थेभ्यः । तीर्थं नाम शास्त्रानुज्ञाविषयस्ततोऽन्यत्रेत्यर्थः ।' इसका भाव इस प्रकार है—भिक्षाके लिये घूमने आदिसे भी तो दूसरोंको पीड़ा पहुँच सकती है, इसके निवारणके लिये कहा—अन्यत्र तीर्थेभ्यः । जो शास्त्राज्ञाका विषय है अर्थात् जिसके लिये शास्त्रकी आज्ञा है; उस कर्मको करते हुए यदि किसीको अनायास कष्ट पहुँच जाय तो उसके लिये कोई दोष नहीं होता; यदि ऐसी बात नहीं होती तो भिक्षाटनका दृष्टान्त नहीं दिया

तथा वस्तुविषय इहाद्वैतं ब्रह्मोत्सर्गेण प्रतिपाद्य पुनस्तदेकदेशेऽपवदितुं शक्यते, ब्रह्मणोऽद्वैतत्वादेवैकदेशानुपपत्तेः ।

वैसा उस प्रकार वस्तुके विषयमें यहाँ सामान्यतः अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन कर फिर उसके किसी एक देशमें ब्रह्मका अपवाद (बाध) नहीं किया जा सकता; क्योंकि अद्वैत होनेके कारण ब्रह्मका कोई एक देश नहीं हो सकता ।

तथा विकल्पानुपपत्तेश्च । यथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति ग्रहणाग्रहणयोः पुरुषाधीनत्वाद् विकल्पो भवति; न त्विह तथा वस्तुविषये 'द्वैतं वा स्याद्वैतं वा' इति विकल्पः सम्भवति, अपुरुषतन्त्रत्वादात्मवस्तुनः; विरोधाच्च द्वैताद्वैतत्वयोरेकस्य । तस्मान्न सुविवक्षितेयं कल्पना ।

इसी प्रकार विकल्प न हो सकनेके कारण भी ऐसा होना असम्भव है । जिस प्रकार 'अतिरात्रयागमें षोडशीका ग्रहण करे' 'अतिरात्रयागमें षोडशीका ग्रहण नहीं करे' इस प्रकार ग्रहण और अग्रहण पुरुषके अधीन होनेके कारण उनमें विकल्प[1] हो सकता है, उस प्रकार यहाँ वस्तुके विषयमें 'वह द्वैत हो अथवा अद्वैत हो' ऐसा विकल्प[1] नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मतत्व पुरुषके अधीन नहीं है । इसके सिवा एक ही वस्तुका द्वैताद्वैतरूप होना विरुद्ध भी है । इसलिये यह कल्पना सुविवक्षित नहीं है ।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च—सैन्धवघनवत् प्रज्ञानैकरसघनं निरन्तरं

श्रुति और युक्तिसे विरुद्ध होनेके कारण भी ऐसा कहना ठीक नहीं है । 'सैन्धवघनके समान प्रज्ञानैक-

जाता । भिक्षाटनमें किसीकी हिंसा नहीं की जाती; अनजानमें पैरसे दबकर किसी जीवको कष्ट पहुँचनेकी सम्भावनामात्र रहती है ।

१. विकल्प इस प्रकार है; 'क्वचिद् अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति क्वचिद् न गृह्णाति' अर्थात् 'कहीं अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण करे और कहीं न करे ।'

पूर्वापरबाह्याभ्यन्तरभेदविवर्जितं सबाह्याभ्यन्तरमजं नेति नेत्य-स्थूलमनण्वह्रस्वमजरमभयम-मृतम्—इत्येवमाद्याः श्रुतयो निश्चितार्थाः संशयविपर्यासाश-ङ्कारहिताः सर्वाः समुद्रे प्रक्षिप्ताः स्युरकिञ्चित्करत्वात् ।

रसघनस्वरूप निरवकाश तथा पूर्वापर और बाह्याभ्यन्तर भेदसे रहित है' 'सबाह्याभ्यन्तर अज है' 'नेति नेति' 'अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अजर, अभय और अमृत है' इत्यादि श्रुतियाँ, जो निश्चितार्थ और संशय-विपर्यय एवं शङ्कासे रहित हैं, सारी ही समुद्रमें डाल देनी होंगी; क्योंकि रहकर भी वे कुछ कर नहीं सकतीं ।

तथा न्यायविरोधोऽपि साव-यवस्यानेकात्मकस्य क्रियावतो नित्यत्वानुपपत्तेः । नित्यत्वं चात्मनः स्मृत्यादिदर्शनादनु-मीयते । तद्विरोधश्च प्राप्नोत्य-नित्यत्वे, भवत्कल्पनानर्थक्यं च; स्फुटमेव चास्मिन् पक्षे कर्मकाण्डानर्थक्यम्; अकृता-भ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गात् ।

इसी प्रकार युक्तिसे भी विरोध आता है; क्योंकि सावयव, अनेका-त्मक और क्रियावान् पदार्थका नित्य होना सम्भव नहीं है । और स्मृति आदि देखनेसे आत्माके नित्यत्वका अनुमान होता है । उसका अनित्यत्व माननेपर उस युक्तिसिद्ध नित्यत्वसे विरोध प्राप्त होता है । [और यदि आत्माका अनित्यत्व स्वीकार भी किया जाय तो भी] आपकी कल्पना व्यर्थ ही ठहरती है । इस पक्षमें कर्मकाण्डकी व्यर्थता स्पष्ट ही है, क्योंकि [आत्माको अनित्य माननेपर] बिना कियेकी प्राप्ति और किये हुएका नाश होने-का प्रसङ्ग उपस्थित होगा ।

ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वे समुद्रादिदृष्टान्ता विद्यन्ते, कथ-मुच्यते भवतैकस्य द्वैताद्वैतत्वं विरुद्धमिति ।

पूर्व०—किंतु ब्रह्मके द्वैताद्वैतरूप होनेमें समुद्रादि दृष्टान्त विद्यमान हैं, फिर आप ऐसा कैसे कहते हैं कि एकका द्वैताद्वैतरूप होना विरुद्ध है ?

न, अन्यविषयत्वात् । नित्य-निरवयववस्तुविषयं हि विरुद्धत्व-मवोचाम द्वैताद्वैतत्वस्य, न कार्य-विषये सावयवे । तस्माच्छ्रुति-स्मृतिन्यायविरोधादनुपपन्नेयं कल्पना; अस्याः कल्पनाया वरमु पनिषत्परित्याग एव ।

अध्येयत्वाच्च न शास्त्रार्थेयं कल्पना । न हि जननमरणाद्यन-र्थशतसहस्रभेदसमाकुलं समुद्र-वनादिवत् सावयवमनेकरसं ब्रह्म ध्येयत्वेन विज्ञेयत्वेन वा श्रुत्योपदिश्यते ।

प्रज्ञानघनतां चोपदिशति, "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४ । ४ । २०) इति च अनेक-धादर्शनापवादाच्च—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (४।४।१९) इति ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि [हम जो विरोध दिखलाते हैं] उसका विषय दूसरा है । हमने नित्य और निरवयव वस्तुके विषय-में द्वैताद्वैतका विरोध बतलाया है, सावयव कार्यके विषयमें नहीं । अतः श्रुति-स्मृति और युक्तिसे विरोध होनेके कारण यह कल्पना अनुचित है । इस कल्पनाकी अपेक्षा तो उपनिषद्का परित्याग कर देना ही अच्छा है ।

सावयव ब्रह्मका ध्येयरूपसे उपदेश न होनेके कारण भी यह कल्पना शास्त्रका तात्पर्य नहीं हो सकती । जो जन्म-मरणादि सैकड़ों-सहस्रों अनर्थरूप भेदसे सम्पन्न और समुद्र एवं वनादिके समान सावयव तथा अनेक रस है, ऐसे ब्रह्मका श्रुतिद्वारा ध्येय या ज्ञेयरूपसे उपदेश नहीं किया जाता ।

इसके सिवा श्रुति उसकी प्रज्ञानघनताका भी उपदेश देती है तथा ऐसा भी कहती है कि "उसे निरन्तर एक प्रकार ही देखना चाहिये ।" "जो यहाँ नानावत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है", इस प्रकार अनेकरूप देखनेकी निन्दा की जानेसे भी यही सिद्ध होता है । और

यच्च श्रुत्या निन्दितं तन्न कर्तव्यम्, यच्च न क्रियते न स शास्त्रार्थः। ब्रह्मणोऽनेकरसत्वमनेकधात्वं च द्वैतरूपं निन्दितत्वान्न द्रष्टव्यम्; अतो न शास्त्रार्थः। यत्त्वेकरसत्वं ब्रह्मणः; तद् द्रष्टव्यत्वात् प्रशस्तम्, प्रशस्तत्वाच्च शास्त्रार्थो भवितुमर्हति।

यत्तूक्तं वेदैकदेशस्याप्रामाण्यं कर्मविषये द्वैताभावादद्वैते च प्रामाण्यमिति तन्न; यथाप्राप्तोपदेशार्थत्वात्। न हि द्वैतमद्वैतं वा वस्तु जातमात्रमेव पुरुषं ज्ञापयित्वा पश्चात् कर्म वा ब्रह्मविद्यां वोपदिशति शास्त्रम्।

न चोपदेशार्हं द्वैतम्; जातमात्रप्राणिबुद्धिगम्यत्वात्। न च द्वैतस्यानृतत्वबुद्धिः प्रथममेव

जिसकी श्रुतिने निन्दा की हो वह कर्तव्य नहीं हो सकता तथा जो किया नहीं जाता वह शास्त्रका तात्पर्य नहीं हो सकता। ब्रह्मके द्वैतरूप अनेकरसत्व और नानात्वकी निन्दा की गयी, इसलिये उसे ब्रह्ममें नहीं देखना चाहिये, अतएव वह शास्त्रका तात्पर्य नहीं है। ब्रह्मकी जो एकरसता है, वही द्रष्टव्य होनेके कारण प्रशस्त है और प्रशस्त होनेके कारण वह शास्त्रका तात्पर्य भी हो सकती है।

और ऐसा जो कहा कि द्वैतका अभाव होनेके कारण वेदके कर्मविषयक एक भागकी तो अप्रामाणिकता हो जायगी और अद्वैतविषयमें प्रामाणिकता होगी, सो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि शास्त्र तो यथाप्राप्त वस्तुका उपदेश करनेके लिये है। जन्म लेते ही किसी पुरुषको द्वैत या अद्वैत-तत्त्वका बोध कराकर फिर उसे कर्म या ब्रह्मविद्याका उपदेश शास्त्र नहीं कर देता।

इसके सिवा द्वैत तो उपदेशके योग्य है भी नहीं, क्योंकि वह तो प्रत्येक जन्मधारी जीवकी बुद्धिका विषय है। आरम्भसे ही किसीकी द्वैतमें मिथ्यात्वबुद्धि नहीं होती,

कस्यचित् स्यात्, येन द्वैतस्य सत्यत्वमुपदिश्य पश्चादात्मनः प्रामाण्यं प्रतिपादयेच्छास्त्रम्। नापि पाषण्डिभिरपि प्रस्थापिताः शास्त्रस्य प्रामाण्यं न गृह्णीयुः।

तस्माद् यथाप्राप्तमेव द्वैतमविद्याकृतं स्वाभाविकमुपादाय स्वाभाविक्यैवाविद्यया युक्ताय रागद्वेषादिदोषवते यथाभिमतपुरुषार्थसाधनं कर्मोपदिशत्यग्रे पश्चात् प्रसिद्धक्रियाकारकफलस्वरूपदोषदर्शनवते तद्विपरीतौदासीन्यस्वरूपावस्थानफलार्थिने तदुपायभूतामात्मैकत्वदर्शनात्मिकां ब्रह्मविद्यामुपदिशति। अथैवं सति तदौदासीन्यस्वरूपावस्थाने फले प्राप्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यं प्रत्यर्थित्वं निवर्तते। तदभावाच्छास्त्रस्यापि शास्त्रत्वं तं प्रति निवर्तत एव।

तथा प्रतिपुरुषं परिसमाप्तं शास्त्रमिति न शास्त्रविरोधगन्धो-

जिससे कि शास्त्र उसे द्वैतका सत्यत्व समझकर फिर अपनी प्रामाणिकताका प्रतिपादन करे। तथा [बौद्धादि] पाखण्डियोंद्वारा श्रेयोमार्गमें प्रवृत्त किये हुए शिष्यगण भी शास्त्रका प्रामाण्य स्वीकार न करें-ऐसी बात भी नहीं है।

अतः अविद्याकृत यथाप्राप्त स्वाभाविक द्वैतको ही ग्रहणकर जो स्वाभाविक अविद्यासे युक्त और रागद्वेषवान् है, उस पुरुषको शास्त्र पहले उसके अभिमत कर्मरूप पुरुषार्थके साधनका उपदेश करता है। पीछे जो प्रसिद्ध क्रिया, कारक और फलस्वरूप कर्ममें दोष देखनेवाला तथा उससे विपरीत उदासीनरूपसे स्थितिरूप फलका इच्छुक होता है, उसे ही वह उसकी उपायभूता आत्मैकत्वदर्शनरूपा ब्रह्मविद्याका उपदेश करता है। फिर ऐसा होनेपर उस औदासीन्यस्वरूपमें स्थितिरूप फलकी प्राप्ति हो जानेपर शास्त्रके प्रामाण्यके प्रति आकांक्षाकी निवृत्ति हो जाती है। उसका अभाव हो जानेपर उसके लिये शास्त्रका शास्त्रत्व भी निवृत्त हो ही जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक पुरुषके प्रति शास्त्रका प्रयोजन पूरा हो जाता है, इसलिये शास्त्रके विरोधकी तो गन्ध

ऽप्यस्ति, अद्वैतज्ञानावसानत्वाच्छास्त्रशिष्यशासनादिद्वैतभेदस्य। अन्यतमावस्थाने हि विरोधः स्यादवस्थितस्य, इतरेतरापेक्षत्वात्तु शास्त्रशिष्यशासनानां नान्यतमोऽप्यवतिष्ठते। सर्वसमाप्तौ तु कस्य विरोध आशङ्क्येताद्वैते केवले शिवे सिद्धे? नाप्यविरोधता अत एव।

भी नहीं है; क्योंकि शास्त्र, शिष्य और शासनादि द्वैतभेदकी तो अद्वैतज्ञान होनेपर समाप्ति हो जाती है। यदि इनमेंसे कोई भी रह जाता तो उस रहे हुएका विरोध रहता। किंतु ये शास्त्र, शिष्य और शासन तो एक-दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले हैं, इसलिये इनमेंसे कोई भी स्थित नहीं रहता। इस प्रकार सबकी समाप्ति हो जानेपर तो एकमात्र, शिवस्वरूप, नित्यसिद्ध अद्वैतमें किसके विरोधकी आशङ्का की जाय? और इसीसे उसका किसीसे अविरोध भी नहीं है।

अथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः—द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात्। यदापि समुद्रादिवद् द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्माभ्युपगच्छामो नान्यद् वस्त्वन्तरम्, तदापि भवदुक्ताच्छास्त्रविरोधान्न मुच्यामहे। कथम्? एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमोहाद्यतीतत्वादुपदेशं न काङ्क्षति। न चोपदेष्टा अन्यो ब्रह्मणो द्वैता-

अब हम ब्रह्मको द्वैताद्वैतरूप मानकर भी बतलाते हैं कि उसके द्वैताद्वैतरूप होनेपर भी शास्त्रका विरोध ऐसा ही है। जब हम समुद्रादिके समान द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार करते हैं, उसके सिवा कोई दूसरी वस्तु नहीं मानते उस समय भी हम आपके बतलाये हुए शास्त्रविरोधसे मुक्त नहीं होते। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं-] द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म है, वह शोकमोहादिसे अतीत होनेके कारण उपदेशकी आकांक्षा नहीं रख सकता। इसके सिवा उपदेश करनेवाला भी

द्वैतरूपस्य ब्रह्मण एकस्यैवाभ्युपगमात् ।

अथ द्वैतविषयस्यानेकत्वाद्न्योन्योपदेशो न ब्रह्मविषय उपदेश इति चेत् ? तदा द्वैताद्वैतात्मकमेकमेव ब्रह्म नान्यदस्तीति विरुध्यते । यस्मिन् द्वैतविषयेऽन्योन्योपदेशः सोऽन्योऽद्वैतं चान्यदेवेति समुद्रदृष्टान्तो विरुद्धः । न च समुद्रोदकैकत्ववद् विज्ञानैकत्वे ब्रह्मणोऽन्यत्रोपदेशग्रहणादिकल्पना सम्भवति । न हि हस्तादिद्वैताद्वैतात्मके देवदत्ते वाक्कर्णयोर्देवदत्तैकदेशभूतयोर्वागुपदेष्ट्री कर्णः केवल उपदेशस्य ग्रहीता, देवदत्तस्तु नोपदेष्टा नाप्युपदेशस्य ग्रहीतेति कल्पयितुं शक्यते; समुद्रैकोदकात्मत्ववदेकविज्ञानवत्त्वाद् देवदत्तस्य । त-

ब्रह्मसे भिन्न नहीं हो सकता; क्योंकि द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है ।

और यदि ऐसा कहो कि द्वैतविषय अनेकरूप है, इसलिये उसमें परस्पर उपदेश हो सकता है; ब्रह्मरूप विषयमें उपदेश नहीं होता, तब तो द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म है, उससे भिन्न कोई नहीं है—इस कथनसे विरोध होगा । जिस द्वैतविषयमें परस्पर उपदेश होता है, वह तो अन्य होगा और अद्वैत अन्य होगा—इस प्रकार समुद्रका दृष्टान्त विरुद्ध ही रहा । यदि समुद्रके जलकी एकताके समान विज्ञानकी भी एकता है, तो ब्रह्मसे भिन्न उपदेशग्रहणादिकी कल्पना संभव नहीं हो सकती । हस्तपादादि द्वैताद्वैतरूप देवदत्तमें देवदत्तके एकदेशभूत वाणी और कर्णमेंसे केवल वाणी उपदेश करनेवाली है और अकेला कर्ण उपदेशको ग्रहण करनेवाला है, देवदत्त न तो उपदेश देनेवाला है और न उसे ग्रहण करनेवाला—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि जिस प्रकार समुद्र एकमात्र जलस्वरूप है, उसी प्रकार देवदत्त भी एक ही

स्माच्छुतिन्यायविरोधश्चाभिप्रेतार्थासिद्धिश्चैवं कल्पनायां स्यात् । तस्माद् यथाव्याख्यात एवास्माभिः 'पूर्णमदः' इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः ।

विज्ञानवान् है । अतः ऐसी कल्पना करनेमें श्रुति और युक्तिसे विरोध तथा अभिमत अर्थकी असिद्धि भी होगी । इसलिये 'पूर्णमदः' इत्यादि इस मन्त्रका अर्थ, जैसी हमने व्याख्या की है, वही है ।

ॐ खं ब्रह्म और उसकी उपासनाका वर्णन

ॐ खं ब्रह्म ।* खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद् वेदितव्यम् ॥ १ ॥

आकाश ब्रह्म ॐकार है । आकाश [यहाँ जड नहीं] सनातन [परमात्मा] है । 'जिसमें वायु रहता, वह आकाश ही ख है'-ऐसा कौरव्यायणीपुत्रने कहा है । यह ओङ्कार वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं; क्योंकि जो ज्ञातव्य है, उसका इससे ज्ञान होता है ॥ १ ॥

ॐ खं ब्रह्मेति मन्त्रोऽयं चान्यत्राविनियुक्त इह ब्राह्मणेन ध्यानकर्मणि विनियुज्यते । अत्र च ब्रह्मेति विशेष्याभिधानं खमिति विशेषणम् । विशेषणविशेष्ययोश्च सामानाधिकरण्येननिर्देशो नीलोत्पलवत् खं ब्रह्मेति ।

'ॐ खं ब्रह्म' यह मन्त्र है । इसका कहीं अन्यत्र विनियोग नहीं हुआ, यहाँ ब्राह्मण इसका ध्यानकर्ममें विनियोग करता है । इसमें भी 'ब्रह्म' यह विशेष्य-नाम है और 'खम्' यह विशेषण है । इस प्रकार 'नील कमल' के समान 'खं ब्रह्म' इस विशेष्य और विशेषणका यहाँ [1]समानाधिकरणरूपसे निर्देश किया गया

* 'ॐ खं ब्रह्म' यह मन्त्र है । इससे आगे इसका व्याख्यानभूत ब्राह्मण है ।

१. जिन पदोंकी विभक्ति, वचन और लिङ्ग एक-से हों, वे 'समानाधिकरण' होते हैं । यहाँ 'ख' और 'ब्रह्म'—दोनों ही शब्दोंमें प्रथमा विभक्ति, एकवचन और नपुंसक लिङ्ग है ।

ब्रह्मशब्दो बृहद्वस्तुमात्रास्पदोऽविशेषितः, अतो विशेष्यते खं ब्रह्मेति ।

यत्तत् खं ब्रह्म तदोंशब्दवाच्यमोंशब्दस्वरूपमेव वा, उभयथापि सामानाधिकरण्यमविरुद्धम् । इह चं ब्रह्मोपासनसाधनत्वार्थमोंशब्दः प्रयुक्तः । तथा च श्रुत्यन्तरात्— "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" (क० उ० १ । २ । १७) "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (महानारा० २४ । १) "ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" (प्र०उ० ५ । ५) "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्" (मु० उ० २ । २ । ६) इत्यादेः ।

अन्यार्थासम्भवाच्चोपदेशस्य— यथान्यत्र "ओमिति शंसत्योमित्युद्गायति" (छा० उ० १ । १ । ९) इत्येवमादौ स्वाध्यायारम्भापवर्गयोरोङ्कारप्रयोगो विनियोगादवगम्यते, न च तथार्थान्तरमिहावगम्यते । तस्माद् ध्यानसाधनत्वेनैवेहोङ्कारशब्दस्योपदेशः ।

है । कोई विशेषण न होनेपर 'ब्रह्म' शब्द बृहत् वस्तुमात्रका वाचक है, इसलिये इसे 'खं ब्रह्म' इस प्रकार विशेषित किया जाता है ।

वह जो खं ब्रह्म है वह ॐ शब्द-वाच्य है अथवा ॐ शब्दस्वरूप ही है, दोनों ही प्रकारसे इनके समानाधिकरणत्वमें कोई विरोध नहीं आता । यहाँ ब्रह्मोपासनाके साधनार्थ होनेके कारण ॐ शब्दका प्रयोग किया गया है । ऐसा ही "यह श्रेष्ठ आलम्बन है, यह उत्कृष्ट आलम्बन है", "ॐ इस प्रकार उच्चारण कर चित्तको संयत करे", "ॐ इस अक्षरके द्वारा ही परब्रह्मका ध्यान करे", "ॐ इस प्रकार आत्माका ध्यान करो" इत्यादि अन्य श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

इसके सिवा इस उपदेशका कोई दूसरा अर्थ सम्भव न होनेसे भी उसे उपासनार्थ ही मानना चाहिये । जिस प्रकार "ॐ ऐसा कहकर शास्त्रपाठ करता है, ॐ ऐसा कहकर उद्गान करता है" इत्यादि स्थलोंमें विनियोगसे स्वाध्यायके आरम्भ और अन्तमें ओङ्कारका प्रयोग विदित होता है, उस प्रकार यहाँ इसका कोई अर्थान्तर ज्ञात नहीं होता । अतः यहाँ ध्यानके साधनरूपसे ही ओङ्कार शब्दका उपदेश किया गया है ।

यद्यपि ब्रह्मात्मादिशब्दा ब्रह्मणो वाचकास्तथापि श्रुतिप्रामाण्याद् ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानमोङ्कारः। अत एव ब्रह्मप्रतिपत्ताविदं परं साधनम्। तच्च द्विप्रकारेण प्रतीकत्वेनाभिधानत्वेन च। प्रतीकत्वेन यथा—विष्ण्वादिप्रतिमाभेदेनैवमोङ्कारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यः। तथा ह्योङ्कारालम्बनस्य ब्रह्म प्रसीदति—

"एतदालम्बनं श्रेष्ठ-
मेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा
ब्रह्मलोके महीयते ॥"

(क० उ० १।२।१७) इति श्रुतेः। तत्र खमिति भौतिके खे प्रतीतिर्मा भूदित्याह—खं पुराणं चिरन्तनं खं परमात्माकाशमित्यर्थः। यत्तत् परमात्माकाशं पुराणं खं चक्षुराद्यविषयत्वान्नि-

यद्यपि 'ब्रह्म' और 'आत्मा' आदि शब्द ब्रह्मके वाचक हैं, तथापि श्रुतिप्रामाण्यसे ब्रह्मका अत्यन्त समीपवर्ती (प्रियतम) नाम ओङ्कार है। इसीसे यह ब्रह्मकी प्राप्तिमें परमसाधन है। वह साधन भी दो प्रकारसे है—प्रतीकरूपसे और नामरूपसे। प्रतीकरूपसे, जैसे—विष्णु आदिकी प्रतिमाओंका विष्णु आदिके साथ अभेदरूपसे चिन्तन किया जाता है, उसी प्रकार 'ओंकार ही ब्रह्म है' ऐसा चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार ओङ्कार जिसका आलम्बन है, उससे ब्रह्म प्रसन्न होता है, जैसा कि "यह श्रेष्ठ आलम्बन है, यह परम आलम्बन है' इस आलम्बनको जानकर उपासक ब्रह्मलोकमें पूजित होता है," इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

यहाँ 'खम्' इससे[1] भौतिक आकाश न समझ लिया जाय—इसलिये श्रुति कहती है'—'खं पुराणम्'—सनातन आकाश अर्थात् परमात्माकाश। वह जो परमात्माकाशरूप पुरातन आकाश है, वह चक्षु आदिका विषय न

१. इसका विशद विचार ब्रह्मसूत्रके आकाशाद्यधिकरणमें किया गया है। वहाँ अनेक युक्तियोंके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि उपनिषदोंमें आकाश, काल, इन्द्र आदि पद परमात्माके लिये ही आये हैं।

रालम्बनमशक्यं ग्रहीतुमिति श्रद्धाभक्तिभ्यां भावविशेषेण चोङ्कार आवेशयति। यथा विष्णवङ्गाङ्कितायां शिलादिप्रतिमायां विष्णुं लोक एवम्।

वायुरं खं वायुरस्मिन् विद्यत इति वायुरं खं खमात्रं खमित्युच्यते न पुराणं खमित्येवमाह स्म। कोऽसौ? कौरव्यायणीपुत्रः। वायुरे हि खे मुख्यः खशब्दव्यवहारः, तस्मान्मुख्ये सम्प्रत्ययो युक्त इति मन्यते।

तत्र यदि पुराणं खं ब्रह्म निरुपाधिस्वरूपं यदि वा वायुरं खं सोपाधिकं ब्रह्म सर्वथाप्योङ्कारः, प्रतीकत्वेनैव प्रतिमावत् साधनत्वं

होनेके कारण निरालम्बन है और ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये श्रुति श्रद्धाभक्तिपूर्वक भावविशेषके द्वारा उसका ओङ्कारमें आवेश करती है। जिस प्रकार लोक विष्णुके अङ्गोंसे अङ्कित शिलादिकी प्रतिमामें विष्णुका आवेश करता है, उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये।

'वायुरं खम्'-जिसमें वायु रहता है, ऐसा यह वायुर ख अर्थात् आकाशमात्र ही 'खम्' इस पदसे कहा जाता है, सनातन आकाश नहीं—ऐसा कहा है। वह कहनेवाला कौन है?—कौरव्यायणीपुत्र। ख शब्दका मुख्य व्यवहार वायुर आकाशमें ही है, अतः [गौण[1]-मुख्य न्यायसे] इसका मुख्य अर्थमें ही प्रत्यय मानना उचित है-ऐसा वह मानता है।

सो यहाँ 'खम्' इस पदका अभिप्राय सनातन आकाशरूप निरुपाधिक ब्रह्मसे हो या वायुर आकाशरूप सोपाधिक ब्रह्मसे, सभी प्रकार प्रतिमाके समान प्रतीकरूपसे

१. 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः'—गौण और मुख्य—इनमेंसे मुख्यमें ही कार्यकी सम्यक् प्रतीति होती है—इस न्यायके अनुसार मुख्य अर्थमें प्रतीति ठीक ही है।

प्रतिपद्यते—"एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" (प्र० उ० ५ । २) इति श्रुत्यन्तरात् । केवलं खशब्दार्थे विप्रतिपत्तिः ।

ही ओङ्कारकी साधनता सिद्ध होती है, जैसा कि "हे सत्यकाम ! यह जो ओङ्कार है यही पर और अपर ब्रह्म है" इस दूसरी श्रुतिसे सिद्ध होता है । यहाँ जो मतभेद है, वह तो 'ख' शब्दके अर्थमें ही है ।

वेदोऽयमोङ्कारो वेद विजानात्यनेन यद् वेदितव्यम् । तस्माद् वेद ॐकारो वाचकोऽभिधानम् । तेनाभिधानेन यद् वेदितव्यं ब्रह्म प्रकाश्यमानमभिधीयमानं वेद साधको विजानात्युपलभते । तस्माद् वेदोऽयमिति ब्राह्मणा विदुः । तस्माद् ब्राह्मणानामभिधानत्वेन साधनत्वमभिप्रेतमोङ्कारस्य ।

यह ओङ्कार वेद है । जो वेदितव्य है, उसका जिससे ज्ञान हो उसे 'वेद' कहते हैं । अतः ओङ्कार वेदवाचक यानी नाम है । उस नामसे जो वेदितव्य—प्रकाशित होनेवाला अर्थात् कहा जानेवाला ब्रह्म है; उसे साधक जानता यानी उपलब्ध करता है । अतः यह वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं । इसलिये ब्राह्मणोंको यह मान्य है कि ओङ्कार अभिधान (नाम) रूपसे ब्रह्म-साक्षात्कारका साधन है ।

अथवा 'वेदोऽयम्' इत्याद्यर्थवादः । कथमोङ्कारो ब्रह्मणः प्रतीकत्वेन विहितः ? ॐ खं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यात् तस्य स्तुतिरिदानीं वेदत्वेन । सर्वो ह्ययं वेद ओङ्कार एव । एतत्प्रभव एतदात्मकः सर्वो ऋग्यजुःसामादिभेदभिन्न एष ओङ्कारः

अथवा 'वेदोऽयम्' इत्यादि वाक्य अर्थवाद है । किस प्रकार—ओङ्कारका ब्रह्मके प्रतीकरूपसे विधान किया गया है ? क्योंकि 'ॐ खं ब्रह्म' इस प्रकार उनका सामानाधिकरण्य है । अब वेदरूपसे उसकी स्तुति की जाती है । यह सारा वेद ओङ्कार ही है । इससे प्रकट होनेवाला और इसीका स्वरूपभूत यह सब ऋक्, यजु और सामरूप भेदोंमें विभिन्न हुआ श्रुतिसमुदाय भी ओङ्कार ही है; जैसा कि

"तद् यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि" (छा० उ० २ । २३ । ४) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ।

"जिस प्रकार शङ्कुसे सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं" इत्यादि अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है।

इतश्चायं वेद ॐकारो यद् वेदितव्यं तत् सर्वं वेदितव्यमोङ्कारेणैव वेदैनेनातोऽयमोङ्कारो वेदः। इतरस्यापि वेदस्य वेदत्वमत एव तस्माद् विशिष्टोऽयमोङ्कारः साधनत्वेन प्रतिपत्तव्य इति।

यह वेद इसलिये भी ओङ्कार है, क्योंकि जो वेदितव्य है, वह सब इस ओङ्काररूप वेदसे ही जाना जा सकता है। अतः यह ओङ्कार वेद है इसीलिये इससे भिन्न वेदका भी वेदत्व है। उससे विशिष्ट जो यह ओङ्कार है, इस साधनरूपसे जानना चाहिये।

अथवा वेदः सः, कोऽसौ ? यं ब्राह्मणा विदुरोङ्कारम्। ब्राह्मणानां ह्यसौ प्रणवोद्गीथादिविकल्पैर्विज्ञेयः । तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने साधनत्वेन सर्वो वेदः प्रयुक्तो भवतीति ॥१॥

अथवा वह वेद है। वह कौन ? जिसे ब्राह्मण ओङ्काररूपसे जानते हैं, क्योंकि यह ओङ्कार ब्राह्मणोंका प्रणव-उद्गीथादि विकल्परूपसे विज्ञेय (उपास्य) है। और उसका साधनरूपसे प्रयोग करनेपर सारे ही वेदका प्रयोग हो जाता है ॥ १ ॥

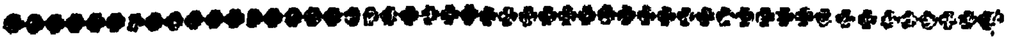
इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये प्रथमम् 'ॐ खं ब्रह्म' ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

प्रजापतिका देव, मनुष्य और असुर तीनोंको एक ही अक्षर 'द' से पृथक्-पृथक् दम, दान और दयाका उपदेश

अधुना दमादिसाधनत्रयविधानार्थोऽयमारम्भः—

अब दमादि तीन साधनोंका विधान करनेके लिये यह आरम्भ किया जाता है—



अथाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

देव, मनुष्य और असुर—इन प्रजापतिके तीन पुत्रोंने पिता प्रजापतिके यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया। ब्रह्मचर्यवास कर चुकनेपर देवोंने कहा, 'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे प्रजापतिने 'द' यह अक्षर कहा और पूछा 'समझ गये क्या ?' इसपर उन्होंने कहा, 'समझ गये, आपने हमसे दमन करो ऐसा कहा है।' तब प्रजापतिने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये' ॥१॥

त्रयास्त्रिसंख्याकाः प्राजापत्याः प्रजापतेरपत्यानि प्राजापत्यास्ते किं प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यं शिष्यत्ववृत्तेर्ब्रह्मचर्यस्य प्राधान्याच्छिष्याः सन्तो ब्रह्मचर्यमूषुरुषितवन्त इत्यर्थः। के ते? विशेषतो देवा मनुष्या असुराश्च। ते चोषित्वा ब्रह्मचर्यं किमकुर्वन्? इत्युच्यते तेषां देवा ऊचुः पितरं प्रजापतिम्, किमिति? ब्रवीतु कथयतु नः अस्मभ्यं यदनुशासनं भवानिति।

'त्रयाः'—तीनसंख्यावाले 'प्राजापत्याः'-प्रजापतिके पुत्र थे। उन्होंने क्या किया—पिता प्रजापतिके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया—शिष्यभावसे बर्तनेवाले पुरुषके जितने धर्म हैं, उनमें ब्रह्मचर्यकी प्रधानता है, इसलिये शिष्य होकर उन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया—ऐसा इसका तात्पर्य है। वे कौन थे? विशेषतः देव, मनुष्य और असुर। उन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करके क्या किया? सो बतलाया जाता है—उनमेंसे देवताओंने पिता प्रजापतिसे कहा। क्या कहा? आपका हमारे लिये जो अनुशासन हो वह आप कहिये।

तेभ्य एवमर्थिभ्यो हैतदक्षरं वर्णमात्रमुवाच द इति—उक्त्वा च तान् पप्रच्छ पिता किं व्यज्ञासिष्टा३ इति मयोपदेशार्थ-अभिहितस्याक्षरस्यार्थं विज्ञातवन्त आहोस्विन्न ? इति ।

देवा ऊचुः—व्यज्ञासिष्मेति विज्ञातवन्तो वयम् । यद्येवमुच्यतां किं मयोक्तम् ? इति, देवा ऊचुः—दाम्यत—अदान्ता यूयं स्वभावतः, अतो दान्ता भवत—इति नोऽस्मानात्थ कथयसि । इतर आह—ओमिति, सम्यग् व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले उन देवताओंसे प्रजापतिने 'द' यह अक्षर—केवल वर्णमात्र कहा। और उनसे कहकर पिता प्रजापतिने पूछा, 'समझ गये क्या ? अर्थात् मैंने उपदेशके लिये जो अक्षर उच्चारण किया, उसका अर्थ तुम समझ गये या नहीं ?'

देवताओंने कहा, 'समझ गये, हम आपका अभिप्राय जान गये।' [प्रजापति बोले—] 'यदि ऐसी बात है, तो बताओ, मैंने क्या कहा है?' देवताओंने कहा, 'आप हमसे कहते हैं, दमन-इन्द्रियनिग्रह करो, तुमलोग स्वभावसे अदान्त (अजितेन्द्रिय) हो, इसलिये दमनशील बनो।' इतर (प्रजापति) ने कहा, 'हाँ, ठीक समझे हो' ॥ १ ॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

फिर प्रजापतिसे मनुष्योंने कहा, 'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, ''समझ गये क्या ?'' मनुष्योंने कहा, 'समझ गये, आपने हमसे 'दान करो' ऐसा कहा है।' तब प्रजापतिने 'हाँ समझ गये' ऐसा कहा ॥ २ ॥

समानमन्यत् । स्वभावतो लुब्धा यूयमतो यथाशक्ति संविभजत दत्त—इति नोऽस्मानात्थ किमन्यद्ब्रूयान्नो हितमिति मनुष्याः ॥ २ ॥

इस मन्त्रका अन्य सब अर्थ पूर्ववत् है। 'तुम स्वभावतः लोभी हो इसलिये यथाशक्ति संविभाग करो-दान दो-ऐसा आपने हमसे कहा है। इसके सिवा आप हमारे हितकी और क्या बात कहेंगे?'-ऐसा मनुष्योंने कहा ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयꣳशिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥

फिर प्रजापतिसे असुरोंने कहा, 'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये क्या?' असुरोंने कहा, 'समझ गये, आपने हमसे 'दया करो' ऐसा कहा है।' तब प्रजापतिने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा। उस इस प्रजापतिके अनुशासनका मेघगर्जनारूपी दैवी वाक् आज भी द द द इस प्रकार अनुवाद करती है, अर्थात् दमन करो, दान दो, दया करो। अतः दम, दान और दया—इन तीनोंको सीखे ॥ ३ ॥

तथा असुरा दयध्वमिति, क्रूरा यूयं हिंसादिपराः, अतो दयध्वं प्राणिषु दयां कुरुत—इति। तदेतत् प्रजापतेरनुशासन-

इसी प्रकार असुरोंने अपना अभिप्राय 'दया करो' ऐसा बतलाया, 'क्योंकि तुम क्रूर और हिंसापरायण हो, इसलिये 'दयध्वम्'—प्राणियों-पर दया करो।' प्रजापतिके इस अनुशासनकी आज भी अनु-

मद्याप्यनुवर्तत एव। यः पूर्वं प्रजापतिर्देवादीननुशशास सोऽद्याप्यनुशास्त्येव दैव्या स्तनयित्नुलक्षणया वाचा। कथम्? एषा श्रूयते दैवी वाक्। कासौ? स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमित्येषां वाक्यानामुपलक्षणाय त्रिर्दकार उच्चार्यतेऽनुकृतिर्न तु स्तनयित्नुशब्दस्त्रिरेव संख्यानियमस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात्।

यस्मादद्यापि प्रजापतिर्दाम्यत दत्त दयध्वमित्यनुशास्त्येव तस्मात् कारणादेतत्त्रयम् किं। तत्त्रयम्? इत्युच्यते—दमं दानं दयामिति शिक्षेदुपादद्याद् प्रजापतेरनुशासनमस्माभिः कर्तव्यमित्येवं मतिं कुर्यात्। तथा च स्मृतिः—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥" (गीता १६। २१) इति। अस्य हि विधेः शेषः पूर्वः।

वृत्ति होती ही है। जिस प्रजापतिने पूर्वकालमें देवादिका अनुशासन किया था, वह आज भी मेघगर्जनरूपी दैवी वाणीसे उनका अनुशासन करता ही है। सो किस प्रकार? क्योंकि यह दैवी वाक् सुनी जाती है। वह दैवी वाक् क्या है? 'द द द' ऐसी मेघगर्जना। 'दमन करो, दान दो, दया करो' इन वाक्योंको उपलक्षित करनेके लिये [दान, दया, दमन आदि अक्षरोंके] अनुकरणके रूपमें यह तीन बार दकारका उच्चारण हुआ है। क्योंकि मेघगर्जनका शब्द तीन बार ही होता हो—ऐसा संख्याका नियम लोकमें प्रसिद्ध नहीं है।

क्योंकि आज भी प्रजापति 'दमन करो, दान करो, दया करो' इस प्रकार अनुशासन करता ही है, इस कारणसे इन तीनको—तीन कौन? सो बतलाते हैं—दम, दान और दया इन तीनको सीखे—ग्रहण करे अर्थात् हमें प्रजापतिके अनुशासनका पालन करना चाहिये—ऐसी बुद्धि करे। ऐसी ही यह स्मृति भी है "काम, क्रोध और लोभ—ये नरकके तीन दरवाजे हैं, ये आत्माका नाश करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंको त्याग दे।" इस विधिका ही पूर्वग्रन्थ शेष है।

तथापि देवादीनुद्दिश्य किमर्थं दकारत्रयमुच्चारितवान् प्रजापतिः पृथगनुशासनार्थिभ्यः। ते वा कथं विवेकेन प्रतिपन्नाः प्रजापतेर्मनोगतं समानेनैव दकारवर्णमात्रेणेति पराभिप्रायज्ञा विकल्पयन्ति।

अत्रैक आहुरदान्तत्वादानत्वादयालुत्वैरपराधित्वमात्मनो मन्यमानाः शङ्किता एव प्रजापतावूषुः किं नो वक्ष्यतीति? तेषां च दकारश्रवणमात्रादेवात्माशङ्कावशेन तदर्थप्रतिपत्तिरभूत्। लोकेऽपि हि प्रसिद्धम्—पुत्राः शिष्याश्चानुशास्याः सन्तो दोषान्निवर्तयितव्या इति। अतो युक्तं प्रजापतेर्दकारमात्रोच्चारणम्, दमादित्रये च दकारान्वयादात्मनो दोषानुरूप्येण देवादीनां विवेकेन प्रति-

तो भी अलग-अलग उपदेश-ग्रहणके इच्छुक देवादिके उद्देश्यसे प्रजापतिने तीन दकारोंका उच्चारण क्यों किया और उन्होंने भी एक अक्षर दकारमात्रसे ही प्रजापतिके मनोगत भावको पृथक्-पृथक् कैसे समझ लिया—इस प्रकार दूसरोंके अभिप्रायको समझनेवाले वादीलोग विकल्प करते हैं।

यहाँ एक वादीका कथन है—अदान्तता (अजितेन्द्रियता), अदानता (कंजूसी या लोभ) और अदयालुता (निर्दयता) के कारण अपनेको अपराधी मानकर शङ्कित रहते हुए ही उन्होंने यह सोचकर कि, 'देखें ये हमें क्या उपदेश देते हैं' प्रजापतिके यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया था। अतः अपनी आशङ्काके कारण उन्हें दकारके श्रवणमात्रसे ही उस अर्थकी प्रतीति हो गयी। लोकमें भी यह प्रसिद्ध ही है कि पुत्र और शिष्य, जिनका कि अनुशासन करना हो, उन्हें पहले दोषसे ही निवृत्त करना चाहिये। अतः प्रजापतिका दकारमात्र उच्चारण करना उचित ही है। तथा, दमादि तीनोंमें दकारका अन्वय होनेसे अपने दोषके अनुसार देवादिका उन्हें अलग-अलग समझ लेना

पत्तुं चेति। फलं त्वेतदात्मदोषज्ञाने सति दोषान्निवर्तयितुं शक्यतेऽल्पेनाप्युपदेशेन यथा देवादयो दकारमात्रेणेति।

नन्वेतत् त्रयाणां देवादीनामनुशासनं देवादिभिरप्येकैकमेवोपादेयमद्यत्वेऽपि न तु त्रयं मनुष्यैः शिक्षितव्यमिति।

अत्रोच्यते—पूर्वैर्देवादिभिर्विशिष्टैरनुष्ठितमेतत् त्रयं तस्मान्मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमिति।

तत्र दयालुत्वस्याननुष्ठेयत्वं स्यात्, कथम्? असुरैरप्रशस्तैरनुष्ठितत्वादिति चेत्।

न, तुल्यत्वात् त्रयाणाम्, अतोऽन्योऽत्राभिप्रायः प्रजापतेः पुत्रा देवादयस्त्रयः, पुत्रेभ्यश्च हितमेव पित्रोपदेष्टव्यम्, प्रजापतिश्च हितज्ञो नान्यथोपदिशति, तस्मात्

भी उचित ही है। इसका फल तो यही है कि अपने दोषका ज्ञान होनेपर थोड़े-से उपदेशसे भी दोषसे निवृत्त किया जा सकता है, जैसे कि दकारमात्रसे देवादिको निवृत्त कर दिया गया था।

शङ्का—किंतु यह देवता आदि तीनोंको उपदेश किया गया और उन देवादिकोंके लिये इनमेंसे एक-एक ही उपादेय हुआ; अतः आजकल भी मनुष्योंको उन तीनोंहीके सीखनेकी आवश्यकता नहीं है।

समाधान—यहाँ कहना यह है कि पूर्ववर्ती देवता आदि विशिष्ट व्यक्तियोंने इन तीनों साधनोंका अनुष्ठान किया था, अतः मनुष्योंको भी इन्हें सीखना ही चाहिये।

शङ्का-ऐसी स्थितिमें भी दयालुता अनुष्ठानके योग्य नहीं हो सकती; यदि कहो क्यों? तो इसलिये कि इसका नीच असुरोंद्वारा अनुष्ठान किया गया था।

समाधान—नहीं, क्योंकि ये तीनों समान ही हैं; अतः यहाँ इससे दूसरा अभिप्राय है—देवादि तीनों प्रजापतिके पुत्र हैं और पुत्रोंको पिताके द्वारा हितकी बातका ही उपदेश किया जाना चाहिये। प्रजापति भी उनके हितकी बात जाननेवाले हैं, इसलिये उन्हें अहितका उपदेश नहीं करते।

पुत्रानुशासनं प्रजापतेः परमेतद्धितम्, अतो मनुष्यैरेवैतत्त्रयं शिक्षितव्यमिति।

अथवा न देवा असुरा वा अन्ये केचन विद्यन्ते मनुष्येभ्यः, मनुष्याणामेवादान्ता येऽन्यैरुत्तमैर्गुणैः संपन्नास्ते देवाः, लोभप्रधाना मनुष्याः, तथा हिंसापराः क्रूरा असुराः, त एव मनुष्या अदान्तत्वादिदोषत्रयमपेक्ष्य देवादिशब्दभाजो भवन्ति, इतरांश्च गुणान् सत्त्वरजस्तमांस्यपेक्ष्य। अतो मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमेतत् त्रयमिति, तदपेक्षयैव प्रजापतिनोपदिष्टत्वात्। तथा हि मनुष्या अदान्ता लुब्धाः क्रूराश्च दृश्यन्ते, तथा च स्मृतिः—"कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्।" (गीता १६। २१) इति॥ ३॥

अतः प्रजापतिका यह पुत्रोंको दिया हुआ उपदेश उनका परम हित है। इसलिये मनुष्योंको भी इन तीनोंहीकी शिक्षा लेनी चाहिये।

अथवा यों समझो कि यहाँ मनुष्योंसे भिन्न कोई देव या असुर नहीं हैं; मनुष्योंमें ही जो दमनशील नहीं हैं, किंतु अन्य उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं उन्हें ही देव कहा है, लोभप्रधान व्यक्ति मनुष्य कहे गये हैं तथा हिंसापरायण और क्रूर व्यक्ति असुर हैं। वे मनुष्य ही अदान्तता आदि तीन दोषोंकी अपेक्षासे तथा सत्त्व, रज और तम—इन अन्य गुणोंके अनुसार देवता आदि नाम धारण करते हैं। अतः ये तीनों साधन मनुष्योंको ही सीखने चाहिये; क्योंकि उनके उद्देश्यसे ही प्रजापतिने इनका उपदेश किया है। तथा मनुष्य अजितेन्द्रिय, लोभी और क्रूर प्रकृतिके देखे भी जाते ही हैं, ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—"काम, क्रोध और लोभ [ये तीन नरकके द्वार हैं] अतः इन तीनोंका त्याग करना चाहिये"॥ ३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये द्वितीयं प्राजापत्यब्राह्मणम्॥ २॥

तृतीय ब्राह्मण

हृदय-ब्रह्मकी उपासना

दमादिसाधनत्रयं सर्वोपासनशेषं विहितम्। दान्तोऽलुब्धो दयालुः सन् सर्वोपासनेष्वधिक्रियते। तत्र निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो दर्शनमतिक्रान्तम्, अथाधुना सोपाधिकस्य तस्यैवाभ्युदयफलानि वक्तव्यानि, इत्येवमर्थोऽयमारम्भः—

समस्त उपासनाओंके अङ्गभूत दमादि तीन साधनोंका विधान किया गया। दमनशील, निर्लोभ और दयालु होनेपर ही पुरुषका सारी उपासनाओंमें अधिकार होता है। तहाँ निरुपाधिक ब्रह्मज्ञानका निरूपण तो समाप्त हो चुका, अब सोपाधिक ब्रह्मकी अभ्युदयरूप फलवाली उपासनाएँ बतलानी हैं, इसीके लिये आरम्भ किया जाता है—

एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत् सर्वं तदेतत् त्र्यक्षरꣳहृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

जो हृदय है, वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, यह सर्व है, यह हृदय तीन अक्षरवाला नाम है। 'हृ' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्वजन और अन्यजन बलि समर्पण करते हैं। 'द' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन देते हैं। 'यम्' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, वह स्वर्गलोकको जाता है ॥ १ ॥

एष प्रजापतिर्यद् हृदयं प्रजापतिरनुशास्तीत्यनन्तरमेवाभिहितम्। कः पुनरसावनुशास्ता प्रजापतिः? इत्युच्यते—एष प्रजापतिः

जो हृदय है वह प्रजापति है। प्रजापति अनुशासन करता है—यह अभी कहा जा चुका है। किंतु यह अनुशासनकर्ता प्रजापति कौन है? सो बतलाया जाता है—यह प्रजापति

की उत्कृष्टता दिखायी गयी है तथा द्वितीय ब्राह्मणमें श्वेतकेतु और प्रवाहणका प्रसङ्ग है। श्वेतकेतु केवल शास्त्राध्ययन करके ही अपनेको विद्वान् मानने लगा था। वह राजसभामें अपनी विद्याकी धाक जमानेके उद्देश्यसे पाञ्चालनरेश प्रवाहणकी सभामें आया। राजाने उसे अभिमानी समझकर पाँच प्रश्न किये। उन प्रश्नोंका सम्बन्ध था जीवन-मरणकी समस्यासे। श्वेतकेतुसे उनका कुछ भी उत्तर न बना। तब वह उदास होकर अपने पिता और गुरु आरुणिके पास आया। उसने भी उन प्रश्नोंके विषयमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। तब वे पिता-पुत्र दोनों प्रवाहणके पास गये और उससे उन प्रश्नोंका उत्तर पूछा। प्रवाहणने उन्हें पञ्चाग्निविद्याका उपदेश किया। इस प्रसङ्गका निरूपण छान्दोग्योपनिषद्में भी है। शाखाभेदसे एक ही विद्याका अनेक स्थानोंपर उल्लेख हो जाता है।

इसके पश्चात् तीसरे और चौथे ब्राह्मणोंमें क्रमशः श्रीमन्थ और पुत्रमन्थ कर्मोंका वर्णन है। ये दोनों कर्म परस्परसम्बद्ध हैं। इनका प्रधान प्रयोजन सत्सन्ततिकी प्राप्ति है। पाँचवें ब्राह्मणमें खिलकाण्डकी आचार्य-परम्परा है। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होती है।

यहाँतक संक्षेपमें इस महाग्रन्थके प्रधान-प्रधान प्रसङ्गोंपर दृष्टिपात किया गया है। इस उपनिषद्की प्रतिपादन-शैली बहुत ही सुव्यवस्थित और युक्तियुक्त है। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार इसमें दो-दो अध्यायोंके मधु, याज्ञवल्कीय और खिलसंज्ञक तीन काण्ड हैं। इनमेंसे मधु और खिलकाण्डोंमें प्रधानतया उपासना-का तथा याज्ञवल्कीय काण्डमें ज्ञानका विवेचन हुआ है। भाष्य-कारने इसकी व्याख्या करते हुए अपना हृदय खोलकर रख दिया है। इसके भाषान्तरकी समाप्तिके साथ इन पंक्तियोंके लेखकके जीवनकी भी एक साध पूरी हो जाती है। आजसे प्रायः नौ वर्ष पूर्व इसके चित्तमें भगवान् शङ्कराचार्यके उपनिषद्भाष्यका अनुवाद करनेका संकल्प हुआ था। वस्तुतः वह सर्वान्तर्यामी श्रीहरिकी ही प्रेरणा थी। उनकी लीलाका मर्म कुछ जाना नहीं जाता। वे न जाने किससे क्या काम कराना चाहते हैं और फिर उसे किस प्रकार पूरा करा लेते हैं—यह एक गम्भीर रहस्य ही है। अपनी विद्या-बुद्धिको देखते हुए ऐसा संकल्प करना मेरा दुःसाहस ही था। कोई विधिवत् अध्ययनका भी तो बल नहीं था। किन्तु

कोऽसौ ? यद् हृदयं हृदयमिति हृदयस्था बुद्धिरुच्यते। यस्मिञ्छाकल्यब्राह्मणान्ते नामरूपकर्मणामुपसंहार उक्तो दिग्विभागद्वारेण, तदेतत् सर्वभूतप्रतिष्ठं सर्वभूतात्मभूतं हृदयं प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा। एतद् ब्रह्म—बृहत्त्वात् सर्वात्मत्वाच्च ब्रह्म; एतत् सर्वम्; उक्तं पञ्चमाध्याये हृदयस्य सर्वत्वम्। तत् सर्वं यस्मात् तस्मादुपास्यं हृदयं ब्रह्म।

तत्र हृदयनामाक्षरविषयमेव तावदुपासनमुच्यते। तदेतद् हृदयमिति नाम त्र्यक्षरम्, त्रीण्यक्षराण्यस्येति त्र्यक्षरम्। कानि पुनस्तानि त्रीण्यक्षराण्युच्यन्ते ? हृ इत्येकमक्षरम्, अभिहरन्ति हृतेराहृतिकर्मणो हृ इत्येतद् रूपमिति यो वेद यस्माद् हृदयाय ब्रह्मणे स्वाश्चेन्द्रियाण्यन्ये च विषयाः शब्दादयः स्वं स्वं

है। वह कौन है ? जो हृदय है। 'हृदयम्' इस पदके द्वारा हृदयस्था बुद्धि कही जाती है। जिसमें कि शाकल्यब्राह्मणके अन्तमें दिग्विभागके द्वारा नाम, रूप और कर्मोंका उपसंहार बतलाया गया है। वह यह सम्पूर्ण भूतोंमें प्रतिष्ठित तथा सबका आत्मस्वरूप हृदय प्रजापति—प्रजाओंका रचयिता है। यह ब्रह्म है—बृहत् तथा सबका आत्मा होनेके कारण यह ब्रह्म है। यह सर्व है। पञ्चम अध्यायमें हृदयके सर्वत्वका वर्णन किया जा चुका है। क्योंकि वह सर्व है, इसलिये वह हृदयरूप ब्रह्म उपास्य है।

अब 'हृदय' इस नामके अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासना ही बतलायी जाती है। वह यह 'हृदयम्' ऐसा नाम त्र्यक्षर है, इसके तीन ही अक्षर हैं, इसलिये यह त्र्यक्षर है। वे तीन अक्षर कौन-से हैं, सो बतलाये जाते हैं। 'हृ' यह एक अक्षर है। 'अभिहरन्ति'—आहरण जिसका कर्म है, उस 'हृ' धातुका 'हृ' यह रूप है; जो ऐसा जानता है; [उसको मिलने वाला फल बताते हैं] चूँकि हृदयरूप ब्रह्मके प्रति ही 'स्वाः'—इन्द्रियाँ और शब्दादि दूसरे

कार्यमभिहरन्ति हृदयं च भोक्त्रर्थमभिहरति। अतो हृदयनाम्नो हृ इत्येतदक्षरमिति यो वेदास्मै विदुषेऽभिहरन्ति स्वाश्च ज्ञातयोऽन्ये चासंबद्धाः; बलिमिति वाक्यशेषः। विज्ञानानुरूप्येणतत् फलम्।

तथा द इत्येतदप्येकाक्षरमेतदपि दानार्थस्य ददातेर्द इत्येतद्रूपं हृदयनामाक्षरत्वेन निबद्धम्। अत्रापि—हृदयाय ब्रह्मणे स्वाश्च करणान्यन्ये च विषयाः स्वं स्वं वीर्यं ददति हृदयं च भोक्त्रे ददाति स्वं वीर्यमतो दकार इत्येवं यो वेदास्मै ददति स्वाश्चान्ये च।

तथा यमित्येतदप्येकमक्षरम्, इणो गत्यर्थस्य यमित्येतद्रूपमस्मिन्नाम्नि निबद्धमिति यो वेद स स्वर्गं लोकमेति। एवं नामाक्षरादपीदृशं विशिष्टं फलं प्रा-

विषय अपने-अपने कार्यका अभिहरण करते हैं और हृदय उन्हें भोक्ताके प्रति ले जाता है। अतः 'हृदय' नामका 'हृ' यह एक अक्षर है—ऐसा जो जानता है उस विद्वान्के प्रति 'स्वाः'—उसके सजातीय और 'अन्ये'—दूसरे असम्बद्ध पुरुष बलि अभिहरण करते हैं। 'बलिम्' यह वाक्यशेष है। विज्ञान (उपासना) के अनुरूप ही यह फल है।

तथा 'द' यह भी एक अक्षर है। यह भी दानार्थक 'दा' धातुका 'द' यह रूप 'हृदय' नामके अक्षर रूपसे निबद्ध है। यहाँ भी हृदयरूप ब्रह्मको 'स्वाः'-इन्द्रियाँ और 'अन्ये'-अर्थात् अन्यान्य विषय अपना-अपना वीर्य देते हैं। हृदय भी भोक्ताको अपना वीर्य देता है। अतः जो दकार इस प्रकारसे उसे जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन देते हैं।

तथा 'यम्' यह भी एक अक्षर है। गत्यर्थक 'इण्' धातुका 'यम्' यह रूप इस नाममें निबद्ध है—ऐसा जो जानता है, वह स्वर्गलोकको जाता है। इस प्रकार नामके अक्षरमात्रसे जब पुरुष ऐसा विशिष्ट फल

प्नोति किमु वक्तव्यं हृदयस्वरूपोपासनादिति हृदयस्तुतये नामाक्षरोपन्यासः ॥ १ ॥

प्राप्त कर लेता है तो हृदयस्वरूप ब्रह्मकी उपासनासे जो फल मिलेगा उसके विषयमें तो कहना ही क्या है? इस प्रकार हृदयकी स्तुतिके लिये उस नामके अक्षरोंका उपन्यास किया गया है ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये तृतीयं हृदयब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सत्य-ब्रह्मकी उपासना

तस्यैव हृदयाख्यस्य ब्रह्मणः सत्यमित्युपासनं विधित्सन्नाह—

उस हृदयसंज्ञक ब्रह्मकी ही 'सत्य' ऐसी उपासनाका विधान करनेकी इच्छासे श्रुति कहती है—

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकाञ्जित इन्न्वसावसद्य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

वही—वह हृदय-ब्रह्म ही वह था जो कि सत्य ही है। जो भी इस महत्, यक्ष (पूज्य) प्रथम उत्पन्न हुएको 'यह सत्य ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इन लोकोंको जीत लेता है। [उसका शत्रु] उसके अधीन हो जाता है—असत् (अभावभूत) हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्, यक्ष (पूजनीय) प्रथम उत्पन्न हुएको 'सत्य ब्रह्म'—इस प्रकार जानता है [उसे उपर्युक्त फल मिलता है], क्योंकि ब्रह्म सत्य ही है ॥ १ ॥

तत् तदिति हृदयं ब्रह्म परामृष्टम्, इति स्मरणार्थम्, तद् यद् हृदयं ब्रह्म स्मर्यत इत्येकस्तच्छब्दः, तदेतदुच्यते प्रकारान्तरेणेति द्वितीयस्तच्छब्दः, किं पुनस्तत् प्रकारान्तरम्? एतदेव तदित्येतच्छब्देन संबद्ध्यत इति तृतीयस्तच्छब्दः। एतदिति वक्ष्यमाणं बुद्धौ सन्निधीकृत्याह—आस बभूव। किं पुनरेतदेवास यदुक्तं हृदयं ब्रह्मेति तदिति तृतीयस्तच्छब्दो विनियुक्तः।

किं तदिति विशेषतो निर्दिशति—'सत्यमेव सच्च त्यच्च मूर्तं चामूर्तं च सत्यं ब्रह्म पञ्चभूतात्मकमित्येतत्।' स यः कश्चित् सत्यात्मानमेतं महन्महत्त्वाद् यक्षं

तत्—'तत्' ऐसा कहकर हृदय-ब्रह्मका परामर्श किया गया है। 'वै' यह अव्यय स्मरणके लिये है। तत्—वह अर्थात् जो हृदय-ब्रह्म स्मरणका विषय हो रहा है, वह—इस भावको व्यक्त करनेके लिये प्रथम तत् शब्दका प्रयोग हुआ है। उसीका यह प्रकारान्तरसे वर्णन किया जाता है, इसलिये [अर्थात् जिसका स्मरण होता है उसीका यह वर्णन है- इस सम्बन्धको व्यक्त करनेके लिये] दूसरा 'तत्' शब्द दिया है। किन्तु वह प्रकारान्तर क्या है ? इसी बातका [तीसरे] 'तत्' शब्दसे सम्बन्ध दिखाया गया है, इसीसे तीसरा 'तत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। फिर 'एतत्' इस शब्दसे श्रुति कही जानेवाली बातको बुद्धिमें रखकर कहती है—'आस'—था। किंतु वह कौन था ? यही, जिसका कि हृदय-ब्रह्म ऐसा कहकर वर्णन किया है— यह बतानेके लिये तीसरे 'तत्' शब्दका प्रयोग किया गया है।

वह क्या है ? इसपर श्रुति उसका विशेष रूपसे निर्देश करती है—'सत्यमेव'। सत् और त्यत्—मूर्त और अमूर्त सत्य ब्रह्म ही है, अर्थात् पञ्चभूतात्मक है, जो कोई इस सत्यात्मा, महान् होनेके कारण महत्, यक्ष—

पूज्यं प्रथमजं प्रथमजातं सर्वस्मात् संसारिण एतद्देवाग्रे जातं ब्रह्म, अतः प्रथमजम्, वेद विजानाति सत्यं ब्रह्मेति। तस्येदं फलमुच्यते—

यथा सत्येन ब्रह्मणेमे लोका आत्मसात्कृता जिताः, एवं सत्यात्मानं ब्रह्म महद् यक्षं प्रथमजं वेद स जयतीमाँल्लोकान्। किं च जितो वशीकृतः, इन्न्विन्थम्, यथा ब्रह्मणा। असौ शत्रुरिति वाक्यशेषः असच्चासद्भवेदसौ शत्रुर्जितो भवेदित्यर्थः।

कस्यैतत् फलमिति पुनर्निगमयति—य एवमेतन्महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति, अतो विद्यानुरूपं फलं युक्तम्, सत्यं ह्येव यस्माद् ब्रह्म ॥ १ ॥

पूज्य, प्रथमज अर्थात् समस्त संसारियोंसे पहले उत्पन्न हुए—यह ब्रह्म ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ था, इसलिये यह प्रथमज है—'यह सत्य ब्रह्म है,' इस प्रकार जानता है, उसके लिये यह फल बतलाया जाता है—

जिस प्रकार सत्य-ब्रह्मके द्वारा ये लोक आत्मसात् किये हुए अर्थात् जीते हुए हैं, इसी प्रकार जो सत्यात्मा प्रथमोत्पन्न, महत्, पूज्य ब्रह्मको जानता है, वह इन लोकोंको जीत लेता है। तथा उसके द्वारा उसका यह शत्रु जित होता—वशीभूत कर लिया जाता है, जिस प्रकार ब्रह्मके द्वारा सब वशीभूत किये हुए हैं। मूलमें 'असौ'के आगे 'शत्रुः' यह वाक्यशेष है। तथा असत् अर्थात् यह शत्रु अभावरूप यानी पराजित हो जाता है।

यह किसका फल है—यह बतलानेके लिये श्रुति पुनः निगमन करती है—जो इस प्रकार इस महत् पूज्य प्रथमजको 'सत्य-ब्रह्म' ऐसा जानता है। अतः उपासनाके अनुरूप फल मिलना उचित ही है, क्योंकि ब्रह्म भी सत्य ही है ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये चतुर्थं सत्यब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

प्रथमज सत्य-ब्रह्म और 'सत्य' नामके अक्षरोंकी उपासना

सत्यस्य ब्रह्मणः स्तुत्यर्थमिदमाह, महद् यक्षं प्रथमजमित्युक्तम्, तत् कथं प्रथमजत्वम्? इत्युच्यते—

सत्य-ब्रह्मकी स्तुतिके लिये यह ब्राह्मण उसे 'महत्, यक्ष, प्रथमज' इस प्रकार कहता है, सो पहले बतला दिया। उसका प्रथमजत्व किस प्रकार है? सो बतलाया जाता है—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवा ँ स्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत् त्र्यक्षर ँ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीत ँ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वा ँ समनृत ँ हिनस्ति॥ १॥

यह [व्यक्त जगत्] पहले आप (जल) ही था। उस आपने सत्यकी रचना की। अतः सत्य ब्रह्म है। ब्रह्मने प्रजापति (विराट्) को और प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया। वे देवगण सत्यकी ही उपासना करते हैं। वह यह 'सत्य' तीन अक्षरवाला नाम है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ती' यह एक अक्षर है और 'यम्' यह एक अक्षर है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्यका अनृत है। वह यह अनृत दोनों ओरसे सत्यसे परिगृहीत है। इसलिये यह सत्यबहुल ही है। इस प्रकार जाननेवालेको अनृत नहीं मारता ॥ १ ॥

आप एवेदमग्र आसुः। आप इति कर्मसमवायिभ्योऽग्निहोत्राद्या-

आरम्भमें यह आप (जल) ही था। 'आप' शब्दसे कर्मसम्बन्धी अग्निहोत्र आदिकी आहुतियाँ कही गयी

हुतयः, अग्निहोत्राद्याहुतेर्द्रवात्मकत्वादप्त्वम्, ताश्चापोऽग्निहोत्रादिकर्मापवर्गोत्तरकालं केनचिददृष्टेन सूक्ष्मेणात्मना कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्य इतरभूतसहिता एव न केवलाः। कर्मसमवायित्वात्तु प्राधान्यमपामिति।

सर्वाण्येव भूतानि प्रागुत्पत्तेरव्याकृतावस्थानि कर्तृसहितानि निर्दिश्यन्त आप इति। ता आपो बीजभूता जगतोऽव्याकृतात्मनावस्थितास्ता एवेदं सर्वं नामरूपविकृतं जगदग्र आसुर्नान्यत् किञ्चिद् विकारजातमासीत्।

ताः पुनरापः सत्यमसृजन्त; तस्मात् सत्यं ब्रह्म प्रथमजम्, तदेतद् हिरण्यगर्भस्य सूत्रात्मनो जन्म, यदव्याकृतस्य जगतो व्याकरणम्। तत् सत्यं ब्रह्म, कुतः? महत्त्वात्। कथं महत्त्वम्? इत्याह—यस्मात् सर्वस्य स्रष्टृ। कथम्? यत् सत्यं ब्रह्म तत्

हैं। अग्निहोत्रादिकी आहुति द्रवरूप होनेके कारण आप (जल) है। अग्निहोत्र-कर्मकी समाप्तिके पश्चात् वह आप किसी अदृष्ट सूक्ष्मरूपसे अपने कर्म-सम्बन्धको न छोड़ते हुए अन्य भूतोंके साथ ही रहता है, अकेला नहीं रहता। कर्मसम्बन्धित्व रहनेके कारण प्रधानता आप (जल) की ही है [इसलिये यहाँ उसे 'आप' शब्दसे ही कहा है।]

यहाँ 'आप' ऐसा कहकर उत्पत्तिसे पहले अव्याकृत (अव्यक्त) रूपमें स्थित कर्त्तासहित सभी भूतोंका निर्देश किया जाता है। जगत्‌का बीजभूत वह आप अव्याकृतरूपसे स्थित था। यह नाम-रूप विकारको प्राप्त हुआ जगत् आरम्भमें वही था, उससे भिन्न कोई और विकारसमुदाय नहीं था।

फिर उस आपने सत्यकी रचना की। इसीसे सत्य ब्रह्म प्रथमज है। वही यह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति है; जो कि अव्याकृत जगत्‌का व्यक्त होना है। वह सत्य ब्रह्म है, क्यों ब्रह्म है? महत्ताके कारण। उसकी महत्ता किस प्रकार है? सो श्रुति बतलाती है—क्योंकि वह सबका स्रष्टा है। किस प्रकार? जो सत्य

प्रजापतिं प्रजानां पतिं विराजं सूर्यादिकरणमसृजतेत्यनुषङ्गः । प्रजापतिर्देवान् स विराट्प्रजापतिर्देवानसृजत । यस्मात् सर्वमेवं क्रमेण सत्याद् ब्रह्मणो जातं तस्मान्महत् सत्यं ब्रह्म ।

कथं पुनर्यक्षम् ? इत्युच्यते—त एवं सृष्टा देवाः पितरमपि विराजमतीत्य तदेव सत्यं ब्रह्मोपासते । अत एतत् प्रथमजं महद् यक्षम् । तस्मात् सर्वात्मनोपास्यं तत्, तस्यापि सत्यस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ।

तदेतत् त्र्यक्षरम् । कानि तान्यक्षराणि ? इत्याह—स इत्येकमक्षरम्, तीत्येकमक्षरम्—तीतीकारानुबन्धो निर्देशार्थः—यमित्येकमक्षरम्; तत्र तेषां प्रथमोत्तमे अक्षरे सकारयकारौ सत्यम्; मृत्युरूपाभावात् । मध्यतो

ब्रह्म था, उसने प्रजापतिको—सूर्यादि जिसकी इन्द्रियाँ हैं, उस प्रजाओंके स्वामी विराट्को उत्पन्न किया—ऐसा इसका सम्बन्ध है। 'प्रजापतिं देवान्'—उस विराट् प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया। चूँकि इस क्रमसे सब कुछ सत्य ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, इसलिये सत्य ब्रह्म महत् है।

किंतु वह यक्ष (पूज्य) क्यों है, सो बतलाया जाता है—वे इस प्रकार रचे हुए देवगण अपने पिता विराट्का भी अतिक्रमण करके उस सत्य-ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं, इसलिये यह प्रथमोत्पन्न सत्य-ब्रह्म महत् यक्ष है। अतः वह सब प्रकार उपासनीय है, उस सत्य-ब्रह्मका भी 'सत्य' यह नाम है।

वह यह नाम तीन अक्षरोंवाला है। वे अक्षर कौन-से हैं, सो श्रुति बतलाती है—'स' यह एक अक्षर है। 'ती' यह एक अक्षर है—'ती' इसमें ईकारानुबन्ध निर्देश (स्पष्ट उच्चारण) के लिये है—'यम्' यह एक अक्षर है। इनमें सकार और यकार—ये पहले और अन्तिम अक्षर सत्य हैं, क्योंकि उनके मृत्युरूपका अभाव है। मध्यतः

मध्येऽनृतम्, अनृतं हि मृत्युः; मृत्य्वनृतयोस्तकारसामान्यात्।

अर्थात् बीचमें अनृत है, अनृत मृत्यु है; क्योंकि मृत्यु और अनृत इनकी तकारमें समानता है।

तदेतदनृतं तकाराक्षरं मृत्युरूपम् यतः सत्येन सकारयकारलक्षणेन परिगृहीतं व्याप्तमन्तर्भावितं सत्यरूपाभ्यामतोऽकिञ्चित्करं तत्, सत्यभूयमेव सत्यबाहुल्यमेव भवति। एवं सत्यबाहुल्यं सर्वस्य मृत्योरनृतस्याकिञ्चित्करत्वं च यो विद्वान्, तमेवं विद्वांसमनृतं कदाचित् प्रमादोक्तं न हिनस्ति॥१॥

वह यह मृत्युरूप अनृत तकार अक्षर दोनों ओरसे सकार-यकार-रूप सत्यसे परिगृहीत—व्याप्त है, अर्थात् इन सत्यरूप अक्षरोंसे अन्तर्भावित है, अतः वह अकिञ्चित्कर है; इसलिये 'सत्य' यह नाम सत्य-भूय-सत्यप्राय ही है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण अक्षरके सत्यबाहुल्य और मृत्युरूप अनृतके अकिञ्चित्करत्वको जो जानता है, उस इस प्रकार जाननेवालेको कभी प्रमादसे बोला हुआ अनृत (असत्य) नहीं मारता॥१॥

एक-दूसरेमें प्रतिष्ठित सत्यसंज्ञक आदित्यमण्डलस्थ और चाक्षुष पुरुष

अस्याधुना सत्यस्य ब्रह्मणः संस्थानविशेष उपासनमुच्यते—

अब उस सत्य-ब्रह्मकी संस्थान-विशेषमें उपासना बतलायी जाती है—

तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन् भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति॥२॥

वह जो सत्य है, सो यह आदित्य है। जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है और जो भी यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, वे ये दोनों पुरुष एक दूसरेमें

प्रतिष्ठित हैं। आदित्य रश्मियोंके द्वारा चाक्षुष पुरुषमें प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणोंके द्वारा उसमें प्रतिष्ठित है। जिस समय यह (चाक्षुष पुरुष) उत्क्रमण करने लगता है, उस समय यह इस मण्डलको शुद्ध ही देखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास नहीं आतीं ॥ २ ॥

तद् यत्, किं तत्? सत्यं ब्रह्म प्रथमजम्, किम्? असौ सः। कोऽसौ? आदित्यः, कः पुनरसावादित्यः? य एषः, क एषः? य एतस्मिन्नादित्यमण्डले पुरुषोऽभिमानी सोऽसौ सत्यं ब्रह्म; यश्चायमध्यात्मं योऽयं दक्षिणेऽक्षन्नक्षणि पुरुषः; चशब्दात् स च सत्यं ब्रह्मेति संबन्धः।

वह जो, वह कौन? प्रथम उत्पन्न हुआ सत्य-ब्रह्म, क्या है? यह वह है। कौन है? आदित्य; किंतु यह आदित्य कौन है? जो यह है, यह कौन? जो इस आदित्यमण्डलमें इसका अभिमानी पुरुष है, वह यह सत्य ब्रह्म है; जो कि यह अध्यात्म है, अर्थात् जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, वह भी ब्रह्म है—ऐसा 'च' शब्दसे सम्बन्ध लगाना चाहिये।

तावेतावादित्याक्षिस्थौ पुरुषावेकस्य सत्यस्य ब्रह्मणः संस्थानविशेषौ यस्मात् तस्मादन्योन्यस्मिन्नितरेतरस्मिन्नादित्यश्चाक्षुषे चाक्षुषश्चादित्ये प्रतिष्ठितौ; अध्यात्माधिदैवतयोरन्योन्योपकार्योपकारकत्वात्।

क्योंकि वे ये आदित्यस्थ और नेत्रस्थ पुरुष एक सत्य-ब्रह्मके ही संस्थान (आकार) विशेष हैं, इसलिये एक-दूसरेमें अर्थात् आदित्य-पुरुष चाक्षुषमें और चाक्षुष-पुरुष आदित्यमें प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि अध्यात्म और अधिदैव पुरुष एक-दूसरेके उपकार्य और उपकारक होते हैं।

कथं प्रतिष्ठितौ? इत्युच्यते रश्मिभिः प्रकाशेनानुग्रहं कुर्वन्नेष आदित्योऽस्मिंश्चाक्षुषेऽध्यात्मे प्रतिष्ठितः। अयं च चाक्षुषः प्राणै-

वे किस प्रकार प्रतिष्ठित हैं, सो बतलाया जाता है—रश्मियों अर्थात् प्रकाशके द्वारा अनुग्रह करता हुआ यह आदित्य-पुरुष इस अध्यात्म चाक्षुष पुरुषमें प्रतिष्ठित है तथा यह चाक्षुष पुरुष प्राणोंके द्वारा इस

-रादित्यमनुगृह्णन्नमुष्मिन्नादित्ये-ऽधिदैवे प्रतिष्ठितः ।

सोऽस्मिञ्छरीरे विज्ञानमयो भोक्ता यदा यस्मिन् काल उत्क्र-मिष्यन् भवति तदासौ चाक्षुष आदित्यपुरुषो रश्मीनुपसंहृत्य केवलेनौदासीन्येन रूपेण व्यव-तिष्ठते । तदायं विज्ञानमयः पश्यति शुद्धमेव केवलं विरश्म्ये-तन्मण्डलं चन्द्रमण्डलमिव । तदेतदरिष्टदर्शनं प्रासङ्गिकं प्रद-र्श्यते । कथं नाम पुरुषः करणीये यत्नवान् स्यादिति ।

नैनं चाक्षुषं पुरुषमुररीकृत्य तं प्रत्यनुग्रहायैते रश्मयः स्वामि-कर्तव्यवशात् पूर्वमागच्छन्तोऽपि पुनस्तत्कर्मक्षयमनुरुध्यमाना इव नोपयन्ति न प्रत्यागच्छन्त्येनम् । अतोऽवगम्यते परस्परोपकार्योप-कारकभावात् सत्यस्यैवकस्यात्म-भूतावेताविति ॥ २ ॥

आदित्य-पुरुषका उपकार करता हुआ इस अधिदैव आदित्य पुरुषमें प्रतिष्ठित है ।

इस शरीरमें जो यह विज्ञान-मय (जीव) भोक्ता है, यह जिस कालमें उत्क्रमण करने लगता है, उस समय यह चाक्षुष आदित्य-पुरुष रश्मियोंका उपसंहार कर अपने शुद्ध औदासीन्यरूपसे स्थित हो जाता है । तब यह विज्ञानमय इस आदित्यमण्डलको चन्द्रमण्डलके समान शुद्ध—केवल अर्थात् रश्मि-रहित देखता है । यहाँ यह प्रासंगिक अरिष्टदर्शन प्रदर्शित किया जाता है, जिससे कि किसी प्रकार पुरुष अपने कर्तव्यमें सयत्न रहे ।

इस चाक्षुष पुरुषको स्वीकार कर उसके प्रति अनुग्रह करनेके लिये ये रश्मियाँ, जो स्वामीके कर्तव्यवश पहले आती थीं, अब उसके कर्मक्षयके पश्चात् अवरुद्ध हुई-सी इसके पास प्रत्यागमन नहीं करतीं—नहीं आतीं । अतः यह ज्ञात होता है कि परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव रहनेके कारण ये दोनों एक सत्यात्माके ही अंश हैं ॥ २ ॥

अहःसंज्ञक आदित्यमण्डलस्थ पुरुषके व्याहृतिरूप अवयव

तत्र योऽसौ, कः ? | ऐसी स्थितिमें जो यह है, कौन ?

य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३ ॥

इस मण्डलमें जो यह पुरुष है, उसका 'भूः' यह शिर है; शिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है; भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा (चरण) है; प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'अहर्' यह उसका उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता है और उसे त्याग देता है ॥ ३ ॥

य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सत्यनामा तस्य व्याहृतयोऽवयवाः। कथम् ? भूरिति येयं व्याहृतिः, सा तस्य शिरः, प्राथम्यात्। तत्र सामान्यं स्वयमेवाह श्रुतिः—एकमेकसंख्यायुक्तं शिरस्तथैतदक्षरमेकं भूरिति। भुव इति बाहू द्वित्वसामान्याद् द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे। तथा स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते

जो कि इस मण्डलमें सत्य नामवाला पुरुष है, उसके अवयव व्याहृतियाँ हैं। किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] 'भूः' ऐसी जो यह व्याहृति है, वह प्रथम होनेके कारण उसका शिर है। उनकी समानता श्रुति स्वयं ही बताती है—शिर एक अर्थात् एक संख्यावाला है, इसी प्रकार 'भूः' यह भी एक अक्षर है। दो होनेमें समानता होनेके कारण 'भुवः' यह भुजा है, दो भुजाएँ हैं और दो ही ये अक्षर हैं। तथा 'स्वः' यह प्रतिष्ठा है, दो प्रतिष्ठाएँ हैं

अक्षरे । प्रतिष्ठे पादौ प्रतितिष्ठत्याभ्यामिति ।

तस्यास्य व्याहृत्यवयवस्य सत्यस्य ब्रह्मण उपनिषद्रहस्यमभिधानम्; येनाभिधानेनाभिधीयमानं तद् ब्रह्माभिमुखीभवति लोकवत् । कासौ ? इत्याह—अहरिति । अहरिति चैतद् रूपं हन्तेर्जहातेश्च । इति यो वेद स हन्ति जहाति च पाप्मानं य एवं वेद ॥ ३ ॥

और दो ही ये अक्षर हैं। इन (चरणों) से पुरुष प्रतिष्ठित होता है—इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रतिष्ठा चरणको कहते हैं।

उस इस व्याहृतिरूप अवयवोंवाले सत्य-ब्रह्मका उपनिषद्—रहस्य अर्थात् गूढ नाम, जिस नामसे पुकारे जानेपर वह ब्रह्म अन्य लोगोंके समान अभिमुख होता है। वह उपनिषद् क्या है, सो श्रुति बतलाती है—अहर्। 'अहर्' यह 'हन्'[1] और 'हा'[2] इन धातुओंका रूप है। जो ऐसा जानता है [अर्थात् अहर्संज्ञक ब्रह्मकी उपासना करता है। वह पापको मारता और त्याग देता है ॥ ३ ॥

अहंसंज्ञक चाक्षुष पुरुषके व्याहृतिरूप अवयव

एवम्— | इसी प्रकार—

योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, उसका 'भूः' यह शिर है; शिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है, भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। स्वः यह प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये

1. 'हन् हिंसागत्योः' ('हन्' धातु हिंसा और गमन अर्थमें है)।
2. 'ओहाक् त्यागे' ('हा' धातु त्याग-अर्थमें है)।

अक्षर भी दो हैं। 'अहम्' यह उसका उपनिषद् (गूढ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता और त्याग देता है ॥ ४ ॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्य भूरिति शिर इत्यादि सर्वं समानम्, तस्योपनिषदहमिति; प्रत्यगात्मभूतत्वात्। पूर्ववद् हन्तेर्जहातेश्चेति ॥ ४ ॥

जो यह दक्षिणनेत्रमें पुरुष है, उसका 'भूः' यह शिर है—इत्यादि सब अर्थ पूर्ववत् है। उसका 'अहम्' यह उपनिषद् है; क्योंकि वह प्रत्यगात्मस्वरूप है। पूर्ववत् यानी 'अहर्' के समान 'अहम्' भी 'हन्' और 'हा' इन दोनों धातुओंका रूप है ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये पञ्चमं सत्यब्रह्मसंस्थानब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

हृदयस्थ मनोमय पुरुषकी उपासना

उपाधीनामनेकत्वादनेकविशेषणत्वाच्च तस्यैव प्रकृतस्य ब्रह्मणो मनउपाधिविशिष्टस्योपासनं विधित्सन्नाह—

उपाधियाँ अनेक हैं और उनके बहुत-से विशेषण हैं, इसलिये उस मनउपाधिविशिष्ट प्रकृत ब्रह्मकी ही उपासनाका विधान करनेकी इच्छासे श्रुति कहती है—

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥ १ ॥

प्रकाश ही जिसका सत्य (स्वरूप) है, ऐसा यह पुरुष मनोमय है। वह उस अन्तर्हृदयमें जैसा व्रीहि (धान) या यव (जौ) होता है, उतने ही परिमाणवाला है। वह यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है, तथा यह जो कुछ है, सभीका प्रकर्षतया शासन करता है॥ १॥

मनोमयो मनःप्रायो मनस्युपलभ्यमानत्वात्। मनसा चोपलभत इति मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यो भा एव सत्यं सद्भावः स्वरूपं यस्य सोऽयं भाःसत्यो भास्वर इत्येतत्। मनसः सर्वार्थावभासकत्वान्मनोमयत्वाच्चास्य भास्वरत्वम्।

मनमें उपलब्ध होनेवाला होनेसे यह मनोमय-मनःप्राय है। इसे मनसे उपलब्ध करते हैं, इसलिये यह पुरुष मनोमय है; तथा भाःसत्य है—भा ही सत्य—सद्भाव अर्थात् स्वरूप है जिसका, ऐसा यह पुरुष भाःसत्य अर्थात् भास्वर है। मनके सभी विषयोंका अवभासक तथा मनोमय होनेके कारण ही इसकी भास्वरता है।

तस्मिन्नन्तर्हृदये हृदयस्यान्तस्तस्मिन्नित्येतत्, यथा व्रीहिर्वा यवो वा परिमाणत एवंपरिमाणस्तस्मिन्नन्तर्हृदये योगिभिर्दृश्यत इत्यर्थः। स एष सर्वस्येशानः सर्वस्य स्वभेदजातस्येशानः स्वामी। स्वामित्वेऽपि सति कश्चिदमात्यादितन्त्रोऽयं तु न तथा किं तर्ह्यधिपतिरधिष्ठाय पालयिता।

उस अन्तर्हृदयमें अर्थात् हृदयका जो अन्तर्भाग है उसमें, जैसा कि परिमाणतः व्रीहि या यव होता है, उतने ही परिमाणवाला यह उस अन्तर्हृदयमें योगियोंद्वारा देखा जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है। वह यह सबका ईशान अर्थात् अपने [औपाधिक] भेदसमुदायका स्वामी है। स्वामी होनेपर भी कोई मन्त्री आदिके अधीन रहता है, किंतु यह ऐसा नहीं है। तो फिर क्या है? यह अधिपति अर्थात् अधिष्ठाता होकर पालन करनेवाला है।

सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च यत् किञ्चित् सर्वं जगत् तत् सर्वं प्रशास्ति। एवं मनोमयस्योपासनात् तथारूपापत्तिरेव फलम्। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

[फल—] इन सबका प्रशासन करता है—यह जो कुछ है अर्थात् जितना कुछ भी यह जगत् है, उन सबका प्रकर्षतया शासन करता है। इस प्रकार मनोमय ब्रह्मकी उपासनासे तद्रूपताकी प्राप्तिरूप ही फल मिलता है। "उसकी जो जिस प्रकार उपासना करता है वही हो जाता है"—ऐसा ब्राह्मणवाक्य है ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये षष्ठं मनोब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

सप्तम ब्राह्मण

विद्युद्ब्रह्मकी उपासना

तथैवोपासनान्तरं सत्यस्य ब्रह्मणो विशिष्टफलमारभ्यते—

इसी प्रकार सत्य-ब्रह्मकी विशिष्ट फलवाली एक दूसरी उपासनाका आरम्भ किया जाता है—

विद्युद् ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद् विद्युद् विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं। विदान (खण्डन या विनाश) करनेके कारण विद्युत् है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इस आत्माके प्रतिकूलभूत पापोंका नाश कर देता है, क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः। विद्युतो ब्रह्मणो निर्वचनमुच्यते—विदानादवखण्डनात् तमसो मेघान्ध-

'विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः'—श्रुति विद्युत्-ब्रह्मकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) बतलाती है—अन्धकारके विदान-खण्डनके कारण, क्योंकि यह मेघके अन्धकार-

कारं विदार्य ह्यवभासतेऽतो विद्युत् । एवंगुणं विद्युद् ब्रह्मेति यो वेदासौ विद्यत्यवखण्डयति विनाशयति पाप्मन एनमात्मानं प्रति प्रतिकूलभूताः पाप्मानो ये तान् सर्वान् पाप्मनोऽवखण्डयतीत्यर्थः । य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति तस्यानुरूपं फलम् । विद्युद्धि यस्माद् ब्रह्म ॥ १ ॥

को विदीर्ण करके प्रकाशित होती है, इसलिये विद्युत् है। ऐसे गुणवाले विद्युद् ब्रह्मको जो जानता है, वह पापको 'विद्यति—खण्डित अर्थात् नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह है कि इस आत्माके प्रतिकूलभूत जितने पाप होते हैं, उन सबका यह खण्डन कर देता है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, यह उसका अनुरूप फल है। क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये सप्तमं विद्युद्ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

अष्टम ब्राह्मण

धेनुरूपसे वाक्की उपासना

पुनरुपासनान्तरं तस्यैव ब्रह्मणो वाग् वै ब्रह्मेति—

पुनः उस सत्यब्रह्मकी ही 'वाग्वै ब्रह्म' ऐसी अन्य उपासना आरम्भ की जाती है—

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

वाक्रूप धेनुकी उपासना करे। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्-

कारके उपजीवी देवगण हैं, हन्तकारके उपजीवी मनुष्य हैं और स्वधाकारके पितृगण। उस धेनुका प्राण वृषभ है और मन बछड़ा है ॥ १ ॥

वागिति शब्दस्त्रयी तां वाचं धेनुं धेनुरिव धेनुर्यथा धेनुश्चतुर्भिः स्तनैः स्तन्यं पयः क्षरति वत्सायैवं वाग्धेनुर्वक्ष्यमाणैः स्तनैः पय इवान्नं क्षरति देवादिभ्यः। के पुनस्ते स्तनाः? के वा ते येभ्यः क्षरति?

तस्या एतस्या वाचो धेन्वा द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति वत्सस्थानीयाः। कौ तौ? स्वाहाकारं च वषट्कारं च; आभ्यां हि हविर्दीयते देवेभ्यः। हन्तकारं मनुष्याः—हन्तेति मनुष्येभ्योऽन्नं प्रयच्छन्ति। स्वधाकारं पितरः—स्वधाकारेण हि पितृभ्यः स्वधां प्रयच्छन्ति।

तस्या धेन्वा वाचः प्राण ऋषभः, प्राणेन हि वाक् प्रसूयते। मनो वत्सः, मनसा हि प्रस्राव्यते

वाक् यह शब्द अर्थात् त्रयी (तीन वेद—ऋक्, यजुः और साम) है; उस वाक्रूप धेनुकी जो उपासना करे, जो धेनुके समान धेनु है। जिस प्रकार धेनु अपने चार स्तनोंसे बछड़ेके लिये स्तन्य अर्थात् दूध बहाती है, उसी प्रकार वाग्धेनु आगे बतलाये जानेवाले स्तनोंसे देवादिके लिये दूधके समान अन्न प्रकट करती है। वे स्तन कौन-से हैं? और जिनके लिये वह दूध देती है, वे भी कौन-कौन हैं?

उस इस वाक्रूपी धेनुके दो स्तनोंके वत्सस्थानीय देवगण उपजीवी हैं। वे दो स्तन कौन-से हैं? स्वाहाकार और वषट्कार; क्योंकि इन्हींके द्वारा देवताओंको हवि दी जाती है। हन्तकारके उपजीवी मनुष्य हैं, 'हन्त' ऐसा कहकर मनुष्योंको अन्न देते हैं। स्वधाकारके उपजीवी पितृगण हैं—स्वधाकारके द्वारा ही पितृगणको स्वधा (श्राद्धीय वस्तु) देते हैं।

उस धेनुरूप वाणीका प्राण वृषभ है, क्योंकि प्राणके द्वारा ही वाक् प्रसव करती है। मन उसका वत्स है, क्योंकि मनसे ही वह प्रस्रवित

मनसा ह्यालोचिते विषये वाक् प्रवर्तते; तस्मान्मनो वत्सस्थानीयम् । एवं वाग्धेनूपासकस्तद्भाव्यमेव प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

होती है [यानी पन्हाती है] । मनसे आलोचना किये हुए विषयमें ही वाणीकी प्रवृत्ति होती है, इसलिये मन वत्सस्थानीय है । इस प्रकार वाक्रूपी धेनुका उपासक तद्रूपता-को (तदुपाधिक ब्रह्मभावको) ही प्राप्त होता है ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये अष्टमं वाग्धेनुब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

नवम ब्राह्मण

पुरुषान्तर्गत वैश्वानराग्नि, उसका घोष और मरणकालका सूचक अरिष्ट

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषꣳशृणोति ॥ १ ॥

जो यह पुरुषके भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है, जिससे कि यह अन्न, जो कि भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है । उसीका यह घोष होता है, जिसे पुरुष कानोंको मूँदकर सुनता है । जिस समय पुरुष उत्क्रमण करनेवाला होता है, उस समय इस घोषको नहीं सुनता ॥ १ ॥

अयमग्निर्वैश्वानरः-पूर्ववदुपासनान्तरम् 'अयमग्निर्वैश्वानरः ।' कोऽयमग्निः ? इत्याह—योऽयमन्तः

'अयमग्निः वैश्वानरः'—पूर्ववत् 'यह अग्नि वैश्वानर है' यह ब्रह्मकी एक अन्य उपासना है । वह अग्नि कौन-सा है ? इसपर श्रुति कहती है—

पुरुषे । किं शरीरारम्भकः ? नेत्युच्यते येनाग्निना वैश्वानराख्येनेदमन्नं पच्यते । किं तदन्नम् ? यदिदमद्यते भुज्यतेऽन्नं प्रजाभिर्जाठरोऽग्निरित्यर्थः।

तस्य साक्षादुपलक्षणार्थमिदमाह—तस्याग्नेरन्नं पचतो जाठरस्यैष घोषो भवति; कोऽसौ ? यं घोषम्, एतदिति क्रियाविशेषणम्, कर्णावपिधायाङ्गुलीभ्यामपिधानं कृत्वा शृणोति; तं प्रजापतिमुपासीत वैश्वानरमग्निम् । अत्रापि ताद्भाव्यं फलम् । तत्र प्रासङ्गिकमिदमरिष्टलक्षणमुच्यते—सोऽत्र शरीरे भोक्ता यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति ॥१॥

है—जो कि यह पुरुषके भीतर है, क्या शरीरका आरम्भक अग्नि ? नहीं; कौन-सा है सो बतलाया जाता है—जिस वैश्वानरसंज्ञक अग्निसे यह अन्न पकाया जाता है । वह अन्न कौन-सा है ? जो यह अन्न प्रजाओंद्वारा 'अद्यते' भक्षण किया जाता है; [उस अन्नको पचानेवाला] अर्थात् जाठराग्नि ।

उसका साक्षात् उपलक्षण करानेके लिये श्रुति इस प्रकार कहती है—अन्न पचानेवाले उस जाठराग्निका यह घोष होता है; वह कौन सा है ? जिस घोषको पुरुष दोनों कान मूँदकर अङ्गुलियोंसे ढक करके सुनता है; यहाँ 'एतत्' यह क्रियाविशेषण है; उस प्रजापतिरूप वैश्वानराग्निकी उपासना करे । यहाँ भी तद्रूपताकी प्राप्ति ही फल है । उसमें श्रुति यह प्रसङ्गप्राप्त अरिष्ट बतलाती है—यहाँ शरीरमें वह भोक्ता पुरुष जिस समय उत्क्रमण करनेवाला होता है, उस समय इस घोषको नहीं सुनता ॥ १ ॥



इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये नवमं वैश्वानराग्निब्राह्मणम् ॥ ९ ॥



दशम ब्राह्मण

प्रकरणान्तर्गत उपासनाओंसे प्राप्त होनेवाली गति

सर्वेषामस्मिन् प्रकरण उपास्नानां गतिरियं फलं चोच्यते—

इस प्रकरणमें बतलायी गयी समस्त उपासनाओंका यह गतिरूप फल बतलाया जाता है—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

जिस समय यह पुरुष इस लोकसे मरकर जाता है, उस समय वह वायुको प्राप्त होता है। वहाँ वह वायु उसके लिये छिद्रयुक्त हो जाता—मार्ग दे देता है, जैसा कि रथके पहियेका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है। वह सूर्यलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ सूर्य उसके लिये वैसा ही छिद्ररूप मार्ग देता है, जैसा कि लम्बर नामके बाजेका छिद्र होता है। उसमें होकर वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह चन्द्रलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिये छिद्रयुक्त ही मार्ग देता है, जैसा कि दुन्दुभिका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह अशोक (मानसिक दुःखसे रहित) और अहिम (शारीरिक दुःखशून्य) लोकमें पहुँच जाता है और उसमें सदा—अनन्त वर्षोंतक अर्थात् ब्रह्माके अनेक कल्पोंतक निवास करता है ॥ १ ॥

यदा वै पुरुषो विद्वानस्माल्लोकात् प्रैति शरीरं परित्यजति स तदा वायुमागच्छत्यन्तरिक्षे तिर्यग्भूतो वायुः स्तिमितोऽभेद्य स्तिष्ठति, स वायुस्तत्र स्वात्मनि तस्मै संप्राप्ताय विजिहीते स्वात्मावयवान् विगमयति च्छिद्रीकरोत्यात्मानमित्यर्थः । किंपरिमाणं छिद्रम्? इत्युच्यते—यथा रथचक्रस्य खं छिद्रं प्रसिद्धपरिमाणम् ।

तेनच्छिद्रेण स विद्वानूर्ध्वं आक्रमत ऊर्ध्वः सन् गच्छति स आदित्यमागच्छति। आदित्यो ब्रह्मलोकं जिगमिषोर्मार्गनिरोधं कृत्वा स्थितः सोऽप्येवंविद उपासकाय द्वारं प्रयच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा लम्बरस्य खं वादित्रविशेषस्यच्छिद्रपरिमाणं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति।

जिस समय पुरुष अर्थात् उपासक इस लोकसे मरकर जाता है, शरीर-त्याग करता है, उस समय वह वायुको प्राप्त होता है, आकाशमें तिर्यग्भूत (तिरछा होकर स्थित) वायु घनीभूत अर्थात् अभेद्यरूपसे विद्यमान है; वह वायु वहाँ अपनेमें प्राप्त हुए उस उपासकके लिये 'विजिहीते' अपने अवयवोंका विच्छेद कर देता है। अर्थात् अपनेको छिद्रयुक्त कर देता है। कितना बड़ा छिद्र करता है, सो बतलाया जाता है—जैसा कि रथके पहियेका छिद्र होता है, वैसे प्रसिद्ध परिमाणवाला छिद्र कर देता है।

उस छिद्रद्वारा वह विद्वान् ऊर्ध्व होकर चढ़ता है, अर्थात् ऊर्ध्वोन्मुख होकर जाता है, वह आदित्यलोकमें पहुँच जाता है। आदित्य ब्रह्मलोकको जानेवालेका मार्ग रोककर स्थित है। वह भी इस प्रकार जाननेवाले उस उपासकको मार्ग दे देता है। उसके लिये वहाँ वह अपने [मण्डल] को छिद्रयुक्त कर देता है; जैसा कि लम्बर नामक एक वाद्यविशेषके छिद्रका परिमाण होता है। उसके द्वारा वह ऊपरकी ओर चढ़ता है, वह चन्द्रलोकमें पहुँच जाता है।

सोऽपि तस्मै तत्र विजिहीते, यथा दुन्दुभेः खं प्रसिद्धम्, तेन स ऊर्ध्व आक्रमते। स लोकं प्रजापतिलोकमागच्छति; किंविशिष्टम्? अशोकं मानसेन दुःखेन विवर्जितमित्येतत्; अहिमं हिमवर्जितं शारीरदुःखवर्जितमित्यर्थः; तं प्राप्य तस्मिन् वसति शाश्वतीर्नित्याः समाः संवत्सरानित्यर्थः। ब्रह्मणो बहून् कल्पान् वसतीत्येतत् ॥१॥

वहाँ वह भी उसके लिये अपनेको छिद्रयुक्त कर देता है, जैसा कि दुन्दुभिका छिद्र प्रसिद्ध है, उसके द्वारा वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह लोक अर्थात् प्रजापतिलोकमें आ जाता है; कैसे लोकमें? 'अशोकम्' अर्थात् मानसिक दुःखसे रहित और 'अहिमम्'—हिमवर्जित अर्थात् शारीरिक दुःखसे रहित लोकमें। वहाँ पहुँचकर वह उसमें 'शाश्वतीः समाः'—नित्य अर्थात् अनन्त वर्षोंतक बसता है। तात्पर्य यह कि ब्रह्माके अनेकों कल्पोंतक वहाँ निवास करता है ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये दशमं गतिब्राह्मणम् ॥ १० ॥

एकादश ब्राह्मण

व्याधि, श्मशानगमन और अग्निदाहमें परम तपोदृष्टिका विधान

एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद् वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद् वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

व्याधियुक्त पुरुषको जो ताप होता है—यह निश्चय ही परम तप है, जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मृत पुरुषको जो वनको ले जाते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो (म्रियमाण व्यक्ति) ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मरे हुए मनुष्यको सब प्रकार जो अग्निमें रखते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है ॥ १ ॥

एतद् वै परमं तपः। किं तत्? यद् व्याहितो व्याधितो ज्वरादिपरिगृहीतः सन् यत् तप्यते तदेतत् परमं तप इत्येवं चिन्तयेत्; दुःखसामान्यात्। तस्यैवं चिन्तयतो विदुषः कर्मक्षयहेतुस्तदेव तपो भवत्यनिन्दतोऽविषीदतः; स एव च तेन विज्ञानतपसा दग्धकिल्बिषः परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद।

यह निश्चय परम तप है। वह क्या है? व्याहित—व्याधित अर्थात् ज्वरादिसे ग्रस्त हुआ पुरुष जो ताप होता है, वह परम तप है—ऐसा चिन्तन करे; क्योंकि ताप और तप इनमें समान ही क्लेश है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले उस विद्वान्‌का, जो कि स्वतः प्राप्त हुए रोगादिकी निन्दा नहीं करता तथा उससे विषादको प्राप्त नहीं होता, वही तप कर्मक्षयका हेतु हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह उस विज्ञानरूप तपके द्वारा पापोंको दग्ध करके परम लोकपर विजय प्राप्त कर लेता है।

तथा मुमूर्षुरादावेव कल्पयति; किम्? एतद् वै परमं तपो यं प्रेतं मां ग्रामादरण्यं हरन्ति ऋत्विजोऽन्त्यकर्मणे तद् ग्रामादरण्यगमनसामान्यात् परमं मम तत् तपो

इसी प्रकार मरणासन्न पुरुष आरम्भमें ही कल्पना करता है; क्या कल्पना करता है? मर जानेपर मुझे ऋत्विग्गण अन्त्येष्टिकर्मके लिये जो ग्रामसे वनमें ले जायँगे, यह निश्चय ही परम तप होगा—ग्रामसे वन-गमनमें समानता होनेके कारण वह मेरा परम तप हो जायगा। यह

भविष्यति । ग्रामादरण्यगमनं परमं तप इति हि प्रसिद्धम् । परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ।

तो प्रसिद्ध ही है, कि ग्रामसे वनमें जाना परम तप है । जो ऐसा जानता है, वह निश्चय ही परम लोकको जीत लेता है ।

तथैतद् वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति; अग्निप्रवेशसामान्यात्, परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

तथा जिस मृतकको सब ओरसे अग्निमें रखते हैं,—यह भी उसके लिये परमतप होता है, क्योंकि अग्निप्रवेशसे इसकी समानता है । जो ऐसा जानता है, वह निश्चय ही परम लोकको जीत लेता है ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये एकादशं तपोब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

द्वादश ब्राह्मण

अन्न-प्राणरूप ब्रह्मकी उपासना और तद्विषयक आख्यान

अन्नं ब्रह्मेति—तथैतदुपासनान्तरं विधित्सन्नाह—

'अन्नं ब्रह्म'—इस प्रकार इस अन्य उपासनाका विधान करनेकी इच्छासे वेद कहता है—

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात् प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृदः पितरं किंस्विदेवैवंविदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु

कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि प्राणके बिना अन्न सड़ जाता है। कोई कहते हैं—प्राण ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अन्नके बिना प्राण सूख जाता है। परंतु ये दोनों देव एकरूपताको प्राप्त होकर परम भावको प्राप्त होते हैं— ऐसा निश्चय कर प्रातृद ऋषिने अपने पितासे कहा था—'इस प्रकार जाननेवालेका मैं क्या शुभ करूँ अथवा क्या अशुभ करूँ? [क्योंकि कृतकृत्य हो जानेके कारण उसका तो न कोई शुभ किया जा सकता है और न अशुभ ही।]' पिताने हाथसे निवारण करते हुए कहा—'प्रातृद! ऐसा मत कहो। इन दोनोंकी एकरूपताको प्राप्त होकर कौन परमताको प्राप्त होता है?' अतः उससे उस (प्रातृदके पिता) ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही अन्न है। वि-रूप अन्नमें ही ये सब भूत प्रविष्ट हैं। 'रम्' यह प्राण है, क्योंकि रं अर्थात् प्राणमें ही ये सब भूत रमण करते हैं। जो ऐसा जानता है, उसमें ये सब भूत प्रविष्ट होते हैं और सभी भूत रमण करते हैं ॥ १ ॥

अन्नं ब्रह्मान्नमद्यते यत् तद् ब्रह्मेत्येक आचार्या आहुस्तन्न तथा ग्रहीतव्यमन्नं ब्रह्मेति। अन्ये चाहुः—प्राणो ब्रह्मेति, तच्च तथा न ग्रहीतव्यम्।

अन्न ब्रह्म है। अन्न जो कि खाया जाता है, वह ब्रह्म है—ऐसा किन्हीं आचार्योंका कथन है; किंतु 'अन्न ब्रह्म है' इसे इसी रूपमें नहीं स्वीकार करना चाहिये। दूसरे कहते हैं—प्राण ब्रह्म है; इसे भी इस रूपमें नहीं स्वीकार करना चाहिये।

किमर्थं पुनरन्नं ब्रह्मेति न ग्राह्यम्; यस्मात् पूयति क्लिद्यते पूतिभावमापद्यत ऋते प्राणात्, तत् कथं ब्रह्म भवितुमर्हति ? ब्रह्म हि नाम तद् यदविनाशि।

अस्तु तर्हि प्राणो ब्रह्म, नैवम्; यस्माच्छुष्यति वै प्राणः शोषमुपैति ऋतेऽन्नात्, अत्ता हि प्राणः; अतोऽन्नेनाद्येन विना न शक्नोत्यात्मानं धारयितुम्; तस्माच्छुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्। अत एकैकस्य ब्रह्मता नोपपद्यते यस्मात् तस्मादेते ह त्वेवान्नप्राणदेवते एकधाभूयमेकधाभावं भूत्वा गत्वा परमतां परमत्वं गच्छतो ब्रह्मत्वं प्राप्नुतः।

तदेतदेवमध्यवस्य ह स्माह स्म प्रातृदो नाम पितरमात्मनः किंस्वित् स्विदिति वितर्के, यथा मया ब्रह्म परिकल्पितमेवंविदुषे

किंतु 'अन्न ब्रह्म है' ऐसा क्यों नहीं समझना चाहिये ? क्योंकि प्राणके बिना यह सड़ता है, इसमें पानी छूटने लगता है अर्थात् यह पूतिभाव—दुर्गन्धको प्राप्त हो जाता है। फिर यह किस प्रकार ब्रह्म हो सकता है ? ब्रह्म तो वही हो सकता है, जो अविनाशी हो।

अच्छा तो प्राण ही ब्रह्म रहे, ऐसा नहीं; क्योंकि अन्नके बिना प्राण सूख जाता है—शुष्कताको प्राप्त हो जाता है। प्राण तो अन्न भक्षण करनेवाला है; अतः अपने भक्ष्य अन्नके बिना वह अपनेको धारण करनेमें समर्थ नहीं है; इसीसे अन्नके बिना प्राण सूख जाता है। अतः इनमेंसे एक-एकका ब्रह्मत्व सम्भव नहीं है, इसलिये ये अन्न और प्राण—दो देवता एकरूप होकर—एकभावको प्राप्त होकर परमता—परमभावको प्राप्त होते अर्थात् ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाते हैं।

इसे इस प्रकार निश्चय कर प्रातृद नामके ऋषिने अपने पितासे कहा—'किंस्वित्' (कौन सा)—इसमें 'स्वित्' यह वितर्कभाव सूचित करनेके लिये है, मैंने जिस प्रकार ब्रह्मकी कल्पना की है, उस प्रकार जाननेवालेका मैं

किंस्वित् साधु कुर्यां साधु शोभनं पूजां कां त्वस्मै पूजां कुर्यामित्यभिप्रायः, किमेवास्मै विदुषेऽसाधु कुर्यां कृतकृत्योऽसावित्यभिप्रायः। अन्नप्राणौ सहभूतौ ब्रह्मेति विद्वान्नासावसाधुकरणेन खण्डितो भवति, नापि साधुकरणेन महीकृतः।

तमेवंवादिनं स पिता ह स्माह पाणिना हस्तेन निवारयन् मा प्रातृद मैवं वोचः। कस्त्वेनयोरन्नप्राणयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां कस्तु गच्छति न कश्चिदपि विद्वाननेन ब्रह्मदर्शनेन परमतां गच्छति। तस्मान्नैवं वक्तुमर्हसि कृतकृत्योऽसाविति।

यद्येवं ब्रवीतु भवान् कथं परमतां गच्छतीति? तस्मा उ हैतदु वक्ष्यमाणं वच उवाच। किं तत्? वीति। किं तदु वीत्युच्यते—अन्नं वै वि। अन्ने हि यस्मादिमानि सर्वाणि भूतानि विष्टान्याश्रितान्यतोऽन्नं वीत्युच्यते।

क्या साधु करूँ? साधु—शोभन अर्थात् पूजा; तात्पर्य यह है कि उसकी मैं क्या तो पूजा करूँ और क्या ऐसा जाननेवालेका मैं असाधु करूँ? अभिप्राय यह है कि वह तो कृतकृत्य है। अन्न और प्राण—ये मिलकर ब्रह्म हैं—ऐसा जो जाननेवाला है वह पुरुष अशुभ करनेसे तो खण्डित नहीं होता और शुभ करनेसे महान् नहीं होता।

इस प्रकार कहनेवाले उस पुत्रको हाथसे रोकते हुए पिताने कहा, 'प्रातृद! नहीं, ऐसा मत कहो। इन अन्न और प्राणकी एकरूपताको प्राप्त होकर कौन परम भावको प्राप्त करता है? इस ब्रह्मदर्शनके द्वारा कोई भी विद्वान् परम-भावको प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये कि यह कृतकृत्य है।'

यदि ऐसी बात है तो आप बतलाइये कि किस प्रकार परम-भाव प्राप्त करता है? तब उसके प्रति उसके पिताने यह आगे कहा जानेवाला वचन कहा। वह वचन क्या था? वह था 'वि'। वह 'वि' क्या है सो बतलाते हैं—अन्न ही 'वि' है, क्योंकि अन्नमें ही ये समस्त भूत विष्ट—आश्रित हैं, इसलिये अन्न 'वि' इस प्रकार कहा जाता है।

किं च रमिति—रमिति चोक्तवान् पिता। किं पुनस्तद् रम्? प्राणो वै रम्; कुत इत्याह प्राणे हि यस्माद् बलाश्रये सति सर्वाणि भूतानि रमन्तेऽतो रं प्राणः। सर्वभूताश्रयगुणमन्नं सर्वभूतरतिगुणश्च प्राणः। न हि कश्चिद्नायतनो निराश्रयो रमते; नापि सत्यप्यायतनेऽप्राणो दुर्बलो रमते; यदा त्वायतनवान् प्राणी बलवांश्च तदा कृतार्थमात्मानं मन्यमानो रमते लोकः; "युवा स्यात् साधुयुवाध्यायकः" (तै० उ० २।८।१) इत्यादिश्रुतेः।

इसके सिवा 'रम्' यह कहा—पिताने 'रम्' ऐसा भी कहा, सो वह 'रम्' क्या है? प्राण ही 'रम्' है। क्यों, सो बतलाते हैं—क्योंकि बलके आश्रयभूत प्राणके रहनेपर ही सब भूत रमण करते हैं, इसलिये प्राण 'रम्' है। इस प्रकार अन्न समस्त भूतोंके आश्रयरूप गुणवाला है और प्राण समस्त भूतोंके रतिरूप गुणवाला। बिना आयतन अर्थात् बिना आश्रयके भी कोई रमण नहीं कर सकता और आश्रयके होनेपर भी प्राणहीन अर्थात् बलहीन भी रमण नहीं कर सकता। जिस समय प्राणी आश्रयसे युक्त और बलवान् होता है तभी अपनेको कृतार्थ मानता हुआ वह रमण करता है; जैसा कि "युवक हो, अच्छा युवक हो और विद्यावान् हो" इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात होता है।

इदानीमेवंविदः फलमाह—सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्त्यन्नगुणज्ञानात् सर्वाणि भूतानि रमन्ते प्राणगुणज्ञानाद् य एवं वेद ॥ १ ॥

अब श्रुति इस प्रकार जाननेवाले उपासकका फल बतलाती है—जो ऐसा जानता है, उसमें अन्नगुणका ज्ञान होनेके कारण समस्त भूत प्रवेश करते हैं तथा प्राणगुणका ज्ञान होनेके कारण समस्त भूत रमण करते हैं ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये द्वादशमन्नप्राणब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

त्रयोदश ब्राह्मण

उक्थदृष्टिसे प्राणोपासना

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीद्ँ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद् वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

'उक्थ' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही उक्थ है, क्योंकि प्राण ही इन सबको उत्थापित करता है। इस उपासकसे उक्थवेत्ता पुत्र उत्पन्न होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह प्राणके सायुज्य और सालोक्यको प्राप्त करता है ॥ १ ॥

उक्थं तथोपासनान्तरम्। उक्थं शस्त्रम्; तद्धि प्रधानं महाव्रते क्रतौ। किं पुनस्तदुक्थम्? प्राणो वा उक्थम्; प्राणश्च प्रधान इन्द्रियाणामुक्थं च शस्त्राणामत उक्थमित्युपासीत।

इसी प्रकार 'उक्थ' एक अन्य उपासना है। उक्थ शस्त्र है, वही महाव्रत क्रतुमें प्रधान होता है। अच्छा तो वह उक्थ क्या है? प्राण ही उक्थ है; प्राण इन्द्रियोंमें प्रधान है और उक्थ शस्त्रोंमें प्रधान है; इसलिये प्राण उक्थ है—ऐसी उपासना करे।

कथं प्राण उक्थम्? इत्याह—प्राणो हि यस्मादिदं सर्वमुत्थापयति; उत्थापनादुक्थं प्राणः; न ह्यप्राणः कश्चिदुत्तिष्ठति।

प्राण उक्थ किस प्रकार है? सो श्रुति बतलाती है—क्योंकि प्राण ही इस सबको उठाता है; उठानेके कारण प्राण उक्थ है; क्योंकि कोई भी प्राणहीन उठ नहीं सकता।

तदुपासनफलमाह—उद्धास्मादेवं विद उक्थवित् प्राणविद् वीरः

अब श्रुति उसकी उपासनाका फल बतलाती है—इस प्रकार उपासना करनेवालेसे उक्थवित्-प्राणवित् वीर

पुत्र उत्तिष्ठति ह - दृष्टमेतत् फलम्। अदृष्टं तूक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

यानी पुत्र उत्पन्न होता है—यह इसका प्रत्यक्ष फल है। परोक्ष फल यह है कि जो ऐसा जानता है, वह उक्थके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यजुर्दृष्टिसे प्राणोपासना

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥

'यजुः' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही यजु है, क्योंकि प्राणमें ही इन सब भूतोंका योग होता है। सम्पूर्ण भूत इसकी श्रेष्ठताके कारण इससे संयुक्त होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह यजुके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

यजुरिति चोपासीत प्राणम्; प्राणो वै यजुः; कथं यजुः प्राणः ? प्राणे हि यस्मात् सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते। न ह्यसति प्राणे केनचित् कस्यचिद् योगसामर्थ्यम्; अतो युनक्तीति प्राणो यजुः।

'यजुः' इस प्रकार भी प्राणकी उपासना करे; प्राण ही यजु है; प्राण यजु किस प्रकार है ? क्योंकि प्राणमें ही समस्त प्राणियोंका योग होता है। प्राणके न रहनेपर किसीके साथ किसीका योग होनेका सामर्थ्य नहीं है; अतः योग करता है, इसलिये प्राण यजु है।

एवंविदः फलमाह—युज्यन्त उद्यच्छन्त इत्यर्थः। हास्मा एवंविदे सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठ-

इस प्रकार उपासना करनेवालेका श्रुति फल बतलाती है—इस प्रकार उपासना करनेवालेको सम्पूर्ण भूत

भावस्तस्मै श्रैष्ठ्याय श्रेष्ठभावायायं नः श्रेष्ठो भवेदिति। यजुषः प्राणस्य सायुज्यमित्यादि सर्वं समानम् ॥ २ ॥

श्रैष्ठ्य—श्रेष्ठभावका नाम श्रैष्ठ्य है, उस श्रैष्ठ्य यानी श्रेष्ठ-भावके लिये —यह हममें श्रेष्ठ हो, इस निमित्तसे युक्त होते अर्थात् उद्यम करते हैं। तथा वह यजुरूप प्राणका सायुज्य प्राप्त करता है—इत्यादि सब अर्थ पूर्ववत् है ॥ २ ॥

सामदृष्टिसे प्राणोपासना

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

'साम' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही साम है, क्योंकि प्राणमें ही ये सब भूत सुसंगत होते हैं। समस्त भूत उसके लिये सुसंगत होते हैं तथा उसकी श्रेष्ठताके लिये समर्थ होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह सामके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

सामेति चोपासीत प्राणम्। प्राणो वै साम। कथं प्राणः साम? प्राणे हि यस्मात् सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि संगच्छन्ते; संगमनात् साम्यापत्तिहेतुत्वात् साम प्राणः। सम्यञ्चि संगच्छन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि। न केवलं संगच्छन्त एव, श्रेष्ठभावाय चास्मै कल्पन्ते समर्थ्यन्ते साम्नः सायुज्यमित्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥

'साम' इस प्रकार भी प्राणकी उपासना करे। प्राण ही साम है। प्राण साम किस प्रकार है? क्योंकि प्राणमें ही सब भूत संगत होते हैं, सङ्गमन अर्थात् साम्यप्राप्तिके कारण प्राण साम है। सम्पूर्ण भूत उसके साथ संगत हो जाते हैं; केवल संगत ही नहीं होते, इसके श्रेष्ठभावके लिये भी समर्थ होते हैं। सामके सायुज्यको प्राप्त होता है—इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है ॥ ३ ॥

क्षत्रदृष्टिसे प्राणोपासना

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

प्राण क्षत्र है—इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है। प्राण ही क्षत्र है—यह प्रसिद्ध है। प्राण इस देहकी शस्त्रादिजनित क्षतसे रक्षा करता है। अत्रम्—अन्य किसीसे त्राण न पानेवाले क्षत्र (प्राण) को प्राप्त होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षत्रके सायुज्य और सलोकताको जीत लेता है॥ ४॥

तं प्राणं क्षत्रमित्युपासीत। प्राणो वै क्षत्रं प्रसिद्धमेतत् प्राणो हि वै क्षत्रम्। कथं प्रसिद्धता ? इत्याह—त्रायते पालयत्येनं पिण्डं देहं प्राणः क्षणितोः शस्त्रादिहिंसितात् पुनर्मांसेनापूरयति यस्मात् तस्मात् क्षतत्राणात् प्रसिद्धं क्षत्रत्वं प्राणस्य।

उस प्राणको 'क्षत्र' इस प्रकार उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है—यह प्रसिद्ध है कि प्राण ही क्षत्र है। यह प्रसिद्ध किस कारण है, सो श्रुति बतलाती है-इस पिण्ड यानी शरीरकी प्राण क्षतसे-शस्त्रादिकी पीड़ासे रक्षा करता है अर्थात् उसे पुनः मांससे भर देता है, अतः क्षतसे रक्षा करनेके कारण प्राणका क्षत्रत्व प्रसिद्ध है।

विद्वत्फलमाह—प्र क्षत्रमत्रं न त्रायतेऽन्येन केनचिदित्यत्रं क्षत्रं प्राणस्तमत्रं क्षत्रं प्राणं प्राप्नोतीत्यर्थः। शाखान्तरे वा पाठात् क्षत्रमात्रं प्राप्नोति प्राणो

अब श्रुति उपासकको मिलनेवाला फल बतलाती है-प्र क्षत्रम् अत्रम्-जिसका किसी दूसरेसे त्राण नहीं किया जाता, वह प्राण[1] अत्र-क्षत्र है, उस अत्र क्षत्ररूप प्राणको प्राप्त होता है। शाखान्तर (माध्यन्दिनी शाखा) में [2]पाठान्तर होनेके कारण क्षत्रमात्रको प्राप्त होता है अर्थात् प्राण

१. त्राणहीन। २. वहाँ 'प्र क्षत्रमत्रमाप्नोति' के स्थानमें 'प्र क्षत्रमात्रमाप्नोति' ऐसा पाठान्तर है।

भवतीत्यर्थः। क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

हो जाता है—ऐसा अर्थ होगा। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षत्रके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये त्रयोदशमुक्थब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश ब्राह्मण

गायत्र्युपासना

ब्रह्मणो हृदयाद्यनेकोपाधिविशिष्टस्योपासनमुक्तम्। अथेदानीं गायत्र्युपाधिविशिष्टस्योपासनं वक्तव्यम्, इत्यारभ्यते। सर्वच्छन्दसां हि गायत्रीछन्दः प्रधानभूतम्, तत्प्रयोक्तृगयत्राणाद् गायत्रीति वक्ष्यति। न चान्येषां छन्दसां प्रयोक्तृप्राणत्राणसामर्थ्यम्; प्राणात्मभूता च सा सर्वच्छन्दसां चात्मा प्राणः। प्राणश्च क्षतत्राणात् क्षत्रमित्युक्तम्; प्राणश्च गायत्री; तस्मात् तदुपासनमेव विधित्स्यते।

हृदय आदि अनेक उपाधियोंसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना बतलायी गयी। अब आगे गायत्रीरूप उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना बतलानी है; इसलिये प्रकरणका आरम्भ किया जाता है। सम्पूर्ण छन्दोंमें गायत्री छन्द ही प्रधानभूत है। उसका प्रयोग करनेवालेके गयका त्राण करनेके कारण यह गायत्री है—ऐसा श्रुति बतलावेगी। अन्य छन्दोंमें अपने प्रयोक्ताके प्राणोंकी रक्षा करनेका सामर्थ्य नहीं है। किंतु वह प्राणकी स्वरूपभूता है और प्राण सम्पूर्ण छन्दोंका आत्मा है। तथा क्षतसे त्राण करनेके कारण प्राण क्षत्र है—ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। प्राण ही गायत्री है, इसलिये उसीकी उपासनाका विधान करना अभीष्ट है।

द्विजोत्तमजन्महेतुत्वाच्च— "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यम्" इति द्विजोत्तमस्य द्वितीयं जन्म गायत्रीनिमित्तम्। तस्मात् प्रधाना गायत्री। 'ब्राह्मणा व्युत्थाय', 'ब्राह्मणा अभिवदन्ति' 'स ब्राह्मणो विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति' इत्युत्तमपुरुषार्थसम्बन्धं ब्राह्मणस्य दर्शयति। तच्च ब्राह्मणत्वं गायत्रीजन्ममूलमतो वक्तव्यं गायत्र्याः सतत्त्वम्। गायत्र्या हि यः सृष्टो द्विजोत्तमो निरङ्कुश एवोत्तमपुरुषार्थसाधनेऽधिक्रियते, अतस्तन्मूलः परमपुरुषार्थसम्बन्धः। तस्मात्तदुपासनविधानायाह—

इसके सिवा ब्राह्मणोंके जन्मका हेतु होनेसे भी [इसका विधान किया जाता है]। "गायत्रीसे ब्राह्मणकी रचना की, त्रिष्टुप्से क्षत्रियकी और जगतीसे वैश्यकी" इस श्रुतिके अनुसार द्विजोत्तमका द्वितीय जन्म गायत्रीके कारण है। इसलिये गायत्री प्रधान है। 'ब्राह्मण व्युत्थान करके [भिक्षाचर्या करते हैं]', 'ब्राह्मण अभिवादन करते हैं', 'वह ब्राह्मण निष्पाप, निर्दोष और निःशङ्क ब्राह्मण होता है' इत्यादि श्रुतियाँ ब्राह्मणका उत्तम पुरुषार्थसे सम्बन्ध प्रदर्शित करती हैं। और वह ब्राह्मणत्व गायत्रीजन्ममूलक है; इसलिये गायत्रीका तत्त्व बतलाना आवश्यक है। जो गायत्रीद्वारा रचा हुआ निरङ्कुश द्विजश्रेष्ठ है, उसीका उत्तम पुरुषार्थसाधनमें अधिकार है। अतः परमपुरुषार्थका सम्बन्ध गायत्रीमूलक है। इसलिये उसकी उपासनाका विधान करनेके लिये श्रुति कहती है—

गायत्रीके प्रथम लोकरूप पादकी उपासना

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (प्रथम) पाद है। यह (भूमि आदि) ही इस गायत्रीका प्रथम पाद है। इस प्रकार इसके इस पदको जो जानता है, वह इस त्रिलोकीमें जितना कुछ है, उस सबको जीत लेता है ॥ १ ॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्येतान्यष्टावक्षराणि, अष्टाक्षरमष्टावक्षराणि यस्य तद्धिदमष्टाक्षरम्; ह वै प्रसिद्धावद्योतकौ, एकं प्रथमं गायत्र्यै गायत्र्याः पदम्, यकारेणैवाष्टत्वपूरणम्, एतदु हैवैतदेवास्या गायत्र्याः पदं पादः प्रथमो भूम्यादिलक्षणस्त्रैलोक्यात्मा; अष्टाक्षरत्वसामान्यात् ।

एवमेतत् त्रैलोक्यात्मकं गायत्र्याः प्रथमं पदं यो वेद तस्यैतत् फलम्—स विद्वान् यावत् किञ्चिदेषु त्रिषु लोकेषु जेतव्यं तावत् सर्वं ह जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः—इस प्रकार ये आठ अक्षर हैं। गायत्रीका एक अर्थात् प्रथम पाद अष्टाक्षर—जिसमें आठ अक्षर हों, ऐसा यह अष्टाक्षर है। ह और वै—ये प्रसिद्धिके सूचक निपात हैं। 'द्यौः' इसके यकारसे ही आठ संख्याकी पूर्ति होती है; यही इस गायत्रीका भूमि आदि लक्षणोंवाला त्रिलोकरूप प्रथम पाद है, क्योंकि आठ अक्षर होनेमें इनकी समानता है।

इस प्रकार गायत्रीके इस त्रैलोक्यात्मक प्रथम पादको जो जानता है, उसे यह फल प्राप्त होता है। वह उपासक, जो इस प्रकार इसके इस पादको जानता है, इस त्रिलोकीमें जो कुछ जय करने योग्य है, उस सभीको जीत लेता है ॥ १ ॥

गायत्रीके द्वितीय त्रयीरूप पादकी उपासना

तथा—

इसी प्रकार—

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ २ ॥

'ऋचः, यजूंषि, सामानि' ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (द्वितीय) पाद है। यह (ऋक् आदि) ही इस गायत्रीका द्वितीय पाद है। जो इस प्रकार इसके इस पादको जानता है, वह जितनी यह त्रयीविद्या है [अर्थात् त्रयीविद्याका जितना फल है] उस सभीको जीत लेता है ॥ २ ॥

ऋचो यजूंषि सामानीति त्रयीविद्यानामक्षराणि, एतान्यप्यष्टावेव; तथैवाष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदं द्वितीयम् एतदु हैवास्या एतद् ऋग्यजुःसामलक्षणमष्टाक्षरत्वसामान्यादेव । स यावतीयं त्रयीविद्या त्रय्या विद्यया यावत् फलजातमाप्यते तावद्ध जयति योऽस्या एतद् गायत्र्यास्त्रैविद्यलक्षणं पदं वेद ॥ २ ॥

'ऋचः, यजूंषि, सामानि' ये त्रयीविद्याके अक्षर हैं। ये भी आठ ही हैं; इसी प्रकार गायत्रीका एक अर्थात् द्वितीय पद भी आठ अक्षरोंवाला है। अष्टाक्षरत्वमें समानता होनेके कारण ही यह ऋग्यजुःसामरूप गायत्रीका द्वितीय पाद है। जो इस गायत्रीके इस त्रैविद्य (तीनों वेद) रूप पदको जानता है, वह जितनी यह त्रयीविद्या है अर्थात् त्रयीविद्यासे जितना फल प्राप्त किया जाता है, वह सब जीत लेता है ॥ २ ॥

गायत्रीके तृतीय प्राणादिपाद और तुरीय दर्शत परोरजापादकी उपासना

तथा— | तथा—

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद् वै चतुर्थं तत् तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति

सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

प्राण, अपान, व्यान—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (तृतीय) पाद है। यह प्राणादि ही इस गायत्रीका 'तृतीय' पाद है। जो गायत्रीके इस पदको इस प्रकार जानता है, वह जितना यह प्राणिसमुदाय है, सबको जीत लेता है। और यह जो तपता (प्रकाशित होता) है वही इसका तुरीय, दर्शत एवं परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, वही 'तुरीय' कहलाता है। 'दर्शतं पदम्' इसका अर्थ है—मानो [यह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष] दीखता है, 'परोरजाः' इसका अर्थ है—यह सभी रज [यानी लोकों] के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। जो गायत्रीके इस चतुर्थ पदको इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार शोभा और कीर्तिसे प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

प्राणोऽपानो व्यान एतान्यपि प्राणाद्यभिधानाक्षराण्यष्टौ। तच्च गायत्र्यास्तृतीयं पदं यावदिदं प्राणिजातं तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं गायत्र्यास्तृतीयं पदं वेद।

'प्राण' अपान, व्यान—ये प्राणादिके नाम भी आठ ही अक्षर हैं। यह गायत्रीका तृतीय पाद है। जो इस प्रकार गायत्रीके इस तृतीय पदको जानता है, वह यह जितना प्राणिसमूह है, उस सभीको जीत लेता है।

अथानन्तरं गायत्र्यास्त्रिपदायाः शब्दात्मिकायास्तुरीयं पदमुच्यतेऽभिधेयभूतमस्याः प्रकृताया गायत्र्या एतदेव वक्ष्यमाणं तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति तुरीयमित्यादिवाक्यपदार्थं स्वयमेव व्याचष्टे श्रुतिः—

अब आगे शब्दात्मिका त्रिपदा गायत्रीका अभिधेयभूत चतुर्थ पद बतलाया जाता है। यह जो तपता है, वही इस प्रकृत गायत्रीका आगे बतलाया जानेवाला तुरीय दर्शत परोरजा पद है। 'तुरीयम्' इत्यादि वाक्यके पदोंके अर्थकी श्रुति स्वयं ही व्याख्या करती है।

यद् वै चतुर्थं प्रसिद्धं लोके तदिदं तुरीयशब्देनाभिधीयते। दर्शतं पदमित्यस्य कोऽर्थः? इत्युच्यते—ददृश इव दृश्यत इव ह्येष मण्डलान्तर्गतः पुरुषोऽतो दर्शतं पदमुच्यते। परोरजा इत्यस्य पदस्य कोऽर्थः? इत्युच्यते—सर्वं समस्तमुह्येवैष मण्डलस्थः पुरुषो रजो रजोजातं समस्तं लोकमित्यर्थः, उपर्युपर्याधिपत्यभावेन सर्वं लोकं रजोजातं तपति। उपर्युपरीति वीप्सा सर्वलोकाधिपत्यख्यापनार्था।

ननु सर्वशब्देनैव सिद्धत्वाद् वीप्सानर्थिका।

नैष दोषः; येषामुपरिष्टात् सविता दृश्यते तद्विषय एव सर्वशब्दः स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्था वीप्सा। "ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च" (छा० उ० १।६।८) इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मात् सर्वावरोधार्था वीप्सा।

लोकमें जो चतुर्थ प्रसिद्ध है, वही यह 'तुरीय' शब्दसे कहा गया है। 'दर्शतं पदम्' इसका क्या अर्थ है, सो बतलाया जाता है—यह मण्डलान्तर्गत पुरुष 'ददृश इव' अर्थात् दीखता-सा है, इसलिये यह 'दर्शत पद' कहा जाता है। 'परोरजाः' इस पदका क्या अर्थ है? सो बतलाते हैं—यह मण्डलस्थ पुरुष समस्त रजः—रजःसमूह अर्थात् सारे ही लोकको ऊपर-ऊपर आधिपत्यभावसे सम्पूर्ण लोकरूप रजःसमूहको प्रकाशित करता है। 'उपरि-उपरि' यह द्विरुक्ति उसका समस्त लोकपर आधिपत्य प्रकट करनेके लिये है।

आक्षेप—किंतु आधिपत्य तो 'सर्वं' शब्दसे ही सिद्ध हो जाता है—ऐसी स्थितिमें द्विरुक्ति तो व्यर्थ ही है।

उत्तर—यह दोष नहीं है, क्योंकि जिनके ऊपर सूर्य दिखायी देता है, सर्वशब्द तो उन्हींके विषयमें होगा—इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिये द्विरुक्ति की गयी है। यह बात "जो कि इससे ऊपरके लोक हैं, यह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष उनका और देवताओंके अभीष्ट फलोंका भी स्वामी है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होती है। अतः सभी लोकोंका अवरोध करनेके लिये यह द्विरुक्ति है।

यथासौ सविता सर्वाधिपत्यलक्ष्मणया श्रिया यशसा च स्वपास्या तपत्येवं हैव श्रिया यशसा च तपति योऽस्या एतदेवं तुरीयं दर्शतं पदं वेद ॥ ३ ॥

जो गायत्रीके इस चतुर्थ दर्शत पदको इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार श्री और कीर्तिसे प्रकाशित होता है जैसे कि यह आदित्य सर्वाधिपत्यरूपा श्री और कीर्तिसे तप रहा है ॥ ३ ॥

गायत्रीकी परम प्रतिष्ठा प्राण हैं, 'गायत्री' शब्दका निर्वचन और वटको किये गये गायत्र्युपदेशका फल

सैषा गायत्र्येतस्मि\ँस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद् वै तत् सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद् वै तत् सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत् प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बल\ँ सत्यादोगीय इत्येवंवेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गया\ँस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणा\ँस्तत्रे तद् यद् गया\ँस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम स यामेवामू\ँ सावित्रीमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणा\ँस्त्रायते ॥ ४ ॥

वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पदमें प्रतिष्ठित है। वह पद सत्यमें प्रतिष्ठित है। चक्षु ही सत्य है, चक्षु ही सत्य है—यह प्रसिद्ध है। इसीसे यदि दो पुरुष 'मैंने देखा है' 'मैंने सुना है' इस प्रकार विवाद करते हुए आवें, तो उनमेंसे जो यह कहता होगा कि 'मैंने देखा है' उसीका हमें

विश्वास होगा। वह तुरीय पादका आश्रयभूत सत्य बलमें प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, वह सत्य प्राणमें प्रतिष्ठित है। इसीसे कहते हैं कि सत्यकी अपेक्षा बल ओजस्वी है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म प्राणमें प्रतिष्ठित है। उस इस गायत्रीने गयोंका त्राण किया था। प्राण ही गय हैं, उन प्राणोंका इसने त्राण किया। इसने गयोंका त्राण किया था, इसीसे इसका 'गायत्री' नाम हुआ। आचार्यने आठ वर्षके वटुके प्रति उपनयनके समय जिस सावित्रीका उपदेश किया था, वह यही है। वह जिस-जिस वटुको इसका उपदेश करता है, यह उसके-उसके प्राणोंकी रक्षा करती है॥ ४॥

सैषा त्रिपदोक्ता या त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणलक्षणा गायत्र्येतस्मिंश्चतुर्थे तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता, मूर्तामूर्तरसत्वादादित्यस्य; रसापाये हि वस्तु नीरसमप्रतिष्ठितं भवति; यथा काष्ठादि दग्धसारं तद्वत्। तथा मूर्तामूर्तात्मकं जगत् त्रिपदा गायत्र्यादित्ये प्रतिष्ठिता तद्रसत्वात् सह त्रिभिः पादैः।

पूर्वोक्त तीन पदोंवाली वह यह त्रैलोक्य, त्रैविद्य और प्राणरूपा गायत्री इस चतुर्थ तुरीय दर्शत परोरजा पदमें प्रतिष्ठित है। [यह मूर्तामूर्तरूप गायत्री चतुर्थ पदरूप आदित्यमें प्रतिष्ठित है] क्योंकि आदित्य मूर्तामूर्तरसस्वरूप है। रस न रहनेपर तो वस्तु नीरस और अप्रतिष्ठित हो जाती है; जिस प्रकार जिसका सार दग्ध हो गया है, वह काष्ठादि नीरस हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। इस प्रकार मूर्तामूर्तात्मक जगद्रूपा त्रिपदा गायत्री तीनों पादोंके सहित आदित्यमें प्रतिष्ठित है; क्योंकि आदित्य उस (जगत्) का सार है।

तद् वै तुरीयं पदं सत्ये प्रतिष्ठितम्। किं पुनस्तत् सत्यम्? इत्युच्यते—चक्षुर्वै सत्यम्। कथं

वह तुरीय पद सत्यमें प्रतिष्ठित है। वह सत्य क्या है? सो बतलाया जाता है—चक्षु ही सत्य है। किस

चक्षुः सत्यमित्याह—प्रसिद्धमेत-च्चक्षुर्हि वै सत्यम्। कथं प्रसिद्धता ? इत्याह—तस्मात् यद् यदीदानीमेव द्वौ विवदमानौ विरुद्धं वदमानावेयातामागच्छे-यातामहमदर्शं दृष्टवानस्मीत्यन्य आहाहमश्रौषं त्वया दृष्टं न तथा तद्वस्त्विति तयोर्य एवं ब्रूयाद-हमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम न पुनर्यो ब्रूयादहम-श्रौषमिति। श्रोतुर्मृषा श्रवणमपि संभवति न तु चक्षुषो मृषा दर्शनम्; तस्मान्नाश्रौषमित्युक्त-वते श्रद्दध्याम। तस्मात् सत्य-प्रतिपत्तिहेतुत्वात् सत्यं चक्षुस्त-स्मिन् सत्ये चक्षुषि सह त्रिभि-रितरैः पादैस्तुरीयं पदं प्रति-ष्ठितमित्यर्थः। उक्तं च "स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति" (३ । ९ । २०)।

प्रकार चक्षु सत्य है? सो श्रुति बतलाती है। यह बात प्रसिद्ध है कि चक्षु ही सत्य है। ऐसी प्रसिद्धि क्यों है ? सो श्रुति बतलाती है— इसलिये, यदि इसी समय दो विवाद करनेवाले-परस्परविरुद्ध बोलनेवाले आवें; उनमेंसे एक कहता हो, कि 'मैंने ऐसा देखा है' और दूसरा कहे कि 'मैंने सुना है, तूने जैसी देखी है, वह वस्तु वैसी नहीं है' तो उनमेंसे जो यह कहेगा कि 'मैंने उसे देखा है' हम उसीका विश्वास करेंगे, जो ऐसा कहता है कि 'मैंने सुना है' उसका नहीं। सुननेवालेका श्रवण तो मिथ्या भी हो सकता है, किंतु नेत्रोंको मिथ्या दर्शन नहीं हो सकता। इसलिये जो कहता है कि 'मैंने सुना है' उसमें हमारा विश्वास नहीं होता। अतः सत्यज्ञानका हेतु होनेके कारण चक्षु सत्य है। उस सत्यरूप चक्षुमें अन्य तीन पादोंके सहित तुरीय पद प्रतिष्ठित है—ऐसा इसका तात्पर्य है। कहा भी है—"वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है? चक्षुमें"।

तद् वै तुरीयपदाश्रयं सत्यं बले प्रतिष्ठितम्। किं पुनस्तद्बलम् ?

वह तुरीय पदका आश्रयभूत सत्य बलमें प्रतिष्ठित है। वह बल क्या

इत्याह—प्राणो वै बलं तस्मिन् प्राणे बले प्रतिष्ठितं सत्यम्। तथा चोक्तम् "सूत्रे तदोतं च प्रोतं च" इति। यस्माद् बले सत्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहुः—बलं सत्यादोगीय ओजीय ओजस्तरमित्यर्थः। लोकेऽपि यस्मिन् हि यदाश्रितं भवति तस्मादाश्रितादाश्रयस्य बलवत्त्वं प्रसिद्धम्; न हि दुर्बलं बलवतः क्वचिदाश्रयभूतं दृष्टम्।

एवमुक्तन्यायेन उ एषा गायत्र्यध्यात्ममध्यात्मे प्राणे प्रतिष्ठिता। सैषा गायत्री प्राणः, अतो गायत्र्यां जगत् प्रतिष्ठितम्। यस्मिन् प्राणे सर्वे देवा एकं भवन्ति, सर्वे वेदाः कर्माणि फलं च सैवं गायत्री प्राणरूपा सती जगत आत्मा।

सा हैषा गयांस्तत्रे त्रातवती; के पुनर्गयाः? प्राणा वागादयो वै गयाः; शब्दकरणात्; तांस्तत्रे सैषा गायत्री; तत्त्र यद्यस्माद्

है? सो श्रुति बतलाती है—प्राण ही बल है। उस प्राणरूप बलमें सत्य प्रतिष्ठित है। ऐसा ही कहा भी है कि "उस सूत्रमें [सूत्रसंज्ञक प्राणमें] यह [सत्यसंज्ञक भूतसमुदाय] ओतप्रोत है।" क्योंकि बलमें सत्य प्रतिष्ठित है, इसलिये कहा है कि सत्यकी अपेक्षा बल ओगीय—ओजीय अर्थात् अधिक ओजस्वी है। लोकमें भी जो वस्तु जिसमें आश्रित होती है, उसकी अपेक्षा उस आश्रयका अधिक बलवान् होना प्रसिद्ध है। कहीं भी दुर्बल बलवान्का आश्रयभूत नहीं देखा गया।

इस प्रकार उक्त न्यायसे यह गायत्री अध्यात्म—शरीरस्थ प्राणमें प्रतिष्ठित है। वह यह गायत्री प्राण है, इसलिये गायत्रीमें जगत् प्रतिष्ठित है। जिस प्राणमें सम्पूर्ण देव एक हो जाते हैं तथा समस्त वेद, कर्म और फल भी जिसमें एक हो जाते हैं, वह गायत्री इस प्रकार प्राणरूपा होनेके कारण जगत्की आत्मा है।

उस इस गायत्रीने गयोंका त्राण किया था। वे गय कौन हैं? वागादि प्राण ही गय हैं, क्योंकि वे शब्द करते हैं। इस गायत्रीने उनका त्राण किया था। इस प्रकार चूँकि इसने

गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम । गयत्राणाद् गायत्रीति प्रथिता । स आचार्य उपनीय माणवकमष्टवर्षं यामेवामूं गायत्रीं सावित्रीं सवितृदेवताकामन्वाह पच्छोऽर्धर्चशः समस्तां च; एषैव सा साक्षात्प्राणो जगत आत्मा माणवकाय समर्पितेहेदानीं व्याख्याता नान्या । स आचार्यो यस्मै माणवकायान्वाहानुवक्ति तस्य माणवकस्य गयान् प्राणांस्त्रायते नरकादिपतनात् ॥ ४ ॥

गयोंका त्राण किया था; इसलिये इसका नाम गायत्री है। गयोंका त्राण करनेके कारण यह 'गायत्री' इस प्रकार प्रसिद्ध हुई।

उस आचार्यने आठ वर्षके वटुका उपनयन कर उसे जिस सविता देवतासम्बन्धिनी सावित्रीका पहले पदशः फिर आधी-आधी ऋचा करके और फिर सम्पूर्णरूपसे उपदेश किया था वह साक्षात् प्राण जगत्की आत्मा यह गायत्री ही उस वटुको समर्पण की गयी थी, जिसकी कि इस समय व्याख्या की गयी है, कोई और नहीं। वह आचार्य जिस वटुको उसका उपदेश करता है, उस वटुके गय यानी प्राणोंकी वह गायत्री नरकादिमें गिरनेसे रक्षा करती है ॥ ४ ॥

अनुष्टुप् सावित्रीके उपदेशका निषेध और गायत्री-सावित्रीका महत्त्व

ताᳬहैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद् वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद् गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद् यदि ह वा अप्येवंविद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद् गायत्र्या एकंचन पदं प्रति ॥ ५ ॥

कोई शाखावाले उस इस अनुष्टुप् छन्दवाली सावित्रीका उपदेश करते हैं।

[गायत्री छन्दवाली सावित्रीका उपदेश न करके [1]अनुष्टुप्छन्दकी सावित्रीका उपदेश करते हैं ।] वे कहते हैं कि वाक् अनुष्टुप् है, इसलिये हम वाक्का ही उपदेश करते हैं । किंतु ऐसा नहीं करना चाहिये । गायत्री छन्दवाली सावित्रीका ही उपदेश करे । ऐसा जाननेवाला जो अधिक प्रतिग्रह भी करे, तो भी वह गायत्रीके एक पदके बराबर भी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

तामेतां सावित्रीं हैके शाखिनोऽनुष्टुभमनुष्टुप्प्रभवामनुष्टुप्छन्दस्कामन्वाहुरुपनीताय । तदभिप्रायमाह—वागनुष्टुप् । वाक् च शरीरे सरस्वती, तामेव हि वाचं सरस्वतीं माणवकायानुब्रूम इत्येतद् वदन्तः ।

कोई शाखावाले उपनीत वटुको अनुष्टुप्—अनुष्टुप्प्रभव अर्थात् अनुष्टुप् छन्दवाली उस इस सावित्रीका उपदेश करते हैं । श्रुति उनका अभिप्राय बतलाती है- वाक् अनुष्टुप् है । वाक् ही शरीरमें सरस्वती है, उस वाग्रूपा सरस्वतीका ही हम माणवक (वटु) को उपदेश करते हैं—ऐसा कहते हुए वे उसका उपदेश करते हैं ।

न तथा कुर्यान्न तथा विद्याद् यत्त आहुर्मृषैव तत् । किं तर्हि ? गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात् । कस्मात् ? यस्मात् प्राणो गायत्रीत्युक्तम् । प्राण उक्ते वाक् च सरस्वती चान्ये च प्राणाः सर्वं माणवकाय समर्पितं भवति ।

किंतु ऐसा नहीं करना चाहिये, ऐसा नहीं समझना चाहिये; वे जो कहते हैं, वह मिथ्या ही है । तो फिर क्या करना चाहिये ? गायत्रीछन्दवाली सावित्रीका ही उपदेश करे । क्यों ? क्योंकि प्राण गायत्री है—ऐसा कहा जा चुका है । प्राणका उपदेश हो जानेपर वाक् सरस्वती और अन्य सब प्राण भी वटुको समर्पित हो जाते हैं ।

१. अनुष्टुप् छन्द चार पादोंका होता है और गायत्री छन्द तीन पादोंका । दोनोके पाद आठ-आठ अक्षरके ही होते हैं । अनुष्टुप् छन्दमें जो मन्त्र उपलब्ध होता है, उसका भी देवता सविता ही है, इसलिये कुछ लोग उसे ही सावित्री कहते हैं । अनुष्टुप् छन्दवाला मन्त्र इस प्रकार है—
तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ इति

किञ्चेदं प्रासङ्गिकमुक्त्वा गायत्रीविदं स्तौति—यदि ह वा अप्येवंविद् बह्विव—न वि तस्य सर्वात्मनो बहु नामास्ति किंचित् सर्वात्मकत्वाद् विदुषः—प्रतिगृह्णाति, न हैव तत् प्रतिग्रहजातं गायत्र्या एकंचनैकमपि पदं प्रति पर्याप्तम् ॥ ५ ॥

गायत्रीछन्दवाली सावित्रीके विषयमें यह प्रासङ्गिक बात कहकर अब श्रुति गायत्र्युपासककी स्तुति करती है—यदि इस प्रकार जाननेवाला अधिक प्रतिग्रह भी करे—'अधिक' इसलिये कहा कि सर्वात्मक होनेके कारण उस विद्वान्‌के लिये वास्तवमें बहुत कुछ भी नहीं है; तो भी वह प्रतिग्रह-समुदाय गायत्रीके एक पादके लिये भी पर्याप्त नहीं है ॥ ५ ॥

गायत्रीके प्रत्येक पदके महत्त्वका दिग्दर्शन

स य इमाꣳस्त्रींल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत् प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयीविद्या यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६ ॥

जो इन तीन पूर्ण लोकोंका प्रतिग्रह करता है, उसका वह (प्रतिग्रह) इस गायत्रीके इस प्रथम पादको व्याप्त करता है और जितनी यह त्रयी-विद्या है, उसका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस द्वितीय पादको व्याप्त करता है और जितने ये प्राणी हैं, उनका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस तृतीय पदको व्याप्त करता है और यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है, जो कि यह तपता है, यह किसीके द्वारा प्राप्य नहीं है; क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कहाँसे कर सकता है ? ॥ ६ ॥

स य इमांस्त्रीन् स यो गायत्रीविदिमान् भूरादींस्त्रीन् गोऽश्वादिधनपूर्णांल्लोकान् प्रतिगृह्णीयात् स प्रतिग्रहोऽस्या गायत्र्या एतत् प्रथमं पदं यद् व्याख्यातमाप्नुयात् । प्रथमपदविज्ञानफलं तेन भुक्तं स्यान्न त्वधिकदोषोत्पादकः स प्रतिग्रहः ।

'स य इमांस्त्रीन्' जो गायत्र्युपासक इन गो-अश्वादि धनसे पूर्ण भूर्लोकादि तीन लोकोंका प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करता है, वह प्रतिग्रह इस गायत्रीके इस प्रथम पादको, जिसकी कि व्याख्या की गयी है, व्याप्त करता है। अर्थात् उसके द्वारा केवल प्रथम पादके विज्ञानका फल भोगा जाता है, वह प्रतिग्रह इससे अधिक दोष उत्पन्न करनेवाला नहीं है।

अथ पुनर्यावतीयं त्रयीविद्या, यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयात् । द्वितीयपदविज्ञानफलं तेन भुक्तं स्यात् । तथा यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत् तृतीयं पदमाप्नुयात् । तेन तृतीयपदविज्ञानफलं भुक्तं स्यात् ।

और फिर जितनी भी यह त्रयीविद्या है, उतना जो प्रतिग्रह करता है, उसका वह प्रतिग्रह इसके इस द्वितीय पादको ही व्याप्त करता है। उसके द्वारा द्वितीय पादके विज्ञानका फल ही भोगा जाता है। तथा जितने ये प्राणी हैं, जो उतना प्रतिग्रह करता है, वह प्रतिग्रह इसके तृतीय पादको ही व्याप्त करता है। उसके द्वारा तृतीय पादके विज्ञानका फल ही भोगा जाता है।

कल्पयित्वेदमुच्यते । पादत्रयसममपि यदि कश्चित् प्रतिगृह्णीयात् तत् पादत्रयविज्ञानफलस्यैव क्षयकारणं न त्वन्यस्य दोषस्य कर्तृत्वे क्षमम् । न चैवं दाता

यह बात कल्पना करके कही गयी है अर्थात् यदि कोई गायत्रीके पादत्रयके समान भी प्रतिग्रह करे तो उसका वह प्रतिग्रह पादत्रयविज्ञानके फलमात्रका क्षय करनेका कारण हो सकता है, वह कोई और दोष करनेमें समर्थ नहीं है। ऐसे दाता और

प्रतिग्रहीता वा गायत्रीविज्ञान-स्तुतये कल्प्यते, दाता प्रति-ग्रहीता च यद्यप्येवं सम्भाव्यते नासौ प्रतिग्रहोऽपराधक्षमः, कस्मात्? यतोऽभ्यधिकमपि पुरुषार्थविज्ञानमवशिष्टमेव चतुर्थ-पादविषयं गायत्र्यास्तद्दर्शयति—

अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति। यच्चैतन्नैव केनचन केनचिदपि प्रतिग्रहेणाप्यं नैव प्राप्यमित्यर्थः, यथा पूर्वोक्तानि त्रीणि पदानि। एतान्यपि नैवाप्यानि केनचित् कल्पयित्वैवमुक्तं परमार्थतः कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात् त्रैलो-क्याद्विसमम्। तस्माद् गायत्र्येवं-प्रकारोपास्येत्यर्थः॥ ६॥

प्रतिग्रहीताकी केवल गायत्र्युपा-सनाकी स्तुतिके लिये ही कल्पना की गयी हो—ऐसी बात नहीं है, यद्यपि ऐसा दाता और प्रतिग्रह करनेवाला सम्भव हो सकता है, किंतु यह प्रतिग्रह कोई अपराध (दोष) करनेमें समर्थ नहीं है, क्यों? क्योंकि गायत्रीके चतुर्थ पादका विषयभूत इससे भी अधिक पुरुषार्थविज्ञान अभी अवशिष्ट है ही। उसे श्रुति दिखलाती है—

और यह जो तपता है यही इसका तुरीय अर्थात् चौथा दर्शत परोरजा पद है। और यह जो है, किसी भी प्रतिग्रहके द्वारा आप्य अर्थात् प्राप्तव्य नहीं है, जिस प्रकार कि पूर्वोक्त तीन पद हैं। वास्तवमें तो ये भी किसीसे आप्य नहीं हैं, कल्पना करके ही ऐसा कहा है। वास्तवमें त्रैलोक्यादिके समान इतना कोई कहाँसे प्रतिग्रह करेगा? अतः तात्पर्य यही है कि इस प्रकारकी गायत्रीकी ही उपासना करनी चाहिये॥ ६॥

गायत्रीका उपस्थान और उसका फल

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै

कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

उस गायत्रीका उपस्थान—हे गायत्रि ! तू [त्रैलोक्यरूप प्रथम पादसे] एकपदी है, [तीनों वेदरूप द्वितीय पादसे] द्विपदी है, [प्राण, अपान और व्यानरूप तीसरे पादसे] त्रिपदी है और [तुरीय पादसे] चतुष्पदी है, [इन सबसे परे निरुपाधिक स्वरूपसे तू] अपद है; क्योंकि तू जानी नहीं जाती। अतः व्यवहारके अविषयभूत एवं समस्त लोकोंसे ऊपर विराजमान तेरे दर्शनीय तुरीय पदको नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु इस [विघ्नाचरणरूप] कार्यमें सफलता नहीं प्राप्त करे। इस प्रकार यह (विद्वान्) जिससे द्वेष करता हो 'उसकी कामना पूर्ण न हो' ऐसा कहकर उपस्थान करे। जिसके लिये इस प्रकार उपस्थान किया जाता है, उसकी कामना पूर्ण नहीं होती। अथवा 'मैं इस वस्तुको प्राप्त करूँ' ऐसी कामनासे उपस्थान करे ॥ ७ ॥

तस्या उपस्थानं तस्या गायत्र्या उपस्थानमुपेत्य स्थानं नमस्करणमनेन मन्त्रेण। कोऽसौ मन्त्रः ? इत्याह—हे गायत्र्यसि भवसि त्रैलोक्यपादेनैकपदी। त्रयीविद्यारूपेण द्वितीयेन द्विपदी। प्राणादिना तृतीयेन त्रिपद्यसि। चतुर्थेन तुरीयेण चतुष्पद्यसि। एवं चतुर्भिः पादैरुपासकैः पद्यसे ज्ञायसे।

अतः परं परेण निरुपाधिकेन स्वेनात्मनापदसि। अविद्यमानं पदं यस्यास्तव येन पद्यसे सा

उस गायत्रीका इस मन्त्रसे उपस्थान—समीप जाकर स्थित होना अर्थात् नमस्कार होता है। वह मन्त्र कौन-सा है ? सो श्रुति बतलाती है—हे गायत्रि ! तू पूर्वोक्त रूपसे तीन लोकरूपी प्रथम पादद्वारा एकपदी है; त्रयीविद्यारूप द्वितीय पादसे द्विपदी है, प्राणादि तृतीय पादसे त्रिपदी है और चतुर्थ—तुरीय पादसे चतुष्पदी है। इस प्रकार चार पादोंसे तू उपासकोंद्वारा जानी जाती है।

इसके आगे अपने सर्वोत्तम निरुपाधिक स्वरूपसे तू अपद है। जिस तेरा कोई पद, जिससे कि तेरा ज्ञान

त्वमपदसि, यस्मान्न हि पद्यसे नेति नेत्यात्मत्वात् ? अतोऽव्यवहारविषयाय नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे ।

असौ शत्रुः पाप्मा त्वत्प्राप्तिविघ्नकरोऽदस्तदात्मनः कार्यं यत् त्वत्प्राप्तिविघ्नकर्तृत्वं मा प्रापन्मैव प्राप्नोतु । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ।

यं द्विष्याद् यं प्रति द्वेषं कुर्यात् स्वयं विद्वांस्तं प्रत्यनेनोपस्थानम् । असौ शत्रुरमुकनामेति नाम गृह्णीयादस्मै यज्ञदत्तायाभिप्रेतः कामो मा समृद्धि समृद्धिं मा प्राप्नोत्विति वोपतिष्ठते । न हैवास्मै देवदत्ताय स कामः समृध्यते । कस्मै ? यस्म एवमुपतिष्ठते । अहमदो देवदत्ताभिप्रेतं प्रापमिति वोपतिष्ठते । असावदो मा प्राप-

हो, नहीं है, वह तू अपद है; क्योंकि नेति-नेति स्वरूप होनेके कारण तेरा ज्ञान नहीं होता। अतः व्यवहारके अविषयभूत तेरे तुरीय दर्शत (दर्शनीय) परोरजा (समस्त लोकोंसे ऊपर विराजमान) पदको नमस्कार है ।

वह शत्रु पाप तेरी प्राप्तिमें विघ्न करनेवाला है। वह तेरी प्राप्तिमें विघ्न करनेरूप कार्यमें समर्थ न हो। यहाँ 'इति' शब्द मन्त्रकी समाप्तिके लिये है ।

यह उपासक जिसके प्रति द्वेष करता हो, उसके लिये यह उपस्थान है। यह अमुक नामवाला शत्रु—इस प्रकार यहाँ नाम ले, अर्थात् इस यज्ञदत्तको इसका अभिप्रेत अर्थ समृद्ध न हो अर्थात् सम्पन्नताको प्राप्त न हो—ऐसा कहकर उपस्थान करता है। ऐसा करनेसे इस देवदत्तकी अभीष्ट कामना पूर्ण नहीं ही होती है। किस देवदत्तके लिये ऐसी बात है ? जिसके उद्देश्यसे इस प्रकार उपस्थान करता है, उसके लिये अथवा इस देवदत्तके अभीष्ट अर्थको मैं प्राप्त कर लूँ—इस उद्देश्यसे उपस्थान करता है। 'असौ' 'अदः' 'मा प्रापत्' इन

दित्यादित्रयाणां मन्त्रपदानां यथाकामं विकल्पः ॥ ७ ॥ | तीन मन्त्रपदोंका उपासकके इच्छानुसार विकल्प हो सकता है[1] ॥ ७ ॥

गायत्रीके मुखविधानके लिये अर्थवाद

गायत्र्या मुखविधानायार्थवाद उच्यते— | गायत्रीका मुखविधान करनेके लिये अर्थवाद कहा जाता है—

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद् गायत्रीविद्ब्रूथा कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत् संदहत्येवꣳ हैवैवंविद् यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत् संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥ ८ ॥

उस विदेह जनकने बुडिल आश्वतराश्विसे यही बात कही थी कि 'तूने जो अपनेको गायत्रीविद् (गायत्री-तत्त्वका ज्ञाता) कहा था, तो फिर [प्रतिग्रहके दोषसे] हाथी होकर भार क्यों ढोता है?' इसपर उसने 'हे सम्राट्! मैं इसका मुख ही नहीं जानता था' ऐसा कहा। [तब जनकने कहा—] 'इसका अग्नि ही मुख है। यदि अग्निमें लोग बहुत-सा ईंधन रख दें तो वह उस सभीको जला डालता है। इसी प्रकार ऐसा जाननेवाला बहुत-सा पाप करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

एतद्ध किल वै स्मर्यते। तत्र गायत्रीविज्ञानविषये जनको वैदेहो बुडिलो नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्य- | उस गायत्री-विज्ञानके विषयमें ऐसा ही स्मरण भी किया जाता है—विदेह जनकने बुडिल नामसे प्रसिद्ध व्यक्तिसे, जो अश्वतराश्वके पुत्र होनेके

1. अर्थात् वह जिसके लिये जिस वस्तुकी प्राप्ति या अप्राप्तिकी कामना रखता हो; उन्हींका इनके स्थानमें उच्चारण किया जा सकता है।

माश्वतराश्विस्तं किलोक्तवान् । यन्नु इति वितर्के, हो अहो इत्येतत् तद्यत् त्वं गायत्रीविद्ब्रूथाः, गायत्रीविदस्मीति यद्ब्रूथाः किमिदं तस्य वचसोऽननुरूपम् ? अथ कथं यदि गायत्रीवित् प्रतिग्रहदोषेण हस्तीभूतो वहसीति ।

स प्रत्याह राज्ञा स्मारितो मुखं गायत्र्या हि यस्मादस्या हे सम्राण्न विदांचकार न विज्ञातवानस्मीति होवाच । एकाङ्गविकलत्वाद् गायत्रीविज्ञानं ममाफलं जातम् ।

शृणु तर्हि तस्या गायत्र्या अग्निरेव मुखम् । यदि ह वा अपि बह्विवेन्धनमग्नावभ्यादधति लौकिकाः सर्वमेव तत् संदहत्येवेन्धनमग्निः, एवं हैवेविद् गायत्र्या अग्निर्मुखमित्येवं वेत्तीत्येवंवित् स्यात् स्वयं गायत्र्यात्माग्निमुखः सन् । यद्यपि बह्विव पापं कुरुते प्रतिग्रहादिदोषं तत्

कारण आश्वतराश्वि कहलाते थे, उनसे कहा था । 'यत्+नु' ये अव्यय वितर्कके अर्थमें हैं । 'हो ! अर्थात् अहो ! तूने जो अपनेको गायत्रीका जानकार बतलाया था अर्थात् तू जो कहता था कि मैं गायत्रीका ज्ञाता हूँ, सो तेरे उस वचनके विपरीत ऐसा क्यों है ? यदि तू गायत्रीका ज्ञाता है तो प्रतिग्रहदोषके कारण तू हाथी बनकर भार क्यों ढोता है ?'

राजाके द्वारा स्मरण कराये जानेपर उनसे उत्तर दिया, 'हे सम्राट् ! क्योंकि मैं इस गायत्रीका मुख नहीं जानता था, ऐसा उसने कहा, 'एक अङ्गसे रहित होनेके कारण मेरा गायत्रीविज्ञान निष्फल हो गया है ।'

[तब जनकने कहा—] 'अच्छा तो सुन उस गायत्रीका अग्नि ही मुख है ! यदि लौकिक पुरुष अग्निमें बहुत-सा ईंधन भी डालें, तो वह अग्नि उस सभीको भस्म कर देता है । इसी प्रकार जो ऐसा जाननेवाला है, अर्थात् गायत्रीका मुख अग्नि है—ऐसा जो जानता है तथा स्वयं अग्नि मुख होकर गायत्रीका स्वरूप हो गया है, वह यद्यपि बहुत-सा पाप यानी प्रतिग्रहादि दोष भी करता रहा हो, उस

सर्वं पापजातं संप्साय भक्षयित्वा शुद्धोऽग्निवत् पूतश्च तस्मात्-प्रतिग्रहदोषाद् गायत्र्यात्माऽजरोऽमृतश्च सम्भवति ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण पापसमूहको 'संप्साय'—भक्षण करके वह गायत्र्यात्मा शुद्ध होकर और उस प्रतिग्रहदोषसे अग्निके समान पवित्र होकर अजर-अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये चतुर्दशं गायत्रीब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

पञ्चदश ब्राह्मण

ज्ञानकर्मसमुच्चयकारीकी अन्तकालमें आदित्य और अग्निसे प्रार्थना

यो ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी सोऽन्तकाल आदित्यं प्रार्थयति, अस्ति च प्रसङ्गः, गायत्र्यास्तुरीयः पादो हि सः। तदुपस्थानं प्रकृतम्, अतः स एव प्रार्थ्यते—

जो ज्ञान और कर्मका समुच्चय करनेवाला है, वह अन्त समयमें आदित्यकी प्रार्थना करता है। यहाँ आदित्यका प्रसङ्ग तो है ही, क्योंकि वह गायत्रीका चतुर्थ पाद है। उसके उपस्थानका प्रकरण है, इसलिये उसीकी प्रार्थना की जाती है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्। समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तशरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। अग्ने

नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम १

सत्यसंज्ञक ब्रह्मका मुख ज्योतिर्मय पात्रसे आच्छादित है। हे संसारका पोषण करनेवाले सूर्यदेव! तू उसे, मुझ सत्यधर्मके प्रति उसके दर्शनके लिये उघाड़ दे। हे पूषन्! हे एकर्षे! हे यम! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! अपनी किरणोंको हटा ले और तेजको समेट ले। तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप है, उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं अमृतस्वरूप हूँ। [मुझ अमृत एवं सत्यस्वरूप आत्माका शरीरपात हो जानेपर इस शरीरके भीतरका] प्राणवायु इस बाह्यवायुको प्राप्त हो तथा यह शरीर भस्मशेष होकर पृथ्वीको प्राप्त हो। हे प्रणवरूप एवं मनोमय क्रतुरूप अग्निदेव! जो स्मरण करने योग्य है, उसका स्मरण कर। मैंने जो किया है, उसका स्मरण कर। हे क्रतुरूप अग्निदेव! जो स्मरण करने योग्य है, उसका स्मरण कर; किये हुएका स्मरण कर। हे अग्ने! हमें तू कर्मफलकी प्राप्तिके लिये शुभ मार्ग [यानी देवयानमार्ग] से ले चल। हे देव! तू सम्पूर्ण प्राणियोंके समस्त प्रज्ञानोंको जाननेवाला है। हमारे कुटिल पापोंको हमसे दूर कर। हम तुझे अनेकों बार नमस्कार करते हैं॥ १॥

हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण यथा पात्रेणेष्टं वस्त्वपिधीयते, एवमिदं सत्याख्यं ब्रह्म ज्योतिर्मयेन मण्डलेनापिहितमिवासमाहितचेतसामदृश्यत्वात्। तदुच्यते — सत्यस्यापिहितं मुखं मुख्यं स्वरूपं

हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्मय पात्रसे जिस प्रकार पात्रसे अपनी अभीष्ट वस्तु ढक दी जाती है, इसी प्रकार यह सत्यसंज्ञक ब्रह्म मानो ज्योतिर्मय मण्डलसे ढका हुआ है; क्योंकि जिनका चित्त समाहित (स्थिर एवं विशुद्ध) नहीं है, उन पुरुषोंके लिये यह अदृश्य है। वही बात कही जाती है। सत्यका मुख यानी मुख्य-

तद्पिधानं पात्रमपिधानमिव दर्शनप्रतिबन्धकारणं तत् त्वं हे पूषन्! जगतः पोषणात् पूषा सवितापावृणवपावृतं कुरु, दर्शनप्रतिबन्धकारणम् अपनयेत्यर्थः, सत्यधर्माय सत्यं धर्मोऽस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै त्वदात्मभूतायेत्यर्थः, दृष्टये दर्शनाय।

पूषन्नित्यादीनि नामान्यामन्त्रणार्थानि सवितुः, एकर्षे एकश्चासावृषिश्चैकर्षिर्दर्शनादृषिः, स हि सर्वस्य जगत आत्मा चक्षुश्च सन् सर्वं पश्यत्येको वा गच्छतीत्येकर्षिः—"सूर्य एकाकी चरति" इति मन्त्रवर्णात्। यम सर्वं हि जगतः संयमनं त्वत्कृतम्; सूर्य सुष्ठ्वीरयते रसान् रश्मीन् प्राणान् धियो वा जगत इति।

स्वरूप ढका हुआ है, उसके आवरक पात्रको जो ढक्कनके समान उसके दर्शनके प्रतिबन्धका कारण है, उसे हे पूषन्!—जगत्का पोषण करनेके कारण सूर्य 'पूषा' है—अपावृत कर; अर्थात् जो दर्शनमें रुकावट डालनेका कारण हो रहा है, उसे दृष्टये—दर्शनके लिये दूर कर दे। [किस व्यक्तिके लिये?] जिस मेरा सत्य धर्म है, वह मैं सत्यधर्म हूँ, उसके लिये अर्थात् तुम्हारे स्वरूपभूत मेरे लिये। [उस आवरणको हटा दो, जिससे मैं सत्यका साक्षात्कार करूँ]।

'पूषन्' इत्यादि नाम सूर्यको सम्बोधन करनेके लिये हैं। 'हे एकर्षे'—जो एक ऋषि हो, वह एकर्षि है। दर्शन करनेके कारण वह ऋषि है; क्योंकि वही सम्पूर्ण जगत्का आत्मा और नेत्र होकर सबको देखता है। अथवा वह अकेला ही चलता है, इसलिये एकर्षि है, जैसा कि "सूर्य अकेला चलता है" इस मन्त्रवर्णसे ज्ञात होता है। 'हे यम!'—क्योंकि सम्पूर्ण जगत्का संयमन तेरा किया हुआ ही है। 'हे सूर्य!'—जगत्के रस, रश्मि, प्राण और बुद्धिको सुष्ठु—सम्यक् प्रकारसे प्रेरित

प्राजापत्य प्रजापतेरीश्वरस्यापत्यं हिरण्यगर्भस्य वा हे प्राजापत्य व्यूह विगमय रश्मीन्। समूह संक्षिपात्मनस्तेजो येनाहं शक्नुयां द्रष्टुम्। तेजसा ह्यपहृतदृष्टिर्न शक्नुयां तत्स्वरूपमञ्जसा द्रष्टुम्, विद्योतन इव रूपाणाम्; अत उपसंहर तेजः।

यत्ते तव रूपं सर्वकल्याणानामतिशयेन कल्याणं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, पश्यामो वयं वचनव्यत्ययेन। योऽसौ भूर्भुवः स्वर्व्याहृत्यवयवः पुरुषः, पुरुषाकृतित्वात् पुरुषः, सोऽहमस्मि भवामि। अहरहमिति चोपनिषद् उक्तत्वादादित्यचाक्षुषयोस्तदेवेदं

करता है, इसलिये सूर्य है। 'हे प्राजापत्य'—प्रजापति अर्थात् ईश्वर अथवा हिरण्यगर्भके पुत्र होनेके कारण हे प्राजापत्य! रश्मियोंको 'व्यूह'—निवृत्त कर। और अपने तेजको 'समूह'—समेट ले, जिससे मैं सत्य-ब्रह्मको देख सकूँ। जिस प्रकार बिजलीकी चमकमें मनुष्य रूपोंको नहीं देख सकते, उसी प्रकार तेरे तेजसे दृष्टि नष्ट हो जानेके कारण मैं तेरे स्वरूपको साक्षात् नहीं देख सकता; अतः अपने तेजका उपसंहार कर।

तेरा जो सम्पूर्ण कल्याणोंमें अतिशय कल्याणमय कल्याणतम रूप है, तेरे उस रूपको मैं देखता हूँ। 'पश्यामो वयम्' इस प्रकार [1]वचनव्यत्ययके द्वारा बहुवचन करके 'हम देखते हैं' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। यह जो 'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतिरूप अवयवोंवाला पुरुष है, जो पुरुषाकार होनेके कारण पुरुष है, वह मैं ही हूँ। आदित्य और चाक्षुष पुरुषकी 'अहर्' और 'अहम्' ये उपनिषदें (गुह्यनाम) कही गयी हैं, अतः यहाँ उन्हींका परामर्श

१. 'व्यत्ययो बहुलम्' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार।

परामृश्यते, सोऽहमस्म्यमृतमिति सम्बन्धः ।

ममामृतस्य सत्यस्य शरीरपाते शरीरस्थो यः प्राणो वायुः सोऽनिलं बाह्यं वायुमेव प्रतिगच्छतु। तथान्या देवताः स्वां स्वां प्रकृतिं गच्छन्तु । अथेदमपि भस्मान्तं सत् पृथिवीं यातु शरीरम् ।

अथेदानीमात्मनः संकल्पभूतां मनसि व्यवस्थितामग्निदेवतां प्रार्थयते—ॐ क्रतो—ओमिति क्रतो इति च सम्बोधनार्थावेव, ॐकारप्रतीकत्वादोम्, मनोमयत्वाच्च क्रतुः, हे ॐ हे क्रतो स्मर स्मर्तव्यम्, अन्तकाले हि त्वत्स्मरणवशादिष्टा गतिः प्राप्यते, अतः प्रार्थ्यते—यन्मया कृतं तत् स्मर । पुनरुक्तिरादरार्था ।

किया जाता है; अर्थात् 'सोऽहमस्मि अमृतम्'—वह मैं अमृत हूँ, इस प्रकार इसका सम्बन्ध है ।

शरीरपात होनेपर मुझ अमृतरूप सत्यका जो शरीरस्थ वायु-प्राण है वह अनिल अर्थात् बाह्य वायुको ही प्राप्त हो जाय ! तथा दूसरे देव अपने-अपने मूलको प्राप्त हो जायँ । तथा यह शरीर भी भस्मशेष होकर पृथिवीको प्राप्त हो जाय ।

अब इस समय मनमें स्थित अपने संकल्पभूत अग्निदेवताकी प्रार्थना की जाती है—ॐ क्रतो—'ॐ' शब्द और 'क्रतो' शब्द सम्बोधनके लिये हैं; अग्नि ओङ्काररूप प्रतीकवाला होनेके कारण 'ॐ' तथा मनोमय होनेके कारण 'क्रतु' है, हे ॐ ! हे क्रतो ! जो स्मरण करनेयोग्य है, उसका स्मरण कर, अन्तकालमें तेरे स्मरणके अधीन ही इष्ट गति प्राप्त की जाती है; अतः प्रार्थना है कि मैंने जो कुछ किया है, उसे स्मरण कर । यहाँ 'ॐ क्रतो स्मर' इत्यादि वाक्यकी पुनरुक्ति आदरके लिये है ।

किञ्च हे अग्ने नय प्रापय सुपथा शोभनेन मार्गेण राये धनाय कर्मफलप्राप्तय इत्यर्थः । न दक्षिणेन कृष्णेन पुनरावृत्तियुक्तेन, किं तर्हि ? शुक्लेनैव सुपथा अस्मान् । विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि प्रज्ञानानि सर्वप्राणिनां विद्वान् । किञ्च युयोध्यपनय वियोजयास्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलमेनः पापं पापजातं सर्वम् । तेन पापेन विमुक्ता वयमेष्याम—उत्तरेण पथा त्वत्प्रसादात् ।

किंतु वयं तुभ्यं परिचर्यां कर्तुं न शक्नुमो भूयिष्ठां बहुतमां ते तुभ्यं नमउक्तिं नमस्कारवचनं विधेम, नमस्कारोक्त्या परिचरेमेत्यर्थः, अन्यत् कर्तुमशक्ताः सन्त इति ॥ १ ॥

तथा हे अग्ने ! हमें 'राये' अर्थात् कर्मफलकी प्राप्तिके लिये सुपथसे—शुभमार्गसे ले चल । पुनरावृत्तियुक्त दक्षिण अर्थात् धूममार्गसे मत ले चल, तो किससे ? सुपथ अर्थात् उज्ज्वल [देवयान] मार्गसे ही हमें ले चल । हे देव ! तू सम्पूर्ण प्रज्ञानोंको जाननेवाला है । हमारे सम्पूर्ण जुहुराण—कुटिल एनस्—पापोंको हमसे 'युयोधि'—दूर कर । उन पापोंसे विमुक्त होकर हम तेरी कृपासे उत्तरायणमार्गसे जायँगे ।

किंतु हम तेरी परिचर्या—सेवा करनेमें समर्थ नहीं हैं, अतः तेरे लिये अनेकों बार नमउक्ति—नमस्कार-वचनोंका विधान करें। अर्थात् और कुछ करनेमें असमर्थ होनेके कारण नमस्कारोक्तिद्वारा तेरी परिचर्या करें ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये
पञ्चदशं सूर्याग्निप्रार्थनाब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

ॐ प्राणो गायत्रीत्युक्तम्। कस्मात् पुनः कारणात् प्राणभावो गायत्र्या न पुनर्वागादिभाव इति? यस्माज्ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च प्राणः; न वागादयो ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यभाजः। कथं ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं च प्राणस्येति तन्निर्दिधारयिषयेदमारभ्यते।

अथवोक्थयजुःसामक्षत्त्रादिभावैः प्राणस्यैवोपासनमभिहितं सत्स्वप्यन्येषु चक्षुरादिषु। तत्र हेतुमात्रमिहानन्तर्येण सम्बध्यते। न पुनः पूर्वशेषता। विवक्षितं तु खिलत्वादस्य काण्डस्य पूर्वत्र यदनुक्तं विशिष्टफलं प्राणविषयमुपासनं तद् वक्तव्यमिति।

ॐ प्राण गायत्री है—ऐसा पहले कहा जा चुका है। किंतु गायत्रीका प्राणभाव ही किस कारणसे है, वागादिभाव क्यों नहीं है? क्योंकि प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, वागादि ज्येष्ठता और श्रेष्ठताके पात्र नहीं हैं। प्राणका ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व क्यों है—इसका निश्चय करनेकी इच्छासे यह [आगेका] ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

अथवा उक्थ, यजुः, साम, क्षत्त्रादि भावोंसे चक्षु आदि अन्य इन्द्रियोंके रहते हुए भी प्राणकी ही उपासना बतलायी गयी है। यहाँ उसका हेतुमात्र है, जो उसके अनन्तर होनेके कारण उससे सम्बन्ध रखता है। यह पूर्व ग्रन्थका शेष नहीं है। इसका विवक्षित विषय विशिष्टफलवती प्राणोपासना ही है। यह काण्ड उसका खिलस्वरूप होनेके कारण जो पूर्वग्रन्थमें नहीं कहा गया, उसीको यहाँ बतलाना है।

ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-दृष्टिसे प्राणोपासना

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें तथा और भी जिन लोगोंमें चाहता है, उनमें भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है ॥ १ ॥

यः कश्चिद्ध वा इत्यवधारणार्थौ। यो ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं वक्ष्यमाणं यो वेदासौ भवत्येव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। एव फलेन प्रलोभितः सन् प्रश्नायाभिमुखीभूतस्तस्मै चाह—'प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।'

जो कोई; यहाँ 'ह' और 'वै' निश्चयार्थक हैं, जो आगे बतलाये जानेवाले ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुणवाले प्राणको जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो ही जाता है। इस प्रकार फलसे प्रलोभित होनेपर जब साधक प्रश्नके लिये अभिमुख होता है तो उससे श्रुति कहती है—'प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।'

कथं पुनरवगम्यते प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति ? यस्मान्निषेककाल एव शुक्रशोणितसम्बन्धः प्राणादिकलापस्याविशिष्टः; तथापि नाप्राणं शुक्रं विरोहतीति प्रथमो वृत्तिलाभः प्राणस्य चक्षुरादिभ्यः अतो ज्येष्ठो वयसा प्राणः।

किंतु यह जाना कैसे जाता है कि प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। क्योंकि गर्भाधानके समय ही यद्यपि प्राणादिसमूहका शुक्र और शोणितसे समान सम्बन्ध है, तो भी बिना प्राणके शुक्रमें शरीरका अङ्कुर नहीं होता; अतः चक्षु आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षा प्राणको पहले वृत्तिलाभ होता है; इसलिये आयुके द्वारा प्राण ज्येष्ठ है।

निषेककालादारभ्य गर्भं पुष्यति प्राणः; प्राणे हि लब्धवृत्तौ पश्चाच्चक्षुरादीनां वृत्तिलाभः; अतो युक्तं प्राणस्य ज्येष्ठत्वं चक्षुरादिषु ।

भवति तु कश्चित् कुले ज्येष्ठः; गुणहीनत्वात्तु न श्रेष्ठः । मध्यमः कनिष्ठो वा गुणाढ्यत्वाद् भवेच्छ्रेष्ठो न ज्येष्ठः । न तु तथेहेत्याह—'प्राण एव तु ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।' कथं पुनः श्रैष्ठ्यमवगम्यते प्राणस्य ? तदिह संवादेन दर्शयिष्यामः ।

सर्वथापि तु प्राणं ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं यो वेदोपास्ते, स स्वानां ज्ञातीनां ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति ज्येष्ठश्रेष्ठगुणोपासनसामर्थ्यात् । स्वव्यतिरेकेणापि च येषां मध्ये ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भविष्यामीति बुभूषति भवितुमिच्छति तेषामपि ज्येष्ठश्रेष्ठप्राणदर्शी ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति ।

गर्भाधानके समयसे ही प्राण गर्भका पोषण करता है। प्राणके वृत्तियुक्त हो जानेके पीछे ही चक्षु आदिको वृत्तिलाभ होता है; अतः चक्षु आदिमें प्राणका ज्येष्ठत्व उचित ही है।

कुलमें कोई व्यक्ति (आयुमें) ज्येष्ठ तो होता है, किंतु गुणहीन होनेके कारण वह श्रेष्ठ नहीं माना जाता । इसी प्रकार गुणसम्पन्न होनेके कारण मध्यम अथवा कनिष्ठ श्रेष्ठ तो होता है, किंतु ज्येष्ठ नहीं माना जाता; किंतु यहाँ ऐसा नहीं है। (यही बात श्रुति बतलाती है)—'प्राण ही ज्येष्ठ है और श्रेष्ठ भी'। प्राणकी श्रेष्ठता कैसे जानी जाती है ? यह बात यहाँ हम संवादसे प्रदर्शित करेंगे।

जो किसी भी प्रकार[1] ज्येष्ठ-श्रेष्ठगुणवाले प्राणको जानता अर्थात् उसकी उपासना करता है, वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुणवान्‌की उपासनाके सामर्थ्यसे अपनोंमें अर्थात् ज्ञातिजनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। अपनोंसे भिन्न दूसरे जिन किन्हींमें भी वह 'मैं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाऊँ' इस प्रकार ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होनेकी इच्छा करता है, उनमें भी यह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्राणोपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है।

१. अर्थात् प्राणका ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व आरोपित हो अथवा वास्तविक ।

ननु वयोनिमित्तं ज्येष्ठत्वम्; तदिच्छातः कथं भवति ? इत्युच्यते। नैष दोषः, प्राणवद् वृत्तिलाभस्यैव ज्येष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात् ॥ १ ॥

किंतु ज्येष्ठत्व तो आयुके कारण होता है, वह इच्छासे कैसे हो सकता है। ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—यह दोष नहीं है; क्योंकि प्राणके समान [यहाँ भी] वृत्तिलाभ ही ज्येष्ठत्वरूपसे विवक्षित है[1] ॥ १ ॥

वसिष्ठादृष्टिसे वाक्की उपासना

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग् वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ २ ॥

जो वसिष्ठाको जानता है, वह स्वजनोंमें वसिष्ठ होता है। वाक् ही वसिष्ठा है। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनोंमें तथा और भी जिनमें चाहता है, उनमें वसिष्ठ होता है ॥ २ ॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति। तद्दर्शनानुरूपेण फलम्। येषां च ज्ञातिव्यतिरेकेण वसिष्ठो भवितुमिच्छति तेषां च वसिष्ठो भवति। उच्यतां तर्हि कासौ वसिष्ठेति ? वाग् वै वसिष्ठा। वासयत्यतिशयेन वस्ते

जो वसिष्ठाको जानता है, वह स्वजनोंमें वसिष्ठ होता है। उसकी उपासनाके अनुसार ही फल होता है। तथा अपनी जातिसे भिन्न जिन लोगोंमें वह वसिष्ठ होना चाहता है, उनमें भी वसिष्ठ हो जाता है। अच्छा तो बतलाइये, वसिष्ठा कौन है ? [इसपर कहते हैं—] वाक् ही वसिष्ठा है। अतिशयरूपसे बसाती है, अथवा

१. जिस प्रकार अन्नभक्षणादिके कारण चक्षु आदि इन्द्रियोंके वृत्तिलाभका कारण होनेसे प्राण ज्येष्ठ है, उसी प्रकार अन्य जीवोंका जीवन प्राणोपासकके अधीन होनेसे वह उनमें ज्येष्ठ है। उसका ज्येष्ठत्व आयुके कारण नहीं है।

चेति वसिष्ठा। वाग्मिनो हि धनवन्तो वसन्त्यतिशयेन। आच्छादनार्थस्य वा वसेर्वसिष्ठा। अभिभवन्ति हि वाचा वाग्मिनोऽन्यान्। तेन वसिष्ठगुणवत्परिज्ञानाद् वसिष्ठगुणो भवतीति दर्शनानुरूपं फलम्॥२॥

बसती है, इसलिये यह वसिष्ठा है; क्योंकि जो अच्छे वक्ता धनवान् होते हैं, वे ही अतिशयतापूर्वक वसते हैं। अथवा आच्छादनार्थक 'वस्' धातुसे 'वसिष्ठा' शब्द निष्पन्न होता है। वाक्कुशल लोग वाणीसे दूसरोंका पराभव कर देते हैं। अतः वसिष्ठगुणयुक्त पदार्थके विज्ञानसे उपासक वसिष्ठगुणवान् हो जाता है—इस प्रकार ज्ञानके अनुसार फल होता है॥ २॥

प्रतिष्ठादृष्टिसे चक्षुकी उपासना

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद॥ ३॥

जो प्रतिष्ठाको जानता है, वह समान देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम देश-कालमें भी प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। चक्षुसे ही समान और दुर्गम देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह समान और दुर्गममें प्रतिष्ठित होता है॥ ३॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा तां प्रतिष्ठां प्रतिष्ठागुणवतीं यो वेद तस्यैतत् फलम्—प्रतितिष्ठति समे देशे काले च तथा दुर्गे विषमे च दुर्गमने च देशे दुर्भिक्षादौ वा काले विषमे।

जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है, जिससे प्रतिष्ठित होता है, उसे प्रतिष्ठा कहते हैं; उस प्रतिष्ठाको अर्थात् प्रतिष्ठागुणवती (चक्षु) को जो जानता है, उसे यह फल मिलता है कि वह समान देश और कालमें प्रतिष्ठित होता है तथा दुर्ग-विषम यानी दुर्गम्य देशमें और दुर्भिक्षादि विषम कालमें भी प्रतिष्ठित होता है।

यद्येवमुच्यतां कासौ प्रतिष्ठा ? चक्षुर्वै प्रतिष्ठा । कथं चक्षुषः प्रतिष्ठात्वम् ? इत्याह—'चक्षुषा हि समे च दुर्गे च दृष्ट्वा प्रतितिष्ठति' अतोऽनुरूपं फलं प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेदेति ॥ ३ ॥

यदि ऐसी बात है; तो बताइये यह प्रतिष्ठा क्या है ? (ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है-) चक्षु ही प्रतिष्ठा है । चक्षुका प्रतिष्ठात्व कैसे है ? यह श्रुति बतलाती है-'क्योंकि सम और विषम देश-कालमें चक्षुसे देखकर ही पुरुष प्रतिष्ठित होता है । अतः जो ऐसी उपासना करता है, उसे उसके अनुरूप यह फल मिलता है कि वह सममें प्रतिष्ठित होता है और दुर्गमें भी प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

सम्पद्दृष्टिसे श्रोत्रकी उपासना

यो ह वै संपदं वेद सँ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः सँ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो सम्पद्को जानता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है । श्रोत्र ही सम्पद् है । श्रोत्रमें ही ये सब वेद सब प्रकार निष्पन्न हैं । जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

यो ह वै संपदं वेद संपद्गुणयुक्तं यो वेद तस्यैतत् फलमस्मै विदुषे संपद्यते ह । किम् ? यं कामं कामयते स कामः; किं पुनः संपद्गुणकम् ? श्रोत्रं वै संपत्, कथं

जो भी सम्पद्को जानता है, अर्थात् सम्पद्गुणवान्को जानता है, उसे यह फल मिलता है—उस विद्वान्को प्राप्त हो जाता है । क्या प्राप्त हो जाता है ? जिस भोगकी वह इच्छा करता है वह भोग । अच्छा तो, सम्पद्गुणयुक्त क्या है ? श्रोत्र ही

पुनः श्रोत्रस्य संपद्गुणत्वम्? इत्युच्यते। श्रोत्रे सति हि यस्मात् सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः श्रोत्रेन्द्रियवतोऽध्येयत्वात्। वेदविहितकर्मायत्ताश्च कामास्तस्माच्छ्रोत्रं संपत् अतो विज्ञानानुरूपं फलम्; सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

सम्पद् है। किंतु श्रोत्रका सम्पद्गुणत्व किस प्रकार है? सो बतलाया जाता है। श्रोत्रके रहते ही सम्पूर्ण वेद सब प्रकार निष्पन्न होते हैं, क्योंकि वे श्रोत्रेन्द्रियवान्‌द्वारा ही अध्ययन किये जा सकते हैं और भोग तो वेदविहित कर्मोंके ही अधीन हैं, इसलिये श्रोत्र सम्पद् है। अतः विज्ञान (उपासना) के अनुरूप ही फल मिलता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे मिल जाता है।४।

आयतनदृष्टिसे मनकी उपासना

यो ह वा आयतनं वेदायतनँ स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनँ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

जो आयतनको जानता है, वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। मन ही आयतन है जो इस प्रकार उपासना करता है; वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है ॥ ५ ॥

यो ह वा आयतनं वेद—आयतनमाश्रयस्तद्यो वेदायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानामन्येषामपि। किं पुनस्तदायतनम् इत्युच्यते—मनो वा आयतनमाश्रय इन्द्रियाणां

जो भी आयतनको जानता है—आयतन आश्रयको कहते हैं, उसे जो कोई जानता है, वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। अच्छा तो वह आयतन क्या है? इसपर कहा जाता है—मन ही आयतन अर्थात् इन्द्रिय

विषयाणां च । मनआश्रिता हि विषया आत्मनो भोग्यत्वं प्रतिपद्यन्ते; मनःसंकल्पवशानि चेन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते च; अतो मन आयतनमिन्द्रियाणाम् । अतो दर्शनानुरूपेण फलमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

और विषयोंका आश्रय है । मनके आश्रित रहकर ही विषय आत्माके भोग्यत्वको प्राप्त होते हैं । मनके संकल्पके अधीन ही इन्द्रियाँ [अपने-अपने विषयोंमें] प्रवृत्त और [उनसे] निवृत्त होती हैं; अतः मन इन्द्रियोंका आयतन है । इसलिये जो ऐसी उपासना करता है, उसे इस दृष्टिके अनुरूप ही यह फल मिलता है कि वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है ॥ ५ ॥

प्रजातिदृष्टिसे रेतस्की उपासना

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

जो भी प्रजापतिको जानता है वह प्रजा और पशुओंद्वारा प्रजात-(वृद्धिको प्राप्त) होता है । रेतस् ही प्रजापति है । जो ऐसा जानता है, वह प्रजा और पशुओंद्वारा प्रजात होता है ॥ ६ ॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभिश्च संपन्नो भवति । रेतो वै प्रजातिः । रेतसा प्रजननेन्द्रियमुपलक्ष्यते । तद्विज्ञानानुरूपं फलं प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

जो प्रजातिको जानता है, वह प्रजात होता अर्थात् प्रजा और पशुओंद्वारा सम्पन्न होता है । वीर्य ही प्रजाति है । 'रेतस्' शब्दसे प्रजननेन्द्रिय उपलक्षित होती है । जो ऐसी उपासना करता है, उसे उसकी दृष्टिके अनुरूप यह फल मिलता है कि वह प्रजा और पशुओंसे प्रजात (सम्पन्न) होता है ॥ ६ ॥

अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करते हुए वागादि प्राणोंका ब्रह्माके पास जाना और ब्रह्माद्वारा उसका निर्णय करनेके लिये एक कसौटी बताना

ते हेमे प्राणा अहँ श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदँ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥ ७ ॥

वे ये प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए ब्रह्माके पास गये। उससे बोले 'हममें कौन वसिष्ठ है?' उसने कहा, 'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर (शरीरसे अलग हो जानेपर) यह शरीर अपनेको अधिक पापी मानता है, वही तुममें वसिष्ठ है ॥ ७ ॥

ते हेमे प्राणा वागादयोऽहं श्रेयसेऽहं श्रेयानित्येतस्मै प्रयोजनाय विवदमाना विरुद्धं वदमाना ब्रह्म जग्मुर्ब्रह्म गतवन्तो ब्रह्मशब्दवाच्यं प्रजापतिं गत्वा च तद् ब्रह्म होचुरुक्तवन्तः—कोऽस्माकं मध्ये वसिष्ठः; कोऽस्माकं मध्ये वसति च वासयति च ?

वे ये वागादि प्राण 'अहं श्रेयसे'—'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रयोजनके लिये आपसमें विवाद करते हुए—एक दूसरेके विरुद्ध बोलते हुए ब्रह्माके पास गये। अर्थात् ब्रह्मशब्दवाच्य प्रजापतिके पास गये; उन्होंने जाकर उस ब्रह्मासे कहा—'हममें कौन वसिष्ठ है; हममेंसे कौन बसता है और बसाता है ?'

तद् ब्रह्म तैः पृष्टं सद्धोवाचोक्तवद् यस्मिन् वो युष्माकं मध्य उत्क्रान्ते निर्गते शरीरादिदं शरीरं पूर्वस्मादतिशयेन पापीयः पापतरं मन्यते लोकः—शरीरं हि नामा-

उनसे पूछे जानेपर वह ब्रह्मा बोला, 'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर—शरीरसे निकल जानेपर इस शरीरको लोग पहलेकी अपेक्षा अत्यन्त पापीय—अधिक पापमय (अपवित्र) मानते हैं—यों तो अनेकों अपवित्र वस्तुओंका संघात

नेकाशुचिसंघातत्वाज्जीवतोऽपि पापमेव, ततोऽपिकष्टतरं यस्मिन्नुत्क्रान्ते भवति; वैराग्यार्थमिदमुच्यते—पापीय इति; स वो युष्माकं मध्ये वसिष्ठो भविष्यति। जानन्नपि वसिष्ठं प्रजापतिर्नोवाचायं वसिष्ठ इतीतरेषामप्रियपरिहाराय ॥ ७ ॥

होनेके कारण जीवित पुरुषका भी शरीर पापमय ही है, किंतु जिसके उत्क्रमण करनेपर यह उससे भी अधिक कष्टतर (दुर्दशाग्रस्त) हो जाय वही तुममेंसे वसिष्ठ होगा।' 'पापीयः' यह बात वैराग्यके लिये कही गयी है। प्रजापतिने वसिष्ठको जानते हुए भी दूसरोंको अप्रिय न लगे इसके लिये 'यह वसिष्ठ है' ऐसा [स्पष्ट] नहीं कहा ॥ ७ ॥

अपनी उत्कृष्टताकी परीक्षाके लिये वाक्का उत्क्रमण और पुनः प्रवेश

त एवमुक्ता ब्रह्मणा प्राणा आत्मनो वीर्यपरीक्षणाय क्रमेणोच्चक्रमुः; तत्र—

ब्रह्माद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उन प्राणोंने अपने पराक्रमकी परीक्षा करनेके लिये क्रमशः उत्क्रमण करना आरम्भ किया; उनमेंसे—

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाँ्सो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

[पहले] वाक्ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्षतक बाहर रहकर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके थे?' यह सुनकर उन्होंने कहा, 'जैसे मूक पुरुष वाणीसे न बोलते हुए भी प्राणसे प्राणक्रिया करते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा

'(सन्तान) की उत्पत्ति करते हुए [जीवित रहते हैं], वैसे ही हम जीवित रहे।' यह सुनकर वाक्ने शरीरमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

वागेव प्रथमं हास्माच्छरीरादुच्चक्रामोत्क्रान्तवती । सा चोत्क्रम्य संवत्सरं प्रोष्य प्रोषिता भूत्वा पुनरागत्योवाच कथमशकत शक्तवन्तो यूयं मदृते मां विना जीवितुमिति ?

पहले वाक्ने ही इस शरीरसे उत्क्रमण किया। उसने उत्क्रमण कर एक वर्ष बाहर रहकर फिर लौटकर कहा, 'तुमलोग मेरे बिना किस प्रकार जीवित रह सके थे ?'

त एवमुक्ता ऊचुर्यथा लोकेऽकला मूका अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणनव्यापारं कुर्वन्तः प्राणेन पश्यन्तो दर्शनव्यापारं चक्षुषा कुर्वन्तस्तथा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा कार्याकार्यादिविषयं प्रजायमाना रेतसा पुत्रानुत्पादयन्त एवमजीविष्म वयमित्येवं प्राणैर्दत्तोत्तरा वागात्मनोऽस्मिन्नवसिष्ठत्वं बुद्ध्वा प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

उससे इस प्रकार कहे जानेपर वे बोले, 'जिस प्रकार लोकमें अकल अर्थात् मूक पुरुष वाणीसे न बोलते हुए प्राणसे प्राणन अर्थात् प्राणव्यापार करते हुए, नेत्रसे देखते—दर्शनव्यापार करते हुए, इसी प्रकार श्रोत्रसे सुनते हुए, मनसे कार्याकार्यादि विषयको जानते हुए और वीर्यसे प्रजनन अर्थात् पुत्रादिकी उत्पत्ति करते हुए [जीवित रहते हैं], उसी प्रकार हम भी जीवित रहे;' प्राणोंसे ऐसा उत्तर पाकर वाक्ने अपनेको 'वसिष्ठ न समझकर इस शरीरमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

चक्षुका उत्क्रमण और परीक्षामें असफल होकर पुनः प्रवेश

चक्षुर्होच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथान्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः

श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे ?' वे बोले—'जिस प्रकार अन्धे लोग नेत्रसे न देखते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं], उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर चक्षुने प्रवेश किया ॥ ९ ॥

श्रोत्रका उत्क्रमण और परीक्षामें असफल होकर पुनः प्रवेश

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

श्रोत्रने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे ?' वे बोले—'जिस प्रकार बहरे आदमी कानोंसे न सुनते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं], उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्रने प्रवेश किया ॥ १० ॥

मनका उत्क्रमण और परीक्षामें असफल होकर पुनः प्रवेश

मनो होच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्त-

श्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

मनने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले, 'जिस प्रकार मुग्ध पुरुष मनसे न समझते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं], उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर मनने शरीरमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

रेतस्का उत्क्रमण और परीक्षामें असफल होकर पुनः प्रवेश

रेतो होच्चक्राम तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

रेतस्ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर फिर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले, जिस प्रकार नपुंसक लोग रेतस्से प्रजा उत्पन्न न करते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते और मनसे जानते हुए [जीवित रहते हैं], उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर वीर्यने शरीरमें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

तथा चक्षुर्होच्चक्रामेत्यादि पूर्ववत्। श्रोत्रं मनः प्रजातिरिति ॥ ९—१२ ॥

इसी प्रकार 'चक्षुर्होच्चक्राम' इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ पूर्ववत् है। अबतक श्रोत्र, मन, प्रजाति [रेतस्] इत्यादिने उत्क्रमण किया ॥ ९-१२ ॥

प्राणके उत्क्रमण करते ही अन्य इन्द्रियोंका विचलित हो जाना और उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करना

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून् संवृहेदेवँ हैवेमान् प्राणान् संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

फिर प्राण उत्क्रमण करने लगा, तो जिस प्रकार सिन्धुदेशीय महान् अश्व पैर बाँधनेके खूँटोंको उखाड़ डालता है, उसी प्रकार वह इन सब प्राणोंको स्थानच्युत करने लगा। उन्होंने कहा, 'भगवन्! आप उत्क्रमण न करें, आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते।' प्राणने कहा, 'अच्छा तो मुझे बलि (भेंट) दिया करो।' [अन्य इन्द्रियोंने कहा—] 'बहुत अच्छा' ॥ १३ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्नुत्क्रमणं करिष्यंस्तदानीमेव स्वस्थानात् प्रचलिता वागादयः। किमिव? इत्याह—यथा लोके महांश्चासौ सुहयश्च महासुहयः शोभनो हयो लक्षणोपेतो महान् परिमाणतः सिन्धुदेशे भवः सैन्धवोऽभिजनतः पड्वीशशङ्कून् पादबन्धनशङ्कून् पड्वीशाश्च ते शङ्कवश्च तान् संवृहे-

फिर प्राण 'उत्क्रमिष्यन्'—उत्क्रमण करने लगा। उसी समय वागादि प्राण अपने स्थानसे चलायमान हो गये। किसके समान? यह बतलाते हैं—जिस प्रकार लोकमें महासुहय—जो महान् हो और सुहय-शोभन हय अर्थात् सुलक्षण-सम्पन्न अश्व (घोड़ा) हो तथा परिमाणतः महान् हो एवं सैन्धव'-सिन्धुदेशमें उत्पन्न हुआ अर्थात् उत्तम जातिका हो, वह जिस प्रकार परीक्षाके लिये सवारके चढ़ते ही पड्वीश शङ्कुओंको-पैर बाँधनेके खूँटोंको-जो पड्वीश हों और शङ्कु हों, उनको संवृहेत्—

दुधच्छेद्युगपदुत्खनेदश्वारोह आरूढे परीक्षणाय; एवं हैवेमान् वागादीन् प्राणान् संववर्होद्यतवान् स्वस्थानाद् भ्रंशितवान्।

ते वागादयो होचुर्हे भगवो भगवन् मोत्क्रमीर्यस्मान्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते त्वां विना जीवितुमिति। यद्येवं मम श्रेष्ठता विज्ञाता भवद्भिरहमत्र श्रेष्ठस्तस्य उ मे मम बलिं करं कुरुत करं प्रयच्छतेति।

अयं च प्राणसंवादः कल्पितो विदुषः श्रेष्ठपरीक्षणप्रकारोपदेशः। अनेन हि प्रकारेण विद्वान् को नु खल्वत्र श्रेष्ठ इति परीक्षणं करोति। स एष परीक्षणप्रकारः संवादभूतः कथ्यते; न ह्यन्यथा संहत्यकारिणां सतामेषामञ्जसैव संवत्सरमात्रमेकैकस्य निर्गमनाद्युपपद्यते। तस्माद् विद्वानेवानेन प्रकारेण विचारयति वागादीनां प्रधानबुभुत्सुरुपासनाय। बलिं प्रार्थिताः सन्तः प्राणास्तथेति प्रतिज्ञातवन्तः॥ १३॥

उखाड़ डालता है; इसी प्रकार उसने इन वागादि प्राणोंको 'संववर्ह'—उखाड़ दिया—अपने स्थानसे विचलित कर दिया।

उन वागादिने कहा, 'हे भगवन्! आप उत्क्रमण न करें, क्योंकि आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते।' [प्राण बोला—] 'यदि ऐसी बात है तो तुमलोगोंको मेरी श्रेष्ठताका पता लग गया; यहाँ मैं ही श्रेष्ठ हूँ। अतः उस मुझको तुमलोग बलि दिया करो अर्थात् कर (भेंट) दिया करो।

यह प्राणसंवाद कल्पित है, इससे विद्वान्‌के लिये श्रेष्ठ पुरुषकी परीक्षा करनेके प्रकारका उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार विद्वान् 'यहाँ श्रेष्ठ कौन है?' इसकी परीक्षा करता है। वह यह परीक्षाका प्रकार संवादरूपसे कहा गया है; नहीं तो इन मिलकर कार्य करनेवाले वागादिका एक-एक करके एक-एक वर्षतक साक्षात्‌रूपसे बाहर निकलना आदि सम्भव नहीं है। अतः वागादिमेंसे प्रधानको जाननेकी इच्छावाला उपासक ही उपासनाके लिये इस प्रकार विचार करता है। प्राणद्वारा बलि माँगे जानेपर वागादि प्राणोंने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर प्रतिज्ञा की॥ १३॥

वागादिकृत प्राणकी स्तुति और उसे अन्न तथा वस्त्र-प्रदान

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत् संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किञ्चाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

उस वागिन्द्रियने कहा, 'मैं जो वसिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस वसिष्ठ गुणसे युक्त हो।' 'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस प्रतिष्ठासे युक्त हो' ऐसा नेत्रने कहा। 'मैं जो सम्पद् हूँ, सो तुम ही उस सम्पद्से युक्त हो' ऐसा श्रोत्रने कहा। 'मैं जो आयतन हूँ, सो तुम्हीं वह आयतन हो' ऐसा मनने कहा। 'मैं जो प्रजाति हूँ, सो तुम ही उस प्रजातिसे युक्त हो' ऐसा रेतस्ने कहा। [प्राणने कहा—] 'किंतु ऐसे गुणोंसे युक्त होनेपर मेरा अन्न क्या है और वस्त्र क्या है ?' [वागादि बोले—] 'कुत्ते, कृमि और कीट-पतङ्गोंसे लेकर यह जो कुछ भी है, वह सब तेरा अन्न है और जल ही वस्त्र है।' [उपासनाका फल—] 'जो इस प्रकार प्राणके अन्नको जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्यभक्षण नहीं होता और अभक्ष्यका प्रतिग्रह (संग्रह) भी नहीं होता। ऐसा जाननेवाले श्रोत्रिय भोजन करनेसे पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजन करके आचमन करते हैं। इसीको वे उस प्राणको अनग्न करना मानते हैं ॥ १४ ॥

सा ह वाक् प्रथमं बलिदानाय प्रवृत्ता ह किलोवाचोक्तवती यद्वा अहं वसिष्ठास्मि यन्मम वसिष्ठत्वं तत्तवैव तेन वसिष्ठगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसि या मम प्रतिष्ठा सा त्वमसीति चक्षुः। समानमन्यत्; संपदायतनप्रजातित्वगुणान् क्रमेण समर्पितवन्तः।

प्रथम बलि देनेके लिये प्रवृत्त हुई उस वागिन्द्रियने कहा, मैं जो वसिष्ठा हूँ—मेरा जो वसिष्ठत्व है, वह तुम्हारा ही है अर्थात् उस वसिष्ठत्वरूप गुणसे तुम्हीं वह वसिष्ठ हो।' 'और मैं जो प्रतिष्ठा हूँ; वह प्रतिष्ठा तुम्हीं हो, अर्थात् मेरी जो प्रतिष्ठा है वह तुम हो' ऐसा चक्षुने कहा। शेष अर्थ इसीके समान है। उन्होंने अपने सम्पद्, आयतन और प्रजातित्व गुणोंको क्रमशः प्राणको समर्पित किया।

यद्येवं साधु बलिं दत्तवन्तो भवन्तो ब्रूत तस्य उ मे एवंगुणविशिष्टस्य किमन्नं किं वास इति? आहुरितरे—यदिदं लोके किञ्च किञ्चिदन्नं नामापि—आ श्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यः; यच्च श्वान्नं कृम्यन्नं कीटपतङ्गान्नं च तेन सह सर्वमेव यत् किञ्चित् प्राणिभिरद्यमानमन्नं तत् सर्वं तवान्नम्, सर्वं प्राणस्यान्नमिति दृष्टिरत्र विधीयते।

[प्राण बोला—] 'यदि ऐसी बात है तो तुमलोगोंने अच्छी भेंट दी। अब यह बताओ कि उस ऐसे गुणवाले मेरा अन्न क्या है और वस्त्र क्या है?' अन्य प्राणोंने कहा, 'लोकमें कुत्ते, कृमि और कीट-पतङ्गादिसे लेकर जितना भी अन्न है, जो भी कुत्तेका अन्न, कृमिका अन्न और कीट-पतङ्गोंका अन्न है, उसके सहित प्राणियोंद्वारा भक्षण किया जानेवाला जितना अन्न है, वह सभी तुम्हारा अन्न है।' यहाँ 'यह सब प्राणका अन्न है' ऐसी दृष्टिका विधान किया जाता है।

केचित्तु सर्वभक्षणे दोषाभावं वदन्ति प्राणान्नविदः; तदसत्; शास्त्रान्तरेण प्रतिषिद्धत्वात्। तेनास्य विकल्प इति चेत्? न; अविधायकत्वात्; न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवतीति सर्वं प्राणस्यान्नमित्येतस्य विज्ञानस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमेतत्; तेनैकवाक्यतापत्तेः। न तु शास्त्रान्तरविहितस्य बाधने सामर्थ्यमन्यपरत्वादस्य; प्राणमात्रस्य सर्वमन्नमित्येतद्दर्शनमिह विधित्सितं न तु सर्वं भक्षयेदिति।

यत्तु सर्वभक्षणे दोषाभावज्ञानं तन्मिथ्यैव प्रमाणाभावात्। विदुषः प्राणत्वात् सर्वान्नोपपत्तेः सामर्थ्याददोष एवेति चेत्? न;

कोई-कोई तो कहते हैं कि प्राणोपासकको सर्वभक्षणमें दोष नहीं है, किंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि अन्य शास्त्र इसका निषेध करते हैं। यदि उन शास्त्रोंसे इसका विकल्प माना जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यह वाक्य विधान करनेवाला नहीं है; 'इसके द्वारा अभक्ष्य भक्षण नहीं किया जाता' यह आगेका वाक्य 'सब प्राणका ही अन्न है' इस प्रकार विधान किये गये विज्ञानकी स्तुतिके लिये है; क्योंकि उसके साथ इसकी एकवाक्यता सम्भव है। शास्त्रान्तरद्वारा विहित अर्थका बाध करनेमें इसकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यह वाक्य अन्यपरक है। यहाँ तो इसी दृष्टिका विधान करना अभीष्ट है कि सब अन्न अकेले प्राणका ही है, यह बतलाना अपेक्षित नहीं है कि सब कुछ खा ले।

जो ऐसा कहते हैं, कि इससे सर्वभक्षणमें दोषाभावका ज्ञान होता है; उनका वह कथन कोई प्रमाण न होनेके कारण मिथ्या ही है। यदि कोई कहे कि प्राणरूप होनेके कारण प्राणोपासकका सभी अन्न हो सकता है, सामर्थ्य होनेके कारण इसमें कोई दोष है ही नहीं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि

अशेषान्नत्वानुपपत्तेः । सत्यं यद्यपि विद्वान् प्राणो येन कार्यकरणसंघातेन विशिष्टस्य विद्वत्ता तेन कार्यकरणसंघातेन कृमिकीटदेवाद्यशेषान्नभक्षणं नोपपद्यते । तेन तत्राशेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम्; अप्राप्तत्वादशेषान्नभक्षणदोषस्य ।

नतु प्राणः सन् भक्षयत्येव कृमिकीटाद्यन्नमपि । बाढम्; किंतु न तद्विषयः प्रतिषेधोऽस्ति; तस्माद् देवरक्तं किंशुकम्, तत्र दोषाभावः । अतस्तद्रूपेण दोषाभावज्ञापनमनर्थकम्; अप्राप्तत्वादशेषान्नभक्षणदोषस्य; येन तु कार्यकरणसंघातसंबन्धेन प्रतिषेधः क्रियते तत्संबन्धेन त्विह नैव प्रतिप्रसवोऽस्ति; तस्मात्तत्प्रति-

सब कुछ उसका अन्न होना सम्भव नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि विद्वान् प्राण ही है, तो भी जिस देहेन्द्रियसंघातसे विशिष्ट पुरुषकी विद्वत्ता स्वीकार की जाती है, उस देहेन्द्रियसंघातद्वारा कृमि, कीट एवं देवादि—इन सभीके अन्नोंको भक्षण करना उसके लिये सम्भव नहीं है। इसलिये उसके लिये सर्वान्नभक्षणमें दोषाभाव दिखलाना व्यर्थ है; क्योंकि उसके प्रति सर्वान्नभक्षणरूप दोष तो प्राप्त ही नहीं होता।

किंतु प्राणरूपसे तो वह कृमिकीटादिके अन्नको भी भक्षण करता ही है। ठीक है, किंतु उस प्राणके विषयमें तो कहीं प्रतिषेध नहीं किया गया। इसलिये यदि पलाशके फूलको देवने ही लाल बना दिया है तो उसमें कोई दोष नहीं है। अतः प्राणरूपसे उसके दोषाभावको बतलाना व्यर्थ है, क्योंकि उसमें तो सर्वान्नभक्षणरूप दोष प्राप्त ही नहीं होता; जिस कार्यकरणसंघातके सम्बन्धसे प्रतिषेध किया जाता है; उसका सम्बन्ध रहनेके कारण तो यहाँ (प्राणवेत्ताके विषयमें) उस प्रतिषेधका प्रतिप्रसव[1] हो ही नहीं सकता।

1. निषेधको बाध करके विधिका अनुमोदन करना प्रतिप्रसव कहलाता है।

षेधातिक्रमे दोष एव स्यादन्यविषयत्वान्न ह वा इत्यादेः ।

न च ब्राह्मणादिशरीरस्य सर्वान्नत्वदर्शनमिह विधीयते, किंतु प्राणमात्रस्यैव । यथा च सामान्येन सर्वान्नस्य प्राणस्य किञ्चिदन्नजातं कस्यचिज्जीवनहेतुः, यथा विषं विषजस्य कृमेः, तदेवान्यस्य प्राणान्नमपि सद् दृष्टमेव दोषमुत्पादयति मरणादिलक्षणम् । तथा सर्वान्नस्यापि प्राणस्य प्रतिषिद्धान्नभक्षणे ब्राह्मणत्वादिदेहसंबन्धाद्दोष एव स्यात्; तस्मान्मिथ्याज्ञानमेवाभक्ष्यभक्षणे दोषाभावज्ञानम् ।

आपो वास इति; आपोभक्ष्यमाणा वासःस्थानीयास्तव; अत्र च प्राणस्यापो वास इत्येतद् दर्शनं विधीयते; न तु वासःकार्यं आपो विनियोक्तुं शक्याः । तस्माद् यथाप्राप्तेऽम्भक्षणे दर्शनमात्रं कर्तव्यम् ।

इसलिये उस प्रतिषेधका अतिक्रम करनेसे तो दोष ही होगा, क्योंकि 'न ह वा' इत्यादि आगेके वाक्यका विषय दूसरा [यानी प्राण] ही है ।

इसके सिवा यहाँ ब्राह्मणादि शरीरको सर्वान्नत्व-दृष्टिका विधान भी नहीं किया जाता, किंतु केवल प्राणमात्रकी सर्वान्नत्वदृष्टि बतलायी गयी है । जिस प्रकार सामान्यरूपसे सर्वान्नप्राणका कोई अन्नसमूह किसीके जीवनका हेतु होता है, जैसे कि विषसे उत्पन्न हुए कीड़ेके लिये विष, किंतु वही दूसरेका प्राणान्न होनेपर भी उसके लिये मरणादिरूप प्रत्यक्ष दोष उत्पन्न कर देता है । इसी प्रकार सर्वान्नभक्षी प्राणको भी ब्राह्मणादिदेहका सम्बन्ध होनेके कारण प्रतिषिद्ध अन्न भक्षण करनेमें दोष ही होगा । अतः अभक्ष्यभक्षणमें दोषाभावका ज्ञान होना मिथ्या ज्ञान ही है ।

'आपो वासः' इत्यादि, भक्षण किया जाता हुआ जल तुम्हारा वस्त्रस्थानीय है । यहाँ जल प्राणका वस्त्र है—इस दृष्टिका विधानमात्र किया गया है । वस्त्रके काममें जलका उपयोग नहीं किया जा सकता । अतः यथाप्राप्त जलपानमें केवल ऐसी दृष्टिमात्र ही करनी चाहिये ।

न ह वा अस्य सर्वं प्राणस्या-न्नमित्येवंविदोऽनन्नमनदनीयं जग्धं भुक्तं न भवति ह; यद्य-प्यनेनानदनीयं भुक्तमदनीयमेव भुक्तं स्यान्न तु तत्कृतदोषेण लिप्यते, इत्येतद् विद्यास्तुतिरि-त्यवोचाम; तथा नानन्नं प्रति-गृहीतं यद्यप्य प्रतिग्राह्यं हस्त्यादि प्रतिगृहीतं स्यात्, तदप्यन्नमेव प्रतिग्राह्यं प्रतिगृहीतं स्यात्। तत्राप्यप्रतिग्राह्यप्रतिग्रहदोषेण न लिप्यत इति स्तुत्यर्थमेव।

इस प्रकार जाननेवाले अर्थात् सब प्राणका अन्न है—ऐसा जाननेवाले इस विद्वान्से अनन्न—अभक्ष्य नहीं भक्षण किया जाता। यदि यह कोई अभक्ष्य खा ले तो भी इससे भक्ष्य ही खाया गया है, यह उससे होनेवाले दोषसे लिप्त नहीं होता—इस प्रकार यह इस विद्याकी स्तुति है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं। इस प्रकार इसके द्वारा अनन्नका प्रतिग्रह भी नहीं होता, यद्यपि यह दानमें नहीं लेनेयोग्य हाथी आदिकों भी ग्रहण करे तो वह भी अन्न यानी लेनेयोग्य वस्तुका ही प्रतिग्रह (ग्रहण) होगा। वहाँ भी 'यह अप्रतिग्राह्यके प्रतिग्रहरूप दोषसे[1] लिप्त नहीं होता' इस प्रकार यह वाक्य स्तुतिके लिये ही है।

य एवमेतदनस्य प्राणस्यान्नं वेद, फलं तु प्राणात्मभाव एव। न त्वेतत्फलाभिप्रायेण, किं तर्हि? स्तुत्यभिप्रायेणेति। नन्वेतदेव फलं कस्मान्न भवति? न, प्राणात्म-दर्शिनः प्राणात्मभाव एव फलम्।

जो इस प्रकार इस अन अर्थात् प्राणके अन्नको जानता है, उसे प्राणात्मभावरूप फल ही मिलता है। यह कथन इस फलके अभिप्रायसे नहीं है, तो किसलिये है। स्तुतिके अभिप्रायसे। [प्रश्न-] किंतु यही इसका फल क्यों नहीं होता। [उत्तर-] नहीं, प्राणात्मदर्शीका फल तो प्राणात्मभाव ही है। उस

१. अर्थात् नहीं लेने योग्य वस्तुके लेने रूप दोषसे।

तत्र च प्राणात्मभूतस्य सर्वात्मनोऽनदनीयमप्याद्यमेव; तथाप्रतिग्राह्यमपि प्रतिग्राह्यमेवेति यथाप्राप्तमेवोपादाय विद्या स्तूयते अतो नैव फलविधिसरूपता वाक्यस्य ।

अवस्थामें प्राणात्मभावको प्राप्त हुए इस सर्वात्माका अभक्ष्य भी भक्ष्य ही है तथा अप्रतिग्राह्य भी प्रतिग्राह्य ही है— इस प्रकार यथाप्राप्त स्थितिको ही लेकर इस उपासनाकी स्तुति की जाती है। अतः इस वाक्यकी फलविधिसरूपता नहीं है ।

यस्मादापो वासः प्राणस्य, तस्माद् विद्वांसो ब्राह्मणाः श्रोत्रिया अधीतवेदा अशिष्यन्तो भोक्ष्यमाणा आचामन्त्योऽशित्वाचामन्ति भुक्त्वा चोत्तरकालमपो भक्षयन्ति । तत्र तेषामाचामतां कोऽभिप्रायः ? इत्याह— एतमेवानं प्राणमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते । अस्ति चैतद् यो यस्मै वासो ददाति स तमनग्नं करोमीति हि मन्यते; प्राणस्य चापो वास इति ह्युक्तम्; यदपः पिबामि तत् प्राणस्य वासो ददामीति विज्ञानं कर्तव्यमित्येवमर्थमेतत् ।

क्योंकि जल प्राणका वस्त्र है, इसलिये श्रोत्रिय- जिन्होंने वेदाध्ययन किया है वे विद्वान् ब्राह्मण जब अशन अर्थात् भोजन करनेको होते हैं तो पहले जलका आचमन करते हैं तथा अशन करके भी आचमन करते हैं अर्थात् भोजन करके उसके पीछे भी जल पीते हैं। वहाँ उनके जलपान करनेका क्या अभिप्राय होता है। सो श्रुति बतलाती है— वे इस प्राणको ही हम अनग्न कर रहे हैं—ऐसा मानते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जो जिसको वस्त्र देता है, वह 'उसे मैं अनग्न कर रहा हूँ' ऐसा मानता है। प्राणका वस्त्र जल है—यह तो कहा ही जा चुका है। अतः यह उपदेश इसलिये है कि 'मैं जो जल पीता हूँ वह प्राणको वस्त्र देता हूँ'—ऐसी दृष्टि करनी चाहिये ।

ननु भोक्ष्यमाणो भुक्तवांश्च

शङ्का—किंतु भोजन करनेवाला तथा भोजन कर चुकनेवाला मनुष्य तो इसलिये आचमन करता है कि

प्रयतो भविष्यामीत्याचामति; तत्र-

मैं आचमन करनेसे पवित्र हो जाऊँगा,

च प्राणस्यानग्नताकरणार्थत्वे च द्विकार्यताचमनस्य स्यात्; न च कार्यद्वयमाचमनस्यैकस्य युक्तम्, यदि प्रायत्यार्थं नानग्नतार्थम्, अथानग्नतार्थं न प्रायत्यार्थम्। यस्मादेवम्, तस्माद् द्वितीयमाचमनान्तरं प्राणस्यानग्नताकरणाय भवतु।

वहाँ यदि प्राणको अनग्न करना (वस्त्र देना) उद्देश्य रहे तो उस आचमनके दो कार्य हो जायँगे; किंतु एक ही आचमनके दो कार्य होने उचित नहीं हैं। यदि वह शुद्धिके लिये होगा तो प्राणकी अनग्नताके लिये नहीं हो सकता और यदि प्राणकी अनग्नताके लिये होगा तो शुद्धिके लिये नहीं हो सकता। चूँकि ऐसा है, इसलिये दूसरा आचमन प्राणकी अनग्नताके लिये हो सकता है।

न, क्रियाद्वित्वोपपत्तेः। द्वे ह्येते क्रिये भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं स्मृतिविहितं तत् प्रायत्यार्थं भवति क्रियामात्रमेव न तु तत्र प्रायत्यं दर्शनाद्यपेक्षते। तत्र चाचमनाङ्गभूतास्वप्सु वासोविज्ञानं प्राणस्येतिकर्तव्यतया चोद्यते, न तु तस्मिन् क्रियमाण आचमनस्य प्रायत्यार्थता बाध्यते, क्रियान्तरत्वादाचमनस्य। तस्माद्

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दो क्रियाओंका होना युक्तिसंगत है। ये दोनों ही क्रियाएँ होती हैं, भोजन करनेवाले और भोजन कर चुकनेवालेका जो स्मृतिविहित आचमन होता है वह केवल क्रियामात्र और शुद्धिके लिये ही होता है, उसमें शुद्धिको किसी दृष्टि आदिकी अपेक्षा नहीं है। वहाँ आचमनके अङ्गभूत जलमें प्राणके वस्त्रविज्ञानका तो इतिकर्त्तव्यतारूपसे विधान किया जाता है, उसके करनेपर आचमनकी शुद्ध्यर्थताका बाध होता हो—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आचमन तो दूसरी

भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं तत्रापो वासः प्राणस्येति दर्शनमात्रं विधीयते, अप्राप्तत्वादन्यतः ॥ १४ ॥

ही क्रिया है। अतः भोजन करनेवाले और भोजन कर चुकनेवालेका जो आचमन है, उसमें 'जल प्राणका वस्त्र है' ऐसी दृष्टिमात्रका विधान किया जाता है, क्योंकि किसी अन्य प्रमाणसे इसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्याये प्रथमं प्राणसंवादब्राह्मणम् ॥ १ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

प्रकरण-सम्बन्धः श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेय इत्यस्य सम्बन्धः—खिलाधिकारोऽयम्, तत्र यदनुक्तं तदुच्यते। सप्तमाध्यायान्ते ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणाग्नेर्मार्गयाचनं कृतम्—अग्ने नय सुपथेति। तत्रानेकेषां पथां सद्भावो मन्त्रेण सामर्थ्यात् प्रदर्शितः; सुपथेति विशेषणात्। पन्थानश्च कृतविपाकप्रतिपत्तिमार्गाः। वक्ष्यति च—यत् कृत्वेत्यादि।

'श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः' इत्यादि इस ब्राह्मणका सम्बन्ध इस प्रकार है। यह खिलप्रकरण है। इसमें पहले जो नहीं कहा गया, वह बतलाया जाता है। सप्तम (उपनिषद्के पञ्चम) अध्यायके अन्तमें ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी पुरुषके द्वारा 'अग्ने नय सुपथा'-इत्यादि मन्त्रद्वारा अग्निसे देवयान मार्गकी याचना की गयी है। वहाँ उस मन्त्रद्वारा सामर्थ्यसे अनेक मार्गोंकी सत्ता प्रदर्शित होती है; क्योंकि उसमें 'सुपथा' ऐसा विशेषण दिया गया है। और 'पथ' किये हुए कर्मोंके फलभोगके मार्गोंका नाम है। यह बात श्रुति "[1]यत् कृत्वा" इत्यादि मन्त्रसे कहेगी भी।

1. इसी ब्राह्मणका दूसरा मन्त्र।

तत्र च कति कर्मविपाकप्रतिपत्तिमार्गा इति सर्वसंसारगत्युपसंहारार्थोऽयमारम्भः । एतावती हि संसारगतिः, एतावान् कर्मणो विपाकः स्वाभाविकस्य शास्त्रीयस्य च सविज्ञानस्येति ।

तहाँ कर्मफलभोगके कितने मार्ग हैं? यह बताकर सम्पूर्ण संसारकी गतिका उपसंहार करनेके लिये इस ग्रन्थका आरम्भ हुआ है। बस, इतनी ही संसारकी गति है तथा इतना ही स्वाभाविक और विज्ञानयुक्त शास्त्रीय कर्मका परिणाम है।

यद्यपि द्वया ह प्राजापत्या इत्यत्र स्वाभाविकः पाप्मा सूचितः; न च तस्येदं कार्यमिति विपाकः प्रदर्शितः । शास्त्रीयस्यैव तु विपाकः प्रदर्शितस्त्र्यन्नात्मप्रतिपत्त्यन्तेन, ब्रह्मविद्यारम्भे तद्वैराग्यस्य विवक्षितत्वात् । तत्रापि केवलेन कर्मणा पितृलोको विद्यया विद्यासंयुक्तेन च कर्मणा देवलोक इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण पितृलोकं प्रतिपद्यते केन वा देवलोकमिति नोक्तम्; तच्चेह खिलप्रकरणेऽशेषतो वक्तव्यमित्यत आरभ्यते । अन्ते च सर्वोपसंहारः शास्त्रस्येष्टः ।

यद्यपि 'द्वया ह प्राजापत्याः' इत्यादि प्रसंगमें स्वाभाविक पाप बतला दिया गया है; किंतु वहाँ 'उसका यह कार्य है' इस प्रकार फल नहीं दिखाया गया। त्र्यन्नरूपत्वकी प्राप्तितकके मन्त्रद्वारा केवल शास्त्रीय कर्मका ही फल दिखाया गया है; क्योंकि ब्रह्मविद्याके आरम्भमें उससे वैराग्य बतलाना अभीष्ट है। वहाँ भी केवल कर्मसे पितृलोक और विद्या (उपासना) से तथा विद्यासहित कर्मसे देवलोक मिलता है—ऐसा कहा गया है। वहाँ यह नहीं बताया गया कि किस मार्गसे पितृलोकमें जाया जाता है और किससे देवलोकको? यह बात यहाँ इस खिल प्रकरणमें पूर्णतया बतानी है, इसीसे इसको आरम्भ किया जाता है। शास्त्रके अन्तमें तो सबका उपसंहार ही इष्ट है।

अपि चैतावदमृतत्वमित्युक्तं न कर्मणोऽमृतत्वाशास्तीति च; तत्र हेतुर्नोक्तस्तदर्थश्चायमारम्भः। यस्मादियं कर्मणो गतिर्न नित्येऽमृतत्वे व्यापारोऽस्ति तस्मादेतावदेवामृतत्वसाधनम्—इति सामर्थ्याद्धेतुत्वं संपद्यते।

अपि चोक्तमग्निहोत्रेनत्वेवैतयोस्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थेति। तत्र प्रतिवचने 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्यादिना आहुतेः कार्यमुक्तम्। तच्चैतत् कर्तुराहुति-

इसके सिवा 'अमृतत्व इतना ही है' यह भी कहा गया है तथा यह भी बताया है कि 'कर्मसे अमृतत्वकी आशा नहीं है।' किंतु इसमें हेतु नहीं बताया गया, उसे बतानेके लिये भी यह आरम्भ किया गया है।[1] क्योंकि यह कर्मकी गति है और नित्य अमृतत्वमें कोई भी व्यापार है नहीं, इसलिये इतना ही अमृतत्वका साधन है—इस वचनके सामर्थ्यसे यह उसका हेतु हो जाता है।[2]

इसके सिवा अग्निहोत्रके प्रकरणमें ऐसा कहा गया है—तू इन सायंकालिक, प्रातःकालिक अग्निहोत्रकी दोनों आहुतियोंकी न उत्क्रान्तिको जानता है, न गतिको, न प्रतिष्ठाको, न तृप्तिको, न पुनरावृत्तिको और न लोकके प्रति उत्थान करनेवाले यजमानको ही जानता है। वहाँ उत्तरमें 'वे ये दोनों आहुतियाँ हवन की जानेपर उत्क्रमण करती हैं' इत्यादि वाक्यसे आहुतिका कार्य बताया गया है। यह भी कर्ताके

१. आगे बतलायी जानेवाली तो कर्मकी गति है, मोक्षका साधन तो केवल ज्ञान ही है। ऐसी स्थितिमें आगेका ग्रन्थ मोक्षका हेतु बतलानेमें किस प्रकार उपयोगी हो सकता है, सो अगले वाक्यसे बतलाया जाता है।

२. ज्ञानातिरिक्त उपाय संसारका ही कारण है—इस नियमरूप सामर्थ्यसे 'ज्ञान ही मोक्षका उपाय है' यह सिद्ध होता है।

लक्षणस्य कर्मणः फलम् । न हि कर्तारमनाश्रित्याहुतिलक्षणस्य कर्मणः स्वातन्त्र्येणोत्क्रान्त्यादिकार्यारम्भ उपपद्यते । कर्त्रर्थत्वात् कर्मणः कार्यारम्भस्य, साधनाश्रयत्वाच्च कर्मणः ।

आहुतिरूप कर्मका फल है, क्योंकि कर्ताका आश्रय लिये बिना आहुतिरूप कर्मका स्वतन्त्रतासे उत्क्रान्ति आदि कार्य आरम्भ करना सम्भव नहीं है; कारण, कर्मका कार्यारम्भ तो कर्ताके लिये ही होता है तथा कर्म साधनाधीन भी होता ही है।

तत्राग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वादग्निहोत्रस्यैव कार्यमित्युक्तं षट्प्रकारमपि; इह तु तदेव कर्तुः फलमित्युपदिश्यते षट्प्रकारमपि; कर्मफलविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । तद्द्वारेण च पञ्चाग्निदर्शनमिहोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्सितम्; एवमशेषसंसारगत्युपसंहारः, कर्मकाण्डस्यैषा निष्ठेत्येतद् द्वयं दिदर्शयिषुराख्यायिकां प्रणयति—

किंतु वहाँ वह [जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद] अग्निहोत्रकी स्तुतिके लिये होनेके कारण यह छहों प्रकारका अग्निहोत्रका ही कार्य बतलाया गया है। किंतु यहाँ कर्मफलविज्ञान विवक्षित होनेके कारण यह बतलाया जाता है, कि वह छहों प्रकारका कर्ताका ही फल है। उसके द्वारा ही यहाँ उत्तरमार्गकी प्राप्तिकी साधनभूता पञ्चाग्निविद्याका विधान करना अभीष्ट है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण संसारगतिका उपसंहार है और यही कर्मकाण्डकी निष्ठा है—इन दो बातोंको दिखानेके लिये श्रुति आख्यायिका रचती है—

प्रवाहणकी सभामें श्वेतकेतुका आना और प्रवाहणका उससे प्रश्न करना

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं

तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमारा ३ इति स भो ३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १ ॥

प्रसिद्ध है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पाञ्चालोंकी सभामें आया ? वह जीवलके पुत्र प्रवाहणके पास पहुँचा, जो [सेवकोंसे] परिचर्या करा रहा था। उसे देखकर प्रवाहणने कहा, 'ओ कुमार !' वह बोला 'भो !' [प्रवाहणने पूछा—] 'क्या तेरे पिताने तुझे शिक्षा दी है ?' तब श्वेतकेतुने 'हाँ' ऐसा उत्तर दिया ॥ १ ॥

श्वेतकेतुर्नामतोऽरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः, हशब्द ऐतिह्यार्थः; वै निश्चयार्थः; पित्रानुशिष्टः सन्नात्मनो यशःप्रथनाय पञ्चालानां परिषदमाजगाम। पञ्चालाः प्रसिद्धास्तेषां परिषदमागत्य जित्वा राज्ञोऽपि परिषदं जेष्यामीति गर्वेण स आजगाम। जीवलस्यापत्यं जैवलिं पञ्चालराजं प्रवाहणनामानं स्वभृत्यैः परिचारयमाणमात्मनः परिचरणं कारयन्तमित्येतत्।

जो नामसे श्वेतकेतु था, वह आरुणेय—अरुणका पुत्र आरुणि, उसका पुत्र आरुणेय, 'ह' शब्द इतिहासका द्योतक है और 'वै' निश्चयार्थक है; पितासे शिक्षा पाकर अपना यश फैलानेके लिये पाञ्चालोंकी सभामें आया। पाञ्चालदेशीय विद्वान् प्रसिद्ध हैं, उनकी सभामें आकर उन्हें जीतकर फिर राजाकी सभाको भी जीत लूँगा—इस प्रकार वह गर्वसे वहाँ गया था। वह जीवलके पुत्र जैवलि प्रवाहण नामक पाञ्चालराजके पास पहुँचा, जो अपने सेवकोंसे परिचारण अर्थात् अपनी परिचर्या (सेवा) करा रहा था।

स राजा पूर्वमेव तस्य विद्याभिमानगर्वं श्रुत्वा विनेतव्योऽयमिति मत्वा तमुद्वीक्ष्योत्प्रेक्ष्या-

उस राजाने पहलेसे ही उसके विद्याभिमान और गर्वके विषयमें सुनकर यह विचारते हुए कि इसे विनीत करना चाहिये, उसे देखकर आते

गतमात्रमेवाभ्युवादाभ्युक्तवान् कुमारा३ इति संबोध्य । भर्त्सनार्था प्लुतिः । एवमुक्तः स प्रतिशुश्राव भो३ इति । भो३ इत्यप्रतिरूपमपि क्षत्रियं प्रत्युक्तवान् क्रुद्धः सन्; अनुशिष्टोऽनुशासितोऽसि भवसि किं पित्रेत्युवाच राजा, प्रत्याहेतर ओमिति बाढमनुशिष्टोऽस्मि पृच्छ यदि संशयस्ते ॥ १ ॥

ही 'भो कुमार !' इस प्रकार सम्बोधन करके पुकारा । यहाँ 'कुमारा ३' प्लुत स्वर निर्भर्त्सना (झिड़कने) के लिये है। इस प्रकार पुकारे जानेपर उसने उत्तर दिया 'भो !' 'भो !' यह उत्तर यद्यपि क्षत्रियके लिये उचित नहीं है, तो भी क्रोधित होकर उसने ऐसा कहा । 'क्या पिताने तुझे अनुशिष्ट—शिक्षित किया है ?' ऐसा राजाने कहा। तब श्वेतकेतु बोला 'हाँ ! हाँ ! पिताने मुझे शिक्षा दी है, यदि तुम्हें कुछ संदेह हो, तो पूछो' ॥ १ ॥

प्रवाहणके पाँच प्रश्न और श्वेतकेतुका उन सभीके प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना

यद्येवम्—

यदि ऐसी बात है तो—

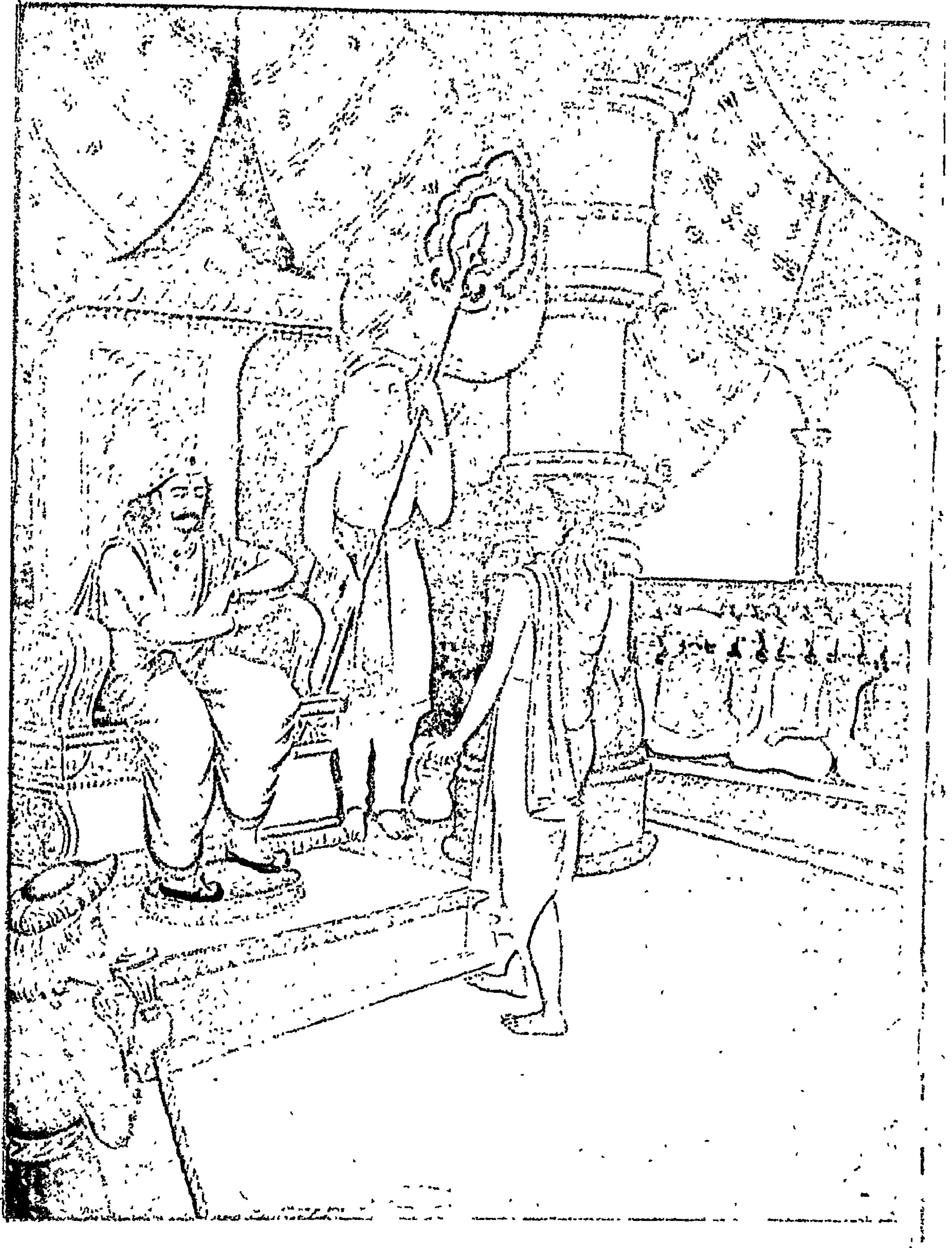
वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्या१ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत् कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं

पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकञ्चन वेदेति होवाच ॥ २ ॥

जिस प्रकार मरनेपर यह प्रजा विभिन्न मार्गोंसे जाती है—'सो क्या तू जानता है?' श्वेतकेतु बोला, 'नहीं' [राजा—] 'जिस प्रकार वह पुनः इस लोकमें आती है, सो क्या तुझे मालूम है?' 'नहीं' ऐसा श्वेतकेतुने उत्तर दिया। [राजा—] 'इस प्रकार पुनः-पुनः बहुतोंके मरकर जानेपर भी जिस प्रकार वह लोक भरता नहीं है, सो क्या तू जानता है?' 'नहीं' ऐसा उसने कहा। [राजा—] 'क्या तू जानता है कि कितने बारकी आहुतिके हवन करनेपर आप (जल) पुरुष शब्दवाच्य हो उठकर बोलने लगता है?' 'नहीं' ऐसा श्वेतकेतुने कहा। 'क्या तू देवयानमार्गका कर्मरूप साधन अथवा पितृयानका कर्मरूप साधन जानता है, जिसे करके लोग देवयानमार्गको प्राप्त होते हैं अथवा पितृयानमार्गको? हमने तो मन्त्रका यह वचन सुना है—'मैंने पितरोंका और देवोंका इस प्रकार दो मार्ग सुने हैं, ये दोनों मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले मार्ग हैं। इन दोनों मार्गोंसे जानेवाला जगत् सम्यक् प्रकारसे जाता है तथा ये मार्ग (द्युलोक और पृथिवीरूप) पिता और माताके मध्यमें हैं?' इसपर श्वेतकेतुने 'मैं इनमेंसे एकको भी नहीं जानता' ऐसा उत्तर दिया ॥ २ ॥

वेत्थ विजानासि किं यथा येन प्रकारेणेमाः प्रजाः प्रसिद्धाः प्रयत्यो म्रियमाणा विप्रतिपद्यन्ता ३ इति विप्रतिपद्यन्ते, विचारणार्था प्लुतिः। समानेन मार्गेण गच्छन्तीनां मार्गद्वैविध्यं यत्र भवति तत्र काश्चित् प्रजा अन्येन मार्गेण गच्छन्ति काश्चिदन्येनेति विप्रति-

'जिस प्रकार यह प्रसिद्ध प्रजा प्रेत होनेपर—मरनेपर विप्रतिपन्न होती है—सो क्या तू जानता है? यहाँ 'विप्रतिपद्यन्ता ३' इसमें प्लुत स्वर प्रश्नके लिये है। समान मार्गसे जाती हुई प्रजाके जहाँसे दो प्रकारके रास्ते हो जाते हैं, वहाँ कुछ प्रजा तो अन्य मार्गसे जाती है और कुछ दूसरेसे—इस प्रकार उन प्रजाओंकी विभिन्न गति होती है। तात्पर्य यह है कि जिस



प्रवाहणकी सभामें श्वेतकेतु

पत्तिः। यथा ताः प्रजा विप्रतिपद्यन्ते तत् किं वेत्थेत्यर्थः। नेति होवाचेतरः।

तर्हि वेत्थ उ यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति पुनरापद्यन्ते यथा पुनरागच्छन्तीमं लोकम्? नेति हैवोवाच श्वेतकेतुः। वेत्थो यथासौ लोक एवं प्रसिद्धेन न्यायेन पुनः पुनरसकृत् प्रयद्भिर्म्रियमाणैर्यथा येन प्रकारेण न संपूर्यता३ इति न संपूर्यतेऽसौ लोकस्तत्किं वेत्थ? नेति हैवोवाच।

वेत्थो यतिथ्यां यत्संख्याकायामाहुत्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषवाचः पुरुषस्य या वाक् सैव यासां वाक् ता पुरुषवाचो भूत्वा पुरुषशब्दवाच्या वा भूत्वा, यदा पुरुषाकारपरिणतास्तदा पुरुषवाचो भवन्ति, समुत्थाय सम्यगुत्थायोद्भूताः सत्यो वदन्ती३ इति? नेति हैवोवाच।

प्रकार उस प्रजाकी विभिन्न गति होती है, वह क्या तू जानता है ?' इसपर इतर (श्वेतकेतु) ने कहा—'नहीं।'

'तो फिर, जिस प्रकार प्रजा पुनः इस लोकको प्राप्त होती है—पुनः इस लोकमें आती है, वह क्या तू जानता है ?' श्वेतकेतुने कहा 'नहीं।' 'तो क्या तू जानता है कि किस प्रकार इस प्रसिद्ध न्यायसे प्रजाके पुनः-पुनः निरन्तर मरते रहनेपर भी वह लोक कैसे—किस प्रकारसे नहीं भरता ? अर्थात् जिस प्रकार वह लोक नहीं भरता, सो क्या तुझे मालूम है ?' इसपर भी श्वेतकेतुने 'नहीं' ऐसा कहा।

'क्या तू जानता है कि 'यतिथ्याम्'—जितनी संख्यावाली आहुतिके हवन किये जानेपर आप (जल) पुरुषवाक्-पुरुषकी जो वाक् है, वही जिसकी वाक् है, इस प्रकार पुरुषवाक् होकर अथवा 'पुरुष' शब्दवाच्य होकर—जिस समय वह पुरुषाकारमें परिणत होता है, उस समय पुरुषवाक् होता है—'समुत्थाय'—सम्यक् प्रकारसे उठकर बोलता है ?' श्वेतकेतुने 'नहीं' ऐसा कहा।

यद्येवं वेत्थ उ देवयानस्य पथो मार्गस्य प्रतिपदं प्रतिपद्यते येन सा प्रतिपत्, तां प्रतिपदं पितृयाणस्य वा प्रतिपदं प्रतिपच्छब्दवाच्यमर्थमाह—यत् कर्म कृत्वा यथाविशिष्टं कर्म कृत्वेत्यर्थः; देवयानं वा पन्थानं मार्गं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा यत् कर्म कृत्वा प्रतिपद्यन्ते तत् कर्म प्रतिपदुच्यते तां प्रतिपदं किं वेत्थ देवलोकपितृलोकप्रतिपत्तिसाधनं किं वेत्थेत्यर्थः ।

अप्यत्रास्यार्थस्य प्रकाशकमृषेर्मन्त्रस्य वचो वाक्यं नः श्रुतमस्ति। मन्त्रोऽप्यस्यार्थस्य प्रकाशको विद्यत इत्यर्थः। कोऽसौ मन्त्रः ? इत्युच्यते—द्वे सृती द्वौ मार्गावश्रृणवं श्रुतवानस्मि, तयोरेका पितृणां प्रापिका पितृलोकसंबद्धा तया सृत्या पितृलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः। अहमश्रृणवमिति व्यवहितेन संबन्धः। देवानामुतापि देवानां संबन्धिन्यन्या देवान् प्रापयति सा। के पुनरुपाभ्यां

'यदि ऐसी बात है, तो क्या तू देवयानमार्गके प्रतिपद्—जिसके द्वारा पुरुष प्रतिपन्न होते (गमन करते) हैं, उसे प्रतिपद् कहते हैं, उस प्रतिपद्को तथा पितृयानके प्रतिपद्को जानता है?' श्रुति 'प्रतिपद्' शब्दका अर्थ बतलाती है—जो कर्म करके अर्थात् यथाविशिष्ट कर्म करके देवयान या पितृयानमार्गको प्राप्त होते हैं, वह कर्म 'प्रतिपद्' कहलाता है, 'उस प्रतिपद्को क्या तू जानता है? अर्थात् क्या तुझे देवलोक और पितृलोककी प्राप्तिके साधनका ज्ञान है?'

'हमने इस अर्थके प्रकाशक ऋषि अर्थात् मन्त्रका वाक्य भी सुना है। अर्थात् इस अर्थका प्रकाशक मन्त्र भी विद्यमान है। वह मन्त्र कौन-सा है सो बतलाया जाता है—मैंने दो मार्ग सुने हैं; उनमें एक पितृगणकी प्राप्ति करानेवाला अर्थात् पितृलोकसे सम्बद्ध है, तात्पर्य यह है कि उस मार्गसे पुरुष पितृलोकको प्राप्त करता है।' मूलमें 'अहम् अश्रृणवम्' इस प्रकार व्यवहित पदोंका सम्बन्ध है। 'और दूसरा मार्ग देवताओंका यानी देवताओंसे सम्बद्ध है अर्थात् जो देवताओंको प्राप्त कराता है, वह है।'

सृतिभ्यां पितॄन् देवांश्च गच्छन्ति ? इत्युच्यते—उतापि मर्त्यानां मनुष्याणां संबन्धिन्यौ मनुष्या एव हि सृतिभ्यां गच्छन्तीत्यर्थः । ताभ्यां सृतिभ्यामिदं विश्वं समस्तमेजद् गच्छत् समेति संगच्छते ।

ते च द्वे सृती यदन्तरा यथोऽन्तरा यदन्तरा पितरं मातरं च मातापित्रोरन्तरा मध्य इत्यर्थः, कौ तौ मातापितरौ द्यावापृथिव्यावण्डकपाले; 'इयं वै मातासौ पिता' इति हि व्याख्यातं ब्राह्मणेन, अण्डकपालयोर्मध्ये संसारविषये एवैते सृती नात्यन्तिकामृतत्वगमनाय । इतर आह—नाहमतोऽस्मात् प्रश्नसमुदायादेकं च नैकमपि प्रश्नं न वेद नाहं वेदेति होवाच श्वेतकेतुः ॥ २ ॥

किंतु इन दोनों मार्गोंसे पितृगण और देवताओंके पास कौन जाते हैं ? सो बतलाया जाता है—'ये दोनों मार्ग मर्त्योंके यानी मनुष्योंके सम्बन्धी हैं, अर्थात् इन मार्गोंसे मनुष्य ही जाते हैं। उन मार्गोंसे जानेवाला यह सम्पूर्ण जगत् सम्यक् प्रकारसे जाता है।'

'वे दोनों मार्ग 'यदन्तरा'—जिनके मध्यवर्ती हैं, उन माता-पिताको [क्या तू जानता है ?] अर्थात् ये माता-पिताके मध्यमें हैं, वे माता-पिता कौन हैं ? द्युलोक और पृथिवीरूप ब्रह्माण्डकपाल; 'यह (पृथिवी) ही माता है और वह (द्युलोक) पिता है'—इस प्रकार ब्राह्मणद्वारा व्याख्या की जा चुकी है, ब्रह्माण्डकपालोंके मध्यमें ये दोनों मार्ग संसारविषयक ही हैं, आत्यन्तिक अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये नहीं हैं।' इसपर दूसरेने कहा, 'मैं इस प्रश्नसमुदायमेंसे एक भी प्रश्नको नहीं जानता—मुझे किसीका पता नहीं है,' ऐसा श्वेतकेतुने कहा ॥ २ ॥

श्वेतकेतुका अपने पिताके पास आकर उलाहना देना

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳ होवाचेति वाव किल नो भवान् पुरानुशिष्टानवोच इति कथꣳ सुमेध इति

पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ।। ३ ।।

फिर राजाने श्वेतकेतुसे ठहरनेके लिये प्रार्थना की। किंतु वह कुमार ठहरनेकी परवा न करके चल दिया। वह अपने पिताके पास आया और उनसे बोला, 'आपने यही कहा था न, कि मुझे सब विषयोंकी शिक्षा दे दी गयी है ?' [पिता-] 'हे सुन्दर धारणाशक्तिवाले ! क्या हुआ ?' [पुत्र-] 'मुझसे एक क्षत्रियबन्धुने पाँच प्रश्न पूछे थे, उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता।' [पिता—] 'वे कौन-से थे ?' [पुत्र—] 'ये थे' ऐसा कहकर उसने उन प्रश्नोंके प्रतीक बतलाये ॥ ३ ॥

अथानन्तरमपनीय विद्याभिमानगर्वमेनं प्रकृतं श्वेतकेतुं वसत्या वसतिप्रयोजनेनोपमन्त्रयाञ्चक्रे—इह वसन्तु भवन्तः, पाद्यमर्घ्यं चानीयतामित्युपमन्त्रणं कृतवान् राजा। अनादृत्य तां वसतिं कुमारः श्वेतकेतुः प्रदुद्राव प्रतिगतवान् पितरं प्रति। स चाजगाम पितरमागत्य चोवाच तम्, कथमिति ? वाव किलैवं किल नोऽस्मान् भवान् पुरा समावर्तनकालेऽनुशिष्टान् सर्वाभिर्विद्याभिरवोचोऽवोचदिति।

इसके पश्चात् उसके विद्याभिमानको तोड़कर इस प्रकरणमें प्राप्त श्वेतकेतुसे राजाने 'वसति'-ठहरनेके प्रयोजनसे प्रार्थना की; अर्थात् [श्वेतकेतुसे कहा—] 'आप यहाँ ठहरिये' [और सेवकोंसे कहा—] 'अरे ! पाद्य और अर्घ्य लाओ' इस प्रकार राजाने विनयपूर्वक निवेदन किया। किंतु वह कुमार उस निवासका निरादर कर 'प्रदुद्राव' अपने पिताके पास चल दिया। वह पिताके पास आया और वहाँ आकर उससे बोला, किस प्रकार बोला—'आपने पहले समावर्तन संस्कारके समय यही कहा था न, कि तुझे सब विद्याओंमें अनुशिक्षित कर दिया गया है ?'

सोपालम्भं पुत्रस्य वचः श्रुत्वाह पिता कथं केन प्रकारेण तव दुःखमुपजातं हे सुमेधः ! शोभना मेधा यस्येति सुमेधाः । शृणु मम यथा वृत्तम्—पञ्च पञ्चसंख्याकान् प्रश्नान् मा मां राजन्यबन्धू राजन्या बन्धवो यस्येति; परिभववचनमेतद्राजन्यबन्धुरिति, अप्राक्षीत् पृष्टवांस्ततस्तस्मान्नैकंचनैकमपि न वेद न विज्ञातवानस्मि । 'कतमे ते राज्ञा पृष्टाः प्रश्नाः' इति पित्रोक्तः पुत्रः 'इमे ते' इति ह प्रतीकानि मुखानि प्रश्नानामुदाजहारोदाहृतवान् ॥ ३ ॥

पुत्रका उपालम्भयुक्त वचन सुनकर पिताने कहा, 'हे सुमेध ! तुझे किस प्रकार दुःख उत्पन्न हुआ है।' जिसकी सुन्दर मेधाशक्ति होती है, उसे सुमेधा कहते हैं।' [पुत्र]—'मेरे साथ जैसा हुआ है; सो सुनिये-मुझसे एक राजन्यबन्धु (क्षत्रबन्धु) ने पाँच प्रश्न पूछे थे, उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता।' जिसके राजन्य (क्षत्रिय) बन्धु हों, उसे राजन्यबन्धु कहते हैं, यह राजन्यबन्धु तिरस्कारसूचक वचन है। 'राजाके द्वारा पूछे हुए वे प्रश्न कौन-से थे ?' इस प्रकार पिताके पूछनेपर पुत्रने 'वे ये थे' ऐसा कहकर उन प्रश्नोंके प्रतीक—मुख (संकेत) बतलाये ॥ ३ ॥

पिता आरुणिका उनके विषयमें अपनी अनभिज्ञता बताकर उसे शान्त करना और उनका उत्तर जाननेके लिये प्रवाहणके पास आना

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार त होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥४॥

उस पिताने कहा, 'हे तात! तू हमारे कथनानुसार ऐसा समझ कि हम जो कुछ जानते थे वह सब हमने तुझसे कह दिया था। अब हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उसके यहाँ निवास करेंगे।' [पुत्र—] 'आप ही जाइये।' तब वह गौतम जहाँ जैवलि प्रवाहणकी बैठक थी, वहाँ आया। उसके लिये आसन लाकर राजाने जल मँगवाया और उसे अर्घ्यदान किया। फिर बोला, 'मैं पूज्य गौतमको वर देता हूँ'[1] ॥ ४ ॥

स होवाच पिता पुत्रं क्रुद्धमुपशमयंस्तथा तेन प्रकारेण नोऽस्मांस्त्वं हे तात वत्स जानीथा गृह्णीथा यथा यदहं किञ्च विज्ञानजातं वेद सर्वं तत् तुभ्यमवोचमित्येव जानीथाः; कोऽन्यो मम प्रियतरोऽस्ति त्वत्तो यदर्थं रक्षिष्ये? अहमप्येतन्न जानामि यद् राज्ञा पृष्टम्। तस्मात् प्रेह्यागच्छ तत्र प्रतीत्य गत्वा राज्ञि ब्रह्मचर्यं वत्स्यावो विद्यार्थमिति। स आह—भवानेव गच्छत्विति, नाहं तस्य मुखं निरीक्षितुमुत्सहे। स आजगाम गौतमो गोत्रतो गौतम आरुणिर्यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरासासनमास्थायिकाः; षष्ठी-

क्रुद्ध पुत्रको शान्त करनेके लिये उस पिताने कहा, 'हे तात! हे वत्स! तू हमसे इस प्रकार समझ कि जो कुछ विज्ञान मैं जानता था, वह सब मैंने तुझसे कह दिया था—ऐसा ही तू जान। भला तुझसे अधिक प्रिय मेरा और कौन है जिसके लिये उसे छिपाऊँगा। राजाने जो पूछा है, वह तो मैं भी नहीं जानता। अतः आ, वहाँ चलकर हम दोनों विद्योपार्जनके लिये राजाके यहाँ ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक निवास करेंगे।' उस (पुत्र) ने कहा, 'आप ही जाइये, मैं तो उसका मुँह भी नहीं देख सकता।' वह गौतम-गोत्रतः गौतम आरुणि, जहाँ प्रवाहण जैवलिका आस-आसन आस्थायिका अर्थात् बैठक थी, वहाँ आया 'प्रवाहणस्य जैवलेः' ये दो

१. अर्थात् आप जिस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं, वह कहिये; मैं उसकी पूर्ति करूँगा।

ङ्घ्यं प्रथमास्थाने; तस्मै गौत-मायागतायासनमनुरूपमाहृत्यो-दकं भृत्यैराहारयाञ्चकार; अथ हास्मा अर्घ्यं पुरोधसा कृतवान् मन्त्रवन्मधुपर्कं च; कृत्वा चैवं पूजां तं होवाच वरं भगवते गौतमाय तुभ्यं दद्म इति गोऽश्वा-दिलक्षणम् ॥ ४ ॥

षष्ठी प्रथमाके स्थानमें है[1]। अपने पास आये हुए उस गौतमके लिये राजाने उचित आसन देकर सेवकों से जल मँगवाया और फिर पुरोहितद्वारा अर्घ्य और मन्त्रयुक्त मधुपर्क कराया। इस प्रकार पूजा कर उसने गौतमसे कहा, 'मैं आप भगवान् गौतमको गौ-अश्वादिरूप वर देता हूँ' ॥ ४ ॥

आरुणिका प्रवाहणसे अपने पुत्रसे पूछी हुई बात कहनेकी प्रार्थना करना

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमार-स्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥

उसने कहा, 'आपने मुझे जो वर देनेके लिये प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आपने कुमारसे जो बात पूछी थी वह मुझसे कहिये' ॥ ५ ॥

स होवाच गौतमः प्रतिज्ञातो मेममैष वरस्त्वयास्यां प्रतिज्ञायाम्' दृढी कुर्वात्मानम्, यां तु वाचं कुमारस्य मम पुत्रस्यान्ते समीपे वाचमभाषथाः प्रश्नरूपां तामेव मे ब्रूहि स एव नो वर इति ॥५॥

उस गौतमने कहा, 'आपने इस प्रतिज्ञामें मुझे यह वर देनेकी प्रतिज्ञा की है—'कुमार अर्थात् मेरे पुत्रके समीप आपने प्रश्नरूप जो बात कही थी, वही आप मुझसे कहिये, वही मेरा वर है। यह वर देनेके लिये अब आप अपनेको सुस्थिर कीजिये' ॥ ५ ॥

---

१. क्योंकि 'आस' यह क्रियापद है, अतः 'प्रवाहणः जैवलिः' यह उसका कर्ता होना चाहिये। षष्ठी होनेके कारण ही 'आस' का अर्थ 'आसन' किया गया है।

प्रवाहणका उसे दैव वर बताकर अन्य मानुष
वर माँगनेके लिये कहना

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद् वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥

उसने कहा, 'गौतम! वह वर तो देव वरोंमेंसे है; तुम मनुष्यसम्बन्धी वरोंमेंसे कोई वर माँगो' ॥ ६ ॥

स होवाच राजा दैवेषु वरेषु तद् वै गौतम यस्त्वं प्रार्थयसे मानुषाणामन्यतमं प्रार्थय वरम् ॥ ६ ॥

उस राजाने कहा, 'गौतम! तुम जो वर माँगते हो, वह तो देव वरोंमेंसे है। मनुष्यसम्बन्धी वरोंमेंसे कोई वर माँगो' ॥ ६ ॥

आरुणिका आग्रह और प्रवाहणकी स्वीकृतिसे आरुणिद्वारा
वाणीमात्रसे उसका शिष्यत्व स्वीकार करना

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिदानस्य मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥ ७ ॥

उस गौतमने कहा, आप जानते हैं, वह तो मेरे पास है। मुझे सुवर्णकी प्राप्ति तथा गौ, अश्व, दासी, परिवार और परिधानकी भी प्राप्ति है। आप महान्, अनन्त और निःसीम धनके दाता होकर मेरे लिये अदाता न हों।' [राजा—] 'तो गौतम! तुम शास्त्रोक्त विधिसे उसे पानेकी इच्छा करो।' (गौतम—) 'अच्छा, मैं आपके प्रति शिष्यभावसे उपसन्न (प्राप्त) होता हूँ। पहले ब्राह्मणलोग वाणीसे ही क्षत्रियादिके प्रति उपसन्न होते रहे हैं।' इस प्रकार उपसत्तिका वाणीसे कथनमात्र करके गौतम वहाँ रहने लगा [सेवा आदिके द्वारा नहीं] ॥ ७ ॥

स होवाच गौतमो भवतापि विज्ञायते ह ममास्ति सः । न तेन प्रार्थितेन कृत्यं मम यं त्वं दित्ससि मानुषं वरम्, यस्मान्ममाप्यस्ति हिरण्यस्य प्रभूतस्यापात्तं प्राप्तं गोअश्वानाम्–अपात्तमस्तीति सर्वत्रानुषङ्गः; दासीनां प्रवाराणां परिवाराणां परिधानस्य च; न च यन्मम विद्यमानम्, तत् त्वत्तः प्रार्थनीयं त्वया वा देयम् । प्रतिज्ञातश्च वरस्त्वया त्वमेव जानीषे यदत्र युक्तं प्रतिज्ञा रक्षणीया तवेति ।

उस गौतमने कहा, 'आप भी जानते हैं, वह तो मेरे पास है ही। आप जिस मनुष्यसम्बन्धी वरको मुझे देना चाहते हैं, उसके माँगनेसे तो मेरा कोई प्रयोजन है नहीं, क्योंकि मुझे भी बहुत-सा सुवर्ण प्राप्त है तथा गो-अश्वादिकी भी प्राप्ति है—इस प्रकार 'अपात्तम् अस्ति' इस क्रियापदका सर्वत्र सम्बन्ध लगाना चाहिये। अर्थात् दासी, परिवार और वस्त्र–इन सबकी मुझे भी प्राप्ति है। जो मेरे पास नहीं है, वही मुझे आपसे माँगना चाहिये और वही आपको देना भी चाहिये। आपने वर देनेकी प्रतिज्ञा तो की ही है, अब यहाँ क्या करना उचित है—यह आप ही जानें; आपको प्रतिज्ञाका पालन तो करना ही चाहिये।'

मम पुनरयमभिप्रायो मा भून्नोऽस्मानभ्यस्मानेव केवलान् प्रति भवान् सर्वत्र वदान्यो भूत्वा अवदान्यो मा भूत् कदर्यो मा भूदित्यर्थः । बहोः प्रभूतस्यानन्तस्यानन्तफलस्येत्येतत्, अपर्यन्तस्यापरिसमाप्तिकस्य पुत्रपौत्रादिगामिकस्येत्येतत्, ईदृशस्य वित्तस्य मां प्रत्येव केवलमदाता

मेरा तो यह अभिप्राय है कि आप सर्वत्र दाता होकर भी हमारे प्रति ही, अर्थात् केवल हमारे लिये ही अदाता न हों—कृपण न हों। 'बहोः'—बहुत-सी, 'अनन्तस्य'—अनन्त फलवाली, 'अपर्यन्तस्य'—समाप्त न होनेवाली अर्थात् पुत्रपौत्रादिकोंमें भी जानेवाली—इस प्रकारकी सम्पत्तिके दाता होकर भी आप केवल मेरे

माभूद् भवान्; न चान्यत्रादेयमस्ति भवतः।

एवमुक्त आह—स त्वं वै हे गौतम तीर्थेन न्यायेन शास्त्रविहितेन विद्यां मत्त इच्छासा इच्छाऽवाप्तुमित्युक्तो गौतम आह-उपैम्युपगच्छामि शिष्यत्वेनाहं भवन्तमिति। वाचा ह स्मैव किल पूर्वे ब्राह्मणाः क्षत्रियान् विद्यार्थिनः सन्तो वैश्यान् वा क्षत्रिया वा वैश्यानापद्युपयन्ति शिष्यवृत्त्या ह्युपगच्छन्ति नोपायनशुश्रूषादिभिः। अतः स गौतमो होपायनकीर्त्योपगमनकीर्तनमात्रेणैवोवासोषितवान्नोपायनं चकार॥ ७॥

लिये ही अदाता न हों। दूसरोंके लिये तो आपको कुछ भी अदेय नहीं है।

इस प्रकार कहे जानेपर राजाने कहा, 'अच्छा तो हे गौतम! तुम 'तीर्थेन'—शास्त्रविहित विधिसे मुझसे विद्याग्रहण करनेकी इच्छा करो।' ऐसा कहे जानेपर गौतमने कहा, 'उपैमि'-मैं शिष्यभावसे आपके प्रति उपसन्न होता हूँ। विद्या प्राप्त करनेकी इच्छावाले पूर्ववर्ती ब्राह्मणलोग क्षत्रिय या वैश्योंके प्रति अथवा क्षत्रियलोग वैश्योंके प्रति आपत्तिकालमें केवल वाणीद्वारा ही शिष्यवृत्तिसे उपसन्न होते थे, किसी प्रकारकी भेंट देकर अथवा शुश्रूषादिके द्वारा उनका शिष्यत्व स्वीकार नहीं करते थे।' अतः उस गौतमने 'उपायनकीर्त्या'—उपसत्तिके कथनमात्रसे ही वहाँ निवास किया, वस्तुतः सेवा आदिके द्वारा उपगमन नहीं किया॥ ७॥

प्रवाहणकी क्षमाप्रार्थना और विद्यादानके लिये तत्पर होना

एवं गौतमेनापदन्तर उक्ते—

गौतमके इस प्रकार आपदन्तर[1] कहनेपर—

१. स्वयं विद्यानभिज्ञ होनेके कारण किसी हीन वर्णके पुरुषके पास शिष्यभावसे जाना—यह आपदन्तर (आपत्तिकाल) कहलाता है।

भगवत्प्रेरणाके आगे सभीको झुकना पड़ता है; वे ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित कर देते हैं कि जिनके कारण शक्ति न देखते हुए भी मनुष्य साहस कर बैठता है। ऐसी किसी परिस्थितिने ही इसे भी इस महत्कार्यमें नियुक्त कर दिया और कई प्रकारकी अड़चनोंके पश्चात् आजसे प्रायः साढ़े चार वर्ष पूर्व इसकी पूर्णाहुति हो गयी। इस महान् कर्मका मेरे लिये तो वस्तुतः इतना ही लाभ है कि इसी बहाने शास्त्रचिन्तनमें समय बीत जाता है। अस्तु, जो कुछ हो, प्रभुके विधानमें किसीका दखल भी तो नहीं चलता।

इन उपनिषद्भाष्योंके अनुवादमें मुझे जिन ग्रन्थोंसे सहायता मिली है उनके लेखकोंका मैं सर्वदा ऋणी ही रहूँगा। हार्दिक धन्यवादके सिवा मेरे पास उस ऋणके परिशोधका कोई और साधन नहीं है। जिनके कृपामय सहयोगसे मुझे वे ग्रन्थ प्राप्त हो सके थे उन महानुभावोंका भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। भाई साहब श्रीशंकरलालजी गर्गने पं० पीताम्बरजीका हिन्दी अनुवाद दिया था। पूज्य पं० श्रीकृष्णजी पन्तकी कृपासे मुझे पं० दुर्गाचरण माजूमदारविरचित बंगला-अनुवाद मिला था तथा बन्धुवर कुँवर विजयेन्द्रसिंहजीने पं० गंगानाथ झा और श्रीसीताराम शास्त्रीके अंग्रेजी अनुवाद दिये थे। छपाईके समय सम्मान्य सुहृद्वर पं० श्रीरामनारायणजी शास्त्रीने इन सभी ग्रन्थोंका संशोधन और प्रूफ शोधन किया है। उनके अथक अध्यवसायके बिना इनका इतने शुद्धरूपमें प्रकाशित होना प्रायः असम्भव ही था। अतः उनका भी मैं सर्वदा ऋणी ही रहूँगा।

अन्तमें, जिनकी असीम अनुकम्पा और बाह्य एवं आन्तर प्रेरणासे यह दुष्कर कार्य सुकरकी भाँति सम्पन्न हुआ है उन अपने हृदयसर्वस्व पूज्यपाद श्रीगुरुदेवके पावन करकमलोंमें यह तुच्छ भेंट समर्पण करता हूँ। इसके द्वारा मैं किसी प्रकार उनके परम पवित्र पादपद्मोंका विशुद्ध प्रेम प्राप्त कर सकूँ—यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा है।

विनीत,

अनुवादक



स होवाच तथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

उस राजाने कहा, 'गौतम ! जिस प्रकार तुम्हारे पितामहोंने हमारे पूर्वजोंका अपराध नहीं माना, उसी प्रकार तुम भी हमारा अपराध न मानना। इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मणके यहाँ नहीं रही। उसे मैं तुम्हारे ही प्रति कहता हूँ। भला, इस प्रकार विनयपूर्वक बोलनेवाले तुमको निषेध करनेमें (विद्या देनेसे इनकार करनेमें) कौन समर्थ हो सकता है ?' ॥ ८ ॥

स होवाच राजा पीडितं मत्वा क्षामयंस्तथा नोऽस्मान् प्रति मापराधा अपराधं मा कार्षीरस्मदीयोऽपराधो न ग्रहीतव्य इत्यर्थः तव च पितामहा अस्मत्पितामहेषु यथापराधं न जगृहुस्तथा पितामहानां वृत्तमस्मास्वपि भवता रक्षणीयमित्यर्थः। यथेयं विद्या त्वया प्रार्थिता, इतस्त्वत्संप्रदानात् पूर्वं प्राङ् न कस्मिन्नपि ब्राह्मणे उवासोषितवती तथा त्वमपि जानीषे सर्वदा क्षत्रियपरम्परयेयं विद्यागता;

उसे पीडित समझकर उस राजाने क्षमा कराते हुए कहा, 'हमारे प्रति इसी प्रकार अपराध न करें, अर्थात् हमारे अपराधको आप इसी प्रकार ग्रहण न करें, जिस प्रकार कि आपके पितामहोंने हमारे पितामहोंका अपराध ग्रहण नहीं किया था; तात्पर्य यह है कि इस प्रकार आपको भी हमारे प्रति अपने पितामहोंके आचरणकी रक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा प्रार्थित यह विद्या इससे यानी तुम्हें सम्प्रदान करनेसे पूर्व किसी भी ब्राह्मणके यहाँ नहीं रही सो तुम भी जानते ही हो, यह विद्या सर्वदा क्षत्रिय-परम्परासे ही आयी है; यदि हो

सा स्थितिर्मयापि रक्षणीया यदि शक्यते; इत्युक्तं देवेषु गौतम तद् वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति न पुनस्तवादेयो वर इति। इतः परं न शक्यते रक्षितुम्; तामपि विद्यामहं तुभ्यं वक्ष्यामि; को ह्यन्योऽपि हि यस्मादेवं ब्रुवन्तं त्वामर्हति प्रत्याख्यातुं न वक्ष्यामीति अहं पुनः कथं न वक्ष्ये तुभ्यमिति ॥ ८ ॥

सके तो उस स्थितिकी रक्षा मुझे भी करनी चाहिये थी; इसीसे मैंने यह कहा था कि 'हे गौतम! यह वर तो दैव वरोंमेंसे है, तुम मानुष वरोंमेंसे माँगो।' यह वर तुम्हारे लिये अदेय है—ऐसी बात नहीं है। अब आगे इसे छिपाना सम्भव नहीं है; मैं उस विद्याको भी तुम्हारे प्रति कहे देता हूँ क्योंकि इस प्रकार बोलनेवाले तुमको मेरे सिवा दूसरा भी ऐसा कौन है, जो 'मैं नहीं कहूँगा' ऐसा कहकर निषेध करनेमें समर्थ हो सके? फिर भला मैं तुमसे वह विद्या क्यों न कहूँगा?' ॥ ८ ॥

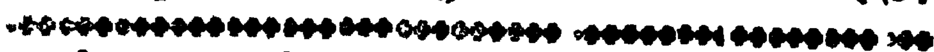
चतुर्थ प्रश्नका उत्तर—पञ्चाग्निविद्या

१—द्युलोकाग्नि

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतमेत्यादि चतुर्थः प्रश्नः प्राथम्येन निर्णीयते क्रमभङ्गस्त्वेतन्निर्णयायत्तत्वादितरप्रश्ननिर्णयस्य।

'असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम' इत्यादि मन्त्रसे चौथे प्रश्नका पहले निर्णय किया जाता है। क्रमभंग तो इसलिये किया गया है कि इस प्रश्नके निर्णयके अधीन ही अन्य प्रश्नोंका निर्णय है।

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥ ९ ॥



हे गौतम ! यह लोक (द्युलोक) ही अग्नि है । आदित्य ही उसका समिध् (ईंधन) है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं, अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं । उस इस अग्निमें देवगण श्रद्धाको हवन करते हैं; उस आहुतिसे सोम राजा होता है ॥ ९ ॥

असौ द्यौर्लोकोऽग्निर्हे गौतम; द्युलोकेऽग्निदृष्टिरनग्नौ विधीयते, यथा योषित्पुरुषयोः; तस्य द्युलोकाग्नेरादित्य एव समित् समिन्धनात्; आदित्येन हि समिध्यतेऽसौ लोकः ।

हे गौतम ! यह द्युलोक अग्नि है । स्त्री और पुरुषके समान अग्नि न होनेपर भी द्युलोकमें अग्नि-दृष्टिका विधान किया जाता है । उस द्युलोकरूप अग्निको सम्यक् प्रकारसे दीप्त करनेवाला होनेसे आदित्य उसका समिध् है, क्योंकि आदित्यसे ही उस लोकका सम्यक् प्रकारसे दीपन (प्रकाशन) होता है ।

रश्मयो धूमः समिध उत्थानसामान्यात्, आदित्याद्धि रश्मयो निर्गताः; समिधश्च धूमो लोक उत्तिष्ठति । अहरर्चिः प्रकाशसामान्यात्; दिशोऽङ्गारा उपशमसामान्यात्; अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गवद् विक्षेपात् ।

किरणें धूम हैं; क्योंकि जिस प्रकार ईंधनसे धुआँ उठता है, उसी प्रकार आदित्यरूपी ईंधनसे उठनेमें इन किरणोंकी धूमसे समानता है; कारण, आदित्यसे ही किरणें निकलती हैं और लोकमें समिध् (ईंधन) से धूम निकलता है । प्रकाशमें समानता होनेके कारण दिन ज्वाला है; उपशममें समानता होनेसे दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा विस्फुलिङ्गोंके समान बिखरी हुई होनेके कारण अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं ।

तस्मिन्नेतस्मिन्नेवंगुणविशिष्टे द्युलोकाग्नौ देवा इन्द्रादयः श्रद्धां

ऐसे गुणोंसे युक्त उस इस द्युलोकरूप अग्निमें इंद्रादि देवगण

जुह्वत्याहुतिद्रव्यस्थानीयां प्रक्षिपन्ति। तस्या आहुत्या आहुतेः सोमो राजा पितॄणां ब्राह्मणानां च संभवति।

तत्र के देवाः ? कथं जुह्वति ?

आहुत्यादि- किं वा श्रद्धाख्यं स्वरूपविचारः हविः ? इत्यत उक्तमस्माभिः सम्बन्धेन त्वेवैनयोस्त्वमुत्क्रान्तिमित्यादि। पदार्थषट्कनिर्णयार्थमग्निहोत्र उक्तम्—ते वा एते अग्निहोत्राहुती हुते सत्यावुत्क्रामतः; ते अन्तरिक्षमाविशतः; ते अन्तरिक्षमाहवनीयं कुर्वाते वायुं समिधं मरीचीरेव शुक्रामाहुतिम्; ते अन्तरिक्षं तर्पयतः; ते तत उत्क्रामतः; ते दिवमाविशतः; ते दिवमाहवनीयं कुर्वाते आदित्यं समिधमित्येवमाद्युक्तम्।

आहुतिद्रव्यस्थानीय श्रद्धाको हवन करते अर्थात् डालते हैं। उस आहुतिसे पितरों और ब्राह्मणोंका राजा सोम उत्पन्न होता है।

तहाँ देवता कौन हैं ? वे किस प्रकार हवन करते हैं ? और श्रद्धासंज्ञक हवि भी क्या है ?[1] इन सब बातोंका विचार करना है-इसीसे हमने इस ब्राह्मणके सम्बन्ध-भाष्यमें कहा था कि 'तू इन सायंकालिक, प्रातःकालिक अग्निहोत्रकी दोनों आहुतियोंकी न तो उत्क्रान्तिको जानता है' इत्यादि। इसी प्रकार उत्क्रान्ति आदि छः पदार्थोंके निर्णयके लिये अग्निहोत्रप्रकरणमें कहा गया है—वे ये अग्निहोत्रकी दोनों आहुतियाँ हवन की जानेपर उत्क्रमण करती (ऊपर उठती) हैं; वे अन्तरिक्षमें प्रवेश करती हैं; वे अन्तरिक्षको ही आहवनीय अग्नि करती हैं, वायुको समिध् करती हैं और किरणोंको ही शुक्ल आहुति करती हैं; वे अन्तरिक्षको तृप्त करती हैं, वे उससे भी ऊपर जाती हैं; वे द्युलोकमें प्रवेश करती हैं; वहाँ वे द्युलोकको आहवनीय बनाती हैं और आदित्यको 'समिध्'; इत्यादि प्रकारसे वहाँ कहा गया है।

१. क्योंकि न तो इन्द्रादि देवताओंका कर्ममें अधिकार है, न द्युलोकादिमें हवन किया जा सकता है और न श्रद्धामें द्रव्यत्व है।

तत्राग्निहोत्राहुती ससाधने एवोत्क्रामतः। यथेह यैः साधनैर्विशिष्टे ये ज्ञायेते आहवनीयाग्निसमिद्धूमाङ्गारविस्फुलिङ्गाहुतिद्रव्यैस्ते तथैवोत्क्रामतोऽस्माल्लोकादमुं लोकम्। तत्राग्निरग्नित्वेन समित् समित्त्वेन धूमो धूमत्वेनाङ्गारा अङ्गारत्वेन विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गत्वेनाहुतिद्रव्यमपि पयआद्याहुतिद्रव्यत्वेनैव सर्गादावव्याकृतावस्थायामपि परेण सूक्ष्मेणात्मना व्यवतिष्ठते।

तद् विद्यमानमेव ससाधनमग्निहोत्रलक्षणं कर्मापूर्वेणात्मना व्यवस्थितं सत् तत् पुनर्व्याकरणकाले तथैवान्तरिक्षादीनामाहवनीयाद्यग्न्यादिभावं कुर्वद् विपरिणमते। तथैवेदानीमप्यग्निहोत्राख्यं

[यजमानकी मृत्युके समय] अग्निहोत्रकी आहुतियाँ साधनके सहित ही उत्क्रमण करती हैं। इस लोकमें जिस प्रकार वे जिन आहवनीयाग्नि, समिध्, धूम, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और आहुतिद्रव्यरूप साधनोंसे युक्त जानी जाती हैं, उसी प्रकार वे इस लोकसे उस लोकके प्रति उत्क्रमण करती हैं। वहाँ सर्गके आरम्भमें अव्यक्तावस्थामें भी अपने परम सूक्ष्मरूपसे, अग्नि अग्निभावसे, समिध् समिद्भावसे, धूम धूमभावसे, अङ्गार अङ्गारभावसे, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गभावसे और आहुतिद्रव्य भी दुग्धादि आहुतिद्रव्यभावसे ही रहते हैं।[1]

वह साधनसहित अग्निहोत्ररूप कर्म अपूर्वरूपसे व्यवस्थित होकर विद्यमान रहता हुआ ही जगत्के अभिव्यक्त होनेके समय पुनः उसी प्रकार अन्तरिक्षादिका आहवनीयादि अग्निभाव करता हुआ विपरिणामको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार इस समय भी अग्निहोत्रसंज्ञक कर्म

१. अर्थात् प्रलयमें इनका स्थूलरूप न रहनेपर भी ये सब पदार्थ अपनी शक्तियोंके रूपमें रहते हैं। अतः ये सब सामान्यभावको प्राप्त नहीं होते और जब अग्निहोत्रकी आहुतियोंसे उत्पन्न हुए अपूर्वसे पुनः सृष्टि आरम्भ होती है तो वे पुनः व्यक्त जगत्के रूपमें परिणत हो जाते हैं।

कर्म । एवमग्निहोत्राहुत्यपूर्वविपरिणामात्मकं जगत् सर्वमित्याहुत्योरेव स्तुत्यर्थत्वेनोत्क्रान्त्याद्या लोकं प्रत्युत्थायितान्ताः षट् पदार्थाः कर्मप्रकरणेऽपवर्गान्निर्णीताः ।

इह तु कर्तुः कर्मविपाकविवक्षायां द्युलोकाग्न्याद्यारभ्य पञ्चाग्निदर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विशिष्टकर्मफलोपभोगाय विधित्सितमिति द्युलोकाग्न्यादिदर्शनं प्रस्तूयते । तत्र य आध्यात्मिकाः प्राणा इहाग्निहोत्रस्य होतारस्त एवाधिदैविकत्वेन परिणताः सन्त इन्द्रादयो भवन्ति । त एव तत्र होतारो द्युलोकाग्नौ । ते चेहाग्निहोत्रस्य फलभोगायाग्निहोत्रं हुतवन्तः । त एव फलपरिणामकालेऽपि तत्फलभोक्तृत्वात् तत्र तत्र होतृत्वं प्रतिपद्यन्ते तथा तथा विपरिणममाना देवशब्दवाच्याः सन्तः ।

जगत्का आरम्भक है । इस प्रकार यह सारा जगत् अग्निहोत्रसे उत्पन्न हुए अपूर्वका विपरिणामरूप है, अतः आगे कर्मप्रकरणमें आहुतियोंकी ही स्तुतिके लिये उत्क्रान्तिसे लेकर यजमानके पुनः परलोकगमनके लिये उत्थान करनेतक छः पदार्थोंका निर्णय किया गया है ।

यहाँ (इस ब्राह्मणमें) तो कर्ताके कर्मफलके निरूपणकी इच्छा होनेपर द्युलोकाग्नि इत्यादिसे आरम्भ करके, विशिष्टफलके उपभोगके लिये उत्तरमार्गकी प्राप्तिकी साधनभूता पञ्चाग्निविद्याका विधान करना अभीष्ट है, इसलिये द्युलोकाग्नि आदि दृष्टि प्रस्तुत की जाती है । अतः यहाँ व्यवहारमें जो आध्यात्मिक प्राण अग्निहोत्रके होता हैं, वे ही आधिदैविकरूपमें परिणत होनेपर इन्द्रादि हो जाते हैं । वे ही वहाँ द्युलोकाग्निमें हवन करनेवाले हैं । उन्होंने वहाँ (इस लोकमें) अग्निहोत्रका फल भोगनेके लिये अग्निहोत्र किया था । फलके परिणामकालमें भी वे ही उस फलके भोक्ता होनेके कारण उस-उस स्थानमें वैसे-वैसे ही रूपसे परिणत होकर देवशब्दवाच्य हुए होतृत्वको प्राप्त होते हैं ।

अत्र च यत् पयोद्रव्यमग्निहोत्रकर्माश्रयभूतमिहाहवनीये प्रक्षिप्तमग्निना भक्षितमदृष्टेन सूक्ष्मेण रूपेण विपरिणतं सह कर्त्रा यजमानेनामुं लोकं धूमादिक्रमेणान्तरिक्षमन्तरिक्षाद् द्युलोकमाविशति । ताः सूक्ष्मा आप आहुतिकार्यभूता अग्निहोत्रसमवायिन्यः कर्तृसहिताः श्रद्धाशब्दवाच्याः सोमलोके कर्तुः शरीरान्तरारम्भाय द्युलोकं प्रविशन्त्यो हूयन्त इत्युच्यन्ते । तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारभन्ते । तदेतदुच्यते देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवतीति । "श्रद्धा वा आपः" इति श्रुतेः ।

इस लोकमें जो अग्निहोत्रकर्मका आश्रयभूत दुग्धरूप द्रव्य आहवनीय अग्निमें डाला गया था, वह अग्निद्वारा भक्षित होकर अदृष्ट सूक्ष्मरूपमें परिणत हो कर्ता यजमानके सहित धूमादि क्रमसे उस अन्तरिक्षलोकमें और फिर अन्तरिक्षसे द्युलोकमें प्रवेश करता है वह आहुतिका कार्यभूत, श्रद्धाशब्दवाच्य, अग्निहोत्रसम्बन्धी सूक्ष्म आप सोमलोकमें कर्ताके शरीरान्तरका आरम्भ करनेके लिये कर्ताके सहित द्युलोकमें प्रवेश करते हुए 'हवन किया जाता है' ऐसा कहा जाता है, वह वहाँ द्युलोकमें प्रवेश कर सोममण्डलमें कर्ताका शरीर आरम्भ करता है। इसीसे यह कहा जाता है कि 'देवगण श्रद्धाको होमते हैं, उस आहुतिसे सोम राजा उत्पन्न होता है।' "श्रद्धा ही आप है" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है।

वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्नः, तस्य च निर्णयविषये 'असौ वै लोकोऽग्निः' इति प्रस्तुतम् । तस्मादापः कर्मसम-

'क्या तू जानता है कि कितनी संख्यावाली आहुतिके हवन किये जानेपर आप पुरुषशब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है ?' यह प्रश्न है। उसीका निर्णय करनेके प्रसङ्गमें 'यह द्युलोक ही अग्नि है' इस प्रकार आरम्भ किया गया है। अतः यह

आयिन्यः कर्तुः शरीरारम्भिकाः श्रद्धाशब्दवाच्या इति निश्चीयते। भूयस्त्वादापः पुरुषवाच इति व्यपदेशो न त्वितराणि भूतानि न सन्तीति।

निश्चय होता है कि कर्ताके शरीरका आरम्भ करनेवाला कर्मसम्बन्धी आप श्रद्धाशब्दवाच्य है। अन्य भूतोंकी अपेक्षा जलकी अधिकता होनेके कारण 'आपः पुरुषवाचः' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, ऐसी बात नहीं है कि अन्य भूत हैं ही नहीं।

कर्मप्रयुक्तश्च शरीरारम्भः, कर्म चाप्समवायि। ततश्चापां प्राधान्यं शरीरकर्तृत्वे। तेन चापः पुरुषवाच इति व्यपदेशः कर्मकृतो हि जन्मारम्भः सर्वत्र। तत्र यद्यप्यग्निहोत्राहुतिस्तुतिद्वारेणोत्क्रान्त्यादयः प्रस्तुताः षट्पदार्था अग्निहोत्रे तथापि वैदिकानि सर्वाण्येव कर्माण्यग्निहोत्रप्रभृतीनि लक्ष्यन्ते। दाराग्निसम्बद्धं हि पाङ्क्तं कर्म प्रस्तुत्योक्तम्—"कर्मणा पितृलोकः" (१।५।१६) इति। वक्ष्यति च—"अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति (६।२।१६) इति॥ ९॥

शरीरका आरम्भ कर्मप्रयुक्त ही है और कर्म आपसे सम्बन्ध रखता है। अतः शरीररचनामें 'आप' की प्रधानता है। इससे भी 'आपः पुरुषवाचः' ऐसा उल्लेख किया गया है। सभी जगह जन्मका आरम्भ कर्मके कारण ही है। वहाँ अग्निहोत्रके प्रकरणमें यद्यपि अग्निहोत्रकी आहुतियोंकी स्तुतिके द्वारा उत्क्रान्ति आदि छः पदार्थ प्रस्तुत किये गये हैं, तो भी उससे अग्निहोत्रादि सारे ही वैदिक कर्म लक्षित होते हैं। स्त्री और अग्निसे सम्बन्ध रखनेवाले पाङ्क्तकर्मका आरम्भ करके "कर्मसे पितृलोक प्राप्त होता है" ऐसा कहा गया है तथा आगे भी "जो यज्ञ, दान और तपसे लोकोंको जय करते हैं" ऐसा श्रुति कहेगी॥ ९॥

२—पर्जन्याग्नि

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्त-

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥ १० ॥

हे गौतम ! मेघ ही अग्नि है । संवत्सर ही उसका समिध् है, अभ्र धूम हैं, विद्युत् ज्वाला है, अशनि (इन्द्रका वज्र) अङ्गार है, मेघगर्जन विस्फुलिङ्ग है । उस इस अग्निमें देवगण सोम राजाको हवन करते हैं । उस आहुतिसे वृष्टि होती है ॥ १० ॥

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम द्वितीय आहुत्याधार आहुत्योरावृत्तिक्रमेण । पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवतात्मा, तस्य संवत्सर एव समित् —संवत्सरेण हि शरदादिभिर्ग्रीष्मान्तैः स्वावयवैर्विपरिवर्तमानेन पर्जन्योऽग्निर्दीप्यते ।

हे गौतम ! मेघ ही अग्नि है अर्थात् आहुतियोंकी आवृत्तिके क्रमसे द्वितीय आहुतिका आधार है । वृष्टिकी सामग्रीके अभिमानी देवताको पर्जन्य (मेघ) कहा गया है । उसका संवत्सर समिध् है । शरद्से लेकर ग्रीष्मपर्यन्त अपने अंशोंद्वारा विभिन्नरूपसे परिवर्तित होते हुए संवत्सरके द्वारा ही मेघरूप अग्नि दीप्त होता है ।

अभ्राणि धूमः, धूमप्रभवत्वाद् धूमवदुपलक्ष्यत्वाद्वा । विद्युदर्चिः, प्रकाशसामान्यात् । अशनिरङ्गाराः, उपशान्तत्वकाठिन्यसामान्याभ्याम् । ह्रादुनयो ह्रादुनयः स्तनयित्नुशब्दा विस्फुलिङ्गाः, विक्षेपानेकत्वसामान्यात् ।

अभ्र (बादल) धूम हैं; क्योंकि वे धूमसे उत्पन्न होते हैं अथवा धूमके समान दिखायी देते हैं । विद्युत् ज्वाला है; क्योंकि प्रकाशमें उनकी समानता है । उपशान्तत्व और कठिनतामें समानता होनेके कारण अशनि अङ्गारे हैं । 'ह्रादुनयः' अर्थात् मेघकी गर्जनाएँ विक्षेप और अनेकत्वमें समानता होनेके कारण विस्फुलिङ्ग हैं ।

तस्मिन्नेतस्मिन्नित्याहुत्यधिकरणनिर्देशः । देवा इति त एव

'उस इस (अग्नि) में' ऐसा कहकर आहुतिके अधिकरणका निर्देश किया गया है—देवगण अर्थात् वे

होतारः सोमं राजानं जुह्वति । योऽसौ द्युलोकाग्नौ श्रद्धायां हुतायामभिनिर्वृत्तः सोमः स द्वितीये पर्जन्याग्नौ हूयते; तस्याश्च सोमाहुतेर्वृष्टिः संभवति ॥ १० ॥

ही होतृगण सोम राजाको होमते हैं। जो यह द्युलोकाग्निमें श्रद्धाका हवन करनेपर निष्पन्न हुआ सोम था, उसीको इस द्वितीय पर्जन्य (मेघ) रूप अग्निमें होमा जाता है। उस सोमकी आहुतिसे वृष्टि होती है ॥ १० ॥

३-इहलोकाग्नि

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति ॥ ११ ॥

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है। इसकी पृथिवी ही समिध् है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवता वृष्टिको होमते हैं, उस आहुतिसे अन्न होता है ॥ ११ ॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम; अयं लोक इति प्राणिजन्मोपभोगाश्रयः क्रियाकारकफलविशिष्टः स तृतीयोऽग्निः; तस्याग्नेः पृथिव्येव समित्; पृथिव्या ह्ययं लोकोऽनेकप्राण्युपभोगसंपन्नया समिध्यते ।

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है। यह लोक अर्थात् प्राणियोंके जन्म और उपभोगका आश्रयभूत तथा क्रिया, कारक और फलसे युक्त ऐसा जो यह लोक है, वही तृतीय अग्नि है। उस अग्निका पृथिवी ही समिध् है। प्राणियोंके अनेकों उपभोगोंसे सम्पन्न इस पृथिवीसे ही यह लोक दीप्त होता है।

अग्निर्धूमः; पृथिव्याश्रयोत्थानसामान्यात्; पार्थिवं हीन्धनद्रव्यमाश्रित्याग्निरुत्तिष्ठति, यथा समिदाश्रयेण धूमः।

अग्नि धूम है; क्योंकि पृथिवीरूप आश्रयसे उठनेमें इनकी समानता है; क्योंकि पार्थिव ईंधन द्रव्यको आश्रय करके ही अग्नि उठती है, जिस प्रकार कि समिधूके आश्रयसे धूम उठता है।

रात्रिरर्चिः, समित्सम्बन्धप्रभवसामान्यात्, अग्नेः समित्सम्बन्धेन ह्यर्चिः संभवति। तथा पृथिवीसमित्सम्बन्धेन शर्वरी, पृथिवीछायां हि शार्वरं तम आचक्षते।

रात्रि ज्वाला है, समिधूके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेमें इनकी समानता है; क्योंकि अग्निसे समिधूका सम्बन्ध होनेसे ही ज्वाला उत्पन्न होती है और इसी प्रकार पृथिवीरूप समिधूके सम्बन्धसे रात्रि होती है; पृथिवीकी छायाको ही रात्रिका अन्धकार कहते हैं।

चन्द्रमा अङ्गाराः, तत्प्रभवत्वसामान्यात्। अर्चिषो ह्यङ्गाराः प्रभवन्ति तथा रात्रौ चन्द्रमा उपशान्तत्वसामान्याद् वा। नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः, विस्फुलिङ्गवद् विक्षेपसामान्यात्।

चन्द्रमा अङ्गार है; क्योंकि ज्वालासे उत्पन्न होनेमें इनकी समानता है। ज्वालासे ही अङ्गारे होते हैं, इसी प्रकार रात्रिमें चन्द्रमा होता है। अथवा उपशान्तत्वमें समानता होनेके कारण चन्द्रमा अङ्गार है। नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं, क्योंकि विस्फुलिङ्गोंके समान इधर-उधर बिखरे रहनेमें इनकी भी समानता है।

तस्मिन्नेतस्मिन्नित्यादि पूर्ववत्। वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं

'तस्मिन्नेतस्मिन्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है। इसमें वृष्टिको होमते हैं, उस आहुतिसे अन्न होता है;

संभवति; वृष्टिप्रभवत्वस्य प्रसिद्धत्वाद् व्रीहियवादेरन्नस्य ॥ ११ ॥

क्योंकि व्रीहि-यवादि अन्नका वृष्टिसे उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है ॥ ११ ॥

४—पुरुषाग्नि

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित् प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥ १२ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिध् है, प्राण धूम है, वाक् ज्वाला है, नेत्र अङ्गार हैं, श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवगण अन्नको होमते हैं। उस आहुतिसे वीर्य होता है ॥ १२ ॥

पुरुषो वा अग्निर्गौतम प्रसिद्धः शिरःपाण्यादिमान् पुरुषश्चतुर्थोऽग्निस्तस्य व्यात्तं विवृतं मुखं समित्; विवृतेन हि मुखेन दीप्यते पुरुषो वचनस्वाध्यायादौ; यथा समिधाग्निः। प्राणो धूमस्तदुत्थानसामान्यात्; मुखाद्धि प्राण उत्तिष्ठति। वाक्—शब्दोऽचिर्व्यञ्जकत्वसामान्यात्; अर्चिश्च व्यञ्जकम्, तथा वाक्शब्दोऽभिधेयव्यञ्जकः।

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। हाथ-पाँव आदि अवयवोंवाला प्रसिद्ध पुरुष ही चतुर्थ अग्नि है। उसका व्यात्त—खुला हुआ मुख ही समिध् है; क्योंकि खुले हुए मुखसे ही बोलने और स्वाध्यायादिमें पुरुष दीप्त होता (शोभा पाता) है, जिस प्रकार कि समिध्से अग्नि। ईंधनसे उठनेमें समानता होनेके कारण प्राण धूम है, क्योंकि मुखसे ही प्राण उठता है।

व्यञ्जकत्वमें समानता होनेके कारण वाक् यानी शब्द ज्वाला है। ज्वाला वस्तुको प्रकाशित करनेवाली होती है, इसी प्रकार वाक् अर्थात् शब्द भी वाच्यको अभिव्यक्त करनेवाला होता है।

चक्षुरङ्गाराः, उपशमसामान्यात् प्रकाशाश्रयत्वाद् वा। श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः, विक्षेपसामान्यात्। तस्मिन्नन्नं जुह्वति।

उपशममें समानता होनेके कारण अथवा प्रकाशके आश्रय होनेके कारण नेत्र अङ्गार हैं। विक्षेपमें समानता होनेके कारण श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। इस पुरुषरूप अग्निमें अन्न होम करते हैं।

ननु नैव देवा अन्नमिह जुह्वतो दृश्यन्ते ?

शङ्का—किंतु देवगण इसमें अन्न होम करते देखे तो नहीं जाते ?

नैष दोषः, प्राणानां देवत्वोपपत्तेः। अधिदैवमिन्द्रादयो देवास्त एवाध्यात्मं प्राणास्ते चान्नस्य पुरुषे प्रक्षेप्तारः।

समाधान—यह दोष नहीं है; क्योंकि प्राणोंको देव माना जा सकता है। जो अधिदेव इन्द्रादि देव हैं, वे ही अध्यात्म प्राण हैं, वे ही पुरुषमें अन्न डालनेवाले हैं।

तस्या आहुते रेतः संभवति; अन्नपरिणामो हि रेतः॥ १२॥

उस आहुतिसे वीर्य होता है; क्योंकि वीर्य अन्नका ही परिणाम है॥ १२॥

५-योषाग्नि

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते॥ १३॥

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिध् है, लोम धूम है, योनि ज्वाला है, जो भीतरको [मैथुनव्यापार] करता है, वह अङ्गार है, आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवगण वीर्य

होमते हैं, उस आहुतिसे पुरुष उत्पन्न होता है। वह जीवित रहता है। जबतक कर्म शेष रहते हैं, वह जीवित रहता है और जब मरता है ॥१३॥

योषा वा अग्निर्गौतम। योषेति स्त्री पञ्चमो होमाधिकरणोऽग्निस्तस्या उपस्थ एव समित्; तेन हि सा समिध्यते लोमानि धूमस्तदुत्थानसामान्यात्। योनिरर्चिर्वर्णसामान्यात्। यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अन्तःकरणं मैथुनव्यापारः तेऽङ्गारा वीर्योपशमहेतुत्वसामान्यात्-वीर्याद्युपशमकारणं मैथुनम्, तथाङ्गारभावोऽग्नेरुपशमकारणम्। अभिनन्दाः सुखलवाः, क्षुद्रत्वसामान्याद् विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन् रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेः पुरुषः संभवति।

हे गौतम! योषा ही अग्नि है। योषा अर्थात् स्त्री यह पाँचवाँ होमाधिकरणरूप अग्नि है। उपस्थ ही उसका समिध् है। उसीसे वह दीप्त होती है। समिध्से उठनेमें समानता होनेके कारण लोम ही धूम हैं। वर्णमें समानता होनेके कारण योनि ज्वाला है। जो अन्तः (भीतर) करता है, वह अङ्गार है। भीतर करना मैथुनव्यापार अङ्गार है; क्योंकि वीर्यके उपशमके हेतु होनेमें उनकी समानता है। मैथुन वीर्यादिके उपशमका कारण है, इसी प्रकार अङ्गारभाव अग्निके उपशमका कारण है। क्षुद्रत्वमें समानता होनेके कारण अभिनन्द—लेशमात्र सुख विस्फुलिङ्ग हैं। उस (योषाग्नि) में देवगण वीर्य होमते हैं। उस आहुतिसे पुरुष उत्पन्न होता है।

एवं द्युपर्जन्यायंलोकपुरुषयोषाग्निषु क्रमेण हूयमानाः श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोभावेन स्थूलतारतम्यक्रममापद्यमानाः श्रद्धाशब्दवाच्या आपः पुरुषशरीरमार-

इस प्रकार द्युलोक, मेघ, इहलोक, पुरुष और स्त्रीरूप अग्नियोंमें क्रमसे हवन किये गये श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्यरूपसे स्थूल तारतम्य क्रमको प्राप्त हुआ श्रद्धाशब्दवाच्य आपपुरुषशरीरको आरम्भ

न्ते। यः प्रश्नश्चतुर्थो वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति स एष निर्णीतः; पञ्चम्यामाहुतौ योषाग्नौ हुतायां रेतोभूता आपः पुरुषवाचो भवन्तीति।

स पुरुष एवं क्रमेण जातो जीवति। कियन्तं कालम् इत्युच्यते—यावज्जीवतियावदस्मिञ्छरीरे स्थितिनिमित्तं कर्म विद्यते तावदित्यर्थः, अथ तत्क्षये यदा यस्मिन् काले म्रियते ॥१३॥

करता है। 'क्या तू जानता है कि कितनी संख्यावाली आहुतिके हवन किये जानेपर आप पुरुषशब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है?' ऐसा जो चतुर्थ प्रश्न था, उसका यह निर्णय हो गया कि योषाग्निमें पाँचवीं आहुतिके हवन किये जानेपर वीर्यभूत आप पुरुषशब्दवाच्य होता है।

इस क्रमसे उत्पन्न हुआ वह पुरुष जीवित रहता है। कितने काल जीवित रहता है? सो बतलाया जाता है—'यावज्जीवति'—जबतक इस शरीरमें इसकी स्थितिके निमित्तभूत कर्म रहते हैं, तबतक जीवित रहता है—ऐसा इसका तात्पर्य है। फिर उनका क्षय होनेपर जब वह मरता है ॥ १३ ॥

प्रथम प्रश्नका उत्तर—अन्त्येष्टि संस्काररूप अन्तिम आहुति

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित् समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥ १४ ॥

तब इसे अग्निके पास ले जाते हैं। उस (आहुतिभूत पुरुष) का अग्नि ही अग्नि होता है, समिध् समिध् होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अङ्गारे अङ्गारे होते हैं और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं।

उस इस अग्निमें देवगण पुरुषको होमते हैं। उस आहुतिसे पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ १४ ॥

अथ तदैनं मृतमग्नयेऽन्त्यर्थमेवान्त्याहुत्यै हरन्ति ऋत्विजस्तस्याहुतिभूतस्य प्रसिद्धोऽग्निरेव होमाधिकरणं न परिकल्प्योऽग्निः। प्रसिद्धैव समित् समिद् धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गाविस्फुलिङ्गाः—यथाप्रसिद्धमेव सर्वमित्यर्थः।

तस्मिन् पुरुषमन्त्याहुतिं जुह्वति। तस्या आहुत्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णोऽतिशयदीप्तिमान्; निषेकादिभिरन्त्याहुत्यन्तैः कर्मभिः संस्कृतत्वात् संभवति निष्पद्यते ॥ १४ ॥

तब इस मृत पुरुषको 'अग्नये'—अग्निके ही लिये अन्तिम आहुतिके प्रयोजनसे ऋत्विग्गण ले जाते हैं। उस आहुतिभूत पुरुषका प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण होता है, कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिध् ही समिध् होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अङ्गारे अङ्गारे होते हैं और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं। तात्पर्य यह है कि ये सब जैसे प्रसिद्ध हैं वे ही होते हैं।

उसमें पुरुषरूप अन्तिम आहुतिको होम करते हैं। उस आहुतिसे पुरुष भास्वरवर्ण—अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है; गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितकके सम्पूर्ण कर्मोंसे संस्कारयुक्त होनेके कारण वह अतिशय दीप्तिमान् हो जाता है ॥ १४ ॥

पञ्चम प्रश्नका उत्तर—देवयानमार्गका वर्णन

इदानीं प्रथमप्रश्ननिराकरणार्थमाह—

अब प्रथम प्रश्नका निराकरण करनेके लिये राजा कहता है—

ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्ष-

मापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद् वैद्युतान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

वे जो [गृहस्थ] इस प्रकार इस [पञ्चाग्निविद्या] को जानते हैं तथा जो [संन्यासी या वानप्रस्थ] वनमें श्रद्धायुक्त होकर सत्य (ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं, वे ज्योतिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं, ज्योतिके अभिमानी देवताओंसे दिनके अभिमानी देवताको, दिनके अभिमानी देवतासे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर रहकर चलता है उन उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवताओंको [प्राप्त होते हैं,] षण्मासाभिमानी देवताओंसे देवलोकको, देवलोकसे आदित्यको और आदित्यसे विद्युत्सम्बन्धी देवताओंको प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवोंके पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकोंमें ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकोंमें अनन्त संवत्सरपर्यन्त रहते हैं! उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ १५ ॥

ते, के ? य एवं यथोक्तं पञ्चाग्निदर्शनमेतद् विदुः । एवंशब्दादग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गश्रद्धादिविशिष्टाः पञ्चाग्नयो निर्दिष्टाः, तानेवमेतान् पञ्चाग्नीन् विदुरित्यर्थः ।

नन्वग्निहोत्राहुतिदर्शनविषयमेवैतद् दर्शनम् । तत्र ह्युक्तमुत्क्रा-

वे, कौन ? जो इस प्रकार इस पञ्चाग्नि विद्याको जानते हैं। 'एवम्' शब्दसे अग्नि, समिध्, धूम, ज्वाला, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और श्रद्धादिविशिष्ट पाँचों अग्नियोंका निर्देश किया गया है। उन इन पाँच अग्नियोंको जो इस प्रकार जानते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है।

शङ्का[1]—किंतु यह दर्शन तो अग्निहोत्रकी आहुतियोंके दर्शनके विषयमें ही है। वहीं उत्क्रान्ति-

१. 'एवं' शब्द प्रकृत पञ्चाग्नियोंका ही परामर्श करता है—इस बातको स्पष्ट करनेके लिये यह शङ्का उठायी जाती है।

त्त्यादिपदार्थषट्कनिर्णये दिव-मेवाहवनीयं कुर्वीत इत्यादि । इहाप्यमुष्य लोकस्याग्नित्व-मादित्यस्य च समित्त्वमित्यादि बहुसाम्यम् । तस्मात्तच्छेषमेवै-तद्दर्शनमिति ।

न, यतिथ्यामिति प्रश्नप्रति-वचनपरिग्रहात् । यतिथ्या-मित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य यावदेव परिग्रहस्तावदेवैवं शब्देन परामष्टुं युक्तम्; अन्यथा प्रश्नानर्थक्यात्त्विज्ञातत्वाच्च संख्याया अग्नय एव वक्तव्याः।

अथ निर्ज्ञातमप्यनूद्यते ।

यथाप्राप्तस्यैवानुवदनं युक्तं न त्वसौ लोकोऽग्निरिति ।

आदि छः पदार्थोंका निर्णय करते हुए 'द्युलोकको ही आहवनीय करते हैं' इत्यादि कहा गया है । यहाँ भी उस द्युलोकका अग्नित्व और आदित्यका समित्त्व इत्यादि उससे बहुत कुछ साम्य है; अतः यह विद्या उस अग्निहोत्राहुतिदर्शनका ही शेष है ।

समाधान-नहीं, क्योंकि इस ('एवं' शब्द) से 'यतिथ्याम्' इत्यादि प्रश्न और उसका उत्तर ग्रहण किये गये हैं । 'यतिथ्याम्' इत्यादि प्रश्न और उत्तरका जितना भी परिग्रह है, उतना ही 'एवम्' शब्दसे परामर्श करना उचित है, नहीं तो यह प्रश्न व्यर्थ हो जायगा, तथा अग्निहोत्र-सम्बन्धी पदार्थोंकी संख्या तो अच्छी तरहसे ज्ञात ही है, इसलिये अग्नियोंका ही निर्देश करना उचित है ।

शङ्का-अच्छी तरहसे ज्ञात विषय-का भी तो अनुवाद किया जाता है।

समाधान-अनुवाद तो जो पदार्थ जैसा प्राप्त है, उसका उसी प्रकार करना उचित होता है, ऐसा नहीं कि वह द्युलोक अग्नि है ।[1]

---

१. क्योंकि वास्तवमें तो द्युलोक अग्नि है नहीं; इसलिये यह अग्निके स्वरूप-का अनुवाद नहीं हो सकता । यहाँ तो द्युलोकमें अग्निदृष्टि ही विवक्षित है ।

अथोपलक्षणार्थः ।

तथाप्याद्येनान्त्येन चोपलक्षणं युक्तम् ।

श्रुत्यन्तराच्च—समाने हि प्रकरणे छान्दोग्यश्रुतौ 'पञ्चाग्नीन् वेद' इति पञ्चसंख्याया एवोपादानादनग्निहोत्रशेषमेतत् पञ्चाग्निदर्शनम् । यत्त्वग्निसमिदादिसामान्यं तदग्निहोत्रस्तुत्यर्थमित्यवोचाम । तस्मान्नोत्क्रान्त्यादिपदार्थषट्कपरिज्ञानादर्चिरादिप्रतिपत्तिः । एवमिति प्रकृतोपादानेनार्चिरादिप्रतिपत्तिविधानात् ।

के पुनस्ते य एवं विदुर्गृहस्था एव । ननु तेषां यज्ञादिसाधनेन धूमादिप्रतिपत्तिर्विधित्सिता । न, अनेवंविदामपि गृहस्थानां यज्ञादि-

शङ्का—यह द्युलोकादिवाद अन्तरिक्षादिके उपलक्षणके लिये हो सकता है ।

समाधान—तब भी या तो आरम्भके अथवा अन्तके पर्यायसे उपलक्षण होना उचित है ।[1]

श्रुत्यन्तरसे भी यही बात सिद्ध होती है । इसीके समान प्रकरणमें छान्दोग्य-श्रुतिमें 'पञ्चाग्नीन् वेद' इस प्रकार 'पाँच' संख्याका ही ग्रहण करनेके कारण यह पञ्चाग्नि-दर्शन अग्निहोत्रका शेष नहीं हो सकता । तथा इसका जो अग्नि और समिधादिरूप साम्य है, वह तो अग्निहोत्रकी स्तुतिके लिये है—ऐसा हम कह चुके हैं । अतः उत्क्रान्ति आदि छः पदार्थोंके ज्ञानसे ही अर्चि आदि मार्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँ 'एवम्' इस शब्दसे प्रकृतिके ग्रहणद्वारा अर्चि आदि मार्गकी प्राप्तिका विधान किया गया है ।

किंतु जो इस प्रकार जानते हैं, वे कौन हैं ? केवल गृहस्थ । [शङ्का—] किंतु उनके लिये तो यज्ञादि साधनके द्वारा धूमादि-मार्गकी प्राप्तिका विधान करना है । [उत्तर—] नहीं, क्योंकि जो गृहस्थ इस प्रकार जाननेवाले नहीं हैं, उनके लिये भी

१. पाँच पर्यायों (पञ्चाग्नियों) का वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ।

साधनोपपत्तेः; भिक्षुवानप्रस्थयोश्चारण्यसम्बन्धेन ग्रहणात्, गृहस्थकर्मसंबद्धत्वाच्च पञ्चाग्निदर्शनस्य। अतो नापि ब्रह्मचारिण एवं विदुरिति गृह्यन्ते, तेषां तूत्तरे पथि प्रवेशः स्मृतिप्रामाण्यात्—

"अष्टाशीतिसहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम्। उत्तरेणार्यम्णः पन्थास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" इति।

तस्माद् ये गृहस्था एवमग्निजोऽहमग्न्यपत्यमित्येवं क्रमेणाग्निभ्यो जातोऽग्निरूप इत्येवं ये विदुस्ते च ये चामी अरण्ये वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्चारण्यनित्याः श्रद्धां श्रद्धायुक्ताः सन्तः सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मानमुपासते न पुनः श्रद्धां चोपासते ते सर्वेऽर्चिरभिसंभवन्ति।

यावद् गृहस्थाः पञ्चाग्निविद्यां सत्यं वा ब्रह्म न विदुस्तावच्छ्रद्धाद्या-

यज्ञादि साधन हो सकते हैं, तथा संन्यासी और वानप्रस्थका अरण्यके सम्वन्धसे ग्रहण किया गया है, इसके सिवा पञ्चाग्निदर्शनका सम्बन्ध भी गृहस्थके ही कर्मसे है। अतः 'एवं विदुः' इस वाक्यसे ब्रह्मचारी भी ग्रहण नहीं किये जा सकते। उनका तो इस स्मृतिके प्रमाणसे उत्तरमार्गमें प्रवेश होता है—

"अट्ठासी सहस्र ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) ऋषियोंका मार्ग सूर्यके उत्तरकी ओर है; वे आपेक्षिक अमृतत्वको ही प्राप्त करते हैं।"

इसलिये जो गृहस्थ इस प्रकार 'मैं अग्निज—अग्निका पुत्र हूँ, इस तरह क्रमशः अग्नियोंसे उत्पन्न हुआ अग्निरूप ही हूँ'—ऐसा जानते हैं, वे और जो ये वनमें—निरन्तर वनमें रहनेवाले वानप्रस्थ और संन्यासी 'श्रद्धाम्'—श्रद्धायुक्त होकर सत्य—ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं, 'श्रद्धाम्' शब्दसे श्रद्धाकी उपासना करते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये, वे सब अर्चिरादिमार्गको प्राप्त होते हैं।

जबतक गृहस्थलोग पञ्चाग्निविद्या अथवा सत्य ब्रह्मको नहीं जानते, तबतक वे श्रद्धादि आहुतियोंके क्रमसे

हुतिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां ततो योषाग्नेर्जाताः पुनर्लोकं प्रत्युत्थायिनोऽग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठातारो भवन्ति । तेन कर्मणा धूमादिक्रमेण पुनः पितृलोकं पुनः पर्जन्यादिक्रमेणेमभावर्तन्ते । ततः पुनर्योषाग्नेर्जाताः पुनः कर्म कुर्वत्येवमेव घटीयन्त्रवद् गत्यागतिभ्यां पुनः पुनरावर्तन्ते ।

पाँचवीं आहुतिके हवन किये जानेपर उससे स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होकर फिर लोकमें उत्थान करनेवाले होकर अग्निहोत्रादि कर्मका अनुष्ठान करनेवाले होते हैं। उस कर्मके द्वारा वे धूमादि क्रमसे पुनः पितृलोकमें जाते हैं और पर्जन्यादि क्रमसे पुनः इस लोकमें लौट आते हैं। उससे [पुनः स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होकर फिर कर्म करके [पितृलोकमें जाते हैं]। इस प्रकार घटीयन्त्र (रहट) के सदृश गमनागमनद्वारा बारम्बार जाते-आते रहते हैं।

यदा त्वेवं विदुस्ततो घटीयन्त्रभ्रमणाद् विनिर्मुक्ताः सन्तोऽर्चिरभिसंभवन्ति । अर्चिरिति नाग्निज्वालामात्रम्, किं तर्हि ? अर्चिरभिमानिन्यर्चिःशब्दवाच्या देवतोत्तरमार्गलक्षणा व्यवस्थितैव तामभिसंभवन्ति। न हि परिव्राजकानामग्न्यर्चिषैव साक्षात्सम्बन्धोऽस्ति। तेन देवतैव परिगृह्यतेऽर्चिःशब्दवाच्या ।

किंतु जब वे ऐसा जानते हैं, तो इस घटीयन्त्रके समान चक्कर काटनेसे छूटकर अर्चिको प्राप्त होते हैं। यह अर्चि भी अग्निकी ज्वालामात्र नहीं है; तो क्या है ? अर्चिके अभिमानी अर्चिशब्दवाच्य देवता है, जो उत्तरमार्गरूप और स्थिर ही हैं, उन्हें ये प्राप्त होते हैं। परिव्राजकोंका तो अग्निकी अर्चि (ज्वाला) से साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है, इसलिये यहाँ अर्चिशब्दवाच्य देवता ही ग्रहण किये जाते हैं।

अतोऽहर्देवताम्; मरणकालनियमानुपपत्तेरहःशब्दोऽपि देव-

यहाँसे वे अहर्देवता (दिनाभिमानी देवता) को प्राप्त होते हैं। मरणकालका कोई नियम नहीं हो सकता, इसलिये अहःशब्दसे भी

नैव। आयुषः क्षये हि मरणम्, न ह्येवंविदाहन्येव मर्तव्यमित्यहर्मरणकालो नियन्तुं शक्यते। न च रात्रौ प्रेताः सन्तोऽहः प्रतीक्षन्ते; "स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति" (छा० उ० ८। ६। ५) इति श्रुत्यन्तरात्।

अह्न आपूर्यमाणपक्षमहर्देवतयातिवाहिता आपूर्यमाणपक्षदेवतां प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतामित्येतत्। आपूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङुत्तरां दिशमादित्यः सवितेति तान् मासान् प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतयातिवाहिताः सन्तः। मासानिति बहुवचनात् संघचारिण्यः षडुत्तरायणदेवताः।

देवता ही अभिप्रेत हैं [साक्षात् दिन नहीं] आयुके क्षीण होनेपर ही मरण होता है, इस पञ्चाग्नि-उपासकको दिनमें ही मरना चाहिये-इस प्रकार उसके लिये दिनरूप मरणकालका नियम नहीं किया जा सकता। रात्रिमें मरे हुए उपासक [आगे जानेके लिये] दिनकी प्रतीक्षा करते हों-ऐसी बात भी नहीं है "जितनी देरमें मन आदित्यके पास जाता है, उतनी ही देरमें यह आदित्यलोकमें पहुँच जाता है" इस अन्य श्रुतिसे यही सिद्ध होता है।

'अह्न आपूर्यमाणपक्षम्'-अहर्देवतासे ऊपर ले जाये जानेपर वे आपूर्यमाणपक्षदेवताको अर्थात् शुक्लपक्षदेवताको प्राप्त होते हैं। आपूर्यमाणपक्षदेवतासे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलता है, उन मासोंको, शुक्लपक्षदेवताद्वारा अपने अधिकारसे बाहर ऊपर पहुँचाये जानेपर, प्राप्त होते हैं।' 'मासान्' ऐसा बहुवचन होनेके कारण छः उत्तरायण-देवता संघचारी (मिलकर रहनेवाले) हैं।

तेभ्यो मासेभ्यः षण्मासदेवताभिरतिवाहिता देवलोकाभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते। देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं विद्युदभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते। विद्युद्देवतां प्राप्तान् ब्रह्मलोकवासी पुरुषो ब्रह्मणा मनसा सृष्टो मानसः कश्चिदेत्यागत्य ब्रह्मलोकान् गमयति।

उन मासोंसे अर्थात् छः मास-देवताओंसे ऊपर ले जाये जानेपर वे देवलोकाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। देवलोकसे आदित्यको और आदित्यसे वैद्युत-विद्युदभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। विद्युद्देवताको प्राप्त हुए इन उपासकोंको ब्रह्माके द्वारा मनसे रचा हुआ कोई ब्रह्मलोकवासी मानस पुरुष आकर ब्रह्मलोकोंको ले जाता है।

ब्रह्मलोका नित्यधरोत्तरभूमिभेदेन भिन्ना इति गम्यन्ते, बहुवचनप्रयोगात्; उपासनतारतम्योपपत्तेश्च; ते तेन पुरुषेण गमिताः सन्तस्तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सरानेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसारे न पुनरागमनमिहेति शाखान्तरपाठात्।

'ब्रह्मलोकान्' ऐसा बहुवचन-प्रयोग होनेसे ज्ञात होता है कि नीचे-ऊपरकी भूमिके भेदसे ब्रह्मलोकोंमें भेद है। उपासनाके तारतम्यसे भी ऐसा भेद होना सम्भव है। उस पुरुषके द्वारा पहुँचाये हुए उन लोकोंमें वे स्वयं 'पराः'-प्रकृष्ट होकर 'परावतः' प्रकृष्ट संवत्सर अर्थात् अनेक वर्षतक रहते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्माके अनेकों कल्पपर्यन्त रहते हैं। उन ब्रह्मलोकको गये हुए पुरुषोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् इस संसारमें पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि 'इह न पुनरावृत्तिः' ऐसा दूसरी शाखाका पाठ है।

इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति चेच्छ्वोभूते पौर्णमासीमिति यद्वत्।

पूर्व०—किंतु 'इह' पदसे तो आकृतिमात्रका ग्रहण होता है अर्थात् केवल इसी संसारका नहीं, सामान्यतः सभी कल्पके संसारका ग्रहण होता है। जैसे 'प्रातःकाल होनेपर पौर्णमास याग करे' इस वाक्यमें सामान्यतः सभी प्रातःकालका ग्रहण होता है।

न, इहेति विशेषणानर्थक्यात्। यदि हि नावर्तन्त एवेहग्रहणमनर्थकमेव स्यात्। श्वोभूते पौर्णमासीमित्यत्र पौर्णमास्याः श्वोभूतत्वमनुक्तं न ज्ञायत इति युक्तं विशेषयितुम्। न हि तत्र श्वआकृतिः शब्दार्थो विद्यत इति श्वःशब्दो निरर्थक एव प्रयुज्यते; यत्र तु विशेषणशब्दे प्रयुक्तेऽन्विष्यमाणे विशेषणफलं चेन्न गम्यते

सिद्धान्ती-नहीं; ऐसा माननेसे 'इह' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा। यदि उनकी कभी पुनरावृत्ति होती ही नहीं, तो 'इह' (इस कल्पके संसारमें) यह विशेषण निरर्थक ही होगा।[1] 'प्रातःकाल होनेपर पौर्णमास याग करे' इस वाक्यमें तो 'प्रातःकाल' यह विशेषण यदि शब्दतः कहा न जाय, तो अपने-आप उसका ज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये वहाँ विशेषण लगाना उचित ही है। यदि वहाँ भी श्वः (प्रभात) का शब्दार्थ सामान्यतः प्रभातकाल मात्र न हो तो 'श्व' शब्दका प्रयोग भी निरर्थक ही समझा जायगा। जहाँ विशेषण शब्दका प्रयोग तो हो, पर खोजनेसे उसका कोई फल न प्रतीत हो,

१. क्योंकि पुनरावृत्ति संसारमें ही होती है, अतः 'इह' पदका प्रयोग किये बिना भी उसका बोध हो जाता।

अत्र युक्तो निरर्थकत्वेनोत्स्रष्टुं विशेषणशब्दो न तु सत्यां विशेषणफलावगतौ । तस्मादस्मात् कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते ॥ १५ ॥

वहाँ व्यर्थ होनेके कारण उस विशेषणका परित्याग कर देना ही उचित है, विशेषणके फलका बोध होनेपर उसको त्यागना उचित नहीं है । इसलिये ['इस संसारमें' ऐसा विशेषण लगानेके कारण] यह सूचित होता है कि इस कल्पके बाद उसकी पुनरावृत्ति हो सकती है ॥ १५ ॥[1]

धूमयानमार्गका वर्णन तथा द्वितीय और तृतीय प्रश्नका उत्तर

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिँ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद् यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताँस्तत्र देवा यथा सोमँ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाँस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत् पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद् वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान् प्रत्युत्थायिनस्त

१. यहाँ जो ब्रह्मलोकसे पुनरागमनकी बात कही है, उससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे फिर संसारबन्धनमें पड़ जाते हैं । उनका पुनरागमन भगवत्प्रेरणासे विश्वकी प्रवृत्तिका नियन्त्रण और संचालन करनेके लिये अथवा भगवान्‌की अवतार-लीलाओंके परिकररूपसे होता है । वे जन्म लेकर भी मुक्त ही रहते हैं । नारद, वसिष्ठ और अर्जुन आदि महात्मा एवं भगवत्पार्षद इसी कोटिमें कहे जा सकते हैं । इनका जन्म कर्मबन्धनसे नहीं होता, बल्कि भगवत्कार्यके संचालनके लिये होता है ।

एवमेवानुपरिवर्तन्ते अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

और जो यज्ञ, दान, तपके द्वारा लोकोंको जीतते हैं, वे धूम (धूमाभिमानी देवता) को प्राप्त होते हैं। धूमसे रात्रिदेवताको, रात्रिसे अपक्षीयमाण पक्ष (कृष्णपक्षाभिमानी देवता) को, अपक्षीयमाण पक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणकी ओर होकर जाता है, उन छः मासके देवताओंको, छः मासके देवताओंसे पितृलोकको और पितृलोकसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। चन्द्रमामें पहुँचकर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विग्गण सोम राजाको 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' ऐसा कहकर चमसमें भरकर पी जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे इस आकाशको ही प्राप्त होते हैं। आकाशसे वायुको, वायुसे वृष्टिको और वृष्टिसे पृथिवीको प्राप्त होते हैं। पृथिवीको प्राप्त होकर वे अन्न हो जाते हैं। फिर वे पुरुषरूप अग्निमें हवन किये जाते हैं। उससे वे लोकके प्रति उत्थान करनेवाले होकर स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होते हैं। वे इसी प्रकार पुनः-पुनः परिवर्तित होते रहते हैं और जो इन दोनों मार्गोंको नहीं जानते, वे कीट, पतंग और डाँस-मच्छर आदि होते हैं ॥ १६ ॥

अथ पुनर्ये नैवंविदुरुत्क्रान्त्याद्यग्निहोत्रसम्बन्धपदार्थषट्कस्यैव वेदितारःकेवलकर्मिणो यज्ञेनाग्निहोत्रादिना दानेन बहिर्वेदि भिक्षमाणेषु द्रव्यसंविभागलक्षणेन तपसा बहिर्वेद्येव दीक्षादिव्यतिरिक्तेन कृच्छ्रचान्द्रायणादिना लोकाञ्जयन्ति, लोकानिति बहुवचनात्तत्रापि फलतारतम्यमभिप्रेतम्,

और जो इस प्रकार नहीं जानते, उत्क्रान्ति आदि अग्निहोत्र-सम्बन्धी छः पदार्थोंको ही जाननेवाले केवल कर्मी हैं; तथा अग्निहोत्रादि यज्ञ, वेदीसे बाहर भिक्षा माँगनेवालोंको द्रव्य बाँटनारूप दान एवं वेदीके बाहर ही दीक्षादिसे अतिरिक्त कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूप तपके द्वारा लोकोंको जीतते हैं, 'लोकान्' ऐसा बहुवचन होनेके कारण वहाँ भी फलका तारतम्य माना गया है,

ते धूममभिसम्भवन्ति । उत्तरमार्ग इवेहापि देवता एव धूमादिशब्दवाच्याः, धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । आतिवाहिकत्वं च देवतानां तद्वदेव ।

वे धूमको प्राप्त होते हैं। उत्तरमार्गके समान यहाँ भी देवता ही धूमादिशब्दवाच्य हैं, तात्पर्य यह है कि वे धूमदेवताको प्राप्त होते हैं। इन देवताओंकी आतिवाहिकता भी उन्हीं (उत्तरमार्गीय देवताओं) के समान है।

धूमाद् रात्रिं रात्रिदेवतां ततोऽपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षदेवतां ततो यान् षण्मासान् दक्षिणां दिशमादित्य एति तान् मासदेवताविशेषान् प्रतिपद्यन्ते । मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रम् । ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्रान्नभूतान् यथा सोमं राजानमिह यज्ञे ऋत्विज आप्यायस्वापक्षीयस्वेति भक्षयन्त्येवमेनांश्चन्द्रं प्राप्तान् कर्मिणो भृत्यानिव स्वामिनो भक्षयन्त्युपभुञ्जते देवाः ।

धूमसे रात्रि अर्थात् रात्रिदेवताको, वहाँसे कृष्णपक्ष यानी कृष्णपक्षाभिमानी देवताको और वहाँसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणदिशामें होकर चलता है, उन मासदेवताविशेषोंको प्राप्त होते हैं। मासदेवताओंसे पितृलोकको और पितृलोकसे चन्द्रमाको जाते हैं। उस चन्द्रमामें पहुँचकर वे अन्न हो जाते हैं। 'तांस्तत्र अन्नभूतान्'—जिस प्रकार यहाँ यज्ञमें ऋत्विज् लोग 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' ऐसा कहकर सोम राजाको भक्षण करते हैं, इसी प्रकार चन्द्रमाको प्राप्त हुए इन अन्नभूत कर्मियोंको, स्वामी जिस प्रकार सेवकोंसे सेवा कराते हैं, उसी प्रकार देवतालोग भक्षण करते अर्थात् उनका उपभोग करते हैं।

आप्यायस्वापक्षीयस्वेति न मन्त्रः किं तर्हि? आप्याय्याप्याय्य

'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' यह कोई मन्त्र नहीं है; तो फिर क्या है? तात्पर्य यह है कि सोमको चमसमें

चमसस्थं भक्षणेनापक्षयं च कृत्वा पुनः पुनर्भक्षयन्तीत्यर्थः। एवं देवा अपि सोमलोके लब्धशरीरान् कर्मिण उपकरणभूतान् पुनः पुनर्विश्रामयन्तः कर्मानुरूपं फलं प्रयच्छन्तः, तद्धि तेषामाप्यायनं सोमस्याप्यायनमिवोपभुञ्जत उपकरणभूतान् देवाः।

तेषां कर्मिणां यदा यस्मिन् काले तद् यज्ञदानादिलक्षणं सोमलोकप्रापकं कर्म पर्यवैति परिगच्छति परिक्षीयत इत्यर्थः, अथ तदेममेव प्रसिद्धमाकाशमभिनिष्पद्यन्ते। यास्ताः श्रद्धाशब्दवाच्या द्युलोकाग्नौ हुता आपः सोमाकारपरिणता याभिः सोमलोके कर्मिणामुपभोगाय शरीरमारब्धमम्मयं ताः कर्मक्षयाद्धिमपिण्ड इवातपसम्पर्कात् प्रविलीयन्ते। प्रविलीनाः सूक्ष्मा

'आप्यायस्व आप्यायस्व' भर-भरकर उसका भक्षणके द्वारा अपक्षय करके पुनः-पुनः भक्षण करते हैं। इसी प्रकार जिन्हें चन्द्रलोकमें शरीर प्राप्त हुआ है, उन अपने उपकरणभूत कर्मियोंको देवता भी पुनः-पुनः विश्राम देते हुए—उन्हें कर्मानुरूप फल देते हुए, क्योंकि सोमके आप्यायनके समान यही उनका आप्यायन है—इस प्रकार [आप्यायन करके] उन अपने उपकरणभूत कर्मठोंका देवगण उपभोग (उपयोग) करते हैं।

जब अर्थात् जिस समय उन कर्मियोंका उन्हें सोमलोककी प्राप्ति करानेवाला यज्ञ-दानादिरूप कर्म 'पर्यवैति'—सब ओरसे चला जाता अर्थात् परिक्षीण हो जाता है तो फिर वे इस प्रसिद्ध आकाशको ही अभिनिष्पन्न हो जाते हैं। जो कि वह द्युलोकाग्निमें हवन किया हुआ श्रद्धाशब्दवाच्य आप सोमके आकारमें परिणत हुआ रहता है, जिसके द्वारा सोमलोकमें कर्मियोंका जलमय शरीर आरम्भ किया जाता है, वह आप कर्मोंका क्षय होनेपर, घामके सम्पर्कसे बर्फके डलेके समान, पिघल जाता है। वह पिघलकर सूक्ष्म अर्थात्

आकाशभूता इव भवन्ति । तदिदमुच्यत इममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त इति ।

ते पुनरपि कर्मिणस्तच्छरीराः सन्तः पुरोवातादिना इतश्चामुतश्च नीयन्तेऽन्तरिक्षगास्तदाह—आकाशाद् वायुमिति । वायोर्वृष्टिं प्रतिपद्यन्ते; तदुक्तम्—पर्जन्याग्नौ सोमं राजानं जुह्वतीति । ततो वृष्टिभूता इमां पृथिवीं पतन्ति । ते पृथिवीं प्राप्य व्रीहियवाद्यन्नं भवन्ति, तदुक्तमस्मिँल्लोकेऽग्नौ वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं सम्भवतीति ।

ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्तेऽन्नभूता रेतस्सिचि; ततो रेतोभूता योषाग्नौ हूयन्ते; ततो जायन्ते लोकं प्रत्युत्थायिनस्ते लोकं प्रत्युत्तिष्ठन्तोऽग्निहोत्रादिकर्मानुतिष्ठन्ति । ततो धूमादिना पुनः पुनः सोमलोकं पुनरिमं लोक-

आकाशभूत-सा हो जाता है। इसीसे यह कहा जाता है कि वे इस प्रसिद्ध आकाशको ही अभिनिष्पन्न होते हैं।

वे आकाशशरीर हुए कर्मी फिर भी पूर्व वायु आदिसे अन्तरिक्षमें इधर-उधर ले जाये जाते हैं, इसीसे श्रुति कहती है—'आकाशसे वायुको प्राप्त होते है।' 'वायुसे वृष्टिको प्राप्त होते हैं', इसीसे ऊपर कहा है—'देवगण पर्जन्याग्निमें सोम राजाको हवन करते हैं।' वहाँसे वे वृष्टिरूप होकर पृथिवीपर गिरते हैं। पृथिवीपर पहुँचकर वे व्रीहि एवं यवादि अन्न हो जाते हैं, इसीसे कहा है—'देवतालोग इस लोकरूप अग्निमें वृष्टिको होमते हैं, उस आहुतिसे अन्न होता है।'

अन्न होनेपर वे वीर्याधान करनेवाले पुरुषरूप अग्निमें हवन किये जाते हैं; फिर वीर्यरूप हुए स्त्रीरूप अग्निमें होम किये जाते हैं; तदनन्तर वे परलोकगमनके लिये उद्यत होकर जन्म लेते हैं, वे परलोकके प्रति उद्यत होकर अग्निहोत्रादि कर्मका अनुष्ठान करते हैं। फिर धूमादिके क्रमसे पुनः-पुनः सोमलोकको और पुनः इस लोकको

मिति। त एवं कर्मिणोऽनुपरिवर्तन्ते घटीयन्त्रवच्चक्रीभूता बंभ्रमतीत्यर्थः—उत्तरमार्गाय सद्योमुक्तये वा यावद् ब्रह्म न विदुः। "इति नु कामयमानः संसरति" इत्युक्तम्।

प्राप्त होते रहते हैं। वे कर्मीलोग इस प्रकार निरन्तर आते-जाते रहते हैं अर्थात् घटीयन्त्रके समान चक्राकार होकर घूमते रहते हैं, जबतक वे ब्रह्मको नहीं जानते तबतक उत्तरमार्ग अथवा सद्योमुक्तिके लिये इसी प्रकार भ्रमते रहते हैं। [चतुर्थ अध्यायमें] 'कामना करनेवाला इस प्रकार संसरित होता रहता है' ऐसा कहा भी है।

अथ पुनर्ये उत्तरं दक्षिणं चैतौ पन्थानौ न विदुरुत्तरस्य दक्षिणस्य वा पथः प्रतिपत्तये ज्ञानं कर्म वा नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः। ते किं भवन्ति? इत्युच्यते—ते कीटाः पतङ्गा यदिदं यच्चेदं दन्दशूकं दंशमशकमित्येतद् भवन्ति। एवं हीयं संसारगतिः कष्टा, अस्यां निमग्नस्य पुनरुद्धार एव दुर्लभः; तथा च श्रुत्यन्तरम् — "तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व" (छा० उ० ५। १०। ८) इति।

और जो उत्तर या दक्षिण—इन दोनों ही मार्गोंको नहीं जानते, अर्थात् उत्तर या दक्षिण मार्गकी प्राप्तिके लिये ज्ञान अथवा कर्मका अनुष्ठान नहीं करते, वे क्या होते हैं, सो कहा जाता है। वे कीट, पतंग और जो ये दन्दशूक अर्थात् डाँस और मच्छर आदि हैं, होते हैं। इस प्रकार यह संसारगति बड़ी कष्टमयी है। इसमें डूबे हुएका पुनः उद्धार होना ही दुर्लभ है। ऐसी ही एक अन्य श्रुति भी है—"वे ये क्षुद्र और निरन्तर आने-जानेवाले जीव होते हैं, जन्म लो और मर जाओ [—ऐसा उनका तीसरा स्थान होता है]।"

तस्मात् सर्वोत्साहेन यथाशक्ति स्वाभाविककर्मज्ञानहानेन दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं शास्त्रीयं कर्म ज्ञानं वानुतिष्ठे-

अतः स्वाभाविक कर्म और ज्ञानको छोड़कर पूर्ण उत्साहके साथ यथाशक्ति दक्षिण और उत्तरमार्गोंकी प्राप्तिके साधनभूत शास्त्रीय कर्म और

दिति वाक्यार्थः। तथा चोक्तम्—"अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" (छा० उ० ५। १०। ६) "तस्माज्जुगुप्सेत" (छा० उ० ५। १०। ८) इति श्रुत्यन्तरान्मोक्षाय प्रयतेतेत्यर्थः। अत्राप्युत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधन एव महान् यत्नः कर्तव्य इति गम्यते। एवमेवानुपरिवर्तन्त इत्युक्तत्वात्।

एवं प्रश्नाः सर्वे निर्णीताः; 'असौ वै लोकः' इत्यारभ्य पुरुषः सम्भवति' इति चतुर्थः प्रश्नः 'यतिथ्यामाहुत्याम्' इत्यादिः प्राथम्येन। पञ्चमस्तु द्वितीयत्वेन देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वेति दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनकथनेन। तेनैव च प्रथमोऽपि। अग्नेरारभ्य केचिदर्चिः प्रति-

शास्त्रीय ज्ञान (उपासना) का अनुष्ठान करे—ऐसा इस वाक्यका तात्पर्य है। ऐसा ही कहा भी है—"अतः इस व्रीहि-यवादिभावसे छूटना बड़ा कठिन है" "इसलिये इससे बचता रहे" इन दूसरी श्रुतियोंसे तात्पर्य यही है कि मोक्षके लिये प्रयत्न करे। उनमें भी उत्तर-मार्गकी प्राप्तिके साधनमें ही महान् यत्न करना चाहिये—ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि [धूमादि मार्गके विषयमें] यह कहा गया है कि 'वे इस प्रकार निरन्तर आते-जाते रहते हैं।'

इस प्रकार सब प्रश्नोंका निर्णय हो गया। 'असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम' यहाँसे लेकर 'पुरुषः सम्भवति' इस स्थलतक 'यतिथ्यामाहुत्याम्' इत्यादि चतुर्थ प्रश्नका पहले उत्तर दिया गया है। 'देवयान-मार्गकी प्राप्तिका साधन तथा पितृयानका साधन क्या है ? इस पञ्चम प्रश्नका दक्षिण और उत्तर मार्गकी प्राप्तिके साधन बतलाकर द्वितीय उत्तर-द्वारा निर्णय किया है। उसीसे प्रथम प्रश्न[1]का भी उत्तर हो जाता है। [अन्त्येष्टि-संस्कारके समय] अग्निमें डाले जानेपर फिर वहाँसे कोई अर्चिरादि मार्गको प्राप्त

१. पहला प्रश्न था 'क्या तू जानता है कि यह प्रजा मरकर किस प्रकार विभिन्न मार्गोंको प्राप्त होती है ?' उसका किस प्रकार निर्णय हुआ है—यह इस वाक्यसे बतलाया जाता है।

पद्यन्ते केचिद् धूममिति विप्रतिपत्तिः। पुनरावृत्तिश्च द्वितीयः प्रश्न आकाशादिक्रमेणेमं लोकमागच्छन्तीति। तेनैवासौ लोको न सम्पूर्यते कीटपतङ्गादिप्रतिपत्तेश्च केषांचिदिति तृतीयोऽपि प्रश्नो निर्णीतः ॥ १६ ॥

होते हैं और कोई धूमादिमार्गको—इस प्रकार उन्हें विभिन्न मार्गोंकी प्राप्ति होती है। पुनरावृत्ति दूसरा प्रश्न है; उसका 'आकाशादि क्रमसे इस लोकमें आते हैं'—इस प्रकार निर्णय किया गया है। इसीसे परलोक भरता नहीं है तथा कुछ कीट-पतंगादि योनियोंको प्राप्त हो जाते हैं—इसलिये भी वह नहीं भरता—इस प्रकार तीसरे प्रश्नका भी निर्णय हो गया है ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्याये द्वितीयं कर्मविपाकब्राह्मणम् ॥२॥

तृतीय ब्राह्मण

श्रीमन्थकर्म और उसकी विधि

स यः कामयेत—ज्ञानकर्मणोर्गतिरुक्ता। तत्र ज्ञानं स्वतन्त्रं कर्म तु दैवमानुषवित्तद्वयायत्तं तेन कर्मार्थं वित्तमुपार्जनीयम्। तच्चाप्रत्यवायकारिणोपायेनेति तदर्थं

'स यः कामयेत'—ज्ञान और कर्मकी गति बतला दी गयी। इनमें ज्ञान स्वतन्त्र है, किंतु कर्म दैव और मानुष—इन दो वित्तोंके अधीन है, अतः कर्मके लिये वित्तोपार्जन करना चाहिये। वह भी, जो प्रत्यवाय न करनेवाला हो, उस मार्गसे उपार्जन करना चाहिये। अतः उसके लिये

मन्थाख्यं कर्मारभ्यते महत्त्व-प्राप्तये; महत्त्वे च सत्यर्थसिद्धं हि वित्तम्; तदुच्यते—

महत्त्वप्राप्तिके लिये मन्थसंज्ञक कर्म आरम्भ किया जाता है। महत्त्व होनेपर तो वित्त स्वतः सिद्ध ही है। इसीसे कहा जाता है—

मन्थकर्मकी सामग्री और हवनविधि

स यः कामयेत महत् प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्य-माणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कँसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यँ सँस्कृत्य पुँसा नक्षत्रेण मन्थँसंनीय जुहोति। यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सँराधनी-महँ स्वाहा ॥ १ ॥

जो ऐसा चाहता हो कि मैं महत्त्व प्राप्त करूँ, वह उत्तरायणमें शुक्ल पक्षकी पुण्य तिथिपर बारह दिन उपसद्व्रती (पयोव्रती) होकर गूलरकी लकड़ीके कंस (कटोरे) या चमसमें सर्वौषध, फल तथा अन्य सामग्रियों-को एकत्रित कर, [जहाँ हवन करना हो उस स्थानका] परिसमूहन[1] एवं परिलेपन[2] कर अग्नि स्थापन करता है और फिर अग्निके चारों ओर कुशा बिछाकर गृह्यसूत्रोक्त विधिसे घृतका संस्कारकर जिसका नाम पुँल्लिङ्ग हो, उस [हस्त आदि] नक्षत्रमें मन्थको [अपने और अग्निके]

१. कुशोंसे बुहारना।

२. गोबर और जलसे वेदीको लीपना।

बीचमें रखकर हवन करता है। ['यावन्तो' इत्यादि प्रथम मन्त्रका अर्थ—] हे जातवेदः! तेरे वशवर्ती जितने देवता वक्रमति होकर पुरुषकी कामनाओंका प्रतिबन्ध करते हैं, उनके उद्देश्यसे यह आज्यभाग मैं तुझमें हवन करता हूँ। वे तृप्त होकर मुझे समस्त कामनाओंसे तृप्त करें—स्वाहा[1]। ['या तिरश्ची' इत्यादि द्वितीय मन्त्रका अर्थ—] 'मैं सबकी मृत्युको धारण करनेवाला हूँ' ऐसा समझकर जो कुटिलमति देवता तेरा आश्रय करके रहता है, सर्वसाधनोंकी पूर्ति करनेवाले उस देवताके लिये मैं घृतकी धारासे यजन करता हूँ—स्वाहा ॥ १ ॥

स यः कामयेत स यो विद्यार्थी कर्मण्यधिकृतो यः कामयेत; किम्? महन्महत्त्वं प्राप्नुयां महान् स्यामितीत्यर्थः।

वह जो कामना करे अर्थात् वह जो वित्तार्थी और कर्मका अधिकारी कामना करे; क्या कामना करे? महत्—महत्त्व प्राप्त करूँ अर्थात् महान् हो जाऊँ-ऐसी कामना करे।

तत्र मन्थकर्मणो विधित्सितस्य कालोऽभिधीयते—उदगयन आदित्यस्य, तत्र सर्वत्र प्राप्तावापूर्यमाणपक्षस्य शुक्लपक्षस्य; तत्रापि सर्वत्र प्राप्तौ पुण्याहेऽनुकूल आत्मनः कर्मसिद्धिकर इत्यर्थः। द्वादशाहं यस्मिन् पुण्येऽनुकूले कर्म चिकीर्षति ततः प्राक् पुण्याहमेवा-

अब जिसका विधान करना अभीष्ट है उस मन्थकर्मका काल बतलाया जाता है—आदित्यके उदगयन—उत्तरायणमें होनेपर, उस उत्तरायणमें सर्वत्र प्राप्ति होती है, इसलिये कहते हैं 'आपूर्यमाणपक्षस्य' शुक्लपक्षकी, उसमें भी सर्वत्र प्राप्ति होनेपर कहते हैं—'पुण्याहे'—शुभ अर्थात् अपने कर्मकी सिद्धि करनेवाले दिनपर। 'द्वादशाहम्'—जिस पुण्य अर्थात् अनुकूल दिनपर कर्म करना चाहे उससे पूर्व पुण्यदिवससे ही आरम्भ

[1]. जहाँ-जहाँ 'स्वाहा' आवे वहाँ आहुति देनी चाहिये।

स्य द्वादशाहमुपसद्व्रती—उपसत्सु व्रतम्, उपसदःप्रसिद्धा ज्योतिष्टोमे। तत्र च स्तनोपचयापचयद्वारेण पयोभक्षणं तद्व्रतम्; अत्र च तत्कर्मानुपसंहारात् केवलमितिकर्तव्यताशून्यं पयोभक्षणमात्रमुपादीयते।

ननूपसदो व्रतमिति यदा विग्रहस्तदा सर्वमितिकर्तव्यतारूपं ग्राह्यं भवति तत् कस्मान्न परिगृह्यत इति?

उच्यते—स्मार्तत्वात् कर्मणः; स्मार्तं हीदं मन्थकर्म।

ननु श्रुतिविहितं सत् कथं स्मार्तं भवितुमर्हति?

स्मृत्यनुवादिनी हि श्रुति-

करके बारह दिनतक उपसद्व्रती—जो व्रत उपसदोंमें किया जाता है, ज्योतिष्टोम यागमें 'उपसद्' नामकी इष्टियाँ प्रसिद्ध हैं। उनमें स्तनोंके उपचय और अपचयके द्वारा दुग्धका आहार किया जाता है; वह उपसद्व्रत कहलाता है। किंतु यहाँ उस कर्मका उपसंहार (संग्रह) नहीं किया गया है, इसलिये केवल-[1]इतिकर्तव्यतासे रहित पयोभक्षणमात्र ही ग्रहण किया जाता है।

शङ्का—किंतु यदि 'उपसद्व्रती' इस समस्त पदका 'उपसद्-रूप ही व्रत' ऐसा विग्रह किया जाय तब तो सारा ही इतिकर्तव्यतारूप कर्म ग्रहण किया जाना चाहिये, सो वह क्यों ग्रहण नहीं किया जाता?

समाधान-बतलाते हैं-मन्थकर्म स्मार्त होनेके कारण। यह मन्थकर्म स्मार्त है [अतः यहाँ वैदिक 'उपसद्-व्रत' का ग्रहण नहीं हो सकता]।

शङ्का—किंतु श्रुतिविहित होकर भी यह स्मार्त कैसे हो सकता है?

समाधान—यह श्रुति स्मृतिका अनुवाद करनेवाली ही है[2]। यदि इसे

१. अर्थात् स्तनोंके उपचय-अपचयसे रहित।

२. यदि कहें, श्रुति तो स्मृतिसे पहले प्रकट हुई है, अतः वह स्मृतिका अनुवाद कैसे कर सकती है? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति त्रिकालविषयिणी है, अतः स्मृतिका अनुवाद भी उसके द्वारा सम्भव है।

रियम्; श्रौतत्वे हि प्रकृतिविकारभावस्ततश्च प्राकृतधर्मग्राहित्वं विकारकर्मणो न त्विह श्रौतत्वम्; अत एव चावसथ्याग्नावेतत् कर्म विधीयते; सर्वा चावृत् स्मार्तैवेति।

उपसद्व्रती भूत्वा पयोव्रती सन्नित्यर्थः। औदुम्बर उदुम्बरवृक्षमये कंसे चमसे वा तस्यैव विशेषणं कंसाकारे चमसाकारे चौदुम्बर एव। आकारे तु विकल्पो नौदुम्बरत्वे। अत्र सर्वौषधं सर्वासामोषधीनां समूहं यथासम्भवं यथाशक्ति च सर्वा ओषधीः समाहृत्य तत्र ग्राम्याणां तु दश नियमेन ग्राह्या व्रीहियवाद्या वक्ष्यमाणाः। अधिकग्रहणे तु न दोषः। ग्राम्याणां

श्रौत माना जायगा तो ज्योतिष्टोमकर्मके साथ इसका 'प्रकृति-विकारभाव सम्बन्ध होगा, ऐसी स्थितिमें विकारभूत कर्ममें प्राकृत [ज्योतिष्टोम] कर्मके इतिकर्तव्यतारूप धर्मोंका ग्रहण करना आवश्यक होगा; किंतु [यहाँ परिसमूहन-परिलेपनादिका सम्बन्ध रहनेके कारण] यह श्रौतकर्म नहीं है; अतः इस कर्मका विधान आवसथ्याग्निमें ही है। तथा इसमें समस्त आवृत् (इतिकर्तव्यता) स्मार्त ही है।

उपसद्व्रती होकर अर्थात् पयोव्रती होकर 'औदुम्बरे'—उदुम्बरवृक्षमय कंस या चमसमें; उस प्रकृत पात्रका ही यह विशेषण है—कंसाकार अथवा चमसाकार औदुम्बरपात्रमें ही। अर्थात् विकल्प केवल आकारमें ही है औदुम्बर (गूलरका) होनेमें नहीं। उसमें सर्वौषध—सम्पूर्ण ओषधियोंके समूहको अर्थात् यथासम्भव और यथाशक्ति सभी ओषधियोंको लाकर उनमें ग्राम्य ओषधियोंमेंसे तो आगे बतायी जानेवाली व्रीहि-यवादि दश ओषधियाँ तो अवश्य लेनी चाहिये; अधिक लेनेमें तो कोई दोष है ही नहीं; तथा यथासम्भव

१. प्रकृतभूत कर्म समग्र अङ्गोंसे युक्त होता है और विकारभूत कर्म अङ्गहीन होता है। श्रौत माननेसे यह ज्योतिष्टोमरूप प्रकृतिका विकार होगा।

फलानि च यथासम्भवं यथाशक्ति च। इतिशब्दः समस्तसम्भारोपचयप्रदर्शनार्थः, अन्यदपि यत् सम्भरणीयं तत् सर्वं सम्भृत्येत्यर्थः। क्रमस्तत्र गृह्योक्तो द्रष्टव्यः।

परिसमूहनपरिलेपने भूमिसंस्कारः। अग्निमुपसमाधायेति वचनादावसथ्येऽग्नाविति गम्यते; एकवचनादुपसमाधानश्रवणाच्च। विद्यमानस्यैवोपसमाधानम्। परिस्तीर्य दर्भानावृता, स्मार्तत्वात् कर्मणः स्थालीपाकावृत् परिगृह्यते तयाज्यं संस्कृत्य, पुंसा नक्षत्रेण पुंनाम्ना नक्षत्रेण पुण्याहसंयुक्तेन मन्थं सर्वौषधफलपिष्टं तत्रौदुम्बरे चमसे दधनि मधुनि घृते चोपसिच्यैकयोपमन्थन्योपसम्मथ्य संनीय मध्ये संस्थाप्यौदुम्बरेण स्रुवेणा-

और यथाशक्ति ग्राम्य फल भी लाकर। मूलमें 'इति' शब्द समस्त सामग्रीका संग्रह प्रदर्शित करनेके लिये है; तात्पर्य यह कि और भी जो संग्रह करने योग्य वस्तु हो, उसका संग्रह करके। इसका क्रम गृह्यसूत्रोंमें देखना चाहिये।

परिसमूहन और परिलेपन[1]—ये भूमिके संस्कार हैं। 'अग्निमुपसमाधाय' अग्निका उपसमाधान—स्थापन कर—इस वचनसे ज्ञात होता है कि गृह्य-अग्निमें होम करे; क्योंकि यहाँ 'अग्निम्' ऐसा एकवचन है और उपसमाधान श्रुत है। विद्यमान अग्निका ही उपसमाधान होता है। दर्भोंको बिछाकर, 'आवृता'—विधिसे, यह कर्म स्मार्त है, इसलिये यहाँ स्थालीपाकरूप विधि गृहीत होती है। उससे घीका संस्कार कर, 'पुंसा नक्षत्रेण'—पुँल्लिङ्ग नामवाले नक्षत्रमें जो पुण्यतिथिसे युक्त हो मन्थको—सम्पूर्ण ओषधियोंके पिष्ट-पिण्डको उस औदुम्बर चमसमें दही, मधु और घृतमें डालकर एक मथानीसे मथकर फिर अपने और अग्निके मध्यमें स्थापित करे। फिर गूलरके स्रुवासे 'यावन्तो

१. बुहारना और लीपना।

वापस्थान आज्यस्य जुहोत्येतैर्मन्त्रैर्यावन्तो देवा इत्याद्यैः ॥१॥

देवाः' इत्यादि मन्त्रोंसे आवापस्थानमें घृतसे हवन करे ॥ १ ॥

हवनके मन्त्र

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहायतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति ॥ २ ॥

'ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको (स्रुवामें बचे हुए घृतको) मन्थमें डाल देता है। 'प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'रेतसे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है ॥ २ ॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳ स्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳ स्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा

मन्थे सँ्स्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति क्षत्त्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ्स्रवमवनयति ॥ ३ ॥

'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'सोमाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भुवः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'स्वः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूर्भुवःस्वः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'ब्रह्मणे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'क्षत्त्राय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूताय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भविष्यते स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'विश्वाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'सर्वाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'प्रजापतये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है ॥ ३ ॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यारभ्य द्वे द्वे आहुती हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति । स्रुवावलेपनमाज्यं मन्थे संस्रावयति । एतस्मादेव ज्येष्ठाय श्रेष्ठायेत्यादिप्राणलिङ्गाज्ज्येष्ठश्रेष्ठादिप्राणविद एवास्मिन् कर्मण्यधिकारः । रेतस इत्यारभ्यैकैकामाहुतिं हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयत्यपरयोपमन्थन्या पुनर्मथ्नाति ॥ २-३ ॥

'जेष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा' यहाँसे लेकर दो-दो आहुतियाँ हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। अर्थात् स्रुवासे लगे हुए घृतको मन्थमें गिरा देता है। इस 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय' इत्यादि प्राणके लिङ्गसे ही यह निश्चय होता है कि इस कर्ममें ज्येष्ठ श्रेष्ठादिरूप प्राणोपासकका ही अधिकार है। 'रेतसे स्वाहा' यहाँसे लेकर एक-एक आहुति हवन करके मन्थमें संस्रव डालता है। फिर दूसरी उपमथानीसे उसका मन्थन करता है॥ २-३ ॥

मन्थाभिमर्शका मन्त्र

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् उस मन्थको 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रद्वारा स्पर्श करता है। [मन्थद्रव्यका अधिष्ठातृदेव प्राण है, इसलिये प्राणसे एकरूप होनेके कारण वह सर्वात्मक है 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—] तू [प्राणरूपसे सम्पूर्ण देहोंमें] भ्रमनेवाला है, [अग्निरूपसे सर्वत्र] प्रचलित होनेवाला है, [ब्रह्मरूपसे] पूर्ण है, [आकाशरूपसे] अत्यन्त

स्तब्ध (निष्कम्प) है, [सबसे अविरोधी होनेके कारण] तू यह जगद्रूप एक सभाके समान है, तू ही [यज्ञके आरम्भमें प्रस्तोताके द्वारा] हिङ्कृत है, तथा [उसी प्रस्तोताद्वारा यज्ञमें] तू ही हिङ्क्रियमाण है, [यज्ञारम्भमें उद्गाताद्वारा] तू ही उच्च स्वरसे गाया जानेवाला उद्गीथ है और [यज्ञके मध्यमें उसके द्वारा] तू ही उद्गीयमान है। तू ही [अध्वर्युद्वारा] श्रावित और [आग्नीध्रद्वारा] प्रत्याश्रावित है; आर्द्र [अर्थात् मेघ] में सम्यक् प्रकारसे दीप्त है, तू विभु (विविध रूप होनेवाला) है और प्रभु (समर्थ) है, तू [भोक्ता अग्निरूपसे] ज्योति है, [कारणरूपसे] सबका प्रलयस्थान है तथा [सबका संहार करनेवाला होनेसे] संवर्ग है ॥ ४ ॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसीत्यनेन मन्त्रेण ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रसे इसे स्पर्श करता है ॥ ४ ॥

मन्थको उठानेका मन्त्र

अथैनमुद्यच्छत्यामँस्यामँहि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स माँराजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

फिर 'आमंसि आमंहि' इत्यादि मन्त्रसे इसे ऊपर उठाता है। [इस मन्त्रका अर्थ—] 'आमंसि' तू सब जानता है, 'आमंहि ते महि'—मैं तेरी महिमाको अच्छी तरह जानता हूँ। वह प्राण राजा, ईशान और अधिपति है। वह मुझे राजा, ईशान और अधिपति करे ॥ ५ ॥

अथैनमुद्यच्छति सह पात्रेण हस्ते गृह्णात्यामंस्यामंहि ते महीत्यनेन ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् 'आमंस्यामंहि ते महि' इत्यादि मन्त्रसे उसे पात्रके सहित हाथपर ऊपर उठाता है ॥५॥

मन्थभक्षणकी विधि

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।

भूः स्वाहा । भर्गो देवस्य धीमहि । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । भुवः स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाꣳ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । स्वः स्वाहेति । सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि मन्त्रसे इस मन्थको भक्षण करता है। ['तत्सवितुः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ—] 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'—सूर्यके उस वरेण्य—श्रेष्ठ पदका मैं ध्यान करता हूँ। 'वातामधु ऋतायते'—हवा मधुर मन्द गतिसे बह रही है। 'सिन्धवः मधु क्षरन्ति'—नदियाँ मधुरसका स्राव कर रही हैं। 'नः ओषधीः माध्वीः सन्तु'—हमारे लिये ओषधियाँ मधुर हों। 'भूः स्वाहा' [इतने अर्थवाले मन्त्रसे मन्थका पहला ग्रास भक्षण करे।] 'देवस्य भर्गः धीमहि'—हम सवितादेवके तेजका ध्यान करते हैं। 'नक्तमुत उषसः मधु'—रात और दिन सुखकर हों 'पार्थिव रजः मधुमत्'—पृथिवीके धूलिकण उद्वेग न करनेवाले हों। 'द्यु पिता नः मधु अस्तु'—पिता द्युलोक हमारे लिये सुखकर हो। 'भुः स्वाहा' [इतने अर्थवाले मन्त्रसे दूसरा ग्रास भक्षण करे] 'यः नः धियः प्रचोदयात्'—जो सवितादेव हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करता है। 'वनस्पतिः मधुमान्'—हमारे लिये वनस्पति (सोम) मधुर रसमय हो 'सूर्यः मधुमान् अस्तु'—सूर्य हमारे लिये मधुमान् हो। 'गावः नः

भवन्तु'—किरणें अथवा दिशाएँ हमारे लिये सुखकर हों। 'स्वः स्वाहा' [इतने अर्थवाले मन्त्रसे तृतीय ग्रास भक्षण करे]। इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री (गायत्रीमन्त्र), 'मधु वाता ऋतायते' इत्यादि समस्त मधुमती ऋचा और 'अहमेवेदं सर्वं भूयासम्' (यह सब मैं ही हो जाऊँ) 'भूर्भुवः स्वाहा' इस प्रकार कहकर अन्तमें समस्त मन्थको भक्षण कर दोनों हाथ धो अग्निके पश्चिम भागमें पूर्वकी ओर सिर करके बैठता है। प्रातःकालमें 'दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं .... भूयासम्'[1] इस मन्त्रद्वारा आदित्यका उपस्थान (नमस्कार) करता है। फिर जिस मार्गसे गया होता है, उसीसे लौटकर अग्निके पश्चिम भागमें बैठकर [आगे कहे जानेवाले] वंशको जपता है ॥ ६ ॥

अथैनमाचामति भक्षयति। गायत्र्याः प्रथमपादेन मधुमत्यैकया व्याहृत्या च प्रथमया प्रथमग्रासमाचामति; तथा गायत्रीद्वितीयपादेन मधुमत्या द्वितीयया द्वितीयया च व्याहृत्या द्वितीयं ग्रासम्; तथा तृतीयेन गायत्रीपादेन तृतीयया मधुमत्या तृतीयया च व्याहृत्या तृतीयं ग्रासम्। सर्वां सावित्रीं सर्वाश्च मधुमतीरुक्त्वाहमेवेदं सर्वं भूयासमिति चान्ते भूर्भुवः स्वः स्वाहेति समस्तं भक्षयति।

इसके पश्चात् वह मन्थको भक्षण करता है। गायत्रीके प्रथम पाद, एक मधुमती ऋचा और एक व्याहृतिसे प्रथम ग्रास खाता है तथा गायत्रीके द्वितीय पाद, द्वितीय मधुमती ऋचा और द्वितीय व्याहृतिसे दूसरा ग्रास खाता है और गायत्रीके तृतीय पाद, तृतीय मधुमती ऋचा और तृतीय व्याहृतिसे अन्तमें तीसरा ग्रास भक्षण करता है। फिर समस्त गायत्री, सम्पूर्ण मधुमती ऋचा और 'मैं ही यह सब हो जाऊँ' ऐसा कहते हुए 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर समस्त मन्थको भक्षण कर जाता है।

यथा चतुर्भिर्ग्रासैस्तद् द्रव्यं सर्वं परिसमाप्यते तथा पूर्वमेव

वह सारा द्रव्य जिस प्रकार चार ग्रासोंमें समाप्त हो जाय इसका पहले

१. तू दिशाओंका एक पुण्डरीक [अर्थात् अखण्ड श्रेष्ठ] है, मैं मनुष्योंमें एक पुण्डरीक होऊँ।

निरूपयेत् । यत्पात्रावलिप्तं तत् पात्रं सर्वं निर्णिज्य तूष्णीं पिबेत् । पाणी प्रक्षाल्याप आचम्य जघनेनाग्निं पश्चादग्नेः प्राक्शिराः संविशति । प्रातःसंध्यामुपास्यादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमित्यनेन मन्त्रेण । यथेतं यथागतमेत्यागत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

ही विभाग कर ले। जो कुछ पात्रमें लगा रह जाय उस पात्रको धोकर उस सबको चुपचाप पी जाय। फिर दोनों हाथ धोकर जलसे आचमन कर 'जघनेन अग्निम्' अर्थात् अग्निके पश्चिम भागमें पूर्वकी ओर शिर करके बैठता है। प्रातःकालिक संध्योपासन कर 'दिशामेकपुण्डरीकमसि' इस मन्त्रसे आदित्यका उपस्थान करता है। फिर जिस मार्गसे गया था उसीसे लौटकर अग्निके पश्चिम भागमें बैठकर [इस] वंशको जपता है ॥ ६ ॥

मन्थकर्मका वंश

तꣳ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७ ॥

उस इस मन्थका उद्दालक आरुणिने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इस मन्थको सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उससे शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे' ॥ ७ ॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ८ ॥

उस इस मन्थका वाजसनेय याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्यको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे' ॥ ८ ॥

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳशुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ९ ॥

उस इस मन्थका मधुक पैङ्ग्यने अपने शिष्य चूल भागवित्तिको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे' ॥ ९ ॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ १० ॥

उस इस मन्थका चूल भागवित्तिने अपने शिष्य जानकि आयस्थूणको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे' ॥ १० ॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳशुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ११ ॥

उस इस मन्थका जानकि आयस्थूणने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ११ ॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳशुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः

प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥ १२ ॥

उस इस मन्थका सत्यकाम जाबालने अपने शिष्योंको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे ।' उस इस मन्थका जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे उपदेश न करे ॥ १२ ॥

तं हैतमुद्दालक इत्यादि सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरन्नेवास्मिञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीत्येवमन्तमेनं मन्थमुद्दालकात् प्रभृत्येकैकाचार्यक्रमागतं सत्यकाम आचार्यो बहुभ्योऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाच । किमन्यदुवाचेत्युच्यते—अपि य एनं शुष्के स्थाणौ गतप्राणेऽप्येनं मन्थं भक्षणाय संस्कृतं निषिञ्चेत् प्रक्षिपेज्जायेरन्नुत्पद्येरन्नेवास्मिन् स्थाणौ शाखा अवयवा वृक्षस्य प्ररोहेयुश्च पलाशानि पर्णानि यथा जीवितः स्थाणोः; किमुतानेन कर्मणा कामः सिध्येदिति । ध्रुवफलमिदं कर्मेति कर्मस्तुत्यर्थमेतत् ।

'तं हैतमुद्दालकः' यहाँसे आरम्भ करके 'सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि......प्ररोहेयुः पलाशानि' यहाँतक उद्दालकसे लेकर एक-एक आचार्यके क्रमसे प्राप्त हुए इस मन्थका सत्यकाम जाबालने बहुत-से शिष्योंको उपदेश करके कहा । और क्या कहा, सो बतलाया जाता है—'यदि कोई भक्षणके लिये संस्कार किये गये इस मन्थको किसी शुष्क—गतप्राण स्थाणु (ठूँठ) पर भी डाल दे तो इस ठूँठमें शाखाएँ—वृक्षके अवयव उत्पन्न हो जायँगे और पत्ते भी निकल आयँगे, जैसे कि जीवित स्थाणु (हरे ठूँठ) में होते हैं; फिर इस कर्मसे यदि कामनाकी सिद्धि हो जाय तो कौन बड़ी बात है ? तात्पर्य यह है कि यह कर्म निश्चित फल देनेवाला है—इस प्रकार यह उक्ति कर्मकी स्तुतिके लिये है ।

विद्याधिगमे षट् तीर्थानि तेषा-मिह सप्राणदर्शनस्य मन्थविज्ञान-स्याधिगमे द्वे एव तीर्थे अनुज्ञायेते पुत्रश्चान्तेवासी च ॥ ७-१२ ॥

विद्याप्राप्तिके छः[1] तीर्थ (अधिकारी) हैं, उनमेंसे इस प्राणदर्शनयुक्त मन्थविज्ञानकी प्राप्तिकी अनुज्ञा पुत्र और शिष्य दो ही तीर्थोंके लिये है ॥ ७-१२ ॥

मन्थकर्मकी सामग्रीका विवरण

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्यां उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान् दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥ १३ ॥

यह मन्थकर्म चतुरौदुम्बर (चार औदुम्बर काष्ठके पदार्थोंवाला) है। इसमें औदुम्बरकाष्ठ (गूलरकी लकड़ी) का स्रुव, औदुम्बरकाष्ठका चमस, औदुम्बरकाष्ठका इध्म और औदुम्बरकाष्ठकी दो उपमन्थनी होती हैं। इसमें व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (साँवा), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (वाल) और खलकुल (कुलथी)—दश ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं। उन्हें पीसकर दही, मधु और घृतमें मिलाकर घृतसे हवन करता है ॥ १३ ॥

चतुरौदुम्बरो भवतीति व्याख्यातम्। दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति ग्राम्याणां

'चतुरौदुम्बरो भवति' इस वाक्यकी व्याख्या श्रुतिने स्वयं की है। दश ग्राम्य धान्य होते हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ग्राम्य धान्योंमेंसे

1. शिष्य, वेदाध्यायी श्रोत्रिय, धारणाशक्तिसम्पन्न पुरुष, धन देनेवाला, प्रिय पुत्र और जो एक विद्या सीखकर दूसरी सिखानेवाला हो—ये छः विद्यादानके अधिकारी हैं।

तु धान्यानां दश नियमेन ग्राह्या इत्यवोचाम । के त इति निर्दिश्यन्ते—व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवोऽणवश्चाणुशब्दवाच्याः । क्वचिद्देशे प्रियङ्गवः प्रसिद्धा कङ्गुशब्देन । खल्वा निष्पावा वल्लशब्दवाच्या लोके खलकुलाः कुलत्थाः । एतद्व्यतिरेकेण यथाशक्ति सर्वौषधयो ग्राह्याः फलानि चेत्यवोचामायाज्ञिकानि वर्जयित्वा ॥ १३ ॥

दश तो अवश्य ग्रहण करने चाहिये । वे कौन-से हैं, सो बतलाये जाते हैं—व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु 'अणु' शब्दके वाच्य अणु (चावलोंका एक भेद) है तथा प्रियङ्गु किसी-किसी देशमें कङ्गु (काँगनी) शब्दसे प्रसिद्ध है। खल्व या निष्पाव लोकमें वल्ल (वाल) शब्दसे कहे जाते हैं। खलकुल कुलत्थों (कुलथी) को कहते हैं। इनके अतिरिक्त जो यज्ञसम्बन्धी नहीं हैं, उन्हें छोड़कर यथाशक्ति सभी ओषधियाँ और फल लेने चाहिये—यह हम कह चुके हैं ॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्याये तृतीयं श्रीमन्थब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान अथवा पुत्रमन्थ कर्म[1]

यादृग्जन्मा यथोत्पादितो यैर्वा गुणैर्विशिष्टः पुत्र आत्मनः

जिस प्रकार जन्म लेनेवाला, जिस विधिसे उत्पन्न किया हुआ अथवा जिन गुणोंसे विशिष्टताको प्राप्त हुआ पुत्र

१. पूर्वोक्त तीसरे ब्राह्मणमें धनार्थी प्राणोपासकके लिये 'श्रीमन्थ' कर्मका विधिपूर्वक वर्णन किया गया है; अब इच्छानुसार सद्गुणयुक्त संतान उत्पन्न करनेकी युक्ति बतानेके लिये 'पुत्रमन्थ' कर्मका वर्णन आरम्भ करते हैं।

पितुश्च लोक्यो भवतीति तत्सम्पादनाय ब्राह्मणमारभ्यते। प्राणदर्शिनः श्रीमन्थं कर्म कृतवतः पुत्रमन्थेऽधिकारः। यदा पुत्रमन्थं विकीर्षति तदा श्रीमन्थं कृत्वर्तुकालं पत्न्याः प्रतीक्षत इत्येवद्रेतस ओषध्यादिरसतमत्व-स्तुत्यावगम्यते—

अपने तथा पिताके लिये लोक-परलोकमें हितकारी होता है; वैसे पुत्रकी उत्पत्ति कैसे हो? यह बतानेके लिये अथवा ऐसे पुत्रकी प्राप्तिके उपायका सम्पादन करनेके लिये यह चतुर्थ ब्राह्मण प्रारम्भ किया जाता है। जिस प्राणोपासक पुरुषने श्रीमन्थ-कर्मका सम्पादन कर लिया है, उसीका पुत्रमन्थ-कर्ममें अधिकार है। साधक जब पुत्रमन्थ करना चाहता है, तब वह श्रीमन्थ-कर्मका अनुष्ठान करके पत्नीके ऋतुकालकी प्रतीक्षा करता है; यह बात रेतस् (शुक्र) को ओषधि आदिका रसतम (सारतम) बताकर उसकी प्रशंसा करनेसे जानी जाती है—

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

इन भूतोंका रस पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलका रस ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस पुष्प है, पुष्पोंका रस फल है, फलोंका रस (आधार) पुरुष है तथा पुरुषका रस (सार) शुक्र है ॥ १ ॥

एषां वै चराचराणां भूतानां पृथिवी रसः सारभूतः, सर्वभूतानां मध्विति ह्युक्तम्। पृथिव्या आपो रसः; अप्सु हि पृथिव्योता च

इन चर-अचर समस्त भूतोंका रस—सारभूत तत्त्व पृथिवी है; क्योंकि 'पृथिवी सब भूतोंका मधु (सार) है', यह बात मधु-ब्राह्मणमें कह आये हैं। पृथिवी-

प्रोता च । अपामोषधयो रसः कार्यत्वाद् रसत्वमोषध्यादीनाम् । ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि; फलानां पुरुषः; पुरुषस्य रेतः । "सर्वेभ्यो- ऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतम्" (ऐतरेय० २ । १ । १) इति श्रुत्यन्तरात् ॥ १ ॥

का रस जल है; क्योंकि पृथिवी जलमें ओतप्रोत है। जलका रस ओषधियाँ (अन्न) है। जलका कार्य होनेके कारण ओषधियोंको उसका रस बताया गया है। ओषधियोंका रस फूल, फूलोंका रस फल, फलोंका रस पुरुष और पुरुषका रस रेतस् (शुक्र) है। यह बात 'यह वीर्य पुरुषके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेज है' इस दूसरी श्रुतिसे भी प्रमाणित होती है ॥ १ ॥

यत एवं सर्वभूतानां सारतममेतद् रेतोऽतः क्व नु खल्वस्य योग्या प्रतिष्ठेति—

यदि इस प्रकार यह रेतस् (वीर्य) सम्पूर्ण भूतोंका सारतम तत्त्व है, तो इसके आधानके योग्य प्रतिष्ठा (आधारभूमि) क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियँ ससृजे ताँ सृष्ट्वाध उपास्त तस्मात् स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत ॥ २ ॥

सुप्रसिद्ध प्रजापतिने विचार किया कि मैं इस वीर्यकी स्थापनाके लिये किसी योग्य प्रतिष्ठा (आधार भूमि) का निर्माण करूँ, अतः उन्होंने स्त्रीकी सृष्टि की। उसकी सृष्टि करके उन्होंने उसके अधोभागकी उपासना की (मैथुनकर्मका विधान किया); अतः स्त्रीके अधोभागकी उपासना (सेवन) करे। प्रजापतिने इस उत्कृष्ट गतिशील प्रस्तरखण्ड-सदृश शिश्नेन्द्रियको (उत्पन्न करके उसे) स्त्रीकी (योनिकी) ओर प्रेरित किया, उससे इस स्त्रीका संसर्ग किया ॥ २ ॥

स ह स्रष्टा प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे। ईक्षां कृत्वा च स्त्रियं ससृजे। तां च सृष्ट्वाध उपास्त मैथुनाख्यं कर्माधउपासनं नाम कृतवान्। तस्मात् स्त्रियमध उपासीत। श्रेष्ठानुश्रयणा हि प्रजाः।

अत्र वाजपेयसामान्य-क्लृप्तिमाह—स एतं ग्रावं प्रकृष्टगतियुक्तमात्मनो प्राणं सोमाभिषवोपलस्थानीयं काठि-न्यसामान्यात् प्रजननेन्द्रियमुदपारयदुत्पूरितवान् स्त्रीव्यञ्जनं प्रति तेनैनां स्त्रियमभ्यसृजदभि-संसर्गं कृतवान्॥ २॥

उस सुप्रसिद्ध सृष्टिकर्ता प्रजापतिने विचार किया। विचार करके उन्होंने स्त्रीकी सृष्टि की। उसकी सृष्टि करके अधोभागकी उपासना की। मैथुन नामक कर्मका ही नाम अधोभागकी उपासना है, उसीको सम्पन्न किया। इसलिये स्त्रीके अधोभागकी उपासना (सेवन) करे; क्योंकि सारी प्रजा श्रेष्ठ पुरुषके आचार-व्यवहारका अनुकरण करनेवाली होती है।

इस मैथुन-कर्ममें वाजपेय यज्ञकी समानताकी कल्पना करते हैं—उन प्रजापतिने इस प्रकृष्ट गतियुक्त लोढ़ेको, सोमरस निकालनेके लिये उपयोगमें लाये जानेवाले प्रस्तर-खण्डके समान अपने शिश्न—जननेन्द्रियको, जो मैथुनकालमें कठोर हो जाता है, उत्पूरित किया—स्त्री-योनिकी ओर प्रेरित किया। उस जननेन्द्रियसे इस स्त्रीका संसर्ग किया[1]॥ २॥

१. सृष्टि-कार्यमें इस क्रियाकी अत्यन्त आवश्यकता है। भोगबुद्धिसे न होकर यदि केवल उत्तम संतानोत्पादनके लिये यह क्रिया हो तो वह धर्मसम्मत है और आवश्यक है। इस क्रियामें प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति संयमित हो, भोगार्थ न होकर केवल संतानोत्पादनार्थ हो, पुरुषोंकी स्वेच्छाचारिता और असंयमका निरोध हो, शुभ एवं श्रेष्ठ संतानोत्पादनके विज्ञानसे लोग परिचित हों; यह मनुष्यका पतन करनेवाली पाशविक क्रियामात्र न रहकर लोक-कल्याणकारी नर-रत्नोंके उत्पादन तथा निर्माणमें सफल साधन हो, इसीके लिये शास्त्रमें इस विषयका स्पष्ट विधान किया गया है। जगत्‌के प्रातःस्मरणीय महान् पुरुषोंकी

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाᳬ स्त्रीणाᳬ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यास्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥ ३ ॥

स्त्रीकी उपस्थेन्द्रिय वेदी है, वहाँके रोएँ कुशा हैं, योनिका मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है, योनिके पार्श्वभागमें जो दो कठोर मांसखण्ड हैं उनको मुष्क कहते हैं, वे दोनों मुष्क ही 'अधिषवण' नामसे प्रसिद्ध चर्ममय सोमफलक हैं। वाजपेय यज्ञ करनेसे यजमानको जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही उसे भी प्राप्त होता है। जो कि इस प्रकार जानकर मैथुनका आचरण करता है, वह इन स्त्रियोंके पुण्यको अवरुद्ध कर लेता है और जो इसे नहीं जानता है, वह यदि मैथुन करता है तो स्त्रियाँ ही उसके पुण्यको अवरुद्ध कर लेती हैं ॥ ३ ॥

तस्या वेदिरित्यादि सर्वं सामान्यं प्रसिद्धम्। समिद्धोऽग्निर्मध्यतः स्त्रीव्यञ्जनस्य तौ मुष्कावधिषवणफलके इति व्यव-

'तस्या वेदिः' इत्यादि सभी समानताएँ प्रसिद्ध हैं। स्त्री-योनिका मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है। वे दोनों मुष्क (योनिके पार्श्वभागके युगल मांसखण्ड) 'अधिषवण' नामसे प्रसिद्ध सोमफलक हैं; इस प्रकार 'चर्माधिषवणे' पदका दूरस्थित

उत्पत्तिमें यही विज्ञान साधन-स्वरूप रहा है। अतएव इसको जानकर ही प्रत्येक मनुष्य इसके द्वारा विश्व-कल्याणमें सहायक हो सकता है। अवश्य ही यह विज्ञान उन्हीं लोगोंके लिये है, जो प्रजोत्पादनके योग्य गृहस्थ-आश्रममें तथा तरुण-अवस्थामें हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, यति एवं बालक-वृद्धोंके लिये अथवा संसारसे सर्वथा विरक्त पुरुषोंके लिये यह विषय त्याज्य है। इस विज्ञानके प्रतिपादनमें उन वाक्यों या शब्दोंका आना अनिवार्य है, जो अश्लील समझे जाते हैं; क्योंकि उसी विषयको समझाना है; अतएव इस प्रसंगके पाठक इसी दृष्टिसे इसको पढ़ें और सोचें।

हितेन सम्बध्यते । वाजपेययाजिनो यावाँल्लोकः प्रसिद्धस्तावान् विदुषो मैथुनकर्मणो लोकः फलमिति स्तूयते । तस्माद् बीभत्सा नो कार्येति ।

'तौ मुष्कौ' इन पदोंके साथ सम्बन्ध है । वाजपेय यज्ञद्वारा यजन करनेवालेको जितना लोक प्राप्त होता है, उतना ही लोक विद्वान्के मैथुन कर्मका फल है, ऐसा कहकर यहाँ मैथुनकर्मकी स्तुति की जाती है; अतः इससे घृणा नहीं करनी चाहिये ।

य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्त आवर्जयति । अथ पुनर्यो वाजपेयसम्पत्तिं न जानात्यविद्वान् रेतसो रसतमत्वं चाधोपहासं चरति; आस्य स्त्रियः सुकृतमावृञ्जतेऽविदुषः ॥ ३ ॥

जो इस प्रकार जाननेवाला पुरुष मैथुनकर्म करता है, वह इन स्त्रियोंके पुण्यको अवरुद्ध कर लेता है और जो वाजपेय यज्ञ-सम्पादनकी प्रणालीको नहीं जानता है, रेतस्को रसतम रूपमें नहीं अनुभव करता है, वह यदि मैथुनका सेवन करता है तो उस अज्ञानीके पुण्यको स्त्रियाँ ही अवरुद्ध कर लेती हैं ॥ ३ ॥

एतद्ध स्म वै तद् विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान् कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात् प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४ ॥

निश्चय ही इस मैथुनकर्मको वाजपेयसम्पन्न जाननेवाले अरुणनन्दन उद्दालक कहते हैं, इसे उस रूपमें जाननेवाले मुद्गलपुत्र नाक कहते हैं तथा इसे उक्त रूपमें जाननेवाले कुमारहारित मुनि भी कहते हैं कि

'बहुत-से ऐसे मरणधर्मा नाममात्रके ब्राह्मण हैं, जो निरिन्द्रिय, सुकृतहीन और मैथुन-विज्ञानसे अपरिचित होकर भी मैथुनकर्ममें आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, वे परलोकसे भ्रष्ट हो जाते हैं। यदि पत्नीका ऋतुकाल प्राप्त होनेसे पूर्व इस प्राणोपासकका वीर्य अधिक या कम सोते समय अथवा जागते समय गिर जाता है (तो उसे निम्नाङ्कित प्रायश्चित्त करना चाहिये)॥ ४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहाधोपहासाख्यं मैथुनकर्म वाजपेयसम्पन्नं विद्वानित्यर्थः; तथा नाको मौद्गल्यः कुमारहारितश्च किं त आहुः? इत्युच्यते—बहवो मर्या मरणधर्मिणो मनुष्या ब्राह्मणा अयनं येषां ते ब्राह्मणायना ब्रह्मबन्धवो जातिमात्रोपजीविन इत्येतत्। निरिन्द्रिया विश्लिष्टेन्द्रिया विसुकृतो विगतसुकृतकर्माणोऽविद्वांसो मैथुनकर्मासक्ता इत्यर्थः। ते किमस्माल्लोकात् प्रयन्ति परलोकात् परिभ्रष्टा इति। मैथुनकर्मणोऽत्यन्तपापहेतुत्वं दर्शयति—य इदमविद्वांसोऽधोपहासं चरन्तीति।

अरुणनन्दन उद्दालक निश्चय ही इसको पूर्वोक्त रूपसे जानकर अर्थात् 'अधोपहास' नामक मैथुन-कर्म वाजपेय यज्ञके महत्त्वसे सम्पन्न है, ऐसा जानकर तथा मुद्गलपुत्र नाक और कुमारहारित भी इसे उक्त रूपमें जानकर कहते हैं; वे क्या कहते हैं? यह बता रहे हैं—बहुत-से ऐसे मर्य—मरणधर्मी मनुष्य ब्राह्मणायन—ब्राह्मण हैं अयन जिनके वे ब्रह्मबन्धु अर्थात् ब्राह्मण जातिका नाम लेकर जीनेवाले, निरिन्द्रिय—जिनकी इन्द्रियाँ संयुक्त न रहकर बिलग-बिलग बिखरी रहती हैं तथा विसुकृत्—पुण्यकर्मरहित अर्थात् मैथुन-विज्ञानसे अपरिचित होते हुए भी मैथुनकर्ममें आसक्त पुरुष हैं, वे क्या होते हैं? वे परलोकभ्रष्ट हो जाते हैं। मैथुनकर्म अत्यन्त पापका हेतु है—यह दिखाते हैं—'जो अविद्वान् इसे न जानते हुए भी मैथुनका सेवन करते हैं' इत्यादि।

श्रीमन्थं कृत्वा पत्न्या ऋतुकालं ब्रह्मचर्येण प्रतीक्षते यदीदं रेतः स्कन्दति बहु वाल्पं वा सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रागप्राबल्यात् ॥ ४ ॥

श्रीमन्थ करके जो ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक पत्नीके ऋतुकालकी प्रतीक्षा करता है, उसका यह वीर्य यदि रागकी प्रबलताके कारण थोड़ा या अधिक, सोते समय अथवा जागते समय गिर जाय, (तो वह निम्नाङ्कित प्रायश्चित्त करे) ॥ ४ ॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥५॥

उस वीर्यको हाथसे छूए तथा अभिमन्त्रित करे—स्पर्श करते समय इस प्रकार कहे—'आज जो मेरा वीर्य स्खलित होकर पृथिवीपर गिरा है, जो पहले कभी अन्नमें भी गिरा है तथा जो जलमें पड़ा है उस इस वीर्यको मैं ग्रहण करता हूँ।' ऐसा कहकर अनामिका और अङ्गुष्ठसे उस वीर्यको ग्रहण करके दोनों स्तनों अथवा भौहोंके बीचमें लगावे। लगाते समय इस प्रकार कहे—'(जो स्खलित वीर्यरूपसे बाहर निकल गयी थी, वह मेरी) इन्द्रिय पुनः मेरे पास लौट आवे। मुझे पुनः तेज और पुनः सौभाग्यकी प्राप्ति हो। अग्नि ही जिनके स्थान हैं, वे देवगण पुनः मेरे शरीरमें उस वीर्यको यथास्थान स्थापित कर दें' ॥ ५ ॥

तदभिमृशेदनुमन्त्रयेत वानुजपेदित्यर्थः। यदाभिमृशति तदानामिकाङ्गुष्ठाभ्यां तद्रेत आदत्त

उसका स्पर्श एवं अनुमन्त्रण (अभिमन्त्रण) अर्थात् बार-बार जप करे। जब स्पर्श करे तब 'यन्मे... ...से लेकर आददे' तक मन्त्र पढ़कर अनामिका और अङ्गुष्ठसे उ

आदद इत्येवमन्तेन मन्त्रेण पुनर्मामित्येतेन निमृज्यादन्तरेण मध्ये भ्रुवौ भ्रुवोर्वा स्तनौ स्तनयोर्वा ॥ ५ ॥

वीर्यको हाथमें ले। फिर 'पुनर्माम्…' से लेकर…'निमृज्यात्' तक मन्त्र पढ़कर उस वीर्यको दोनों भौंहों अथवा स्तनोंके बीचमें लगावे[1] ॥ ५ ॥

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणँ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

यदि कभी भूलसे जलमें वीर्य स्खलित हो जानेपर वहाँ अपनी परछाईं देख ले, तब उस जलको इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—'देवगण मुझमें तेज, इन्द्रिय (वीर्य), यश, धन और सत्कर्मकी प्रतिष्ठा करें।' [तत्पश्चात् जिसके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करना हो उस पत्नीकी इस प्रकार स्तुति (प्रशंसा) करे—] 'यह मेरी पत्नी संसारकी समस्त स्त्रियोंमें लक्ष्मीस्वरूपा है; क्योंकि इसके वस्त्रमें रजस्वलापनके चिह्न स्पष्ट दिखायी देते हैं।' तदनन्तर [जब वह] रजस्वला एवं यशस्विनी पत्नी [तीन रातके बाद स्नान कर ले तब उस] के पास जाकर कहे—[आज हम दोनोंको वह कार्य करना है, जिससे पुत्रकी उत्पत्ति होती है] ॥ ६ ॥

अथ यदि कदाचिदुदक आत्मानमात्मच्छायां पश्येत्तत्राप्यभिमन्त्रयेतानेन मन्त्रेण मयि तेज इति।

यदि कभी जलमें [वीर्य स्खलित हो जानेपर वहाँ] अपनेको—अपनी छायाको देखे तब 'मयि तेजः' इत्यादि मन्त्रसे जलको अभिमन्त्रित करे।

---

१. इस मन्त्रद्वारा दो कार्य किये जाते हैं—वीर्यका आदान और मार्जन। हाथमें लेना आदान है और भौंहों अथवा स्तनोंके बीचमें उसे लगाना मार्जन है। इन कार्योंकी दृष्टिसे मन्त्रके भी दो भाग हो जाते हैं। 'यन्मे' से लेकर 'आददे' तक आदान-मन्त्र है और 'पुनर्माम्' से लेकर 'निमृज्यात्' तक मार्जन-मन्त्र।

श्रीर्ह वा एषा पत्नी स्त्रीणां मध्ये यद्यस्मान्मलोद्वासा उद्गतमलवद्वासास्तस्मात्तां मलोद्वाससं यशस्विनीं श्रीमतीमभिक्रम्याभिगत्योपमन्त्रयेतेदमद्यावाभ्यां कार्यं यत् पुत्रोत्पादनमिति त्रिरात्रान्त आप्लुताम् ॥ ६ ॥	[जिसके गर्भसे पुत्रकी उत्पत्ति करनी हो उस पत्नीकी स्तुति इस प्रकार करे-] यह पत्नी सब स्त्रियोंमें लक्ष्मीस्वरूपा है, क्योंकि यह मलोद्वासा है, रजस्वला होनेके कारण इसके वस्त्रमें रजके चिह्न स्पष्ट दीखते हैं। अतः उस मलोद्वासा (रजस्वला), यशस्विनी श्रीमती पत्नीके पास, जब वह तीन रातके बाद स्नान करके शुद्ध हो गयी हो, जाकर उससे उपमन्त्रणा करे—कहे—'आज हम दोनोंको यह करना है, जिससे पुत्रकी उत्पत्ति हो' ॥ ६ ॥

सा चेदस्मै न दद्यात् काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात् काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥

वह पत्नी यदि इस पतिको मैथुन न करने दे तो पति उसे उसकी इच्छाके अनुसार वस्त्र, आभूषण आदि देकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करे। इतने पर भी यदि वह इसे मैथुनका अवसर न दे तो वह पति इच्छानुसार दण्डका भय दिखाकर उसके साथ बलपूर्वक समागम करे। यदि यह भी सम्भव न हो तो कहे 'मैं तुझे शाप देकर दुर्भगा (वन्ध्या) बना दूँगा।' ऐसा कहकर वह उसके निकट जाय और 'मैं अपनी यशःस्वरूप इन्द्रियद्वारा तेरे यशको छीने लेता हूँ।' इस मन्त्रका उच्चारण करे। इस प्रकार शाप देनेपर वह अयशस्विनी (वन्ध्या अथवा दुर्भगा) हो ही जाती है ॥ ७ ॥

सा चेदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्तुं काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत् ।

वह (धर्म) पत्नी यदि इस पतिको मैथुन न करने दे तो वह आभूषण आदिके द्वारा उसपर अपना प्रेम प्रकट करे ।

तथापि सा नैव दद्यात् काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेन्मैथुनाय ।

यदि ऐसा करनेपर भी वह मैथुनका अवसर न दे तो पति अपनी इच्छाके अनुसार दण्डका भय दिखाकर उसके साथ बलपूर्वक मैथुनके लिये प्रयत्न करे ।

शप्स्यामि त्वां दुर्भगां करिष्यामीति प्रख्याप्य तामनेन मन्त्रेणोपगच्छेत्—'इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे' इति । सा तस्मात्तदभिशापाद् वन्ध्या दुर्भगेति ख्यातायशा एव भवति ॥ ७ ॥

[यह भी सम्भव न हो तो] 'मैं तुझे शाप दे दूँगा, दुर्भगा (वन्ध्या अथवा भाग्यहीना) बना दूँगा' ऐसा कहकर 'मैं अपने यशोरूप इन्द्रियसे तेरे यशको छीन लेता हूँ' इस मन्त्रका पाठ करते हुए उसके पास जाय । उस अभिशापसे वह 'दुर्भगा' एवं 'वन्ध्या' कही जानेवाली अयशस्विनी ही हो जाती है ॥ ७ ॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥

वह पत्नी यदि उस पतिको मैथुनका अवसर दे तो उसे आशीर्वाद देते हुए कहे—'मैं अपनी यशोरूप इन्द्रियद्वारा तुझमें यशकी ही स्थापना करता हूँ ।' तब वे दोनों दम्पति यशस्वी ही होते हैं ॥ ८ ॥

सा चेदस्मै दद्यादनुगुणैव स्याद् भर्तुस्तदानेन मन्त्रेणोपगच्छेत् 'इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि'

वह पत्नी यदि इस पतिको मैथुनका अवसर दे—पतिके सर्वथा अनुकूल ही रहे, तब पति 'मैं यशोरूप इन्द्रियद्वारा तुझमें यशकी ही स्थापना करता हूँ' इस मन्त्रका पाठ करते हुए उसके-

इति तदा यशस्विनावेवोभावपि भवतः ॥ ८ ॥

समीप जाय। तब वे दोनों दम्पति यशस्वी (सन्तानवान्) ही होते हैं ॥ ८ ॥

स यामिच्छेत् कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गा-दङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषा-योऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९ ॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नीके सम्बन्धमें ऐसी इच्छा करे कि यह मुझे हृदयसे चाहे, उसकी योनिमें अपनी जननेन्द्रियको स्थापित करके और अपने मुखसे उसके मुखको मिलाकर उसके उपस्थभागका स्पर्श करते हुए इस मन्त्रका जप करे—'हे वीर्य! तुम मेरे प्रत्येक अङ्गमें प्रकट होते हो, विशेषतः हृदयसे नाड़ीद्वारा तुम्हारा प्रादुर्भाव होता है, तुम मेरे अङ्गोंके रस हो। अतः जिस प्रकार विष लगाये हुए बाणसे घायल हुई हरिणी मूर्च्छित हो जाती है, उसी प्रकार तुम मेरी इस पत्नीको मेरे प्रति उन्मत्त बना दो—इसे मेरे अधीन कर दो' ॥ ९ ॥

स यां स्वभार्यामिच्छेदियं मां कामयेतेति तस्यामर्थं प्रजननेन्द्रियं निष्ठाय निक्षिप्य मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदिमं मन्त्रमङ्गादङ्गादिति ॥९॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नीके सम्बन्धमें ऐसी इच्छा करे कि यह मेरे प्रति कामनायुक्त हो—मुझे मनसे चाहने लगे; उसकी योनिमें अपनी जननेन्द्रियको स्थापित करके उसके मुखसे अपना मुख मिलाकर उसके उपस्थका स्पर्श करते हुए इस मन्त्रका जप करे—'अङ्गाद-ङ्गादित्यादि' ॥ ९ ॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १० ॥

अपनी जिस पत्नीके विषयमें ऐसी इच्छा हो कि वह गर्भधारण न करे तो उसकी योनिमें अपनी जननेन्द्रियको स्थापित करके उसके मुखसे अपना मुख मिलाकर अभिप्राणत[1] कर्म करके अपानन क्रिया करे और कहे—'इन्द्रियस्वरूप वीर्यके द्वारा मैं तेरे रेतस्को ग्रहण करता हूँ', ऐसा करनेपर वह रेतोहीन ही हो जाती है—गर्भिणी नहीं होती ॥ १० ॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीत न धारयेद् गर्भिणी मा भूदिति तस्यामर्थमिति पूर्ववत् ।

अभिप्राण्याभिप्राणनं प्रथमं कृत्वा पश्चादपान्यात्—'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे' इत्यनेन मन्त्रेणारेता एव भवति न गर्भिणी भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

पुरुष अपनी जिस पत्नीके विषयमें ऐसी इच्छा करे कि यह गर्भ धारण न करे—गर्भवती न हो तो वह उसकी योनिमें इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिये ।

अभिप्राण्य—प्रथम अभिप्राणन करके पश्चात् 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे' इस मन्त्रके द्वारा अपानन करे। इससे वह अरेता ही हो जाती है। तात्पर्य यह है कि गर्भवती नहीं होती ॥ १० ॥

अथ यामिच्छेद् दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

पुरुषको अपनी जिस पत्नीके सम्बन्धमें ऐसी इच्छा हो कि यह गर्भ धारण करे, वह उसकी योनिमें अपनी जननेन्द्रिय स्थापित करके उसके मुखसे मुख मिलाकर पहले अपानन[2] क्रिया करके पश्चात् अभिप्राणन कर्म करे और कहे—'मैं इन्द्रियरूप वीर्यके द्वारा तेरे रेतस्का आधान करता हूँ।' ऐसा करनेसे वह गर्भवती ही होती है ॥ ११ ॥

---

१. पुरुष अपनी शिश्नेन्द्रियद्वारा स्त्रीकी योनिमें जो वायुको प्रविष्ट करता है, उसे 'अभिप्राणन' कर्म कहते हैं और वह जो अपनी शिश्नेन्द्रियको बाहर निकालते हुए उस वायुको भी बाहर निकाल देता है, उस क्रियाको 'अपानन' कहते हैं ।

२. भावनाद्वारा पहले स्त्रीके रेतसयुक्त वायुका आकर्षण करना यहाँ प्रथम 'अपानन-क्रिया' है । अभिप्राणन कर्म तो पूर्ववत् ही है ।

अथ यामिच्छेद् दधीत गर्भमिति तस्यामर्थमित्यादि पूर्ववत्। पूर्वविपर्ययेणापान्याभिप्राण्यात्—'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि' इति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

जिस पत्नीके सम्बन्धमें ऐसी इच्छा हो कि यह गर्भ धारण करे उसकी योनिमें... इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। पूर्व मन्त्रके विपरीत पहले अपानन क्रिया करके 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि' इस मन्त्रके द्वारा अभिप्राणन कर्म करे। ऐसा करनेसे वह गर्भवती ही होती है ॥ ११ ॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात् प्रैति यमेवंविद् ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित् परो भवति ॥ १२ ॥

जिस गृहस्थ विद्वान्की पत्नीका किसी जार पुरुषसे सम्बन्ध हो, वह पति उस जारसे द्वेषभाव रखकर उसे दण्ड देना चाहे तो वह मिट्टीके कच्चे बर्तनमें [पञ्चभूसंस्कारपूर्वक] अग्नि-स्थापन करके विपरीत क्रमसे अर्थात् दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्रभावसे सरकंडोंका बर्हिष बिछाकर उनकी बाणाकार सींकोंको घीसे भिगोकर उनके अग्रभागको विपरीत दिशामें ही रखते हुए उस अग्निमें उनको चार आहुतियाँ दे। [उन आहुतियोंके मन्त्र

इस प्रकार हैं—] 'मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददे*' [यह मन्त्र पढ़कर 'फट्' शब्दका उच्चारण करके पहली आहुति दे, [आहुतिके अन्तमें] 'असौ मम शत्रुः' इस प्रकार बोलकर शत्रुका नाम लेना चाहिये। पूर्ववत् 'मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूंस्त आददे' यह मन्त्र बोलकर दूसरी आहुति दे और अन्तमें 'असौ—' कहकर शत्रुका नाम ले। इसी प्रकार 'मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददे' यह मन्त्र बोलकर तीसरी आहुति दे और अन्तमें 'असौ' कहकर शत्रुका नाम ले तथा 'मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददे' यह मन्त्र पढ़कर चौथी आहुति दे और पूर्ववत् 'असौ' कहकर शत्रुके नामका उच्चारण करे। इस प्रकार मन्थ कर्मको जाननेवाला प्राणदर्शी विद्वान् ब्राह्मण जिसको शाप देता है, वह इन्द्रियरहित एवं पुण्यहीन होकर इस लोकसे चल बसता है। अतः परस्त्रीगमनके इस भयंकर परिणामको जाननेवाला पुरुष किसी श्रोत्रियकी पत्नीसे समागमकी तो बात ही क्या है, परिहासकी भी इच्छा न करे; क्योंकि उक्त अभिचार कर्मको जाननेवाला श्रोत्रिय उसका शत्रु बन जाता है॥ १२॥

अथ पुनर्यस्य जायायै जार उपपतिः स्यात्तं चेद् द्विष्यादभिचरिष्याम्येनमिति मन्येत तस्येदं कर्म। आमपात्रेऽग्निमुपसमाधाय सर्वं प्रतिलोमं कुर्यात्तस्मिन्नग्ना-

अब अभिचार कर्म बताते हैं। जिस गृहस्थ विद्वान्की पत्नीका कोई जार उपपति हो, वह पति उस जारसे यदि द्वेष रखता हो तथा इसके प्रति अभिचारका प्रयोग करूँगा, ऐसा निश्चित संकल्प रखता हो तो उसके लिये यह कर्म है। वह मिट्टीके कच्चे बर्तनमें [पञ्चभूसंस्कारपूर्वक] अग्निस्थापन करके सारी क्रिया विपरीत क्रमसे करे; यथा ईशानसे अग्निकोण-

* 'अरे! यौवन आदिसे प्रकाशित मेरी पत्नीरूप प्रज्वलित अग्निमें तूने वीर्यकी आहुति डाली है, अतः मैं तुझ अपराधीके प्राण और अपानको लिये लेता हूँ।' चारों मन्त्रके अर्थ एक-से हैं। पहलेमें शत्रुके प्राण और अपानको, दूसरेमें पुत्र और पशुओंको, तीसरेमें यज्ञ और पुण्यको तथा चौथेमें प्रार्थना एवं प्रतिज्ञापूर्तिकी प्रतीक्षाके अपहरणकी बात कही गयी है।

एताः शरभृष्टीः शरेषीकाः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता घृताभ्यक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीरित्याद्या आहुतीरन्ते सर्वासामसाविति नाम ग्रहणं प्रत्येकम् ।

स एष एवंविद् यं ब्राह्मणः शपति स विसुकृतो विगत पुण्यकर्मा प्रैति । तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेन्नर्मापि न कुर्यात् किमुताधोपहासं हि यस्मादेवंविदपि तावत् परो भवति शत्रुर्भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

की ओर दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र भावसे बर्हिषोंका परिस्तरण करे इत्यादि । उस अग्निमें इन बाणाकार सरकंडोंकी सींकोंका प्रतिलोम (दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र) भावसे ही रखते हुए घीमें भिगोकर उनकी आहुति दे । 'मम समिद्धेऽहौषीः' इत्यादि चार आहुतियाँ दे और सबके अन्तमें प्रत्येकके साथ 'असौ' बोलकर शत्रुके नामका उच्चारण करे ।

वह यह इस प्रकार जाननेवाला ब्राह्मण जिसे शाप देता है, वह विसुकृत—पुण्यकर्मशून्य हो इस लोकसे चल बसता है । अतः परस्त्रीगमनके ऐसे भीषण परिणामको जाननेवाला पुरुष श्रोत्रिय विद्वान्‌की पत्नीसे उपहास-परिहासकी भी इच्छा न करे' फिर समागमकी तो बात ही क्या है । क्योंकि ऐसे अभिचार कर्मको जाननेवाला विद्वान् भी उसका पराया अर्थात् शत्रु बन जाता है ॥ १२ ॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत् त्र्यहं कंसे न पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात् त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३ ॥

जसकी पत्नीको ऋतुभाव (रजोधर्म) प्राप्त हो, उसको वह पत्नी तीन दिनोंतक काँसके बर्तनोंमें न खाय और चौथे दिन स्नानके बाद ऐसा वस्त्र

पहने जो फटा न हो, साफ-सुथरा हो। इसे कोई शूद्रजातीय स्त्री या पुरुष न छुए। वह रजस्वला नारी जब तीन दिन बीतनेपर स्नान कर ले तो उसे धान कूटनेके काममें लगावे ॥ १३ ॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देदृतुभावः प्राप्नुयादित्येवमादिग्रन्थः श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणामित्यतः पूर्वं द्रष्टव्यः सामर्थ्यात्। त्र्यहं कंसे न पिबेदहतवासाश्च स्यात्। नैनां स्नातामस्नातां च वृषलो वृषली वा नोपहन्यान्नोपस्पृशेत्।

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रव्रतसमाप्तावाप्लुत्य स्नात्वाहतवासाः स्यादिति व्यवहितेन सम्बन्धः। तामाप्लुतां व्रीहीनवघातयेद् व्रीह्यवघाताय तामेव विनियुञ्ज्यात् ॥ १३ ॥

'अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्' इत्यादि ग्रन्थको 'श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां' इस मन्त्रभागके पहले समझना चाहिये; क्योंकि अर्थबलसे ऐसा ही ठीक जान पड़ता है। जिसकी पत्नीको आर्तव—ऋतुभाव (रजोधर्म) प्राप्त हो, उसकी वह पत्नी तीन दिनोंतक काँसेके वर्तनमें न खाय और चौथे दिन स्नान करके ऐसा वस्त्र पहने जो फटा न हो, साफ-सुथरा हो। स्नानके बाद और पहले भी उस ऋतुमती स्त्रीको कोई शूद्रजातीय स्त्री या पुरुष न छुए।

तीन रात बीतनेपर—त्रिरात्रव्रतकी समाप्ति होनेपर वह आप्लवन-स्नान करनेके पश्चात् जो फटा न हो, ऐसा स्वच्छ वस्त्र पहने, इस प्रकार व्यवधानयुक्त अहतवासा पदके साथ इस वाक्यका अन्वय है। स्नान करनेके पश्चात् उस स्त्रीसे धान कुटावे। धान कूटनेके कार्यमें स्त्रीको लगावे ॥ १३ ॥

स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४ ॥

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र शुक्ल वर्णका हो, एक वेदका अध्ययन करे और पूरे सौ वर्षोंकी आयुतक जीवित रहे, उस दशामें वे दोनों पति-पत्नी दूध और चावलको पकाकर खीर बना लें और उसमें घी मिलाकर खायँ। इससे वे उपर्युक्त योग्यतावाले पुत्रको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं ॥ १४ ॥

स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो वर्णतो जायेत वेदमेकमनुब्रुवीत सर्वमायुरियाद् वर्षशतं क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ समर्थौ जनयितवै जनयितुम् ॥ १४ ॥

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र शुक्ल वर्णका उत्पन्न हो, एक वेदका अध्ययन करे तथा पूरी आयु भर—सौ वर्षोंतक जीवित रहे तो वे दोनों पति-पत्नी दूध-चावलका खीर पकाकर उसमें घी डालकर खायँ। इससे वे वैसे पुत्रको जन्म देनेमें समर्थ होते हैं ॥ १४ ॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत, द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५ ॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्णका हो, दो वेदोंका अध्ययन करे और पूरे सौ वर्षोंतक जीवित रहे तो वह और उसकी पत्नी दहीके साथ भात पकाकर उसमें घी मिलाकर खायँ। इससे वे वैसे पुत्रको जन्म देनेमें समर्थ होते हैं ॥ १५ ॥

दध्योदनं दध्ना चरुं पाचयित्वा द्विवेदं चेदिच्छति पुत्रं तदैवमशननियमः ॥ १५ ॥

दध्योदन बनाकर—दहीके साथ चरु पकाकर (दोनों दम्पति भोजन करें) यदि द्विवेदी पुत्रको पानेकी इच्छा हो, तब ऐसे भोजनका नियम है ॥ १५ ॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन् वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६ ॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण, अरुण नयन हो, तीन वेदोंका स्वाध्याय करे तथा पूरे सौ वर्षोंतक जीवित रहे, वह और उसकी पत्नी केवल जलमें चावल पकाकर भात तैयार कर लें और उसमें घी मिलाकर खायँ। इससे वे उक्त योग्यतावाले पुत्रको जन्म देनेमें समर्थ होते हैं ॥ १६ ॥

केवलमेव स्वाभाविकमोदनम्। उदग्रहणमन्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

केवल स्वाभाविक ही भात खायँ, 'उद' शब्दका प्रयोग दुग्ध आदि अन्य प्रसङ्गोंकी निवृत्तिके लिये है ॥ १६ ॥

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १७ ॥

जो चाहता हो कि मेरी पुत्री विदुषी हो और पूरे सौ वर्षोंकी आयुतक जीवित रहे, वह और उसकी पत्नी तिल और चावलकी खिचरी पकाकर उसमें घी मिलाकर खायँ। इससे वे उक्त योग्यतावाली कन्याको जन्म देनेमें समर्थ होते हैं ॥ १७ ॥

दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्। तिलौदनं कृशरम् ॥ १७ ॥

गृहशास्त्रमें निपुण होना ही पुत्रीका पाण्डित्य है; क्योंकि वेदमें उसका अधिकार नहीं है। तिलौदनका अर्थ है तिल-चावलकी खिचड़ी ॥ १७ ॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान् वेदाननुब्रु-

वीत सर्वमायुरियादिति मा ँ सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥ १८ ॥

जो चाहता हो कि मेरा पुत्र प्रख्यात पण्डित, विद्वानोंकी सभामें निर्भय प्रवेश करनेवाला तथा श्रवणसुखद वाणी बोलनेवाला हो, सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय करे और पूरे सौ वर्षोंतक जीवित रहे, वह पुरुष और उसकी पत्नी ओषधियोंका गूदा और चावल पकाकर उसमें घी मिलाकर खायँ। इससे वे उक्त योग्यतावाले पुत्रको जन्म देनेमें समर्थ होते हैं। उक्षा अथवा ऋषभ नामक ओषधिके गूदेके साथ खानेका नियम है ॥ १८ ॥

विविधं गीतो विगीतः प्रख्यात इत्यर्थः। समितिंगमः सभां गच्छतीति प्रगल्भ इत्यर्थः। पाण्डित्यस्य पृथग्ग्रहणात्। शुश्रूषितां श्रोतुमिष्टां रमणीयां वाचं भाषिता संस्कृताया अर्थवत्या वाचो भाषितेत्यर्थः। मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम्।

तन्मांसनियमार्थमाह—

औक्षेण वा मांसेन। उक्षा सेचनसम-

नाना प्रकारसे जिसकी महत्ता गायी जाय, वह विगीत कहलाता है। विगीत अर्थात् प्रख्यात। समितिंगम—विद्वानोंकी सभामें जानेवाला निर्भीक या प्रगल्भ। 'समितिंगमः' का अर्थ विद्वान् या पण्डित इसलिये नहीं किया गया कि मन्त्रमें पाण्डित्यका पृथक् ग्रहण देखा जाता है। शुश्रूषिता—सुननेमें प्रिय, रमणीयवाणीका वक्ता अर्थात् संस्कारयुक्त सार्थकवाणी बोलनेवाला।

ओषधि अथवा फलके गूदेको मांस कहते हैं; उससे मिश्रित भातको यहाँ 'मांसौदन' कहा गया है। उस ओषधिके गूदेका नियम करनेके लिये कहते हैं—उक्षाके गूदेके साथ। गर्भाधानमें समर्थ साँडको उक्षा कहते हैं। उसीके समान शक्तिशाली होनेसे ओषधिविशेषका नाम भी उक्षा* है,

* 'उक्षा' शब्दके कोषमें दो प्रकारके अर्थ मिलते हैं। कलकत्तेसे प्रकाशित 'वाचस्पत्य' नामक बृहत् संस्कृताभिधानमें उसे अष्टवर्गान्तर्गत 'ऋषभ' नामक

मर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम् । ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीय-मार्षभं मांसम् ॥ १८ ॥

उसीका गूदा यहाँ अभीष्ट है। पूर्वोक्त सांडसे भी अधिक अवस्थावाले बैलको ऋषभ कहते हैं उसके समान शक्तिशाली ओषधिशेषका नाम भी ऋषभ* है। उसीके गूदेको यहाँ 'आर्षभ' समझना चाहिये ॥ १ ॥

ओषधिका पर्याय माना गया है—'ऋषभ ओषधौ च'। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सर मोनियर विलियम्सने अपने बृहत् संस्कृत-अंग्रेजीकोषमें इसे 'सोम' नामक पौधेका पर्याय माना है।

* 'ऋषभ' नामक ओषधिका आयुर्वेदके अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' के 'सूत्रस्थान' नामक प्रथम खण्डके ३८ वें अध्यायमें (जो द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय भी कहलाता है) सैंतीस द्रव्यगणोंके अन्तर्गत उल्लेख हुआ है। 'भावप्रकाश' नामक प्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थमें उसका वर्णन इस रूपमें आया है—

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ।
रसोतकन्दवत् कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ ॥
..........................ऋषभो वृषशृङ्गवत्।
.... ॥
ऋषभो वृषभो वीरो विषाणी ग्राह्म इत्यपि।
जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ।
मधुरौ पित्तदाहघ्नौ कासवातक्षयापहौ ॥

जीवक और ऋषभक, (ऋषभ) नामकी ओषधियाँ हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती हैं। उनकी जड़ लहसुनके सदृश होती है। दोनोंमें ही गूदा नहीं होता, केवल त्वचा होती है; दोनोंमें छोटी-छोटी पत्तियाँ होती हैं। इनमेंसे ऋषभ बैलके सींगकी आकृतिका होता है। इसके दूसरे नाम हैं वृषभ, वीर, विषाणी, ग्राह्म आदि। जीवक और ऋषभ दोनों ही बलकारक, शीत, वीर्य और कफ बढ़ानेवाले, मधुर, पित्त और दाहका शमन करनेवाले तथा खाँसी एवं वातरोगका नाश करनेवाले हैं।

ऋषभकी प्रसिद्ध अष्टवर्ग नामक ओषधियोंमें गणना है। भावप्रकाशकार लिखते हैं—

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके।
अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः ॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहानुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥ १९ ॥

तदनन्तर चौथे दिन प्रातःकाल ही [संध्या आदिका अनुष्ठान करके] पत्नीके कूटे हुए चावलोंको लेकर स्थालीपाककी विधिसे घीका संस्कार करके चरु पकाकर उसका भी संस्कार करके स्थालीपाकके अन्नमेंसे थोड़ा-थोड़ा लेकर प्रधान आहुतियाँ दे, उनके मन्त्र इस प्रकार हैं—'अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा'। इस प्रकार आहुति देकर 'स्विष्टकृत्' होम करके स्थालीमें बचे हुए चरुको एक पात्रमें निकालकर उसमें घी मिलाकर पहले पति उस अन्नको खाता है। खाकर उसी उच्छिष्ट अन्नको अपनी पत्नीके लिये देता है। तत्पश्चात् हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्रको भरकर उसी जलसे अपनी पत्नीका तीन बार अभिषेक करे। अभिषेकका मन्त्र इस प्रकार है-'उत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह' ॥ १९ ॥

अथाभिप्रातरेव कालेऽवघातनिर्वृत्तांस्तण्डुलानादाय स्थालीपाकावृता स्थालीपाकविधिनाज्यं चेष्टित्वाज्यसंस्कारं कृत्वा चरुं श्रपयित्वा स्थालीपाकस्याहुतीर्जुहोत्युपघातमुपहत्योपहत्याग्नये स्वाहेत्याद्याः। गार्ह्यः सर्वो विधिर्द्रष्टव्योऽत्र।

तदनन्तर प्रातःकाल ही कूटनेसे तैयार हुए चावलोंको लेकर स्थालीपाककी विधिसे घीका संस्कार करके चरुको पकाकर स्थालीपाककी आहुति दे। स्थालीपाकमेंसे थोड़ा-थोड़ा अन्न लेकर 'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंसे तीन आहुतियाँ दे। यहाँ सारी विधि अपने-अपने गृह्यसूत्रके अनुसार समझनी चाहिये।

हुत्वोद्धृत्य चरुशेषं प्राश्नाति स्वयं प्राश्येतरस्याः पत्न्यै प्रयच्छत्युच्छिष्टम् । प्रक्षाल्य पाणी आचम्योदपात्रं पूरयित्वा तेनोदकेनैनां त्रिरभ्युक्षत्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठात इति सकृन्मन्त्रोच्चारणम् ॥ १९ ॥

हवन करके शेष चरुको एक पात्रमें निकालकर पति स्वयं भोजन करे। भोजन करके उच्छिष्ट भाग पत्नीको अर्पण करे। तत्पश्चात् हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र भरकर उसी जलसे पत्नीका तीन बार 'उत्तिष्ठात' इत्यादि मन्त्रके द्वारा अभिषेक करे। मन्त्रका पाठ एक ही बार करना चाहिये ॥ १९ ॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वँ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सँरभावहै सह रेतो दधावहै पुँसे पुत्राय वित्तय इति ॥ २० ॥

तदनन्तर पति अपनी कामनाके अनुसार पत्नीको खीर आदि भोजन करानेके पश्चात् शयनकालमें 'अमोऽहमस्मि' इत्यादि मन्त्र पढ़कर उसका आलिङ्गन करे। [उस मन्त्रका भाव इस प्रकार है—] 'देवि ! मैं प्राण हूँ, तुम वाक् हो; तुम वाक् हो, मैं प्राण हूँ; मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो; मैं आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो; अतः आओ, हम दोनों दम्पति एक दूसरेका आलिङ्गन करें, एक साथ रेतस् धारण करें, जिससे हमें पुरुषत्वविशिष्ट पुत्रका लाभ हो ॥ २० ॥

अथैनामभिमन्त्र्य क्षीरौदनादि यथापत्यकामं भुक्त्वेति क्रमो द्रष्टव्यः । संवेशनकालेऽमोऽहमस्मीत्यादिमन्त्रेणाभिपद्यते॥२०॥

तदनन्तर इस पत्नीको अभिमन्त्रित करके जैसी संतानकी इच्छा हो, उसके अनुसार खीर आदि भोजन करनेके पश्चात् उसके साथ शयन करे। यह क्रम समझना चाहिये । शयन-कालमें 'अमोऽहमस्मि' इत्यादि मन्त्रसे पत्नीका आलिङ्गन करे ॥ २० ॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखँ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिँशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् पत्नीके ऊरुद्वय (दोनों जाँघों) को एक दूसरेसे विलग करे । [उस समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिये—] 'विजिहीथां द्यावापृथिवी इति' (हे ऊरुस्वरूप आकाश और पृथिवी ! तुम दोनों विलग होओ) इसके बाद पत्नीकी योनिमें अपनी जननेन्द्रिय स्थापित करके उसके मुँहसे मुँह मिलाकर अनुलोम-क्रमसे पत्नीके [केशादि पादान्त] सम्पूर्ण शरीरका तीन बार मार्जन करे] मार्जन-कालमें 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यादि मन्त्रका पाठ करे, जिसका भाव इस प्रकार है—] 'प्रिये ! सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तेरी जननेन्द्रियको पुत्रकी उत्पत्तिमें समर्थ बनावें । भगवान् सूर्य तेरे [तथा उत्पन्न होनेवाले बालकके] अङ्गोंको विभागपूर्वक पुष्ट एवं दर्शनीय बनावें । विराट् पुरुष भगवान् प्रजापति मुझसे अभिन्नरूपमें स्थित हो तुझमें वीर्यका आधान करें । भगवान् धाता मुझसे अभिन्न भावसे स्थित हो तेरे गर्भका धारण एवं पोषण करें । देवि ! जिसकी भूरि-भूरि स्तुति की जाती है, वह सिनीवाली (जिसमें चन्द्रमाकी एक कला शेष रहती है, वह अमावास्या) तुम हो, तुम यह गर्भ धारण करो, धारण करो । देव अश्विनीकुमार (सूर्य और चन्द्रमा) अपनी किरणरूपी कमलोंकी माला धारण करके मुझसे अभिन्नरूपमें स्थित हो तुझमें गर्भका आधान करें ॥ २१ ॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इत्यनेन । तस्यामर्थमित्यादिपूर्ववत् । त्रिरेनां

तदनन्तर 'विजिहीथां द्यावापृथिवी' इस मन्त्रसे पत्नीके ऊरुद्वयको एक-दूसरेसे अलग करे । 'तस्यामर्थं' इत्यादि मन्त्रभागका अर्थ पूर्ववत् है ।

शिरःप्रभृत्यनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिमित्यादि प्रतिमन्त्रम् ॥ २१ ॥	'विष्णुर्योनि' इत्यादि मन्त्रोंमेंसे प्रत्येकको पढ़कर पत्नीके मस्तकसे लेकर पैरतकके अङ्गोंको तीन-तीन बार मार्जन (स्पर्श) करे ॥ २१ ॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ, तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी । वायुर्दिशां तथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥ २२ ॥

प्राचीन कालमें ज्योतिर्मयी अरणियाँ थीं, जिनसे अश्विनीकुमारोंने मन्थन किया । उस मन्थनसे अमृतरूप गर्भ प्रकट हुआ । उसी अमृतरूप गर्भको हम तेरी कुक्षिमें स्थापित करते हैं । इसलिये कि तू इसे दशवें महीनेमें उत्पन्न कर सके । जैसे पृथ्वीका गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्गीय भूमि इन्द्रसे गर्भवती है, जैसे दिशाओंका गर्भ वायु है, उसी प्रकार मैं तुझमें पुत्ररूप गर्भ स्थापित करता हूँ, अमुक देवि ! ॥ २२ ॥

अन्ते नाम गृह्णात्यसाविति तस्याः ॥ २२ ॥	'असौ' पदके द्वारा यह सूचित किया गया है कि अन्तमें पत्नीका नामोच्चारण करना चाहिये ॥२२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । यथा वायुः पुष्करिणीँ समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराँ सहेति ॥ २३ ॥

प्रसवकालमें प्रसव करनेवाली स्त्रीके ऊपर 'यथा वायुः..........' इत्यादि मन्त्र पढ़कर जल छिड़के । [मन्त्रार्थ इस प्रकार है—] 'जैसे

वायु पोखरीके जलको सब ओरसे चञ्चल कर देती है, उसी प्रकार तेरा गर्भ अपने स्थानसे चले और जरायुके साथ बाहर निकले। इन्द्र (प्रसूति वायुके) लिये यह योनिरूप मार्ग निर्मित हुआ है; जो अर्गला—गर्भवेष्टन (जरायु) के साथ है। इन्द्र! (प्रसव वायो!) उस मार्गपर पहुँचकर तुम गर्भ एवं मांसपेशीके साथ बाहर निकलो ॥ २३ ॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति प्रसवकाले सुखप्रसवनार्थमनेन मन्त्रेण। यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजत्विति ॥ २३ ॥

प्रसवकालमें सुखपूर्वक बच्चा पैदा करनेके लिये 'यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु' इत्यादि मन्त्र पढ़कर प्रसव करनेवाली स्त्रीको जलसे सींचे ॥ २३ ॥

अथ जातकर्म—

अब जातकर्मका वर्णन करते हैं—

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसन्द्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत् कर्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥ २४ ॥

पुत्र उत्पन्न होनेपर पिता उसे अपनी गोदमें लेकर अग्निकी स्थापना करके काँसके कटोरेमें दधिमिश्रित घी रखकर उसका थोड़ा-थोड़ा सा अंश लेकर "अस्मिन् सहस्रम्" इत्यादि मन्त्रोंद्वारा अग्निमें आहुति दे। [मन्त्रार्थ इस प्रकार है] अपने इस घरमें पुत्ररूपसे वृद्धिको प्राप्त हुआ मैं सहस्रों मनुष्योंका एकमात्र पोषण करनेवाला होऊँ। मेरे इस पुत्रकी संततिमें प्रजा तथा पशुओंके साथ सम्पत्तिका कभी उच्छेद न हो—स्वाहा। मुझ पितामें जो प्राण हैं, उन प्राणोंका तुझ पुत्रमें मैं मन-ही-मन होम करता हूँ, स्वाहा। मैंने प्रधान कर्म करनेके साथ-साथ जो कुछ अधिक कार्य कर डाला हो

अथवा आवश्यक कर्ममें भी जो न्यूनता (त्रुटि) कर दी हो, हमारे उस कर्मको विद्वान् अग्निदेव स्विष्टकृत् (अभीष्टसाधक) होकर स्विष्ट और सुहुत (न्यूनातिरिक्त दोषसे रहित) कर दें—स्वाहा ॥ २४ ॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय पुत्रं कंसे पृषदाज्यं संनीय संयोज्य दधि घृते पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन् सहस्रमित्याद्यावापस्थाने ॥ २४ ॥	पुत्र जन्म होनेपर अग्निस्थापन करके पुत्रको गोदमें लेकर और काँसके कटोरेमें दधिमिश्रित घृत रखकर दहीको घीमें मिलाकर उसका थोड़ा-थोड़ा-सा अंश लेकर 'अस्मिन् सहस्रम्' इत्यादि मन्त्रसे अग्निके आवाप स्थानमें आहुति दे ॥ २४ ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग् वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतꣳसंनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति । भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥ २५ ॥

स्विष्टकृत होमके अनन्तर पिता शिशुके दाहिने कानको अपने मुखके पास ले आकर 'वाक् वाक् वाक्' इस प्रकार तीन बार कहे[1] । तत्पश्चात् दही, मधु और घी एकमें मिलाकर उसे दूसरे धातुओंके मेलसे रहित विशुद्ध सोनेकी चम्मचसे बालकको चटावे [उस समय इन चार मन्त्रोंका पाठ करे] 'भूस्ते दधामि' 'भुवस्ते दधामि' 'स्वस्ते दधामि' 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि'[2] ॥ २५ ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय स्वं मुखं वाग् वागिति त्रिर्जपेत् ।	तदनन्तर इस बालकके दाहिने कानको अपने मुखके पास ले जाकर 'वाक् वाक्' यह तीन बार जपे ।

१. तीन बार कहनेका तात्पर्य यह है कि तेरी बुद्धिमें वेदत्रयीरूप वाणी प्रवेश करे।

२. मैं तुझमें भूर्लोककी स्थापना करता हूँ, भुवर्लोककी स्थापना करता हूँ, स्वर्लोककी स्थापना करता हूँ तथा भूर्भुवः स्वः सब लोकोंकी स्थापना करता हूँ।

अथ दधि मधु घृतं संनीयानन्तर्हितेनाव्यवहितेन जातरूपेण हिरण्येन प्राशयत्येतैर्मन्त्रैः प्रत्येकम् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् काँसके कटोरेमें दही, मधु और घी लेकर किसी दूसरे द्रव्यके व्यवधानसे रहित विशुद्ध सोनेकी चम्मचद्वारा 'भूस्ते' इत्यादि मन्त्र पढ़कर बालकको प्रत्येक वस्तु चटावे ॥ २५ ॥

नाम-कर्म

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद् गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६ ॥

इसके बाद बालकका नामकरण करे। 'तुम वेद हो।' अतः वेद यह उस बालकका गुप्त नाम ही होता है ॥ २६ ॥

अथास्य नामधेयं करोति वेदोऽसीति। तदस्य तद् गुह्यं नाम भवति वेद इति ॥ २६ ॥

इसके बाद इस बालकका नामकरण करे 'तुम वेद हो' अतः वेद उस बालकका गोपनीय नाम होता है ॥ २६ ॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७ ॥

तदनन्तर इस बालकको माताकी गोदमें देकर 'यस्ते स्तनः' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए स्तन पिलावे [मन्त्रका भाव इस प्रकार है-] 'हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूधका अक्षयभण्डार तथा पोषणका आधार है, जो रत्नोंकी खान है तथा सम्पूर्ण धन-राशिका ज्ञाता और उदार दानी है तथा जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थोंका पोषण करती हो, इस सत्पुत्रके जीवनधारणार्थ उस स्तनको तुम मेरी पत्नीके शरीरमें प्रविष्ट होकर इस शिशुके मुखमें दे दो ॥ २७ ॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्वाङ्कस्थं स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तन इत्यादिमन्त्रेण ॥ २७ ॥

तदनन्तर अपने अङ्कमें बैठे हुए इस शिशुको माताकी गोदमें देकर 'यस्ते स्तनः' इत्यादि मन्त्रके द्वारा उसका स्तन बालकके मुँहमें दे ॥ २७ ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते । इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतोऽकरदिति । तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥ २८ ॥

इसके बाद बालककी माताको इस प्रकार 'इलासि' इत्यादि मन्त्रद्वारा अभिमन्त्रित करे [मन्त्रका भाव इस प्रकार है] 'हे देवि ! तू ही स्तुतिके योग्य मैत्रावरुणी (अरुन्धती) है । वीरे ! तूने वीर पुत्रको जन्म देकर हमें वीरवान्—वीर पुत्रका पिता बनाया है, अतः तू वीरवती हो । इस बालकको देखकर दूसरे लोग कहें—'तू सचमुच अपने पितासे भी आगे बढ़ गया, तू निःसंदेह अपने पितामहसे भी श्रेष्ठ निकला, तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मतेजके द्वारा उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँच गया ।' इस प्रकार विशिष्टज्ञानसम्पन्न जिस ब्राह्मणके ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है, वह पिता भी इसी प्रकार स्तुत्य होता है ॥ २८ ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयत इलासीत्यनेन । तं वा एतमाहुरित्यनेन विधिना जातः पुत्रः पितरं पितामहं चातिशेत इति श्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन परमां

इसके बाद 'इलासि' इत्यादि मन्त्रद्वारा इस बालककी माताको अभिमन्त्रित करे । 'तं वा एतमाहुः' इस वाक्यद्वारा यह बताया गया है कि शास्त्रीय विधिसे उत्पन्न किया हुआ पुत्र अपने पिता और पितामहसे भी आगे बढ़ जाता है तथा 'तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मचर्यके द्वारा उन्नतिकी परा-

निष्ठां प्रापदित्येवं स्तुत्यो भव-तीत्यर्थः यस्य चैवंविदो ब्राह्म-णस्य पुत्रो जायते स चैवं स्तुत्यो भवतीत्यध्याहार्यम् ॥ २८ ॥

काष्ठाको पहुँच गया, इस प्रकार कहकर लोग उसकी स्तुति करते हैं। ऐसे विशिष्ट ज्ञानसे सम्पन्न जिस ब्राह्मणके ऐसा पुत्र होता है, वह पिता भी उस पुत्रकी भाँति ही स्तुतिका पात्र हो जाता है ॥ २८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पष्ठाध्याये चतुर्थब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

समस्त प्रवचनका वंश

अथ वँ् शः। पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात् कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १ ॥ आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद् वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद् वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद् वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात् सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो

माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद् राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद् भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद् वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात् कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात् प्राचीनयोगीपुत्रः साञ्जीवीपुत्रात् साञ्जीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥ २ ॥ याज्ञवल्क्याद् याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान् बाध्योगोऽसिताद् वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात् कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात् कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥ ३ ॥ समानमा साञ्जीवीपुत्रात् साञ्जीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात् कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद् वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद् वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद् यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात् कावषेयात् तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥४॥

अब वंशका वर्णन किया जाता है—पौतिमाषीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने औपस्वस्तीपुत्रसे, औपस्वस्तीपुत्रने पाराशरी-

पुत्रसे, पाराशरीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने कौशिकीपुत्रसे, कौशिकीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे और वैयाघ्रपदीपुत्रसे, वैयाघ्रपदीपुत्रने काण्वीपुत्रसे तथा कापीपुत्रसे, कापीपुत्रने ॥ १ ॥ आत्रेयीपुत्रसे, आत्रेयीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वात्सीपुत्रसे, वात्सीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे, वार्कारुणीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे; वार्कारुणीपुत्रने आर्तभागीपुत्रसे, आर्तभागीपुत्रने शौङ्गीपुत्रसे, शौङ्गीपुत्रने साङ्कृतीपुत्रसे, साङ्कृतीपुत्रने आलम्बायनीपुत्रसे, आलम्बायनीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे, आलम्बीपुत्रने जायन्तीपुत्रसे, जायन्तीपुत्रने माण्डूकायनीपुत्रसे, माण्डूकायनीपुत्रने माण्डूकीपुत्रसे, माण्डूकीपुत्रने शाण्डिलीपुत्रसे, शाण्डिलीपुत्रने राथीतरीपुत्रसे, राथीतरीपुत्रने भालुकीपुत्रसे, भालुकीपुत्रने दो क्रौञ्चिकीपुत्रोंसे, दोनों क्रौञ्चिकीपुत्रोंने वैदभृतीपुत्रसे, वैदभृतीपुत्रने कार्शकेयीपुत्रसे, कार्शकेयीपुत्रने प्राचीनयोगीपुत्रसे, प्राचीनयोगीपुत्रने साञ्जीवीपुत्रसे, साञ्जीवीपुत्रने आसुरिवासी प्राश्नीपुत्रसे, प्राश्नीपुत्रने आसुरायणसे, आसुरायणने आसुरिसे, आसुरिने ॥ २ ॥ याज्ञवल्क्यसे, याज्ञवल्क्यने उद्दालकसे, उद्दालकने अरुणसे, अरुणने उपवेशिसे, उपवेशिने कुश्रिसे, कुश्रिने, वाजश्रवासे, वाजश्रवाने जिह्वावान् बाध्योगसे, जिह्वावान् बाध्योगने असित वार्षगणसे, असित वार्षगणने हरित कश्यपसे, हरित कश्यपने शिल्प कश्यपसे, शिल्पकश्यपने कश्यप नैध्रुविसे, कश्यप नैध्रुविने वाक्से, वाक्ने अम्भिणीसे, अम्भिणीने आदित्यसे, आदित्यसे प्राप्त हुई ये शुक्ल-यजुःश्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्यद्वारा प्रसिद्ध की गयी हैं ॥ ३ ॥ साञ्जीवीपुत्रपर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवीपुत्रने माण्डूकायनिसे, माण्डूकायनिने माण्डव्यसे, माण्डव्यने कौत्ससे, कौत्सने माहित्थिसे, माहित्थिने वामकक्षायणसे, वामकक्षायणने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने वात्स्यसे, वात्स्यने कुश्रिसे, कुश्रिने यज्ञवचा राजस्तम्बायनसे. यज्ञवचा राजस्तम्बायनने तुर कावषेयसे, तुर कावषेयने प्रजापतिसे और प्रजापतिने ब्रह्मसे। ब्रह्म स्वयम्भु है, स्वयम्भु ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ४ ॥

अथेदानीं समस्तप्रवचनवंशः।	इसके अनन्तर अब समस्त प्रवचनका वंश बतलाया जाता है।
स्त्रीप्राधान्याद् गुणवान् पुत्रो	स्त्रीकी प्रधानता होनेसे गुणवान् पुत्र

भवतीति प्रस्तुतम् । अतः स्त्रीविशेषणेनैव पुत्रविशेषणादाचार्यपरम्परा कीर्त्यते । तानीमानि शुक्लानीत्यव्यामिश्राणिब्राह्मणेन । अथवा यानीमानि यजूंषि तानि शुक्लानि शुद्धानीत्येतत् ।

प्रजापतिमारभ्य यावत्पौतिमाषीपुत्रस्तावदधोमुखो नियताचार्यपूर्वक्रमो वंशः समानमा साञ्जीवीपुत्रात् । ब्रह्मणःप्रवचनाख्यस्य; तच्चैतद् ब्रह्म प्रजापतिप्रबन्धपरम्परयागत्यास्मास्वनेकधा विप्रसृतम् । अनाद्यनन्तं स्वयंभु ब्रह्म नित्यं तस्मै ब्रह्मणे नमः; नमस्तदनुवर्तिभ्यो गुरुभ्यः ॥ १-४ ॥

होता है—ऐसा प्रसङ्ग है । अतः स्त्रीविशेषणसे ही पुत्रका विशेषण देकर आचार्यपरम्पराका उल्लेख किया जाता है । वे ये यजुःश्रुतियाँ शुक्ल अर्थात् ब्राह्मणसे अव्यामिश्र (बिना मिली हुई) हैं ।[1] अथवा ये जो यजुःश्रुतियाँ हैं वे शुद्ध हैं–ऐसा इसका तात्पर्य है ।

प्रजापतिसे लेकर पौतिमाषीपुत्रतक तो यह अधोमुखवंश नियत आचार्यपरम्पराके अनुसार है, इसमें साञ्जीवीपुत्रतक सब आचार्य समान (एक वाजसनेयिशाखामें ही) हैं । ब्रह्म अर्थात् प्रवचननामक ब्रह्मके सम्बन्धसे । वह यह ब्रह्म प्रजापतिसे लेकर परम्परासे आकर हम सबमें अनेक प्रकारसे फैला हुआ है । वह अनादि अनन्त स्वयम्भु ब्रह्म नित्य है, उस ब्रह्मको नमस्कार है और उसके अनुवर्ती गुरुओंको भी नमस्कार है ॥१-४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्याये पञ्चमं वंशब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम्

॥ ॐ तत्सत् ॥

1. अर्थात् इनमें पौरुषेयत्वका दोष नहीं है ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं

पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय

पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

द्वितीय अध्याय

द्वितीय ब्राह्मण

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

द्वितीय ब्राह्मण

तृतीय ब्राह्मण

चतुर्थ ब्राह्मण

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

द्वितीय ब्राह्मण

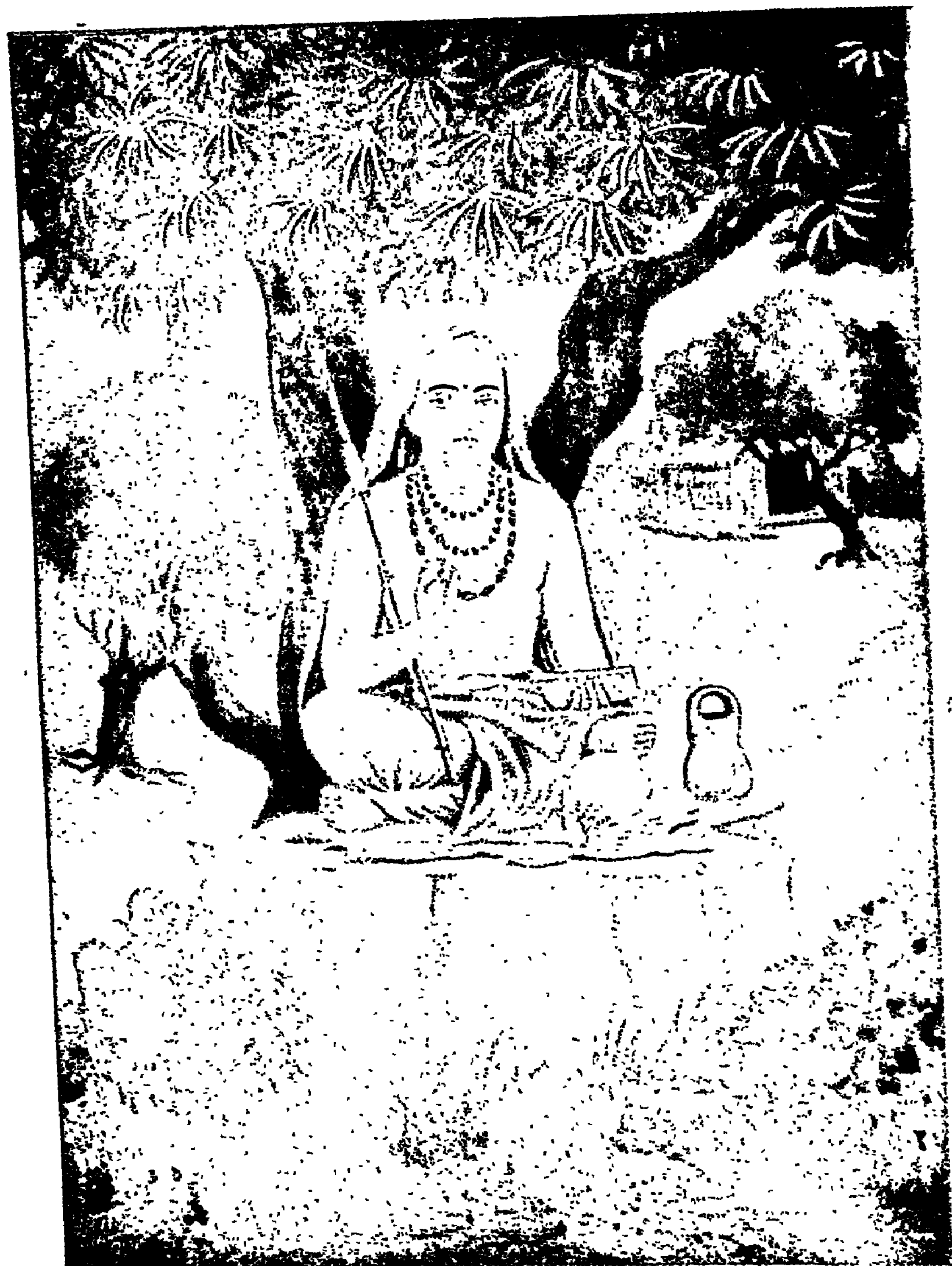
षष्ठ अध्याय

चित्र-सूची



ॐ

यस्मिन्नापूर्यमाणे पतति करतला-
च्छङ्करस्यापि शूलं
त्रासादुद्भ्रान्तचित्ता रविरथतुरगा
भ्रष्टमार्गाः प्रयान्ति ।
ब्रह्मा ब्रह्माण्डभाण्डस्फुटनपरिभया-
स्स्तौति नारायणाख्यं
सोऽस्मान्पायात्सुनादो वदनविनिहितः
पाञ्चजन्यो मुरारेः ॥



भाष्यकार भगवान् शङ्कर

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

बृहदारण्यकोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

शङ्करः शङ्कराचार्यः सद्गुरुः शर्वसन्निभः ।
सर्वेषां शङ्कराः सन्तु सच्चिदानन्दरूपिणः ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ॐ वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्णसे पूर्णकी ही उत्पत्ति होती है । तथा [प्रलयकालमें] पूर्ण (कार्यब्रह्म) का पूर्णत्व लेकर (अपनेमें लीन करके) पूर्ण (परब्रह्म) ही बच रहता है । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

सम्बन्ध-भाष्य

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः ।

'उषा वा अश्वस्य' इत्येषमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत् । तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते संसारव्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये । सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात् । उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात् । तादर्थ्याद् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते ।

ॐ ब्रह्मविद्या-सम्प्रदायके प्रवर्तक [[1]वंश ब्राह्मणोक्त] गुरुपरम्परागत ब्रह्मादि वंश-ऋषियोंको तथा गुरुदेवको नमस्कार है ।

'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि मन्त्रसे आरम्भ होनेवाली वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद् है । संसारबन्धनको दूर करनेकी इच्छावाले विरक्त पुरुषोंके लिये संसारके कारण (अज्ञान) की निवृत्तिके साधन ब्रह्मात्मैक्यबोधकी प्राप्तिके लिये उसकी यह अल्प ग्रन्थवाली (संक्षिप्त) व्याख्या आरम्भ की जाती है । यह ब्रह्मविद्या अपनेमें लगे हुए पुरुषोंके संसारका कारणसहित अत्यन्त अवसादन (उच्छेद) करती है, इसलिये उपनिषद् शब्दसे कही जाती है; क्योंकि 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक सद्धातुका यही (अवसादन ही) अर्थ है । उस ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिरूप प्रयोजनवाला होनेके कारण यह ग्रन्थ भी उपनिषद् कहा जाता है ।

१. इस उपनिषद्के द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठ अध्यायोंके अन्तिम ब्राह्मण 'वंशब्राह्मण' कहलाते हैं; क्योंकि उनमें इस ग्रन्थद्वारा प्रतिपादित विद्याओंकी आचार्यपरम्पराका उल्लेख किया गया है ।

सेयं षडध्यायी अरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम्, बृहत्त्वात्परिमाणतो बृहदारण्यकम्। तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धोऽभिधीयते। सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः सर्वपुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्। दृष्टविषये चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वान्नागमान्वेषणा।

यह छः अध्यायवाली उपनिषद् अरण्य (वन) में कही जानेके कारण आरण्यक है और [अन्य उपनिषदोंकी अपेक्षा] परिमाणमें बृहद् (बड़ी) होनेके कारण बृहदारण्यक कही जाती है। अब इसका कर्मकाण्डके साथ सम्बन्ध बतलाया जाता है। यह सारा ही वेद, जिनका प्रत्यक्ष और अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंसे ज्ञान नहीं होता, उन इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके उपायोंको प्रकाशित करनेवाला है, क्योंकि सभी पुरुषोंको स्वभावसे ही इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति इष्ट है। जो विषय प्रत्यक्ष हैं उनमें इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिके उपायोंका ज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे ही सिद्ध है, इसलिये वहाँ आगमप्रमाण ढूँढनेकी आवश्यकता नहीं होती।

न चासति जन्मान्तरसम्ब- आत्मतत्त्वनिरूपणे न्ध्यात्मास्तित्वविशास्त्रस्यार्थवत्त्वम् ज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्यात् स्वभाववादिदर्शनात्। तस्मा-

किंतु जन्मान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाले आत्माके अस्तित्वका ज्ञान न होनेपर जन्मान्तरसम्बन्धिनी इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी इच्छा भी नहीं हो सकती, जैसा कि स्वभाववादियों (चार्वाकादिकों) में देखा जाता है[1]। अतः शास्त्र

१. अर्थात् आत्माके अस्तित्वको न जाननेवाले लोकायतिक और बौद्धोंकी जन्मान्तरमें इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके उद्देश्यसे वैदिक क्रियाओंमें प्रवृत्ति नहीं होती—यह बात देखी गयी है।

जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते। "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" (क० उ० १ । १ । २०)- इत्युपक्रम्य "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" (क० उ० २ । ३ । १३) इत्येवमादिनिर्णयदर्शनात्। "यथा च मरणं प्राप्य" (क० उ० २ । २ । ६) इत्युपक्रम्य "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्" (क० उ० २ । २ । ७) इति च। "स्वयञ्ज्योतिः" (बृ० उ० ४ । ३ । ९) इत्युपक्रम्य "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" (४ । ४ । २) "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" (३ । २ । १३) इति च। "ज्ञपयिष्यामि" (बृ० उ० २ । १ । १५) इत्युपक्रम्य "विज्ञानमयः"

जन्मान्तर सम्बन्धी आत्माके अस्तित्व और जन्मान्तरकी इष्टप्राप्ति एवं अनिष्टनिवृत्तिके उपायविशेषका निरूपण करनेमें प्रवृत्त होता है। जैसा कि [श्रुतिमें] "मृत मनुष्यके विषयमें जो ऐसी शङ्का होती है कि कोई तो कहते हैं [शरीरादिसे अतिरिक्त देहान्तरसम्बन्धी] आत्मा रहता है और कोई कहते हैं यह नहीं रहता" इस प्रकार उपक्रम करके 'आत्मा है— ऐसा ही जानना चाहिये" इत्यादि निर्णय देखा जाता है तथा "[ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है" इस प्रकार आरम्भ करके "जिसने जैसा कर्म किया है तथा जिसने जैसा शास्त्रज्ञान प्राप्त किया है उसके अनुसार कोई तो देह धारण करनेके लिये किसी योनिको प्राप्त हो जाते हैं और कोई स्थावर हो जाते हैं" इस प्रकार कहा है। एवं "स्वयंप्रकाश है" इस प्रकार आरम्भ कर "ज्ञान और कर्म उसके जन्मान्तरके आरम्भक होते हैं" तथा "वह पुण्यकर्मसे पुण्यवान् और पापकर्मोंसे पापमय होता है" इत्यादि कहा गया है। इसी प्रकार "बतलाऊँगा" ऐसा उपक्रम कर "आत्मा विज्ञान-

(२ । १ । १६) इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम् ।

प्रत्यक्षानुमानाभ्यां नात्मनोऽस्तित्वसिद्धिः

तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेन्न, वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात् । न हि देहान्तरसम्बन्धिन आत्मनः प्रत्यक्षेणास्तित्वविज्ञाने लोकायतिका बौद्धाश्च नः प्रतिकूलाः स्युर्नास्त्यात्मेति वदन्तः । न हि घटादौ प्रत्यक्षविषये कश्चिद्विप्रतिपद्यते नास्ति घट इति । स्थाण्वादौ पुरुषादिदर्शनान्नेति चेन्न, निरूपितेऽभावात् । न हि प्रत्यक्षेण निरूपिते स्थाण्वादौ विप्रतिपत्तिर्भवति । वैनाशिकास्त्वहमितिप्रत्यये जायमानेऽपि देहान्तरव्यतिरिक्तस्य नास्तित्वमेव प्रतिजानते । तस्मात्प्रत्यक्षविषयवैलक्षण्यात् प्रत्यक्षान्नात्मास्तित्वसिद्धिः ।

मय है" इस प्रकार देहसे भिन्न आत्माका अस्तित्व बतलाया गया है।

यदि कहो कि आत्माका अस्तित्व तो प्रत्यक्ष प्रमाणका ही विषय है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इसके सम्बन्धमें विभिन्न वादियोंका मतभेद देखा जाता है। यदि देहान्तरसम्बन्धी आत्माके अस्तित्वका ज्ञान प्रत्यक्ष होता तो लोकायतिक और बौद्ध 'आत्मा नहीं है' ऐसा कहते हुए हमारे प्रतिकूल न होते। घटादि जो प्रत्यक्षप्रमाणके विषय हैं, उनमें 'घट नहीं है' ऐसा संदेह किसीको नहीं होता। यदि कहो कि स्थाणु (ठूँठ) आदिमें पुरुषादिका भ्रम देखा जानेके कारण प्रत्यक्ष वस्तुमें संशयका अभाव नहीं बताया जा सकता तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि अच्छी तरह देख लेनेपर उस संशयका अभाव हो जाता है। स्थाणु आदिका प्रत्यक्ष निरूपण हो जानेपर उसमें किसीको संदेह नहीं रहता। किंतु वैनाशिक तो 'अहम्' ऐसी वृत्तिके उदय होनेपर भी देहान्तरसे भिन्न आत्माके न होनेका ही निश्चय करते हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके विषयसे विलक्षण होनेके कारण प्रत्यक्षसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती।

तथानुमानादपि । श्रुत्या आत्मास्तित्वे लिङ्गस्य दर्शितत्वाल्लिङ्गस्य च प्रत्यक्षविषयत्वान्नेति चेन्न, जन्मान्तरसम्बन्धस्याग्रहणात् । आगमेन त्वात्मा-ऽस्तित्वेऽवगते वेदप्रदर्शितलौकिकलिङ्गविशेषैश्च तदनुसारिणो मीमांसकास्तार्किकाश्च अहम्प्रत्ययलिङ्गानि च वैदिकान्येव स्वमतिप्रभवाणीति कल्पयन्तो वदन्ति प्रत्यक्षश्चानुमेयश्चात्मेति ।

इसी प्रकार अनुमानसे[1] भी [आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता] । यदि कहो कि श्रुतिने आत्माके अस्तित्वमें लिङ्ग[2] (बीज) दिखलाया है और लिङ्ग प्रत्यक्षप्रमाणका विषय होता है, इसलिये आत्मा [प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणका भी विषय है] केवल आगमका ही विषय नहीं है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जन्मान्तरके सम्बन्धका किसी अन्य प्रमाणसे ग्रहण नहीं होता । आगमप्रमाणसे तथा वेदोक्त लौकिक लिङ्गविशेषोंके द्वारा आत्माका अस्तित्व जान लेनेपर ही उसीका अनुसरण करनेवाले मीमांसक और नैयायिक वैदिक अहंप्रतीति और वैदिक लिङ्गोंको ही 'ये हमारी बुद्धिसे निकले हुए तर्क हैं' ऐसी कल्पना करते हुए कहते हैं कि 'आत्मा प्रत्यक्ष और अनुमानका भी विषय है' ।

कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रतिप्रयोजनम्

सर्वथाप्यस्त्यात्मा देहान्तरसम्बन्धीत्येवं प्रतिपत्तुर्देहान्तरगतेष्टा-

सब प्रकार देहान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा है—ऐसा जाननेवाले तथा देहान्तरगत इष्टप्राप्ति और

1. अनुमानका स्वरूप यों है—इच्छा आदि किसीके आश्रित होते हैं; क्योंकि वे गुण हैं, जैसे रूप आदि । इस प्रकारके अनुमानद्वारा इच्छादिके आश्रयरूपसे भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि इच्छादिका अधिष्ठान मन ही प्रसिद्ध है, मनसे अतिरिक्त इच्छादिकी उपलब्धि नहीं होती ।

2. 'यः प्राणेन प्राणिति' इत्यादि श्रुतिके अनुसार प्राणनादि व्यापार ही आत्माके अस्तित्वमें लिङ्ग है ।

निष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषार्थिन-स्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्डमारब्धम्। न त्वात्मन इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छाकारणमात्मविषयमज्ञानं कर्तृभोक्तृस्वरूपाभिमानलक्षणं तद्विपरीतब्रह्मात्मस्वरूपविज्ञानेनापनीतम्। यावद्धि तन्नापनीयते तावदयं कर्मफलरागद्वेषादिस्वाभाविकदोषप्रयुक्तः शास्त्रविहितप्रतिषिद्धातिक्रमेणापि वर्तमानो मनोवाक्कायैर्दृष्टादृष्टानिष्टसाधनानि अधर्मसंज्ञकानि कर्माण्युपचिनोति बाहुल्येन, स्वाभाविकदोषबलीयस्त्वात्। ततः स्थावरान्ताधोगतिः। कदाचिच्छास्त्रकृतसंस्कारबलीयस्त्वम्, ततो मनआदिभिरिष्टसाधनं बाहुल्येनोपचिनोति धर्माख्यम्। तद्द्विविधम्-ज्ञानपूर्वकं केवलञ्च। तत्र केवलं पितृलोकादिप्राप्तिफलम्। ज्ञानपूर्वकं देवलोकादि-

अनिष्टनिवृत्तिके उपायविशेषको जाननेकी इच्छावाले पुरुषोंको उस विशेष उपायका ज्ञान करानेके लिये कर्मकाण्ड आरम्भ किया गया है। उसमें आत्माकी इष्टप्राप्ति एवं अनिष्टनिवृत्तिकी इच्छाके कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानरूप आत्मविषयक अज्ञानको उससे विपरीत ब्रह्मात्मस्वरूप ज्ञानके द्वारा दूर नहीं किया गया। जबतक उस (अज्ञान) की निवृत्ति नहीं होती, तबतक यह जीव कर्मफलके राग-द्वेषादिरूप स्वाभाविक दोषोंसे प्रेरित होनेके कारण शास्त्रकथित विधि और निषेधका उल्लङ्घन करके भी बर्तता हुआ मन, वाणी और शरीरसे दृष्ट और अदृष्ट अनिष्टके साधनभूत अधर्मसंज्ञक कर्मोंको अधिकतासे करता रहता है, क्योंकि स्वभावजनित दोष बहुत प्रबल होता है। इससे उसे स्थावर-पर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है। कभी शास्त्रोक्त संस्कारोंकी प्रबलता होती है, उस समय यह मन आदिसे अधिकतर धर्मसंज्ञक इष्टसाधनोंका सम्पादन करता है। वे ज्ञान (उपासना) पूर्वक और केवल भेदसे दो प्रकारके हैं। उनमें केवल धर्म पितृलोकादिकी प्राप्तिरूप फलवाले हैं और ज्ञानपूर्वक धर्म देवलोकसे

ब्रह्मलोकान्तप्राप्तिफलम् । तथा च शास्त्रम्—"आत्मयाजी श्रेयान्देवयाजिनः" (शत० ब्राह्म०) इत्यादि। स्मृतिश्च "द्विविधं कर्म वैदिकम्" (मनु० १२।८८) इत्याद्या। साम्ये च धर्माधर्मयोःमनुष्यत्वप्राप्तिः। एवं ब्रह्माद्या स्थावरान्ता स्वाभाविकाविद्यादिदोषवती धर्माधर्मसाधनकृता संसारगतिर्नामरूपकर्माश्रया। तदेवेदं व्याकृतं साध्यसाधनरूपं जगत्प्रागुत्पत्तेरव्याकृतमासीत्। स एष बीजाङ्कुरादिवदविद्याकृतः संसार आत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणोऽनादिरनन्तोऽनर्थः,इत्येतस्माद्विरक्तस्याविद्यानिवृत्तये तद्विपरीतब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थोपनिषदारभ्यते।

अश्वमेधब्राह्मण-प्रयोजनम् अस्य त्वश्वमेधकर्मसम्बन्धिनो विज्ञानस्य प्रयोजनं येषामश्वमेधे न

लेकर ब्रह्मलोकतककी प्राप्तिरूप फलवाले हैं। ऐसा ही शास्त्र भी कहता है—"देवोपासककी अपेक्षा आत्मोपासक श्रेष्ठ है।"[1] तथा "वैदिककर्म दो प्रकारका है" (प्रवृत्तिप्रधान और निवृत्तिप्रधान) ऐसी स्मृति भी है। धर्म और अधर्मकी समान मात्रा होनेपर मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्म एवं अधर्मरूप साधनसे होनेवाली ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त नाम, रूप एवं कर्मके आश्रित स्वाभाविक अविद्यादि दोषवाली सांसारिक गति है। वह यह साध्यसाधनरूप व्याकृत जगत् उत्पत्तिसे पूर्व अव्याकृत था। आत्मामें क्रिया, कारक एवं फलका आरोपरूप यह अविद्याकृत संसार बीजाङ्कुरादिके समान [प्रवाहरूपसे] अनादि और अनन्त अनर्थरूप है; अतः इससे विरक्त हुए पुरुषकी अविद्याकी निवृत्तिके लिये इससे विपरीत ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिरूप प्रयोजनवाली यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है।

[इस उपनिषद्के आरम्भमें कहे हुए] इस अश्वमेधकर्मसम्बन्धी विज्ञानका तो यही प्रयोजन है कि

१. सर्वत्र परमात्मबुद्धि रखकर नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला पुरुष आत्मयाजी (आत्मोपासक) है और कामनापूर्वक देवताओंकी उपासना करनेवाला देवयाजी (देवोपासक) है।

अधिकारस्तेषामस्मादेव विज्ञानात् फलप्राप्तिः। 'विद्यया वा कर्मणा वा' "तद्धैतल्लोकजिदेव" (बृ० उ० १।३।२८) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः।

कर्मविषयत्वमेव विज्ञानस्येति चेन्न, "योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद" इति विकल्पश्रुतेः। विद्याप्रकरणे चाम्नानात् कर्मान्तरे च सम्पादनदर्शनाद् विज्ञानात् तत्फलप्राप्तिरस्तीत्यवगम्यते। सर्वेषां च कर्मणां परं कर्माश्वमेधः समष्टिव्यष्टिप्राप्तिफलत्वात्। तस्य चेह ब्रह्मविद्याप्रारम्भ आम्नानं सर्वकर्मणां संसारविषयत्वप्रदर्श-

जिनका [आसमर्थ्यवश] अश्वमेध यज्ञमें अधिकार नहीं है उन्हें इस विज्ञानसे ही उसके फलकी प्राप्ति हो जाय; जैसा कि "ज्ञान (उपासना) से अथवा कर्मसे [उसके फलकी प्राप्ति होती है]" "वह यह (प्राणदर्शन) लोक-प्राप्तिका साधन है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है।

यदि कहो कि अश्वमेधविज्ञान अश्वमेधकर्मसे ही सम्बन्ध रखता है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि "जो अश्वमेधसे यजन करता है अथवा जो इसे इस प्रकार जानता है [वह सब पापोंको पार कर जाता है]" इस प्रकार कर्मके ज्ञान और अनुष्ठानका विकल्प बतलानेवाली श्रुति है। इसके सिवा इसका उल्लेख उपासनाप्रकरणमें होनेसे तथा अश्वमेधसे भिन्न [चित्याग्नि] कर्ममें[1] इसका सम्पादन देखा जानेसे भी यह ज्ञात होता है कि अश्वमेधविज्ञानसे भी अश्वमेधका ही फल मिलता है। समष्टि और व्यष्टि हिरण्यगर्भकी प्राप्तिरूप फलवाला होनेसे समस्त कर्मोंमें अश्वमेध कर्म उत्कृष्ट है। यहाँ ब्रह्मविद्याके आरम्भमें उसका उल्लेख समस्त कर्मोंका

१. 'अयं वै लोकोऽग्निः' (बृ० उ० ६।२।११) इत्यादि वाक्यद्वारा।

नार्थम्। तथा च दर्शयिष्यति

फलमशनायामृत्युभावम्।

संसारसम्बन्धित्व प्रदर्शित करनेके लिये किया गया है। इसी प्रकार श्रुति हिरण्यगर्भको क्षुधारूप मृत्यु-भावकी प्राप्ति दिखलावेगी।

न नित्यानां संसारविषयफलत्वमिति चेन्न, सर्वकर्मफलोपसंहारश्रुतेः। सर्वं हि पत्नीसम्बद्धं कर्म। "जाया मे स्यात्...... एतावान्वै कामः" (बृ० उ० १। ४। १७) इति निसर्गत एव सर्वकर्मणां काम्यत्वं दर्शयित्वा, पुत्रकर्मापरविद्यानां च "मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) इति फलं दर्शयित्वा, त्र्यन्नात्मकतां चान्ते उपसंहरिष्यति "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" (बृ० उ० १। ६। १) इति। सर्वकर्मणां फलं व्याकृतं संसार एवेति।

यदि कहो कि नित्यकर्म संसार-विषयक फलवाले नहीं हैं तो यह ठीक नहीं, क्योंकि समस्त कर्मफलोंका [सांसारिक विषयोंमें ही] उपसंहार किया जाता है—ऐसी श्रुति है। सारे ही कर्मोंका सम्बन्ध स्त्रीसे है। "मुझे स्त्री प्राप्त हो··· इतनी ही कामना है" इस प्रकार स्वभावसे ही समस्तकर्मोंकी सकामता दिखलाकर फिर पुत्र, कर्म और अपरा विद्याके "मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक" इस प्रकार विभिन्न फल दिखाते हुए श्रुति "यह जगत् नाम, रूप और कर्म—इन तीन अवयवोंसे युक्त है" ऐसा कहकर अन्तमें इसकी तीन अन्नरूपताका उपसंहार करेगी। तात्पर्य यह है कि समस्त कर्मोंका फल व्याकृत संसार ही है।

इदमेव त्रयं प्रागुत्पत्तेस्तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तदेव पुनः सर्वप्राणिकर्मवशाद्व्याक्रियते बीजादिव वृक्षः। सोऽयं व्याकृता-

यही त्रय उत्पत्तिसे पूर्व तो अव्याकृत ही था। वही बीजसे वृक्षके समान समस्त प्राणियोंके कर्मवश व्याकृत हो जाता है। वह यह व्यक्ताव्यक्तरूप संसार अविद्याका

व्याकृतरूपः संसारोऽविद्याविषयः; क्रियाकारकफलात्मकतया आत्मरूपत्वेनाध्यारोपितः अविद्ययैव मूर्तामूर्ततद्वासनात्मकः । अतो विलक्षणोऽनामरूपकर्मात्मकोऽद्वयो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि क्रियाकारकफलभेदादिविपर्ययेणावभासते । अतोऽस्मात्क्रियाकारकफलभेदस्वरूपाद् एतावदिदमिति साध्यसाधनरूपाद्विरक्तस्य कामादिदोषकर्मबीजभूताविद्यानिवृत्तये रज्ज्वामिव सर्पविज्ञानापनयाय ब्रह्मविद्या आरभ्यते ।

तत्र तावदश्वमेधविज्ञानाय 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि । तत्राश्वविषयमेव दर्शनमुच्यते प्राधान्यादश्वस्य । प्राधान्यं च तन्नामाङ्कितत्वात्क्रतोः प्राजापत्यत्वाच्च ।

विषय है। अविद्यासे ही मूर्त्त, अमूर्त्त और उनकी वासनारूप यह संसार क्रिया, कारक और फलरूप होनेसे आत्मभावसे आरोपित होता है। इससे भिन्न आत्मा नाम, रूप और कर्मसे रहित, अद्वितीय तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप होनेपर भी क्रिया, कारक और फल-भेदादि विपरीत भावसे प्रतीत होता है। अतः इस साध्य-साधनरूप एवं क्रिया, कारक और फल-भेदरूप संसारसे 'यह इतना ही है' इस प्रकार विरक्त हुए पुरुषकी कामादि दोषमय कर्मोंकी बीजभूता अविद्याकी, रज्जुमें सर्पज्ञानके बाधके समान, निवृत्ति करनेके लिये ब्रह्मविद्याका आरम्भ किया जाता है।

उसमें अश्वमेधविद्याका वर्णन करनेके लिये 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि मन्त्र कहा जाता है। अश्वमेध यज्ञमें अश्वकी प्रधानता होनेके कारण यहाँ अश्वविषयक दृष्टि ही कही गयी है। यह यज्ञ 'अश्व' नामसे अङ्कित है और इसका देवता प्रजापति है, इसीलिये इसमें अश्वकी प्रधानता मानी गयी है।

अश्वके अवयवोंमें कालादि-दृष्टि

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षु-

र्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

ॐ उषा (ब्राह्ममुहूर्त) यज्ञसम्बन्धी अश्वका शिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर यज्ञीय अश्वका आत्मा है। द्युलोक उसका पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखनेका स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्द्धमास पर्व (सन्धिस्थान) हैं, दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) हैं, नक्षत्र अस्थियाँ है, आकाश (आकाशस्थित मेघ) मांस हैं, बालू ऊवध्य (उदरस्थित अर्धपक्व अन्न) है, नदियाँ नाडी हैं, पर्वत यकृत् (जिगर) और हृदयगत मांसखण्ड हैं, ओषधि और वनस्पतियाँ लोम हैं, ऊपरकी ओर जाता हुआ सूर्य नाभिसे ऊपरका भाग और नीचेकी ओर जाता हुआ सूर्य कटिसे नीचेका भाग है। उसका जमुहाई लेना बिजलीका चमकना है और शरीर हिलाना मेघका गर्जन है। वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उसकी वाणी है ॥ १ ॥

उषा इति, ब्राह्मो मुहूर्त उषाः। वैशब्दः स्मरणार्थः प्रसिद्धं कालं स्मारयति। शिरः प्राधान्यात्।

'उषा वा' इत्यादि। ब्राह्ममुहूर्तका नाम उषा है। 'वै' शब्द स्मरण करानेके लिये है। यह प्रसिद्ध कालका स्मरण कराता है। वह प्रसिद्ध उषाकाल प्रधान होनेके कारण

शिरश्च प्रधानं शरीरावयवानाम्। अश्वस्य मेध्यस्य मेधार्हस्य यज्ञियस्योषाः शिर इति सम्बन्धः। कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात् कालादिदृष्टयः शिर आदिषु क्षिप्यन्ते। प्राजापत्यत्वं च प्रजापतिदृष्ट्यध्यारोपणात्। काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च प्रजापतित्वकरणं पशोः। एवंरूपो हि प्रजापतिः, विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ।

शिर है। शिर भी शरीरके अवयवोंमें प्रधान है। अतः मेध्य—मेधार्ह (यज्ञार्ह) यानी यज्ञसम्बन्धी अश्वका उषा शिर है—ऐसा इसका अन्वय है। कर्मके अङ्गभूत पशुका संस्कार किया जाना चाहिये, इसलिये उसके शिर आदिमें कालादिदृष्टियाँ की जाती हैं। उसमें प्रजापति-दृष्टिका अध्यारोप किया जाता है, इसीसे यह प्राजापत्य (प्रजापतिदेवतासम्बन्धी) है। काल, लोक और देवत्वका आरोप करना ही पशुका प्रजापतित्व सम्पादन करना है। जिस प्रकार प्रतिमादिमें विष्णुत्वादिकी प्रतिष्ठा की जाती है उसी प्रकार यह उक्तरूपसे प्रजापति है।

सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात् सूर्याधिदैवतत्वाच्च। वातः प्राणो वायुस्वाभाव्यात्। व्यात्तं विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः। वैश्वानर इत्यग्नेर्विशेषणम्। वैश्वानरो नामाग्निर्विवृतं मुखमित्यर्थो मुखस्याग्निदैवतत्वात्। संवत्सर आत्मा, संवत्सरो द्वादशमासस्त्र-

[जिस प्रकार उषाके अनन्तर सूर्य दिखायी देता है उसी प्रकार] शिरके अनन्तर नेत्र हैं और सूर्य ही नेत्रोंका अभिमानी देव है, इसलिये सूर्य उसका नेत्र है। वायु प्राण है, क्योंकि वह वायुके-से स्वभाववाला है। वैश्वानर अग्नि व्यात्त यानी खुला हुआ मुख है। 'वैश्वानर' यह अग्निका विशेषण है। अर्थात् वैश्वानर अग्नि उसका खुला हुआ मुख है; क्योंकि मुखका अधिष्ठातृदेव अग्नि ही है। संवत्सर आत्मा है; संवत्सर बारह या तेरह महीनेका होता है,

योदशमासो वा, आत्मा शरीरम्। कालावयवानां च संवत्सरः शरीरम्, शरीरं चात्मा "मध्यं ह्यषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः। अश्वस्य मेध्यस्येति सर्वत्रानुषङ्गार्थं पुनर्वचनम्।

द्यौः पृष्ठमूर्ध्वत्वसामान्यात्। अन्तरिक्षमुदरं सुषिरत्वसामान्यात् पृथिवी पाजस्यं पादस्यं पाजस्यमिति वर्णव्यत्ययेन, पादासनस्थानमित्यर्थः। दिशश्चतस्रोऽपि पार्श्वे पार्श्वेन दिशां सम्बन्धात्। पार्श्वयोर्दिशां च सङ्ख्यावैषम्यादयुक्तमिति चेन्न, सर्वमुखत्वोपपत्तेरश्वस्य पार्श्वाभ्यामेव सर्वदिशां सम्बन्धाददोषः। अवान्तरदिश

वह उसका आत्मा यानी शरीर है। कालके अवयवोंका संवत्सर ही शरीर है, और "इन सब अङ्गोंका मध्यभाग आत्मा है" इस श्रुतिके अनुसार शरीर ही आत्मा है। 'अश्वस्य मेध्यस्य' इसकी पुनरुक्ति इसका सबके साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करनेके लिये है।

ऊर्ध्वत्वमें समानता होनेके कारण द्युलोक उसका पृष्ठभाग है, अवकाश या छिद्ररूपतामें समानता होनेके कारण अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पाजस्य—पादस्य यानी पैर रखनेका स्थान है। 'पादस्य' के वर्ण (द) का ['व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इस सूत्रके अनुसार जकारके रूपमें] व्यत्यय होनेसे 'पाजस्य' हुआ है। चारों दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, क्योंकि पार्श्वसे दिशाओंका सम्बन्ध है। [यदि कहो कि] पार्श्व और दिशाओंकी [1]संख्यामें समानता न होनेके कारण ऐसा कहना उचित नहीं है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अश्वका मुख सभी दिशाओंकी ओर हो सकता है, अतः उसके पार्श्वोंका सभी दिशाओंसे सम्बन्ध होनेके कारण इसमें कोई दोष नहीं है।

१. क्योंकि दिशाएँ चार हैं और पार्श्व केवल दो होते हैं।

आग्नेय्याद्याः पर्शवः पार्श्वास्थीनि। ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वादङ्गसाधर्म्यात्। मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि सन्धयः सन्धिसामान्यात्। अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः। बहुवचनात् प्राजापत्यदैवपित्र्यमानुषाणि, प्रतिष्ठाः पादाः प्रतितिष्ठत्येतैरिति। अहोरात्रैर्हि कालात्मा प्रतितिष्ठत्यश्वश्च पादैः।

आग्नेयी आदि अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ अर्थात् पार्श्वभागकी अस्थियाँ हैं। ऋतुएँ अङ्ग हैं, क्योंकि संवत्सरके अवयव होनेके कारण अङ्गोंसे उनकी समानता है। मास और अर्धमास पर्व—सन्धियाँ हैं; क्योंकि सन्धिसे उनकी समानता है। दिन और रात्रि प्रतिष्ठा है। 'अहोरात्राणि' इस पदमें बहुवचन होनेके कारण प्रजापति, देवता, पितृगण और मनुष्य सभीके दिन-रात[1] प्रतिष्ठा अर्थात् पाद हैं, क्योंकि इनसे वह प्रतिष्ठित होता है। कालात्मा दिनरात्रिके द्वारा प्रतिष्ठित होता है और अश्व पैरोंके द्वारा।

नक्षत्राण्यस्थीनि शुक्लत्वसामान्यात्। नभो नभःस्था मेघा अन्तरिक्षस्योदरत्वोक्तेः, मांसान्युदकरुधिरसेचनसामान्यात्। ऊवध्यं उदरस्थमर्धजीर्णमशनं सिकता

शुक्लत्वमें समानता होनेके कारण नक्षत्र अस्थियाँ हैं। आकाश अर्थात् आकाशस्थित मेघ, क्योंकि अन्तरिक्ष (आकाश) की उदररूपता कही जा चुकी है, मांस हैं, क्योंकि जलरूप रुधिर बरसानेमें उनकी मांससे समानता है। अवयवोंके बिलग-बिलग रहनेमें समानता होनेके कारण बालू ऊवध्य-

१. प्रजापतिका एक अहोरात्र दो सहस्र युगका होता है, देवताओंका अहोरात्र उत्तरायण और दक्षिणायनरूप है, पितृगणका अहोरात्र शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष है तथा मनुष्यका अहोरात्र एक दिन और एक रात्रि है।

विश्लिष्टावयवत्वसामान्यात् । सिन्धवः स्यन्दनसामान्यान्नद्यो गुदा नाड्यो बहुवचनाच्च । यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ । क्लोमान इति नित्यं बहुवचनमेकस्मिन्नेव । पर्वताः काठिन्यादुच्छ्रितत्वाच्च । ओषधयश्च क्षुद्राः स्थावरा वनस्पतयो महान्तो लोमानि केशाश्च यथासम्भवम् ।

उद्यन्नुद्गच्छन्भवति सविता आमध्याह्नादश्वस्य पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वमित्यर्थः । निम्लोचन्नस्तं यन्नामध्याह्नाज्जघनार्धोऽपरार्धः पूर्वापरत्वसाधर्म्यात् । यद्विजृम्भते गात्राणि विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते विद्योतनं मुखघनविदारणसामान्यात् । यद्विधूनुते गा-

उदरस्थित अर्धजीर्ण अन्न है । सिन्धु अर्थात् स्यन्दन (बहने) में समानता होनेके कारण नदियाँ गुदा—नाडियाँ हैं, क्योंकि यहाँ 'सिन्धवः' और 'गुदाः' दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं[1] । कठिन और ऊँचे उठे हुए होनेके कारण पर्वत यकृत् और क्लोमा हैं । 'यकृत्' और 'क्लोमा'—हृदयके अधोभागमें सीधे और बायें दो मांसखण्ड हैं । 'क्लोमानः' यह एकके ही अर्थमें नित्य बहुवचनान्त होता है । ओषधि—क्षुद्र स्थावर और वनस्पति—महान् स्थावर ये यथासम्भव लोम और केश हैं ।

सूर्य जो मध्याह्नकालपर्यन्त उदित होता—ऊपरकी ओर जाता है वह अश्वका पूर्वार्ध यानी नाभिसे ऊपरका भाग है और निम्लोचन् अर्थात् मध्याह्नकालसे अस्तकी ओर जाता हुआ वह सूर्य जघनार्ध—अपरार्ध (नीचेका भाग) है, क्योंकि पूर्वत्व और अपरत्वमें उन (उदित और अस्त होते हुए सूर्य) की समानता है । तथा वह जो जमुहाई लेता अर्थात् अङ्गोंको फैलाता यानी उन्हें विशेषरूपसे झाड़ता है । वह बिजलीका चमकना है, क्योंकि विद्योतन और मुख एवं मेघके विदारणमें

१. अतएव यहाँ 'गुदा' शब्द लोकप्रसिद्ध नितम्ब-अर्थका बोधक नहीं हो सकता ।

गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसामान्यात् । यन्मेहति मूत्रं करोत्यश्वस्तद्वर्षति वर्षणं तत् सेचनसामान्यात् । वागेव शब्द एवास्याश्वस्य वागिति, नात्र कल्पनेत्यर्थः ॥ १ ॥

समानता है। तथा वह जो हिलाता अर्थात् शरीरको कम्पित करता है वह मेघका गर्जन है; क्योंकि इन दोनोंहीमें गर्जन-शब्द रहनेमें समानता है। और वह अश्व जो मूत्रत्याग करता है वही वर्षा होना है, क्योंकि भिगोनेमें इन दोनोंकी समानता है। वाक् अर्थात् शब्द ही इस अश्वकी वाणी है; तात्पर्य यह है कि यहाँ कोई कल्पना नहीं है ॥ १ ॥

अश्वमेधसम्बन्धी महिमासंज्ञक ग्रहादिमें अहरादिदृष्टि

अहर्वा इति। सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते तद्विषयमिदं दर्शनम्—

'अहर्वा' इत्यादि। अश्वके आगे और पीछे महिमा नामके सोने और चाँदीके दो ग्रह (यज्ञीय पात्रविशेष), रक्खे जाते हैं; उन्हींसे सम्बन्ध रखनेवाली यह दृष्टि है—

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वासुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥२॥

अश्वके सामने महिमारूपसे दिन प्रकट हुआ; उसकी पूर्व समुद्र योनि है। रात्रि इसके पीछे महिमारूपसे प्रकट हुई; उसकी अपर (पश्चिम) समुद्र योनि है। ये ही दोनों इस अश्वके आगे-पीछेके महिमासंज्ञक ग्रह

हुए। इसने हय होकर देवताओंको, वाजी होकर गन्धर्वोंको, अर्वा होकर असुरोंको और अश्व होकर मनुष्योंको वहन किया है। समुद्र ही इसका बन्धु है और समुद्र ही उद्गमस्थान है ॥ २ ॥

अहः सौवर्णो ग्रहो दीप्तिसामान्याद्धि। अहरश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायतेति कथम्? अश्वस्य प्रजापतित्वात्। प्रजापतिर्ह्यादित्यादिलक्षणोऽह्ना लक्ष्यते। अश्वं लक्षयित्वाजायत सौवर्णो महिमा ग्रहो वृक्षमनु विद्योतते विद्युदिति यद्वत्। तस्य ग्रहस्य पूर्वे पूर्वः समुद्रे समुद्रो योनिर्विभक्तिव्यत्ययेन। योनिरित्यासादनस्थानम्।

दीप्तिमें समानता होनेके कारण दिन ही सुवर्णमय ग्रह है। दिन ही इस अश्वके सामने महिमारूपसे प्रकट हुआ, सो किस प्रकार? क्योंकि यह अश्व प्रजापतिरूप है; आदित्यादिरूप प्रजापति ही दिनसे लक्षित होता है। जिस प्रकार वृक्षको लक्ष्य बनाकर विजली चमकती है उसी प्रकार इस अश्वको लक्षित कराकर दिनरूप सुवर्णमय महिमासंज्ञक ग्रह प्रकट हुआ है। उस ग्रहका 'पूर्वे समुद्रे' अर्थात् पूर्वसमुद्र योनि है। योनि अर्थात् प्राप्तिस्थान है। यहाँ [वैदिक प्रक्रियाके अनुसार] प्रथमा विभक्तिका सप्तमीके रूपमें व्यत्यय हुआ है, अतः 'पूर्वे समुद्रे' का पूर्वः समुद्रः' अर्थ किया गया है।

तथा रात्री राजतो ग्रहो वर्णसामान्याज्जघन्यत्वसामान्याद्वा। एनमश्वं पश्चात्पृष्ठतो महिमान्वजायत, तस्यापरे समुद्रे योनिः। महिमा महत्त्वात्। अश्वस्य हि

इसी प्रकार वर्णमें और निकृष्टतामें समानता होनेके कारण रात्रि—राजत (चाँदीका) ग्रह है। यह इस अश्वके पीछेकी ओर यानी पृष्ठभागमें महिमारूपसे प्रकट हुई। उसका पश्चिमसमुद्र उद्गमस्थान है। महत्ताके कारण ये 'महिमा' कहलाते हैं। यह अश्वकी विभूति ही है कि

विभूतिरेषा यत्सौवर्णो राजतश्च ग्रहावुभयतः स्थाप्येते। तावेतौ वै महिमानौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वमभितः सम्बभूवतुरुक्तलक्षणावेव सम्भूतौ। इत्थमसावश्वो महत्त्वयुक्त इति पुनर्वचनं स्तुत्यर्थम्।

इसके आगे-पीछे सुवर्ण और चाँदीके ग्रह (पात्रविशेष) रखे जाते हैं। वे ये महिमा अर्थात् ऊपर बतलाये हुए लक्षणोंवाले महिमासंज्ञक ग्रह ही अश्वके आगे-पीछे प्रकट हुए हैं। इस प्रकार यह अश्व महत्त्वयुक्त है—यह पुनरुक्ति अश्वकी स्तुतिके लिये है।

तथा च हयो भूत्वेत्यादि स्तुत्यर्थमेव। हयो हिनोतेर्गतिकर्मणो विशिष्टगतिरित्यर्थः। जातिविशेषो वा। देवानवहद् देवत्वमगमयत्प्रजापतित्वात्। देवानां वा वोढाभवत्।

तथा 'हयो भूत्वा' इत्यादि वाक्य भी अश्वकी स्तुतिके ही लिये है। गतिकर्मक 'हि' धातुका रूप 'हय' है, अतः 'हय' का अर्थ विशिष्टगतिमान् है। अथवा 'हय' अश्वकी जातिविशेष है। हय होकर उसने देवताओंको वहन किया अर्थात् प्रजापति होनेके कारण उन्हें देवत्वको प्राप्त कराया; अथवा वह देवताओंका वाहन हुआ।

ननु निन्दैव वाहनत्वम्।

शङ्का—किंतु वाहन होना तो निन्दा ही है [स्तुतिके लिये कैसे कहा ?]।

नैष दोषः, वाहनत्वं स्वाभाविकमश्वस्य। स्वाभाविकत्वादुच्छ्रायप्राप्तिर्देवादिसम्बन्धोऽश्वस्येति स्तुतिरेवैषा। तथा वाज्यादयो जातिविशेषाः। वाजी भूत्वा

समाधान—यह कोई दोषकी बात नहीं है, अश्वका वाहन होना तो स्वाभाविक ही है। स्वाभाविक होनेके कारण देवादिसे सम्बन्ध होना तो उच्च पदकी प्राप्ति ही है, अतः यह उसकी स्तुति हो है। इसी प्रकार वाजी आदि भी जाति विशेष हैं।

गन्धर्वानवहदित्यनुषङ्गः । तथा-र्वा भूत्वासुरान् । अश्वो भूत्वा मनुष्यान् । समुद्र एवेति परमात्मा बन्धुबन्धनं बध्यतेऽस्मिन्निति । समुद्रो योनिः कारणमुत्पत्तिं प्रति । एवमसौ शुद्धयोनिः शुद्धस्थितिरिति स्तूयते । "अप्सु योनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः प्रसिद्ध एव वा समुद्रो योनिः ॥ २ ॥

अतः इसका सम्बन्ध इस प्रकार है—वाजी होकर उसने गन्धर्वोंका वहन किया तथा अर्वा होकर असुरोंका और अश्व होकर मनुष्योंका वहन किया । समुद्र अर्थात् परमात्मा ही इसका बन्धु-बन्धन है, क्योंकि इसीमें यह बाँधा जाता है तथा समुद्र ही योनि यानी इसकी उत्पत्तिमें कारण है । इस प्रकार यह शुद्ध योनि और शुद्ध स्थितिवाला है—ऐसा कहकर इसकी स्तुति की जाती है । अथवा "अश्व जलमें योनिवाला है" इस श्रुतिके अनुसार प्रसिद्ध समुद्र ही इसकी योनि है ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये
प्रथममश्वमेधब्राह्मणम् ॥ १ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

अश्वमेधसम्बन्धी अग्निकी उत्पत्ति

अथाग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्योत्पत्तिरुच्यते । तद्विषयदर्शनविवक्षयैवोत्पत्तिः स्तुत्यर्था ।

अब आगे अश्वमेधमें उपयोगी अग्निकी उत्पत्तिका वर्णन किया जाता है । तद्विषयक दृष्टि कहनेकी इच्छासे ही जो उसकी उत्पत्ति कही जाती है वह स्तुतिके लिये है ।

नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे

कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। यह सब मृत्युसे ही आवृत था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है। उसने 'मैं आत्मा (मन) से युक्त होऊँ' ऐसा मन किया। उसने अर्चन (पूजन) करते हुए आचरण किया। उसके अर्चन करनेसे आप हुआ। अर्चन करते हुए मेरे लिये क (जल) प्राप्त हुआ है, अतः यही अर्कका[1] अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्कके इस अर्कत्वको जानता है उसे निश्चय क (सुख) होता है ॥ १ ॥

नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्। इह संसारमण्डले किञ्चन किञ्चिदपि नामरूपप्रविभक्तविशेषं नैवासीद् न बभूव अग्रे प्रागुत्पत्तेर्मनआदेः।

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। अर्थात् मन आदिकी उत्पत्तिसे पूर्व यहाँ-इस संसारमण्डलमें किञ्चनमात्र -कुछ भी-नाम-रूपमें विभक्त हुआ कोई भी पदार्थविशेष नहीं था।

सत्कारणवाद-साधनम्

किं शून्यमेव स्यात् "नैवेह किञ्चन" इति श्रुतेः। न कार्यं कारणं वासीत्। उत्पत्तेश्च, उत्पद्यते हि घटः, अतः प्रागुत्पत्तेर्घटस्य नास्तित्वम्।

शून्यवादी—तो क्या उस समय शून्य ही था, क्योंकि "यहाँ कुछ भी नहीं था" ऐसी श्रुति है। अतः कार्य या कारण कुछ भी नहीं था। इसके सिवा उत्पत्ति होनेसे भी यही सिद्ध होता है। घट उत्पन्न होता है, इसलिये उत्पत्तिसे पूर्व घटकी सत्ता नहीं होती।

ननु कारणस्य न नास्तित्वं मृत्पिण्डादिदर्शनात्। यन्नोप-

सिद्धान्ती—किंतु कारणका तो अभाव नहीं होता, क्योंकि [घटोत्पत्तिसे पूर्व भी] मृत्पिण्डादि देखे

1. 'अर्चते कम् अर्कम्' अर्थात् जिसके अर्चन करनेवालेको क (जल या सुख) हो उसका नाम अर्क है। इस व्युत्पत्तिसे 'अर्क' अग्निको कहते हैं।

लभ्यते तस्यैव नास्तिता। अस्तु कार्यस्य न तु कारणस्य, उपलभ्यमानत्वात्।

न; प्रागुत्पत्तेः सर्वानुपलम्भात्। अनुपलब्धिश्चेदभावहेतुः सर्वस्य जगतः प्रागुत्पत्तेर्न कारणं कार्यं वोपलभ्यते। तस्मात्सर्वस्यैवाभावोऽस्तु।

न; "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" इति श्रुतेः। यदि हि किञ्चिदपि नासीद् येनाव्रियते यच्चाव्रियते तदा नावक्ष्यत् 'मृत्युनैवेदमावृतम्' इति। न हि भवति गगनकुसुमच्छन्नो वन्ध्यापुत्र इति। ब्रवीति च 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' इति, तस्माद्येनावृतं कारणेन, यच्चावृतं कार्यं प्रागुत्पत्तेस्तदुभयमासीत्, श्रुतेः प्रामाण्यादनुमेयत्वाच्च।

जाते हैं। जो वस्तु उपलब्ध नहीं होती उसीका अभाव होता है। अतः कार्यका अभाव भले ही रहे कारणका तो अभाव नहीं होता, क्योंकि वह तो उपलब्ध होता ही है।

शून्यवादी—नहीं, क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व तो सभीकी उपलब्धि नहीं होती। यदि अनुपलब्धि ही अभावका कारण है तो उत्पत्तिसे पूर्व तो सारे जगत्का कारण या कार्य उपलब्ध नहीं होता। अतः सभीका अभाव होना चाहिये।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ "यह मृत्युसे ही आवृत था" ऐसी श्रुति है। यदि उस समय कुछ भी न होता तो जिससे आवृत होता है और जो आवृत होता है उसके विषयमें श्रुति यह न कहती कि 'यह मृत्युसे ही आवृत था।' वन्ध्यापुत्र आकाश-कुसुमसे आच्छादित होता हो—ऐसा कभी नहीं होता। किंतु श्रुति ऐसा कह रही है कि 'यह मृत्युसे ही आवृत था', अतः जिस कारणसे आवृत था और जो कार्य आवृत था, उत्पत्तिसे पूर्व वे दोनों ही थे, क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण है और ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है।

अनुमीयते च प्रागुत्पत्तेः कार्यकारणयोरस्तित्वम्; कार्यस्य हि सतो जायमानस्य कारणे सत्युत्पत्तिदर्शनात्, असति चादर्शनात्। जगतोऽपि प्रागुत्पत्तेः कारणास्तित्वमनुमीयते घटादिकारणास्तित्ववत्।

घटादिकारणस्याप्यसत्त्वमेव, अनुपमृद्य मृत्पिण्डादिकं घटाद्यनुत्पत्तेरिति चेत्?

न; मृदादेः कारणत्वात्। मृत्सुवर्णादि हि तत्र कारणं घटरुचकादेः, न पिण्डाकारविशेषः, तदभावे भावात्। असत्यपि पिण्डाकारविशेषे मृत्सुवर्णादिकारणद्रव्यमात्रादेव घट-

उत्पत्तिसे पूर्व कार्य और कारणके अस्तित्वका अनुमान भी किया जा सकता है; क्योंकि उत्पन्न होनेवाले सत्य कार्यकी ही सत्य कारणमें उत्पत्ति देखी जाती है; असत्यमें नहीं देखी जाती। घटादिके कारणकी सत्ताके समान उत्पत्तिसे पूर्व जगत्के कारणकी सत्ताका भी अनुमान किया जा सकता है।[1]

शून्यवादी—किंतु घटादिके कारणकी भी तो सत्ता नहीं है, क्योंकि मृत्पिण्डादिको नष्ट किये बिना घटादिकी उत्पत्ति ही नहीं होती—यदि ऐसा कहें तो?[2]

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कारण तो मृत्तिकादि हैं। घट और रुचक (कण्ठभूषण) आदिके कारण तो मृत्तिका और सुवर्णादि हैं, उनका पिण्डाकारविशेष कारण नहीं है, क्योंकि उसका अभाव होनेपर भी उन (मृत्तिकादि) की सत्ता तो रहती ही है। पिण्डाकारविशेषके न रहनेपर भी मृत्तिका और सुवर्णादि कारण-द्रव्यमात्रसे ही

१. इससे कारणकी सत्ताका अनुमान किया जाता है। अनुमानका प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिये—'विमतं सत्पूर्वं कार्यत्वाद् घटवत्' विवादका विषयभूत जगत् सत् (कारण) पूर्वक है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट।

२. अतः यह (घटरूप) दृष्टान्त साध्यविकल होनेके कारण उक्त अनुमान प्रामाणिक नहीं है।

रुचकादिकार्योत्पत्तिर्दृश्यते । तस्मान्न पिण्डाकारविशेषो घटरुचकादिकारणम् । असति तु मृत्सुवर्णादिद्रव्ये घटरुचकादिर्न जायत इति मृत्सुवर्णादिद्रव्यमेव कारणम्, न तु पिण्डाकारविशेषः।

सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्यात्मकार्यस्य तिरोधानं कुर्वत्कार्यान्तरमुत्पादयति, एकस्मिन्कारणे युगपदनेककार्यविरोधात् । न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वात्मोपमर्दो भवति । तस्मात्पिण्डाद्युपमर्दे कार्योत्पत्तिदर्शनमहेतुः प्रागुत्पत्तेः कारणासत्त्वे ।

पिण्डादिव्यतिरेकेण मृदादेरसत्त्वादयुक्तमिति चेत्—पिण्डादिपूर्वकार्योपमर्दे मृदादिकारणं नोपमृद्यते, घटादिकार्यान्तरेऽप्यनुवर्तते इत्येतदयुक्तम्; पिण्ड-

घट और रुचकादि कार्यकी उत्पत्ति होती देखी जाती है। अतः घट और रुचकादिका कारण पिण्डाकारविशेष नहीं है । मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्यके अभावमें घट और रुचकादिकी उत्पत्ति नहीं होती । अतः मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्य ही उनका कारण है, उनका पिण्डाकारविशेष कारण नहीं है ।[१]

सारे ही कारण कार्यकी उत्पत्ति करते समय अपने पूर्वोत्पन्न कार्यका लय करके ही दूसरे कार्यको उत्पन्न करते हैं, क्योंकि एक कारणमें एक साथ अनेक कार्योंकी उत्पत्ति होना विरुद्ध है। किंतु उस पूर्व कार्यका लय होनेसे ही कारणके स्वरूपका लय नहीं होता। अतः पिण्डादिका लय होनेपर कार्यकी उत्पत्ति दिखायी देना उत्पत्तिसे पूर्व कारणकी असत्ताका हेतु नहीं है।

शून्यवादी—किंतु पिण्डादिसे भिन्न मृत्तिकादिकी कोई सत्ता नहीं है, इसलिये ऐसा कहना अनुचित है। पिण्डादि पूर्व कार्यका लय होनेपर मृदादि कारणका लय नहीं होता, वह घटादि कार्यान्तरमें भी अनुवृत्त रहता है—ऐसा कहना

१. इसलिये ऊपर दिये हुए दृष्टान्तमें साध्यवैकल्य दोष नहीं माना जा सकता।

घटादिव्यतिरेकेण मृदादिकारणस्यानुपलम्भादिति चेत् ?

उचित नहीं है, क्योंकि पिण्ड और घटादिसे पृथक् मृत्तिकादि कारणकी उपलब्धि नहीं होती।

न, मृदादिकारणानां घटाद्युत्पत्तौ पिण्डादिनिवृत्तावनुवृत्तिदर्शनात्। सादृश्यादन्वयदर्शनं न कारणानुवृत्तेरिति चेन्न, पिण्डादिगतानां मृदाद्यवयवानामेव घटादौ प्रत्यक्षत्वेऽनुमानाभासात्सादृश्यादिकल्पनानुपपत्तेः।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि घटादिकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डादिकी निवृत्ति हो जानेपर भी मृत्तिकादि कारणद्रव्योंकी अनुवृत्ति देखी जाती है। यदि कहो कि समानताके कारण उनमें मृत्तिकाका अन्वय देखा जाता है, कारणकी अनुवृत्ति होनेसे नहीं—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पिण्डादिगत मृत्तिकादि अवयवोंको ही घटादिमें प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिये केवल अनुमानाभाससे सादृश्यादिकी कल्पना करना उचित नहीं है।

न च प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धाव्यभिचारिता, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य सर्वत्रैवानाश्वासप्रसङ्गात्। यदि च क्षणिकं सर्वं तदेवेदमिति गम्यमानं तद्बुद्धेरप्यन्यतद्बुद्ध्यपेक्षत्वे तस्या

इसके सिवा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंकी अव्यभिचारिता (समञ्जसता) में विरोध भी नहीं होता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है, इसलिये [उनमें विरोध होनेपर] सभी जगह अविश्वासका प्रसंग हो जायगा। यदि 'तदेवेदम्' (यह वही है) इस प्रकार ज्ञात होनेवाला सब कुछ क्षणिक है तो उस क्षणिकत्वबुद्धिको प्रमाणित करनेके लिये भी तद्विषयक अन्य बुद्धिकी अपेक्षा होगी और उसके लिये दूसरी

अप्यन्यतद्बुद्ध्यपेक्षत्वमित्यनवस्थायां तत्सदृशमिदमित्यस्या अपि बुद्धेर्मृषात्वात्सर्वत्रानाश्वासतैव। तदिदम्बुद्ध्योरपि कर्त्रभावे सम्बन्धानुपपत्तिः।

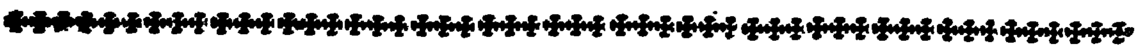
सादृश्यात्तत्सम्बन्ध इति चेन्न, तदिदम्बुद्ध्योरितरेतरविषयत्वानुपपत्तेः। असति चेतरेतरविष-

तद्बुद्धिकी; इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होनेपर [क्षणिकत्वबुद्धिको स्वतःप्रमाण मानना होगा। ऐसी दशामें] 'यह उसके समान है' यह बुद्धि भी ['तदिदम्' बुद्धिके ही अन्तर्गत होनेसे] मिथ्या होनेके कारण सर्वत्र अविश्वास ही रहेगा।[1] तथा 'तदिदम्' 'यह' और 'वही'—इन बुद्धियोंका भी, कोई कर्ता न होनेके कारण परस्पर सम्बन्ध होना सम्भव नहीं होगा।[2]

यदि कहो कि सदृशताके कारण इनका सम्बन्ध हो सकता है—तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'तत्' 'इदम्'—इन बुद्धियोंका इतरेतर-विषयत्व (भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करना) सिद्ध नहीं होता। जबतक

१. 'तत्' (वह) और 'इदम्' (यह) शब्दसे होनेवाले यावन्मात्र वस्तुज्ञानको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं, कोई भी बुद्धि अपने विषयमें स्वतःप्रमाण नहीं होती, उसकी प्रमाणताके लिये अन्य बुद्धिकी अपेक्षा होती है—ऐसा बौद्ध मानते हैं। बौद्धोंके मतमें प्रत्यभिज्ञामात्र क्षणिक है। अतः उनकी मान्यताके अनुसार क्षणिकत्व बुद्धिको भी प्रमाणित करनेके लिये बुद्ध्यन्तरकी अपेक्षा होगी और फिर उस बुद्धिके लिये दूसरी बुद्धिकी, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा; अतः उन्हें क्षणिकत्वादि बुद्धिको स्वतःप्रमाण मानना पड़ेगा। ऐसी दशामें सादृश्य बुद्धि भी प्रत्यभिज्ञा होनेसे क्षणिक ही हुई, इस प्रकार कहीं भी विश्वास न होगा।

२. 'तत्' और 'इदम्' ये दोनों बुद्धियाँ दो क्षणोंमें होती हैं, एक बुद्धि दूसरे क्षणमें रह नहीं सकती, अतः उसके स्वरूपका तिरोधान न हो जाय इसके लिये उन दोनोंका एक कर्ता (द्रष्टा) में सामानाधिकरण्येन सम्बन्ध मानना चाहिये। परंतु क्षणिक विज्ञानवादीके मतमें दो क्षणोंमें रहनेवाला कोई एक द्रष्टा है नहीं; अतः उन बुद्धियोंका सम्बन्ध असम्भव ही है।



यत्वे सादृश्यग्रहणानुपपत्तिः । असत्येव सादृश्ये तद्बुद्धिरिति चेन्न, तदिदम्बुद्ध्योरपि सादृश्यबुद्धिवदसद्विषयत्वप्रसङ्गात् । असद्विषयत्वमेव सर्वबुद्धीनामस्त्विति चेन्न, बुद्धिबुद्धेरप्यसद्विषयत्वप्रसङ्गात् । तदप्यस्त्विति चेन्न, सर्वबुद्धीनां मृषात्वेऽसत्यबुद्ध्यनुपपत्तेः । तस्मादसदेतत्सादृश्यात्तद्बुद्धिरिति । अतः सिद्धः प्राक्कार्योत्पत्तेः कारणसद्भावः ।

इन बुद्धियोंके विषय भिन्न-भिन्न न हों तबतक इनकी सदृशताका भी ग्रहण नहीं हो सकता । यदि ऐसा मानें कि विषयकी सदृशता न होनेपर भी 'यह वही है' ऐसी बुद्धि होती है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें सादृश्यबुद्धिके समान तद् और इदं-बुद्धियाँ भी असद्विषयक [अर्थात् क्षणिक या भ्रान्त] सिद्ध होंगी । यदि कहो कि सभी बुद्धियोंकी असद्विषयता (मिथ्यात्व) ही होने दो, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि तब तो बुद्धि-बुद्धिके भी मिथ्या होनेका प्रसंग उपस्थित होगा । यदि कहो, अच्छा ऐसा ही हो, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि इस प्रकार जब सभी बुद्धियाँ मिथ्या होंगी तो असत्यबुद्धिका होना सम्भव नहीं होगा ।[1] अतः सादृश्यसे 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है—यह कहना ठीक नहीं है । इसलिये कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व कारणकी सत्ता सिद्ध ही है ।

कार्यसद्भाव-साधनम्

कार्यस्य चाभिव्यक्तिलिङ्गत्वात् । कार्यस्य च सद्भावः प्रागुत्पत्तेः

कार्यकी भी सत्ता है, क्योंकि वह अभिव्यक्तिरूप लिङ्गवाला है । उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी भी सत्ता

१. क्योंकि यह सब असत् यानी शून्यरूप है—ऐसा ज्ञान तो सत्य बुद्धिसे ही हो सकता है । सत्ताशून्य बुद्धि असत्का भी ग्रहण कैसे करेगी ?

सिद्धः। कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति। अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः। यद्धि लोके प्रावृतं तम आदिना घटादिवस्तु तदालोकादिना प्रावरणतिरस्कारेण विज्ञानविषयत्वं प्राप्नुवत्प्राक्सद्भावं न व्यभिचरति। तथेदमपि जगत्प्रागुत्पत्तेरित्यवगच्छामः। न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्ये उपलभ्यते।

सिद्ध होती है। किस प्रकार?—अभिव्यक्तिरूप लिङ्गवाला होनेसे, क्योंकि अभिव्यक्ति ही कार्यका लिङ्ग है। साक्षात् विज्ञानालम्बनत्वको प्राप्त होनेका नाम 'अभिव्यक्ति' है। लोकमें जो घट आदि पदार्थ अन्धकारादिसे आच्छादित होता है वही उस आवरणका प्रकाशादिसे तिरस्कार होनेपर विज्ञानकी विषयताको प्राप्त होकर अपनी पूर्वकालिक सत्ताका त्याग नहीं करता। इससे हमें मालूम होता है कि इसी प्रकार उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् भी था; क्योंकि जो घट विद्यमान नहीं होता, उसकी उपलब्धि सूर्यके उदित होनेपर भी नहीं होती।

न, तेऽविद्यमानत्वाभावादुपलभ्येतैवेति चेत्। न हि तव घटादिकार्यं कदाचिदप्यविद्यमानमित्युदिते आदित्ये उपलभ्येतैव मृत्पिण्डेऽसन्निहिते तमआद्यावरणे चासति विद्यमानत्वादिति चेत्?

पूर्व०—ऐसी बात नहीं है। यदि तुम्हारे मतमें कार्य अविद्यमान नहीं है तो उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिये। तुम्हारे मतानुसार घटादि कार्य कभी अविद्यमान तो है नहीं, इसलिये जब मृत्पिण्डकी सन्निधि न हो, और अन्धकारादिका आवरण भी न हो, उस समय सूर्योदय होनेपर उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिये, क्योंकि वह विद्यमान ही है।

न, द्विविधत्वादावरणस्य । घटादिकार्यस्य द्विविधं ह्यावरणं मृदादेरभिव्यक्तस्य तमःकुड्यादि प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तररूपेण संस्थानम् । तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्य आवृतत्वादनुपलब्धिः । नष्टोत्पन्नभावाभावशब्दप्रत्ययभेदस्तु अभिव्यक्तितिरोभावयोर्द्विविधत्वापेक्षः ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आवरण दो प्रकारका है। मृत्तिकादिसे अभिव्यक्त होनेवाले घटादि कार्यका आवरण दो प्रकारका है-(१) अन्धकार और भित्ति आदि तथा (२) मृत्तिकासे घटकी अभिव्यक्ति होनेसे पूर्व उस मृत्तिकादिके अवयवोंका पिण्डादि कार्यान्तरके रूपमें स्थित रहना। अतः उत्पत्तिसे पूर्व घटादि विद्यमान कार्यकी ही, आवृत होनेके कारण, उपलब्धि नहीं होती। नष्ट होना, उत्पन्न होना, रहना, न रहना इत्यादि शब्द और प्रत्ययोंका भेद तो अभिव्यक्ति और तिरोभाव इनकी द्विविधताकी अपेक्षासे है।

पिण्डकपालादेरावरणवैलक्षण्यादयुक्तमिति चेत्? तमःकुड्यादि हि घटाद्यावरणं घटादिभिन्नदेशं दृष्टं न तथा घटादिभिन्नदेशे दृष्टे पिण्डकपाले। तस्मात् पिण्डकपालसंस्थानयोर्विद्यमानस्यैव घटस्यावृतत्वाद् अनुपलब्धि-

पूर्व०—किंतु पिण्ड और कपालादि तो आवरणसे भिन्न प्रकारके होते हैं, इसलिये उन्हें आवरण कहना उचित नहीं है। अन्धकार और भित्ति आदि जो घटादिके आवरण हैं, वे तो घटादिसे भिन्न देशमें देखे जाते हैं, किंतु इस प्रकार पिण्ड और कपाल घटादिसे भिन्न देशमें नहीं देखे जाते। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि पिण्ड और कपालके संस्थान (स्वरूप) में विद्यमान ही घटादिकी आवृत

रित्ययुक्तम् आवरणधर्मवैलक्षण्यादिति चेत् ?

न, क्षीरोदकादेः क्षीराद्यावरणेनैकदेशत्वदर्शनात् । घटादिकार्ये कपालचूर्णाद्यवयवानामन्तर्भावादनावरणत्वमिति चेन्न, विभक्तानां कार्यान्तरत्वादावरणत्वोपपत्तेः ।

आवरणाभाव एव यत्नः कर्तव्य इति चेत् ? पिण्डकपालावस्थयोर्विद्यमानमेव घटादिकार्यमावृतत्वान्नोपलभ्यत इति चेद् घटादिकार्यार्थिना तदावरणविनाश एव यत्नः कर्तव्यो न घटाद्युत्पत्तौ; न चैतदस्ति, तस्मादयुक्तं विद्यमानस्यैवावृतत्वादनुपलब्धिरिति चेत् ?

होनेके कारण उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि आवरणके धर्मोंसे उनमें विलक्षणता है—यदि ऐसा कहें तो ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दूधमें मिले हुए जलादिकी अपने आवरण दुग्धादिके साथ एकदेशता देखी जाती है। यदि कहो कि घटादि कार्यमें उसके कपाल एवं चूर्णादि अवयवोंका अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये उनका आवरण है ही नहीं—तो यह ठीक नहीं, क्योंकि विभक्त होनेपर कार्यान्तर होनेके कारण उन्हें आवरण मानना ठीक ही है।

पूर्व०—तब तो आवरणकी निवृत्ति करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यदि तुम्हारे कथनानुसार पिण्ड और कपालकी अवस्थाओंमें वर्तमान घटादि कार्य ही आवृत होनेके कारण उपलब्ध नहीं होता तब तो जिसे घटादि कार्यकी आवश्यकता हो उसे उसके आवरणका नाश करनेका ही यत्न करना चाहिये, घटादिकी उत्पत्तिका नहीं; किंतु ऐसा किया नहीं जाता, इसलिये यह कहना उचित नहीं है कि आवृत होनेके कारण विद्यमान घटादिकी ही उपलब्धि नहीं होती—ऐसा कहें तो ?

न अनियमात्। न हि विनाशमात्रप्रयत्नादेव घटाद्यभिव्यक्तिर्नियता। तमआद्यावृते घटादौ प्रदीपाद्युत्पत्तौ प्रयत्नदर्शनात्।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह नियम नहीं है। आवरणके विनाशमात्रका प्रयत्न करनेसे ही घटादिकी उत्पत्ति हो जायगी—ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि अन्धकारादिसे आवृत घटादिके प्रकाशके लिये प्रदीप आदिकी उत्पत्तिमें प्रयत्न देखा जाता है।

सोऽपि तमोनाशायैवेति चेत्? दीपाद्युत्पत्तावपि यः प्रयत्नः सोऽपि तमस्तिरस्करणाय तस्मिन्नष्टे घटः स्वयमेवोपलभ्यते। न हि घटे किञ्चिदाधीयते इति चेत्?

पूर्व०—किंतु वह प्रयत्न भी तो अन्धकारनाशके लिये ही होता है। दीपकादिकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह भी अन्धकारकी निवृत्तिके ही लिये होता है; उसकी निवृत्ति होनेपर घट स्वयं ही दिखायी देने लगता है। इससे घटमें कोई बात बढ़ायी नहीं जाती—ऐसा मानें तो?

न, प्रकाशवतो घटस्योपलभ्यमानत्वात्। यथा प्रकाशविशिष्टो घट उपलभ्यते प्रदीपकरणे न तथा प्राक्प्रदीपकरणात्। तस्मान्न तमस्तिरस्कारायैव प्रदीपकरणं किं तर्हि? प्रकाशवत्त्वाय। प्रकाशवत्त्वेनैवोपलभ्यमानत्वात्। क्वचि-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रकाशयुक्त घटकी ही उपलब्धि होती है। जिस प्रकार दीपक तैयार करनेपर प्रकाशयुक्त घटकी उपलब्धि होती है, उस प्रकार दीपक तैयार होनेसे पूर्व उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः अन्धकारकी निवृत्तिके लिये ही दीपक नहीं जलाया जाता, तो और किसलिये जलाया जाता है? प्रकाशके लिये, क्योंकि प्रकाशयुक्त होनेपर ही वस्तुकी उपलब्धि होती है। कहीं-

दावरणविनाशेऽपि यत्नः स्यात्, यथा कुड्यादिविनाशे। तस्मान्न नियमोऽस्त्यभिव्यक्त्यर्थिनावरणविनाश एव यत्नः कार्य इति।

नियमार्थवत्त्वाच्च। कारणे वर्तमानं कार्यं कार्यान्तराणामावरणमित्यवोचाम। तत्र यदि पूर्वाभिव्यक्तस्य कार्यस्य पिण्डस्य व्यवहितस्य वा कपालस्य विनाश एव यत्नः क्रियेत, तदा विदलचूर्णाद्यपि कार्यं जायेत। तेनाप्यावृतो घटो नोपलभ्यत इति पुनः प्रयत्नान्तरापेक्षैव। तस्माद् घटाद्यभिव्यक्त्यर्थिनो नियत एव कारकव्यापारोऽर्थवान्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरपि सदेव कार्यम्।

अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च। अतीतो घटोऽनागतो घट इत्येत-

कहीं आवरणका नाश करनेके लिये भी यत्न किया जाता है; जैसे भीत आदिका नाश करनेके लिये। अतः पदार्थकी अभिव्यक्तिके इच्छुकको आवरणके नाशका ही प्रयत्न करना चाहिये—ऐसा कोई नियम नहीं है।

इसके सिवा नियत व्यापारकी सफलताके लिये भी प्रयत्न करना आवश्यक है। पहले बता चुके हैं कि कारणमें विद्यमान कार्य अन्य कार्यका आवरण होता है। ऐसी अवस्थामें यदि पहले अभिव्यक्त हुए कार्य पिण्डके अथवा व्यवधानयुक्त कपालके नाशका ही प्रयत्न किया जायगा तो उनसे कपालिका (ठोकरी) या चूर्णादि कार्यकी ही उत्पत्ति होगी। उससे आवृत होनेपर भी घटकी उपलब्धि नहीं होगी, इसलिये पुनः प्रयत्नान्तरकी अपेक्षा रहेगी ही। अतः घटादिकी अभिव्यक्तिके इच्छुकका नियत कारकव्यापार (कर्ता-कारण इत्यादि रूपसे किया हुआ प्रयत्न) ही सफल होता है। इसलिये उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य विद्यमान ही है।

भूत और भविष्यत् प्रतीतियोंके भेदसे भी कार्यकी सत्ता सिद्ध होती है। भूत घट, भविष्यद् घट इन



योश्च प्रत्यययोर्वर्तमानघटप्रत्ययवन्न निर्विषयत्वं युक्तम्; अनागतार्थिप्रवृत्तेश्च। न ह्यसत्यर्थितया प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा। योगिनां चातीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वात्। असंश्चेद्भविष्यद्घट ऐश्वरम्भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात् न च प्रत्यक्षमुपचर्यते।

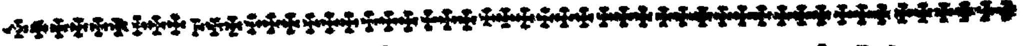
प्रत्ययोंका भी वर्तमान घटप्रत्ययके समान विषयशून्य होना उचित नहीं है, क्योंकि भविष्यद् घटकी इच्छावाले पुरुषकी प्रवृत्ति देखी जाती है। असत्पदार्थकी इच्छासे लोकमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। इसके सिवा योगियोंका भूत और भविष्यत्सम्बन्धी ज्ञान तो सत्य ही होता है। यदि भावी घट असत् माना जाय तो ईश्वरका भावी घटसम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान भी मिथ्या होगा; किंतु प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता।

घटसद्भावे ह्यनुमानमवोचाम। विप्रतिषेधाच्च। यदि घटो भविष्यतीति कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु घटार्थं प्रमाणेन निश्चितं येन च कालेन घटस्य सम्बन्धो भविष्यतीत्युच्यते, तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति विप्रतिषिद्धमभिधीयते। भविष्यन्घटोऽसन्निति, न भविष्यतीत्यर्थः। अयं घटो न वर्तत इति यद्वत्।

इसके सिवा घटकी सत्तामें हमने अनुमानप्रमाण भी दिया है। तथा उसकी सत्ता न माननेसे विरोध भी आता है। यदि घटके लिये प्रवृत्त हुए कुम्हार आदिको प्रमाणसे यह निश्चय हो गया है कि घट होगा तो जिस कालसे 'घटका सम्बन्ध होगा' ऐसा कहा जाता है उसी कालमें 'घट नहीं है' ऐसा कथन तो विपरीत ही है। 'भविष्यद् घट असत् है' इसका अर्थ तो यही है कि 'घट उत्पन्न नहीं होगा' जैसे कहा जाय कि 'यह घट विद्यमान नहीं है।'

अथ प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्नित्युच्येत, घटार्थं प्रवृत्तेषु कुलालादिषु

और यदि यह कहा जाय कि उत्पत्तिसे पूर्व घट असत् है, और इस 'असत्' शब्दका यह अर्थ हो



तत्र यथा व्यापाररूपेण वर्तमानास्तावत्कुलालादयः, तथा घटो न वर्तत इत्यसच्छब्दस्यार्थश्चेन्न विरुध्यते। कस्मात्? स्वेन हि भविष्यद्रूपेण घटो वर्तते। न हि पिण्डस्य वर्तमानता कपालस्य वा घटस्य भवति। न च तयोर्भविष्यत्ता घटस्य। तस्मात्कुलालादिव्यापारवर्तमानतायां प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्निति न विरुध्यते। यदि घटस्य यत्स्वं भविष्यत्ताकार्यरूपं तत्प्रतिषिध्येत, तत्प्रतिषेधे विरोधः स्यात्। न तु तद्भवान्प्रतिषेधति। न च सर्वेषां क्रियावतां कारकाणामेकैव वर्तमानता भविष्यत्त्वं वा।

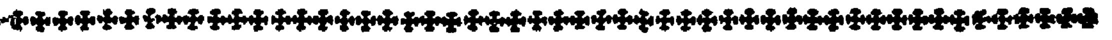
कि कुम्हार आदिके घटके लिये प्रवृत्त होनेपर जिस प्रकार उस अवस्थामें व्यापाररूपसे कुम्हार आदि विद्यमान हैं उस प्रकार घट नहीं है—तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। क्यों नहीं आता? क्योंकि अपने भावीरूपसे तो घट विद्यमान है ही। पिण्ड या कपालकी वर्तमानता घटकी नहीं हो सकती और घटकी भविष्यत्ता उन (पिण्ड और कपाल) की नहीं हो सकती। अतः कुम्हार आदिके व्यापारकी वर्तमानतामें 'उत्पत्तिसे पूर्व घट असत् है' ऐसा कहना भी विरुद्ध नहीं है। किंतु घटका जो भविष्यत्ता[1] कार्यरूप स्वरूप है उसका यदि प्रतिषेध किया जाय तो उसके निषेध करनेपर ही विरोध होगा। सो उसका तो आप निषेध करते नहीं हैं। तथा सम्पूर्ण क्रियावान् कारकोंकी एक ही वर्तमानता या भविष्यत्ता होती हो—ऐसी बात है नहीं।

अपि च चतुर्विधानामभावानां घटस्येतरेतराभावो घटादन्यो दृष्टो यथा घटाभावः पटादिरेव न घटस्वरूपमेव। न च घटाभावः

इसके सिवा चार प्रकारके[2] अभावोंमें घटका जो अन्योन्याभाव है वह घटसे भिन्न ही देखा जाता है, जैसे घटाभाव पटादि ही है घटका स्वरूप नहीं है। तथा घटाभाव

१. भविष्यमें प्रकट होनेका भाव ही भविष्यत्ता है।

२. प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—ये अभावके चार



सन्पटोऽभावात्मकः, किं तर्हि ? भावरूप एव। एवं घटस्य प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावानामपि घटादन्यत्वं स्यात् । घटेन व्यपदिश्यमानत्वाद् घटस्येतरेतराभाववत् । तथैव भावात्मकताभावानाम् । एवं च सति घटस्य प्रागभाव इति न घटस्वरूपमेव प्रागुत्पत्तेर्नास्ति ।

अथ घटस्य प्रागभाव इति घटस्य यत्स्वरूपं तदेवोच्येत घटस्येति व्यपदेशानुपपत्तिः। अथ कल्पयित्वा व्यपदिश्येत शिलापुत्रकस्य शरीरमिति यद्वत्, तथापि घटस्य प्रागभाव इति कल्पितस्यै-

होनेसे ही पट अभावरूप नहीं हो जाता; तो फिर क्या होता है ? वह भावरूप ही रहता है। इसी प्रकार घटके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव भी घटसे भिन्न ही हैं, क्योंकि घटके अन्योन्याभावके समान घटके द्वारा इनका उल्लेख किया जाता है। और उस [घटके अन्योन्याभाव पटकी भावरूपता] के ही समान इन अभावोंकी भी भावरूपता है। ऐसा होनेसे 'घटका प्रागभाव है' इस कथनसे यह सिद्ध नहीं होता कि उत्पत्तिसे पूर्व घटका स्वरूप ही नहीं है।

और यदि 'घटका प्रागभाव' इस कथनमें घटका जो स्वरूप है वही कहा जाय तो 'घटका' यह कथन ही नहीं बन सकता।[1] यदि 'शिलाके पुतलेका शरीर' इस कथनके अनुसार कल्पना करके ऐसा कहा जाय तो भी 'घटका प्रागभाव' इस कथनसे 'घट' शब्दद्वारा कल्पित

भेद हैं। उत्पत्तिसे पूर्व जो वस्तुका अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं; जैसे घटकी उत्पत्तिसे पूर्व उसका अभाव। वस्तुके नाशके पश्चात् उसका प्रध्वंसाभाव होता है; जैसे घट फूट जानेपर उसका अभाव। दो वस्तुओंमेंसे प्रत्येकमें एक दूसरीका अभाव अन्योन्याभाव है; जैसे घटमें पटका और पटमें घटका। त्रिकालाबाधित अभाव अत्यन्ताभाव है; जैसे शशशृङ्गादिका।

१. क्योंकि षष्ठीविभक्तिबोध्य सम्बन्ध भिन्न पदार्थोंमें ही होता है और तुम प्रागभावको घटका स्वरूप ही बतलाते हो।

वाभावस्य घटेन व्यपदेशो न घटस्वरूपस्यैव । अथार्थान्तरं घटाद् घटस्याभाव इति, उक्तोत्तरमेतत् ।

किञ्चान्यत्प्रागुत्पत्तेः शशविषाणवदभावभूतस्य घटस्य स्वकारणसत्तासम्बन्धानुपपत्तिः, द्विनिष्ठत्वात्सम्बन्धस्य । अयुतसिद्धानामदोष इति चेन्न, भावाभावयोरयुतसिद्धत्वानुपपत्तेः । भावभूतयोर्हि युतसिद्धतायुतसिद्धता वा स्यान्न तु भावाभावयोरभावयोर्वा ।

घटका ही अभाव कहा जायगा, घटके स्वरूपका नहीं ।[1] और यदि घटसे घटाभावको भिन्न पदार्थ माना जाय तो इसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है ।[2]

एक बात और भी है, उत्पत्तिसे पूर्व शशशृङ्गके समान अभावरूप घटका अपने कारणकी सत्तासे सम्बन्ध होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध तो दोमें ही रहा करता है । यदि कहो कि अयुतसिद्ध पदार्थोंमें ऐसा दोष नहीं आता[3] तो यह ठीक नहीं, क्योंकि भाव और अभावका अयुतसिद्ध होना सम्भव नहीं है । जो पदार्थ भावरूप होते हैं उन्हींकी युतसिद्धता या अयुतसिद्धता हो सकती है, भाव और अभाव अथवा

१. अर्थात् यदि कहो कि जैसे शिलाका पुतला और उसका शरीर ये एक ही हैं तो भी 'राहुके शिर' के समान उनमें षष्ठीसम्बन्ध कहा जाता है, उसी प्रकार घट या प्रागभावका भी कल्पित अभेद हो सकता है—तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि भावपदार्थोंमें तो ऐसे कल्पित सम्बन्धका व्यपदेश हो सकता है; किंतु अभाव सापेक्ष होता है, उसे अपने प्रतियोगीकी अपेक्षा होती है, इसलिये उसका उसके साथ अभेद नहीं हो सकता । अतः घटप्रागभाव घटका स्वरूप नहीं हो सकता ।

२. 'इसी प्रकार घटके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव भी घटसे भिन्न ही हैं' इस वाक्यसे इसका उत्तर दिया गया है ।

३. परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले जिन दो पदार्थोंकी अलग-अलग प्रतीति होती है वे युतसिद्ध कहलाते हैं, जैसे घड़ा और रस्सी; तथा जिनकी अलग-अलग प्रतीति नहीं होती अर्थात् जिनमेंसे किसी भी एकको छोड़कर दूसरेकी प्रतीति नहीं होती वे अयुतसिद्ध कहलाते हैं । कार्य और कारण अयुतसिद्ध होते हैं; जैसे घट और मृत्तिका

तस्मात्सदेव कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति सिद्धम् ।

किँल्लक्षणेन मृत्युनावृतमित्यत आह—अशनायया अशितुमिच्छा अशनाया सैव ? मृत्योर्लक्षणं तया लक्षितेन मृत्युनाशनायया । कथमशनाया मृत्युः ? इत्युच्यते—अशनाया हि मृत्युः । हिशब्देन प्रसिद्धं हेतुमवद्योतयति । यो ह्यशितुमिच्छति सोऽशनायानन्तरमेव हन्ति जन्तून्, तेनासावशनायया लक्ष्यते मृत्युरित्यशनाया हीत्याह ।

बुद्ध्यात्मनोऽशनाया धर्म इति स एष बुद्ध्यवस्थो हिरण्यगर्भो मृत्युरित्युच्यते । तेन मृत्युनेदं कार्यमावृतमासीत् । यथा पिण्डावस्थया मृदा घटादय आवृताः स्युरिति तद्वत् । तन्मनोऽकुरुत ।

दो अभावोंकी नहीं । अतः यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्तिसे पूर्व कार्य सत् ही है ।

यह सब किस लक्षणवाले मृत्युसे आवृत था ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—अशनायासे । अशन (भोजन) की इच्छाका नाम 'अशनाया' है, वही उस मृत्युका लक्षण है; उससे लक्षित जो मृत्यु है उस अशनायासे [यह सब आवृत था] । अशनाया मृत्यु किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है—अशनाया ही मृत्यु है । यहाँ 'हि' शब्दसे श्रुति प्रसिद्ध हेतु प्रकट करती है, क्योंकि जो कोई भोजन करना चाहता है वह भोजनकी इच्छा होनेके पीछे ही जीवोंको मारता है । अतः 'अशनाया' शब्दसे यह मृत्यु लक्षित होती है, इसीसे 'अशनाया हि' ऐसा कहा गया है ।

अशनाया विज्ञानात्माका धर्म है, अतः बुद्धिमें स्थित हिरण्यगर्भ ही मृत्यु कहा गया है । उस मृत्युसे यह कार्यवर्ग आवृत था । जिस प्रकार पिण्डावस्थामें वर्तमान मृत्तिकासे घटादि आवृत रहते हैं उसी प्रकार [हिरण्यगर्भरूप मृत्युसे यह व्याकृत जगत् व्याप्त था] । 'तन्मनोऽकुरुत'

तदिति मनसो निर्देशः । स प्रकृतो मृत्युर्वक्ष्यमाणकार्यसिसृक्षया तत्कार्यालोचनक्षमं मनःशब्दवाच्यं संकल्पादिलक्षणमन्तःकरणमकुरुत कृतवान् ।

केनाभिप्रायेण मनोऽकरोत्? इत्युच्यते—आत्मन्वी आत्मवान् स्यां भवेयम् । अहमनेनात्मना मनसा मनस्वी स्यामित्यभिप्रायः। स प्रजापतिरभिव्यक्तेन मनसा समनस्कः सन्नर्चन्नर्चयन्पूजयन् आत्मानमेव कृतार्थोऽस्मीत्यचरच्चरणमकरोत् । तस्य प्रजापतेरर्चतः पूजयत आपो रसात्मिकाः पूजाङ्गभूता अजायन्तोत्पन्नाः ।

अत्राकाशप्रभृतीनां त्रयाणामुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्यम्, श्रुत्यन्तरसामर्थ्याद्विकल्पासम्भवाच्च सृष्टिक्रमस्य । अर्चते पूजां कुर्वते वै मे मह्यं कमुदकमभूदित्येवममन्यत यस्मान्मृत्युः, तदेव तस्मादेव हेतोरर्कस्य अग्नेरश्व-

इसमें 'तत्' यह शब्द मनका निर्देश करनेवाला है । अर्थात् उस प्रकृत मृत्युने आगे कहे जानेवाले कार्यको रचनेकी इच्छासे उस कार्यको आलोचना करनेमें समर्थ मनःशब्द-वाच्य संकल्पादि लक्षणोंवाला अन्तःकरण किया ।

किस अभिप्रायसे मन किया ? सो बतलाया जाता है—मैं आत्मन्वी अर्थात् आत्मवान् होऊँ । तात्पर्य यह है कि मैं इस आत्मा यानी मनसे मनस्वी होऊँ । उस प्रजापतिने अभिव्यक्त हुए मनसे मनोयुक्त हो अर्चन-पूजन करते हुए अपने प्रति ही 'मैं कृतार्थ हूँ' इस प्रकार आचरण किया । उस प्रजापतिके अर्चन-पूजन करते समय पूजाके अङ्गभूत रसात्मक आप (जल) उत्पन्न हुए ।

यहाँ जलकी उत्पत्ति आकाशादि (आकाश, वायु और अग्नि) तीन भूतोंकी उत्पत्तिके पीछे हुई ऐसा कहना चाहिये था, क्योंकि अन्य श्रुतिके सामर्थ्यसे यही सिद्ध होता है और सृष्टिक्रमका विकल्प होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मृत्युने ऐसा माना था कि अर्चन यानी पूजा करते हुए मेरे लिये क—जल हुआ है, इसीसे अर्थात् इस

मेधक्रत्वौपयोगिकस्यार्कत्वम् अर्कत्वे हेतुरित्यर्थः । अग्नेरर्कनामनिर्वचनमेतत् । अर्चनात्सुखहेतुपूजाकरणाद् अप्सम्बन्धाच्च अग्नेरेतद्गौणं नामार्क इति ।

'कारणसे अर्क यानी अश्वमेधयज्ञमें उपयोगी अग्निका अर्कत्व है, अर्थात् यही उसके अर्कत्वमें हेतु है । यह अग्निके अर्क नामकी व्युत्पत्ति है । तात्पर्य यह है कि अर्चनसे यानी सुखकी हेतुभूता पूजा करनेसे तथा जलका सम्बन्ध होनेसे अग्निका (अर्क) यह गौण (गुणकृत) नाम है ।

य एवं यथोक्तमर्कस्यार्कत्वं वेद जानाति । कमुदकं सुखं वा नामसामान्यात् । ह वा इत्यवधारणार्थौ । भवत्येवेति । अस्मै एवंविदे एवंविदर्थं भवति ॥१॥

जो कोई इस प्रकार उपर्युक्त अर्कका अर्कत्व जानता है उसे क—जल या सुख होता है, क्योंकि 'क' यह जल और सुखका समान नाम है । 'ह' और 'वै' ये निश्चयार्थक निपात हैं । अर्थात् उसके लिये जल या सुख होता ही है । इसे—इस प्रकार जाननेवालेको अर्थात् इस प्रकार जाननेवालेके लिये [जल या सुख] होता है ॥ १ ॥

जलसे विराट्रूप अग्निकी उत्पत्ति

कः पुनरसावर्कः ? इत्युच्यते—

यह अर्क कौन है ? सो बतलाया जाता है—

आपो वा अर्कस्तद्यदपा शर आसीत्तत्समहन्यत । सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥ २ ॥

आप (जल) ही अर्क हैं । उस जलका जो शर (स्थूलभाग) था वह एकत्रित हो गया । वह पृथिवी हो गयी । उसके उत्पन्न होनेपर वह

[मृत्यु] थक गया। उस थके और तपे हुए प्रजापतिके शरीरसे उसका सारभूत तेज अग्नि प्रकट हुआ ॥ २ ॥

आपो वै या अर्चनाङ्गभूतास्ता एवार्कोऽग्नेरर्कस्य हेतुत्वात्। अप्सु ह्याग्निः प्रतिष्ठित इति। न पुनः साक्षादेवार्कस्ताः, तासामप्रकरणात्, अग्नेश्च प्रकरणम्। वक्ष्यति च 'अयमग्निरर्कः' (बृह० उ० १।२।७) इति।

निश्चय ही जल जो अर्चनका अङ्गभूत है वही अर्क है, क्योंकि वह अर्कसंज्ञक अग्निका हेतु है। कारण, जलमें ही अग्नि प्रतिष्ठित है। किंतु वह साक्षात् अर्क नहीं है, क्योंकि यहाँ उसका प्रकरण नहीं है; यह तो अग्निका ही प्रकरण है। 'यह अग्नि अर्क है' ऐसा श्रुति कहेगी भी।

तत्तत्र यदपां शर इव शरो दध्न इव मण्डभूतमासीत्तत्समहन्यत सङ्घातमापद्यत तेजसा बाह्यान्तःपच्यमानम्। लिङ्गव्यत्ययेन वा योऽपां शरः स समहन्यतेति। सा पृथिव्यभवत्स संघातो येयं पृथिवी साभवत्। ताभ्योऽद्भ्यो अण्डमभिनिर्वृत्तमित्यर्थः।

वहाँ उस जलका जो शरके समान शर अर्थात् दहीके मण्ड (घृतपिण्ड) के समान स्थूल भाग था वह संहत हो गया। अर्थात् बाहर और भीतरसे तेजके द्वारा परिपक्व होता हुआ वह इकट्ठा हो गया। अथवा 'यत्'का लिङ्गव्यत्यय कर 'यः अपां शरः' जो जलका शर (स्थूलभाग) था वह एकत्रित हो गया—ऐसा अर्थ करना चाहिये। वह पृथिवी हो गयी, अर्थात् वह संघात, यह जो पृथिवी है वही हो गयी। तात्पर्य यह है कि उस जलसे यह ब्रह्माण्ड निष्पन्न हो गया।

तस्यां पृथिव्यामुत्पादितायां स मृत्युः प्रजापतिरश्राम्यच्छ्रमयुक्तो बभूव। सर्वो हि लोकः

उस पृथिवीके उत्पन्न होनेपर वह मृत्यु यानी प्रजापति श्रान्त—श्रमयुक्त हो गया, क्योंकि कार्य करके

कार्यं कृत्वा श्राम्यति । प्रजापतेश्च तन्महत्कार्यं यत्पृथिवीसर्गः ।

किं तस्य श्रान्तस्य ? इत्युच्यते तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य खिन्नस्य तेजोरसस्तेज एव रसस्तेजोरसो रसः सारो निरवर्तत प्रजापतिशरीरान्निष्क्रान्त इत्यर्थः । कोऽसौ निष्क्रान्तः ? अग्निः । सोऽण्डस्यान्तर्विराट् प्रजापतिः प्रथमजः कार्यकरणसंघातवान् जातः । "स वै शरीरी प्रथमः" इति स्मरणात् ॥ २ ॥

सभी लोग श्रान्त हो जाते हैं और पृथिवीकी रचना करना-यह प्रजापतिका बड़ा भारी कार्य था ।

उस थके हुए प्रजापतिका क्या हुआ ? सो बतलाया जाता है-उस श्रान्त-तपे हुए अर्थात् खेदको प्राप्त हुए प्रजापतिका जो तेजोरस था, तेज ही जो रस है उसका नाम 'तेजोरस' है, रस सारको कहते हैं, वह निर्वर्तित हुआ अर्थात् प्रजापतिके शरीरसे बाहर निकल आया । यह कौन निकला ? अग्नि । वह इस अण्डेके भीतर प्रथम उत्पन्न हुआ कार्यकरणसंघातवान् विराट् प्रजापति हुआ, क्योंकि इस विषयमें "वही प्रथम शरीरी है" यह स्मृति प्रमाण है ॥ २ ॥

विराट्रूप अग्निके अवयवोंमें प्राचीदिगादि-दृष्टि

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ । अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः । स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

उसने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया । उसने आदित्यको

तीसरा भाग किया और वायुको तीसरा। इस प्रकार यह प्राण तीन भागोंमें हो गया। उसका पूर्व दिशा शिर है तथा इधर-उधरकी (ईशानी और आग्नेयी) विदिशाएँ बाहु हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशा इसका पुच्छ है तथा इधर-उधरकी (वायव्य और नैर्ऋत्य) विदिशाएँ जङ्घाएँ हैं। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व हैं, द्युलोक पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष उदर है, यह (पृथिवी) हृदय है। यह (अग्निरूप विराट् प्रजापति) जलमें स्थित है। इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष जहाँ-कहीं जाता है वहीं प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

स च जातः प्रजापतिस्त्रेधा त्रिप्रकारमात्मानं स्वयमेव कार्यकरणसंघातं व्यकुरुत व्यभजदित्येतत्। कथं त्रेधा? इत्याह—आदित्यं तृतीयमग्निवाय्वपेक्षया त्रयाणां पूरणम् अकुरुतेत्यनुवर्तते। तथाग्न्यादित्यापेक्षया वायुं तृतीयम्। तथा वाय्वादित्यापेक्षयाग्निं तृतीयमिति द्रष्टव्यम्। सामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्त्रयाणां संख्यापूरणत्वे।

उत्पन्न हुए उस प्रजापतिने भूत और इन्द्रियसंघातरूप अपनेको स्वयं ही त्रिधा-तीन प्रकारसे विकृत यानी विभक्त किया। किस प्रकार त्रिधा विभक्त किया? सो बतलाते हैं—उसने अग्नि और वायुकी अपेक्षा आदित्यको तीसरा बनाया; अर्थात् तीन संख्याओंका पूरक बनाया। इस वाक्यकी अनुवृत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि और आदित्यकी अपेक्षा वायुको तृतीय बनाया तथा वायु और आदित्यकी अपेक्षा अग्निको तृतीय बनाया—ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि तीनकी संख्याको पूर्ण करनेमें इन तीनोंहीकी शक्ति समान है।

स एष प्राणः सर्वभूतानामात्मापिअग्निवाय्वादित्यरूपेण विशेषतः स्वेनैव मृत्य्वात्मना

सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा होनेपर भी यह प्राण विशेषतः अपने मृत्युरूपसे ही, न कि अपने विराट् स्वरूपका लय करके, अग्नि, वायु

त्रेधा विहितो विभक्तो न विराट्स्वरूपोपमर्दनेन। तस्यास्य प्रथमजस्याग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्यार्कस्य विराजश्चित्यात्मकस्य अश्वस्येव दर्शनमुच्यते। सर्वा हि पूर्वोक्तोत्पत्तिरस्य स्तुत्यर्थेत्यवोचाम- इत्थमसौ शुद्धजन्मेति ।

और आदित्यरूपमें तीन प्रकारका हो गया; अर्थात् तीन रूपोंमें विभक्त हो गया। उस प्रथम उत्पन्न हुए इस अग्निकी-अश्वमेधकर्ममें उपयोगी अर्ककी अर्थात् चितिस्वरूप विराट्की यह अश्वके समान दृष्टि कही जाती है। हमने पूर्वमें इसकी जो उत्पत्ति बतलायी है, वह सब स्तुतिके ही लिये है यह बात कह चुके हैं। अर्थात् इस प्रकार यह शुद्धजन्मा है—ऐसा बतलानेके लिये है।

तस्य प्राची दिक्शिरो विशिष्टत्वसामान्यात्। असौ चासौ चैशान्याग्नेय्यौ ईर्मौ बाहू। ईरयतेर्गतिकर्मणः। अथास्याग्नेः प्रतीची दिक्पुच्छं जघन्यो भागः, प्राङ्मुखस्य प्रत्यग्दिक्सम्बन्धाद्। असौ चासौ च वायव्यनैर्ऋत्यौ सक्थ्यौ- सक्थिनी पृष्ठकोणत्वसामान्यात्। दक्षिणा चोदीची च

विशिष्टतामें समान होनेके कारण पूर्व दिशा उसका शिर है। यह और यह अर्थात् ईशानी और आग्नेयी विदिशाएँ ईर्म-भुजाएँ हैं। गत्यर्थक 'ईर्'धातुसे 'ईर्म' शब्द सिद्ध होता है। तथा इस अग्निकी पश्चिम दिशा पुच्छ यानी निम्नभाग है, क्योंकि पूर्वकी ओर मुखवाला होनेसे पश्चिम दिशासे पुच्छका सम्बन्ध है। यह और यह अर्थात् वायव्य और नैर्ऋत्य कोण सक्थियाँ (जङ्घाएँ) हैं क्योंकि पृष्ठभागके कोण होनेमें उनके साथ उनकी समानता है। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्वभाग हैं, क्योंकि इन दोनों दिशाओंसे सम्बन्ध

पार्श्वे उभयदिक्सम्बन्धसामान्यात्। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमिति पूर्ववत्। इयमुरः अधोभागसामान्यात्।

स एषोऽग्निः प्रजापतिरूपो लोकाद्यात्मकोऽग्निरप्सु प्रतिष्ठितः "एवमिमे लोका अप्स्वन्तः" इति श्रुतेः। यत्र क्व च यस्मिन्कस्मिंश्चिद्देति गच्छति तदेव तत्रैव प्रतितिष्ठति स्थितिं लभते। कोऽसौ? एवं यथोक्तमप्सु प्रतिष्ठितत्वमग्नेर्विद्वान्विजानन् गुणफलमेतत्॥३॥

होनेमें पार्श्वोंकी समानता है। तथा द्युलोक पीठ और अन्तरिक्ष उदर है—ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये और अधोभागमें समानता होनेके कारण यह (पृथिवी) हृदय है।

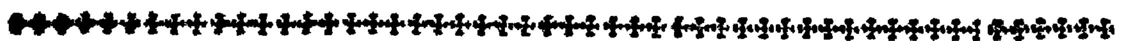
"इस प्रकार ये लोक जलके भीतर हैं" इस श्रुतिके अनुसार वह यह लोकादि स्वरूप प्रजापतिरूप अग्नि जलमें स्थित है। [इस उपासनाका फल—] वह जहाँ कहीं—जिस किसी देशमें जाता है तदेव—वहाँ ही [अर्थात् उसी स्थानपर] प्रतिष्ठित होता-स्थिति प्राप्त करता है। ऐसा कौन है? इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे अग्निका जलमें स्थित होना जाननेवाला। यह इस उपासनाका गौण फल है॥ ३॥

संवत्सर और वाक्की उत्पत्ति

योऽसौ मृत्युः सोऽबादिक्रमेणात्मनात्मानम् अण्डस्यान्तः कार्यकरणसंघातवन्तं विराजमग्निमसृजत, त्रेधा चात्मानमकुरुतेत्युक्तम्। स किंव्यापारः सन्नसृजत? इत्युच्यते—

यह जो मृत्यु था उसने स्वयं ही अपनेको ब्रह्माण्डके अंदर जलादिके क्रमसे कार्यकरणसंघातवान् विराट् अग्निके रूपमें रचा और अपनेको तीन भागोंमें विभक्त किया—यह पहले कहा जा चुका है। उसने क्या व्यापार करते हुए यह रचना की? सो बतलाया जाता है—

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत



आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः । यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥ ४ ॥

उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो; अतः उस अशनायारूप मृत्युने मनसे वेदरूप मिथुनकी भावना की । उससे जो रेत (बीज) हुआ, वह संवत्सर हुआ । इससे पूर्व संवत्सर नहीं था । उस संवत्सरको, जितना संवत्सरका काल होता है, उतने समयतक वह (मृत्युरूप प्रजापति) गर्भमें धारण किये रहा । इतने समयके पीछे उसने उसको उत्पन्न किया । उस उत्पन्न हुए कुमारके प्रति मुख फाड़ा । इससे उसने 'भाण्' ऐसा शब्द किया । वही वाक् हुआ ॥ ४ ॥

स मृत्युरकामयत कामितवान् । किम् ? द्वितीयो मे ममात्मा शरीरं येनाहं शरीरी स्यां स जायेतोत्पद्येत इत्येवमेतदकामयत । स एवं कामयित्वा मनसा पूर्वोत्पन्नेन वाचं त्रयीलक्षणां मिथुनं द्वन्द्वभावं समभवत्सम्भवनं कृतवान्मनसा त्रयीमालोचितवान् । त्रयीविहितं सृष्टिक्रमं मनसान्वालोचयदित्यर्थः । कोऽसौ ? अशनायया लक्षितो मृत्युः । अशनाया मृत्यु-

उस मृत्युने कामना की । क्या कामना की ? मेरा दूसरा आत्मा यानी शरीर, जिससे मैं शरीरधारी होऊँ, उत्पन्न हो—इस प्रकार उसने कामना की । इस प्रकार कामनापर उसने पहले उत्पन्न हुए मनसे वेदत्रयीरूपा वाणीकी मिथुन-द्वन्द्वभावसे भावना की । अर्थात् मनके द्वारा वेदत्रयीकी आलोचना की । वेदत्रयीविहित सृष्टिक्रमका मनसे विचार किया—ऐसा इसका तात्पर्य है । यह कौन था ? अशनाया (क्षुधा) से लक्षित मृत्यु । 'अशनाया मृत्यु है'

रित्युक्तम्। तमेव परामृशत्यन्यत्र प्रसङ्गो मा भूदिति।

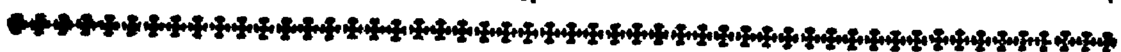
ऐसा कहा जा चुका है। श्रुति उसीका यहाँ परामर्श (उल्लेख) करती है, जिससे किसी अन्यका प्रसंग न हो जाय।

तद्यद्रेत आसीत्-तत्तत्र मिथुने यद्रेत आसीत्, प्रथमशरीरिणः प्रजापतेरुत्पत्तौ कारणं रेतो बीजं ज्ञानकर्मरूपम्, त्रय्यालोचनायां यद्दृष्टवानासीज्जन्मान्तरकृतम्; तद्भावभावितोऽपः सृष्ट्वा तेन रेतसा बीजेनाप्स्वनुप्रविश्य अण्डरूपेण गर्भीभूतः स संवत्सरोऽभवत्, संवत्सरकालनिर्माता संवत्सरः प्रजापतिरभवत्। न ह, पुरा पूर्वम्, ततस्तस्मात्संवत्सरकालनिर्मातुः प्रजापतेः, संवत्सरः कालो नाम नास न बभूव ह।

उससे जो रेत हुआ-उस मिथुनसे जो रेत हुआ, प्रथमशरीरी प्रजापतिसे उत्पत्तिमें हेतुभूत जो रेत यानी बीज हुआ, अर्थात् वेदकी आलोचना करनेपर उसने जो जन्मान्तरकृत ज्ञानकर्मरूप बीज देखा उस बीजभावसे भावित होकर जलकी रचना कर उस रेतरूप बीजके द्वारा जलमें प्रवेश कर अण्डरूपसे गर्भस्थ रह वह संवत्सर हुआ। अर्थात् वह संवत्सररूप कालका निर्माता संवत्सर प्रजापति हुआ। उस संवत्सरकालनिर्माता प्रजापतिसे पूर्व संवत्सरनामक काल नहीं था।

तं संवत्सरकालनिर्मातारमन्तर्गर्भं प्रजापतिम्, यावानिह प्रसिद्धः काल एतावन्तमेतावत्संवत्सरपरिमाणं कालमबिभः भृतवान्मृत्युः। यावान्संवत्सर इह प्रसिद्धः, ततः परस्तात्किं कृतवान्? तमेतावतः कालस्य संवत्सरमात्रस्य परस्ताद् ऊर्ध्वमसृजत सृष्टवान्, अण्डमभिनदित्यर्थः। तमेवं कुमारं जातमग्निं

उस संवत्सरकालनिर्माता गर्भस्थ प्रजापतिको, जितना कि यह प्रसिद्ध काल है उतने समयतक अर्थात् एक संवत्सरव्यापी कालतक मृत्युने धारण किया; जितना इस लोकमें संवत्सर प्रसिद्ध है [उतने समयतक गर्भमें रखा]। इसके पीछे उसने क्या किया? इतने यानी संवत्सरमात्र कालके पश्चात् उसने उसकी रचना की अर्थात् उस अण्डेको फोड़ दिया। क्षुधायुक्त होनेके कारण मृत्युने



प्रथमशरीरिणम्, अशनायावत्त्वान्मृत्युरभिव्याददान्मुखविदारणं कृतवानत्तुम्; स च कुमारो भीतः स्वाभाविक्याविद्यया युक्तो भाणित्येवं शब्दमकरोत्। सैव वागभवत्, वाक्-शब्दोऽभवत् ॥४॥

इस प्रकार उत्पन्न हुए उस प्रथम-शरीरी कुमार अग्निके प्रति, उसे खानेके लिये, मुँह फाड़ा। उस कुमारने स्वाभाविकी अविद्यासे युक्त होनेके कारण डरकर 'भाण्' ऐसा शब्द किया। वही वाक् हुआ, वाक् यानी शब्द हुआ ॥ ४ ॥

ऋगादिकी उत्पत्ति और मृत्युके अत्तृत्वका उपन्यास

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान्प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥५॥

उसने विचार किया, 'यदि मैं इसे मार डालूँगा तो यह थोड़ा-सा ही अन्न [भोजन] करूँगा।' अतः उसने उस वाणी और उस मनके द्वारा इन सबको रचा, जो कुछ भी ये ऋक्, यजुः, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा और पशु हैं। उसने जिस-जिसकी रचना की उसी-उसीको खानेका विचार किया। वह सबको खाता है, यही उस अदितिका अदितित्व है। जो इस प्रकार इस अदितिके अदितित्वको जानता है वह इस सबका अत्ता (भोक्ता) होता है और यह सब उसका अन्न होता है ॥ ५ ॥

स ऐक्षत—स एवं भीतं कृतरवं कुमारं दृष्ट्वा मृत्युरैक्षतेक्षितवान् अशनायावानपि— यदि कदाचिद्वा इमं कुमारमभिमंस्ये—

उसने विचार किया—इस प्रकार डरकर शब्द करनेवाले उस कुमार-को देखकर मृत्युने क्षुधायुक्त होनेपर भी विचार किया—यदि कदाचित् मैं इस कुमारको मार डालूँगा—'अभि-

अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसार्थः—हिंसिष्य इत्यर्थः; कनीयोऽन्नं करिष्ये कनीयोऽल्पमन्नं करिष्य इति।

एवमीक्षित्वा तद्भक्षणादुपरराम बहु ह्यन्नं कर्तव्यं दीर्घकालभक्षणाय न कनीयः। तद्भक्षणे हि कनीयोऽन्नं स्याद्बीजभक्षण इव सस्याभावः। स एवम्प्रयोजनमन्नबाहुल्यमालोच्य तयैव त्रय्या वाचा पूर्वोक्तया तेनैव चात्मना मनसा मिथुनीभावमालोचनमुपगम्योपगम्येदं सर्वं स्थावरं जङ्गमं चासृजत यदिदं किञ्च यत्किञ्चेदम्। किं तत्? ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि च सप्त गायत्र्यादीनि स्तोत्रशस्त्रादिकर्माङ्गभूतांस्त्रिविधान्मन्त्रान्गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टान् यज्ञांश्च तत्साध्यान्प्रजास्तत्कर्त्रीः पशूंश्च ग्राम्यानारण्यान्कर्मसाधनभूतान्।

ननु त्रय्या मिथुनीभूतया-

पूर्वक 'मन' धातु का अर्थ हिंसा होता है—अतः 'अभिमंस्ये' का अर्थ 'मार डालूँगा' ऐसा होगा, तो मैं कनीय अन्न करूँगा; कनीय यानी बहुत ही थोड़ा अन्न भोजन करूँगा।

ऐसा सोचकर वह उसे भक्षण करनेसे रुक गया, [और सोचने लगा कि] बहुत समयतक खानेके लिये मुझे बहुत-सा अन्न [संग्रह] करना चाहिये, थोड़ा-सा नहीं। जिस प्रकार बीजको खा लेनेपर अनाज नहीं होता उसी प्रकार इसे खानेसे तो मेरे लिये थोड़ा-सा ही अन्न होगा। ऐसे उद्देश्यसे अन्नकी बहुलताके लिये विचारकर उसने उस पूर्वोक्त त्रयीरूपा वाणीसे तथा उसी आत्मा यानी मनसे मिथुनीभाव अर्थात् आलोचनाको प्राप्त हो-होकर यह जो कुछ है उस इस सारे स्थावर और जङ्गम जगत्की रचना की। वह क्या है? ऋक्, यजुः, साम, गायत्री आदि सात छन्द यानी गायत्री आदि छन्दोंसे युक्त स्तोत्र-शस्त्रादि कर्मोंके अङ्गभूत तीन प्रकारके मन्त्र, उनसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञ, उन्हें करनेवाली प्रजा तथा कर्मके साधनभूत ग्राम्य और वन्य पशु [इन सबको रचा]।

शंका—किंतु पहले तो कहा

सृजतेत्युक्तम्, ऋगादीनीह कथमसृजतेति ?

नैष दोषः, मनसस्त्वव्यक्तोऽयं मिथुनीभावस्त्रय्या, बाह्यस्तु ऋगादीनां विद्यमानानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तीभावः सर्ग इति।

स प्रजापतिरेवमन्नवृद्धिं बुद्ध्वा यद्यदेव क्रियां क्रियासाधनं फलं वा किञ्चिदसृजत तत्तदत्तुं भक्षयितुमध्रियत धृतवान्मनः। सर्वं कृत्स्नं वै यस्मादत्तीति तत्तस्माददितेरदितिनाम्नो मृत्योरदितित्वं प्रसिद्धम्। तथा च मन्त्रः-"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता" (यजुः० सं० २५ । २३) इत्यादिः।

सर्वस्यैतस्य जगतोऽन्नभूतस्यात्ता सर्वात्मनैव भवत्यन्यथा विरोधात्। न हि कश्चित्सर्वस्यैकोऽत्ता दृश्यते तस्मात्सर्वात्मा भवतीत्यर्थः।

गया था कि मिथुनीभूत त्रयीरूपा वाणीसे उसने रचना की, फिर उसके द्वारा उसने ऋगादिको कैसे रचा ?

समाधान-यह कोई दोष नहीं है। मनका जो त्रयीके साथ मिथुनीभाव है, वह तो अव्यक्त है। उन [अव्यक्तरूपसे] विद्यमान ऋगादिका ही कर्ममें विनियोगरूपसे जो बाह्य व्यक्तीभाव है वही उनकी रचना है।

उस प्रजापतिने इस प्रकार अन्नकी वृद्धि होती जानकर जिस-जिस भी क्रिया या क्रियाके साधनभूत फलकी रचना की उसी-उसीको भक्षण करनेके लिये मनमें विचार किया। इस प्रकार क्योंकि वह सभीको भक्षण करता है, इसलिये उस अदिति अर्थात् अदितिनामक मृत्युका अदितित्व प्रसिद्ध है। इस विषयमें यह मन्त्र प्रमाण है-"अदिति द्युलोक है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है और वही पिता है" इत्यादि।

इस अन्नभूत सम्पूर्ण जगत्का वह सर्वात्मभावसे ही अत्ता (भक्षण करनेवाला) है, क्योंकि विना सर्वात्मभावके सबका अत्ता होनेमें विरोध आता है। कोई भी एक सबका अत्ता हो, ऐसा देखा नहीं जाता; इसलिये तात्पर्य यह है कि

सर्वमस्यान्नं भवति; अत एव सर्वात्मनो ह्यत्तुः सर्वमन्नं भवतीत्युपपद्यते । य एवमेतद्यथोक्तमदितेर्मृत्योः प्रजापतेः सर्वस्य अदनाददितित्वं वेद तस्यैतत् फलम् ॥ ५ ॥

[इस प्रकार उपासना करनेवाला] वह सर्वात्मा हो जाता है । सब कुछ उसका अन्न हो जाता है, अतः जो सर्वात्मभावसे अत्ता है उसीका सब कुछ अन्न होना सम्भव है । यह फल उसे मिलता है जो इस प्रकार इस उपर्युक्त अदितिसंज्ञक मृत्यु प्रजापतिका सबका अदन (भक्षण) करनेसे अदितित्व जानता है ॥ ५ ॥

प्रजापतिकी यज्ञकामना और उसके प्राण एवं वीर्यका निष्क्रमण

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् । प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६ ॥

उसने यह कामना की कि मैं पुनः बड़े भारी यज्ञसे यजन करूँ । इससे वह श्रमित हो गया । उसने तप किया । उस श्रमित और तपे हुए मृत्युका यश और वीर्य निकल गया । प्राण ही यश और वीर्य हैं । तब प्राणोंके निकल जानेपर शरीरने फूलना आरम्भ किया । किंतु उसका मन शरीरमें ही रहा ॥ ६ ॥

सोऽकामयतेत्यश्वाश्वमेधयोर्निर्वचनार्थमिदमाह—भूयसा महता यज्ञेन भूयः पुनरपि यजेयेति । जन्मान्तरकरणापेक्षया भूयः-

'सोऽकामयत' इत्यादि वाक्यसे श्रुति अश्व और अश्वमेधका निर्वचन करनेके लिये यह कहती है—मैं पुनः महान् यज्ञसे यजन करूँ । यहाँ जन्मान्तरमें यज्ञानुष्ठान करनेकी अपेक्षासे 'भूयस्' (महान्) शब्द

शब्दः । स प्रजापतिः जन्मान्तरेऽश्वमेधेनायजत । स तद्भावभावित एव कल्पादौ व्यावर्तत । सोऽश्वमेधक्रियाकारकफलात्मत्वेन निर्वृत्तः सन्नकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । एवं महत्कार्यं कामयित्वा लोकवदश्राम्यत् ।

स तपोऽतप्यत । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्येति पूर्ववत् , यशो वीर्यमुदक्रामदिति । स्वयमेव पदार्थमाह—प्राणाश्चक्षुरादयो वै यशो यशोहेतुत्वात् तेषु हि सत्सु ख्यातिर्भवति, तथा वीर्यं बलमस्मिञ्शरीरे । न ह्युत्क्रान्तप्राणो यशस्वी बलवान्वा भवति । तस्मात्प्राणा एव यशो वीर्यं चास्मिञ्शरीरे । तदेवं प्राणलक्षणं यशो वीर्यमुदक्रामदुत्क्रान्तवत् ।

तदेवं यशोवीर्यभूतेषु प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरान्निष्क्रान्तेषु त-

दिया है। उस प्रजापतिने जन्मान्तरमें अश्वमेध यज्ञद्वारा यजन किया था। इसलिये उसकी भावनासे युक्त हुआ ही वह कल्पके आरम्भमें प्रजापति हुआ। अश्वमेधके क्रिया, कारक और फलरूपसे सम्पन्न होकर उसने कामना की कि मैं पुनः महान् यज्ञद्वारा यजन करूँ। इस प्रकार महान् कार्यके लिये कामना करके वह अन्य लोगोंके समान श्रमित हो गया।

उसने तप किया। उस श्रान्त और तपे हुएका—ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये-यश और वीर्य निकल गया। अब श्रुति स्वयं ही [यश और वीर्य] पदोंका अर्थ बतलाती है। चक्षु आदि जो प्राण हैं वे ही यशके हेतु होनेके कारण यश हैं क्योंकि उनके रहनेपर ही ख्याति होती है। तथा वे ही इस शरीरमें वीर्य यानी बल हैं। जिसके प्राण निकल गये हैं वह पुरुष यशस्वी या बलवान् नहीं होता। अतः इस शरीरमें प्राण ही यश और वीर्य हैं। वे इस प्रकारके प्राणरूप यश और वीर्य निकल गये।

तब इस प्रकार यश और वीर्यभूत प्राणोंके उत्क्रमण करनेपर अर्थात् शरीरसे निकल जानेपर

च्छरीरं प्रजापतेः श्वयितुमुच्छून-भावं गन्तुमध्रियतामेध्यं चाभवत् तस्य प्रजापतेःशरीरान्निर्गतस्यापि तस्मिन्नेव शरीरे मन आसीद्यथा कस्यचित्प्रिये विषये दूरं गत-स्यापि मनो भवति तद्वत् ॥६॥

प्रजापतिके उस शरीरने श्वयन—उच्छूनता (फूलनारूप विकार) को प्राप्त होना आरम्भ किया; अर्थात् वह अमेध्य (अपवित्र) हो गया । किंतु जिस प्रकार किसी प्रिय वस्तुके दूर हो जानेपर भी उसीमें मन रहता है वैसे ही शरीरसे निकल जानेपर भी उस प्रजापतिका मन उस शरीरमें ही रहा ॥ ६ ॥

अश्वमेधोपासना और उसका फल

स तस्मिन्नेव शरीरे गतमनाः सन्किमकरोत् ? इत्युच्यते—

उस शरीरमें ही जिसका मन लगा हुआ है ऐसे उस प्रजापतिने क्या किया ? सो बतलाया जाता है—

सोऽकामयत मेध्यं म इद५ँ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति । ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् । एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद । तमनवरुध्यैवामन्यत । त५ँ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत । पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात् सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते । एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मायमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति

मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥७॥

उसने कामना की मेरा यह शरीर मेध्य (यज्ञिय) हो, मैं इसके द्वारा शरीरवान् होऊँ; क्योंकि वह शरीर अश्वत् अर्थात् फूल गया था, इसलिये वह अश्व हो गया और वह मेध्य हुआ। अतः यही अश्वमेधका अश्वमेधत्व है। जो इसे इस प्रकार जानता है वही अश्वमेधको जानता है। उसने उसे अवरोधरहित (बन्धनशून्य) ही चिन्तन किया। उसने संवत्सरके पश्चात् उसका अपने ही लिये [अर्थात् इसका देवता प्रजापति है—ऐसे भावसे] आलभन किया तथा अन्य पशुओंको भी देवताओंके प्रति पहुँचाया। अतः याज्ञिकलोग मन्त्रद्वारा संस्कार किये हुए सर्व-देवसम्बन्धी प्राजापत्य पशुका आलभन करते हैं। यह जो [सूर्य] तपता है वही अश्वमेध है। उसका संवत्सर शरीर है, यह अग्नि अर्क है तथा उसके ये लोक आत्मा हैं। ये ही दोनों (अग्नि और आदित्य) अर्क और अश्वमेध हैं। किंतु वे मृत्युरूप एक ही देवता हैं। जो इस प्रकार जानता है वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है, उसे मृत्यु नहीं पा सकता, मृत्यु उसका आत्मा हो जाता है तथा वह इन देवताओंमेंसे ही एक हो जाता है ॥ ७ ॥

सोऽकामयत, कथम्? मेध्यं मेधार्हं यज्ञियं मे ममेदं शरीरं स्यात्। किञ्च आत्मन्व्यात्मवांश्चानेन शरीरेण शरीरवान्स्यामिति प्रविवेश। यस्मात्तच्छरीरं तद्वियोगाद्गतयशोवीर्यं सद् अश्वद् अश्वयत् ततस्तस्मादश्वः समभवत्। ततोऽश्वनामा प्रजापतिरेव साक्षादिति

उसने कामना की। किस प्रकार?—मेरा यह शरीर मेध्य—यज्ञिय हो जाय। तथा मैं आत्मन्वी—आत्मवान् अर्थात् इस शरीरसे शरीरवान् हो जाऊँ। ऐसा विचार-कर उसने उसमें प्रवेश किया। क्योंकि वह शरीर उसके वियोगसे यशोवीर्यहीन होकर अश्वत्—अश्वयत् अर्थात् फूल गया था, अतः उससे अश्व उत्पन्न हुआ। इसीसे अश्व नामका साक्षात् प्रजापति ही

स्तूयते। यस्माच्च पुनस्तत्प्रवेशाद्गतयशोवीर्यत्वादमेध्यं सन्मेध्यमभूत्तदेव तस्मादेवाश्वमेधस्याश्वमेधनाम्नः क्रतोरश्वमेधत्वम् अश्वमेधनामलाभः। क्रियाकारकफलात्मको हि क्रतुः। स च प्रजापतिरेवेति स्तूयते।

है—इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है। क्योंकि उसके पुनः प्रवेशसे वह यशोवीर्यहीन और अमेध्य होनेपर भी मेध्य हो गया था इसीसे अश्वमेधका यानी अश्वमेधनामक यज्ञका अश्वमेधत्व है; अर्थात् उसे 'अश्वमेध' नाम मिला है। यज्ञ क्रिया, कारक और फलरूप होता है, अतः 'वह प्रजापति ही है' ऐसा कहकर उसकी स्तुति की जाती है।

क्रतुनिर्वर्तकस्याश्वस्य प्रजापतित्वमुक्तम् 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य' इत्यादिना। तस्यैवाश्वस्य मेध्यस्य प्रजापतिस्वरूपस्याग्नेश्च यथोक्तस्य क्रतुफलात्मरूपतया समस्योपासनं विधातव्यमित्यारभ्यते। पूर्वत्र क्रियापदस्य विधायकस्याश्रुतत्वात् क्रियापदापेक्षत्वाच्च प्रकरणस्य अयमर्थोऽवगम्यते।

'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादि वाक्यसे यज्ञनिर्वाहक अश्वका प्रजापतित्व कहा गया। अब उसी प्रजापतिरूप मेध्य अश्वकी और यज्ञफलरूपसे उसीके समान उपर्युक्त अग्निकी उपासनाका विधान करना है, इसलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। पहले श्रुतिवाक्यमें विधिबोधक क्रियापदका श्रवण नहीं हुआ है और [उपासन-सम्बन्धी वाक्योंमें] क्रियापदकी अपेक्षा होती है; इसलिये इस प्रकरणका यह अर्थ जाना जाता है।[1]

१ यद्यपि पहले 'य एवमेतददितेरदितित्वं वेद' ऐसा विधायक वाक्य आया है, परंतु यह प्रकरण अश्वमेधोपासनाका है, इसलिये वह मुख्य वाक्य नहीं है। अतः उस अभावकी पूर्ति करनेके लिये वहाँ श्रुति 'एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद' इस प्रकार साक्षाद्रूपसे उसका विधान करती है।

एष ह वा अश्वमेधं क्रतुं वेद य एनमेवं वेद, यः कश्चिदेनमश्वमग्निरूपमर्कं च यथोक्तमेवं वक्ष्यमाणेन समासेन प्रदर्श्यमानेन विशेषणेन विशिष्टं वेद, स एषोऽश्वमेधं वेद नान्यः। तस्मादेवं वेदितव्य इत्यर्थः।

जो इसे इस प्रकार जानता है, निश्चय वही अश्वमेधको जानता है। जो कोई भी इस अश्वको और ऊपर बतलाये हुए अग्निरूप अर्कको आगे कहे जानेवाले संक्षिप्तरूपसे प्रदर्शित विशेषणसे विशिष्ट जानता है वही अश्वमेधको जानता है, कोई दूसरा नहीं। अतः तात्पर्य यह है कि इसे इसी प्रकार जानना चाहिये।

कथम्? तत्र पशुविषयमेव तावद्दर्शनमाह। तत्र प्रजापतिर्भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति कामयित्वा आत्मानमेव पशुं मेध्यं कल्पयित्वा तं पशुमनवरुध्यैवोत्सृष्टं पशुमवरोधमकृत्वैव मुक्तप्रग्रहममन्यताचिन्तयत्। तं संवत्सरस्य पूर्णस्य परस्तादूर्ध्वमात्मने आत्मार्थमालभत—प्रजापतिदेवताकत्वेनेत्येतत्—आलभतालम्भं कृतवान्। पशूनन्यान्ग्राम्यानारण्यांश्च देवताभ्यो यथादैवतं प्रत्यौहत्प्रतिगमितवान्।

किस प्रकार जानना चाहिये? सो इस विषयमें पहले श्रुति पशु-विषयक दृष्टिका ही निरूपण करती है। प्रजापतिने ऐसी इच्छा करके कि मैं पुनः बड़े भारी यज्ञसे यजन करूँ अपनेहीको यज्ञिय पशु कल्पना कर उस पशुका अनवरोध कर उसे छूटा हुआ माना अर्थात् उसकी रोक-टोक न करते हुए उसे बन्धन-हीन चिन्तन किया। फिर पूरे एक संवत्सरके पीछे उसे अपने ही लिये आलभन किया अर्थात् प्रजापति देवता-सम्बन्धी पशुरूपसे उसका आलभन किया; तथा अन्य देवताओंको भी तत्तद्देवसम्बन्धी अन्यान्य ग्राम्य एवं वन्य पशु प्राप्त कराये।

यस्माच्चैवं प्रजापतिरमन्यत तस्मादेवमन्योऽप्युक्तेन विधिनात्मानं पशुमश्वं मेध्यं कल्पयित्वा

क्योंकि प्रजापतिने ऐसा माना था, इसलिये दूसरे यज्ञकर्ताको भी उपर्युक्त विधिसे ही अपनेको यज्ञिय

—सर्वदेवत्योऽहं प्रोक्ष्यमाण आलभ्यमानस्त्वहं मद्देवत्य एव स्याम्, अन्य इतरे पशवो ग्राम्यारण्या यथादैवतमन्याभ्यो देवताभ्य आलभ्यन्ते मदवयवभूताभ्य एव—इति विद्यात्। अत एवेदानीं सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते याज्ञिकाः।

'एवमेष ह वा अश्वमेधो य एष तपति'—यस्त्वेवं पशुसाधनकः क्रतुः स एष साक्षात्फलभूतो निर्दिश्यत एष ह वा अश्वमेधः। कोऽसौ ? य एव सविता तपति जगदवभासयति तेजसा। तस्यास्य क्रतुफलात्मनः संवत्सरः कालविशेषः, आत्मा शरीरं तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य।

तस्यैव क्रत्वात्मनः, अग्नि-

अश्व मानकर 'मैं वेदमन्त्रोंद्वारा अभिषिक्त होकर सर्वदेवसम्बन्धी होता हूँ, किंतु आलभन किये जानेपर केवल अपने ही देवताके लिये होऊँ; तथा दूसरे ग्राम्य और वन्य पशु, अन्यान्य देवताओंके अनुसार मेरे ही अवयवभूत विभिन्न देवोंके लिये आलभन किये जाते हैं—ऐसा जाने। इसीलिये आजकल याज्ञिकलोग समस्त देवताओंके लिये [मन्त्रोंद्वारा] अभिषिक्त किये हुए प्रजापतिसम्बन्धी पशुका आलभन करते हैं।

'एवमेष ह वा अश्वमेधो य एष तपति' इसकी व्याख्या की जाती है—इस प्रकार यह जो पशुद्वारा साध्य क्रतु है वही 'एष ह वा अश्वमेधः' इस वाक्यसे साक्षात् फलस्वरूपसे बतलाया जाता है। वह कौन-सा है ? जो कि सूर्य तपता अर्थात् अपने तेजसे जगत्को प्रकाशित करता है। उस इस यज्ञफलरूप सूर्यका संवत्सर—काल-विशेष आत्मा यानी शरीर है, क्योंकि उसीके द्वारा संवत्सर निष्पन्न होता है।[1]

उस यज्ञात्माका साधनभूत यह

१. क्योंकि सूर्यके उदयास्तसे दिन-रातके द्वारा संवत्सर होता है। यहाँतक अश्वमेधकी सूर्यरूपता बतलाकर अब उसके साधनभूत अग्निका सूर्यत्व बतलाया जाता है।

साध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुत्वरूपेणैव निर्देशः, अयं पार्थिवोऽग्निरर्कः साधनभूतः। तस्य चार्कस्य क्रतौ चित्यस्येमे लोकास्त्रयोऽप्यात्मानः शरीरावयवाः। तथा च व्याख्यातं 'तस्य प्राची दिक्' इत्यादिना। तावग्न्यादित्यावेतौ यथाविशेषितावर्काश्वमेधौ क्रतुफले। अर्को यः पार्थिवोऽग्निः स साक्षात्क्रतुरूपः क्रियात्मकः। क्रतोरग्निसाध्यत्वात्तद्रूपेणैव निर्देशः। क्रतुसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणैव निर्देश आदित्योऽश्वमेध इति।

तौ साध्यसाधनौ क्रतुफलभूतावग्न्यादित्यौ, सा उ पुनर्भूय एकैव देवता भवति। का सा? मृत्युरेव। पूर्वमप्येकैवासीत्क्रियासाधनफलभेदाय विभक्ता। तथा चोक्तम् "स त्रेधात्मानं व्यकुरुत" (बृ० उ० १।२।३) इति। सा पुनरपि क्रियानिर्वृत्त्युत्तरकाल-

पार्थिव अग्नि अर्क है; यज्ञफल अग्निसाध्य है, इसलिये उसका यज्ञरूपसे निर्देश किया गया है। यज्ञमें चयन किये जानेवाले उस अर्कके तीनों लोक आत्मा-शरीरके अवयव हैं। इसीसे 'उसका पूर्वदिशा शिर है' इत्यादि वाक्यसे उसकी व्याख्या की गयी है। वे ये अग्नि और आदित्य ऊपर दिये हुए विशेषणके अनुसार अर्क और अश्वमेध क्रमशः यज्ञ और फल हैं। अर्क जो पार्थिव अग्नि है वह साक्षात् क्रियात्मक यज्ञरूप है। यज्ञ अग्निसाध्य है, इसलिये अग्निरूपसे ही उसका निर्देश किया जाता है। तथा फल यज्ञसाध्य है इसलिये 'आदित्य अश्वमेध है' इस प्रकार यज्ञरूपसे ही उसका निर्देश किया जाता है।

वे यज्ञ एवं फलभूत अग्नि और आदित्य साध्य और साधन हैं। वे भी आपसमें मिलकर पुनः-फिर भी एक ही देवता हैं। यह एक देव कौन है? वह मृत्यु है। पहले भी वह (मृत्युदेवता) एक ही था, क्रियाके साधन और फलभेदके लिये उसका विभाग हो गया। ऐसा ही कहा भी है—"उसने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया" इत्यादि। वह फिर भी अर्थात् क्रियानिष्पत्तिके

मेकैव देवता भवति मृत्युरेव फलरूपः ।

यः पुनरेवमेनमश्वमेधं मृत्युमेकां देवतां वेद । अहमेव मृत्युरस्म्यश्वमेध एका देवता मद्रूपा अश्वाग्निसाधनसाध्येति सोऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा पुनर्मरणाय न जायत इत्यर्थः । अपजितोऽपि मृत्युरेनं पुनराप्नुयादित्याशङ्क्याह—नैनं मृत्युराप्नोति । कस्मात्? मृत्युरस्य एवंविद आत्मा भवति । किञ्च मृत्युरेव फलरूपः सन्नेतासां देवतानामेको भवति । तस्यैतत् फलम् ॥ ७ ॥

उत्तरकालमें भी एक ही देवता अर्थात् फलस्वरूप मृत्यु ही हो जाता है ।

जो इस प्रकार इस अश्वमेधको मृत्युरूप एक देवता जानता है; अर्थात् मैं ही अश्वमेधरूप मृत्यु हूँ—अग्नि और अश्वरूप साधनसे सिद्ध होनेवाली एक देवता मेरा ही रूप है—ऐसी जो उपासना करता है वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है। तात्पर्य यह है कि एक वार मरकर वह पुनः मरनेके लिये उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार परास्त हो जानेपर भी मृत्यु इसे पुनः प्राप्त कर लेगा—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—इसे मृत्यु पुनः प्राप्त नहीं कर सकता । क्यों ? क्योंकि इस प्रकार जाननेवालेका मृत्यु आत्मा हो जाता है। बल्कि मृत्यु ही फलरूप होकर इन देवताओंमेंसे कोई एक हो जाता है। उस उपासकको यही फल प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयमग्निब्राह्मणम् ॥ २ ॥

तृतीय ब्राह्मण

द्वया हेत्याद्यस्य कः सम्बन्धः ?

प्रकरण-सम्बन्ध। कर्मणां ज्ञानसहितानां परा गतिरुक्ता मृत्य्वात्मभावोऽश्वमेधगत्युक्त्या। अथेदानीं मृत्य्वात्मभावसाधनभूतयोः कर्मज्ञानयोर्यत उद्भवस्तत्प्रकाशनार्थमुद्गीथब्राह्मणमारभ्यते।

ननु मृत्य्वात्मभावः पूर्वत्र ज्ञानकर्मणोःफलमुक्तम्। उद्गीथज्ञानकर्मणोस्तु मृत्य्वात्मभावातिक्रमणं फलं वक्ष्यति अतो भिन्नविषयत्वात्फलस्य न पूर्वकर्मज्ञानोद्भवप्रकाशनार्थमिति चेत्।

नायं दोषः; अग्न्यादित्यात्मभावत्वादुद्गीथफलस्य। पूर्वत्राप्येतदेव फलमुक्तम् 'एतासां देवतानामेको भवति' इति। ननु 'मृत्युमतिक्रान्तः' इत्यादि

'द्वया ह' इत्यादि वाक्यसे आरम्भ होनेवाले इस ब्राह्मणका पूर्वब्राह्मणसे क्या सम्बन्ध है?—यहाँतक अश्वमेधकी गति (फल) बतानेके द्वारा ज्ञानसहित कर्मोंकी मृत्युरूपताकी प्राप्तिरूप परागति बतलायी गयी है। अब आगे मृत्युस्वरूपताके साधनभूत कर्म और ज्ञानका जिससे उदय होता है उसका प्रकाशन करनेके लिये उद्गीथ ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है।

शङ्का—पहले तो ज्ञान और कर्मका फल मृत्युस्वरूपताकी प्राप्ति बतलाया गया है; किंतु उद्गीथज्ञान और कर्मका फल मृत्युस्वरूपताका अतिक्रमण बतलाया जायगा। अतः इसके फलका विषय भिन्न होनेसे यह पूर्वोक्त कर्म और ज्ञानके उद्गमस्थानको प्रकाशित करनेके लिये नहीं हो सकता।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उद्गीथका फल अग्नि एवं आदित्यस्वरूपताकी प्राप्ति है। पहले भी 'इनमेंसे कोई एक देवता हो जाता है' इस वाक्यसे यही फल बतलाया गया है। यदि कहो कि 'मृत्युसे अतिक्रान्त हो जाता है' इतना कथन तो पहलेकी अपेक्षा

विरुद्धम्; न स्वाभाविकपाप्मासङ्गविषयत्वादतिक्रमणस्य ।

कोऽसौ स्वाभाविकः पाप्मासङ्गो मृत्युः ? कुतो वा तस्योद्भवः ? केन वा तस्यातिक्रमणम् ? कथं वा ? इत्येतस्यार्थस्य प्रकाशनायाख्यायिकारभ्यते । कथम्—

विरुद्ध है ही—तो यह बात भी नहीं है, क्योंकि इस अतिक्रमणका विषय स्वाभाविक पापका सङ्ग होना है।

यह स्वाभाविक पापका सङ्गरूप मृत्यु क्या है ? कहाँसे उसकी उत्पत्ति होती है? किसके द्वारा उसका अतिक्रमण हो सकता है ? और किस प्रकार हो सकता है ? इन सब बातोंको प्रकाशित करनेके लिये यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है। सो किस प्रकार--

देव और असुरोंकी स्पर्धा, देवताओंका उद्गीथ-सम्बन्धी विचार

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १॥

प्रजापतिके दो प्रकारके पुत्र थे—देव और असुर। उनमें देव थोड़े ही थे और असुर अधिक थे। इन लोकोंमें वे परस्पर स्पर्धा (डाह) करने लगे। उनमेंसे देवताओंने कहा, 'हम यज्ञमें उद्गीथके द्वारा असुरोंका अतिक्रमण करें' ॥ १ ॥

द्वया द्विप्रकाराः । हेति पूर्ववृत्तावद्योतको निपातः । वर्तमानप्रजापतेः पूर्वजन्मनि यद् वृत्तं तदवद्योतयति हशब्देन । प्राजा-

द्वयाः—दो प्रकारके। 'ह' यह पूर्ववृत्तान्तका द्योतक निपात है। वर्तमान प्रजापतिके पूर्वजन्ममें जो कुछ हुआ था उसे ही श्रुति 'ह' शब्दसे द्योतित करती है। 'प्राजापत्याः'-जिस जन्ममें पूर्ववृत्त

पत्याः प्रजापतेर्वृत्तजन्मावस्थस्यापत्यानि प्राजापत्याः। के ते ? देवाश्चासुराश्च । तस्यैव प्रजापतेः प्राणा वागादयः ।

घटित हुआ था उसमें होनेवाले प्रजापतिके पुत्र प्राजापत्य कहे गये हैं। वे कौन थे ? देवता और असुर; अर्थात् उसी प्रजापतिके वागादि प्राण [इन्द्र-विरोचनादि नहीं]।

प्राणानां देवासुरत्व-निर्वचनम्

कथं पुनस्तेषां देवासुरत्वम् ? उच्यते—शास्त्रजनितज्ञानकर्मभाविता द्योतनाद्देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनकर्मज्ञानभाविता असुराः। स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्।

किंतु उनका देवासुरत्व कैसे माना जाता है ? सो बतलाया जाता है। शास्त्र-जनित ज्ञान और कर्मसे भावित जो प्राण हैं, वे द्योतनशील (प्रकाशमय) होनेके कारण देव हैं; तथा वे (प्राण) ही स्वाभाविक प्रत्यक्ष एवं अनुमानजनित दृष्ट प्रयोजनवाले कर्म और ज्ञानसे भावित होनेपर असुर हैं। अपने ही असुओं (प्राणों) में रमण करनेके कारण अथवा सुर यानी देवोंसे भिन्न होनेके कारण वे असुर कहलाते हैं।

यस्माच्च दृष्टप्रयोजनज्ञानकर्मभाविता असुराः, ततस्तस्मात्कानीयसाः, कनीयांस एव कानीयसाः, स्वार्थेऽणि वृद्धिः। कनीयांसोऽल्पा एव देवाः। ज्यायसा

क्योंकि असुरगण दृष्ट प्रयोजनवाले ज्ञान और कर्मकी भावनासे युक्त हैं, इसलिये देवगण कानीयस हैं। कानीयान् ही कानीयस हैं। यहाँ [कानीयस् शब्दसे] स्वार्थमें 'अण्' प्रत्यय होनेपर आदि स्वरकी वृद्धि हुई है, जिससे 'कानीयस' शब्द सिद्ध हुआ है। तात्पर्य यह कि देवगण कनीयान् अर्थात् थोड़े

असुरा ज्यायान्सोऽसुराः । स्वाभाविकी हि कर्मज्ञानप्रवृत्तिर्महत्तरा प्राणानां शास्त्रजनितायाः कर्मज्ञानप्रवृत्तेर्दृष्टप्रयोजनत्वात् । अत एव कनीयस्त्वं देवानां शास्त्रजनितप्रवृत्तेरल्पत्वात् । अत्यन्तयत्नसाध्या हि सा ।

ते देवाश्चासुराश्च प्रजापतिशरीरस्था एषु लोकेषु निमित्तभूतेषु स्वाभाविकेतरकर्मज्ञानसाध्येषु अस्पर्धन्त स्पर्धां कृतवन्तः । देवानां चासुराणां च वृत्त्युद्भवाभिभवौ स्पर्धा । कदाचिच्छास्त्रजनितकर्मज्ञानभावनारूपा वृत्तिः प्राणानामुद्भवति । यदा चोद्भवति तदा दृष्टप्रयोजना प्रत्यक्षानुमानजनितकर्मज्ञानभावनारूपा तेषामेव प्राणानां वृत्तिरासुर्यभिभूयते । स देवानां जयोऽसुराणां पराजयः । कदाचित्तद्विपर्ययेण देवानां वृत्तिरभिभूयत आसुर्या उद्भवः । सो-

ही हैं। तथा असुरगण ज्यायस—ज्यायान् यानी अधिक हैं, क्योंकि दृष्ट प्रयोजनवाली होनेसे प्राणोंकी शास्त्रजनित कर्म-ज्ञानप्रवृत्तिकी अपेक्षा स्वाभाविकी कर्म-ज्ञानप्रवृत्ति ही अधिकतर होती है। इसीसे शास्त्रजनित प्रवृत्तिकी अल्पताके कारण देवताओंकी भी अल्पता है, क्योंकि वह अत्यन्त यत्न करनेपर सिद्ध होनेवाली है।

प्रजापतिके शरीरमें रहनेवाले वे देव और असुर स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक (शास्त्रजनित) कर्म और ज्ञानसे साध्य लोकोंके निमित्त स्पर्धा (डाह) करने लगे। दैवी और आसुरी वृत्तियोंका उठना और दबना ही देवता और असुरोंकी स्पर्धा है। कभी तो प्राणोंकी शास्त्रजनित कर्मज्ञानभावनारूपा वृत्ति उठती है, और जिस समय वह उठती है उस समय उन्हीं प्राणोंकी दृष्ट प्रयोजनवाली प्रत्यक्ष एवं अनुमानजनित कर्मज्ञानभावनारूपा आसुरी वृत्ति दब जाती है। यही देवताओंका जय और असुरोंका पराजय है। तथा कभी इसके विपरीत देवताओंकी वृत्ति दब जाती है और आसुरी वृत्तिका उत्थान

ऽसुराणां जयो देवानां पराजयः। एवं देवानां जये धर्मभूयस्त्वा दुत्कर्ष आ प्रजापतित्वप्राप्तेः। असुरजयेऽधर्मभूयस्त्वादपकर्ष आ स्थावरत्वप्राप्तेः। उभयसाम्ये मनुष्यत्वप्राप्तिः।

त एवं कनीयस्त्वादभिभूयमाना असुरैर्देवा बाहुल्यादसुराणां किं कृतवन्तः? इत्युच्यते—ते देवा असुरैरभिभूयमाना ह किलोचुरुक्तवन्तः। कथम्? हन्तेदानीम् अस्मिन्यज्ञे ज्योतिष्टोमे, उद्गीथेन उद्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणेन अत्ययामातिगच्छाम:। असुरानभिभूय स्वं देवभावं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपद्यामह इत्युक्तवन्तोऽन्योन्यम्। उद्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणं च ज्ञानकर्मभ्याम्।

होता है। वह असुरोंका विजय और देवोंका पराजय है। इस प्रकार देवताओंका विजय होनेपर धर्मकी अधिकता होनेके कारण प्रजापतिपदकी प्राप्तिपर्यन्त उत्कर्ष (ऊर्ध्वगमन) होता है तथा असुरोंका विजय होनेपर अधर्मकी अधिकता होनेके कारण स्थावरत्वप्राप्तिपर्यन्त अधोगति होती है और दोनोंकी समानता होनेपर मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार असुरोंकी अपेक्षा स्वयं अल्पसंख्यक होनेसे तथा असुरोंकी अधिकता होनेके कारण उनके द्वारा दबे हुए उन देवताओंने क्या किया? सो बतलाया जाता है। कहते हैं, असुरोंसे अभिभूत होते हुए उन देवताओंने कहा। क्या कहा?—'अहो! अब इस ज्योतिष्टोम यज्ञमें उद्गीथके द्वारा—उद्गीथनामक जो कर्मका अङ्गभूत पदार्थ है उसे करनेवाले प्राणके स्वरूपका आश्रय करके हम असुरोंका अतिक्रमण करेंगे; अर्थात् असुरोंका पराभव कर अपने शास्त्रप्रकाशित देवभावको प्राप्त करेंगे'—इस प्रकार उन्होंने आपसमें कहा। उद्गीथ कर्मरूप पदार्थके कर्ताके स्वरूपका आश्रय ज्ञान और कर्मके

कर्म वक्ष्यमाणं मन्त्रजपलक्षणं विधित्स्यमानं "तदेतानि जपेत्" इति । ज्ञानं त्विदमेव निरूप्यमाणम् ।

नन्विदमभ्यारोहजपविशेषोऽर्थवादो न ज्ञाननिरूपणपरम् ।

न; 'य एवं वेद' इति प्राणोपासनवाक्यस्य वचनात् । उद्गीथ-अन्यशेषत्व-निरासः प्रस्तावे पुराकल्पश्रवणादुद्गीथविधिपरमिति चेन्न, अप्रकरणात् । उद्गीथस्य चान्यत्र विहितत्वात् । विद्याप्रकरणत्वाच्चास्य । अभ्यारोहजपस्य चानित्यत्वात्, एवंवित्प्रयोज्यत्वात्; विज्ञानस्य च नित्यवच्छ्रवणात् । "तद्धैतल्लोक-

द्वारा किया जा सकता है। उनमें कर्म तो "तदेतानि जपेत्" इस वाक्यद्वारा जिसका विधान करना इष्ट है वह आगे कहा जानेवाला मन्त्रजपरूप है और ज्ञान तो वही है जिसका निरूपण किया जा रहा है।

शङ्का—किंतु यह तो अभ्यारोह[1] मन्त्रजपकी विधिका शेषभूत अर्थवाद है, ज्ञाननिरूपण-परक नहीं है।

समाधान—यह बात नहीं है, क्योंकि यहाँ 'जो ऐसा जानता है' ऐसा वचन है। यदि कहो कि उद्गीथके प्रकरणमें ['द्वया ह' इत्यादि] पूर्वकल्पसम्बन्धी श्रुति होनेसे यह उद्गीथ-विधिपरक है[2]—तो यह बात भी नहीं है, क्योंकि यह उद्गीथका प्रकरण ही नहीं है। उद्गीथका विधान तो अन्यत्र (कर्मकाण्डमें) किया गया है। यह तो विद्या (उपासना) का प्रकरण है। इसके सिवा अभ्यारोहजप अनित्य होता है, क्योंकि प्राणवेत्ताद्वारा ही वह अनुष्ठान करनेयोग्य है और प्राणविज्ञान नित्यवत् सुना गया है।[3] तथा "यह प्राणविज्ञान

१. जिसके जपसे देवभावकी सम्मुखतासे प्राप्ति हो उस मन्त्रजपका नाम अभ्यारोह मन्त्रजप है।

२. अर्थात् उद्गीथविधिका शेषभूत अर्थवाद है।

३. तात्पर्य यह है कि अभ्यारोहजपका अधिकार प्राणवेत्ताको ही होनेके कारण,

जिदेव" (छा० उ० १ । ३ । २८) इति च श्रुतेः; प्राणस्य वागादीनां च शुद्ध्यशुद्धिवचनात् । न ह्यनुपास्यत्वे प्राणस्य शुद्धिवचनं वागादीनां च सहोपन्यस्तानामशुद्धिवचनम् । वागादिनिन्दया मुख्यप्राणस्तुतिश्चाभिप्रेता उपपद्यते । 'मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते' इत्यादि फलवचनं च । प्राणस्वरूपापत्तेर्हि फलं तद्वागाद्यग्न्यादिभावः ।

लोकोंकी प्राप्ति करानेवाला ही है" इस श्रुतिसे और प्राण तथा वागादिकी शुद्धि और अशुद्धि बतलायी जानेसे भी यह विज्ञानका ही प्रकरण सिद्ध होता है । प्राणकी उपास्यता बतलाना अभीष्ट न होनेपर प्राणकी शुद्धिका प्रतिपादन करना और उसीके साथ जिनका उल्लेख किया गया है उन वागादिको अशुद्ध कहना सम्भव नहीं है । इससे वागादिकी निन्दाद्वारा मुख्य प्राणकी स्तुति अभिमत एवं युक्तियुक्त जान पड़ती है । 'मृत्युको पार करके प्रकाशित होता है' ऐसा इसका फलवचन भी है । वागादिको जो अग्न्यादिभावकी प्राप्ति है वह उनकी प्राणस्वरूपताकी प्राप्तिका ही फल है ।

भवतु नाम प्राणस्योपासनम्, न तु विशुद्ध्यादिगुणवत्त्वेति । ननु स्याच्छ्रुतत्वात्; न स्यात्;

शङ्का—यहाँ प्राणकी उपासना भले ही हो, परंतु उसका विशुद्धि आदि गुणोंसे युक्त होना तो सम्भव नहीं है । यदि कहो कि श्रुतिप्रतिपादित होनेके कारण ऐसा हो सकता है, तो ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुति

प्राणविज्ञानसे पूर्व उसका अनुष्ठान नहीं हो सकता; इसलिये वह अनित्य है । किंतु प्राणविज्ञान उसकी अपेक्षा नित्य है । क्योंकि 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' इस नित्य पौर्णमासयागके समान 'य एवं वेद' (जो इस प्रकार जानता है) इस प्रकार नित्यवत् विज्ञान (उपासना) का श्रवण होता है । यहाँ प्रयाज आदि पौर्णमासीके प्रयोजक नहीं हैं, अपितु पौर्णमासी ही प्रयाज आदिकी प्रयोजिका है, उसी प्रकार प्राणवित्प्रयोज्य जप प्राणविज्ञानका प्रयोजक नहीं है, बल्कि प्राणविज्ञान ही जपका प्रयोजक है । अतः वह जपसे पूर्वसिद्ध है ।

उपास्यत्वे स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेः ।

न; अविपरीतार्थप्रतिपत्तेः श्रेयःप्राप्त्युपपत्तेर्लोकवत् । यो ह्यविपरीतमर्थं प्रतिपद्यते लोके स इष्टं प्राप्नोत्यनिष्टाद्वा निवर्तते, न विपरीतार्थप्रतिपत्त्या । तथेहापि श्रौतशब्दजनितार्थप्रतिपत्तौ श्रेयःप्राप्तिरुपपन्ना न विपर्यये । न चोपासनार्थश्रुतशब्दोत्थविज्ञानविषयस्य अयथार्थत्वे प्रमाणमस्ति । न च तद्विज्ञानस्यापवादः श्रूयते । ततः श्रेयःप्राप्तिदर्शनाद्यथार्थतां प्रतिपद्यामहे; विपर्यये चानर्थप्राप्तिदर्शनात् । यो हि विपर्ययेणार्थं प्रतिपद्यते लोके, पुरुषं स्थाणुरित्यमित्रं मित्रमिति वा, सोऽनर्थं प्राप्नुवन्दृश्यते । आत्मे-

तो, उपास्य होनेके कारण, उसकी स्तुतिके लिये भी हो सकती है ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविरुद्ध अर्थके ज्ञानसे ही श्रेयःप्राप्ति होनी सम्भव है; ऐसा ही लोकमें भी देखा जाता है । लोकमें जो पुरुष अविरुद्ध अर्थका ज्ञान रखता है वही अभीष्ट प्राप्त करता है और अनिष्टसे बचता है । विपरीत अर्थके ज्ञानसे ऐसा नहीं होता । इसी प्रकार यहाँ भी श्रुतिके शब्दसे निकलनेवाले अर्थके ज्ञानसे ही श्रेयःप्राप्ति होनी सम्भव है, विपरीत अवस्थामें नहीं । इसके सिवा उपासनाका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके शब्दसे होनेवाले विज्ञानके विषयके मिथ्या होनेमें कोई प्रमाण भी नहीं है । श्रुति उस विज्ञानका कहीं अपवाद भी नहीं करती । अतः उससे श्रेयःप्राप्ति दिखायी देनेसे हम उसकी यथार्थता मानते ही हैं, क्योंकि इससे विपरीत माननेमें अनर्थकी प्राप्ति देखी जाती है । लोकमें जो पुरुष वस्तुको विपरीतभावसे ग्रहण करता है, जैसे पुरुषको स्थाणु अथवा शत्रुको मित्र समझता है, वह अनर्थको प्राप्त होता देखा जाता है । यदि श्रुतिसे

श्वरदेवतादीनामपि अयथार्थानामेव चेद् ग्रहणं श्रुतितः, अनर्थप्राप्त्यर्थं शास्त्रमिति ध्रुवं प्राप्नुयाल्लोकवदेव, न चैतदिष्टम्; तस्माद्यथाभूतानेव आत्मेश्वरदेवतादीन् ग्राहयत्युपासनार्थं शास्त्रम् ।

आत्मा, ईश्वर और देवतादिका भी अयथार्थरूपसे ही ग्रहण होता तब तो लोककी तरह शास्त्र भी अनर्थप्राप्तिके ही लिये है—ऐसी आपत्ति अवश्य हो सकती थी। परंतु यह इष्ट नहीं है; अतः शास्त्र उपासनाके लिये यथार्थ आत्मा, ईश्वर और देवतादिको ही ग्रहण कराता है ।

नामादौ ब्रह्मदृष्टिदर्शनादयुक्तमिति चेत्स्फुटं नामादेरब्रह्मत्वम्, तत्र ब्रह्मदृष्टिं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिं विपरीतां ग्राहयच्छास्त्रं दृश्यते। तस्माद्यथार्थमेव शास्त्रतः प्रतिपत्तेः श्रेयः इत्ययुक्तमिति चेत् ?

शङ्का—नामादिमें ब्रह्मदृष्टि देखी जानेके कारण तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। नामादिका अब्रह्मत्व स्पष्ट ही है। उनमें स्थाणु आदिमें पुरुषदृष्टिके समान शास्त्र विपरीत ब्रह्मदृष्टिका ग्रहण कराता देखा जाता है। अतः शास्त्रसे यथार्थ ज्ञान होनेके कारण ही श्रेयकी प्राप्ति होती है—ऐसा कहना ठीक नहीं।

न, प्रतिमावद्भेदप्रतिपत्तेः। नामादावब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टिं विपरीतां ग्राहयति शास्त्रं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिम्, इति नैतत्साध्ववोचः। कस्मात् ? भेदेन हि ब्रह्मणो नामादिवस्तुप्रतिपन्नस्य नामादौ विधीयते ब्रह्मदृष्टिः प्रतिमादाविव विष्णुदृष्टिः। आलम्बनत्वेन हि

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रतिमाके समान उनका ब्रह्मसे भेदज्ञान रहता है। स्थाणु आदिमें पुरुषदृष्टिके समान शास्त्र नामादि अब्रह्ममें विपरीत ब्रह्मदृष्टिका ग्रहण करता है—यह तुमने ठीक नहीं कहा। क्यों ? क्योंकि जिसे ब्रह्मसे नामादि वस्तुका भेदरूपसे ज्ञान है उसीके लिये प्रतिमादिमें विष्णुदृष्टिके समान नामादिमें ब्रह्म-

नामादिप्रतिपत्तिः प्रतिमादिवदेव, न तु नामाद्येव ब्रह्मेति। यथा स्थाणावनिर्ज्ञाते न स्थाणुरिति, पुरुष एवायमिति प्रतिपद्यते विपरीतम्, न तु तथा नामादौ ब्रह्मदृष्टिर्विपरीता।

दृष्टिका विधान किया जाता है। प्रतिमादिके समान नामादिका ज्ञान भी ब्रह्मके आलम्बनरूपसे ही होता है, नामादि ही ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार स्थाणुका ज्ञान न होनेपर 'यह स्थाणु नहीं है, पुरुष ही है' ऐसा विपरीत ज्ञान होता है, नामादिमें वैसी विपरीत ब्रह्मदृष्टि नहीं होती।

ब्रह्मदृष्टिरेव केवला नास्ति ब्रह्मेति चेत्। एतेन प्रतिमाब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादिदृष्टीनां तुल्यता।

पूर्वपक्षी—किन्तु इससे 'केवल ब्रह्मदृष्टि ही होती है, वस्तुतः ब्रह्म है नहीं' यही बात सिद्ध होती है। प्रतिमा और ब्राह्मणादिमें विष्णु आदि देव और पितृ आदि दृष्टियाँ भी इसीके समान हैं।

न; ऋगादिषु पृथिव्यादिदृष्टिदर्शनात्। विद्यमानपृथिव्यादिवस्तुदृष्टीनामेव ऋगादिविषये क्षेपदर्शनात्। तस्मात्तत्सामान्यान्नामादिषु ब्रह्मादिदृष्टीनां विद्यमानब्रह्मादिविषयत्वसिद्धिः।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऋगादिमें पृथिवी आदि दृष्टि देखी जाती है अर्थात् ऋगादि विषयोंमें पृथिवी आदि विद्यमान वस्तुविषयक दृष्टियोंका ही आरोप देखा गया है। अतः उनसे समानता होनेके कारण नामादिमें जो ब्रह्मादिदृष्टि हैं उनकी विद्यमान ब्रह्मादिविषयता सिद्ध होती है।

एतेन प्रतिमाब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादिबुद्धीनां च सत्यवस्तुविषयत्वसिद्धिः। मुख्यापेक्षत्वाच्च गौणत्वस्य। पञ्चाग्न्या-

इससे प्रतिमा और ब्राह्मणादिमें विष्णु आदि देवदृष्टि और पित्रादि दृष्टियोंका भी सत्यवस्तुविषयक होना सिद्ध होता है, क्योंकि गौणता तो मुख्यकी अपेक्षासे होती है। जिस

दिषु चाग्नित्वादेर्गौणत्वाद् मुख्याग्न्यादिसद्भाववन्नामादिषु ब्रह्मत्वस्य गौणत्वान्मुख्यब्रह्म-सद्भावोपपत्तिः ।

बुद्ध्युत्पादकत्वे ज्ञानवाक्यानां क्रियार्थवाक्यैः सामान्यम्

क्रियार्थैश्चाविशेषाद्विद्यार्थानाम् यथा च दर्शपौर्णमासादिक्रियेदम्फला विशिष्टेतिकर्तव्यताका एवंक्रमप्रयुक्ताङ्गा च इत्येतदलौकिकं वस्तु प्रत्यक्षाद्यविषयं तथाभूतं च वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते। तथा, परमात्मेश्वरदेवतादिवस्तु अस्थूलादिधर्मकमशनायाद्यतीतं चेत्येवमादिविशिष्टमिति वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते, इत्यलौकिकत्वात्तथाभूतमेव भवितुमर्हतीति। न च क्रियार्थैर्वाक्यैर्ज्ञानवाक्यानां बुद्ध्युत्पादकत्वे विशेषोऽस्ति ।

प्रकार पञ्चाग्नि आदिमें अग्नित्वकी गौणता होनेसे मुख्याग्नि आदिका सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार नामादिमें ब्रह्मत्वकी गौणता होनेसे मुख्य ब्रह्मकी सत्ता सिद्ध होती है ।

इसके सिवा ज्ञानसम्बन्धी वाक्योंकी कर्मपरक वाक्योंसे समानता होनेके कारण भी [यही सिद्ध होता है]। जिस प्रकार दर्शपौर्णमासादि क्रिया इस फलवाली है, [अमुक-अमुक प्रकारसे] विशिष्ट इतिकर्तव्यता[1]वाली है और इस प्रकारके क्रमसे उसके अङ्गोंका प्रयोग होना चाहिये—ये सब अलौकिक बातें, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणकी विषय नहीं हैं किंतु यथार्थ हैं, वेदवाक्योंसे ही जनायी जाती हैं, उसी प्रकार परमात्मा, ईश्वर एवं देवतादि पदार्थ स्थूलत्वादि धर्मोंसे रहित एवं क्षुधादिसे अतीत हैं तथा इस प्रकारके गुणोंसे विशिष्ट हैं—ये बातें वेदवाक्योंसे ही जानी जा सकती हैं। अतः अलौकिक होनेके कारण वे सत्य ही होनी चाहिये। इसके सिवा क्रियार्थवाक्योंसे ज्ञानसम्बन्धी वाक्योंका बुद्धि उत्पन्न करनेमें कोई भेद भी नहीं

१. करणके सहायकरूपसे अपेक्षित कार्य 'इतिकर्तव्यता' कहलाते हैं, जैसे 'यवैर्यजेत्' इस यव-यागमें करणभूत 'यव' का प्रोक्षण आदि कार्य 'इतिकर्तव्यता' है।

न चानिश्चिता विपर्यस्ता वा परमात्मादिवस्तुविषया बुद्धिरुत्पद्यते ।

अनुष्ठेयाभावादयुक्तमिति चेत्

ज्ञानवाक्यानां क्रियार्थवाक्यैस्समानत्वशङ्कनम्

क्रियार्थैर्वाक्यैस्त्र्यंशा भावनानुष्ठेया ज्ञाप्यतेऽलौकिक्यपि । न तथा परमात्मेश्वरादिविज्ञानेऽनुष्ठेयं किञ्चिदस्ति । अतः क्रियार्थैः साधर्म्यमित्ययुक्तमिति चेत् ?

न, ज्ञानस्य तथाभूतार्थविषयत्वात्

तस्य परिहारः

न ह्यनुष्ठेयस्य त्र्यंशस्य भावनाख्यस्यानुष्ठेयत्वात्तथात्वम्, किं तर्हि ? प्रमाणसमधिगतत्वात् । न च तद्विषयाया बुद्धेरनुष्ठेयविषयत्वात्तथार्थत्वम्, किं तर्हि ? वेदवाक्य-

है । उनसे परमात्मादि वस्तुविषयक अनिश्चित या विपरीत बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ।

पूर्व०—ज्ञानपरक वाक्योंद्वारा कोई अनुष्ठेयकर्म नहीं होता, इसलिये उन्हें क्रियार्थवाक्योंके समान कहना अनुचित है। क्रियार्थवाक्योंसे अलौकिक होनेपर भी [फल, साधन तथा इतिकर्तव्यतारूपसे] तीन[1] अंशोंवाली भावना अनुष्ठेयरूपसे बतलायी जाती है। परमात्मा एवं ईश्वरादि-विज्ञानमें वैसा कोई अनुष्ठेय कर्म नहीं होता। अतः विज्ञानवाक्योंकी जो क्रियार्थवाक्योंसे सधर्मता बतलायी गयी है वह ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान यथार्थ वस्तुविषयक होता है। त्र्यंश (तीन अंशवाली) भावनासंज्ञक अनुष्ठेय कर्मकी, अनुष्ठेय होनेके कारण, यथार्थता नहीं है, तो फिर किस कारणसे है ? श्रुतिप्रमाणद्वारा ज्ञात होनेके कारण । इसी प्रकार परमात्मविषयक बुद्धिकी यथार्थता भी अनुष्ठेयवस्तुविषयक होनेसे नहीं है, तो फिर किस कारणसे है ?

१. उन तीन अंशोंका स्वरूप यह है— (१) क्या भावना करे ? (२) किसके द्वारा भावना करे ? (३) किस प्रकार भावना करे ?

जनितत्वादेव । वेदवाक्याधिगतस्य वस्तुनस्तथात्वे सत्यनुष्ठेयत्वविशिष्टं चेदनुतिष्ठति । नो चेदनुष्ठेयत्वविशिष्टं नानुतिष्ठति ।

वेदवाक्यजनित होनेसे ही उसकी यथार्थता है। वेदवाक्यद्वारा ज्ञात वस्तुके यथार्थ सिद्ध होनेपर यदि वह अनुष्ठेयत्वविशिष्ट होती है तो पुरुष उसका अनुष्ठान करता है और यदि अनुष्ठेयत्वविशिष्ट नहीं होती तो उसका अनुष्ठान नहीं करता।

अनुष्ठेयत्वा- ज्ञानवाक्या- नामानर्थक्या- शङ्कनम्

अननुष्ठेयत्वे वाक्यप्रमाणत्वानुपपत्तिरिति चेत् । न ह्यनुष्ठेयेऽसति पदानां संहतिरुपपद्यते । अनुष्ठेयत्वे तु सति तादर्थ्येन पदानि संहन्यन्ते । तत्रानुष्ठेयनिष्ठं वाक्यं प्रमाणं भवति इदमनेनैवं कर्तव्यमिति । न त्विदमनेनैवमित्येवं प्रकाराणां पदशतानामपि वाक्यत्वमस्ति 'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्' इत्येवमादीनामन्यतमेऽसति । अतः परमात्मेश्वरादीनामवाक्यप्रमाणत्वम्, पदार्थत्वे च प्रमाणान्तरविषयत्वम् । अतोऽसदेतदिति चेत् ? न, 'अस्ति मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेतः'

पूर्व०—किंतु अनुष्ठेयत्व न होनेपर तो वह वाक्यप्रमाणका विषय ही नहीं हो सकता। अनुष्ठेय न होनेपर पदोंका संहत होना ही सम्भव नहीं है। अनुष्ठेयत्व होनेपर ही उसे प्रकाशित करनेके लिये पदोंका मेल होता है। 'इसे यह इस प्रकार करना चाहिये' इस प्रकार अनुष्ठेयपरक वाक्य ही प्रमाण होता है। 'कुर्यात्, क्रियेत, कर्तव्यम्, भवेत्, स्यात्' ये पाँच विधि-बोधक क्रियापद हैं। ऐसे क्रियापदोंमेंसे किसीके भी न होनेपर तो 'इसे यह इस प्रकार' ऐसे सैकड़ों पदोंके मिलनेपर भी उनमें वाक्यत्व नहीं आ सकता। अतः परमात्मा एवं ईश्वरादि वाक्यप्रमाणके विषय नहीं हो सकते। यदि वे पदार्थ हैं तो किसी अन्य प्रमाणके विषय होंगे। अतः [वे शास्त्रप्रमाणजनित हैं] यह मानना ठीक नहीं।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है,

तस्य परिहारः इत्येवमाद्यननुष्ठेयेऽपि वाक्यदर्शनात्। न च 'मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेतः' इत्येवमादिवाक्यश्रवणे मेर्वादावनुष्ठेयत्वबुद्धिरुत्पद्यते । तथा अस्तिपदसहितानां परमात्मेश्वरादिप्रतिपादकवाक्यपदानां विशेषणविशेष्यभावेन संहतिः केन वार्यते ।

ज्ञानवाक्यानां निष्प्रयोजनत्व-परिहारः मेर्वादिज्ञानवत्परमात्मज्ञाने प्रयोजनाभावादयुक्तमिति चेत् ? न, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २ । १ । १) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" (मु० उ० २ । २ । ८) इति फलश्रवणात्, संसारबीजाविद्यादिदोषनिवृत्तिदर्शनाच्च । अनन्यशेषत्वाच्च तज्ज्ञान-

क्योंकि 'मेरु-चार वर्णोंसे युक्त है' इत्यादिमें अनुष्ठेय न होनेपर भी वाक्य देखा जाता है। 'मेरु चार वर्णोंसे युक्त है' इत्यादि वाक्य सुननेसे मेरु आदिमें अनुष्ठेयत्वबुद्धि भी उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार परमात्मा और ईश्वरका प्रतिपादन करनेवाले 'अस्ति' पदयुक्त वाक्योंके पदोंकी विशेष्यविशेषणभावसे होनेवाली संहतिको भी कौन रोक सकता है ?

पूर्व०—किंतु मेरुआदिके ज्ञानके समान परमात्माके ज्ञानसे तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिये ऐसा मानना व्यर्थ है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मज्ञानका तो "ब्रह्मवेत्ता परम पद प्राप्त कर लेता है" "उसकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है" इत्यादि फल सुना गया है तथा उससे संसारके बीजभूत अविद्यादि दोषकी निवृत्ति भी होती देखी गयी है। परमात्माका ज्ञान किसी अन्य कर्मका शेष भी नहीं है; इसलिये [पर्णमयीत्वाधिकरणकी] जुहूके

१. क्योंकि जिस प्रकार 'जुहू' को अन्य कर्मका शेषत्व प्राप्त करानेवाला 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्यादि प्रमाण मिलता है, वैसा ब्रह्मज्ञानको 'यह किसी अनुष्ठानका अङ्ग है'—इस प्रकार अन्यशेषत्व प्राप्त करानेवाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः उपर्युक्त श्रुतिको अर्थवाद नहीं कहा जा सकता।

स्य, जुह्वामिव फलश्रुतेरर्थवादत्वानुपपत्तिः ।

प्रतिषिद्धानिष्टफलसम्बन्धश्च वेदादेव विज्ञायते । न चानुष्ठेयः सः । न च प्रतिषिद्धविषये प्रवृत्तक्रियस्य अकरणादन्यदनुष्ठेयमस्ति । अकर्तव्यताज्ञाननिष्ठतैव हि परमार्थतःप्रतिषेधविधीनां स्यात् । क्षुधार्तस्य प्रतिषेधज्ञानसंस्कृतस्य अभक्ष्येऽभोज्ये वा प्रत्युपस्थिते कलञ्जाभिशस्तान्नादौ 'इदं भक्ष्यमदो भोज्यम्' इति वा ज्ञानमुत्पन्नम्, तद्विषयया प्रतिषेधज्ञानस्मृत्या बाध्यते । मृगतृष्णिकायामिव पेयज्ञानं तद्विषययाथात्म्यविज्ञानेन । तस्मिन्बाधिते स्वाभाविकविपरीतज्ञानेऽनर्थकरी तद्भक्षणभोजनप्रवृत्तिर्न भवति । विपरीत-

विषयमें जिस प्रकार फलश्रुति अर्थवाद है उस प्रकार उसके अर्थवाद होनेकी भी सम्भावना नहीं है ।

इसके सिवा प्रतिषिद्ध कर्मानुष्ठानसे अनिष्ट फलका सम्बन्ध होना भी वेदसे ही जाना जाता है और वह (प्रतिषिद्ध कर्म) अनुष्ठेय भी नहीं होता; तथा जो पुरुष क्रियामें प्रवृत्त है उसके लिये प्रतिषिद्ध विषयके न करनेसे ही दूसरे प्रकारका कर्म अनुष्ठेय नहीं हो जाता; क्योंकि वस्तुतः प्रतिषिद्धसम्बन्धी विधियोंका तात्पर्य उनकी अकर्तव्यताका ज्ञान करानेमें ही है । यदि प्रतिषेधज्ञानके संस्कारसे युक्त किसी क्षुधार्त पुरुषके सामने अभक्ष्य और अभोज्य कलञ्ज[1] या अभिशस्त[2] अन्न उपस्थित हो तो उसे जो 'यह भक्ष्य है, यह भोज्य है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा । वह उसकी भोजनसम्बन्धिनी प्रतिषेधज्ञानस्मृतिसे बाधित हो जायगा, जिस प्रकार कि मृगतृष्णाके स्वरूपका ज्ञान होनेपर उसमें पेयबुद्धि नहीं रहती । उस स्वाभाविक विपरीत ज्ञानके बाधित हो जानेपर उसके भक्षण या भोजनमें अनर्थकारिणी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह प्रवृत्ति तो विपरीतज्ञानजनित थी

१. मांस । २. ब्रह्महत्यादि पापसे दूषित पुरुषका अन्न ।

ज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्तेर्निवृत्तिरेव, न पुनर्यत्नःकार्यस्तदभावे। तस्मात् प्रतिषेधविधीनां वस्तुयाथात्म्य-ज्ञाननिष्ठतैव, न पुरुषव्यापार-निष्ठतागन्धोऽप्यस्ति।

तथेहापि परमात्मादियाथात्म्य-ज्ञानविधीनां तावन्मात्रपर्यवसान-तैव स्यात्। तथा तद्विज्ञानसंस्कृत-स्य तद्विपरीतार्थज्ञाननिमित्तानां प्रवृत्तीनामनर्थार्थत्वेन ज्ञायमान-त्वात् परमात्मादियाथात्म्यज्ञान-स्मृत्या स्वाभाविके तन्निमित्त-विज्ञाने बाधितेऽभावः स्यात्।

ननु कलञ्जादिभक्षणादेरन-र्थार्थत्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानस्मृत्या स्वाभाविके तद्भक्ष्यत्वादिविषय-विपरीतज्ञाने निवर्तिते तद्भक्षणा-द्यनर्थप्रवृत्त्यभाववदप्रतिषेधविष-यत्वाच्छास्त्रविहितप्रवृत्त्यभावो न युक्त इति चेत्।

अतः उसकी निवृत्ति ही हो जाती है, उसके अभावके लिये उसे फिर कोई यत्न नहीं करना पड़ता। अतः प्रतिपेधविधियोंका वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान करानेमें ही तात्पर्य है, उनमें पुरुषकी व्यापारनिष्ठताकी गन्ध भी नहीं है।

इसी प्रकार यहाँ भी परमा-त्मादिके स्वरूपका ज्ञान करानेवाली विधियोंका तात्पर्य केवल उतनेहीमें है। तथा उसके ज्ञानके संस्कारसे युक्त पुरुषको उससे विपरीत पदार्थों-के ज्ञानकी निमित्तभूता प्रवृत्तियोंकी अनर्थार्थकताका ज्ञान हो जानेसे परमात्मादिके स्वरूपज्ञानकी स्मृति-से स्वाभाविक प्रवृत्तिविषयक ज्ञान-के बाधित हो जानेसे प्रवृत्तिका अभाव ही हो जाता है।

पूर्व०—किंतु कलञ्जभक्षणादि अनर्थार्थक वस्तुओंके स्वरूपज्ञानकी स्मृतिसे उनके भक्ष्यत्वादिविषयक स्वभावसिद्ध विपरीत ज्ञानके निवृत्त हो जानेपर जैसे उनके भक्षणादिकी अनर्थमयी प्रवृत्तिका अभाव हो जाता है वैसे ही शास्त्रविहित प्रवृ-त्तिका अभाव होना तो उचित नहीं है, क्योंकि वह प्रतिषेधका विषय नहीं है।

न, विपरीतज्ञाननिमित्तत्वानर्थार्थत्वाभ्यां तुल्यत्वात् । कलञ्जभक्षणादिप्रवृत्तेः मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वम् । अनर्थार्थत्वं च यथा, तथा शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि । तस्मात् परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वेन अनर्थार्थत्वेन च तुल्यत्वात् परमात्मज्ञानेन विपरीतज्ञाने निवर्तिते युक्त एवाभावः ।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विपरीतज्ञानके कारण और अनर्थके लिये होनेसे ये दोनों समान ही हैं । जिस प्रकार कलञ्जभक्षणादिकी प्रवृत्ति मिथ्याज्ञानके कारण और अनर्थकी हेतु होती है उसी प्रकार शास्त्रविहित प्रवृत्तियाँ भी हैं । अतः जिसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो गया है उसकी दृष्टिमें शास्त्रविहित प्रवृत्तियाँ भी मिथ्याज्ञानकी हेतु और अनर्थकी प्राप्ति करानेवाली होनेमें कलञ्जभक्षणादिके समान ही हैं, इसलिये परमात्मज्ञानसे उनके विपरीत ज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उनका भी अभाव हो जाना उचित ही है ।

ननु तत्र युक्तः, नित्यानां तु केवलशास्त्रनिमित्तत्वात्, अनर्थार्थत्वाभावाच्चाभावो न युक्त इति चेत् ?

पूर्व०—माना, वहाँ अभाव होना उचित है किंतु नित्य कर्मोंका त्याग करना तो उचित नहीं है; क्योंकि वे केवल शास्त्रविहित हैं और किसी प्रकारके अनर्थकी भी प्राप्ति करानेवाले नहीं हैं । ऐसा कहें तो ?

न अविद्यारागद्वेषादिदोषवतो विहितत्वात् । यथा स्वर्गकामादिदोषवतो दर्शपूर्णमासादीनि

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है; उनका विधान भी अविद्या और राग-द्वेषादि दोषयुक्त पुरुषोंके ही लिये है । जिस प्रकार दर्शपूर्णमासादि

काम्यानि कर्माणि विहितानि तथा सर्वानर्थबीजाविद्यादिदोषव-वस्तज्जनितेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहार-रागद्वेषादिदोषवतश्च तत्प्रेरिता-विशेषप्रवृत्तेरिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहा-रार्थिनो नित्यानि कर्माणि विधीयन्ते, न केवलं शास्त्र-निमित्तान्येव ।

न चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यपशुबन्धसोमानां कर्मणां स्वतः काम्यनित्यत्व-विवेकोऽस्ति । कर्तृगतेन हि स्वर्गादिकामदोषेण कामार्थता । तथा अविद्यादिदोषवतः स्वभाव-प्राप्तेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थिनः तदर्थान्येव नित्यानि इति युक्तम्, तं प्रति विहितत्वात् ।

न परमात्मयाथात्म्यविज्ञान-

काम्य कर्मोंका विधान स्वर्गकामादि दोषयुक्त पुरुषोंके लिये किया गया है, उसी प्रकार सब प्रकारके अनर्थ-के बीजभूत अविद्यादि दोषवान् तथा उनसे होनेवाली इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी इच्छा एवं इष्टनिवृत्ति और अनिष्टप्राप्तिके द्वेषरूप दोषसे युक्त तथा उन राग-द्वेषसे प्रेरित होकर समानरूपसे प्रवृत्त होनेवाले एवं इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी इच्छावाले पुरुषोंके लिये नित्यकर्मोंका विधान किया गया है, वे केवल शास्त्रजनित ही नहीं हैं ।

इसके सिवा अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोमादि कर्मोंका स्वतः कोई काम्यत्व या नित्यत्वका विवेक नहीं होता । कर्ताकी स्वर्गादिसम्बन्धिनी कामना-के दोषसे ही उनकी सकामता सिद्ध होती है । इसी प्रकार जो अविद्यादि दोषसे युक्त है और जिसे स्वभाव-प्राप्त इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिकी इच्छा है, उसीके लिये नित्य-कर्म हैं—ऐसा मानना उचित ही है, क्योंकि उसीके लिये उनका विधान है ।

जिसे परमात्माके वास्तविक

व्रतः शमोपायव्यतिरेकेण किञ्चित्कर्म विहितमुपलभ्यते । कर्मनिमित्तदेवतादिसर्वसाधनविज्ञानोपमर्देन ह्यात्मज्ञानं विधीयते, न चोपमर्दितक्रियाकारकादिविज्ञानस्य कर्मप्रवृत्तिरुपपद्यते । विशिष्टक्रियासाधनादिज्ञानपूर्वकत्वात्क्रियाप्रवृत्तेः । न हि देशकालाद्यनवच्छिन्नास्थूलद्वयादिब्रह्मप्रत्ययधारिणः कर्मावसरोऽस्ति ।

स्वरूपका ज्ञान है उसके लिये तो शम (शान्ति) का साधन करनेके सिवा और कोई भी कर्म विहित नहीं देखा जाता, क्योंकि आत्मज्ञान तो कर्मके निमित्तभूत देवतादि सब प्रकारके साधनोंके विज्ञानकी निवृत्ति करके ही होता है और जिसके क्रिया-कारकादि विज्ञानकी निवृत्ति हो गयी है उसकी कर्ममें प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है; कारण क्रियाकी प्रवृत्ति तो विशिष्ट क्रिया और साधनादिके विज्ञानपूर्वक ही होती है । जिसकी देश-कालादिसे अनवच्छिन्न, अस्थूल और अद्वयादिस्वरूप ब्रह्मप्रत्ययमें धारणा है उसे तो कर्मका कोई अवसर ही नहीं है ।

भोजनादिप्रवृत्त्यवसरवत्स्यादिति चेत् ?

पूर्व०—भोजनादिकी प्रवृत्तिके अवसरके समान उसे कर्मका भी अवसर हो सकता है—ऐसा कहें तो?

न, अविद्यादिकेवलदोषनिमित्तत्वाद्भोजनादिप्रवृत्तेरावश्यकत्वानुपपत्तेः । न तु तथानियतं कदाचित्क्रियते कदाचिन्न क्रियते चेति नित्यं कर्मोपपद्यते । केवलदोष-

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि भोजनादिमें प्रवृत्त होनेकी आवश्यकता केवल अविद्यादि दोषके ही कारण होती हो—ऐसा मानना उचित नहीं है । इसके सिवा भोजनादिके समान नित्य कर्मका, कभी किया जाय और कभी न किया जाय—ऐसा अनियत होना भी सम्भव नहीं है । भोजनादि कर्म केवल क्षुधादि दोषके कारण होते

निमित्तत्वात्तु भोजनादिकर्मणोऽनियतत्वं स्यात्। दोषोद्भवाभिभवयोरनियतत्वात् कामानामिव काम्येषु। शास्त्रनिमित्तकालाद्यपेक्षत्वाच्च नित्यानामनियतत्वानुपपत्तिः। दोषनिमित्तत्वे सत्यपि यथा काम्याग्निहोत्रस्य शास्त्रविहितत्वात् सायंप्रातःकालाद्यपेक्षत्वमेवम्।

तद्भोजनादिप्रवृत्तौ नियमवत्स्यादिति चेत्?

न, नियमस्याक्रियात्वात् क्रियायाश्चाप्रयोजकत्वान्नासौ ज्ञानस्यापवादकरः। तस्मात् परमात्मयाथा-

हैं, इसलिये उनका तो अनियत होना सम्भव है, क्योंकि काम्य विषयोंकी कामनाके समान उन दोषोंकी उत्पत्ति और निवृत्ति अनियत हैं; किन्तु शास्त्रजनित कालादिकी अपेक्षावाले होनेसे नित्य कर्मोंका अनियत होना नहीं बन सकता। जिस प्रकार काम्य अग्निहोत्रको शास्त्रविहित होने के कारण सायंकाल, प्रातःकालादिकी अपेक्षा है उसी प्रकार दोषनिमित्तक होनेपर भी नित्यकर्मोंको नियमकी अपेक्षा है।

पूर्व०-वह नियम भोजनादिकी प्रवृत्ति होनेपर भिक्षाटनादिके नियमके समान हो सकता है। ऐसा कहें तो।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नियम क्रियारूप नहीं है और क्रिया प्रयोजक नहीं होती; इसलिये यह (भिक्षाटनादिका नियम) ज्ञानका विरोधी नहीं है।[१] अतः परमात्मस्वरूपके ज्ञानसे सम्बन्ध

१. तात्पर्य यह है कि भिक्षाटनादिके विषयमें जो शास्त्रकी विधि है वह जिज्ञासुके लिये है। ज्ञानवान् शास्त्रविधिसे प्रेरित होकर उसका अनुसरण नहीं करता, अपितु उसमें उसकी प्रवृत्ति स्वभावतः ही होती है। इसलिये वह विधि ज्ञानकी विरोधिनी नहीं है। किन्तु नित्यकर्मादिके लिये जो विधि हैं उसमें हेयोपादेय-बुद्धिवाले पुरुषकी ही प्रवृत्ति हो सकती है, इसलिये बोधवान्का उसमें प्रवृत्त न होना स्वाभाविक ही है।

त्स्यज्ञानविधेरपि तद्विपरीतस्थूलद्वैतादिज्ञाननिवर्तकत्वात् सामर्थ्यात्सर्वकर्मप्रतिषेधविध्यर्थत्वं सम्पद्यते; कर्मप्रवृत्त्यभावस्य तुल्यत्वाद् यथा प्रतिषेधविषये। तस्मात् प्रतिषेधविधिवच्च वस्तुप्रतिपादनं तत्परत्वं च सिद्धं शास्त्रस्य ॥ १ ॥

रखनेवाली (तत्त्वमसि आदि) विधि भी उससे विपरीत स्थूल एवं द्वैतादि ज्ञानकी निवृत्ति करनेवाली होनेसे अपनी सामर्थ्यसे ही सब प्रकारसे कर्मका प्रतिषेध करनेवाली हो जाती है, क्योंकि उसमें कर्मकी प्रवृत्तिका अभाव वैसा ही है जैसा कि प्रतिषेधविषयक वाक्योंमें[1]। अतः प्रतिषेधविधिके समान ही तत्त्वमसि आदि शास्त्रका वस्तुप्रतिपादक और कर्म-निषेधपरक होना भी सिद्ध होता है ॥ १ ॥

वाक्का उद्गान और उसका पापविद्ध होना

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ २ ॥

उन देवताओंने वाक्से कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" वाक्ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। उसने जो वाणीमें भोग था उसे देवताओंके लिये गान किया और जो शुभ भाषण करती थी उसे अपने लिये गाया। तब असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके

---

१. जैसे निषेध शास्त्रको मानकर निषिद्ध भक्षण आदिमें प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वचनोंके सामर्थ्यसे कर्मोंमें प्रवृत्तिका अभाव होता है। इस प्रकार दोनोंमें समानता है।

द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह वाक् जो अननुरूप (निषिद्ध) भाषण करती है वही वह पाप है, वही वह पाप है ॥ २ ॥

ते देवा हैवं विनिश्चित्य, वाचं वागभिमानिनीं देवतामूचुरुक्तवन्तः। त्वं नोऽस्मभ्यमुद्गायौद्गात्रं कर्म कुरुष्व। वाग्देवतानिर्वर्त्यमौद्गात्रं कर्म दृष्टवन्तः, तामेव च देवतां जपमन्त्राभिधेयाम् "असतो मा सद्गमय" (बृ० उ० १।३।२८) इति। अत्र चोपासनायाः कर्मणश्च कर्तृत्वेन वागादय एव विवक्ष्यन्ते। कस्मात्? यस्मात्परमार्थतस्तत्कर्तृकस्तद्विषय एव च सर्वो ज्ञानकर्मसंव्यवहारः। वक्ष्यति हि "ध्यायतीव लेलायतीव" इत्यात्मकर्तृकत्वाभावं विस्तरतः षष्ठे।

उन देवताओंने ऐसा निश्चय कर वाक्—वाक्के अभिमानी देवतासे कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान यानी उद्गाताका कर्म करो।" उन्होंने औद्गात्रकर्मको वाग्देवतासे ही सम्पन्न होने योग्य देखा और उसी देवताको "मुझे असत्से सत्के प्रति ले जा" इस जपमन्त्रका भी अभिधेय जाना। यहाँ भी उपासना और कर्मके कर्तारूपसे वागादि ही विवक्षित हैं। क्यों? क्योंकि ज्ञान और कर्मसम्बन्धी सारा व्यवहार वस्तुतः उन्हींसे होनेवाला और उन्हींका विषय है। छठे अध्यायमें "मानो ध्यान करता है, मानो चेष्टा करता है" इत्यादि श्रुति विस्तारपूर्वक उस (व्यवहार) की आत्मकर्तृकता (आत्माके द्वारा किये जाने) का अभाव बतलावेगी।

इहापि चाध्यायान्ते उपसंहरिष्यति अव्याकृतादिक्रियाकारकफलजातम् "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" (१।६।१) इति अविद्याविषयम्। अव्याकृतात्तु यत्परं

यहाँ भी अध्यायकी समाप्तिमें "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इस वाक्यद्वारा अव्याकृतादि क्रिया, कारक और फलसमूह अविद्याके ही विषय हैं—इस प्रकार श्रुति उपसंहार करेगी। तथा अव्याकृतसे

परमात्माख्यं विद्याविषयम् अनामरूपकर्मात्मकम् "नेति नेति" (२।३।६) इति इतरप्रत्याख्यानेनोपसंहरिष्यति पृथक्। यस्तु वागादिसमाहारोपाधिपरिकल्पितः संसार्यात्मा तं च वागादिसमाहारपक्षपातिनमेव दर्शयिष्यति "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" (२।४।१२) इति। तस्माद्युक्ता वागादीनामेव ज्ञानकर्मकर्तृत्वफलप्राप्तिविवक्षा।

आगे जो नाम, रूप और कर्मसे रहित परमात्मसंज्ञक विद्याका विषय है उसका "नेति नेति" इस वाक्यद्वारा परमात्मेतर वस्तुका बाध करके अलग ही उपसंहार करेगी। और जो वागादिसंघातरूप उपाधिसे कल्पित संसारी आत्मा है उसे "इन भूतोंसे उत्पन्न होकर वह इन्हींके नाशके साथ नष्ट हो जाता है" इस वाक्यद्वारा वागादि संघातका पक्षपाती ही प्रदर्शित करेगी। अतः वागादिको ही ज्ञान और कर्मका कर्तृत्व है तथा उन्हें ही उनके फलकी प्राप्ति होती है—ऐसी विवक्षा उचित ही है।

तथेति तथास्त्विति देवैरुक्ता वाक्तेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय उदगायदुद्गानं कृतवती। कः पुनरसौ देवेभ्योऽर्थाय उद्गानकर्मणा वाचा निर्वर्तितः कार्यविशेषः? इत्युच्यते—यो वाचि निमित्तभूतायां वागादिसमुदायस्य य उपकारो निष्पद्यते वदनादिव्यापारेण, स एव। सर्वेषां ह्यसौ वाग्वदनाभिनिर्वृत्तो भोगः फलम्।

देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वाक्ने 'तथा'—तथास्तु (ऐसा ही हो) यह कहकर उन प्रार्थी देवताओंके लिये उद्गान किया। किंतु इस उद्गानकर्मके द्वारा वाणीसे देवताओंके लिये कौन-सा कार्यविशेष निष्पन्न हुआ? सो बतलाते हैं। वाणीके निमित्तभूत होनेपर उसके भाषणादि व्यापारद्वारा वागादि समुदायका जो उपकार होता है वही उनका कार्यविशेष है। उन सबको वाणीके भाषणसे होनेवाला यह भोगरूप फल ही प्राप्त होता है।

तं भोगं सा त्रिषु पवमानेषु कृत्वा अवशिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु वाचनिकमार्त्विज्यं फलं यत्कल्याणं शोभनं वदति वर्णाभिनिर्वर्तयति तद् आत्मने मह्यमेव। तद्ध्यसाधारणं वाग्देवतायाः कर्म यत्सम्यग्वर्णानामुच्चारणम्। अतस्तदेव विशेष्यते यत्कल्याणं वदतीति। यत्तु वदनकार्यं सर्वसंघातोपकारात्मकं तद्याजमानमेव।

उस भोगको तीन पवमानोंमें करके उसने शेष नौ स्तोत्रोंमें जो ऋत्विक्सम्बन्धी वाचनिक[1] फल था अर्थात् वह जो कल्याण यानी सुन्दर भाषण—वर्णोच्चारण करती थी उसे अपने लिये अर्थात् यह मेरे लिये ही हो—इस प्रकार गान किया।* वर्णोंका जो ठीक-ठीक उच्चारण है यही वाग्देवताका असाधारण कर्म है। अतः 'यत्कल्याणं वदति' इस वाक्यद्वारा उसीको विशेष्यरूपसे बतलाया गया है। तथा समस्त संघातका उपकारक जो भाषणकार्य है वह यजमानसम्बन्धी ही है।

तत्र कल्याणवदनात्मसम्बन्धासङ्गावसरं देवताया रन्ध्रं प्रतिलभ्य ते विदुरसुराः, कथम्? अनेनोद्गात्रा नोऽस्मान्स्वाभाविकं ज्ञानं कर्म चाभिभूयातीत्य शास्त्रजनितकर्मज्ञानरूपेण ज्योतिषोद्गा-

तब, कल्याणवदनका मेरेसे सम्बन्ध है—इस प्रकारके अभिनिवेशका अवसररूप वाग्देवताका छिद्र देखकर उन असुरोंने जाना; क्या जाना? इस उद्गानकर्मद्वारा ये हमें अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान और कर्मको दबाकर उद्गातारूप शास्त्रजनित कर्म-ज्ञानरूप ज्योतिसे हमारा

१. "अथात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्"—इसके पश्चात् अपने लिये भक्ष्यरूप अन्नका आगान करे—इस वचनद्वारा श्रुत जो ऋत्विजोंका फल था।

* ज्योतिष्टोममें बारह स्तोत्र हैं। उनमेंसे 'पवमान' नामक तीन स्तोत्रोंसे यजमानके फलका सम्पादन कर शेष नौ स्तोत्रोंसे उसने कल्याणवदनका सामर्थ्य अपने लिये गान किया।

आत्मना अत्येष्यन्त्यतिगमिष्यन्ति । इत्येवं विज्ञाय तमुद्गातारमभिद्रुत्याभिगम्य स्वेन आसङ्गलक्षणेन पाप्मनाविध्यंस्ताडितवन्तः संयोजितवन्त इत्यर्थः ।

स यः स पाप्मा प्रजापतेः पूर्वजन्मावस्थस्य वाचि क्षिप्तः स एष प्रत्यक्षीक्रियते । कोऽसौ ? यदेवेदमप्रतिरूपमननुरूपं शास्त्रप्रतिषिद्धं वदति येन प्रयुक्तोऽसभ्यबीभत्सानृताद्यनिच्छन्नपि वदति । अनेन कार्येणाप्रतिरूपवदनेन अनुगम्यमानः प्रजापतेः कार्यभूतासु प्रजासु वाचि वर्तते । स एवाप्रतिरूपवदनेनानुमितः स प्रजापतेर्वाचि गतः पाप्मा, कारणानुविधायि हि कार्यमिति ॥ २ ॥

अतिगमन—उल्लङ्घन करेंगे । इस प्रकार जानकर उस उद्गाताके पास जाकर उन्होंने अपने अभिनिवेशरूप पापसे उसे विद्ध—ताडित अर्थात् संयुक्त कर दिया ।

वह जो पाप पूर्वजन्मावस्थित प्रजापतिकी वाणीमें डाला गया था वही यह प्रत्यक्ष किया जाता है । वह कौन-सा है ? यह जो अप्रतिरूप—अननुरूप यानी शास्त्रसे प्रतिषिद्ध भाषण करती है । जिससे प्रेरित होकर ही यह इच्छा न होनेपर भी असभ्यतापूर्ण, बीभत्स और अनृतादि भाषण करती है । इस अननुरूप भाषणरूप कार्यसे अनुगत होता हुआ वह पाप प्रजापतिकी कार्यभूता प्रजाओंकी वाणीमें विद्यमान है । प्रजापतिकी वाणीमें पहुँचा हुआ वही पाप अननुरूप भाषणसे अनुमित होता है, क्योंकि कार्य तो कारणका अनुवर्तन करनेवाला होता है ॥ २ ॥

प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मनका उद्गान तथा उनका पापविद्ध होना

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं

जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदम-प्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥

फिर उन्होंने प्राणसे कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" तब प्राणने 'तथास्तु कहकर उनके लिये उद्गान किया। प्राणमें जो भोग है उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ सूँघता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके-द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उनके समीप जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप सूँघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्य-श्चक्षुरुदगायद्यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥४॥

फिर उन्होंने चक्षुसे कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो" तब चक्षुने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। चक्षुमें जो भोग है उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ दर्शन करता है उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके-द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप देखता है यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं

श्रृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं श्रृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५ ॥

फिर उन्होंने श्रोत्रसे कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" तब श्रोत्रने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। श्रोत्रमें जो भोग है उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ श्रवण करता है उसे अपने लिये गाया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप श्रवण करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥ ५ ॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यो मन उद्गायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं संकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाविध्यन् ॥ ६ ॥

फिर उन्होंने मनसे कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो" तब मनने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। मनमें जो भोग है उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ संकल्प करता है उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप संकल्प करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है। इस प्रकार निश्चय ही इन देवताओंको पापका संसर्ग हुआ और ऐसे ही [असुरोंने] इन्हें पापसे विद्ध किया ॥ ६ ॥

तथैव घ्राणादिदेवता उद्गीथनिर्वर्तकत्वाज्जपमन्त्रप्रकाश्या उपास्याश्चेति क्रमेण परीक्षितवन्तः। देवानां चैतन्निश्चितमासीत्—वागादिदेवताः क्रमेण परीक्ष्यमाणाः कल्याणविषयविशेषात्मसम्बन्धासङ्गहेतोरासुरपाप्मसंसर्गाद् उद्गीथनिर्वर्तनासमर्थाः। अतोऽनभिधेयाः "असतो मा सद्गमय" इत्यनुपास्याश्च, अशुद्धत्वादितराव्यापकत्वाच्चेति।

इसी प्रकार घ्राणादि देवता उद्गीथ कर्मके कर्ता होनेसे जप-मन्त्रद्वारा प्रकाश्य और उपास्य हैं—ऐसा जानकर देवताओंने क्रमशः उनकी परीक्षा की। देवताओंको उनके विषयमें यही निश्चय था कि क्रमशः परीक्षा किये जानेपर वागादि देवता कल्याणविषयविशेषका अपनेसे सम्बन्ध रखनेकी आसक्तिके कारण आसुर पापका संसर्ग हो जानेसे उद्गीथकर्मका निर्वाह करनेमें समर्थ नहीं हैं। अतः अशुद्ध और दूसरोंमें अव्यापक होनेके कारण "मुझको असत्से सत्की ओर ले जाओ" इस जपमन्त्रसे अप्रकाश्य और अनुपास्य हैं।

एवमु खल्वनुक्ता अप्येतास्त्वगादिदेवताः कल्याणाकल्याणकार्यदर्शनादेवं वागादिवदेव, एनाः पाप्मनाविध्यन्पाप्मना विद्धवन्त इति यदुक्तं तत्पाप्मभिरुपासृजन्पाप्मभिः संसर्गं कृतवन्त इत्येतत् ॥ ३-६ ॥

इसी प्रकार, न कहे जानेपर भी, शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कार्य देखे जानेसे त्वगादि अन्य देवगण भी वागादिके समान ही हैं। इन्हें भी असुरोंने पापसे वेध दिया है। ऊपर जो कहा गया है कि 'पापसे वेध दिया' उसका यही तात्पर्य है कि पापके द्वारा उन्हें संश्लिष्ट कर दिया यानी पापसे उनका संसर्ग कर दिया ॥ ३-६ ॥

मुख्य प्राणका उद्गान, उसका पापविद्ध न होना तथा उसकी उपासनाका फल

वागादिदेवता उपासीना अपि मृत्य्वतिगमनायाशरणाः सन्तो देवाः क्रमेण—

वागादि देवताओंकी उपासना करनेपर भी मृत्युका अतिक्रमण करनेमें किसीको अपना सहायक न पाकर देवताओंने क्रमशः—

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्सन्। स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवं हैव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन्परासुराः। भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥७॥

फिर अपने मुखमें रहनेवाले प्राणसे कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इस प्राणने उनके लिये उद्गान किया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध करना चाहा। किंतु जिस प्रकार पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वे विध्वस्त होकर अनेक प्रकारसे नष्ट हो गये। तब देवगण प्रकृतिस्थ हो गये और असुरोंका पराभव हुआ। जो इस प्रकार जानता है वह प्रजापतिरूपसे स्थित होता है और उससे द्वेष करनेवाले भ्रातृव्य (सौतेले भाई) का पराभव होता है ॥७॥

अथानन्तरं ह इममित्यभिनयप्रदर्शनार्थम्। आसन्यमास्ये भवमासन्यं मुखान्तर्बिलस्थं प्राणमू-

तदनन्तर, 'ह इमम्' यह अभिनय (अङ्गुलि आदिद्वारा प्रत्यक्ष संकेत) प्रदर्शित करनेके लिये है, उन्होंने आसन्य—आस्यमें रहनेवाले अर्थात् मुखान्तर्गत छिद्रमें स्थित प्राणसे

चुस्त्वं न उद्गायेति । तथेत्येवं शरणमुपगतेभ्यः स एष प्राणो मुख्य उदगायदित्यादि पूर्ववत् । पाप्मनाऽविव्यत्सन्वेधनं कर्तुमिष्टवन्तस्ते च दोषासंसर्गिणं सन्तं मुख्यं प्राणम् । स्वेन आसङ्गदोषेण वागादिषु लब्धप्रसरास्तदभ्यासानुवृत्त्या संस्रक्ष्यमाणा विनेशुर्विनष्टा विध्वस्ताः ।

कथमिव ? इति दृष्टान्त उच्यते— स यथा स दृष्टान्तो यथा लोकेऽश्मानं पाषाणमृत्वा गत्वा प्राप्य, लोष्टः पांसुपिण्डः पाषाणचूर्णनायाश्मनि निक्षिप्तः स्वयं विध्वंसेत विस्रंसेत विचूर्णीभवेत्, एवं हैव यथायं दृष्टान्त एवमेव, विध्वंसमाना विशेषेण ध्वंसमाना विष्वञ्चो नानागतयो विनेशुर्विनष्टा

कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" तब 'तथास्तु' कहकर अपनी शरणमें आये हुए देवताओंके लिये उस मुख्य प्राणने उद्गान किया—इत्यादि सब प्रसङ्ग पूर्ववत् समझना चाहिये । असुरोंने जो दोषके संसर्गसे रहित था उस मुख्य प्राणको पापसे विद्ध करना चाहा । अपने अभिनिवेशरूप दोषके कारण वागादिमें उनकी गति हो गयी थी। किंतु उसी अभ्यासकी अनुवृत्तिसे मुख्य प्राणके साथ संसर्ग करनेको उद्यत होनेपर वे नाशको प्राप्त हो गये अर्थात् विध्वस्त हो गये ।

किस प्रकार विध्वस्त हो गये ? इस विषयमें दृष्टान्त दिया जाता है । 'स यथा'—जैसा कि वह दृष्टान्त है— लोकमें पाषाणको चूर्ण करनेके लिये फेंका हुआ लोष्ट—मिट्टीका ढेला उस अश्मा यानी पत्थरपर जाकर—पहुँचकर अर्थात् पत्थरको प्राप्त होकर स्वयं विध्वस्त—छिन्न-भिन्न यानी चूर्ण हो जाता है उसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त है वैसे ही वे असुरगण विध्वस्त होकर—विशेषरूपसे ध्वस्त होकर विष्वक् यानी नाना गतियोंको प्राप्त

यतः, ततस्तस्मादासुरविनाशादेवत्वप्रतिबन्धभूतेभ्यः स्वाभाविकासङ्गजनितपाप्मभ्यो वियोगाद् असंसर्गधर्मिमुख्यप्राणाश्रयबलाद् देवा वागादयः प्रकृता अभवन्। किमभवन् ? स्वं देवतारूपमग्न्याद्यात्मकं वक्ष्यमाणम्। पूर्वमप्यग्न्याद्यात्मन एव सन्तः स्वाभाविकेन पाप्मना तिरस्कृतविज्ञानाः पिण्डमात्राभिमाना आसन्। ते तत्पाप्मवियोगादुज्झित्वा पिण्डमात्राभिमानं शास्त्रसमर्पितवागाद्यग्न्याद्यात्माभिमाना बभूवुरित्यर्थः। किञ्च ते प्रतिपक्षभूता असुराः पराभवन्नित्यनुवर्तते। पराभूता विनष्टा इत्यर्थः।

होते हुए विनष्ट हो गये। क्योंकि ऐसा हुआ इसलिये असुरभावका विनाश हो जानेसे देवत्वके प्रतिबन्धभूत स्वाभाविक अभिनिवेशजनित पापसे वियोग हो जानेके कारण असंसर्गधर्मी मुख्य प्राणके आश्रयके प्रभावसे वागादि देवगण प्रकृतिस्थ हो गये।

वे क्या हो गये ? [सो बतलाया जाता है—] वे आगे बतलाये जानेवाले अपने अग्न्यादिरूप देवभावको प्राप्त हो गये। पहले भी वे अग्न्यादिस्वरूप ही थे। अपने स्वभावजनित पापसे विज्ञानशक्तिके तिरस्कृत हो जानेसे वे पिण्डमात्रके अभिमानसे युक्त हो गये थे। उस पापका वियोग हो जानेसे वे पिण्डमात्रके अभिमानको त्यागकर शास्त्रसमर्पित वागादि अग्न्यादिरूपताके अभिमानसे युक्त हो गये। तथा उनके प्रतिपक्षी वे असुरगण पराभूत हो गये—इस प्रकार 'पराभवन्'[1] यहाँ 'अभवन्' क्रियाकी अनुवृत्ति होती है। वे पराभूत यानी विनष्ट हो गये।

१. मूलमें 'ततो देवा अभवन् परा असुराः' ऐसा पाठ है। इसमें एक वाक्य 'ततो देवा अभवन्' है और दूसरा 'असुरा परा अभवन् (पराभवन्)' है। इसमें 'अभवन्' क्रियाकी अनुवृत्ति हुई है।

यथा पुराकल्पेन वर्णितः पूर्वयजमानोऽतिक्रान्तकालिकः एतामेवाख्यायिकारूपां श्रुतिं दृष्ट्वा तेनैव क्रमेण वागादिदेवताः परीक्ष्य, ताश्चापोह्यासङ्गपाप्मास्पददोषवत्त्वेनादोषास्पदं मुख्यं प्राणमात्मत्वेनोपगम्य वागाद्याध्यात्मिकपिण्डमात्रपरिच्छिन्नात्माभिमानं हित्वा वैराजपिण्डाभिमानं वागाद्यग्न्याद्यात्मविषयं वर्तमानप्रजापतित्वं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपन्नः, तथैवायं यजमानस्तेनैव विधिना भवति प्रजापतिस्वरूपेणात्मना । परा चास्य प्रजापतित्वप्रतिपक्षभूतः पाप्मा द्विषन्भ्रातृव्यो भवति । यतोऽद्वेष्टापि भवति कश्चिद् भ्रातृव्यो भरतादितुल्यः, यस्त्विन्द्रियविषयासङ्गजनितः पाप्मा भ्रातृव्यो द्वेष्टा च, पारमार्थिकात्मस्वरूपतिरस्करणहेतुत्वात् स च पराभवति विशीर्यते लोष्ट-

जिस प्रकार पूर्वोक्त कल्पनाके अनुसार वर्णित पूर्व यानी भूतकालिक यजमान इस आख्यायिकारूपा श्रुतिको देखकर उसी क्रमसे वागादि देवताओंकी परीक्षा कर उन्हें अभिनिवेशजनित पापके संसर्गरूप दोषके कारण त्यागकर जो दोषका आश्रय नहीं है उस मुख्य प्राणको ही आत्मभावसे प्राप्त हो आध्यात्मिक पिण्डमात्रसे परिच्छिन्न वागादिमें आत्मत्वका अभिमान छोड़कर वागादिकी अग्न्यादिरूपताविषयक शास्त्रप्रकाशित विराट्-पिण्डाभिमान यानी वर्तमान-प्रजापतित्वको प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार यह वर्तमान यजमान भी उसी क्रमसे प्रजापतिरूपसे स्थित होता है। तथा इसके प्रजापतित्वका प्रतिपक्षभूत पापरूपी द्वेष करनेवाला भ्रातृव्य (सौतेला भाई) पराभवको प्राप्त होता है। भरतादिके समान कोई-कोई भ्रातृव्य द्वेष न करनेवाला भी होता है किंतु जो इन्द्रियोंके विषयोंकी आसक्तिसे होनेवाला पापरूपी भ्रातृव्य है वह द्वेष्टा ही होता है; कारण, वह आत्माके पारमार्थिक स्वरूपके तिरस्कारका हेतु होता है। प्राणका सङ्ग होनेपर मृत्पिण्डके समान

वत्प्राणपरिष्वङ्गात् । कस्यैतत्फलम् ? इत्याह—य एवं वेद । यथोक्तं प्राणमात्मत्वेन प्रतिपद्यते पूर्वयजमानवदित्यर्थः ॥ ७ ॥

पराभूत—नष्ट हो जाता है। यह फल किसको मिलता है ? इसपर श्रुति कहती है—'जो ऐसा जानता है; अर्थात् पूर्वयजमानके समान जो उपर्युक्त प्राणको आत्मस्वरूपसे जानता है' ॥ ७ ॥

मुख्य प्राणका आङ्गिरसत्व

फलमुपसंहृत्याधुनाख्यायिकारूपमेवाश्रित्याह—कस्माच्च हेतोर्वागादीन्मुक्त्वा मुख्य एव प्राण आत्मत्वेनाश्रयितव्यः ? इति तदुपपत्तिनिरूपणाय यस्मादयं वागादीनां पिण्डादीनां च साधारण आत्मा, इत्येतमर्थमाख्यायिकया दर्शयन्त्याह श्रुतिः—

फलका उपसंहार कर[1] अब श्रुति आख्यायिकाके ही रूपका आश्रय करके कहती है—वागादि अन्य सब प्राणोंको छोड़कर मुख्य प्राणका ही आत्मभावसे क्यों आश्रय लेना चाहिये ? उसकी उपपत्ति बतलानेके लिये, अर्थात् क्योंकि यह मुख्यप्राण वागादि और पिण्डादिका साधारण आत्मा है [इसलिये यही आत्मभावसे आश्रयितव्य है]—इस अर्थको आख्यायिकासे दिखलाते हुए श्रुति कहती है—

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः ॥८॥

वे बोले, "जिसने हमें इस प्रकार असक्त—देवभावको प्राप्त किया है, वह कहाँ है ?" [उन्होंने विचार करके निश्चय किया कि] "यह आस्य (मुख) के भीतर है, अतः यह अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि यह अङ्गोंका रस है" ॥ ८ ॥

---

१. अर्थात् फलयुक्त प्रधान विधिका वर्णन कर।

ते प्रजापतिप्राणा मुख्येन प्राणेन परिप्रापितदेवस्वरूपा होचुरुक्तवन्तः फलावस्थाः। किम्? इत्याह-क न्विति वितर्के। क नु कस्मिन्नु सोऽभूत्। कः? यो नोऽस्मानित्थमेवमसक्त सञ्जितवान्देवभावमात्मत्वेनोपगमितवान्। स्मरन्ति हि लोके केनचिदुपकृता उपकारिणम्।

लोकवदेव स्मरन्तो विचार्यमाणाः कार्यकरणसंघाते आत्मन्येवोपलब्धवन्तः। कथम्? अयमास्येऽन्तरिति, आस्ये मुखे य आकाशस्तस्मिन्नन्तरयं प्रत्यक्षो वर्तत इति। सर्वो हि लोको विचार्याध्यवस्यति, तथा देवाः।

यस्मादयमन्तराकाशे वागाद्यात्मत्वेन विशेषमनाश्रित्य वर्तमान उपलब्धो देवैः, तस्मात्स प्राणोऽयास्यो विशेषानाश्रयाच्च

मुख्य प्राणके द्वारा देवस्वरूपको प्राप्त कराये हुए वे प्रजापतिके फलावस्थित प्राण कहने लगे। क्या कहने लगे? सो बतलाते हैं—"क्व नु" यह वितर्क अर्थमें है। अर्थात्, भला वह कहाँ—किसमें रहता है? कौन? जिसने हमें इस प्रकार असक्त—सञ्जित किया अर्थात् आत्मभावसे देवत्वको प्राप्त कराया है।" लोकमें किसीके द्वारा उपकृत होनेवाले लोग उस उपकारीका स्मरण किया ही करते हैं।

इस प्रकार लोकवत् स्मरण—विचार करते हुए उन्होंने उसे भूत और इन्द्रियोंके संघातरूप अपने शरीरमें ही उपलब्ध किया। किस प्रकार उपलब्ध किया?—यह आस्यके भीतर है—आस्य अर्थात् मुखमें जो आकाश है उसीमें यह प्रत्यक्ष विद्यमान है। सभी लोग विचारकर निश्चय करते हैं। उसी प्रकार देवोंने भी किया।

क्योंकि देवताओंने इसे वागादि रूपसे किसी विशेषका आश्रय न करके अन्तराकाशमें ही उपलब्ध किया था इसलिये वह प्राण अयास्य है, तथा किसी विशेष इन्द्रियका आश्रय न करनेके कारण उसने

असक्त सञ्जितवान्वागादीन्। अत एवाङ्गिरस आत्मा कार्यकरणानाम्।

कथमाङ्गिरसः? प्रसिद्धं ह्येतदङ्गानां कार्यकरणलक्षणानां रसः सार आत्मेत्यर्थः। कथं पुनरङ्गरसत्वम्? तदपाये शोषप्राप्तेरिति वक्ष्यामः। यस्माच्चायमङ्गरसत्वाद्विशेषानाश्रितत्वाच्च कार्यकरणानां साधारण आत्मा विशुद्धश्च, तस्माद्वागादीनपास्य प्राण एवात्मत्वेनाश्रयितव्य इति वाक्यार्थः। आत्मा ह्यात्मत्वेनोपगन्तव्योऽविपरीतबोधाच्छ्रेयःप्राप्तेः, विपर्यये चानिष्टप्राप्तिदर्शनात्॥ ८॥

वागादि इन्द्रियोंको असक्त-अग्न्यादि देवभावसे संयुक्त किया। इसीसे वह भूत और इन्द्रियोंका आङ्गिरस आत्मा है।

वह आङ्गिरस क्यों है?—क्योंकि यह कार्य-करणरूप अङ्गोंका रस—सार अर्थात् आत्मा है—ऐसा प्रसिद्ध है। किंतु इसका अङ्गरसत्व क्यों है? क्योंकि इसके चले जानेपर शरीर सूख जाता है—ऐसा हम आगे कहेंगे। इस प्रकार क्योंकि यह अङ्गरस होनेसे और किसी विशेषके आश्रित न होनेके कारण भूत और इन्द्रियोंका साधारण आत्मा है और विशुद्ध भी है, इसलिये वागादिको छोड़कर प्राणहीका आत्मभावसे आश्रय लेना चाहिये—यह इस वाक्यका तात्पर्य है। आत्माको ही आत्मस्वरूपसे जानना चाहिये, क्योंकि अविपरीत बोधसे ही श्रेयकी प्राप्ति होती है, विपरीत ज्ञानसे तो अनिष्टकी ही प्राप्ति देखी गयी है॥ ८॥

प्राणकी शुद्धताका प्रतिपादन

स्यान्मतं प्राणस्य विशुद्धिरसिद्धेति।

पूर्व०—हमारा विचार है कि प्राणकी विशुद्धि सिद्ध नहीं होती।

ननु परिहृतमेतद्वागादीनां कल्याणवदनाद्यासङ्गवत्प्राणस्य आसङ्गास्पदत्वाभावेन ।

सिद्धान्ती-किंतु वागादिके शुभभाषणादिविषयक अभिनिवेशके समान प्राणमें किसी प्रकारकी अभिनिवेशास्पदता नहीं है—ऐसा बतलाकर हम इस शङ्काका परिहार कर चुके हैं।

बाढम्, किं त्वाङ्गिरसत्वेन वागादीनामात्मत्वोक्त्या वागादिद्वारेण शवस्पृष्टितत्स्पृष्टेरिवाशुद्धता शङ्क्यते—इत्याह—शुद्ध एव प्राणः । कुतः ?

पूर्व०—ठीक है, किंतु जिस प्रकार शवका स्पर्श होनेसे उसे स्पर्श करनेवालेकी अशुद्धता मानी जाती है उसी प्रकार आङ्गिरस होनेसे वागादिका आत्मा बतलाया जानेसे वागादिके द्वारा उसकी भी अशुद्धताकी शङ्का होती है; इसपर श्रुति कहती है—प्राण शुद्ध ही है। क्यों शुद्ध है ?—

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

वह यह देवता 'दूर' नामवाली है, क्योंकि इससे मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है, उससे मृत्यु दूर रहता है ॥ ९ ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम । यं प्राणं प्राप्याश्मानमिव लोष्टवद्विध्वस्ता असुरास्तं परामृशति सेति । सैवैषा येयं वर्तमानयजमानशरीरस्था देवैर्निर्धारिता "अयमास्येऽन्तः" इति । देवता च सा

वह यह देवता 'दूर' नामवाली है। जिस प्राणको प्राप्त होकर पत्थरको प्राप्त हुए मृत्पिण्डके समान असुरगण नष्ट हो गये थे; उसीका श्रुति 'सा (वह)' ऐसा कहकर परामर्श करती है। वह यही है जिसे कि देवोंने "यह आस्यके भीतर है" इस प्रकार वर्तमान यजमानके शरीरमें स्थित निश्चय किया है।

स्यात्, उपासनक्रियायाः कर्म-भावेन गुणभूतत्वात् ।

उपासनाक्रियाके कर्मभावसे गुणभूत होनेके कारण वह देवता भी है ।[1]

यस्मात्सा दूर्नाम दूरित्येवं ख्याता । नामशब्दः ख्यापनपर्यायः । तस्मात्प्रसिद्धास्या विशुद्धि-र्दूर्नामत्वात् । कुतः पुनर्दूर्नामत्वम्? इत्याह—दूरं दूरेः हि यस्मादस्याः प्राणदेवताया मृत्युरासङ्गलक्षणः पाप्मा । असंश्लेषधर्मित्वात्प्राणस्य समीपस्थस्यापि दूरता मृत्योस्तस्माद् दूरित्येवं ख्यातिः, एवं प्राणस्य विशुद्धिर्ज्ञापिता ।

क्योंकि यह प्राण देवता 'दूर्' नामवाली है अर्थात् 'दूर्' इस प्रकार विख्यात है—यहाँ 'नाम' शब्द 'ख्याति' का पर्याय है—अतः 'दूर्' नामवाली होनेसे इसकी विशुद्धि भी प्रसिद्ध है । इसका 'दूर्' नाम क्यों है ? इसपर श्रुति कहती है—क्योंकि इस प्राणदेवतासे मृत्यु यानी आसक्तिरूप पाप दूर है । प्राण असंसर्गधर्मी है, इसलिये समीपस्थ होनेपर भी इससे मृत्युकी दूरता है, अतः 'दूर्' इस प्रकार ही इसकी प्रसिद्धि है; इस तरह प्राणकी विशुद्धि बतलायी गयी ।

विदुषः फलमुच्यते—दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति । अस्मादेवं-विदः, य एवं वेद तस्मादेवमिति अक्तं विशुद्धिगुणोपेतं प्राण-मुपास्त इत्यर्थः ।

अब इसके विद्वान् (उपासक) का फल बतलाया जाता है—इससे मृत्यु दूर रहता है । इससे अर्थात् इस प्रकार जाननेवालेसे यानी जो इस प्रकार जानता है उससे । इस प्रकार अर्थात् जो विशुद्धिगुणविशिष्ट प्राणकी उपासना करता है ।

उपासनं नाम उपास्यार्थवादे यथा देवतादिस्वरूपं श्रुत्या ज्ञाप्यते

उपास्य-सम्बन्धी अर्थवादमें श्रुतिके द्वारा देवतादिका जैसा

1. क्योंकि जिस प्रकार यज्ञमें कारकरूपसे देवगण गुणभूत होते हैं, उसी प्रकार प्राण भी द्रव्यादिसे पृथक् विहित क्रियामें गुणभूत होनेके कारण देवता है ।

तथा मनसोपगम्य आसनं चिन्तनं लौकिकप्रत्ययाव्यवधानेन यावत्तद्देवतादिस्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति लौकिकात्माभिमानवत्। "देवो भूत्वा देवानप्येति" (बृ० उ० ४।१।२) "किन्देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसि" (बृ० उ० ३।९।२०) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥ ९ ॥

स्वरूप ज्ञात कराया जाय वैसे ही स्वरूपको मनके द्वारा उपलब्ध करके उसके उप (समीप) आसन करना–बैठना अर्थात् लौकिक प्रत्ययोंका व्यवधान न आने देकर जबतक लौकिक आत्माभिमानके समान उस देवतादिके स्वरूपमें आत्मत्वका अभिमान उत्पन्न न हो तबतक उसीका चिन्तन करना उपासना है; जैसा कि "देवता होकर देवताओंमें लीन होता है" "इस पूर्व दिशामें तू किस देवतावाला (किस देवताकी उपासना करनेवाला) है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

प्राणोपासकसे मृत्यु दूर रहता है—इसकी उपपत्ति

सा वा एषा देवता दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवतीत्युक्तम्। कथं पुनरेवंविदो दूरं मृत्युर्भवति? इत्युच्यते—एवंवित्त्वविरोधात्। इन्द्रियविषयसंसर्गासङ्गजो हि पाप्मा प्राणात्माभिमानिनो हि विरुध्यते, वागादिविशेषात्माभिमानहेतुत्वात् स्वाभाविकाज्ञान-

'वह यह देवता है, उससे मृत्यु दूर रहता है' ऐसा ऊपर कहा गया। किंतु इस प्रकार जाननेवालेसे मृत्यु दूर क्यों रहता है? सो बतलाया जाता है—क्योंकि इस प्रकार जाननेसे मृत्युका विरोध है। इन्द्रियजनित विषयोंके संसर्गसे होनेवाली आसक्ति ही पाप (मृत्यु) है, उसका प्राणात्माभिमानीसे विरोध है; क्योंकि वह वागादि परिच्छिन्नात्माभिमानका हेतु है और स्वाभाविक अज्ञानसे

हेतुत्वाच्च । शास्त्रजनितो हि प्राणात्माभिमानः। तस्मादेवंविदः पाप्मा दूरं भवतीति युक्तं विरोधात् । तदेतत्प्रदर्शयति—

उत्पन्न होता है। तथा प्राणात्माभिमान शास्त्रजनित है। अतः विरोध होनेके कारण इस प्रकार जाननेवालेसे पाप दूर रहता है—यह ठीक ही है। इसी अर्थको श्रुति प्रदर्शित करती है—

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥ १० ॥

उस इस प्राणदेवताने इन वागादि देवताओंके पापरूप मृत्युको हटाकर जहाँ इन दिशाओंका अन्त है वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ इनके पापको उसने तिरस्कारपूर्वक स्थापित कर दिया। अतः मैं पापरूप मृत्युसे संश्लिष्ट न हो जाऊँ' इस भयसे अन्त्यजनके पास न जाय और अन्त दिशामें भी न जाय ॥ १० ॥

सा वा एषा देवतेत्युक्तार्थम् । एतासां वागादीनां देवतानां पाप्मानं मृत्युं स्वाभाविकाज्ञानप्रयुक्तेन्द्रियविषयसंसर्गासङ्गजनितेन हि पाप्मना सर्वो म्रियते, स ह्यतो मृत्युः, तं प्राणात्माभिमानरूपाभ्यो देवताभ्योऽपच्छिद्यापहत्य, प्राणात्माभिमानमात्रतयैव

'सा वा एषा देवता' इस वाक्यका अर्थ कहा जा चुका है। उस इस प्राणदेवताने इन वागादि देवताओंके पापरूप मृत्युको-स्वाभाविक अज्ञानप्रेरित इन्द्रियविषयोंके संसर्गजनित अभिनिवेशसे होनेवाले पापसे ही सब जीव मरते हैं, इसलिये वही मृत्यु है। उसे प्राणात्माभिमानरूप देवताओंसे अपहत्य—अलग कर। [अन्य देवताओंका] प्राणस्वरूपमात्रमें ही अभिमान होनेके कारण यहाँ मुख्य प्राणको अपहन्ता कहा

प्राणोऽपहन्तेत्युच्यते। विरोधादेव तु पाप्मैवंविदो दूरं गतो भवति। किं पुनश्चकार देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य ? इत्युच्यते—यत्र यस्मिन्नासां प्राच्यादीनां दिशा-अन्तोऽवसानं तत्तत्र गमयाञ्चकार गमनं कृतवानित्येतत्।

गया है, उससे विरोध होनेके कारण ही इस प्रकार जाननेवालेका पाप दूर चला जाता है। देवताओंके पापरूप मृत्युको उनसे अलग कर फिर प्राणदेवताने क्या किया, सो बतलाया जाता है—जहाँ यानी जिस स्थानपर इन पूर्वादि दिशाओं-का अन्त-अवसान है वहाँ उसे पहुँचा दिया अर्थात् वहाँ उसका गमन करा दिया।

ननु नास्ति दिशामन्तः कथ-मन्तं गमितवान् ? इत्युच्यते—श्रौतविज्ञानवज्जनावधिनिमित्त-कल्पितत्वाद्दिशां तद्विरोधिजना-ध्युषित एव देशो दिशामन्तः, देशान्तोऽरण्यमिति यद्वदित्य-दोषः।

किंतु दिशाओंका तो अन्त ही नहीं है, फिर उसे दिशान्तमें कैसे पहुँचा दिया ? इसपर हमारा कथन यह है कि दिशाओंकी कल्पना श्रौत-विज्ञानवान् पुरुषोंकी सीमापर्यन्त ही की गयी है, अतः उनसे विरुद्ध आचरणवाले लोगोंसे बसा हुआ देश ही दिशाओंका अन्त है; जैसे कि देशका अन्त अरण्य होता है उसी प्रकार ऐसा माननेमें भी दोष नहीं है।

तत्तत्र गमयित्वा आसां देव-तानाम्, पाप्मन इति द्वितीया-बहुवचनम्, विन्यदधाद्विविधं न्य-ग्भावेनादधात्स्थापितवती प्राण-देवता। प्राणात्माभिमानशून्येषु

इन देवताओंके पापोंको वहाँ पहुँचाकर प्राणदेवताने उसे विविध प्रकारसे निम्नभावसे (तिरस्कार-पूर्वक) निहित-स्थापित कर दिया। 'पाप्मनः' पद द्वितीयाबहुवचनान्त है। प्रसङ्गके सामर्थ्यसे ज्ञात होता है कि उसे प्राणात्माभिमानशून्य

अन्त्यजनेष्विति सामर्थ्यात्। इन्द्रियसंसर्गजो हि स इति प्राण्याश्रयतावगम्यते।

वह पाप इन्द्रियसंसर्गसे ही होनेवाला है, इसलिये उसका प्राणियोंके आश्रित रहना ज्ञात होता है।

तस्मात्तमन्त्यं जनं नेयान्न गच्छेत्सम्भाषणदर्शनादिभिर्न संसृजेत्। तत्संसर्गे पाप्मना संसर्गः कृतः स्यात्पाप्माश्रयो हि सः। तज्जननिवासं चान्तं दिगन्तशब्दवाच्यं नेयाज्जनशून्यमपि, जनमपि तद्देशवियुक्तमित्यभिप्रायः।

अतः उन अन्त्यजनोंके पास न जाय, अर्थात् सम्भाषण और दर्शनादिसे भी उनका संसर्ग न करे। उनका संसर्ग करनेपर पापसे भी संसर्ग होगा, क्योंकि वह पापका आश्रय है। उन लोगोंके निवासस्थान अन्त यानी दिगन्तशब्दवाच्य देशमें उसके जनशून्य होनेपर भी, न जाय; तथा उस देशसे अलग हुए अन्त्य जनके पास भी न जाय—ऐसा इसका अभिप्राय है।

नेदिति परिभयार्थे निपातः। इत्थं जनसंसर्गे पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति। अनु अव अयानीत्यनुगच्छेयमिति, एवं भीतो न जनमन्तं चेयादिति पूर्वेण सम्बन्धः॥ १०॥

'नेत्' यह 'परिभय' (सर्वतः भय) के अर्थमें निपात है। इस प्रकार इन अन्त्य जनोंके संसर्गमें जानेसे मैं पापरूप मृत्युको 'अन्ववायानि'—'अनु अव अयानि' अर्थात् अनुगत होऊँगा, इस प्रकार डरता हुआ उन अन्त्यजन और अन्त देशोंमें न जाय—इस प्रकार इसका पूर्वक्रियापद 'इयात्' से सम्बन्ध है॥ १०॥

प्राणद्वारा वागादिका अग्न्यादि देवभावको प्राप्त कराया जाना

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत्॥ ११॥

उस इस प्राणदेवताने इन देवताओंके पापरूप मृत्युको दूरकर फिर इन्हें मृत्युके पार [अग्न्यादि देवतात्मभावको प्राप्त] कर दिया ॥ ११ ॥

सा वा एषा देवता, तदेतत्प्राणात्मज्ञानकर्मफलं वागादीनामग्न्याद्यात्मत्वमुच्यते। अथैना मृत्युमत्यवहत् यस्मादाध्यात्मिकपरिच्छेदकरः पाप्मा मृत्युः प्राणात्मविज्ञानेनापहतस्तस्मात्स प्राणोऽपहन्ता पाप्मनो मृत्योः। तस्मात्स एव प्राण एना वागादिदेवताः प्रकृतं पाप्मानं मृत्युमतीत्य अवहत्प्रापयत्स्वं स्वमपरिच्छिन्नमग्न्यादिदेवतात्मरूपम् ॥ ११ ॥

'सा वा एषा देवता' इस श्रुतिसे प्राणात्मज्ञानरूप कर्मके फलस्वरूपसे वागादिकी अग्न्यादिरूपताका वर्णन किया जाता है। इसके अनन्तर प्राणदेवताने उनको मृत्युके पार कर दिया। क्योंकि आध्यात्मिक परिच्छेदकर्ता पापरूप मृत्यु प्राणात्मज्ञानद्वारा नष्ट हो गया इसलिये प्राण पापरूप मृत्युका नाश करनेवाला है। अतः उस प्राणने ही इन वागादि देवताओंको, इनके प्रकृत पापरूप मृत्युको पारकर, इनके अपरिच्छिन्न अग्न्यादि देवतात्मस्वरूपको प्राप्त करा दिया ॥ ११ ॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

उस प्रसिद्ध प्राणने प्रधान वाग्देवताको [मृत्युके] पार पहुँचाया। वह वाक् जिस समय मृत्युसे पार हुई यह अग्नि हो गयी। वह यह अग्नि मृत्युसे परे उसका अतिक्रमण करके देदीप्यमान है ॥ १२ ॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्। स प्राणो वाचमेव प्रथमां प्रधानामित्येतत्। उद्गीथकर्मणी-

'स वै वाचमेवप्रथमामत्यवहत्'—उस प्रसिद्ध प्राणने प्रथमा यानी प्रधाना वाक्का [मृत्युसे] अतिवहन किया। उद्गीथकर्ममें अन्य

तरकरणापेक्षया साधकतमत्वं प्राधान्यं तस्याः। तां प्रथमामत्यवहद्वहनं कृतवान्।

इन्द्रियोंकी अपेक्षा साधकतम होना ही उसकी प्रधानता है। उस प्रथमा वाग्देवताका उसने अतिवहन किया।

तस्याः पुनर्मृत्युमतीत्योढायाः किं रूपम्? इत्युच्यते—सा वाग्यदा यस्मिन्काले पाप्मानं मृत्युम् अत्यमुच्यतातीत्यामुच्यत मोचिता स्वयमेव, तदा सोऽग्निरभवत्। सा वाक्पूर्वमप्यग्निरेव सती मृत्युवियोगेऽप्यग्निरेवाभवत्। एतावांस्तु विशेषो मृत्युवियोगे।

किंतु मृत्युको पार करके ले जायी गयी उस वाणीका क्या रूप है, सो बतलाया जाता है—वह वाक् जब—जिस समयमें पापरूप मृत्युको पार करके मुक्त हुई—स्वयं ही मृत्युसे छूट गयी, उस समय वह अग्नि हो गयी। वह वाक् पहले भी अग्निरूपा ही थी, अब मृत्युका वियोग हो जानेपर भी अग्नि ही हो गयी। विशेषता इतनी ही है कि मृत्युका वियोग होनेपर।

सोऽयमतिक्रान्तोऽग्निः परेण मृत्युं परस्तान्मृत्योर्दीप्यते प्राङ् मोक्षान्मृत्युप्रतिबद्धो अध्यात्मवागात्मना नेदानीमिव दीप्तिमानासीत्, इदानीं तु मृत्युं परेण दीप्यते मृत्युवियोगात् ॥१२॥

वह यह [मृत्युको] अतिक्रान्त करनेवाला अग्नि 'परेण मृत्युम्'—मृत्युसे परे देदीप्यमान है, उससे मुक्त होनेसे पूर्व अध्यात्मवाग्रूप मृत्युसे प्रतिबद्ध होनेके कारण वह इस समयके समान दीप्तिमान् नहीं था; अब मृत्युका वियोग हो जानेके कारण वह मृत्युसे परे होकर देदीप्यमान है ॥ १२ ॥

अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते॥१३॥

फिर प्राणका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ वह वायु हो गया। वह यह अतिक्रान्त वायु मृत्युसे परे वहता है ॥१३॥

तथा प्राणो घ्राणम्—वायुरभवत्। स तु पवते मृत्युं परेणातिक्रान्तः। सर्वमन्यदुक्तार्थम् ॥१३॥

इसी प्रकार प्राण अर्थात् घ्राण-वायु हो गया। वह मृत्युसे पार होकर वहता है। और सबका अर्थ कहा जा चुका है ॥१३॥



अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

फिर चक्षुका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ यह आदित्य हो गया। वह यह अतिक्रान्त आदित्य मृत्युसे परे तपता है ॥१४॥

तथा चक्षुरादित्योऽभवत्स तु तपति ॥ १४ ॥

इसी प्रकार चक्षु आदित्य हो गया और वह तपता है ॥ १४ ॥



अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवंस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः॥ १५॥

फिर श्रोत्रका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ यह दिशा हो गया। वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ मृत्युसे परे हैं ॥ १५ ॥

तथा श्रोत्रं दिशोऽभवत्। दिशः प्राच्यादिविभागेनावस्थिताः॥१५॥

तथा श्रोत्र दिशा हो गया। दिशाएँ पूर्वादिके विभागसे स्थित हैं ॥ १५ ॥



अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो

भात्येवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

फिर मनका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ वह चन्द्रमा हो गया। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा मृत्युसे परे प्रकाशमान है। इसी प्रकार यह देवता उसका मृत्युसे अतिवहन करती है जो कि इसे इस प्रकार जानता है ॥ १६ ॥

मनश्चन्द्रमा भाति। यथा पूर्वयजमानं वागाद्यग्न्यादिभावेन मृत्युमत्यवहत्, एवमेनं वर्तमानयजमानमपि ह वा एषा प्राणदेवता मृत्युमतिवहति वागाद्यग्न्यादिभावेन। एवं यो वागादिपञ्चकविशिष्टं प्राणं वेद। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ॥ १६ ॥

मन चन्द्रमा होकर प्रकाशित होता है। जिस प्रकार प्राणने पूर्व यजमानको वागादिके अग्न्यादिभावसे मृत्युसे अतिवहन किया था उसी प्रकार यह प्राणदेवता इस वर्तमान यजमानको भी वागादिके अग्न्यादिभावद्वारा मृत्युसे अतिक्रान्त कर देती है जो कि इस प्रकार प्राणको वागादि पञ्चदेवविशिष्ट जानता है, जैसा कि "उसकी जो जिस प्रकार उपासना करता है तद्रूप ही हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

प्राणका अन्नाद्यागान

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

फिर उसने अपने लिये अन्नाद्यका आगान किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राणके ही द्वारा खाया जाता है तथा उस अन्नसे प्राण प्रतिष्ठित होता है ॥ १७ ॥

यथा वागादिभिरात्मार्थमागानं कृतं तथा मुख्योऽपि प्राणः सर्वप्राणसाधारणं प्राजापत्यफलमागानं कृत्वा त्रिषु पवमानेषु, अथानन्तरं शिष्टेषु नवसु, स्तोत्रेषु, आत्मने आत्मार्थमन्नाद्यमन्नं च तदाद्यं चान्नाद्यमागायत्।

जिस प्रकार वागादिने अपने लिये आगान किया था उसी प्रकार मुख्य प्राणने भी तीन पवमानोंमें समस्त प्राणोंके लिये समान प्राजापत्यरूप फलका आगान कर इसके पश्चात् शेष नौ स्तोत्रोंमें अपने लिये अन्नाद्यका[1]—जो अन्न हो और आद्य (भक्ष्य) भी हो उस अन्नाद्यका आगान किया।

कर्तुः कामसंयोगो वाचनिक इत्युक्तम्। कथं पुनस्तदन्नाद्यं प्राणेनात्मार्थमागीतमिति गम्यते? इत्यत्र हेतुमाह—यत्किञ्चेति सामान्यान्नमात्रपरामर्शार्थः। हीति हेतौ। यस्माल्लोके प्राणिभिर्यत्किञ्चिदन्नमद्यते भक्ष्यते तदनेनैव। अन इति प्राणस्याख्या प्रसिद्धा अनःशब्दः सान्तः शकटवाची, यस्त्वन्यः स्वरान्तः स प्राणपर्यायः।

उद्गानकर्ताको जो यह इच्छित पदार्थका संयोग होता है, वह वाचनिक है—ऐसा पहले[2] कहा जा चुका है। किंतु प्राणने उस अन्नाद्यका अपने लिये आगान किया—यह कैसे जाना जाता है? इसमें श्रुति हेतु बतलाती है—'यत्किञ्च'—यह पद सामान्यरूपसे अन्नमात्रका परामर्श करनेके लिये है। 'हि' यह अव्यय हेत्वर्थमें है। अर्थात् क्योंकि लोकमें प्राणियोंद्वारा जो कुछ भी अन्न भक्षण किया जाता है वह अन—प्राणके द्वारा ही खाया जाता है। 'अन' यह प्राणका नाम प्रसिद्ध है। सान्त 'अनस्' शब्द शकटका वाचक है और जो दूसरा स्वरान्त (अकारान्त) है वह प्राणका

---

१. 'अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत्' इस श्रुतिवचनसे विहित।

२. मन्त्र १ । ३ । २ के भाष्यमें।

प्राणेनैव तदद्यत इत्यर्थः ।

किञ्च न केवलं प्राणेनाद्यत एवान्नाद्यम्, तस्मिञ्छरीराकारपरिणतेऽन्नाद्य इह प्रतितिष्ठति प्राणः । तस्मात्प्राणेनात्मनः प्रतिष्ठार्थमागीतमन्नाद्यम् । यदपि प्राणेनान्नादनं तदपि प्रतिष्ठार्थमेवेति न वागादिष्विव कल्याणासङ्गजपाप्मसम्भवः प्राणेऽस्ति ॥ १७ ॥

पर्याय है, अतः वह अनेन अर्थात् प्राणसे ही खाया जाता है ।

इसके सिवा अन्नाद्य प्राणसे केवल खाया ही नहीं जाता, अपितु उस अन्नाद्यके शरीराकारमें परिणत होनेपर उसमें ही प्राण प्रतिष्ठित होता है । अतः अपनी प्रतिष्ठाके लिये प्राणने अन्नाद्यका आगान किया । प्राणके द्वारा जो अन्नका अदन (भक्षण) होता है वह भी उसकी प्रतिष्ठाके ही लिये है; अतः वागादिके समान प्राणमें शुभाभिनिवेशजनित पापकी सम्भावना नहीं है ॥ १७ ॥

प्राणका सर्वपोषकत्व और उसकी इस प्रकारकी उपासनाका फल

नन्ववधारणमयुक्तं प्राणेनैव तदद्यत इति, वागादीनामपि अन्ननिमित्तोपकारदर्शनात् ।

नैष दोषः; प्राणद्वारत्वात्तदुपकारस्य । कथं प्राणद्वारकोऽन्नकृतो वागादीनामुपकार इत्येतमर्थं प्रदर्शयन्नाह—

शङ्का—किंतु ऐसा जो निश्चय किया है कि वह अन्न प्राणके ही द्वारा खाया जाता है यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि अन्नसे होनेवाला उपकार तो वागादिको भी होता देखा जाता है ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह उपकार प्राणके ही द्वारा होता है । अन्नके कारण होनेवाला वागादिका उपकार प्राणके द्वारा होनेवाला कैसे है ? इसी बातको दिखानेके लिये श्रुति कहती है—

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त। तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूर्षति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनु भवति यो वैतमनु भार्यान्बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

वे देवगण बोले, "यह जो अन्न है वह सब तो इतना ही है; उसे तुमने अपने लिये आगान कर लिया है। अतः अब पीछेसे हमें भी इस अन्नमें भागी बनाओ।" [प्राणने कहा] "वे तुमलोग सब ओरसे मुझमें प्रवेश कर जाओ।" तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वे सब ओरसे उसमें प्रवेश कर गये। अतः प्राणके द्वारा पुरुष जो अन्न खाता है उससे ये प्राण भी तृप्त होते हैं। अतः जो इस प्रकार जानता है उसका ज्ञातिजन सब ओरसे आश्रय ग्रहण करते हैं, वह स्वजनोंका भरण करनेवाला, उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे चलनेवाला होता है तथा अन्न भक्षण करनेवाला और सबका अधिपति होता है। ज्ञातियोंमेंसे जो भी इस प्रकार जाननेवालेके प्रति प्रतिकूल होना चाहता है वह अपने आश्रितोंका पोषण करनेमें समर्थ नहीं होता और जो भी इसके अनुकूल रहता है—जो भी इसके अनुसार रहकर अपने आश्रितोंका भरण करना चाहता है वह निश्चय ही अपने आश्रितोंके भरणमें समर्थ होता है ॥ १८ ॥

ते वागादयो देवाः, स्वविषयद्योतनाद्देवाः, अब्रुवन्नुक्तवन्तो मुख्यं प्राणम् इदमेतावन्नातोऽधि-

उन वागादि देवताओंने, जो अपने विषयका द्योतन (प्रकाशन) करनेके कारण देवता हैं, मुख्य प्राणसे कहा—"यह [अन्न] तो इतना ही है, इससे अधिक नहीं

कमस्ति । वा इति स्मरणार्थः । इदं तत्सर्वमेतावदेव, किम्? यदन्नं प्राणस्थितिकरमद्यते लोके तत्सर्वमात्मन आत्मार्थमागासीः आगीतवानसि आगानेनात्मसात्कृतमित्यर्थः । वयं चान्नमन्तरेण स्थातुं नोत्सहामहे । अतोऽनु पश्चान्नोऽस्मानस्मिन्नन्ने आत्मार्थे तवान्ने आभजस्व आभाजयस्व । णिचोऽश्रवणं छान्दसम् । अस्मांश्चान्नभागिनः कुरु ।

इतर आह—ते यूयं यद्यन्नार्थिनो वै, मा मामभिसंविशत समन्ततो मामाभिमुख्येन निविशत । इत्येवमुक्तवति प्राणे तथेत्येवमिति, तं प्राणं परिसमन्तं परिसमन्तान्न्यविशन्त निश्चयेनाविशन्त, तं प्राणं परिवेष्टय निविष्टवन्त इत्यर्थः । तथा निविष्टानां प्राणानुज्ञया तेषां प्राणेनैवाद्यमानंप्राणस्थितिकरं सदन्नं तृप्तिकरं भवति न स्वातन्त्र्येण ।

है । इसमें 'वै' यह निपात स्मरणके लिये है । यह वह सब इतना ही है । वह क्या ? लोकमें प्राणकी स्थिति करनेवाला जो भी अन्न भक्षण किया जाता है उस सबका तो तुमने अपने लिये आगान कर लिया; अर्थात् आगानके द्वारा उसे अपने अधीन कर लिया । हम भी अन्नके विना रहनेमें समर्थ नहीं हैं । अत: अब पीछेसे अपने लिये आगान किये हुए अपने इस अन्नमेंसे हमें भी भाग प्राप्त कराओ, 'आभजस्व' में णिच्‌का श्रवण न होना छान्दस है । अर्थात् हमें भी अन्नका भागी बनाओ ।"

तब उनसे इतर—मुख्य प्राणने कहा, "वे तुम, यदि अन्नप्राप्तिके इच्छुक हो तो सब ओरसे अभिमुख भावसे मुझमें प्रवेश कर जाओ ।" प्राणके इस प्रकार कहनेपर वे 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उस प्राणमें निश्चय ही उसे सब ओरसे घेरकर प्रविष्ट हो गये । इस प्रकार प्राणकी आज्ञासे प्रविष्ट हुए उन सबकी, जो प्राणके द्वारा खाया जाता है वह प्राणकी स्थिति करनेवाला अन्न ही तृप्ति करनेवाला होता है । वागादिका स्वतन्त्रतासे अन्नके साथ सम्बन्ध नहीं होता ।

तस्माद्युक्तमेवावधारणम् अनेनैव तदद्यत इति। तदेव चाह—तस्माद्यस्मात्प्राणाश्रयतयैव प्राणानुज्ञयाभिसन्निविष्टा वागादिदेवताः तस्माद्यदन्नमनेन प्राणेनात्ति लोकस्तेनान्नेनैता वागाद्यास्तृप्यन्ति।

अतः "वह अन्न प्राणके ही द्वारा खाया जाता है" ऐसा निश्चय करना उचित ही है। वही बात श्रुति भी कहती है—अतः क्योंकि प्राणके आश्रित रहकर ही प्राणकी आज्ञासे वागादि देवता उसमें प्रविष्ट हुए हैं इसलिये लोक अन यानी प्राणके द्वारा जो अन्न खाते हैं उसी अन्नसे ये वागादि भी तृप्त होते हैं।

वागाद्याश्रयं प्राणं यो वेद वागादयश्च पञ्च प्राणाश्रया इति तमप्येवमेवं ह वै स्वा ज्ञातय अभिसंविशन्ति वागादय इव प्राणम्। ज्ञातीनामाश्रयणीयो भवतीत्यभिप्रायः। अभिसन्निविष्टानां च स्वानां प्राणवदेव वागादीनां स्वान्नेन भर्ता भवति। तथा श्रेष्ठः पुरोऽग्रत एता गन्ता भवति वागादीनामिव प्राणः। तथान्नादोऽनामयावीत्यर्थः। अधिपतिरधिष्ठाय च पालयिता स्वतन्त्रः पतिः प्राणवदेव वागा-

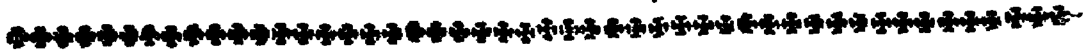
वागादिके आश्रयभूत प्राणको जो 'वागादि पाँच प्राणके आश्रित हैं' इस प्रकार जानता है उसको भी इसी प्रकार ज्ञातिजन सब ओरसे आश्रित करते हैं, जैसे प्राणको वागादि। तात्पर्य यह है कि वह अपने ज्ञातियोंका आश्रय होने योग्य हो जाता है। तथा वागादिके भर्ता प्राणके समान वह भी अपने आश्रित ज्ञातिजनोंका अपने अन्नद्वारा भरण करनेवाला होता है; तथा वह उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे जानेवाला होता है, जैसे वागादिके आगे प्राण। इसी तरह वह अन्नाद अर्थात् अनामयावी (निरामय—व्याधिशून्य) और अधिपति—वागादिके अधिपति प्राणके समान ही ज्ञातिजनोंका अधिष्ठाता होकर पालन करनेवाला अर्थात् स्वतन्त्र स्वामी होता है

द्दीनाम्। य एवं प्राणं वेद तस्यै-तद्यथोक्तं फलं भवति।

किञ्च य उ हैवंविदं प्राणविदं प्रति स्वेषु ज्ञातीनां मध्ये प्रतिः प्रतिकूलो बुभूर्षति प्रतिस्पर्धी भवितुमिच्छति, सोऽसुरा इव प्राणप्रतिस्पर्धिनो न हैवालं न पर्याप्तो भार्येभ्यो भरणीयेभ्यो भवति भर्तुमित्यर्थः। अथ पुनर्य एवं ज्ञातीनां मध्ये एत-मेवंविदं वागादय इव प्राणम् अनु अनुगतो भवति, यो वैत-मेवंविदमन्वेवानुवर्तयन्नेव आ-त्मीयान्भार्यान् बुभूर्षति भर्तुमि-च्छति, यथैव वागादयः प्राणा-नुवृत्त्यात्मबुभूर्षव आसन्। स हैवालं पर्याप्तो भार्येभ्यो भरणी-येभ्यो भवति भर्तुं नेतरः स्वतन्त्रः। सर्वमेतत्प्राणगुण-विज्ञानफलमुक्तम् ॥ १८ ॥

जो प्राणको इस प्रकार जानता है उसे उपर्युक्त फल मिलता है।

इसके सिवा स्वजनों यानी ज्ञातियोंमेंसे जो भी इस प्रकार जाननेवाले इस प्राणवेत्ताके प्रति प्रतिकूल यानी उसका प्रतिस्पर्धी होना चाहता है वह प्राणके प्रति-स्पर्धी असुरोंके समान अपने भर-णीयों (आश्रितों) का भरण करने-में अलम् अर्थात् समर्थ नहीं होता। तथा ज्ञातियोंमेंसे जो भी, प्राणके अनुगामी वागादिके समान, इस प्रकार जाननेवाले इस प्राणवेत्ताका अनु—अनुगत होता है अर्थात् जो भी इस प्राणवेत्ताका अनुवर्तन करते हुए ही अपने आत्मीय यानी भरणी-योंका भरण करनेकी इच्छा करता है, जिस प्रकार कि वागादि प्राणका अनुवर्तन करते हुए अपनेको भरण करनेके इच्छुक थे, वह अपने भरणीयोंके प्रति उनका भरण करनेमें अलम् अर्थात् समर्थ होता है, अन्य जो स्वतन्त्र है वह ऐसा करनेमें समर्थ नहीं होता। यह सब प्राणके गौण विज्ञानका फल कहा गया है ॥ १८ ॥



प्राणके आङ्गिरसत्वकी उपपत्ति

कार्यकरणानामात्मत्वप्रतिपादनाय प्राणस्याङ्गिरसत्वमुपन्यस्तं सोऽयास्य आङ्गिरस इति। अस्माद्धेतोरयमाङ्गिरस इत्याङ्गिरसत्वे हेतुर्नोक्तः। तद्धेतुसिद्ध्यर्थमारभ्यते, तद्धेतुसिद्ध्यायत्तं हि कार्यकरणात्मत्वं प्राणस्य। अनन्तरं च वागादीनां प्राणाधीनतोक्ता सा च कथमुपपादनीया? इत्याह—

भूत और इन्द्रियोंका आत्मत्व प्रतिपादन करनेके लिये 'सोऽयास्य आङ्गिरसः' इस वाक्यसे प्राणके आङ्गिरसत्वका उल्लेख किया था। किंतु यह इसलिये आङ्गिरस है—इस प्रकार इसकी आङ्गिरसतामें हेतु नहीं बताया गया था। उस हेतुकी सिद्धिके लिये अब आरम्भ किया जाता है; क्योंकि उसके हेतुकी सिद्धिके अधीन ही प्राणकी कार्यकरणरूपता है। आङ्गिरसत्वके पश्चात् जो वागादिकी प्राणाधीनता बतलायी गयी है उसका उपपादन किस प्रकार किया जा सकता है? सो बतलाते हैं—

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गाना रँहि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गाना रँरसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गाना रँरसः ॥ १९ ॥

वह प्राण अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गोंका रस (सार) है। प्राण ही अङ्गोंका रस है, निश्चय प्राण ही अङ्गोंका रस है; क्योंकि जिस किसी अङ्गसे प्राण उत्क्रमण कर जाता है, वह उसी जगह सूख जाता है, अतः यही अङ्गोंका रस है ॥ १९ ॥

सोऽयास्य आङ्गिरस इत्यादि।

'सोऽयास्य आङ्गिरसः' इत्यादि

यथोपन्यस्तमेवोपादीयते उत्तरार्थम् 'प्राणो वा अङ्गानां रसः' इत्येवमन्तं वाक्यं यथाव्याख्यातार्थमेव पुनः स्मारयति ।

वाक्यका जिस प्रकार पहले उल्लेख हो चुका है उसीको अब श्रुति उत्तर देनेके लिये ग्रहण करती है। 'प्राणो वा अङ्गानां रसः' यहाँतकके वाक्यका ऊपर की हुई व्याख्याके अनुसार ही श्रुति पुनः स्मरण कराती है।

कथम् ? 'प्राणो वा अङ्गानां रसः' इति । 'प्राणो हि'—हिशब्दः प्रसिद्धौ—अङ्गानां रसः । प्रसिद्धमेतत्प्राणस्याङ्गरसत्वं न वागादीनाम् । तस्माद्युक्तं प्राणो वा इति स्मारणम् ।

किस प्रकार स्मरण कराती है? प्राण ही अङ्गोंका रस है—इस प्रकार। 'प्राणो हि' इसमें 'हि' शब्द प्रसिद्धिके अर्थमें है। अङ्गोंका रस है। प्राणका ही यह अङ्गरसत्व प्रसिद्ध है, वागादिका नहीं। अतः 'प्राणो वै' इस प्रकार उसका स्मरण करना उचित ही है।

कथं पुनः प्रसिद्धत्वम् ? इत्यत आह । तस्माच्छब्द उपसंहारार्थ उपरित्वेन सम्बध्यते । यस्माद्यतोऽवयवात्कस्मादनुक्तविशेषात्, यस्मात्कस्माद्यतः कुतश्चिच्च अङ्गाच्छरीरावयवादविशेषितात्प्राण

किंतु, उसकी प्रसिद्धि किस प्रकार है ? सो श्रुति अब बतलाती है। 'तस्मात्' शब्द उपसंहारके लिये है; अतः वह उपरित्वभावसे [आगेके वाक्यसे] सम्बन्ध रखता है[1]। 'यस्मात्'—जिस अवयवसे और 'कस्मात्' जिसका विशेष बतलाया नहीं गया ऐसे किसी भी अवयवसे। अतः यस्मात्-कस्मात्—जिस-किसी भी अविशेषित अङ्ग यानी शरीरके

१. अर्थात् इस वाक्यका अन्वय इस प्रकार है—'यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति तस्मादेष हि वा अङ्गानां रसः।'

उत्क्रामत्यपसर्पति तदेव तत्रैव तदङ्गं शुष्यति नीरसं भवति शोषमुपैति। तस्मादेष हि वा अङ्गानां रस इत्युपसंहारः।

अतः कार्यकरणानामात्मा प्राण इत्येतत्सिद्धम्। आत्मापाये हि शोषो मरणं स्यात्तस्मात्तेन जीवन्ति प्राणिनः सर्वे। तस्माद्धास्य वागादीन्प्राण एवोपास्य इति समुदायार्थः॥ १९॥

अवयवसे प्राण उत्क्रान्त-अपसर्पित हो जाता है वह अङ्ग वहाँ ही शुष्क-नीरस हो जाता है अर्थात् सूख जाता है। अतः निश्चय यही अङ्गोंका रस है—ऐसा इसका उपसंहार है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्राण भूत और इन्द्रियोंका आत्मा है। आत्माका वियोग होनेपर ही शोष-मरण होता है; अतः समस्त प्राणी उसीसे जीवित रहते हैं। इसलिये वागादि समस्त प्राणोंको त्यागकर प्राण ही उपासनीय है—यह इसका समुदायार्थ है॥ १९॥

प्राणके बृहस्पतित्वकी उपपत्ति

न केवलं कार्यकरणयोरेवात्मा प्राणो रूपकर्मभूतयोः। किं तर्हि? ऋग्यजुःसाम्नां नामभूतानामात्मेति सर्वात्मकतया प्राणं स्तुवन्महीकरोत्युपास्यत्वाय—

प्राण रूपात्मक पञ्चभूतों और कर्मभूत[1] इन्द्रियोंका ही आत्मा नहीं है तो और किसका है? वह नाम स्वरूप ऋक्, यजुः और सामका भी आत्मा है। इस प्रकार सर्वात्मकताद्वारा प्राणकी स्तुति करते हुए वेद उसके उपास्यत्वके लिये उसे महिमान्वित करता है।

एष एव उ बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः॥ २०॥

यह ही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है; उसका यह पति है; इसलिये यह बृहस्पति है॥ २०॥

१. प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय होनेके कारण स्थूलशरीर अर्थात् भूत रूपात्मक और ज्ञान तथा क्रियाकी शक्तिवाली होनेसे इन्द्रियाँ कर्म हैं।



एष उ एव प्रकृत आङ्गिरसो बृहस्पतिः। कथं बृहस्पतिः? इत्युच्यते—वाग्वै बृहती बृहती-छन्दः षट्त्रिंशदक्षरा। अनुष्टुप्च वाक्। कथम्? "वाग्वा अनुष्टुप्" (नृसिं० पू० १।१) इति श्रुतेः। सा च वागनुष्टुब्बृहत्यां छन्दस्यन्तर्भवति। अतो युक्तं वाग्वै बृहतीति प्रसिद्धवद्वक्तुम्। बृहत्यां च सर्वा ऋचोऽन्तर्भवन्ति प्राणसंस्तुतत्वात्। "प्राणो बृहती प्राण ऋच इत्येव विद्यात्" इति श्रुत्यन्तरात्। वागात्मत्वाच्चर्चां प्राणेऽन्तर्भावः।

यह प्राण ही प्रकृत आङ्गिरस बृहस्पति है। किस प्रकार बृहस्पति है? सो बतलाया जाता है—वाक् ही बृहती—छत्तीस अक्षरोंवाली बृहती छन्द है। वाक् अनुष्टुप् भी है। किस प्रकार? "वाक् ही अनुष्टुप् है" इस श्रुतिके अनुसार। किंतु वह अनुष्टुप् वाक् बृहती छन्द-में अन्तर्भूत हो जाती है। 'अतः वाक् ही बृहती है' इस प्रकार प्रसिद्धके समान कहना उचित ही है।—"प्राण बृहती है, प्राण ऋक् है—इस प्रकार ही जाने" इस अन्य श्रुतिसे प्राणरूपसे बृहतीकी स्तुति की जानेके कारण बृहतीमें भी समस्त ऋचाओंका अन्तर्भाव हो जाता है। समस्त ऋचाएँ वाग्रूपा हैं, इसलिये भी उनका प्राणमें अन्त-र्भाव होता है।

तत्कथम्? इत्याह-तस्या वाचो बृहत्या ऋच एष प्राणः पतिः। तस्या निर्वर्तकत्वात्। कौष्ठ्याग्नि-प्रेरितमारुतनिर्वर्त्या हि ऋक्। पालनाद्वा वाचः पतिः। प्राणेन

सो किस प्रकार? इसपर श्रुति कहती है—उस वाक्का—बृहतीका यानी ऋक्का यह प्राण पति है, क्योंकि यही उसको [1]अभिव्यक्त करनेवाला है—जठराग्निद्वारा प्रेरित वायुसे ही ऋक् निष्पन्न होती है अथवा वाणीका पालन करनेके कारण यह उसका

१. जठराग्निद्वारा प्रेरित जो शरीरान्तर्गत प्राणवायु है वही ऊपरकी ओर जाकर कण्ठादिसे आहत हो वर्णोंके रूपमें अभिव्यक्त होता है। देवताधिकरणमें वाक्को प्राणात्मिका ही निश्चित किया गया है और ऋक् वागात्मिका बतलायी गयी है इसलिये उसका प्राणमें अन्तर्गत होना उचित ही है।

हि पाल्यते वाक् । अप्राणस्य शब्दोच्चारणसामर्थ्याभावात् । तस्माद्बृहस्पतिर्ऋचां प्राण आत्मेत्यर्थः ॥ २० ॥

पति है। प्राणसे ही वाणीका पालन होता है, क्योंकि प्राणहीनको शब्दोच्चारणकी शक्ति नहीं होती। अतः यह बृहस्पति यानी ऋचाओंका प्राण अर्थात् आत्मा है ॥ २० ॥

प्राणके ब्रह्मणस्पतित्वकी उपपत्ति

तथा यजुषाम् । कथम् ?

इसी प्रकार यह यजुर्मन्त्रोंका भी आत्मा है। किस प्रकार ?

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

यह ही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ही ब्रह्म है, उसका यह पति है, इसलिये यह ब्रह्मणस्पति है ॥ २१ ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः । वाग्वै ब्रह्म, ब्रह्म यजुः, तच्च वाग्विशेष एव । तस्या वाचो यजुषो ब्रह्मण एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः पूर्ववत् ।

यह ही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ही ब्रह्म है। ब्रह्म अर्थात् यजुः है, क्योंकि वह भी एक प्रकारकी वाणी ही है। उस वाक्--यजु यानी ब्रह्मका यह पति है; इसलिये पूर्ववत् यह ब्रह्मणस्पति है।

कथं पुनरेतदवगम्यते बृहतीब्रह्मणोर्ऋग्यजुष्ट्वं न पुनरन्यार्थत्वम् ? इत्युच्यते—वाचोऽन्ते सामसामानाधिकरण्यनिर्देशात् "वाग्वै साम" (१।३।२२) इति ।

किन्तु यह कैसे जाना जाता है कि बृहती और ब्रह्म क्रमशः ऋक् और यजुःके ही वाचक हैं, इनका कोई दूसरा अर्थ नहीं है ? इसपर कहा जाता है--अन्तमें [अर्थात् आगे चलकर] "वाग्वै साम" इस वाक्यद्वारा वाणीका सामके साथ सामानाधिकरण्य दिखलाया है।

तथा च 'वाग्वै बृहती' 'वाग्वै ब्रह्म' इति च वाक्समानाधिकरणयोर्ऋग्यजुष्ट्वं युक्तम्।

उसीके समान 'वाग्वै बृहती' 'वाग्वै ब्रह्म' इन वाक्योंमें जो वाक्के समानाधिकरण [बृहती और ब्रह्म] हैं उसका ऋक् और यजुः होना उचित ही है।

परिशेषाच्च—साम्नि अभिहिते ऋग्यजुषी एव परिशिष्टे। वाग्विशेषत्वाच्च—वाग्विशेषो हि ऋग्यजुषी। तस्मात् तयोर्वाचा समानाधिकरणता युक्ता।

यही बात परिशेषसे भी सिद्ध होती है—सामके कह देनेपर ऋक और यजुः ही परिशिष्ट (शेष) रहते हैं। तथा वाग्विशेष होनेसे भी यही बात मालूम होती है—ऋक् और यजुः ये वाग्विशेष ही हैं। अतः वाणीके साथ उन दोनोंका समानाधिकरण होना उचित ही है।

अविशेषप्रसङ्गाच्च—सामोद्गीथ इति च स्पष्टं विशेषाभिधानत्वम्, तथा बृहतीब्रह्मशब्दयोरपि विशेषाभिधानत्वं युक्तम्। अन्यथा अनिर्धारित विशेषयोरानर्थक्यापत्तेश्च विशेषाभिधानस्य वाङ्मात्रत्वे चोभयत्र पौनरुक्त्यात्। ऋग्यजुःसामोद्गीथशब्दानां च श्रुतिष्वेवंक्रमदर्शनात्॥ २१॥

इसके सिवा [बृहती और ब्रह्मका रूढ अर्थ लेनेसे] अविशेषका प्रसङ्ग होगा। [आगे] साम और उद्गीथ कहकर स्पष्टतया विशेषका उल्लेख किया है, उसी प्रकार बृहती और ब्रह्म शब्दोंका भी विशेष अर्थ बतलाना आवश्यक है। अन्यथा विशेषका निश्चय न होनेसे उनकी निरर्थकता ही सिद्ध होगी। यदि उनका विशेष वाक् ही बतलाया जाय तो दोनों जगह पुनरुक्तिका प्रसङ्ग होगा। तथा ऋक्, यजुः, साम और उद्गीथ—इन शब्दोंका श्रुतियोंमें ऐसा ही क्रम देखा गया है। [इसलिये बृहती और ब्रह्म शब्द क्रमशः ऋक् और यजुःके ही वाचक हैं]॥ २१॥

प्राणके सामत्वकी उपपत्ति

एष उ एव साम वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳसलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

यह ही साम है। वाक् ही 'सा' है और यह (प्राण) 'अम' है। 'सा' और 'अम' ही साम हैं; यही सामका सामत्व है; क्योंकि यह प्राण मक्खीके समान है, मच्छरके समान है, हाथीके समान है, इस त्रिलोकीके समान है और इस सभीके समान है इसीसे यह साम है। जो इस सामको इस प्रकार जानता है वह सामका सायुज्य और उसकी सलोकता प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

एष उ एव साम। कथम्? इत्याह वाग्वै सा यत्किञ्चित्स्त्रीशब्दाभिधेयं सा वाक्। सर्वस्त्रीशब्दाभिधेयवस्तुविषयो हि सर्वनाम 'सा' शब्दः। तथा अम एष प्राणः। सर्वपुंशब्दाभिधेयवस्तुविषयोऽमः शब्दः। "केन मे पौंस्नानि नामान्याप्नोषीति, प्राणेनेति ब्रूयात्केन मे स्त्रीनामानीति वाचा" (कौषी०

यही साम है। किस प्रकार? सो बतलाते हैं—वाक् ही 'सा' है। जो कुछ भी स्त्रीशब्दवाच्य है वह वाक् है। 'सा' यह सर्वनाम शब्द समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्दोंद्वारा कही जानेवाली वस्तुओंको विषय करता है। तथा 'अम' यह प्राण है। 'अम' शब्द समस्त पुँल्लिङ्ग-शब्दोंद्वारा कही जानेवाली वस्तुओंको विषय करता है। "[यदि कोई पूछे] मेरे पुँल्लिङ्ग नामोंको तू किसके द्वारा प्राप्त करता है? तो 'प्राणसे' ऐसा कहे और [यदि पूछे कि] स्त्रीलिङ्ग नामोंको किससे प्राप्त करता है तो

उ० १।७) इति श्रुत्यन्तरात् वाक्प्राणाभिधानभूतोऽयं सामशब्दः, तथा प्राणनिवर्त्यस्वरादिसमुदायमात्रं गीतिः सामशब्देनाभिधीयते; अतो न प्राणवाग्व्यतिरेकेण सामनामास्ति किंचित्, स्वरवर्णादेश्च प्राणनिर्वर्त्यत्वात्प्राणतन्त्रत्वाच्च। एष उ एव प्राणः साम। यस्मात्साम सामेति वाक्प्राणात्मकम्—सा चामश्चेति, तत्तस्मात्साम्नो गीतिरूपस्य स्वरादिसमुदायस्य सामत्वं तत्प्रगीतं भुवि।

'वाणीसे' ऐसा कहे" इस अन्य श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। यह 'साम' शब्द वाक् और प्राणका अभिधानभूत है तथा प्राणसे निष्पन्न होनेवाला जो स्वरादिका समुदायमात्र गान है वह भी 'साम' शब्दसे कहा जाता है; अतः प्राणरूप वाणीके व्यापारके सिवा 'साम' नामकी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि स्वर और वर्णादि भी प्राणसे निष्पन्न होनेवाले और प्राणके ही अधीन हैं। अतः यह प्राण ही साम है। क्योंकि 'सा' और 'अम' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'साम साम' इस प्रकार कहा जानेवाला पदार्थ वाक् और प्राणरूप ही है, इसलिये गीतिरूप जो सामसंज्ञक स्वरादिसमुदाय है उसका लोकमें सामत्व विख्यात है।

यद् उ एव समस्तुल्यः सर्वेण वक्ष्यमाणेन प्रकारेण, तस्माद्वा सामेत्यनेन सम्बन्धः। वाशब्दः सामशब्दलाभनिमित्तप्रकारान्तरनिर्देशसामर्थ्यलभ्यः। केन पुनः प्रकारेण प्राणस्य तुल्यत्वम्?

अथवा क्योंकि आगे कहे जानेवाले प्रकारसे यह सबके समान यानी तुल्य है, इसलिये साम है—इस वाक्यके साथ यद्वेव...इत्यादि वाक्यका सम्बन्ध है। 'वा' शब्द सामशब्दलाभके निमित्तभूत प्रकारान्तरका निर्देश करनेकी सामर्थ्यसे प्राप्त होनेवाला है। तो फिर किस प्रकारसे प्राणकी तुल्यता है? यह

इत्युच्यते—समः प्लुषिणा पुत्तिकाशरीरेण, समो मशकेन मशकशरीरेण, समो नागेन हस्तिशरीरेण, सम एभिस्त्रिभिर्लोकैस्त्रैलोक्यशरीरेण प्राजापत्येन, समोऽनेन जगद्रूपेण हैरण्यगर्भेण। पुत्तिकादिशरीरेषु गोत्वादिवत्कात्स्न्र्येन परिसमाप्त इति समत्वं प्राणस्य; न पुनः शरीरमात्रपरिमाणेनैव, अमूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्च। न च घटप्रासादादिप्रदीपवत्संकोचविकासितया शरीरेषु तावन्मात्रं समत्वम्। "त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः" (बृह०उ० १।५।१३) इति श्रुतेः। सर्वगतस्य तु शरीरपरिमाणवृत्तिलाभो न विरुध्यते।

अब बतलाया जाता है—[यह प्राण] प्लुषि—पुत्तिका (छोटी मक्खी) के शरीरके समान है, मशक अर्थात् मच्छरके शरीरके समान है, नाग—हाथीके शरीरके समान है, इन तीनों लोकों अर्थात् त्रिलोकीरूप प्रजापतिके शरीरके समान है तथा इस जगद्रूप हिरण्यगर्भके शरीरके समान है। जिस प्रकार गोशरीरमें गोत्वकी पूर्णतया व्याप्ति होती है उसी प्रकार यह पुत्तिकादि शरीरोंमें पूर्णतया व्याप्त है—इसलिये ही प्राण उनके समान है, शरीरमात्रके बराबर होनेके कारण ही नहीं; क्योंकि यह अमूर्त्त और सर्वगत है। घट और महल आदिके दीपकके समान संकुचित और विकसित होनेवाला होनेसे शरीरोंमें उन्हींके बराबर रहनेसे इसका समत्व नहीं है; जैसा कि "वे ये सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। सर्वगत प्राणका शरीरके परिमाणानुसार वृत्ति लाभ करनेमें कोई विरोध नहीं है।

एवं समत्वात्सामाख्यं प्राणं वेद यः श्रुतिप्रकाशितमहत्त्वं तस्यै-

इस प्रकार सम होनेके कारण सामसंज्ञक प्राणको, जिसका महत्त्व श्रुतिने प्रकाशित किया है, जो पुरुष

तत्फलम्—अश्नुते व्याप्नोति साम्नः प्राणस्य सायुज्यं सयुग्भावं समानदेहेन्द्रियाभिमानत्वम्, सालोक्यं समानलोकतां वा भावनाविशेषतः, य एवमेतद्यथोक्तं साम प्राणं वेद—आ प्राणात्माभिमानाभिव्यक्तेरुपास्ते इत्यर्थः ॥ २२ ॥

जानता है उसे यह फल प्राप्त होता है—वह सामसंज्ञक प्राणका सायुज्य-सयुग्भाव अर्थात् उसके साथ एक ही देह और इन्द्रियादिका अभिमान प्राप्त करता है तथा भावनाविशेषसे सालोक्य यानी समानलोकता प्राप्त करता है, जो इस प्रकार इस उपर्युक्त सामरूप प्राणको जानता है अर्थात् प्राणात्मत्वका अभिमान उदय होनेपर्यन्त उसकी उपासना करता है ॥२२॥

प्राणके उद्गीथत्वकी उपपत्ति

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीद्ँसर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

यह ही उद्गीथ है। प्राण ही उत् है, प्राणके द्वारा ही यह सब उत्तब्ध—धारण किया हुआ है। वाक् ही गीथा है। वह उत् है और गीथा भी है; इसलिये उद्गीथ है ॥ २३ ॥

एष उ वा उद्गीथः। उद्गीथो नाम सामावयवो भक्तिविशेषो नोद्गानम्, सामाधिकारात्। कथमुद्गीथः प्राणः? प्राणो वा उत्प्राणेन हि यस्मादिदं सर्वं जगदुत्तब्धमूर्ध्वं स्तब्धमुत्तम्भितं विधृतमित्यर्थः। उत्तब्धार्थाव-

यह ही 'उद्गीथ' है। 'उद्गीथ' शब्दसे सामकी अवयवभूत भक्तिविशेष अभिप्रेत है, उद्गान नहीं; क्योंकि यहाँ सामका ही अधिकरण है। प्राण उद्गीथ किस प्रकार है?—प्राण ही 'उत्' है; क्योंकि प्राणसे ही यह सब जगत् उत्तब्ध—ऊपरकी ओर ठहरा हुआ अर्थात् विधृत है। 'उत्तब्ध' अर्थका द्योतन करनेवाला

द्योतकोऽयमुच्छब्दः प्राणगुणाभिधायकः, तस्मादुत्प्राणः। वागेव गीथाशब्दविशेषत्वादुद्गीथभक्तेः। गायतेः शब्दार्थत्वात्सा वागेव। न ह्युद्गीथभक्तेःशब्दव्यतिरेकेण किञ्चिद्रूपमुत्प्रेक्ष्यते। तस्माद्युक्तमवधारणं वागेव गीथेति। उच्च प्राणो गीथा च प्राणतन्त्रा वागित्युभयमेकेन शब्देनाभिधीयते स उद्गीथः ॥ २३ ॥

यह 'उत्' शब्द प्राणका गुण बतलानेवाला है। अतः प्राण उत् है। वाक् ही गीथा है; क्योंकि उद्गीथभक्ति शब्दविशेष ही है। 'गै' धातुका अर्थ शब्द करना है, अतः गीथा वाक् ही है। उद्गीथभक्तिके स्वरूपकी शब्दके सिवा और कोई उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती। अतः वाक् ही गीथा है—ऐसा निश्चय करना उचित ही है। उत् प्राण है और गीथा प्राणतन्त्रा वाक् है, अतः इन दोनोंका एक ही शब्दसे कथन होता है, वह शब्द 'उद्गीथ' है ॥ २३ ॥

उक्त अर्थकी पुष्टिके लिये आख्यायिका

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥२४॥

उस [प्राण] के विषयमें यह आख्यायिका भी है—चैकितानेय ब्रह्मदत्तने यज्ञमें सोम भक्षण करते हुए कहा। "यदि अयास्य और आङ्गिरसनामक मुख्य प्राणने वाक्संयुक्त प्राणसे अतिरिक्त देवताद्वारा उद्गान किया हो तो यह सोम मेरा शिर गिरा दे।" अतः उसने प्राण और वाक्के ही द्वारा उद्गान किया था—ऐसा निश्चय होता है ॥ २४ ॥

तद्धापि तत्रैतस्मिन्नुक्तेऽर्थे हाप्याख्यायिकापि श्रूयते ह स्म।

'तद्धापि—उस अर्थात् इस उपर्युक्त विषयमें यह आख्यायिका भी सुनी जाती है—ब्रह्मदत्त नाम-

ब्रह्मदत्तो नामतः चिकितानस्यापत्यं चैकितानस्तदपत्यं युवा चैकितानेयः, राजानं यज्ञे सोमं भक्षयन्नुवाच। किम्? अयं चमसस्थो मया भक्ष्यमाणो राजा त्यस्य तस्य ममानृतवादिनो मूर्धानं शिरो विपातयताद्विस्पष्टं पातयतु। तोरयं तातङादेशः आशिषि लोट्, विपातयतादिति। यद्यहमनृतवादी स्यामित्यर्थः।

कथं पुनरनृतवादित्वप्राप्तिः? इत्युच्यते—यद्यदीतोऽस्मात्प्रकृतात् प्राणाद्वाक्संयुक्तात्, अयास्यः—मुख्यप्राणाभिधायकेन

वाला चैकितानेय—चिकितानके पुत्र चैकितानका युवसंज्ञक[1] अपत्य (संतान) यज्ञमें राजा अर्थात् सोमका भक्षण करता हुआ बोला। क्या बोला—"यह मेरेद्वारा भक्षण किया जाता हुआ चमसस्थ सोम 'त्यस्य'—उस मुझ मिथ्यावादीके मस्तकको विपतित—विस्पष्टतया पतित कर दे, अर्थात् यदि मैं मिथ्यावादी होऊँ तो ऐसा हो।" यहाँ [आशिषि लिङ्लोटौ इस सूत्रके नियमानुसार] आशीर्वाद अर्थमें लोट् लकार है। 'विपातयतु' के 'तु' प्रत्ययको तातङ् आदेश होकर 'विपातयतात्' यह रूप सिद्ध हुआ है।[2]

किंतु मुझे मिथ्यावादित्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? सो बतलाया जाता है—"यदि इस प्रकृत वाक्संयुक्त प्राणसे अयास्यने, जो मुख्यप्राणके वाचक अयास्याङ्गिरस शब्दद्वारा

१. व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रियामें अपत्य तीन प्रकारके माने गये हैं, १ अनन्तरापत्य, २ गोत्रापत्य और ३ युवापत्य। पुत्रको अनन्तरापत्य कहते हैं, पौत्रसे लेकर जितनी भी होनेवाली पीढ़ियाँ हैं, सभी गोत्रापत्य कहलाती हैं, किंतु जिसके पिता आदिमेंसे कोई भी जीवित हो, वह संतान यदि मूल पुरुषसे नीचेकी चौथी आदि पीढ़ियोंमेंसे है अर्थात् पौत्रका पुत्र आदि है तो उसको युवापत्य कहते हैं।

२. संस्कृतमें आज्ञा अर्थमें 'लोट्' लकार होता है। उसका आशीर्वादके अर्थमें भी प्रयोग होता है। उसके प्रथमपुरुषका एक वचन प्रत्यय 'ति' है, उसीके इकारको उकार आदेश होनेसे 'तु' होता है और फिर उसका 'तातङ्' आदेश होकर 'तात्' रूप बनता है।

अयास्याङ्गिरसशब्देनाभिधीयते विश्वसृजां पूर्वर्षीणां सत्रे उद्गाता—सोऽन्येन देवतान्तरेण वाक्प्राणव्यतिरिक्तेनोदगायदुद्गानं कृतवान्, ततोऽहमनृतवादी स्याम्, तस्य मम देवता विपरीतप्रतिपत्तुर्मूर्धानं विपातयतु, इत्येवं शपथं चकारेति विज्ञाने प्रत्ययदार्ढ्यकर्तव्यतां दर्शयति ।

तमिममाख्यायिकानिर्धारितमर्थं स्वेन वचसोपसंहरति श्रुतिः—वाचा च प्राणप्रधानया प्राणेन च स्वस्यात्मभूतेन सोऽयास्य आङ्गिरस उद्गातोदगायदित्येषोऽर्थो निर्धारितः शपथेन ॥ २४ ॥

कहा जाता है और जो विश्वकी रचना करनेवाले पूर्ववर्ती ऋषियोंके सत्रमें उद्गाता था, उसने यदि वाक्संयुक्त प्राणसे भिन्न किसी अन्य देवताद्वारा उद्गान किया हो तो मैं मिथ्यावादी ठहरूँगा, अतः देवता मुझ विपरीत ज्ञान रखनेवालेका मस्तक गिरा दे।" इस प्रकार उसने जो शपथ की यह विज्ञानमें प्रत्ययकी दृढ़ता करनी चाहिये—इस बातको प्रकट करती है।

आख्यायिकाद्वारा निश्चित इस अर्थका श्रुति अपने वचनसे उपसंहार करती है—उस अयास्य आङ्गिरस उद्गाताने प्राणप्रधान वाणीसे और अपने आत्मभूत प्राणसे ही उद्गान किया था—यही अर्थ इस शपथसे निश्चित होता है ॥ २४ ॥

सामके स्वभूत स्वरको सम्पादन करनेकी आवश्यकता

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥२५॥

जो उस इस सामशब्दवाच्य मुख्य प्राणके स्व (धन) को जानता है उसे धन प्राप्त होता है। निश्चय स्वर ही उसका धन है। अतः ऋत्विक्-

कर्म करनेवालेको वाणीमें स्वरकी इच्छा करनी चाहिये। उस स्वर-सम्पन्न वाणीसे ऋत्विक् कर्म करे। इसीसे यज्ञमें स्वरवान् उद्गाताको देखनेकी इच्छा करते ही हैं। लोकमें भी जिसके पास धन होता है [उसे ही देखना चाहते हैं]। जो इस प्रकार इस सामके धनको जानता है उसे धन प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

तस्येति प्रकृतं प्राणमभिसम्बध्नाति। हैतस्येति मुख्यं व्यपदिशत्यभिनयेन। साम्नः सामशब्दवाच्यस्य प्राणस्य यः स्वं धनं वेद, तस्य ह किं स्यात्? भवति हास्य स्वम्। फलेन प्रलोभ्याभिमुखीकृत्य शुश्रूषवे आह—तस्य वै साम्नः स्वर एव स्वम्। स्वर इति कण्ठगतं माधुर्यं तदेवास्य स्वं विभूषणम्। तेन हि भूषितमृद्धिमल्लक्ष्यत उद्गानम्।

यस्मादेवं तस्मादार्त्विज्यं ऋत्विक्कर्मोद्गानं करिष्यन्वाचि विषये वाचि वागाश्रितं स्वरमिच्छेत इच्छेत् साम्नो धनवत्तां स्वरेण चिकीर्षुरुद्गाता। इदं तु

'तस्य' इस सर्वनामसे श्रुति प्रकृत प्राणका सम्बन्ध दिखाती है। 'ह एतस्य' इन पदोंसे श्रुति मुख्यप्राणको अङ्गुलिनिर्देशद्वारा बतलाती है। साम अर्थात् सामशब्दवाच्य मुख्यप्राणके स्व यानी धनको जो पुरुष जानता है उसे क्या फल मिलता है?—उसे धनकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार फलके द्वारा प्रलोभित कर उसे अपनी ओर अभिमुख करके श्रुति श्रवणके इच्छुकसे कहती है—निश्चय उस सामका स्वर ही धन है। स्वर कण्ठगत मधुरताको कहते हैं, वही इसका धन—विभूषण है। उसके द्वारा भूषित होनेपर ही उद्गान समृद्धिमान् दिखायी देता है।

क्योंकि ऐसा है, इसलिये आर्त्विज्य यानी उद्गानरूप ऋत्विक्कर्म करते हुए स्वरके द्वारा सामकी समृद्धि सम्पादन करनेकी इच्छावाले उद्गाताको वाणीके विषयमें अर्थात् वाणीके आश्रित स्वरकी इच्छा करनी

प्रासङ्गिकं विधीयते; साम्नः सौस्वर्येण स्वरवत्त्वप्रत्यये कर्तव्ये इच्छामात्रेण सौस्वर्यं न भवतीति दन्तधावनतैलपानादि सामर्थ्यात्कर्तव्यमित्यर्थः। तथैवं संस्कृतया वाचा स्वरसम्पन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्।

चाहिये। यह तो प्रासङ्गिक विधान किया गया है; सामकी सुस्वरता अर्थात् स्वरवत्त्व-प्रतीति कर्तव्य होनेपर इच्छामात्रसे ही उसकी सुस्वरता नहीं हो जाती। इसलिये तात्पर्य यह है कि दन्तधावन और तैलपानादिके बलसे सुस्वरताका सम्पादन करना चाहिये। इस प्रकार संस्कारयुक्त हुई उस स्वरसम्पन्न वाणीसे ऋत्विक्कर्म करे।

तस्माद्यस्मात्साम्नः स्वभूतः स्वरस्तेन स्वेन भूषितं साम अतो यज्ञे स्वरवन्तमुद्गातारं दिदृक्षन्त एव द्रष्टुमिच्छन्त एव धनिनमिव लौकिकाः। प्रसिद्धं हि लोकेऽथो अपि यस्य स्वं धनं भवति तं धनिनं दिदृक्षन्ते इति सिद्धस्य गुणविज्ञानफलसम्बन्धस्य उपसंहारः क्रियते—भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेदेति ॥ २५ ॥

अतः क्योंकि स्वर सामका धन है, इसलिये, उसीसे साम विभूषित होता है। इसीसे लौकिक पुरुष जिस प्रकार धनीको देखना चाहते हैं उसी प्रकार यज्ञमें स्वरसम्पन्न उद्गाताको ही देखनेकी इच्छा करते हैं। लोकमें यह प्रसिद्ध ही है कि जिसके पास स्व—धन होता है, उस धनीको लोग देखना चाहते हैं; इस प्रकार सिद्ध हुए गुणविज्ञानरूप फलके सम्बन्धका 'जो इस प्रकार इस सामके धनको जानता है उसे धन प्राप्त होता है' इस वाक्यद्वारा उपसंहार किया जाता है ॥ २५ ॥

सामके सुवर्णको जाननेका फल

अथान्यो गुणः सुवर्णवत्तालक्षणो विधीयते। असावपि सौस्वर्यमेव। एतावान्विशेषः—

अब सुवर्णवत्तारूप दूसरे गुणका विधान किया जाता है। वह भी सुस्वरता ही है। अन्तर इतना ही

पूर्वं कण्ठगतमाधुर्यमिदं तु लाक्षणिकं सुवर्णशब्दवाच्यम् ।

है कि पहली सुस्वरता कण्ठगत माधुर्य थी और वह सुवर्णशब्दवाच्य माधुर्य लाक्षणिक है।

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

जो उस इस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है। जो इस प्रकार इस सामके सुवर्णको जानता है। उसे सुवर्ण मिलता है ॥ २६ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णम् । सुवर्णशब्दसामान्यात्स्वरसुवर्णयोः लौकिकमेव सुवर्णं गुणविज्ञानफलं भवतीत्यर्थः । तस्य वै स्वर एव सुवर्णम् । भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेदेति पूर्ववत्सर्वम् ॥ २६ ॥

जो उस इस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। स्वर और सुवर्ण इन दोनोंके लिये सुवर्ण शब्दका प्रयोग समानरूपसे होता है, इसलिये उस गुणके विज्ञानका फल 'लौकिक सुवर्ण ही होता है। निश्चय स्वर ही उस (साम) का सुवर्ण है। जो इस प्रकार इस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण मिलता है—इस प्रकार सब अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ २६ ॥

सामके प्रतिष्ठागुणको जाननेवालेका फल

तथा प्रतिष्ठागुणं विधित्सन्नाह—

इसी प्रकार सामके प्रतिष्ठागुणका विधान करनेकी इच्छासे श्रुति कहती है—

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

जो उस इस सामकी प्रतिष्ठाको जानता है वह प्रतिष्ठित होता है। उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है। निश्चय वाणीमें प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है। कोई-कोई यह कहते हैं कि 'वह अन्नमें प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है' ॥ २७ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद। प्रतितिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा वाक्तां प्रतिष्ठां साम्नो गुणं यो वेद स प्रतितिष्ठति ह। "तं यथा यथोपासते" इति श्रुतेस्तद्गुणत्वं युक्तम्।

जो पुरुष उस इस सामकी प्रतिष्ठाको जानता है। जिसमें [साम] प्रतिष्ठित है वह वाक् उसकी प्रतिष्ठा है, उस सामकी गुणभूत प्रतिष्ठाको जो जानता है वह प्रतिष्ठा होता है। "उसे जो जिस प्रकार उपासना करता है [वही हो जाता है]" इस श्रुतिके अनुसार उसका उसी गुणवाला हो जाना उचित ही है।

पूर्ववत्फलेन प्रतिलोभिताय का प्रतिष्ठेति शुश्रूषवे आह—तस्य वै साम्नो वागेव, वागिति जिह्वामूलीयादीनां स्थानानामाख्या, सैव प्रतिष्ठा, तदाह—वाचि हि जिह्वामूलीयादिषु हि यस्मात्प्रति-

फलके द्वारा प्रलोभित हुए तथा 'वह प्रतिष्ठित क्या है' यह सुननेकी इच्छावाले पुरुषसे श्रुति पूर्ववत् कहती है—निश्चय उस सामकी वाक् ही, वाक् यह जिह्वामूलीयादि स्थानोंका नाम है, वही प्रतिष्ठा है। यही बात श्रुति कहती है—क्योंकि वाणी अर्थात् जिह्वामूलीयादि स्थानोंमें प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण

ष्ठितः सन्नेष प्राण एतद्गानं गीयते गीतिभावमापद्यते तस्मात्साम्नः प्रतिष्ठा वाक्। अन्ने प्रतिष्ठितो गीयत इत्यु हैकेऽन्ये आहुः। इह प्रतितिष्ठतीति युक्तम्। अनिन्दितत्वादेकीयपक्षस्य विकल्पेन प्रतिष्ठागुणविज्ञानं कुर्याद् वाग्वा प्रतिष्ठान्नं वेति ॥ २७ ॥

यह गान गाया जाता है अर्थात् गीतिभावको प्राप्त होता है, अतः वाक् सामकी प्रतिष्ठा है। यह अन्न[1] में प्रतिष्ठित हुआ गाया जाता है—ऐसा कोई-कोई—अन्य लोग कहते हैं। अतः यह इसमें प्रतिष्ठित है—ऐसा मानना उचित है। यह अन्य पुरुषोंका मत भी निर्दोष है, इसलिये विकल्पसे प्रतिष्ठागुणविज्ञान करे अर्थात् वाक् प्रतिष्ठा है अथवा अन्न प्रतिष्ठा है—ऐसी दृष्टि करे ॥ २७ ॥

प्राणोपासकके लिये जपका विधान

एवं प्राणविज्ञानवतो जपकर्म विधित्स्यते। यद्विज्ञानवतो जपकर्मण्यधिकारस्तद्विज्ञानमुक्तम्।

इस प्रकार प्राण-विज्ञानवान्‌के लिये जपकर्मका विधान इष्ट है। जिस विज्ञानसे युक्त पुरुषका जपकर्ममें अधिकार है वह विज्ञान कह दिया गया।

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः। स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति। स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै

१. अन्नके परिणामभूत शरीरमें।

तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्ये-वैतदाह । मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहित-मिवास्ति । अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्य-मागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तꣳ स एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्य-ताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

अब आगे पवमानोंका ही अभ्यारोह कहा जाता है। वह प्रस्तोता निश्चय सामका ही प्रस्ताव (आरम्भ) करता है। जिस समय वह प्रस्ताव करे उस समय इन मन्त्रोंको जपे—'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्मामृतं गमय'।[1] वह जिस समय कहता है—'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ' यहाँ मृत्यु ही असत् है और अमृत सत् है। अतः वह यही कहता है कि मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ अर्थात् मुझे अमर कर दो। जब कहता है—'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ' तो यहाँ मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ज्योति है यानी उसका यही कथन है कि मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ अर्थात् मुझे अमर कर दो। मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ—इसमें तो कोई बात छिपी-सी है ही नहीं। इनके पीछे जो अन्य स्तोत्र हैं उनमें अपने लिये अन्नाद्यका आगान करे। उनका गान किये जानेपर यजमान वर माँगे और जिस भोगकी इच्छा हो उसे माँगे। वह यह इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता अपने या यजमानके लिये जिस भोगकी कामना करता है उसीका आगान करता है। वह यह प्राणदर्शन लोकप्राप्तिका साधन है। जो इस प्रकार इस सामको जानता है उसे अलोक्यताकी आशा (प्रार्थना) तो है ही नहीं ॥ २८ ॥

१—'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ', 'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ', 'मुझे मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाओ'।

अथानन्तरं यस्माच्चैवं विदुषा प्रयुज्यमानं देवभावायाभ्यारोहफलं जपकर्म, अतस्तस्मात्तद्विधीयत इह। तस्य चोद्गीथसम्बन्धात्सर्वत्र प्राप्तौ पवमानानामिति वचनात् पवमानेषु त्रिष्वपि कर्तव्यतायां प्राप्तायां पुनः कालसंकोचं करोति—स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति। स प्रस्तोता यत्र यस्मिन्काले साम प्रस्तुयात्प्रारभेत तस्मिन्काल एतानि जपेत्।

इसके पश्चात्, क्योंकि इस प्रकार जाननेवाले उपासकके द्वारा प्रयोग किया हुआ अभ्यारोहफलवाला जपकर्म देवभावकी प्राप्ति करानेवाला है, इसलिये यहाँ उसका विधान किया जाता है। उद्गीथसे सम्बन्ध होनेके कारण उसकी सर्वत्र प्राप्ति होनेपर 'पवमानानाम्' (पवमानोंके) इस वचनसे तीन पवमानोंमें ही उसकी प्राप्ति होती है—ऐसा प्राप्त होनेपर 'स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति' इस वाक्यसे श्रुति उसका पुनः कालसंकोच करती है। अर्थात् जिस समय वह प्रस्तोता सामका प्रस्ताव—प्रारम्भ करे उस कालमें इनका जप करे।

अस्य च जपकर्मण आख्या अभ्यारोह इति। आभिमुख्येनारोहत्यनेन जपकर्मणैवंविद् देवभावात्मानमित्यभ्यारोहः। एतानीति बहुवचनात्त्रीणि यजूंषि। द्वितीयानिर्देशाद् ब्राह्मणोत्पन्न-

इस जपकर्मका 'अभ्यारोह' यह नाम है। इस जपकर्मके द्वारा इस प्रकार प्राणकी उपासना करनेवाला पुरुष अभिमुखतासे अपने देवभावको आरूढ–प्राप्त हो जाता है, इसलिये यह अभ्यारोह है। 'एतानि' यह बहुवचनान्त होनेके कारण ये तीन यजुर्मन्त्र हैं तथा 'एतानि' शब्दमें द्वितीयानिर्देश और इन मन्त्रोंके

-स्वाच्च यथापठित एव स्वरः प्रयोक्तव्यो न मान्त्रः । याजमानं जपकर्म ।

एतानि तानि यजूँषि—'असतो मा सद्गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' 'मृत्योर्मामृतं गमय' इति । मन्त्राणामर्थस्तिरोहितो भवतीति स्वयमेव व्याचष्टे ब्राह्मणं मन्त्रार्थम्—स मन्त्रो यदाह यदुक्तवान्कोऽसावर्थः? इत्युच्यते—'असतो मा सद्गमय' इति मृत्युर्वा असत्—स्वाभाविककर्मविज्ञाने मृत्युरित्युच्येते, असद् अत्यन्ताधोभावहेतुत्वात् । सदमृतम्—सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने अमरणहेतुत्वादमृतम् । तस्मादसतो असत्कर्मणोऽज्ञानाच्च मा मां सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने गमय देवभावसाधनात्मभावमापादयेत्यर्थः ।

ब्राह्मणभागजनित होनेके कारण इनमें इनके पाठके अनुसार ही स्वरका प्रयोग करना चाहिये, मान्त्रस्वरका नहीं ।[1] यह जपकर्म यजमानका है ।

वे यजुर्मन्त्र ये हैं—'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्मामृतं गमय' । मन्त्रोंका अर्थ गूढ़ होता है, इसलिये ब्राह्मण स्वयं ही इन मन्त्रोंके अर्थकी व्याख्या करता है । जिसे वह मन्त्र कहता है, वह अर्थ क्या है ? सो बतलाया जाता है—'असतो मा सद्गमय' इस मन्त्रमें मृत्यु ही असत् है, स्वाभाविक कर्म और विज्ञानको मृत्यु कहते हैं । वह अत्यन्त अधोगतिका हेतु होनेके कारण असत् है । सत् अमृत है, सत् शास्त्रीय कर्म और विज्ञानका नाम है, वह अमरताका हेतु होनेके कारण अमृत है । अतः असत्—असत्कर्म अर्थात् अज्ञानसे मुझे सत्—शास्त्रीय कर्म और विज्ञानको प्राप्त कराओ । अर्थात् देवभावके साधनभूत आत्मभावकी प्राप्ति कराओ । यहाँ श्रुति वाक्यका

१. जहाँ मान्त्रस्वर विवक्षित होता है वह तृतीयासे निर्देश किया जाता है; जैसे—"उच्चैर्ऋचा क्रियते" "उच्चैः साम्ना" "उपांशु यजुषा" इत्यादि वाक्योंमें कहा गया है । परंतु यहाँ 'एतानि' ऐसा द्वितीया विभक्तिका निर्देश है । इसलिये इस स्थानमें जपकर्मकी ही प्रतीति होती है, मान्त्रस्वरकी प्रतीति नहीं होती ।

तत्र वाक्यार्थमाह—अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाहेति ।

तथा तमसो मा ज्योतिर्गमयेति । मृत्युर्वै तमः सर्वं ह्यज्ञानमावरणात्मकत्वात्तमः तदेव च मरणहेतुत्वान्मृत्युः । ज्योतिरमृतं पूर्वोक्तविपरीतं दैवं स्वरूपम् । प्रकाशात्मकत्वाज्ज्ञानं ज्योतिः, तदेवामृतमविनाशात्मकत्वात् । तस्मात्तमसो मा ज्योतिर्गमयेति पूर्ववन्मृत्योर्मामृतं गमयेत्यादि । अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाह—दैवं प्राजापत्यं फलभावमापादयेत्यर्थः ।

पूर्वो मन्त्रोऽसाधनस्वभावात् साधनभावमापादयेति । द्वितीयस्तु साधनभावादपि अज्ञानरूपात् साध्यभावमापादयेति । मृत्योर्मामृतं गमयेति पूर्वयोरेव मन्त्रयोः समुच्चितोऽर्थस्तृतीयेन

फलित अर्थ बतलाती है—'मुझे अमर करो' यही कहता है ।

तथा 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'—इस मन्त्रमें मृत्यु ही तम है; आवरणात्मक होनेके कारण सारा ही अज्ञान तम है और वही मरणका हेतु होनेके कारण मृत्यु है । अमृत ज्योति है; वह पहले बतलाये हुए मृत्युसे विपरीत दैव–देवतासम्बन्धी स्वरूप है । प्रकाशस्वरूप होनेके कारण ज्ञान ही ज्योति है; वही अविनाशात्मक होनेके कारण अमृत है । अतः 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसका अर्थ पूर्ववत् 'मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ' इत्यादि है [उक्त वाक्यद्वारा जप करनेवाला] यही कहता है कि मुझे अमर करो अर्थात् मुझे देवता और प्रजापतिसम्बन्धी फल प्राप्त कराओ ।

इनमें पहला मन्त्र 'मुझे असाधनस्वभावसे साधनस्वभावको प्राप्त करो' ऐसा कहता है । दूसरा मन्त्र 'मुझे अज्ञानरूप साधनभावसे भी साध्य भावको प्राप्त करो' ऐसा कहता है । तथा 'मृत्योर्मामृतं गमय' इस तृतीय मन्त्रद्वारा पहले दोनों मन्त्रोंका ही समुच्चित अर्थ कहा गया है ।

मन्त्रेणोच्यत इति प्रसिद्धार्थतैव । नात्र तृतीये मन्त्रे तिरोहितमन्तर्हितमिवार्थरूपं पूर्वयोरिव मन्त्रयोरस्ति, यथाश्रुत एवार्थः ।

याजमानमुद्गानं कृत्वा पवमानेषु त्रिषु, अथानन्तरं यानीतराणि शिष्टानि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्प्राणविदुद्गाताप्राणभूतः प्राणवदेव । यस्मात्स एव उद्गातैवं प्राणं यथोक्तं वेत्ति, अतः प्राणवदेव तं कामं साधयितुं समर्थः । तस्माद्यजमानस्तेषु स्तोत्रेषु प्रयुज्यमानेषु वरं वृणीत, यं कामं कामयेत तं कामं वरं वृणीत प्रार्थयेत । यस्मात्स एष एवंविदुद्गातेति तस्माच्छब्दात्प्रागेव सम्बध्यते । आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते इच्छत्युद्गाता तमागायत्यागानेन साधयति ।

एवं तावज्ज्ञानकर्मभ्यां प्राणात्मापत्तिरित्युक्तम् । तत्र नास्त्या-

इसलिये इसका अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। पूर्व दोनों मन्त्रोंके समान इस तृतीय मन्त्रमें कोई छिपा हुआ-सा अर्थका रूप नहीं है। इसका अर्थ यथाश्रुत (प्रसिद्धिके अनुसार) ही है।

तीन पवमान स्तोत्रोंमें यजमान-सम्बन्धी उद्गान कर इसके पश्चात् जो अवशिष्ट स्तोत्र हैं उनमें प्राणोपासक उद्गाता प्राणभूत होकर प्राणके ही समान अपने लिये अन्नाद्यका आगान करे; क्योंकि वह उद्गाता इस प्रकार उपर्युक्त प्राणको जानता है, इसलिये प्राणके समान ही वह उस कामनाको सिद्ध करनेमें समर्थ है। अतः उन स्तोत्रोंका प्रयोग किये जानेपर यजमानको वर माँगना चाहिये। उसे जिस भोगकी इच्छा हो उसी भोगका वर माँगे; क्योंकि वह यह इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता अपने या यजमानके लिये जिस भोगकी इच्छा करता है उसीका आगान कर सकता है अर्थात् आगानद्वारा उसे सिद्ध कर लेता है—इस वाक्यका ['तस्माद् तेषु वरं वृणीत' इस वाक्यके] तस्माद् शब्दके पहले अन्वय होगा।

इस प्रकार यहाँतक यह बतलाया गया कि ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयद्वारा प्राणात्मत्वकी प्राप्ति होती है। उसमें किसी आशङ्काकी

शङ्कासम्भवः। अतः कर्मापाये प्राणापत्तिर्भवति वा न वा ? इत्याशङ्क्यते। तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह— तद्धैतल्लोकजिदेवेति। तद्ध तदेतत्प्राणदर्शनं कर्मवियुक्तं केवलमपि, लोकजिदेवेति लोकसाधनमेव। न ह एवालोक्यतायै अलोकार्हत्वाय आशा आशंसनं प्रार्थनं नैवास्ति ह। न हि प्राणात्मनि उत्पन्नात्माभिमानस्य तत्प्राप्त्याशंसनं सम्भवति। न हि ग्रामस्थः कदा ग्रामं प्राप्नुयामित्यरण्यस्थ इवाशास्ते। असन्निकृष्टविषये ह्यनात्मन्याशंसनम्, न तत्स्वात्मनि सम्भवति। तस्मान्नाशास्ति कदाचित्प्राणात्मभावं न प्रपद्येयमिति।

सम्भावना नहीं है। अतः अब यह शङ्का होती है कि कर्मके अभावमें [केवल प्राणविज्ञानद्वारा] प्राणात्मभावकी प्राप्ति होती है या नहीं ? इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिये श्रुति कहती है—'तद्धैतल्लोकजिदेव' अर्थात् वह यह प्राणविज्ञान कर्मसे रहित अकेला होनेपर भी लोकजित्-लोकप्राप्तिका साधन ही है। अलोक्यता अर्थात् लोकप्राप्तिकी अयोग्यताके लिये तो आशा—आशंसन अर्थात् प्रार्थना होती ही नहीं है। जिसे प्राणात्मामें आत्मत्वका अभिमान उत्पन्न हो गया है उसे उसकी प्राप्तिकी आशा होना सम्भव नहीं है; क्योंकि जो पुरुष गाँवमें मौजूद है वह वनस्थ पुरुषके समान 'मैं कब गाँवमें पहुँचूँगा'—ऐसी आशा नहीं करता। अपनेसे दूर रहनेवाली अनात्मवस्तुके लिये ही ऐसी आशा हो सकती है, अपने आत्माके लिये उसका होना सम्भव नहीं है। अतः वह 'कदाचित् मैं प्राणात्मभावको प्राप्त न होऊँ' ऐसी आशंसा नहीं करता।

कस्यैतत् ? य एवमेतत्साम प्राणं यथोक्तं निर्धारितमहिमानं

यह फल किसे प्राप्त होता है ? जो इस प्रकार इस सामको अर्थात् ऊपर निश्चित हुई महिमावाले यथोक्त प्राणको

वेद—अहमस्मि प्राण इन्द्रियविषयासङ्गैरासुरैः पाप्मभिरधर्षणीयो विशुद्धः, वागादिपञ्चकं च मदाश्रयत्वादग्न्याद्यात्मरूपं स्वाभाविकविज्ञानोत्थेन्द्रियविषयासङ्गजनितासुरपाप्मदोषविमुक्तं सर्वभूतेषु च मदाश्रयान्नाद्योपयोगबन्धनम्, आत्मा चाहं सर्वभूतानामाङ्गिरसत्वात्, ऋग्यजुःसामोद्गीथभूतायाश्च वाच आत्मा तद्व्याप्तेस्तन्निर्वर्तकत्वाच्च, मम साम्नो गीतिभावमापद्यमानस्य बाह्यं धनं भूषणं सौस्वर्यं ततोऽप्यान्तरं सौवर्ण्यं लाक्षणिकं सौस्वर्यम्, गीतिभावमापद्यमानस्य मम कण्ठादिस्थानानि प्रतिष्ठा। एवंगुणोऽहं पुत्तिकादिशरीरेषु कार्त्स्न्येन परिसमाप्तोऽमूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्च—इति आ एवमभिमानाभिव्यक्तेर्वेदोपास्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥

जानता है। 'मैं इन्द्रियोंके विषयोंकी आसक्तिरूप आसुर पापोंसे अधर्षणीय विशुद्ध प्राण हूँ। वागादि पाँच प्राण मेरे आश्रित होनेके कारण स्वाभाविक विज्ञानजनित इन्द्रिय-विषयासक्तिसे होनेवाले आसुर पापरूप दोषसे रहित अग्न्यादि देवतास्वरूप और समस्त भूतोंमें मेरे आश्रयसे अन्नाद्यके उपयोगके हेतु हैं। आङ्गिरस होनेके कारण मैं समस्त भूतोंका आत्मा हूँ। ऋक्, यजुः, साम और उद्गीथरूपा वाणीका, उसमें व्याप्त और उसका निर्वर्तक होनेके कारण मैं आत्मा हूँ। गीतिभावको प्राप्त हुए मुझ सामका सुस्वरता बाह्य धन यानी भूषण है और लाक्षणिक सुस्वरतारूप सुवर्णता उसकी अपेक्षा आन्तर धन है। गीतिभावको प्राप्त हुए मेरी कण्ठादि स्थान प्रतिष्ठा हैं। ऐसे गुणोंवाला मैं अमूर्त्त और सर्वगत होनेके कारण पुत्तिकादि शरीरोंमें पूर्णतया व्याप्त हूँ'—इस प्रकारका अभिमान उत्पन्न होनेतक जो प्राणको जानता अर्थात् उसकी उपासना करता है [उसे उपर्युक्त फल मिलता है] ॥ २८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये तृतीयमुद्गीथब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

ग्रन्थ-सम्बन्ध

ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां प्रजापतित्वप्राप्तिर्व्याख्याता केवलप्राणदर्शनेन च 'तद्धैतल्लोकजिदेव' इत्यादिना। प्रजापतेः फलभूतस्य सृष्टिस्थितिसंहारेषु जगतः स्वातन्त्र्यादिविभूत्युपवर्णनेन ज्ञानकर्मणोर्वैदिकयोः फलोत्कर्षो वर्णयितव्य इत्येवमर्थमारभ्यते। तेन च कर्मकाण्डविहितज्ञानकर्मस्तुतिः कृता भवेत्सामर्थ्यात्।

विवक्षितं त्वेतत्—सर्वमप्येतज्ज्ञानकर्मफलं संसार एव, भयारत्यादियुक्तत्वश्रवणात्, कार्यकरणलक्षणत्वाच्च स्थूलव्यक्तानित्यविषयत्वाच्चेति। ब्रह्मविद्यायाः केवलाया वक्ष्यमाणाया मोक्षहेतु-

[तृतीय ब्राह्मणमें] समुच्चित ज्ञान और कर्मसे तथा 'तद्धैतल्लोकजिदेव' इत्यादि वाक्यद्वारा केवल प्राणविज्ञानसे भी प्रजापतित्वकी प्राप्तिका व्याख्यान किया गया। अब उनके फलभूत प्रजापतिकी, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारमें, स्वतन्त्रतारूप विभूतिका वर्णन करके वैदिक ज्ञान और कर्मके फलोत्कर्षका वर्णन करना है, इसीलिये इस ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है। उस (फलोत्कर्षके वर्णन) से ही उसकी सामर्थ्यके कारण, कर्मकाण्डविहित ज्ञान और कर्मकी स्तुति हो जायगी।

कहना तो यह है कि यह ज्ञान और कर्मका सभी फल संसार ही है, क्योंकि इसका भय और अरति आदिसे युक्त होना सुना गया है, इसके अतिरिक्त यह कार्य-करणरूप है तथा स्थूल, व्यक्त और अनित्यको विषय करनेवाला है। तथा अब कही जानेवाली केवल ब्रह्मविद्या मोक्षकी हेतु है—इस आगामी

त्वमित्युत्तरार्थं चेति। न हि संसारविषयात्साध्यसाधनादिभेदलक्षणाद् अविरक्तस्य आत्मैकत्वज्ञानविषयेऽधिकारः, अतृपितस्येव पाने। तस्माज्ज्ञानकर्मफलोत्कर्षोपवर्णनमुत्तरार्थम्। तथा च वक्ष्यति—"तदेतत्पदनीयमस्य" (बृ० उ० १।४।७) "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्" (बृ० उ० १।४।८) इत्यादि।

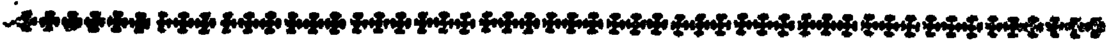
विषयका प्रदर्शन करनेके लिये भी यह कथन है। जिस प्रकार तृषाहीनकी जल पीनेमें प्रवृत्ति नहीं होती उसी प्रकार जो साध्यसाधनादि भेदरूप सांसारिक विषयसे विरक्त नहीं है उसका आत्माके एकत्वज्ञानरूप विषयमें अधिकार नहीं है। अतः ज्ञान और कर्मके फलोत्कर्षका वर्णन आगेके विषय (ब्रह्मविद्या) के लिये है। ऐसा ही श्रुति कहेगी भी—"यह इसका प्राप्तव्य है", "यह पुत्रसे अधिक प्रिय है" इत्यादि।

प्रजापतिके अहंनामा होनेका कारण और उसकी इस प्रकार उपासना करनेका फल

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने आलोचना करनेपर अपनेसे भिन्न और कोई न देखा। उसने आरम्भमें 'अहमस्मि'[1] ऐसा कहा, इसलिये वह 'अहम्' नामवाला हुआ। इसीसे अब भी पुकारे जानेपर पहले 'अयमहम्'[2] ऐसा ही कहकर उसके पश्चात् अपना जो दूसरा नाम

१. मैं हूँ। २. यह मैं हूँ।



होता है वह बतलाता है; क्योंकि इस सबसे पूर्ववर्ती उस [आत्मासंज्ञक प्रजापति] ने समस्त पापोंको उषित—दग्ध कर दिया था इसलिये यह पुरुष हुआ। जो ऐसी उपासना करता है वह उसे दग्ध कर देता है जो उससे पहले प्रजापति होना चाहता है ॥ १ ॥

आत्मैवात्मेति प्रजापतिः प्रथमोऽण्डजः शरीर्यभिधीयते। वैदिकज्ञानकर्मफलभूतः स एव। किम्? इदं शरीरभेदजातं तेन प्रजापतिशरीरेणाविभक्तम्। आत्मैवासीदग्रे प्राक्शरीरान्तरोत्पत्तेः। स च पुरुषविधः पुरुषप्रकारः शिरःपाण्यादिलक्षणो विराट्।

'आत्मैव'—यहाँ 'आत्मा' इस शब्दसे अण्डेसे उत्पन्न हुआ प्रथम शरीरी प्रजापति ही कहा जाता है। वही वैदिक ज्ञान और कर्मका फलभूत है। ऐसा क्यों है? क्योंकि यह शरीरादि भेदसमुदाय उस प्रजापतिके शरीरसे अभिन्न है। कारण, शरीरान्तरकी उत्पत्तिसे पूर्व आत्मा ही था। वह पुरुषविध—पुरुषकी तरह शिर एवं हाथ-पैर आदि लक्षणवाला विराट् पुरुष था।

स एव प्रथमः सम्भूतोऽनुवीक्ष्यान्वालोचनं कृत्वा, कोऽहं किंलक्षणो वास्मीति, नान्यद्वस्त्वन्तरम् आत्मनः प्राणपिण्डात्मकार्यकरणरूपान्न अपश्यन्न ददर्श। केवलं त्वात्मानमेव सर्वात्मानमपश्यत्। तथा पूर्वजन्मश्रौतविज्ञानसंस्कृतः, सोऽहं प्रजापतिः सर्वात्माहमस्मीत्यग्रे व्याहरद्व्याहृतवान्। ततस्तस्माद्यतः पूर्वज्ञानसंस्काराद् आत्मानमेवाहमित्यभ्यधादग्रे

प्रथम उत्पन्न हुए उस प्रजापतिने अन्वीक्ष्य—अन्वालोचन कर 'मैं कौन हूँ और कैसे लक्षणोंवाला हूँ' इत्यादि रूपसे विचारकर अपने प्राण-समुदायरूप देहेन्द्रियसंघातसे भिन्न कोई और पदार्थ नहीं देखा। केवल अपनेको ही सर्वात्मरूपसे देखा तथा पूर्वजन्मके 'वह मैं सर्वात्मा प्रजापति हूँ' इस श्रौतविज्ञानजनित संस्कारसे युक्त होनेके कारण सबसे पहले "अहमस्मि" ऐसा कहा। इसीसे, क्योंकि पूर्वज्ञानके संस्कारसे उसने आरम्भमें अपनेको 'अहम्' ऐसा

तस्मादहंनामाभवत् । तस्योपनिषदहमिति श्रुतिप्रदर्शितमेव नाम वक्ष्यति ।

तस्माद्यस्मात्कारणे प्रजापतावेवं वृत्तं तस्मात्, तत्कार्यभूतेषु प्राणिषु एतर्ह्येतस्मिन्नपि काल आमन्त्रितः कस्त्वमित्युक्तः सन्नहमयमित्येवाग्र उक्त्वा कारणात्माभिधानेन आत्मानमभिधायाग्रे पुनर्विशेषनामजिज्ञासवेऽथानन्तरं विशेषपिण्डाभिधानं देवदत्तो यज्ञदत्तो वेति प्रब्रूते कथयति यन्नामास्य विशेषपिण्डस्य मातापितृकृतं भवति तत्कथयति ।

स च प्रजापतिरतिक्रान्तजन्मनि सम्यक्कर्मज्ञानभावनानुष्ठानैः साधकावस्थायां यद्यस्मात्कर्मज्ञानभावनानुष्ठानैः प्रजापतित्वं प्रतिपित्सूनां पूर्वः प्रथमः सन् अस्मात्प्रजापतित्वप्रतिपित्सुसमुदायात्सर्वस्माद् आदौ औषद-

कहा था, इसलिये वह अहंनामवाला हुआ। उसका श्रुतिप्रदर्शित ही 'अहम्' यह नाम उपनिषद् आगे बतावेगी ।

इसीसे, क्योंकि कारणरूप प्रजापतिमें यह वृत्तान्त घटित हुआ इसीलिये एतर्हि—इस समय भी उसके कार्यभूत जीवोंमें जब किसीको 'तू कौन है' ऐसा कहकर पुकारा जाता है तो पहले 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अपनेको कारणरूप नामसे बतलाकर फिर जो विशेष नामको जानना चाहता है उसे अपने विशेष शरीरका 'देवदत्त' या 'यज्ञदत्त' ऐसा कोई नाम बतलाता है अर्थात् जो नाम इसके विशेष पिण्डके माता-पिताका रखा हुआ होता है, उसे बतलाता है ।

उस प्रजापतिने अपने पूर्वजन्ममें साधकावस्थामें सम्यक् कर्म और ज्ञानकी भावनाके अनुष्ठानोंद्वारा, इस कर्म और ज्ञानकी भावनाके अनुष्ठानोंसे प्रजापतित्वकी प्राप्तिकी इच्छावालोंसे पूर्ववर्ती अर्थात् पहला होनेके कारण, इस प्रजापतित्वप्राप्तिकी इच्छावाले सम्पूर्ण समुदायसे पूर्व

दहत्। किम्? आसङ्गाज्ञानलक्षणान्सर्वान्पाप्मनः प्रजापतित्वप्रतिबन्धकारणभूतान्। यस्मादेवं तस्मात्पुरुषः, पूर्वमौषदिति पुरुषः।

उषन--दग्ध कर दिया था; किसे?--प्रजापतित्वके प्रतिबन्धक कारणरूप अभिनिवेश और अज्ञानादि सम्पूर्ण पापोंको। क्योंकि ऐसा हुआ, इसलिये यह 'पुरुष' हुआ। पूर्वमें ओषण किया, इसलिये 'पुरुष' कहलाया।

यथायं प्रजापतिरोषित्वा प्रतिबन्धकान्पाप्मनः सर्वान्पुरुषः प्रजापतिरभवत्, एवमन्योऽपि ज्ञानकर्मभावनानुष्ठानवह्निना केवलं ज्ञानबलाद्वौषति भस्मीकरोति ह वै स तम्; कम्? योऽस्माद्विदुषः पूर्वः प्रथमः प्रजापतिर्बुभूषति भवितुमिच्छति तमित्यर्थः। तं दर्शयति य एवं वेदेति। सामर्थ्याज्ज्ञानभावनाप्रकर्षवान्।

जिस प्रकार यह प्रजापति सम्पूर्ण प्रतिबन्धक पापोंका ओषण करके पुरुषरूप प्रजापति हुआ उसी प्रकार दूसरा भी ज्ञान और कर्मकी भावनाके अनुष्ठानरूप अग्निसे अथवा केवल ज्ञानबलसे उसका ओषण करता है--उसे भस्म कर देता है, किसे? जो इस विद्वान्से पहले प्रजापति होना चाहता है उसको--ऐसा इसका तात्पर्य है। उस (विद्वान्) को श्रुति दिखलाती है--जो इस प्रकार जानता (उपासना करता) है। उसकी सामर्थ्यसे जाना जाता है कि वह ज्ञानभावनामें बढ़ा-चढ़ा होता है।

नन्वनर्थाय प्राजापत्यप्रतिपिप्सा, एवंविदा चेद्दह्यते।

शङ्का--यदि वह इस प्रकार उपासना करनेवालेसे दग्ध कर दिया जाता है तब तो प्रजापतित्वप्राप्तिकी इच्छा अनर्थकी ही हेतु है।

नैष दोषः, ज्ञानभावनोत्कर्षाभावात्प्रथमं प्रजापतित्वप्रतिपत्त्यभावमात्रत्वाद्दाहस्य। उत्कृष्ट-

समाधान--यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि ज्ञानभावनाके उत्कर्षका अभाव होनेके कारण पहले प्रजापतित्व प्राप्त न कर सकना ही उसका

साधनः प्रथमं प्रजापतित्वं प्राप्नुवन् न्यूनसाधनो न प्राप्नोतीति, स तं दहतीत्युच्यते । न पुनः प्रत्यक्षमुत्कृष्टसाधनेन इतरो दह्यते । यथा लोके आजिसृतां यः प्रथममाजिमुपसर्पति तेनेतरे दग्धा इवापहृतसामर्थ्या भवन्ति तद्वत् ॥ १ ॥

दाह है। तात्पर्य यह है कि जो उत्कृष्ट साधनवाला होता है वह पहले प्रजापतित्व प्राप्त करता है और न्यून साधनवाला प्राप्त नहीं करता; अतः वह उसे भस्म कर देता है—ऐसा कहा गया है। उत्कृष्ट साधनवाला अपनेसे भिन्न—न्यून साधनवालेको साक्षात् जला ही डालता हो—ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार लोकमें किसी मर्यादातक दौड़कर जानेवालोंमें जो पहले मर्यादापर पहुँचता है उसके द्वारा दूसरे लोग दग्ध-से होकर अपहृतसामर्थ्य—हतोत्साह हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ॥ १ ॥

प्रजापतिका भय और विचारद्वारा उसकी निवृत्ति

यदिदं तुष्टूषितं कर्मकाण्डविहितज्ञानकर्मफलं प्राजापत्यलक्षणं नैव तत्संसारविषयमत्यक्रामदितीममर्थं प्रदर्शयिष्यन्नाह—

यहाँ जिस प्रजापतित्वरूप कर्मकाण्डविहित ज्ञान और कर्मके फलकी स्तुति करनी अभीष्ट है वह सांसारिक विषयसे बाहर नहीं है—इस बातको दिखानेके लिये श्रुति कहती है—

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

वह भयभीत हो गया। इसीसे अकेला पुरुष भय मानता है। उसने यह विचार किया 'यदि मेरे सिवा कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता

हूँ ?' तभी उसका भय निवृत्त हो गया। किंतु उसे भय क्यों हुआ ? क्योंकि भय तो दूसरेसे ही होता है ॥ २ ॥

सोऽबिभेत्स प्रजापतिर्योऽयं प्रथमः शरीरी पुरुषविधो व्याख्यातः। सोऽबिभेद्भीतवानस्मदादिवदेवेत्याह। यस्मादयं पुरुषविधः शरीरकरणवान् आत्मनाशविपरीतदर्शनवत्त्वाद् अबिभेत्, तस्मात्तत्सामान्यादद्यत्वेऽप्येकाकी बिभेति। किञ्चास्मदादिवदेव भयहेतुविपरीतदर्शनापनोदकारणं यथाभूतात्मदर्शनम्। सोऽयं प्रजापतिरीक्षामीक्षणं चक्रे कृतवान् ह। कथम् ? इत्याह—यद्यस्मान्मत्तोऽन्यदात्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरं प्रतिद्वन्द्वीभूतं नास्ति, तस्मिन्नात्मविनाशहेत्वभावे कस्मान्नु बिभेमीति। तत एव यथाभूतात्मदर्शनादस्य प्रजापतेर्भयं वीयाय विस्पष्टमपगतवत्।

वह भयभीत हो गया। अर्थात् वह प्रजापति, जिसकी पुरुषाकार प्रथम शरीरीके रूपमें व्याख्या की गयी है, हमारे समान ही भयभीत हो गया—ऐसा श्रुति कहती है। क्योंकि यह पुरुषविध शरीरेन्द्रियवान् प्रजापति आत्मनाशरूप विपरीत ज्ञानवाला होनेके कारण डर गया था, इसलिये उससे समानता होनेके कारण आज भी अकेला होनेपर पुरुष डरता है। इसके सिवा हमारे समान ही प्रजापतिके भी भयके हेतुभूत विपरीत ज्ञानकी निवृत्तिका कारण यथार्थ आत्मज्ञान ही हुआ। उस इस प्रजापतिने ईक्षा—ईक्षण (विचार) किया। किस प्रकार विचार किया ? सो श्रुति बतलाती है—यदि इस मेरेसे भिन्न अर्थात् आत्माके सिवा इसका प्रतिद्वन्द्वी कोई और पदार्थ नहीं है, तो उस आत्मनाशके कारणके अभावमें मैं किससे डरता हूँ ? उसीसे यानी उस यथार्थ आत्मदर्शनसे ही इस प्रजापतिका भय विगत—विस्पष्टतया निवृत्त हो गया।

तस्य प्रजापतेर्यद्भयं तत्केवलाविद्यानिमित्तमेव परमार्थदर्शनेऽनुपपन्नमित्याह—कस्माद्ध्यभेष्यत् किमित्यसौ भीतवान्परमार्थनिरूपणायां भयमनुपपन्नमेवेत्यभिप्रायः। यस्माद् द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं भवति। द्वितीयं च वस्त्वन्तरमविद्याप्रत्युपस्थापितमेव; न ह्यदृश्यमानं द्वितीयं भयजन्मनो हेतुः "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० ७) इति मन्त्रवर्णात्। यच्चैकत्वदर्शनेन भयमपनुनोद तद्युक्तम्। कस्मात्? द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं भवति, तदेकत्वदर्शनेन द्वितीयदर्शनमपनीतमिति नास्ति यतः।

उस प्रजापतिको जो भय था वह केवल अविद्याके ही कारण था, परमार्थज्ञान होनेपर उसका होना असम्भव था, यही बात श्रुति कहती है—'वह क्यों डरा?'—इसका क्या कारण है कि उसे भय हुआ? तात्पर्य यह है कि परमार्थतः विचार किया जाय तो उसे भय होना अयुक्त ही है; क्योंकि भय तो दूसरेसे ही होता है। और [आत्मासे भिन्न] दूसरी वस्तु तो अविद्याद्वारा प्रस्तुत की हुई ही है; क्योंकि न दीखनेवाली कोई दूसरी वस्तु भयकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकती; जैसा कि "उस अवस्थामें निरन्तर एकत्वदर्शन करनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है?" इस मन्त्रसे सिद्ध होता है।[1] प्रजापतिने जो एकत्वदर्शनके द्वारा अपने भयको निवृत्त किया सो उचित ही है। क्यों उचित है? क्योंकि द्वितीय यानी अन्य वस्तुसे ही भय होता है। वह द्वितीयदर्शन आत्माके एकत्वदर्शनसे निवृत्त हो गया; क्योंकि वास्तवमें द्वितीय है नहीं।

१. यदि कोई कहे कि प्रजापतिका भय विराट् पुरुषके साथ एकत्वज्ञानसे ही निवृत्त हुआ था, अद्वैतदृष्टिके कारण नहीं—तो इसका उत्तर श्रुति आगेके वाक्यसे देती है।

अत्र चोदयन्ति—कुतः प्रजापतेरेकत्वदर्शनं जातम् ? को वास्मै उपदिदेश ? अथानुपदिष्टमेव प्रादुरभूत्, अस्मदादेरपि तथा प्रसङ्गः। अथ जन्मान्तरकृतसंस्कारहेतुकम्, एकत्वदर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः। यथा प्रजापतेरतिक्रान्तजन्मावस्थस्य एकत्वदर्शनं विद्यमानमप्यविद्याबन्धकारणं नापनिन्ये, यतः अविद्यासंयुक्त एवायं जातोऽबिभेत्, एवं सर्वेषामेकत्वदर्शनानर्थक्यं प्राप्नोति। अन्त्यमेव निवर्तकमिति चेन्न, पूर्ववत्पुनः प्रसङ्गेनानैकान्त्यात्। तस्मादनर्थकमेवैकत्वदर्शनमिति।

नैष दोषः, उत्कृष्टहेतूद्भवत्वाल्लोकवत्। यथा पुण्यकर्मो-

यहाँ यह शङ्का करते हैं कि प्रजापतिको किससे एकत्वज्ञान हुआ ? उसे किसने उपदेश किया था ? अथवा विना उपदेशके ही उसका प्रादुर्भाव हो गया, तब तो हमारे लिये भी वैसा ही प्रसङ्ग हो सकता है। यदि उसे जन्मान्तरकृत संस्कारसे होनेवाला माना जाय तो एकत्वदर्शनकी व्यर्थताका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अर्थात् जिस प्रकार अपने पूर्वजन्ममें स्थित प्रजापतिके एकत्वदर्शनने विद्यमान रहनेपर भी अविद्यारूप बन्धनके कारणकी निवृत्ति नहीं की—क्योंकि अविद्यासंयुक्त उत्पन्न होनेके कारण ही उसे भय हुआ था—इसी प्रकार सभीके एकत्वदर्शनकी व्यर्थता प्राप्त होती है। यदि कहो कि सबके अन्तमें होनेवाला एकत्वज्ञान ही अविद्याकी निवृत्ति करनेवाला होता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि पूर्ववत् पुनः प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर उसका अव्यभिचारित्व नहीं रह सकेगा अतः एकत्वदर्शन व्यर्थ ही है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि व्यवहारमें अन्य लोगोंके समान प्रजापतिका जन्म उत्कृष्ट हेतुसे हुआ है। जिस प्रकार पुण्य-

-द्भवैर्विविक्तैः कार्यकरणैः संयुक्ते जन्मनि सति प्रज्ञामेधास्मृतिवैशारद्यं दृष्टम् , तथा प्रजापतेः धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यविपरीतहेतुसर्वपाप्मदाहात् विशुद्धैः कार्यकरणैः संयुक्तमुत्कृष्टं जन्म, तदुद्भवं चानुपदिष्टमेव युक्तमेकत्वदर्शनं प्रजापतेः। तथा च स्मृतिः—"ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥" इति।

कर्मोंसे प्राप्त हुए पवित्र देह और इन्द्रियोंसे युक्त जन्म होनेपर बुद्धि, मेधाशक्ति और स्मृतिकी विशदता देखी जाती है उसी प्रकार धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यके विपरीत अधर्मादिके कारण होनेवाले समस्त पापोंका दाह हो जानेसे प्रजापतिका विशुद्ध देह और इन्द्रियोंसे युक्त उत्कृष्ट जन्म है, उससे होनेवाला प्रजापतिका एकत्वदर्शन भी बिना उपदेश किया हुआ ही है ऐसा मानना युक्तिसङ्गत ही है। ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—"जिस जगत्पतिका निरंकुश ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म—ये चारों सहसिद्ध (जन्मसिद्ध) हैं" इत्यादि।

सहसिद्धत्वे भयानुपपत्तिरिति चेत्। न ह्यादित्येन सह तम उदेति।

शङ्का—किंतु इनके सहसिद्ध होनेपर उसे भय होना अनुपपन्न है, सूर्यके साथ अन्धकारका उदय नहीं हो सकता।

न, अन्यानुपदिष्टार्थत्वात्सहसिद्धवाक्यस्य।

समाधान—ऐसा मत कहो; क्योंकि इस सहसिद्धवाक्यका तात्पर्य उसके ज्ञानको इसके द्वारा अनुपदिष्ट बतलानेमें है।

श्रद्धातात्पर्यप्रणिपातादीनाम् अहेतुत्वमिति चेत् स्यान्मतम् "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः

शङ्का—यदि ऐसा माना जायगा तो श्रद्धा, तत्परता एवं प्रणिपातादिकी ज्ञानोत्पत्तिमें अहेतुता प्राप्त होगी। अर्थात्—यदि प्रजापतिके समान

संयतेन्द्रियः" (गीता ४।३९) "तद्विद्धि प्रणिपातेन" (गीता ४ । ३४) इत्येवमादीनां श्रुतिस्मृतिविहितानां ज्ञानहेतूनामहेतुत्वम्, प्रजापतिरिव जन्मान्तरकृतधर्महेतुत्वे ज्ञानस्येति चेत् ?

न; निमित्तविकल्पसमुच्चयगुणवदगुणवत्त्वभेदोपपत्तेः। लोके हि नैमित्तिकानां कार्याणां निमित्तभेदोऽनेकधा विकल्प्यते। तथा निमित्तसमुच्चयः। तेषां च विकल्पितानां समुच्चितानां च पुनर्गुणवदगुणवत्त्वकृतो भेदो भवति। तद्यथा-रूपज्ञान एव तावन्नैमित्तिके कार्ये-तमसि विनालोकेन चक्षूरूपसन्निकर्षो नक्तञ्चराणां रूपज्ञाने निमित्तं भवति। मन एव केवलं रूपज्ञाननिमित्तं योगिनाम्। अस्माकं तु सन्निकर्षालोकाभ्यां सह तथादित्यचन्द्राद्यालोकभेदैः समुच्चिता निमित्तभेदा भवन्ति।

जन्मान्तरकृत धर्म ही ज्ञानका हेतु होगा तो "जितेन्द्रिय एवं तत्पर श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानलाभ करता है" "उस ज्ञानको प्रणिपात करके जानो" इत्यादि प्रकारके श्रुति-स्मृतिवाक्योंद्वारा विहित ज्ञानके हेतुओंकी अहेतुता प्राप्त होगी।

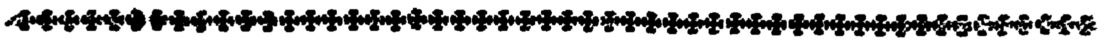
समाधान—ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि निमित्तोंके विकल्प, समुच्चय, गुणवत्त्व, अगुणवत्त्व—ऐसे भेद हो सकते हैं। लोकमें निमित्तसे होनेवाले कार्योंके निमित्तका भेद अनेक प्रकारसे विकल्पित किया जाता है। इसी प्रकार निमित्तका समुच्चय भी अनेक प्रकारसे होता है। उन विकल्पित और समुच्चित हेतुओंका भी गुणवत्त्व और अगुणवत्त्वके कारण भेद होता है। सो इस प्रकार है—पहले नैमित्तिक कार्यभूत रूपज्ञानमें ही [निमित्त-भेद यों है—]. निशाचरोंको बिना प्रकाशके अन्धकारमें ही होनेवाला नेत्र और रूपका संनिकर्ष रूपज्ञानमें कारण होता है, योगियोंका मन ही रूपज्ञानमें हेतु है तथा हमें चक्षुःसंनिकर्ष और प्रकाश दोनोंके होनेपर रूपज्ञान होता है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्र आदि प्रकाशोंके भेदसे भिन्न-भिन्न

तथा आलोकविशेषगुणवद्गुणवत्त्वेन भेदाः स्युः ।

एवमेव आत्मैकत्वज्ञानेऽपि क्वचिज्जन्मान्तरकृतं कर्म निमित्तं भवति, यथा प्रजापतेः । क्वचित्तपो निमित्तम्, "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै० उ० ३।२।१) इति श्रुतेः । क्वचित् "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० उ० ६।१४।२) "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" (गीता ४।३९) "तद्विद्धि प्रणिपातेन" (गीता ४।३४) "आचार्याद्धैव" (छा० उ० ४।९।३) "द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" (बृ० उ० २।४।५) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्य एकान्तज्ञानलाभनिमित्तत्वं श्रद्धाप्रभृतीनाम् अधर्मादिनिमित्तवियोगहेतुत्वात् । वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनानां च साक्षाज्ज्ञेयविषयत्वात् । पापादिप्रतिबन्धक्षये चात्ममनसोर्भूतार्थज्ञाननिमित्तस्वाभाव्यात् । तस्मादहेतुत्वं न जातु ज्ञानस्य श्रद्धाप्रणिपातादीनामिति ॥ २ ॥

निमित्तोंका समुच्चय होता है तथा प्रकाशविशेषोंके गुणवान् या गुणहीन होनेसे भी निमित्तोंके भेद हो जाते हैं ।

इसी प्रकार आत्मैकत्वज्ञानमें भी कहीं जन्मान्तरकृत कर्म निमित्त होता है, जैसा कि प्रजापतिका; कहीं तप निमित्त है, जैसा कि "तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करो" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है और कहीं "आचार्यवान् पुरुषको ज्ञान होता है", "श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानलाभ करता है", "उसे प्रणिपात करके जानो", "आचार्यके द्वारा ही [विद्या स्थिरताको प्राप्त होती है]" एवं "यह आत्मा द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंके अनुसार श्रद्धाप्रभृति, अधर्मादिके हेतुओंकी निवृत्तिके कारण होनेसे ज्ञानलाभके नियत निमित्त हैं। वेदान्तके श्रवण, मनन और निदिध्यासन तो साक्षात् ज्ञेय वस्तु (ब्रह्म) को ही विषय करनेवाले हैं तथा पापादि प्रतिबन्धका क्षय होनेपर आत्मा और मनका भी परमार्थज्ञानमें निमित्त होना स्वाभाविक है; इसलिये श्रद्धा और प्रणिपातादिका ज्ञानकी उत्पत्तिमें अहेतुत्व कभी नहीं हो सकता ॥ २ ॥



प्रजापतिसे मिथुनकी उत्पत्ति

इतश्च संसारविषय एव प्रजापतित्वम्, यतः ।

प्रजापतित्व इसलिये भी संसारका ही विषय है, क्योंकि—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥ ३ ॥

वह रममाण नहीं हुआ । इसीसे एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता । उसने दूसरेकी इच्छा की । वह जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं वैसे ही परिमाणवाला हो गया । उसने इस अपने देहको ही दो भागोंमें विभक्त कर डाला । उससे पति और पत्नी हुए । इसलिये यह शरीर अर्द्धबृगल (द्विदल अन्नके एक दल) के समान है—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा । इसलिये यह [पुरुषार्द्ध] आकाश स्त्रीसे पूर्ण होता है । वह उस (स्त्री) से संयुक्त हुआ; उसीसे मनुष्य उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥

स प्रजापतिर्वै नैव रेमे रतिं नान्वभवत्, अरत्याविष्टोऽभूदित्यर्थः, अस्मदादिवदेव यतः, इदानीमपि तस्मादेकाकित्वादिधर्मवत्त्वादेकाकी न रमते रतिं नानुभवति । रतिर्नामेष्टार्थसंयोगजा

वह प्रजापति रममाण नहीं हुआ—उसने रतिका अनुभव नहीं किया अर्थात् वह हमारे ही समान अरतिसे भर गया । क्योंकि ऐसा हुआ इसलिये इस समय भी एकाकित्वादि धर्मवान् होनेसे पुरुष अकेलेमें नहीं रमता—रतिका अनुभव नहीं करता । इष्टविषयके संयोगसे

क्रीडा, तत्प्रसङ्गिन इष्टवियोगान्मनस्याकुलीभावोऽरतिरित्युच्यते ।

स तस्या अरतेरपनोदाय द्वितीयम् अरत्यपघातसमर्थं स्त्रीवस्त्वैच्छद्गृद्धिमकरोत् । तस्य चैवं स्त्रीविषयं गृध्यतः स्त्रिया परिष्वक्तस्येवात्मनो भावो बभूव । स तेन सत्येप्सुत्वाद् एतावानेतत्परिमाण आस बभूव ह ।

किंपरिमाणः ? इत्याह—यथा लोके स्त्रीपुमांसौ अरत्यपनोदाय सम्परिष्वक्तौ यत्परिमाणौ स्यातां तथा तत्परिमाणौ बभूवेत्यर्थः । स तथा तत्परिमाणमेव इममात्मानं द्वेधा द्विप्रकारमपातयत्पातितवान् इममेवेत्यवधारणं मूलकारणाद्विराजो विशेषणार्थम् । न क्षीरस्य सर्वोपमर्देन दधिभावापत्तिवद्विराट् सर्वोपमर्देनैतावानासः किं

होनेवाली क्रीडाका नाम रति है, उसमें आसक्त पुरुषके मनसे इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर जो व्याकुलता होती है उसे अरति कहते हैं ।

उस अरतिकी निवृत्तिके लिये उसने अरतिका नाश करनेमें समर्थ दूसरी वस्तु—स्त्रीकी इच्छा यानी अभिलाषा की । इस प्रकार स्त्री-विषयक इच्छा करनेपर उसे अपने देहका स्त्रीसे आलिङ्गित हुएके समान भाव हो गया । सत्यसंकल्प होनेके कारण वह उस भावसे इतना अर्थात् ऐसे ही परिमाणवाला हो गया ।

किस परिमाणवाला हो गया ? सो श्रुति बतलाती है—जिस प्रकार लोकमें स्त्री और पुरुष अरतिकी निवृत्तिके लिये परस्पर आलिङ्गित होते हैं, वे जिस परिमाणवाले होते हैं उसी परिमाणवाला वह हो गया—ऐसा इसका तात्पर्य है । उसने वैसे—उस परिमाणवाले अपने इस देहको ही द्वेधा—दो प्रकारसे पतित किया । 'इमम् एव' (इस देहको ही) इस प्रकार निश्चय करना मूल कारणसे विराट्की विशेषता बतलानेके लिये है । दूधके सारे स्वरूपका नाश करके होनेवाली दधिभावकी प्राप्तिके समान विराट् अपने पूर्ववर्ती सारे स्वरूपका

तर्हि ? आत्मना व्यवस्थितस्यैव विराजः सत्यसंकल्पत्वादात्मव्यतिरिक्तं स्त्रीपुंसपरिष्वक्तपरिमाणं शरीरान्तरं बभूव। स एव च विराट् तथाभूतः स हैतावानासेति सामानाधिकरण्यात्।

तिरोभाव करके ऐसा नहीं हुआ? तो फिर किस प्रकार हुआ। अपने स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही विराट्के सत्यसंकल्प होनेके कारण उसके उस शरीरसे भिन्न परस्पर आलिङ्गित हुए स्त्री-पुरुषोंके परिमाणवाला एक देहान्तर हो गया; क्योंकि वही पूर्वरूपमें स्थित विराट् था और वही ऐसा हो गया—इस प्रकार यहाँ [विराट्के वाचक] 'स' का 'एतावान्' से सामानाधिकरण्य है।

ततस्तस्मात्पातनात्पतिश्च पत्नी चाभवतामिति दम्पत्योर्निर्वचनं लौकिकयोः। अत एव तस्मात्, यस्मादात्मन एवार्धः पृथग्भूतो येयं स्त्री, तस्मादिदं शरीरमात्मनोऽर्धबृगलमर्धं च तद् बृगलं विदलं च तदर्धबृगलम् अर्धविदलमिवेत्यर्थः। प्राक्स्त्र्युद्वहनात्कस्यार्धबृगलम्? इत्युच्यते—स्व आत्मन इति। एवमाह स्मोक्तवान्किल याज्ञवल्क्यः, यज्ञस्य वल्को वक्ता यज्ञवल्कस्तस्यापत्यं याज्ञवल्क्यो दैवरातिरित्यर्थः। ब्रह्मणो वापत्यम्।

उससे—उस द्विधा पातनसे पति और पत्नी हुए—यह लौकिक पति-पत्नियों [के पति-पत्नी नाम] का निर्वचन किया गया है। इसीसे, क्योंकि यह जो स्त्री है शरीरका ही पृथग्भूत अर्धभाग है, इसलिये यह शरीर आत्माका अर्धबृगल है। जो अर्ध (आधा) हो और बृगल—विदल हो उसे अर्धबृगल (दो दलोंमेंसे एक दल) कहते हैं अर्थात्—अर्धविदल-सा है। किंतु स्त्रीसे विवाह करनेसे पूर्व यह किसका अर्धबृगल होता है, सो श्रुति बतलाती है—स्व अर्थात् अपना ही—ऐसा निश्चय ही याज्ञवल्क्यने कहा है। यज्ञका वल्क—वक्ता यज्ञवल्क कहलाता है, उसका पुत्र याज्ञवल्क्य अर्थात् दैवराति अथवा ब्रह्माका पुत्र याज्ञवल्क्य।

यस्मादयं पुरुषार्ध आकाशः स्त्र्यर्धशून्यः पुनरुद्वहनात्तस्मात्पूर्यते स्त्र्यर्धेन, पुनः सम्पुटीकरणेनेव विदलार्धः। तां स प्रजापतिर्मन्वाख्यः शतरूपाख्यामात्मनो दुहितरं पत्नीत्वेन कल्पितां समभवन्मैथुनमुपगतवान्। ततस्तस्मात्तदुपगमनाद् मनुष्या अजायन्तोत्पन्नाः ॥३॥

क्योंकि यह पुरुषार्ध आकाश स्त्र्यर्धसे शून्य है, इसलिये पुनः विवाह करनेपर यह स्त्र्यर्धसे पूर्ण होता है, जिस प्रकार कि विदलार्ध पुनः सम्पुटित कर दिये जानेपर। तब वह मनुसंज्ञक प्रजापति अपनी पत्नीरूप कल्पना की हुई उस अपनी ही शतरूपा नामकी कन्यासे संयुक्त हुआ अर्थात् मैथुनधर्ममें प्रवृत्त हुआ। उस मैथुनकी प्रवृत्तिसे मनुष्य उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

मिथुनके द्वारा गवादि प्रपञ्चकी सृष्टि

सो हेयमीक्षाञ्चक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताᳬं समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताᳬं समेवाभवत्तत एकशफमजायताजेतराभवद्वस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्ताᳬं समेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किञ्च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४ ॥

उस [शतरूपा] ने यह विचार किया कि 'अपनेहीसे उत्पन्न करके यह मुझसे क्यों समागम करता है? अच्छा, मैं छिप जाऊँ, अतः वह गौ हो गयी, तो दूसरा यानी मनु वृषभ होकर उससे सम्भोग करने लगा, इससे गाय-बैल उत्पन्न हुए। तब वह घोड़ी हो गयी और मनु अश्वश्रेष्ठ हो गया, फिर वह गर्दभी हो गयी और मनु गर्दभ हो गया और उससे

सम्भोग करने लगा। इससे एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। तदनन्तर शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया। फिर वह भेड़ हो गयी और मनु भेड़ा होकर उससे समागम करने लगा। इससे बकरी और भेड़ोंकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटीसे लेकर ये जितने मिथुन (स्त्री-पुरुषरूप जोड़े) हैं उन सभीकी उन्होंने रचना कर डाली ॥ ४ ॥

सा शतरूपा उ ह इयं सेयं दुहितृगमने स्मार्तं प्रतिषेधमनुस्मरन्तीक्षाञ्चक्रे। कथं न्विदमकृत्यं यन्मा मामात्मन एव जनयित्वोत्पाद्य सम्भवत्युपगच्छति। यद्यप्ययं निर्घृणोऽहं हन्तेदानीं तिरोऽसानि जात्यन्तरेण तिरस्कृता भवानि। इत्येवमीक्षित्वासौ गौरभवत्। उत्पाद्यप्राणिककर्मभिश्चोद्यमानायाः पुनःपुनः सैव मतिः शतरूपाया मनोश्चाभवत्। ततश्च ऋषभ इतरः। तां समेवाभवदित्यादि पूर्ववत्। ततो गावोऽजायन्त।

तथा वडवेतराभवदश्ववृष इतरः। तथा गर्दभीतरा गर्दभ इतरः। तत्र वडवाश्ववृषादीनां सङ्गमात्तत एकशफमेकखुरम् अश्वाश्वतरगर्दभाख्यं त्रयमजायत।

वह यह शतरूपा स्मृतिके कन्यागमनसम्बन्धी प्रतिषेधवाक्यको स्मरण कर यह विचार करने लगी। यह ऐसा अकरणीय कार्य क्यों करता है जो मुझे अपनेहीसे उत्पन्नकर मेरे साथ सम्भोग करता है। यद्यपि यह तो निर्दय है तथापि मैं अब छिप जाती हूँ—जात्यन्तररूपसे अपनेको छिपाये लेती हूँ। ऐसा विचारकर वह गौ हो गयी। किंतु उत्पन्न किये जाने योग्य प्राणियोंके कर्मोंसे प्रेरित हुई शतरूपाकी और मनुकी भी पुनः-पुनः वैसी ही मति होती रही। अतः मनु वृषभ हो गया और पूर्ववत् उसके साथ समागम करने लगा। उससे गाय-बैल उत्पन्न हुए।

फिर शतरूपा घोड़ी हो गयी और मनु अश्वश्रेष्ठ तथा उसके पश्चात् वह गर्दभी हो गयी और मनु गर्दभ। तब उन घोड़ी और अश्वश्रेष्ठादिके समागमसे घोड़ा, खच्चर और गधा—ये तीन एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए।

तथा अजेतराभवद्बस्तश्छाग इतरः, तथाविरितरा मेष इतरः, तां समेवाभवत्। तां तामिति वीप्सा। तामजां तामविं चेतिस-मभवदेवेत्यर्थः। ततोऽजाश्चावय-श्चाजावयोऽजायन्त। एवमेव यदिदं किञ्च यत्किञ्चेदं मिथुनं स्त्रीपुंस-लक्षणं द्वन्द्वम्, आ पिपीलिका-भ्यः पिपीलिकाभिः सहानेनैव-न्यायेन तत्सर्वमसृजत जगत्सृ-ष्टवान् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा तथा वह भेड़ हो गयी और मनु भेड़ा हो गया और उससे समागम करने लगा। यहाँ 'ताम्' शब्दकी 'तां ताम्' ऐसी द्विरुक्ति समझनी चाहिये अर्थात् उस बकरीसे और उस भेड़से समा-गम करने लगा। तब भेड़-बकरियों-की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार आपि-पीलिकाभ्यः—चींटीसे लेकर ये जो कुछ भी मिथुन—स्त्री-पुरुषरूप जोड़े हैं, उसने इसी न्यायसे इन सबकी रचना की, अर्थात् इस सारे जगत्-को उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

प्रजापतिकी सृष्टिसंज्ञा और सृष्टिरूपसे उसकी उपासना करनेका फल

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यह ँ्हीद ँ् सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्या ँ्हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

उस प्रजापतिने 'मैं ही सृष्टि हूँ' ऐसा जाना। मैंने इस सबको रचा है। इस कारण वह 'सृष्टि' नामवाला हुआ। जो ऐसा जानता है वह इस (प्रजापति) की इस सृष्टिमें [स्रष्टा] होता है ॥ ५ ॥

स प्रजापतिः सर्वमिदं जग-त्सृष्ट्वा अवेत्। कथम्? अहं वावाह-मेव सृष्टिः, सृज्यते इति सृष्टं जगदुच्यते सृष्टिरिति। यन्मया

उस प्रजापतिने इस सम्पूर्ण जगत्को रचकर जाना। किस प्रकार जाना? 'मैं ही सृष्टि हूँ।' उसका सर्जन (निर्माण) किया जाता है, इसलिये वह सृष्ट (उत्पन्न) हुआ जगत् सृष्टि कहलाता है। [उसने विचार किया—] 'मेरेद्वारा

सृष्टं जगन्मदभेदत्वादहमेवास्मि न मत्तो व्यतिरिच्यते । कुत एतत् ? अहं हि यस्मादिदं सर्वं जगदसृक्षि सृष्टवानस्मि तस्मादित्यर्थः ।

जो जगत् रचा गया है वह मुझसे अभिन्न होनेके कारण मैं ही हूँ, वह मुझसे अलग नहीं है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत्को रचा है, इसलिये'—[यह मुझसे अभिन्न है] ऐसा इसका तात्पर्य है ।

यस्मात्सृष्टिशब्देन आत्मानमेवाभ्यधात्प्रजापतिः,ततस्तस्मात्सृष्टिरभवत् सृष्टिनामाभवत् । सृष्ट्यां जगति, हास्य प्रजापतेरेतस्यामेतस्मिञ्जगति, स प्रजापतिवत्स्रष्टा भवति स्वात्मनोऽनन्यभूतस्य जगतः, कः ? य एवं प्रजापतिवद्यथोक्तं स्वात्मनोऽनन्यभूतं जगत्साध्यात्मादिभूताधिदैवं जगदहमस्मीति वेद ॥५॥

क्योंकि प्रजापतिने 'सृष्टि' नामसे अपनेको ही कहा था, इसलिये वह सृष्टि अर्थात् सृष्टि नामवाला हुआ । इस प्रजापतिकी सृष्टिमें अर्थात् इस जगत्में वह प्रजापतिके समान अपनेसे अनन्यभूत जगत्का स्रष्टा होता है; कौन ? जो इस प्रकार प्रजापतिके समान उपर्युक्त अपनेसे अभिन्न जगत्को, 'अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके सहित सारा जगत् मैं हूँ' इस प्रकार जानता है ॥ ५ ॥

प्रजापतिकी अग्न्यादिदेवरूप अतिसृष्टि

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः । तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः । अथ यत्किञ्चेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा

इद्ꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः । यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ ह्यस्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

फिर उसने इस प्रकार मन्थन किया। उसने मुखरूपी योनिसे दोनों हाथोंद्वारा [मन्थन करके] अग्निको रचा। इसलिये ये दोनों भीतरकी ओरसे लोमरहित हैं, क्योंकि योनि भी भीतरसे लोमरहित ही होती है। अतः [याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्र आदिको] एक-एक (भिन्न-भिन्न) देवता मानते हुए जो ऐसा कहते हैं कि 'इस (अग्नि) का यजन करो, इस (इन्द्र) का यजन करो' सो वह तो इस एक ही देवकी विसृष्टि है। यह [प्रजापति] ही सर्वदेवरूप है। इसके बाद जो कुछ यह गीला है उसे उसने वीर्यसे उत्पन्न किया, वही सोम है। इतना ही यह सब अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है। यह ब्रह्माकी अतिसृष्टि है कि उसने अपनेसे उत्कृष्ट देवताओंकी रचना की—स्वयं, मर्त्य होनेपर भी अमृतोंको उत्पन्न किया। इसलिये यह अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार जानता है वह इसकी इस अतिसृष्टिमें ही हो जाता है ॥ ६ ॥

एवं स प्रजापतिर्जगदिदं मिथुनात्मकं सृष्ट्वा ब्राह्मणादिवर्णनियन्त्रीर्देवताः सिसृक्षुरादौ, अथेति शब्दद्वयमभिनयप्रदर्शनार्थम्, अनेन प्रकारेण मुखे हस्तौ प्रक्षिप्याभ्यमन्थदाभिमुख्येन मन्थनमकरोत्। स मुखहस्ताभ्यां मथित्वा मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां

इस प्रकार उस प्रजापतिने इस मिथुनात्मक जगत्की रचना कर ब्राह्मणादि वर्णोंका नियन्त्रण करनेवाली देवताओंकी रचना करनेकी इच्छासे पहले—यहाँ 'अथ' और 'इति' ये दो शब्द अभिनय प्रदर्शित करनेके लिये हैं—इस प्रकारसे मुखमें हाथ डालकर 'अभ्यमन्थत्'—अभिमुखतासे मन्थन किया। उसने मुखको हाथोंसे मथकर मुखरूप योनिसे हाथरूप योनियोंके द्वारा

च योनिभ्यामग्निं ब्राह्मणजातेरनुग्रहकर्तारमसृजत सृष्टवान् ।

यस्माद्दाहकस्याग्नेर्योनिरेतदुभयं हस्तौ मुखं च, तस्मादुभयमप्येतदलोमकं लोमविवर्जितम् । किं सर्वमेव ? न, अन्तरतोऽभ्यन्तरतः; अस्ति हि योन्या सामान्यमुभयस्यास्य । किम् ? अलोमका हि योनिरन्तरतः स्त्रीणाम् । तथा ब्राह्मणोऽपि मुखादेव जज्ञे प्रजापतेः । तस्मादेकयोनित्वाज्ज्येष्ठेनेवानुजोऽनुगृह्यते अग्निना ब्राह्मणः । तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निदेवत्यो मुखवीर्यश्चेति श्रुतिस्मृतिसिद्धम् ।

तथा बलाश्रयाभ्यां बाहुभ्यां बलभिदादिकं क्षत्रियजातिनियन्तारं क्षत्रियं च । तस्मादैन्द्रं क्षत्रं बाहुवीर्यं चेति श्रुतौ स्मृतौ चावगतम् । तथोरुत ईहा चेष्टा

ब्राह्मण जातिपर अनुग्रह करनेवाले अग्निदेवको उत्पन्न किया ।

क्योंकि ये हाथ और मुख दोनों दाह करनेवाले अग्निदेवकी योनि हैं । इसलिये ये दोनों ही लोमशून्य हैं । क्या सारे ही लोमशून्य हैं ?—नहीं, अन्तरतः—भीतरसे । इन दोनोंकी योनिसे समानता है । क्या समानता है ? स्त्रियोंकी योनि भी भीतरसे लोमशून्य ही होती है । इसी प्रकार ब्राह्मण भी प्रजापतिके मुखसे ही उत्पन्न हुआ है । अतः एक ही योनिसे उत्पन्न होनेवाले होनेसे जिस प्रकार बड़े भाईका छोटे भाईपर अनुग्रह रहता है उसी प्रकार अग्नि भी ब्राह्मणपर अनुग्रह करता है । अतः अग्नि ही ब्राह्मणकी देवता है और वह मुखरूप वीर्यवाला है—यह बात श्रुति-स्मृतिसिद्ध है ।

इसी प्रकार बलकी आश्रयभूता भुजाओंसे उसने क्षत्रियजातिके नियन्ता इन्द्रादि और क्षत्रियोंको रचा । इसीसे क्षत्रिय इन्द्रदेवताका अनुग्राह्य और बाहुरूप वीर्यवाला होता है—यह बात श्रुति और स्मृतिमें विख्यात है । तथा ईहा यानी चेष्टा उसके आश्रय-

तदाश्रयाद्वस्वादिलक्षणं विशो नियन्तारं विशं च। तस्मात्कृष्यादिपरो वस्वादिदेवत्यश्च वैश्यः। तथा पूषणं पृथ्वीदैवतं शूद्रं च पद्भ्यां परिचरणक्षमम- सृजतेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेः।

तत्र क्षत्रादिदेवतासर्गमिहानुक्तं वक्ष्यमाणमप्युक्तवदुपसंहरति सृष्टिसाकल्यानुकीर्त्यै। यथेयं श्रुतिर्व्यवस्थिता तथा प्रजापति- रेव सर्वे देवा इति निश्चितोऽर्थः। स्रष्टुरनन्यत्वात्सृष्टानाम्। प्रजा- पतिनैव तु सृष्टत्वाद् देवानाम्।

अथैवं प्रकरणार्थे व्यवस्थिते तत्स्तुत्यभिप्रायेणाविद्वन्मतान्तर- निन्दोपन्यासः; अन्यनिन्दान्य- स्तुतये। तत्तत्र कर्मप्रकरणे केवल-

भूत ऊरुओंसे वैश्यजातिके नियन्ता वसु आदिको और वैश्य- जातिको उत्पन्न किया। अतः वैश्य कृषि आदि कर्मोंमें संलग्न रहनेवाला और वसु आदि देव- ताओंसे अनुगृहीत होता है। इसी तरह पृथ्वीदैवत पूषा और परि- चर्यपरायण शूद्रजातिके चरणोंसे रचा—ऐसा श्रुति-स्मृति जनित प्रसिद्धिसे सिद्ध होता है।

उनमें क्षत्रियादिके देवताओंकी सृष्टिका यद्यपि यहाँ (मूलमें) उल्लेख नहीं है, और वह आगे कही जाने- वाली है तो भी सृष्टिकी सर्वाङ्गता- का अनुकीर्तन करनेके लिये श्रुति उसका कहे हुएके समान उपसंहार करती है। जैसी कि इस श्रुतिकी व्यवस्था है उसके अनुसार प्रजा- पति ही सर्व देवरूप है—यह इसका निश्चित अर्थ है, क्योंकि सृष्ट पदार्थ स्रष्टासे अभिन्न होते हैं और प्रजा- पतिने ही सब देवोंकी सृष्टि की है।

अब इस प्रकार इस प्रकरणका अर्थ निश्चित होनेपर उसकी स्तुति- के लिये अविद्वान्के मतान्तरकी निन्दाका उपन्यास किया जाता है, क्योंकि एककी निन्दा दूसरेकी स्तुति- के लिये होती है। इसलिये अभिप्राय यह है कि वहाँ कर्मप्रकरणमें केवल

याज्ञिका यागकाले यदिदं वच आहुः—'अमुमग्निं यजामुमिन्द्रं यज' इत्यादि—नामशस्त्रस्तोत्रकर्मादिभिन्नत्वाद्भिन्नमेवाग्न्यादिदेवमेकैकं मन्यमाना आहुरित्यभिप्रायः। तन्न तथा विद्यात्, यस्मादेतस्यैव प्रजापतेः सा विसृष्टिर्देवभेदः सर्व एष उ ह्येव प्रजापतिरेव प्राणः सर्वे देवाः।

याज्ञिकलोग यज्ञके समय जो अग्नि आदि देवताओंमेंसे प्रत्येकके नाम, शस्त्र, स्तोत्र और कर्म भिन्न-भिन्न होनेके कारण एक-एकको अलग-अलग मानते हुए ऐसा वचन बोलते हैं कि 'इस अग्निका यजन करो, इस इन्द्रका यजन करो' उसे उस रूपमें (ठीक) नहीं समझना चाहिये; क्योंकि यह सम्पूर्ण विसृष्टि-देवभेद इस प्रजापतिका ही है, अतः प्राणरूप प्रजापति ही सर्वदेव है।

अत्र विप्रतिपद्यन्ते—पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे।

इस विषयमें विद्वानोंका मतभेद है—किन्हींका तो कथन है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कोई कहते हैं कि वह संसारी है।

पर एव तु मन्त्रवर्णात्। "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" इति श्रुतेः। "एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः" (ऐ० उ० ५।३) इति च श्रुतेः। स्मृतेश्च—"एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्" (मनु० १२। १२३) इति, "योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ"। (मनु० १। ७) इति।

प्रथम पक्ष-मन्त्राक्षरोंसे सिद्ध होनेके कारण परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है। "उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं" इस श्रुतिसे तथा "यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है, यह प्रजापति (विराट्) है और यह सम्पूर्ण देवगण है" इस श्रुतिसे, एवं "इस परमात्माको कोई अग्नि, कोई मनु और कोई प्रजापति कहते हैं", "यह जो अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय और अचिन्त्य परमात्मा है वही स्वयं प्रकट हुआ" इन स्मृतियोंसे यही सिद्ध होता है।

संसार्येव वा स्यात्। "सर्वान्पाप्मन औषत्" (बृ० उ० १ । ४ । १) इति श्रुतेः। न ह्यसंसारिणः पाप्मदाहप्रसङ्गोऽस्ति। भयारतिसंयोगश्रवणाच्च। "अथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत" (बृ० उ० १ । ४ । ६) इति च। "हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्" (श्वे० उ० ४ । १२) इति च मन्त्रवर्णात्। स्मृतेश्च कर्मविपाकप्रक्रियायाम्—"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च। उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" (मनु० १२ । ५०) इति।

द्वितीय पक्ष-अथवा संसारी ही हिरण्यगर्भ होना चाहिये, जैसा कि "उसने समस्त पापोंको दग्ध कर दिया" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, क्योंकि असंसारी परमात्माके लिये तो पापदाहका प्रसंग ही नहीं है। इसके सिवा उसका भय और अरति-के साथ संयोग भी सुना गया है; यहाँ यह भी कहा है कि "उसने स्वयं मर्त्य होकर भी अमृतों (देवताओं) की रचना की।" तथा "उसने उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भको देखा" इस मन्त्रवर्णसे भी यही सिद्ध होता है। और कर्मविपाकप्रक्रियामें "ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ), प्रजापतिगण, धर्म, महत्तत्त्व और अव्यक्त—इन्हें मनीषिगण उत्तम सात्त्विकी गति बतलाते हैं" इत्यादि स्मृति भी है।

अथैवं विरुद्धार्थानुपपत्तेः प्रामाण्यव्याघात इति चेत्?

शङ्का—किंतु इस प्रकार विरुद्ध अर्थ तो संगत नहीं हो सकता। इसलिये इससे श्रुतिके प्रामाण्यका विघात होता है।

न, कल्पनान्तरोपपत्तेरविरोधात्। उपाधिविशेषसम्बन्धाद्विशेषकल्पनान्तरमुपपद्यते। "आसीनो दूरं

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि एक अन्य कल्पना सम्भव होनेके कारण इनमें अविरोध हो सकता है। उपाधिविशेषके सम्बन्धसे एक विशेष प्रकारकी कल्पना होनी सम्भव है। "वह स्थिर होने-

व्रजति शयानो याति सर्वतः। कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" (क० उ० १।२।२१) इत्येवमादिश्रुतिभ्य उपाधिवशात्संसारित्वं न परमार्थतः। स्वतोऽसंसार्येव।

पर भी दूर चला जाता है, शयन किये होनेपर भी सब ओर जाता है, उस हर्ष और विषादयुक्त देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है?" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उसका उपाधिके ही कारण संसारित्व है, परमार्थतः नहीं। स्वतः तो वह असंसारी ही है।

एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य। तथा सर्वजीवानाम्, "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८-१६) इति श्रुतेः। हिरण्यगर्भस्तु उपाधिशुद्ध्यतिशयापेक्षया प्रायशः पर एवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः। संसारित्वं तु क्वचिदेव दर्शयन्ति। जीवानां उपाधिगताशुद्धिबाहुल्यात्संसारित्वमेव प्रायशोऽभिलप्यते। व्यावृत्तकृत्स्नोपाधिभेदापेक्षया तु सर्वः परत्वेनाभिधीयते श्रुतिस्मृतिवादैः।

इस प्रकार हिरण्यगर्भका एकत्व भी है और नानात्व भी। इसी तरह सब जीवोंका भी एकत्व और नानात्व है, जैसा कि "तू वह है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। हिरण्यगर्भ तो उपाधिकी शुद्धिकी अतिशयताकी अपेक्षासे प्रायः परमात्मा ही है-ऐसी श्रुति-स्मृतिवादोंकी प्रवृत्ति है। वे उसका संसारित्व तो कहीं-कहीं ही दिखाते हैं। किंतु जीवोंका तो उपाधिगत अशुद्धिकी अधिकताके कारण प्रायः संसारित्व ही बतलाया जाता है। तथा सम्पूर्ण उपाधिभेदके बाधकी अपेक्षासे श्रुति और स्मृतिके वादोंद्वारा सबका परमात्मभावसे निरूपण किया जाता है।

तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैरस्ति नास्ति कर्ताकर्तेत्यादि

जो शास्त्रका बल छोड़ चुके हैं तथा 'आत्मा है—नहीं है, वह कर्ता है—अकर्ता है', इस प्रकार

विरुद्धं बहु तर्कयद्भिराकुलीकृतः शास्त्रार्थः, तेनार्थनिश्चयो दुर्लभः। ये तु केवलशास्त्रानुसारिणः शान्तदर्पास्तेषां प्रत्यक्षविषय इव निश्चितः शास्त्रार्थो देवतादिविषयः।

बहुत-से विरुद्ध तर्क करते हैं उन तार्किकोंने तो शास्त्रको दुर्विज्ञेय कर दिया है, इससे उसके तात्पर्यका निश्चय होना कठिन हो गया है। किंतु जो केवल शास्त्रका ही अनुसरण करनेवाले और दर्पहीन पुरुष हैं उन्हें तो शास्त्रका देवतादि-विषयक अभिप्राय प्रत्यक्षके समान निश्चित है।

तत्र प्रजापतेरेकस्य देवस्यात्राद्यलक्षणो भेदो विवक्षित इति तत्राग्निरुक्तोऽत्ता, आद्यः सोम इदानीमुच्यते—अथ यत्किञ्चेदं लोक आर्द्रं द्रवात्मकं तद्रेतस आत्मनो बीजादसृजत; "रेतस आपः" (ऐ० उ० १। ४) इति श्रुतेः। द्रवात्मकश्च सोमः। तस्माद्यदार्द्रं प्रजापतिना रेतसः सृष्टं तदु सोम एव।

इतना निश्चय हो जानेपर अब एक देव प्रजापतिके अत्ता (भोक्ता) और आद्य (भोग्य) रूप भेदका निरूपण करना अभीष्ट है, उसमें 'अत्ता' रूप अग्निका वर्णन तो कर दिया गया, अब 'आद्य' रूप सोमका वर्णन किया जाता है। यह जो कुछ लोकमें आर्द्र—द्रवात्मक है उसे उसने अपने बीज रेतस् (वीर्य) से उत्पन्न किया; जैसा कि "रेतस्से जल हुआ" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। सोम भी द्रवात्मक होता है। अत: प्रजापतिके द्वारा जो कुछ अपने वीर्यसे द्रवात्मक रचा गया है वह सोम ही है।

एतावद्वै एतावदेव नातोऽधिकमिदं सर्वम्। किं तत्? अन्नं चैव सोमो द्रवात्मकत्वादाप्याय-

यह सब इतना ही है, इससे अधिक नहीं है। वह क्या है? यही कि द्रवात्मक होनेके कारण

कम्। अन्नादश्चाग्निरौष्ण्याद् रूक्षत्वाच्च। तत्रैवमवध्रियते, सोम एवान्नं यदद्यते तदेव सोम इत्यर्थः। य एवात्ता स एवाग्निः; अर्थबलाद्ध्यवधारणम्। अग्निरपि क्वचिद् हूयमानः सोमपक्षस्यैव। सोमोऽपीज्यमानोऽग्निरेवात्तृत्वात्। एवमग्नीषोमात्मकं जगदात्मत्वेन पश्यन्न केनचिद्दोषेण लिप्यते, प्रजापतिश्च भवति।

सोम पोषक अन्न है और उष्णता तथा रूक्षताके कारण अग्नि अन्नाद है। यहाँ यह निश्चय होता है कि सोम ही अन्न है, अर्थात् जो भक्षण किया जाता है वही सोम है। इसी प्रकार जो ही अत्ता (भक्षण करनेवाला) है वही अग्नि है, अर्थके बलसे ही ऐसा निश्चय किया जाता है। कहीं हवन किया जानेवाला होनेसे अग्नि भी सोमपक्षका ही हो जाता है और कहीं यजन किया जानेवाला होनेपर अत्ता होनेके कारण सोम भी अग्नि ही माना जाता है। इस प्रकार अग्नीषोमात्मक जगत्को आत्मभावसे देखनेवाला पुरुष किसी भी दोषसे लिप्त नहीं होता तथा वह प्रजापति हो जाता है।

सैषा ब्रह्मणः प्रजापतेरतिसृष्टिरात्मनोऽप्यतिशया। का सा? इत्याह—यच्छ्रेयसः प्रशस्यतरानात्मनः सकाशाद्यस्मादसृजत देवांस्तस्माद्देवसृष्टिरतिसृष्टिः। कथं पुनरात्मनोऽतिशया सृष्टिः? इत्यत आह—अथ यद्यस्मान्मर्त्यः सन्मरणधर्मा सन्नमृतानमरण-

वह यह प्रजापति ब्रह्माकी अतिसृष्टि अर्थात् अपनेसे भी बढ़ी हुई सृष्टि है। वह क्या है? इसपर श्रुति कहती है—क्योंकि प्रजापतिने देवताओंको अपनी अपेक्षा श्रेयसः—प्रशस्यतर रचा है, इसलिये देवसृष्टि अतिसृष्टि है। [प्रजापतिकी] यह सृष्टि अपनी अपेक्षा बढ़कर क्यों है? इसपर श्रुति कहती है—क्योंकि इसने स्वयं मर्त्य—मरणधर्मा होनेपर

धर्मिणो देवान् कर्मज्ञानवह्निना सर्वानात्मनः पाप्मन ओषित्वा-सृजत, तस्मादियमतिसृष्टिरुत्कृष्टज्ञानस्य फलमित्यर्थः । तस्मादेतामतिसृष्टिं प्रजापतेरात्मभूतां यो वेद स एतस्यामतिसृष्ट्यां प्रजापतिरिव भवति प्रजापतिवदेव स्रष्टा भवति ॥ ६ ॥

भी कर्मज्ञानरूप अग्निसे अपने समस्त पापोंको दग्धकर इन अमृत—अमरणधर्मा देवताओंकी रचना की है। इसलिये यह अतिसृष्टि अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानका फल है। इसलिये प्रजापतिकी आत्मभूता इस अतिसृष्टिको जो जानता है वह इस अतिसृष्टिमें प्रजापतिके समान होता है, अर्थात् प्रजापतिके समान ही जगत्का स्रष्टा होता है ॥ ६ ॥

अव्याकृत कारण ब्रह्मसे व्यक्त जगत्की उत्पत्ति, दोनोंका अभेद और इस अभेदोपासनाका फल

सर्वं वैदिकं साधनं ज्ञानकर्मलक्षणं कर्त्राद्यनेककारकापेक्षं प्रजापतित्वफलावसानं साध्यमेतावदेव यदेतद्व्याकृतं जगत्संसारः । अथैतस्यैव साध्यसाधनलक्षणस्य व्याकृतस्य जगतो व्याकरणात्प्राग्बीजावस्था या तां निर्दिदिक्षत्यङ्कुरादिकार्यानुमितामिव वृक्षस्य, कर्मबीजोऽविद्याक्षेत्रो ह्यसौ संसारवृक्षः समूल उद्धर्तव्य इति ।

कर्त्रादि अनेक कारकोंकी अपेक्षावाला ज्ञान और कर्मरूप सम्पूर्ण वैदिक साधन तथा प्रजापतित्वरूप फलमें समाप्त होनेवाला साध्य इतना ही है जो कि यह व्याकृत जगत् यानी संसार है।

अब, जिसका बीज कर्म है और क्षेत्र अविद्या है उस संसारवृक्षको समूल उखाड़ना है—इसलिये अङ्कुरादि कार्यसे अनुमित होनेवाली वृक्षकी पूर्व बीजावस्थाके समान इस साध्यसाधनरूप व्याकृत जगत्के व्याकृत होनेसे इसकी जो बीजावस्था थी उसका श्रुति निर्देश करना चाहती है; क्योंकि

तदुद्धरणे हि पुरुषार्थपरिसमाप्तिः। तथा चोक्तम्—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः" (२।३।१) इति काठके। गीतासु च "ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्" (१५।१) इति। पुराणे च—"ब्रह्मवृक्षः सनातनः" इति।

उस संसारवृक्षके उखड़नेमें ही पुरुषार्थकी परिसमाप्ति होती है। ऐसा ही कठोपनिषद्में "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः", गीतामें "ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्" और पुराणमें "ब्रह्मवृक्षः सनातनः" इत्यादि वाक्योंसे कहा भी है।

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामायमिद्ँरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिद्ँरूप इति। स एष इह प्रविष्टः। आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन्वाक्पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिँ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥७॥

वह यह जगत् उस समय (उत्पत्तिसे पूर्व) अव्याकृत था। वह नाम-रूपके योगसे व्यक्त हुआ; अर्थात् 'यह इस नाम और इस रूपवाला है' इस प्रकार व्यक्त हुआ। अतः इस समय भी यह अव्याकृत वस्तु 'इस नाम और इस रूपवाली है' इस प्रकार व्यक्त होती है। वह यह (व्याकर्ता) इस (शरीर) में नखाग्रपर्यन्त प्रवेश किये हुए है, जिस

प्रकार कि छुरा छुरेके घरमें छिपा रहता है अथवा विश्वका भरण करनेवाला अग्नि अग्निके आश्रय (काष्ठादि) में गुप्त रहता है। परंतु उसे लोग देख नहीं सकते। वह असम्पूर्ण है; प्राणनक्रियाके कारण ही वह प्राण है, बोलनेके कारण वाक् है, देखनेके कारण चक्षु है, सुननेके कारण श्रोत्र है और मनन करनेके कारण मन है। ये इसके कर्मानुसारी नाम ही हैं। अतः इनमेंसे जो एक-एककी उपासना करता है वह नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है। वह एक-एक विशेषणसे ही युक्त होता है। अतः 'आत्मा है' इस प्रकार ही उसकी उपासना करे, क्योंकि इस (आत्मा) में ही वे सब एक हो जाते हैं। यह जो आत्मा है वही इस सबका प्राप्तव्य है, क्योंकि यह आत्मा है, इस आत्माके ज्ञात होनेसे ही इस सब जगत्को जानता है। जिस प्रकार पदों (खुर आदिके चिह्नों) द्वारा [खोये हुए पशुको] प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार जो ऐसा जानता है वह इसके द्वारा यश और इष्ट पुरुषोंका सहवास प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

तद्धेदं तदिति बीजावस्थं जगत्प्रागुत्पत्तेस्तर्हि तस्मिन्काले; परोक्षत्वात्सर्वनाम्नाप्रत्यक्षाभिधानेनाभिधीयते, भूतकालसम्बन्धित्वादव्याकृतभाविनो जगतः; सुखग्रहणार्थमैतिह्यप्रयोगो हशब्दः; एवं ह तदा आसीदित्युच्यमाने सुखं तां परोक्षामपि जगतो बीजा-

'तद्धेदम्'—तत् अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व बीजरूपमें स्थित जगत् 'तर्हि' उस समय—यहाँ अव्याकृतसे होनेवाला जगत् भूतकालसे सम्बद्ध होनेके कारण परोक्ष होनेसे 'तत्' और 'इदम्' इन दो सर्वनामों द्वारा परोक्षरूपसे कहा गया है। तथा 'ह' इस ऐतिह्यवाचक अव्ययका प्रयोग उस (परोक्ष जगत्) का सुगमतासे ग्रहण (बोध) करानेके लिये किया गया है। अर्थात् 'एवं[1] ह तदा आसीत्'—इस प्रकार कहनेपर, परोक्ष होनेपर भी उस जगत्की बीजावस्थाको श्रोता अनायास ही

१. उस समय वह ऐसा था।

वस्थां प्रतिपद्यते, युधिष्ठिरो ह किल राजासीदित्युक्ते यद्वत् । इदमिति व्याकृतनामरूपात्मकं साध्यसाधनलक्षणं यथावर्णितमभिधीयते । तदिदंशब्दयोः परोक्षप्रत्यक्षावस्थजगद्वाचकयोः सामानाधिकरण्यादेकत्वमेव परोक्षप्रत्यक्षावस्थस्य जगतोऽवगम्यते । तदेवेदमिदमेव च तदव्याकृतमासीदिति । अथैवं सति नासत उत्पत्तिर्न सतो विनाशः कार्यस्येत्यवधृतं भवति ।

ग्रहण कर लेता है, जैसे '[1]युधिष्ठिरो ह किल राजासीत्' ऐसा कहनेपर [युधिष्ठिरको] । 'इदम्' इस शब्दसे जिसके नाम और रूप अभिव्यक्त हो गये हैं वह साध्यसाधनरूप पूर्वोक्त जगत् ही कहा जाता है । [इस प्रकार] परोक्ष और प्रत्यक्षरूपसे स्थित जगत्के वाचक 'तत्' और 'इदम्' शब्दोंका सामानाधिकरण्य होनेसे प्रत्यक्ष और परोक्षावस्थ जगत्की एकता ज्ञात होती है । वह (अव्याकृत) ही यह जगत् है और यही वह अव्याकृत था । ऐसा होनेसे यह निश्चय होता है कि असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत्कार्यका नाश नहीं हो सकता ।

तदेवम्भूतं जगदव्याकृतं सन्नामरूपाभ्यामेव नाम्ना रूपेणैव च व्याक्रियत । व्याक्रियतेति कर्मकर्तृप्रयोगात्तत्स्वयमेवात्मैव व्याक्रियत, वि आ अक्रियत, विस्पष्टं नामरूपविशेषावधारणमर्यादं व्यक्तीभावमापद्यत सामर्थ्या-

वह इस प्रकारका जगत् अव्याकृत रहकर 'नामरूपाभ्याम्'—नाम और रूपके द्वारा ही व्याकृत हुआ । 'व्याक्रियत' ऐसा [2]कर्मकर्तृप्रयोग होनेके कारण [यह निश्चय होता है कि] वह आत्मा [3]सामर्थ्यसे आक्षिप्त हुए नियन्ता, कर्ता और साधनरूप क्रियाके निमित्तोंवाले जगत्के रूपमें स्वयं ही 'व्याक्रियत'—

१. प्रसिद्ध है कि युधिष्ठिरनामक एक राजा हुआ था ।

२. जहाँ कर्म ही कर्ताके रूपमें विवक्षित हो वह कर्मकर्ता कहलाता है ।

३. कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होनी असम्भव है—इस सामर्थ्यसे

दाक्षिप्तनियन्तृकर्तृसाधनक्रियानिमित्तम् ।

असौनामेति सर्वनाम्नाविशेषाभिधानेन नाममात्रं व्यपदिशति। देवदत्तो यज्ञदत्त इति वा नामास्य इत्यसौनामायम् । तथेदमिति शुक्लकृष्णादीनामविशेषः । इदं शुक्लमिदं कृष्णं वा रूपमस्येतीदंरूपः । तदिदमव्याकृतं वस्तु एतर्ह्येतस्मिन्नपि काले नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते असौनामायमिदंरूप इति ।

यदर्थः सर्वशास्त्रारम्भः, यस्मिन्नविद्यया स्वाभाविक्या कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता, यः कारणं सर्वस्य जगतः, यदात्मके नामरूपे सलिलादिव स्वच्छान्मलमिव फेनमव्याकृते व्याक्रियेते, यश्च ताभ्यां

वि आ अक्रियत अर्थात् विशिष्टरूपसे नामरूपविशेषके निश्चयकी मर्यादासे युक्त व्यक्तीभावको प्राप्त हुआ ।

'असौनामा' इस पदके 'असौ' इस सर्वनामसे किसी प्रकारका विशेष न बतलाकर श्रुति नाममात्रका प्रतिपादन करती है—देवदत्त या यज्ञदत्त इत्यादि इसके नाम हैं, इसलिये यह पुरुष 'असौनामा' है। तथा 'इदम्' यह शुक्ल-कृष्णादि वर्णोंका सामान्य वाचक है यह 'शुक्ल' अथवा यह 'कृष्ण' इसका रूप है इसलिये यह इदंरूप है। इसीसे यह अव्याकृत वस्तु इस समय भी नाम-रूपके द्वारा ही 'इस नामवाली है', 'इस रूपवाला है' इस प्रकार व्यक्त होती है ।

जिसके लिये सारे शास्त्रका आरम्भ हुआ है, जिसमें स्वाभाविकी अविद्यासे कर्ता, क्रिया और फलका आरोप किया गया है, जो सारे जगत्‌का कारण है, जिसके स्वरूपभूत नाम और रूप स्वच्छ जलसे मलरूप फेनके समान अव्याकृतरूपसे स्थित हुए ही व्याकृत होते

जिसका आक्षेप करना आवश्यक है उन नियन्ता—प्रेरक, कर्ता—उत्पत्तिके अनुकूल शरीर एवं इन्द्रियादिका व्यापार करनेवाला तथा साधन—इन्द्रियव्यापार इन क्रियाके निमित्तोंसे युक्त होकर व्यक्त हुआ ।

नामरूपाभ्यां विलक्षणः स्वतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, स एषोऽव्याकृते आत्मभूते नामरूपे व्याकुर्वन्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहेष्विह कर्मफलाश्रयेष्वशनायादिमत्सु प्रविष्टः ।

हैं और जो उन नामरूपसे विलक्षण स्वयं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप है, वह यह [आत्मा] अव्याकृत एवं आत्मभूत नामरूपोंको व्यक्त करता हुआ ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त इन कर्मफलके आश्रयभूत एवं क्षुधादिमान् समस्त देहोंमें प्रवेश किये हुए है।

व्याकृतप्रपञ्चे परमात्मानुप्रवेशमीमांसा

ननु अव्याकृतं स्वयमेव व्याक्रियतेत्युक्तम्, कथमिदमिदानीम् उच्यते, पर एव तु आत्माव्याकृतं व्याकुर्वन्निह प्रविष्ट इति ।

शङ्का—किंतु पहले यह कहा गया है कि अव्याकृत स्वयं ही व्याकृत होता है। अब यह कैसे कहा जाता है कि परमात्मा ही अव्याकृतको व्यक्त करता हुआ इसमें प्रविष्ट है।

नैष दोषः, परस्याप्यात्मनोऽव्याकृतजगदात्मत्वेन विवक्षितत्वात्। आक्षिप्तनियन्तृकर्तृक्रियानिमित्तं हि जगदव्याकृतं व्याक्रियतेत्यवोचाम। इदंशब्दसामानाधिकरण्याच्चाव्याकृतशब्दस्य। यथेदं जगन्नियन्त्राद्यनेककारकनिमित्तादिविशेषवद्व्याकृतम्,

समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यहाँ परमात्मा ही अव्याकृत जगद्रूपसे विवक्षित है। हमने कहा था कि [सामर्थ्यसे] आक्षिप्त हुए नियन्ता और कर्ता [एवं साधन]रूप क्रियाके निमित्तोंसे युक्त अव्याकृत जगत् ही व्याकृत होता है। इसके सिवा 'अव्याकृत' शब्दका 'इदम्' शब्दके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे भी यही सिद्ध होता है। जिस प्रकार यह व्याकृत जगत् प्रेरक आदि अनेक कारणरूप निमित्तादि विशेषसे युक्त है उसी प्रकार वह

तथा अपरित्यक्तान्यतमविशेषवदेव तदव्याकृतम्। व्याकृताव्याकृतमात्रं तु विशेषः।

अव्याकृत भी उनमेंसे किसी विशेषका त्याग न करके उनसे युक्त ही है। उनमें व्याकृत और अव्याकृत होनेका ही अन्तर है।

दृष्टश्च लोके विवक्षातः शब्दप्रयोगो ग्राम आगतो ग्रामः शून्य इति। कदाचिद् ग्रामशब्देन निवासमात्रविवक्षायां ग्रामः शून्य इति शब्दप्रयोगो भवति, कदाचिन्निवासिजनविवक्षायां ग्राम आगत इति, कदाचिदुभयविवक्षायामपि ग्रामशब्दप्रयोगो भवति ग्रामं च न प्रविशेदिति यथा। तद्वदिहापि जगदिदं व्याकृतमव्याकृतं चेत्यभेदविवक्षायाम् आत्मानात्मनोर्भवति व्यपदेशः। तथेदं जगदुत्पत्तिविनाशात्मकमिति केवलजगद्व्यपदेशः। तथा "महानज आत्मा" (बृ० उ० ४।४।२२) "अस्थूलोऽनणुः" "स एष नेति नेति" (बृ० उ० ३।९।२६) इत्यादि केवलात्मव्यपदेशः।

लोकमें भी विवक्षाके अनुसार शब्दका प्रयोग होता देखा गया है जैसे 'गाँव आ गया', 'गाँव सूना है' इन वाक्योंमें कभी तो 'गाँव' शब्दसे निवासस्थानमात्र बतलाना अभीष्ट होनेपर 'गाँव सूना है' ऐसा शब्द प्रयोग होता है और कभी गाँवमें रहनेवाले लोगोंकी विवक्षासे 'गाँव आ गया' ऐसा प्रयोग होता है। तथा कभी दोनोंकी विवक्षासे भी 'गाँव' शब्दका प्रयोग होता है जैसे 'गाँवमें प्रवेश न करे' इस वाक्यमें। इसी प्रकार यहाँ भी 'यह जगत् व्याकृत और अव्याकृत है' इस वाक्यमें अभेदकी विवक्षासे आत्मा और अनात्माका निर्देश हुआ है तथा 'यह जगत् उत्पत्ति-विनाशात्मक है' इस वाक्यमें केवल जगत्‌का व्यपदेश है। इसी तरह "यह महान् अजन्मा आत्मा है", "यह न स्थूल है, न अणु (सूक्ष्म)", "वह यह आत्मा ऐसा (कारणरूप) नहीं है, ऐसा (कार्यरूप) नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंमें केवल आत्माका व्यपदेश है।

ननु परेण व्याकर्त्रा व्याकृतं सर्वतो व्याप्तं सर्वदा जगत्, स कथमिह प्रविष्टः परिकल्प्यते ? अप्रविष्टो हि देशः परिच्छिन्नेन प्रवेष्टुं शक्यते, यथा पुरुषेण ग्रामादिः । नाकाशेन किञ्चिन्नित्यप्रविष्टत्वात् ।

शङ्का—किंतु जगत्को व्यक्त करनेवाले परमात्माने उसे व्यक्त कर सर्वदा सब ओरसे व्याप्त कर रखा है; फिर 'उसने इसमें प्रवेश किया' ऐसी कल्पना क्यों की जाती है ? किसी परिच्छिन्न पदार्थद्वारा अपनेसे अप्रविष्ट देशमें ही प्रवेश किया जा सकता है, जैसे पुरुषसे ग्रामादि । आकाशके द्वारा किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो सबमें नित्य प्रविष्ट ही है ।

पाषाणसर्पादिवद्धर्मान्तरेणेति चेत् । अथापि स्यात्, न पर आत्मा स्वेनैव रूपेण प्रविवेश, किं तर्हि ? तत्स्थ एव धर्मान्तरेणोपजायते, तेन प्रविष्ट इत्युपचर्यते । यथा पाषाणे सहजोऽन्तःस्थः सर्पो नालिकेरे वा तोयम् ।

सिद्धान्ती—किंतु यदि पाषाण और सर्पादिके समान उसने धर्मान्तररूपसे प्रवेश किया हो तो ? अर्थात् ऐसा भी हो सकता है कि परमात्माने अपने ही रूपसे प्रवेश नहीं किया, तो फिर क्या हुआ ? वह उसमें स्थित हुआ ही धर्मान्तररूपसे उत्पन्न हो गया, इसीसे 'उसने प्रवेश किया' ऐसा उपचार होता है, जिस प्रकार कि पत्थरमें उसके भीतर रहनेवाला एवं उसके साथ उत्पन्न हुआ सर्प[1] अथवा नारियलमें जल ।

न, "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २ । ६ । १)

पूर्व०—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि "उसे रचकर वह उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया"—ऐसी श्रुति है ।

१. पाषाणमें स्थित जो पञ्चमहाभूत हैं उन्हींका परिणाम होनेसे सर्पको सहज (उसके साथ उत्पन्न होनेवाला) कहा है ।

इति श्रुतेः। यः स्रष्टा स मायान्तरमनापन्न एव कार्यं सृष्ट्वा पश्चात्प्राविशदिति हि श्रूयते। यथा भुक्त्वा गच्छतीति भुजिगमिक्रिययोः पूर्वापरकालयोरितरेतरविच्छेदोऽविशिष्टश्च कर्ता तद्वदिहापि स्यात्। न तु तत्स्थस्यैव मायान्तरोपजनन एतत्सम्भवति। न च स्थानान्तरेण वियुज्य स्थानान्तरसंयोगलक्षणः प्रवेशो निरवयवस्यापरिच्छिन्नस्य दृष्टः।

सावयव एव प्रवेशश्रवणादिति चेत्?

न; "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" (मु० उ० २।१।२) "निष्कलं निष्क्रियम्" (श्वे० उ० ६।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः, सर्वव्यपदेश्यधर्मविशेषप्रतिषेधश्रुतिभ्यश्च।

प्रतिबिम्बप्रवेशवदिति चेत्?

जो स्रष्टा था उसने मायान्तरको प्राप्त हुए बिना ही कार्यकी रचना कर पीछेसे उसमें प्रवेश किया—ऐसा श्रुतिने कहा गया है। जिस प्रकार भोजन करके जाता है इस वाक्यमें पूर्वापरकालमें होनेवाली भोजन और गमनक्रियाओंका परस्पर विभेद है और उनका कर्ता अलग-अलग नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। वह उसमें स्थितरूप ही मायान्तरको प्राप्त होनेपर सम्भव नहीं है। तथा जो निरवयव और अपरिच्छिन्न होता है उसका एक स्थानसे वियुक्त होकर दूसरे स्थानसे संयुक्त होनारूप प्रवेश नहीं देखा जाता।

सिद्धान्ती—उसका प्रवेश सुना गया है, इसलिये यदि वह सावयव ही हो तो?

पूर्व०—नहीं; "शरीररूप पुरमें रहनेवाला आत्मा दिव्य और अमूर्त है" "वह निरवयव और निष्क्रिय है" इत्यादि श्रुतियोंसे तथा सब प्रकारके व्यपदेश्य धर्मोंका निषेध करनेवाली श्रुतियोंसे ऐसा सिद्ध नहीं होता।

सिद्धान्ती—[घटादिमें] प्रतिबिम्बके प्रवेशके समान उसका प्रवेश हो तो?

न, वस्त्वन्तरेण विप्रकर्षानुपपत्तेः ।

पूर्व०—नहीं, क्योंकि वस्त्वन्तररूपसे उसका दूरस्थ होना सम्भव नहीं ।[1]

द्रव्ये गुणप्रवेशवदिति चेत् ?

सिद्धान्ती—द्रव्यमें गुणके प्रवेशके समान उसका प्रवेश माना जाय तो?

न, अनाश्रितत्वात् । नित्यपरतन्त्रस्यैवाश्रितस्य गुणस्य द्रव्ये प्रवेश उपचर्यते । न तु ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यश्रवणात्तथा प्रवेश उपपद्यते ।

पूर्व०—नहीं, क्योंकि वह किसीके आश्रित नहीं है । जो नित्यपरतन्त्र और पराश्रित है उस गुणके ही द्रव्यमें प्रवेशका उपचार किया जाता है । ब्रह्मका उस प्रकार प्रवेश करना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका तो स्वातन्त्र्य सुना गया है ।

फले बीजवदिति चेत् ?

सिद्धान्ती—यदि वह [प्रवेश] फलमें बीजके समान हो तो ?

न; सावयवत्ववृद्धिक्षयोत्पत्तिविनाशादिधर्मवत्त्वप्रसङ्गात् । न चैवं धर्मवत्त्वं ब्रह्मणः "अजोऽजरः" इत्यादि श्रुतिन्यायविरोधात् ।

पूर्व०—नहीं, ऐसा माननेसे उसके सावयवत्व तथा वृद्धि, क्षय एवं उत्पत्ति-विनाशादि धर्मयुक्त होनेका प्रसंग होगा । किंतु ब्रह्मका ऐसे धर्मोंवाला होना सम्भव नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेपर "वह अजन्मा और अजर है" इत्यादि श्रुति और युक्तिसे विरोध उपस्थित होगा ।

तस्मादन्य एव संसारी परिच्छिन्न इह प्रविष्ट इति चेत् ?

अतः यदि ऐसा मानें कि परमात्मासे भिन्न किसी संसारीने ही इसमें प्रवेश किया है तो ?

१. क्योंकि प्रतिबिम्ब तभी पड़ता है जब कोई वस्तु प्रतिबिम्बके आश्रयभूत जल या दर्पणसे दूरस्थ हो । ब्रह्म व्यापक है, इसलिये उसका प्रतिबिम्बरूपसे प्रवेश नहीं हो सकता ।

नः "सेयं देवतैक्षत" (छा० उ० ६ । ३ । २) इत्यारभ्य "नामरूपे व्याकरवाणि" (६ । २ । ३) इति तस्या एव प्रवेशव्याकरणकर्तृत्वश्रुतेः । तथा "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २ । ६ । १) "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐ० उ० ३ । १२) "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते" "त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि" (श्वे० उ० ४ । ३) "पुरश्चक्रे द्विपदः" (बृ० उ० २।५।१८) "रूपं रूपम्" (क० उ० २। २ । ९) इति च मन्त्रवर्णान्न परादन्यस्य प्रवेशः ।

सिद्धान्ती—ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि "उस इस देवताने ईक्षण किया" यहाँसे लेकर "मैं नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति करूँ" यहाँतक श्रुतिसे उसीका प्रवेश और अभिव्यक्त करना सिद्ध होता है। तथा "उसे रचकर वह पीछेसे उसीमें प्रविष्ट हो गया", "वह इसी प्रकार मस्तकके अन्तिम भागको विदीर्ण कर उसके द्वारा प्रवेश कर गया", "वह धीर समस्त रूपोंको जानकर उनके नाम रख उनके द्वारा बोलता रहता है", "तू कुमार है, तू ही कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर लाठीके सहारे चलता है", "उसने दो चरणवाले शरीर बनाये", "रूप-रूपके [अनुरूप हो गया]" इत्यादि मन्त्रवर्णोंसे भी परमात्मासे भिन्न किसी अन्यका प्रवेश सिद्ध नहीं होता।

अविष्टानामितरेतरभेदात्परानेकत्वमिति चेत् ?

पूर्व०—किंतु प्रविष्ट होनेवाले पदार्थोंका एक दूसरेसे भेद हुआ करता है, इसलिये परमात्माका अनेकत्व प्राप्त होता है।

न, "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः" "एकः सन्बहुधा विचचार" "त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (श्वे०

सिद्धान्ती—नहीं, "एक ही देव अनेक प्रकारसे प्रविष्ट हुआ", "एक होकर भी उसने अनेक रूपसे संचार किया", "तुम एक ही अनेकोंमें अनुप्रविष्ट हो", "सर्वभूतोंमें निहित एक देव है, वह सबमें व्याप्त और

उ० ६ । ११) इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

प्रवेश उपपद्यते नोपपद्यत इति तिष्ठतु तावत् । प्रविष्टानां संसारित्वात्तदनन्यत्वाच्च परस्य संसारित्वमिति चेत् ?

न, अशनायाद्यत्ययश्रुतेः । सुखित्वदुःखित्वादिदर्शनान्नेति चेन्न, "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (क० उ० २ । २ । ११) इति श्रुतेः ।

प्रत्यक्षादिविरोधादयुक्तमिति चेत् ?

न, उपाध्याश्रयजनितविशेषविषयत्वात्प्रत्यक्षादेः । "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" (बृ० उ० ३ । ४ । २) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ० उ० ४ । ५ । १५) "अविज्ञातं विज्ञातृ" (बृ०

समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है" इत्यादि श्रुतियोंसे ऐसा सिद्ध नहीं होता ।

पूर्व०-उत्पन्न किये हुए कार्यवर्गके भीतर परमात्माका प्रवेश होना सम्भव है अथवा नहीं है—यह प्रश्न तबतक अलग रहे, किंतु जो प्रविष्ट हैं वे संसारी हैं और उससे अभिन्न हैं, इसलिये परमात्माका भी संसारी होना प्राप्त होता है ।

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है; क्योंकि परमात्माको क्षुधादि सांसारिक धर्मोंसे परे बतानेवाली श्रुति है । यदि कहो कि उसको सुखी-दुःखी होना देखा जाता है, इसलिये यह कथन ठीक नहीं है तो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि "सबसे अलग रहनेवाला परमात्मा लौकिक दुःखसे लिप्त नहीं होता" ऐसी श्रुति है ।

पूर्व०-किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे इस कथनका विरोध होनेके कारण यह मान्य नहीं है ।

सिद्धान्ती-ऐसा मत कहो, क्योंकि प्रत्यक्षादि तो उपाधिके आश्रयसे होनेवाले विशेषको ही विषय करनेवाले होते हैं । "दृष्टिके द्रष्टाको मत देखो," "अरे, विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ?," "वह स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंको जाननेवाला है"

उ० ३ । ८ । ११) इत्यादिश्रुतिभ्यो नात्मविषयं विज्ञानम् । किं तर्हि ? बुद्ध्याद्युपाध्यात्मप्रतिच्छायाविषयमेव सुखितोऽहं दुःखितोऽहमित्येवमादि प्रत्यक्षविज्ञानम् ।

अयमहमिति विषयेण विषयिणः सामानाधिकरण्योपचारात्, "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यन्यात्मप्रतिषेधाच्च, देहावयवविशेष्यत्वाच्च सुखदुःखयोर्विषयधर्मत्वम् ।

"आत्मनस्तु कामाय" (बृ० उ० २ । ४ । ५) इत्यात्मार्थत्वश्रुतेरयुक्त इति चेन्न, "यत्र वा अन्यदिव स्यात्" इत्यविद्याविषया-

इत्यादि श्रुतियोंसे [प्रमाणजनित] ज्ञान आत्माको विषय करनेवाला नहीं है। तो फिर कैसा है ? 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान बुद्धि आदि उपाधिमें पड़नेवाले आत्माके प्रतिबिम्बको ही विषय करनेवाला है।

इसके सिवा 'यह (देह) मैं हूँ' इस प्रकार विषयके साथ विषयीके सामानाधिकरण्यका उपचार होनेसे "इससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं है" इस श्रुति-वाक्यसे अन्य आत्माका निषेध होनेसे तथा देहके अवयवोंसे विशेष्य होनेके कारण सुख-दुःखकी विषयधर्मता सिद्ध होती है।[1]

यदि कहो कि "आत्माके लिये ही सब प्रिय होते हैं" ऐसी आत्मार्थत्वको प्रकट करनेवाली श्रुति होनेसे ऐसा कथन ठीक नहीं है तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि "जहाँ कोई अन्य-सा होता है" इस श्रुतिके अनुसार उसकी अविद्याजनित

१. तात्पर्य यह है कि अज्ञानवश देहके साथ आत्माका तादात्म्य होनेसे देहके सुख-दुःखादिका आत्मामें उपचार किया जाता है, आत्मासे भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है और द्रष्टा सर्वथा शुद्ध होता है, इसलिये आत्मामें सुख-दुःखादि धर्म नहीं रह सकते तथा सुख-दुःखकी जो प्रतीति होती है उसका आश्रय भी कोई-न-कोई देहका अवयव ही होता है, जैसे शिरःपीड़ा, उदरशूलादि। इससे भी वे अनात्मगत ही सिद्ध होते हैं।

त्मार्थत्वाभ्युपगमात् "तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० ४ । ५ । १५) "नेह नानास्ति किंचन" (बृ० उ० ४ । ४ । १९) "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० ७) इत्यादिना विद्याविषये तत्प्रतिषेधाच्च नात्मधर्मत्वम् ।

आत्मार्थता मानी जाती है; "वहाँ कौन किसके द्वारा देखे," "वहाँ नाना कुछ नहीं है," "वहाँ एकत्व देखनेवालेको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है ?" इत्यादि वाक्योंसे ज्ञानदृष्टिमें तो उनका निषेध होनेके कारण आत्मधर्मत्व होना सम्भव नहीं है ।

तार्किकसमयविरोधादयुक्तमिति चेत् ?

पूर्व०—किंतु नैयायिकोंके सिद्धान्तसे विरोध होनेके कारण यह (आत्माका असंसारित्व) अयुक्त है ।[1]

न; युक्त्याप्यात्मनो दुःखित्वानुपपत्तेः । न हि दुःखेन प्रत्यक्षविषयेण आत्मनो विशेष्यत्वम् प्रत्यक्षाविषयत्वात् । आकाशस्य शब्दगुणवत्त्ववदात्मनो दुःखित्वमिति चेन्न, एकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः । न हि सुखग्राहकेण प्रत्यक्षविषयेण प्रत्ययेन नित्यानुमेयस्यात्मनो विषयीकरणमुपपद्यते ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि युक्तिसे भी आत्माका दुःखी होना सिद्ध नहीं हो सकता । प्रत्यक्षके विषयभूत दुःखसे आत्मा विशिष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि वह स्वयं प्रत्यक्षका अविषय है । यदि कहो कि जिस प्रकार आकाश शब्द-गुणवाला माना जाता है उसी प्रकार आत्माका दुःखित्व भी सिद्ध हो सकता है तो यह भी होना सम्भव नहीं, क्योंकि उसका एक ज्ञानका विषय होना असम्भव है । सुखको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षविषयक ज्ञानके द्वारा नित्य अनुमेय आत्माको विषय करना सम्भव नहीं है । यदि वह उसे

१. क्योंकि नैयायिकोंके सिद्धान्तमें आत्मा बुद्धि आदि चौबीस गुणोंवाला है ।

त्तस्य च विषयीकरणे आत्मन एकत्वाद्विषय्यभावप्रसङ्गः ।

एकस्यैव विषयविषयित्वं दीपवदिति चेत् ?

न; युगपदसम्भवात्, आत्मन्यंशानुपपत्तेश्च । एतेन विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकत्वं प्रत्युक्तम् ।

प्रत्यक्षानुमानविषययोश्च दुःखात्मनोर्गुणगुणित्वे नानुमानम् । दुःखस्य नित्यमेव प्रत्यक्षविषयत्वात्, रूपादिसामानाधिकरण्याच्च ।

मनःसंयोगजत्वेऽप्यात्मनि दुःखस्य सावयवत्वविक्रियावत्त्वानित्यत्वप्रसङ्गात् । न ह्यविकृत्य संयोगि द्रव्यं गुणः कश्चिदुपयन्-

विषय कर ले तो विषयीके अभावका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय, क्योंकि आत्मा तो एक ही है।[1]

पूर्व०—दीपकके समान एकका ही विषय और विषयी भी होना सम्भव है।

सिद्धान्ती—नहीं, एक साथ ऐसा होना सम्भव नहीं है। इसके सिवा आत्मामें अंश होना सम्भव न होनेसे भी यही सिद्ध होता है। इससे विज्ञानका ग्राह्य-ग्राहक उभयरूप होना भी खण्डित हो जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय दुःख और अनुमान प्रमाणके विषय आत्माके गुण और गुणी होनेमें अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता; क्योंकि दुःख सर्वदा प्रत्यक्षका ही विषय है तथा रूपादिसे उसका सामानाधिकरण्य है।

आत्मामें दुःखको मनःसंयोगजनित माना जाय तो भी आत्माके सावयवत्व, विकारित्व एवं अनित्यत्वका प्रसङ्ग उपस्थित होता है, क्योंकि संयोगी द्रव्यको विकृत किये बिना कोई गुण

१. इसलिये यदि वह प्रत्यक्षविषयक ज्ञानका विषय हो जायगा तो विषयी होगा ? क्योंकि एक ही पदार्थ एक ही ज्ञानका विषय और विषयी दोनों नहीं ...।

पयन्वा दृष्टः क्वचित्। न च निरवयवं विक्रियमाणं दृष्टं क्वचिदनित्यगुणाश्रयं वा नित्यम्। न चाकाश आगमवादिभिर्नित्यतयाभ्युपगम्यते, न चान्यो दृष्टान्तोऽस्ति।

विक्रियमाणमपि तत्प्रत्ययानिवृत्तेर्नित्यमेवेति चेत्?

न, द्रव्यस्य अवयवान्यथात्वव्यतिरेकेण विक्रियानुपपत्तेः। सावयवत्वेऽपि नित्यत्वमिति चेन्न; सावयवस्यावयवसंयोगपूर्वकत्वे सति विभागोपपत्तेः। वज्रादिष्वदर्शनान्नेति चेन्न, अनुमेयत्वात्सं-

कहीं आता-जाता नहीं देखा गया। तथा निरवयव वस्तुको कहीं विकृत होते और नित्य वस्तुको अनित्य गुणोंका आश्रय होते नहीं देखा गया। आगमोक्तमतावलम्बियोंने आकाशको तो नित्य नहीं माना[1] और इसके सिवा कोई दूसरा दृष्टान्त नहीं है।

पूर्व०-विकृत होनेपर भी 'यह वही है' ऐसा ज्ञान निवृत्त न होनेके कारण वह नित्य ही है-ऐसा मानें तो?[2]

सिद्धान्ती-ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य पदार्थके अवयवोंमें परिवर्तन हुए विना विकार होना सम्भव नहीं है। यदि कहो कि सावयव होनेपर भी वह नित्य है[3] तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि सावयव पदार्थ अवयवसंयोगपूर्वक उत्पन्न होनेके कारण उसके अवयवोंका विभाग होना सम्भव है। यदि कहो कि वज्रादिमें तो ऐसा नहीं देखा जाता[4] तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनकी अवयवसंयोग-

१. क्योंकि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० उ० २।१) इस श्रुतिसे आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध होती है और उत्पन्न होनेवाला पदार्थ नित्य नहीं हो सकता।

२. यह परिणामवादियोंका मत है।

३. ऐसा जैनी लोग मानते हैं।

४. अर्थात् वज्रादि (बिजली आदि) सावयव होनेपर भी अवयवसंयोगपूर्वक उत्पन्न होते हों, ऐसा नहीं देखा जाता।

योगपूर्वत्वस्य । तस्मान्नात्मनो दुःखाद्यनित्यगुणाश्रयत्वोपपत्तिः ।

परस्यादुःखित्वेऽन्यस्य च दुःखिनोऽभावे दुःखोपशमनाय शास्त्रारम्भानर्थक्यमिति चेत् ?

न, अविद्याध्यारोपितदुःखित्वभ्रमापोहार्थत्वात्, आत्मनि प्रकृतसङ्ख्यापूरणभ्रमापोहवत् ।

कल्पितदुःख्यात्माभ्युपगमाच्च ।

जलसूर्यादिप्रतिबिम्बवदात्मप्रवेशश्च प्रतिबिम्बवद्व्याकृते कार्ये उपलभ्यत्वम् । प्रागुत्पत्तेरनुपलब्ध

पूर्वकताका अनुमान किया जा सकता है। अतः आत्माका अनित्य गुणोंका आश्रय होना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—किंतु यदि परमात्मा दुःखी नहीं है और उससे भिन्न दूसरे दुःखी पदार्थका अभाव है तो ऐसी स्थितिमें [दुःखकी निवृत्तिके लिये] शास्त्रका आरम्भ होना व्यर्थ ही सिद्ध होता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि आत्मामें प्रकृत (दशम) संख्याकी अपूर्वरूप भ्रमकी निवृत्तिके समान[1] शास्त्र अविद्यासे आरोपित दुःखित्वरूप भ्रमकी निवृत्तिके लिये है । तथा कल्पित दुःखी आत्मा स्वीकार भी किया गया है ।[2]

जलमें पड़े हुए सूर्यादिके प्रतिबिम्बके समान व्याकृत कार्यमें आत्माका प्रतिबिम्बके समान उपलब्ध होना ही उसका कार्यमें प्रवेश है। जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व जो

१. यह आख्यायिका इस प्रकार है। एक बार दस आदमी विदेश गये। मार्गमें उन्होंने एक नदी पार की। उस पार पहुँचनेपर यह देखनेके लिये कि हम दस हैं या नहीं, आपसमें गणना करने लगे। परतु जो गिनता वह अपनेको छोड़कर गिनता। इसलिये दस संख्याकी पूर्ति न होती। इतनेमें ही एक आप्त पुरुष आया, उसने उन्हें अलग-अलग गिनकर बता दिया कि तुम दस ही हो। इससे उनका भ्रमजनित दुःख दूर हो गया।

२. इसलिये भी शास्त्रारम्भ सार्थक है।

आत्मा पश्चात्कार्ये च सृष्ट व्याकृते बुद्धेरन्तरुपलभ्यमानः सूर्यादिप्रतिबिम्बवज्जलादौ कार्यं सृष्ट्वा प्रविष्ट इव लक्ष्यमाणो निर्दिश्यते "स एष इह प्रविष्टः" (बृ० उ० १ । ४ । ७) "ताः सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत" "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐ० उ० ३ । १२) "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छा० उ० ६ । २ । ३) इत्येवमादिभिः।

आत्मा उपलब्ध नहीं होता था वह व्यक्त कार्यकी रचना हो जानेपर बुद्धिके भीतर उपलब्ध होनेसे जलादिमें सूर्यादिके प्रतिबिम्बके समान कार्यको रचकर उसमें प्रविष्ट हुआ-सा लक्षित होता है--ऐसा कहा जाता है;[1] जैसा कि वह यह आत्मा इसमें प्रवेश किये हुए है," "उन (शरीरों) को रचकर वह उनमें प्रवेश कर गया", "वह इस मूर्धसीमाको विदीर्णकर इसके द्वारा प्रवेश कर गया", "उस इस देवताने ईक्षण किया--अहो ! मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें प्रवेश कर" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है।

न तु सर्वगतस्य निरवयवस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः कदाचिदप्युपपद्यते। न च परादात्मनोऽन्योऽस्ति द्रष्टा "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ" (बृ० उ० ३।८।११) इत्यादि श्रुतेरित्यवोचाम। उपल-

जो सर्वगत और निरवयव है उस आत्माका एक दिशा, देश या कालको छोड़कर अन्य दिशा, देश या कालको प्राप्त होनारूप प्रवेश कभी सम्भव नहीं है। तथा यह हम पहले ही कह चुके हैं कि "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" "इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है" इत्यादि श्रुतिके अनुसार परमात्मासे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है।

---

१. अर्थात् वस्तुतः वह प्रतिबिम्बके समान प्रवेश करता हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्बके आश्रयसे बिम्बके पार्थक्यके समान आत्माका बुद्धि आदिसे व्यवधान नहीं है।

भ्यर्थत्वाच्च सृष्टिप्रवेशस्थित्यप्ययवाक्यानाम्, उपलब्धेः पुरुषार्थत्वश्रवणात्। "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १।४।१०) "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (बृ० उ० १।४।१०) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१) "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३।२।९) "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० उ० ६।१४।२) "तस्य तावदेव चिरम्" (छा० उ० ६।१४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (गीता १८।५५) "तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। भेददर्शनापवादाच्च सृष्ट्यादिवाक्यानाम् आत्मैकत्वदर्शनार्थपरत्वोपपत्तिः। तस्मात्कार्यस्थस्य उपलभ्यत्वमेव प्रवेश इत्युपचर्यते।

तथा सृष्टि, प्रवेश, स्थिति और लयका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य आत्मोपलब्धिके ही लिये हैं, क्योंकि आत्मोपलब्धि ही पुरुषार्थ है—ऐसा सुना गया है; जैसा कि "उसने अपनेहीको जाना", "अतः वह सर्वरूप हो गया", "ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है", "वह जो कि उस परब्रह्मको जानता है ब्रह्म ही हो जाता है", "आचार्यवान् पुरुषको ज्ञान होता है", उसके लिये अभीतक देरी है" इत्यादि श्रुतियोंसे, तथा "तब मुझे तत्त्वतः जानकर उसके पश्चात् मुझहीमें प्रवेश करता है", "वही समस्त विद्याओंमें श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे अमृतकी प्राप्ति होती है" इत्यादि स्मृतियोंसे भी सिद्ध होता है। इसके सिवा भेददर्शनकी निन्दा होनेसे भी सृष्ट्यादिविषयक वाक्योंका आत्मैकत्वदर्शनपरक होना युक्त है। अतः कार्यस्थ आत्माका उपलब्ध होना ही उसका प्रवेश है—ऐसा उपचारसे कहा जाता है।

आ नखाग्रेभ्यो नखाग्रमर्यादम् आत्मनश्चैतन्यमुपलभ्यते। तत्र

'आ नखाग्रेभ्यः' अर्थात् नखाग्रपर्यन्त आत्माका चैतन्य उपलब्ध होता

कथमिव प्रविष्टः ? इत्याह—यथा लोके क्षुरधाने क्षुरो धीयतेऽस्मिन्निति क्षुरधानं तस्मिन्नापितोपस्कराधाने, क्षुरोऽन्तःस्थ उपलभ्यते, अवहितः प्रवेशितः स्याद् यथा वा विश्वम्भरोऽग्निः, विश्वस्य भरणाद्विश्वम्भरः कुलाये नीडेऽग्निः काष्ठादाववहितः स्यादित्यनुवर्तते। तत्र हि स मथ्यमान उपलभ्यते।

है। वह उसमें किसके समान प्रविष्ट है, सो श्रुति बतलाती है—जिस प्रकार लोकमें क्षुरधानमें—जिसमें छुरा रखा जाय उसे क्षुरधान कहते हैं उसमें अर्थात् नापितके मुण्डन-सामग्री (औजार) रखनेके संदूकमें उसके भीतर रखा हुआ छुरा उपलब्ध होता अर्थात् उसमें अवहित (छिपा हुआ)—प्रविष्ट रहता है। अथवा जिस प्रकार विश्वम्भर-अग्नि, जो विश्वका भरण करनेके कारण विश्वम्भर है, कुलाय—नीड यानी काष्ठादिमें छिपा रहता है—इस प्रकार यहाँ 'अवहितः स्यात्' इसकी अनुवृत्ति होती है, वहाँ वह मन्थन करनेपर देखा जाता है।

यथा च क्षुरः क्षुरधान एकदेशेऽवस्थितो यथा चाग्निः काष्ठादौ सर्वतो व्याप्यावस्थितः, एवं सामान्यतो विशेषतश्च देहं संव्याप्यावस्थित आत्मा। तत्र हि स प्राणनादिक्रियावान् दर्शनादिक्रियावांश्चोपलभ्यते। तस्मात्तत्रैवं प्रविष्टं तमात्मानं प्राणनादिक्रियाविशिष्टं न पश्यन्ति नोपलभन्ते।

तथा जिस प्रकार छुरा क्षुरधानके एक देशमें स्थित रहता है और अग्नि जैसे काष्ठादिमें उसे सब ओरसे व्याप्त करके विद्यमान रहता है इसी प्रकार आत्मा शरीरको सामान्य और विशेषरूपसे व्याप्त करके स्थित है। वहाँ वह प्राणनादि और दर्शनादि क्रियावाला देखा जाता है। अतः उस शरीरमें प्रविष्ट उस प्राणनादिक्रियाविशिष्ट आत्माको लोग नहीं देखते—उन्हें उसकी उपलब्धि नहीं होती।

नन्वप्राप्तप्रतिषेधोऽयं तं न

शङ्का—किंतु 'उस आत्माको नहीं देखते यह तो अप्राप्तका प्रतिषेध

पश्यन्तीति, दर्शनस्याप्रकृतत्वात्।

नैष दोषः, सृष्ट्यादिवाक्यानाम् आत्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थपरत्वात्प्रकृतमेव तस्य दर्शनम्। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय" (बृ० उ० २।५।१९) इति मन्त्रवर्णात्।

क्रियाविशिष्टस्यात्मनोऽसमस्तत्व-प्रदर्शनम्

तत्र प्राणनादिक्रियाविशिष्टस्यादर्शने हेतुमाह-अकृत्स्नोऽसमस्तो हि यस्मात्स प्राणनादिक्रियाविशिष्टः। कुतः पुनरकृत्स्नत्वम्? इत्युच्यते—प्राणन्नेव प्राणनक्रियामेव कुर्वन्प्राणो नाम प्राणसमाख्यः प्राणाभिधानो भवति। प्राणनक्रियाकर्तृत्वाद्धि प्राणः प्राणितीत्युच्यते नान्यां क्रियां कुर्वन्। यथा लावकः पाचक इति। तस्मात्क्रियान्तरविशिष्टस्य अनुपसंहारादकृत्स्नो हि सः। तथा वदन्वदनक्रियां कुर्वन्व-

है, क्योंकि यहाँ दर्शनका कोई प्रसंग नहीं है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सृष्ट्यादिपरक वाक्योंका तात्पर्य आत्मैकत्वबोध होनेके कारण उसका दर्शन प्रकृत ही है. जैसा कि "वह प्रत्येक रूपके अनुरूप हो गया है, उसका यह रूप उसके दर्शनके लिये है" इस मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है।

अब श्रुति प्राणनादिक्रियाविशिष्ट आत्माके दिखायी न देनेमें हेतु बतलाती है—क्योंकि वह प्राणनादिक्रियाविशिष्ट आत्मा अकृत्स्न—असम्पूर्ण है। उसकी असम्पूर्णता क्यों है? सो बतलाया जाता है—प्राणन अर्थात् प्राणनक्रिया करनेसे ही वह प्राण यानी प्राणनामवाला होता है। [तात्पर्य यह है कि] प्राणन क्रियाका कर्ता होनेसे ही 'प्राण प्राणन कर्ता है' ऐसा कहा जाता है, किसी अन्य क्रियाके करनेसे नहीं जैसे लावक, पाचक इत्यादि। अतः उसमें क्रियान्तरविशिष्टका उपसंहार (संग्रह) न होनेके कारण वह असम्पूर्ण ही है। इसी प्रकार 'वक्तीति वाक्' इस व्युत्पत्तिसे बोलने यानी वदनक्रिया करनेके कारण वह

क्तीति वाक्, पश्यंश्चक्षुश्चष्ट इति चक्षुर्द्रष्टा, शृण्वञ्शृणोतीति श्रोत्रम् ।

'प्राणन्नेव प्राणः' 'वदन्वाक्' इत्याभ्यां क्रियाशक्त्युद्भवः प्रदर्शितो भवति । 'पश्यंश्चक्षुः' 'शृण्वञ्श्रोत्रम्' इत्याभ्यां विज्ञानशक्त्युद्भवः प्रदर्श्यते, नामरूपविषयत्वाद्विज्ञानशक्तेः । श्रोत्रचक्षुषी विज्ञानस्य साधने, विज्ञानं तु नामरूपसाधनम् । न हि नामरूपव्यतिरिक्तं विज्ञेयमस्ति । तयोश्चोपलम्भे करणं चक्षुःश्रोत्रे ।

क्रिया च नामरूपसाध्या प्राणसमवायिनी, तस्याः प्राणाश्रयाया अभिव्यक्तौ वाक्करणम् । तथा पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । सर्वेषामुपलक्षणार्था वाक् । एतदेव हि सर्वं व्याकृतम् । "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" (बृ० उ० १ । ६ । १) इति हि वक्ष्यति ।

वाक् है, 'चष्टे इति चक्षुः' इस व्युत्पत्तिसे देखनेवाले यानी द्रष्टाका नाम चक्षु है और 'शृणोतीति श्रोत्रम्' इस व्युत्पत्तिसे जो सुनता है वह श्रोत्र है ।

'प्राणन्नेव प्राणः', 'वदन्वाक्' इन दोनों वाक्योंसे आत्मामें क्रिया-शक्तिका उद्भव दिखाया गया है तथा 'पश्यंश्चक्षुः', 'शृण्वञ्श्रोत्रम्' इन दोनों वाक्योंसे विज्ञानशक्तिका प्राकट्य प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि विज्ञानशक्ति नाम और रूपको विषय करनेवाली होती है । श्रोत्र और नेत्र विज्ञानके साधन हैं तथा विज्ञान नाम-रूपका साधन है; क्योंकि नाम-रूपके सिवा और कोई विज्ञेय नहीं है तथा उनकी उपलब्धिमें नेत्र और श्रोत्र करण हैं ।

नाम और रूपसे साध्य जो क्रिया है वह प्राणके आश्रित है और उस प्राणाश्रिता क्रियाकी अभिव्यक्तिमें वाक् साधन है । इसी प्रकार पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामकी कर्मेन्द्रियाँ भी हैं । वाक् इन सबके उपलक्षणके लिये है । यही सब व्याकृत जगत् है । आगे "यह सारा नामरूप कर्म त्रयरूप ही है" इस श्रुतिसे यही बात कही जायगी ।

मन्वानो मनो मनुत इति । ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनो मनुतेऽनेनेति । पुरुषस्तु कर्ता सन्मन्वानो मन इत्युच्यते ।

'मनुते इति मनः' इस व्युत्पत्तिसे मनन करनेपर उसका नाम मन हुआ । मन ज्ञानशक्तिके विकासोंका साधारण साधन है, क्योंकि इससे आत्मा मनन करता है । पुरुष ही कर्ता होनेपर जब मनन करता है तो 'मन' इस नामसे कहा जाता है ।

विशिष्टात्मवेदि-नोऽकृत्स्नत्व-निरूपणम्

तान्येतानि प्राणादीन्यस्यात्मनः कर्मनामानि, कर्मजानि नामानि कर्मनामान्येव, न तु वस्तुमात्रविषयाणि । अतो न कृत्स्नात्मवस्त्ववद्योतकानि । एवं ह्यसावात्मा प्राणनादिक्रियया तत्तत्क्रियाजनितप्राणादिनामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणोऽवद्योत्यमानोऽपि । स योऽतोऽस्मात्प्राणनादिक्रियासमुदायाद् एकैकं प्राणं चक्षुरिति वा विशिष्टम् अनुपसंहृतेतरविशिष्टक्रियात्मकं मनसा अयमात्मेत्युपास्ते चिन्तयति, न स वेद न स जानाति ब्रह्म । कस्मात् ? अकृत्स्नोऽसमस्तो हि यस्मादेष आत्मा अस्मात्प्राणनादिसमुदायात् । अतः प्रविभक्त एकैकेन

वे ये प्राणादि इस आत्माके कर्मनाम अर्थात् कर्मजनित नाम ही हैं, ये वस्तुमात्रको विषय करनेवाले नहीं हैं । अतः ये सम्पूर्ण आत्मवस्तुके द्योतक नहीं हैं । इस प्रकार यह आत्मा प्राणनादि क्रियासे उस-उस क्रियाके कारण होनेवाले प्राणादि नाम और रूपोंसे व्यक्त होने अर्थात् प्रकाशित होनेपर भी [पूर्णतया प्रकाशित नहीं होता] । वह जो इस प्राणनादि-क्रियासमुदायमेंसे किसी क्रियासे विशिष्ट प्राण या चक्षुकी, अन्य विशिष्टक्रियामय आत्माका उपसंहार न करके, मनके द्वारा 'यह आत्मा है' इस प्रकार उपासना यानी चिन्तन करता है वह नहीं जानता—उसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि इस प्राणनादि समुदायसे विशिष्ट यह आत्मा अकृत्स्न—असम्पूर्ण है । इसलिये वह अन्य धर्मोंका उपसंहार न करनेके कारण प्रविभक्त

विशेषणेन विशिष्ट इतरधर्मान्तरानुपसंहाराद्भवति। यावदयमेवं वेद पश्यामि शृणोमि स्पृशामीति वा स्वभावप्रवृत्तिविशिष्टं वेद तावदञ्जसा कृत्स्नमात्मानं न वेद।

कथं पुनः पश्यन्वेद? इत्याह—

निरुपाधिकात्मोपासनमेव कृत्स्नत्वम् आत्मेत्येव, आत्मेति प्राणादीनि विशेषणानि यान्युक्तानि तानि यस्य स आप्नुवंस्तान्यात्मा इत्युच्यते। स तथा कृत्स्नविशेषोपसंहारी सन्कृत्स्नो भवति। वस्तुमात्ररूपेण हि प्राणाद्युपाधिविशेषक्रियाजनितानि विशेषणानि व्याप्नोति। तथा च वक्ष्यति—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति। तस्मादात्मेत्येवोपासीत।

एवं कृत्स्नो ह्यसौ स्वेन वस्तुरूपेण गृह्यमाणो भवति। कस्मात्कृत्स्नः? इत्याशङ्क्याह—अत्रा-

यानी एक-एक विशेषणसे विशिष्ट होता है। अतः जबतक यह 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ' इस प्रकार आत्माको स्वाभाविक प्रवृत्तियोंसे विशिष्ट जानता है तबतक यह साक्षात् रूपसे सम्पूर्ण आत्माको नहीं जानता।

तो फिर किस प्रकार देखनेपर वह उसे जानता है? इसपर श्रुति कहती है—'आत्मा है' इस प्रकार ही। आत्मा—ऊपर जिन प्राणनादि विशेषणोंका वर्णन किया गया है, वे जिसके हैं, उन्हें व्याप्त करनेके कारण वह आत्मा कहा जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विशेषोंका अपनेमें उपसंहार करनेवाला होनेसे वह सम्पूर्ण है। वह अपने वस्तुमात्ररूपसे प्राणादि विशेष उपाधियोंकी क्रियासे होनेवाले विशेषणोंमें व्याप्त है। ऐसा ही "मानो ध्यान करता है, मानो चेष्टा करता है" इस वाक्यसे श्रुति कहेगी भी। अतः 'वह आत्मा है' इस प्रकार ही उसकी उपासना करनी चाहिये।

इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूपसे ग्रहण किया जानेपर यह सम्पूर्ण है। क्यों सम्पूर्ण है?—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

स्मिन्नात्मनि हि यस्मान्निरुपाधिकजलसूर्यप्रतिबिम्बभेदा इवादित्ये प्राणाद्युपाधिकृता विशेषाः प्राणादिकर्मजनामाभिधेया यथोक्ता ह्येते एकमभिन्नतां भवन्ति प्रतिपद्यन्ते ।

क्योंकि इस निरुपाधिक आत्मामें, जिस प्रकार जलमें पड़े हुए सूर्य-प्रतिबिम्बके भेद सूर्यमें एक हो जाते हैं उसी प्रकार, ऊपर बतलाये हुए प्राणादि कर्मजन्य नामोंसे कहे जानेवाले प्राणादि उपाधियोंके कारण होनेवाले सम्पूर्ण विशेष एक होते अर्थात् अभिन्नताको प्राप्त हो जाते हैं ।

'आत्मेत्येवोपासीत' इति नात्मोपासनस्यापूर्वविधिः । पक्षे विधेयत्वम् प्राप्तत्वात् "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ४ । १) "कतम आत्मेति — योऽयं विज्ञानमयः" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इत्येवमाद्यात्मप्रतिपादनपराभिः श्रुतिभिरात्मविषयं विज्ञानमुत्पादितम् । तत्रात्मस्वरूपविज्ञानेनैव तद्विषयानात्माभिमानबुद्धिः कारकादिक्रियाफलाध्यारोपणात्मिका अविद्या निवर्तिता । तस्यां निवर्तितायां कामादिदोषानुपपत्तेः

'आत्मेत्येवोपासीत' यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि यह एक पक्षमें स्वतः प्राप्त है ।[१] "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है" "आत्मा कौन-सा है, इसपर कहते हैं—यह जो विज्ञानमय है" इस प्रकारकी आत्माका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है । तहाँ आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही उसमें होनेवाली अनात्माभिमान-बुद्धि अर्थात् कारकादि क्रिया एवं फलकी अध्यारोपरूपा अविद्या निवृत्त की जाती है । उसके निवृत्त हो जानेपर कामादि दोषोंकी सम्भावना

१. जो अर्थ अत्यन्त अप्राप्त होता है उसके लिये जो विधि की जाती है उसे अपूर्वविधि कहते है । जैसे 'जिसे स्वर्गकी इच्छा हो वह अग्निहोत्र करे' यहाँ अग्निहोत्र अत्यन्त अप्राप्त था, अतः उसके लिये जो विधि की गयी है वह अपूर्वविधि है । आत्मा विधिका विषय नहीं है—यह बात आगेके विचारसे स्पष्ट हो जायगी ।

अनात्मचिन्तानुपपत्तिः । पारिशेष्यादात्मचिन्तैव । तस्मात्तदुपासनमस्मिन्पक्षे न विधातव्यम्, प्राप्तत्वात् ।

न रहनेसे अनात्मचिन्तनकी सम्भावना नहीं रहती। फलतः आत्मचिन्तन ही रह जाता है। अतः इस पक्षमें आत्मोपासनाका विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वतः प्राप्त है।

तिष्ठतु तावत्पाक्षिक्यात्मोपासनप्राप्तिर्नित्या

उक्तार्थमीमांसा

वेति, अपूर्वविधिः स्यात्; ज्ञानोपासनयोरेकत्वेऽप्यप्राप्तत्वात् । 'न स वेद' इति विज्ञानं प्रस्तुत्य 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यभिधानाद्वेदोपासनशब्दयोरेकार्थतावगम्यते । "अनेन ह्येतत्सर्वं वेद" "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १ । ४ । १०) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च विज्ञानमुपासनम् । तस्य चाप्राप्तत्वाद्विध्यर्हत्वम् ।

शङ्का—आत्मोपासनकी प्राप्ति पाक्षिक है अथवा नित्य है—इस विचारको अभी रहने दो, यह तो अपूर्वविधि ही है, क्योंकि यहाँ ज्ञान और उपासनाका एक ही अर्थ होनेके कारण वह स्वतः प्राप्त नहीं है। 'न स वेद' (वह नहीं जानता) इस वाक्यसे विज्ञानका आरम्भ कर 'आत्मेत्येवोपासीत' इस प्रकार कहनेके कारण यहाँ 'वेद' और 'उपासन' इन शब्दोंकी एकार्थता ज्ञात होती है। "इससे इस सबको जान लेता है" "आत्माको ही जाना" इत्यादि श्रुतियोंसे भी विज्ञान उपासनाहीका नाम है। और वह (उपासना) अप्राप्त होनेके कारण विधिकी योग्यता रखती है।[1]

न च स्वरूपान्वाख्याने पुरुषप्रवृत्तिरुपपद्यते, तस्मादपूर्व-

इसके सिवा स्वरूपके अनुवादमें पुरुषकी प्रवृत्ति होनी भी सम्भव नहीं

१. क्योंकि उपासना मानस कर्म है, वह स्वतः प्राप्त नहीं होता; इसलिये उसके लिये विधिकी आवश्यकता है।

विधिरेवायम् । कर्मविधिसामान्याच्च । यथा 'यजेत' 'जुहुयात्' इत्यादयः कर्मविधयः, न तैरस्य "आत्मेत्येवोपासीत" (१।४।७) "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (२ । ४ । ५) इत्याद्यात्मोपासनविधेर्विशेषोऽवगम्यते । मानसक्रियात्वाच्च विज्ञानस्य; तथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' इत्याद्या मानसी क्रिया विधीयते, तथा "आत्मेत्येवोपासीत" (१ । ४ । ७) "मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (२ । ४ । ५) इत्याद्या क्रियैव विधीयते ज्ञानात्मिका । तथावोचाम वेदोपासनशब्दयोरेकार्थत्वमिति ।

भावनांशत्रयोपपत्तेश्च—यथा

है; इसलिये यह अपूर्वविधि ही है। तथा कर्मविधिसे इसकी समानता होनेके कारण भी [यही बात सिद्ध होती है]। जिस प्रकार 'यजन करे' 'हवन करे' इत्यादि कर्मविधियाँ हैं, उनसे "आत्मा है—इस प्रकार उपासना करे" "अयि मैत्रेयि ! यह आत्मा द्रष्टव्य है" इत्यादि आत्मोपासनसम्बन्धी विधियोंका कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। तथा विज्ञान भी मानसक्रिया ही है [इसलिये भी यह विधि है]। जिस प्रकार 'जिस देवताके लिये हवि ग्रहण किया जाय उसका 'वषट्कार' करते हुए मनसे ध्यान करे' इत्यादिरूपसे मानसी क्रियाका विधान किया जाता है उसी प्रकार "आत्मा है—इस प्रकार उपासना करे", "आत्माका मनन करना चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये" इत्यादि रूपसे ज्ञानात्मिका क्रियाका ही विधान किया जाता है। तथा 'वेद' और 'उपासन' शब्दोंका एक ही अर्थ है—यह हम कह ही चुके हैं।

इसके सिवा इस वाक्यमें भावनाके [फल, करण और इतिकर्तव्यतारूप] तीनों अंश सम्भव होनेके

हि यजेत इत्यस्यां भावनायाम्-किं केन कथम् इति भाव्याद्याकाङ्क्षापनयकारणमंशत्रयमवगम्यते, तथा उपासीत इत्यस्यामपि भावनायां विधीयमानायाम् किमुपासीत? केनोपासीत? कथमुपासीत? इत्यस्यामाकाङ्क्षायाम् आत्मानमुपासीत मनसा त्यागब्रह्मचर्यशमदमोपरमतितिक्षादीतिकर्तव्यतासंयुक्तः इत्यादिशास्त्रेणैव समर्थ्यतेऽशत्रयम्। यथा च कृत्स्नस्य दर्शपूर्णमासादिप्रकरणस्य दर्शपूर्णमासादिविध्युद्देशत्वेनोपयोगः, एवमौपनिषदाम् आत्मोपासनप्रकरणस्य आत्मोपासनविध्युद्देशत्वेनैवोपयोगः। "नेति नेति" (२।३।६) "अस्थूलम्" (३।८।८) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६।२।१) "अशना-

कारण भी यह विधिवाक्य है। जिस प्रकार 'यजेत' (यजन करे) इस भावनामें 'किस उद्देश्यसे किस साधनसे और किस प्रकार [यजन करे]' ऐसी भाव्यादिसम्बन्धिनी आकाङ्क्षाओंकी निवृत्तिके कारणभूत तीन अंश देखे जाते हैं, उसी प्रकार 'उपासीत' इस विधान की जानेवाली भावनामें भी 'किसकी उपासना करे?' 'किसके द्वारा उपासना करे?' और 'किस प्रकार उपासना करे?' ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर 'आत्माकी उपासना करे' 'मनसे करे' तथा 'त्याग, ब्रह्मचर्य, शम, दम, उपरति तथा तितिक्षादिरूप इतिकर्तव्यतासे युक्त होकर करे' इत्यादि शास्त्रसे ही तीन अंशोंका समर्थन होता है। तथा जिस प्रकार दर्शपूर्णमासादिसम्बन्धी शास्त्रके सम्पूर्ण प्रकरणका दर्शपूर्णमासकी विधिके उद्देशरूपसे ही उपयोग है उसी प्रकार उपनिषदोंके आत्मोपासनसम्बन्धी प्रकरणका भी आत्मोपासनकी विधिके उद्देशरूपसे ही उपयोग है। "नेति नेति" "अस्थूलम्" "एकमेवाद्वितीयम्"

---

१. 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' इत्यादि शास्त्र आत्मज्ञानके साधनका निरूपण करता है।

याद्यतीतः” इत्येवमादिवाक्यानाम् उपास्यात्मस्वरूपविशेषसमर्पणेनोपयोगः । फलं च मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा ।

अपरे वर्णयन्ति उपासनेनात्मविषयं विशिष्टं विज्ञानान्तरं भावयेत्, तेनात्मा ज्ञायते, अविद्यानिवर्तकं च तदेव, नात्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिति । एतस्मिन्नर्थे वचनान्यपि—“विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत” (बृ० उ० ४।४।२१) “द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” (२।४।५) “सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः” (छा० उ० ४ ।) इत्यादीनि ।

न, अर्थान्तराभावात् । न च ‘आत्मेत्येवोपासीत’ इत्यपूर्वविधिः; कस्मात् ? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेण अर्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य

“अशनायाद्यतीतः” इत्यादि शास्त्रवाक्योंका उपयोग उपास्य आत्माके विशेष रूपको समर्पण करनेमें है तथा उसका फल मोक्ष या अविद्याकी निवृत्ति है ।

कुछ अन्य लोगोंका कथन है कि उपासनाके द्वारा आत्मविषयक अन्य विशिष्ट विज्ञानकी भावना करनी चाहिये, उससे आत्माका ज्ञान होता है और वही अविद्याकी निवृत्ति करनेवाला है । आत्मविषयक वेदवाक्यजनित विज्ञान उसकी निवृत्ति करनेवाला नहीं है । इस विषयमें ये वचन भी हैं—“उसे जानकर तद्विषयक बुद्धि करे” आत्माका साक्षात्कार करे तथा उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करे”, “उसका अन्वेषण करना चाहिये तथा उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये” इत्यादि ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस वाक्यका कोई अर्थान्तर नहीं हो सकता । ‘आत्मेत्येवोपासीत” यह अपूर्वविधि नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि आत्मस्वरूपके कथन और अनात्मप्रतिषेधवाक्यजनित विज्ञानसे भिन्न इसका मानसिक या बाह्य कर्तव्यसम्बन्धी कोई दूसरा अर्थ

वाभावात् । तत्र हि विधेः साफल्यं यत्र विधिवाक्यश्रवणमात्रजनितविज्ञानव्यतिरेकेण पुरुषप्रवृत्तिर्गम्यते । यथा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्येवमादौ । न हि दर्शपूर्णमासविधिवाक्यजनितविज्ञानमेव दर्शपूर्णमासानुष्ठानम्; तच्चाधिकाराद्यपेक्षानुभावि ।

नहीं हो सकता । विधिकी सफलता वहीं होती है जहाँ विधिवाक्यके श्रवणमात्रसे होनेवाले विज्ञानके सिवा कोई अन्य पुरुषप्रवृत्ति भी जानी जाय । जैसे "स्वर्गकी कामनावाला दर्श-पूर्णमास यज्ञोंद्वारा यजन करे" इत्यादि वाक्योंमें । यहाँ दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी विधिवाक्यसे होनेवाला विज्ञान ही दर्श-पूर्णमास यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं है; वह तो अधिकारी आदिकी अपेक्षासे पीछे होनेवाला है ।

न तु "नेति नेति" (२ । ३ । ६) इत्याद्यात्मप्रतिपादकवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेण दर्शपूर्णमासादिवत्पुरुषव्यापारः सम्भवति । सर्वव्यापारोपशमहेतुत्वात् तद्वाक्यजनितविज्ञानस्य । न ह्युदासीनविज्ञानं प्रवृत्तिजनकम्, अब्रह्मानात्मविज्ञाननिवर्तकत्वाच्च "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८—१६) इत्येवमादिवाक्यानाम् । न च तन्निवृत्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते; विरोधात् ।

किंतु "नेति नेति" इत्यादि आत्मप्रतिपादक वाक्योंसे होनेवाले विज्ञानके सिवा उससे, दर्श-पूर्णमासादिके समान, कोई और पुरुष-व्यापार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इन वाक्योंसे होनेवाला विज्ञान तो सब प्रकारके व्यापारकी निवृत्तिका-हेतु है । अतः उदासीन विज्ञान प्रवृत्तिका जनक नहीं हो सकता । इसके सिवा 'एकमेवाद्वितीयम्' "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य अब्रह्म और अनात्मविषयक विज्ञानकी निवृत्ति-करनेवाले भी हैं और उसकी निवृत्ति होनेपर प्रवृत्तिका होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अनात्मविज्ञानकी निवृत्ति और पुरुषप्रवृत्तिमें विरोध है ।

वाक्यजनितविज्ञानमात्रान्नाब्र-

पूर्व०—किंतु वाक्यजनित विज्ञान-

ज्ञानात्मविज्ञाननिवृत्तिरिति चेत् ?

न; "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८—१६) "नेति नेति" (बृ० उ० २ । ३ । ६) "आत्मैवेदम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) ब्रह्मैवेदममृतम्" (मु० उ० २ । २ । ११) "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" (के० उ० १ । ४) इत्यादिवाक्यानां तद्वादित्वात् ।

द्रष्टव्यविधेर्विषयसमर्पकाण्येतानीति चेत् ?

न, अर्थान्तराभावादित्युक्तोत्तरत्वात् । आत्मवस्तुस्वरूपसमर्पकैरेव वाक्यैः "तत्त्वमसि" इत्यादिभिः श्रवणकाल एव तद्दर्शनस्य कृतत्वाद् द्रष्टव्यविधेर्नानुष्ठानान्तरं कर्तव्यमित्युक्तोत्तरमेतत् ।

मात्रसे ही अब्रह्म एवं अनात्मविज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि "तू वह है", "यह (कार्य) आत्मा नहीं है, यह (कारण) आत्मा नहीं है", "यह सब आत्मा ही है", "एक ही अद्वितीय है" "यह अमृत ब्रह्म ही है", "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है", "उसीको तू ब्रह्म जान" इत्यादि वाक्य उस (अनात्मप्रतिषेध) का ही प्रतिपादन करनेवाले हैं ।

पूर्व०—ये तो [1]द्रष्टव्यविधिके विषयको समर्पण करनेवाले हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो; क्योंकि 'इनका अर्थान्तर नहीं हो सकता' ऐसा कहकर हम इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं । आत्मवस्तुके स्वरूपको समर्पण करनेवाले "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्योंसे ही उनके श्रवणकालमें ही आत्मदर्शन हो जानेके कारण द्रष्टव्यविधिसे कोई अन्य अनुष्ठान कर्त्तव्य नहीं है—इस प्रकार इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है ।

---

१. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस वाक्यसे होनेवाली विधि ।

आत्मस्वरूपान्वाख्यानमात्रेण आत्मविज्ञाने विधिमन्तरेण न प्रवर्तत इति चेत् ?

न, आत्मवादिवाक्यश्रवणेन आत्मविज्ञानस्य जनितत्वात्—किं भो कृतस्य करणम् ? तच्छ्रवणेऽपि न प्रवर्तत इति चेन्न, अनवस्थाप्रसङ्गात्। यथा आत्मवादिवाक्यार्थश्रवणे विधिमन्तरेण न प्रवर्तते तथा विधिवाक्यार्थश्रवणेऽपि विधिमन्तरेण न प्रवर्तिष्यत इति विध्यन्तरापेक्षा। तथा तदर्थश्रवणेऽपीत्यनवस्था प्रसज्येत।

वाक्यजनितात्मज्ञानस्मृतिसंततेः श्रवणविज्ञानमात्रादर्थान्तरत्वमिति चेत् ?

पूर्व०—किंतु बिना विधिके केवल आत्मस्वरूपके अनुवादमात्रसे ही पुरुष आत्मविज्ञानमें प्रवृत्त नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती-ऐसा नहीं है क्योंकि आत्मविज्ञान तो आत्मवादी वाक्यके श्रवणमात्रसे ही उत्पन्न हो जाता है। फिर किये हुएको करनेका अर्थ ही क्या है ? यदि कहो कि [विधिके बिना] पुरुष उसे सुननेमें भी प्रवृत्त नहीं होता तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे अनवस्थादोषका प्रसंग उपस्थित होता है। जिस प्रकार [तुम्हारे मतानुसार] पुरुष विधिके बिना आत्मवादी वाक्यके अर्थको श्रवण करनेमें प्रवृत्त नहीं होता, इसी प्रकार वह विधिके बिना विधिवाक्यार्थको श्रवण करनेमें भी प्रवृत्त नहीं होगा, इसलिये एक दूसरी विधिकी आवश्यकता होगी। इसी प्रकार उस विध्यन्तरका अर्थ श्रवण करनेमें भी अन्य विधिके बिना प्रवृत्त नहीं होगा—इस तरह अनवस्थाका प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

पूर्व०—तो भी श्रवणविज्ञानमात्रसे वाक्यजनित आत्मज्ञानकी स्मृतिका प्रवाह तो दूसरी ही चीज है ?

न, अर्थप्राप्तत्वात् । यदैवात्मप्रतिपादकवाक्यश्रवणाद् आत्मविषयं विज्ञानमुत्पद्यते, तदैव तदुत्पद्यमानं तद्विषयं मिथ्याज्ञानं निवर्तयदेवोत्पद्यते । आत्मविषयमिथ्याज्ञाननिवृत्तौ च तत्प्रभवाः स्मृतयो न भवन्ति स्वाभाविक्योऽनात्मवस्तुभेदविषयाः ।

अनर्थत्वावगतेश्च, आत्मावगतौ हि सत्यामन्यद्वस्त्वनर्थत्वेनावगम्यते, अनित्यदुःखाशुद्ध्यादिबहुदोषवत्त्वाद् आत्मवस्तुनश्च तद्विलक्षणत्वात् । तस्मादनात्मविज्ञानस्मृतीनाम् आत्मावगतेरभावप्राप्तिः । पारिशेष्यादात्मैकत्वविज्ञानस्मृतिसन्ततेरर्थत एव भावान्न विधेयत्वम्, शोकमोहभयायासादिदुःखदोषनिवर्तकत्वाच्च तत्स्मृतेः । विपरीतज्ञानप्रभवो हि शोकमोहादिदोषः । तथा च

सिद्धान्ती—नहीं, वह तो अर्थतः प्राप्त है । जिस समय भी आत्मप्रतिपादक वाक्यके श्रवणसे आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है उसी समय वह उत्पन्न होनेवाला ज्ञान आत्मविषयक मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति करता हुआ ही उत्पन्न होता है; तथा आत्मविषयक मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तज्जनित अनात्मवस्तुभेदविषयक स्वाभाविकी स्मृतियाँ भी नहीं होतीं ।

इसके सिवा अनात्मवस्तुविषयक स्मृतियाँ अनर्थकारिणी हैं—ऐसा बोध हो जानेसे भी उनकी आवृत्ति नहीं होती। आत्मज्ञान हो जानेपर अन्य वस्तुएँ अनर्थरूपसे ज्ञात होती है, क्योंकि वे अनित्यता, दुःख एवं अशुद्धि आदि अनेकों दोषोंसे युक्त हैं और आत्मवस्तु उनसे भिन्न स्वभावकी है । अतः आत्मज्ञान होनेपर अनात्मविज्ञानजनित स्मृतियोंका अभाव प्राप्त होता है। अन्ततोगत्वा आत्मैकत्वविज्ञानसम्बन्धी स्मृतिका प्रवाह अर्थतः प्राप्त होनेके कारण विधिका विषय नहीं है, क्योंकि आत्मस्मृति तो शोक, मोह, भय, श्रम आदि बहुत-से दुःख और दोषोंकी निवृत्ति करनेवाली है। शोकमोहादि दोष तो विपरीत ज्ञानसे ही होनेवाला है। इस विषयमें "उस

"तत्र को मोहः" (ईशा० ७) "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २।९।१) "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" (बृ० उ० ४।२।४) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" (मु० उ० २।२।८) इत्यादिश्रुतयः।

निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। अथापि स्याच्चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्, तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्?

न; मोक्षसाधनत्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानाद् अन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १।४।१०) "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (१।४।१०) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१) "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३।२।९) "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० उ० ६।१४।२) "तस्य ताव-

अवस्थामें क्या मोह है", 'आत्मज्ञानी किसीसे भी भय नहीं मानता", "हे जनक! तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है", "हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है" इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

पूर्व०—तथापि ज्ञानसे भिन्न निरोध भी तो एक मोक्षका साधन है। तात्पर्य यह है कि वेदवाक्यजनित आत्मविज्ञानसे अर्थान्तर होने और शास्त्रान्तरमें [मोक्षप्राप्तिके लिये] कर्तव्यरूपसे ज्ञात होनेके कारण चित्तवृत्तिनिरोधकी विधेयता तो है ही।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह मोक्षके साधनरूपसे नहीं जाना जाता। वेदान्तशास्त्रोंमें ब्रह्मात्मविज्ञानके सिवा अन्य कुछ भी परमपुरुषार्थकी प्राप्तिके साधनरूपसे नहीं जाना जाता; जैसा कि "आत्माको ही जाना", "अतः वह सर्वरूप हो गया", "ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है", "जो भी उस परब्रह्मको जानता है ब्रह्म ही हो जाता है", "आचार्यवान् पुरुषको ज्ञान होता है",

देव चिरम्" (६ । १४ । २) "अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद" (बृ० उ० ४ । ४ । २५) इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः ।

अनन्यसाधनत्वाच्च निरोधस्य । न ह्यात्मविज्ञानतत्स्मृतिसन्तानव्यतिरेकेण चित्तवृत्तिनिरोधस्य साधनमस्ति । अभ्युपगम्येदमुक्तम्, न तु ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेण अन्यन्मोक्षसाधनमवगम्यते ।

आकाङ्क्षाभावाच्च भावनाभावः । भावनात्रय-खण्डनम् यदुक्तं यजेतेत्यादौ किं केन कथम् इति भावनाकाङ्क्षायां फलसाधनेतिकर्तव्यताभिराकाङ्क्षापनयनं यथा, तद्वदिहाप्यात्मविज्ञानविधावप्युपपद्यत इति; तदसत्, "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ ।

"उसके लिये तभीतक देरी है", "जो इस प्रकार जानता है अभय ब्रह्म ही हो जाता है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे सिद्ध होता है।

इसके सिवा निरोध भी किसी अन्य साधनसे सिद्ध होनेवाला नहीं है। अर्थात् आत्मविज्ञान और उसकी स्मृतिके प्रवाहके सिवा चित्तवृत्तिनिरोधका कोई अन्य साधन नहीं है। यह बात भी हम उसे मोक्षका साधन मानकर कहते हैं, वस्तुतः तो ब्रह्मविज्ञानके सिवा मोक्षका कोई दूसरा साधन जाननेमें ही नहीं आता।

[अब भावनात्रयका खण्डन करते हैं-] आत्मविज्ञानमें आकाङ्क्षाका अभाव होनेके कारण भावनाका भी अभाव है। तुमने जो कहा कि 'यजेत' इत्यादि विधिमें 'किसका, किसके द्वारा, किस प्रकार [यजन करे]', ऐसी भावनाकी आकाङ्क्षा होनेपर जैसे फल, साधन और इतिकर्तव्यताके द्वारा उस आकाङ्क्षाकी निवृत्ति की जाती है उसी प्रकार यहाँ आत्मविज्ञानसम्बन्धी विधिमें भी उसका होना सम्भव है, सो तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"

२ । १) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८—१६) "नेति नेति" (बृ० उ० २ । ३ । ६) "अनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २ । ५ । १९) "अयमात्मा ब्रह्म" (२ । ५ । १९) इत्यादिवाक्यार्थविज्ञानसमकालमेव सर्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तेः। न च वाक्यार्थविज्ञाने विधिप्रयुक्तः प्रवर्तते विध्यन्तरप्रयुक्तौ चानवस्थादोषमवोचाम। न च "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादिवाक्येषु विधिरवगम्यते। आत्मस्वरूपान्वाख्यानेनैवावसितत्वात्।

वस्तुस्वरूपान्वाख्यानमात्रत्वादप्रामाण्यमिति चेत्। अथापि स्याद्यथा "सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इत्येवमादौ वस्तुस्वरूपान्वाख्यानमात्रत्वादप्रामाण्यम्, एवमात्मार्थवाक्यानामपीति चेत्?

न; विशेषात्। न वाक्यस्य वस्त्वन्वाख्यानं क्रियान्वाख्यानं

"तत्त्वमसि", "नेति नेति", "अनन्तरमबाह्यम्" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्योंके अर्थका ज्ञान होते ही सब प्रकारकी आकाङ्क्षाएँ निवृत्त हो जाती हैं। तथा वाक्यार्थके ज्ञानमें पुरुष विधिसे प्रेरित होकर प्रवृत्त नहीं होता। उसमें विध्यन्तरका प्रयोग माननेसे अनवस्था दोष आता है—यह हम ऊपर बतला चुके हैं। इसके सिवा "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि वाक्योंमें विधि देखी भी नहीं जाती, क्योंकि उनका पर्यवसान तो आत्मस्वरूपके अनुवादमात्रमें ही हो जाता है।

पूर्व०-वस्तुस्वरूपके अनुवादमात्र होनेसे तो उनकी अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। अर्थात् जैसे "[1]सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इत्यादि वाक्योंमें वस्तुके स्वरूपका अनुवादमात्र होनेसे उनकी प्रामाणिकता नहीं मानी जाती, उसी प्रकार आत्मविषयक वाक्योंकी भी प्रामाणिकता नहीं है—ऐसी बात हो तो?

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन अर्थवादवाक्योंसे आत्मार्थ वाक्योंकी विशेषता है। वस्तु या क्रियाका अनुवाद ही वाक्यकी

१. वह (अग्नि) रोया और वह जो रोया वही उस रुद्रका रुद्रत्व है।

वा प्रामाण्याप्रामाण्यकारणम्, किं तर्हि? निश्चितफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वम्। तद्यत्रास्ति तत्प्रमाणं वाक्यम्, यत्र नास्ति तदप्रमाणम्।

किञ्च भो पृच्छामस्त्वाम्—आत्मस्वरूपान्वाख्यानपरेषु वाक्येषु फलवन्निश्चितं च विज्ञानमुत्पद्यते, न वा? उत्पद्यते चेत्कथमप्रामाण्यमिति? किं वा न पश्यसि अविद्याशोकमोहभयादिसंसारबीजदोषनिवृत्तिं विज्ञानफलम्। न शृणोषि वा किम् "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० ७) "मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु" (छा० उ० ७ । १ । ३) इत्येवमाद्युपनिषद्वाक्यशतानि? एवं विद्यते किं सोऽरोदीदित्यादिषु निश्चितं फलवच्च विज्ञानम्। न चेद्विद्यतेऽस्त्वप्रामाण्यम्। तद-

प्रामाणिकताका अथवा अप्रामाणिकताका कारण नहीं है। तो फिर क्या है? निश्चित फलवाले विज्ञानको उत्पन्न करना। वह जिसमें है वही वाक्य प्रामाणिक है और जिसमें नहीं है वही अप्रामाणिक है।

सो, भाई! हम तुमसे यह पूछते हैं कि आत्मस्वरूपका निरूपण करनेवाले वाक्योंसे सफल और निश्चित विज्ञान उत्पन्न होता है या नहीं? यदि उत्पन्न होता है तो उनकी अप्रामाणिकता कैसे हो सकती है? क्या तुम उस विज्ञानका अविद्या, शोक, मोह और भय आदि संसारके बीजभूत दोषोंकी निवृत्तिरूप फल नहीं देखते? क्या तुम "उस अवस्थामें एकत्व देखनेवालेको क्या मोह और क्या शोक है?", "[नारद कहते हैं—] भगवन्! वह मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैं शोक करता हूँ, ऐसे मुझको, हे भगवन्! शोकसे पार कर दीजिये" इत्यादि प्रकारके सैकड़ों उपनिषद्वाक्य नहीं सुनते? क्या 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्योंमें इसी प्रकार निश्चित और सफल विज्ञान है? यदि नहीं है तो भले ही उनकी अप्रामाणिकता

प्रामाण्ये फलवन्निश्चितविज्ञानोत्पादकस्य किमित्यप्रामाण्यं स्यात्? तदप्रामाण्ये च दर्शपूर्णमासादिवाक्येषु को विश्रम्भः।

रहे। उनकी अप्रामाणिकतासे सफल और निश्चित विज्ञान उत्पन्न करनेवाले वाक्योंकी अप्रामाणिकता क्यों होनी चाहिये? यदि उनकी अप्रामाणिकता मानी जाय तो दर्श-पूर्णमासादिविषयक वाक्योंमें ही क्या विश्वास किया जा सकता है?

ननु दर्शपूर्णमासादिवाक्यानां पुरुषप्रवृत्तिविज्ञानोत्पादकत्वात् प्रामाण्यम्। आत्मविज्ञानवाक्येषु तन्नास्तीति।

पूर्व०—दर्श-पूर्णमासादि वाक्योंकी प्रामाणिकता तो पुरुषप्रवृत्ति-सम्बन्धी विज्ञानके उत्पन्न करनेवाले होनेसे है; आत्मविज्ञानविषयक वाक्योंमें यह बात नहीं है।

सत्यमेवम्, नैष दोषः। प्रामाण्यकारणोपपत्तेः। प्रामाण्यकारणं च यथोक्तमेव, नान्यत्। अलङ्कारश्चायम्, यत्सर्वप्रवृत्तिबीजनिरोधफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वम् आत्मप्रतिपादकवाक्यानां नाप्रामाण्यकारणम्।

सिद्धान्ती—ठीक है, ऐसा ही है; किंतु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मविज्ञानविषयक वाक्योंमें भी प्रामाणिकताका युक्तियुक्त कारण उपलब्ध है। प्रामाणिकताका कारण जैसा ऊपर बताया गया है वही है, दूसरा नहीं। सब प्रकारकी प्रवृत्तिके बीजका निरोध जिसका फल है—ऐसे विज्ञानका उत्पन्न करनेवाला होना तो आत्मप्रतिपादक वाक्योंका भूषण है, यह उनकी अप्रामाणिकताका कारण नहीं हो सकता।

यत्तूक्तम् "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" (बृ० उ० ४।४।२१) इत्यादिवचनानां वाक्यार्थविज्ञानव्यतिरेकेण उपासनार्थ-

इसके सिवा यह जो कहा कि "आत्माको जानकर तद्विषयक बुद्धि करे" इत्यादि वाक्य वाक्यार्थविज्ञानसे अलग उपासनाके लिये हैं, सो यह

त्वमिति, सत्यमेतत्, किन्तु नापूर्वविध्यर्थता; पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थतैव ।

कथं पुनरुपासनस्य पक्षप्राप्तिः ?

यावता पारिशेष्यादात्मविज्ञान-स्मृतिसन्ततिः नित्यैवेत्यभिहितम् ।

आत्मोपासनवाक्यानां नियमविध्यर्थत्वसाधनम्

बाढम्, यद्यप्येवम्; शरीरारम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वात्, सम्यग्ज्ञानप्राप्तावप्यवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिर्वाङ्मनःकायानाम्, लब्धवृत्तेः कर्मणो बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादिप्रवृत्तिवत्। तेन पक्षे प्राप्तं ज्ञानप्रवृत्तिदौर्बल्यम्। तस्मात्त्यागवैराग्यादिसाधनबलावलम्बेन आत्मविज्ञानस्मृतिसन्ततिर्नियन्तव्या भवति, न त्वपूर्वा कर्तव्या; प्राप्तत्वाद्

तो ठीक है; किंतु यह अपूर्वविधि नहीं हो सकती, बल्कि एक पक्षमें प्राप्त होनेवाली उपासनाका नियम करनेके लिये ही है।

पूर्व०—किंतु एक पक्षमें उपासनाकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि ऊपर यह कहा जा चुका है कि [1]परिशेषतः आत्मविज्ञान-सम्बन्धिनी स्मृतिका प्रवाह नित्य प्राप्त ही है।

सिद्धान्ती—ठीक है, यद्यपि ऐसा ही है; तथापि शरीरारम्भक कर्मका फल निश्चित होनेके कारण सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी वाणी, मन और शरीरकी चेष्टा अवश्यम्भाविनी ही है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुए बाण आदिकी प्रवृत्तिके समान अधिक बलवान् है ही। अतः एक पक्षमें ज्ञानप्रवृत्तिकी दुर्बलता प्राप्त होती है। अतः त्याग-वैराग्यादि साधनोंके बलका आश्रय लेकर आत्मविज्ञानस्मृतिके प्रवाहका नियमन ही करना होता है, उसे अपूर्व रूपसे नहीं करना पड़ता, क्योंकि

१. अर्थात् आत्मज्ञानसे अनात्मचिन्तनकी निवृत्ति हो जानेपर अन्तमें।

इत्यवोचाम। तस्मात् प्राप्तविज्ञान-स्मृतिसन्ताननियमविध्यर्थानि "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्यादि-वाक्यानि, अन्यार्थासम्भवात्।

नन्वनात्मोपासनमिदम्, इति-शब्दप्रयोगात्; यथा 'प्रियमित्ये-तदुपासीत' इत्यादौ न प्रियादि-गुणा एवोपास्याः, किं तर्हि? प्रियादिगुणवत्प्राणाद्येवोपास्यम्; तथेहापि इति परात्मशब्दप्रयोगाद् आत्मगुणवदनात्मवस्तूपास्य-मिति गम्यते।

आत्मोपास्यत्ववाक्यवैलक्षण्याच्च परेण च वक्ष्यति—"आत्मानमेव लोकमुपासीत" (१।४।१५) इति। तत्र च वाक्ये आत्मैवो-पास्यत्वेनाभिप्रेतो द्वितीयाश्रवणा-दात्मानमेवेति। इह तु न द्वितीया

हम कह चुके हैं कि आत्मज्ञान होने-पर वह प्राप्त है ही। अतः "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्यादि वाक्य प्राप्त विज्ञानकी स्मृतिके प्रवाहकी नियम-विधिके लिये ही हैं, क्योंकि उनका अन्य अर्थ होना असम्भव है।

पूर्व०—किंतु 'आत्मा' शब्दके आगे 'इति' शब्दका प्रयोग होनेसे यह अनात्मोपासना जान पड़ती है। जिस प्रकार "[1]प्रियमित्येतदुपासीत' इत्यादि वाक्योंमें प्रियादि गुण ही उपास्य नहीं हैं; तो फिर कौन उपास्य है? प्रियादि गुणवान् प्राणादि ही उपास्य हैं, उसी प्रकार यहाँ भी 'इति' जिसके आगे है ऐसे 'आत्मा' शब्दका प्रयोग होनेसे यही जान पड़ता है कि आत्माके समान गुणोंवाली अनात्मवस्तु ही उपास्य है।

इसके सिवा आत्माका उपास्यत्व बतलानेवाले वाक्यसे इसकी विलक्ष-णता होनेके कारण भी यह वाक्य अनात्मोपासनसम्बन्धी ही है। आगे श्रुति कहेगी "आत्मानमेव[2] लोक-मुपासीत।" वहाँ इस वाक्यमें उपास्यरूपसे आत्मा ही अभिप्रेत है, क्योंकि 'आत्मानमेव' इस प्रकार 'आत्मानम्' पदमें वहाँ द्वितीया सुनी जाती है; किंतु यहाँ द्वितीया

१. यह प्रिय है—इस प्रकार उपासना करे।
२. 'आत्मा' रूप ही लोककी उपासना करे।

श्रूयते। इतिपरश्चात्मशब्दः 'आत्मेत्येवोपासीत' इति। अतो नात्मोपास्य आत्मगुणश्चान्य इति त्ववगम्यते।

न; वाक्यशेष आत्मन उपास्यत्वेनावगमात्। अस्यैव वाक्यस्य शेषे आत्मैवोपास्यत्वेनावगम्यते—"तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा" (बृ० उ० १।४।७) "अन्तरतरं यदयमात्मा" (बृ० उ० १।४।८) "आत्मानमेवावेत्" (१।४।१०) इति।

प्रविष्टस्य दर्शनप्रतिषेधादनुपास्यत्वमिति चेत्। यस्यात्मनः प्रवेश उक्तः तस्यैव दर्शनं वार्यते "तं न पश्यन्ति" (४।३।२३) इति प्रकृतोपादानात्। तस्मादात्मनोऽनुपास्यत्वमेवेति चेत्?

न, अकृत्स्नत्वदोषात्। दर्शन-

नहीं सुनी जाती और 'आत्मेत्येवोपासीत' इसमें 'आत्मा' शब्दके आगे 'इति' भी है। अतः यही ज्ञात होता है कि यहाँ 'आत्मा' उपास्य नहीं है, अपितु आत्माके समान गुणवाला उससे भिन्न—अनात्मा ही उपास्य है।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वाक्यशेषमें आत्मा ही उपास्यरूपसे जाना गया है। इसी वाक्यके अन्तमें उपास्यरूपसे आत्मा ही जाना जाता है, यथा—"यह जो आत्मा है वही इस सम्पूर्ण जगत्का प्राप्तव्य है", 'यह जो आत्मा है अन्तरतर है", "आत्माहीको जाना" इत्यादि।

पूर्व०—किंतु [शरीरके भीतर] प्रविष्ट आत्माके दर्शनका प्रतिषेध होनेसे तो उसका अनुपास्यत्व सिद्ध होता है। जिस आत्माका प्रवेश बतलाया गया है उसीके दर्शनका "तं[1] न पश्यन्ति" इस वाक्यके 'तम्' पदसे ग्रहण करके निषेध करते हैं। अतः आत्माका अनुपास्यत्व ही सिद्ध होता है।

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है, वह तो असम्पूर्णतारूपदोषके कारण

१. उसे नहीं देखते।

प्रतिषेधोऽकृत्स्नत्वदोषाभिप्रायेण नात्मोपास्यत्वप्रतिषेधाय। प्राणनादिक्रियाविशिष्टत्वेन विशेषणात्। आत्मनश्चेदुपास्यत्वमनभिप्रेतं प्राणनाद्येकैकक्रियाविशिष्टस्यात्मनोऽकृत्स्नत्ववचनमनर्थकं स्यात् "अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति" (१।४।७) इति अतोऽनेकैकविशिष्टस्त्वात्मा कृत्स्नत्वादुपास्य एवेति सिद्धम्।

यस्त्वात्मशब्दस्य इतिपरः प्रयोगः, आत्मशब्दप्रत्यययोः आत्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्, अन्यथा आत्मानमुपासीतेत्येवमवक्ष्यत्। तथा चार्थादात्मनि शब्दप्रत्ययावनुज्ञातौ स्याताम्; तच्चानिष्टम्, "नेति नेति" (२।३।६) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्", (२।४।१४) "अविज्ञातं विज्ञातृ" (३।८।११) "यतो

है। अर्थात् आत्माके दर्शनका प्रतिषेध तो उसमें असम्पूर्णतारूप दोषके अभिप्रायसे है, आत्माके उपास्यत्वका प्रतिषेध करनेके अभिप्रायसे नहीं है, क्योंकि प्राणनादि क्रियाविशिष्टत्वसे उसे विशेषित किया गया है। यदि आत्माका उपास्यत्व अभिप्रेत न होता तो "अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति"[1] इस वाक्यसे प्राणनादि एक-एक क्रियासे विशिष्ट आत्माको असम्पूर्ण बतलाना व्यर्थ होता। अतः यह सिद्ध होता है कि जो एक-एक क्रियासे विशिष्ट नहीं है, वह आत्मा तो पूर्ण होनेके कारण उपास्य ही है।

तथा 'आत्मा' शब्दका जो उसके आगे 'इति' शब्द लगाकर प्रयोग किया गया है वह आत्मतत्त्वको परमार्थतः आत्मशब्द और आत्मप्रत्ययका अविषय सूचित करनेके लिये है। नहीं तो श्रुति 'आत्मानमुपासीत'—आत्माकी उपासना करे—ऐसा ही कहती। ऐसा कहनेपर आत्मामें स्वतः ही आत्मशब्द और आत्मप्रत्ययकी विषयता अनुमोदित हो जाती और ऐसा होना "यह नहीं है, यह नहीं है", "अरे मैत्रेयि! विज्ञाताको किससे जाने", "वह [स्वयं] अविज्ञात [किंतु दूसरोंका] विज्ञाता

१. अतः एक-एक क्रियासे विशिष्ट होनेके कारण यह असम्पूर्ण ही होता है।

वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० उ० २ । ४ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । यत्तु "आत्मानमेव लोकमुपासीत" (१ । ४ । १५) इति तदनात्मोपासनप्रसङ्गनिवृत्तिपरत्वान्न वाक्यान्तरम् ।

है" "जहाँसे वाणी उसे न पाकर मनके सहित लौट आती है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार इष्ट नहीं है। और "आत्मारूप ही लोककी उपासना करे" ऐसी जो श्रुति है वह अनात्मोपासनके प्रसंगकी निवृत्ति करनेवाली होनेसे कोई भिन्न प्रकारका वाक्य नहीं है।

कथमात्मैवोपास्यः

अनिर्ज्ञातत्वसामान्यादात्मा ज्ञातव्योऽनात्मा च । तत्र कस्मादात्मोपासने एव यत्न आस्थीयते "आत्मेत्येवोपासीत" इति नेतरविज्ञान इति ?

पूर्व०–किंतु पूर्णतया ज्ञात न होनेमें समान होनेके कारण तो आत्मा और अनात्मा दोनों ही ज्ञातव्य हैं। फिर इनमेंसे "आत्मेत्येवोपासीत" इस वाक्यके अनुसार आत्मोपासनामें ही यत्न करनेकी आस्था क्यों की जाय, अनात्मोपासनामें क्यों नहीं ?

अत्रोच्यते—तदेतदेव प्रकृतं पदनीयं गमनीयं नान्यत् । अस्य सर्वस्येति निर्धारणार्था षष्ठी । अस्मिन्सर्वस्मिन्नित्यर्थः । यदयमात्मा यदेतदात्मतत्त्वम् ।

सिद्धान्ती–इसपर हमारा कथन है कि इन सबमें यह प्रकृत आत्मा ही पदनीय—गन्तव्य है, अन्य (अनात्मा) नहीं। 'अस्य सर्वस्य' इन पदोंमें निश्चयार्थिका षष्ठी है; इसका तात्पर्य 'अस्मिन् सर्वस्मिन्' (इस सबमें) ऐसा है। 'यदयमात्मा' अर्थात् यह जो आत्मतत्त्व है [वह सबमें गन्तव्य—ज्ञातव्य है]।

किं न विज्ञातव्यमेवान्यत् ? न; किं तर्हि ? ज्ञातव्यत्वेऽपि न पृथग्ज्ञानान्तरमपेक्षत आत्मज्ञानात् । कस्मात् ? अनेनात्मना

तो क्या अन्य ज्ञातव्य ही नहीं है ? ऐसी बात नहीं है। तो क्या है ?—ज्ञातव्य होनेपर भी उसे आत्मज्ञानसे भिन्न किस ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं है। क्यों नहीं है ?

ज्ञातेन हि यस्मादेतत्सर्वमनात्मजातम् अन्यद्यत्तत्सर्वं समस्तं वेद जानाति ।

क्योंकि इस आत्माके जान लेनेपर ही अन्य जो कुछ अनात्मजात है उस सभीको पुरुष जान लेता है ।

नन्वन्यज्ज्ञानेनान्यन्न ज्ञायत इति ।

पूर्व०-किंतु अन्य पदार्थके ज्ञानसे दूसरेका ज्ञान तो हुआ नहीं करता ।

अस्य परिहारं दुन्दुभ्यादिग्रन्थेन वक्ष्यामः । कथं पुनरेतत् पदनीयमित्युच्यते—यथा ह वै लोके पदेन, गवादिखुराङ्कितो देशः पदमित्युच्यते तेन पदेन, नष्टं विवित्सितं पशुं पदेनान्वेषमाणोऽनुविन्देल्लभेत। एवमात्मनि लब्धे सर्वमनुलभत इत्यर्थः ।

सिद्धान्ती-इसका निराकरण हम दुन्दुभ्यादि ग्रन्थसे करेंगे। किंतु यह आत्मा पदनीय (गमनीय) किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है—जिस प्रकार लोकमें पदसे—गौ आदिके खुरसे अङ्कित देश 'पद' कहा जाता है, उस पदसे—उस पदके द्वारा खोजनेवाला पुरुष जिसको पाना अभीष्ट है ऐसे खोये हुए पशुको पा लेता है उसी प्रकार आत्माके प्राप्त हो जानेपर पुरुष सभी पा लेता है-ऐसा इसका तात्पर्य है ।

नन्वात्मनि ज्ञाते सर्वमन्यज्ज्ञायत इति ज्ञाने प्रकृते, कथं लाभोऽप्रकृत उच्यत इति ?

पूर्व०-किंतु 'आत्माको जाननेपर अन्य सबको जान लेता है' इस प्रकार यहाँ ज्ञानका प्रसंग होनेपर ['अनुविन्देत्' इस पदसे] जिसका कोई प्रसंग नहीं है उस लाभकी बात क्यों कही जाती है ?

ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वम्

न; ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वस्य विवक्षितत्वात् । आत्मनो ह्यलाभोऽज्ञा-

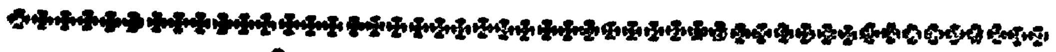
सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ज्ञान और लाभ इनकी एकार्थता ही विवक्षित है। अज्ञान ही आत्माका अलाभ है, अतः ज्ञान ही

नमेव, तस्माज्ज्ञानमेवात्मनो लाभः, नानात्मलाभवदप्राप्तप्राप्तिलक्षण आत्मलाभः, लब्धृलब्धव्ययोर्भेदाभावात् । यत्र ह्यात्मनोऽनात्मा लब्धा, लब्धव्योऽनात्मा । स चाप्राप्त उत्पाद्यादिक्रियाव्यवहितः कारकविशेषोपादानेन क्रियाविशेषमुत्पाद्य लब्धव्यः ।

स त्वप्राप्तप्राप्तिलक्षणोऽनित्यः, मिथ्याज्ञानजनितकामक्रियाप्रभवत्वात्, स्वप्ने पुत्रादिलाभवत् । अयं तु तद्विपरीत आत्मा । आत्मत्वादेव नोत्पाद्यादिक्रियाव्यवहितः । नित्यलब्धस्वरूपत्वेऽपि सत्यविद्यामात्रं व्यवधानम् । यथा गृह्यमाणाया अपि शुक्तिकाया विपर्ययेण रजताभासाया अग्रहणं विपरीतज्ञानव्यवधानमात्रम्, तथा ग्रहणं ज्ञानमात्रमेव, विपरीतज्ञा-

आत्माका लाभ है, अनात्मलाभके समान आत्मलाभ अप्राप्तकी प्राप्ति होना नहीं है, क्योंकि यहाँ लाभ करनेवाले और लब्ध होनेवाली वस्तुमें कोई भेद नहीं है । जहाँ अनात्मा आत्माका लब्धव्य होता है वहाँ ही आत्मा उपलब्ध करनेवाला और अनात्मा उपलब्ध होने योग्य होता है । वह अप्राप्त अर्थात् उत्पाद्यादि क्रियाओंसे व्यवहित होता है तथा कारकविशेषके उपादानसे क्रियाविशेषको उत्पन्न करके उसे प्राप्त करना होता है ।

वह अनात्मलाभ तो मिथ्या ज्ञानजनित काम और क्रियासे उत्पन्न होनेवाला होनेके कारण स्वप्नमें पुत्रादिलाभके समान अप्राप्तप्राप्तिरूप और अनित्य होता है; किंतु यह आत्मा तो उससे विपरीत स्वभाववाला है । आत्मा ही होनेके कारण यह उत्पाद्यादि क्रियासे व्यवहित नहीं है । नित्यप्राप्तस्वरूप होनेपर भी अविद्या ही उसका व्यवधान है । जिस प्रकार विपरीत ज्ञानवश रजतरूपसे भासनेवाली गृह्यमाण शुक्तिका (सीप) का अग्रहण विपरीत ज्ञानरूप व्यवधानवाला ही है तथा ज्ञान ही उसका ग्रहण है, क्योंकि वह ज्ञान विपरीत ज्ञानरूप



न्व्यवधानापोहार्थत्वाज्ज्ञानस्य । एवमिहाप्यात्मनोऽलाभोऽविद्यामात्रव्यवधानम् । तस्माद्विद्यया तदपोहनमात्रमेव लाभो नान्यः कदाचिदप्युपपद्यते । तस्मादात्मलाभे ज्ञानादर्थान्तरसाधनस्य आनर्थक्यं वक्ष्यामः । तस्मान्निराशङ्कमेव ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वं विवक्षन्नाह—ज्ञानं प्रकृत्य, अनुविन्देदिति । विन्दतेर्लाभार्थत्वात् ।

व्यवधानकी निवृत्ति करनेवाला है । इसी प्रकार यहाँ भी आत्माका अलाभ अविद्यामात्र व्यवधानवाला ही है । अतः विद्यासे उसे दूर कर देना ही आत्माका लाभ करना है, इसके सिवा और किसी प्रकारका आत्मलाभ होना कभी सम्भव नहीं है । इसीसे आत्मलाभमें हमने ज्ञानसे भिन्न किसी अन्य साधनकी व्यर्थता बतलायी है । अतः 'ज्ञान' और 'लाभ' इन दोनोंकी एकार्थतामें कुछ भी शङ्का नहीं है—यह बतलानेकी इच्छासे ही श्रुतिने ज्ञानका प्रकरण उठाकर 'अनुविन्देत्, (लाभ करता है) ऐसा कहा है, क्योंकि [तुदादिगणपठित लृकारानुबन्धी] 'विद्' धातुका अर्थ लाभ है ।

गुणविज्ञानफलमिदमुच्यते—यथायमात्मा नाम-

उपासनफलम्

रूपानुप्रवेशेन ख्यातिं गत आत्मेत्यादिनामरूपाभ्यां प्राणादिसंहतिं च श्लोकं प्राप्तवानित्येवं यो वेद, स कीर्तिं ख्यातिं श्लोकं च सङ्घातमिष्टैः सह विन्दते लभते । यद्वा यथोक्तं वस्तु यो वेद मुमुक्षूणामपेक्षितं

इस गुणविज्ञानका यह फल बतलाया जाता है—जिस प्रकार यह आत्मा नाम-रूपके अनुप्रवेशसे ख्यातिको तथा आत्मा इत्यादि नाम-रूपोंके कारण प्राणादिसंघातरूप श्लोक (इष्टजनोंके समागम) को प्राप्त हुआ है उसी प्रकार जो ऐसा जानता है वह ख्याति—कीर्ति और श्लोक—इष्टजनोंके साथ समागम लाभ करता है । अथवा जो उपर्युक्त वस्तुको जानता है वह मुमुक्षुओंके अपेक्षित

कीर्तिशब्दितमैक्यज्ञानं तत्फलं श्लोकशब्दितां मुक्तिमाप्नोतीति मुख्यमेव फलम् ॥ ७ ॥

'कीर्ति' शब्दसे कहे जानेवाले ऐक्य-ज्ञान और उसके फल 'श्लोक' शब्दसे कही जानेवाली मुक्तिको प्राप्त करता है। अर्थात् उसे आत्म-ज्ञानका मुख्य फल ही प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥



निरतिशय प्रियरूपसे आत्माकी उपासना

कुतश्चात्मतत्त्वमेव ज्ञेयमना-त्मानमपहायेत्याह—

किंतु और सबकी उपेक्षा करके आत्मतत्त्व ही क्यों जाननेयोग्य है ? इसपर श्रुति कहती है—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मा-दन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

वह यह आत्मतत्त्व पुत्रसे अधिक प्रिय है, धनसे अधिक प्रिय है और अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है; क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतर है। वह जो आत्मप्रियदर्शी है यदि आत्मासे भिन्न (अनात्मा) को प्रिय कहनेवाले पुरुषसे कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जायगा' तो वैसा ही हो जायगा, क्योंकि वह समर्थ होता है। अतः आत्मा-रूप प्रियकी ही उपासना करे। जो आत्मा-रूप प्रियकी ही उपासना करता है उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं होता ॥ ८ ॥

तदेतदात्मतत्त्वं प्रेयः प्रियतरं पुत्रात्। पुत्रो हि लोके प्रियः

वह यह आत्मतत्त्व पुत्रसे प्रेय—प्रियतर है। लोकमें पुत्र प्रियरूपसे



प्रसिद्धस्तस्मादपि प्रियतरमिति निरतिशयप्रियत्वं दर्शयति। तथा वित्ताद्धिरण्यरत्नादेः, तथा अन्यस्माद्यद्यल्लोके प्रियत्वेन प्रसिद्धं तस्मात्सर्वस्मादित्यर्थः।

प्रसिद्ध है, आत्मा उससे भी प्रियतर है, ऐसा कहकर श्रुति उसका निरतिशय प्रियत्व प्रदर्शित करती है। तथा वह धन यानी सुवर्ण-रत्नादिसे और लोकमें जो प्रियरूपसे प्रसिद्ध है उस और सबसे भी प्रियतर है।

तत्कस्मादात्मतत्त्वमेव प्रियतरं न प्राणादि ? इत्युच्यते—अन्तरतरं बाह्यात्पुत्रवित्तादेः प्राणपिण्डसमुदायो ह्यन्तरोऽभ्यन्तरः सन्निकृष्ट आत्मनः। तस्मादप्यन्तरादन्तरतरं यदयमात्मा यदेतदात्मतत्त्वम्। यो हि लोके निरतिशयप्रियः स सर्वप्रयत्नेन लब्धव्यो भवति। तथायमात्मा सर्वलौकिकप्रियेभ्यः प्रियतमः। तस्मात्तल्लाभे महान्यत्न आस्थेय इत्यर्थः, कर्त्तव्यताप्राप्तमप्यन्यप्रियलाभे यत्नमुज्झित्वा।

किंतु यह क्या बात है कि आत्मतत्त्व ही प्रियतर है, प्राणादि नहीं हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—यह अन्तरतर (अत्यन्त समीपवर्ती) है। पुत्र-धन आदि बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा प्राण और पिण्ड-समुदाय अन्तर—अभ्यन्तर अर्थात् आत्माका समीपवर्ती है और उस अन्तरसे भी अन्तरतर यह जो आत्मा अर्थात् आत्मतत्त्व है वह है। लोकमें जो सबसे बढ़कर प्रिय होता है वह सर्वप्रयत्नद्वारा प्राप्तव्य होता है, तथा यह आत्मा समस्त लौकिक प्रिय पदार्थोंसे प्रियतम है; अतः अभिप्राय यह है कि अन्य प्रिय पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये यदि कोई यत्न अवश्यकर्तव्यतारूपसे प्राप्त हो तो भी उसे छोड़कर आत्माकी प्राप्तिके लिये ही महान् यत्न करना चाहिये।

कस्मात्पुनः आत्मानात्मप्रिययोरन्यतरप्रियहानेन इतरप्रियो-

इसका क्या कारण है कि यदि आत्मा और अनात्मा—इन दो प्रिय पदार्थोंमेंसे किसी एक प्रिय पदार्थका

पादानप्राप्तौ आत्मप्रियोपादानेनै-वेतरहानं क्रियते न विपर्ययः ? इत्युच्यते—स यः कश्चिदन्यमनात्मविशेषं पुत्रादिकं प्रियतरमात्मनः सकाशाद् ब्रुवाणं ब्रूयादात्मप्रियवादी । किम् ? प्रियं तवाभिमतं पुत्रादिलक्षणं रोत्स्यत्यावरणं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति । विनङ्क्ष्यतीति । स कस्मादेवं ब्रवीति ? यस्मादीश्वरः समर्थः पर्याप्तोऽसावेवं वक्तुं ह यस्मात्तस्मात्तथैव स्याद्यत्तेनोक्तं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति । यथाभूतवादी हि सः, तस्मात्स ईश्वरो वक्तुम् । ईश्वरशब्दः क्षिप्रवाचीति केचित् । भवेद्यदि प्रसिद्धिः स्यात् । तस्मादुज्झित्वान्यत्प्रियमात्मानमेव प्रियमुपासीत ।

त्याग करनेपर ही दूसरे प्रिय पदार्थकी प्राप्ति होती हो तो आत्मारूप प्रियको ग्रहण करके अनात्माका ही त्याग किया जाता है, इसके विपरीत नहीं किया जाता ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—वह जो आत्मप्रियवादी है यदि किसी दूसरे यानी पुत्रादि अनात्मविशेषको आत्माकी अपेक्षा प्रियतर बतलानेवालेसे कहे—क्या कहे ? यही कि 'तेरा प्रिय यानी पुत्रादिरूप अभिमत पदार्थ 'रोत्स्यति'—आवरण यानी प्राणसंरोधको प्राप्त हो जायगा अर्थात् नष्ट हो जायगा ।' ऐसा वह क्यों कहेगा ? क्योंकि वह ऐसा कहनेमें ईश्वर अर्थात् समर्थ—पर्याप्त है; क्योंकि ऐसा है, इसलिये वैसा ही होगा । यानी उसने जैसा कहा है वह प्राणसंरोधको प्राप्त हो जायगा । क्योंकि वह यथार्थवादी है, इसलिये ऐसा कहनेमें समर्थ है ।

किन्हींका मत है कि 'ईश्वर' शब्द क्षिप्र (शीघ्र) इस अर्थमें है । किंतु यदि ऐसी प्रसिद्धि होती तो यह अर्थ हो सकता था । अतः अन्य प्रिय पदार्थोंको छोड़कर आत्मा-रूप प्रियकी ही उपासना करनी चाहिये ।

स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते, आत्मैव प्रियो नान्योऽस्तीति प्रतिपद्यतेऽन्यल्लौकिकं प्रियमप्यप्रियमेवेति निश्चित्य उपास्ते चिन्तयति, न हास्यैवंविदः प्रियं प्रमायुकं प्रमरणशीलं भवति ।

जो पुरुष आत्मा-रूप प्रियकी ही उपासना करता है अर्थात् आत्मा ही प्रिय है, और कोई पदार्थ नहीं—ऐसा जानता है दूसरे लौकिक पदार्थ प्रिय होनेपर भी अप्रिय ही हैं—ऐसा निश्चय करके उपासना यानी चिन्तन करता है उस इस प्रकार उपासना करनेवालेका प्रिय प्रमायुक—प्रकृष्टतया मरणशील नहीं होता ।

नित्यानुवादमात्रमेतत्, आत्मविदोऽन्यस्य प्रियस्याप्रियस्य चाभावात् । आत्मप्रियग्रहणस्तुत्यर्थं वा प्रियगुणफलविधानार्थं वा मन्दात्मदर्शिनः । ताच्छील्यप्रत्ययोपादानात् ॥ ८ ॥

आत्मवेत्ताकी दृष्टिमें तो किसी अन्य प्रिय या अप्रियकी सत्ता ही नहीं है, इसलिये यह नित्य वस्तुका अनुवादमात्र है। अथवा यह कथन आत्मप्रियग्रहणकी स्तुतिके लिये है। या जो अदृढ़ आत्मज्ञानी है उसके लिये प्रियगुणविशिष्ट आत्माकी उपासनाका फल बतलानेके लिये है, क्योंकि 'प्रमायुक' इस पदमें 'उक' यह ताच्छील्यप्रत्यय[1] ग्रहण किया गया है ॥ ८ ॥

ब्रह्मके सर्वरूप होनेके विषयमें प्रश्न

सूत्रिता ब्रह्मविद्या 'आत्मेत्ये-

जिसके लिये यह सारी उपनिषद् है उस ब्रह्मविद्याका श्रुतिने 'आत्मेत्ये-

---

१. यह उसका शील यानी स्वभाव है—इस अर्थमें व्याकरणशास्त्रमें 'उकञ्' प्रत्ययका विधान किया है। पदार्थ अपने स्वभावको सर्वथा नहीं त्याग सकता। इसलिये 'प्रमायुक' नहीं होता। इस कथनसे प्राणादिका आत्यन्तिक अमरण विवक्षित नहीं है; केवल यही समझना चाहिये कि वे दीर्घजीवी होते हैं।

वोपासीत' इति यदर्थोपनिषत्कृत्स्नापि। तस्यैतस्य सूत्रस्य व्याचिख्यासुः प्रयोजनाभिधित्सयोपोद्जिघांसति—

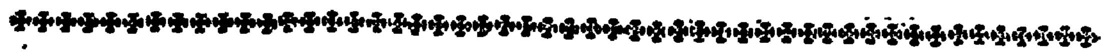
वोपासीत' इस वाक्यसे सूत्ररूपसे वर्णन किया है। उस इस सूत्रकी व्याख्या करनेकी इच्छावाली श्रुति अब उसका प्रयोजन बतलानेकी इच्छासे उपोद्घात करना चाहती है

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते। किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति॥ ९॥

[ब्राह्मणोंने] यह कहा कि ब्रह्मविद्याके द्वारा मनुष्य 'हम सर्व हो जायँगे' ऐसा मानते हैं; [सो] उस ब्रह्मने क्या जाना जिससे वह सर्व हो गया ?॥ ९॥

तदिति वक्ष्यमाणमनन्तरवाक्येऽवद्योत्यं वस्त्वाहुः। ब्राह्मणा ब्रह्म विविदिषवो जन्मजरामरणप्रबन्धचक्रभ्रमणकृतायासदुःखोदकापारमहोदधिप्लवभूतं गुरुमासाद्य तत्तीरमुत्तितीर्षवो धर्माधर्मसाधनतत्फललक्षणात् साध्य-

'तत्' इस पदसे आगे कही जानेवाली तथा विना किसी व्यवधानके ही अग्रिम वाक्यसे प्रकाशनीय वस्तुका ग्रहण होता है उसके विषयमें ब्राह्मणोंने कहा। ब्राह्मण—ब्रह्मको जाननेकी इच्छावाले अर्थात् जन्म, जरा और मरण इनके प्रवाहमें चक्रके समान निरन्तर भ्रमणसे होनेवाला परिश्रमरूप दुःख ही जिसमें जल है उस अपार संसार-महोदधिको पार करनेके लिये नौकारूप जो गुरु हैं उनके पास आकर उसके तीर (ब्रह्म) पर उतरनेकी इच्छावाले यानी धर्म और अधर्म ही जिसके साधन और फल हैं उस साध्य-साधनरूप संसारसे



साधनरूपान्निर्विण्णाः तद्विलक्षणनित्यनिरतिशयश्रेयः प्रतिपित्सवः ।

किमाहुरित्याह—यद्ब्रह्मविद्यया, ब्रह्म परमात्मा तद्यया वेद्यते सा ब्रह्मविद्या तया ब्रह्मविद्यया, सर्वं निरवशेषं भविष्यन्तो भविष्याम इत्येवं मनुष्या यन्मन्यन्ते । मनुष्यग्रहणं विशेषतोऽधिकारज्ञापनार्थम् । मनुष्या एव हि विशेषतोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनेऽधिकृता इत्यभिप्रायः ।

यथा कर्मविषये फलप्राप्तिं ध्रुवां कर्मभ्यो मन्यन्ते, तथा ब्रह्मविद्याया सर्वात्मभावफलप्राप्तिं ध्रुवामेव मन्यन्ते । वेदप्रामाण्यस्योभयत्राविशेषात् । तत्र विप्रतिषिद्धं वस्तु लक्ष्यतेऽतः पृच्छामः—किमु तद्ब्रह्म यस्य

विरक्त और उससे विलक्षण स्वभाववाले नित्य-निरतिशय श्रेयको जाननेकी इच्छावाले उन ब्राह्मणोंने कहा ।

क्या कहा ? सो श्रुति बतलाती है—'यद्ब्रह्मविद्यया'—ब्रह्म परमात्माको कहते हैं, वह जिससे जाना जाता है वह ब्रह्मविद्या है; उस ब्रह्मविद्यासे जो मनुष्य 'हम सर्व यानी अशेष हो जायँगे' ऐसा मानते हैं [उसके विषयमें पूछा] । यहाँ 'मनुष्य' पदका ग्रहण उनका विशेषरूपसे ब्रह्मविद्यामें अधिकार सूचित करनेके लिये है । तात्पर्य यह है कि अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनमें विशेषतः मनुष्योंका ही अधिकार है ।

लोग जिस प्रकार कर्मविषयमें कर्मोंसे होनेवाली जो फलप्राप्ति है उसे निश्चित मानते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मविद्यासे सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्ति भी निश्चित ही मानते हैं, क्योंकि वेदकी प्रमाणता दोनोंहीके विषयमें समान है । किंतु [ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष होता है] यह बात विपरीत-सी जान पड़ती है, इसलिये हम पूछते हैं कि वह ब्रह्म क्या है ? जिसके

विज्ञानात्सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते ? तत्किमवेद्यस्माद्विज्ञानात्तद् ब्रह्म सर्वमभवत् ?

ब्रह्म च सर्वमिति श्रूयते । तद्यद्यविज्ञाय किञ्चित्सर्वमभवत्तथान्येषामप्यस्तु, किं ब्रह्मविद्यया ? अथ विज्ञाय सर्वमभवत्, विज्ञानसाध्यत्वात्कर्मफलेन तुल्यमेवेत्यनित्यत्वप्रसङ्गः सर्वभावस्य ब्रह्मविद्याफलस्य । अनवस्थादोषश्च—तदप्यन्यद्विज्ञाय सर्वमभवत्ततः पूर्वमप्यन्यद्विज्ञायेति । न तावद् विज्ञाय सर्वमभवत्, शास्त्रार्थवैरूप्यदोषात् । फलानित्यत्वदोषस्तर्हि ? नैकोऽपि दोषोऽर्थविशेषोपपत्तेः ॥ ९ ॥

विज्ञानसे मनुष्य 'सर्वरूप हो जायँगे' ऐसा मानते हैं और उसने क्या जाना, जिस विज्ञानसे वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया ।

ब्रह्म सर्वरूप है—यह तो सुना ही जाता है । वह यदि कुछ भी न जानकर ही सर्वरूप हुआ है तो दूसरोंके लिये भी ऐसी ही बात होनी चाहिये, फिर ब्रह्मविद्यासे क्या लाभ है ? और यदि वह जानकर सर्वरूप हुआ है तो विज्ञानसाध्य होनेके कारण उसकी सर्वात्मता कर्मफलके समान ही है—इससे ब्रह्मविद्याके फलभूत सर्वात्मत्वकी अनित्यताका प्रसंग आता है तथा वह अपनेसे भिन्न पदार्थको जानकर सर्व हुआ और इससे पहले भी किसी अन्यको जानकर सर्व हुआ था—इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होता है । किंतु वह न जानकर तो सर्व हुआ नहीं, क्योंकि इससे शास्त्रकी व्यर्थताका दोष आता है । तो फिर फलकी अनित्यताका दोष रहा ? नहीं, इससे विशेष प्रयोजन सम्भव होनेके कारण एक भी दोष नहीं होगा ॥ ९ ॥

ब्रह्मने क्या जाना ? इसका उत्तर और उस प्रकार जाननेका फल—

यदि किमपि विज्ञायैव तद्ब्रह्म सर्वमभवत्पृच्छामः—किमु तद्ब्रह्मावेत्? यस्मात्तत्सर्वमभवदिति। एवं चोदिते सर्वदोषानागन्धितं प्रतिवचनमाह—

यदि वह ब्रह्म कुछ जानकर ही सर्व हुआ तो हम पूछते हैं—'उस ब्रह्मने क्या जाना? जिससे वह सर्व हुआ।' ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति, जिसमें किसी भी प्रकारके दोषकी गन्ध नहीं है, ऐसा उत्तर देती है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳसूर्यश्चेति । तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते । आत्मा ह्येषाꣳस भवति । अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳस देवानाम् । यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥

पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी [जिसने उसे जाना वह तद्रूप हो गया]। उसे आत्मारूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी' उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें

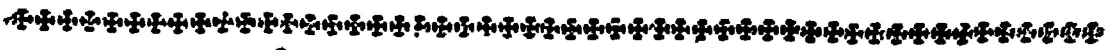
देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। और जो अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वह नहीं जानता । जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओंका पशु है। जैसे लोकमें बहुत-से पशु मनुष्यका पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है। एक पशुका ही हरण किये जानेपर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतोंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है? इसलिये देवताओंका यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य [ब्रह्मात्मतत्त्वको] जानें ॥ १० ॥

ब्रह्मशब्देन किमभिप्रेतमिति विचार्यते — ब्रह्मापरम्, सर्वभावस्य साध्यत्वोपपत्तेः। न हि परस्य ब्रह्मणः सर्वभावापत्तिर्विज्ञानसाध्या। विज्ञानसाध्यां च सर्वभावापत्तिमाह—'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इति। तस्माद्ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यपरं ब्रह्मेह भवितुमर्हति।

यहाँ 'ब्रह्म' शब्दसे अपरब्रह्म समझना चाहिये; क्योंकि उसीका सर्वरूप होना विज्ञान-साध्य हो सकता है। परब्रह्मका सर्वभावको प्राप्त होना विज्ञानसाध्य नहीं है; और 'इसीसे वह सर्वरूप हो गया' इस वाक्यसे श्रुति सर्वभावप्राप्तिको विज्ञानसाध्य बतलाती है। अतः 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस वाक्यमें 'ब्रह्म' पद अपर ब्रह्मका वाचक होना चाहिये।

मनुष्याधिकाराद्वा तद्भावी ब्राह्मणः स्यात्। 'सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते' इति हि मनुष्याः प्रकृताः, तेषां चाभ्युदयनिःश्रेयससाधने विशेषतोऽधिकार इत्युक्तम्, न परस्य ब्रह्मणो नाप्यपरस्य प्रजापतेः। अतो द्वैतैकत्वापर-

अथवा यहाँ मनुष्यका अधिकरण होनेसे 'ब्रह्म' शब्दसे ब्रह्मरूपताको प्राप्त होनेवाला ब्राह्मण समझा जा सकता है। 'सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते' इस वाक्यसे यहाँ मनुष्योंका प्रसंग है, क्योंकि उन्हींका अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनमें विशेषरूपसे अधिकार है—ऐसा ऊपर कहा गया है; परब्रह्म या अपरब्रह्म प्रजापतिका नहीं। अतः कर्मसहित द्वैतैकत्वरूप



ब्रह्मविद्यया कर्मसहितया अपरब्रह्मभावमुपसम्पन्नो भोज्याद्‌व्यावृत्तः सर्वप्राप्त्योच्छिन्नकामकर्मबन्धनः परब्रह्मभावी ब्रह्मविद्याहेतोर्ब्रह्मेत्यभिधीयते । दृष्टश्च लोके भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य शब्दप्रयोगः—यथा 'ओदनं पचति' इति, शास्त्रे च—'परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणाम्' इत्यादि, तथेहेति केचित्—ब्रह्म ब्रह्मभावी पुरुषो ब्राह्मणः—इति व्याचक्षते ।

तन्न, सर्वभावापत्तेरनित्यत्वदोषात् । न हि सोऽस्ति लोके परमार्थतो यो निमित्तवशाद्भावा-

अपर ब्रह्मविद्याके द्वारा अपरब्रह्मभावको प्राप्त हुआ, हिरण्यगर्भसम्बन्धी भोगोंसे विरक्त एवं सब प्रकारके कर्मफल प्राप्त होनेके कारण जिसका काम और कर्मरूप बन्धन नष्ट हो गया है वह परब्रह्मभावको प्राप्त होनेवाला पुरुष ब्रह्मविद्याके कारण 'ब्रह्म'—इस शब्दसे कहा गया है। लोकमें भी भाविनी वृत्तिको आश्रित करके शब्दका प्रयोग होता देखा गया है; जैसे 'भात पकाता है' इस [1]वाक्यमें। तथा शास्त्रमें भी—'संन्यासी समस्त भूतोंको अभयरूप दक्षिणा [देकर संन्यास करे]' इत्यादि [2]वाक्यमें ऐसा ही प्रयोग है। उसी प्रकार यहाँ भी 'ब्रह्मभावको प्राप्त होनेवाला ब्राह्मण हो 'ब्रह्म' है' ऐसी व्याख्या कुछ लोग करते हैं।

किंतु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे सर्वभावप्राप्तिको अनित्यत्वका दोष प्राप्त होगा। लोकमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो वास्तवमें किसी निमित्तवश भावान्तरको प्राप्त होती

१. चावलोंके पकनेपर उनकी ओदन (भात) संज्ञा होती है, किंतु इस वाक्यमें पकाये जाते हुए चावलोंको भात कहा है।

२. संन्यासाश्रमकी दीक्षा लेनेके पीछे पुरुषको 'संन्यासी कहा जाता है, परंतु यहाँ दीक्षा लेनेवालेको भी संन्यासी कहा है।

न्तरमापद्यते नित्यश्चेति । तथा ब्रह्मविज्ञाननिमित्तकृता चेत्सर्वभावापत्तिः, नित्या चेति विरुद्धम् । अनित्यत्वे च कर्मफलतुल्यतेत्युक्तो दोषः ।

अविद्याकृतासर्वत्वनिवृत्तिं चेत्सर्वभावापत्तिं ब्रह्मविद्याफलं मन्यसे, ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना व्यर्था स्यात्; प्राग्ब्रह्मविज्ञानादपि सर्वो जन्तुर्ब्रह्मत्वान्नित्यमेव सर्वभावापन्नः परमार्थतः, अविद्यया त्वब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाध्यारोपितम् यथा शुक्तिकायां रजतम्, व्योम्नि वा तलमलवत्त्वादि, तथेह ब्रह्मण्यध्यारोपितमविद्यया अब्रह्मत्वमसर्वत्वं च ब्रह्मविद्यया निवर्त्यत इति मन्यसे यदि, तदा युक्तम् 'यत्परमार्थत आसीत्परं ब्रह्म, ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थभूतम् 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यस्मिन्वाक्ये

हो और नित्य भी हो। इसी प्रकार यदि सर्वभावकी प्राप्ति भी ब्रह्मविज्ञानरूप निमित्तसे होनेवाली हो तो वह नित्य भी है—ऐसा कहना विरुद्ध होगा। और यदि उसे अनित्य माना जाय तो वह भी कर्मफलके ही समान हुई [उसमें कोई विशेषता न रही]--यह दोष बतलाया जा चुका है।

यदि तुम अविद्याकृत असर्वत्वकी निवृत्तिको ही ब्रह्मविद्याका सर्वभावप्राप्तिरूप फल मानते हो तो ['ब्रह्म' शब्दके अर्थमें] ब्रह्म होनेवाले पुरुषकी कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होनेसे पूर्व भी सब जीव ब्रह्मरूप ही होनेके कारण सदा ही परमार्थतः सर्वभावको प्राप्त हैं। अब्रह्मत्व और असर्वत्व तो अविद्यासे ही आरोपित हैं। जैसे शुक्तिमें चाँदी और आकाशमें तलमालिन्यादि आरोपित हैं, उसी प्रकार यहाँ ब्रह्ममें अविद्यासे आरोपित अब्रह्मत्व और असर्वत्वकी ब्रह्मविद्यासे निवृत्ति हो जाती है—ऐसा यदि तुम मानते हो तब यही कहना उचित है कि 'जो परमार्थतः ब्रह्म-शब्दका मुख्यार्थभूत परब्रह्म है वही 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस वाक्यमें कहा

उच्यते' इति वक्तुम्; यथाभूतार्थवादित्वाद्वेदस्य। न त्वियं कल्पना युक्ता, ब्रह्मशब्दार्थविपरीतो ब्रह्मभावी पुरुषो ब्रह्मेत्युच्यत इति श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वान्महत्तरे प्रयोजनान्तरेऽसति।

पारमार्थिकाब्रह्मत्वासर्वत्वयोर्निषेधः

अविद्याकृतव्यतिरेकेणाब्रह्मत्वमसर्वत्वं च विद्यत एवेति चेन्न, तस्य ब्रह्मविद्ययापोहानुपपत्तेः। न हि कचित्साक्षाद्वस्तुधर्मस्यापोढ्री दृष्टा कर्त्री वा ब्रह्मविद्या। अविद्यायास्तु सर्वत्रैव निवर्तिका दृश्यते। तथेहाप्यब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाविद्याकृतमेव निवर्त्यतां ब्रह्मविद्यया। न तु पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निवर्तयितुं वार्हति ब्रह्मविद्या। तस्माद्व्यर्थैव श्रुतहान्यश्रुतकल्पना।

ब्रह्मण्यविद्यानुपपत्तिरिति चेत्?

गया है', क्योंकि वेद यथार्थवादी है। अतः 'ब्रह्म' शब्दसे ब्रह्म शब्दके अर्थसे विपरीत ब्रह्म होनेवाला पुरुष कहा गया है—ऐसी कल्पना करनी उचित नहीं है, क्योंकि जबतक कोई दूसरा बहुत बड़ा प्रयोजन न हो, श्रुत अर्थको छोड़ना और अश्रुतकी कल्पना करना अन्याय्य है।

यदि कहो कि अविद्याकृत नहीं, वस्तुतः अब्रह्मत्व और असर्वत्व है ही, तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसकी ब्रह्मविद्याद्वारा निवृत्ति होनी असम्भव होगी। ब्रह्मविद्या साक्षात्‌रूपसे किसी वस्तुके धर्मोंका लोप या प्रादुर्भाव करनेवाली कभी नहीं देखी गयी। किंतु वह अविद्याकी सर्वत्र ही निवृत्ति करनेवाली देखी जाती है। इसी प्रकार यहाँ भी जो अविद्याकृत अब्रह्मत्व और असर्वत्व है, उसकी ही ब्रह्मविद्यासे निवृत्ति होनी चाहिये। ब्रह्मविद्या पारमार्थिक वस्तुको पैदा करने या निवृत्त करनेमें तो समर्थ है नहीं। इसलिये श्रुत अर्थको छोड़ना और अश्रुतकी कल्पना करना व्यर्थ ही है।

पूर्व०—किंतु ब्रह्ममें अविद्या होना तो असंगत है?

अविद्याविष्ठान-विचारः न, ब्रह्मणि विद्याविधानात्। न हि शुक्तिकायां रजताध्यारोपणेऽसति शुक्तिकात्वं ज्ञाप्यते चक्षुर्गोचरापन्नायाम्—इयं शुक्तिका न रजतम्, इति। तथा "सदेवेदं सर्वम्" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" "आत्मैवेदं सर्वम्" "नेदं द्वैतमस्त्यब्रह्म" इति ब्रह्मण्येकत्वविज्ञानं न विधातव्यं ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपणायामसत्याम्।

न ब्रूमः—शुक्तिकायामिव ब्रह्मण्यतद्धर्माध्यारोपणा नास्तीति, किं तर्हि? न ब्रह्म स्वात्मन्यतद्धर्माध्यारोपनिमित्तम्, अविद्याकर्तृ चेति।

भवत्वेवं नाविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म। किन्तु नैवाब्रह्माविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽन्य इष्यते। "नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता" (बृ० उ० ३।७।२३) "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (३।८।११)

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्ममें विद्याका विधान किया गया है। यदि शुक्तिमें चाँदीका अध्यारोप न हो तो उसके नेत्रेन्द्रियके विषय होनेपर 'यह शुक्ति है चाँदी नहीं है' इस प्रकार उसके शुक्तित्वका ज्ञान नहीं कराया जाता। इसी प्रकार यदि ब्रह्ममें अविद्याका आरोप न होता तो "यह सब सत् ही है" "यह सब ब्रह्ममें ही है" "यह सब आत्मा ही है" "यह अब्रह्मरूप द्वैत नहीं है" इस प्रकार ब्रह्ममें एकत्वज्ञानका विधान नहीं किया जा सकता।

पूर्व०-हम यह नहीं कहते कि शुक्तिमें रजतके समान ब्रह्ममें अब्रह्मके धर्मोंका आरोप नहीं है तो फिर क्या कहते हैं ? हमारा कथन तो यह है ब्रह्म अपनेमें अब्रह्म धर्मोंके आरोपका निमित्त और अविद्या करनेवाला नहीं है।

सिद्धान्ती-यह हो सकता है कि ब्रह्म अविद्याका कर्ता और भ्रान्त नहीं है, किंतु अविद्याका कर्ता कोई अन्य अब्रह्म भ्रान्त चेतन है—ऐसा भी नहीं माना जाता; जैसा कि "इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है", "इससे भिन्न कोई जाननेवाला नहीं है",

"तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८—१६) "आत्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (१ । ४ । १०) इत्यादिश्रुतिभ्यः । स्मृतिभ्यश्च—"समं सर्वेषु भूतेषु" (गीता १३ । २७) "अहमात्मा गुडाकेश" (गीता १० २०) "शुनि चैव श्वपाके च" (गीता ५ । १८) "यस्तु सर्वाणि भूतानि" इत्यादिभ्यः । "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि" (ईशा० उ० ७) इति च मन्त्रवर्णात् ।

"वह तू है", "अपनेको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ", "यह अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है वह नहीं जानता ।' इत्यादि श्रुतियोंसे "जो समस्त भूतोंमें मुझे समभावसे स्थित [देखता है]", 'हे गुडाकेश । मैं आत्मा हूँ", "कुत्ते और चाण्डालमें", "जो समस्त भूतोंको [अपनेहीमें देखता है]" इत्यादि स्मृतियोंसे और "जिस अवस्थामें सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं" इस मन्त्रवर्णसे भी सिद्ध होता है ।

नन्वेवं शास्त्रोपदेशानर्थक्यमिति ।

पूर्व०—किंतु इस प्रकार तो शास्त्रोपदेशकी व्यर्थता प्राप्त होती है।

बाढमेवम् अवगतेऽस्त्वेवानर्थक्यम् ।

सिद्धान्ती—हाँ, ऐसा ही है; तत्त्वज्ञान होनेपर तो उसकी व्यर्थता होगी ही ।

अवगमानर्थक्यमपीति चेत् ?

पूर्व०—किंतु इससे तो ज्ञानकी भी व्यर्थता सिद्ध होती है ।

न, अनवगमनिवृत्तेर्दृष्टत्वात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उससे अज्ञानकी निवृत्ति होती देखी जाती है ।

तन्निवृत्तेरप्यनुपपत्तिरेकत्व इति चेत् ?

पूर्व०—ब्रह्मका एकत्व माननेपर तो उसकी निवृत्ति भी सङ्गत नहीं है—ऐसा कहें तो ?[1]

१. क्योंकि यदि अज्ञाननिवृत्तिको वास्तविक माना जाय तो ब्रह्म और अज्ञाननिवृत्ति दो पदार्थ सिद्ध होंगे, अतः इससे अद्वैतकी हानि होगी । और यदि उसे ब्रह्मरूप माना जाय तो उसका ब्रह्मज्ञानके अधीन होना सिद्ध नहीं हो सकता ।

न, दृष्टविरोधात् । दृश्यते ह्येकत्वविज्ञानादेवानवगमनिवृत्तिः। दृश्यमानमप्यनुपपन्नमिति ब्रुवतो दृष्टविरोधः स्यात्; न च दृष्टविरोधः केनचिदप्यभ्युपगम्यते । न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, दृष्टत्वादेव । दर्शनानुपपत्तिरिति चेत्तत्राप्येषैव युक्तिः ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि इससे दृष्टविरोध आता है । एकत्वज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती देखी जाती है । दिखलायी देनेपर भी वह अनुपपन्न ही है—ऐसा कहनेपर तो दृष्टविरोध ही होगा और दृष्टविरोधको कोई भी स्वीकार नहीं करता । कोई भी विषय दिखायी देनेपर वह दृष्टिगोचर (अनुभूत) होनेके कारण ही अनुपपन्न नहीं हो सकता । यदि कहो कि दर्शन (अनुभव) की भी अनुपपत्ति हो सकती है, तो उसमें भी यही युक्ति है ।[2]

परजीवयोर्भेदे युक्तयः

"पुण्यं वै पुण्येन कर्मणा भवति" (बृ० उ० ३ । २ । १३ ।) "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" (४ । ४ । २) "मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" (प्र० उ० ४ । ९) इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः परस्माद्विलक्षणोऽन्यः संसार्यवगम्यते । तद्विलक्षणश्च परः "स एष नेति नेति"[1]

पूर्व०—"पुण्यकर्मके द्वारा पुरुष पुण्यात्मा होता है", "पुरुषकी उपासना और कर्म उसका [परलोकमें] अनुसरण करते हैं" "मनन करनेवाला, ज्ञाता, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष है" इत्यादि श्रुति-स्मृति और न्यायसे संसारी जीव परमात्मासे भिन्न ज्ञात होता है । तथा उससे विलक्षण परमात्मा "वह यह (कार्य) नहीं है, [कारण] नहीं है"

१. यह मन्त्रांश इस उपनिषद्के ४।२।४, ४।४।२२ और ४।५।१५ में भी है।
२. अर्थात् उसकी अनुपपत्ति भी अनुभवके ही आधारपर सिद्ध की जायगी । इसलिये अनुभवके अनुपपन्न होनेका कोई कारण नहीं है ।

(बृ० उ० ३ । ९ । २६) "अशनायाद्यत्येति" "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" (छा० उ० ८ । ७ । १) "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" (बृ० उ० ३ । ८ । ९) इत्यादिश्रुतिभ्यः । कणादाक्षपादादितर्कशास्त्रेषु च संसारविलक्षण ईश्वर उपपत्तितः साध्यते। संसारदुःखापनयार्थित्वप्रवृत्तिदर्शनात्स्फुटमन्यत्वमीश्वरात्संसारिणोऽवगम्यते । "अवाक्यनादरः" (छा० उ० ३ । १४ । २) "न मे पार्थास्ति" (गीता ३।२२) इति श्रुतिस्मृतिभ्यः ।

"क्षुधादिका उल्लङ्घन किये हुए है" "जो आत्मा निष्पाप, जराशून्य और मृत्युहीन है" "निश्चय इस अक्षरके प्रकृष्ट शासनमें" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है। कणाद और गौतमादिके तर्कशास्त्रोंमें भी युक्तिसे संसारी जीवसे पृथक् ईश्वर सिद्ध किया जाता है। संसारदुःखकी निवृत्तिके प्रयोजनसे जीवकी प्रवृत्ति देखी जानेके कारण ईश्वरसे जीवका अन्यत्व स्पष्टतया ज्ञात होता है; जैसा कि [आत्मा] "वाक्रहित और सम्भ्रमशून्य है" इस श्रुतिसे और "हे पार्थ! मेरा कोई कर्तव्य नहीं है" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है।

"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा० उ० ८ । ७ । १) "तं विदित्वा न लिप्यते" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २ । १ । १) "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतत्" (बृ० उ० ४।४।२०) "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा" (३ । ८ । १०) "तमेव धीरो विज्ञाय" (४ । ४ । २१) "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते" (मु० उ० २ । २ । ४) इत्यादिकर्मकर्तृनिर्देशाच्च ।

इसके सिवा "वह अन्वेषण करने योग्य और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है", "उसे जानकर लिप्त नहीं होता", "ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है," "इसे एक रूपसे ही देखना चाहिये", "हे गार्गि! जो कोई इस अक्षरको न जानकर," "बुद्धिमान् पुरुष उसे ही जानकर", "प्रणव धनुष है, आत्मा (मन) बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है" इत्यादि वाक्योंसे जीव और ईश्वरका कर्तृत्व और कर्मत्व बतलाये जानेसे भी [उनमें भेद सिद्ध होता है] ।

मुमुक्षोश्च गतिमार्गविशेषदेशोपदेशात्। असति भेदे कस्य कुतो गतिः स्यात्? तदभावे च दक्षिणोत्तरमार्गविशेषानुपपत्तिः,गन्तव्यदेशानुपपत्तिश्चेति। भिन्नस्य तु परस्मादात्मनः सर्वमेतदुपपन्नम्।

कर्मज्ञानसाधनोपदेशाच्च—भिन्नश्चेद्ब्रह्मणः संसारी स्यात्, युक्तस्तं प्रत्यभ्युदयनिःश्रेयससाधनयोः कर्मज्ञानयोरुपदेशो नेश्वरस्याप्तकामत्वात्। तस्माद्युक्तं 'ब्रह्मेति ब्रह्मभावी पुरुष उच्यत इति चेत्?

भेदवाद-निरसनम् न; ब्रह्मोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गात्। संसारी चेद्ब्रह्मभाव्यब्रह्म सन्

तथा मुमुक्षुके लिये [देवयानादि] गति और [अर्चिरादि] मार्गविशेषका उपदेश होनेके कारण भी [ऐसा ही जान पड़ता है]। यदि भेद न हो तो किसका कहाँसे गमन होगा? और गतिका अभाव माना जाय तो दक्षिणायन-उत्तरायणसंज्ञक मार्गविशेषोंकी तथा गन्तव्य देशकी उपपत्ति नहीं हो सकती। परमात्मासे भिन्न आत्माके लिये तो यह सभी उपपन्न हो सकता है।

कर्म और ज्ञानरूप साधनोंका उपदेश होनेके कारण भी [उनका भेद है]। यदि संसारी जीव ब्रह्मसे भिन्न होगा तभी उसके लिये भोग और मोक्षके साधनभूत कर्म और ज्ञानका उपदेश हो सकेगा, ईश्वरको इनका उपदेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो आप्तकाम है। अतः यही ठीक है कि 'ब्रह्म' शब्दसे भविष्यमें ब्रह्मभावको प्राप्त होनेवाला पुरुष ही कहा गया है—ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है, क्योंकि तब तो ब्रह्मोपदेशकी ही व्यर्थताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। यदि भविष्यमें ब्रह्मभावको प्राप्त होनेवाला संसारी ही अब्रह्म

विदित्वात्मानमेवाहं ब्रह्मास्मीति सर्वमभवत्तस्य संसार्यात्मविज्ञानादेव सर्वात्मभावस्य फलस्य सिद्धत्वात्परब्रह्मोपदेशस्य ध्रुवमानर्थक्यं प्राप्तम् ।

होते हुए अपनेको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जानकर सर्वरूप हो गया तो उसे संसारी जीवके विज्ञानसे ही सर्वात्मभावरूप फल प्राप्त होनेके कारण परब्रह्मोपदेशकी निश्चय ही व्यर्थता प्राप्त हुई ।

तद्विज्ञानस्य क्वचित्पुरुषार्थसाधनेऽविनियोगात्संसारिण एवाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मत्वसम्पादनार्थ उपदेश इति चेत् । अनिर्ज्ञाते हि ब्रह्मस्वरूपे किं सम्पादयेदहं ब्रह्मास्मीति । निर्ज्ञातलक्षणे हि ब्रह्मणि शक्या सम्पत्कर्तुम् ।

पूर्व०-ब्रह्मज्ञानका कहीं पुरुषार्थके साधनमें विनियोग न होनेके कारण संसारी जीवको ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मभाव सम्पादन करानेके लिये यह उपदेश हो तो ? ब्रह्मका स्वरूप अच्छी तरह जाने बिना 'मैं ब्रह्म हूँ' इस उपदेशसे संसारी जीव क्या सम्पादन कर सकता है ? क्योंकि ब्रह्मके लक्षणोंका सम्यक् प्रकारसे ज्ञान हो जानेपर ही [ब्रह्मरूपताका] सम्पादन किया जा सकता है ।

न; "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० उ० २ । ५ । १९) "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (३ । ४ । १) "य आत्मा" (छा० उ० ८ । ७ । १) "तत्सत्यं स आत्मा" (छा० उ० ६ । ८ । ७) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २ । १ । १) इति प्रकृत्य "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" (२ । १ । १)

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है। "यह आत्मा ब्रह्म है," "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है", "जो आत्मा अपहतपाप्मा," "वह सत्य है, वह आत्मा है", तथा "ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है" इस प्रकार प्रसङ्ग उठाकर "उस इस आत्मासे [आकाश उत्पन्न हुआ]" इत्यादि

इति सहस्रशो ब्रह्मात्मशब्दयोः सामानाधिकरण्यादेकार्थत्वमेवेत्यवगम्यते। अन्यस्य ह्यन्यत्वे सम्पत्क्रियते नैकत्वे। "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २।४।६) इति च प्रकृतस्यैव द्रष्टव्यस्यात्मन एकत्वं दर्शयति। तस्मान्नात्मनो ब्रह्मत्वसम्पदुपपत्तिः।

न चाप्यन्यत्प्रयोजनं ब्रह्मोपदेशस्य गम्यते, "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३।२।९) "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" (बृ० उ० ४।२।४) "अभयं हि वै ब्रह्म भवति" (४।४।२५) इति च तदापत्तिश्रवणात्। सम्पत्तिश्चेत्तदापत्तिर्न स्यात्। न ह्यन्यस्यान्यभाव उपपद्यते।

वचनात् सम्पत्तेरपि तद्भावा-

सहस्रों श्रुतियोंसे 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्दोंका सामानाधिकरण्य देखे जानेसे इनका एक ही अर्थ है—यह बात ज्ञात होती है। तथा एक पदार्थसे दूसरेके भिन्न होनेपर ही [उसकी तद्रूपताका] सम्पादन किया जाता है, एक होनेपर नहीं। किंतु "यह जो कुछ है सब आत्मा है" यह श्रुति इस प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका एकत्व दिखलाती है। अतः आत्माके लिये ब्रह्मत्व-सम्पादन करना उपपन्न नहीं है।

इसके सिवा ब्रह्मोपदेशका कोई दूसरा प्रयोजन भी जाना नहीं जाता; क्योंकि "ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है," "हे जनक! निश्चय तू अभयको प्राप्त हो गया है," "[जो ब्रह्मको इस प्रकार जानता है] वह निर्भय ब्रह्म हो जाता है।" इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मकी प्राप्ति सुनी गयी है। यदि आत्माकी ब्रह्मसम्पत्ति विवक्षित होती तो उसे ब्रह्मत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती थी; क्योंकि एक वस्तुका अन्यभाव हो जाना सम्भव नहीं है।

पूर्व०—श्रुतिका[1] वचन होनेके कारण ब्रह्मसम्पत्तिसे भी ब्रह्मभावकी

1. 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'—उसे जिस-जिस प्रकार उपासना करता है तद्रूप ही हो जाता है—यही श्रुतिका वचन है।

पत्तिः स्यादिति चेत् ?

न, सम्पत्तेः प्रत्ययमात्रत्वात्। विज्ञानस्य च मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वव्यतिरेकेणाकारकत्वमित्यवोचाम। न च वचनं वस्तुनः सामर्थ्यजनकम्। ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकमिति स्थितिः। "स एष इह प्रविष्टः" (बृ० उ० १।४।७) इत्यादिवाक्येषु च परस्यैव प्रवेश इति स्थितम्। तस्माद्ब्रह्मेति न ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना साध्वी।

इष्टार्थबाधनाच्च। सैन्धवघनवदनन्तरमबाह्यमेकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयिषितोऽर्थः। काण्डद्वयेऽप्यन्तेऽवधारणादवगम्यते "इत्यनुशासनम्" "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति।

प्राप्ति हो सकती है—ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पत्ति तो केवल प्रत्यय (प्रतीति) मात्र होती है। विज्ञान तो मिथ्या ज्ञानका निवर्त्तक होनेके सिवा और कुछ करनेवाला है नहीं—ऐसा हम पहले कह चुके हैं। शास्त्र-वचन किसी वस्तुमें कोई सामर्थ्य पैदा करनेवाला नहीं होता, क्योंकि शास्त्र केवल ज्ञापक है कारक नहीं—यही वास्तविक स्थिति है। "वह यह ब्रह्म इसमें प्रविष्ट हुआ" इत्यादि वाक्योंमें परमात्माका ही [शरीरमें] प्रवेश निश्चय किया गया है। अतः 'ब्रह्म' यह ब्रह्मभावी पुरुषका वाचक है—ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है।

इसके सिवा इष्ट अर्थका बाध होनेके कारण भी [इससे ब्रह्मभावी पुरुष अभिप्रेत नहीं है]। नमकके डलेके समान ब्रह्म अविच्छिन्न, अबाह्य और एकरस है—यह विज्ञान ही समस्त उपनिषदोंमें प्रतिपादनके लिये अभीष्ट विषय है। "इत्यनुशासनम्" और "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इन वाक्योंसे इस उपनिषद्के दो काण्डोंके[1] अन्तमें निर्णय करनेसे भी यही ज्ञात होता है।

१. मधुकाण्ड (अ० २ ब्रा० ५) और मुनिकाण्ड (अ० ४ ब्रा० ५)।

तथा सर्वशाखोपनिषत्सु च ब्रह्मैकत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः। तत्र यदि संसारी ब्रह्मणोऽन्य आत्मानमेवावेदिति कल्प्येत, इष्टस्यार्थस्य बाधनं स्यात्। तथा च शास्त्रमुपक्रमोपसंहारयोर्विरोधादसमञ्जसं कल्पितं स्यात्।

इसी प्रकार सम्पूर्ण शाखाओंके उपनिषदोंमें भी ब्रह्मैकत्व-विज्ञान ही निश्चित अर्थ है, वहाँ यदि ऐसी कल्पना की जाय कि ब्रह्मसे भिन्न संसारी जीवने अपनेको ही जाना तो इष्ट अर्थका बाध होगा। इससे 'उपक्रम और उपसंहारमें विरोध होनेके कारण शास्त्र असंगत है' ऐसी कल्पना हो जायगी।

व्यपदेशानुपपत्तेश्च। यदि च 'आत्मानमेवावेत्' इति संसारी कल्प्येत, ब्रह्मविद्या इति व्यपदेशो न स्यात्। आत्मानमेवावेदिति संसारिण एव वेद्यत्वोपपत्तेः। आत्मेति वेदितुरन्यदुच्यत इति चेन्न, अहं ब्रह्मास्मीति विशेषणात्। अन्यश्चेद्वेद्यः स्यादयमसाविति वा विशेष्येत न त्वहमस्मीति। अहमस्मीति विशेषणादात्मानमेवा-

व्यपदेश (नाम) की अनुपपत्ति होनेसे भी [संसारी जीव 'ब्रह्म' शब्दका वाच्य नहीं हो सकता]। यदि 'आत्मानमेवावेत्' इस वाक्यमें 'जानना' इस क्रियाका कर्ता संसारी जीव माना जाय तो इस विद्याका 'ब्रह्मविद्या' यह नाम नहीं हो सकता; क्योंकि 'अपनेको ही जाना' इस वाक्यके अनुसार [संसारी जीवका] स्वयं संसारी जीव ही वेद्य होना सम्भव है। यदि कहो कि 'आत्मा' इस शब्दसे कहा हुआ वेद्य वेत्तासे भिन्न बतलाया गया है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार [अहंरूपसे] विशेषित किया गया है। यदि वेद्य वेत्तासे भिन्न होता तो उसे 'यह' अथवा 'वह' कहकर विशेषित किया जाता 'मैं हूँ' ऐसा कहकर नहीं। 'मैं हूँ' इस प्रकार विशेषित

वेदिति चावधारणान्निश्चितमात्मैव ब्रह्मेत्यवगम्यते। तथा च सत्युपपन्नो ब्रह्मविद्याव्यपदेशो नान्यथा। संसारिविद्या ह्यन्यथा स्यात्। न च ब्रह्मत्वाब्रह्मत्वे ह्येकस्योपपन्ने परमार्थतः, तमःप्रकाशाविव भानोर्विरुद्धत्वात्।

करनेसे और 'अपनेको ही जाना' ऐसा निश्चय करनेसे यह निश्चितरूपसे ज्ञात होता है कि स्वयं आत्मा ही ब्रह्म है। ऐसा होनेपर ही इस विद्याका 'ब्रह्मविद्या' यह नाम उपपन्न हो सकता है और किसी प्रकार नहीं। अन्यथा माननेपर तो इसका नाम 'संसारिविद्या' होगा। जिस प्रकार विरुद्ध होनेके कारण अन्धकार और प्रकाश ये दोनों ही सूर्यके धर्म नहीं हो सकते उसी प्रकार एक ही आत्माके ब्रह्मत्व और अब्रह्मत्व ये दोनों धर्म परमार्थतः उपपन्न नहीं हो सकते।

न चोभयनिमित्तत्वे ब्रह्मविद्येति निश्चितो व्यपदेशो युक्तः। तदा ब्रह्मविद्या संसारिविद्या च स्यात्। न च वस्तुनोऽर्धजरतीयत्वं कल्पयितुं युक्तं तत्त्वज्ञानविवक्षायाम्, श्रोतुः संशयो हि तथा स्यात्। निश्चितं च ज्ञानं पुरुषार्थसाधनमिष्यते "यस्य

इसके सिवा यदि प्रस्तुत विज्ञानके ये दोनों ही निमित्त हों तो भी उसका 'ब्रह्मविद्या' यह निश्चित व्यपदेश उपपन्न नहीं है। उस अवस्थामें वह ब्रह्मविद्या और संसारविद्या भी कहलायेगी और तत्त्वज्ञानका निरूपण करना अभीष्ट होनेपर वस्तुके विषयमें अर्धजरतीय-कल्पना[1] करनी उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेपर सुननेवालेको संदेह होगा। पुरुषार्थका साधन तो निश्चित ज्ञान ही माना जाता है; जैसा कि

१. एक ही वस्तुके विषयमें दो विरुद्ध कल्पना करना अर्धजरतीयन्याय कहलाता है; जैसे कोई कहे कि आधी गाय तो बूढ़ी हो गयी है और आधी बच्चा देनेमें समर्थ है।

स्याद्द्धा न विचिकित्सास्ति" (छा० उ० ३ । १४ । ४) "संशयात्मा विनश्यति" (गीता ४ । ४०) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । अतो न संशयितो वाक्यार्थो वाच्यः परहितार्थिना ।

ब्रह्मणि साधकत्वकल्पना अस्मदादिष्विव अपेशला 'तदात्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इति—इति चेत् ?

न, शास्त्रोपालम्भात् । न ह्यस्मत्कल्पनेयम्, शास्त्रकृता तु; तस्माच्छास्त्रस्यायमुपालम्भः । न च ब्रह्मण इष्टं चिकीर्षुणा शास्त्रार्थविपरीतकल्पनया स्वार्थपरित्यागः कार्यः । न चैतावत्येवाक्षमा युक्ता भवतः । सर्वं हि नानात्वं ब्रह्मणि कल्पितमेव "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४ । ४ । २०) "नेह नानास्ति किञ्चन" (४ । ४ । १९) "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (२ । ४ । १४) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) इत्यादिवा-

"जिसका ऐसा निश्चय है और जिसे इस विषयमें कोई संदेह भी नहीं है [उसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है]" इस श्रुतिसे और "संशयात्मा नष्ट हो जाता है" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है । अतः दूसरोंका हित चाहनेवाले पुरुषको वाक्यका संशययुक्त अर्थ नहीं करना चाहिये ।

पूर्व०-किंतु 'उसने अपनेको ही जाना [कि मैं ब्रह्म हूँ] अतः वह सर्व हो गया' इस वाक्यके अनुसार हमलोगोंकी तरह ब्रह्ममें साधकत्वकी कल्पना करनी तो अच्छी नहीं है ?

सिद्धान्ती-ऐसा न कहो, क्योंकि यह उपालम्भ शास्त्रके लिये है । यह हमारी कल्पना नहीं है, अपितु शास्त्रकी की हुई है, अतः यह शास्त्रके ही लिये उपालम्भ है। और ब्रह्मका इष्ट करनेकी इच्छावाले पुरुषको शास्त्रके अर्थसे विपरीत कल्पना करके उसके अर्थका परित्याग नहीं करना चाहिये । आपके लिये इतनी अक्षमा उचित नहीं है। सारा नानात्व ब्रह्ममें कल्पित ही है । "उसे एकरूप ही देखना चाहिये", "यहाँ नाना कुछ भी नहीं है", "जहाँ द्वैत-सा होता है", "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है" इत्यादि सैकड़ों

क्यशतेभ्यः। सर्वो हि लोकव्यवहारो ब्रह्मण्येव कल्पितो न परमार्थः सन्, इत्यत्यल्पमिदमुच्यते 'इयमेव कल्पना अपेशला' इति।

तस्माद् यत्प्रविष्टं स्रष्टृ ब्रह्म तद्ब्रह्म। वैशब्दोऽवधारणार्थः। इदं शरीरस्थं यद् गृह्यते, अग्रे प्राक्प्रतिबोधादपि ब्रह्मैवासीत्, सर्वं चेदम्। किन्त्वप्रतिबोधात् 'अब्रह्मास्म्यसर्वं च' इत्यात्मन्यध्यारोपात् 'कर्ताहं क्रियावान्फलानां च भोक्ता सुखी दुःखी संसारी' इति चाध्यारोपयति। परमार्थतस्तु ब्रह्मैव तद्विलक्षणं सर्वं च। तत्कथञ्चिदाचार्येण दयालुना प्रतिबोधितम् 'नासि संसारी' इत्यात्मानमेवावेत्स्वाभाविकम्। अविद्याध्यारोपितविशेषवर्जितमिति एवशब्दस्यार्थः।

ब्रूहि कोऽसावात्मा स्वाभा-

वाक्योंसे यही बात कही गयी है। ब्रह्ममें तो सारा ही लोकव्यवहार कल्पित ही है; यह परमार्थतः सत् नहीं है; अतः 'यही कल्पना अच्छी नहीं है' यह तो तुम बहुत छोटी बात कहते हो।

अतः जो सृष्टिकर्ता ब्रह्म प्रविष्ट हुआ था, वही यह ब्रह्म है। 'ब्रह्म वै' इसमें 'वै' शब्द निश्चयार्थक है। 'इदम्' अर्थात् यह जो शरीरमें स्थित दिखायी देता है 'अग्रे'-बोध होनेसे पूर्व भी ब्रह्म ही था तथा यह सर्व भी था। किंतु अज्ञानवश आत्मामें 'मैं अब्रह्म हूँ, असर्व हूँ' ऐसा आरोप कर लेनेसे 'मैं कर्ता हूँ, क्रियावान् हूँ, फलोंका भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ और संसारी हूँ' ऐसा अध्यारोप कर लेता है। वस्तुतः तो वह उससे विलक्षण ब्रह्म और सर्वरूप ही है। उसने दयालु आचार्यद्वारा किसी प्रकार 'तू संसारी नहीं है' ऐसा बोध कराये जानेपर स्वाभाविक आत्माको ही जाना। 'आत्मानमेव' इसमें 'एव' शब्दका यह अभिप्राय है कि 'उसने अविद्याद्वारा आरोपित विशेषसे रहित—निर्विशेष आत्माको जाना।'

पूर्व०—अच्छा, बताओ वह स्वा-

विकः, यमात्मानं विदितवद्ब्रह्म।

ननु न स्मरस्यात्मानम्, दर्शितो ह्यसौ, य इह प्रविश्य प्राणित्यपानिति व्यानित्युदानिति समानितीति।

आत्मस्वरूप-विवेचनम्

ननु 'असौ गौः, असावश्वः' इत्येवमसौ व्यपदिश्यते भवता नात्मानं प्रत्यक्षं दर्शयसि।

एवं तर्हि द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता, स आत्मेति।

नन्वत्रापि दर्शनादिक्रियाकर्तुः स्वरूपं न प्रत्यक्षं दर्शयसि। न हि गमिरेव गन्तुः स्वरूपं छिदिर्वा छेत्तुः।

एवं तर्हि दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता, स आत्मेति।

नन्वत्र को विशेषो द्रष्टरि? यदि दृष्टेर्द्रष्टा, यदि वा घटस्य

भाविक आत्मा कौन है? जिसे ब्रह्मने जाना।

सिद्धान्ती-क्या तुम्हें आत्माका स्मरण नहीं रहा; उसे 'जो यह शरीरमें प्रवेश करके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समानकी क्रियाएँ करता है वह आत्मा है' इस प्रकार प्रदर्शित किया था।

पूर्व०—किंतु 'वह गौ है, वह घोड़ा है' इत्यादिरूपसे तुम उसका नामनिर्देश तो करते हो, परंतु आत्माको प्रत्यक्ष नहीं दिखाते।

सिद्धान्ती-तो फिर ऐसा समझो कि जो द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है, वह आत्मा है।

पूर्व०—किंतु यहाँ भी तुम दर्शनादि क्रिया करनेवालेका स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं दिखाते। जाना ही जानेवालेका और छेदन ही छेदन करनेवालेका स्वरूप नहीं है।

सिद्धान्ती-तो फिर जो दृष्टिका द्रष्टा, श्रुतिका श्रोता, मतिका मन्ता और विज्ञातिका विज्ञाता है, वही आत्मा है-ऐसा समझो।

पूर्व०-किंतु इससे द्रष्टामें क्या विशेषता हुई? चाहे दृष्टिका द्रष्टा हो चाहे घटका द्रष्टा, वह तो सब

द्रष्टा, सर्वथापि द्रष्टैव । द्रष्टव्य एव तु भवान्विशेषमाह दृष्टेर्द्रष्टेति द्रष्टा तु यदि दृष्टेः, यदि वा घटस्य, द्रष्टा द्रष्टैव ।

न, विशेषोपपत्तेः । अस्त्यत्र विशेषः-दृष्टेर्द्रष्टा स दृष्टिश्चेद् भवति नित्यमेव पश्यति दृष्टिम्, न कदाचिदपि दृष्टिर्न दृश्यते द्रष्टा; तत्र द्रष्टुर्दृष्टया नित्यया भवितव्यम्, अनित्या चेद् द्रष्टुर्दृष्टिः, तत्र दृश्या या दृष्टिः सा कदाचिन्न दृश्येतापि, यथानित्यया दृष्टया घटादि वस्तु । न च तद्वद् दृष्टेर्द्रष्टा कदाचिदपि न पश्यति दृष्टिम् ।

किं द्वे दृष्टी द्रष्टुः-नित्या अदृश्या, अन्या अनित्या दृश्येति ?

बाढम्; प्रसिद्धा तावदनित्या दृष्टिः, अन्धानन्धत्वदर्शनात् । नित्यैव चेत्सर्वोऽनन्ध एव

तरहसे द्रष्टा ही रहा । दृष्टिका द्रष्टा कहकर तो आप केवल द्रष्टव्यमें ही विशेषता बतलाते हैं । द्रष्टा तो चाहे दृष्टिका हो चाहे घटका, द्रष्टा द्रष्टा ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि घटद्रष्टा और दृष्टिद्रष्टाका भेद सम्भव है । यहाँ एक भेद है—जो दृष्टिका द्रष्टा है वह, यदि दृष्टि होती है तो, उसे नित्य ही देखता है । ऐसा नहीं होता कभी द्रष्टाको दृष्टि न भी दिखायी पड़े । उस अवस्थामें द्रष्टाकी दृष्टि नित्य होनी चाहिये । यदि द्रष्टाकी दृष्टि अनित्य होगी तो उसकी दृश्यभूता जो दृष्टि है वह कभी नहीं भी देखी जायगी, जैसे कि अनित्य दृष्टिसे घटादि वस्तु । किंतु उसके समान दृष्टिका द्रष्टा कभी दृष्टिको न देखता हो—ऐसी बात नहीं है ।

पूर्व०—तो क्या द्रष्टाकी दो दृष्टियाँ हैं—एक नित्य और अदृश्य तथा दूसरी अनित्य और दृश्य ?

सिद्धान्ती—हाँ, लोकमें अन्धत्व और अनन्धत्व दोनों देखे जानेसे अनित्य दृष्टि तो प्रसिद्ध ही है । यदि यह दृष्टि नित्य ही होती तो सब अनन्ध (नेत्रवान्) ही होते ।

स्यात्। द्रष्टुस्तु नित्या दृष्टिः "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"—इति श्रुतेः। अनुमानाच्च—अन्धस्यापि घटाद्याभासविषया स्वप्ने दृष्टिरुपलभ्यते, सा तदीतरदृष्टिनाशे न नश्यति, सा द्रष्टुर्दृष्टिः। तयाविपरिलुप्तया नित्यया दृष्ट्या स्वरूपभूतया स्वयञ्ज्योतिःसमाख्ययेतरामनित्यां दृष्टिं स्वप्नबुद्धान्तयोर्वासनाप्रत्ययरूपां नित्यं पश्यन्दृष्टेर्द्रष्टा भवति। एवञ्च सति दृष्टिरेव स्वरूपमस्याग्न्यौष्ण्यवत्, न काणादानामिव दृष्टिव्यतिरिक्तोऽन्यश्चेतनो द्रष्टा।

किंतु "द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता" इस श्रुतिके अनुसार द्रष्टाकी दृष्टि तो नित्य है। यह बात अनुमानसे भी सिद्ध होती है। अन्धे पुरुषकी भी स्वप्नमें घटाभासादिविषयिणी दृष्टि देखी जाती है। वह दृष्टि अन्य (नेत्रसम्बन्धिनी) दृष्टिका नाश हो जानेपर भी नष्ट नहीं होती। वह द्रष्टाकी दृष्टि है। उस कभी लुप्त न होनेवाली स्वयंज्योतिःसंज्ञिका स्वरूपभूता नित्यदृष्टिसे स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंमें रहनेवाली वासना-प्रत्ययरूपा दृष्टिको नित्य ही देखते रहनेके कारण वह दृष्टिका द्रष्टा होता है। ऐसा होनेके कारण अग्निकी उष्णताके समान दृष्टि ही आत्माका स्वरूप है। कणाद-मतावलम्बियोंकी मान्यताके समान दृष्टिसे भिन्न कोई अन्य चेतन द्रष्टा नहीं है।

तद्ब्रह्म आत्मानमेव नित्यदृग्रूपमध्यारोपितानित्यदृष्ट्यादिवर्जितमेवावेद्विदितवत्।

उस ब्रह्मने जो अन्य आरोपित अनित्य दृष्टि आदिसे रहित है, उस नित्यदृग्रूप आत्माको ही अवेत्—जाना।

ननु विप्रतिषिद्धं "न विज्ञाते-

पूर्व०—किंतु "विज्ञानशक्तिके

विज्ञातारं विजानीयाः" (बृ० उ० ३ । ४ । २) इति श्रुतेः, विज्ञातुर्विज्ञानम् ।

न, एवं विज्ञानान्न विप्रतिषेधः । एवं दृष्टेर्द्रष्टेति विज्ञायत एव । अन्यज्ञानानपेक्षत्वाच्च—न च द्रष्टुर्नित्यैव दृष्टिरित्येवं विज्ञाते द्रष्टृविषयां दृष्टिमन्यामाकाङ्क्षते । निवर्तते हि द्रष्टृविषयदृष्ट्याकाङ्क्षा तदसम्भवादेव । न ह्यविद्यमाने विषय आकाङ्क्षा कस्यचिदुपजायते । न च दृश्या दृष्टिर्द्रष्टारं विषयीकर्तुमुत्सहते, यतस्तामाकाङ्क्षेत । न च स्वरूपविषयाकाङ्क्षा स्वस्यैव । तस्मादज्ञानाध्यारोपणनिवृत्तिरेव 'आत्मानमे-

विज्ञाताको तुम नहीं जान सकते" ऐसी श्रुति होनेसे विज्ञाता (आत्मा) को जानना तो विरुद्ध कथन जान पड़ता है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है । इस प्रकारके विज्ञानसे इस श्रुतिका विरोध नहीं होता । 'वह दृष्टिका द्रष्टा है' इस प्रकार तो वह जाना ही जाता है । इसके सिवा अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न होनेके कारण भी [इस कथनमें विरोध नहीं है] । द्रष्टाकी दृष्टि नित्या ही है—ऐसा ज्ञान हो जानेपर उस दृष्टिको विषय करनेवाली किसी अन्य दृष्टिकी अपेक्षा नहीं होती । बल्कि इससे तो द्रष्टाको विषय करनेवाली दृष्टिकी आकाङ्क्षा निवृत्त हो जाती है, क्योंकि उसका होना असम्भव ही है । जो वस्तु विद्यमान नहीं होती उसके लिये किसीकी आकाङ्क्षा नहीं हुआ करती । कोई भी दृश्यभूता दृष्टि द्रष्टाको विषय करनेमें समर्थ नहीं है, जिससे कि उसकी आकाङ्क्षा की जाय और अपने स्वरूपके विषयमें अपने ही आकाङ्क्षा हुआ नहीं करती । अतः 'आत्माको जाना' इस वाक्यसे अज्ञानके आरोपकी निवृत्तिका ही निरूपण

वावेत्' इत्युक्तम्, नात्मनो विषयीकरणम् ।

तत्कथमवेत्? इत्याह—अहं दृष्टेर्द्रष्टा आत्मा ब्रह्मास्मि भवामीति ब्रह्मेति-यत्साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा अशनायाद्यतीतो नेति नेत्यस्थूलमनण्वित्येवमादिलक्षणम्, तदेवाहमस्मि, नान्यः संसारी, यथा भवानाहेति ।

तस्मादेवं विज्ञानात्तद्ब्रह्म सर्वमभवत्—अब्रह्माध्यारोपणापगमात् तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्त्या सर्वमभवत् । तस्माद्युक्तमेव मनुष्या मन्यन्ते यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्याम इति ।

यत्पृष्टम्, 'किमु तद्ब्रह्मावेद् यस्मात्तत्सर्वमभवत्' इति, तन्निर्णीतम्—'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इति ।

किया गया है, आत्माको विषय करना नहीं बताया गया ।

उस ब्रह्मने किस प्रकार जाना? सो श्रुति बतलाती है, मैं दृष्टिका द्रष्टा आत्मा ब्रह्म हूँ—ऐसा जाना । ब्रह्म अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर आत्मा, क्षुधादि विकारोंसे रहित, 'नेति-नेति' वाक्यप्रतिपादित, अस्थूल, असूक्ष्म इत्यादि विकारके लक्षणोंवाला है, वही मैं हूँ; जैसा कि आप कहते हैं मैं अन्य यानी संसारी नहीं हूँ । अतः इस प्रकारके विज्ञानसे वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया । अर्थात् अब्रह्मरूप अध्यारोपके बाधसे उसके कार्यभूत असर्वत्वकी निवृत्ति हो जानेसे वह सर्वरूप हो गया । अतः मनुष्य जो ऐसा मानते हैं कि ब्रह्मविद्याके द्वारा हम सर्वरूप हो जायँगे, वह उचित ही है ।

[इस प्रकार] यह जो पूछा गया था कि 'उस ब्रह्मने क्या जाना जिससे वह सर्व हो गया' उसका 'पहले यह ब्रह्म ही था; उसने आत्माको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, अतः वह सर्व हो गया' उस वाक्यसे निर्णय कर दिया गया ।

ब्रह्मविद्यया देवादीनां सार्वात्म्यप्रतिपादनम्

तत्तत्र यो यो देवानां मध्ये प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्धवानात्मानं यथोक्तेन विधिना, स एव प्रतिबुद्ध आत्मा तद्ब्रह्माभवत्। तथर्षीणां तथा मनुष्याणां च मध्ये। देवानामित्यादि लोकदृष्ट्यपेक्षया न ब्रह्मत्वबुद्ध्योच्यते। 'पुरः पुरुष आविशत्' इति सर्वत्र ब्रह्मैवानुप्रविष्टमित्यवोचाम। अतः शरीराद्युपाधिजनितलोकदृष्ट्यपेक्षया देवानामित्याद्युच्यते। परमार्थतस्तु तत्र तत्र ब्रह्मैवाग्र आसीत्प्राक्प्रतिबोधाद् देवादिशरीरेष्वन्यथैव विभाव्यमानम्। तदात्मानमेवावेत्तथैव च सर्वमभवत्।

अस्या ब्रह्मविद्यायाः सर्वभावापत्तिः फलमित्येतस्यार्थस्य द्रढिम्ने मन्त्रानुदाहरति श्रुतिः। कथम्? तद् ब्रह्म एतदात्मानमेव 'अहमस्मि' इति पश्यन्नेतस्मादेव ब्रह्मणो दर्शनादृषिर्वामदेवाख्यः

अतः देवताओंमेंसे जिस-जिसने आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जाना वही बोधवान् आत्मा वह अर्थात् ब्रह्म हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमें भी हुआ। यहाँ 'देवानाम्' इत्यादि जो कथन है वह लोकदृष्टिको लेकर है, ब्रह्मत्व-बुद्धिसे ऐसा नहीं कहा जाता, क्योंकि 'पुरुषने शरीररूप पुरमें प्रवेश किया' इस वाक्यसे हम बतला चुके हैं कि सर्वत्र ब्रह्म ही अनुप्रविष्ट हुआ। अतः शरीरादि-उपाधिजनित लोकदृष्टिकी अपेक्षासे 'देवानाम्' इत्यादि कहा गया है। परमार्थतः तो पहले उन-उन देवादि शरीरोंमें बोध होनेसे पूर्व अन्यरूपसे भावना किया जाता हुआ ब्रह्म ही था। उसने आत्माको जाना और उसी प्रकार सर्वरूप हो गया।

इस ब्रह्मविद्याका फल सर्वभावकी प्राप्ति है; इसी बातको दृढ़ करनेके लिये श्रुति मन्त्र उद्धृत करती है। किस प्रकार उद्धृत करती है? उस ब्रह्मको इस प्रकार देखनेवाले अर्थात् अपनेको ही 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा समझनेवाले, वामदेवनामक ऋषिको इस

प्रतिपेदे ह प्रतिपन्नवान्किल । स एतस्मिन्ब्रह्मात्मदर्शनेऽवस्थित एतान्मन्त्रान्ददर्श—'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादीन् ।

'तदेतद्ब्रह्म पश्यन्'इति ब्रह्मविद्या परामृश्यते । 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादिना सर्वभावापत्तिं ब्रह्मविद्याफलं परामृशति । पश्यन्सर्वात्मभावं फलं प्रतिपेद इत्यस्मात्प्रयोगाद् ब्रह्मविद्यासहायसाधनसाध्यं मोक्षं दर्शयति; भुञ्जानस्तृप्यतीति यद्वत् ।

सेयं ब्रह्मविद्यया सर्वभावापत्तिरासीन्महतां देवादीनां वीर्यातिशयात् । नेदानीमैदंयुगीनानां विशेषतो मनुष्याणाम्, अल्पवीर्यत्वादिति स्यात्कस्यचिद्बुद्धिः, तद्व्युत्थापनायाह—

ब्रह्मके दर्शनसे ही यह प्रतिपत्ति हुई—यह ज्ञान हुआ । इस ब्रह्मात्मदर्शनमें स्थित होकर उसने इन 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च[1]' इत्यादि मन्त्रोंका साक्षात्कार किया ।

'तदेतद्ब्रह्म पश्यन्[2]' इस वाक्यसे श्रुति ब्रह्मविद्याका परामर्श करती है तथा 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मविद्याके फल सर्वभावकी प्राप्तिका परामर्श करती है । ब्रह्मको देखनेवाले वामदेव ऋषि सर्वात्मभावरूप फलको प्राप्त हुए—इस प्रयोगसे वह मोक्षको ब्रह्मविद्याके सहायभूत साधनोंसे साध्य दिखलाती है, जैसे कि भोजन करनेवाला तृप्त होता है ।[3]

ब्रह्मविद्याके द्वारा वह यह सर्वभावकी प्राप्ति देवादि महापुरुषोंको उनमें विशेष सामर्थ्य होनेके कारण हो गयी थी । अब वर्तमान युगके प्राणियोंको और उनमें भी अल्पवीर्य होनेके कारण मनुष्योंको उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती—ऐसा यदि किसीका विचार हो तो उसे निवृत्त करनेके लिये श्रुति कहती है—

१. मैं मनु हुआ और सूर्य भी । २. उस इस ब्रह्मको देखते हुए ।

३. इस वाक्यमें जैसे भोजन-क्रिया तृप्तिका साधन प्रतीत होती है, उसी प्रकार मुक्तिका साधन ब्रह्मविद्या है ।

तदिदं प्रकृतं ब्रह्म यत्सर्वभूतानुप्रविष्टं दृष्टिक्रियादिलिङ्गम्, एतर्ह्येतस्मिन्नपि वर्तमानकाले यः कश्चिद्व्यावृत्तबाह्यौत्सुक्य आत्मानमेवैवं वेद 'अहं ब्रह्मास्मि' इति—अपोह्योपाधिजनितभ्रान्तिविज्ञानाध्यारोपितान्विशेषान् संसारधर्मानागन्धितमनन्तरमबाह्यं ब्रह्मैवाहमस्मि केवलमिति—सोऽविद्याकृतासर्वत्वनिवृत्तेर्ब्रह्मविज्ञानादिदं सर्वं भवति। न हि महावीर्येषु वामदेवादिषु हीनवीर्येषु वा वार्तमानिकेषु मनुष्येषु ब्रह्मणो विशेषस्तद्विज्ञानस्य वास्ति।

उस इस प्रकृत ब्रह्मको, जो समस्त भूतोंमें अनुप्रविष्ट है तथा दृष्टि-क्रियादि जिसके लिङ्ग हैं, इस समय अर्थात् इस वर्तमानकालमें भी जो कोई बाह्य विषयोंकी अभिलाषासे मुक्त होकर आत्माको ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानता है अर्थात् उपाधिजनित मिथ्या ज्ञानसे आरोपित विशेषोंका बाध कर जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं जिसमें संसारधर्मोंकी गंध भी नहीं है ऐसा अन्तर-बाह्यशून्य शुद्ध ब्रह्म ही हूँ, वह अविद्याकृत असर्वत्वकी निवृत्ति हो जानेसे ब्रह्मज्ञानके द्वारा यह सर्व हो जाता है। महान् प्रभावशाली वामदेवादि अथवा मन्दवीर्य आधुनिक पुरुषोंमें ब्रह्म अथवा उसके विज्ञानका कोई अन्तर नहीं है।

ब्रह्मविद्यामाहात्म्यम्

वार्तमानिकेषु पुरुषेषु तु ब्रह्मविद्याफले अनैकान्तिकता शङ्क्यत इत्यत आह—तस्य ह ब्रह्मविज्ञातुर्यथोक्तेन विधिना देवा महावीर्याश्च नापि अभूत्या अभवनाय ब्रह्मसर्वभावस्य, नेशते न पर्याप्ताः, किमुतान्ये।

आधुनिक पुरुषोंमें ब्रह्मविद्याके फलकी अनिश्चितताकी शङ्का की जाती है, अतः श्रुति कहती है—महाप्रभावशाली देवगण भी उपर्युक्त विधिसे उस ब्रह्मको जाननेवालेकी अभूतिका अर्थात् ब्रह्मरूप सर्वभावको न होने देनेका सामर्थ्य नहीं रखते, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है?

ब्रह्मविद्याफलप्राप्तौ देवेभ्यः कथं विघ्नाशङ्का

ब्रह्मविद्याफलप्राप्तौ विघ्नकरणे देवादय ईशत इति का शङ्का ? इत्युच्यते—देवादीन्प्रति ऋणवत्त्वान्मर्त्यानाम्। "ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" इति हि जायमानमेवर्णवन्तं पुरुषं दर्शयति श्रुतिः। पशुनिदर्शनाच्च "अथोऽयं वा" (बृ० उ० १। ४। १६) इत्यादिलोकश्रुतेश्चात्मनो वृत्तिपरिपिपालयिषयाधमर्णानिव देवाः परतन्त्रान्मनुष्यान्प्रत्यमृतत्वप्राप्तिं प्रति विघ्नं कुर्युरिति न्याय्यैवैषा शङ्का।

स्वपशून्स्वशरीराणीव च रक्षन्ति देवाः। महत्तरां हि वृत्तिं कर्माधीनां दर्शयिष्यति देवादीनां बहुपशुसमतयैकैकस्य पुरुषस्य। "तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनु-

किंतु ब्रह्मविद्याके फलकी प्राप्तिमें विघ्न करनेमें देवादि समर्थ होते हैं—ऐसी शङ्का क्यों होती है? इसपर कहते हैं—क्योंकि देवादिके प्रति मनुष्य ऋणवान् हैं, जैसा कि "ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषियोंसे, यज्ञद्वारा देवताओंसे और पुत्रोत्पादनद्वारा पितरोंसे [उऋण हो]" यह श्रुति जन्ममात्रसे ही पुरुषको ऋणी दिखाती है तथा "अथो[1] अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः" इस श्रुतिसे मनुष्यको पशुरूप बतलाया जानेके कारण जिस प्रकार उत्तमर्ण (ऋण देनेवाला) अधमर्णों (ऋण लेनेवालों) को कष्ट देता है उसी प्रकार देवगण भी अपनी वृत्तिका निर्वाह करनेके लिये परतन्त्र मनुष्योंके प्रति अमृतत्वप्राप्तिमें विघ्न करें—यह शङ्का न्याय्य ही है।

देवगण अपने इन पशुओंकी अपने शरीरोंके समान रक्षा करते हैं। एक-एक पुरुषकी अनेकों पशुओंसे समता करके श्रुति उसे देवादिकी बहुत बड़ी कर्माधीन वृत्ति दिखलायगी और यह भी कहेगी कि "अतः उन्हें यह प्रिय नहीं है

१. यह प्रसिद्ध आत्मा समस्त भूतोंका भोग्य है।

ष्या विद्युः" (१ । ४ । १०) इति हि वक्ष्यति । "यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेव ँ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति" (१ । ४ । १६) इति च ।

ब्रह्मवित्त्वे पारार्थ्यनिवृत्तेर्न स्वलोकत्वं पशुत्वञ्चेत्यभिप्रायोऽप्रियारिष्टिवचनाभ्यामवगम्यते । तस्माद्ब्रह्मविदो ब्रह्मविद्याफलप्राप्तिं प्रति कुर्युरेव विघ्नं देवाः, प्रभाववन्तश्च हि ते ।

नन्वेवं सत्यन्यास्वपि कर्मफलप्राप्तिषु देवानां विघ्नकरणं पेयपानसमम् । हन्त तर्ह्यविस्रम्भोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनानुष्ठानेषु । तथेश्वरस्याचिन्त्यशक्तित्वाद्विघ्नकरणे प्रभुत्वम् । तथा कालकर्ममन्त्रौषधितपसाम्

विघ्नभयाच्छास्त्रार्थं सम्पादनाविस्रम्भ इत्याशङ्क्यते

कि मनुष्य इस आत्मतत्त्वको जानें" ।

तथा आगे चलकर यह भी कहेगी कि "जिस प्रकार पुरुष अपने शरीरका अविनाश चाहते हैं उसी प्रकार जो ऐसा (देवताओंसे उऋण होनेके लिये अपना कर्त्तव्य) जानता है उसका देवादि समस्त भूत अविनाश चाहते हैं" ।

किंतु ब्रह्मज्ञान हो जानेपर पारार्थ्य (अन्यका उपभोग होना) निवृत्ति हो जानेसे उसके देहात्मत्व और देवपशुत्व नहीं रहते—यह अभिप्राय उपर्युक्त अप्रिय और अरिष्टिवाक्योंसे विदित होता है । अतः ब्रह्मवेत्ताको ब्रह्मविद्याका फल प्राप्त होनेमें देवगण विघ्न करेंगे ही और वे हैं भी प्रभावशाली ।

शङ्का—ऐसी बात है तो अन्य कर्मफलोंकी प्राप्तिमें विघ्न करना भी देवताओंके लिये जल पीनेके समान [सुलभ] है । तब तो अभ्युदय (भोग) और निःश्रेयस (मोक्ष) के साधनोंके अनुष्ठानमें विश्वास नहीं हो सकता । इसी प्रकार अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होनेके कारण ईश्वर भी विघ्न करनेमें समर्थ हैं ही । तथा काल, कर्म, मन्त्र, ओषधि और तपका भी बहुत बड़ा प्रभाव है । शास्त्र एवं

एषां हि फलसम्पत्तिविपत्तिहेतुत्वं शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम्। अतोऽप्यनाश्वासः शास्त्रार्थानुष्ठाने।

न; सर्वपदार्थानां नियतनिमित्तोपादानात्,

तन्निराक्रियते

जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च। स्वभावपक्षे च तदुभयानुपपत्तेः। 'सुखदुःखादि फलनिमित्तं कर्म' इत्येतस्मिन्पक्षे स्थिते वेदस्मृतिन्यायलोकपरिगृहीते, देवेश्वरकालास्तावन्न कर्मफलविपर्यासकर्तारः, कर्मणां काङ्क्षितकारकत्वात्। कर्म हि शुभाशुभं पुरुषाणां देवकालेश्वरादिकारकमनपेक्ष्य नात्मानं प्रति लभते, लब्धात्मकमपि फलदानेऽसमर्थम्, क्रियाया हि कारकाद्यनेकनिमित्तोपादानस्वाभाव्यात्। तस्मात्क्रियानुगुणा हि देवेश्वरा-

लोकमें फलकी प्राप्ति या अप्राप्तिमें इनकी हेतुता प्रसिद्ध ही है। इसलिये भी शास्त्राज्ञाके अनुष्ठानमें अविश्वास ही रहेगा।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि सभी पदार्थोंके निश्चित कारण ग्रहण किये जाते हैं तथा जगत्‌में सुख-दुःखादिवैचित्र्य भी देखा जाता है। यदि इन्हें स्वाभाविक माना जाय तो ये दोनों बातें होनी सम्भव नहीं हैं। 'सुख-दुःखादि फलका निमित्त कर्म है' इस वेद, स्मृति, न्याय और लोकद्वारा गृहीत पक्षके निश्चित होनेपर यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि देवता, ईश्वर और काल तो कर्मफलका विपर्यय करनेवाले हैं नहीं, क्योंकि वे तो कर्मानुष्ठानके अपेक्षित कारक हैं—देव, काल और ईश्वरादि कारकोंकी अपेक्षा न करके तो मनुष्योंका शुभाशुभ कर्म स्वतः सम्पन्न ही नहीं हो सकता। यदि सम्पन्न हो भी जाय तो वह फल देनेमें समर्थ नहीं होगा, क्योंकि कारकादि अनेकों निमित्तोंको ग्रहण करना क्रियाका स्वभाव ही है। अतः देवता और ईश्वरादि कर्मके गुणका अनुसरण करनेवाले ही हैं, इसलिये

-दय इति कर्मसु तावन्न फलप्राप्तिं प्रत्यविस्रम्भः ।

कर्मणामप्येषां वशानुगत्वं क्वचित्, स्वसामर्थ्यस्याप्रणोद्यत्वात् । कर्मकालदैवद्रव्यादिस्वभावानां गुणप्रधानभावस्त्वनियतो दुर्विज्ञेयश्चेति तत्कृतो मोहो लोकस्य—कर्मैव कारकं नान्यत्फलप्राप्ताविति केचित्; दैवमेवेत्यपरे; काल इत्येके; द्रव्यादिस्वभाव इति केचित्; सर्व एते संहता एवेत्यपरे । तत्र कर्मणः प्राधान्यमङ्गीकृत्य वेदस्मृतिवादाः—"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" (बृ० उ० ३ । २ । १३) इत्यादयः । यद्यप्येषां स्वविषये कस्यचित्प्राधान्योद्भव इतरेषां तत्कालीनप्राधान्यशक्तिस्तम्भः, तथापि

उनके कारण कर्मोंमें फलप्राप्तिके प्रति अविश्वास नहीं हो सकता ।

इसके सिवा इन (देवादि) का विघ्न करना कर्मोंके भी अधीन है, क्योंकि कर्मोंके अपने सामर्थ्यका कहीं बाध नहीं हो सकता ।[1] कर्म, काल, दैव और द्रव्यादि स्वभावोंका गौण और मुख्य भाव अनिश्चित एवं दुर्विज्ञेय है । इसीसे उनके कारण लोगोंको मोह हो जाता है । किन्हींका मत है कि फलप्राप्तिमें कर्म ही कारक है, और कोई नहीं; कोई कहते हैं—दैव उसका हेतु है; किन्हींका कथन है कि काल इसका कारण है; कोई द्रव्यादिके स्वभावको इसका हेतु बतलाते हैं और किन्हींका मत है कि वे सब मिलकर कर्मफलप्राप्तिके हेतु हैं । इनमें कर्मकी प्रधानताको लेकर ही "पुण्यकर्मसे पुरुष पुण्यवान् होता है और पापकर्मसे पापी होता है" इत्यादि वेद और स्मृतिवाद प्रवृत्त होते हैं । यद्यपि अपने-अपने विषयमें इनमेंसे किसी-किसीकी प्रधानताका उदय होता है और उस समय अन्य कारकोंकी प्राधान्यशक्तिका निरोध

१. अतः जबतक कोई पापमय अदृष्ट नहीं होगा, तबतक दुःखादिकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

न कर्मणः फलप्राप्तिं प्रत्यनैकान्तिकत्वम्, शास्त्रन्यायनिर्धारितत्वात्कर्मप्राधान्यस्य ।

न; अविद्यापगममात्रत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य—यदुक्तं ब्रह्मप्राप्तिफलं प्रति देवा विघ्नं कुर्युरिति, तत्र न देवानां विघ्नकरणे सामर्थ्यम् ; कस्मात् ? विद्याकालानन्तरितत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य । कथम् ? यथा लोके द्रष्टुश्चक्षुष आलोकेन संयोगो यत्कालः, तत्काल एव रूपाभिव्यक्तिः । एवमात्मविषयं विज्ञानं यत्कालम्, तत्काल एव तद्विषयाज्ञानतिरोभावः स्यात् । अतो ब्रह्मविद्यायां सत्यामविद्याकार्यानुपपत्तेः प्रदीप इव तमःकार्यस्य, केन कस्य

हो जाता है तथापि फलप्राप्तिमें कर्मका अनैकान्तिकत्व (अप्राधान्य) नहीं है, क्योंकि शास्त्र और न्यायसे कर्मकी प्रधानता निश्चित है ।

तथा ब्रह्मविद्याके फलमें विघ्न नहीं पड़ता, क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिका फल तो केवल अविद्याकी निवृत्ति ही है । ऊपर जो यह कहा गया था कि विद्या (ज्ञान) के ब्रह्मप्राप्तिरूप फलमें देवगण विघ्न करेंगे सो उसमें विघ्न करनेकी देवताओंमें शक्ति नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिरूप फल तो ज्ञान होनेके समय ही प्राप्त हो जाता है । किस प्रकार ? जिस प्रकार लोकमें देखनेवालेके नेत्रोंका प्रकाशके साथ जिस समय संयोग होता है उसी समय रूपकी अभिव्यक्ति हो जाती है । उसी प्रकार जिस समय आत्मविषयक ज्ञान होता है उसी समय तद्विषयक अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है । अतः जिस प्रकार दीपकके रहते हुए अन्धकारका कार्य नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मविद्याके रहते हुए अविद्याका कार्य रहना असम्भव है । जब कि ब्रह्मवेत्ता देवताओंके आत्मत्वको ही

विघ्नं कुर्युर्देवाः—यत्रात्मत्वमेव देवानां ब्रह्मविदः।

तदेतदाह—आत्मा स्वरूपं ध्येयं यत्तत्सर्वशास्त्रैर्विज्ञेयं ब्रह्म, हि यस्मात्, एषां देवानाम्, स ब्रह्मविद्भवति। ब्रह्मविद्यासमकालमेवाविद्यामात्रव्यवधानापगमाच्छुक्तिकाया इव रजताभासायाः शुक्तिकात्वमित्यवोचाम। अतो नात्मनः प्रतिकूलत्वे देवानां प्रयत्नः सम्भवति। यस्य ह्यनात्मभूतं फलं देशकालनिमित्तान्तरितम्, तत्रानात्मविषये सफलः प्रयत्नो विघ्नाचरणाय देवानाम्। न त्विह विद्यासमकाल आत्मभूते देशकालनिमित्तानन्तरिते, अवसरानुपपत्तेः।

प्राप्त हो जाता है तो देवगण किसके द्वारा किसे विघ्न करेंगे ?

यही बात श्रुति कहती है—क्योंकि वह ब्रह्मवेत्ता इन देवताओंका आत्मा—ध्येयस्वरूप अर्थात् जो सम्पूर्ण शास्त्रोंसे विज्ञेय ब्रह्म है वही हो जाता है, क्योंकि हम कह चुके हैं कि रजतरूपसे भासनेवाली शुक्तिके शुक्तिकात्वका ज्ञान होते ही जैसे भ्रान्तिजनित रजतत्वकी निवृत्ति हो जाती है वैसे ही ब्रह्मज्ञान होनेके समय ही अविद्यामात्र व्यवधानकी निवृत्ति हो जाती है। अतः आत्माकी प्रतिकूलतामें देवताओंका प्रयत्न होना सम्भव नहीं है। जहाँ देश, काल और निमित्तसे व्यवहित अनात्मभूत फल होता है वहाँ अनात्मविषयमें ही विघ्न करनेके लिये देवताओंका प्रयत्न सफल हो सकता है। यहाँ देश, काल और निमित्तसे अव्यवहित और ज्ञानोदयकालमें ही देवताओंके आत्मत्वको प्राप्त हो जानेवाले ब्रह्मवेत्ताके प्रति विघ्न करनेमें उनका प्रयत्न सफल नहीं होता, क्योंकि इसके लिये उन्हें अवसर मिलना ही सम्भव नहीं है।

अविद्यानिवृत्तौ विद्यावृत्तेःसामर्थ्य-विवेचनम्

एवं तर्हि विद्याप्रत्ययसन्तत्यभावाद् विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनाद् अन्त्य एवात्मप्रत्ययोऽविद्यानिवर्तको न तु पूर्व इति।

न; प्रथमेनानैकान्तिकत्वात्। यदि हि प्रथम आत्मविषयः प्रत्ययोऽविद्यां न निवर्तयति, तथान्त्योऽपि, तुल्यविषयत्वात्।

एवं तर्हि सन्ततोऽविद्यानिवर्तको न विच्छिन्न इति।

न, जीवनादौ सति सन्तत्यनुपपत्तेः। न हि जीवनादिहेतुके प्रत्यये सति विद्याप्रत्ययसन्ततिरुपपद्यते, विरोधात्। अथ जीवनादिप्रत्ययतिरस्करणेनैव आ मरणा-

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तो बोधवृत्तिके प्रवाहका अभाव होनेके कारण तथा विपरीत वृत्ति और उसका कार्य देखा जानेसे यह निश्चय होता है कि अन्तिम आत्माकारवृत्ति ही अविद्याकी निवृत्ति करनेवाली हो सकती है, पहली नहीं।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि प्रथम आत्मप्रत्ययकी तरह अन्तिम प्रत्यय भी व्यभिचारी हो सकता है। यदि आत्मविषयक प्रथम प्रत्यय अविद्याकी निवृत्ति नहीं करता तो उसी तरह अन्तिम प्रत्यय भी नहीं करेगा, क्योंकि दोनोंका विषय समान ही है।

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तो संतत (अविच्छिन्न) आत्मप्रत्यय ही अविद्याका निवर्तक हो सकता है, विच्छिन्न नहीं।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जीवनादिके रहते हुए आत्माकारवृत्तिकी सन्तति (अविच्छिन्नता) सम्भव नहीं है। जीवनादिकी हेतुभूता वृत्तिके रहते हुए बोधवृत्तिकी अविच्छिन्नता सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें विरोध है। यदि कहो, जीवनादिकी हेतुभूता वृत्तियोंका तिरस्कार करके ही, मरण-

न्ताद्विद्यासन्ततिरिति चेन्न, प्रत्ययेयत्तासन्तानानवधारणाच्छास्त्रार्थानवधारणदोषात्। इयतां प्रत्ययानां सन्ततिरविद्याया निवर्तिकेत्यनवधारणाच्छास्त्रार्थो नावध्रियेत, तच्चानिष्टम्।

सन्ततिमात्रत्वेऽवधारित एवेति चेत्?

न, आद्यन्तयोरविशेषात्। प्रथमा विद्याप्रत्ययसन्ततिर्मरणकालान्ता वेति विशेषाभावात्, आद्यन्तयोः प्रत्यययोः पूर्वोक्तौ दोषौ प्रसज्येयाताम्।

एवं तर्ह्यनिवर्तक एवेति चेत्?

न, "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (बृ० उ० १।४।१०) इति श्रुतेः। "भिद्यते हृदयग्रन्थिः"

पर्यन्त बोधवृत्तिका प्रवाह रहेगा तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बोधवृत्तियोंकी इयत्ताके प्रवाहका निश्चय न होनेके कारण शास्त्राभिप्रायके अनिश्चयका दोष आवेगा। अर्थात् इतनी वृत्तियोका प्रवाह अविद्याकी निवृत्ति करनेवाला है—ऐसा निश्चय न होनेके कारण शास्त्रका तात्पर्य निश्चित नहीं होगा और यह इष्ट नहीं है।

पूर्व०-यदि ऐसा मानें कि बोधवृत्तिकी संततिमात्र होनेमें तो शास्त्रका तात्पर्य निश्चित ही है, तो?

सिद्धान्ती-ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी अवस्थामें भी आद्य प्रवाह और अन्तिम प्रवाहमें कोई अन्तर नहीं है। बोधवृत्तिका प्रथम प्रवाह हो अथवा मरणकालमें समाप्त होनेवाला हो-इन आद्य और अन्तिम प्रत्ययोंमें कोई अन्तर न होनेके कारण पूर्वोक्त दोनों दोषोंका प्रसंग होगा।

पूर्व०-तब तो आत्माकारवृत्ति अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाली है ही नहीं।—ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती-ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि "अतः वह सर्व हो गया" इस श्रुतिसे तथा "हृदयकी ग्रन्थि

(बृ० उ० २ । २ । ८)। "तत्र को मोहः" (ईशा० ७) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

अर्थवाद इति चेत् ?

न, सर्वशाखोपनिषदामर्थवादत्वप्रसङ्गात् । एतावन्मात्रार्थत्वोपक्षीणा हि सर्वशाखोपनिषदः ।

प्रत्यक्षप्रमितात्मविषयत्वादस्त्येवेति चेत् ?

न, उक्तपरिहारत्वात् । अविद्याशोकमोहभयादिदोषनिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वादिति चोक्तः परिहारः। तस्मादाद्योऽन्त्यः सन्ततोऽसन्ततश्चेत्यचोद्यमेतत् । अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलावसानत्वाद्विद्यायाः। य एवाविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्यय आद्योऽन्त्यः सन्ततोऽसन्ततो वा स एव विद्येत्यभ्युप-

टूट जाती है," "उस अवस्थामें क्या मोह है" इत्यादि श्रुतियोंसे [ज्ञानद्वारा अज्ञानकी निवृत्ति] सिद्ध होती है ।

पूर्व०–वे श्रुतियाँ अर्थवाद हों तो ?

सिद्धान्ती–ऐसा मत कहो, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त शाखाओंकी उपनिषदोंके अर्थवाद होनेका प्रसंग उपस्थित होगा; क्योंकि समस्त शाखाओंकी उपनिषदोंका पर्यवसान केवल इतने ही अर्थमें है ।

पूर्व०–यदि कहें, प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञात होनेवाले आत्मासे सम्बद्ध होनेके कारण उनका अर्थवादत्व है ही, तो ?

सिद्धान्ती–नहीं, इसका परिहार पहले किया जा चुका है । इसके सिवा आत्मज्ञानसे अविद्या, शोक, मोह एवं भय आदि दोषोंकी निवृत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे भी इस शङ्काका परिहार किया जा चुका है । अतः आद्य हो, अन्त्य हो, अविच्छिन्न हो, विच्छिन्न हो, उसके विषयमें शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि ज्ञान तो अविद्यादि दोषोंकी निवृत्तिरूप फलमें ही पर्यवसित होनेवाला है । जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषोंकी निवृत्तिरूप फल प्रदान करनेवाला हो वह आद्य, अन्त्य, अविच्छिन्न, विच्छिन्न कैसा ही हो, वही ज्ञान माना जाता है;

गमान्न चोद्यस्यावतारगन्धोऽप्यस्ति ।

यत्तूक्तं विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनादिति, न; तच्छेषस्थितिहेतुत्वात् । येन कर्मणा शरीरमारब्धं तद्विपरीतप्रत्ययदोषनिमित्तत्वात्तस्य तथाभूतस्यैव विपरीतप्रत्ययदोषसंयुक्तस्य फलदाने सामर्थ्यमिति, यावच्छरीरपातः तावत्फलोपभोगाङ्गतया विपरीतप्रत्ययं रागादिदोषं च तावन्मात्रमाक्षिपत्येव, मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्तद्धेतुकस्य कर्मणः । तेन न तस्य निवर्तिका विद्या, अविरोधात् । किं तर्हि स्वाश्रयादेव स्वात्मविरोध्यविद्याकार्यं यदु-

इसलिये इसमें शङ्का उठनेका तो अवकाश ही नहीं है ।

और यह जो कहा कि ['मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा] विपरीत प्रत्यय और उसका कार्य देखे जानेसे आत्मज्ञान अविद्याका निवर्तक नहीं है, सो ठीक नहीं; क्योंकि वह तो प्रारब्धशेषकी स्थितिके कारण है । जिस कर्मसे विद्वान्के शरीरका आरम्भ हुआ है, वह विपरीत प्रत्यय और रागादि दोषजनित होनेके कारण उसका तद्रूपसे यानी विपरीत प्रत्यय और रागादि दोषोंसे संयुक्त रहकर ही फलप्रदानमें सामर्थ्य है, अतः जबतक शरीरपात नहीं होता तबतक वह फलोपभोगके अङ्गरूपसे उतना-सा विपरीत प्रत्यय और रागादि दोष उपस्थित कर ही देता है, क्योंकि वह शरीरारम्भक कर्म छोड़े हुए बाणके समान फलप्रदानमें प्रवृत्त हो चुका है। अतः ज्ञान उसकी निवृत्ति करनेवाला नहीं है, क्योंकि उससे उसका विरोध नहीं है। तो फिर वह किसकी निवृत्ति करता है ?—स्वाश्रित होनेके कारण जो अपना विरोधी अविद्याका कार्य

त्पित्सु तन्निरुणद्धि, अनागतत्वात् । अतीतं हीतरत् ।

किञ्च, न च विपरीतप्रत्ययो विद्यावत उत्पद्यते, निर्विषयत्वात् । अनवधृतविषयविशेषस्वरूपं हि सामान्यमात्रमाश्रित्य विपरीतप्रत्यय उत्पद्यमान उत्पद्यते, यथा शुक्तिकायां रजतमिति । स च विषयविशेषावधारणवतोऽशेषविपरीतप्रत्ययाश्रयस्योपमर्दितत्वान्न पूर्ववत्सम्भवति, शुक्तिकादौ सम्यक्प्रत्ययोत्पत्तौ पुनरदर्शनात् ।

क्वचित्तु विद्यायाः पूर्वोत्पन्नविपरीतप्रत्ययजनितसंस्कारेभ्यो विपरीतप्रत्ययावभासाः स्मृतयो जायमाना विपरीतप्रत्ययभ्रान्तिमकस्मात्कुर्वन्ति; यथा विज्ञातदिग्विभागस्याप्यकस्माद्दिग्विपर्ययविभ्रमः । सम्यग्ज्ञानवतोऽपि चेत्पूर्ववद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते,

उत्पन्न होनेवाला होता है, उसे ही वह रोकता है; क्योंकि वह अनागत है और प्रारब्ध तो अतीत है ।

इसके सिवा, विद्वान्को विपरीत प्रत्यय उत्पन्न हो भी नहीं सकता, क्योंकि उसके लिये कोई विषय नहीं रहता । विषयके विशेष स्वरूपका निश्चय न होनेपर उसके सामान्य स्वरूपको आश्रित करके उत्पन्न होनेवाला ही विपरीत प्रत्यय उत्पन्न होता है; जैसे शुक्तिमें रजत । किंतु जिसे विषयके विशेष रूपका निश्चय हो गया है, उसकी दृष्टिमें सब प्रकारके विपरीत प्रत्ययके आश्रयका बाध हो जानेके कारण उसका पूर्ववत् उत्पन्न होना सम्भव नहीं है; जैसे कि शुक्तिकादिमें, उनका सम्यग्ज्ञान हो जानेपर फिर रजतादिका भ्रम होता नहीं देखा जाता ।

परंतु कभी-कभी ज्ञानोदयसे पूर्व उत्पन्न हुए विपरीत प्रत्ययजनित संस्कारोंसे विपरीत प्रत्ययके समान भासनेवाली स्मृतियाँ उत्पन्न होकर अकस्मात् विपरीत प्रत्ययकी भ्रान्ति पैदा कर देती हैं, जिस प्रकार दिशाओंके विभागको अच्छी तरह जाननेवाले पुरुषको भी अकस्मात् दिग्भ्रम पैदा हो जाता है । यदि सम्यग्ज्ञानवान्को भी पूर्ववत् विपरीत

सम्यग्ज्ञानेऽप्यविस्रम्भाच्छास्त्रार्थविज्ञानादौ प्रवृत्तिरसमञ्जसा स्यात्सर्वं च प्रमाणमप्रमाणं सम्पद्येत प्रमाणाप्रमाणयोर्विशेषानुपपत्तेः ।

एतेन 'सम्यग्ज्ञानानन्तरमेव शरीरपाताभावः कस्मात्?' इत्येतत् परिहृतम् । ज्ञानोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं तत्कालजन्मान्तरसञ्चितानां च कर्मणामप्रवृत्तफलानां विनाशः सिद्धो भवति फलप्राप्तिविघ्ननिषेधश्रुतेरेव । "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" (मु० उ० २ । २ । ८)। "तस्य तावदेव चिरम्" (छा० उ० ६ । १४ । २)। "सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० उ० ५ । २४ । ३)। "तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन" (बृ० उ० ४।४।२३)। "एतमु हैवैते न तरतः" (४ । ४ । २२)। "नैनं कृताकृते तपतः" (४ । ४ । २२)। "एतं ह वाव न तपति" (तै० उ० २ । ९ । १)। "न बिभेति कुतश्चन"(तै० उ० २।९।१)इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते" (गीता

प्रत्यय उत्पन्न हो जाय तो सम्यग्ज्ञानमें भी अविश्वास हो जानेसे शास्त्रके तात्पर्य और विज्ञानादिमें प्रवृत्ति होनी कठिन हो जाय और फिर सारा प्रमाण अप्रमाण हो जाय, क्योंकि उस अवस्थामें प्रमाण और अप्रमाणमें कोई अन्तर ही न रहेगा ?

इस (छोड़े हुए बाणके) न्यायसे इस शङ्काका परिहार किया गया कि सम्यग्ज्ञानके पश्चात् तुरंत ही देहपात क्यों नहीं होता ? ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व, उसके पीछे और उसकी उत्पत्तिके समय होनेवाले तथा जन्मान्तरके सञ्चित अप्रवृत्तफल कर्मोंका विनाश तो "तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते" इस ज्ञानफलकी प्राप्तिके विघ्नका निषेध करनेवाली श्रुतिसे ही सिद्ध होता है । तथा "इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं", "उसके मोक्षमें तभीतक देरी है", "उसके सब पाप भस्म हो जाते हैं", "उसे जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता", "ये पाप-पुण्य इस (आत्मज्ञानी) का अतिक्रमण नहीं कर सकते", "इसे पाप-पुण्य संतप्त नहीं करते", "उसीको ताप नहीं देता", "किसीसे नहीं डरता" इत्यादि श्रुतियों और "ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर

४ । ३७) इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

यत्तु ऋणैः प्रतिबध्यत इति,
कर्मणामविद्या- तन्न, अविद्यावद्वि-
वद्विषयत्वम् षयत्वात् । अविद्या-
वान्हि ऋणी, तस्य कर्तृत्वाद्युप-
पत्तेः। "यत्र वा अन्यदिव स्या-
त्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (४ । ३ ।
३१) इति हि वक्ष्यति । अनन्य-
त्वसद्वस्त्वात्माख्यं यत्राविद्यायां
सत्यामन्यदिव स्यात्तिमिरकृतद्वि-
तीयचन्द्रवत्, तत्राविद्याकृतानेक-
कारकापेक्षं दर्शनादिकर्म तत्कृतं
फलं च दर्शयति, "तत्रान्योऽन्य-
त्पश्येत्" इत्यादिना ।

यत्र पुनर्विद्यायां सत्याम-
विद्याकृतानेकत्वभ्रमप्रहाणम्, "त-
त्केन कं पश्येत्" (४ । ५ । १५)
इतिकर्मासम्भवं दर्शयति । तस्मा-
दविद्यावद्विषय एव ऋणित्वम्,
कर्मसम्भवात्; नेतरत्र । एतच्चोत्तरत्र

देती है" इत्यादि स्मृतियोंसे भी यही सिद्ध होता है।

और यह जो कहा गया कि यह ऋणोंसे बंधा हुआ है, सो ठीक नहीं, क्योंकि ऋणोंका सम्बन्ध तो अविद्वान्से ही है। अज्ञानी पुरुष ही ऋणी है; क्योंकि उसीमें कर्तृत्वादि रहने सम्भव हैं। "जहाँ अन्यके समान होता है वहीं अन्य अन्यको देख सकता है" ऐसा श्रुति कहेगी भी। तात्पर्य यह है कि आत्मा-संज्ञक सद्वस्तु अनन्य है, वह जहाँ अविद्यावस्थामें तिमिर रोगकृत द्वितीयचन्द्रके समान अन्यके समान होती है, वहींपर श्रुति "वहाँ अन्य अन्यको देखेगा" इस वाक्यसे अनेक कारकोंकी अपेक्षावाला अविद्याकृत दर्शनादि कर्म और उससे होनेवाला फल भी दिखाती है।

किंतु जहाँ ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञानजनित अनेकत्वभ्रमका नाश हो जाता है, वहाँ "तब किसके द्वारा किसे देखे" यह श्रुति कर्मकी असम्भवता दिखलाती है। अतः ऋणित्वका अविद्वान्से ही सम्बन्ध है, क्योंकि उसीके द्वारा कर्म होना सम्भव है, अन्य (ज्ञानवान्) से नहीं। यही बात आगे, जिन वाक्यों-

व्याचिख्यासिष्यमाणैरेव वाक्यै-र्विस्तरेण प्रदर्शयिष्यामः ।

तद्यथेहैव तावत्—अथ यः कश्चिदब्रह्मविद् अन्यामात्मनो व्यतिरिक्तां यां काञ्चिद्देवताम्, उपास्ते स्तुतिनमस्कारयागबल्युपहारप्रणिधानध्यानादिना उप आस्ते तस्या गुणभावमुपगम्य आस्ते—अन्योऽसावनात्मा मत्तः पृथक्, अन्योऽहमस्म्यधिकृतः, मयास्मै ऋणिवत्प्रतिकर्तव्यम्—इत्येवम्प्रत्ययः सन्नुपास्ते; न स इत्थम्प्रत्ययो वेद विजानाति तत्त्वम् ।

न स केवलमेवंभूतोऽविद्वानविद्यादोषवानेव, किं तर्हि? यथा पशुर्गवादिर्वाहनदोहनाद्युपकारैरुपभुज्यते, एवं स इज्याद्यनेकोपकारैरुपभोक्तव्यत्वादेकैकेन

की व्याख्या करनेकी हमारी इच्छा है, उनसे विस्तारपूर्वक दिखायेंगे ।

यह बात [ऐसे ही] जैसी कि यहाँ (इस मन्त्रमें) भी कही गयी है और जो कोई अब्रह्मज्ञ अन्य—अपनेसे भिन्न जिस किसी भी देवताकी उपासना करता है-स्तुति, नमस्कार, यज्ञ, बलि, उपहार, प्रणिधान (सर्वकर्मार्पण) और ध्यानादिद्वारा उसके समीप उपस्थित होता है अर्थात् उसके गुणभाव (शेषत्व) को प्राप्त होकर रहता है और [मनमें यह भाव रखता है कि] वह देवता अन्य—अनात्मा यानी मुझसे पृथक् है तथा मैं उपासनाका अधिकारी इससे भिन्न हूँ, मुझे ऋणीके समान इसके उपकारका बदला चुकाना चाहिये-ऐसे भावसे युक्त होकर उसकी उपासना करता है, वह इस प्रकारके भाववाला पुरुष तत्त्वको नहीं जानता ।

वह ऐसा अज्ञानी केवल अविद्यारूप दोषसे ही युक्त नहीं है, तो फिर कैसा है ? जिस प्रकार गौ-बैल आदि पशु दोहन और वाहनादि उपकारोंसे उपभोगमें लाया जाता है, उसी प्रकार वह यज्ञादि अनेकों उपकारोंके कारण एक-एक देवादिका उपभोग्य होनेसे [उनका पशु ही है] ।

देवादीनाम्, अतः पशुरिव सर्वार्थेषु कर्मस्वधिकृत इत्यर्थः ।

एतस्य ह्यविदुषो वर्णाश्रमादिप्रविभागवतोऽधिकृतस्य कर्मणो विद्यासहितस्य केवलस्य च शास्त्रोक्तस्य कार्यं मनुष्यत्वादिको ब्रह्मान्त उत्कर्षः । शास्त्रोक्तविपरीतस्य च स्वाभाविकस्य कार्यं मनुष्यत्वादिक एव स्थावरान्तोऽपकर्षः। यथा चैतत्तथा "अथ त्रयो वाव लोकाः" (१ । ५ । १६) इत्यादिना वक्ष्यामः कृत्स्नेनैवाध्यायशेषेण ।

विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावापत्ति रित्येतत्सङ्क्षेपतो दर्शितम्। सर्वा हीयमुपनिषद् विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेनैवोपक्षीणा । यथा चैषोऽर्थः कृत्स्नस्य शास्त्रस्य तथा प्रदर्शयिष्यामः ।

यस्मादेवम्, तस्मादविद्यावन्तं पुरुषं प्रति देवा ईशत एव विघ्नं कर्तुमनुग्रहं चेत्येतद्दर्शयति—

अविद्वांसं प्रत्येव देवानां निग्रहानुग्रहसामर्थ्यम्

अतः तात्पर्य यह है कि वह पशुके समान सब प्रकारके फल देनेवाले कर्मोंका अधिकारी है ।

इस वर्णाश्रमादि विभागवान् कर्माधिकारी अविद्वान्के ज्ञानसहित तथा केवल शास्त्रोक्त कर्मोंका कार्य मनुष्यत्वसे लेकर ब्रह्मत्वपर्यन्त उत्कर्ष होना है तथा शास्त्रोक्तसे विरुद्ध जो स्वाभाविक कर्म है, उसका कार्य मनुष्यत्वसे लेकर स्थावर योनियोंतक अधोगति होना है । यह जिस प्रकार है, उस सबका हम इस अध्यायके अन्तमें "अथ त्रयो वाव लोकाः" इत्यादि वाक्यसे सम्यक् प्रकारसे वर्णन करेंगे ।

तथा ज्ञानका कार्य सर्वात्मभावकी प्राप्ति है, यह बात संक्षेपतः दिखलायी गयी है । यह सारी ही उपनिषद् ज्ञान और अज्ञानका विभाग प्रदर्शित करनेमें ही समाप्त हुई है । सम्पूर्ण शास्त्रोंका यही अभिप्राय जिस प्रकार है, सो हम आगे दिखलावेंगे ।

क्योंकि ऐसा है, इसलिये अब श्रुति यह दिखलाती है कि देवगण अविद्वान् पुरुषके प्रति ही विघ्न या अनुग्रह करनेमें समर्थ होते हैं । जिस

यथा ह वै लोके बहवो गोअश्वादयः पशवो मनुष्यं स्वामिनमात्मनोऽधिष्ठातारं भुञ्ज्युः पालयेयुरेवं बहुपशुस्थानीय एकैकोऽविद्वान्पुरुषो देवान्–देवानिति पित्राद्युपलक्षणार्थम्–भुनक्ति पालयतीति। इम इन्द्रादयोऽन्ये मत्तो ममेशितारो भृत्य इवाहमेषां स्तुतिनमस्कारेज्यादिनाराधनं कृत्वाभ्युदयं निःश्रेयसं च तत्प्रत्तं फलं प्राप्स्यामीत्येवमभिसन्धिः।

तत्र लोके बहुपशुमतो यथैकस्मिन्नेव पशावादीयमाने व्याघ्रादिनापह्रियमाणे महदप्रियं भवति, तथा बहुपशुस्थानीय एकस्मिन्पुरुषे पशुभावाद् व्युत्तिष्ठत्यप्रियं भवतीति, किं चित्रं देवानां बहुपश्वपहरण इव कुटुम्बिनः। तस्मादेषां देवानां तन्न प्रियम्, किं तत्? यदेतद्ब्रह्मात्मतत्त्वं कथञ्चन मनुष्या विद्युर्विजानीयुः तथा च स्मरणमनुगीतासु भगवतो व्यासस्य—

प्रकार लोकमें गौ-घोड़े आदि बहुत-से पशु अपने स्वामी-अधिष्ठाता मनुष्यका भरण-पालन करते हैं, उसी प्रकार अनेक पशुस्थानीय एक-एक अज्ञानी पुरुष देवताओंका भरण-पालन करता है। 'देवान्' यह पद पितृगणादिका भी उपलक्षण कराता है। 'मुझसे भिन्न ये इन्द्रादि मेरे शासक हैं, मैं सेवकके समान स्तुति, नमस्कार एवं यज्ञादिसे इनकी आराधना करके इनके दिये हुए भोग और मोक्ष सब फल प्राप्त करूँगा' इस प्रकार अज्ञानीका संकल्प होता है।

ऐसी अवस्थामें, जिस प्रकार लोकमें किसी बहुत-से पशुओंवाले पुरुषके एक पशुके भी चले जानेपर–व्याघ्रादि द्वारा हरण कर लिये जानेपर उसे बहुत बुरा मालूम होता है, उसी प्रकार किसी कुटुम्बीके बहुत-से पशु चुरा लिये जानेके समान अनेक पशुस्थानीय एक पुरुषके भी पशुभावसे उठ जानेपर यदि देवताओंको अच्छा नहीं लगता तो इसमें आश्चर्य क्या है? अतः इन देवताओंको यह प्रिय नहीं है; क्या? यही कि ये मनुष्य इस ब्रह्मात्मतत्त्वको किसी प्रकार भी जानें। ऐसी ही अनुगीतामें भगवान्

"क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय
देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां
मर्त्यैरुपरि वर्तनम् ॥"

अतो देवाः पशूनिव व्याघ्रादिभ्यो ब्रह्मविज्ञानाद्विघ्नमाचिकीर्षन्ति; अस्मदुपभोग्यत्वान्मा व्युत्तिष्ठेयुरिति । यं तु मुमोचयिषन्ति तं श्रद्धादिभिर्योक्ष्यन्ति विपरीतमश्रद्धादिभिः । तस्मान्मुमुक्षुर्देवाराधनपरः श्रद्धाभक्तिपरः प्रणेयोऽप्रमादी स्याद्विद्याप्राप्तिं प्रति विद्यां प्रतीति वा काक्वैतत्प्रदर्शितं भवति देवाप्रियवाक्येन ॥ १० ॥

व्यासकी स्मृति भी है—"हे कौन्तेय ! देवलोक कर्मपरायण पुरुषोंसे भरा हुआ है । देवताओंको यह इष्ट नहीं है कि मनुष्य उनसे ऊपर (ब्रह्मलोकादिमें) रहें ।"

अतः देवगण, यह सोचकर कि हमारे उपभोग्य होनेके कारण मनुष्य हमसे ऊपर न उठने पावें, पशुओंको व्याघ्रादिसे दूर रखनेके समान मनुष्योंको ब्रह्मविज्ञानसे दूर रखनेके लिये विघ्न उपस्थित करते हैं । वे जिसे मुक्त करना चाहते हैं उसे श्रद्धादि साधनोंसे सम्पन्न कर देते हैं और जिसे मुक्त नहीं करना चाहते उसे अश्रद्धादियुक्त कर देते हैं । अतः मोक्षकामी पुरुषको देवाराधनतत्पर, श्रद्धाभक्तिपरायण, देवताओंका प्रिय तथा ज्ञानप्राप्तिके साधन श्रवणादि अथवा उनके फलभूत ज्ञानके प्रति अप्रमादयुक्त होना चाहिये—यह भाव देवताओंका अप्रियत्व बतलानेवाले वाक्यसे काकूक्तिद्वारा[1] प्रदर्शित होता है ॥ १० ॥

---

१. शोक या भय आदिके कारण पुरुषके स्वरमें जो एक प्रकारका कम्प उत्पन्न होता है उसे 'काकु' कहते हैं । श्रुतिमें 'देवताओंको यह प्रिय नहीं है' ऐसा कहकर काकूक्तिसे यह बतलाया है कि मोक्षकामीको ज्ञानप्राप्तिके साधनोंमें तथा उपासनादिके द्वारा देवताओंकी प्रसन्नता सम्पादन करनेमें सावधान रहना चाहिये ।

सूत्रितः शास्त्रार्थः 'आत्मेत्येवोपासीत' इति। तस्य च व्याचिख्यासितस्य सार्थवादेन "तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया" इत्यादिना सम्बन्धप्रयोजने अभिहिते। अविद्यायाश्च संसाराधिकारकारणत्वमुक्तम् "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते" इत्यादिना। तत्राविद्वानृणी पशुवद्देवादिकर्मकर्तव्यतया परतन्त्र इत्युक्तम्।

किं पुनर्देवादिकर्मकर्तव्यत्वे निमित्तम्? वर्णा आश्रमाश्च। तत्र के वर्णाः? इत्यत इदमारभ्यते। यन्निमित्तसम्बद्धेषु कर्मस्वयं परतन्त्र एवाधिकृतः संसारीति। एतस्यैवार्थस्य प्रदर्शनायाग्निसर्गानन्तरमिन्द्रादिसर्गो नोक्तः। अग्नेस्तु सर्गः प्रजापतेः सृष्टिपरिपूरणाय प्रदर्शितः। अयं च इन्द्रादिसर्गस्तत्रैव द्रष्टव्यस्तच्छेष-

'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यसे शास्त्रके तात्पर्यका सूत्ररूपमें संक्षेपसे वर्णन किया गया। फिर "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत" इत्यादि अर्थवादके सहित "तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया" इत्यादि मन्त्रवाक्यद्वारा व्याख्या करनेके लिये अभीष्ट उस शास्त्रार्थके सम्बन्ध और प्रयोजन बतलाये गये, तथा "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते" इत्यादि वाक्यसे अविद्याको संसारोत्पत्तिमें कारण बताया। वहाँ यह कहा गया है कि अज्ञानी ऋणी होता है; अर्थात् पशुके समान देवकर्मादिकी कर्तव्यतासे युक्त होनेके कारण परतन्त्र होता है।

किंतु देवादि कर्मोंकी कर्तव्यतामें कारण क्या है? वर्ण और आश्रम। उनमें जिस वर्णरूप निमित्तसे सम्बद्ध कर्मोंमें इस परतन्त्र संसारी जीवका ही अधिकार है, वे वर्ण कौन-से हैं?—ऐसा प्रश्न होनेपर यहाँसे आरम्भ किया जाता है। इस अर्थको प्रदर्शित करनेके प्रयोजनसे ही अग्निसर्गके पश्चात् इन्द्रादि सर्गका वर्णन नहीं किया। अग्निसर्गको तो प्रजापतिकी सृष्टिकी सब प्रकार पूर्ति करनेके लिये प्रदर्शित किया था। प्रजापति सर्गका शेषभूत होनेके कारण इस इन्द्रसर्गको वहीं (उसीके अन्तर्गत) समझना

त्वात्। इह तु स एवाभिधीयतेऽविदुषः कर्माधिकारहेतुप्रदर्शनाय—

चाहिये। यहाँ अविद्वान्के कर्माधिकारमें हेतु दिखानेके लिये उसीका वर्णन किया जाता है—

क्षत्रियसर्ग तथा ब्राह्मणजातिके साथ उसके सम्बन्धका वर्णन

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान्भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥ ११ ॥

आरम्भमें यह एक ब्रह्म ही था। अकेले होनेके कारण वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयतासे क्षत्र इस प्रशस्त रूपकी रचना की। अर्थात् देवताओंमें क्षत्रिय जो ये इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि हैं, उन्हें उत्पन्न किया। अतः क्षत्रियसे उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसीसे राजसूययज्ञमें ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रियकी उपासना करता है, वह क्षत्रियमें ही अपने यशको स्थापित करता है। यह जो ब्रह्म है, क्षत्रियकी योनि है। इसलिये यद्यपि राजा उत्कृष्टताको प्राप्त होता है तो भी [राजसूयके] अन्तमें वह ब्राह्मणका ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस [ब्राह्मण] की हिंसा करता है, वह अपनी योनिका ही नाश करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठकी हिंसा करनेसे पुरुष पापी होता है, उसी प्रकार वह पापी होता है ॥ ११ ॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्यदग्निं सृष्ट्वा अग्निरूपापन्नं ब्रह्म। ब्राह्मणजात्यभिमानाद् ब्रह्मेत्यभिधीयते। वै इदं क्षत्रादिजातं ब्रह्मैवाभिन्नमासीदेकमेव। नासीत्क्षत्रादिभेदः। तद्ब्रह्मैकं क्षत्रादिपरिपालयित्रादिशून्यं सद् न व्यभवत्—न विभूतवत्, कर्मणे नालमासीदित्यर्थः।

आरम्भमें यह ब्रह्म ही था अर्थात् अग्निको रचकर जो अग्निरूपको प्राप्त हुआ, वह ब्रह्म ही था। ब्राह्मणजातिका[1] अभिमान होनेके कारण वह ब्रह्म कहा जाता है। उस समय यह क्षत्रियादि समुदाय भी ब्रह्मसे अभिन्न अर्थात् एकरूप ही था। अर्थात् पहले क्षत्रियादि भेद नहीं था। वह ब्रह्म एक (अकेला)—क्षत्रियादि पालनकर्तासे शून्य होनेके कारण विभूतियुक्त कर्म करनेको समर्थ नहीं हुआ।

ततस्तद्ब्रह्म 'ब्राह्मणोऽस्मि ममेत्थं कर्तव्यम्' इति ब्राह्मणजातिनिमित्तं कर्म चिकीर्षु-आत्मनः कर्मकर्तृत्वविभूत्यै श्रेयोरूपं प्रशस्तरूपम् अत्यसृजत-अतिशयेनासृजत—सृष्टवत्। किं पुनस्तद्यत्सृष्टम्? क्षत्रं क्षत्रियजातिः, तद्व्यक्तिभेदेन प्रदर्शयति—यान्येतानि प्रसिद्धानि लोके देवत्रा देवेषु क्षत्राणीति।

तब उस ब्रह्मने 'मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा यह कर्तव्य है' इस विचारसे ब्राह्मणजातिनिमित्तिक कर्म करनेकी इच्छा करके कर्मकर्तृत्वस्वरूप विभूतिके लिये 'श्रेयो रूपमत्यसृजत' अर्थात् प्रशस्त रूपकी रचना की। जिसकी रचना की गयी थी वह रूप कौन-सा था? क्षत्र अर्थात् क्षत्रियजाति। उन्हींको 'यान्येतानि' इत्यादि वाक्यसे श्रुति व्यक्तिभेदसे दिखाती है। अर्थात् लोकमें देवताओंमें जो क्षत्रियरूपसे प्रसिद्ध हैं। जातिवाचक[2] शब्दोंमें

१. इस अध्यायके आरम्भमें अग्निरूप प्रजापतिकी उत्पत्ति दिखलायी है और अग्नि ब्राह्मणजातिका उपकारक देव है। इसलिये उसे ब्राह्मणजातिका अभिमान होना स्वाभाविक है।

२. 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८)

जात्याख्यायां पक्षे बहुवचनस्मरणाद् व्यक्तिबहुत्वाद्वा भेदोपचारेण बहुवचनम् ।

कानि पुनस्तानि ? इत्याह—तत्राभिषिक्ता एव विशेषतो निर्दिश्यन्ते—इन्द्रो देवानां राजा, वरुणो यादसाम्, सोमो ब्राह्मणानाम्, रुद्रः पशूनाम्, पर्जन्यो विद्युदादीनाम्, यमः पितृणाम्, मृत्युरोगादीनाम्, ईशानो भासाम्—इत्येवमादीनि देवेषु क्षत्राणि । तदनु, इन्द्रादिक्षत्रदेवताधिष्ठितानि मनुष्यक्षत्राणि सोमसूर्यवंश्यानि पुरूरवःप्रभृतीनि सृष्टान्येव द्रष्टव्यानि । तदर्थं एव हि देवक्षत्रसर्गः प्रस्तुतः ।

यस्माद्ब्रह्मणातिशयेन सृष्टं क्षत्रं तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति ब्राह्मणजातेरपि नियन्तृ । तस्माद्ब्राह्मणः कारणभूतोऽपि क्षत्रियस्य क्षत्रियमधस्ताद्व्यवस्थितः सन्नुपरि स्थितमुपास्ते । क्व ? राजसूये ।

विकल्पसे बहुवचन होता है—ऐसी स्मृति होनेसे अथवा भेदोपचारसे इन्द्रादि व्यक्तियोंके अनेक होनेके कारण यहाँ 'क्षत्राणि' इस पदमें बहुवचन है ।

वे कौन है ? सो श्रुति बतलाती है । यहाँ विशेषरूपसे उनमेंसे [भिन्न-भिन्न वर्गोंके अधिपतिरूपसे] अभिषिक्त देवताओंका उल्लेख किया जाता है—देवताओंका राजा इन्द्र, जलचरोंका अधिपति वरुण, ब्राह्मणोंका राजा सोम, पशुपति रुद्र, विद्युदादिका नायक मेघ, पितरोंका राजा यम, रोग आदिका स्वामी मृत्यु और प्रकाशोंका स्वामी ईशान इत्यादि जो देवताओंमें क्षत्रिय हैं [उन्हें उत्पन्न किया] । उनके पीछे इन्द्रादि क्षत्रिय देवताओंसे अधिष्ठित पुरूरवा आदि चन्द्र और सूर्यवंशी मानवक्षत्रिय रचे गये-ऐसा समझना चाहिये । उन्हींके लिये देवक्षत्रसृष्टिका आरम्भ किया गया है ।

क्योंकि ब्रह्मने क्षत्रियोंको अतिशयरूपसे रचा है, इसलिये क्षत्रियसे उत्कृष्ट ब्राह्मणजातिका भी नियमन करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । इसीसे क्षत्रियजातिका कारणभूत होकर भी ब्राह्मण नीचे बैठकर ऊँचे बैठे हुए क्षत्रियकी उपासना करता है । कहाँ ? राजसूययज्ञमें । उस समय वह

क्षत्र एव तदात्मीयं यशः ख्यातिरूपं ब्रह्मेति दधाति स्थापयति। राजसूयाभिषिक्तेनासन्द्यां स्थितेन राज्ञा आमन्त्रितो ब्रह्मन्निति ऋत्विक्पुनस्तं प्रत्याह - 'त्वं राजन्ब्रह्मासि' इति। तदेतदभिधीयते—'क्षत्र एव तद्यशो दधाति' इति।

क्षत्रियमें ही अपने 'ब्रह्म' इस नामरूप यशको स्थापित करता है। राजसूययज्ञमें अभिषिक्त मञ्चस्थ राजाके द्वारा 'ब्रह्मन्!' इस प्रकार पुकारे जानेपर ऋत्विक् उत्तरमें उससे कहता है, 'राजन्! तुम ब्रह्म हो' इसीसे यह कहा जाता है कि वह क्षत्रियमें ही अपना ['ब्राह्मण' नामरूपी] यश स्थापित करता है।

सैषा प्रकृता क्षत्रस्य योनिरेव यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां राजसूयाभिषेकगुणं गच्छत्याप्नोति ब्रह्मैव ब्राह्मणजातिमेव, अन्ततोऽन्ते कर्मपरिसमाप्तावुपनिश्रयत्याश्रयति स्वां योनिम्, पुरोहितं पुरो निधत्त इत्यर्थः।

यह जो ब्रह्म (ब्राह्मण) है, वह क्षत्रियकी प्रकृत योनि ही है। इसलिये यद्यपि राजा परमताको—राजसूयाभिषेकरूप गुणको प्राप्त हो जाता है तो भी अन्तमें कर्मकी समाप्ति होनेपर अपनी योनि ब्राह्मणजातिका ही आश्रय लेता है अर्थात् उसे पुरोहित करता यानी आगे स्थापित करता है।

यस्तु पुनर्बलाभिमानात्स्वां योनिं ब्राह्मणजातिं ब्राह्मणं य उ एनं हिनस्ति हिंसति न्यग्भावेन पश्यति, स्वामात्मीयामेव स योनिमृच्छति—स्वं प्रसवं विच्छिनत्ति विनाशयति। स एतत्कृत्वा पापीयान्पापतरो भवति। पूर्वमपि क्षत्रियः पाप एव क्रूरत्वादात्मप्र-

और जो बलके अभिमानसे अपनी योनि ब्राह्मण-जातिकी हिंसा करता है अर्थात् उसे नीची दृष्टिसे देखता है, वह अपनी ही योनिका नाश करता है अर्थात् अपने ही प्रसवका विच्छेद यानी विनाश करता है। ऐसा करके वह पापीयान्—बड़ा पापी होता है। क्रूर होनेके कारण क्षत्रिय पापी तो पहले भी था, अब अपने प्रसवकी

सर्वहिंसया सुतराम्। यथा लोके श्रेयांसं प्रशस्ततरं हिंसित्वा परिभूय पापतरो भवति तद्वत्॥११॥

हिंसा करनेसे और भी अधिक पापी होता है। जिस प्रकार लोकमें श्रेष्ठ अर्थात् अधिक प्रशंसनीयकी हिंसा—पराभव करके पुरुष बड़ा पापी होता है उसी प्रकार उसे भी बड़ा भारी पाप लगता है॥११॥

वैश्यजातिकी उत्पत्ति

क्षत्रे सृष्टेऽपि—

क्षत्रियोंकी रचना हो जानेपर भी—

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥१२॥

वह (ब्रह्म) विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्यजातिकी रचना की। जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण गणशः कहे जाते हैं [उन्हें उत्पन्न किया]॥१२॥

स नैव व्यभवत्, कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवत्, वित्तोपार्जयितुरभावात्। स विशमसृजत कर्मसाधनवित्तोपार्जनाय। कः पुनरसौ विट्? यान्येतानि देवजातानि—स्वार्थे निष्ठा, य एते देवजातिभेदा इत्यर्थः; गणशो गणं गणम्, आख्यायन्ते कथ्यन्ते। गणप्राया हि विशः, प्रायेण

वह (ब्रह्म) धनोपार्जन करनेवालेका अभाव होनेके कारण कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने कर्मके साधनभूत धनका उपार्जन करनेके लिये वैश्यजातिको रचा। वे वैश्यलोग कौन थे? ये जो देवजात हैं। 'देवजातानि' इस पदके 'जात' शब्दमें जो 'त' यह निष्ठाप्रत्यय है वह स्वार्थमें है। तात्पर्य यह है कि ये जो देवजातिके भेद हैं, जो गणशः अर्थात् एक-एक गण करके कहे जाते हैं; क्योंकि वैश्यलोग गणप्राय होते हैं, वे प्रायः अनेक

संहता हि वित्तोपार्जने समर्थाः न एकैकशः। वसवः अष्टसङ्ख्यो गणः, तथैकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, विश्वेदेवास्त्रयोदश विश्वाया अपत्यानि,सर्वे वा देवाः, मरुतः सप्त सप्त गणाः ॥ १२ ॥

मिलकर ही धनोपार्जनमें समर्थ होते हैं, एक-एक करके नहीं। वसु आठ संख्याका गण है, रुद्र ग्यारह तथा आदित्य बारह हैं। विश्वेदेव तेरह हैं—ये सभी विश्वाके पुत्र हैं। अथवा 'विश्वे देवाः' का अर्थ है—सम्पूर्ण देवगण। इसी प्रकार उनचास मरुद्गण हैं ॥ १२ ॥

शूद्रवर्णकी उत्पत्ति

स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेय॰ हीद॰ सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥ १३ ॥

[फिर भी] वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने शूद्रवर्णकी रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है; क्योंकि यह जो कुछ है, यही इसका पोषण करती है ॥ १३ ॥

स परिचारकाभावात्पुनरपि नैव व्यभवत्, स शौद्रं वर्णमसृजत—शूद्र एव शौद्रः, स्वार्थेऽणि वृद्धिः।

कः पुनरसौ शौद्रो वर्णो यः सृष्टः ? पूषणम्—पुष्यतीति पूषा कः पुनरसौ पूषा ? इति विशेषतस्तन्निर्दिशति—इयं पृथिवी पूषा। स्वयमेव निर्वचनमाह—इयं हीदं

सेवकका अभाव होनेके कारण फिर भी वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने शौद्रवर्णकी सृष्टि की। शूद्र ही 'शौद्र' है। यहाँ स्वार्थमें 'अण्' प्रत्यय होनेपर आदि स्वरकी वृद्धि हुई है।

किंतु यह जो उत्पन्न किया गया था वह शूद्रवर्ण कौन था ? पूषण—जो पोषण करता है, इसलिये पूषा कहलाता है। किंतु यह पूषा कौन है ? उसे श्रुति विशेषरूपसे निर्देश करती है—यह पृथ्वी पूषा है। फिर उसका स्वयं ही निर्वचन करके कहती है—क्योंकि

सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥ १३ ॥ | यह जो कुछ है, उस सबका यही पोषण करती है ॥ १३ ॥



धर्मकी उत्पत्ति और उसके प्रभाव एवं स्वरूपका वर्णन

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳसत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

तब भी वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ । उसने श्रेयोरूप (कल्याणस्वरूप) धर्मकी अतिसृष्टि की । यह जो धर्म है, क्षत्रियका भी नियन्ता है । अतः धर्मसे उत्कृष्ट कुछ नहीं है । इसलिये जिस प्रकार राजाकी सहायतासे [प्रबल शत्रुको भी जीतनेकी शक्ति आ जाती है] उसी प्रकार धर्मके द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान्को जीतनेकी इच्छा करने लगता है । वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है । इसीसे सत्य बोलनेवालोंको कहते हैं कि 'यह धर्ममय वचन बोलता है' तथा धर्ममय वचन बोलनेवालेसे कहते हैं कि 'यह सत्य बोलता है', क्योंकि ये दोनों धर्म ही हैं ॥ १४ ॥

स चतुरः सृष्ट्वापि वर्णान्नैव व्यभवत्, उग्रत्वात्क्षत्रस्यानियताशङ्कया । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत, किं तत्? धर्मम्; तदेतच्छ्रेयोरूपं सृष्टं क्षत्रस्य क्षत्रं क्षत्रस्यापि नियन्तृ,

वह (ब्रह्म) चारों वर्णोंको रचकर भी-क्षत्रियजाति उग्र होती है, इसलिये वह नियन्त्रणमें नहीं रह सकती—इस आशङ्कासे विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ । तब उसने अतिशयतासे श्रेयोरूप उत्पन्न किया । वह श्रेयोरूप कौन है ? धर्म; वह यह रचा हुआ श्रेयोरूप धर्म क्षत्रका भी क्षत्र यानी क्षत्रियका भी नियन्ता है

उग्रादप्युग्रम्, यद्धर्मो यो धर्मः; तस्मात्क्षत्रस्यापि नियन्तृत्वाद्धर्मात्परं नास्ति; तेन हि नियम्यन्ते सर्वे। तत्कथम्? इत्युच्यते—अथो अप्यबलीयान्दुर्बलतरो बलीयांसमात्मनो बलवत्तरमप्याशंसते कामयते जेतुं धर्मेण बलेन; यथा लोके राज्ञा सर्वबलवत्तमेनापि कुटुम्बिकः, एवम्; तस्मात्सिद्धं धर्मस्य सर्वबलवत्तरत्वात्सर्वनियन्तृत्वम्।

और उग्रसे भी उग्र है; 'यद्धर्मः' का अर्थ है जो धर्म; अतः क्षत्रियका भी नियन्ता होनेके कारण धर्मसे उत्कृष्ट कोई नहीं है, क्योंकि उसीके द्वारा सबका नियमन होता है। सो किस प्रकार? यह बतलाया जाता है—जो अबलीयान् यानी बहुत दुर्बल होता है, वह भी बलीयान्-अपनी अपेक्षा अधिक बलवान्को धर्मरूपी बलके द्वारा जीतना चाहता है, जिस प्रकार लोकमें सबसे बलवान् राजाकी सहायतासे साधारण कुटुम्बी पुरुष अपनेसे अधिक बलवान्का पराभव करना चाहता है, उस प्रकार [वह धर्मबलसे जीतना चाहता है।] अतः सबकी अपेक्षा बलवत्तर होनेके कारण धर्म सबका नियन्ता है-यह सिद्ध होता है।

यो वै स धर्मो व्यवहारलक्षणो लौकिकैर्व्यवह्रियमाणः सत्यं वै तत्; सत्यमिति यथाशास्त्रार्थता; स एवानुष्ठीयमानो धर्मनामा भवति, शास्त्रार्थत्वेन ज्ञायमानस्तु सत्यं भवति।

वह जो लौकिक पुरुषोंद्वारा व्यवहार किया जानेवाला व्यवहाररूप धर्म है, वह निश्चय सत्य ही है। सत्य शास्त्रानुकूल अर्थका नाम है। वह (शास्त्रानुकूल अर्थ) ही अनुष्ठान किये जानेपर धर्म नामवाला होता है और शास्त्रके तात्पर्यरूपसे ज्ञात होनेपर वही सत्य कहलाता है।[1]

यस्मादेवं तस्मात्सत्यं यथाशास्त्रं वदन्तं व्यवहारकाल आहुः

क्योंकि ऐसा है, इसलिये व्यवहारकालमें सत्य यानी शास्त्रानुसार भाषण

१. अभिप्राय यह है कि ज्ञात होनेवाला शास्त्रका तात्पर्य सत्य है और आचरणमें आनेपर वही धर्म कहलाता है।

समीपस्था उभयविवेकज्ञाः—धर्मं वदतीति, प्रसिद्धं लौकिकं न्यायं वदतीति। तथा विपर्ययेण धर्मं वा लौकिकं व्यवहारं वदन्तमाहुः—सत्यं वदति, शास्त्रादनपेतं वदतीति।

करनेवालेको उसके समीपवर्ती धर्म और सत्यका रहस्य जाननेवाले लोग 'यह धर्ममय वचन बोलता है, प्रसिद्ध लौकिकन्याय बोलता है' ऐसा कहते हैं और इसी तरह इससे विपरीत धर्म यानी लौकिक व्यवहार बतानेवालेको 'यह सत्य बोलता है, शास्त्रके अनुकूल बोलता है' ऐसा कहते हैं।

एतद्यदुक्तमुभयं ज्ञायमानमनुष्ठीयमानं चैतद्धर्म एव भवति। तस्मात्स धर्मो ज्ञानानुष्ठानलक्षणः शास्त्रज्ञानितरांश्च सर्वानेव नियमयति। तस्मात्स क्षत्रस्यापि क्षत्रम्। अतस्तदभिमानोऽविद्वांस्तद्विशेषानुष्ठानाय ब्रह्मक्षत्रविट्शूद्रनिमित्तविशेषमभिमन्यते। तानि च निसर्गत एव कर्माधिकारनिमित्तानि ॥१४॥

ये जो जानी जानेवाली और की जानेवाली दो बातें बतायी गयी हैं—ये दोनों धर्म ही हैं। अतः यह ज्ञान और अनुष्ठानरूप धर्म शास्त्रज्ञ और अशास्त्रज्ञ सभीका नियमन करता है। इसलिये वह क्षत्रका भी क्षत्र है। अतः उसका अभिमान रखनेवाला अज्ञानी पुरुष उसके किसी विशेष रूपका अनुष्ठान करनेके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्ररूप किसी निमित्तविशेषमें अभिमान करने लगता है। ये ब्राह्मणादि वर्ण स्वभावतः ही कर्माधिकारके कारण हैं ॥ १४ ॥

आत्मोपासनकी आवश्यकता

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट्शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्ये-

श्वेताभ्या ँ हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् । अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननुक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥१५॥

वे ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। [इन्हें उत्पन्न करनेवाला] ब्रह्म अग्निरूपसे देवताओंमें ब्राह्मण हुआ। तथा मनुष्योंमें ब्राह्मणरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रियरूपसे क्षत्रिय, वैश्यरूपसे वैश्य और शूद्ररूपसे शूद्र हुआ। इसीसे अग्निमें ही [कर्म करके] देवताओंके बीच कर्मफलकी इच्छा करते हैं तथा उसे मनुष्योंके बीच ब्राह्मणजातिमें ही कर्मफलकी इच्छा करते हैं, क्योंकि ब्रह्म इन दो रूपोंसे ही व्यक्त हुआ था। तथा जो कोई इस लोकसे आत्मलोकका दर्शन किये विना ही चला जाता है, उसका यह अविदित आत्मलोक [शोक-मोहादिकी निवृत्तिके द्वारा] पालन नहीं करता, जिस प्रकार कि विना अध्ययन किया हुआ वेद अथवा बिना अनुष्ठान किया हुआ कोई अन्य कर्म। इस प्रकार (आत्मलोकको) न जाननेवाला पुरुष यदि इस लोकमें कोई महान् पुण्यकर्म भी करे तो भी अन्तमें उसका वह कर्म क्षीण हो ही जाता है; अतः आत्मलोककी ही उपासना करनी चाहिये। जो पुरुष आत्मलोककी ही उपासना करता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता। इस आत्मासे पुरुष जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, उसी-उसीको प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

तदेतच्चातुर्वर्ण्यं सृष्टम्—ब्रह्म क्षत्रं विट्शूद्र इति; उत्तरार्थ उपसंहारः

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंको उत्पन्न किया—ऐसा जो उपसंहार है, वह आगेके अर्थसे सम्बन्ध दिखानेके लिये है।

यत्तत्स्रष्टृ ब्रह्म, तदग्निनैव नान्येन रूपेण देवेषु ब्रह्म, ब्राह्मणजातिरभवत्। ब्राह्मणा ब्राह्मणस्वरूपेण मनुष्येषु ब्रह्माभवत्, इतरेषु वर्णेषु विकारान्तरं प्राप्य, क्षत्रियेण क्षत्रियोऽभवदिन्द्रादिदेवताधिष्ठितः, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः।

वह जो उत्पत्तिकर्ता ब्रह्म था वह, किसी अन्यरूपसे नहीं, अग्निरूपसे ही देवताओंमें ब्रह्म यानी ब्राह्मण-जाति हुआ। तथा वह ब्रह्म मनुष्यों-में ब्राह्मणरूपसे ब्राह्मण हुआ। इसी प्रकार अन्य वर्णोंमें विकारान्तरको प्राप्त हो क्षत्रियरूपसे इन्द्रादि देवताओंसे अधिष्ठित क्षत्रिय हुआ तथा वैश्यरूपसे वैश्य और शूद्ररूपसे शूद्र हुआ।

यस्मात्क्षत्रादिषु विकारापन्नम्, अग्नौ ब्राह्मण एव चाविकृतं स्रष्टृ ब्रह्म, तस्मादग्नावेव देवेषु देवानां मध्ये लोकं कर्मफलम्, इच्छन्त्यग्निसम्बद्धं कर्म कृत्वेत्यर्थः। तदर्थमेव हि तद्ब्रह्म कर्माधिकरणत्वेनाग्निरूपेण व्यवस्थितम्। तस्मात् तस्मिन्नग्नौ कर्म कृत्वा तत्फलं प्रार्थयन्त इत्येतदुपपन्नम्।

क्योंकि सृष्टिकर्ता ब्रह्म क्षत्रि-यादिमें विकारको प्राप्त हो गया है, केवल अग्नि और ब्राह्मणमें ही वह निर्विकार है, इसलिये लोग अग्निमें ही देवताओंके बीच लोक-कर्मफल-की इच्छा करते हैं। अर्थात् अग्नि-सम्बन्धी कर्म करके [उसके फलकी इच्छा करते हैं]। उसी प्रयोजनके लिये [अर्थात् कर्मफल-दान करनेके लिये ही] वह ब्रह्म कर्मके आधार-भूत अग्निरूपसे स्थित है। अतः उस अग्निमें कर्म करके लोग उसके फल-की प्रार्थना करते हैं—यह उचित ही है।

ब्राह्मणे मनुष्येषु—मनुष्याणां पुनर्मध्ये कर्मफलेच्छायां नाग्न्या-

तथा मनुष्योंमें अर्थात् मनुष्योंके बीचमें कर्मफल पानेकी इच्छा होनेपर अग्न्यादिके कारण होनेवाली क्रियाकी

दिनिमित्तक्रियापेक्षा, किं तर्हि ? जातिमात्रस्वरूपप्रतिलम्भेनैव पुरुषार्थसिद्धिः । यत्र तु देवाधीना पुरुषार्थसिद्धिः, तत्रैवाग्न्यादिसम्बद्धक्रियापेक्षा । स्मृतेश्च—

"जप्येनैव तु संसिध्ये-
द्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्या-
न्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥"
(मनु० २ । ८७) इति ।

पारिव्राज्यदर्शनाच्च । तस्माद्ब्राह्मणत्व एव मनुष्येषु लोकं कर्मफलमिच्छन्ति । यस्मादेताभ्यां हि ब्राह्मणाग्निरूपाभ्यां कर्मकर्त्रधिकरणरूपाभ्यां यत्स्रष्टृ ब्रह्म साक्षादभवत् ।

अत्र तु परमात्मलोकमग्नौ ब्राह्मणे चेच्छन्तीति केचित् ।

अपेक्षा नहीं है; तो फिर क्या बात है ? वहाँ ब्राह्मणमें अर्थात् ब्राह्मण-जातिमात्रका स्वरूप प्राप्त कर लेने-पर पुरुषार्थसिद्धि हो जाती है। जहाँ पुरुषार्थकी सिद्धि देवाधीन होती है, वहीं अग्नि आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंकी अपेक्षा होती है। यही बात स्मृतिसे भी सिद्ध होती है—"इसमें संदेह नहीं, ब्राह्मण अन्य [अग्न्यादिसम्बन्धी] कर्म करे अथवा न करे जपसे ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है। मित्र (सूर्य)-देवतासम्बन्धी गायत्री मन्त्रका जप करनेके कारण अथवा सम्पूर्ण भूतोंको मित्रकी भाँति अभय देने-वाला होनेसे ब्राह्मण मैत्र कहलाता है।"

इसके सिवा [ब्राह्मणके लिये ही] संन्यासका विधान होनेसे भी [मनुष्यलोकमें उसीकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है।] अतः मनुष्योंमें ब्राह्मणत्वमें ही लोक—कर्मफलकी इच्छा करते हैं; क्योंकि जो साक्षात् सृष्टिकर्ता ब्रह्म था, वह कर्मके कर्ता और अधिकरणरूप ब्राह्मण और अग्नि—इन दो रूपोंसे ही व्यक्त हुआ था।

यहाँ कोई-कोई (भर्तृप्रपञ्च आदि) ऐसी व्याख्या करते हैं कि 'अग्नि [—में हवन करके] और ब्राह्मणमें [उसे दान देकर] परमात्मलोककी इच्छा

तदसत्, अविद्याधिकारे कर्माधिकारार्थं वर्णविभागस्य प्रस्तुतत्वात्, परेण च विशेषणात्; यदि ह्यत्र लोकशब्देन पर एवात्मोच्येत, परेण विशेषणमनर्थकं स्यात् 'स्वं लोकमदृष्ट्वा' इति।

स्वलोकव्यतिरिक्तश्चेदग्न्यधीनतया प्रार्थ्यमानः प्रकृतो लोकः, ततः स्वम् इति युक्तं विशेषणम्, प्रकृतपरलोकनिवृत्त्यर्थत्वात्; स्वत्वेन चाव्यभिचारात्परमात्मलोकस्य, अविद्याकृतानां च स्वत्वव्यभिचारात्। ब्रवीति च कर्मकृतानां व्यभिचारम्—'क्षीयत एव' इति।

ब्रह्मणा सृष्टा वर्णाः कर्मार्थम्; तच्च कर्म धर्माख्यं सर्वानेव कर्तव्यतया नियन्तृ पुरुषार्थसाधनं च। तस्मात्तेनैव चेत्कर्मणा स्वो लोकः परमात्माख्योऽविदितोऽपि प्राप्यते, किं तस्यैव पदनी-

करते हैं।' किंतु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि वर्णविभागका प्रस्ताव अविद्याके प्रकरणमें कर्माधिकारका निरूपण करनेके लिये किया गया है, इसके सिवा आगेके वाक्यमें 'स्वम्' ऐसा विशेषण दिया है; यदि यहाँ 'लोक' शब्दसे परमात्मा ही कहा जाय तो 'स्व लोकमदृष्ट्वा' इस आगेके वाक्यमें 'स्वम्' यह विशेषण निरर्थक होगा।

यदि अग्निकी अधीनतासे प्रार्थना किया जानेवाला प्रकृत लोक स्वलोकसे भिन्न हो तभी 'स्वम्' यह विशेषण प्रस्तुत परलोककी निवृत्तिके लिये होनेके कारण सार्थक होगा; क्योंकि स्वरूपसे परमात्मलोकका तो व्यभिचार (भेद) है नहीं, केवल अविद्याकृत लोकोंका ही व्यभिचार है। आगेके 'क्षीयत एव' इस वाक्यसे श्रुति कर्मजनित लोकोंका स्वलोकसे व्यभिचार बतलाती है।

ब्रह्माने कर्म करनेके लिये वर्णोंकी रचना की थी। वह धर्मसंज्ञक कर्म कर्तव्यरूपसे सभीका नियन्ता और पुरुषार्थका साधन है। अतः यदि उसी कर्मसे परमात्म-संज्ञक स्वलोक अज्ञात होनेपर भी प्राप्त हो जाता है तो फिर प्राप्तव्यरूपसे उसीके लिये और क्या

यत्वेन क्रियत इत्यत आह—अथेति पूर्वपक्षविनिवृत्त्यर्थः; यः कश्चित्, ह वै अस्मात्सांसारिकात्पिण्डग्रहणलक्षणादविद्याकामकर्महेतुकादन्यधीनकर्माभिमानतया वा ब्राह्मणजातिमात्रकर्माभिमानतया वा आगन्तुकादस्वभूताल्लोकात्, स्वं लोकमात्माख्यम् आत्मत्वेनाव्यभिचारित्वात्, अदृष्ट्वा—'अहं ब्रह्मास्मि' इति, प्रैति म्रियते; स यद्यपि स्वो लोकः, अविदितोऽविद्यया व्यवहितोऽस्व इवाज्ञातः एनम्—सङ्ख्यापूरण इव लौकिक आत्मानम्—न भुनक्ति न पालयति शोकमोहभयादिदोषापनयेन।

करनेकी आवश्यकता है? इसपर श्रुति कहती है—यहाँ 'अथ' यह पद पूर्वपक्षकी निवृत्तिके लिये है। [क्या कहती है—] जो कोई भी इस अविद्याकामकर्मजनित तथा अन्याधीन कर्माभिमानके कारण अथवा ब्राह्मणजातिमात्रके कर्माभिमानके कारण आगन्तुक पिण्डग्रहणरूप सांसारिक अनात्मभूतलोकसे, अपने 'आत्मा' संज्ञक लोकको, जो आत्मस्वरूप होनेके कारण अव्यभिचारी है, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार न देखकर (न जानकर) चला जाता अर्थात् मर जाता है, वह यद्यपि स्वलोक है, तो भी अविदित-अविद्यासे व्यवहित अर्थात् अस्वलोकके समान अज्ञात रहनेपर, लौकिक दृष्टान्तमें दशम संख्याकी पूर्तिके समान, इस आत्माका शोक, मोह एवं भय आदि दोषोंकी निवृत्तिद्वारा भरण यानी पालन नहीं करता।

यथा च लोके वेदोऽननुक्तोऽनधीतः कर्माद्यवबोधकत्वेन न भुनक्ति; अन्यद्वा लौकिकं कृष्यादि कर्म अकृतं स्वात्मनानभिव्यञ्जितम् आत्मीयफलप्रदानेन न भुनक्ति, एवमात्मा स्वो लोकः

तथा लोकमें जिस प्रकार अननुक्त—बिना अध्ययन किया हुआ वेद कर्मादिके अवबोधकरूपसे पालन नहीं करता एवं अन्य कृषि आदि लौकिक कर्म अकृत यानी अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त न होनेपर अपने फलप्रदानके द्वारा पालन नहीं करता, उसी प्रकार स्वलोक आत्मा अपने

स्वेनैव नित्यात्मस्वरूपेणानभिव्यञ्जितोऽविद्यादि प्रहाणेन न भुनक्त्येव ।

ननु किं स्वलोकदर्शननिमित्तपरिपालनेन? कर्मणः फलप्राप्तिध्रौव्यात्, इष्टफलनिमित्तस्य च कर्मणो बाहुल्यात्, तन्निमित्तं पालनमक्षयं भविष्यति ।

तन्न, कृतस्य क्षयवत्त्वात्; इत्येतदाह—यदिह वै संसारेऽद्भुतवत्कश्चिन्महात्मापि, अनेवंवित्—स्वं लोकं यथोक्तेन विधिना अविद्वान्, महद्बहु अश्वमेधादि पुण्यं कर्म इष्टफलमेव नैरन्तर्येण करोति, 'अनेनैवानन्त्यं मम भविष्यति' इति, तत्कर्म हास्याविद्यावतोऽविद्याजनितकामहेतुत्वात् स्वप्नदर्शनविभ्रमोद्भूतविभूतिवदन्ततोऽन्ते फलोपभोगस्य क्षीयत एव ।

नित्य आत्मस्वरूपसे अभिव्यक्त न होनेपर अविद्यादिके विनाशद्वारा पालन नहीं करता ।

शङ्का—किंतु आत्मलोकके साक्षात्कार (ज्ञान) के कारण होनेवाले परिपालनकी आवश्यकता क्या है? क्योंकि कर्मके फलकी प्राप्ति तो निश्चित है और इष्ट फलका हेतु होनेवाला कर्म [स्वभावतः] अधिक होता ही है, इसलिये उसके कारण उसका पालन अक्षय हो जायगा ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि किया जानेवाला कर्म क्षीण होनेवाला होता है। इसीसे श्रुति ऐसा कहती है—जो कोई इस संसारमें, चाहे वह आश्चर्य-जैसा महात्मा भी हो, इस प्रकार न जाननेवाला अर्थात् आत्मलोकको उपर्युक्त रीतिसे जाननेवाला नहीं है, वह इस विचारसे कि मुझे अनन्तत्वकी प्राप्ति होगी निरन्तर महान् अर्थात् बहुत-से इष्ट फल देनेवाले अश्वमेधादि पुण्य-कर्म भी करे तो भी उस अविद्वान्का वह कर्म अविद्याजनित कामरूप हेतुवाला होनेसे स्वप्नदर्शनरूप भ्रमसे होनेवाले ऐश्वर्यके समान फलोपभोगके अन्तमें क्षीण हो ही जाता है, क्योंकि उसके

तत्कारणयोरविद्याकामयोश्चलत्वात्, कृतक्षयध्रौव्योपपत्तिः। तस्मान्न पुण्यकर्मफलपालनानन्त्याशा अस्त्येव।

अत आत्मानमेव स्वं लोकम्—

स्वलोकशब्दार्थ-विवेचनम्

'आत्मानम्' इति 'स्वं लोकम्' इत्यस्मिन्नर्थे, स्वं लोकमिति प्रकृतत्वात्, इह च स्वशब्दस्याप्रयोगात्—उपासीत। स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते, तस्य किम्? इत्युच्यते—न हास्य कर्म क्षीयते; कर्माभावादेव, इति नित्यानुवादः। यथाविदुषः कर्मक्षयलक्षणं संसारदुःखं सन्ततमेव, न तथा तदस्य विद्यत इत्यर्थः। "मिथिलायां प्रदीप्तायां

न मे दह्यति किञ्चन" इति यद्वत्।

स्वात्मलोकोपासकस्य विदुषो

कारणभूत अविद्या और काम चलायमान हैं, इसलिये उस कर्मफलके क्षयकी अनिवार्यता उचित ही है। अतः पुण्यकर्मफलके द्वारा अनन्तकालतक पालनकी आशा है ही नहीं।

अतः स्वलोक आत्माकी ही उपासना करे। 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इस वाक्यमें 'आत्मानम्' यह पद 'स्वं लोकम्' इस अर्थमें है, क्योंकि 'स्वं लोकमदृष्ट्वा' इस प्रकार 'स्व' शब्दसे प्रकरणका आरम्भ हुआ है और यहाँ 'स्व' शब्दका प्रयोग किया नहीं गया। वह जो आत्मलोककी ही उपासना करता है, उसे क्या होता है, सो बतलाते हैं—उसका कर्म क्षीण नहीं होता; क्योंकि [वस्तुतः] उस आत्मवेत्तामें कर्मका अभाव ही है, अतः यह कथन तो नित्यका अनुवादमात्र है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अविद्वान्के लिये कर्मक्षयरूप संसार-दुःख निरन्तर रहता है, उस प्रकार इस विद्वान्के लिये उसकी सत्ता नहीं है; जैसे कि राजा जनकने कहा था "मिथिलाके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता।"

[भर्तृप्रपञ्चादि] कुछ अन्य व्याख्याकारोंका कथन है कि स्वात्म-

द्विद्यासंयोगात्कर्मैव न क्षीयत इत्यपरे वर्णयन्ति। लोकशब्दार्थं च कर्मसमवायिनं द्विधा परिकल्पयन्ति किल—एको व्याकृतावस्थः कर्माश्रयो लोको हैरण्यगर्भाख्यः, तं कर्मसमवायिनं लोकं व्याकृतं परिच्छिन्नं य उपास्ते, तस्य किल परिच्छिन्नकर्मात्मदर्शिनः कर्म क्षीयते। तमेव कर्मसमवायिनं लोकमव्याकृतावस्थं कारणरूपमापाद्य यस्तूपास्ते, तस्यापरिच्छिन्नकर्मात्मदर्शित्वात्तस्य कर्म न क्षीयत इति।

भवतीयं शोभना कल्पना न तु श्रौती। स्वलोकशब्देन प्रकृतस्य परमात्मनोऽभिहितत्वात्। स्वं लोकमिति प्रस्तुत्य स्वशब्दं विहायात्मशब्दप्रक्षेपेण पुनस्तस्यैव प्रतिनिर्देशादात्मानमेव लोकमुपासीतेति। तत्र कर्मसम-

लोकके उपासकका कर्म ज्ञानका संयोग होनेके कारण क्षीण नहीं होता। वे कर्मसे सम्बद्ध 'लोक' शब्दका अर्थ दो प्रकारसे कल्पना करते हैं[1]—उनमें एक तो व्याकृत रूपसे स्थित कर्माधीन हैरण्यगर्भनामक लोक है, उस कर्मसम्बन्धी व्याकृत और परिच्छिन्न लोकको जो उपासना करता है, उस परिच्छिन्नकर्मात्मदर्शीका कर्म क्षीण हो जाता है। और जो उसी कर्मसम्बन्धी लोकको अव्याकृतरूपसे स्थित अर्थात् कारणरूपको प्राप्त करके उपासना करता है, उसका वह कर्म क्षीण नहीं होता, क्योंकि वह अपरिच्छिन्नकर्मात्मदर्शी है।

उनकी यह कल्पना है तो सुन्दर, परंतु श्रुतिसम्मत नहीं है, क्योंकि श्रुतिके द्वारा तो 'स्वलोक' शब्दसे प्रकरणप्राप्त परमात्माका ही प्रतिपादन किया गया है। कारण उसने 'स्वं लोकम्' इस प्रकार आरम्भ कर फिर 'स्व' शब्दको त्याग कर उसकी जगह 'आत्मा' शब्दका प्रयोग करके उसीका 'आत्मानमेव लोकमुपासीत'

१. यहाँ मूलमें जो 'किल' शब्द है वह इस बातका द्योतक है कि उनकी यह कल्पना केवल तर्कके आधारपर हैं, श्रुतिसम्मत नहीं है।

वायिलोककल्पनाया अनवसर एव ।

परेण च केवलविद्याविषयेण विशेषणात्—"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (बृ० उ० ४।४।२२) इति। पुत्रकर्मापरविद्याकृतेभ्यो हि लोकेभ्यो विशिनष्टि 'अयमात्मा नो लोकः' इति। "न हास्य केनचन कर्मणा लोको मीयत एषोऽस्य परमो लोकः" इति च। तैः सविशेषणैरस्यैकवाक्यता युक्ता, इहापि स्वं लोकमिति विशेषणदर्शनात्।

अस्मात्कामयत इत्ययुक्तमिति चेत्—इह स्वो लोकः परमात्मा, तदुपासनात्स एव भवतीति स्थिते, यद्यत्कामयते तत्तदस्मादात्मनः सृजत इति तदात्मप्राप्तिव्यतिरेकेण फलवचनमयुक्तमिति चेत्,

इस प्रकार पुनः निर्देश किया है इसलिये यहाँ कर्मसम्बन्धी लोककी कल्पनाका तो अवसर है ही नहीं।

इसके सिवा आगेके "किं[1] प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः" इस केवल ज्ञानविषयक वाक्यसे उसे विशेषित भी किया गया है। यहाँ श्रुति 'अयमात्मा नो लोकः" ऐसा कहकर उसे पुत्र, कर्म और अपराविद्याद्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंसे पृथक् करती है। तथा यह भी कहा है "इसका यह लोक किसी भी कर्मसे नष्ट नहीं होता, यह इसका उत्कृष्ट लोक है।" उन विशेषणयुक्त वाक्योंसे इस वाक्यकी एकवाक्यता होनी चाहिये, क्योंकि यहाँ भी 'स्वं लोकम्' ऐसा विशेषण देखा जाता है।

यदि कहो कि [ऐसी बात है तो] 'इससे कामना करता है' ऐसा कहना उचित नहीं है। अर्थात् यदि ऐसी शङ्का की जाय कि यदि यहाँ स्वलोक परमात्मा ही है और उसकी उपासनासे पुरुष तद्रूप ही हो जाता है, तो ऐसा निश्चय होनेपर 'उससे जो-जो चाहता है उसी-उसीकी रचना कर लेता है'- इस प्रकार आत्मप्राप्तिसे भिन्न फल बतलाना उचित नहीं है—

१. जिन हमको केवल यह आत्मलोक ही अभीष्ट है, वे हम संतानको लेकर क्या करेंगे ?

न; स्वलोकोपासनस्तुतिपरत्वात्; स्वस्मादेव लोकात्सर्वमिष्टं सम्पद्यत इत्यर्थः; नान्यदतः प्रार्थनीयमाप्तकामत्वात्, "आत्मतः प्राण आत्मत आशा" (छा० उ० ७।२६।१) इत्यादि श्रुत्यन्तरे यथा।

सर्वात्मभावप्रदर्शनार्थो वा पूर्ववत्। यदि हि पर एवात्मा सम्पद्यते तदा युक्तः 'अस्माद्ध्येवात्मनः' इत्यात्मशब्दप्रयोगः, स्वस्मादेव प्रकृतादात्मनो लोकादित्येवमर्थः। अन्यथा 'अव्याकृतावस्थात्कर्मणो लोकात्' इति सविशेषणमवक्ष्यत् प्रकृतपरमात्मलोकव्यावृत्तये व्याकृतावस्थाव्यावृत्तये च। न ह्यस्मिन्प्रकृते

तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यह वाक्य स्वलोककी उपासनाकी स्तुति करनेवाला है। इसका यही तात्पर्य है कि सारी इष्टसिद्धि आत्मलोकसे ही हो सकती है; इससे भिन्न और कोई वस्तु माँगने योग्य नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञ पूर्णकाम होता है; जैसा कि "आत्मासे प्राण है, आत्मासे ही आशा है" इत्यादि अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है।

अथवा [1]पूर्ववत् यह आत्मज्ञका सर्वात्मभाव प्रदर्शित करनेके लिये है। यदि आत्मज्ञ परमात्मा ही हो जाता है, तभी 'अस्माद्ध्येवात्मनः' इस प्रकार आत्मशब्दका प्रयोग उचित होगा। इसका अर्थ यह है कि इस स्वरूपभूत प्रकृत आत्मलोकसे। अन्यथा प्रकृत परमात्मलोक और व्याकृतावस्था (व्याकृतरूपसे स्थित ब्रह्मलोक) की व्यावृत्तिके लिये श्रुति [लोकशब्दका] [2]'अव्याकृतावस्थात्कर्मणो लोकात्' इस प्रकार विशेषणपूर्वक उल्लेख करती। अतः यहाँ 'स्व' ऐसा प्रकृत विशेषण रहते हुए, जिसकी श्रुति कोई चर्चा नहीं करती उस पर

१. 'तस्मात्सर्वमभवत्' इस वाक्यके समान।
२. अव्याकृतरूपसे स्थित कर्मलोकसे।

विशेषितेऽश्रुतान्तरालावस्था प्रतिपत्तुं शक्यते ॥ १५ ॥

और अपर ब्रह्मके मध्यकी [अव्याकृत नामवाली] अवस्थाको ग्रहण नहीं किया जा सकता ॥ १५ ॥

कर्माधिकारी जीव किन-किन कर्मोंके कारण समस्त प्राणियोंका लोक है ?

अथो अयं वा आत्मा। अत्राविद्वान् वर्णाश्रमाद्यभिमानो धर्मेण नियम्यमानो देवादिकर्मकर्तव्यतया पशुवत्परतन्त्र इत्युक्तम्। कानि पुनस्तानि कर्माणि यत्कर्तव्यतया पशुवत्परतन्त्रो भवति? के वा ते देवादयो येषां कर्मभिः पशुवदुपकरोति? इति तदुभयं प्रपञ्चयति—

अथो अयं वा आत्मा। यहाँ वर्णाश्रमादिका अभिमान रखनेवाला तथा धर्मसे नियन्त्रित अज्ञानी पुरुष देवादिसम्बन्धी कर्मकी कर्तव्यताके कारण पशुके समान परतन्त्र है—ऐसा बतलाया गया है। किंतु वे कर्म कौन-से हैं जिनकी कर्तव्यतासे वह पशुके समान परतन्त्र होता है ? और कौन वे देवादि हैं जिनका वह कर्मोंके द्वारा उपकार करता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति उन दोनोंका विस्तारपूर्वक निरूपण करती है—

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम् ॥ १६ ॥

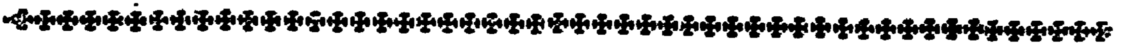
यह आत्मा (गृही कर्माधिकारी) समस्त जीवोंका लोक (भोग्य) है। वह जो हवन और यज्ञ करता है, उससे देवताओंका लोक होता है; जो स्वाध्याय करता है उससे ऋषियोंका, जो पितरोंके लिये पिण्डदान करता है और संतानकी इच्छा करता है, उससे पितरोंका, जो मनुष्योंको वासस्थान और भोजन देता है उससे मनुष्योंका और जो पशुओंको तृण एवं जलादि पहुँचाता है, उससे पशुओंका लोक होता है। इसके घरमें जो [कुत्ते-बिल्ली आदि] श्वापद, पक्षी और चींटीपर्यन्त जीव-जन्तु इसके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उससे यह उनका लोक होता है। जिस प्रकार लोकमें अपने शरीरका अविनाश चाहते हैं, उसी प्रकार ऐसा जाननेवालेका सब जीव अविनाश चाहते हैं। उस इस कर्मकी अवश्य-कर्तव्यता [पञ्चमहायज्ञप्रकरणमें] ज्ञात है और [अवदानप्रकरणमें] इसकी मीमांसा की गयी है ॥ १६ ॥

अथो इत्ययं वाक्योपन्यासार्थः। अयं यः प्रकृतो गृही कर्माधिकृतोऽविद्वाञ्छरीरेन्द्रियसङ्घातादिविशिष्टः पिण्ड आत्मेत्युच्यते; सर्वेषां देवादीनां पिपीलिकान्तानां भूतानां लोको भोग्य आत्मेत्यर्थः; सर्वेषां वर्णाश्रमादिविहितैः कर्मभिरुपकारित्वात्।

मूलमें 'अथो' यह निपात वाक्यका उपक्रम (आरम्भ) करनेके लिये है। यह जो कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप शरीरेन्द्रियसंघातविशिष्ट प्रकृत पिण्ड है, वह 'आत्मा' कहलाता है; वह देवताओंसे लेकर चींटीपर्यन्त समस्त प्राणियोंका लोक-भोग्य है; क्योंकि वर्णाश्रमादिविहित कर्मोंके द्वारा वह सबका उपकारी है।

कैः पुनः कर्मविशेषैरुपकुर्वन् केषां भूतविशेषाणां लोकः? इत्युच्यते—स गृही यज्जुहोति यद्यजते, यागो देवतामुद्दिश्य स्वत्व-

वह किन कर्मविशेषोंके द्वारा किन भूतविशेषोंका उपकार करनेके कारण उनका लोक (भोग्य) होता है? सो कहा जाता है-वह गृही जो हवन और यजन करता है-देवताके उद्देश्यसे वस्तुमें स्वत्व त्यागना याग



परित्यागः, स एव आसेचनाधिको होमः तेन होमयागलक्षणेन कर्मणावश्यकर्तव्यत्वेन देवानां पशुवत्परतन्त्रत्वेन प्रतिबद्ध इति लोकः।

अथ यदनुब्रूते स्वाध्यायमधीतेऽहरहस्तेन ऋषीणां लोकः। अथ यत्पितृभ्यो निपृणाति प्रयच्छति पिण्डोदकादि, यच्च प्रजामिच्छति प्रजार्थमुद्यमं करोति—इच्छा चोत्पत्त्युपलक्षणार्था—प्रजां चोत्पादयतीत्यर्थः, तेन कर्मणावश्यकर्तव्यत्वेन पितॄणां लोकः पितॄणां भोग्यत्वेन परतन्त्रो लोकः।

अथ यन्मनुष्यान्वासयते भूम्युदकादिदानेन गृहे, यच्च तेभ्यो वसद्भ्योऽवसद्भ्यो वा अर्थिभ्योऽशनं ददाति, तेन मनुष्याणाम्; अथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति लम्भयति, तेन पशूनाम्; यदस्य

है—उसीमें जब 'आहुति देना' इतना कर्म अधिक होता है तो उसे होम कहते हैं, उस होम-यागरूप कर्मसे, उसकी अवश्यकर्तव्यताके कारण पुरुष पशुके समान देवताओंके अधीन होनेसे बँधा हुआ है—इसलिये उनका लोक (भोग्य) है।

तथा जो अनुवचन अर्थात् नित्यप्रति स्वाध्याय करता है, उसके कारण वह ऋषियोंका लोक है। जो पितृगणको 'निपृणाति'—पिण्डोदकादि प्रदान करता है और जो प्रजाकी इच्छा यानी संतानके लिये प्रयत्न करता है—यहाँ 'इच्छा' शब्द उत्पत्तिका उपलक्षण करानेके लिये है, तात्पर्य यह कि वह जो प्रजा उत्पन्न करता है, उस कर्मके द्वारा उसकी अवश्यकर्तव्यताके कारण वह पितृगणका लोक अर्थात् पितरोंके भोग्यरूपसे उनका परतन्त्र लोक होता है।

तथा वह जो स्थान और जल आदि देकर मनुष्योंको घरमें ठहराता है तथा घरमें ठहरे हुए अथवा न ठहरे हुए भी भोजनार्थी मनुष्योंको जो भोजन देता है, उससे वह मनुष्योंका लोक है; और पशुओंको जो तृण और जल प्राप्त कराता है, उससे वह पशुओंका लोक है; एवं

गृहेषु श्वापदा वयांसि च पिपीलिकाभिः सह कणबलिभाण्डक्षालनाद्युपजीवन्ति, तेन तेषां लोकः। यस्मादयमेतानि कर्माणि कुर्वन्नुपकरोति देवादिभ्यः, तस्माद्यथा ह वै लोके स्वाय लोकाय स्वस्मै देहायारिष्टिमविनाशं स्वत्वभावाप्रच्युतिमिच्छेत् स्वत्वभावप्रच्युतिभयात्पोषणरक्षणादिभिः सर्वतः परिपालयेत्, एवं हैवंविदे 'सर्वभूतभोग्योऽहमनेन प्रकारेण मया अवश्यमृणिवत्प्रतिकर्तव्यम्' इत्येवमात्मानं परिकल्पितवते सर्वाणि भूतानि देवादीनि यथोक्तानि अरिष्टिमविनाशमिच्छन्ति स्वत्वाप्रच्युत्यै सर्वतः संरक्षन्ति कुटुम्बिन इव पशून्—"तस्मादेषां तन्न प्रियम्" इत्युक्तम्। तद्वा एतत्तदेतद्यथोक्तानां कर्मणाम् ऋण-

इसके घरमें जो श्वापद, पक्षी एवं चींटीपर्यन्त जीव-जन्तु कण, बलि तथा पात्रोंके धोवनके उपजीवी होते हैं, उससे वह उनका लोक है।

क्योंकि इन कर्मोंको करता हुआ यह देवादिका उपकार करता है, इसलिये जिस प्रकार लोकमें अपने शरीरके लिये पुरुष अरिष्टि—अविनाश अर्थात् अपनेपनके भावकी अप्रच्युति चाहता है तथा अपनेपनके भावकी च्युतिके भयसे उसका पोषण एवं रक्षण करके सब प्रकारसे पालन करता है, उसी प्रकार इस तरह जाननेवालेका अर्थात् 'मैं समस्त भूतोंका भोग्य हूँ, मुझे ऋणीके समान इन सबका इस प्रकार अवश्य प्रतीकार करना चाहिये' इस प्रकार अपने विषयमें कल्पना करनेवालेका उपर्युक्त देवतादि समस्त भूत अरिष्टि—अविनाश चाहते हैं। जिस प्रकार कोई कुटुम्बी अपने पशुओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार अपने अधिकारकी अप्रच्युतिके लिये वे इसकी सब ओरसे रक्षा करते हैं; इसीसे पहले (१।४।१० मन्त्रमें) यह कहा गया है—"अतः देवताओंको यह प्रिय नहीं है [कि लोग आत्मतत्त्वको जानें]"। वह यह अर्थात् उपर्युक्त कर्मोंका ऋणके

वदवश्यकर्तव्यत्वं पञ्चमहायज्ञप्रकरणे विदितं कर्तव्यतया मीमांसितं विचारितं चावदानप्रकरणे ॥ १६ ॥

समान अवश्यकर्तव्यत्व पञ्चमहायज्ञप्रकरणमें[1] विदित है तथा अवदानप्रकरणमें[2] कर्तव्यरूपसे इसकी मीमांसा हुई है—विचार किया गया है ॥१६॥

प्रवृत्तिबीजविवेचनम्

ब्रह्म विद्वांश्चेत्तस्मात्पशुभावात्कर्तव्यताबन्धनरूपात्प्रतिमुच्यते, केनायं कारितः कर्मबन्धनाधिकारेऽवश इव प्रवर्तते, न पुनस्तद्विमोक्षणोपाये विद्याधिकार इति ।

यदि ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष कर्तव्यताबन्धनरूप उस पशुभावसे मुक्त होता है तो यह किसकी प्रेरणासे विवश-सा होकर कर्मबन्धनके अधिकारमें प्रवृत्त होता है तथा उससे मुक्ति पानेके उपायरूप ज्ञानाधिकारमें प्रवृत्त नहीं होता।

ननूक्तं देवा रक्षन्तीति ।

पूर्व०—पहले कहा जा चुका है कि देवगण उसकी रक्षा करते हैं।[3]

बाढम्, कर्माधिकारस्वगोचरारूढानेव तेऽपि रक्षन्ति, अन्यथा कृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गात् ।

सिद्धान्ती—ठीक है, परंतु वे भी कर्माधिकारके द्वारा अपनी विषयताको प्राप्त हुए लोगोंकी ही रक्षा करते हैं, अन्यथा [यदि ऐसा माना जाय कि सभीकी रक्षा करते हैं तो] बिना किये कर्मकी प्राप्ति और कृतकर्मका नाश होनेका प्रसंग उपस्थित होगा। वे

---

१. भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ—इन पाँच यज्ञोंका जिसमें विधान किया गया है, वह पञ्चमहायज्ञप्रकरण है।

२. एक आहुतिकी पूर्तिके लिये लिया हुआ घृतादि हव्य अवदान कहलाता है। 'तदेतदवद्यते यद्यजते स यदग्नौ जुहोति' इत्यादि अवदानप्रकरण है। अर्थात् "जो यजन करता है यानी वह जो अग्निमें हवन करता है, वह यह अवदान करता है" इत्यादि। इसमें 'ऋणं ह वाव जायते जायमानो योऽस्ति' अर्थात् जो उत्पन्न होनेवाला है, उसे निश्चय ऋण प्राप्त होता है—इस अर्थवादद्वारा कर्मकी अवश्यकर्तव्यताका विचार किया है।

३. इसलिये वह नियमसे प्रवृत्तिमार्गमें ही रहता है।

न तु सामान्यं पुरुषमात्रं विशिष्टाधिकारानारूढम्; तस्माद्वक्तव्यं तेन, येन प्रेरितोऽवश एव बहिर्मुखो भवति स्वस्माल्लोकात्।

विशिष्ट अधिकारपर आरूढ़ न हुए सामान्य पुरुषमात्रकी रक्षा नहीं करते; अतः कोई ऐसा होना चाहिये, जिससे प्रेरित होकर वह बलात्कारसे आत्मलोकसे बहिर्मुख हो जाता है।

नन्वविद्या सा, अविद्यावान्हि बहिर्मुखीभूतः प्रवर्तते।

पूर्व०—अच्छा तो वह अविद्या है, क्योंकि अविद्यावान् पुरुष ही बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होता है।

सापि नैव प्रवर्तिका; वस्तुस्वरूपावरणात्मिका हि सा; प्रवर्तकबीजत्वं तु प्रतिपद्यतेऽन्धत्वमिव गर्तादिपतनप्रवृत्तिहेतुः।

सिद्धान्ती—वह भी प्रवर्तिका नहीं है, वह तो वस्तुके स्वरूपका आवरण करनेवाली ही है। हाँ, जिस प्रकार अन्धत्व गढ़ेमें गिरनेका हेतु होता है, उसी प्रकार यह प्रवर्तकबीजरूपताको तो प्राप्त होती है।

एवं तर्ह्युच्यतां किं तद् यत्प्रवृत्तिहेतुरिति?

पूर्व०—ऐसी बात है तो तुम्हीं बताओ, जो प्रवृत्तिका हेतु है, वह क्या है?

तदिहाभिधीयते-एषणा कामः सः, 'स्वाभाविक्यामविद्यायां वर्तमाना बालाःपराचःकामाननुयन्ति' इति काठकश्रुतौ, स्मृतौ च—"काम एष क्रोध एषः" (गीता ३। ३७) इत्यादि, मानवे च सर्वा प्रवृत्तिः कामहेतुक्येवेति। स एषो-

सिद्धान्ती—वह यहाँ बतलाया जाता है—वह एषणा यानी काम है। 'स्वाभाविकी अविद्यामें रहनेवाले मूर्खलोग बाह्यकामनाओंका अनुसरण करते हैं'—ऐसा कठश्रुतिमें भी कहा है, तथा स्मृतिमें भी "यह काम, यह क्रोध" ऐसा कहा है। मानवधर्मशास्त्रमें भी सारी प्रवृत्ति कामसे ही होनेवाली है—ऐसा कहा है।[1]

१. अकामतः क्रिया काचिद्दृश्यते न हि कस्यचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

ऽर्थः सविस्तरः प्रदर्श्यत इह आ अध्यायपरिसमाप्तेः—

वही विषय यहाँ अध्यायकी समाप्ति-पर्यन्त विस्तारसे प्रदर्शित किया जाता है—

प्रवृत्तिके बीजभूत काम और पाङ्क्तकर्मका वर्णन

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्ये-तावान्वै कामो नेच्छँश्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येत-र्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवँश्रोत्रेण हि तच्छृणोत्या-त्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदँसर्वं यदिदं किञ्च तदिदँसर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

पहले एक आत्मा ही था। उसने कामना की कि 'मेरे स्त्री हो, फिर मैं प्रजारूपसे उत्पन्न होऊँ। तथा मेरे धन हो, फिर मैं कर्म करूँ।' बस इतनी ही कामना है। इच्छा करनेपर इससे अधिक कोई नहीं पाता। इसीसे अब भी एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मेरे स्त्री हो, फिर मैं संतानरूपसे उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जबतक इनमेंसे एक-एकको भी प्राप्त नहीं करता तबतक वह अपनेको अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है—मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण संतान हैं और नेत्र मानुष वित्त है, क्योंकि वह नेत्रसे ही गौ आदि मानुष वित्तको जानता है। श्रोत्र दैव-वित्त है, क्योंकि श्रोत्रसे ही वह उसे (दैववित्तको) सुनता है। आत्मा

(शरीर) ही इसका कर्म है, क्योंकि आत्मासे ही यह कर्म करता है। वह यह यज्ञ पाङ्क्त है, पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है तथा यह जो कुछ है, सब पाङ्क्त है। जो ऐसा जानता है, वह इस सभीको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

आत्मैवेदमग्र आसीत्। आत्मैव स्वाभाविकोऽविद्वान्कार्यकरणसङ्घातलक्षणो वर्णी, अग्रे प्राग्दारसम्बन्धात्, आत्मेत्यभिधीयते; तस्मादात्मनः पृथग्भूतं काम्यमानं जायादिभेदरूपं नासीत्; स एवैक आसीत्—जायाद्येषणाबीजभूता विद्यावानेक एवासीत्।

स्वाभाविक्या स्वात्मनि कर्त्रादिकारकक्रियाफलात्मकताध्यारोपलक्षणया अविद्यावासनया वासितः सोऽकामयत कामितवान्। कथम्? जाया कर्माधिकारहेतुभूता मे मम कर्तुः स्यात्; तया विनाहमनधिकृत एव कर्मणि; अतः कर्माधिकारसम्पत्तये भवेज्जाया; अथाहं प्रजायेय प्रजारूपेणाहमेवोत्पद्येय।

अथ वित्तं मे स्यात्कर्मसाधनं गवादिलक्षणम् अथाहमभ्युदयनिः-

आत्मैवेदमग्र आसीत्। आत्मा ही अर्थात् स्वाभाविक अविद्वान् देह और इन्द्रियका संघातरूप वर्णी (ब्रह्मचारी) ही अग्रे—स्त्री-सम्बन्ध होनेसे पूर्व था। इस प्रकार यहाँ [देहेन्द्रियसंघात ही] आत्मा कहा गया है। उस आत्मासे पृथग्भूत उसकी कामनाका विषय स्त्री आदि भेदरूप नहीं था। वही एक था—स्त्री आदि एषणाकी बीजभूता अविद्यासे युक्त वह अकेला ही था।

उसने अपनेमें कर्त्रादि-कारक, क्रिया एवं कर्मात्मकताकी अध्यारोपरूपा स्वाभाविकी अविद्याजनित वासनासे युक्त होकर कामना की। किस प्रकार कामना की? मेरे अर्थात् मुझ कर्ताके कर्माधिकारकी हेतुभूता स्त्री हो, क्योंकि उसके बिना तो मैं कर्मका अनधिकारी ही हूँ; अतः कर्माधिकारकी प्राप्तिके लिये मुझे स्त्री प्राप्त हो; फिर मैं प्रजात होऊँ अर्थात् प्रजारूपसे मैं स्वयं ही उत्पन्न होऊँ।

तथा मेरे कर्मका साधनभूत गौ आदिरूप धन हो, फिर मैं अभ्युदय

श्रेयससाधनं कर्म कुर्वीय; येनाहमनृणी भूत्वा देवादीनां लोकान् प्राप्नुयाम्, तत्कर्म कुर्वीय; काम्यानि च पुत्रवित्तस्वर्गादिसाधनानि। एतावान्वै काम एतावद्विषयपरिच्छिन्न इत्यर्थः।

और निःश्रेयसका साधनरूप कर्म करूँ; अर्थात् वह कर्म करूँ, जिससे मैं उऋण होकर देवादिके लोकोंको प्राप्त कर सकूँ तथा पुत्र, धन और स्वर्गादिके साधन काम्य कर्म भी करूँ। इतना ही अर्थात् इतने विषयसे परिच्छिन्न ही काम है।

एतावानेव हि कामयितव्यो विषयो यदुत जायापुत्रवित्तकर्माणि साधनलक्षणैषणा; लोकाश्च त्रयो मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति फलभूताः साधनैषणायाश्चास्याः। तदर्था हि जायापुत्रवित्तकर्मलक्षणा साधनैषणा, तस्मात्सा एकैवैषणा या लोकैषणा। सैकैव सत्येषणा साधनापेक्षेति द्विधा; अतोऽवधारयिष्यति "उभे ह्येते एषणे एव" (३।५।१) इति।

ये जो स्त्री, पुत्र, वित्त और कर्म हैं—बस, इतना ही कामना करनेयोग्य विषय है, यह साधनरूपा एषणा है; मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—ये तीनों लोक इस साधनैषणाके फलस्वरूप हैं। इन्हीं तीनों लोकोंके लिये जाया, पुत्र, वित्त एवं कर्मरूपा साधन-एषणा होती है; अतः यह एक ही एषणा है, जो लोकैषणा कहलाती है। वह एषणा एक होनेपर भी साधनकी अपेक्षावाली है, इसलिये दो प्रकारकी है। इसीसे श्रुति यह निश्चय करेगी कि "ये दोनों एषणाएँ ही हैं।"

फलार्थत्वात्सर्वारम्भस्य लोकैषणार्थप्राप्ता उक्तैवेति। एतावान्वा एतावानेव काम इत्यवध्रियते।

सारे आरम्भ फलके ही लिये होते हैं, अतः अर्थतः प्राप्त लोकैषणाका वर्णन कर ही दिया गया। एतावान् वै—इतना ही काम है, इस प्रकार उसीका निश्चय किया जाता है।

भोजनेऽभिहिते तृप्तिर्न हि पृथगभिधेया, तदर्थत्वाद्भोजनस्य। ते एते एषणे साध्यसाधनलक्षणे कामः, येन प्रयुक्तोऽविद्वानवश एव कोशकारवदात्मानं वेष्टयति—कर्ममार्ग एवात्मानं प्रणिदधद्बहिर्मुखीभूतो न स्वं लोकं प्रतिजानाति। तथा च तैत्तिरीयके—"अग्निमुग्धो हैव धूमतान्तः स्वं लोकं न प्रतिजानाति" इति।

भोजनका वर्णन कर दिये जानेपर तज्जनित तृप्तिका अलग वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि भोजन तो उसीके लिये होता है। वे ये साध्य-साधनरूपा एषणाएँ काम हैं, जिस (काम) से प्रेरित हुआ अज्ञानी पुरुष रेशमके कीड़ेके समान अपनेको विवश होकर लपेट लेता है तथा अपनेको कर्ममार्गमें ही अटकाये रखकर बहिर्मुख हो आत्मलोकको नहीं जान पाता। ऐसा ही तैत्तिरीयकमें भी कहा है—"जो पुरुष अग्निसम्बन्धी कर्मोंमें मुग्ध है, उसकी चरमगति धूममार्ग ही है, वह आत्मलोकको नहीं जान पाता" इत्यादि।

कथं पुनरेतावत्त्वमवधार्यते कामानाम्? अनन्तत्वात्। अनन्ता हि कामाः, इत्येतदाशङ्क्य हेतुमाह—यस्माद् न इच्छन् च न—इच्छन्नपि, अतोऽस्मात्फलसाधनलक्षणाद् भूयोऽधिकतरं न विन्देन्न लभेत। न हि लोके फलसाधनव्यतिरिक्तं दृष्टमदृष्टं वा लब्धव्यमस्ति। लब्धव्य-

किंतु कामनाओंकी एतावत्ता (इतनापन) कैसे निश्चय की जाती है, क्योंकि वे तो अनन्त हैं। कामनाओंका तो कोई अन्त नहीं है—ऐसी आशङ्का करके श्रुति उसका कारण बतलाती है; क्योंकि इच्छा करनेपर भी पुरुष इस फल और साधनभूत कामनासे अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। लोकमें फल और साधनसे व्यतिरिक्त कोई भी दृष्ट या अदृष्टप्राप्तव्य पदार्थ नहीं है। कामना तो किसी प्राप्तव्य विषयके लिये ही

विषयो हि कामः, तस्य चैतद्द्वयव्यतिरेकेणाभावात् युक्तं वक्तुम् 'एतावान्वै कामः' इति ।

एतदुक्तं भवति—दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा साध्यसाधनलक्षणम् अविद्यावत्पुरुषाधिकारविषयमेषणाद्वयं कामः, अतोऽस्माद्विदुषा व्युत्थातव्यमिति ।

यस्मादेवमविद्वानात्मा कामी पूर्वं कामयामास, तथा पूर्वतरोऽपि, एषा लोकस्थितिः प्रजापतेश्चैवमेष सर्ग आसीत् । सोऽबिभेदविद्यया, ततः कामप्रयुक्त एकाक्यरममाणोऽरत्युपघाताय स्त्रियमैच्छत्, तां समभवत्, ततः सर्गोऽयमासीदिति ह्युक्तम् । तस्माच्चत्सृष्टौ एतर्ह्येतस्मिन्नपि काल एकाकी सन्प्राग्दारक्रियातः कामयते—जाया मे स्यात्, अथ प्रजायेय अथ वित्तं मे स्यात्, अथ कर्म कुर्वीय—इत्युक्तार्थं वाक्यम् ।

होती है और वह इसके सिवा है नहीं; इसलिये यह कहना उचित ही है कि 'बस इतना ही काम है ।'

यहाँ कहना यह है कि दृष्ट अथवा अदृष्ट फलवाला साध्य-साधनरूप तथा अज्ञानी पुरुषके अधिकारका विषयभूत जो एषणाद्वय है, वही काम है, अतः विद्वान्को इससे ऊपर उठना चाहिये ।

क्योंकि वह अविद्वान् कामी आत्मा पहले इसी प्रकार कामना करता था, अतः उससे पूर्वतरने भी ऐसे ही कामना की होगी, क्योंकि यह लोकस्थिति है; और प्रजापति-का यह सर्ग भी इसी प्रकार हुआ है। पहले अज्ञानवश उसे भय हुआ, फिर कामसे प्रेरित होकर अकेले रति न करनेके कारण उस अरति-की निवृत्तिके लिये उसने स्त्रीकी इच्छा की, उससे वह संयुक्त हुआ और फिर यह सृष्टि हुई- इस प्रकार पहले कहा जा चुका है। इसलिये इस समय भी उसकी सृष्टिमें, स्त्री-परिग्रहसे पूर्व एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मेरे स्त्री हो, फिर मैं प्रजारूपसे उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो और फिर मैं कर्म करूँ—इस प्रकार यह पूर्वोक्त अर्थ-वाला वाक्य है ।

स एवं कामयमानः सम्पादयंश्च जायादीन्यावत्स एतेषां प्रत्येकानां जायादीनामेकैकमपि न प्राप्नोति, अकृत्स्नोऽसम्पूर्णोऽहमित्येवं तावदात्मानं मन्यते। पारिशेष्यात्समस्तानेवैतान्सम्पादयति यदा, तदा तस्य कृत्स्नता।

यदा तु न शक्नोति कृत्स्नतां सम्पादयितुं तदा अस्य कृत्स्नत्वसम्पादनायाह—तस्यो तस्याकृत्स्नत्वाभिमानिनः कृत्स्नता इयम् एवं भवति कथम्? अयं कार्यकरणसङ्घातः प्रविभज्यते; तत्र मनोऽनुवृत्ति हि इतरत्सर्वं कार्यकरणजातमिति मनः प्रधानत्वादात्मेवात्मा। यथा जायादीनां कुटुम्बपतिरात्मेव तदनुकारित्वाज्जायादिचतुष्टयस्य; एवमिहापि मन आत्मा परिकल्पते कृत्स्नतायै।

इस प्रकार कामना करके स्त्री आदिका सम्पादन करनेवाला यह पुरुष जबतक इन पूर्वोक्त स्त्री आदिमेंसे एकको भी प्राप्त नहीं कर लेता तबतक यह अपनेको 'मैं असम्पूर्ण हूँ' ऐसा मानता है। फलतः जब यह इन सभीका सम्पादन कर लेता है, तभी उसकी पूर्णता होती है।

किंतु जब यह उस पूर्णताका सम्पादन करने में समर्थ नहीं होता, उस समय उसके पूर्णत्वके सम्पादनके लिये श्रुति इस प्रकार कहती है—उस अपूर्णताके अभिमानीकी यह पूर्णता इस प्रकार होती है। किस प्रकार?—[उसके] इस देहेन्द्रियसंघातका विभाग किया जाता है, उसमें अन्य सारा कार्यकरण-समुदाय मनका अनुसरण करनेवाला है, इसलिये प्रधान होनेके कारण उसमें मन ही आत्माके समान आत्मा है। जिस प्रकार परिवारका स्वामी स्त्री आदिका आत्मा होता है, क्योंकि [स्त्री, पुत्र, धन और कर्म—ये] चारों उसका अनुसरण करनेवाले होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी पूर्णताके लिये मन आत्मा है—ऐसी कल्पना की गयी है।

तथा वाग्जाया, मनोऽनुवृत्तित्व-सामान्याद्वाचः। वागिति शब्द-श्चोदनादिलक्षणः, मनसा श्रोत्र-द्वारेण गृह्यतेऽवधार्यते प्रयुज्यते च, इति मनसो जायेव वाक्। ताभ्यां च वाङ्मनसाभ्यां जाया-पतिस्थानीयाभ्यां प्रसूयते प्राणः कर्मार्थम्, इति प्राणः प्रजेव। तत्र प्राणचेष्टादिलक्षणं कर्म चक्षुर्दृष्ट-वित्तसाध्यं भवतीति चक्षुर्मानुषं वित्तम्। तद् द्विविधं वित्तं मानुषमितरच्च; अतो विशिनष्टीतर-वित्तनिवृत्त्यर्थं मानुषमिति। गवादि हि मनुष्यसम्बन्धि वित्तं चक्षुर्ग्राह्यं कर्मसाधनम्; तस्मात्त-त्स्थानीयम्, तेन सम्बन्धा-च्चक्षुर्मानुषं वित्तम्; चक्षुषा हि यस्मात्तन्मानुषं वित्तं विन्दते गवाद्युपलभत इत्यर्थः।	तथा वाणी स्त्री है; क्योंकि मन-का अनुवर्तन करना यह स्त्रीके साथ वाणीकी समानता है। 'वाक्' यह विधि-निषेधरूप शब्द है, यह श्रोत्रे-न्द्रियद्वारा मनसे गृहीत, निश्चित और प्रयुक्त होता है, इसलिये वाक् मनकी स्त्रीके समान है। उन पति-पत्नीस्थानीय मन और वाणीसे कर्म-सम्पादनके लिये प्राणका जन्म होता है, इसलिये प्राण उनकी संतानके समान है। तहाँ प्राणचेष्टादिरूप कर्म नेत्रसे दिखायी देनेवाले धनसे साध्य है, इसलिये नेत्र मानुष वित्त है। वित्त दो प्रकारका होता है—मानुष और अमानुष; अतः अमानुष वित्तकी निवृत्तिके लिये 'मानुषम्' यह विशेषण दिया गया है। गौ आदि मनुष्यसम्बन्धी वित्त नेत्रग्राह्य और कर्मका साधन है, इसलिये वह मानुष वित्तस्थानीय है। उससे सम्बन्ध रखनेके कारण नेत्र मानुष वित्त है, क्योंकि नेत्रसे ही पुरुष मानुष वित्तको यानी गौ आदिको देखता है।
किं पुनरितरद्वित्तम्? श्रोत्रं दैवं देवविषयत्वाद्विज्ञानस्य। विज्ञानं दैवं वित्तम्; तदिह श्रोत्रमेव	तो फिर दूसरा (अमानुष) वित्त क्या है? 'श्रोत्र' यह दैव वित्त है, क्योंकि विज्ञान देवविषयक होता है। विज्ञान दैव वित्त है, यहाँ उस (विज्ञान)-की सम्पत्तिका विषय श्रोत्र ही वह

श्रुत्वित्तिविषयम् । कस्मात् ? श्रोत्रेण हि यस्माद्दैवं वित्तं विज्ञानं शृणोति; अतः श्रोत्राधीनत्वाद्विज्ञानस्य श्रोत्रमेव तदिति ।

(दैव वित्त) है। क्यों ? क्योंकि पुरुष श्रोत्रसे ही उस दैव वित्त विज्ञानको सुनता है; अतः विज्ञान श्रोत्रके अधीन होनेके कारण श्रोत्र ही वह (दैव वित्त) है।

किं पुनरेतैरात्मादिवित्तान्तैरिह निर्वर्त्यं कर्म ? इत्युच्यते — आत्मैव—आत्मेति शरीरमुच्यते । कथं पुनरात्मा कर्मस्थानीयः? अस्य कर्महेतुत्वात् । कथं कर्महेतुत्वम् ? आत्मना हि शरीरेण यतः कर्म करोति । तस्याकृत्स्नत्वाभिमानिन एवं कृत्स्नता सम्पन्ना—यथा बाह्या जायादिलक्षणा एवम् । तस्मात्स एष पाङ्क्तः पञ्चभिर्निर्वृत्तः पाङ्क्तो यज्ञो दर्शनमात्रनिर्वृत्तोऽकर्मिणोऽपि ।

किंतु इन आत्मासे लेकर वित्तपर्यन्त पदार्थोंसे निष्पन्न होनेवाला यहाँ कौन-सा कर्म है ? सो बतलाया जाता है—आत्मा ही [इसका कर्म है] । 'आत्मा' शब्दसे यहाँ शरीरका कथन होता है। किंतु यह आत्मा कर्मस्थानीय कैसे है ? क्योंकि यह कर्मका हेतु है। यह कर्मका हेतु किस प्रकार है ? क्योंकि इस आत्मा यानी शरीरसे ही जीव कर्म करता है। जिस प्रकार जायादिरूपा बाह्य अपूर्णता है, उसी प्रकार उस शरीरकी अपूर्णताका अभिमान करनेवालेकी इस प्रकार (यानी ऐसा जाननेसे) पूर्णता निष्पन्न हो जाती है। इसलिये वह यह (आत्मदर्शन) पाङ्क्त है; पाङ्क्त यानी पाँचके द्वारा निष्पन्न हुआ यज्ञ है। अर्थात् कर्म न करनेवालेके द्वारा भी यह केवल दृष्टिमात्रसे निष्पन्न होता है।

कथं पुनरस्य पञ्चत्वसम्पत्तिमात्रेण यज्ञत्वम्? उच्यते —यस्मा-

किंतु पञ्चत्वके सम्पादनमात्रसे इसका यज्ञत्व कैसे सिद्ध होता है ? सो बतलाया जाता है; क्योंकि बाह्ययज्ञ

दृष्टाद्योऽपि यज्ञः पशुपुरुषसाध्यः, स च पशुः पुरुषश्च पाङ्क्त एव यथोक्तमनआदिपञ्चत्वयोगात् । तदाह—पाङ्क्तः पशुर्गवादिः, पाङ्क्तः पुरुषः—पशुत्वेऽप्यधिकृतत्वेनास्य विशेषः पुरुषस्येति पृथक्पुरुषग्रहणम् । किं बहुना ? पाङ्क्तमिदं सर्वं कर्मसाधनं फलं च, यदिदं किञ्च यत्किञ्चिदिदं सर्वम् । एवं पाङ्क्तं यज्ञमात्मानं यः सम्पादयति स तदिदं सर्वं जगदात्मत्वेनाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

भी पुरुष और पशुसे साध्य है और वह पुरुष एवं पशु भी उपर्युक्त मन आदि पञ्चत्वके सम्बन्धसे पाङ्क्त ही हैं । यही बात श्रुति कहती है—पशु यानी गौ आदि पाङ्क्त हैं, पुरुष पाङ्क्त है । पुरुष भी यद्यपि पशु ही है, तथापि अधिकारी होनेसे इसकी विशेषता है; इसलिये इसे अलग ग्रहण किया है । अधिक क्या ? यह कर्मका साधन और फल सभी पाङ्क्त है । तथा यह जो कुछ भी है सभी पाङ्क्त है । इस प्रकार जो अपनेको पाङ्क्तयज्ञरूपसे भावना करता है, अथवा जो इस प्रकार जानता[1] है, वह इस सम्पूर्ण जगत्को आत्मस्वरूपसे प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये चतुर्थं सृष्ट्यादिसर्वात्मताब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

सप्तान्नसृष्टि, उसका विभाग और व्याख्या

उपक्रमः यत्सप्तान्नानि मेधया । अविद्या प्रस्तुता, तत्राविद्वानन्यां देवतामुपास्ते 'अन्यो-

'यत्सप्तान्नानि मेधया' इत्यादि मन्त्रसे पञ्चम ब्राह्मणका आरम्भ होता है । यहाँ अविद्याका प्रकरण है । तहाँ अविद्वान् 'यह (देवता) अन्य

१. यानी साध्य और साधनरूप पाङ्क्तको जानकर उसे आत्मस्वरूपसे अनुसंधान करता है ।

ऽसावन्योऽहमस्मि' इति। स वर्णाश्रमाभिमानः कर्मकर्तव्यतया नियतो जुहोत्यादिकर्मभिः कामप्रयुक्तो देवादीनामुपकुर्वन्सर्वेषां भूतानां लोक इत्युक्तम्। यथा च स्वकर्मभिरेकैकेन सर्वैर्भूतैरसौ लोको भोज्यत्वेन सृष्टः, एवमसावपि जुहोत्यादिपाङ्क्तकर्मभिः सर्वाणि भूतानि सर्वं च जगदात्मभोज्यत्वेनासृजत्।

है और मैं अन्य हूँ' इस भावनासे अन्य देवताकी उपासना करता है। वह वर्णाश्रमका अभिमान रखनेवाला पुरुष कर्मकी कर्तव्यतासे नियन्त्रित होकर कामनासे प्रेरित हो होम-यागादि कर्मोंद्वारा देवता आदिका उपकार करनेके कारण समस्त भूतोंका लोक (भोग्य) है—ऐसा पहले कहा गया। जिस प्रकार एक-एक करके सभी प्राणियोंने अपने कर्मोंद्वारा उस लोकको भोज्यरूपसे उत्पन्न किया है, उसी प्रकार उस (कर्माधिकारी) ने भी याग-होमादि पाङ्क्तकर्मोंद्वारा सम्पूर्ण भूतोंको तथा सारे संसारको अपने भोग्यरूपसे रचा।

एवमेकैकः स्वकर्मविद्यानुरूप्येण सर्वस्य जगतो भोक्ता भोज्यं च, सर्वस्य सर्वः कर्ता कार्यं चेत्यर्थः। एतदेव च विद्याप्रकरणे मधुविद्यायां वक्ष्यामः—'सर्वं सर्वस्य कार्यं मधु' इत्यात्मैकत्वविज्ञानार्थम्।

इस प्रकार प्रत्येक जीव अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार सारे जगत्का भोक्ता और भोग्य है, तात्पर्य यह है कि सभी सबके कर्ता और कार्य हैं। ज्ञानके प्रकरणमें आत्मैकत्वके ज्ञानके लिये यही बात हम मधुविद्याके प्रसंगमें कहेंगे कि 'सभी सबके कार्य यानी मधु हैं।'

यदसौ जुहोतीत्यादिना पाङ्क्तेन काम्येन कर्मणा आत्मभोज्यत्वेन जगदसृजत विज्ञानेन च, तज्जग-

उस कर्ताने जो होम-यागादि पाङ्क्त और काम्यकर्मसे तथा अपने विज्ञानके द्वारा अपने भोज्यरूपसे इस जगत्की रचना की, वह सारा जगत् कार्य-

त्सर्वं सप्तधा प्रविभज्यमानं कार्य-कारणत्वेन सप्तान्नान्युच्यन्ते, भोज्यत्वात्; तेनासौ पिता तेषा-मन्नानाम्। एतेषामन्नानां सविनियोगानां सूत्रभूताः सङ्क्षेपतः प्रकाशकत्वादिमे मन्त्राः।

कारणरूपसे सात प्रकारसे विभक्त किया जानेपर भोज्य होनेके कारण सप्तान्न कहा जाता है; इसलिये वह उन अन्नोंका पिता है। विनियोगके सहित इन अन्नोंके संक्षेपतः प्रकाशक होनेके कारण ये मन्त्र इनके सूत्रभूत हैं।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

पिता (प्रजापति) ने विज्ञान और कर्मके द्वारा जिन सात अन्नोंकी रचना की, उनमेंसे इसका एक अन्न साधारण है [अर्थात् वह सभी प्राणियोंका भोग्य है]; दो अन्न उसने देवताओंको बाँट दिये; तीन अपने लिये रखे, एक पशुओंको दिया। उस (पशुओंको दिये हुए अन्न) में, जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सभी प्रतिष्ठित हैं। ये अन्न सर्वदा खाये जानेपर भी क्षीण क्यों नहीं होते? जो इस [अन्नके] अक्षय-भावको जानता है, वह मुखरूप प्रतीकके द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है तथा अमृतका उपजीवी होता है, इस विषयमें ये श्लोक (मन्त्र) हैं ॥ १ ॥[1]

यत्सप्तान्नानि, यद् अजनयदिति क्रियाविशेषणम्; मेधया

'यत्सप्तान्नानि' इसमें 'यत्' शब्द 'यद् अजनयत्' इस प्रकार ['अजनयत्' क्रियासे सम्बन्ध रखनेके कारण] क्रियाविशेषण है। मेधा—प्रज्ञा (बुद्धि)

१. द्वितीय मन्त्र इसीकी व्याख्या करता है।

प्रज्ञया विज्ञानेन तपसा च कर्मणा; ज्ञानकर्मणी एव हि मेधातपः-शब्दवाच्ये, तयोः प्रकृतत्वात्; नेतरे मेधातपसी, अप्रकरणात्; पाङ्क्तं हि कर्म जायादिसाधनम्; 'य एवं वेद' इति चानन्तरमेव ज्ञानं प्रकृतम्; तस्मान्न प्रसिद्धयो-र्मेधातपसोराशङ्का कार्या; अतो यानि सप्तान्नानि ज्ञानकर्मभ्यां जनितवान्पिता तानि प्रकाशयिष्याम इति वाक्यशेषः ॥ १ ॥

अर्थात् विज्ञानसे तथा 'तप' यानी कर्मसे; मेधा और तप शब्दोंके वाच्य ज्ञान और कर्म ही हैं, क्योंकि इन्हींका प्रकरण है, इनसे भिन्न मेधा (धारणा-शक्ति) और कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप इनके वाच्य नहीं हैं; क्योंकि यहाँ उनका प्रसङ्ग नहीं है; यहाँ तो स्त्री आदि जिसके साधन हैं, उस पाङ्क्तकर्मका और इसके अनन्तर ही "य एवं वेद'[1] इस वाक्यसे ज्ञानका प्रसङ्ग है; इसलिये इन शब्दोंसे प्रसिद्ध मेधा और तप-की आशङ्का नहीं करनी चाहिये; अतः पिताने ज्ञान और कर्मके द्वारा जिन सात अन्नोंको उत्पन्न किया, उन्हें हम प्रकाशित करेंगे। इस वाक्यमें 'तानि प्रकाशयिष्यामः' (उन्हें हम प्रकाशित करेंगे) यह अंश वाक्यशेष है ॥ १ ॥[2]

तत्र मन्त्राणामर्थस्तिरोहितत्वा-त्प्रायेण दुर्विज्ञेयो भवतीति तदर्थ-व्याख्यानाय ब्राह्मणं प्रवर्तते—

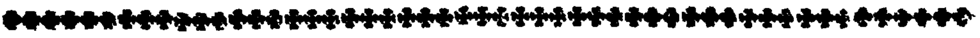
वहाँ (मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदमें) मन्त्रोंका अर्थ गूढ़ होनेके कारण प्रायः दुर्बोध होता है, अतः उसके अर्थकी व्याख्या करनेके लिये ब्राह्मण प्रवृत्त होता है—

१. जो इस प्रकार जानता है।

२. अर्थात् मूल मन्त्रमें इनका वाचक शब्द न होनेपर भी वाक्यको स्पष्ट तथा पूर्ण करनेके लिये वाक्यके शेष (अन्त) में इसे जोड़ लेना चाहिये। इसी प्रकार अन्यत्र भी वाक्यशेषका तात्पर्य समझना चाहिये।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पितेति मेधया हि तपसाजनयत्पिता। एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्र्ँ ह्येतत्। द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्। पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीद्ँ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्सर्व्ँहि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रश्ँसा ॥ २ ॥

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता' इसका यह अर्थ प्रसिद्ध है कि पिताने ज्ञान और कर्मके द्वारा ही अन्नोंकी उत्पत्ति की। उसका एक



अन्न साधारण है अर्थात् यह जो खाया जाता है, वही इसका साधारण अन्न है। जो इसकी उपासना करता है, वह पापसे दूर नहीं होता; क्योंकि यह अन्न मिश्र (समस्त प्राणियोंका सम्मिलित रूप) है। दो अन्न उसने देवताओंको बाँटे—वे हुत और प्रहुत हैं इसलिये गृहस्थ पुरुष देवताओंके लिये हवन और बलि-हरण करता है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि ये दो अन्न दर्श और पूर्णमास हैं; इसलिये काम्य इष्टियोंके यजनमें प्रवृत्त न हो। एक अन्न पशुओंको दिया, वह दुग्ध है। मनुष्य और पशु पहले दुग्धके ही आश्रय जीवन धारण करते हैं, इसलिये उत्पन्न हुए बालकको पहले घृत चटाते हैं या स्तनपान कराते हैं; तथा उत्पन्न हुए बछड़ेको भी अतृणाद (तृण भक्षण न करनेवाला) कहते हैं। जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सब इस (पश्वन्न) में ही प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् जो प्राणन करते हैं और जो नहीं करते, वे सब दुग्धमें ही प्रतिष्ठित हैं। अतः ऐसा जो कहते हैं कि एक सालतक दुग्धसे हवन करनेवाला पुरुष अपमृत्युको जीत लेता है, सो ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह जिस दिन हवन करता है, उसी दिन अपमृत्युको जीत लेता है [एक सालकी अपेक्षा नहीं करता]। इस प्रकार जाननेवाला (उपासना करनेवाला) पुरुष देवताओंको सम्पूर्ण अन्नाद्य प्रदान करता है। किंतु सर्वदा खाये जानेपर भी वे अन्न क्षीण क्यों नहीं होते? इसका कारण यह है कि पुरुष अविनाशी है, वही पुनः-पुनः इस अन्नको उत्पन्न कर देता है। जो भी इस अक्षयभावको जानता है अर्थात् पुरुष ही क्षयरहित है, वही इस अन्नको ज्ञान और कर्मद्वारा उत्पन्न कर देता है, यदि वह इसे उत्पन्न न करता तो यह क्षीण हो जाता—[ऐसा जो जानता है] वह प्रतीकके द्वारा—मुख प्रतीक है अर्थात् मुखके द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है और अमृतका उपजीवी होता है। यह (फल-श्रुति) प्रशंसा है ॥ २ ॥

तत्र 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता' इत्यस्य कोऽर्थ उच्यते? इति हि शब्देनैव व्याचष्टे

उपर्युक्त 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता' इत्यादि प्रथम मन्त्रका क्या अर्थ बताया जाता है? इस प्रश्नके उत्तरमें यह द्वितीय

प्रसिद्धार्थविद्योतकेन। प्रसिद्धो ह्यस्य मन्त्रस्यार्थ इत्यर्थः। यदजनयदिति चानुवादस्वरूपेण मन्त्रेण प्रसिद्धार्थतैव प्रकाशिता। अतो ब्राह्मणमविशङ्कयैवाह—'मेधया हि तपसाजनयत्पिता' इति ?

ननु कथं प्रसिद्धतास्यार्थस्य ? इत्युच्यते—जायादिकर्मान्तानां लोकफलसाधनानां पितृत्वं तावत् प्रत्यक्षमेव, अभिहितं च 'जाया मे स्यात्' इत्यादिना। तत्र च दैवं वित्तं विद्या कर्म पुत्रश्च फलभूतानां लोकानां साधनं स्रष्टृत्वं प्रतीत्यभिहितम्, वक्ष्यमाणं च प्रसिद्धमेव; तस्माद्युक्तं वक्तुं मेधयेत्यादि।

एषणा हि फलविषया प्रसिद्धैव च लोके। एषणा च जायादीत्युक्तम् 'एतावान्वै कामः' इत्य-

मन्त्ररूप ब्राह्मण प्रसिद्ध अर्थके द्योतक 'हि' शब्दसे ही उक्त मन्त्रकी व्याख्या करता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस मन्त्रका अर्थ प्रसिद्ध ही है। 'यदजनयत्' (जो उत्पन्न किया) इस अनुवादस्वरूप मन्त्रसे भी इसकी प्रसिद्धार्थता ही प्रकाशित होती है। अतः ब्राह्मण निःशङ्कभावसे ही कहता है—'पिताने विज्ञान और कर्मसे ही उत्पन्न किया।'

इस अर्थकी प्रसिद्धार्थता कैसे है ? सो बतलायी जाती है—स्त्रीसे लेकर कर्मपर्यन्त लोक, फल और साधनोंका पितृत्व तो प्रत्यक्ष ही है, यह बात 'मेरे स्त्री हो' इत्यादि वाक्यसे कही ही गयी है। पूर्वग्रन्थमें यह बतलाया गया है कि दैव वित्त, ज्ञान, कर्म और पुत्र अपने फलभूत लोकोंके स्रष्टृत्वमें साधन हैं; तथा आगे[1] जो कहा जायगा वह भी प्रसिद्ध ही है। अतः 'मेधया' इत्यादि कथन उचित ही है।

एषणा भी किसी फलको ही लेकर होती है—यह बात भी लोकमें प्रसिद्ध ही है। 'एतावान्वै कामः' इस वाक्यसे यह बतलाया गया है कि स्त्री आदि ही एषणा है। ब्रह्मविद्याका

१. 'पुत्रेणैवायं लोको जय्यः' इस वाक्यसे।

नेन। ब्रह्मविद्याविषये च सर्वैकत्वात्कामानुपपत्तेः।

एतेनाशास्त्रीयप्रज्ञातपोभ्यां स्वाभाविकाभ्यां जगत्स्रष्टृत्वमुक्तमेव भवति; स्थावरान्तस्य चानिष्टफलस्य कर्मविज्ञाननिमित्तत्वात्। विवक्षितस्तु शास्त्रीय एव साध्यसाधनभावो ब्रह्मविद्याविधित्सया तद्वैराग्यस्य विवक्षितत्वात्। सर्वो ह्ययं व्यक्ताव्यक्तलक्षणः संसारोऽशुद्धोऽनित्यः साध्यसाधनरूपो दुःखोऽविद्या-

जो विषय है, उसमें तो सबकी एकता हो जानेके कारण कामनाका होना सम्भव ही नहीं है।[1]

इस[2] उपर्युक्त कथनसे यानी अविद्याजनित काम ही संसार-बन्धनका कारण है—ऐसा दिखलाये जानेसे अशास्त्रीय एवं स्वाभाविक ज्ञान-कर्मोंके द्वारा संसारकी सृष्टि होती है—यह भी प्रतिपादित ही हो जाता है; क्योंकि स्थावर-पर्यन्त सारा अनिष्ट फल कर्म और विज्ञानसे ही होनेवाला है। किंतु यहाँ शास्त्रीय साध्य-साधनभाव ही बताना इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मविद्याका विधान करनेकी इच्छासे उस (साध्य-साधन) में वैराग्य बतलाना आवश्यक है। यह व्यक्त और अव्यक्तरूप सारा ही संसार अशुद्ध, अनित्य, साध्य-साधनरूप, दुःखमय और

१. यहाँ यह शङ्का होती है कि जिस प्रकार जाया आदि विषयक कामना संसारबन्धनमें डालनेवाली है, उसी प्रकार मोक्षविषयक कामना भी हो सकती है; क्योंकि कामनामात्र बन्धनकी हेतु है, इसके उत्तरमें कहते हैं—ब्रह्मविद्याके विषयमें कामना नहीं होती। कामना रागके कारण होती है और राग अन्यमें होता है। ब्रह्मविद्याके विषयभूत मोक्षमें द्वैतका सर्वथा अभाव है; अतः कामना नहीं होती।

२. यदि कोई कहे, 'जाया मे स्यात्' इत्यादि शास्त्रवचनोंके द्वारा जायादिविषयक कामनाका उल्लेख होनेसे वह शास्त्रीय है; अतः शास्त्रीय कामना संसारोत्पत्तिमें हेतु हो, किंतु अशास्त्रीय कर्म आदि क्योंकर कारण हो सकते हैं? तो इसके उत्तरमें कहते हैं— इस उपर्युक्त कथनसे इत्यादि।

विषय इत्येतस्माद्विरक्तस्य ब्रह्म-विद्या आरब्धव्येति ।

अविद्याका विषय है, अतः इससे विरक्त हुए पुरुषके लिये ही ब्रह्म-विद्याका आरम्भ करना उचित है।

साधारणान्न-विवेचनम्

तत्रान्नानां विभागेन विनियोग उच्यते—'एकमस्य साधारणम्' इति मन्त्रपदम्, तस्य व्याख्यानम् 'इदमेवास्य तत्साधारणमन्नम्' इत्युक्तम्। अस्य भोक्तृसमुदायस्य, किं तत्? यदिदमद्यते भुज्यते सर्वैः प्राणिभिरहन्यहनि, तत्साधारणं सर्वभोक्त्रर्थमकल्पयत्पिता सृष्ट्वान्नम्।

तहाँ अन्नोंका विभागपूर्वक विनियोग बतलाया जाता है। 'एकमस्य साधारणम्' यह मन्त्रका पद है, उसका 'इदमेवास्य तत्साधारणमन्नम्' यह व्याख्यान कहा गया है। 'अस्य' अर्थात् इस भोक्तृ-समुदायका, वह साधारण अन्न है, वह कौन-सा? यह जो प्रतिदिन समस्त प्राणियोंद्वारा अदन-भोजन किया जाता अर्थात् खाया जाता है। भाव यह कि पिताने अन्नकी रचना करके, उसे समस्त भोक्ताओं-के लिये साधारण अन्न नियत कर दिया।

स य एतत्साधारणं सर्वप्राणभृत्स्थितिकरं भुज्यमानमन्नमुपास्ते तत्परो भवतीत्यर्थः—उपासनं हि नाम तात्पर्यं दृष्टं लोके 'गुरुमुपास्ते' 'राजानमुपास्ते' इत्यादौ—तस्माच्छरीरस्थित्यर्थान्नोपभोगप्रधानो नादृष्टार्थकर्मप्रधान इत्यर्थः; स एवंभूतो न पाप्मनोऽधर्माद्व्याव-

वह जो समस्त प्राणियोंका भरण-पोषण और स्थिति करनेवाले एवं उनसे भोगे जाते हुए इस साधारण अन्नकी उपासना करता है, अर्थात् तत्पर होता है—लोकमें 'गुरुकी उपासना करता है,' 'राजा-की उपासना करता है,' इत्यादि प्रसङ्गोंमें तत्परता ही उपासनारूप-से देखी गयी है—अतः जो प्रधान-तया शरीरकी स्थिति करनेवाले अन्नका ही उपभोग करनेवाला है, अर्थात् अदृष्टोत्पादककर्मप्रधान नहीं है, वह इस प्रकारका पुरुष पाप यानी अधर्मसे नहीं बचता अर्थात्

र्तते—न विमुच्यत इत्येतत् । तथा च मन्त्रवर्णः—"मोघमन्नं विन्दते" इत्यादिः । स्मृतिरपि—"नात्मार्थं पाचयेदन्नम्" "अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः" (गीता ३ । २२) "अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि" (मनु० ८।३१७) इत्यादिः ।

उससे उसका छुटकारा नहीं होता। ऐसा ही "वह व्यर्थ अन्नका भोग करता है" इत्यादि मन्त्रवर्ण कहता है। तथा "अपने लिये अन्नपाक न करे", "जो इन्हें बिना दिये भोजन करता है वह चोर ही है" "अपना अन्न खानेवालेको गर्भकी हत्या करनेवाला पापी [अपना पाप देकर] उसका मार्जन करता है" इत्यादि स्मृतिवाक्य भी ऐसा ही कहते हैं।

कस्मात्पुनः पाप्मनो न व्यावर्तते ? मिश्रं ह्येतत्सर्वेषां हि स्वं तदप्रविभक्तं यत्प्राणिभिर्भुज्यते। सर्वभोज्यत्वादेव यो मुखे प्रक्षिप्यमाणोऽपि ग्रासः परस्य पीडाकरो दृश्यते, 'ममेदं स्यात्' इति हि सर्वेषां तत्राशा प्रतिबद्धा । तस्मान्न परमपीडयित्वा ग्रसितुमपि शक्यते । "दुष्कृतं हि मनुष्याणाम्" इत्यादिस्मरणाच्च।

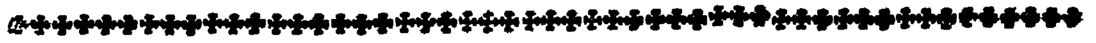
वह पापसे मुक्त क्यों नहीं होता ? क्योंकि जो प्राणियोंद्वारा बिना बाँटे खाया जाता है, वह अन्न मिश्र यानी सभीका स्व-धन है। सबका भोज्य होनेके कारण ही उस अन्नका मुखमें दिया जानेवाला ग्रास भी दूसरेको पीडा देनेवाला देखा जाता है, क्योंकि उसपर 'यह मेरा हो' इस प्रकार सभीकी आशा बँधी रहती है। अतः दूसरोंको कष्ट दिये बिना उसे खाया भी नहीं जा सकता; जैसा कि "दुष्कृतं हि मनुष्याणाम्" इत्यादि स्मृति[1] भी कहती है।

---

१. यह स्मृतिवाक्य इस प्रकार है—

दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठते ।
यो हि यस्यान्नमश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम् ॥

अर्थात् मनुष्योंका पाप उनके अन्नके आश्रित रहता है। अतः जो जिसका अन्न खाता है, वह मानो उसका पाप खाता है।



गृहिणा वैश्वदेवाख्यमन्नं यदहन्यहनि निरूप्यत इति केचित्, तन्न, सर्वभोक्तृसाधारणत्वं वैश्वदेवाख्यस्यान्नस्य न सर्वप्राणभृद्भुज्यमानान्नवत्प्रत्यक्षम्, नापि 'यदिदमद्यते' इति तद्विषयं वचनमनुकूलम्। सर्वप्राणभृद्भुज्यमानान्नान्तःपातित्वाच्च वैश्वदेवाख्यस्य युक्तं श्वचाण्डालाद्यद्यस्यान्नस्य ग्रहणम्, वैश्वदेवव्यतिरेकेणापि श्वचाण्डालाद्याद्यान्नदर्शनात्, तत्र युक्तम्, 'यदिदमद्यते' इति वचनम्। यदि हि तन्न गृह्येत, साधारणशब्देन पित्रासृष्टत्वाविनियुक्तत्वे तस्य प्रसज्येया-

किन्हीं-किन्हीं (भर्तृप्रपञ्च आदि) का कथन है कि गृहस्थद्वारा नित्यप्रति जो वैश्वदेवनामक अन्न निकाला जाता है, वही साधारण अन्न है। यह मत ठीक नहीं, क्योंकि समस्त प्राणियोंद्वारा खाये जानेवाले अन्नके समान वैश्वदेवसंज्ञक अन्नका समस्त भोक्ताओंके लिये साधारण होना प्रत्यक्ष नहीं है और न उसके विषयमें 'यदिदमद्यते' (जो यह खाया जाता है) यह वचन ही अनुकूल है। इसके सिवा वैश्वदेवसंज्ञक अन्न तो समस्त प्राणियोंद्वारा खाये जानेवाले अन्नके अन्तर्गत ही है, अतः वहाँ कुत्ते और चाण्डालादिद्वारा खाये जानेवाले अन्नको ही ग्रहण करना उचित है, क्योंकि वैश्वदेवसे अतिरिक्त भी कुत्ते और चाण्डालादिके खानेयोग्य अन्न देखा जाता है, अतः वहाँ 'जो यह अन्न खाया जाता है' यह वचन उचित होगा और यदि साधारणशब्दसे उस अन्नको ग्रहण नहीं किया जायगा तो 'पिताने उसकी सृष्टि नहीं की और उसका विनियोग भी नहीं किया' ऐसे कथनका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। पर वास्तव-

ताम् । इष्यते हि तत्सृष्टत्वं तद्विनियुक्तत्वं च सर्वस्यान्नजातस्य।

न च वैश्वदेवाख्यं शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वतः पाप्मनोऽविनिवृत्तिर्युक्ता, न च तस्य प्रतिषेधोऽस्ति, न च मत्स्यबन्धनादिकर्मवत्स्वभावजुगुप्सितमेतत्, शिष्टनिर्वर्त्यत्वात्, अकरणे च प्रत्यवायश्रवणात् । इतरत्र च प्रत्यवायोपपत्तेः "अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि" (तै० उ० ३ । १० । ६) इति मन्त्रवर्णात् ।

द्वे देवान्ने

द्वे देवानभाजयत्' इति मन्त्रपदम्, ये द्वे अन्ने सृष्ट्वा देवानभाजयत् । के ते द्वे ? इत्युच्यते—हुतं च प्रहुतं च । हुतमित्यग्नौ हवनम्, प्रहुतं हुत्वा बलिहरणम् । यस्माद् द्वे एते अन्ने हुतप्रहुते

में समस्त अन्न उसीने रचे हैं और उसीने उनका विनियोग किया है—यही सिद्धान्त यहाँ इष्ट है ।

इसके सिवा वैश्वदेवसंज्ञक शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले पुरुषका पापसे निवृत्त न होना युक्तिसङ्गत नहीं है । तथा [शास्त्रोंमें] बलिवैश्वदेवका कहीं भी प्रतिषेध नहीं किया गया है । मछली पकड़ने आदि कर्मोंके समान यह स्वभावतः निन्दनीय भी नहीं है, क्योंकि यह शिष्ट पुरुषोंद्वारा निष्पन्न होनेवाला है और इसके न करनेपर प्रत्यवाय भी सुना गया है । तथा "मैं अन्न ही [अतिथि आदिको बिना दिये] अन्न भक्षण करनेवालेको भक्षण कर जाता हूँ" इस मन्त्रके अनुसार अन्यत्र (वैश्वदेवान्नसे भिन्न अन्न भक्षण करनेमें) ही प्रत्यवाय होना सम्भव है ।

'द्वे देवानभाजयत्' यह मन्त्रका पद है । पिताने जिन दो अन्नोंको रचकर देवताओंको बाँटा वे दो कौन-से हैं ? सो बतलाया जाता है—हुत और प्रहुत । 'हुत' यह अग्निमें हवन करना है और 'प्रहुत' हवन करके बलिहरण[1] करना है । क्योंकि पिताने ये दो अन्न हुत और प्रहुत

1. देवताओंके लिये भाग निकालना 'बलिहरण' कहलाता है ।

देवानभाजयत्पिता। तस्मादेतर्ह्यपि गृहिणः काले देवेभ्यो जुह्वति देवेभ्य इदमन्नमस्माभिर्दीयमानमिति मन्वाना जुह्वति, प्रजुह्वति च हुत्वा बलिहरणं च कुर्वत इत्यर्थः।

देवताओंको दिये थे, इसलिये इस समय भी गृहस्थलोग समयपर देवताओंके लिये होम करते हैं; अर्थात् 'यह अन्न हमारे द्वारा देवताओंको दिया जाता है'—ऐसा मानते हुए हवन करते हैं तथा 'प्रजुह्वति च' अर्थात् हवन करके बलिहरण भी करते हैं।

अथो अप्यन्य आहुर्द्वे अन्ने पित्रा देवेभ्यः प्रत्ते न हुतप्रहुते, किं तर्हि? दर्शपूर्णमासाविति। द्वित्वश्रवणाविशेषादत्यन्तप्रसिद्धत्वाच्च हुतप्रहुते इति प्रथमः पक्षः। यद्यपि द्वित्वं हुतप्रहुतयोः सम्भवति, तथापि श्रौतयोरेव तु दर्शपूर्णमासयोर्देवान्नत्वं प्रसिद्धतरम्, मन्त्रप्रकाशितत्वात्। गुणप्रधानप्राप्तौ च प्रधाने प्रथमतरा अवगतिः, दर्शपूर्णमासयोश्च प्राधान्यं हुतप्रहुतापेक्षया। तस्मात्तयोरेव ग्रहणं युक्तम् 'द्वे देवानभाजयत्' इति।

तथा किन्हीं दूसरोंका ऐसा भी कहना है कि पिताके द्वारा देवताओंको दिये हुए दो अन्न हुत और प्रहुत नहीं हैं; तो कौन-से हैं? दर्श और पूर्णमास। द्विवचन-श्रवणमें समानता होनेसे और अत्यन्त प्रसिद्ध होनेसे हुत और प्रहुत ही वे अन्न हैं—यह तो पहला पक्ष है। यद्यपि हुत और प्रहुतका द्वित्व सम्भव है, तो भी उनकी अपेक्षा श्रुतिप्रतिपादित दर्श और पूर्णमासका ही देवान्न होना अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि वे मन्त्रोक्त हैं। इसके सिवा जब गौण और प्रधान अर्थकी प्राप्ति हो तो पहले प्रधान अर्थका ही ज्ञान होगा, और हुत-प्रहुतकी अपेक्षा दर्शपूर्णमासकी ही प्रधानता है। अतः 'द्वे देवानभाजयत्' इस वाक्यसे उन्हींको ग्रहण करना उचित है [—यह दूसरा पक्ष है]।

यस्माद्देवार्थमेते पित्रा प्रक्लृप्ते दर्शपूर्णमासाख्ये अन्ने, तस्मात्तयोर्देवार्थत्वाविघाताय नेष्टियाजुकः इष्टियजनशीलः; इष्टिशब्देन किल काम्या इष्टयः, शातपथीयं प्रसिद्धिः; ताच्छील्यप्रत्ययप्रयोगात्काम्येष्टियजनप्रधानो न स्यादित्यर्थः।

क्योंकि ये दर्श और पूर्णमास-संज्ञक अन्न पिताने देवताओंके लिये बनाये हैं, इसलिये उनकी देवार्थता-का विघात न करनेके लिये इष्टि-याजुक—इष्टियजनशील नहीं होना चाहिये। 'इष्टि' शब्दसे यहाँ काम्य इष्टियाँ (यज्ञ) समझनी चाहिये, यह शतपथ ब्राह्मणकी प्रसिद्धि है। 'इष्टियाजुकः' इस पदमें 'उकञ्' प्रत्यय ताच्छील्य (तत्स्वभावता) अर्थमें प्रयुक्त है, अतः इसका तात्पर्य यही है कि प्रधानतया कामनायुक्त यज्ञोंका यजन नहीं करना चाहिये।

पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति—

पश्वन्नमेकम् यत्पशुभ्य एकं प्रायच्छत्पिता किं पुनस्तदन्नम्? तत्पयः। कथं पुनरवगम्यते पशवोऽस्यान्नस्य स्वामिनः? इत्यत आह—पयो ह्यग्रे प्रथमं यस्मान्मनुष्याश्च पशवश्च पयः एवोपजीवन्तीति। उचितं हि 'तेषां तदन्नम्' अन्यथा कथं तदेवाग्रे नियमेनोपजीवेयुः?

'पशुभ्य एकं प्रायच्छत्' इति—पिताने पशुओंको जो एक अन्न दिया था, वह कौन-सा है? वह दुग्ध है। किंतु यह कैसे जाना जाता है कि इस अन्नके स्वामी पशु हैं—ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—क्योंकि मनुष्य और पशु पहले यानी आरम्भ-में दुग्धके आश्रय ही जीवन धारण करते हैं। अतः 'यह उनका अन्न है' ऐसा कहना उचित ही है। नहीं तो वे आरम्भमें नियमसे उसीके आश्रय जीवन-धारण क्यों करते?

कथमग्रे तदेवोपजीवन्ति? इत्यु-

वे पहले उसीके आश्रय किस प्रकार जीवन धारण करते हैं? सो

च्यते—मनुष्याश्च पशवश्च यस्मात्तेनैवान्नेन वर्तन्तेऽद्यत्वेऽपि, यथा पित्रा आदौ विनियोगः कृतस्तथा। तस्मात्कुमारं बालं जातं घृतं वा त्रैवर्णिका जातकर्मणि जातरूपसंयुक्तं प्रतिलेहयन्ति प्राशयन्ति। स्तनं वानुधापयन्ति पश्चात् पाययन्ति। यथासम्भवमन्येषां स्तनमेवाग्रे धापयन्ति मनुष्येभ्योऽन्येषां पशूनाम्। अथ वत्सं जातमाहुः 'कियत्प्रमाणो वत्सः?' इत्येवं पृष्टाः सन्तोऽतृणाद इति। नाद्यापि तृणमत्ति, अतीव बालः, पयसैवाद्यापि वर्तत इत्यर्थः।

यच्चाग्रे जातकर्मादौ घृतमुपजीवन्ति, यच्चेतरे पय एव, तत्सर्वथापि पय एवोपजीवन्ति; घृतस्यापि पयोविकारत्वात्पयस्त्वमेव। कस्मात्पुनः सप्तमं सत्पश्वन्नं चतु-

बतलाया जाता है—पिताने आरम्भमें जैसा विनियोग किया था, उसीके अनुसार आज भी मनुष्य और पशुगण उसी अन्नके आश्रय रहते हैं। इसीसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंके लोग नवजात कुमारको जातकर्मसंस्कारके समय सुवर्णसंयुक्त (सुवर्णकी शलाकादिसे) घृत चटाते हैं, अथवा स्तनपान कराते हैं, अर्थात् उसके पीछे दुग्धपान कराते हैं। तथा जातकर्मके अनधिकारी दूसरे मनुष्योंके उत्पन्न हुए बालकको एवं मनुष्योंसे भिन्न पशुओंके बछड़ोंको भी यथासम्भव पहले स्तन ही चुसाते हैं। जब बछड़ा उत्पन्न होता है, तो उसके विषयमें यह पूछे जानेपर कि 'बछड़ा कितना बड़ा है ?' यही कहते हैं कि 'अभी घास खानेवाला नहीं हुआ'। तात्पर्य यह है कि अभीतक घास नहीं खाता, बहुत ही छोटा है; केवल दूध पीकर ही रहता है।

इस प्रकार जो पहले जातकर्म आदिमें घृतके आश्रय जीवन धारण करते हैं और जो दूसरे जीव दुग्धके ही आश्रय रहते हैं वे सब सर्वथा दुग्धके ही उपजीवी हैं; क्योंकि दुग्धका विकार होनेके कारण घृत भी दुग्धरूप ही है। किंतु [मन्त्रमें] पश्वन्न सातवाँ होनेपर भी यहाँ (ब्राह्मणमें) इसकी

र्थत्वेन व्याख्यायते? कर्मसाधनत्वात् । कर्म हि पयःसाधनाश्रयं अग्निहोत्रादि । तच्च कर्म साधनं वित्तसाध्यं वक्ष्यमाणस्यान्नत्रयस्य साध्यस्य, यथा दर्शपूर्णमासौ पूर्वोक्तावन्ने । अतः कर्मपक्षत्वात् कर्मणा सह पिण्डीकृत्योपदेशः । साधनत्वाविशेषादर्थसम्बन्धादानन्तर्यमकारणमिति च । व्याख्याने प्रतिपत्तिसौकर्याच्च । सुखं हि नैरन्तर्येण व्याख्यातुं शक्यन्तेऽन्नानि व्याख्यातानि च सुखं प्रतीयन्ते ।

चतुर्थरूपसे व्याख्या क्यों की गयी है ? [उत्तर—] क्योंकि यह कर्मका साधन है । अग्निहोत्रादि कर्म दुग्धरूप साधनके ही आश्रित हैं । और वह कर्म आगे कहे जानेवाले साध्यभूत तीन अन्नोंका वित्तसाध्य साधन है जैसे कि पहले बतलाये हुए दर्श और पूर्णमासनामक अन्न । अतः कर्मके पक्षमें होनेके कारण इसका कर्मके साथ मिलकर उपदेश किया गया है । [दर्श-पूर्णमासके साथ] साधनत्वमें समानता होनेके कारण इसका उनके साथ अर्थमें भी सम्बन्ध है, इसलिये केवल पाठका आनन्तर्य इनके अर्थक्रममें अन्तर डालनेका कारण नहीं हो सकता । इस प्रकार व्याख्या करनेसे समझनेमें भी सुगमता होती है । साधनभूत अन्नोंकी व्याख्या एक साथ सुगमतासे की जा सकती है और इस प्रकार व्याख्या करनेपर अनायास ही उनकी प्रतीति हो जाती है ।[1]

तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च

जो कोई प्राणनक्रिया करता है और जो नहीं करता वह सब उसीमें

१. चार सब साधन हैं और तीन साध्य हैं; अतः उन साधन और साध्यभूत अन्नोंका विभाग करके व्याख्या करनेसे वक्ता, श्रोता दोनोंके समझनेमें सुविधा होगी, इसीसे यहाँ पाठक्रमका व्यतिक्रमण करके पयअन्नकी व्याख्या की गयी है ।

पयोद्रव्यस्य सर्वप्रतिष्ठात्वनिरूपणम्

प्राणिति यच्च नेत्यस्य कोऽर्थः? इत्युच्यते—तस्मिन्पश्वन्ने पयसि सर्वमध्यात्माधिभूताधिदैवलक्षणं कृत्स्नं जगत्प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति प्राणचेष्टावद्यच्च न स्थावरं शैलादि। तत्र हिशब्देनैव प्रसिद्धावद्योतकेन व्याख्यातम्। कथं पयोद्रव्यस्य सर्वप्रतिष्ठात्वम्? कारणत्वोपपत्तेः। कारणत्वं चाग्निहोत्रादिकर्मसमवायित्वम्। अग्निहोत्राद्याहुतिविपरिणामात्मकं च जगत्कृत्स्नमिति श्रुतिस्मृतिवादाः शतशो व्यवस्थिताः। अतो युक्तमेव हिशब्देन व्याख्यानम्।

प्रतिष्ठित है—इस वाक्यका क्या तात्पर्य है? सो बतलाया जाता है। उस दुग्धरूप पश्वन्नमें, जो प्राणन करता है अर्थात् प्राणचेष्टासे युक्त है और जो स्थावर पर्वतादि वैसे नहीं हैं, वे सब यानी अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूप सारा ही जगत् प्रतिष्ठित है। यहाँ प्रसिद्धिके द्योतक 'हि' शब्दसे ही इसकी व्याख्या की गयी है। किंतु दुग्ध द्रव्य सबकी प्रतिष्ठा किस प्रकार है? क्योंकि उसमें कारणत्वकी उपपत्ति है। अग्निहोत्रादि कर्मसे सम्बन्ध होना ही उसका कारणत्व है। अग्निहोत्रादिकी आहुतियोंका विपरिणाम रूप ही सारा जगत् है—इस विषयमें सैकड़ों श्रुति-स्मृतिवाद व्यवस्थित हैं। अतः 'हि' शब्दसे इसकी व्याख्या करना उचित ही है।

कथं संवत्सरं पयसा जुह्वदपमृत्युं जयति

यत्तद्ब्राह्मणान्तरेष्विदमाहुः—संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति, संवत्सरेण किल त्रीणि षष्टिशतान्याहुतीनां सप्त च शतानि विंशतिश्चेति

ब्राह्मणान्तरोंमें जो ऐसा कहा है कि एक संवत्सरपर्यन्त दुग्धसे हवन करनेवाला पुरुष अपमृत्युको जीत लेता है, सो यहाँ संवत्सरसे तीन सौ साठ अथवा सात सौ बीस आहुतियाँ अभिप्रेत हैं।[1] वे संवत्सरके दिन-रात

1. संवत्सरमें तीन सौ साठ दिन होते हैं, प्रत्येक दिनके दोनों समयके होमकी आहुतियोंको एक मानकर समस्त आहुतियाँ भी तीन सौ साठ होंगी और प्रत्येक समयकी एक-एक आहुति माननेसे उनकी संख्या सात सौ बीस होगी।

याजुष्मतीरिष्टका अभिसम्पद्यमानाः संवत्सरस्य चाहोरात्राणि, संवत्सरमग्निं प्रजापतिमाप्नुवन्ति; एवं कृत्वा संवत्सरं जुह्वदपजयति पुनः मृत्युम्, इतः प्रेत्य देवेषु सम्भूतः पुनर्न म्रियत इत्यर्थः।

इत्येवं ब्राह्मणवादा आहुः, न तथा विद्यान्न तथा द्रष्टव्यम्; यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयति, न संवत्सराभ्यासमपेक्षते। एवं विद्वान्सन्, यदुक्तम्—पयसि हीदं सर्वं प्रतिष्ठितं पयआहुतिविपरिणामात्मकत्वात्सर्वस्येति, तदेकेनैवाह्ना जगदात्मत्वं प्रतिपद्यते; तदुच्यते—अपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणम्,

यजुर्वेदोक्त इष्टकारूप होकर संवत्सररूप अग्नि प्रजापतिको प्राप्त करते हैं;[1] ऐसी भावना करके एक वर्षतक हवन करनेवाला पुनर्मृत्युको जीत लेता है, अर्थात् यहाँसे मरकर देवताओंमें जन्म लेकर फिर नहीं मरता।

—ऐसा ब्राह्मणवाद कहते हैं, किंतु ऐसा नहीं समझना चाहिये, ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि पुरुष जिस दिन भी [दुग्धसे] हवन करता है, उसी दिन पुनर्मृत्युको परास्त कर देता है, इसके लिये एक वर्षतक अभ्यास करनेकी अपेक्षा नहीं रखता। अतः इस प्रकार जानकर अर्थात् ऊपर जो कहा है कि सब दुग्धकी आहुतियोंका परिणामरूप होनेके कारण यह सब दुग्धमें ही प्रतिष्ठित है, वह वैसा ही है—ऐसा जाननेवाला पुरुष एक ही दिन आहुतिप्रदान करनेसे जगत्के आत्मत्वको प्राप्त हो जाता है। यही बात श्रुति कहती है कि वह पुनर्मृत्यु यानी दूसरी बार मरनेको

१. अर्थात् जो साधक उन आहुतियोंमें यजुर्वेदोक्त इष्टका-दृष्टि कर उन्हें संवत्सरके अवयवभूत अहोरात्र मानकर दुग्धसे हवन करता है, उसे संवत्सरात्मक प्रजापतिकी प्राप्ति होती है। याजुषी इष्टकाओंकी संख्या भी तीन सौ साठ ही है, अतः उनकी आहुतियों और अहोरात्रसे संख्यामें समानता है।

सकृन्मृत्वा विद्वाञ्छरीरेण वियुज्य सर्वात्मा भवति न पुनर्मरणाय परिच्छिन्नं शरीरं गृह्णातीत्यर्थः।

कः पुनर्हेतुः सर्वात्माप्त्या मृत्युमपजयति? इत्युच्यते—सर्वं समस्तं हि यस्माद्देवेभ्यः सर्वेभ्योऽन्नाद्यमन्नमेव तदाद्यं च सायंप्रातराहुतिप्रक्षेपेण प्रयच्छति। तद्युक्तं सर्वमाहुतिमयमात्मानं कृत्वा सर्वदेवान्नरूपेण सर्वैर्देवैरेकात्मभावं गत्वा सर्वदेवमयो भूत्वा पुनर्न म्रियत इति।

अथैतदप्युक्तं ब्राह्मणेन—"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत, तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति, हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति, तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं

जीत लेता है। अर्थात् वह विद्वान् एक बार मरकर—शरीरसे विलग होकर सर्वात्मा हो जाता है, पुनः मरनेके लिये परिच्छिन्न शरीर ग्रहण नहीं करता।

किंतु वह सर्वात्मप्राप्तिके द्वारा जो मृत्युको जीत लेता है, इसका क्या कारण है? यह बतलाया जाता है—क्योंकि वह सायंकाल और प्रातःकालके आहुतिदानके द्वारा समस्त देवताओंको सम्पूर्ण अन्नाद्य—जो अन्न और आद्य (भक्ष्य) भी है—देता है। अतः अपनेको सर्वआहुतिमय करके समस्त देवताओंके अन्नरूपसे समस्त देवताओंके साथ एकत्वको प्राप्त होकर वह सर्वदेवमय होकर पुनः नहीं मरता—ऐसा कथन उचित ही है।

ब्राह्मणने एक बात यह भी कही है—"स्वयम्भू ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) ने तप (कर्म) किया। उसने विचार किया निश्चय ही इस तपमें अनन्तत्व (अमृतत्व) नहीं है। अच्छा तो मैं अपनेको भूतोंमें हवन करूँ और भूतोंको अपनेमें। अतः उसने समस्त भूतोंमें अपनेको और समस्त भूतोंको अपनेमें हवन कर समस्त भूतोंका

स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येत्" इति।

कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति। यदा पित्रा अन्नानि सृष्ट्वा सप्त पृथक्पृथग्भोक्तृभ्यः प्रत्तानि, तदाप्रभृत्येव तैर्भोक्तृभिरद्यमानानि—तन्निमित्तत्वात्तेषां स्थितेः—सर्वदा नैरन्तर्येण; कृतक्षयोपपत्तेश्च युक्तस्तेषां क्षयः। न च तानि क्षीयमाणानि, जगतोऽविभ्रष्टरूपेणैवावस्थानदर्शनात्। भवितव्यं चाक्षयकारणेन; तस्मात्कस्मात्पुनस्तानि न क्षीयन्त इति प्रश्नः।

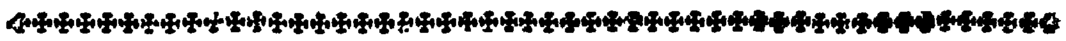
अन्नानामक्षयस्योपपादनम्

तस्येदं प्रतिवचनम्—'पुरुषो वा अक्षितिः'। यथासौ पूर्वमन्नानां स्रष्टासीत्पिता मेधया जायादिसम्बन्धेन च पाङ्क्तकर्मणा भोक्ता च, तथा येभ्यो दत्तान्यन्नानि तेऽपि तेषामन्नानां भोक्तारोऽपि सन्तः पितर एव, मेधया तपसा

श्रेष्ठत्व, स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया।"

अब 'कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा' इस श्रुतिका अर्थ किया जाता है। जब पिताके द्वारा रचे जाकर सात अन्न अलग-अलग भोक्ताओंको बाँटे गये थे, तभीसे वे सर्वदा—निरन्तर उन भोक्ताओंद्वारा खाये जा रहे हैं; क्योंकि उन अन्नोंके कारण ही उनकी स्थिति है। कृतक वस्तुका क्षय होना उचित ही है, अतः उनका भी क्षय होना युक्तियुक्त ही है। किंतु वे क्षय होते नहीं जान पड़ते, क्योंकि संसार अक्षयरूपसे ही स्थित दिखायी देता है। उनके इस अक्षयका कोई कारण होना चाहिये; अतः यह प्रश्न होता है कि वे क्षीण क्यों नहीं होते ?

इसका उत्तर यह है—'पुरुषो वा अक्षितिः'। जिस प्रकार पहले यह पिता विज्ञान और स्त्री आदिके सम्बन्धसे होनेवाले पाङ्क्तकर्मद्वारा अन्नोंका रचयिता और भोक्ता था, उसी प्रकार जिन्हें वे अन्न दिये गये हैं वे भी उन अन्नोंके भोक्ता होते हुए भी उनके पिता ही हैं; क्योंकि वे भी विज्ञान और कर्मके द्वारा उन अन्नोंको



च यतो जनयन्ति तान्यन्नानि। तदेतदभिधीयते पुरुषो वै योऽन्नानां भोक्ता सोऽक्षितिरक्षयहेतुः।

कथमस्याक्षितित्वम्? इत्युच्यते—स हि यस्मादिदं भुज्यमानं सप्तविधं कार्यकरणलक्षणं क्रियाफलात्मकं पुनः पुनर्भूयो भूयो जनयत उत्पादयति धिया धिया तत्तत्कालभाविन्या तया तया प्रज्ञया, कर्मभिश्च वाङ्मनःकायचेष्टितैः; यद्यदि ह यद्येतत्सप्तविधमन्नमुक्तं क्षणमात्रमपि न कुर्यात्प्रज्ञया कर्मभिश्च, ततो विच्छिद्येत भुज्यमानत्वात्सातत्येन क्षीयेत ह। तस्माद्यथैवायं पुरुषो भोक्ता अन्नानां नैरन्तर्येण, यथाप्रज्ञं यथाकर्म च करोत्यपि। तस्मात्पुरुषोऽक्षितिः सातत्येन कर्तृत्वात्। तस्माद् भुज्यमानान्यप्यन्नानि न क्षीयन्त इत्यर्थः।

अतः प्रज्ञाक्रियालक्षणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः साध्यसाधन-

उत्पन्न करते हैं। इसीसे यह कहा जाता है कि पुरुष, जो अन्नोंका भोक्ता है, वह अक्षिति यानी उनके अक्षयका कारण है।

उसका अक्षितित्व किस प्रकार है? सो बतलाया जाता है—क्योंकि वह इस खाये जानेवाले कार्य-करणरूप एवं कर्मफलात्मक सात प्रकारके अन्नको पुनः-पुनः—बार-बार 'धिया धिया'—तत्तत् कालमें होनेवाली तत्तद्बुद्धिसे और कर्मों यानी वाक्, मन और शरीरकी चेष्टाओंसे उत्पन्न कर देता है। यदि वह इस उपर्युक्त सप्तविध अन्नको विज्ञान और कर्मोंके द्वारा एक क्षण भी उत्पन्न न करे, तो निरन्तर खाये जानेके कारण वह विच्छिन्न यानी क्षीण हो जाय। अतः जिस प्रकार वह पुरुष अन्नोंका निरन्तर भोक्ता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि और कर्मके अनुसार उन्हें उत्पन्न भी करता है। अतः निरन्तर कर्ता होनेके कारण पुरुष अक्षिति है। इसीसे निरन्तर खाये जानेपर भी वे अन्न क्षीण नहीं होते—ऐसा इसका तात्पर्य है।

अतः प्रज्ञा और क्रियासे लक्षित परम्परापर आरूढ़ हो साध्य तथा साधनरूपसे वर्तमान एवं कर्मका

लक्षणः क्रियाफलात्मकः संहतानेकप्राणिकर्मवासनासन्तानावष्टब्धत्वात्क्षणिकोऽशुद्धोऽसारो नदीस्रोतःप्रदीपसन्तानकल्पः कदलीस्तम्भवदसारः फेनमायामरीच्यम्भःस्वप्नादिसमस्तदात्मगतदृष्टीनामविकीर्यमाणो नित्यः सारवानिव लक्ष्यते।

फलभूत यह सम्पूर्ण जड-चेतनमय संसार क्षणिक, अशुद्ध, असार, नदीके प्रवाह और दीपककी ज्योतिके समान [अस्थिर], कदलीस्तम्भके समान असार तथा फेन, मृगतृष्णा-जल और स्वप्नादिके समान असत्य होकर भी, जिनकी दृष्टि इसमें आसक्त है, उन बहिर्मुख लोगोंको ही अविकीर्यमाण (स्थिर), नित्य और सारवान्-सा दिखायी देता है; क्योंकि परस्पर मिलकर रहनेवाले नाना प्राणियोंके अनन्त कर्मों एवं उनकी वासनाओंकी परम्परासे आबद्ध हो सुस्थिर जान पड़ता है।

तदेतद्वैराग्यार्थमुच्यते—धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति—विरक्तानां ह्यस्माद्ब्रह्मविद्या आरब्धव्या चतुर्थप्रमुखेणेति।

उससे वैराग्य करानेके लिये ही श्रुति ऐसा कहती है—'धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत' इत्यादि। जो इससे विरक्त हैं, उन्हींके लिये [इस उपनिषद्के] चौथे अध्यायसे लेकर ब्रह्मविद्या आरम्भ करनी है।

उपासनफलम्

यो वैतामक्षितिं वेदेति; वक्ष्यमाणान्यपि त्रीण्यन्नान्यस्मिन्नवसरे व्याख्यातान्येवेति कृत्वा तेषां याथात्म्यविज्ञानफलमुपसंह्रियते—

'यो वैतामक्षितिं वेद' इस मन्त्रसे, आगे कहे जानेवाले तीन अन्नोंकी भी इस समय व्याख्या कर दी गयी है—ऐसा मानकर उनके यथार्थ स्वरूपके विज्ञानके फलका उपसंहार

यो वा एताम् अक्षितिम् अक्षयहेतुं यथोक्तं वेद, पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति।

सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेत्यस्यार्थ उच्यते—मुखं मुख्यत्वं प्राधान्यमित्येतत्। प्राधान्येनैवान्नानां पितुः पुरुषस्याक्षितित्वं यो वेद सोऽन्नमत्ति नान्नं प्रति गुणभूतः सन्। यथाज्ञो न तथा विद्वानन्नानामात्मभूतः, भोक्तैव भवति, न भोज्यतामापद्यते। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवति, देवानपिगच्छति देवात्मभावं प्रतिपद्यते; ऊर्जममृतं चोपजीवतीति यदुक्तं सा प्रशंसा, नापूर्वार्थोऽन्योऽस्ति॥ २॥

किया जाता है—जो भी इस अक्षिति अर्थात् ऊपर बतलाये हुए अक्षयके हेतुको कि 'पुरुष ही अक्षिति है, वही तत्तद्बुद्धि और कर्मोंसे इस अन्नको उत्पन्न करता है, यदि वह उत्पन्न न करे तो यह निश्चय क्षीण हो जाय' ऐसा जानता है, [वह प्रतीकके द्वारा अन्न भक्षण करता है]।

अब 'सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन' इस श्रुतिका अर्थ कहा जाता है—मुख—मुख्यत्व अर्थात् प्राधान्यको कहते हैं। जो पुरुष अन्नोंके पिता पुरुषका अक्षितित्व जानता है, वह प्रधानतासे ही अन्न भक्षण करता है, अन्नके प्रति गौण होकर नहीं। अज्ञानीकी तरह ज्ञानवान् अन्नोंका आत्मभूत नहीं होता; वह भोक्ता ही रहता है, भोज्यताको प्राप्त नहीं होता। तथा 'स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवति' वह 'देवानपिगच्छति—देवात्मभावको प्राप्त होता है और ऊर्ज यानी अमृतका उपजीवी होता है—ऐसा जो कहा है वह उसकी प्रशंसा है, इसका कोई दूसरा अपूर्व अर्थ नहीं है॥ २॥

आत्माके लिये तीन अन्न और उनका आध्यात्मिक विवेचन

पाङ्क्तस्य कर्मणः फलभूतानि यानि त्रीण्यन्नान्युपक्षिप्तानि तानि कार्यत्वाद्विस्तीर्णविषयत्वाच्च पूर्वेभ्योऽन्नेभ्यः पृथगुत्कृष्टानि, तेषां व्याख्यानार्थ उत्तरो ग्रन्थ आ ब्राह्मणपरिसमाप्तेः।

पाङ्क्तकर्मके फलभूत जिन तीन अन्नोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे कार्य तथा विस्तीर्ण विषयसे सम्बद्ध होनेके कारण पूर्वोक्त अन्नोंसे अलग और उनकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं। उनकी व्याख्याके लिये इस ब्राह्मणकी समाप्तिपर्यन्त आगेका ग्रन्थ है—

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा। एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

उसने तीन अन्न अपने लिये किये अर्थात् मन, वाणी और प्राण इन्हें उसने अपने लिये किया। 'मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं सुना' [ऐसा जो मनुष्य कहता है, इससे निश्चय होता है कि] वह मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणशक्ति), अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही हैं। इसीसे पीछेसे स्पर्श किये जानेपर मनुष्य मनसे जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है, वह वाक् ही है;

क्योंकि यह अभिधेयके पर्यवसानमें अनुगत है, इसलिये प्रकाश्य नहीं है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन—ये सब प्राण ही हैं। यह आत्मा (शरीर) एतन्मय अर्थात् वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है ॥३॥

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति कोऽस्यार्थ इत्युच्यते—मनोवाक्प्राणा एतानि त्रीण्यन्नानि, तानि मनो वाचं प्राणं चात्मने आत्मार्थमकुरुत—कृतवान् सृष्ट्वा आदौ पिता।

'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत' इस मन्त्रका क्या अर्थ है, सो बतलाया जाता है—मन, वाक् और प्राण ये तीन अन्न हैं; उन मन, प्राण और वाक्को पिताने प्रथम उत्पन्न कर उन्हें अपने लिये नियत किया।

मनसोऽस्तित्व-निरूपणम्

तेषां मनसोऽस्तित्वं स्वरूपं च प्रति संशय इत्यत आह—अस्ति तावन्मनः श्रोत्रादिबाह्यकरणव्यतिरिक्तम्, यत एवं प्रसिद्धम्—बाह्यकरणविषयात्मसम्बन्धे सत्यप्यभिमुखीभूतं विषयं न गृह्णाति, 'किं द्दष्टवानसीदं रूपम्?' इत्युक्तो वदति—'अन्यत्र मे गतं मन आसीत्सोऽहमन्यत्रमना आसं नादर्शम्'। तथा 'इदं श्रुतवानसि मदीयं वचः?' इत्युक्तः 'अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषं न श्रुतवानस्मि' इति।

उनमें मनके अस्तित्व और स्वरूपके विषयमें सन्देह है, इसलिये श्रुति कहती है—श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे भिन्न मन भी है; क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि [कभी-कभी] पुरुष बाह्य इन्द्रिय, विषय और आत्माका सम्बन्ध रहते हुए भी अपने सामनेके विषयको ग्रहण नहीं करता, तथा यह पूछनेपर कि 'क्या तूने यह रूप देखा है?' कहता है—'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, अतः मैं अन्यत्रमना था, इसलिये नहीं देखा।' तथा यह पूछनेपर कि 'क्या तूने मेरा यह वचन सुना था?' कहता है—'मैं अन्यत्रमना था, इसलिये नहीं सुना।'

तस्माद् यस्यासन्निधौ रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सतश्चक्षुरादेः

अतः जिसकी सन्निधि न होनेपर, रूपादिके ग्रहणमें समर्थ नेत्र आदिके

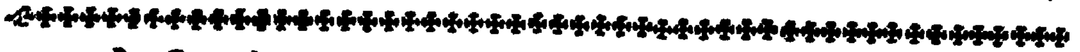
स्वस्वविषयसम्बन्धे रूपशब्दादिज्ञानं न भवति, यस्य च भावे भवति, तदन्यदस्ति मनो नामान्तःकरणं सर्वकरणविषययोगि इत्यवगम्यते । तस्मात्सर्वो हि लोको मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, तद्व्यग्रत्वे दर्शनाद्यभावात् ।

होते हुए भी उन्हें अपने-अपने विषयका सम्बन्ध होनेपर रूप एवं शब्दादिका ज्ञान नहीं होता और जिसके रहते हुए वह होता है, वह उन नेत्रादिसे भिन्न समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाला मन नामका अन्तःकरण है—ऐसा ज्ञात होता है। अतः सब लोग मनसे ही देखते हैं और मनसे ही सुनते हैं; क्योंकि उसके व्यग्र होनेपर दर्शनादि क्रिया नहीं होती ।

मन.स्वरूप-निर्देश:

अस्तित्वे सिद्धे मनसः स्वरूपार्थमिदमुच्यते — कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषादिः, संकल्पः प्रत्युपस्थितविषयविकल्पनं शुक्लनीलादिभेदेन, विचिकित्सा संशयज्ञानम्, श्रद्धा अदृष्टार्थेषु कर्मस्वास्तिक्यबुद्धिर्देवतादिषु च, अश्रद्धा तद्विपरीता बुद्धिः, धृतिर्धारणं देहाद्यवसादे उत्तम्भनम्, अधृतिस्तद्विपर्ययः, ह्रीर्लज्जा, धीः प्रज्ञा, भीर्भयम्, इत्येतदेवमादिकं सर्वं मन एव; मनसोऽन्तःकरणस्य रूपाण्येतानि ।

इस प्रकार मनका अस्तित्व सिद्ध हो जानेपर उसके स्वरूपके विषयमें यह कहा जाता है—काम—स्त्री-सम्बन्धकी अभिलाषादि, संकल्प—सम्मुखस्थ विषयकी शुक्ल-नीलादि भेदसे विशेष कल्पना करना, विचिकित्सा—संशयज्ञान, श्रद्धा—जिनका फल अदृष्ट है, उन कर्मों और देवतादिमें आस्तिकताका भाव रखना, अश्रद्धा—इससे विपरीत भाव रखना, धृति—धारण अर्थात् देहादिके शिथिल होनेपर उन्हें सँभाले रखना, अधृति—इसके विपरीत होना, ह्री—लज्जा, धी—बुद्धि और भी—भय—इत्यादि प्रकारके ये सब भाव मन ही हैं; ये सब मन अर्थात् अन्तःकरणके रूप हैं ।



मनसोऽस्तित्वे लिङ्गान्तरनिर्देशः

मनोऽस्तित्वं प्रत्यन्यच्च कारणमुच्यते—तस्मान्मनो नामास्त्यन्तःकरणम्, यस्माच्चक्षुषो ह्यगोचरे पृष्ठतोऽप्युपस्पृष्टः केनचिद् हस्तस्यायं स्पर्शो जानोरयमिति विवेकेन प्रतिपद्यते। यदि विवेककृन्मनो नाम नास्ति तर्हि त्वङ्मात्रेण कुतो विवेकप्रतिपत्तिः स्यात्? यत्तद्विवेकप्रतिपत्तिकारणम्, तन्मनः।

मनके अस्तित्वके विषयमें एक दूसरा भी कारण बतलाया जाता है—इससे भी मननामक अन्तःकरणकी सत्ता है, क्योंकि नेत्रके सामने न आकर किसीके द्वारा पीठपर स्पर्श किये जानेपर मनुष्य विवेकद्वारा यह जान लेता है कि 'यह स्पर्श हाथका है या जानुका है।' यदि विवेक करनेवाला मन नहीं है, तो त्वचामात्रसे ऐसा विवेकज्ञान कैसे हो सकता है? जो उस विवेकज्ञानका कारण है, वही मन है।

अस्ति तावन्मनः, स्वरूपं च तस्याधिगतम्। त्रीण्यन्नानीह फलभूतानि कर्मणां मनोवाक्प्राणाख्यानि अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च व्याचिख्यासितानि। तत्र आध्यात्मिकानां वाङ्मनःप्राणानां मनो व्याख्यातम्। अथेदानीं वाग्वक्तव्येत्यारम्भः—

अतः सारांश यह है कि मन है और उसका स्वरूप भी ज्ञात हो गया। यहाँ कर्मोंके फलभूत मन, वाक् और प्राणसंज्ञक अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव तीन अन्नोंकी व्याख्या करनी है। उनमेंसे आध्यात्मिक वाक्, मन और प्राणोंमेंसे मनकी व्याख्या तो कर दी गयी। अब वाक्का वर्णन करना है, इसलिये आरम्भ किया जाता है—

वाङ्निरूपणम्

यः कश्च लोके शब्दो ध्वनिस्ताल्वादिव्यङ्ग्यः प्राणिभिर्वर्णादिलक्षण इतरो वा वादित्रमेघादिनिमित्तः सर्वो ध्वनिर्वागेव सा।

लोकमें प्राणियोंद्वारा तालु आदिसे व्यक्त होनेवाला जितना भी वर्णादिरूप शब्द यानी ध्वनि है तथा बाजे या मेघादिके कारण होनेवाला और भी जो कोई शब्द है सब वाक्

इदं तावद्वाचः स्वरूपमुक्तम् । अथ तस्याः कार्यमुच्यते—एषा वाग्घि यस्मादन्तमभिधेयावसानमभिधेयनिर्णयमायत्तानुगता । एषा पुनः स्वयं नाभिधेयवत्प्रकाश्या अभिधेयप्रकाशिकैव, प्रकाशात्मकत्वात् प्रदीपादिवत् । न हि प्रदीपादिप्रकाशः प्रकाशान्तरेण प्रकाश्यते, तद्वद्वाक्प्रकाशिकैव स्वयं न प्रकाश्येत्यनवस्थां श्रुतिः परिहरति—एषा हि न प्रकाश्या । प्रकाशकत्वमेव वाचः कार्यमित्यर्थः ।

ही है । यह तो वाक्का स्वरूप बतलाया गया । अब उसका कार्य बतलाया जाता है—क्योंकि यह वाक् अन्त—अभिधेयावसान अर्थात् अभिधेय-निर्णयके आयत्त यानी अनुगत है; किंतु यह अभिधेयके समान स्वयं प्रकाश्य नहीं है, यह तो अभिधेयको प्रकाशित करनेवाली ही है; क्योंकि दीपकादिके समान यह प्रकाशस्वरूपा ही है । दीपकादिका प्रकाश किसी अन्य प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता । अतः उसके ही समान वाक् भी प्रकाशिका ही है, वह स्वयं किसीके द्वारा प्रकाश्या नहीं है—इस प्रकार श्रुति अनवस्था दोषकी निवृत्ति करती है, क्योंकि यह वाक् प्रकाश्या नहीं है । तात्पर्य यह है कि प्रकाशकत्व ही वाक्का कार्य है ।

प्राणनिरूपणम्

अथ प्राण उच्यते—प्राणो मुखनासिकासञ्चार्या हृदयवृत्तिःप्रणयनात्प्राणः अपनयनान्मूत्रपुरीषादेरपानोऽधोवृत्तिरानाभिस्थानः; व्यानो व्यायमनकर्मा व्यानः

अब प्राणका वर्णन किया जाता है—प्राण—मुख और नासिकामें संचार करनेवाली जो [वायुकी] हृदयपर्यन्त वृत्ति है, वह प्रणयन (बहिर्गमन) के कारण प्राण कहलाती है, अपान—मल-मूत्रादिको नीचेकी ओर ले जानेके कारण वायुकी जो नाभिस्थानतक रहनेवाली अधोवृत्ति है, वह अपान है, व्यान—व्यायमन

प्राणापानयोः सन्धिर्वीर्यवत्कर्म-हेतुश्च; उदान उत्कर्षोर्ध्वगमनादिहेतुरापादतलमस्तकस्थान ऊर्ध्ववृत्तिः, समानः समं नयनाद् भुक्तस्य पीतस्य च कोष्ठस्थानोऽन्नपक्ता, अन इत्येषां वृत्तिविशेषाणां सामान्यभूता सामान्यदेहचेष्टाभिसम्बन्धिनी वृत्तिः, एवं यथोक्तं प्राणादिवृत्तिजातमेतत्सर्वं प्राण एव।

कर्मा व्यान है, यह प्राण और अपानकी सन्धि है तथा बलकी अपेक्षा रखनेवाले कर्मोंका कारण है, उदान—जो उत्कर्ष (पुष्टि) और ऊर्ध्वगमन (प्राणोत्क्रमण) आदिका हेतु है तथा जिसका पादतलसे लेकर मस्तकपर्यन्त स्थान एवं ऊपरकी ओर गति है वह उदान है, समान—खाये-पीये पदार्थोंका समीकरण करनेके कारण अन्नको पचानेवाला उदरस्थ वायु समान है, अन—यह इन विशेषवृत्तियोंकी सामान्यभूत तथा देहकी सामान्य चेष्टासे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति है; इस प्रकार यह उपर्युक्त प्राणादि समस्त वृत्तिसमुदाय प्राण ही है।

प्राण इति वृत्तिमानाध्यात्मिकोऽन उक्तः। कर्म चास्य वृत्तिभेदप्रदर्शनेनैव व्याख्यातम्। व्याख्यातान्याध्यात्मिकानि मनोवाक्प्राणाख्यान्यन्नानि। एतन्मय एतद्विकारः प्राजापत्यैरेतैर्वाङ्मनःप्राणैरारब्धः। कोऽसौ? अयं कार्यकरणसङ्घात आत्मा पिण्ड आत्म-

'प्राण' इस शब्दसे वृत्तिमान् आध्यात्मिक अन (वायु) कहा गया है। इसके कर्मकी व्याख्या तो इसके वृत्तिभेदके प्रदर्शनसे ही कर दी गयी। इस प्रकार मन, वाक् और प्राणसंज्ञक आध्यात्मिक अन्नोंकी व्याख्या की गयी। यह एतन्मय—इनका विकार अर्थात् इन प्राजापत्य वाक्, मन और प्राणोंसे आरब्ध है। यह कौन? यह जो भूत और इन्द्रियोंका संघात आत्मा यानी पिण्ड है,

स्वरूपत्वेनाभिमतोऽविवेकिभिः। अविशेषेणैतन्मय इत्युक्तस्य विशेषेण वाङ्मयो मनोमयः प्राणमय इति स्फुटीकरणम् ॥ ३ ॥

जो अविवेकियोंद्वारा आत्मस्वरूपसे माना गया है। सामान्यरूपसे 'एतन्मयः' इस प्रकार कहे हुएको ही 'वाङ्मय, मनोमय एवं प्राणमय' ऐसा कहकर स्पष्ट किया गया है ॥ ३ ॥

आत्मार्थ अन्नोंका आधिभौतिक विस्तार

तेषामेव प्राजापत्यानामन्नानामाधिभौतिको विस्तारोऽभिधीयते-

उन्हीं प्राजापत्य अन्नोंका आधिभौतिक विस्तार कहा जाता है—

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥

तीनों लोक ये ही हैं। वाक् ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है ॥ ४ ॥

त्रयो लोका भूर्भुवः स्वरित्याख्या एत एव वाङ्मनःप्राणाः, तत्र विशेषो वागेवायं लोकः, मनोऽन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥

'भूः, भुवः और स्वः' नामक तीनों लोक ये वाक्, मन और प्राण ही हैं। उनका विशेषरूप इस प्रकार है—वाक् ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है ॥ ४ ॥

तथा—

इसी प्रकार—

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥ देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥ पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥ ७ ॥

तीनों वेद ये ही हैं। वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है ॥ ५ ॥ देवता, पितृगण और मनुष्य ये ही हैं। वाक् ही देवता हैं, मन पितृगण हैं और प्राण मनुष्य हैं ॥ ६ ॥ पिता, माता और प्रजा ये ही हैं। मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण प्रजा है ॥ ७ ॥

त्रयो वेदा इत्यादीनि वाक्यानि ऋज्वर्थानि ॥ ५-७ ॥

'त्रयो वेदाः' इत्यादि वाक्योंका अर्थ सरल है ॥ ५-७ ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वावति ॥ ८ ॥

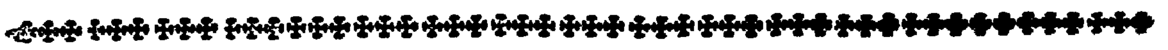
विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं। जो कुछ विज्ञात है वह वाक्का रूप है, वाक् ही विज्ञाता है, वाक् इस (अपने ज्ञाता) की विज्ञात होकर रक्षा करती है ॥ ८ ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव। तत्र विशेषः—यत्किञ्च विज्ञातं विस्पष्टं ज्ञातं वाचस्तद्रूपम्। तत्र स्वयमेव हेतुमाह—वाग्घि विज्ञाता प्रकाशात्मकत्वात्। कथमविज्ञाता भवेद् यान्यानपि विज्ञापयति "वाचैव सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायते" (४ । १ । २) इति हि वक्ष्यति।

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं। उनका विशेष रूप इस प्रकार है—जो कुछ विज्ञात—विस्पष्टरूपसे ज्ञात है, वह वाक्का रूप है। उसमें श्रुति स्वयं ही हेतु बतलाती है—प्रकाशस्वरूप होनेके कारण वाक् ही विज्ञाता है। जो दूसरोंको विज्ञापित करती है, वह स्वयं किस प्रकार अविज्ञात हो सकती है। "हे सम्राट्! वाणीसे ही बन्धुकी पहचान होती है" ऐसा आगे चलकर श्रुति कहेगी भी।

वाग्विशेषविद इदं फलमुच्यते—वागेवैनं यथोक्तवाग्विभूति-

वाक्की विशेषताको जाननेवालेके लिये यह फल बतलाया जाता है—वाक् ही इसका-उपर्युक्त



विदं तद्विज्ञातं भूत्वा अवति पालयति, विज्ञातरूपेणैवास्यान्नं भोज्यतां प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥८॥

वाक्की विभूतिको जाननेवालेका उसकी विज्ञात होकर अवन यानी पालन करती है, अर्थात् वह विज्ञात-रूपसे ही इसका अन्न होती यानी भोज्यताको प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

तथा—

तथा—

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वावति ॥ ९ ॥

जो कुछ विजिज्ञास्य है, वह मनका रूप है। मन ही विजिज्ञास्य है। मन विजिज्ञास्य होकर इसकी रक्षा करता है ॥ ९ ॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्यम्, विस्पष्टं ज्ञातुमिष्टं विजिज्ञास्यम्, तत्सर्वं मनसो रूपम्; मनो हि यस्मा-द्वि[illegible]मानाकारत्वाद्विजिज्ञास्यम्। पूर्ववन्मनोविभूतिविदः फलम्—मन एनं तद्विजिज्ञास्यं भूत्वा अवति विजिज्ञास्यस्वरूपेणैवान्नत्वमापद्यते ॥ ९ ॥

जो कुछ विजिज्ञास्य यानी विस्पष्ट जाननेके लिये इष्ट है, वह सब मनका रूप है; क्योंकि मन ही सन्देहयोग्य स्वरूपवाला होनेके कारण विजिज्ञास्य है। पहलेहीके समान मनकी विभूतिको जाननेवाले-का फल बतलाया जाता है—मन उसका विजिज्ञास्य होकर उसकी रक्षा करता है, अर्थात् वह विजि-ज्ञास्यस्वरूपसे ही उसके अन्नत्वको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

तथा—

तथा—

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वावति ॥ १० ॥

जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राणका रूप है। प्राण ही अविज्ञात है। प्राण अविज्ञात होकर इसकी रक्षा करता है ॥ १० ॥

यत्किञ्चाविज्ञातं विज्ञानागोचरं न च सन्दिह्यमानम्, प्राणस्य तद्रूपम् प्राणो ह्यविज्ञातोऽविज्ञातरूपो हि यस्मात्प्राणोऽनिरुक्त-श्रुतेः। विज्ञातविजिज्ञास्याविज्ञातभेदेन वाङ्मनःप्राणविभागे स्थिते त्रयो लोका इत्यादयो वाचनिका एव। सर्वत्र विज्ञातादिरूपदर्शनाद्वचनादेव नियमः स्मर्तव्यः।

जो कुछ अविज्ञात यानी विज्ञानका अविषय है—केवल सन्देहयोग्य ही नहीं है—वह प्राणका रूप है; प्राण ही अविज्ञात है, क्योंकि अनिरुक्त-श्रुतिसे प्राण अविज्ञातरूप ही है। इस प्रकार विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञातभेदसे वाक्, मन और प्राणका विभाग निश्चित हो जानेपर 'त्रयो लोकाः' इत्यादि निर्देश केवल वाचनिक (वचनसे प्राप्त) ही है। सर्वत्र विज्ञातादिका ही रूप देखा जाता है, अतः इनका नियम श्रुतिवचनसे ही माना जाता है।

प्राण एनं तद्भूत्वा अवति—अविज्ञातरूपेणैवास्य प्राणोऽन्नं भवतीत्यथः। शिष्यपुत्रादिभिः सन्दिह्यमानाविज्ञातोपकारा अप्याचार्यपित्रादयो दृश्यन्ते; तथा मनःप्राणयोरपि सन्दिह्यमानाविज्ञातयोरन्नत्वोपपत्तिः ॥ १० ॥

प्राण तद्रूप होकर इसकी रक्षा करता है; अर्थात् प्राण अविज्ञातरूपसे ही इसका अन्न होता है।[1] जिनके उपकारके विषयमें शिष्य एवं पुत्रादिको सन्देह और अज्ञान रहता है, ऐसे गुरु और पिता आदि [लोकमें] देखे जाते हैं। इसी प्रकार सन्दिह्यमान और अविज्ञात मन एवं प्राणका भी अन्न होना सम्भव है ॥ १० ॥

१. यदि कहो कि अविज्ञात रहते हुए प्राण किस प्रकार उपकारक हो सकता है ? तो इसके लिये आगे लिखी बातपर ध्यान देना चाहिये।

आत्मार्थ अन्नोंका आधिदैविक विस्तार

व्याख्यातो वाङ्मनःप्राणाना-माधिभौतिको विस्तारः । अथा-यमाधिदैविकार्थ आरम्भः—

[इस प्रकार] वाक्, मन और प्राणके आधिभौतिक विस्तारकी व्याख्या तो कर दी गयी, अब यहाँसे आधिदैविक विषय आरम्भ किया जाता है—

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्त-द्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

उस वाक्का पृथिवी शरीर है और यह अग्नि ज्योतीरूप है। तहाँ जितनी वाक् है, उतनी ही पृथिवी है और उतना ही यह अग्नि है ॥ ११ ॥

तस्यै तस्याः वाचः प्रजापते-रन्नत्वेनप्रस्तुतायाः पृथिवी शरीरं बाह्य आधारः, ज्योतीरूपं प्रकाशा-त्मकं करणं पृथिव्या आधेयभूत-मयं पार्थिवोऽग्निः । द्विरूपा हि प्रजापतेर्वाक्—कार्यमाधारोऽप्रका-शः करणं चाधेयं प्रकाशः, तदुभयं पृथिव्यग्नी वागेव प्रजापतेः ।

प्रजापतिके अन्नरूपसे प्रस्तुत हुए उस वाक्का पृथिवी शरीर यानी बाह्य आधार है तथा पृथिवी-का आधेयभूत यह पार्थिव अग्नि उसका ज्योतीरूप यानी प्रकाशा-त्मक करण है। प्रजापतिकी वाक् दो प्रकारकी है—(१) कार्य, आधार और अप्रकाशरूप तथा (२) करण, आधेय और प्रकाशरूप; वे दोनों पृथिवी और अग्नि प्रजापतिकी वाक् ही हैं।

तत्तत्र यावत्येव यावत्परिमा-णैव अध्यात्माधिभूतभेदभिन्ना सती वाग्भवति, तत्र सर्वत्र आधारत्वेन पृथिवी व्यवस्थिता, तावत्येव भवति कार्यभूता;

उनमें जितनी अर्थात् जितने परिमाणवाली अध्यात्म और अधिभूत भेदोंसे भिन्न होनेवाली वाक् है, उसमें सर्वत्र उसके आधाररूपसे व्यवस्थित कार्यभूता पृथिवी भी उतनी ही है;

तावानयमग्निः, आधेयः करणरूपो ज्योतीरूपेण पृथिवीमनुप्रविष्टस्तावानेव भवति । समानमुत्तरम् ॥ ११ ॥

तथा उतना ही अग्नि है, अर्थात् ज्योतीरूपसे पृथिवीमें अनुप्रविष्ट आधेय और करणरूप अग्नि भी उतना ही है। आगेके पर्यायोंमें भी ऐसा ही समझना चाहिये ॥ ११ ॥

इन्द्ररूप प्राणकी उत्पत्ति और उसकी उपासनाका फल

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

तथा इस मनका द्युलोक शरीर है, ज्योतीरूप वह आदित्य है; तहाँ जितना मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही वह आदित्य है। वे (आदित्य और अग्नि) मिथुन (पारस्परिक संसर्ग) को प्राप्त हुए। तब प्राण उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है और वह असपत्न—शत्रुहीन है; दूसरा [अर्थात् प्रतिपक्षी] ही सपत्न होता है। जो ऐसा जानता है, उसका सपत्न नहीं होता ॥ १२ ॥

अथैतस्य प्राजापत्यान्नोक्तस्यैव मनसो द्यौर्द्युलोकः शरीरं कार्यमाधारः, ज्योतीरूपं करणमाधेयोऽसावादित्यः। तत्र यावत्परिमाणमेव अध्यात्ममधिभूतं वा मनस्तावती तावद्विस्तारा तावत्परिमाणा मनसो ज्योतीरूपस्य

तथा प्राजापत्य अन्नरूपसे कहे हुए इस मनका द्यौः—द्युलोक शरीर—कार्य अर्थात् आधार है और वह आदित्य ज्योतीरूप—करण यानी आधेय है। उनमें जितना परिमाणवाला अध्यात्म और अधिभूत मन है उतना—उतने विस्तारवाला अर्थात् उतने ही परिमाणवाला मनके ज्योती-

करणस्य आधारत्वेन व्यवस्थिता द्यौः, तावानसावादित्यो ज्योतीरूपं करणमाधेयम् ।

रूप यानी करणके आधाररूपसे व्यवस्थित द्युलोक है। तथा उतना ही वह ज्योतीरूप-करण यानी आधेय आदित्य है।

तावग्न्यादित्यौ वाङ्मनसे आधिदैविके मातापितरौ, मिथुनं मैथुन्यमितरेतरसंसर्गं समैतां समगच्छेताम् । 'मनसा आदित्येन प्रसूतं पित्रा, वाचाग्निना मात्रा प्रकाशितं कर्म करिष्यामि' इति, अन्तरा रोदस्योः । ततस्तयोरेव सङ्गमनात्प्राणो वायुरजायत परिस्पन्दाय कर्मणे ।

वे अग्नि और आदित्य अर्थात् आधिदैविक वाक् और मन मातापिता हैं, वे दोनों मिथुन अर्थात् एक-दूसरेके साथ संसर्गको प्राप्त हुए । 'पितृस्थानीय आदित्यरूप मनसे प्रसूत और मातृस्थानीय अग्निरूप वाणीसे प्रकाशित कर्म करूँगा' ऐसे अभिप्रायसे पृथ्वी और द्युलोकके बीच उन दोनोंका समागम हुआ । तब उन्हींके समागमसे परिस्पन्द (चेष्टा) रूप कर्मके लिये प्राण यानी वायु हुआ ।[1]

यो जातः स इन्द्रः परमेश्वरः, न केवलमिन्द्र एवासपत्नोऽविद्यमानः सपत्नो यस्य; कः पुनः सपत्नो नाम ? द्वितीयो वै प्रतिपक्षत्वेनोपगतः स द्वितीयः सपत्न

जो उत्पन्न हुआ वह इन्द्र—परमेश्वर था । वह केवल इन्द्र ही नहीं था, असपत्न अर्थात् जिसका कोई सपत्न न हो—ऐसा भी था । किंतु सपत्न किसे कहते हैं ? द्वितीय अर्थात् जो प्रतिपक्षभावको प्राप्त हो वह दूसरा व्यक्ति ही सपत्न कहलाता

१. ऊपर 'मन यह इसका आत्मा है, वाक् जाया है और प्राण प्रजा है' इस प्रकार अध्यात्मरूपसे तथा 'मन पिता है, वाक् माता है और प्राण प्रजा है' इस प्रकार अधिभूतरूपसे प्राणको मन और वाक्की प्रजा बतलाया है । इसी प्रकार यहाँ अधिदैवरूपसे भी उसे उनकी प्रजा बतलानेके लिये यह सब कहा गया है ।

इत्युच्यते। तेन द्वितीयत्वेऽपि सति वाङ्मनसे न सपत्नत्वं भजेते, प्राणं प्रति गुणभावोपगते एव हि ते अध्यात्ममिव।

है। अतः वाक् और मन उससे अन्य होनेपर भी उसके सपत्नत्वको प्राप्त नहीं हैं। वे तो अध्यात्म मन और वाक्‌के समान प्राणके प्रति गौण-भावको प्राप्त हैं।

तत्र प्रासङ्गिकासपत्नविज्ञान-फलमिदम्—नास्य विदुषः सपत्नः प्रतिपक्षो भवति, य एवं यथोक्तं प्राणमसपत्नं वेद ॥ १२ ॥

तहाँ प्रसङ्गप्राप्त असपत्नविज्ञान-का फल यह है—जो इस प्रकार उपर्युक्त प्राणको असपत्न जानता है, उस विद्वान्‌का कोई सपत्न यानी प्रतिपक्षी नहीं होता ॥ १२ ॥

आत्मार्थ अन्नोंको अन्तवान् और अनन्तरूपसे उपासना करनेका फल

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्र-स्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानु-पास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति ॥ १३ ॥

तथा इस प्राणका जल शरीर है, वह चन्द्रमा ज्योतीरूप है। तहाँ जितना प्राण है, उतना ही जल है और उतना ही वह चन्द्रमा है। वे ये सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं। जो कोई इन्हें अन्तवान् समझकर उपासना करता है, वह अन्तवान् लोकपर जय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है वह अनन्त लोकपर जय प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

अथैतस्य प्रकृतस्य प्राजापत्या-न्नस्य प्राणस्य, न प्रजोक्तस्यान-न्तरनिर्दिष्टस्य, आपः शरीरं कार्यं

तथा इस प्रसङ्गप्राप्त प्रजापतिके अन्नरूप प्राणका, अभी प्रजारूपसे बतलाये हुए प्राणका नहीं, जल

करणाधारः, पूर्ववज्ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः। तत्र यावानेव प्राणो यावत्परिमाणोऽध्यात्मादिभेदेषु, तावद्व्याप्तिमत्य आपः तावत्परिमाणाः, तावानसौ चन्द्रोऽप्स्वाधेयस्तास्वप्स्वनुप्रविष्टः करणभूतोऽध्यात्ममधिभूतं च तावद्व्याप्तिमानेव। तान्येतानि पित्रा पाङ्क्तेन कर्मणा सृष्टानि त्रीण्यन्नानि वाङ्मनःप्राणाख्यानि। अध्यात्ममधिभूतं च जगत्समस्तमेतैर्व्याप्तम्, नैतेभ्योऽन्यदतिरिक्तं किञ्चिदस्ति कार्यात्मकं करणात्मकं वा। समस्तानि त्वेतानि प्रजापतिः।

त एते वाङ्मनःप्राणाः सर्वे एव समास्तुल्या व्याप्तिमन्तो यावत्प्राणिगोचरं साध्यात्माधिभूतं व्याप्य व्यवस्थिताः। अत एवानन्ता यावत्संसारभाविनो हि ते। न हि कार्यकरणप्रत्याख्यानेन संसारोऽवगम्यते। कार्यकरणात्मका हि त इत्युक्तम्।

शरीर—कार्य अर्थात् करणका आधार है तथा पूर्ववत् वह चन्द्रमा ज्योतीरूप है। वहाँ जितना प्राण है अर्थात् अध्यात्मादि भेदोंमें जितने परिमाणवाला प्राण है, उतनी व्याप्तिवाला अर्थात् उतने ही परिमाणवाला जल है और उतना ही वह जलके आधेय उस जलमें अनुप्रविष्ट उसका करणभूत अध्यात्म और अधिभूत चन्द्रमा है, वह भी उतनी ही व्याप्तिवाला है। ये ही वे पिताके द्वारा पाङ्क्तकर्मसे रचे हुए वाक्, मन और प्राणसंज्ञक तीन अन्न हैं। सारा अध्यात्म और अधिभूत जगत् इनसे व्याप्त है। इनसे भिन्न कार्य और करणरूप कोई भी पदार्थ नहीं है। ये सब [मिलकर] ही प्रजापति हैं।

वे ये वाक्, मन और प्राण सब समान अर्थात् तुल्य व्याप्तिवाले ही हैं। अध्यात्म और अधिभूतके सहित जितना भी प्राणियोंका विषय है, ये उस सबको व्याप्त करके स्थित हैं। अतः ये अनन्त हैं अर्थात् संसारकी स्थितिपर्यन्त रहनेवाले हैं; क्योंकि कार्य और करणको छोड़कर संसार अन्य कुछ नहीं जाना जाता और यह कहा ही जा चुका है कि ये कार्य-करणरूप हैं।

स यः कश्चिद् हैतान्प्रजापतेरात्मभूतानन्तवतःपरिच्छिन्नानध्यात्मरूपेण वा अधिभूतरूपेण वोपास्ते, स च तदुपासनानुरूपमेव फलमन्तवन्तं लोकं जयति, परिच्छिन्न एव जायते नैतेषामात्मभूतो भवतीत्यर्थः। अथ पुनर्यो हैताननन्तान्सर्वात्मकान्सर्वप्राण्यात्मभूतान् अपरिच्छिन्नानुपास्ते सोऽनन्तमेव लोकं जयति॥१३॥

जो कोई प्रजापतिके स्वरूपभूत इन सबको अन्तवान्—परिच्छिन्न समझकर अध्यात्म या अधिभूतरूपसे उपासना करता है, वह तो उस उपासनाके अनुरूप फल अन्तवान् लोकको ही जीतता है। अर्थात् वह परिच्छिन्नरूपसे ही उत्पन्न होता है, इनका आत्मभूत नहीं होता। और जो इन्हें अनन्त—सर्वात्मक—समस्त प्राणियोंके आत्मभूत अर्थात् अपरिच्छिन्नरूपसे उपासना करता है, वह अनन्त लोकपर ही विजय प्राप्त करता है॥ १३॥

तीन अन्नरूप प्रजापतिका षोडशकल संवत्सररूपसे निर्देश

पिता पाङ्क्तेन कर्मणा सप्तान्नानि सृष्ट्वा त्रीण्यन्नान्यात्मार्थमकरोदित्युक्तम्। तान्येतानि। पाङ्क्तकर्मफलभूतानि व्याख्यातानि। तत्र कथं पुनः पाङ्क्तस्य कर्मणः फलमेतानि ? इति उच्यते—यस्मात्तेष्वपि त्रिष्वन्नेषु पाङ्क्ततावगम्यते, वित्तकर्मणोरपि तत्र सम्भवात्। तत्र पृथिव्यग्नी माता,

पिताने पाङ्क्तकर्मसे सात अन्नोंको उत्पन्न कर उनमेंसे तीन अपने लिये निश्चित किये—यह ऊपर कहा गया। पाङ्क्तकर्मके फलभूत उन अन्नोंकी व्याख्या कर दी गयी। किंतु वे पाङ्क्तकर्मके फल किस प्रकार हैं ? सो बतलाया जाता है—क्योंकि उन तीन अन्नोंमें भी पाङ्क्तता देखी जाती है [इसलिये वे पाङ्क्त हैं]; कारण, वित्त और कर्मकी भी उनमें सम्भावना है। उनमें पृथिवी और अग्नि माता हैं,

दिवादित्यौ पिता। योऽयमनयोरन्तरा प्राणः, स प्रजेति व्याख्यातम्। तत्र वित्तकर्मणी सम्भावयितव्ये इत्यारम्भः—

द्युलोक और आदित्य पिता हैं, इन दोनोंके बीचमें जो यह प्राण है, वह प्रजा है—यह तो ऊपर व्याख्या की जा चुकी है। अब उनमें वित्त और कर्मकी सम्भावना दिखानी है, इसलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याꣳरात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताꣳरात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

वह यह (तीन अन्नरूप) संवत्सर प्रजापति सोलह कलाओंवाला है। उसकी रात्रियाँ ही पंद्रह कला हैं, इसकी सोलहवीं कला ध्रुवा (नित्य) ही है। वह रात्रियोंके द्वारा ही [शुक्लपक्षमें] वृद्धिको प्राप्त होता है तथा [कृष्णपक्षमें] क्षीण होता है। अमावास्याकी रात्रिमें वह इस सोलहवीं कलासे इन सब प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट हो फिर [दूसरे दिन] प्रातःकालमें उत्पन्न होता है। अतः इस रात्रिमें किसी प्राणीके प्राणका विच्छेद न करे, यहाँतक कि इसी देवताकी पूजाके लिये [इस रात्रिमें] गिरगिटके भी प्राण न ले ॥ १४ ॥

'स एष संवत्सरः'— योऽयं त्र्यन्नात्मा प्रजापतिः प्रकृतः, स एष संवत्सरात्मना विशेषतो निर्दिश्यते।

'स एष संवत्सरः'—यहाँ जिस अन्नत्रयरूप प्रजापतिका प्रसङ्ग है, उसीका संवत्सररूपसे विशेषतः निर्देश किया जाता है। वह यह

षोडशकलः षोडश कला अवयवा अस्य सोऽयं षोडशकलः संवत्सरः संवत्सरात्मा कालरूपः।

तस्य च कालात्मनः प्रजापतेः रात्रय एवाहोरात्राणि, तिथय इत्यर्थः, पञ्चदश कलाः। ध्रुवैव नित्यैव व्यवस्थिता अस्य प्रजापतेः षोडशी षोडशानां पूरणी कला। स रात्रिभिरेव तिथिभिः कलोक्ताभिरापूर्यते चापक्षीयते च। प्रतिपदाद्याभिर्हि चन्द्रमाः प्रजापतिः शुक्लपक्ष आपूर्यते कलाभिरुपचीयमानाभिर्वर्धते यावत्सम्पूर्णमण्डलः पौर्णमास्याम्। ताभिरेवापचीयमानाभिः कलाभिरपक्षीयते कृष्णपक्षे यावद् ध्रुवैका कला व्यवस्थिता अमावास्यायाम्।

स प्रजापतिः कालात्मा अमावास्यामभावास्यायां रात्रिं रात्रौ या व्यवस्थिता ध्रुवा कलोक्ता एतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राण-

संवत्सर—संवत्सरात्मा अर्थात् कालरूप प्रजापति षोडशकल है; जिसकी षोडश (सोलह) कलाएँ अर्थात् अवयव हों, उसे षोडशकल कहते हैं।

उस कालस्वरूप प्रजापतिकी रात्रियाँ—अहोरात्र अर्थात् तिथियाँ ही पंद्रह कलाएँ हैं तथा इस प्रजापतिकी सोलहवीं अर्थात् सोलह संख्याकी पूर्ति करनेवाली कला ध्रुवा—नित्य व्यवस्थिता ही है। वह रात्रियों अर्थात् कलारूपसे कही हुई तिथियोंसे ही पूर्ण और अपक्षीण होता है। वह चन्द्रमा प्रजापति शुक्लपक्षमें प्रतिपद् आदि तिथियोंसे बढ़ता है, वह बढ़ती हुई कलाओंसे तबतक बढ़ता रहता है, जबतक कि पूर्णमासीको पूर्णमण्डलाकार न हो जाय; तथा क्षीण होती हुई उन्हीं कलाओंके द्वारा कृष्णपक्षमें तबतक क्रमशः क्षीण होता जाता है, जबतक कि अमावास्यामें एक ध्रुवा कला ही शेष न रह जाय।

वह कालस्वरूप प्रजापति, 'अमावास्यां रात्रिम्'—अमावास्यामें रातके समय जो एक ऊपर बतलायी हुई ध्रुवा नामकी कला रहती है, उस सोलहवीं कलाके द्वारा इन समस्त प्राणधारियों

भूतप्राणिजातमनुप्रविश्य यदपः पिबति यच्चौषधीरश्नाति तत्सर्वमेव ओषध्यात्मना सर्वं व्याप्यामावास्यां रात्रिमवस्थाय ततोऽपरेद्युः प्रातर्जायते द्वितीयया कलया संयुक्तः।

एवं पाङ्क्तात्मकोऽसौ प्रजापतिः। दिवादित्यौ मनः पिता; पृथिव्यग्नी वाग्जाया माता; तयोश्च प्राणः प्रजा। चान्द्रमस्यस्तिथयः कला वित्तम्, उपचयापचयधर्मित्वाद्वित्तवत्। तासां च कलानां कालावयवानां जगत्परिणामहेतुत्वं कर्म। एवमेष कृत्स्नः प्रजापतिः "जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" (बृ० उ० १।४।१७) इत्येषणानुरूप एव पाङ्क्तस्य कर्मणः फलभूतः संवृत्तः। कारणानुविधायि हि कार्यमिति लोकेऽपि स्थितिः।

यस्मादेष चन्द्र एतां रात्रिं सर्वप्राणिजातमनुप्रविष्टो ध्रुवया कलया वर्तते, तस्माद्धेतोरेताम-

अर्थात् प्राणिसमुदायमें अनुप्रवेश कर जो जल पीता है और जो ओषधि खाता है, उन सभीमें ओषधिरूपसे व्याप्त हो अमावास्याकी रात्रिमें स्थित रह दूसरे दिन प्रातःकाल द्वितीय कलासे संयुक्त होकर उत्पन्न होता है।

इस प्रकार यह प्रजापति पाङ्क्तरूप है। द्युलोक, आदित्य और मन पिता हैं; पृथिवी, अग्नि और वाक् जाया—माता हैं; उन दोनों माता-पिताओंकी प्रजा प्राण है। चन्द्रमाकी तिथियाँ यानी कलाएँ वित्त हैं, क्योंकि वे वित्तके समान वृद्धि और ह्रासरूप धर्मवाली हैं। तथा उन कलावयवरूप कलाओंका जगत्के परिणाममें हेतु होना कर्म है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजापति "मेरे जाया हो, फिर मैं प्रजारूपसे उत्पन्न होऊँ; मेरे धन हो, फिर मैं कर्म करूँ" इस प्रकारकी एषणाके अनुरूप ही पाङ्क्तकर्मका फ़लभूत हो जाता है। लोकमें भी ऐसी ही स्थिति है कि कार्य कारणका अनुवर्ती होता है।

क्योंकि इस रात्रिमें यह चन्द्रमा अपनी ध्रुवा कलाके सहित समस्त प्राणिसमुदायमें अनुप्रविष्ट होकर विद्यमान रहता है, इसलिये इस

मावास्यां रात्रिं प्राणभृतः प्राणिनः प्राणं न विच्छिन्द्यात्प्राणिनं न प्रमापयेदित्येतत्, अपि कृकलासस्य। कृकलासो हि पापात्मा स्वभावेनैव हिंस्यते प्राणिभिर्दृष्टोऽप्यमङ्गल इति कृत्वा।

अमावास्याकी रात्रिमें प्राणधारी यानी प्राणीके प्राणका विच्छेद न करे; अर्थात् प्राणीको न मारे। यहाँतक कि गिरगिटके भी प्राण न ले। गिरगिट पापी प्राणी है, इसलिये यह सोचकर कि 'यह देखनेसे भी अमङ्गलरूप है, प्राणी स्वभावसे ही इसे मार डालते हैं [यहाँ उसकी भी हिंसाका निषेध है]।

ननु प्रतिषिद्धैव प्राणिहिंसा "अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" (छा० उ० ८।१५।१) इति।

शङ्का—परंतु "अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" इस वचनके अनुसार हिंसा तो सामान्यतः प्रतिषिद्ध ही है। [फिर यहाँ उसका अलग प्रतिषेध क्यों किया गया ?]

बाढं प्रतिषिद्धा, तथापि नामावास्याया अन्यत्र प्रतिप्रसवार्थं वचनं हिंसायाः कृकलासविषये वा, किं तर्हि? एतस्याः सोमदेवताया अपचित्यै पूजार्थम् ॥१४॥

समाधान—हाँ, प्रतिषिद्ध है, तथापि यहाँ जो श्रुतिका कथन है वह अमावास्यासे भिन्न समयमें सब प्राणियोंकी अथवा केवल गिरगिटकी हिंसाका प्रतिप्रसव (विशेष विधान) करनेके लिये नहीं है; तो फिर किस उद्देश्यसे है ? इस सोम देवताकी अपचिति अर्थात् पूजाके लिये ही [यह कथन] है[1] ॥ १४ ॥

१. यहाँ यह शङ्का होती है—श्रुतिमें सभी प्राणियोंकी हिंसाका निषेध करनेके लिये 'अहिंसन् सर्वभूतानि' यह सामान्य वचन है। इसके रहते हुए जो यहाँ अमावास्याकी रातमें गिरगिटतकका प्राण न ले' यह विशेष वचन श्रुतिमें कहा गया, इससे यह ध्वनि निकलती है कि अमावास्याके सिवा अन्य तिथियोंमें सभी

अन्नोपासक ही षोडशकल संवत्सर प्रजापति है

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनागादित्येवाहुः ॥ १५ ॥

जो भी यह सोलह कलाओंवाला संवत्सर प्रजापति है, वह यही है जो कि इस प्रकार जाननेवाला पुरुष है। वित्त ही उसकी पंद्रह कलाएँ हैं तथा आत्मा (शरीर) ही उसकी सोलहवीं कला है। वह वित्तसे ही बढ़ता और क्षीण होता है। यह जो आत्मा (पिण्ड) है, वह नभ्य (रथचक्रकी नाभिरूप) है और वित्त प्रधि (रथचक्रका बाहरका घेरा—नेमि) है। इसलिये यदि पुरुष सर्वस्वहरणके कारण ह्रासको प्राप्त हो जाय, किंतु शरीरसे जीवित रहे, तो यही कहते हैं कि केवल प्रधिसे ही क्षीण हुआ है ॥ १५ ॥

यो वै परोक्षाभिहितः संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः स नैवात्य-

जो भी सोलह कलाओंवाला संवत्सर प्रजापति परोक्षरूपसे कहा गया है, उसे अत्यन्त परोक्ष ही नहीं

प्राणियोंकी अथवा केवल गिरगिटकी हिंसा की जा सकती है। ऐसी दशामें पूर्वोक्त सामान्य वचनसे विरोध होगा। यद्यपि विधिकी अपेक्षा निषेधवचन बलवान् होते है, तथापि सामान्य निषेधकी अपेक्षा विशेष विधि ही बलवान् होता है, इसलिये पूर्वोक्त सामान्य निषेधको बाधकर इस विशेष वचनकी प्रवृत्ति होनेसे अमावास्यासे अन्यत्र हिंसाका प्रतिप्रसव (विशेष विधान) सिद्ध हो जायगा। निषेधके बाधक विधिको 'प्रतिप्रसव' कहते हैं। उक्त शङ्काका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं—यहाँ यह श्रुतिका विशेष वचन सोमदेवताकी पूजा करनेके लिये है अर्थात् 'अमावास्याकी रातमें सभी प्राणियोंमें सोमदेवता व्याप्त रहते हैं, इसलिये उस दिन किसी भी प्राणीको दुःख न दे' यह कहकर यहाँ सोमदेवताका सम्मान किया गया है, इससे हिंसाका प्रतिप्रसव (विशेष विधान) समझना भूल है।

न्तं परोक्षो मन्तव्यः, यस्मादयमेव स प्रत्यक्ष उपलभ्यते। कोऽसावयम् ? यो यथोक्तं त्र्यन्नात्मकं प्रजापतिमात्मभूतं वेत्ति स एवंवित्पुरुषः।

मानना चाहिये; क्योंकि वह प्रत्यक्ष यही उपलब्ध होता है। वह यह कौन है ?—जो उपर्युक्त अन्नत्रयरूप आत्मभूत प्रजापतिको जानता है, वह इस प्रकार जाननेवाला पुरुष है।

केन सामान्येन प्रजापतिरिति तदुच्यते—तस्यैवंविदः पुरुषस्य गवादि वित्तमेव पञ्चदश कला उपचयापचयधर्मित्वात्; तद्वित्तसाध्यं च कर्म। तस्य कृत्स्नतायै आत्मैव पिण्ड एवास्य विदुषः षोडशी कला ध्रुवस्थानीया। स चन्द्रवद्वित्तेनैवापूर्यते चापक्षीयते च—तदेतल्लोके प्रसिद्धम्।

वह किस समानताके कारण प्रजापति है, सो बतलाया जाता है—उस इस प्रकार जाननेवाले पुरुषकी गौ आदि वित्त ही पंद्रह कलाएँ हैं, क्योंकि वे वित्त वृद्धि-ह्रास धर्मवाले हैं और कर्म भी उस वित्तसे ही साध्य है।[1] उसकी पूर्णताके लिये इस विद्वान्‌का आत्मा यानी पिण्ड ही ध्रुवस्थानीया सोलहवीं कला है। वह चन्द्रमाके समान वित्तसे ही बढ़ता और अपक्षीण होता है—यह लोकमें प्रसिद्ध है।

तदेतन्नभ्यम्, नाभ्यै हितं नभ्यं नाभिं वा अर्हतीति। किं तत् ? यदयं योऽयमात्मा पिण्डः। प्रधिर्वित्तं परिवारस्थानीयं बाह्यं चक्र-

वह यह नभ्य है, 'नाभ्यै हितम्' अथवा 'नाभिम् अर्हति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो नाभिके लिये हितरूप अथवा नाभिकी योग्यता रखता हो उसे 'नभ्य' अर्थात् चक्रका मध्य भाग कहते हैं। वह कौन ? यह जो आत्मा अर्थात् पिण्ड है। वित्त प्रधि यानी बाह्य परिवाररूप है, जैसे

१. अर्थात् जिस प्रकार जगत्‌का विपरिणाम चन्द्रमाकी कलाओंसे साध्य है उसी प्रकार जगत्‌का समस्त कार्य वित्तसे साध्य है।

स्येवारनेम्यादि । तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं सर्वस्वापहरणं जीयते हीयते ग्लानिं प्राप्नोति, आत्मना चक्रनाभिस्थानीयेन चेद्यदि जीवति प्रधिना बाह्येन परिवारेणायमगात्क्षीणोऽयं यथा चक्रमरनेमिविमुक्तमेवमाहुः । जीवंश्चेद् अरनेमिस्थानीयेन वित्तेन पुनरुपचीयत इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

कि पहियेके अरे और नेमि आदि । अतः यद्यपि सर्वज्यानि—सर्वस्वापहरण होनेसे पुरुष हीन हो जाता—ग्लानिको प्राप्त हो जाता है, तथापि यदि वह चक्रकी नाभिस्थानीय अपने देहपिण्डसे जीवित है तो लोग यही कहते हैं कि यह प्रधि यानी बाह्य परिवारसे चला गया अर्थात् क्षीण हो गया, जिस प्रकार कि अरे और नेमिसे रहित चक्र । तात्पर्य यह है कि यदि वह जीवित रहता है तो रथकी नेमिरूप धनसे फिर भी वृद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

लोकत्रयकी प्राप्तिके साधन तथा देवलोककी उत्कृष्टताका वर्णन

एवं पाङ्क्तेन दैववित्तविद्यासंयुक्तेन कर्मणा त्र्यन्नात्मकः प्रजापतिर्भवतीति व्याख्यातम् । अनन्तरं च जायादिवित्तं परिवारस्थानीयमित्युक्तम् । तत्र पुत्रकर्मापरविद्यानां लोकप्राप्तिसाधनत्वमात्रं सामान्येनावगतम् , न पुत्रादीनां लोकप्राप्तिफलं प्रति विशेषसम्बन्धनियमः । सोऽयं पुत्रादीनां साधनानां साध्यविशेषसम्बन्धो वक्तव्य इत्युत्तरकण्डिका प्रणीयते—

इस प्रकार देववित्त और विद्यासंयुक्त पाङ्क्तकर्मके द्वारा प्रजापति अन्नत्रयरूप है—इसकी व्याख्या कर दी गयी । उसके पीछे परिवारस्थानीय स्त्री आदि वित्तका वर्णन किया गया । वहाँ पुत्र, कर्म और अपरविद्याका सामान्यरूपसे लोकप्राप्तिमें साधन होनामात्र विदित होता है; पुत्रादिका लोकप्राप्तिरूप फलके प्रति विशेष सम्बन्ध होनेका नियम नहीं जान पड़ता । वह पुत्रादि साधनोंका साध्यविशेषोंके साथ सम्बन्ध बतलाना है—इसीलिये आगेकी कण्डिका रची जाती है—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकाना श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रश सन्ति ॥ १६ ॥

अथ मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—ये ही तीन लोक हैं। वह यह मनुष्यलोक पुत्रके द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्मसे नहीं। तथा पितृलोक कर्मसे और देवलोक विद्यासे जीते जा सकते हैं। लोकोंमें देवलोक ही श्रेष्ठ है; इसलिये विद्याकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

अथेति वाक्योपन्यासार्थः। त्रयः, वावेत्यवधारणार्थः। त्रय एव शास्त्रोक्तसाधनार्हा लोकाः, न न्यूना नाधिका वा। के ते? इत्युच्यते—मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति।

तेषां सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव साधनेन जय्यो जेतव्यः साध्यः—यथा च पुत्रेण जेतव्यस्तथोत्तरत्र वक्ष्यामः,—नान्येन कर्मणा, विद्यया वेति वाक्यशेषः।

कर्मणा अग्निहोत्रादिलक्षणेन केवलेन पितृलोको जेतव्यो न पुत्रेण नापि विद्यया। विद्यया

'अथ' यह शब्द वाक्यारम्भके लिये है। 'त्रयो वाव' इसमें 'वाव' निश्चयार्थक है। शास्त्रोक्त साधनसे प्राप्त होने योग्य तीन ही लोक हैं; न इससे कम हैं, न अधिक। वे कौन-से हैं? सो बतलाये जाते हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक।

उनमें वह यह मनुष्यलोक पुत्ररूप साधनके द्वारा ही जीता जा सकने योग्य, जीतनेके लायक अर्थात् साध्य (प्राप्त करने योग्य) है। वह पुत्रद्वारा किस प्रकार प्राप्तव्य है, सो आगे बतलावेंगे। किसी अन्य कर्म अथवा विद्यासे नहीं। यहाँ 'विद्यया वा' (अथवा विद्यासे) यह वाक्यशेष है।

अग्निहोत्रादिरूप केवल कर्मसे पितृलोक जीतने योग्य है—पुत्रसे अथवा विद्यासे नहीं। तथा विद्यासे

देवलोको न पुत्रेण नापि कर्मणा। देवलोको वै लोकानां त्रयाणां श्रेष्ठः प्रशस्यतमः। तस्मात्तत्साधनत्वाद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

देवलोक प्राप्त होनेयोग्य है—पुत्रसे अथवा कर्मसे नहीं।

तीनों लोकोंमें देवलोक ही श्रेष्ठ यानी सबसे अधिक प्रशंसनीय है। अतः उसका साधन होनेसे विद्याकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

सम्प्रत्तिकर्म और उसका परिणाम

एवं साध्यलोकत्रयफलभेदेन विनियुक्तानि पुत्रकर्मविद्याख्यानि त्रीणि साधनानि। जाया तु पुत्रकर्मार्थत्वान्न पृथक्साधनमिति पृथङ्नाभिहिता। वित्तं च कर्मसाधनत्वान्न पृथक्साधनम्।

विद्याकर्मणोर्लोकजयहेतुत्वं स्वात्मप्रतिलाभेनैव भवतीति प्रसिद्धम्। पुत्रस्य त्वक्रियात्मकत्वात्केन प्रकारेण लोकजयहेतुत्वमिति न ज्ञायते। अतस्तद्वक्तव्यमित्यथानन्तरमारभ्यते—

इस प्रकार पुत्रकर्म और विद्यासंज्ञक तीन साधनोंका उनके साध्य लोकत्रयरूप फलके भेदसे विनियोग किया गया। स्त्री तो पुत्र और कर्मके लिये ही होनेके कारण कोई पृथक् साधन नहीं है; इसलिये उसका अलग वर्णन नहीं किया गया। वित्त भी कर्मका साधन होनेके कारण अलग साधन नहीं है।

विद्या और कर्म अपने स्वरूपकी निष्पत्ति होनेसे ही लोकजयके हेतु होते हैं—यह प्रसिद्ध है। किन्तु पुत्र अक्रियात्मक है। वह किस प्रकार लोकजयका हेतु होता है—यह नहीं जाना जाता। अतः वह बतलाना है, इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

अथातः सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं

यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता । ये वै के च यज्ञास्तेषा सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषा ँ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इद ँ सर्वमेतन्मा सर्व ँ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति । स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेन ँ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥

अब सम्प्रत्ति [कही जाती है—] जब पिता यह समझता है कि मैं मरनेवाला हूँ तो वह पुत्रसे कहता है—'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है।' वह पुत्र बदलेमें कहता है—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ।' जो कुछ भी स्वाध्याय है, उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी यज्ञ हैं, उनकी 'यज्ञ' यह एकता है। और जो कुछ भी लोक हैं, उनकी 'लोक' यह एकता है। यह इतना ही गृहस्थ पुरुषका सारा कर्तव्य है। [फिर पिता यह मानने लगता है कि] यह मेरे इस भारको लेकर इस लोकसे जानेपर मेरा पालन करेगा। अतः इस प्रकार अनुशासन किये हुए पुत्रको 'लोक्य' (लोकप्राप्तिमें हितकर) कहते हैं। इसीसे पिता उसका अनुशासन करता है। इस प्रकार जाननेवाला वह पिता जब इस लोकसे जाता है तो अपने उन्हीं प्राणोंके सहित पुत्रमें व्याप्त हो जाता है। यदि किसी कोणच्छिद्र (प्रमाद) से उस (पिता) के द्वारा कोई कर्तव्य नहीं किया होता है तो उस सबसे पुत्र उसे मुक्त कर देता है। इसीसे उसका नाम 'पुत्र' है। वह पिता पुत्रके द्वारा ही इस लोकमें प्रतिष्ठित होता है। फिर उसमें ये हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमृतप्राण प्रवेश करते हैं ॥ १७ ॥

सम्प्रत्तिः सम्प्रदानम्; सम्प्रत्तिरिति वक्ष्यमाणस्य कर्मणो नामधेयम्। पुत्रे हि स्वात्मव्यापारसम्प्रदानं करोत्यनेन प्रकारेण पिता, तेन सम्प्रत्तिसंज्ञकमिदं कर्म। तत्कस्मिन्काले कर्तव्यम्? इत्याह—स पिता यदा यस्मिन् काले प्रैष्यन् मरिष्यन् मरिष्यामीत्यरिष्टादिदर्शनेन मन्यते, अथ तदा पुत्रमाहूयाह— त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स एवमुक्तः पुत्रः प्रत्याह; स तु पूर्वमेवानुशिष्टो जानाति मयैतत्कर्तव्यमिति, तेनाह—अहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति। एतद्वाक्यत्रयम्।

'सम्प्रत्ति' सम्प्रदानको कहते हैं। 'सम्प्रत्ति' यह आगे कहे जानेवाले कर्मका नाम है। पिता पुत्रमें अपने व्यापारका इस प्रकारसे सम्प्रदान करता है, इसलिये यह कर्म 'सम्प्रत्ति' नामवाला है। उसे किस समय करना चाहिये? इसपर श्रुति कहती है—वह पिता जिस समय करनेको होता है अर्थात् अरिष्ट (मरणके पूर्वचिह्न) आदि देखकर यह समझता है कि 'अब मैं मरूँगा', उस समय पुत्रको बुलाकर इस प्रकार कहता है—'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है।' इस प्रकार कहे जानेपर वह पुत्र उत्तरमें कहता है। वह शिक्षित होनेके कारण पहलेसे ही जानता है कि मुझे यह करना चाहिये, इसलिये कहता है—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ।' ये तीन पृथक्-पृथक् वाक्य हैं।

एतस्यार्थस्तिरोहित इति मन्वाना श्रुतिर्व्याख्यानाय प्रवर्तते—यद्वै किञ्च यत्किञ्चावशिष्टमनूक्तमधीतमनधीतं च, तस्य सर्वस्यैव ब्रह्मेत्येतस्मिन्पदे एकता एकत्वम्, योऽध्ययनव्यापारो मम कर्तव्य आसीदेतावन्तं कालं

इन वाक्योंका अर्थ गूढ़ है—ऐसा समझकर श्रुति इसकी व्याख्या करनेके लिये प्रवृत्त होती है—जो कुछ भी अवशिष्ट—अनूक्त अर्थात् अध्ययन किया हुआ और अध्ययन नहीं किया हुआ है, उस सभीकी 'ब्रह्म' इस पदमें एकता है। तात्पर्य यह है कि जो वेदविषयक स्वाध्याय-कार्य इतने समयतक मेरे लिये कर्तव्य

वेदविषयः, स इत ऊर्ध्वं त्वं ब्रह्म त्वत्कर्तृकोऽस्त्वित्यर्थः ।

तथा ये वै के च यज्ञा अनुष्ठेयाः सन्तो मया अनुष्ठिताश्चाननुष्ठिताश्च, तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येतस्मिन्पदे एकतैकत्वम्, मत्कर्तृका यज्ञा य आसन्, ते इत ऊर्ध्वं त्वं यज्ञः—त्वत्कर्तृका भवन्त्वित्यर्थः। ये वै के च लोका मया जेतव्याः सन्तो जिता अजिताश्च, तेषां सर्वेषां लोक इत्येतस्मिन्पदे एकता। इत ऊर्ध्वं त्वं लोकस्त्वया जेतव्यास्ते। इत ऊर्ध्वं मयाध्ययनयज्ञलोकजयकर्तव्यक्रतुस्त्वयि समर्पितः, अहं तु मुक्तोऽस्मि कर्तव्यताबन्धनविषयात्क्रतोः। स च सर्वं तथैव प्रतिपन्नवान्पुत्रोऽनुशिष्टत्वात् ।

तत्रेमं पितुरभिप्रायं मन्वाना आचष्टे श्रुतिः—एतावद्वेतत्परिमाणं

था, वह आजके बादसे 'त्वं ब्रह्म'—त्वत्कर्तृक हो अर्थात् अब तू उसका करनेवाला हो ।

तथा मेरेद्वारा अनुष्ठेय (करनेयोग्य) जो कुछ भी अनुष्ठित (कृत) और अननुष्ठित (अकृत) यज्ञ थे, उन सब यज्ञोंकी ['त्वं यज्ञः' (तू यज्ञ है) इस वाक्यके] 'यज्ञः' पदमें एकता है। अर्थात् जो यज्ञ अबतक मेरेद्वारा किये जानेवाले थे। वे अब तेरेद्वारा किये जानेवाले हों। तथा जो कोई भी लोक मेरेद्वारा जीते जानेयोग्य होकर जीते गये अथवा नहीं जीते गये उन सब लोकोंकी ['त्वं लोकः' इस वाक्यके] 'लोकः' पदमें एकता है। अबसे आगे 'त्वं लोकः' (तू लोक है) अर्थात् वे लोक तेरेद्वारा जीते जानेयोग्य हों। आजसे आगेके लिये अध्ययन, यज्ञ और लोकजयसम्बन्धी कर्तव्यका संकल्प तुझे सौंप दिया, अब मैं इनकी कर्तव्यताके बन्धनविषयक संकल्पसे मुक्त हो गया। शिक्षित होनेके कारण उस पुत्रने भी सब उसी प्रकार समझ लिया।

यहाँ श्रुतिने यह बात पिताका ऐसा अभिप्राय मानकर कही है कि गृहस्थ पुरुषके लिये जो कर्तव्य है,

वै इदं सर्वं यद्गृहिणा कर्तव्यम्, यदुत वेदा अध्येतव्याः, यज्ञा यष्टव्याः, लोकाश्च जेतव्याः, । एतन्मा सर्वं सन्नयम्—सर्वं हीमं भारं मदधीनं मत्तोऽपच्छिद्य आत्मनि निधाय, इतोऽस्माल्लोकान्मा माम् अभुनजत्पालयिष्यतीति । लडर्थे लङ्, छन्दसि कालनियमाभावात् ।

वह इतना ही है कि वेदोंका अध्ययन करना चाहिये, यज्ञोंका यजन करना चाहिये और लोकोंपर जय प्राप्त करनी चाहिये। 'एतन्मा सर्वं सन्नयम्'—इत्यादिका अभिप्राय यों है कि यह (पुत्र) स्वयं ये सब कुछ होकर अर्थात् मेरे अधीन रहनेवाले इस सारे भारको मुझसे लेकर अपने ऊपर रखकर इस लोकसे जानेपर 'माम् अभुनजत्'—मेरा पालन करेगा। यहाँ लृट्के अर्थमें लङ् लकारका प्रयोग हुआ है; क्योंकि वेदमें कालका नियम नहीं है।[1]

1. 'अभुनजत्'—यह 'भुज' धातुकी लङ् लकारकी क्रिया है। लङ् लकार अनद्यतन भूतकालमें प्रयुक्त होता है; इसका पर्याय 'अपालयत्' और अर्थ पालन किया' ऐसा होना चाहिये। किंतु भाष्यकार उक्त क्रियाका पर्याय 'पालयिष्यति' लिखते हैं; 'पालयिष्यति' सामान्य भविष्य-वाची 'लृट्' लकारकी क्रिया है, इसके अनुसार 'अभुनजत्' का अर्थ 'पालन करेगा'—ऐसा होता है। प्रकरणके अनुसार ऐसा ही अर्थ होना सुसंगत भी है। परंतु भूतकालिक क्रियाका भविष्यकालिक अर्थ हो कैसे सकता है?—यह प्रश्न सामने आता है। इसका ही उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—'यहाँ 'लृट्' के अर्थमें 'लङ्' का प्रयोग समझना चाहिये; क्योंकि वेदमें कालका नियम नहीं होता।

परंतु इसका भाव यह नहीं समझना चाहिये कि 'वास्तवमें वेदमें कालका कोई निश्चित नियम ही नहीं है, सभी जगह विपरीत ही रूप मिलते हैं।' भाष्यकारके उक्त कथनका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि वेदमें भूत, वर्तमान और भविष्यका निश्चित स्वरूप होते हुए भी कहीं-कहीं इसमें व्यत्यय (वैपरीत्य) भी देखा जाता है; इसलिये यहाँ कालका व्यत्यय समझना चाहिये अर्थात् भविष्यकालके ही अर्थमें भूतकालकी क्रियाका यहाँ प्रयोग हुआ है—ऐसा मानना चाहिये। सूत्रकार महर्षि पाणिनिने 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इस सूत्रके द्वारा ऐसे स्थलोंका निर्देश किया है। व्यत्यय केवल कालका

यस्मादेवं सम्पन्नः पुत्रः पितरम् अस्माल्लोकात्कर्तव्यताबन्धनतो मोचयिष्यति, तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यं लोकहितं पितुराहुर्ब्राह्मणाः। अत एव ह्येनं पुत्रमनुशासति, लोक्योऽयं नः स्यादिति, पितरः।

क्योंकि इस प्रकार सम्पन्न (कर्तव्यभारसे युक्त) हुआ पुत्र पिताको इस लोकसे कर्तव्यताके बन्धनसे मुक्त करा देगा, इसलिये ब्राह्मणगण इस प्रकार अनुशिष्ट—सुशिक्षित किये गये पुत्रको लोक्य—पिताके लिये लोकमें हितकर बतलाते हैं। इसीलिये इस आशयसे कि 'यह हमारे लिये लोक्य हो' पितृगण इस पुत्रका अनुशासन करते हैं।

स पिता यदा यस्मिन्काले एवंवित्पुत्रसमर्पितकर्तव्यताक्रतुः, अस्माल्लोकात्प्रैति म्रियते, अथ तदैभिरेव प्रकृतैर्वाङ्मनःप्राणैः पुत्रमाविशति पुत्रं व्याप्नोति। अध्यात्मपरिच्छेदहेत्वपगमात् पितुर्वाङ्मनःप्राणाःस्वेन आधिदैविकेन रूपेण पृथिव्यग्न्याद्यात्मना भिन्नघटप्रदीपप्रकाशवत्सर्वमाविशन्ति।

इस प्रकार जाननेवाले पुत्रको जिसने अपनी कर्तव्यताका संकल्प सौंप दिया है वह पिता जिस समय इस लोकसे जाता है यानी मरता है तब वह इन प्रकृत वाक्, मन और प्राणोंसे ही पुत्रमें आविष्ट अर्थात् व्याप्त हो जाता है। अध्यात्मपरिच्छेदरूप हेतुकी निवृत्ति हो जानेके कारण पिताके वाक्, मन और प्राण अपने पृथिवी एवं अग्नि आदि आधिदैविक रूपसे फूटे हुए घड़ेके अन्तर्वर्ती दीपकके प्रकाशके समान सबमें व्याप्त

ही नहीं होता, विकरण, सुप्, तिङ्, पद, लिङ्ग और पुरुष आदिका भी होता है, जैसा कि निम्नाङ्कित कारिकासे सिद्ध होता है—'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन ॥' उपर्युक्त 'अभुनजत्' क्रियामें विकरणका भी व्यत्यय हुआ है, अन्यथा 'अभुनक्' रूप ही होना उचित है। यहाँ 'श्नम्' और 'शप्' दो विकरणोंके होनेसे 'अभुनजत्' रूप बना है।

तैः प्राणैः सह पिताप्याविशति, वाङ्मनःप्राणात्मभावित्वात्पितुः। अहमस्म्यनन्ता वाङ्मनःप्राणा अध्यात्मादिभेदविस्तारा इत्येवं-भावितो हि पिता। तस्मात्तत्प्राणानुवृत्तित्वं पितुर्भवतीति युक्तमुक्तम्—एभिरेव प्राणैः सह पुत्र-माविशतीति; सर्वेषां ह्यसावात्मा भवति पुत्रस्य च।

हो जाते हैं। उन प्राणोंके साथ पिता भी सबमें व्याप्त हो जाता है, क्योंकि वह तो वाक्, मन और प्राणका स्वरूपभूत ही है। पिताकी ऐसी भावना रही है कि 'मैं ही अध्यात्मादि भेद-विस्तारवाले अनन्त वाक्, मन और प्राण हूँ।' अतः पिताकी उन प्राणोंमें अनुवृत्ति होती है, इसलिये यह ठीक ही कहा है कि 'इन प्राणोंके साथ ही वह पुत्रमें व्याप्त होता है', क्योंकि वह सभीका और पुत्रका भी आत्मा हो जाता है।

एतदुक्तं भवति—यस्य पितुरेवमनुशिष्टः पुत्रो भवति सोऽस्मिन्नेव लोके वर्तते पुत्ररूपेण, नैव मृतो मन्तव्य इत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरे—"सोऽस्यायमितर आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यःप्रतिधीयते" (ऐ० उ० ४।४) इति।

इससे यह प्रतिपादित होता है कि जिस पिताका इस प्रकार अनुशासन किया हुआ पुत्र होता है, वह पुत्र-रूपसे इसी लोकमें विद्यमान रहता है, अर्थात् उसे मरा हुआ नहीं मानना चाहिये। ऐसा ही इस अन्य श्रुतिमें भी कहा है—"उसका यह दूसरा आत्मा पुण्य-कर्मोंके लिये प्रति-निधि बना दिया जाता है"[1] इत्यादि।

अथेदानीं पुत्रनिर्वचनमाह—स पुत्रो यदि कदाचिदनेन पित्रा अक्ष्णया कोणच्छिद्रतोऽन्तरा अकृतं भवति कर्तव्यम्, तस्मात्,

अब श्रुति पुत्रका निर्वचन (व्युत्पत्ति) बतलाती है—वह पुत्र, यदि कभी उसके इस पिताद्वारा 'अक्ष्णा'—'कोणच्छिद्र' (असावधानी) से बीचमें कोई कर्तव्य बिना किये

१. ऐतरेय उपनिषद्में इस मन्त्रका पाठ इस प्रकार है—सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा...।

कर्तव्यतारूपात्पित्रा अकृतात्सर्वस्माल्लोकप्राप्तिप्रतिबन्धरूपात्पुत्रो मुञ्चति मोचयति तत्सर्वं स्वयमनुतिष्ठन्पूरयित्वा। तस्मात्पूरणेन त्रायते स पितरं यस्मात्तस्मात्पुत्रो नाम। इदं तत्पुत्रस्य पुत्रत्वं यत्पितुश्छिद्रं पूरयित्वा त्रायते।

स पितैवंविधेन पुत्रेण मृतोऽपि सन्नमृतोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, एवमसौ पिता पुत्रेणेमं मनुष्यलोकं जयति। न तथा विद्याकर्मभ्यां देवलोकपितृलोकौ स्वरूपलाभसत्तामात्रेण; न हि विद्याकर्मणी स्वरूपलाभव्यतिरेकेण पुत्रवद्व्यापारान्तरापेक्षया लोकजयहेतुत्वं प्रतिपद्येते। अथ कृतसम्प्रत्तिकं पितरमेनमेते वागादयः प्राणा दैवा हैरण्यगर्भा अमृता अमरणधर्माण आविशन्ति ॥ १७ ॥

(अपूर्ण) ही रह जाता है तो वह पिताद्वारा नहीं किये हुए लोकप्राप्तिके प्रतिबन्धरूप उस समस्त कर्तव्यतारूप [बन्धन] से उस सबका स्वयं अनुष्ठान करते हुए उसकी पूर्ति करके पिताको मुक्त करा देता है। अतः वह पुत्र, चूँकि पूर्तिके द्वारा पिताका त्राण करता है, इसलिये 'पुत्र' कहलाता है। पुत्रका पुत्रत्व यही है कि वह पिताके छिद्रकी पूर्ति करके उसका त्राण करता है।

इस प्रकारके पुत्रके कारण वह पिता मरकर भी अमृत रहता है; अर्थात् इसी लोकमें विद्यमान रहता है। इस प्रकार पुत्रके द्वारा पिता इस मनुष्यलोकपर जय प्राप्त करता है। विद्या और कर्मके द्वारा जिस प्रकार वह देवलोक और पितृलोकपर उनके स्वरूपलाभकी सत्तामात्रसे विजय प्राप्त करता है, उस प्रकार इसे नहीं करता। विद्या और कर्म [देव और पितृलोकके] स्वरूपलाभके सिवा पुत्रके समान किसी व्यापारान्तरकी अपेक्षासे लोकजयके हेतु नहीं होते। फिर, जिसने सम्प्रत्तिकर्म किया है ऐसे उस पितामें ये वागादि देव—हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमृत—अमरण-धर्मा प्राण आविष्ट होते हैं ॥ १७ ॥

सम्प्रत्तिकर्मकर्त्तामें वागादि प्राणोंके आवेशका प्रकार

कथमिति वक्ष्यति पृथिव्यै चैनमित्यादि । एवं पुत्रकर्मापरविद्यानां मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाध्यार्थता प्रदर्शिता श्रुत्या स्वयमेव । अत्र केचिद्वावदूकाः श्रुत्युक्तविशेषार्थानभिज्ञाः सन्तः पुत्रादिसाधनानां मोक्षार्थतां वदन्ति । तेषां मुखापिधानं श्रुत्येदं कृतम्–जाया मे स्यादित्यादि पाङ्क्तं काम्यं कर्मेत्युपक्रमेण, पुत्रादीनां च साध्यविशेषविनियोगोपसंहारेण च । तस्मादृणश्रुतिरविद्वद्विषया न परमात्मविद्विषयेति सिद्धम् । वक्ष्यति च —"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (४ । ४ । २२) इति ।

पाङ्क्तकर्मणो मोक्षार्थत्वनिरासः

किस प्रकार आविष्ट होते हैं, सो 'पृथिव्यै चैनम्' इत्यादि श्रुति बतलावेगी । इस प्रकार श्रुतिने स्वयं ही पुत्र, कर्म और अपरा विद्याको मनुष्यलोक, पितृलोक एवं देवलोककी प्राप्तिके साधनरूपसे दिखलाया । यहाँ कुछ वाचाललोग श्रुतिप्रतिपादित विशेष अर्थको न समझकर पुत्रादि साधनोंकी मोक्षार्थता बतलाते हैं। परंतु श्रुतिने–'मेरे स्त्री हो' इत्यादि पाङ्क्त काम्य कर्म है—इस उपक्रमसे तथा पुत्रादिका [मनुष्यलोकादि] साध्यविशेषमें विनियोग करनारूप उपसंहारसे उनका मुख बंद कर दिया है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ऋणत्रयका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका अधिकारी अज्ञानी है, परमात्मवेत्ता नहीं । आगे श्रुति कहेगी भी कि "हम, जिनका यह आत्मा ही लोक है, प्रजासे क्या करेंगे ?" इत्यादि ।

केचित्तु पितृलोकदेवलोकजयोऽपि पितृलोकदेवलोकाभ्यां व्यावृत्तिरेव; तस्मात्पुत्रकर्मापरविद्याभिः समुचित्यानुष्ठिताभिस्त्रिभ्य एते-

समुच्चयवादनिराकरणम्

किन्हीं-किन्हींका मत है कि पितृलोक और देवलोकको जीतना भी पितृलोक और देवलोकसे निवृत्त होना ही है । अतः समुच्चयपूर्वक [अर्थात् एक साथ] अनुष्ठान किये हुए पुत्र, कर्म और अपराविद्याद्वारा

भ्यो लोकेभ्यो व्यावृत्तः परमात्मविज्ञानेन मोक्षमधिगच्छतीति परम्परया मोक्षार्थान्येव पुत्रादिसाधनानीच्छन्ति । तेषामपि मुखापिधानायेयमेव श्रुतिरुत्तरा कृतसम्प्रत्तिकस्य पुत्रिणः कर्मिणः अन्नात्मविद्याविदः फलप्रदर्शनाय प्रवृत्ता ।

इन तीनों लोकोंसे निवृत्त हुआ पुरुष परमात्मज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है; इस प्रकार उनका मत है कि पुत्रादि साधन भी परम्परासे मोक्षके ही लिये हैं। उनका भी मुख बंद करनेके लिये यह आगेकी श्रुति, जिसने सम्प्रत्ति-कर्म किया है, उस पुत्रवान्, कर्मठ एवं अन्नात्मविद्याके ज्ञाताको मिलनेवाला फल बतलानेके लिये प्रवृत्त होती है।

न चेदमेव फलं मोक्षफलमिति शक्यं वक्तुम्, अन्नसम्बन्धात्, मेधातपःकार्यत्वाच्चान्नानाम्, 'पुनः पुनर्जनयते' इति दर्शनात्; 'यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह' इति च क्षयश्रवणात्। शरीरं ज्योतीरूपमिति च कार्यकरणत्वोपपत्तेः। 'अयं वा इदम्' इति च नामरूपकर्मात्मकत्वेनोपसंहारात्।

और यह कहा नहीं जा सकता कि यह फल ही मोक्षफल है; क्योंकि इसका अन्नत्रयसे सम्बन्ध है और अन्न मेधा एवं तपके कार्य हैं, कारण 'वह इन्हें पुनः-पुनः उत्पन्न करता है' ऐसा श्रुतिका वचन देखा जाता है तथा 'यदि वह इन्हें उत्पन्न न करे तो ये क्षीण हो जायँ' इस प्रकार इनका क्षय भी सुना गया है। एवं शरीर और ज्योतीरूप बतलाकर इनके कार्यत्व और करणत्वकी भी उपपत्ति दिखायी गयी है और 'अयं वा इदम्' ऐसा कहकर नाम-रूप-कर्मात्मक रूपसे इनका उपसंहार किया है।

न चेदमेव साधनत्रयं संहतं सत्कस्यचिन्मोक्षार्थं कस्यचित्

इस एक ही वाक्यसे ऐसा भी नहीं जाना जा सकता कि ये तीनों साधन मिलकर किसीके मोक्षके लिये

ऽयन्नात्मफलमित्यस्मादेव वाक्यादवगन्तुं शक्यम्, पुत्रादिसाधनानां ऽयन्नात्मफलदर्शनेनैवोपक्षीणत्वाद् वाक्यस्य ।

होते हैं और किसीके लिये ऽयन्नात्मरूप फलवाले होते हैं, क्योंकि पुत्रादि साधनोंका ऽयन्नात्मफल दिखाते हुए ही यह वाक्य समाप्त होता है ।

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

पृथिवी और अग्निसे इसमें दैवी वाक्का आवेश होता है । दैवी वाक् वही है, जिससे पुरुष जो-जो भी बोलता है, वही-वही हो जाता है ॥१८॥

पृथिव्यै पृथिव्याः च एनम् अग्नेश्च दैवी अधिदैवात्मिका वागेनं कृतसम्प्रत्तिकमाविशति । सर्वेषां हि वाच उपादानभूता दैवी वाक्पृथिव्यग्निलक्षणा, सा ह्याध्यात्मिकासङ्गादिदोषैर्निरुद्धा । विदुषस्तद्दोषापगमे आवरणभङ्ग इवोदकप्रदीपप्रकाशवच्च व्याप्नोति । तदेतदुच्यते—पृथिव्या अग्नेश्चैनं दैवी वागाविशतीति ।

पृथिवी और अग्निसे इस सम्प्रत्तिकर्म करनेवालेमें दैवी—आधिदैविक वाक्का आवेश होता है । पृथिवी और अग्निरूपा दैवी वाक् सभीकी वाणीका उपादानभूता है, निश्चय ही वह आध्यात्मिक (दैहिक) आसक्ति आदि दोषोंसे आवृत्त है, किंतु आवरण (व्यवधान) के निवृत्त होनेपर जैसे जल और प्रकाश फैल जाते हैं उसी प्रकार विद्वान्के उस (आध्यात्मिक आसक्तिरूप) दोषके निवृत्त हो जानेपर वह उसमें आविष्ट हो जाती है । इसीसे यह कहा है कि उसमें पृथिवी और अग्निसे दैवी वाक्का आवेश होता है ।

सा च दैवी वागनृतादिदोषरहिता शुद्धा, यया वाचा दैव्या यद्यदेव आत्मने परस्मै वा वदति

वह दैवी वाक् अनृतादि दोषसे रहित और शुद्ध होती है, जिस दैवी वाणीसे वह अपने या दूसरेके लिये जो-

तत्तद् भवति, अमोघा अप्रतिबद्धा अस्य वाग्भवतीत्यर्थः ॥१८॥

जो कहता है वही-वही हो जाता है। अर्थात् इसकी वाणी अमोघ—प्रतिबन्धरहित हो जाती है ॥ १८ ॥

तथा—

तथा—

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १९ ॥

द्युलोक और आदित्यसे इसमें दैव मनका आवेश हो जाता है। दैव मन वही है, जिससे यह आनन्दी ही होता है, कभी शोक नहीं करता ॥ १९ ॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति—तच्च दैवं मनः; स्वभावनिर्मलत्वात्; येन मनसा असौ आनन्द्येव भवति सुख्येव भवति; अथो अपि न शोचति, शोकादिनिमित्तासंयोगात् ॥१९॥

द्युलोक और आदित्यसे इसमें दैव मन आविष्ट हो जाता है। स्वभावसे ही निर्मल होनेके कारण दैव मन वही है, जिस मनसे यह आनन्दी—सुखी ही होता है और शोकादिके कारणोंका संयोग न होनेसे कभी शोक नहीं करता ॥ १९ ॥

तथा—

तथा—

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरꣳश्चासञ्चरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति। स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति। यथैषा देवतैवꣳस यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किञ्चेमाः प्रजाः

शोचन्त्यमैवासां तन्द्रवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति ॥ २० ॥

जल और चन्द्रमासे इसमें दैव प्राणका आवेश हो जाता है। दैव प्राण वही है जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। वह इस प्रकार जाननेवाला समस्त भूतोंका आत्मा हो जाता है जैसा यह देवता (हिरण्यगर्भ) है, वैसा ही वह हो जाता है। जिस प्रकार समस्त प्राणी इस देवताका पालन करते हैं, उसी प्रकार ऐसी उपासना करनेवालेका समस्त भूत पालन करते हैं। जो कुछ ये प्रजाएँ शोक करती हैं, वह (शोकादि-जनित दुःख) उन्हींके साथ रहता है। इसे तो पुण्य ही प्राप्त होता है, क्योंकि देवताओंके पास पाप नहीं जाता ॥ २० ॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति। स वै दैवः प्राणः किँलक्षणः? इत्युच्यते—यःसञ्चरन् प्राणिभेदेष्वसञ्चरन्समष्टिव्यष्टि-रूपेण—अथवा सञ्चरन् जङ्गमेषु असञ्चरन्स्थावरेषु, न व्यथते न दुःखनिमित्तेन भयेन युज्यते। अथो अपि न रिष्यति न विनश्यति न हिंसामापद्यते।

जल और चन्द्रमासे इसमें दैव प्राण आविष्ट हो जाता है। वह दैव प्राण किन लक्षणोंवाला है? सो बतलाया जाता है—जो समष्टि और व्यष्टिरूपसे प्राणियोंमें सञ्चार करता हुआ और सञ्चार न करता हुआ अथवा जङ्गमोंमें सञ्चार करता हुआ और स्थावरोंमें सञ्चार न करता हुआ, व्यथित यानी दुःख-निमित्तक भयसे युक्त नहीं होता और न रेष—विनाश अर्थात् हिंसा-को ही प्राप्त होता है।

सः—यो यथोक्तमेवं वेत्ति त्र्यन्नात्मदर्शनं सः—सर्वेषां भूतानामात्मा भवति, सर्वेषां भूतानां प्राणो भवति, सर्वेषां भूतानां मनो

जो इस उपर्युक्त त्र्यन्नात्मदर्शनको जानता है, वह समस्त भूतोंका आत्मा हो जाता है, समस्त भूतोंका प्राण हो जाता है, समस्त भूतोंका मन हो

भवति, सर्वेषां भूतानां वाग्भवति—इत्येवं सर्वभूतात्मतया सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः; सर्वकृच्च । यथैषा पूर्वसिद्धा हिरण्यगर्भदेवता एवमेव नास्य सर्वज्ञत्वे सर्वकृत्त्वे वा क्वचित्प्रतिघातः । स इति दार्ष्टान्तिकनिर्देशः । किञ्च यथैतां हिरण्यगर्भदेवतामिज्यादिभिः सर्वाणि भूतान्यवन्ति पालयन्ति पूजयन्ति, एवं ह एवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति—इज्यादिलक्षणां पूजां सततं प्रयुञ्जत इत्यर्थः ।

जाता है और समस्त भूतोंकी वाक् हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार सर्वभूतात्मरूपसे वह सर्वज्ञ हो जाता है तथा सर्वकर्ता भी हो जाता है। जैसा कि यह पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ देवता है, उसी प्रकार इसके सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्वमें भी कभी प्रतिघात नहीं होता। 'सः' इस शब्दसे दार्ष्टान्तिकका निर्देश किया गया है। तथा जिस प्रकार इस हिरण्यगर्भ-देवताका समस्त प्राणी यज्ञादिसे पालन—पूजन करते हैं, उसी प्रकार ऐसी उपासना करनेवालेका समस्त प्राणी पालन करते हैं अर्थात् उसके लिये निरन्तर यज्ञादि पूजाका प्रयोग करते हैं।

अथेदमाशङ्क्यते—सर्वप्राणिनामात्मा भवतीत्युक्तम्, तस्य च सर्वप्राणिकार्यकरणात्मत्वे सर्वप्राणिसुखदुःखैः सम्बध्येतेति ।

यहाँ यह शङ्का की जाती है—ऊपर यह बतलाया गया है कि वह समस्त प्राणियोंका आत्मा हो जाता है। इस प्रकार समस्त प्राणियोंके देह और इन्द्रियरूप हो जानेसे तो उसका सब प्राणियोंके सुख-दुःखसे भी सम्बन्ध होगा ही।

तन्न, अपरिच्छिन्नबुद्धित्वात् परिच्छिन्नात्मबुद्धीनां ह्याक्रोशादौ दुःखसम्बन्धो दृष्टः—अनेनाहमा-

किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह अपरिच्छिन्न बुद्धिवाला हो जाता है। जिनकी परिच्छिन्नात्मबुद्धि होती है, उन्हींको गाली आदि देनेपर यह सोचकर कि इसने मुझे गाली दी है, दुःखका सम्बन्ध होता देखा गया है।

क्रुष्ट इति। अस्य तु सर्वात्मनो य आक्रुश्यते यश्चाक्रोशति तयोरात्मत्वबुद्धिविशेषाभावान्न तन्निमित्तं दुःखमुपपद्यते। मरणदुःखवच्च निमित्ताभावात् यथा हि कस्मिंश्चिन्मृते कस्यचिद् दुःखमुत्पद्यते—ममासौ पुत्रो भ्राता चेति, पुत्रादिनिमित्तम्; तन्निमित्ताभावे तन्मरणदर्शिनोऽपि नैव दुःखमुपजायते, तथेश्वरस्याप्यपरिच्छिन्नात्मनो ममत्वतादिदुःखनिमित्तमिथ्याज्ञानादिदोषाभावान्नैव दुःखमुपजायते।

तदेतदुच्यते—यदु किञ्च यत् किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैव सहैव प्रजाभिस्तच्छोकादिनिमित्तं दुःखं संयुक्तं भवत्यासां प्रजानां परिच्छिन्नबुद्धिजनितत्वात्। सर्वात्मनस्तु केन सह किं संयुक्तं भवेद्वियुक्तं वा? अमुं तु प्राजापत्ये पदे वर्तमानं पुण्यमेव शुभमेव—

इस सर्वात्माको तो, जिसे गाली दी जाती है और जो गाली देता है, उन दोनोंके प्रति आत्मत्वबुद्धिमें कोई भेद न होनेके कारण उसे तज्जनित दुःख होना सम्भव ही नहीं है। जिस प्रकार कि कोई निमित्त न होनेसे मरण-दुःख भी नहीं होता। जैसे [लोकमें] किसीके मर जानेसे किसीको 'यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भाई है' ऐसा सोचकर पुत्रादिके कारण दुःख उत्पन्न होता है तथा वैसा निमित्त न होनेपर उसकी मृत्युको देखनेवालेको भी दुःख नहीं होता उसी प्रकार मैं-तेरेपन आदि दुःखके निमित्त और मिथ्या ज्ञानादि दोषका अभाव होनेके कारण अपरिच्छिन्नरूप ईश्वरको भी दुःख नहीं होता।

इसीसे यह कहा जाता है—जो कुछ भी ये प्रजाएँ शोक करती हैं, वह शोकादिजनित दुःख उन प्रजाओंके साथ ही संयुक्त रहता है, क्योंकि वह इन प्रजाओंकी परिच्छिन्न बुद्धिसे पैदा होता है। किंतु जो सर्वात्मा है, उसके लिये वह किसके साथ संयुक्त या वियुक्त होगा? इस प्राजापत्यपदपर वर्तमान विद्वान्को तो पुण्य ही प्राप्त होता है। यहाँ शुभ

फलमभिप्रेतं पुण्यमिति—निरतिशयं हि तेन पुण्यं कृतम्; तेन तत्फलमेव गच्छति। न ह वै देवान्पापं गच्छति, पापफलस्यावसराभावात् पापफलं दुःख न गच्छतीत्यर्थः ॥ २० ॥

कर्मका फल ही पुण्यरूपसे अभिप्रेत है। उसने अत्यन्त पुण्य किया होता है, इसलिये उसे उसीका फल प्राप्त होता है। पापफलका अवसर न होनेके कारण देवताओंके पास पाप नहीं जाता अर्थात् उन्हें पापका फलरूप दुःख प्राप्त नहीं होता ॥ २० ॥

व्रतमीमांसा—अध्यात्मप्राणदर्शन

'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' इत्यविशेषेण वाङ्मनःप्राणानामुपासनमुक्तम्, नान्यतमगतो विशेष उक्तः। किमेवमेव प्रतिपत्तव्यम्? किं वा विचार्यमाणे कश्चिद्विशेषो व्रतमुपासनं प्रति प्रतिपत्तुं शक्यते? इत्युच्यते—

'वे ये सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं' इस मन्त्रमें वाक्, मन और प्राणकी उपासना सामान्यरूपसे बतायी गयी है। उनमेंसे एक-एककी कोई विशेषता नहीं बतलायी गयी। सो क्या ऐसा ही समझना चाहिये? अथवा विचार करनेपर व्रत—उपासनाके विषयमें उनमें परस्पर कोई विशेषता जानी जा सकती है? यही अब बतलाया जाता है—

अथातो व्रतमीमा\u0db8्सा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्छ्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नो-

योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरꣳश्चासञ्चरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्॥ २१॥

अब यहाँसे व्रतका विचार किया जाता है। प्रजापतिने कर्मों (कर्मके साधनभूत वागादि करणों) की रचना की। रचे जानेपर वे एक दूसरेसे स्पर्धा करने लगे। वाक्ने व्रत किया कि 'मैं बोलती ही रहूँगी' तथा 'मैं देखता ही रहूँगा' ऐसा नेत्रने और 'मैं सुनता ही रहूँगा' ऐसा श्रोत्रने व्रत किया। इसी प्रकार अपने-अपने कर्मके अनुसार अन्य इन्द्रियोंने भी व्रत किया तब मृत्युने श्रम होकर उनसे सम्बन्ध किया और उनमें व्याप्त हो गया। उनमें व्याप्त होकर मृत्युने उनका अवरोध किया, इसीसे वाक् श्रमित होती ही है, नेत्र श्रमित होता ही है, श्रोत्र श्रमित होता ही है। किंतु यह जो मध्यम प्राण है, इसीमें वह व्याप्त न हो सका। तब उन इन्द्रियोंने उसे जाननेका निश्चय किया। निश्चय यही हममें श्रेष्ठ है, जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न क्षीण ही होता है। अच्छा, हम सब भी इसीके रूप हो जायँ—ऐसा निश्चय कर वे सब इसीके रूप हो गयीं। अतः वे इसीके नामसे 'प्राण' इस प्रकार कही जाती हैं, इसीसे जो ऐसा जानता है, वह जिस कुलमें होता है, वह कुल उसीके नामसे बोला जाता है तथा जो ऐसे विद्वान्से स्पर्धा करता है, वह सूख जाता है और सूखकर अन्तमें मर जाता है। यह अध्यात्मप्राणदर्शन है॥ २१॥

अथातोऽनन्तरं व्रतमीमांसा उपासनकर्मविचारणेत्यर्थः। एषां प्राणानां कस्य कर्म व्रतत्वेन

अब यहाँसे आगे व्रतमीमांसा अर्थात् उपासना-कर्मका विचार किया जाता है। यानी इन प्राणोंमेंसे किस

धारयितव्यमिति मीमांसा प्रवर्तते। तत्र प्रजापतिर्ह—हशब्दः किलार्थे—प्रजापतिः किल प्रजाः सृष्ट्वा कर्माणि करणानि वागादीनि—कर्मार्थानि हि तानीति कर्माणीत्युच्यन्ते —ससृजे सृष्टवान्वागादीनि करणानीत्यर्थः।

तानि पुनः सृष्टान्यन्योन्येन इतरेतरमस्पर्धन्त स्पर्धां संघर्षं चक्रुः। कथम्? वदिष्याम्येव स्वव्यापाराद्वदनादनुपरतैवाहं स्यामिति वाग्व्रतं दध्रे धृतवती—यद्यन्योऽपि मत्समोऽस्ति स्वव्यापारादनुपरन्तुं शक्तः, सोऽपि दर्शयत्वात्मनो वीर्यमिति। तथा द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः,श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्; एवमन्यानि कर्माणि करणानि यथाकर्म—यद्यस्य कर्म यथाकर्म।

तानि करणानि मृत्युर्मारकः श्रमः श्रमरूपी भूत्वा उपयेमे सञ्जग्राह। कथम्? तानि कर-

प्राणके कर्मको व्रतरूपसे धारण करना चाहिये ? इस वातका विचार आरम्भ होता है। तहाँ प्रजापतिने प्रजाकी रचना कर कर्मोंकी अर्थात् वागादि करणोंकी रचना की—यह प्रसिद्ध है। यहाँ 'ह' शब्द 'किल' यानी प्रसिद्धिके अर्थमें है। कर्मके साधन होनेके कारण उन्हें (वागादि-करणोंको) 'कर्म' कहा गया है।

उन रची हुई इन्द्रियोंने एक दूसरीसे स्पर्धा की—परस्पर संघर्ष किया। किस प्रकार स्पर्धा की ? 'मैं बोलती ही रहूँगी अर्थात् अपने भाषणरूप व्यापारसे निवृत्त होऊँगी ही नहीं' ऐसा व्रत वाक्ने धारण किया; इससे उसका यह अभिप्राय था कि यदि मेरे समान कोई और भी अपने व्यापारसे अलग न रहनेमें समर्थ हो तो वह भी अपना पुरुषार्थ दिखलावे। तथा 'मैं देखता ही रहूँगा' ऐसा चक्षुने और 'मैं सुनता ही रहूँगा' ऐसा श्रोत्रने निश्चय किया। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंने भी यथाकर्म—जिनका जो कर्म था उसके अनुसार व्रत धारण किया।

उन इन्द्रियोंको मृत्यु यानी मारकने श्रम-श्रमरूपी होकर पकड़ा। किस प्रकार पकडा ? उसने अपने-

णानि स्वव्यापारे प्रवृत्तान्याप्नोत्, श्रमरूपेणात्मानं दर्शितवान्। आप्त्वा च तान्यवारुन्ध अवरोधं कृतवान्मृत्युः—स्वकर्मभ्यः प्रच्यावितवानित्यर्थः। तस्माद्यत्वेऽपि वदने स्वकर्मणि प्रवृत्ता वाक् श्राम्यत्येव श्रमरूपिणा मृत्युना संयुक्ता स्वकर्मतः प्रच्यवते। तथा श्राम्यति चक्षुः, श्राम्यति श्रोत्रम्।

अपने व्यापारमें लगी हुई उन इन्द्रियोंको व्याप्त किया; अर्थात् श्रम (थकावट) रूपसे अपनेको दिखलाया। तथा उन्हें व्याप्त करके मृत्युने उनका अवरोध किया—अपने-अपने कर्मोंसे च्युत कर दिया। इसलिये आजकल भी अपने व्यापार—भाषणमें प्रवृत्त हुई वाक् श्रमित होती ही है—श्रमरूप मृत्युसे संयुक्त होनेके कारण वह अपने कर्मसे च्युत हो जाती है। इसी प्रकार नेत्रेन्द्रिय भी श्रमित होती है तथा श्रोत्रेन्द्रिय भी श्रमित होती है।

अथेममेव मुख्यं प्राणं नाप्नोन्न प्राप्तवान्मृत्युः श्रमरूपी, योऽयं मध्यमः प्राणस्तम्। तेनाद्यत्वेऽप्यश्रान्त एव स्वकर्मणि प्रवर्तते। तानीतराणि करणानि तं ज्ञातुं दध्रिरे धृतवन्ति मनः।

किंतु इस मुख्य प्राणको—जो यह मध्यम प्राण है, उसको ही श्रमरूपी मृत्युने व्याप्त नहीं किया, वह उसके पासतक नहीं पहुँचा। इसलिये इस समय भी वह श्रमरहित होकर ही अपने कर्ममें प्रवृत्त रहता है। उन अन्य इन्द्रियोंने उसे जाननेके लिये मनमें निश्चय किया।

अयं वै नोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठः प्रशस्यतमोऽभ्यधिकः, यस्माद्यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति—हन्तेदानीमस्यैव प्राणस्य सर्वे वयं रूपमसाम प्राणमात्मत्वेन प्रतिपद्येमहि—एवं

'निश्चय हम सबमें यही श्रेष्ठ अर्थात् सबसे अधिक प्रशंसनीय है, क्योंकि यह सञ्चार करते हुए और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न हिंसित ही होता है। अच्छा, अब हम सब भी इस प्राणके ही रूप हो जायँ अर्थात् प्राणको आत्मभावसे प्राप्त हो जायँ'—ऐसा

विनिश्चित्य ते एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्; प्राणरूपमेवात्मत्वेन प्रतिपन्नाः, प्राणव्रतमेव दध्रिरे—अस्मद्व्रतानि न मृत्योर्वारणाय पर्याप्तानीति।

निश्चय कर वे सब इस प्राणका ही स्वरूप हो गयीं—आत्मभावसे प्राणरूपको ही प्राप्त हो गयीं अर्थात् यह सोचकर कि हमारे व्रत मृत्युको हटानेमें समर्थ नहीं हैं, उन्होंने प्राणका ही व्रत धारण कर लिया।

यस्मात्प्राणेन रूपेण रूपवन्तीतराणि करणानि चलनात्मना स्वेन च प्रकाशात्मना; न हि प्राणादन्यत्र चलनात्मकत्वोपपत्तिः; चलनव्यापारपूर्वकाण्येव हि सर्वदा स्वव्यापारेषु लक्ष्यन्ते; तस्मादेते वागादय एतेन प्राणाभिधानेन आख्यायन्तेऽभिधीयन्ते प्राणा इत्येवम्।

क्योंकि अन्य इन्द्रियाँ प्राणके चलनात्मक रूपसे और अपने प्रकाशात्मक रूपसे ही रूपवती हैं; कारण प्राणके सिवा किसी अन्य इन्द्रियमें चलनात्मकत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती और ये सर्वदा चलनव्यापारपूर्वक ही अपने व्यापारोंमें प्रवृत्त होती दिखायी देती हैं; इसलिये ये वागादि इन्द्रियाँ इस प्राणके नामसे ही 'प्राण' इस प्रकार कहकर पुकारी जाती हैं।

य एवं प्राणात्मतां सर्वकरणानां वेत्ति प्राणशब्दाभिधेयत्वं च, तेन ह वाव तेनैव विदुषा तत्कुलमाचक्षते लौकिकाः। यस्मिन्कुले स विद्वाञ्जातो भवति तत्कुलं विद्वन्नाम्नैव प्रथितं भवत्यमुष्येदं कुलमिति, यथा तापत्य[1] इति।

जो इस प्रकार समस्त इन्द्रियोंकी प्राणरूपता और 'प्राण' शब्दद्वारा पुकारा जाना जानता है, उसीसे अर्थात् उस विद्वान्‌के द्वारा ही लौकिक पुरुष उसके कुलको पुकारते हैं। अर्थात् वह विद्वान् जिस कुलमें उत्पन्न होता है वह कुल उस विद्वान्‌के नामसे ही प्रसिद्ध होता है कि यह कुल अमुकका है, जैसे तापत्य। जो इस प्रकार

१. तपती सूर्यदेवकी कन्या थी; वह चन्द्रवंशी राजा संवरणको बिवाही गयी थी। उसका वंश उसके नामानुसार 'तापत्य' कहलाया।

य एवं यथोक्तं वेद वागादीनां प्राणरूपतां प्राणाख्यत्वं च तस्यैतत्फलम् ।

किञ्च यः कश्चिदु हैवंविदा प्राणात्मदर्शिना स्पर्धते तत्प्रतिपक्षी सन्, सोऽस्मिन्नेव शरीरेऽनुशुष्यति शोषमुपगच्छति । अनुशुष्य हैव शोषं गत्वैव अन्ततोऽन्ते म्रियते न सहसानुपद्रुतो म्रियते इत्येवमुक्तमध्यात्मं प्राणात्मदर्शनमित्युक्तोपसंहारोऽधिदैवतप्रदर्शनार्थः ॥ २१ ॥

उपर्युक्त वागादिकी प्राणरूपता और प्राणसंज्ञकताको जानता है, उसे यह फल प्राप्त होता है ।

तथा जो कोई भी इस प्रकार जाननेवाले प्राणात्मदर्शीसे उसका प्रतिपक्षी होकर स्पर्धा करता है वह इसी शरीरमें 'अनुशुष्यति'—सूख जाता है । और सूखकर—शोषको प्राप्त होकर ही अन्तमें मर जाता है । वह बिना किसी उपद्रवके सहसा नहीं मरता । इस प्रकार यह अध्यात्मप्राणात्मदर्शन कहा—यह श्रुत्युक्त उपसंहार आगे आधिदैविक दर्शनको प्रदर्शित करनेके लिये है ॥ २१ ॥

अधिदैवदर्शन

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथा दैवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

अब अधिदैवदर्शन कहा जाता है—अग्निने व्रत किया कि 'मैं जलता ही रहूँगा', सूर्यने नियम किया, 'मैं तपता ही रहूँगा' तथा चन्द्रमाने निश्चय किया, 'मैं प्रकाशित ही होता रहूँगा ।' इसी प्रकार अन्य देवताओंने भी यथादैवत (जिस देवताका जो व्यापार था, उसीके अनुसार) व्रत किया । जिस प्रकार इन वागादि प्राणोंमें मध्यम प्राण है, उसी प्रकार इन देवताओंमें वायु है, क्योंकि अन्य देवगण तो अस्त हो जाते हैं; किंतु वायु अस्त नहीं होता । यह जो वायु है, अस्त न होनेवाला देवता है ॥ २२ ॥

अथानन्तरम् अधिदैवतं देवताविषयं दर्शनमुच्यते। कस्य देवताविशेषस्य व्रतधारणं श्रेयः ? इति मीमांस्यते। अध्यात्मवत्सर्वम्। ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे। तप्स्याम्यहमित्यादित्यः; भास्याम्यहमिति चन्द्रमाः; एवमन्या देवता यथादैवतम्।

सोऽध्यात्मं वागादीनामेषां प्राणानां मध्ये मध्यमः प्राणो मृत्युना अनाप्तः स्वकर्मणो न प्रच्यावितः स्वेन प्राणव्रतेनाभग्नव्रतो यथा; एवमेतासामग्न्यादीनां देवतानां वायुरपि। म्लोचन्त्यस्तं यन्ति स्वकर्मभ्य उपरमन्ते—यथाध्यात्मं वागादयोऽन्या देवता अग्न्याद्याः, न वायुरस्तं याति-यथा मध्यमः प्राणः; अतः सैषा अनस्तमिता देवता यद्वायुर्योऽयं वायुः। एवमध्यात्ममधिदैवं च मीमांसित्वा निर्धारितम्—

अब आगे अधिदैवत—देवताविषयक दर्शन कहा जाता है। अर्थात् इस बातका विचार किया जाता है कि किस देवताविशेषका व्रत धारण करना श्रेष्ठ है। अध्यात्मदर्शनके समान यहाँ भी सब प्रसङ्ग समझना चाहिये। 'मैं जलता ही रहूँगा' ऐसा अग्निने व्रत धारण किया। 'मैं तपता ही रहूँगा' ऐसा आदित्यने और 'मैं प्रकाशित ही होता रहूँगा' ऐसा चन्द्रमाने नियम कर लिया। इसी प्रकार यथादैवत अन्य देवताओंने भी व्रत धारण किया।

उन वागादि अध्यात्म प्राणोंमें जैसे मध्यम प्राण मृत्युसे ग्रस्त नहीं हुआ, अपने कर्मसे च्युत नहीं किया गया, अपने प्राणव्रत [के पालन] से उसका व्रत भंग नहीं हुआ; उसी प्रकार इन अग्नि आदि देवताओंमें वायु रहा, क्योंकि वागादि अध्यात्म प्राणोंके समान अग्नि आदि अन्य देवगण अस्त होते अर्थात् अपने कर्मोंसे निवृत्त होते हैं, किंतु वायु अस्त नहीं होता, जैसे मध्यम प्राण; अतः यह जो वायु है वह अनस्तमित (कभी अस्त न होनेवाला) देवता है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवसम्बन्धी विचार करके यह निश्चय किया गया है कि

प्राणवाय्वात्मनो व्रतमभग्नमिति ॥ २२ ॥	प्राणरूप और वायुरूप हुए उपासकों-का व्रत अभग्न रहता है ॥ २२ ॥

प्राणव्रतकी स्तुतिमें मन्त्र

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मँ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यँ सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

इसी अर्थका प्रतिपादक यह मन्त्र है—'जिस (वायुदेवता) से सूर्य उदय होता है और जिसमें वह अस्त होता है' इत्यादि। यह प्राणसे ही उदित होता है और प्राणमें ही अस्त हो जाता है। उस धर्मको देवताओंने किया है। वही आज है और वही कल भी रहेगा। देवताओंने जो व्रत उस समय धारण किया था वही आज भी करते हैं। अतः एक ही व्रतका आचरण करे। प्राण और अपानव्यापार करे। मुझे कहीं पापी मृत्यु व्याप्त न कर ले—इस भयसे [इस व्रतका आचरण करे]। और यदि इसका आचरण करे तो इसे समाप्त करनेकी भी इच्छा रखे। इससे वह इस देवतासे सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

अथैतस्यैवार्थस्य प्रकाशक एष श्लोको मन्त्रो भवति। यतश्च यस्माद्वायोरुदेत्युद्गच्छति सूर्यः, अध्यात्मं च चक्षुरात्मना प्राणाद् अस्तं च यत्र वायौ प्राणे च गच्छ-त्यपरसंध्यासमये स्वापसमये च	इसी अर्थका प्रकाशक यह श्लोक यानी मन्त्र है—जहाँसे अर्थात् जिस वायुसे सूर्य उदित होता है तथा अध्यात्मपक्षमें जिस प्राणसे वह चक्षु-रूपसे उदित होता है और जहाँ—वायु और प्राणमें सायंकाल एवं पुरुषकी सुषुप्तिके समय वह अस्त हो

पुरुषस्य, तं देवास्तं धर्मं देवाश्चक्रिरे धृतवन्तो वागादयोऽग्न्यादयश्च प्राणव्रतं वायुव्रतं च पुरा विचार्य। स एवाद्येदानीं श्वोऽपि भविष्यत्यपि कालेऽनुवर्त्यतेऽनुवर्तिष्यते च देवैरित्यभिप्रायः।

जाता है, उस धर्मको देवताओंने किया—धारण किया; अर्थात् वागादि इन्द्रियोंने और अग्न्यादि देवताओंने पूर्वकालमें विचार कर क्रमशः प्राणव्रत और वायुव्रत धारण किया। वही आज इस समय अनुवर्तित होता है और कल भविष्यकालमें भी देवताओंद्वारा उसीका अनुवर्तन किया जायगा—ऐसा इसका अभिप्राय है।

तत्रेमं मन्त्रं संक्षेपतो व्याचष्ट ब्राह्मणम्—प्राणाद्वा एष सूर्य उदेति प्राणेऽस्तमेति। तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इत्यस्य कोऽर्थः? इत्युच्यते—यद्वै एते व्रतमधुर्हि अमुष्मिन्काले वागादयोऽग्न्यादयश्च प्राणव्रतं वायुव्रतं चाध्रियन्त, तदेवाद्यापि कुर्वन्त्यनुवर्तन्तेऽनुवर्तिष्यन्ते च। व्रतं तैरभग्नमेव। यत्तु वागादिव्रतमग्न्यादिव्रतं च तद्भग्नमेव, तेषामस्तमनकाले स्वापकाले च वायौ प्राणे च निम्लुक्तिदर्शनात्।

यहाँ ब्राह्मण संक्षेपसे इस मन्त्रकी व्याख्या करता है—प्राणसे ही यह सूर्य उदित होता है—और प्राणोंमें ही अस्त हो जाता है। 'तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्वः' इस उत्तरार्धका क्या अर्थ है? सो बतलाया जाता है—इन वागादि और अग्न्यादिने उस समय क्रमशः जिन प्राणव्रत और वायुव्रतको धारण किया था उन्हींको वे आज भी करते हैं, उसीका अनुवर्तन वे करते हैं और उसीका अनुवर्तन करेंगे। उनके द्वारा यह व्रत अखण्डित ही है। किंतु जो वागादि और अग्न्यादिका व्रत है वह तो खण्डित ही है, क्योंकि सायंकाल और सुषुप्तिके समय उनका क्रमशः वायु और प्राणमें अस्त होना देखा जाता है।

अथैतदन्यत्रोक्तम्-"यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं मनः प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्त इत्यध्यात्ममथाधिदैवतं यदा वा अग्निरनुगच्छति वायुं तर्ह्यनूद्वाति तस्मादेनमुदवासीदित्याहुर्वायुं ह्यनूद्वाति यदादित्योऽस्तमेति वायुं तर्हि प्रविशति वायुं चन्द्रमा वायौ दिशः प्रतिष्ठिता वायोरेवाधि पुनर्जायन्ते" इति ।

यस्माद् एतदेव व्रतं वागादिष्वग्न्यादिषु चानुगतं यदेतद्वायोश्च प्राणस्य च परिस्पन्दात्मकत्वं सर्वैर्देवैरनुवर्त्यमानं व्रतम्-तस्मादन्योऽप्येकमेव व्रतं चरेत्। किं तत् ? प्राण्यात्प्राणनव्यापारं कुर्यादपान्यादपाननव्यापारं च;

यही बात एक अन्य स्थानपर भी कही है—"जिस समय पुरुष सोता है, उस समय वाक् प्राणमें लीन हो जाती है तथा प्राणमें ही मन, प्राणमें ही चक्षु और प्राणमें ही श्रोत्र लीन हो जाते हैं जिस समय वह उठता है उस समय प्राणसे ही ये पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। यह अध्यात्मदृष्टि है, अब अधिदैवदृष्टि बतलायी जाती है—जब अग्नि अनुगमन करने (शान्त होने) लगता है, उस समय वह वायुके अधीन ही शान्त होता है, इसीसे 'यह इसमें अनुगत (अस्त) हो गया' ऐसा कहते हैं। जिस समय सूर्य अस्त होता है तो वह वायुमें ही अनुगमन-प्रवेश कर जाता है; तथा वायुमें ही चन्द्रमा और वायुमें ही दिशाएँ प्रतिष्ठित होती हैं एवं वायुसे ही वे पुनः उत्पन्न होती हैं" इत्यादि।

क्योंकि वागादि और अग्न्यादिमें यही व्रत अनुगत है, अर्थात् वायु और प्राणका जो परिस्पन्दरूप धर्म है, वही समस्त देवताओंद्वारा अनुवर्तित होनेवाला व्रत है, इसलिये अन्य किसीको भी एक ही व्रतका आचरण करना चाहिये। वह एक व्रत क्या है ? 'प्राण्यात्'—प्राणनव्यापार करे और 'अपान्यात्'–अपानन व्यापार

न हि प्राणापानव्यापारस्य प्राणनापाननलक्षणस्योपरमोऽस्ति । तस्मात्तदेवैकं व्रतं चरेद्धित्वेन्द्रियान्तरव्यापारं नेन्मा मां पाप्मा मृत्युः श्रमरूप्याप्नुवदाप्नुयात् । नेच्छब्दः परिभये—'यद्यहमस्माद् व्रतात्प्रच्युतः स्याम्, ग्रस्त एवाहं मृत्युना' इत्येवं त्रस्तो धारयेत्प्राणव्रतमित्यभिप्रायः ।

करे, क्योंकि प्राण और अपानके व्यापार प्राणन और अपाननकी कभी निवृत्ति नहीं होती । अतः इस भयसे कि मुझे कहीं श्रमरूपी पापात्मा मृत्यु व्याप्त न कर ले, अन्य इन्द्रियोंके व्यापारको छोड़कर एक इसी व्रतका आचरण करे । यहाँ 'नेत्' शब्द परिभयके अर्थमें है । अभिप्राय यह है कि 'यदि मैं इस व्रतसे च्युत हो जाऊँगा तो अवश्य मृत्युसे ग्रस्त हो जाऊँगा' इस प्रकार डरता हुआ प्राणव्रतको धारण करे ।

यदि कदाचिद् उ चरेत्प्रारभेत प्राणव्रतम्, समापिपयिषेत्समापयितुमिच्छेत; यदि ह्यस्माद् व्रतादुपरमेत्प्राणः परिभूतः स्याद्देवाश्च; तस्मात्समापयेदेव । तेन उ तेनानेन व्रतेन प्राणात्मप्रतिपत्त्या सर्वभूतेषु—वागादयोऽग्न्यादयश्च मदात्मका एव, अहं प्राण आत्मा सर्वपरिस्पन्दकृत्—एवं तेनानेन व्रतधारणेन एतस्या एव प्राणदेवतायाः सायुज्यं सयुग्भावमेकात्मत्वं सलोकतां समानलोकतां वा एकस्थानत्वम्—विज्ञान-

यदि कभी प्राणव्रतका आचरण-आरम्भ करे तो उसे समाप्त करनेकी इच्छा रखे, क्योंकि यदि इस व्रतसे [बीचमें ही] छूट जायगा तो प्राण और देवताओंका पराभव होगा; इसलिये इसे समाप्त करना ही चाहिये । 'तेन उ' अर्थात् उस इस प्राणात्मत्वकी प्राप्तिरूप व्रतसे समस्त भूतोंमें वागादि और अग्न्यादि मेरे ही स्वरूप हैं, मैं प्राणरूप आत्मा सबका परिस्पन्दन करनेवाला हूँ' इस प्रकार उस इस व्रतको धारण करनेसे इस प्राणदेवताके ही सायुज्य—संयोग अर्थात् एकरूपताको तथा विज्ञानकी मन्दताकी अपेक्षासे सलोकता—समानलोकता अर्थात् समानस्थानत्वको

मान्यापेक्षमेतत्—जयति प्राप्नोतीति ॥ २३ ॥ | जीतता अर्थात् उसे प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये पञ्चमं सप्तान्नब्राह्मणम् ॥५॥

षष्ठ ब्राह्मण

पूर्वोक्त अविद्याकार्यका उपसंहार—नामसामान्यभूता वाक्

यदेतदविद्याविषयत्वेन प्रस्तुतं साध्यसाधनलक्षणं व्याकृतं जगत् प्राणात्मप्राप्त्यन्तोत्कर्षवदपि फलम्, या चैतस्य व्याकरणात्प्रागवस्था अव्याकृतशब्दवाच्या वृक्षबीजवत्सर्वमेतत् ।

यह जो साध्य-साधनरूप व्याकृत जगत् और प्राणात्मप्राप्तिपर्यन्त उत्कर्षवाला उसका फल भी अविद्याके विषयरूपसे आरम्भ किया गया है तथा वृक्षके बीजके समान जो 'अव्याकृत' शब्दसे कही जानेवाली इसके व्याकरण (व्याप्त होने) से पूर्वकी अवस्था है, यह सब—

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषाᳬसामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १ ॥

यह नाम, रूप और कर्म तीनका समुदाय है। उन नामोंकी 'वाक्' यह उक्थ (कारण) है, क्योंकि सारे नाम इसीसे उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है। यही सब नामोंमें समान है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यह समस्त नामोंको धारण करती है ॥ १ ॥

त्रयम्; किं तत्त्रयम्? इत्युच्यते नाम रूपं कर्म चेत्यनात्मैव । नात्मा | त्रय है। वह त्रय क्या है ? सो बतलाया जाता है—नाम, रूप और कर्म—यह अनात्मा ही वह त्रय है ।

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म । तस्मादस्माद्विरज्येतेत्येवमर्थस्त्रयं वा इत्याद्यारम्भः न ह्यस्मादनात्मनोऽव्यावृत्तचित्तस्य आत्मानमेव लोकमहं ब्रह्मास्मीत्युपासितुं बुद्धिः प्रवर्तते । बाह्यप्रत्यगात्मप्रवृत्त्योर्विरोधात् । तथा च काठके — "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (क० उ० २ । १ । १) इत्यादि ।

जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है वह आत्मा नहीं । अतः [मुमुक्षु] इससे विरक्त हो जाय –इसलिये 'त्रयं वा' इत्यादि मन्त्रका आरम्भ किया गया है । क्योंकि इस अनात्मासे जिसका चित्त नहीं हटा है, उसकी बुद्धि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार आत्मलोककी ही उपासना करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होती । कारण बाह्य प्रवृत्ति और प्रत्यगात्मविषयिणी वृत्तिमें परस्पर विरोध है । ऐसा ही कठोपनिषद्में भी कहा है—"स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है, इसलिये पुरुष बाह्य विषयोंको ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं । अमृतत्वकी इच्छा करनेवाले किसी-किसी धीर पुरुषने ही इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर अन्तरात्माको देखा है" इत्यादि ।

कथं पुनरस्य व्याकृताव्याकृतस्य क्रियाकारकफलात्मनः संसारस्य नामरूपकर्मात्मकतैव? न पुनरात्मत्वम्? इत्येतत्सम्भावयितुं शक्यत इति; अत्रोच्यते— तेषां नाम्नां यथोपन्यस्तानां वागिति शब्दसामान्यमुच्यते ।

किंतु इस व्याकृत और अव्याकृत क्रिया-कारक-फलरूप संसारकी नाम-रूप-कर्मात्मकता ही क्यों है ? आत्मस्वरूपता क्यों नहीं है ? ऐसी सम्भावना की जा सकती है, अतः इस विषयमें कहते हैं—ऊपर जिनका उल्लेख किया गया है, उन नामोंका वाक् यह शब्दसामान्य कहा जाता

"यः कश्च शब्दो वागेव सा" (१।५।३) इत्युक्त्वा-द्वागित्येतस्य शब्दस्य योऽर्थः शब्दसामान्यमात्रम् एतदेतेषां नामविशेषाणामुक्थं कारणमुपादानम्, सैन्धवलवणकणानामिव सैन्धवाचलः।

तदाह—अतो ह्यस्मान्नामसामान्यात्सर्वाणि नामानि यज्ञदत्तो देवदत्त इत्येवमादिप्रविभागान्युत्तिष्ठन्त्युत्पद्यन्ते प्रविभज्यन्ते, लवणाचलादिव लवणकणाः; कार्यं च कारणेनाव्यतिरिक्तम्। तथा विशेषाणां च सामान्येऽन्तर्भावात्।

कथं सामान्यविशेषभाव इति—

एतच्छब्दसामान्यमेषां नामविशेषाणां साम। समत्वात्साम, सामान्यमित्यर्थः; एतद्धि यस्मात्सर्वैर्नामभिरात्मविशेषैः समम्। किञ्च आत्मलाभाविशेषाच्च नामविशेषाणाम्। यस्य च यस्मा-

है। क्योंकि ऐसा कहा गया है कि "जो कुछ शब्द है वह वाक् ही है" इसलिये वाक् इस शब्दका जो अर्थ है वह शब्दसामान्यमात्र इन नामविशेषोंका उक्थ कारण अर्थात् उपादान है, जिस प्रकार सैन्धवगिरि सैन्धवलवणके कणोंका।

यही बात श्रुति कहती है—क्योंकि इस नामसामान्यसे ही लवणाचलसे लवणके कणोंके समान समस्त नाम—यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि नामविभाग उत्पन्न अर्थात् विभक्त होते हैं और कार्य कारणसे अभिन्न होता है तथा विशेष भी सामान्यके अन्तर्गत रहते हैं।

किंतु नाम और वाक्‌का सामान्यविशेषभाव किस प्रकार है? [सो बतलाते हैं—] यह शब्दसामान्य ही इन नामविशेषोंका साम है। यह सम होनेके कारण साम अर्थात् सामान्य है; क्योंकि यही अपने विशेषभूत सम्पूर्ण नामोंसे सम है। तथा जितने नामविशेष हैं, उन्हें नामसामान्यसे ही स्वरूपकी प्राप्ति होती है, अतः उनसे अविशेष (अभिन्न) होनेके कारण [उनका नामसामान्यमें ही अन्तर्भाव होता है]। जिससे

दात्मलाभो भवति स तेनाप्रविभक्तो दृष्टः, यथा घटादीनां मृदा।

कथं नामविशेषाणामात्मलाभो वाच इत्युच्यते - यत एतदेषां वाक्छब्दवाच्यं वस्तु ब्रह्म आत्मा, ततो ह्यात्मलाभो नाम्नाम्, शब्दव्यतिरिक्तस्वरूपानुपपत्तेः। तत्प्रतिपादयति—यतश्छब्दसामान्यं हि यस्माच्छब्दविशेषान्सर्वाणि नामानि बिभर्ति धारयति स्वरूपप्रदानेन। एवं कार्यकारणत्वोपपत्तेः सामान्यविशेषोपपत्तेरात्मप्रदानोपपत्तेश्च नामविशेषाणां शब्दमात्रता सिद्धा। एवमुत्तरयोरपि सर्वं योज्यं यथोक्तम् ॥ १ ॥

जिसको अपने स्वरूपकी प्राप्ति होती है उससे वह अभिन्न ही देखा गया है, जैसे मृत्तिकासे घटादिका अभेद है।

नामविशेषोंको वाक् अर्थात् नामसामान्यसे अपने स्वरूपकी प्राप्ति किस प्रकार होती है? सो बतलाया जाता है—क्योंकि वह 'वाक्' शब्दवाच्य वस्तु इन (नामविशेषों) का ब्रह्म—आत्मा है; कारण कि उसीसे नामोंको अपना स्वरूप प्राप्त होता है, क्योंकि शब्दसे भिन्न उनका कोई स्वरूप होना सम्भव ही नहीं है। इसीका श्रुति प्रतिपादन करती है—क्योंकि यह शब्दसामान्य ही शब्दविशेषरूप सम्पूर्ण नामोंको, उनका स्वरूप प्रदान करके, धारण करती है। इस प्रकार कार्य-कारणत्व सामान्य-विशेषत्व और आत्मप्रदानत्वकी उपपत्ति होनेसे नामविशेषोंकी शब्दमात्रता सिद्ध होती है। इसी प्रकार आगे कहे जानेवाले दो पर्यायोंमें भी उपर्युक्त सारी योजना लगा देनी चाहिये ॥ १ ॥

रूपसामान्य चक्षुका वर्णन

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषा ँ सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥ २ ॥

अब रूपोंका चक्षु सामान्य है; यह इसका उक्थ है। इसीसे सारे रूप उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त रूपोंसे सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त रूपोंको धारण करता है ॥ २ ॥

अथेदानीं रूपाणां सितासितप्रभृतीनां चक्षुरिति चक्षुर्विषयसामान्यं चक्षुःशब्दाभिधेयं रूपसामान्यं प्रकाश्यमात्रमभिधीयते। अतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां साम, एतद्धि सर्वै रूपैः समम्, एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥ २ ॥

अथ—अब शुक्ल-कृष्ण (गौर-श्याम) आदि रूपोंका चक्षु [सामान्य] है; अर्थात् चक्षुके विषयभूत रूपोंका सामान्य 'चक्षु' शब्दसे कहा जानेवाला, रूपसामान्य अथवा प्रकाश्य-सामान्य कहा जाता है। इसीसे सब रूप उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त रूपोंसे सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त रूपोंको धारण करता है ॥ २ ॥

कर्मसामान्य आत्मामें सबका अन्तर्भाव दिखाना

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳬ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयᳬ सदेकमयमात्मात्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतᳬ सत्येनच्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥

अब कर्मोंका सामान्य आत्मा (शरीर) है। यह इनका उक्थ है। इसीसे सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त कर्मोंसे सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त कर्मोंको धारण

करता है। वह यह तीन होते हुए भी एक आत्मा है और आत्मा भी एक होते यह तीन है। वह यह अमृत सत्यसे आच्छादित है। प्राण ही अमृत है और नाम-रूप सत्य हैं, उनसे यह प्राण आच्छादित है ॥ ३ ॥

अथेदानीं सर्वकर्मविशेषाणां मननदर्शनात्मकानां चलनात्मकानां च क्रियासामान्यमात्रेऽन्तर्भाव उच्यते। कथम्? सर्वेषां कर्मविशेषाणामात्मा शरीरं सामान्यमात्मा, आत्मनः कर्म आत्मेत्युच्यते। 'आत्मना हि शरीरेण कर्म करोति' इत्युक्तम्। शरीरे च सर्वं कर्माभिव्यज्यते। अतः तात्स्थ्यात्तच्छब्दं कर्म— कर्मसामान्यमात्रं सर्वेषामुक्थमित्यादि पूर्ववत्।

तदेतद्यथोक्तं नाम रूपं कर्म त्रयमितरेतराश्रयम्, इतरेतराभिव्यक्तिकारणम्, इतरेतरप्रलयं संहतं त्रिदण्डविष्टम्भवत् सदेकम्। केनात्मनैकत्वम्? इत्युच्यते —

अब इस समय मनन-दर्शनात्मक एवं चलनरूप समस्त कर्मविशेषोंका क्रिया सामान्यमात्रमें अन्तर्भाव बतलाया जाता है। किस प्रकार? समस्त कर्मविशेषोंका आत्मा—शरीर सामान्य आत्मा है, आत्माका कार्य होनेसे यहाँ कर्मको 'आत्मा' कहा है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि 'आत्मा यानी शरीरसे [जीव] कर्म करता है।' शरीरमें ही समस्त कर्मोंकी अभिव्यक्ति होती है। अतः आत्मस्थ होनेके कारण कर्मको उसी शब्दसे कहा जाता है, वह कर्म-सामान्यमात्र (आत्मा) समस्त कर्मोंका उक्थ है—इत्यादि सब पूर्ववत् समझना चाहिये।

वे ये उपर्युक्त नाम, रूप और कर्म—तीनों एक दूसरेके आश्रित, एक-दूसरेकी अभिव्यक्तिके कारण, एक-दूसरेमें लीन होनेवाले और परस्पर मिले हुए तीन दण्डोंके समूहके समान एक हैं। उनकी किस रूपसे एकता है, सो बतलायी जाती

अयमात्मायं पिण्डः कार्यकरणात्मसङ्घातः तथान्नत्रये व्याख्यातः 'एतन्मयो वा अयमात्मा' इत्यादिना; एतावद्धीदं सर्वं व्याकृतमव्याकृतं च यदुत नाम रूपं कर्मेति, आत्मा उ एकोऽयं कार्यकरणसङ्घातः सन्नध्यात्माधिभूताधिदैवभावेन व्यवस्थितमेतदेव त्रयं नाम रूपं कर्मेति। तदेतद्वक्ष्यमाणम्।

अमृतं सत्येनच्छन्नमित्येतस्य वाक्यस्यार्थमाह—प्राणो वा अमृतं करणात्मकोऽन्तरुपष्टम्भक आत्मभूतोऽमृतोऽविनाशी; नामरूपे सत्यं कार्यात्मके शरीरावस्थे; क्रियात्मकस्तु प्राणस्तयोरुपष्टम्भको बाह्याभ्यां शरीरात्मकाभ्यामुपजनापायधर्मिभ्यां मर्त्याभ्यां छन्नोऽप्रकाशीकृतः। एतदेव

है—यह आत्मा—यह कार्य-करणात्मक संघातरूप पिण्ड तथा अन्नत्रयके प्रकरणमें "यह आत्मा एतद्रूप है" इस श्रुतिसे जिसकी व्याख्या की गयी है वह, बस—यह जो नाम, रूप और कर्म है, इतना ही यह सारा व्याकृत और अव्याकृत [जगत्] है; और आत्मा भी एक यह कार्यकरणसंघातमात्र होते हुए यही एक अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव भावसे स्थित नाम, रूप, कर्म यह त्रय है। उसीका यह आगे वर्णन किया जाता है।

अब श्रुति 'अमृतं सत्येनच्छन्नम्' इस वाक्यका अर्थ करती है—'प्राणो वा अमृतम्'—जो इन्द्रियरूप, शरीरका आन्तर आधारभूत और आत्मस्वरूप है वह प्राण ही अमृत—अविनाशी है तथा शरीरावस्थित कार्यात्मक नाम-रूप सत्य हैं। उनका आधारभूत क्रियात्मक प्राण वृद्धि-क्षयशील, बाह्य, शरीरस्वरूप, मरणधर्मा नाम और रूपोंसे आच्छादित—अप्रकाशित किया हुआ है। यह

संसारसतत्त्वमविद्याविषयं प्रदर्शितम् । अत ऊर्ध्वं विद्याविषय आत्माधिगन्तव्य इति चतुर्थ आरभ्यते ॥ ३ ॥	अविद्याका विषयभूत संसारका स्वरूप दिखलाया गया है। इसके आगे विद्याका विषयभूत आत्मा ज्ञातव्य है, इसलिये चतुर्थ[1] अध्याय आरम्भ किया जाता है ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये षष्ठमुक्थब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



१. चतुर्थ अध्यायसे उपनिषद्का द्वितीय अध्याय समझना चाहिये। यही ब्राह्मणका चतुर्थ अध्याय है।

द्वितीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

उपक्रम

आत्मेत्येवोपासीत, तदन्वेषणे च सर्वमन्विष्टं स्यात्; तदेव चात्मतत्त्वं सर्वस्मात्प्रेयस्त्वादन्वेष्टव्यम्। 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यात्मतत्त्वमेकं विद्याविषयः यस्तु भेददृष्टिविषयः सः—अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदेति—अविद्याविषयः।

"एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४।४।२०) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (४।४।१९) इत्ये-

'आत्मा है' इस प्रकार उपासना करे, उसकी खोज कर लेनेपर सभीकी खोज हो जाती है; तथा वह आत्मतत्त्व ही सबसे अधिक प्रिय होनेके कारण खोजनेयोग्य है। 'उसने आत्माको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार [निर्दिष्ट होनेके कारण] एक आत्मतत्त्व ही ज्ञानका विषय है। जो भेददृष्टिका विषय है वह 'यह अन्य है, मैं अन्य हूँ—इस प्रकार जो जानता है वह नहीं जानता' ऐसा कहे जानेके कारण अविद्याका विषय है।

"आत्मतत्त्वको एक प्रकार ही देखना चाहिये" "जो यहाँ नानावत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त

वमादिभिः प्रविभक्तौ विद्याविद्याविषयौ सर्वोपनिषत्सु । तत्र चाविद्याविषयः सर्व एव साध्यसाधनादिभेदविशेषविनियोगेन व्याख्यातः—आ तृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः ।

होता है" इस प्रकारके वाक्योंसे समस्त उपनिषदोंमें ज्ञान और अज्ञानके विषयोंको पृथक्-पृथक् कर दिया गया है । उनमें साध्य-साधनादि भेदविशेषके विनियोगद्वारा अविद्याके सभी विषयकी तृतीय[१] अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त व्याख्या कर दी गयी है ।

स च व्याख्यातोऽविद्याविषयः सर्व एव द्विप्रकारः—अन्तः प्राण उपष्टम्भको गृहस्येव स्तम्भादिलक्षणः प्रकाशकोऽमृतः, बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशक उपजनापायधर्मकस्तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येव सत्यशब्दवाच्यो मर्त्यः तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्न इति चोपसंहृतम् । स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेष्वनेकधा विस्तृतः; प्राण एको देव इत्युच्यते । तस्यैव बाह्यः पिण्ड एकः साधा-

वह व्याख्या किया हुआ अविद्याका सारा ही विषय दो प्रकारका है—पहला इस शरीरके भीतर प्राण है जो गृहको धारण करनेवाले स्तम्भादिके समान शरीरका आधारभूत, प्रकाशक और अमृत है; तथा दूसरा है बाह्य कार्यरूप प्रपञ्च, जो अप्रकाशक, वृद्धि-क्षयशील, गृहके तृण, कुश और मृत्तिकाके समान मरणधर्मा और 'सत्य' शब्दका वाच्य है । उससे 'अमृत' शब्दवाच्य प्राण आच्छादित है—ऐसा ऊपर उपसंहार किया गया है । वही प्राण बाह्य आधारभेदोंमें अनेक प्रकारसे फैला हुआ है और 'प्राण एक देव है' ऐसा कहा जाता है । उसीका एक बाह्य

१. ब्राह्मणका तृतीय अध्याय उपनिषद्का प्रथम अध्याय है ।

रणः—विराड् वैश्वानर आत्मा पुरुषविधः प्रजापतिः को हिरण्यगर्भः—इत्यादिभिः पिण्डप्रधानैः शब्दैराख्यायते सूर्यादिप्रविभक्तकरणः ।

एकं चानेकं च ब्रह्म एतावदेव, नातः परमस्ति, प्रत्येकं च शरीरभेदेषु परिसमाप्तं चेतनावत्कर्तृ भोक्तृ च—इत्यविद्याविषयमेव आत्मत्वेनोपगतो गार्ग्यो ब्राह्मणो वक्ता उपस्थाप्यते; तद्विपरीतात्मदृगजातशत्रुः श्रोता; एवं हि यतः पूर्वपक्षसिद्धान्ताख्यायिकारूपेण समर्प्यमाणोऽर्थः श्रोतुश्चित्तस्य वशमेति; विपर्यये हि तर्कशास्त्रवत् केवलार्थानुगमवाक्यैः समर्प्यमाणो दुर्विज्ञेयः स्यादत्यन्तसूक्ष्मत्वाद्वस्तुनः । तथा च काठके—"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः" (क० उ० १ । २ । ७) इत्यादिवाक्यैः सुसंस्कृतदेवबुद्धिगम्य-

साधारण (समष्टि) पिण्ड, जिसके सूर्यादि विभिन्न करण हैं, विराट्, वैश्वानर, आत्मा, पुरुषविध, प्रजापति, क और हिरण्यगर्भ आदि शरीरप्रधान शब्दोंसे पुकारा जाता है ।

एक और अनेक ब्रह्म-बस इतना ही है, इसके सिवा और कुछ नहीं है, वह प्रत्येक शरीरभेदोंमें समाप्त होनेवाला (परिच्छिन्न) है, चेतनावान् है तथा कर्ता और भोक्ता है- इस प्रकार अविद्याके विषयको ही आत्मस्वरूपसे समझनेवाला गार्ग्य ब्राह्मण यहाँ वक्तारूपसे उपस्थित किया जाता है; तथा इससे विपरीत जाननेवाला आत्मदर्शी अजातशत्रु श्रोता है; क्योंकि इस प्रकार पूर्वपक्ष और सिद्धान्तकी आख्यायिकारूपसे समर्पित किया जानेवाला विषय श्रोताके चित्तके अधीन हो जाता है और इसके विपरीत तर्कशास्त्रके समान केवल वस्तुका बोध करानेवाले वाक्योंसे समर्पित किया जानेवाला विषय दुर्विज्ञेय होता है; क्योंकि आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है । इसी प्रकार कठोपनिषद्में भी "जो बहुतोंको सुननेके लिये भी नहीं मिलता" इत्यादि वाक्योंसे आत्मतत्त्व सुसंस्कृत देवबुद्धि (सात्त्विकी बुद्धि) का विषय और

त्वं सामान्यमात्रबुद्ध्यगम्यत्वं च सप्रपञ्चं दर्शितम्। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (६।१४।२) "आचार्याद्धैव विद्या" (४।९।३) इति च छान्दोग्ये। "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" (४।३४) इति च गीतासु। इहापि च शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादेन अतिगह्वरत्वं महता संरम्भेण ब्रह्मणो वक्ष्यति—तस्माच्छिलष्ट एव आख्यायिकारूपेण पूर्वपक्षसिद्धान्तरूपमापाद्य वस्तुसमर्पणार्थ आरम्भः।

आचारविध्युपदेशार्थश्च—एवमाचारवतोर्वक्तृश्रोत्रोराख्यायिकानुगतोऽर्थोऽवगम्यते। केवलतर्कबुद्धिनिषेधार्था चाख्यायिका—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० उ० १।२।९) "न तर्कशास्त्रदग्धाय" इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। श्रद्धा च ब्रह्मविज्ञाने परमं साधनमित्याख्या-

सामान्यमात्र बुद्धिका अविषय है—यह विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है। तथा "आचार्यवान् पुरुष जानता है" "आचार्यसे ही विद्या सफल होती है" इत्यादिरूपसे छान्दोग्योपनिषद्में और "तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे" इस वाक्यसे गीतामें भी ऐसा ही कहा है। यहाँ (इस उपनिषद्में) भी शाकल्य और याज्ञवल्क्यके संवादद्वारा बड़े समारोहसे ब्रह्मतत्त्वकी अत्यन्त गहनताका प्रतिपादन किया जायगा; अतः आख्यायिकारूपसे पूर्वपक्ष और सिद्धान्तके स्वरूपका प्रतिपादन करके आत्मतत्त्वको समर्पण करनेके लिये आरम्भ करना उचित ही है।

आचारकी विधिका उपदेश करनेके लिये भी [इस प्रकार आरम्भ करना उचित है]। इस प्रकारके आचारवाले वक्ता और श्रोता होनेपर ही इस आख्यायिकामें प्रतिपादित विषयका ज्ञान होता है। यह आख्यायिका केवल तर्कबुद्धिका निषेध करनेके लिये भी है, जैसा कि "यह बुद्धि तर्कसे प्राप्त होनेयोग्य नहीं है" "जिसकी बुद्धि तर्कशास्त्रसे दग्ध हो गयी है उसे [ज्ञान नहीं होता]" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे सिद्ध होता है। तथा आख्यायिकाका यह भी अभिप्राय है कि ब्रह्मज्ञानमें श्रद्धा ही

यिकार्थः। यथा हि गार्ग्याजातशत्र्वोरतीव श्रद्धालुता दृश्यते आख्यायिकायाम्; "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" (गीता ४। ३९) इति च स्मृतिः।

सर्वोत्तम साधन है। इसीसे आख्यायिकामें गार्ग्य और अज्ञातशत्रुकी अत्यन्त श्रद्धालुता देखी जाती है। "श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान-लाभ करता है" ऐसी स्मृति भी है।

ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये अपने पास आये हुए गार्ग्यको अजातशत्रुका सहस्र गौ दान करना

ॐ। दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १ ॥

ॐ [किसी समय कोई] गार्ग्यगोत्रोत्पन्न दृप्त (गर्वीला) बालाकि बड़ा बोलनेवाला था। उसने काशिराज अजातशत्रुके पास जाकर कहा—'मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, इस वचनके लिये मैं आपको सहस्र [गौएँ] देता हूँ; लोग 'जनक, जनक' ऐसा कहकर दौड़ते हैं। [अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है'। ये दोनों बातें आपने अपने वचनसे मेरे लिये सुलभ कर दी हैं। इसलिये मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ] ॥ १ ॥

तत्र पूर्वपक्षवादी अविद्याविषयब्रह्मविद् दृप्तबालाकिः दृप्तो गर्वितोऽसम्यग्ब्रह्मवित्त्वादेव, बलाकाया अपत्यं बालाकिर्दृप्तश्चासौ बालाकिश्चेति दृप्तबालाकिः, हशब्द

तहाँ क्वचित्—किसी कालविशेषमें अविद्याके विषयको ही ब्रह्म जाननेवाला गोत्रतः 'गार्ग्य' पूर्वपक्षवादी दृप्तबालाकि, जो ब्रह्मको सम्यग्रूपसे न जाननेके कारण ही दृप्त—गरबीला था और बलाकाका पुत्र होनेसे बालाकि कहलाता था; तथा इस प्रकार जो दृप्त और बालाकि होनेसे दृप्तबालाकि नामसे प्रसिद्ध

ऐतिह्यार्थ आख्यायिकायाम्, अनूचानः अनुवचनसमर्थो वक्ता वाग्मी; गार्ग्यो गोत्रतः, आस बभूव कस्मिंश्चित्कालविशेषे।

था, वह अनूचान—अनुवचनमें समर्थ-बोलनेवाला अर्थात् बड़ा वाचाल था। 'ह' शब्द आख्यायिकामें ऐतिह्य (इतिहासप्राप्त अर्थ) की सूचना देनेके लिये है।

स होवाचाजातशत्रुमजातशत्रुनामानं काश्यं काशिराजमभिगम्य—ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ते तुभ्यं ब्रवाणि कथयानि। स एवमुक्तोऽजातशत्रुरुवाच—सहस्रं गवां दद्म एतस्यां वाचि—यां मां प्रत्यवोचो ब्रह्म ते ब्रवाणीति, तावन्मात्रमेव गोसहस्रप्रदाने निमित्तमित्यभिप्रायः।

उसने अजातशत्रुसे—अजातशत्रुनामक काश्य—काशिराजसे, उसके पास जाकर कहा—'ब्रह्म ते ब्रवाणि—मैं तुम्हारे प्रति ब्रह्मका निरूपण करूँ।' इस प्रकार कहे जानेपर अजातशत्रुने कहा, आपने जो कहा है कि 'मैं तुम्हारे प्रति ब्रह्मका निरूपण करूँ' सो आपके इस कथनके लिये "मैं सहस्र गौएँ देता हूँ।' अभिप्राय यह है कि अजातशत्रुके सहस्र गौएँ देनेमें केवल इतना ही निमित्त था।

साक्षाद्ब्रह्मकथनमेव निमित्तं कस्मान्नापेक्ष्यते सहस्रदाने? ब्रह्म ते ब्रवाणीतीयमेव तु वाग् निमित्तमपेक्ष्यते? इत्युच्यते; यतः श्रुतिरेव राज्ञोऽभिप्रायमाह—जनको दाता जनकः श्रोतेति वैतस्मिन्वाक्यद्वये पदद्वयमभ्यस्यते जनको जनक इति। वैशब्दः

सहस्र गौएँ देनेमें साक्षात् ब्रह्मनिरूपणकी ही अपेक्षा क्यों नहीं थी? केवल 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस वाक्यकी ही अपेक्षा क्यों थी? सो बतलाया जाता है; क्योंकि राजाके अभिप्रायको श्रुति ही बतला रही है-'जनकः, जनकः' इन दो पदोंकी आवृत्ति 'जनक दाता है, जनक श्रोता है' इन दो वाक्योंके अर्थमें

प्रसिद्धावद्योतनार्थः; जनको दित्सुर्जनकः शुश्रूषुरिति ब्रह्म शुश्रूषवो विवक्षवः प्रतिजिघृक्षवश्च जना धावन्त्यभिगच्छन्ति। तस्मात्तत्सर्वं मय्यपि सम्भावितवानसीति ॥ १ ॥

हुई है। 'वै' शब्द प्रसिद्धिको सूचित करनेके लिये है। 'जनक देनेकी इच्छावाला है, जनक श्रवणकी इच्छावाला है' यह समझकर ब्रह्म' तत्त्वको सुनने और कहनेकी इच्छावाले तथा प्रतिग्रहकी इच्छावाले लोग दौड़ते—उसीके पास जाते हैं। अतः [इस वाक्यसे] आपने वह सब मेरे लिये भी सम्भव कर दिया है, इसीसे [इस वचनके लिये मैं सहस्र गौएँ देता हूँ] ॥ १ ॥

गार्ग्यद्वारा आदित्यका ब्रह्मरूपसे प्रतिपादन तथा अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

एवं राजानं शुश्रूषुमभिमुखीभूतम्—

इस प्रकार श्रवणके इच्छुक और अपने प्रति अभिमुख हुए राजासे—

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥ २ ॥

उस गार्ग्यने कहा, 'यह जो आदित्यमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा —नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह सबका अतिक्रमण करके स्थित है, समस्त भूतोंका मस्तक है और राजा (दीप्तिमान्) है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सबका अतिक्रमण करके स्थित, समस्त भूतोंका मस्तक और राजा होता है ॥ २ ॥

स होवाच गार्ग्यः—य एव असौ आदित्ये चक्षुषि चैकोऽभिमानी चक्षुर्द्वारेणेह हृदि प्रविष्टः 'अहं भोक्ता कर्ता च' इत्यवस्थितः, एतमेवाहं ब्रह्म पश्यामि, अस्मिन्कार्यकरणसङ्घाते उपासे। तस्मात्तमहं पुरुषं ब्रह्म तुभ्यं ब्रवीम्युपास्स्वेति।

उस गार्ग्यने कहा—'यह जो आदित्यमें और नेत्रमें उनका एक ही अभिमानी चक्षुके द्वारा यहाँ हृदयमें प्रविष्ट होकर 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार स्थित है, उसीको मैं ब्रह्म समझता हूँ, इस देहेन्द्रिय-संघातमें मैं उसीकी उपासना करता हूँ। अतः उस पुरुषको ही मैं तुम्हें ब्रह्मरूपसे बतलाता हूँ; तुम उसीकी उपासना करो।'

स एवमुक्तः प्रत्युवाच अजातशत्रुः 'मा मा' इति हस्तेन विनिवारयन्—एतस्मिन्ब्रह्मणि विज्ञेये मा संवदिष्ठाः; मा मेत्याबाधनार्थं द्विर्वचनम्। एवं समाने विज्ञानविषये आवयोरस्मानविज्ञानवत इव दर्शयता बाधिताः स्याम, अतो मा संवदिष्ठाः—मा संवादं कार्षीरस्मिन्ब्रह्मणि। अन्यच्चेज्जानासि, तद्ब्रह्म वक्तुमर्हसि, न तु यन्मया ज्ञायत एव।

इस प्रकार कहे जानेपर उस अजातशत्रुने 'नहीं, नहीं' इस प्रकार हाथसे मना करते हुए कहा—'इस विज्ञेय ब्रह्मके विषयमें चर्चा मत करो। 'मा मा' यह द्विरुक्ति सब प्रकार रोकनेके लिये है; क्योंकि इस प्रकार हम दोनोंके विज्ञानका विषय समान होनेपर भी हमें अविज्ञानवान्-सा देखनेवाले तुमसे हम बाधित हो जायँगे, इसलिये इस ब्रह्मके विषयमें संवाद मत करो। यदि तुम कोई अन्य ब्रह्म जानते हो तो उसीका निरूपण करो, जिसे मैं जानता ही हूँ, उसका नहीं।

अथ चेन्मन्यसे—जानीषे त्वं ब्रह्ममात्रं न तु तद्विशेषणोपासनफलानीति—तन्न मन्तव्यम्, यतः

यदि तुम्हारा ऐसा विचार हो कि तुम तो केवल ब्रह्ममात्रको जानते हो, उसके विशेषणोंकी उपासनाके फलको तो नहीं जानते, सो तुम्हें ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि

सर्वमेतदहं जाने यद्ब्रवीषि। कथम्? अतिष्ठाः-अतीत्य भूतानि तिष्ठतीत्यतिष्ठाः। सर्वेषां च भूतानां मूर्धा शिरो राजेति वै—राजा दीप्तिगुणोपेतत्वात्, एतैर्विशेषणैर्विशिष्टमेतद्ब्रह्म अस्मिन्कार्यकरणसङ्घाते कर्तृ भोक्तृ चेत्यहमेतमुपास इति। फलमप्येवं विशिष्टोपासकस्य—स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति। यथागुणोपासनमेव हि फलम्; "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" (मण्डलब्राह्मण) इति श्रुतेः॥ २॥

तुम जो कुछ कह रहे हो यह सभी मैं जानता हूँ। किस प्रकार?—यह अतिष्ठा है, अर्थात् समस्त भूतोंका अतिक्रमण करके स्थित है, इसलिये 'अतिष्ठा' कहा गया है। समस्त भूतोंका मस्तक है और दीप्ति-गुणयुक्त होनेके कारण राजा है—इन विशेषणोंसे विशिष्ट इस ब्रह्मकी, जो देहेन्द्रियसंघातमें कर्ता और भोक्ता है, मैं उपासना करता हूँ। इस प्रकारके विशेषणोंसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको फल भी ऐसा ही मिलता है—जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सबका अतिक्रमण करके स्थित समस्त भूतोंका मस्तक और राजा होता है। जैसे गुणवालेकी उपासना की जाती है, वैसा ही फल होता है; जैसा कि, "उसकी जो जिस प्रकार उपासना करता है, तद्रूप ही हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है॥ २॥

गार्ग्यद्वारा चन्द्रान्तर्गत ब्रह्मका प्रतिपादन तथा अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

संवादेनादित्यब्रह्मणि प्रत्याख्यातेऽजातशत्रुणा चन्द्रमसि ब्रह्मान्तरं प्रतिपेदे गार्ग्यः।

संवादके द्वारा जब अजातशत्रुने आदित्यब्रह्मका निषेध कर दिया तो गार्ग्यने चन्द्रान्तर्गत दूसरे ब्रह्मका प्रतिपादन किया।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एत-मेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैत-स्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो चन्द्रमामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह महान् शुक्लवस्त्रधारी, सोम राजा है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिये नित्यप्रति सोम सुत और प्रस्तुत होता है तथा उसका अन्न क्षीण नहीं होता' ॥ ३ ॥

य एवासौ चन्द्रे मनसि चैकः पुरुषो भोक्ता कर्ता चेति पूर्ववद्वि-शेषणम्। बृहन् महान् पाण्डरं शुक्लं वासो यस्य सोऽयं पाण्डर-वासाः; अप्शरीरत्वाच्चन्द्राभिमा-निनः प्राणस्य, सोमो राजा चन्द्रः, यश्चान्नभूतोऽभिषूयते लतात्मको

यह जो चन्द्रमा और मनमें एक ही पुरुष कर्ता और भोक्ता है—इस प्रकार इसके पूर्ववत् विशेषण समझने चाहिये। [सूर्यमण्डलसे द्विगुण होनेके कारण] जो बृहन् अर्थात् महान् है तथा जिसके पाण्डर-शुक्ल वास-वस्त्र हैं, वह यह 'पाण्डरवासाः' है, क्योंकि चन्द्राभिमानी प्राण जलमय शरीरवाला है [और जलका शुक्ल वर्ण प्रसिद्ध ही है], सोम राजा चन्द्रमाको कहते हैं तथा जो यज्ञमें पेय अन्नके रूपमें चुवाया जाता है, वह लतामय सोम अर्थात् सोमलता भी सोम है। उस चन्द्रमा एवं लतामय पुरुषको एक करके [अर्थात् अहंग्रह-

यज्ञे, तमेकीकृत्यैतमेवाहं ब्रह्मोपासे । यथोक्तगुणं य उपास्ते तस्याहरहः सुतः सोमोऽभिषुतो भवति यज्ञे, प्रसुतः प्रकृष्टं सुतरां सुतो भवति विकारे, उभयविधयज्ञानुष्ठानसामर्थ्यं भवतीत्यर्थः । अन्नं चास्य न क्षीयतेऽन्नात्मकोपासकस्य ॥ ३ ॥

उपासनाके द्वारा अपना स्वरूप मानकर] इस विशेषणविशिष्ट ब्रह्मकी ही मैं उपासना करता हूँ । जो पुरुष उपर्युक्त गुणोंवाले ब्रह्मकी उपासना करता है, उसके लिये नित्यप्रति सुत होता है अर्थात् प्रकृतियज्ञमें सोमरस प्रस्तुत रहता है तथा प्रसुत होता है अर्थात् विकृतियज्ञमें अधिकतासे निरन्तर सोमरस प्रस्तुत रहता है यानी उसे प्रकृति-विकृतिरूप दोनों प्रकारके यज्ञानुष्ठानमें सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। तथा इस अन्नात्मक ब्रह्मोपासकका अन्न भी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

गार्ग्यद्वारा विद्युदभिमानी पुरुषका ब्रह्मरूपसे उपदेश तथा अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो विद्युत्में पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो; इसकी तो मैं तेजस्वीरूपसे उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है तथा उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है' ॥ ४ ॥

तथा विद्युति त्वचि हृदये चैका देवता। तेजस्वीति विशेषणम्, तस्यास्तत्फलम् - तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति। विद्युतां बहुत्वस्याङ्गीकरणादात्मनि प्रजायां च फलबाहुल्यम् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार विद्युत्, त्वचा और हृदयमें भी एक ही देवता है। 'तेजस्वी' यह उसका विशेषण है। उसका यह फल है—वह तेजस्वी होता है और उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है। विद्युतोंका बाहुल्य अङ्गीकार किया गया है, इसलिये अपने और प्रजाके लिये फलकी बहुलता भी सम्भव है ॥४॥



गार्ग्यद्वारा आकाश-ब्रह्मका उपदेश और अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो आकाशमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। मैं उसकी पूर्ण और अप्रवर्तिरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओंसे पूर्ण होता है और इस लोकमें उसकी प्रजाका उच्छेद नहीं होता' ॥ ५ ॥

तथा आकाशे हृद्याकाशे हृदये चैका देवता। पूर्णमप्रवर्ति चेति

इसी प्रकार आकाश, हृदयाकाश और हृदयमें भी एक ही देवता है। उसके 'पूर्ण' और 'अप्रवर्ति' ये दो

विशेषणद्वयम् । पूर्णत्वविशेषणफलमिदम्— पूर्यते प्रजया पशुभिः; अप्रवर्तिविशेषणफलम्—नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तत इति, प्रजासन्तानाविच्छित्तिः ॥ ५ ॥

विशेषण हैं। पूर्णत्व-विशेषणका यह फल है कि वह प्रजा और पशुओंसे पूर्ण होता है तथा 'अप्रवर्ति' विशेषणका यह फल है कि इस लोकमें उसकी प्रजाका उद्वर्तन नहीं होता—प्रजासंतानका विच्छेद नहीं होता ॥ ५ ॥

गार्ग्यद्वारा वायु-ब्रह्मका प्रतिपादन तथा अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥ ६ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो वायुमें पुरुष है इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना—इस रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह विजयी, कभी न हारनेवाला और शत्रुविजेता होता है' ॥ ६ ॥

तथा वायौ प्राणे हृदि चैका देवता। तस्या विशेषणम्—इन्द्रः परमेश्वरः वैकुण्ठोऽप्रसह्यः, न परैर्जितपूर्वा पराजिता सेना—मरुतां गणत्व-

इसी प्रकार वायु, प्राण और हृदयमें भी एक ही देवता है। उसके विशेषण हैं—इन्द्र—परमेश्वर, वैकुण्ठ—जो विशेषरूपसे सहन न किया जा सके और अपराजिता सेना—जो सेना पहले दूसरोंके द्वारा पराजित न हुई हो। मरुत् नामक देवताओंका गणत्व (एक समूहरूप होना)

प्रसिद्धेः । उपासनफलमपि—जिष्णुर्ह जयनशीलोऽपराजिष्णुर्न च परैर्जितस्वभावो भवति, अन्यतस्त्यजायी अन्यतस्त्यानां सपत्नानां जयनशीलो भवति ॥६॥

प्रसिद्ध है [इसलिये उन्हें 'सेना' कहा है] । उपासनाका फल भी इस प्रकार है—जिष्णु-जयनशील, अपराजिष्णु—दूसरोंसे पराजित न होनेके स्वभाववाला और अन्यतस्त्यजायी—अन्यतस्त्य अर्थात् शत्रुओंको जीतनेवाला होता है ॥६॥

गार्ग्यद्वारा अग्निब्रह्मका प्रतिपादन तथा अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो अग्निमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो । इसकी तो मैं विषासहि[1]रूपसे उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय ही विपासहि होता है और उसकी प्रजा भी विषासहि होती है' ॥ ७ ॥

अग्नौ वाचि हृदि चैका देवता । तस्या विशेषणम्—विषासहिर्मर्षयिता परेषाम् । अग्निबाहुल्यात् फलबाहुल्यं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

अग्नि, वाक् और हृदय एक ही देवता है । उसका विशेषण है 'विषासहि' अर्थात् दूसरोंको सहन करनेवाला । पूर्ववत् अग्निकी बहुलता होनेके कारण उसके फलकी भी बहुलता है ॥ ७ ॥

१. अग्निमें जो हविष्य डाला जाता है उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है, इसलिये अग्नि विषासहि—सहन करनेवाला है ।

गार्ग्यद्वारा जलान्तर्गत ब्रह्मका प्रतिपादन तथा अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो जलमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी मैं 'प्रतिरूप' रूपसे उपासना करता हूँ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है उसके पास प्रतिरूप ही आता है, अप्रतिरूप नहीं आता और उससे प्रतिरूप [पुत्र] उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

अप्सु रेतसि हृदि चैका देवता। तस्या विशेषणम्—प्रतिरूपोऽनुरूपः श्रुतिस्मृत्यप्रतिकूल इत्यर्थः। फलम्—प्रतिरूपं श्रुतिस्मृतिशासनानुरूपमेव एनमुपगच्छति प्राप्नोति, न विपरीतम्, अन्यच्च—अस्मात्तथाविध एवोपजायते ॥ ८ ॥

जल, वीर्य और हृदयमें एक ही देवता है। उसका विशेषण है-प्रतिरूप-अनुरूप अर्थात् श्रुति और स्मृतिके अनुकूल। उसकी उपासनाका फल-उसके पास प्रतिरूप अर्थात् श्रुति-स्मृतिकी आज्ञाके अनुरूप पदार्थ ही जाता-प्राप्त होता है, उससे विपरीत नहीं। इसके सिवा, उससे वैसा ही [पुत्र] उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

गार्ग्यद्वारा आदर्शान्तर्गत ब्रह्मका प्रतिपादन और अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा

रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एवमेतमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वा ँ स्तानतिरोचते ॥ ९ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो दर्पणमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं रोचिष्णु (देदीप्यमान) रूपसे उपासना करता हूँ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय रोचिष्णु होता है, उसकी प्रजा भी रोचिष्णु होती है और उसका जिनसे सङ्गम होता है, उन सबसे बढ़कर वह दीप्तिमान् होता है ॥ ९ ॥

आदर्शे प्रसादस्वभावे चान्यत्र खड्गादौ हार्दे च सत्त्वशुद्धिस्वाभाव्ये चैका देवता; तस्या विशेषणम्—रोचिष्णुर्दीप्तिस्वभावः; फलं च तदेव। रोचनाधारबाहुल्यात्फलबाहुल्यम् ॥ ९ ॥

स्वभावतः स्वच्छ दर्पण और ऐसे ही खड्गादि अन्य पदार्थोंमें तथा स्वभावतः शुद्ध सत्त्वयुक्त हृदयमें एक ही देवता है। उसका विशेषण रोचिष्णु अर्थात् दीप्तिशाली है तथा वही फल भी है। दीप्तिके आधारोंकी बहुलता होनेके कारण फलकी भी बहुलता है ॥ ९ ॥

गार्ग्यद्वारा प्राणब्रह्मका प्रतिपादन और अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्व ँ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥ १० ॥

वह गार्ग्य बोला, 'जानेवालेके पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं,

उस गार्ग्यद्वारा विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं प्राणरूपसे उपासना करता हूँ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है, इसे प्राण समयसे पहले नहीं छोड़ता ॥ १० ॥

यन्तं गच्छन्तं य एवायं शब्दः पश्चात्पृष्ठतोऽनूदेत्यध्यात्मं [illegible]तुः प्राणः, तमेकीकृत्याह; असुः प्राणो जीवनहेतुरिति गुणस्तस्य फलम्—सर्वमायुरस्मिँल्लोक एतीति—यथोपात्तं कर्मणा आयुः, कर्मफलपरिच्छिन्नकालात्पुरा पूर्वं रोगादिभिः पीड्यमानमप्येनं प्राणो न जहाति ॥ १० ॥

'यन्तम्'—जाते हुए [वायु] के पीछे जो यह शब्द उदित होता है और जो अध्यात्मपक्षमें जीवनका हेतुभूत प्राण है, उनको यहाँ एक करके कहा है। 'असु–प्राण अर्थात् जीवनका हेतु'—यह उसका गुण है। उसका फल यह है कि वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है—उसे कर्मवश जितनी आयु प्राप्त होती है [उसका वह भोग करता है]। उसके कर्मफलसे मर्यादित समयसे पूर्व, रोगादिसे पीड़ित होनेपर भी, प्राण उसे नहीं छोड़ता ॥ १० ॥

गार्ग्यद्वारा दिग्ब्रह्मका प्रतिपादन और अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो दिशाओंमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो; मैं इसकी द्वितीय और अनपगरूपसे उपासना करता हूँ।'

जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह द्वितीयवान् होता है और उससे गणका विच्छेद नहीं होता ॥ ११ ॥

दिक्षु कर्णयोर्हृदि चैका देवता अश्विनौ देवाववियुक्तस्वभावौ । गुणस्तस्य द्वितीयवत्त्वमनपगत्वमवियुक्तता चान्योन्यं दिशामश्विनोश्चैवंधर्मित्वात् । तदेव च फलमुपासकस्य—गणाविच्छेदो द्वितीयवत्त्वं च ॥ ११ ॥

दिशा, कर्ण और हृदयमें एक ही देवता अश्विनीकुमार हैं जो कभी वियुक्त होनेवाले नहीं हैं। अतः उस देवताका गुण द्वितीयवत्त्व और अनपगत्व—अवियुक्तता है; क्योंकि दिशा और अश्विनीकुमार ये परस्पर ऐसे ही धर्मवाले हैं। तथा इस उपासकको मिलनेवाला फल भी वही है—गणसे विच्छेद न होना और द्वितीयवान् (दूसरेसे युक्त) होना ॥ ११ ॥

गार्ग्यद्वारा छायाब्रह्मका प्रतिपादन और अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वँ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥ १२ ॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो छायामय पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं मृत्युरूपसे उपासना करता हूँ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोकमें सारी आयु प्राप्त करता है और इसके पास समयसे पहले मृत्यु नहीं आता ॥ १२ ॥

छायायां बाह्ये तमस्यध्यात्मं च आवरणात्मकेऽज्ञाने हृदि चैका

छायामें—बाह्य अन्धकारमें और शरीरान्तर्गत आवरणरूप अज्ञानमें तथा हृदयमें भी एक ही देवता है।

देवता । तस्या विशेषणं मृत्युः । फलं सर्वं पूर्ववत्, मृत्योरनागमनेन रोगादिपीडाभावो विशेषः ॥ १२ ॥

उसका विशेषण मृत्यु है । फल सारा पहलेही[1] के समान है, मृत्युके न आनेसे रोगादि पीडाका अभाव रहना—इतना विशेष है ॥ १२ ॥

गार्ग्यद्वारा देहान्तर्गत ब्रह्मका प्रतिपादन और अजातशत्रुद्वारा उसका प्रत्याख्यान

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३ ॥

वह गार्ग्य बोला 'यह जो आत्मामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं' इसके विषयमें बात मत करो; इसकी तो मैं आत्मन्वीरूपसे उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय आत्मन्वी होता है और उसकी प्रजा भी आत्मन्विनी होती है ।' तब वह गार्ग्य चुप हो गया ॥१३॥

आत्मनि प्रजापतौ बुद्धौ च हृदि चैका देवता । तस्या आत्मन्वी—आत्मवानिति विशेषणम् । फलम्—आत्मन्वी ह भवत्यात्मवान्भवति, आत्मन्विनी हास्य प्रजा भवति । बुद्धिबहुलत्वात्प्रज्ञायां

आत्मामें अर्थात् प्रजापति, बुद्धि और हृदयमें भी एक ही देवता है । उसका 'आत्मन्वी' अर्थात् 'आत्मवान्' यह विशेषण है । फल—आत्मन्वी अर्थात् आत्मवान् होता है' तथा उसकी प्रजा भी आत्मन्विनी होती है । बुद्धियोंकी बहुलता

1. दशम मन्त्रोक्त फलके समान ।

सम्पादनमिति विशेषः । स्वयं परिज्ञातत्वेनैवं क्रमेण प्रत्याख्यातेषु ब्रह्मसु स गार्ग्यः क्षीणब्रह्मविज्ञानोऽप्रतिभासमानोत्तरस्तूष्णीमवाक्शिरा आस ॥१३॥

होनेके कारण प्रजामें भी उस फलका सम्पादन होता है—यह विशेष बात है। अपनेको ज्ञात होनेके कारण अजातशत्रुद्वारा गार्ग्यके बतलाये हुए ब्रह्मोंका इस प्रकार क्रमशः प्रत्याख्यान होनेपर जिसका ब्रह्मज्ञान क्षीण हो गया है, वह गार्ग्य कोई उत्तर न सूझनेके कारण चुप और नतमस्तक हो गया ॥ १३ ॥

गार्ग्यका पराभव और अजातशत्रुके प्रति उसकी उपसत्ति

तं तथाभूतमालक्ष्य गार्ग्यम्—

उस गार्ग्यको ऐसी स्थितिमें देखकर—

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥ १४ ॥

वह अजातशत्रु बोला, 'बस, क्या इतना ही है ?' [गार्ग्य--]'हाँ, इतना ही है।' [अजातशत्रु--] 'इतनेसे तो ब्रह्म विदित नहीं होता।' वह गार्ग्य बोला, 'मैं तुम्हारे प्रति उपसन्न होऊँ' ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः—एतावन्नू३ इति । किमेतावद्‍ब्रह्म निर्ज्ञातम्, आहोस्विदधिकमप्यस्तीति ? इतर आहैतावद्धीति । नैतावता विदितेन ब्रह्म विदितं भवतीत्याहाजातशत्रुः, किमर्थं गर्वितोऽसि ब्रह्म ते ब्रवाणीति ।

वह अजातशत्रु बोला, 'क्या इतना ही है ?' अर्थात् 'क्या तुम्हें इतना ही ब्रह्म विदित है या इससे कुछ अधिक भी जानते हो ?' गार्ग्यने कहा, 'बस इतना ही जानता हूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'इतना जाननेसे तो ब्रह्म नहीं जाना जाता। फिर तुम ऐसा गर्व क्यों करते थे कि मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँगा।'

किमेतावद्विदितं विदितमेव न भवति ? इत्युच्यते—न, फलवद्विज्ञानश्रवणात् । न चार्थवादत्वमेव वाक्यानामवगन्तुं शक्यम्; अपूर्वविधानपराणि हि वाक्यानि प्रत्युपासनोपदेशं लक्ष्यन्ते—'अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानाम्' इत्यादीनि । तदनुरूपाणि च फलानि सर्वत्र श्रूयन्ते विभक्तानि । अर्थवादत्वे एतदसमञ्जसम् ।

कथं तर्हि नैतावता विदितं भवतीति ? नैष दोषः, अधिकृतापेक्षत्वात् । ब्रह्मोपदेशार्थं हि शुश्रूषवेऽजातशत्रवेऽमुख्यब्रह्मविद्गार्ग्यः प्रवृत्तः, स युक्त एव मुख्यब्रह्मविदाजातशत्रुणामुख्यब्रह्मविद्गार्ग्यो वक्तुम्—यन्मुख्यं ब्रह्म वक्तुं प्रवृत्तस्त्वं तन्न जानीष इति । यद्यमुख्यब्रह्मविज्ञानमपि प्रत्याख्यायेत, तदैतावन्नेति न

तो क्या इतना जानना जानना ही नहीं होता ? इसपर कहते हैं—ऐसी बात नहीं है, यहाँ तो फलयुक्त विज्ञान (उपासना) का श्रवण है । इन वाक्योंको अर्थवाद भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि ये 'अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानाम्' इत्यादि वाक्य प्रत्येक उपासनाके उपदेशमें अपूर्व विधि करनेवाले दिखायी देते हैं । और उनके अनुसार ही सर्वत्र अलग-अलग फल सुने जाते हैं । अर्थवाद होनेपर इन सबका सामञ्जस्य नहीं हो सकता ।

तो फिर ऐसा क्यों कहा कि इतनेसे ही ब्रह्म ज्ञात नहीं होता ? यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह कथन अधिकारी पुरुषोंकी अपेक्षासे है । अमुख्य ब्रह्मको [परब्रह्मरूपसे] जाननेवाला गार्ग्य ब्रह्मोपदेश सुननेके इच्छुक अजातशत्रुको ब्रह्मका उपदेश करनेके लिये प्रवृत्त हुआ था । अतः मुख्य ब्रह्मवेत्ता अजातशत्रुद्वारा अमुख्य ब्रह्मज्ञ गार्ग्यके प्रति ऐसा कहा जाना उचित ही है कि जिस मुख्य ब्रह्मका उपदेश करनेके लिये तुम प्रवृत्त हुए थे, उसे तुम नहीं जानते हो । यदि यहाँ अमुख्य ब्रह्मके विज्ञानका भी निषेध किया गया होता तो 'इतनेही-

ब्रूयात्, न किञ्चिज्ज्ञातं त्वयेत्येवं ब्रूयात्। तस्माद्भवन्त्येतावन्त्यविद्याविषये ब्रह्माणि। एतावद्विज्ञानद्वारत्वाच्च परब्रह्मविज्ञानस्य, युक्तमेव वक्तुम्—नैतावता विदितं भवतीति। अविद्याविषये विज्ञेयत्वं नामरूपकर्मात्मकत्वं चैषां तृतीयेऽध्याये प्रदर्शितम्। तस्मात् 'नैतावता विदितं भवति' इति ब्रुवता अधिकं ब्रह्म ज्ञातव्यमस्तीति दर्शितं भवति।

से [ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता]' ऐसा नहीं कहा जाता, अपितु यही कहा जाता कि 'तुम कुछ भी नहीं जानते।' अतः इतने ब्रह्म अविद्याके अन्तर्गत हैं। इतना विज्ञान परब्रह्मविज्ञानका द्वार है, इसलिये यह कहना उचित ही है कि 'इतनेसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता।' ये ब्रह्म अविद्याके क्षेत्रमें विज्ञेय (उपास्य) और नामरूप कर्मात्मक हैं, यह बात तृतीय[1] अध्यायमें दिखायी गयी है। अतः 'इतनेसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता' ऐसा कहकर यह दिखाया गया है कि अभी इससे अधिक ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना है।

तच्चानुपसन्नाय न वक्तव्यम् इत्याचारविधिज्ञो गार्ग्यः स्वयमेवाह—उप त्वा यानीति—उपगच्छानीति त्वाम्, यथान्यः शिष्यो गुरुम्॥ १४॥

उस ब्रह्मका उपदेश अनुपसन्नको (जो शिष्यभावसे शरणमें न आया हो उसको) नहीं करना चाहिये। अतः आचारविधिको जाननेवाला गार्ग्य स्वयं ही कहता है; 'मैं तुम्हारे प्रति उपसन्न होऊँ, जैसे कि कोई दूसरा शिष्य अपने गुरुके प्रति होता है'॥ १४॥

गार्ग्यका हाथ पकड़कर अजातशत्रुका एक सोये हुए पुरुषके पास जाना और प्राणोंके नामसे न उठनेपर उसे हाथ दबाकर जगाना

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्या-

1. उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें।

मीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनापेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

उस अजातशत्रुने कहा, 'ब्राह्मण क्षत्रियकी शरणमें इस आशासे जाय कि यह मुझे ब्रह्मका उपदेश करेगा, यह तो विपरीत है। तो भी मैं तुम्हें उसका ज्ञान कराऊँगा ही।' तब वह उसका हाथ पकड़कर उठा और वे दोनों एक सोये हुए पुरुषके पास गये। अजातशत्रुने उसे 'हे ब्रह्म! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्!' इन नामोंसे पुकारा। परन्तु वह न उठा। तब उसे हाथसे दबा-दबाकर जगाया तो वह उठ बैठा ॥ १५ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं विपरीतं चैतत् किं तत्? यद्ब्राह्मण उत्तमवर्ण आचार्यत्वेऽधिकृतः सन् क्षत्रियमनाचार्यस्वभावमुपेयात्—उपगच्छेच्छिष्यवृत्त्या ब्रह्म मे वक्ष्यतीति। एतदाचारविधिशास्त्रेषु निषिद्धम्; तस्मात्तिष्ठ त्वमाचार्य एव सन्। विज्ञपयिष्याम्येव त्वामहं यस्मिन्विदिते ब्रह्म विदितं भवति यत्तन्मुख्यं ब्रह्म वेद्यम्।

उस अजातशत्रुने कहा—'यह तो प्रतिलोम—विपरीत है। क्या? यह कि उत्तम वर्ण ब्राह्मण आचार्यत्वका अधिकारी होकर भी, इस उद्देश्यसे कि यह मुझे ब्रह्मका उपदेश करेगा, जिसका आचार्यत्वका स्वभाव नहीं है, उस क्षत्रियके प्रति उपसन्न यानी शिष्यभावसे प्राप्त हो। यह आचारविधिका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें निषिद्ध माना गया है; अतः तुम आचार्यरूपसे ही स्थित रहो। फिर भी, जिसका ज्ञान होनेपर ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है और जो मुख्य ब्रह्म वेद्य है, उसका ज्ञान मैं तुम्हें कराऊँगा ही।'

तं गार्ग्यं सलज्जमालक्ष्य विश्रम्भजननाय पाणौ हस्त आदाय गृहीत्वोत्तस्थावुत्थितवान् । तौ ह गार्ग्याजातशत्रू पुरुषं सुप्तं राजगृहप्रदेशे क्वचिदाजग्मतुरागतौ । तं च पुरुषं सुप्तं प्राप्य एतैर्नामभिः 'बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्' इत्येतैरामन्त्रयाञ्चक्रे। एवमामन्त्र्यमाणोऽपि स सुप्तो नोत्तस्थौ, तमप्रतिबुध्यमानं पाणिना आपेषमापिष्यापिष्य बोधयाञ्चकार प्रतिबोधितवान्; तेन स होत्तस्थौ । तस्माद्यो गार्ग्येणाभिप्रेतः, नासावस्मिञ्छरीरे कर्त्ता भोक्ता ब्रह्मेति ।

फिर उस गार्ग्यको लज्जायुक्त देख उसे विश्वास उत्पन्न करनेके लिये वह उसका हाथ पकड़कर खड़ा हुआ । और वे गार्ग्य तथा अजातशत्रु राजभवनके भीतर कहीं सोये हुए पुरुषके पास आये । उस सोये हुए पुरुषके पास पहुँचकर अजातशत्रुने उसे 'हे बृहन् ! हे पाण्डरवास ! हे सोम राजन् !' इन नामोंसे पुकारा । इस प्रकार पुकारनेपर भी वह सोया हुआ पुरुष न उठा, तब उस न जागनेवाले पुरुषको हाथसे दबा-दबाकर जगाने लगा, इससे वह उठ बैठा । अतः जिसे गार्ग्य ब्रह्मरूपसे मानता था, वह इस शरीरमें कर्ता-भोक्ता ब्रह्म नहीं है ।

सुप्तपुरुषाभिसरणहेतुः परामृश्यते

कथं पुनरिदमवगम्यते सुप्तपुरुषगमनतत्सम्बोधनानुत्थानैर्गार्ग्याभिमतस्य ब्रह्मणोऽब्रह्मत्वं ज्ञापितमिति ?

शङ्का-किंतु यह कैसे जाना जाता है कि सुषुप्त पुरुषके पास जाने, उसे पुकारने और उसके न उठनेसे गार्ग्यके अभिमत ब्रह्मका अब्रह्मत्व सूचित किया गया है ?

जागरितकाले यो गार्ग्याभिप्रेतः पुरुषः कर्त्ता भोक्ता ब्रह्म संनिहितः करणेषु यथा, तथाजातशत्र्वभिप्रेतोऽपि तत्स्वामी भृत्ये-

समाधान-गार्ग्यका अभिप्रेत जो पुरुष है, वह जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें कर्ता-भोक्ता ब्रह्म है और वह इन्द्रियोंमें सन्निहित है, उसी प्रकार अजातशत्रुका अभिप्रेत उसका स्वामी भी भृत्योंमें राजाके समान उनमें

ष्विव राजा संनिहित एव। किं तु भृत्यस्वामिनो गार्ग्याजातशत्र्वभिप्रेतयोर्यद्विवेकावधारणकारणं तत्सङ्कीर्णत्वादनवधारितविशेषम्। यद्द्रष्टृत्वमेव भोक्तुर्न दृश्यत्वम्, यच्चाभोक्तुर्दृश्यत्वमेव न तु द्रष्टृत्वम्, तच्चोभयमिह सङ्कीर्णत्वाद्विविच्य दर्शयितुमशक्यमिति सुप्तपुरुषगमनम्।

सन्निहित ही है। किंतु गार्ग्यके माने हुए भृत्यस्थानीय ब्रह्म और अजातशत्रुके अभिमत स्वामिस्थानीय ब्रह्मके पार्थक्यनिश्चयका जो कारण है, वह संकीर्ण (मिला हुआ) है, इसलिये उनके भेदका निश्चय नहीं होता। भोक्तामें द्रष्टृत्व (साक्षित्व) ही है; दृश्यत्व नहीं है, इस प्रकारके विवेक-निश्चयका जो कारण है तथा अभोक्तामें दृश्यत्व ही है, द्रष्टृत्व नहीं है—ऐसे विवेकके निश्चयका जो कारण है, वे दोनों ही यहाँ जागरित अवस्थामें मिले होनेके कारण अलग-अलग करके नहीं दिखाये जा सकते; इसीसे उन दोनोंको सोये हुए पुरुषके पास जाना पड़ा।

प्राणस्य भोक्तृत्वाभोक्तृत्वविवेचनम्

ननु सुप्तेऽपि पुरुषे विशिष्टैर्नामभिरामन्त्रितो भोक्तैव प्रतिपत्स्यते नाभोक्तेति नैव निर्णयः स्यादिति।

पूर्व०—किंतु सुषुप्त पुरुषमें भी विशिष्ट नामोंसे पुकारे जानेपर [चेतन] भोक्ता ही समझेगा, [अचेतन] अभोक्ता नहीं। इसलिये तब भी निर्णय नहीं होगा।

न, निर्धारितविशेषत्वाद्गार्ग्याभिप्रेतस्य; यो हि सत्येनच्छन्नः प्राण आत्मामृतो वागादिष्वनस्तमितो निम्लोचत्सु, यस्यापः

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि गार्ग्यके अभिमत ब्रह्मका विशेषरूप निश्चित कर दिया गया है। जो सत्यसे आच्छादित प्राण आत्मा अर्थात् अमृत वागादिके अस्त हो जानेपर भी अस्त नहीं होता, जिसका जल

शरीरं पाण्डरवासाः, यश्चासपत्नत्वाद् बृहन्, यश्च सोमो राजा षोडशकलः, स स्वव्यापारारूढो यथानिर्ज्ञात एवानस्तमितस्वभाव आस्ते। न चान्यस्य कस्यचिद्व्यापारस्तस्मिन्काले गार्ग्येणाभिप्रेयते तद्विरोधिनः। तस्मात्स्वनामभिरामन्त्रितेन प्रतिबोद्धव्यम्, न च प्रत्यबुध्यत। तस्मात्पारिशेष्याद्गार्ग्याभिप्रेतस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मणः।

भोक्तृस्वभावश्चेद् भुञ्जीतैव स्वं विषयं प्राप्तम्। न हि दग्धृस्वभावःप्रकाशयितृस्वभावः सन्वह्निस्तृणोलपादि दाह्यं स्वविषयं प्राप्तं न दहति, प्रकाश्यं वा न प्रकाशयति। न चेद्दहति प्रकाशयति वा प्राप्तं स्वं विषयम्, नासौ वह्निर्दग्धा प्रकाशयिता वेति निश्चीयते।

शरीर है, इसलिये जो पाण्डरवासा है तथा जो शत्रुहीन होनेके कारण बृहन् है और जो सोलह कलाओंवाला सोम राजा है, वह अपने व्यापारमें तत्पर हुआ पहले जैसा जाना गया है, उसीके अनुसार अनस्तमितस्वभाव[1] रहता है। इसके सिवा इसके विरोधी किसी अन्यका व्यापार गार्ग्यको उस कालमें अभिमत नहीं है। इसलिये अपने नामोंसे पुकारे जानेपर उसे जागना चाहिये, किंतु वह जागा नहीं। अतः परिशेषरूपसे गार्ग्यके अभिमत ब्रह्मका अभोक्तृत्व ही सिद्ध होता है।

यदि वह भोक्तृस्वभाव होता तो अपनेको प्राप्त हुए विषयका भोग करता ही। अग्नि जलाने और प्रकाश करनेके स्वभाववाला होकर भी अपनी पहुँचके भीतर आये हुए तृण और उलप (बालतृण) आदि दाह्य पदार्थोंको न जलावे तथा प्रकाश्य वस्तुओंको प्रकाशित न करे—यह नहीं हो सकता। यदि वह अपनी पहुँचके भीतर आये हुए पदार्थोंको भी दग्ध और प्रकाशित नहीं करता तो वह अग्नि जलाने या प्रकाशित करनेवाला है—ऐसा निश्चय नहीं किया

१. जो स्वभावतः कभी अस्त नहीं होता।

तथासौ प्राप्तशब्दादिविषयोपलब्धृस्वभावश्चेद् गार्ग्याभिप्रेतः प्राणो बृहन् पाण्डरवास इत्येवमादिशब्दं स्वं विषयमुपलभेत यथा प्राप्तं तृणोलपादि वह्निर्दहेत्प्रकाशयेच्च अव्यभिचारेण तद्वत्। तस्मात्प्राप्तानां शब्दादीनामप्रतिबोधादभोक्तृस्वभाव इति निश्चीयते। न हि यस्य यः स्वभावो निश्चितः, स तं व्यभिचरति कदाचिदपि। अतः सिद्धं प्राणस्याभोक्तृत्वम्।

जा सकता। इसी प्रकार यदि गार्ग्यका अभिमत प्राण अपनेको प्राप्त हुए शब्दोंको ग्रहण करनेके स्वभाववाला है तो अपने विषयभूत बृहन्, पाण्डरवास आदि शब्दको ग्रहण कर लेता, जिस प्रकार कि अपनेको प्राप्त हुए तृण-उलप आदिको अग्नि बिना अपवादके दग्ध और प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार [यहाँ भी समझना चाहिये]। अतः अपनेको प्राप्त हुए शब्दादिका ज्ञान न होनेसे यह निश्चय होता है कि प्राण भोक्तृस्वभाव नहीं है; क्योंकि जिसका जो निश्चित स्वभाव होता है वह उसको कभी नहीं त्यागता। इससे प्राणका अभोक्तृत्व ही सिद्ध होता है।

सम्बोधनार्थनामविशेषेण सम्बन्धाग्रहणादप्रतिबोध इति चेत्?

स्यादेतत्—यथा बहुष्वासीनेषु स्वनामविशेषेण सम्बन्धाग्रहणान्मामयं सम्बोधयतीति, शृण्वन्नपि सम्बोध्यमानो विशेषतो न प्रति-

पूर्व०—सम्बोधनके लिये प्रयोग किये हुए नामविशेषसे अपना सम्बन्ध ग्रहण न करनेके कारण प्राणको अप्रतिबोध रहा हो तो? अर्थात् यदि ऐसी बात हो कि जिस प्रकार बहुतसे बैठे हुए पुरुषोंमें अपने नामविशेषसे सम्बन्ध ग्रहण न करनेके कारण अर्थात् यह मुझे ही पुकारता है, ऐसा न समझ सकनेके कारण कोई पुरुष पुकारे जानेपर सुनते हुए भी विशेषरूपसे नहीं समझता,

पद्यते, तथेमानि बृहन्नित्येवमादीनि मम नामानीत्यगृहीतसम्बन्धत्वात्प्राणो न गृह्णाति सम्बोधनार्थं शब्दम्, न त्वविज्ञातृत्वादेवेति चेत् ?

न; देवताभ्युपगमेऽग्रहणानुपपत्तेः। यस्य हि चन्द्राद्यभिमानिनी देवता अध्यात्मं प्राणो भोक्ता अभ्युपगम्यते, तस्य तथा संव्यवहाराय विशेषनाम्ना सम्बन्धोऽवश्यं ग्रहीतव्यः, अन्यथा आह्वानादिविषये संव्यवहारोऽनुपपन्नः स्यात्।

व्यतिरिक्तपक्षेऽप्यप्रतिपत्तेरयुक्तमिति चेत् ? यस्य च प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता, तस्यापि बृहन्नित्यादिनामभिः सम्बोधने बृहत्त्वादिनाम्नां तदा तद्विषयत्वा-

उसी प्रकार 'ये बृहन् इत्यादि मेरे ही नाम हैं'—ऐसा सम्बन्ध ग्रहण न करनेके कारण प्राण अपनेको सम्बोधन करनेके लिये प्रयोग किये हुए शब्दोंको ग्रहण नहीं करता, अविज्ञाता होनेके कारण ही नहीं; तो ?

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है, क्योंकि देवता माना जानेके कारण उसका नामसे सम्बन्ध ग्रहण न करना सम्भव नहीं है।[1] जिसके मतमें चन्द्र आदिका अभिमानी देवता अध्यात्म प्राण भोक्ता माना जाता है, उसके सिद्धान्तानुसार उस प्रकारके सम्यग् व्यवहारके लिये उसे अपने विशेष नामसे अवश्य सम्बन्ध ग्रहण करना चाहिये; नहीं तो आवाहन आदिके विषयमें ठीक-ठीक व्यवहार होना असम्भव होगा।[2]

पूर्व०—[भोक्ताको प्राणादिसे] व्यतिरिक्त माना जाय तब भी तो वह [पुकारनेपर] नहीं समझता, इसलिये तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। अर्थात् जिसके मतमें भोक्ता प्राणसे भिन्न है, उसके सिद्धान्तानुसार भी जब उसे बृहन् इत्यादि नामोंसे पुकारा जाय तो

१. क्योंकि देवता सर्वज्ञ होता है।

२. तात्पर्य यह है कि यदि चन्द्राभिमानी देवताको अपने अभिधायक नामके साथ अपने सम्बन्धका ज्ञान न होगा तो उसके उद्देश्यसे किये हुए आवाहन, स्तुति, याग एवं प्रणामादिकी सफलता नहीं होगी।

ऽप्रतिपत्तिर्युक्ता। न च कदाचिदपि बृहत्त्वादिशब्दैः सम्बोधितः प्रतिपद्यमानो दृश्यते। तस्मादकारणमभोक्तृत्वे सम्बोधनाप्रतिपत्तिरिति चेत्?

न; उद्गतस्तावन्मात्राभिमानानुपपत्तेः। यस्य प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता स प्राणादिकरणवान्प्राणी तस्य न प्राणदेवतामात्रेऽभिमानो यथा हस्ते। तस्मात्प्राणनामसम्बोधने कृत्स्नाभिमानिनो युक्तैवाप्रतिपत्तिः; न तु प्राणस्यासाधारणनामसंयोगे, देवतात्म-

उसे उसका ज्ञान होना चाहिये; क्योंकि उस समय बृहत्त्वादि नाम उसीको विषय करनेवाले होते हैं। किंतु उसे भी बृहत्त्वादि शब्दोंसे पुकारे जानेपर कभी उनका ज्ञान होता दिखायी नहीं देता। अतः सम्बोधनको न समझना यह अभोक्तृत्वमें कारण नहीं हो सकता—ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्राणादिमान्‌को केवल प्राणादिमात्रका अभिमान होना सम्भव नहीं है। जिसके मतमें भोक्ता प्राणादिसे भिन्न है [उसके सिद्धान्तानुसार] वह प्राणादि इन्द्रियोंवाला प्राणी होना चाहिये। उसे प्राणदेवतामात्रमें [आत्मत्वका] अभिमान नहीं हो सकता, जैसे हाथमें [हाथवालेका अभिमान नहीं होता]। अतः सम्पूर्ण शरीरके अभिमानीको, केवल प्राणका नाम लेकर पुकारे जानेपर उसमें अप्रतिपत्ति होना उचित ही है; किंतु प्राणका, उसके किसी असाधारण नामसे संयोग होनेपर न समझना युक्त नहीं है।[1] आत्माको

1. अभिप्राय यह है कि यदि कोई कहे 'बृहत्' 'पाण्डरवास' आदि नाम साधारण प्राणके वाचक नहीं हैं; अपितु प्राणाभिमानी देवताके वाचक हैं, इसलिये यदि उनके द्वारा किये हुए सम्बोधनको प्राणने ग्रहण नहीं किया तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती —तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार जातिवाचक गौ

त्वानभिमानाच्चात्मनः ।

स्वनामप्रयोगेऽप्यप्रतिपत्तिदर्शनादयुक्तमिति चेत्? सुषुप्तस्य यल्लौकिकं देवदत्तादि नाम तेनाभिसम्बोध्यमानः कदाचिन्न प्रतिपद्यते सुषुप्तः। तथा भोक्तापि सन्प्राणो न प्रतिपद्यत इति चेत्?

न, आत्मप्राणयोः सुप्तासुप्तत्वविशेषोपपत्तेः। सुषुप्तत्वात्प्राणग्रस्ततयोपरतकरण आत्मा स्वं नाम प्रयुज्यमानमपि न प्रतिपद्यते। न तु तदसुप्तस्य प्राणस्य

तो देवतात्मत्वका अभिमान न होनेके कारण [इस प्रकारकी अप्रतिपत्ति हो सकती है]।

पूर्व०—अपने नामका प्रयोग करनेपर भी अप्रतिपत्ति होती देखी जाती है, इसलिये ऐसा कहना उचित नहीं। अर्थात् सोये हुए पुरुषका जो देवदत्तादि लौकिक नाम होता है उसके द्वारा पुकारे जानेपर भी कभी-कभी सुषुप्त पुरुषको उसका ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार भोक्ता होते हुए भी प्राणको उसका ज्ञान नहीं होता—यदि ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि शरीर और प्राणमें सुप्त और असुप्त रहनेका भेद उपपन्न है। शरीर सोया रहता है, उसकी इन्द्रियाँ प्राणग्रस्त रहनेके कारण निवृत्त हो जाती हैं; इसलिये उसे अपने नामका प्रयोग किये जानेपर भी उसका ज्ञान नहीं होता। किंतु प्राण [उस समय भी] नहीं सोता, इसलिये उसका भोक्तृत्व

शब्द प्रत्येक व्यक्तिका भी बोधन करता है, उसी प्रकार व्यापक प्राणको भी प्राणाभिमानी वायु, चन्द्र इत्यादि देवताओंसे अभिन्न होनेका अभिमान होना ही चाहिये और उनके नामद्वारा पुकारे जानेपर उसकी प्रतिपत्ति भी होनी ही चाहिये। इसपर यदि कोई कहे कि प्राणव्यतिरिक्त आत्मा भी तो व्यापक है, फिर प्राणाभिमानी देवताओंके नामोंसे उसे ही बोध क्यों नहीं होता ? तो इसके उत्तरमें आगेकी बात कही गयी है।

भोक्तृत्व उपरतकरणत्वं सम्बोधनाग्रहणं वा युक्तम् ।

मानने पर उनमें उपरतकरणत्व और सम्बोधनके अग्रहणकी उपपत्ति नहीं हो सकती ।

अप्रसिद्धनामभिः सम्बोधनमयुक्तमिति चेत्—सन्ति हि प्राणविषयाणि प्रसिद्धानि प्राणादिनामानि, तान्यपोह्य अप्रसिद्धैर्बृहत्त्वादिनामभिः सम्बोधनमयुक्तम्, लौकिकन्यायापोहात् । तस्माद्भोक्तुरेव सतः प्राणस्याप्रतिपत्तिरिति चेत् ?

पूर्व०-किंतु अप्रसिद्ध नामोंसे सम्बोधन करना तो उचित नहीं है । प्राण सम्बन्धी प्राण आदि प्रसिद्ध नाम भी हैं ही; उन्हें छोड़कर बृहत्त्वादि अप्रसिद्ध नामोंसे पुकारना तो उचित नहीं है, क्योंकि इससे लौकिक न्याय भी भंग होता है । इसीसे भोक्ता होनेपर भी प्राणको उसकी अप्रतिपत्ति हुई—ऐसा कहें तो ?

न देवताप्रत्याख्यानार्थत्वात् । केवलसम्बोधनमात्राप्रतिपत्त्यैव असुप्तस्याध्यात्मिकस्य प्राणस्याभोक्तृत्वे सिद्धे यच्चन्द्रदेवताविषयैर्नामभिःसम्बोधनम्, तच्चन्द्रदेवता प्राणोऽस्मिञ्छरीरे भोक्तेति गार्ग्यस्य विशेषप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम् । न हि तल्लौकिकनाम्ना सम्बोधने शक्यं कर्तुम् । प्राणप्रत्याख्याने-

सिद्धान्ती-ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह सम्बोधन देवताका प्रत्याख्यान (निषेध) करनेके लिये था । केवल सम्बोधनमात्रकी अप्रतिपत्तिसे ही असुप्त आध्यात्मिक प्राणका अभोक्तृत्व सिद्ध हो सकनेपर भी जो उसे चन्द्रदेवतासम्बन्धी नामोंसे सम्बोधन किया गया है, वह गार्ग्यकी इस विशेष प्रतिपत्तिका निराकरण करनेके लिये है कि इस शरीरमें चन्द्रदेवता ही भोक्ता प्राण है । यह निराकरण [प्राणादि] लौकिक नाम-से सम्बोधन करनेपर नहीं किया जा सकता था । प्राणके प्रत्याख्यानसे

नैव प्राणग्रस्तत्वात्करणान्तराणां प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्भोक्तृत्वाशङ्कानुपपत्तिः । देवतान्तराभावाच्च ।

ही अन्य इन्द्रियोंके भोक्तृत्वकी आशङ्का भी नहीं हो सकती, क्योंकि सुषुप्तिके समय प्राणमें ही लीन रहनेके कारण उनकी प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है। तथा शरीरमें इनसे भिन्न कोई और देवता नहीं है; [इसलिये देवतान्तरको भोक्ता मानना भी युक्तिसंगत नहीं है]।

नन्वतिष्ठा इत्याद्यात्मन्वीत्यन्तेन ग्रन्थेन गुणवद्देवताभेदस्य दर्शितत्वादिति चेत् ?

पूर्व०—किंतु 'अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानाम्' से लेकर 'आत्मन्वी ह भवति' यहाँतकके ग्रन्थसे विशेष-विशेष गुणोंसे युक्त देवताका भेद दिखलाये जानेके कारण [प्राणसे भिन्न कोई अन्य देवता नहीं है—ऐसा कहना उचित नहीं है]।

न, तस्य प्राण एवैकत्वाभ्युपगमात्सर्वश्रुतिष्वरनाभिनिदर्शनेन । "सत्येनच्छन्नम् प्राणो वा अमृतम्" (बृ० उ० १ । ६ । ३) इति च प्राणबाह्यस्यान्यस्यानभ्युपगमाद्भोक्तुः; "एष उ ह्येव सर्वे देवाः" "कतम एको देव इति प्राणः" (३ । ९ । ९) इति च सर्वदेवानां प्राण एवैकत्वोपपादनाच्च ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि सारी श्रुतियोंमें अर और नाभिके दृष्टान्तद्वारा उनका प्राणमेंही एकत्व माना गया है। "सत्यसे आच्छादित है, प्राण ही अमृत है" इत्यादि वाक्योंसे प्राणसे बाह्य अन्य भोक्ता स्वीकार नहीं किया गया, तथा "यही समस्त देवगण है" "वह एक देव कौन है ? प्राण" इस वाक्यसे भी प्राणमें ही समस्त देवताओंके एकत्वका उपपादन किया गया है।

तथा करणभेदेष्वनाशङ्का, देहभेदेष्विव स्मृतिज्ञानेच्छादि-

इसी प्रकार नेत्रादि विभिन्न इन्द्रियोंमें भी भोक्तृत्वकी आशङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि विभिन्न देहोंके समान उनमें स्मृति-ज्ञान एवं इच्छादिका

प्रतिसन्धानानुपपत्तेः; न ह्यन्यदृष्टमन्यः स्मरति जानातीच्छति प्रतिसन्दधाति वा। तस्मान्न करणभेदविषया भोक्तृत्वाशङ्काविज्ञानमात्रविषया वा कदाचिदप्युपपद्यते।

प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं है। अन्य पुरुषके देखे हुए पदार्थके विषयमें कोई दूसरा पुरुष स्मरण, जानकारी, इच्छा अथवा प्रतिसन्धान नहीं करता इसलिये विभिन्न इन्द्रियोंके विषयमें अथवा विज्ञानमात्रके विषयमें भोक्तृत्वकी आशङ्का होनी कभी उचित नहीं है।

ननु सङ्घात एवास्तु भोक्ता, किं व्यतिरिक्तकल्पनयेति ?

पूर्व०—अच्छा तो संघातको ही भोक्ता मान लिया जाय, उससे भिन्न भोक्ताकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है ?

न; आपेषणे विशेषदर्शनात्। यदि हि प्राणशरीरसङ्घातमात्रो भोक्ता स्यात्सङ्घातमात्राविशेषात्सदा आपिष्टस्यानापिष्टस्य च प्रतिबोधे विशेषो न स्यात्। सङ्घातव्यतिरिक्ते तु पुनर्भोक्तरि सङ्घातसम्बन्धविशेषानेकत्वात् पेषणापेषणकृतवेदनायाः सुख-

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उसे हाथसे दबानेपर विशेष अनुभव होता देखा जाता है। यदि प्राण और शरीरका संघात ही भोक्ता होता तो [जागने और न जागनेके समय] संघातमात्रमें सदा ही कोई अन्तर न होनेके कारण उसे दबाया जाय अथवा न दबाया जाय उसके जागे रहनेमें कोई विशेषता नहीं होनी चाहिये। किंतु यदि भोक्ता संघातसे भिन्न होगा तो संघातके साथ उसके सम्बन्धविशेषोंकी अनेकता होनेके कारण दबाने या न दबानेसे होनेवाले ज्ञान तथा उत्तम, मध्यम और

दुःखमोहमध्यमाधमोत्तमकर्मफल-भेदोपपत्तेश्च विशेषो युक्तः । न तु सङ्घातमात्रे सम्बन्धकर्मफल-भेदानुपपत्तेर्विशेषो युक्तः ।

तथा शब्दादिपटुमान्द्यादि-कृतश्च । अस्ति चायं विशेषः— यस्मात्स्पर्शमात्रेणाप्रतिबुध्यमानं पुरुषं सुप्तं पाणिना आपेषमापि-ष्यापिष्यबोधयाञ्चकाराजातशत्रुः तस्माद्य आपेषणेन प्रतिबुबुधे ज्वलन्निव स्फुरन्निव कुतश्चिदागत इव पिण्डं च पूर्वविपरीतं बोध-चेष्टाकारविशेषादिमत्त्वेनापाद-यन्, सोऽन्योऽस्ति गार्ग्याभिमत-ब्रह्मभ्यो व्यतिरिक्त इति सिद्धम् ।

प्राणस्य पारार्थ्योपपादनम्

संहतत्वाच्च पारार्थ्योपपत्तिः प्राणस्य । गृहस्य स्तम्भादिवच्छरीरस्य अन्तरुपष्टम्भकः प्राणः शरीरा-दिभिः संहत इत्यवोचाम ।

अधम कर्मोंके सुख-दुःख और मोह-रूप फलभेद सम्भव होनेके कारण उसमें विशेषता हो सकती है । केवल संघातमात्रको भोक्ता माननेपर तो उसके सम्बन्ध और कर्मफलका भेद सम्भव न होनेके कारण कोई विशेषता हो नहीं सकती ।

तथा [केवल संघातको भोक्ता माननेपर] शब्दादिके पटुत्व-मन्दत्वादिसे होनेवाला अनुभवका भेद भी नहीं हो सकता । किंतु यह भेद है ही, क्योंकि अजातशत्रुने स्पर्शमात्रसे न उठनेवाले सुप्त पुरुष-को हाथसे दबा-दबाकर जगाया था । अतः जो दबानेसे जगा तथा जिसने ज्वलित और स्फुरित होते हुएके समान देहमें मानो कहींसे आकर उसे पहलेसे विपरीत बोध, चेष्टा एवं आकारविशेषादिसे युक्त कर दिया वह गार्ग्यके माने हुए ब्रह्मोंसे भिन्न है—ऐसा सिद्ध होता है ।

संहत होनेके कारण भी प्राणकी परार्थता सिद्ध होती है । घरके स्तम्भादिके समान शरीरका आन्तर आधारभूत प्राण शरीरादिसे संहत है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं । तथा

अरनेमिवच्च, नाभिस्थानीय एतस्मिन्सर्वमिति च। तस्माद् गृहादिवत्स्वावयवसमुदायजातीयव्यतिरिक्तार्थं संहन्यत इत्येवमवगच्छाम।

स्तम्भकुड्यतृणकाष्ठादिगृहावयवानां स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्यधर्मनिरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं दृष्ट्वा मन्यामहे, तत्सङ्घातस्य च—तथा प्राणाद्यवयवानां तत्सङ्घातस्य च स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्यधर्मनिरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं भवितुमर्हतीति।

देवताचेतनावत्त्वे समत्वाद् गुणभावानुपगम इति चेत्—

जिस प्रकार अरे और नेमि संहत हैं उसी प्रकार देह और प्राण मिले हुए हैं, एवं नाभिस्थानीय प्राणमें सब इन्द्रियाँ समर्पित हैं [—ऐसा भी कहा जा चुका है]। अतः वह [देहादिसंघात] गृहादिके समान अपने अवयव-समुदायकी जातिवाले पदार्थोंसे भिन्न [आत्मा] के लिये संहत हुआ है—ऐसा हमें जान पड़ता है।

गृहके स्तम्भ, भित्ति, तृण एवं काष्ठादि अवयवोंके जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश, नाम, आकृति और कार्यरूप धर्मसे निरपेक्ष रहकर जिसने सत्ता और स्फूर्ति आदि प्राप्त की है, वही इन विषयोंका द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है तथा उसीके लिये इन स्तम्भ आदिकी और इनके संघातकी स्थिति है—यह देखकर हम ऐसा मानते हैं कि प्राणादि अवयव और उनका संघात भी उसीके लिये होने चाहिये जिसने इनके जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश, नाम, आकृति और कार्यरूप धर्मसे निरपेक्ष रहकर सत्ता आदि प्राप्त की हो और जो इन प्राणादि विषयोंका द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता भी हो।

पूर्व०-प्राणदेवता चेतनावान् होनेके कारण भोक्ताके तुल्य ही है, इसलिये उसका गौणत्व (अप्रधानत्व) नहीं माना जा सकता। [तात्पर्य यह है कि]

प्राणस्य विशिष्टैर्नामभिरामन्त्रण-दर्शनाच्चेतनावत्त्वमभ्युपगतम् । चेतनावत्त्वे च पारार्थ्योपगमः समत्वादनुपपन्न इति चेत् ?

प्राणका विशिष्ट नामोंद्वारा आमन्त्रण देखे जानेसे उसका चेतनावान् होना माना गया है । अतः चेतनावान् होनेपर भोक्ताके तुल्य ही होनेके कारण उसको परार्थ मानना उचित नहीं है—ऐसा कहें तो ?

न; निरुपाधिकस्य केवलस्य विजिज्ञापयिषितत्वात् । क्रियाकारकफलात्मकता ह्यात्मनो नामरूपोपाधिजनिता अविद्याध्यारोपिता । तन्निमित्तो लोकस्य क्रियाकारकफलाभिमानलक्षणः संसारः । स निरुपाधिकात्मस्वरूपविद्यया निवर्तयितव्य इति तत्स्वरूपविजिज्ञापयिषयोपनिषदारम्भः "ब्रह्म ते ब्रवाणि" (बृ० उ० २ । १ । १) "नैतावता विदितं भवति" (२ । १ । १४) इति चोपक्रम्य "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" (४।५।१५) इति चोपसंहारात् । न चातोऽन्यदन्तराले विवक्षितमुक्तं

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि यहाँ केवल निरुपाधिक आत्माका ही ज्ञान कराना अभीष्ट है । आत्माकी क्रिया, कारक एवं फलरूपता तो नाम और रूपकी उपाधिके कारण अविद्यासे आरोपित है । उसीके कारण पुरुषको क्रिया, कारक एवं फलाभिमानरूप संसारकी प्राप्ति हुई है । उसे निरुपाधिक आत्मस्वरूपके ज्ञानसे निवृत्त करना है, इसलिये उसके स्वरूपका विज्ञान करानेकी इच्छासे ही इस उपनिषद्का आरम्भ हुआ है; क्योंकि "मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँ", "इतनेसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता" इस प्रकार आरम्भ करके "अरे, निश्चय इतना ही अमृतत्व है" इस प्रकार उपसंहार किया गया है । बीचमें भी इससे भिन्न कोई और विवक्षित पदार्थ नहीं बतलाया गया ।

वास्ति । तस्मादनवसरः समत्वाद् गुणभावानुपगम इति चोद्यस्य । विशेषवतो हि सोपाधिकस्य संव्यवहारार्थो गुणगुणिभावः, न विपरीतस्य । निरूपाख्यो हि विजिज्ञापयिषितः सर्वस्यामुपनिषदि । "स एष नेति नेति" (३ । ९ । २६) इत्युपसंहारात् । तस्मादादित्यादिब्रह्मभ्य एतेभ्योऽविज्ञानमयेभ्यो विलक्षणोऽन्योऽस्ति विज्ञानमय इत्येतत्सिद्धम् ॥ १५ ॥

अतः 'तुल्य होनेके कारण इसका गुणभाव (पदार्थत्व या अप्रधानत्व) नहीं माना जा सकता'-ऐसी शङ्काके लिये यहाँ अवकाश नहीं है ।

विशेषतः सोपाधिकका ही सम्यक् व्यवहारके लिये गुणगुणिभाव (शेषशेषिभाव) होता है, इससे विपरीत (निरुपाधिक) का नहीं । और समस्त उपनिषद्में निरुपाधिकका ही विज्ञान कराना अभीष्ट है, क्योंकि "वह यह कार्य नहीं है, कारण नहीं है" इस प्रकार उपसंहार किया गया है । अतः यह सिद्ध होता है कि इन अविज्ञानमय आदित्यादि ब्रह्मोंसे विज्ञानमय ब्रह्म भिन्न है ॥ १५ ॥

सुषुप्तिमें विज्ञानमयकी स्थितिके विषयमें अजातशत्रुका प्रश्न

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥ १६ ॥

उस अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था ? और यह कहाँसे आया ?' किंतु गार्ग्य यह न जान सका ॥ १६ ॥

स एवमजातशत्रुर्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं प्रतिपाद्य गार्ग्यमुवाच—यत्र यस्मिन्काले एष विज्ञानमयः

उस अजातशत्रुने इस प्रकार देहसे व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व प्रतिपादन करके गार्ग्यसे कहा—'जिस समय यह विज्ञानमय पुरुष हाथसे

पुरुष एतत्स्वपनं सुप्तोऽभूत्प्रा-
कपाणिपेषप्रतिबोधात्; विज्ञानं
विज्ञायतेऽनेनेत्यन्तःकरणं बुद्धि-
रुच्यते, तन्मयस्तत्प्रायो विज्ञान-
मयः किं पुनस्तत्प्रायत्वम्? तस्मि-
न्नुपलभ्यत्वं तेन चोपलभ्यत्वमु-
पलब्धृत्वं च; कथं पुनर्मयटोऽने-
कार्थत्वे प्रायार्थतैवावगम्यते "स
वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो
मनोमयः" (बृ० उ० ४। ४।
५) इत्येवमादौ प्रायार्थ एव प्रयो-
गदर्शनात्, परविज्ञानविकारत्व-
स्याप्रसिद्धत्वात्, "य एष विज्ञान-
मयः" (२ । १ । १६) इति

दबानेपर जागनेसे पूर्व सोया हुआ था [उस समय वह कहाँ था ?]' जिससे विशेषरूपसे जाना जाता है उस अन्तःकरण यानी बुद्धिको 'विज्ञान'[1] कहते हैं; जो तन्मय अर्थात् तत्प्राय हो वह विज्ञानमय है। किंतु आत्माकी तत्प्रायता (विज्ञानमयता) क्या है ?[2] जो उस (विज्ञान) में प्राप्त होने योग्य है, अथवा जिसे उस (विज्ञान) के ही द्वारा प्राप्त किया जा सकता है तथा जो उपलब्धा (साक्षी) है, उसको 'तत्प्राय' (विज्ञानप्राय) कहते हैं, उसका भाव तत्प्रायत्व है। किंतु 'मयट्' प्रत्ययके अनेक अर्थ होनेपर भी यहाँ उसकी प्रायार्थता ही कैसे जानी जाती है ? 'वह यह आत्मा—ब्रह्म विज्ञानमय और मनोमय है" इत्यादि श्रुतियोंमें इसका प्रायः अर्थमें ही प्रयोग देखा जानेसे, परमात्मरूप विज्ञानका विकारत्व प्रसिद्ध न होनेसे "जो यह विज्ञानमय है" इत्यादि

१. यहाँ विज्ञानमय शब्दमें जो मयट् प्रत्यय है, उसको विकारार्थक मानकर विज्ञानमय शब्दका अर्थ कोई यह न समझ ले कि 'विज्ञान—परमात्माके विकारभूत जीव ही विज्ञानमय हैं।' इसके लिये भाष्यकार विज्ञानमयकी व्युत्पत्ति करते हैं।

२. यहाँ यह शङ्का होती है आत्मा तो असङ्ग है, उसका बुद्धिसे सम्पर्क नहीं हो सकता; अतः आत्माको विज्ञानमय—अन्तःकरणमय बताना उचित नहीं है, इस शङ्काको मिटानेके लिये तत्प्रायत्वका निरूपण करते हैं।

च प्रसिद्धवदनुवादाद् अवयवोपमार्थयोश्चात्रासम्भवात् पारिशेष्यात्प्रायार्थतैव। तस्मात्संकल्पविकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मय इत्येतत्। पुरुषः पुरि शयनात्।

श्रुतियोंमें 'यह' इस प्रकार विज्ञानमयका प्रसिद्धवत् अनुवाद करनेसे तथा [जीव विज्ञानका अवयव या विज्ञानसदृश है—इस प्रकार] अवयव और उपमारूप अर्थ सम्भव न होनेसे परिशेषतः इसकी प्रायार्थता ही सिद्ध होती है। अतः संकल्प-विकल्पादिरूप अन्तःकरण विज्ञान है, तन्मय आत्मा है—ऐसा इसका भावार्थ है। पुरमें (शरीररूप नगरमें) शयन करनेके कारण वह 'पुरुष' है।

क्वैष तदाभूदिति प्रश्नः स्वभावविजिज्ञापयिषया—प्राक्प्रतिबोधात्क्रियाकारकफलविपरीतस्वभाव आत्मेति कार्याभावेन दिदर्शयिषितम्; न हि प्राक्प्रतिबोधात्कर्मादिकार्यं सुखादि किञ्चन गृह्यते; तस्मादकर्मप्रयुक्तत्वात्तथास्वाभाव्यमेवात्मनोऽवगम्यते—यस्मिन्स्वाभाव्येऽभूत्, यतश्च स्वाभाव्यात्प्रच्युतः संसारी स्वभावविलक्षण इति— एतद्विवक्षया

उस समय यह कहाँ था ?—यह प्रश्न आत्माके स्वभाव (स्वरूप) का विशेषरूपसे बोध करानेकी इच्छासे है—जागनेसे पहले आत्मा क्रिया-कारक-फलरूपतासे विपरीत स्वभाववाला है—यह उसके कार्याभावसे दिखाना अभीष्ट है; क्योंकि जागनेसे पहले कर्मादिका कार्य सुख आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता। अतः अकर्मप्रयुक्त होनेके कारण आत्माकी अकर्मस्वभावता ज्ञात होती है—जिस स्वभाववालेमें यह था और जिस स्वभाववालेसे च्युत होकर यह संसारी और भिन्नस्वभाव होता है—यह बतानेकी इच्छासे, जिसमें प्रतिभा-

पृच्छति गार्ग्यं प्रतिभानरहितं बुद्धिव्युत्पादनाय ।

क्वैष तदाभूत् ? कुत एतदागात् इत्येतदुभयं गार्ग्येणैव प्रष्टव्यमासीत्, तथापि गार्ग्येण न पृष्टमिति नोदास्ते अजातशत्रुः, बोधयितव्य एवेति प्रवर्तते । ज्ञपयिष्याम्येवेति प्रतिज्ञातत्वात् ।

एवमसौ व्युत्पाद्यमानोऽपि गार्ग्यो यत्रैष आत्माभूत्प्राक्प्रतिबोधाद् यतश्चैतदागमनमागात् तदुभयं न व्युत्पेदे वक्तुं वा प्रष्टुं वा गार्ग्यो ह न मेने न ज्ञातवान् ॥ १६ ॥

की कमी जान पड़ती है, उस गार्ग्यसे उसकी बुद्धिको व्युत्पन्न (सूक्ष्म विचार-शक्तिसे युक्त) करनेके लिये राजा अजातशत्रु पूछता है ।

'उस समय यह कहाँ था ? और यह कहाँसे आया है' ये दोनों प्रश्न गार्ग्यको ही पूछने चाहिये थे; किंतु गार्ग्यने इन्हें नहीं पूछा, इससे अजातशत्रु ने उदासीन भाव धारण नहीं किया; अपितु यह निश्चय करके कि इसे बोध कराना ही है, वह स्वयं प्रवृत्त हो गया; क्योंकि उसने 'बोध कराऊँगा ही', ऐसी प्रतिज्ञा की थी ।

इस प्रकार सचेत करनेपर भी 'जहाँ यह आत्मा जागनेसे पहले था और जहाँसे इसने आगमन किया है' इन दोनों बातोंको गार्ग्य न समझ सका अर्थात् इन्हें बतलाने या पूछनेका उसे ज्ञान नहीं हुआ ॥ १६ ॥

विज्ञानात्माके शयनस्थानका प्रतिपादन तथा स्वपितिशब्दका निर्वचन

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥ १७ ॥

उस अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब यह सोया हुआ था, उस समय यह विज्ञानके द्वारा इन प्राणोंके विज्ञानको ग्रहण कर यह जो हृदयके भीतर आकाश है उसमें शयन करता है। जिस समय यह उन विज्ञानोंको ग्रहण कर लेता है, उस समय इस पुरुषका 'स्वपिति' नाम होता है। उस समय प्राण गृहीत रहता है, वाक् गृहीत रहती है, चक्षु गृहीत रहता है, श्रोत्र गृहीत रहता है और मन भी गृहीत रहता है' ॥ १७ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्विवक्षितार्थसमर्पणाय—यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्? कुत एतदागात्? इति यदपृच्छाम, तच्छृणूच्यमानम्—

उस अजातशत्रुने विवक्षित अर्थको समर्पण करनेके लिये कहा—यह जो विज्ञानमय पुरुष है; जिस समय यह सोया हुआ था उस समय यह कहाँ था और कहाँसे यह आया है?—इस प्रकार जो हमने पूछा था उसका उत्तर दिया जाता है, सुनो—

यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूत्तत्तदा तस्मिन्काले एषां वागादीनां प्राणानां विज्ञानेनान्तःकरणगताभिव्यक्तिविशेषविज्ञानेन उपाधिस्वभावजनितेन आदाय विज्ञानं वागादीनां स्वस्वविषयगतसामर्थ्यं गृहीत्वा, य एषोऽन्तर्मध्य हृदये हृदयस्याकाशः, य आकाशशब्देन पर एव स्व आत्मोच्यते, तस्मिन्स्वे आत्मन्याकाशे शेते स्वाभाविकेऽसांसारिके। न केवल आकाश एव, श्रुत्यन्तरसामर्थ्यात्—

जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय अन्तःकरणरूप उपाधिके स्वभावसे जनित विज्ञानसे यानी अन्तःकरणगत अभिव्यक्ति (आभास)-विशेषरूप विज्ञानसे वागादिके विज्ञानको अर्थात् अपने-अपने विषयोंमें उनके सामर्थ्यको ग्रहणकर यह जो हृदयान्तर्गत—हृदयके मध्यमें आकाश है, जो 'आकाश' शब्दसे अपना परम आत्मा ही कहा गया है, उस स्वाभाविक असांसारिक स्वात्माकाशमें ही शयन करता है। "हे सौम्य! उस समय यह सत्को ही प्राप्त हो जाता है" इस अन्य श्रुतिकी सामर्थ्यसे

"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा० उ० ६ । ८ । १) इति । लिङ्गोपाधिसम्बन्धकृतं विशेषात्मस्वरूपमुत्सृज्य अविशेषे स्वाभाविके आत्मन्येव केवले वर्तते इत्यभिप्रायः ।

केवल भूताकाशमें ही शयन नहीं करता । तात्पर्य यह है कि लिङ्गोपाधिके सम्बन्धसे होनेवाले अपने विशेष रूपको त्यागकर स्वाभाविक अविशेष शुद्ध आत्मामें ही विद्यमान रहता है ।

यदा शरीरेन्द्रियाध्यक्षतामुत्सृजति, तदासौ स्वात्मनि वर्तत इति कथमवगम्यते ? नामप्रसिद्धया । कासौ नामप्रसिद्धिः ? इत्याह—तानि वागादेर्विज्ञानानि यदा यस्मिन्काले गृह्णात्यादत्ते अथ तदा हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम—एतन्नामास्य पुरुषस्य तदा प्रसिद्धं भवति । गौणमेवास्य नाम भवति स्वमेवात्मानमपीत्यपिगच्छतीति स्वपितीत्युच्यते ।

जिस समय यह शरीर और इन्द्रियोंकी अध्यक्षता छोड़ देता है, उस समय स्वात्मामें ही विद्यमान रहता है, यह कैसे जाना जाता है ?—नामकी प्रसिद्धिसे । वह नामकी प्रसिद्धि क्या है ? सो श्रुति बतलाती है—जिस समय यह उन वागादिके विज्ञानोंको ग्रहण कर लेता है, उस समय यह पुरुष 'स्वपिति' नामवाला होता है—उस समय इस पुरुषका यही नाम प्रसिद्ध होता है । यह इसका गुणजनित ही नाम है । यह स्व अर्थात् आत्माको ही अपीति—अपिगच्छति अर्थात् प्राप्त हो जाता है, इसलिये 'स्वपिति' ऐसा कहा जाता है ।

सत्यं स्वपितीतिनामप्रसिद्धया आत्मनः संसारधर्मविलक्षणं रूपमवगम्यते, न त्वत्र युक्तिरस्तीत्याशङ्क्याह—तत्तत्र स्वापकाले

सचमुच, 'स्वपिति' इस नामकी प्रसिद्धिसे तो आत्माका रूप सांसारिक धर्मोंसे विलक्षण जान पड़ता है—परंतु इसमें कोई युक्ति नहीं है—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—उस समय—उस सुषुप्ति-कालमें प्राण

गृहीत एवं प्राणो भवति। प्राण इति घ्राणेन्द्रियम्, वागादिप्रकरणात्; वागादिसम्बन्धे हि सति तदुपाधित्वादस्य संसारधर्मित्वं लक्ष्यते। वागादयश्चोपसंहृता एव तदा तेन। कथम्? गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः। तस्मादुपसंहृतेषु वागादिषु क्रियाकारकफलात्मताभावात्स्वात्मस्थ एवात्मा भवतीत्यवगम्यते ॥ १७ ॥

गृहीत ही हो जाता है। यहाँ वागादिका प्रकरण होनेसे 'प्राण' शब्दसे घ्राणेन्द्रिय समझना चाहिये; क्योंकि वागादिका सम्बन्ध होनेपर ही उनकी उपाधिसे युक्त होनेके कारण इसका संसारधर्मयुक्त होना देखा जाता है। उस समय उन वागादिका वह उपसंहार ही कर लेता है। किस प्रकार? उस समय वाक् गृहीत रहती है, चक्षु गृहीत रहता है, श्रोत्र गृहीत रहता है। और मन भी गृहीत रहता है। अतः यह ज्ञात होता है कि वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार हो जानेपर क्रिया, कारक और फलरूपताका अभाव हो जानेसे आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है ॥ १७ ॥

स्वप्नवृत्तिका स्वरूप

ननु दर्शनलक्षणायां स्वप्नावस्थायां कार्यकरणवियोगेऽपि संसारधर्मित्वमस्य दृश्यते। यथा च जागरिते सुखी दुःखी बन्धुवियुक्तः शोचति मुह्यते च; तस्माच्छोकमोहधर्मवानेवायम्।

पूर्व०—किंतु दर्शनरूपा स्वप्नावस्थामें तो शरीर और इन्द्रियोंका अभाव होनेपर भी इसकी संसारधर्मता देखी जाती है। जिस प्रकार यह जागरित-अवस्थामें होता है, उसी प्रकार स्वप्नमें भी सुखी, दुःखी और बन्धुओंसे वियुक्त होता है तथा शोक करता और मोहित होता है; इसलिये यह शोक-मोहरूप धर्मोंवाला ही है।

नास्य शोकमोहादयः सुखदुःखादयश्च कार्यकरणसंयोगजनितभ्रान्त्याध्यारोपिता इति ।

न; मृषात्वात् ।

इसके शोक-मोहादि तथा सुख-दुःखादि देह और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाली भ्रान्तिसे आरोपित नहीं हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि स्वप्न मिथ्या होता है ।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥ १८ ॥

जिस समय यह आत्मा स्वप्नवृत्तिसे वर्तता है उस समय इसके वे लोक (कर्मफल) उदित होते हैं। वहाँ भी यह महाराज होता है या महाब्राह्मण होता है अथवा ऊँची-नीची [गतियों] को प्राप्त होता है । जिस प्रकार कोई महाराज अपने प्रजाजनोंको लेकर (स्वाधीन कर) अपने देशमें यथेच्छ विचरता है, उसी प्रकार यह प्राणोंको ग्रहणकर अपने शरीरमें यथेच्छ विचरता है ॥ १८ ॥

स प्रकृत आत्मा यत्र यस्मिन्काले दर्शनलक्षणया स्वप्न्यया स्वप्नवृत्त्या चरति वर्तते तदा ते हास्य लोकाः कर्मफलानि । के ते ? तत्रोतापि महाराज इव भवति । सोऽयं महाराजत्वमिवास्य लोकः, न महाराजत्वमेव जागरित इव । तथा महाब्राह्मण इव,

वह प्रकृत आत्मा जिस समय दर्शनरूपा स्वप्नवृत्तिसे वर्तता है, उस समय उसके वे लोक—कर्मफल उदित होते हैं वे कौन ? तब—उस अवस्थामें भी वह महाराज-सा हो जाता है । उसका वह लोक (कर्मफल) महाराजत्वके समान होता है, जागरित अवस्थाकी तरह महाराजत्व ही नहीं होता । इसी प्रकार महाब्राह्मणके समान होता है, अथवा

द्भुताप्युच्चावचमुच्चं च देवत्वाद्यवचं च तिर्यक्त्वादि, उच्चमिवावचमिव च निगच्छति। मृषैव महाराजत्वादयोऽस्य लोकाः, इवशब्दप्रयोगाद् व्यभिचारदर्शनाच्च। तस्मान्न बन्धुवियोगादिजनितशोकमोहादिभिः स्वप्ने सम्बध्यत एव।

ऊँची-नीची—ऊँची देवत्वादि और नीची तिर्यक्त्वादि, इस प्रकार ऊँची-नीचीके सदृश [गतियों] को प्राप्त होता है। किंतु इसके ये महाराजत्वादि लोक मिथ्या ही हैं; क्योंकि इनके साथ 'इव' शब्दका प्रयोग किया गया है और [स्वप्नेतर अवस्थाओंमें] इनका व्यभिचार (त्याग) भी देखा जाता है। इसलिये स्वप्नावस्थामें बन्धुवियोगादिजनित शोक-मोहादिसे सम्बन्ध होता ही हो—ऐसी बात नहीं है।

ननु च यथा जागरिते जाग्रत्कालाव्यभिचारिणो लोकाः, एवं स्वप्नेऽपि तेऽस्य महाराजत्वादयो लोकाः स्वप्नकालभाविनः स्वप्नकालाव्यभिचारिण आत्मभूता एव, न त्वविद्याध्यारोपिता इति।

पूर्व०—किंतु जिस प्रकार जागरित अवस्थाके कर्मफल जाग्रत्कालमें व्यभिचरित होनेवाले नहीं होते, उसी प्रकार वे स्वप्नकालमें होनेवाले कर्मफल स्वप्नकालमें अव्यभिचारी और आत्मस्वरूप ही होते हैं; वे अविद्यासे आरोपित नहीं होते।

ननु च जाग्रत्कार्यकरणात्मत्वं देवतात्मत्वं चाविद्याध्यारोपितं न परमार्थत इति व्यतिरिक्तविज्ञानमयात्मप्रदर्शनेन प्रदर्शितम्।

सिद्धान्ती—परंतु जाग्रत्कालका भी देहेन्द्रियात्मत्व और देवतात्मत्व अविद्यासे आरोपित ही है, परमार्थतः नहीं है—यह बात विज्ञानमय आत्माको प्राणादिव्यतिरिक्त प्रदर्शित करके दिखा दी गयी है। ऐसी

तत्कथं दृष्टान्तत्वेन स्वप्नलोकस्य मृत इवोज्जीविष्यन्प्रादुर्भविष्यति ?

सत्यम्, विज्ञानमये व्यतिरिक्ते कार्यकरणदेवतात्मत्वप्रदर्शनम् अविद्याध्यारोपितम्—शुक्तिकायामिव रजतत्वदर्शनम्—इत्येतत्सिद्ध्यति व्यतिरिक्तात्मास्तित्वप्रदर्शनन्यायेनैव, न तु तद्विशुद्धिपरतयैव न्याय उक्तः; इत्यसन्नपि दृष्टान्तो जाग्रत्कार्यकरणदेवतात्मत्वदर्शनलक्षणः पुनरुद्भाव्यते। सर्वो हि न्यायः किञ्चिद्विशेषमपेक्षमाणोऽपुनरुक्तीभवति।

न तावत्स्वप्नेऽनुभूतमहाराजत्वादयो लोका आत्मभूताः; आत्म-

स्थितिमें वह (जाग्रत्कर्मफल) पुनरुज्जीवित होनेवाले मृतकके समान स्वप्नगत कर्मफलका दृष्टान्त बननेके लिये किस प्रकार प्रादुर्भूत हो सकता है ?[1]

पूर्व०—ठीक है, आत्मा प्राणादि, व्यतिरिक्त है—यह प्रदर्शन करनेके लिये प्रयोग किये हुए न्यायसे ही विज्ञानमयके अतिरिक्तसिद्ध होनेपर कार्य-करण-देवतात्मप्रदर्शन शुक्तिमें रजतदर्शनके समान अविद्याध्यारोपित है—यह सिद्ध हो जाता है; किंतु वह न्याय आत्माकी विशुद्धि सिद्ध करनेके लिये [अर्थात् आत्मासे भिन्न अन्य सारा प्रपञ्च मिथ्या है—यह सिद्ध करनेके लिये] ही नहीं कहा गया; इसलिये असत् होनेपर भी इस जाग्रत् कार्य-करण-देवतात्मरूप दृष्टान्तकी पुनः उद्भावना की जाती है। सभी न्याय कुछ विशेषताकी अपेक्षा रखनेपर अपुनरुक्त माने जाते हैं।

सिद्धान्ती—किंतु स्वप्नमें अनुभव होनेवाले महाराजत्वादि कर्मफल अपने स्वरूपसे हैं भी तो नहीं,

१. अर्थात् यदि जाग्रत्कालिक कर्मफल स्वयं ही अविद्याध्यारोपित है तो उसके दृष्टान्तद्वारा स्वाप्न प्रपञ्चका सत्यत्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

-लोऽन्यस्य जाग्रत्प्रतिविम्बभूतस्य लोकस्य दर्शनात्। महाराज एव तावद्व्यस्तसुप्तासु प्रकृतिषु पर्यङ्के शयानः स्वप्नान्पश्यन्नुपसंहृतकरणः पुनरुपगतप्रकृतिं महाराजमिवात्मानं जागरित इव पश्यति यात्रागतं भुञ्जानमिव च भोगान्। न च तस्य महाराजस्य पर्यङ्के शयनाद् द्वितीयोऽन्यः प्रकृत्युपेतो विषये पर्यटन्नहनि लोके प्रसिद्धोऽस्ति, यमसौ सुप्तः पश्यति। न चोपसंहृतकरणस्य रूपादिमतो दर्शनमुपपद्यते। न च देहे देहान्तरस्य तत्तुल्यस्य सम्भवोऽस्ति, देहस्थस्यैव हि स्वप्नदर्शनम्।

ननु पर्यङ्के शयानः पथि प्रवृत्तमात्मानं पश्यति—न बहिः स्वप्नान्पश्यतीत्येतदाह—स महाराजो जानपदाञ्जनपदे भवान्राजोपकर-

क्योंकि उस अवस्थामें आत्मासे भिन्न जाग्रत्कालका प्रतिविम्बभूत कर्मफल देखा जाता है। उस समय जिसकी इन्द्रियाँ आत्मामें लीन रहती हैं, वह पलंगपर सोया हुआ महाराज ही, अन्य सब सेवकोंके जहाँ-तहाँ सोते रहनेपर स्वप्न देखता हुआ अपनेको जागरितअवस्थाके समान पुनः सेवकादिसे युक्त महाराजके समान यात्रामें जाते हुए तथा भोग भोगते हुए देखता है। उस महाराजके पलंगपर शयन करनेवाले देहके अतिरिक्त सेवकादिके सहित देशमें भ्रमण करनेवाला कोई अन्य देह दिनमें नहीं देखा जाता, जिसे वह स्वप्नावस्थामें देखता हो। तथा जिसकी इन्द्रियाँ लीन हो गयी हैं ऐसे उस सुप्त शरीरको रूपादिमान् पदार्थोंका दर्शन होना भी सम्भव नहीं है। देहके भीतर भी उसके समान किसी अन्य देहका होना सम्भव नहीं है और स्वप्नदर्शन देहस्थ जीवको ही होता है।

मगर पलंगपर सोनेवाला देह ही तो अपनेको [देहसे बाहर] मार्गमें चलता हुआ देखता है? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं, नहीं; वह शरीरसे बाहर स्वप्न नहीं देखता—इसी विषयमें श्रुतिका यह कथन है—वह महाराज जानपदों—जनपद (देश) में रहनेवाले राजाके

णभूतान्भृत्यानन्यांश्च गृहीत्वो-पादाय स्व आत्मीय एव जयादि-नोपार्जिते जनपदे यथाकामं यो यः कामोऽस्य यथाकाममिच्छातो यथा परिवर्तेतेत्यर्थः; एवमेवैष विज्ञानमयः, एतदिति क्रिया-विशेषणम्, प्राणान्गृहीत्वा जाग-रितस्थानेभ्य उपसंहृत्य स्वे शरीरे स्व एव देहे न बहिः यथाकामं परिवर्तते; कामकर्मभ्यामुद्भा-सिताः पूर्वानुभूतवस्तुसदृशीर्वा-सना अनुभवतीत्यर्थः। तस्मात्स्वप्ने मृषाध्यारोपिता एवात्मभूतत्वेन लोका अविद्यमाना एव सन्तः, तथा जागरितेऽपि, इति प्रत्ये-तव्यम्। तस्माद्विशुद्धोऽक्रिया-कारकफलात्मको विज्ञानमय इत्ये-तत्सिद्धम्। यस्माद् दृश्यन्ते द्रष्टु-र्विषयभूताः क्रियाकारकफला-त्मकाः कार्यकरणलक्षणा लोकाः, तथा स्वप्नेऽपि, तस्मादन्योऽसौ

परिकररूप सेवक तथा अन्य सबको लेकर अपने जयादिद्वारा प्राप्त किये देशमें जिस प्रकार यथाकाम—इस-की जैसी-जैसी इच्छा होती है उसके अनुसार यथेच्छ विचरता है—ऐसा इसका तात्पर्य है; इसी प्रकार यह विज्ञानमय प्राणोंको ग्रहणकर—जागरित विषयोंसे हटाकर स्वशरीर-में—अपने ही देहमें, बाहर नहीं, यथेच्छ विचरता है; अर्थात् काम और कर्मोंसे उद्भासित पूर्वानुभूत वस्तुओंके समान रूपवाली वास-नाओंका अनुभव करता है। मूलमें 'एतत्' शब्द क्रियाविशेषण है। अतः आत्मस्वरूपसे अविद्यमान ही होने-के कारण स्वप्नावस्थामें जो कर्म-फल होते हैं, वे मिथ्या ही हैं, इसी प्रकार जागरित-अवस्थामें भी वे मिथ्या हैं—ऐसा जानना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध होता है कि जो क्रिया, कारक और फलस्वरूप नहीं है, वह विज्ञानमय विशुद्ध ही है। क्योंकि क्रिया, कारक एवं फलरूप कार्यकरणात्मक लोक (देहेन्द्रियसंघा-तरूप कर्मफल) द्रष्टाके विषयभूत ही देखे जाते हैं और वैसे ही वे स्वप्नमें भी होते हैं। अतः इन स्वप्न और

दृश्येभ्यः स्वप्नजागरितलोकेभ्यो द्रष्टा विज्ञानमयो विशुद्धः ॥१८॥

जागरितके दृश्यभूत कर्मफलोंसे विज्ञानमय द्रष्टा भिन्न और विशुद्ध है ॥ १८ ॥

सुषुप्तिका स्वरूप

दर्शनवृत्तौ स्वप्ने वासनाराशेर्दृश्यत्वादतद्धर्मतेति विशुद्धतावगता आत्मनः । तत्र यथाकामं परिवर्तत इति कामवशात्परिवर्तनमुक्तम् । द्रष्टुर्दृश्यसम्बन्धश्चास्य स्वाभाविक इत्यशुद्धता शङ्क्यते; अतस्तद्विशुद्ध्यर्थमाह—

स्वप्नदर्शनवृत्तिमें वासनाराशि दृश्यरूप होनेके कारण अनात्मधर्म है. इससे आत्माकी विशुद्धता ज्ञात होती है । उस अवस्थामें वह यथेच्छ विचरता है—इस प्रकार उसका इच्छानुसार विचरना बतलाया गया । किंतु द्रष्टाका यह दृश्यसे सम्बन्ध स्वाभाविक है, इसलिये उसकी अशुद्धताकी शङ्का की जाती है; अतः उसकी विशुद्धता सिद्ध करनेके लिये श्रुति कहती है—

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् जब वह सुषुप्त होता है, जिस समय कि वह किसीके विषयमें—कुछ भी नहीं जानता, उस समय हिता नामकी जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदयसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं, उनके द्वारा बुद्धिके साथ जाकर वह शरीरमें व्याप्त होकर शयन करता है । वह जिस प्रकार कोई बालक अथवा महाराज किंवा महाब्राह्मण आनन्दकी दुःखनाशिनी अवस्थाको प्राप्त होकर शयन करे, उसी प्रकार यह शयन करता है ॥ १९ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति—यदा स्वप्न्यया चरति, तदाप्ययं विशुद्ध एव । अथ पुनर्यदा हित्वा दर्शनवृत्तिं स्वप्नं यदा यस्मिन्काले सुषुप्तः सुष्ठु सुप्तः सम्प्रसादं स्वाभाव्यं गतो भवति—सलिलमिवान्यसम्बन्धकालुष्यं हित्वा स्वाभाव्येन प्रसीदति । कदा सुषुप्तो भवति ? यदा यस्मिन्काले न कस्यचन न किञ्चनेत्यर्थः, वेद विजानाति; कस्यचन वा शब्दादेः सम्बन्धि वस्त्वन्तरं किञ्चन न वेदेत्यध्याहार्यम्; पूर्वं तु न्याय्यम्, सुप्ते तु विशेषविज्ञानाभावस्य विवक्षितत्वात् ।

एवं तावद्विशेषविज्ञानाभावे सुषुप्तो भवतीत्युक्तम् । केन पुनः क्रमेण सुषुप्तो भवति ? इत्युच्यते—हिता नाम हिता इत्येवंनाम्न्यो

'अथ यदा सुप्तो भवति'—जिस समय स्वप्नवृत्तिसे बर्तता है उस समय भी यह विशुद्ध ही होता है। इसके पश्चात् जब दर्शनवृत्तिरूप स्वप्नको त्याग कर जिस समय सुषुप्त—सम्यक् प्रकारसे सुप्त अर्थात् सम्प्रसाद—स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त हुआ होता है—जलके समान अन्य वस्तुके सम्बन्धसे प्राप्त हुई मलिनताको त्यागकर स्वभावतः प्रसन्न होता है। वह सुषुप्त कब होता है ?—जिस समय वह किसीके विषयमें नहीं अर्थात् कुछ भी नहीं जानता, अथवा कस्यचन—किसी शब्दादिके सम्बन्धवाली किसी अन्य वस्तुको नहीं जानता—ऐसा अध्याहार करना चाहिये। इनमें पहला अर्थ ही उचित है; क्योंकि यहाँ सोये हुए पुरुषके विशेष विज्ञानका अभाव बतलाना ही अभीष्ट है।

इस प्रकार यहाँतक यह बतलाया गया कि विशेष विज्ञानके अभावमें पुरुष सुषुप्त होता है। वह किस क्रमसे सुषुप्त होता है, सो अब बतलाया जाता है—

हिता नाम—'हिता' इस नामवाली जो नाडियाँ अर्थात् अन्नके

नाड्यः शिरा देहस्यान्नरसविपरिणामभूताः, ताश्च द्वासप्ततिः सहस्राणि, द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि ता द्वासप्ततिःसहस्राणि, हृदयात्—हृदयं नाम मांसपिण्डः—तस्मान्मांसपिण्डात्पुण्डरीकाकारात् पुरीततं हृदयपरिवेष्टनमाचक्षते, तदुपलक्षितं शरीरमिह पुरीतच्छब्देनाभिप्रेतम्—पुरीततमभिप्रतिष्ठन्त इति शरीरं कृत्स्नं व्याप्नुवत्योऽश्वत्थपर्णराजय इव बहिर्मुख्यः प्रवृत्ता इत्यर्थः।

तत्र बुद्धेरन्तःकरणस्य हृदयं स्थानम्,तत्रस्थबुद्धितन्त्राणिचेतराणि बाह्यानि करणानि। तेन बुद्धिः कर्मवशाच्छ्रोत्रादीनि ताभिर्नाडीभिर्मत्स्यजालवत्कर्णशष्कुल्यादिस्थानेभ्यः प्रसारयति, प्रसार्य चाधितिष्ठति जागरितकाले। तां विज्ञानमयोऽभिव्यक्तस्वात्मचैतन्यावभासतया व्याप्नोति। सङ्कोचनकाले च तस्या अनुसङ्कुचति;सोऽस्य विज्ञानमयस्य स्वापः; जाग्रद्विकासानुभवो भोगः;

रसकी विपरिणामभूता देहकी शिराएँ हैं। वे 'द्वासप्ततिः सहस्राणि'—दो सहस्र अधिक सत्तर सहस्र अर्थात् बहत्तर सहस्र हैं, वे हृदयसे—हृदय नामका जो कमलके-से आकारवाला मांसपिण्ड है, उससे 'पुरीततम्'—पुरीतत् हृदयपरिवेष्टनको कहते हैं, यहाँ उससे उपलक्षित शरीर पुरीतत् शब्दसे अभिप्रेत है। अतः पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते' अर्थात् सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करती हुई बहिर्मुख होकर प्रवृत्त हैं, जैसे पीपलके पत्तेकी नसें बाहरकी ओर फैली रहती हैं।

शरीरमें बुद्धि—अन्तःकरणका हृदय स्थान है, उसमें स्थित बुद्धिके अधीन अन्य बाह्य इन्द्रियाँ हैं। इसीसे बुद्धि कर्मवश श्रोत्रादि इन्द्रियोंको मत्स्यजालके समान उन नाडियोंद्वारा कर्णरन्ध्रादि स्थानोंसे बाहर फैलाती है, तथा उन्हें फैलाकर जागरित-अवस्थामें उनकी अध्यक्ष होकर स्थित रहती है। उस बुद्धिको विज्ञानमय आत्मा अभिव्यक्तस्वात्मचैतन्यप्रकाशरूपसे व्याप्त कर लेता है, तथा संकुचित होनेके समय उसीके साथ संकुचित हो जाता है; वही इस विज्ञानमयका सोना है और जाग्रत्कालिक विकासका अनुभव

बुद्ध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि सः, चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव जलाद्यनुविधायी। तस्मात्तस्या बुद्धेर्जाग्रद्विषयायास्ताभिर्नाडीभिः प्रत्यवसर्पणमनु प्रत्यवसृप्य पुरीतति शरीरे शेते तिष्ठति, तप्तमिव लोहपिण्डमविशेषेण संव्याप्याग्निवच्छरीरं संव्याप्य वर्तत इत्यर्थः।

इसका भोग है; जिस प्रकार चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब [अपने आधारभूत] जलादिका अनुवर्तन करनेवाला होता है, उसी प्रकार वह बुद्धिरूप अपनी उपाधिके स्वभावका ही अनुवर्ती है। अतः उस जाग्रद्विषयिणी बुद्धिके व्यावर्तन (लौटने) के साथ-साथ वह उन नाड़ियोंद्वारा व्यावृत्त होकर पुरीततमें—शरीरमें शयन करता—स्थित होता है, तात्पर्य यह है कि तपे हुए लोहपिण्डमें अग्निके समान वह सामान्यरूपसे शरीरमें व्याप्त होकर स्थित होता है।[1]

स्वाभाविक एव स्वात्मनि वर्तमानोऽपि कर्मानुगतबुद्ध्यनुवृत्तित्वात्पुरीतति शेत इत्युच्यते। न हि सुषुप्तिकाले शरीरसम्बन्धोऽस्ति। "तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य" (४ । ३ । २२) इति हि वक्ष्यति।

वह अपने स्वाभाविक स्वरूपमें ही विद्यमान रहते हुए भी कर्मानुसारिणी बुद्धिका अनुवर्ती होनेके कारण 'शरीरमें शयन करता है' इस प्रकार कहा जाता है। सुषुप्तिकालमें उसका शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता। "उस समय वह हृदयके सारे शोकोंको पार कर लेता है" ऐसा श्रुति कहेगी भी।

सर्वसंसारदुःखविमुक्तावस्थेत्यत्र दृष्टान्तः—स यथा

यह अवस्था संसारके सारे दुःखोंसे रहित है—इस विषयमें यह दृष्टान्त दिया जाता है—वह जिस

१. अर्थात् उसकी किसी स्थानविशेषमें विशेष अभिव्यक्ति नहीं रहती, बुद्धिके संकोचके साथ उसका भी संकोच हो जाता है; केवल सामान्य सत्तामात्रसे अपने शुद्धस्वरूपमें स्थित रहता है।

कुमारो वा अत्यन्तबालो वा, महाराजो वात्यन्तवश्यप्रकृतिर्यथोक्तकृत्, महाब्राह्मणो वा अत्यन्तपरिपक्वविद्याविनयसम्पन्नः, अतिघ्नीम्—अतिशयेन दुःखं हन्तीत्यतिघ्नी आनन्दस्यावस्था सुखावस्था तां प्राप्य गत्वा शयीतावतिष्ठेत ।

एषां च कुमारादीनां स्वभावस्थानां सुखं निरतिशयं प्रसिद्धं लोके, विक्रियमाणानां हि तेषां दुःखं न स्वभावतः; तेन तेषां स्वाभाविक्यवस्था दृष्टान्तत्वेनोपादीयते प्रसिद्धत्वात् । न तेषां स्वाप एवाभिप्रेतः, स्वापस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन विवक्षितत्वाद्विशेषाभावाच्च । विशेषे हि सति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदः स्यात्; तस्मान्न तेषां स्वापो दृष्टान्तः ।

प्रकार कुमार—अत्यन्त छोटा बालक, अथवा जिसकी प्रजा अत्यन्त वशमें की हुई है, ऐसा कोई शास्त्रोक्त आचरण करनेवाला महाराज, अथवा अत्यन्त परिपक्व विद्या-विनय-सम्पन्न महाब्राह्मण 'अतिघ्नीम्'—जो अतिशयरूपसे दुःखका घात कर देती है ऐसी जो अतिघ्नी आनन्दकी अवस्था यानी सुखावस्था है, उसको प्राप्त होकर शयन करे अर्थात् स्थित हो ।

अपने स्वभावमें स्थित इन कुमारादिका सुख लोकमें सबसे बढ़कर प्रसिद्ध है, उन्हें विकृत होनेपर ही दुःख होता है, स्वभावतः नहीं; अतः प्रसिद्ध होनेके कारण उनकी स्वाभाविक अवस्थाको दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया जाता है । यहाँ केवल उनकी सुषुप्तावस्थासे ही अभिप्राय नहीं है; क्योंकि सुषुप्तावस्था तो दार्ष्टान्तिकरूपसे ही ग्रहण की गयी है, इसलिये फिर तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें कोई विशेषता ही नहीं रहेगी । और दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकका भेद किसी विशेषताके रहनेपर ही हो सकता है; इसलिये यहाँ उनकी सुषुप्ति दृष्टान्त नहीं है ।

एवमेव यथायं दृष्टान्तः, एष विज्ञानमय एतच्छयनं शेते इति, एतच्छब्दः क्रियाविशेषणार्थः। एवमयं स्वाभाविके स्वे आत्मनि सर्वसंसारधर्मातीतो वर्तते स्वापकाल इति ॥ १९ ॥

इसी प्रकार, जैसा कि यह दृष्टान्त है, यह विज्ञानमय 'एतत् शेते'—इस शयनमें सोता है। यहाँ 'एतत्' शब्द क्रियाविशेषणार्थक है। अर्थात् इस प्रकार सुषुप्तावस्थामें यह अपने स्वाभाविक स्वरूपमें सारे सांसारिक धर्मोंसे अतीत होकर विद्यमान रहता है ॥ १९ ॥

कुत एतदागादिति प्रश्नो मीमांस्यते

क्वैष तदाभूदित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनमुक्तम्। अनेन च प्रश्ननिर्णयेन विज्ञानमयस्य स्वभावतो विशुद्धिरसंसारित्वं चोक्तम्। कुत एतदागात्? इत्यस्य प्रश्नस्यापाकरणार्थ आरम्भः।

'उस समय यह कहाँ था?' इस प्रश्नका उत्तर कह दिया गया। इस प्रश्नके निर्णयसे ही विज्ञानमय आत्माकी स्वभावतः विशुद्धि और असंसारिता भी बतला दी गयी। अब 'यह कहाँसे आया?' इस प्रश्नके निराकरणके लिये आरम्भ किया जाता है।

ननु यस्मिन्ग्रामे नगरे वा यो भवति सोऽन्यत्र गच्छंस्तत एव ग्रामान्नगराद्वा गच्छति नान्यतः तथा सति क्वैष तदाभूदित्येतावानेवास्तु प्रश्नः। यत्राभूत्तत एवागमनं प्रसिद्धं स्यान्नान्यत इति कुत एतदागादिति प्रश्नो निरर्थक एव।

पूर्व०—जो पुरुष जिस ग्राम या नगरमें रहता है, वह अन्यत्र जाते समय उसी ग्राम या नगरसे जाता है, किसी अन्य स्थानसे नहीं। ऐसी स्थितिमें 'उस समय यह कहाँ था?' बस, इतना ही प्रश्न हो सकता है। जहाँ वह था, वहींसे उसका आगमन प्रसिद्ध होगा, अन्य स्थानसे नहीं। इसलिये 'यह कहाँसे आया?' यह प्रश्न निरर्थक ही है।

किं श्रुतिरुपालभ्यते भवता?

सिद्धान्ती—क्या आप श्रुतिको उलाहना देते हैं?

न।

पूर्व०—नहीं।

किं तर्हि ?

द्वितीयस्य प्रश्नस्यार्थान्तरं श्रोतुमिच्छाम्यत आनर्थक्यं चोदयामि ।

एवं तर्हि कुत इत्यपादानार्थता न गृह्यते; अपादानार्थत्वे हि पुनरुक्तता, नान्यार्थत्वे । अस्तु तर्हि निमित्तार्थः प्रश्नः—कुत एतदागात् किन्निमित्तमिहागमनम् ? इति ।

न निमित्तार्थतापि, प्रतिवचनवैरूप्यात् । आत्मनश्च सर्वस्य जगतोऽग्निविस्फुलिङ्गादिवदुत्पत्तिः प्रतिवचने श्रूयते । न हि विस्फुलिङ्गानां विद्रवणेऽग्निर्निमित्तमपादानमेव तु सः । तथा परमात्मा विज्ञानमयस्यात्मनोऽपादानत्वेन श्रूयते 'अस्मादात्मनः' इत्येतस्मिन्वाक्ये । तस्मात्प्रतिवचनवैलोम्यात्कुत इति प्रश्नस्य निमित्तार्थता न शक्यते वर्णयितुम् ।

सिद्धान्ती-तो फिर क्या बात है ?

पूर्व०-मैं दूसरे प्रश्नका कोई और अर्थ सुनना चाहता हूँ, इसीलिये इसकी व्यर्थताकी शङ्का करता हूँ ।

एकदेशी-अच्छा, तो फिर 'कुतः' इस शब्दकी ['कहाँसे'--इस प्रकार] अपादानार्थता ग्रहण नहीं की जाती; क्योंकि अपादानार्थता ग्रहण करनेपर ही पुनरुक्तिका दोष होता है, कोई अन्य अर्थ लेनेपर नहीं । अच्छा तो, इस प्रश्नको निमित्तार्थक माना जाय । अर्थात् 'कुत एतद् आगात्'-किस निमित्तसे इसका यहाँ आना हुआ ?

सिद्धान्ती—इसकी निमित्तार्थता भी नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा माननेसे इसका उत्तरसे विरोध होगा । उत्तरमें अग्निसे विस्फुलिङ्गादिके समान आत्मासे ही जगत्की उत्पत्ति सुनी जाती है । विस्फुलिङ्गों (चिनगारियों) के फैलनेमें अग्नि निमित्त नहीं है, वह तो अपादान ही है । इसी प्रकार 'इस आत्मासे' इस वाक्यमें परमात्मा विज्ञानमय आत्माके अपादानरूपसे सुना जाता है । अतः उत्तरसे विरोध आनेके कारण 'कुतः' इस प्रश्नकी निमित्तार्थता वर्णन नहीं की जा सकती ।

नन्वपादानपक्षेऽपि पुनरुक्तता-दोषः स्थित एव ।

पूर्व०-किंतु अपादान-पक्षको स्वीकार करनेपर भी पुनरुक्तताका दोष तो खड़ा ही रहता है।

नैष दोषः, प्रश्नाभ्याम् आत्मनि क्रियाकारकफलात्मतापोहस्य विवक्षितत्वात् । इह हि विद्याविद्याविषयावुपन्यस्तौ । "आत्मेत्येवोपासीत" (१ । ४ । ७) "आत्मानमेवावेत्" (१ । ४ । १०) "आत्मानमेव लोकमुपासीत" (१ । ४ । १५) इति विद्याविषयः । तथा अविद्याविषयश्च पाङ्क्तं कर्म तत्फलं चान्नत्रयं नामरूपकर्मात्मकमिति । तत्राविद्याविषये वक्तव्यं सर्वमुक्तम् । विद्याविषयस्त्वात्मा केवल उपन्यस्तो न निर्णीतः । तन्निर्णयाय 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (२ । १ । १) इति प्रक्रान्तं 'ज्ञपयिष्यामि' (२ । १ । १५) इति च । अतस्तद्ब्रह्म विद्याविषयभूतं ज्ञापयितव्यं याथात्म्यतः । तस्य च याथात्म्यं क्रियाकारकफलभेदशून्यमत्यन्तविशुद्धमद्वैतमित्येत-

सिद्धान्ती-यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि इन प्रश्नोंसे आत्मामें क्रिया-कारक-फलात्मताकी निवृत्ति प्रतिपादन करनी अभीष्ट है। यहाँ विद्या और अविद्या दोनोंहीके विषयोंका वर्णन किया गया है "आत्मा है—इस प्रकार उपासना करे" "आत्माहीको जाना" "आत्मलोककी ही उपासना करे" यह विद्याका विषय है। तथा पाङ्क्तकर्म और उसका फल नामरूप-कर्मात्मक अन्नत्रय—यह अविद्याका विषय है। इनमें अविद्याके विषयमें तो जो कुछ कहना था वह सब कह दिया, विद्याके विषय आत्माका तो केवल उल्लेख किया है, उसका निर्णय नहीं किया। उसका निर्णय करनेके लिये ही 'मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँगा' इस प्रकार तथा 'ज्ञान कराऊँगा' इस प्रकार प्रकरण उठाया है । अतः विद्याके विषयभूत उस ब्रह्मका यथार्थ रीतिसे ज्ञान कराना है। उसका यथार्थ स्वरूप क्रिया-कारक-फलरूप भेदसे रहित, अत्यन्त विशुद्ध और अद्वैत है—यह बतलाना अभीष्ट है।

द्विवक्षितम् । अतस्तदनुरूपौ प्रश्नावुत्थाप्येते श्रुत्वा 'क्वैष तदाभूत्' 'कुत एतदागात्' इति ।

तत्र यत्र भवति तदधिकरणं यद्भवति तदधिकर्तव्यम्, तयोश्चाधिकरणाधिकर्तव्ययोर्भेदो दृष्टो लोके । तथा यत आगच्छति तदपादानं य आगच्छति स कर्ता तस्मादन्यो दृष्टः । तथा आत्मा क्वाप्यभूदन्यस्मिन्नन्यः कुतश्चिदागादन्यस्मादन्यः केनचिद्भिन्नेन साधनान्तरेणेत्येवं लोकवत्प्राप्ता बुद्धिः । सा प्रतिवचनेन निवर्तयितव्येति । नायमात्मा अन्योऽन्यत्राभूदन्यो वा अन्यस्मादागतः साधनान्तरं वा आत्मन्यस्ति । किं तर्हि ? स्वात्मन्येवाभूत् "स्वम् (आत्मानम्) अपीतो भवति" (छा० उ० ६ । ८ । १) "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा० उ० ६

इसलिये उसके अनुरूप ही श्रुति 'उस समय यह कहाँ था ?' और 'यह कहाँसे आया ?'—इन दो प्रश्नोंको उठाती है ।

उनमें, जहाँ रहता है वह अधिकरण होता है और जो रहता है वह अधिकर्तव्य होता है । लोकमें उन अधिकरण और अधिकर्तव्योंका भेद देखा गया है । इसी प्रकार जहाँसे आता है वह अपादान होता है और जो आता है वह कर्ता उससे भिन्न देखा जाता है । इस प्रकार आत्मा किसी अन्यमें उससे भिन्नरूपमें था और किसी अन्यस्थानसे उससे भिन्न रूपसे ही किसी भिन्न साधनान्तरके द्वारा आया है—इस प्रकार लोकवत् ऐसी बुद्धि प्राप्त होती है । इसका उत्तर देकर निराकरण करना है । [अर्थात् यह बतलाना है कि] यह आत्मा न तो अन्यरूपसे किसी अन्यस्थानमें अथवा न यह अन्यरूपसे अन्यके पाससे आया है और न आत्मामें कोई अन्य साधन ही है । तो फिर क्या बात है ?—यह अपने स्वरूपमें ही था; जैसा कि "स्वात्माको प्राप्त हो जाता है", "हे सोम्य ! उस समय यह सत्से सम्पन्न (संयुक्त) हो जाता

(८ । १) "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः" (बृ० उ० ४ । ३ । २१)"पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते" (प्र० उ० ४ । ७) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अत एव नान्योऽन्यस्मादागच्छति । तच्छ्रुत्यैव प्रदर्श्यते 'अस्मादात्मनः' इति । आत्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तराभावात् ।

नन्वस्ति प्राणाद्यात्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरम् ।

न,प्राणादेस्तत एव निष्पत्तेः ।

तत्कथम् ?

इत्युच्यते, तत्र दृष्टान्तः—

है", "प्राज्ञात्मासे सम्यक् प्रकारसे आलिङ्गित रहता है", "परमात्मामें सम्यक् प्रकारसे स्थित हो जाता है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है। अतः अन्य आत्मा किसी अन्यके पाससे नहीं आता। यह बात 'इस आत्मासे' इत्यादि रूपसे श्रुति ही प्रदर्शित करती है; क्योंकि आत्मासे भिन्न वस्तुकी तो सत्ता ही नहीं है।

पूर्व०-आत्मासे भिन्न प्राणादि वस्तुएँ हैं तो?

सिद्धान्ती--नहीं, क्योंकि प्राणादिकी निष्पत्ति तो उसीसे होती है।

पूर्व०-सो किस प्रकार ?

सिद्धान्ती--बतलाते हैं, उसमें यह दृष्टान्त है—

आत्मासे जगत्की उत्पत्तिमें ऊर्णनाभि और अग्निविस्फुलिङ्गका दृष्टान्त

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २० ॥

जिस प्रकार वह ऊर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओंपर ऊपरकी ओर जाता है तथा जैसे अग्निसे अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मासे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत विविध रूपसे उत्पन्न होते हैं। 'सत्यका सत्य' यह उस आत्माकी उपनिषद् है। प्राण ही सत्य है। उन्हींका यह सत्य है ॥ २० ॥

स यथा लोक ऊर्णनाभिः । ऊर्णनाभिर्लूताकीट एक एव प्रसिद्धः सन्स्वात्माप्रविभक्तेन तन्तुनोच्चरेदुद्गच्छेत् । न चास्ति तस्योद्गमने स्वतोऽतिरिक्तं कारकान्तरम् । यथा चैकरूपादेकस्मादग्नेः क्षुद्रा अल्पा विस्फुलिङ्गास्त्रुटयोऽग्न्यवयवा व्युच्चरन्ति विविध नानावोच्चरन्ति । यथेमौ दृष्टान्तौ कारकभेदाभावेऽपि प्रवृत्तिं दर्शयतः, प्राक्प्रवृत्तेश्च स्वभावतः एकत्वम् , एवमेवास्मादात्मनो विज्ञानमयस्य प्राक्प्रतिबोधाद्यत्स्वरूपं तस्मादित्यर्थः। सर्वे प्राणा वागादयः, सर्वे लोका भूरादयः, सर्वाणि कर्मफलानि, सर्वे देवाः प्राणलोकाधिष्ठातारोऽग्न्यादयः, सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि प्राणिजातानि, सर्व एत आत्मान इत्यस्मिन्पाठ उपाधिसम्पर्कजनितप्रबुध्यमानविशेषात्मान इत्यर्थः, व्युच्चरन्ति ।

लोकमें जिस प्रकार वह ऊर्णनाभि—जो लूताकीट (जाल बनानेवाला कीड़ा) प्रसिद्ध है वह अकेला ही अपनेसे सर्वथा भेद न रखनेवाले तन्तुओंद्वारा ऊपरकी ओर जाता है; उसके ऊपर जानेमें अपनेसे भिन्न कोई अन्य साधन नहीं है। तथा जिस प्रकार एकरूप अर्थात् एक ही अग्निसे क्षुद्र—अल्प विस्फुलिङ्ग-चिनगारियाँ यानी अग्निकण विविध — नाना उड़ते हैं। जिस प्रकार ये दोनों दृष्टान्त कारकभेद न होनेपर भी प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं और प्रवृत्तिसे पूर्व स्वरूपतः एकत्व दिखलाते हैं, इसी प्रकार इस आत्मासे अर्थात् बोध होनेसे पूर्व इस विज्ञानमय आत्माका जो स्वरूप है, उससे वागादि समस्त प्राण, भूर्लोकादि समस्त लोक यानी सम्पूर्ण कर्मफल, प्राण और लोकोंके अधिष्ठाता अग्नि आदि समस्त देवगण और समस्त भूत अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणिसमुदाय [इस आत्मासे] विविधरूपसे उत्पन्न होते हैं। जहाँ 'सर्वे एत [1]आत्मानः' ऐसा पाठ है, वहाँ 'उपाधिसंसर्गके कारण जिनका विशेष रूप जाना जाता है, वे अनेक आत्मा (जीव) उत्पन्न होते हैं'—ऐसा अर्थ करना चाहिये ।

१. माध्यन्दिन-शाखाकी श्रुतिमें ऐसा पाठ है।

यस्मादात्मनः स्थावरजङ्गमं जगदिदमग्निविस्फुलिङ्गवद्व्युच्चरत्यनिशम्, यस्मिन्नेव च प्रलीयते जलबुद्बुदवत्, यदात्मकं च वर्तते स्थितिकाले, तस्यास्यात्मनो ब्रह्मणः, उपनिषद्; उपसमीपं निगमयतीत्यभिधायकः शब्द उपनिषदित्युच्यते, शास्त्रप्रामाण्यादेतच्छब्दगतो विशेषोऽवसीयत उपनिगमयितृत्वं नाम ।

अग्निसे विस्फुलिङ्गोंके समान जिस आत्मासे यह चराचर जगत् अहर्निश उत्पन्न होता रहता है और जलमें बुलबुलेके समान जिसमें यह लीन हो जाता है तथा स्थितिकालमें जिस स्वरूपसे यह विद्यमान रहता है, उपनिषत् है; उप अर्थात् समीपसे निगमन करता है; इसलिये अभिधायक (वाचक) शब्द ही 'उपनिषद्' कहा जाता है, 'उपनिषद्' शब्दमें रहनेवाली यह उपनिगमनकर्तृत्वरूप विशेषता शास्त्रप्रामाण्यसे जानी जाती है ।

कासावुपनिषदित्याह—सत्यस्य सत्यमिति । सा हि सर्वत्रोपनिषदलौकिकार्थत्वाद् दुर्विज्ञेयार्था, इति तदर्थमाचष्टे—प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति । एतस्यैव वाक्यस्य व्याख्यानायोत्तरं ब्राह्मणद्वयं भविष्यति ।

वह उपनिषद् क्या है, सो श्रुति बतलाती है—'सत्यका सत्य' यह वह विशेषता है । अलौकिक अर्थवाली होनेके कारण उस उपनिषद्का अर्थ सर्वत्र दुर्विज्ञेय है, इसलिये श्रुति उसका अर्थ बतलाती है—प्राण ही सत्य है, यह (आत्मा) उनका भी सत्य है । आगेके दो ब्राह्मण इसी वाक्यको व्याख्या करनेके लिये होंगे ।

भवतु तावदुपनिषद्व्याख्यानायोत्तरं ब्राह्मणद्वयम्, इत्यमुपनिषत् किंविषयेति यस्योपनिषदित्युक्तम्, मीमांस्यते तत्र न जानीमः किं प्रकृतस्यात्मनो विज्ञानमयस्य पाणि-

पूर्व०—आगेके दो ब्राह्मण भले ही इस उपनिषद्की व्याख्या करनेके लिये हों, परंतु ऊपर जो यह कहा गया है कि 'यह उसकी उपनिषद् है' इसमें हम यह नहीं जानते कि यह उपनिषद् हाथ दबानेसे उठे हुए

षणोत्थितस्य संसारिणः शब्दादिभुज इयमुपनिषदाहोस्विदसंसारिणः कस्यचित् ?

किञ्चातः ?

यदि संसारिणस्तदा संसार्येव विज्ञेयः, तद्विज्ञानादेव सर्वप्राप्तिः। स एव ब्रह्मशब्दवाच्यस्तद्विद्यैव ब्रह्मविद्येति। अथ असंसारिणः, तदा तद्विषया विद्या ब्रह्मविद्या। तस्माच्च ब्रह्मविज्ञानात्सर्वभावापत्तिः।

सर्वमेतच्छास्त्रप्रामाण्यात्सेत्स्यति। किन्त्वस्मिन्पक्षे "आत्मेत्येवोपासीत" (१।४।७) "आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (१।४।१०) इति परब्रह्मैकत्वप्रतिपादिकाः श्रुतयः कुप्येरन्, संसारिणश्चान्यस्याभावे उपदेशानर्थक्यात्। यत एवं पण्डितानाम-

शब्दादिका भोग करनेवाले प्रकृत विज्ञानमय संसारी आत्माकी है अथवा किसी असंसारीकी ?

सिद्धान्ती–इससे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ?

पूर्व०--यदि यह उपनिषद् संसारीकी है, तब तो संसारी ही विशेषरूपसे ज्ञातव्य है, उसके विज्ञानसे ही सर्वभावकी प्राप्ति हो सकती है वही 'ब्रह्म' शब्दका वाच्य है तथा उसकी विद्या ही ब्रह्मविद्या है। और यदि यह असंसारीकी है तो असंसारी आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या ही ब्रह्मविद्या है, एवं उस ब्रह्मविज्ञानसे ही सर्वभावकी प्राप्ति होती है।

सिद्धान्ती- यह सब शास्त्रप्रामाण्यसे ही सिद्ध होगा। किंतु इस पक्षमें "[1]आत्मेत्येवोपासीत", "[2]आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि परब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ बाधित हो जायँगी; क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न किसी संसारीकी सत्ता न होनेके कारण उसका उपदेश निरर्थक होगा। इस प्रकार जिसका उत्तर नहीं दिया गया है, उस

१. 'आत्मा है'—इस प्रकार उपासना करे।
२. आत्माको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ।

ह्येतन्महामोहस्थानम् अनुक्तप्रतिवचनप्रश्नविषयम्; अतो यथाशक्ति ब्रह्मविद्याप्रतिपादकवाक्येषु ब्रह्मविजिज्ञासूनां बुद्धिव्युत्पादनाय विचारयिष्यामः ।

ऐकात्म्यविषयक प्रश्नका विषय पण्डितोंके लिये भी अत्यन्त मोहका स्थान है, इसलिये ब्रह्मजिज्ञासुओंकी बुद्धिको ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंमें प्रवृत्त करनेके लिये हम यथाशक्ति विचार करेंगे।[1]

न तावदसंसारी परः, पाणिपेषणप्रतिबोधिताच्छब्दादिभुजोऽवस्थान्तरविशिष्टादुत्पत्तिश्रुतेः । न प्रशासिताशनायादिवर्जितः परो विद्यते, कस्मात्? यस्मात् 'ब्रह्म ज्ञपयिष्यामि' (२ । १ । १५) इति प्रतिज्ञाय सुप्तं पुरुषं पाणिपेषं बोधयित्वा तं शब्दादिभोक्तृत्वविशिष्टं दर्शयित्वा तस्यैव स्वप्नद्वारेण सुषुप्त्याख्यमवस्थान्तरमुन्नीय तस्मादेवात्मनः सुषुप्त्यवस्थाविशिष्टाद् अग्निविस्फुलिङ्गोर्णनाभिदृष्टान्ताभ्यामुत्पत्तिं दर्शयति श्रुतिः "एवमेवास्मात्" (२ । १ । २०) इत्यादिना । न चान्यो जगदुत्पत्तिकारणमन्तराले श्रुतो-

इनमेंसे असंसारी (शुद्ध आत्मा) तो परमात्मा हो नहीं सकता; क्योंकि हाथ दबानेसे जगे हुए शब्दादिके भोक्ता एवं सुषुप्तिसंज्ञक अवस्थान्तरसे विशिष्ट जीवसे जगत्की उत्पत्ति सुनी गयी है। उससे भिन्न क्षुधादि जीवधर्मोंसे रहित शुद्ध ब्रह्म जगत्का शासक नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि 'मैं तुझे ब्रह्मका ज्ञान कराऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर हाथ दबानेके द्वारा सुषुप्त पुरुषको जगाकर उसे शब्दादि-भोक्तृत्व-विशिष्ट दिखाकर, उसीकी स्वप्नके द्वारा सुषुप्तिसंज्ञक अवस्थान्तर प्रदर्शित कर श्रुति "एवमेवास्मात्"[2] इत्यादि वाक्यद्वारा सुषुप्ति-अवस्थाविशिष्ट उस आत्मासे ही अग्नि-विस्फुलिङ्ग और ऊर्णनाभिके दृष्टान्तोंद्वारा जगत्की उत्पत्ति दिखलाती है। यहाँ बीचमें जगत्की उत्पत्तिका कोई दूसरा कारण सुना-

१. इससे आगे पहले पूर्वपक्षकी बात कहते हैं।

२. इसी प्रकार इससे।

ऽस्ति, विज्ञानमयस्यैव हि प्रकरणम् । समानप्रकरणे च श्रुत्यन्तरे कौषीतकिनामादित्यादिपुरुषान्प्रस्तुत्य "स होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" (कौ० उ० ४ । १९) इति प्रबुद्धस्यैव विज्ञानमयस्य वेदितव्यतां दर्शयति, नार्थान्तरस्य ।

तथा च "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (२ । ४ । ५) इत्युक्त्वा, य एवात्मा प्रियः प्रसिद्धस्तस्यैव द्रष्टव्यश्रोतव्यमन्तव्यनिदिध्यासितव्यतां दर्शयति । तथा च विद्योपन्यासकाले "आत्मेत्येवोपासीत" (१ । ४ । ७) "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्" (१ । ४ । ८) "तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (१ । ४ । १०) इत्येवमादिवाक्यानामानुलोम्यं स्यात्पराभावे । वक्ष्यति च—"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः (४ । ४ । १२) इति ।

नहीं गया है और यह विज्ञानमयका ही प्रकरण है । इसके समान प्रकरणमें ही कौषीतकी-शाखावालोंकी एक अन्य श्रुतिमें आदित्यादि-पुरुषोंका प्रकरण उठाकर श्रुति "वह बोला, हे वालाके ! जो भी इन पुरुषोंका कर्ता है और जिसका यह जगद्रूप कर्म है वही निश्चय ज्ञातव्य है" इस प्रकार जगे हुए विज्ञानमयकी ही ज्ञातव्यता प्रदर्शित करती है, किसी अन्य वस्तुकी नहीं ।

इसी प्रकार "आत्माके लिये ही सब कुछ प्रिय होता है" ऐसा कहकर श्रुति यह दिखाती है कि जो आत्मा प्रियरूपसे प्रसिद्ध है, वही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है । इस तरह यदि कोई विज्ञानमयसे भिन्न ज्ञातव्य न होगा, तभी आत्मज्ञानकी व्याख्या करते समय "आत्मा है-इस प्रकार उपासना करे" "वह यह आत्मा पुत्रसे प्रिय है और धनसे भी प्रिय है" तथा "उसने आत्माको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ" इत्यादि वाक्योंकी अनुकूलता हो सकती है । श्रुति आगे "यदि पुरुष आत्माको 'मैं यह हूँ' इस प्रकार जान जाय" ऐसा कहेगी भी ।



सर्ववेदान्तेषु च प्रत्यगात्मवेद्यतैव प्रदर्श्यतेऽहमिति, न बहिर्वेद्यता शब्दादिवत्प्रदर्श्यतेऽसौ ब्रह्मेति। तथा कौषीतकिनामेव "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" (कौ० उ० ३ । ८) इत्यादिना वागादिकरणैर्व्यावृत्तस्य कर्तुरेव वेदितव्यतां दर्शयति।

समस्त वेदान्तोंमें ब्रह्मकी 'अहम्' इस रूपसे प्रत्यगात्मभावसे ही वेद्यता दिखायी गयी है, शब्दादिके समान 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार बहिर्वेद्यता नहीं दिखायी गयी। इसी प्रकार कौषीतकी शाखावालों की श्रुति भी "वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, बोलनेवालेको जाने" इत्यादि वाक्यसे वागादि इन्द्रियोंसे भिन्न कर्ताकी ही वेद्यता प्रदर्शित करती है।

अवस्थान्तरविशिष्टोऽसंसारीति चेत्—अथापि स्याद्यो जागरिते शब्दादिभुग्विज्ञानमयः, स एव सुषुप्ताख्यमवस्थान्तरं गतोऽसंसारी परः प्रशासिता अन्यः स्यादिति चेन्न, अदृष्टत्वात्। न ह्येवंधर्मकः पदार्थो दृष्टोऽन्यत्र वैनाशिकसिद्धान्तात्। न हि लोके गौस्तिष्ठन् गच्छन्वा गौर्भवति—शयानस्त्वश्वादिजात्यन्तरमिति। न्यायाच्च—यद्धर्मको यः पदार्थः प्रमाणेनावगतो भवति, स देशकालावस्था-

यदि कहो कि अवस्थान्तरविशिष्ट होनेपर वह असंसारी हो जाता है। अर्थात् यदि ऐसा मानो कि जागरित-अवस्थामें जो विज्ञानमय शब्दादिका भोक्ता है, वही सुषुप्त-संज्ञक अन्य अवस्थामें जानेपर उससे भिन्न जगत्का शासक असंसारी हो जाता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया। वैनाशिक-सिद्धान्तके सिवा और कहीं ऐसे धर्मवाला पदार्थ नहीं देखा गया। लोकमें ऐसा नहीं देखा गया कि बैठते या चलते समय तो गौ गौ रहे और सोनेपर वह अश्वादि कोई अन्य जातिका पशु हो जाय। युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि जो पदार्थ प्रमाणद्वारा जिन धर्मोंवाला जाना जाता है, वह अन्य देश, काल अथवा अवस्थाओंमें भी

न्तरेष्वपि तद्धर्मक एव भवति। स चेत्तद्धर्मकत्वं व्यभिचरति, सर्वः प्रमाणव्यवहारो लुप्येत। तथा च न्यायविदः साङ्ख्यमीमांसकादयोऽसंसारिणोऽभावं युक्तिशतैः प्रतिपादयन्ति।

संसारिणोऽपि जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानस्याभावाद् अयुक्तमिति चेत्—यन्महता प्रपञ्चेन स्थापितं भवता, शब्दादिभुक्संसार्येवावस्थान्तरविशिष्टो जगत इह कर्तेति—सदसत्; यतो जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानशक्तिसाधनाभावः सर्वलोकप्रत्यक्षः संसारिणः। स कथमस्मदादिः संसारी मनसापि चिन्तयितुमशक्यं पृथिव्यादिविन्यासविशिष्टं जगन्निर्मिनुयात्? अतोऽयुक्तमिति चेन्न, शास्त्रात्; शास्त्रं

उन्हीं धर्मोंवाला रहता है। यदि वह उन धर्मोंका त्याग कर दे तो सारे ही प्रमाण-व्यवहारका लोप हो जाय। इसी प्रकार सांख्यवादी और मीमांसकादि न्यायवेत्ता भी सैकड़ों युक्तियोंसे असंसारी ईश्वरके अभावका प्रतिपादन करते हैं।

यदि कहो कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप क्रियाके कर्तृत्वका ज्ञान न होनेके कारण संसारी जीवको भी जगत्का कर्ता मानना उचित नहीं है, अर्थात् तुमने जो बड़े विस्तारसे यहाँ यह सिद्ध किया है कि शब्दादिका भोक्ता अवस्थान्तरविशिष्ट संसारी जीव ही जगत्का कर्ता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि संसारी जीवमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं लयरूप क्रियाके कर्तृत्वविज्ञानकी शक्तिके साधनोंका अभाव सभी लोकोंको प्रत्यक्ष है। वह हम-जैसा संसारी जीव इस पृथिवी आदिके यथास्थान स्थापनपूर्वक विभिन्नप्रकारकी रचनासे विशिष्ट एवं मनसे भी अचिन्तनीय जगत्की किस प्रकार रचना कर सकता है? इसलिये ऐसा मानना उचित नहीं; ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रसे

संसारिणः "एवमेवास्मादात्मनः" (२।१।२०) इति जगदुत्पत्त्यादि दर्शयति। तस्मात्सर्वं श्रद्धेयमिति स्यादयमेकः पक्षः।

असंसारिणो जगत्कारणत्वो-पपादनम्

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मु० उ० १।१।९) "योऽशनायापिपासे ···· अत्येति" (बृ० उ० ३।५।१) "असङ्गो न हि सज्यते" (३।९।२६) "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" (३।८।९) "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् ··· अन्तर्याम्यमृतः" (३।७।१५) "स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य ··· अत्यक्रामत्" (३।९।२६) "स वा एष महानज आत्मा" (४।४।२२) "एष सेतुर्विधरणः" (४।४।२२) "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (४।४।२२) "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" (छा० उ० ८।७।१) "तत्तेजोऽसृजत" (छा० उ० ६।२।३) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐ० उ० १।१।१) "न लिप्यते लोक-

यही सिद्ध होता है। "इसी प्रकार इस आत्मासे" इत्यादि शास्त्र संसारीसे ही जगत्‌की उत्पत्ति आदि प्रदर्शित करता है; इसलिये इस सबसे विश्वास रखना चाहिये— ऐसा यह एक पक्ष हो सकता है।[1]

"जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है", "जो क्षुधा-पिपासासे अतीत है", "जो असङ्ग है इसलिये किसीसे संयुक्त नहीं होता", "इस अक्षरके ही शासनमें", "जो समस्त भूतोंमें रहनेवाला, अन्तर्यामी और अमृत है", "जो उन पुरुषोंका निरोध करके उनसे आगे बढ़ा हुआ है", "वही यह महान् अजन्मा आत्मा है", "यह विशेषरूपसे धारण करनेवाला सेतु है", "यह सबको वशमें रखनेवाला और सबका शासक है", "जो निष्पाप और अजर-अमर आत्मा है", "उसने तेजको रचा", "आरम्भमें यह एक आत्मा ही था", "वह लोकदुःखसे लिप्त नहीं होता

१. यहाँतक सिद्धान्तीने संसारी जीवको ही जगत्‌का कारण माननेवाले पूर्वपक्षको प्रदर्शित किया है। इससे आगे असंसारीका जगत्कारणत्व प्रदर्शित किया जाता है।

दुःखेन बाह्यः' (क० उ० २ । २ । ११) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः, स्मृतेश्च "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" (गीता १०।८) इति —परोऽस्त्यसंसारी श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यश्च; स च कारणं जगतः।

ननु "एवमेवास्मादात्मनः" (२ । १ । २०) इति संसारिण एवोत्पत्तिं दर्शयतीत्युक्तम् ।

न; "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः" (२ । १ । १७) इति परस्य प्रकृतत्वात् "अस्मादात्मनः" इति युक्तः परस्यैव परामर्शः । "क्वैष तदाभूत्" (२।१ । १६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनत्वेन आकाशशब्दवाच्यः पर आत्मोक्तो "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" (२ । १ । १७) इति । "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा० उ० ६ । ८ । १) "अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति" (छा० उ० ८ । ३ । २) "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः" (बृ० उ० ४ । ३ । २१) "पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते" (प्र० उ०

क्योंकि उससे बाहर है—" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे तथा "मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ और मुझसे ही सब उत्पन्न होता है" इत्यादि स्मृतियोंसे जीवसे भिन्न असंसारी परमात्मा सिद्ध होता है और श्रुति-स्मृति एवं युक्तिसे वही जगत्का कारण है।

पूर्व०—किंतु "इसी प्रकार इस आत्मासे" इत्यादि श्रुति तो संसारी जीवसे ही जगत्की उत्पत्ति दिखलाती है—ऐसा ऊपर कहा जा चुका है।

सिद्धान्ती—नहीं; "जो यह हृदयान्तर्गत आकाश है" इस प्रकार यहाँ परब्रह्मका ही प्रकरण होनेके कारण "इस आत्मासे" इत्यादि श्रुतिद्वारा परब्रह्मका ही परामर्श मानना उचित है। "उस समय यह कहाँ था ?" इस प्रकार इस प्रश्नके उत्तररूपसे "यह जो हृदयके अन्तर्गत आकाश है, उसमें यह शयन करता है" इस वाक्यद्वारा आकाशशब्दवाच्य आत्मा ही कहा गया है। "हे सोम्य ! उस समय यह सत्से सम्पन्न रहता है" "प्रतिदिन वहाँ जाती हुई इस ब्रह्मलोकको नहीं प्राप्त करती है", प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित", "पर आत्मामें सम्यक् प्रकारसे स्थित होती है"

४।७) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाश-शब्दः पर आत्मेति निश्चीयते; "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" (छा० उ० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य तस्मिन्नेवात्मशब्दप्रयोगाच्च। प्रकृत एव पर आत्मा। तस्माद्युक्तम् 'एवमेवास्मादात्मनः' इति पर-मात्मन एव सृष्टिरिति। संसारिणः सृष्टिस्थितिसंहारज्ञानसामर्थ्या-भावं चावोचाम।

इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशशब्दसे कहा जानेवाला पर आत्मा ही है—ऐसा निश्चय होता है, तथा "इसमें अन्तराकाश दहर है" इस प्रकार प्रसङ्ग उठाकर उसी अर्थमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग भी किया गया है। इसलिये भी यहाँपर आत्माका ही प्रसङ्ग है। अतः 'इसी प्रकार इस आत्मासे' इस वाक्यद्वारा परमात्मा-से ही सृष्टि होती है—ऐसा मानना ही उचित है। इसके सिवा हम संसारी जीवमें तो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहारके ज्ञानकी शक्ति-का अभाव भी बतला चुके हैं।

द्वैतवादिनक्षो दू-भावनम्

अत्र च "आत्मेत्येवोपासीत" (१।४।७) "आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (१।४।१०) इति ब्रह्मविद्या प्रस्तुता। ब्रह्मविषयं च ब्रह्मविज्ञानमिति 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति 'ब्रह्म ज्ञपयिष्यामि' इति प्रारब्धम्। तत्रेदानीमसंसारि ब्रह्म जगतः कारणमशनायाद्यतीतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्, तद्वि-परीतश्च संसारी, तस्मादहं ब्रह्मा-

पूर्व०-यहाँ भी "आत्मा—है इस प्रकार ही उपासना करे", "आत्मा-को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ब्रह्मविद्याका ही प्रसंग है। तथा ब्रह्मविज्ञान ब्रह्मविषयक ही होता है, जो कि 'मैं तुझे ब्रह्मका उपदेश करूँ', 'तुझे ब्रह्मका बोध कराऊँगा' इत्यादि श्रुतियोंसे आरम्भ किया है। यहाँ क्षुधादिसे रहित, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव असंसारी ब्रह्म जगत्का कारण बतलाया गया है। संसारी जीव उससे विपरीत स्वभाववाला है। इसलिये वह अपनेको 'मैं ब्रह्म हूँ'

स्मीति न गृह्णीयात् परं हि देव-मीशानं निकृष्टः संसार्यात्मत्वेन स्मरन्कथं न दोषभाक् स्यात् ? तस्मान्नाहं ब्रह्मास्मीति युक्तम् । तस्मात् पुष्पोदकाञ्जलिस्तुतिनमस्कारबल्युपहारस्वाध्यायाध्ययनयोगादिभिराराराधयिषेत । आराधनेन विदित्वा सर्वेशितृ ब्रह्म भवति । न पुनरसंसारि ब्रह्म संसार्यात्मत्वेन चिन्तयेदग्निमिव शीतत्वेन आकाशमिव मूर्तिमत्त्वेन । ब्रह्मात्मत्वप्रतिपादकमपि शास्त्रमर्थवादो भविष्यति । सर्वतर्कशास्त्रलोकन्यायैश्चैवमविरोधः स्यात् ।

इस प्रकार ग्रहण नहीं कर सकता । भला, निम्नकोटिका संसारी जीव परम देव ईश्वरको आत्मभावसे स्मरण करके किस प्रकार दोषका भागी न होगा ? इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा मानना उचित नहीं हो सकता । अतः पुष्पाञ्जलि, स्तुति, नमस्कार, वलि, उपहार, जप, अध्ययन और योगादिके द्वारा उसकी आराधना करनेकी इच्छा करे । उसे आराधनाके द्वारा जानकर जीव सबका शासन करनेवाला ब्रह्म हो जाता है । जिस प्रकार अग्निको शीतरूपसे तथा आकाशको मूर्तरूपसे चिन्तन करना उचित नहीं है, उसी प्रकार संसारी जीव असंसारी ब्रह्मका आत्मभावसे चिन्तन नहीं कर सकता । आत्माकी ब्रह्मस्वरूपताका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र भी अर्थवाद ही होगा । तथा ऐसा माननेपर समस्त युक्ति, शास्त्र और लौकिक न्यायोंसे विरोध नहीं रह सकता ।

उक्तपक्षनिरासः न; मन्त्रब्राह्मणवादेभ्यस्तस्यैव प्रवेशश्रवणात् । "पुरश्चक्रे" इति प्रकृत्य "पुरः पुरुष आविशत्" (बृ० उ० २ । ५ । १८) इति "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्ष-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मणवाक्योंद्वारा उस (परब्रह्म) का ही प्रवेश सुना गया है । "[शरीररूप] पुरोंकी रचना की" इस प्रकार प्रकरण उठाकर "पुरुषने पुरोंमें प्रवेश किया" "वह रूप-रूपके अनुरूप हो गया इसका वह रूप प्रत्यक्ष करनेके लिये

णाय" (२ । ५ । १९) "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते" इति सर्वशाखासु सहस्रशो मन्त्रवादाः सृष्टिकर्तुरेवासंसारिणः शरीरप्रवेशं दर्शयन्ति । तथा ब्राह्मणवादाः —"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २ । ६ । १) "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐ० उ० १।३।१२) "सेयं देवता ... इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छा० उ० ६ । ३ । २) "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" (क० उ० १ । ३ । १२) इत्याद्याः ।

है", "वह धीर सम्पूर्ण रूपोंकी रचनाकर उनके नाम रखकर उन्हींके द्वारा बोलता रहता है" इस प्रकार सभी शाखाओंमें सहस्रों मन्त्रवाद सृष्टिकर्ता असंसारी ब्रह्मका ही शरीरमें प्रवेश होना दिखलाते हैं। इसी प्रकार "उसे रचकर वह उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया", "वह इस मूर्धसीमाको ही विदीर्ण कर इसीके द्वारा प्रविष्ट हो गया", "उस इस देवताने इन [अप्, तेज और अन्नरूप] तीन देवताओंमें इस जीवरूपसे अनुप्रवेश कर", "यह सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ आत्मा प्रकट नहीं होता" इत्यादि ब्राह्मणवाद भी हैं।

सर्वश्रुतिषु च ब्रह्मण्यात्मशब्दप्रयोगाद् आत्मशब्दस्य च प्रत्यगात्माभिधायकत्वात् "एष सर्वभूतान्तरात्मा" (मु० उ० २ । १ । ४) इति च श्रुतेः परमात्मव्यतिरेकेण संसारिणोऽभावात्— "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "ब्रह्मैवेदम्" (मु० उ० २ । २ । ११) "आत्मैवेदम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादिश्रुतिभ्यो युक्तमेव अहं ब्रह्मास्मीत्यवधारयितुम् ।

इसके सिवा समस्त श्रुतियोंमें ब्रह्ममें ही 'आत्मा' शब्दका प्रयोग होने तथा 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्माका वाचक होने एवं "यह समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है" इस श्रुतिके अनुसार परमात्मासे भिन्न संसारी जीवका अभाव होनेके कारण "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", यह ब्रह्म ही है" "यह आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करना उचित ही है।

यदैवं स्थितः शास्त्रार्थः, तदा परमात्मनः संसारित्वं प्राप्तम्; तथा च सति शास्त्रानर्थक्यम्, असंसारित्वे चोपदेशानर्थक्यं स्पष्टो दोषः प्राप्तः। यदि तावत्परमात्मा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वशरीरसम्पर्कजनितदुःखान्यनुभवतीति स्पष्टं परस्य संसारित्वं प्राप्तम्। तथा च परस्यासंसारित्वप्रतिपादिकाः श्रुतयः कुप्येरन्, स्मृतयश्च, सर्वे च न्यायाः। अथ कथञ्चित्प्राणिशरीरसम्बन्धजैर्दुःखैर्न सम्बध्यत इति शक्यं प्रतिपादयितुं परमात्मनः साध्यपरिहार्याभावादुपदेशानर्थक्यदोषो न शक्यते निवारयितुम्।

जीवपरयोरभेदे दोषोद्भावनम्

जब इस प्रकार शास्त्रका अभिप्राय निश्चित होता है तो परमात्माका संसारी होना सिद्ध होता है; ऐसी स्थितिमें शास्त्र व्यर्थ हो जाता है और यदि जीवको असंसारी माना जाय तो उसे उपदेश करना व्यर्थ है— ऐसा यह स्पष्ट दोष प्राप्त होता है। यदि परमात्मा ही समस्त जीवोंका अन्तरात्मा है और वही समस्त शरीरोंके सम्पर्कसे होनेवाले दुःखोंको अनुभव करता है तो स्पष्ट ही परमात्माको संसारित्वकी प्राप्ति हो जाती है। ऐसी स्थितिमें परमात्माके असंसारित्वका प्रतिपादन करनेवाली समस्त श्रुतियाँ, स्मृतियाँ और युक्तियाँ बाधित हो जाती हैं, और यदि किसी प्रकार यह प्रतिपादन भी किया जाय कि प्राणियोंके शरीरोंके सम्बन्धसे होनेवाले दुःखोंसे उसका सम्बन्ध नहीं होता तो परमात्माके लिये कोई ग्राह्य या त्याज्य न होनेके कारण उपदेशकी व्यर्थतारूप दोषका निवारण नहीं किया जा सकता।

अत्र केचित्परिहारमाचक्षते—परमात्मा न साक्षाद् भूतेष्वनुप्रविष्टः स्वेन रूपेण; किं तर्हि ?

जीवस्य परमात्मविकारत्वं प्रस्तूयते

यहाँ कोई लोग इस दोषका इस प्रकार परिहार बतलाते हैं—परमात्मा साक्षात् अपने रूपसे भूतोंमें अनुप्रविष्ट नहीं है; तो फिर क्या बात

विकारभावमापन्नो विज्ञानात्मत्वं प्रतिपेदे। स च विज्ञानात्मा परस्मादन्योऽनन्यश्च। येनान्यः, तेन संसारित्वसम्बन्धी, येनानन्यः, तेन अहं ब्रह्मेत्यवधारणार्हः। एवं सर्वमविरुद्धं भविष्यतीति।

है? वह विकारभावको प्राप्त होकर विज्ञानात्मत्वको प्राप्त हुआ है और वह विज्ञानात्मा परमात्मासे भिन्न एवं अभिन्न भी है। चूँकि वह भिन्न है, इसलिये संसारित्वसे सम्बन्ध रखनेवाला है और अभिन्न होनेके कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके निश्चयकी योग्यता रखता है। इस प्रकार माननेसे [श्रुति, स्मृति एवं न्यायादि] सब अनुकूल रहेंगे।

तत्र-विज्ञानात्मनो विकारपक्षे एता गतयः—पृथिवीद्रव्यवदनेकद्रव्यसमाहारस्य सावयवस्य परमात्मन एकदेशविपरिणामो विज्ञानात्मा घटादिवत्। पूर्वसंस्थानावस्थस्य वा परस्यैकदेशो विक्रियते केशोषरादिवत्, सर्व एव वा परः परिणमेत्क्षीरादिवत्।

तहाँ (इस सिद्धान्तके अनुसार) विज्ञानात्माको परमात्माका विकार माननेके पक्षमें तीन गतियाँ हो सकती हैं—(१) पृथिवी द्रव्यके समान अनेक द्रव्योंके संघातरूप सावयव परमात्माका विज्ञानात्मा घटादिकी तरह एकदेशी परिणाम है, (२) अथवा अपने पूर्वरूपमें स्थित परमात्माका एक ही देश केश या ऊपरभूमिके समान [विज्ञानात्मरूपसे] विकारको प्राप्त होता है, (३) अथवा दुग्धादिके समान सारा ही परमात्मा विकारको प्राप्त हो जाता है।

तत्र समानजातीयानेकद्रव्य-
उक्तपक्षप्रतिषेधः समूहस्य कश्चिद् द्रव्यविशेषो विज्ञानात्मत्वं प्रतिपद्यते यदा, तदा समानजातीय-

इन पक्षोंमेंसे यदि [यह माना जाय कि] समान जातिवाले अनेक द्रव्योंके समुदायका कोई द्रव्यविशेष ही विज्ञानात्मत्वको प्राप्त होता है तो समानजातीय होनेके कारण उन

त्वादेकत्वमुपचरितमेव न तु परमार्थतः । तथा च सति सिद्धान्तविरोधः ।

(परमात्मा और विज्ञानात्मा) का एकत्व उपचारसे ही होगा, परमार्थतः नहीं । ऐसा माननेपर सिद्धान्तसे विरोध आवेगा ।

अथ नित्यायुतसिद्धावयवानुगतोऽवयवी पर आत्मा, तस्य तदवस्थस्यैकदेशो विज्ञानात्मा संसारी—तदापि सर्वावयवानुगतत्वादवयविन एवावयवगतो दोषो गुणो वेति, विज्ञानात्मनः संसारित्वदोषेण पर एवात्मा सम्बध्यत इति, इयमप्यनिष्टा कल्पना । क्षीरवत्सर्वपरिणामपक्षे सर्वश्रुतिस्मृतिकोपः, स चानिष्टः । "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वे० उ० ६ । १९) "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २ । १ । २) "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतः" (बृ० उ० ४ । ४ । २५) "न जायते म्रियते वा कदाचित्" (गीता २ । २०) "अव्यक्तोऽयम्" (गीता २ । २५) इत्यादि

और यदि परमात्मा नित्य अयुतसिद्ध अवयवोंमें अनुगत अवयवी है और उसी रूपमें स्थित हुए उस परमात्माका एकदेश संसारी विज्ञानात्मा है तो उस अवस्थामें भी अवयवगत गुण या दोष समस्त अवयवोंमें अनुगत होनेके कारण अवयवीमें ही रहेगा; इस प्रकार विज्ञानात्माके संसारित्वरूप दोषसे परमात्माका ही सम्बन्ध सिद्ध होता है । अतः यह कल्पना भी इष्ट नहीं हो सकती । दुग्धके समान सम्पूर्ण परमात्माका परिणाम माननेके पक्षमें भी समस्त श्रुति-स्मृतियोंसे विरोध होता है और यह इष्ट नहीं है । अतः ये सब पक्ष "निष्कल, निष्क्रिय और शान्त है" "पुरुष दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है" "वह आकाशके समान सर्वगत और नित्य है", "वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर एवं अमृत है", "वह न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है", वह "अव्यक्त है"

श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धा एते सर्वे पक्षाः ।

इत्यादि श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे विरुद्ध हैं।

अचलस्य परमात्मन एकदेशपक्षे विज्ञानात्मनः कर्मफलवद्देशसंसरणानुपपत्तिः, परस्य वा संसारित्वम्-इत्युक्तम्। परस्यैकदेशोऽग्निविस्फुलिङ्गवत्स्फुटितो विज्ञानात्मा संसरतीति चेत्—तथापि परस्यावयवस्फुटनेन क्षतप्राप्तिः, तत्संसरणे च परमात्मनः प्रदेशान्तरावयवव्यूहे छिद्रताप्राप्तिः; अव्रणत्ववाक्यविरोधश्च । आत्मावयवभूतस्य विज्ञानात्मनः संसरणे परमात्मशून्यप्रदेशाभावादवयवान्तरनोदनव्यूहनाभ्यां हृदयशूलेनेव परमात्मनो दुःखित्वप्राप्तिः ।

अचल परमात्माके एक देशमें विज्ञानात्मा है—इस पक्षमें विज्ञानात्माका कर्मफलयुक्त देशमें जाना सम्भव नहीं है तथा परमात्माको संसारित्वकी प्राप्ति होती है—ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। यदि कहो कि अग्निसे चिनगारीके समान परमात्माका एक देशरूप विज्ञानात्मा उससे अलग होकर आता-जाता है तो भी अवयवके फूटकर अलग हो जानेसे परमात्मामें क्षतकी प्राप्ति होगी तथा उसके जानेपर परमात्माके अन्य देशस्थ अवयवसमुदायमें छेदकी भी प्राप्ति होगी और इस प्रकार परमात्माकी निश्छिद्रताका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसे विरोध होगा। परमात्मासे शून्य देशका अभाव होनेके कारण आत्माके अवयवभूत विज्ञानात्माको संसारित्वकी प्राप्ति होनेपर अवयवान्तरके ह्रास और वृद्धिके कारण परमात्माको हृदयशूलके समान दुःखकी प्राप्ति होगी।

अग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तश्रुतेर्न दोष इति चेत् ?

पूर्व०-किंतु आगकी चिनगारी आदि दृष्टान्तोंका वर्णन करनेवाली श्रुति होनेके कारण ऐसा माननेमें भी कोई दोष नहीं हो सकता—यदि ऐसा कहें तो ?

न, श्रुतेर्ज्ञापकत्वात्; न शास्त्रं पदार्थानन्यथा कर्तुं प्रवृत्तम्। किं तर्हि? यथाभूतानामज्ञातानां ज्ञापने।

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है; क्योंकि श्रुति तो केवल ज्ञान ही करानेवाली है। शास्त्रकी प्रवृत्ति पदार्थोंको अन्यथा करनेके लिये नहीं है। तो फिर किस लिये है? यथाभूत अज्ञात पदार्थोंको ज्ञात करानेके लिये।

किञ्चातः?

पूर्व०--इससे क्या होता है?

शृणु—अतो यद्भवति, यथाभूता मूर्तामूर्तादिपदार्थधर्मा लोके प्रसिद्धाः। तद्दृष्टान्तोपादानेन तदविरोध्येव वस्त्वन्तरं ज्ञापयितुं प्रवृत्तं शास्त्रं न लौकिकवस्तुविरोधज्ञापनाय लौकिकमेव दृष्टान्तमुपादत्ते। उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तोऽनर्थकः स्याद्दार्ष्टान्तिकासङ्गतेः। न ह्यग्निः शीत आदित्यो न तपतीति वा दृष्टान्तशतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम्, प्रमाणान्तरेणान्यथाधिगतत्वाद्वस्तुनः। न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणा-

सिद्धान्ती--इससे जो होता है, सो सुनो। लोकमें वास्तविक ही मूर्त और अमूर्तादिरूप पदार्थ-धर्म प्रसिद्ध हैं। उन्हें दृष्टान्तरूपसे ग्रहण कर शास्त्र उनसे अविरोधी एक अन्य वस्तुको बतलानेके लिये प्रवृत्त होता है। वह लौकिक वस्तुओंका विरोध सूचित करनेके लिये लौकिक दृष्टान्तोंको ही ग्रहण करता हो—ऐसी बात नहीं है। ऐसा दृष्टान्त तो दार्ष्टान्तिकसे असंगत होनेके कारण ग्रहण किये जानेपर भी व्यर्थ ही होगा। अग्नि शीतल होता है, अथवा सूर्य नहीं तपता—यह बात सैकड़ों दृष्टान्तोंसे भी प्रतिपादित नहीं हो सकती; क्योंकि अन्य प्रमाणसे तो वह वस्तु दूसरे प्रकारकी जानी जाती है। एक प्रमाणका दूसरे प्रमाणसे विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाणसे नहीं जानी जाती उसीको

न्तरं ज्ञापयति । न च लौकिकपदपदार्थाश्रयणव्यतिरेकेणागमेन शक्यमज्ञातं वस्त्वन्तरमवगमयितुम् । तस्मात्प्रसिद्धन्यायमनुसरता न शक्या परमात्मनः सावयवांशांशित्वकल्पना परमार्थतः प्रतिपादयितुम् ।

"क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" (बृ० उ० २ । १ । २०) "ममैवांशः" (गीता १५ । ७) इति च श्रूयते स्मर्यते चेति चेन्न, एकत्वप्रत्ययार्थपरत्वात् । अग्नेर्हि विस्फुलिङ्गोऽग्निरेव इत्येकत्वप्रत्ययार्हो दृष्टो लोके; तथा चांशोंऽशिनैकत्वप्रत्ययार्हः; तत्रैवं सति विज्ञानात्मनः परमात्मविकारांशत्ववाचकाः शब्दाः परमात्मैकत्वप्रत्ययाधित्सवः ।

उपक्रमोपसंहाराभ्यां च —

दूसरा प्रमाण बतलाता है। तथा लौकिक पद और पदार्थोंका आश्रय लिये विना शास्त्रके द्वारा किसी अज्ञात वस्त्वन्तरको नहीं जाना जा सकता। अतः इस प्रसिद्ध न्यायका अनुसरण करनेवाले पुरुषके द्वारा परमात्माके सावयवत्व और [जीवके साथ उसके] अंशांशित्वकी कल्पनाका परमार्थतः प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

यदि कहो कि "क्षुद्र विस्फुलिङ्ग" और "मेरा ही अंश है" इस प्रकार श्रुति और स्मृति भी कहती हैं तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि वे तो [जीवात्मा और परमात्माके] एकत्वकी प्रतीतिके लिये हैं। अग्निकी चिनगारी अग्नि ही होती है, इसलिये लोकमें वह अग्निके साथ एकत्व-प्रतीतिके योग्य देखा गया है। इसी प्रकार अंशीके साथ अंश भी एकत्व-प्रतीतिके योग्य है। अतः ऐसी स्थितिमें विज्ञानात्माको परमात्माका विकार या अंश बतलानेवाले शब्द परमात्माके साथ उसके एकत्वकी प्रतीति कराना चाहते हैं।

उपक्रम और उपसंहारसे भी यही बात सिद्ध होती है। सभी उप-

सर्वासु ह्युपनिषत्सु पूर्वमेकत्वं प्रतिज्ञाय, दृष्टान्तैर्हेतुभिश्च परमात्मनो विकारांशादित्वं जगतः प्रतिपाद्य, पुनरेकत्वमुपसंहरति; तद्यथेहैव तावत् "इदं सर्वं यदयमात्मा" (२ । ४ । ६) इति प्रतिज्ञाय, उत्पत्तिस्थितिलयहेतुदृष्टान्तैर्विकारविकारित्वाद्येकत्वप्रत्ययहेतून्प्रतिपाद्य "अनन्तरमबाह्यम्" (२ । ५ । १९) "अयमात्मा ब्रह्म" (२ । ५ । १९) इत्युपसंहरिष्यति । तस्मादुपक्रमोपसंहाराभ्यामयमर्थो निश्चीयते परमात्मैकत्वप्रत्ययद्रढिम्न उत्पत्तिस्थितिलयप्रतिपादकानि वाक्यानीति ।

निषदोंमें पहले उनके एकत्वकी प्रतिज्ञा कर हेतु और दृष्टान्तोंके द्वारा जगत्को परमात्माका विकार या अंशादि बतलाकर फिर उनके एकत्वका उपसंहार किया है, जैसे कि यहाँ भी पहले "यह जो कुछ है, सब आत्मा है" ऐसी प्रतिज्ञाकर उत्पत्ति, स्थिति, लय, हेतु और दृष्टान्तोंके द्वारा उनके एकत्वज्ञानके हेतुभूत विकार और विकारित्वादिका प्रतिपादन कर "अन्तरबाह्यशून्य है", "यह आत्मा ब्रह्म है" इस प्रकार उपसंहार किया जायगा। अतः उपक्रम और उपसंहारके द्वारा यह तात्पर्य निश्चित होता है कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य परमात्माके साथ उसके एकत्वज्ञानकी दृढ़ता करानेके लिये हैं ।

अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च—सर्वोपनिषत्सु हि विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वप्रत्ययो विधीयत इत्यविप्रतिपत्तिः सर्वेषामुपनिषद्वादिनाम् । तद्विध्येकवाक्ययोगे च सम्भवत्युत्पत्त्यादिवाक्यानां वा-

यदि ऐसा न माना जायगा तो वाक्यभेदका प्रसङ्ग उपस्थित होगा । सभी उपनिषदोंमें परमात्माके साथ विज्ञानात्माके एकत्वज्ञानका विधान किया गया है, इस विषयमें सभी उपनिषद्वेत्ताओंकी एक राय है—किसीका मतभेद नहीं है । उत्पत्त्यादि वाक्योंकी भी उस विधिके साथ एकवाक्यता सम्भव होनेपर उन्हें भिन्न

क्यान्तरत्वकल्पनायां न प्रमाणमस्ति; फलान्तरं च कल्पयितव्यं स्यात्; तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वप्रतिपादनपराः।

अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके सिवा [उन्हें अन्यार्थपरक माननेपर] उनके फलान्तरकी भी कल्पना करनी पड़ेगी। अतः उत्पत्त्यादि श्रुतियाँ आत्माका एकत्व प्रतिपादन करनेवाली ही हैं।

अत्र च सम्प्रदायविद आख्यायिकां सम्प्रचक्षते—कश्चित्किल राजपुत्रो जातमात्र एव मातापितृभ्यामपविद्धो व्याधगृहे संवर्धितः, सोऽमुष्य वंश्यतामजानन्व्याधजातिप्रत्ययो व्याधजातिकर्माण्येवानुवर्तते; न राजास्मीति राजजातिकर्माण्यनुवर्तते। यदा पुनः कश्चित्परमकारुणिको राजपुत्रस्य राजश्रीप्राप्तियोग्यतां जानन्नमुष्य पुत्रतां बोधयति—'न त्वं व्याधोऽमुष्य राज्ञःपुत्रः-कथञ्चिद्व्याधगृहमनुप्रविष्टः' इति—स एवं बोधितस्त्यक्त्वा व्याधजाति-

इस विषयमें सम्प्रदायवेत्ता (श्रीद्रविडाचार्य) यह आख्यायिका कहते हैं—कोई राजपुत्र जन्म होते ही माता-पिताद्वारा त्याग दिया जानेके कारण व्याधके घरमें पाला-पोसा गया। वह अपनी कुलीनताको न जाननेके कारण अपनेको व्याधजातिका ही मानकर व्याधजातिके कर्मोंका ही अनुवर्तन करता था, 'मैं राजा हूँ' ऐसा मानकर राजोचित कर्म नहीं करता था। जब कोई अत्यन्त कृपालु पुरुष, जो राजपुत्रकी राजश्री प्राप्त करनेकी योग्यता जानता है, उसे उसकी राजपुत्रताका बोध करा देता है और यह बतला देता है कि 'तू व्याध नहीं है, अमुक राजाका पुत्र है, किसी प्रकार इस व्याधके घरमें आ गया है' तो इस प्रकार बोध कराये जानेपर वह व्याधजातिके प्रत्ययसे होनेवाले कर्मोंको छोड़कर 'मैं राजा हूँ' ऐसा

प्रत्ययकर्माणि पितृपैतामहीमात्मनः पदवीमनुवर्तते राजाहमस्मीति ।

तथा किलायं परस्मादग्निविस्फुलिङ्गादिवज्जातिरेव विभक्त इह देहेन्द्रियादिगहने प्रविष्टोऽसंसारी सन् देहेन्द्रियादिसंसारधर्ममनुवर्तते 'देहेन्द्रियसङ्घातोऽस्मि कृशः स्थूलः सुखी दुःखी' इति परमात्मतामजानन्नात्मनः । न त्वमेतदात्मकः परमेव ब्रह्मास्यसंसारीति प्रतिबोधित आचार्येण हित्वैषणात्रयानुवृत्तिं ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपद्यते । अत्र राजपुत्रस्य राजप्रत्ययवद्ब्रह्मप्रत्ययो दृढीभवति—विस्फुलिङ्गवदेव त्वं परस्माद् ब्रह्मणो भ्रष्ट इत्युक्ते विस्फुलिङ्गस्य प्रागग्नेर्भ्रंशादग्न्येकत्वदर्शनात् ।

तस्मादेकत्वप्रत्ययदार्ढ्याय सुवर्णमणिलोहाग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्ताः,

मानकर अपने बाप-दादोंके मार्गका अनुसरण करने लगता है ।

इसी प्रकार अग्निकी चिनगारियोंके समान परमात्मासे विभक्त यह उसी (परमात्मा) की जातिवाला विज्ञानात्मा यहाँ देह एवं इन्द्रियादि गहनवनमें प्रविष्ट होनेपर असंसारी होकर भी अपनी परमात्मस्वरूपताको न जाननेके कारण 'मैं देहेन्द्रियादिका संघात तथा कृश, स्थूल एवं सुखी या दुखी हूँ' ऐसा मानकर देह एवं इन्द्रियादि सांसारिक धर्मोंका अनुवर्तन करता है। किंतु 'तू देहेन्द्रियादिरूप नहीं है, अपि तु असंसारी ब्रह्म ही है' इस प्रकार आचार्यद्वारा बोध कराये जानेपर यह एषणात्रयकी अनुवृत्तिको छोड़कर 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा जान लेता है। तथा यहाँ ऐसा कहनेपर कि 'तू अग्निसे विस्फुलिङ्गके समान परब्रह्मसे ही च्युत हुआ है' राजपुत्रके राजप्रत्ययके समान उसका ब्रह्मप्रत्यय दृढ़ हो जाता है, क्योंकि अग्निसे च्युत होनेसे पूर्व विस्फुलिङ्गकी अग्निके साथ एकता देखी गयी है।

अतः सुवर्ण, मणि, लोह एवं अग्नि-विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्त एकत्वज्ञानकी दृढ़ताके लिये हैं,

नोत्पत्त्यादिभेदप्रतिपादनपराः। सैन्धवघनवत्प्रज्ञप्त्येकरसनैरन्तर्यावधारणात् "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (४।४।२०) इति च। यदि च ब्रह्मणश्चित्रपटवद्वृक्षसमुद्रादिवच्चोत्पत्त्याद्यनेकधर्मविचित्रता विजिग्राहयिषिता, एकरसं सैन्धवघनवदनन्तरमबाह्यमिति नोपसमहरिष्यत्, "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति च न प्रायोक्ष्यत—"य इह नानेव पश्यति" (४।४।१९) इति निन्दावचनं च। तस्मादेकरूपैकत्वप्रत्ययदार्ढ्यायैव सर्ववेदान्तेषूत्पत्तिस्थितिलयादिकल्पना, न तत्प्रत्ययकरणाय।

उत्पत्ति आदिका भेद प्रदर्शित करनेके लिये नहीं हैं। तथा "उसे एकरूप ही देखना चाहिये" इस श्रुतिसे नमकके डलेके समान उसे ज्ञानरूप एकरससे निरन्तर परिपूर्ण भी निश्चय किया गया है। यदि चित्रपट अथवा वृक्ष या समुद्रादिके समान उत्पत्ति आदि अनेक धर्मोंके कारण ब्रह्मकी विचित्रताका ही ग्रहण करना अभीष्ट होता तो 'वह नमकके डलेके समान एकरस एवं अन्तरबाह्यशून्य है' इस प्रकार उपसंहार न किया जाता तथा उसे "एकरूप ही देखना चाहिये" ऐसे आदेशका और "जो इसे नानावत् देखता है [वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है]" ऐसे निन्दासूचक वचनका भी प्रयोग न होता। अतः समस्त वेदान्तोंमें जो उत्पत्ति, स्थिति एवं लय आदिकी कल्पना है, वह ब्रह्मकी एकरूपताके ज्ञानकी दृढ़ताके लिये ही है, उन (उत्पत्त्यादि) की प्रतीति करानेके लिये नहीं है।

न च निरवयवस्य परमात्मनोऽसंसारिणः संसार्येकदेशकल्पना न्याय्या, स्वतोऽदेशत्वात्परमात्मनः। अदेशस्य परस्य एकदेश-

इसके सिवा निरवयव और असंसारी परमात्माके संसारीरूप एक देशकी कल्पना करना युक्तियुक्त भी नहीं है, क्योंकि स्वयं परमात्मामें तो देश है नहीं। देशहीन परमात्माके

संसारित्वकल्पनायां पर एव संसारीति कल्पितं भवेत्। अथ परोपाधिकृत एकदेशः परस्य, घटकरकाद्याकाशवत्; न तदा तत्र विवेकिनां परमात्मैकदेशः पृथक्संव्यवहारभागिति बुद्धिरुत्पद्यते।

एकदेशमें संसारित्वकी कल्पना करनेमें 'परमात्मा ही संसारी है' ऐसी कल्पना हो जायगी और यदि ऐसा माना जाय कि घटाकाश और करकाकाशादिके समान किसी अन्य उपाधिके कारण विज्ञानात्मा परमात्माका एकदेश है तो उसमें विवेकी पुरुषोंको ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती कि परमात्माका एकदेश पृथक् व्यवहार करनेमें समर्थ है।

अविवेकिनां विवेकिनां चोपचरिता बुद्धिर्दृष्टेति चेत्?

पूर्व०—किंतु [मैं कर्ता हूँ] ऐसी गौणी[1] बुद्धि तो अविवेकियों और विवेकियोंको भी होती देखी गयी है?

न; अविवेकिनां मिथ्याबुद्धित्वात्, विवेकिनां च संव्यवहारमात्रालम्बनार्थत्वात्—यथा कृष्णो रक्तश्चाकाश इति विवेकिनामपि कदाचित्कृष्णता रक्तता च आकाशस्य संव्यवहारमात्रालम्बनार्थत्वं प्रतिपद्यत इति, न परमार्थतः कृष्णो रक्तो वा आकाशो भवितुमर्हति। अतो न पण्डितै-

सिद्धान्ती-नहीं, क्योंकि अविवेकियोंकी तो वह बुद्धि मिथ्या होती है और विवेकियोंकी सम्यक् प्रकारसे व्यवहारको आलम्बन करनेके लिये; जिस प्रकार कि [अविवेकियोंके समान] विवेकियोंकी दृष्टिमें भी कभी-कभी 'आकाश काला अथवा लाल है' इस प्रकार आकाशकी कृष्णता अथवा लाली व्यवहारमात्रके आलम्बनार्थत्वको प्राप्त हो जाती है, किंतु वस्तुतः आकाश काला या लाल नहीं हो सकता। अतः विद्वानों-

१. वस्तुतः जीव अपरिच्छिन्न ब्रह्ममात्र है, इसलिये इस परिच्छिन्न बुद्धिको गौणी बतलाया गया है।

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपत्तिविषये ब्रह्मणोंऽशांश्येकदेशैकदेशिविकारविकारित्वकल्पना कार्या, सर्वकल्पनापनयनार्थसारपरत्वात्सर्वोपनिपदाम् ।

को ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानके विषयमें ब्रह्मके अंशांशी, एकदेश-एकदेशी अथवा विकार-विकारित्वादिकी कल्पना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सारी उपनिषदोंका तात्पर्य समस्त कल्पनाओंकी निवृत्तिरूप मुख्य प्रयोजनमें ही है ।

अतो हित्वा सर्वकल्पनामाकाशस्येव निर्विशेषता प्रतिपत्तव्या—"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (क० उ० २।२।११) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः; नात्मानं ब्रह्मविलक्षणं कल्पयेत्—उष्णात्मक इवाग्नौ शीतैकदेशम्, प्रकाशात्मके वा सवितरि तमएकदेशम्—सर्वकल्पनापनयनार्थसारपरत्वात्सर्वोपनिपदाम् । तस्मान्नामरूपोपाधिनिमित्ता एव आत्मन्यसंसारधर्मिणि सर्वे व्यवहाराः; "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" (क० उ० २।२।९-१०) "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा-

इसलिये सारी कल्पनाओंको छोड़कर "ब्रह्म आकाशके समान सर्वगत और नित्य है" "वह लोक-दुःखसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि उससे बाह्य है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंके अनुसार आकाशके समान उसकी निर्विशेषताका ही अनुभव करना चाहिये, उष्णस्वरूप अग्निमें एक शीतल देशके समान तथा प्रकाशस्वरूप सूर्यमें एक अन्धकारमय देशके समान ब्रह्मसे भिन्न आत्माकी कल्पना न करे; क्योंकि सब उपनिषदोंका तात्पर्य समस्त कल्पनाओंकी निवृत्तिरूप मुख्य प्रयोजनमें ही है । अतः असंसारधर्मी आत्मामें सारे व्यवहार नाम एवं रूपकृत उपाधिके कारण ही हैं, जैसा कि "वह रूप-रूपके अनुरूप हो गया है" "धीर पुरुष समस्त रूपोंकी रचना कर उनके नाम रखकर उनके द्वारा बोलता

मिवदन्यदास्ते" इत्येवमादिमन्त्रवर्णेभ्यः ।

न स्वत आत्मनः संसारित्वम्, अलक्तकाद्युपाधिसंयोगजनितरक्तस्फटिकादिबुद्धिवद्भ्रान्तमेव, न परमार्थतः। "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) "न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्" (४ । ४ । २३) "न लिप्यते कर्मणा पापकेन" (४ । ४ । २३) "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्" (गीता १३ । २७) "शुनि चैव श्वपाके च" (गीता ५ । १८) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यःपरमात्मनोऽसंसारितैव । अत एकदेशो विकारः शक्तिर्वा विज्ञानात्मा अन्यो वेति विकल्पयितुं निरवयवत्वाभ्युपगमे विशेषतो न शक्यते । अंशादिश्रुतिस्मृतिवादाश्चैकत्वार्थाः, न तु भेदप्रतिपादकाः, विवक्षितार्थैकवाक्ययोगात् — इत्यवोचाम ।

उपनिषत्प्रामाण्यमीमांसा

सर्वोपनिषदां परमात्मैकत्वज्ञापनपरत्वे अथ किमर्थं तत्प्रतिकूलोऽर्थो विज्ञानात्मभेदः परि-

रहता है" इत्यादि मन्त्रवर्णोंसे सिद्ध होता है ।

आत्माका संसारित्व स्वतः नहीं है, अपितु लाक्षा आदि उपाधिके संयोगसे होनेवाली 'स्फटिक लाल है' इत्यादि बुद्धिके समान भ्रान्तिजनित ही है, परमार्थतः नहीं । "मानो ध्यान करता है, मानो अविक चलता है", "यह कर्मसे न बढ़ता है, न छोटा होता है" "यह पापकर्मसे लिप्त नहीं होता" "समस्त भूतोंमें समानरूपसे स्थित", "कुत्ते और चाण्डालमें" इत्यादि श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे परमात्माका असंसारित्व ही सिद्ध होता है । अतः विशेषतः आत्माका निरवयवत्व स्वीकार करनेपर ऐसा विकल्प नहीं किया जा सकता कि विज्ञानात्मा परमात्माका एकदेश, विकार, शक्ति अथवा और कुछ है । उसके अंशादि होनेका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिस्मृतिवाद भी आत्माके एकत्वके ही लिये हैं, भेदका प्रतिपादन करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि उपनिषदोंके विवक्षित अर्थकी एकवाक्यता होनी चाहिये— ऐसा हम पहले कह चुके हैं ।

समस्त उपनिषदोंका तात्पर्य परमात्माके एकत्वमें है, फिर विज्ञानात्माके भेदरूप उससे प्रतिकूल विषयकी कल्पना किस लिये की जाती

कल्प्यत इति ? कर्मकाण्डप्रामाण्यविरोधपरिहारायेत्येके; कर्मप्रतिपादकानि हि वाक्यानि अनेकक्रियाकारकफलभोक्तृकर्त्राश्रयाणि, विज्ञानात्मभेदाभावे ह्यसंसारिण एव परमात्मन एकत्वे कथमिष्टफलासु क्रियासु प्रवर्तयेयुः? अनिष्टफलाभ्यो वा क्रियाभ्यो निवर्तयेयुः? कस्य वा बद्धस्य मोक्षायोपनिषदारभ्येत ? अपि च परमात्मैकत्ववादिपक्षे कथं परमात्मैकत्वोपदेशः ? कथं वा तदुपदेशग्रहणफलम् ? बद्धस्य हि बन्धनाशायोपदेशस्तदभाव उपनिषच्छास्त्रं निर्विषयमेव।

एवं तर्हि उपनिषद्वादिपक्षस्य कर्मकाण्डवादिपक्षेण चोद्यपरिहार-

है ? इसपर किन्हीं (मीमांसकों) का तो कहना है कि यह कल्पना कर्मकाण्डके प्रामाण्यसे प्रतीत होनेवाले विरोधका परिहार करनेके लिये है, क्योंकि कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य अनेकों क्रिया, कारक, फल, भोक्ता और कर्ताओंको आश्रय करनेवाले हैं, विज्ञानात्माका भेद न होनेपर असंसारी परमात्माका एकत्व रहते हुए वे किस प्रकार लोगोंको इष्टफलोंवाली क्रियाओंमें प्रवृत्त अथवा अनिष्ट फलोंवाली क्रियाओंसे निवृत्त कर सकेंगे। तथा किस बद्ध जीवकी मुक्तिके लिये उपनिषद्का आरम्भ किया जायगा? इसके सिवा परमात्माका एकत्व प्रतिपादन करनेवालोंके मतमें किसीको परमात्माके एकत्वका उपदेश भी क्यों दिया जायगा और किस प्रकार उसके उपदेशग्रहणका फल होगा ? क्योंकि बद्ध जीवके बन्धनका नाश करनेके लिये ही इसका उपदेश किया जाता है, बन्धन न होनेपर तो उपनिषच्छास्त्रका कोई विषय ही नहीं रहता।

पूर्व०-ऐसी स्थितिमें तो उपनिषद्वादी पक्षके शङ्का-समाधानका मार्ग कर्मकाण्डवादी पक्षके समान हो

यो समानः पन्थाः—येन भेदाभावे कर्मकाण्डं निरालम्बनमात्मानं न लभते प्रामाण्यं प्रति तथोपनिषदपि । एवं तर्हि यस्य प्रामाण्ये स्वार्थविघातो नास्ति, तस्यैव कर्मकाण्डस्यास्तु प्रामाण्यम्; उपनिषदां तु प्रामाण्यकल्पनायां स्वार्थविघातो भवेदिति मा भूत्प्रामाण्यम् । न हि कर्मकाण्डं प्रमाणं सदप्रमाणं भवितुमर्हति; न हि प्रदीपः प्रकाश्यं प्रकाशयति, न प्रकाशयति चेति ।

है, क्योंकि जिस प्रकार भेद न होनेपर कर्मकाण्ड निरालम्ब (अधिकारि-शून्य) होकर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर सकता, उसी प्रकार उपनिषद् भी स्वयं प्रामाणिक नहीं हो सकती। यदि ऐसी बात है, तब तो जिसकी प्रामाणिकता माननेपर स्वार्थका[1] विघात नहीं होता, उस कर्मकाण्डकी ही प्रामाणिकता माननी चाहिये। उपनिषदोंके प्रामाण्यकी कल्पना करनेमें तो स्वार्थका विघात होता है, इसलिये उनकी प्रामाणिकता भले ही न हो। कर्मकाण्ड प्रामाणिक होकर अप्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि उत्तम दीपक अपने प्रकाश्य पदार्थको प्रकाशित करता है और प्रकाशित नहीं भी करता—ऐसा नहीं होता।

प्रत्यक्षादिप्रमाणविप्रतिषेधाच्च—न केवलमुपनिषदो ब्रह्मैकत्वं प्रति- : द९ न्त्य. स्वार्थविघातं कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातं च कुर्वन्ति; प्रत्यक्षादिनिश्चितभेदप्रतिपत्त्यर्थप्रमाणैश्च विरुध्यन्ते । तस्माद्-

इसके सिवा अभेद श्रुतियोंका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरोध भी है। ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदें केवल स्वार्थविघात और कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात ही नहीं करतीं अपितु निश्चित भेदका ज्ञान करनेवाले प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उनका विरोध भी है।

१. शब्दकी शक्तिवृत्तिसे प्रतीत होनेवाले सृष्टयादि भेदका ।

प्रामाण्यमेवोपनिषदाम्; अन्यार्थता वास्तु; न त्वेव ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थता।

अतः उपनिषदें अप्रामाणिक ही हैं, अथवा उनका कोई अन्य प्रयोजन हो सकता है, वे ब्रह्मका एकत्व प्रतिपादन करनेके लिये ही नहीं हो सकतीं।

न; उक्तोत्तरत्वात्। प्रमाणस्य हि प्रमाणत्वमप्रमाणत्वं वा प्रमोत्पादनानुत्पादननिमित्तम्, अन्यथा चेत्स्तम्भादीनां प्रामाण्यप्रसङ्गाच्छब्दादौ प्रमेये।

सिद्धान्ती–नहीं, क्योंकि इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। प्रमाणकी प्रमाणता अथवा अप्रमाणता प्रमाकी उत्पत्ति करने या न करनेके कारण ही होती है, यदि ऐसा न माना जायगा तो शब्दादि प्रमेयमें स्तम्भादिकी भी प्रमाणताका प्रसङ्ग उपस्थित होगा[1]।

किञ्चातः?

पूर्व०–सो, इससे क्या हुआ?

यदि तावदुपनिषदो ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तिप्रमां कुर्वन्ति, कथमप्रमाणं भवेयुः?

सिद्धान्ती–यदि उपनिषदें ब्रह्मज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न करती हैं, तो वे किस प्रकार अप्रामाणिक होंगी?

न कुर्वन्त्येवेति चेद्यथाग्निः शीतमिति?

पूर्व०–किंतु 'अग्नि शीतल होता है, इस वाक्यके समान यदि वे प्रमा उत्पन्न करती ही न हों तो?

स भवानेवं वदन्वक्तव्यः–उपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधार्थं भवतो वाक्यमुपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधं किं

सिद्धान्ती–इस प्रकार बोलनेवाले आपसे हमें यह कहना है कि उपनिषद्के प्रामाण्यका प्रतिषेध करनेके लिये प्रवृत्त हुआ आपका 'वाक्य उपनिषद्के प्रामाण्यका निषेध क्या

१. स्तम्भादिसे शब्दादिकी प्रमा नहीं होती; किंतु यदि प्रमाणके लिये प्रमाको उत्पन्न करना आवश्यक न मानें तो उन्हें भी प्रमाण क्यों न माना जाय?

न करोत्येवाग्निर्वा रूपप्रकाशम् ?

अथ करोति ।

यदि करोति भवतु तदा प्रतिषेधार्थं प्रमाणं भवद्वाक्यम्, अग्निश्च रूपप्रकाशको भवेत्; प्रतिषेधवाक्यप्रामाण्ये भवत्येवोपनिषदां प्रामाण्यम् । अत्र भवन्तो ब्रुवन्तु कः परिहार इति ?

नन्वत्र प्रत्यक्षा मद्वाक्य उपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधार्थप्रतिपत्तिरग्नौ च रूपप्रकाशनप्रतिपत्तिः प्रमा ।

कस्तर्हि भवतः प्रद्वेषो ब्रह्मैकत्वप्रत्यये प्रमां प्रत्यक्षं कुर्वतीषूपनिषत्सूपलभ्यमानासु ? प्रतिषेधानुपपत्तेः । शोकमोहादिनिवृत्तिश्च प्रत्यक्षं फलं ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तिपारम्पर्यजनितमित्यवोचाम । तस्मादुक्तोत्तरत्वादुपनिषदं प्रत्य-

नहीं करता है तथा अग्निरूपको क्या प्रकाशित नहीं करता है ?

पूर्व०—करता तो है ।

सिद्धान्ती—यदि वह उसका प्रतिषेध करता है तो उसका प्रतिषेध करनेमें आपका वाक्य प्रमाण हो सकता है तथा अग्नि भी रूपका प्रकाशक हो सकता है । अतः यदि आपका प्रतिषेधक वाक्य प्रामाणिक है तो उपनिषदोंकी प्रामाणिकता होनी ही चाहिये । अब आप बतलाइये इसका क्या परिहार हो सकता है ?

पूर्व०—यहाँ मेरे वाक्यमें उपनिषत्प्रामाण्यके प्रतिषेधका ज्ञानरूप प्रमा तथा अग्निमें रूपप्रकाशनका ज्ञानरूप प्रमा तो प्रत्यक्ष ही है ।

सिद्धान्ती—तो फिर ब्रह्मैकत्वज्ञानमें प्रमाको प्रत्यक्ष करती हुई उपलब्ध होनेवाली उपनिषदोंमें ही आपका क्या द्वेष है ? क्योंकि उनके प्रामाण्यका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता । तथा हम यह कह चुके हैं कि शोक-मोहादिकी निवृत्ति-यह ब्रह्मैकत्व-ज्ञानकी परम्परासे होनेवाला प्रत्यक्ष फल है । अतः इसका उत्तर[1] ऊपर दे दिया जानेके कारण उपनिषदोंमें

१. 'उपनिषदें ब्रह्मज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न करती हैं, यह उत्तर ऊपर दिया गया है ।

प्रामाण्यशङ्का तावन्नास्ति ।

यच्चोक्तं स्वार्थविघातकरत्वादप्रामाण्यमिति, तदपि न, तदर्थप्रतिपत्तेर्बाधकाभावात् । न हि उपनिषद्भ्यः—ब्रह्मैकमेवाद्वितीयम्, नैव च—इति प्रतिपत्तिरस्ति; यथाग्निरुष्णः शीतश्चेत्यस्माद्वाक्याद्विरुद्धार्थद्वयप्रतिपत्तिः । अभ्युपगम्य चैतदवोचाम; न तु वाक्यप्रामाण्यसमय एष न्यायः—यदुतैकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वम् । सति चानेकार्थत्वे, स्वार्थश्च स्यात्, तद्विघातकृच्च विरुद्धोऽन्योऽर्थः । न त्वेतत्—वाक्यप्रमाणकानां विरुद्धमविरुद्धं च' एकं वाक्यम्, अनेकमर्थं प्रतिपादयतीत्येष समयः, अर्थैकत्वाद्ध्येकवाक्यता ।

अप्रामाण्यकी शङ्का तो हो नहीं सकती ।

और ऐसा जो कहा कि अपने अर्थका विघात करनेवाली होनेसे उनकी अप्रामाणिकता है, सो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि उनसे होनेवाले अर्थज्ञानका कोई बाधक नहीं है । उपनिषदोंसे यह ज्ञान नहीं होता कि ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय है भी और नहीं भी है, जिस प्रकार कि 'अग्नि उष्ण और शीतल भी होता है, इस एक ही वाक्यसे दो विरुद्ध अर्थोंका ज्ञान होता है । तथा यह समझकर ही हम ऐसा कह चुके हैं कि वाक्यकी प्रामाणिकताके समय एक वाक्यके अनेक अर्थ मानने उचित नहीं हैं । यदि वाक्यके अनेक अर्थ होंगे तो एक उसका अपना अर्थ होगा और दूसरा उसका विघात करनेवाला अर्थ होगा । 'एक ही वाक्य बहुत-से विरुद्ध और अविरुद्ध अर्थोंका भी प्रतिपादन करता है, यह वाक्यको प्रमाण माननेवालोंका सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि अर्थकी एकता होनेसे ही सबकी एकवाक्यता होती है ।

न च कानिचिदुपनिषद्वाक्यानि ब्रह्मैकत्वप्रतिषेधं कुर्वन्ति । यत्तु, लौकिकं वाक्यम्—अग्निरुष्णः

कोई-कोई उपनिषद्वाक्य ब्रह्मकी एकताका प्रतिषेध करते हों—ऐसी भी बात नहीं है । 'अग्नि उष्ण और शीतल भी होता है, यह जो लौकिक

शीतश्चेति, न तत्रैकवाक्यता, तदेकदेशस्य प्रमाणान्तरविषयानुवादित्वात्। अग्निः शीत इत्येतदेकं वाक्यम्; अग्निरुष्ण इति तु प्रमाणान्तरानुभवस्मारकम्, न तु स्वयमर्थावबोधकम्। अतो नाग्निः शीत इत्यनेनैकवाक्यता, प्रमाणान्तरानुभवस्मारणेनैवोपक्षीणत्वात्। यत्तु विरुद्धार्थप्रतिपादकमिदं वाक्यमिति मन्यते, तच्छीतोष्णपदाभ्याम् अग्निपदसामानाधिकरण्यप्रयोगनिमित्ता भ्रान्तिः; न त्वेवैकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वं लौकिकस्य वैदिकस्य वा।

कर्मकाण्डप्रामाण्योपपादनम्

यच्चोक्तं कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातकृदुपनिषद्वाक्यमिति, तन्न; अन्यार्थत्वात्। ब्रह्मैकत्वप्रतिपादनपरा ह्युपनिषदो नेष्टार्थप्राप्तौ

वाक्य है, वहाँ एकवाक्यता नहीं होती; क्योंकि उसका एकदेश प्रमाणान्तरके विषयभूत अर्थका अनुवाद करनेवाला है। 'अग्नि शीतल होता है' यह एक वाक्य है और 'अग्नि उष्ण होता है' यह प्रमाणान्तरसे प्राप्त हुए अनुभवका अनुवादक है, स्वयं किसी विशेष अर्थका द्योतक नहीं है। अतः 'अग्नि शीतल होता है' इस वाक्यसे उसकी एकवाक्यता नहीं है; क्योंकि वह प्रमाणान्तरसे होनेवाले अनुभवकी स्मृति कराकर ही समाप्त हो जाता है। और ऐसा जो माना जाता है कि यह वाक्य विरुद्ध अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाला है, वह शीत और उष्ण पदोंका अग्निपदके समानाधिकरणरूपसे प्रयोग होनेके कारण उत्पन्न हुई भ्रान्ति[1] है। वास्तवमें तो लौकिक हो अथवा वैदिक, एक वाक्यके अनेक अर्थ हो ही नहीं सकते।

और ऐसा जो कहा कि उपनिषद्वाक्य कर्मकाण्डकी प्रामाणिकताको नष्ट करनेवाले हैं, सो यह बात नहीं है; क्योंकि उनका तात्पर्य तो दूसरा है। ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदें अभीष्ट अर्थकी

१. तात्पर्य यह है कि वस्तुतः यह किसी प्रमाका उत्पादक नहीं है।

साधनोपदेशं तस्मिन्वा पुरुषनियोगं वारयन्ति, अनेकार्थत्वानुपपत्तेरेव।

न च कर्मकाण्डवाक्यानां स्वार्थे प्रमा नोत्पद्यते। असाधारणे चेत्स्वार्थेप्रमामुत्पादयति वाक्यम्, कुतोऽन्येन विरोधः स्यात्?

ब्रह्मैकत्वे निर्विषयत्वात्प्रमा नोत्पद्यत एवेति चेत्?

न, प्रत्यक्षत्वात्प्रमायाः। "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्येवमादिवाक्येभ्यःप्रत्यक्षा प्रमा जायमाना; 'सा नैव भविष्यति, यद्युपनिषदो ब्रह्मैकत्वं बोधयिष्यन्ति' इत्यनुमानम्; न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधे प्रामाण्यं लभते; तस्मादसदेवैतद्गीयते—प्रमैव नोत्पद्यत इति। अपि च यथाप्राप्तस्यैव

प्राप्तिके लिये साधनके उपदेश तथा उसमें पुरुषके नियोगका निवारण नहीं करती; क्योंकि उनके अनेक अर्थ होने सम्भव ही नहीं हैं।

तथा कर्मकाण्डसम्बन्धी वाक्योंकी स्वार्थमें प्रमा उत्पन्न न होती हो—ऐसी बात भी नहीं है! यदि कोई वाक्य अपने असाधारण अर्थमें प्रमा उत्पन्न करता है तो उसका दूसरे वाक्यसे विरोध क्यों होगा?

पूर्व०—यदि कहें ब्रह्मकी एकता माननेपर तो कर्मकाण्डपरक वाक्योंका कोई विषय ही नहीं रहता, इसलिये प्रमा उत्पन्न हो ही नहीं सकती तो?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उनसे प्रमाका होना तो प्रत्यक्ष है। "स्वर्गकी इच्छावाला दर्श और पूर्णमास यज्ञोंद्वारा यजन करे" "ब्राह्मणका वध नहीं करना चाहिये" इत्यादि ऐसे ही वाक्योंसे प्रमा प्रत्यक्ष उत्पन्न होती देखी जाती है; 'यदि उपनिषदें ब्रह्मकी एकताका ज्ञान करायँगी तो वह नहीं होगी' यह तो अनुमान है। और प्रत्यक्षसे विरोध होनेपर अनुमानकी प्रामाणिकता नहीं रह सकती। इसलिये यह कहना कि उनसे प्रमा ही उत्पन्न नहीं होती—असत् ही है। अपितु जो पुरुष

अविद्याप्रत्युपस्थापितस्य क्रियाकारकफलस्याश्रयणेन इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायसामान्ये प्रवृत्तस्य तद्विशेषमजानतः तदाचक्षाणा श्रुतिः क्रियाकारकफलभेदस्य लोकप्रसिद्धस्य सत्यतामसत्यतां वा नाचष्टे न च वारयति, इष्टानिष्टफलप्राप्तिपरिहारोपायविधिपरत्वात् ।

यथा काम्येषु प्रवृत्ता श्रुतिः कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वे सत्यपि यथाप्राप्तानेव कामानुपादाय तत्साधनान्येव विधत्ते, न तु कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वादनर्थरूपत्वं चेति न विदधाति । तथा नित्याग्निहोत्रादिशास्त्रमपि मिथ्याज्ञानप्रभवं क्रियाकारकभेदं यथाप्राप्तमेवादाय इष्टविशेषप्राप्तिमनिष्टविशेषपरिहारं वा किमपि प्रयोजनं पश्यदग्निहोत्रादीनि कर्माणि विधत्ते । नाविद्यागोच-

अविद्याद्वारा प्रस्तुत किये हुए यथाप्राप्त क्रिया, कारक और फलका आश्रय करके इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिके सामान्य उपायमें प्रवृत्त है तथा उसका विशेष उपाय नहीं जानता, उसे वह (विशेष उपाय) बतलानेवाली श्रुति लोकप्रसिद्ध क्रिया, कारक और फलभेदकी सत्यता एवं असत्यताका न तो प्रतिपादन ही करती है और न निषेध ही; क्योंकि वह तो इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिके उपायका विधान करनेमें ही तत्पर है ।

जिस प्रकार काम्यकर्मोंमें प्रवृत्त हुई श्रुति कामनाओंके मिथ्याज्ञानजनित होनेपर भी यथाप्राप्त कामनाओंको ही लेकर उनके साधनोंका ही विधान करती है, किंतु 'कामनाएँ मिथ्या ज्ञानजनित होनेके कारण अनर्थरूप नहीं हैं' ऐसा विधान नहीं करती । इसी प्रकार अग्निहोत्रादि नित्यकर्मोंका निरूपण करनेवाला शास्त्र भी मिथ्याज्ञानजनित यथाप्राप्त क्रिया, कारक और फलरूप भेदको ही लेकर इष्टविशेषकी प्राप्ति और अनिष्टविशेषके परिहाररूप किसी प्रयोजनको देखकर अग्निहोत्रादि कर्मोंका विधान करता है । इस प्रयोजनका अविद्याविषयक

रासद्वस्तुविषयमिति न प्रवर्तते; यथा काम्येषु ।

असद्वस्तुसे सम्बन्ध है, इसलिये उनका विधान न करता हो—ऐसी बात नहीं है, जैसा कि काम्य-कर्मों के विषयमें भी देखा गया है ।

न च पुरुषा न प्रवर्तेरन्नविद्यावन्तः, दृष्टत्वाद्यथा कामिनः ।

अविद्यावान् पुरुषोंकी उन कर्मोंमें प्रवृत्ति न होती हो—ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि सकाम पुरुषोंके समान उन्हें भी प्रवृत्त होते देखा ही गया है ।

विद्यावतामेव कर्माधिकार इति चेत् ?

पूर्व०—कर्मका अधिकार तो विद्वानोंको ही है—ऐसा कहें तो ?

न, ब्रह्मैकत्वविद्यायां कर्माधिकारविरोधस्योक्तत्वात् । एतेन ब्रह्मैकत्वे निर्विषयत्वादुपदेशेन तद्ग्रहणफलाभावदोषपरिहार उक्तो वेदितव्यः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ब्रह्मकी एकताके ज्ञानमें कर्माधिकारका विरोध तो बतलाया जा चुका है । इसीसे यह जान लेना चाहिये कि ब्रह्मकी एकता सिद्ध होनेपर कोई विषय न रहनेके कारण कर्मकाण्डके उपदेशसे उसका ग्रहणरूप फल नहीं हो सकता—इस दोषका परिहार बतला दिया गया है ।

पुरुषेच्छारागादिवैचित्र्याच्च—अनेका हि पुरुषाणामिच्छाः, रागादयश्च दोषा विचित्राः; ततश्च बाह्यविषयरागाद्यपहृतचेतसो न शास्त्रं निवर्तयितुं शक्तम्; नापि स्वभावतो बाह्यविषयविरक्त-

पुरुषोंकी इच्छा एवं रागादिका भेद रहनेके कारण भी [कर्मकाण्डके उपदेशकी सार्थकता सिद्ध होती है] । पुरुषोंकी अनेकों इच्छाएँ हैं और रागादि तरह-तरहके दोष हैं, अतः जिनका चित्त बाह्य विषयोंके रागसे आकर्षित है, उन्हें उससे निवृत्त करनेमें शास्त्र समर्थ नहीं है । इसी तरह जिनका चित्त स्वभावसे ही बाह्य विषयोंसे विरक्त है, उनको

चेतसो विषयेषु प्रवर्तयितुं शक्यम्; किन्तु शास्त्रादेतावदेव भवति—इदमिष्टसाधनमिदमनिष्टसाधनमिति साध्यसाधनसम्बन्धविशेषाभिव्यक्तिः—प्रदीपादिवत्तमसि रूपादिज्ञानम्। न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलान्निवर्तयति नियोजयति वा; दृश्यन्ते हि पुरुषा रागादिगौरवाच्छास्त्रमप्यतिक्रामन्तः। तस्मात् पुरुषमतिवैचित्र्यमपेक्ष्य साध्यसाधनसम्बन्धविशेषाननेकधोपदिशति।

विषयोंमें प्रवृत्त करनेमें भी शास्त्र समर्थ नहीं है। किंतु शास्त्रसे तो इतना ही होता है कि यह इष्टसाधन है और यह अनिष्टसाधन—इस प्रकार केवल साध्यसाधनके सम्बन्धविशेषकी अभिव्यक्ति ही होती है, जिस प्रकार कि अन्धकारमें दीपकादिसे रूपका ज्ञान होता है। शास्त्र अपने सेवकोंके समान किसीको बलात्कारसे प्रवृत्त या निवृत्त नहीं करता; क्योंकि रागादिकी अधिकता होनेपर लोग शास्त्रका उल्लङ्घन करते भी देखे जाते हैं; अतः पुरुषोंकी बुद्धिकी विचित्रताको दृष्टिमें रखकर शास्त्र अनेक प्रकारसे साध्य-साधनरूप सम्बन्धविशेषोंका उपदेश करता है।

तत्र पुरुषाः स्वयमेव यथारुचि साधनविशेषेषु प्रवर्तन्ते, शास्त्रं तु सवितृप्रदीपादिवदुदास्त एव। तथा कस्यचित्परोऽपि पुरुषार्थोऽपुरुषार्थवदवभासते; यस्य यथावभासः; स तथारूपं पुरुषार्थं पश्यति; तदनुरूपाणि साधनान्युपादित्सते। तथा चार्थवादोऽपि—"त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुः" (बृ० उ०

तहाँ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार पुरुष स्वयं ही साधनविशेषोंमें प्रवृत्त होते हैं। शास्त्र तो सूर्य और दीपकादिके समान उदासीन ही रहता है। इस प्रकार किसीको परम पुरुषार्थ भी अपुरुषार्थके समान भासता है; जिसको जैसा भासता है वह तदनुरूप ही पुरुषार्थ देखता है, और उसके अनुसार ही साधन ग्रहण करना चाहता है। इस विषयमें "प्रजापतिके तीन पुत्रोंने अपने पिता प्रजापतिके यहाँ ब्रह्मचर्य वास किया"

५।२।१) इत्यादिः। तस्मान्न ब्रह्मैकत्वं ज्ञापयिष्यन्तो वेदान्ता विधिशास्त्रस्य बाधकाः। न च विधिशास्त्रमेतावता निर्विषयं स्यात्। नाप्युक्तकारकादिभेदं विधिशास्त्रमुपनिषदां ब्रह्मैकत्वं प्रति प्रामाण्यं निवर्तयति। स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि, श्रोत्रादिवत्।

इत्यादि[1] अर्थवाद भी है। अतः ब्रह्मकी एकताको सूचित करनेवाले वेदान्तवाक्य विधि-शास्त्रके बाधक नहीं हैं। इतनेहीसे विधिशास्त्र निर्विषय नहीं हो सकता और न उपर्युक्त कारकादि भेदवाला विधि-शास्त्र ब्रह्मकी एकताके प्रति उपनिषदोंके प्रामाण्यको ही निवृत्त कर सकता है; क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियोंके समान सब प्रमाण अपने अपने विषयमें प्रबल होते हैं।

ब्रह्मैकत्वमाक्षिप्यते — तत्र पण्डितम्मन्याः केचित्स्वचित्तवशात्सर्वं प्रमाणमितरेतरविरुद्धं मन्यन्ते, तथा प्रत्यक्षादिविरोधमपि चोदयन्ति ब्रह्मैकत्वे—शब्दादयः किल श्रोत्रादिविषया भिन्नाः प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते, ब्रह्मैकत्वं ब्रुवतां प्रत्यक्षविरोधः स्यात्; तथा श्रोत्रादिभिः शब्दा-

यहाँ अपनेको पण्डित माननेवाले कोई-कोई पुरुष [शास्त्रगम्य ऐक्यको स्वीकार करनेपर] अपनी बुद्धिके अनुसार समस्त प्रमाणोंको एक-दूसरेके विरुद्ध समझते हैं तथा ब्रह्मकी एकता माननेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके विरोधकी भी शङ्का करते हैं—श्रोत्रादि इन्द्रियोंके विषयभूत जो शब्दादि हैं, वे तो प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न उपलब्ध होते हैं। अतः ब्रह्मकी एकता बतलानेवाले वाक्योंका प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध सिद्ध होता है। इसी प्रकार श्रोत्रादि-

१. प्रजापतिके तीन पुत्र देवता, मनुष्य और दानव प्रजापतिसे उपदेश ग्रहण करनेके लिये गये। प्रजापतिने उन तीनोंको 'द', 'द', 'द' ऐसा कहकर एक ही शब्दसे उपदेश किया। उन तीनोंने अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उसके 'दमन करो', 'दान करो' और 'दया करो' ये तीन अर्थ कर लिये। इस प्रकार यह अर्थवाद इस उपनिषद्के पञ्चम अध्याय द्वितीय ब्राह्मणमें है।



द्युपलब्धारः कर्तारश्च धर्माधर्मयोः प्रतिशरीरं भिन्ना अनुमीयन्ते संसारिणः; तत्र ब्रह्मैकत्वं ब्रुवता अनुमानविरोधश्च । तथा च आगमविरोधं वदन्ति—"ग्रामकामो यजेत" "पशुकामो यजेत" "स्वर्गकामो यजेत" इत्येवमादिवाक्येभ्यो ग्रामपशुस्वर्गादिकामास्तत्साधनाद्यनुष्ठातारश्च भिन्ना अवगम्यन्ते ।

से शब्दादिको उपलब्ध करनेवाले तथा धर्माधर्मका अनुष्ठान करनेवाले संसारी जीव भी प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा अनुमान होता है। ऐसी स्थितिमें ब्रह्मकी एकता बतलानेवाले वाक्योंका अनुमान प्रमाणसे भी विरोध है। इसी तरह वे उनका शास्त्रप्रमाणसे भी विरोध बतलाते हैं, [क्योंकि] "ग्रामकी कामनावाला यज्ञ करे", "पशुकी कामनावाला यज्ञ करे"; "स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे", इत्यादि वाक्योंद्वारा ग्राम, पशु और स्वर्गकी कामनावाले तथा उनके साधनोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुष भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं।

उक्ताक्षेप-निरासः

अत्रोच्यते—ते तु कुतर्कदूषितान्तःकरणा ब्राह्मणादिवर्णापसदा अनुकम्पनीया आगमार्थविच्छिन्नसम्प्रदायबुद्धय इति । कथम् ? श्रोत्रादिद्वारैः शब्दादिभिः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानैर्ब्रह्मण एकत्वं विरुध्यत इति वदन्तो वक्तव्याः—किं शब्दादीनां भेदेनाकाशैकत्वं विरुध्यत

अब इसके उत्तरमें कहा जाता है—कुतर्कके कारण जिनके अन्तःकरण दूषित हैं तथा जिनकी बुद्धि वेदार्थविषयक सम्प्रदायसे दूर है, ऐसे वे ये ब्राह्मणादि वर्णाधम दयाके ही पात्र हैं। सो कैसे ?—श्रोत्रादि द्वारोंसे प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेवाले शब्दादिसे ब्रह्मकी एकताका विरोध है—इस प्रकार कहनेवाले उन पुरुषोंसे यह कहना चाहिये कि क्या शब्दादिके भेदसे आकाशकी एकताका भी विरोध है ? यदि उसका

इति; अथ न विरुद्ध्यते, न तर्हि प्रत्यक्षविरोधः ।

यच्चोक्तं प्रतिशरीरं शब्दाद्युपलब्धारो धर्माधर्मयोश्च कर्तारो भिन्ना अनुमीयन्ते, तथा च ब्रह्मैकत्वेऽनुमानविरोध इति; भिन्नाः कैरनुमीयन्त इति प्रष्टव्याः; अथ यदि ब्रूयुः—सर्वैरस्माभिरनुमानकुशलैरिति—के यूयमनुमानकुशला इत्येवं पृष्टानां किमुत्तरम् ।

शरीरेन्द्रियमनआत्मसु च प्रत्येकमनुमानकौशलप्रत्याख्याने, शरीरेन्द्रियमनःसाधना आत्मानो वयमनुमानकुशलाः, अनेककारकसाध्यत्वात्क्रियाणामिति चेत् ? एवं तर्ह्यनुमानकौशलेभवतामनेकत्वप्रसङ्गः; अनेककारकसाध्या

विरोध नहीं है तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे [ब्रह्मैकत्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका] विरोध नहीं हो सकता।

और ऐसा जो कहा कि प्रत्येक शरीरमें शब्दादिको उपलब्ध करनेवाले तथा धर्माधर्मका अनुष्ठान करनेवाले भी भिन्न-भिन्न ही अनुमान किये जाते हैं, इसलिये ब्रह्मकी एकता माननेपर अनुमानप्रमाणसे विरोध होगा, सो यह पूछना चाहिये कि वे भिन्न-भिन्न हैं—इसका अनुमान कौन करता है ? इसपर यदि वे कहें कि अनुमान करनेमें कुशल हम सब लोग ही इसका अनुमान करते हैं, तो 'अनुमान करनेमें कुशल तुम कौन हो ?' इस प्रकार पूछे जानेपर तुम्हारा क्या उत्तर होगा ?

पूर्व०—शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मामेंसे क्रमशः एक-एकमें अनुमानकौशलका निषेध किये जानेपर जो शरीर, इन्द्रिय और मनरूप साधनोंवाले हम आत्मा हैं, वे ही अनुमान करनेमें कुशल हैं, क्योंकि क्रियाएँ अनेक कारकोंद्वारा साध्य होती हैं, ऐसा कहें तो ?

सिद्धान्ती-यदि ऐसी बात है, तब तो अनुमानकी कुशलतामें तो तब आपकी अनेकताका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। क्रिया अनेक कारकों-

हि क्रियेति भवद्भिरेवाभ्युपगतम्। तत्रानुमानं च क्रिया; सा शरीरेन्द्रियमनआत्मसाधनैः कारकैरात्मकर्तृका निर्वर्त्यत इत्येतत्प्रतिज्ञातम् । तत्र वयमनुमानकुशला इत्येवं वदद्भिः—शरीरेन्द्रियमनःसाधना आत्मानः प्रत्येकं वयमनेक इत्यभ्युपगतं स्यात् । अहो अनुमानकौशलं दर्शितमपुच्छशृङ्गैस्तार्किकबलीवर्दैः । यो ह्यात्मानमेव न जानाति स कथं मूढस्तद्गतं भेदमभेदं वा जानीयात् ?

तत्र किमनुमिनोति ? केन वा लिङ्गेन ? न ह्यात्मनः स्वतो भेदप्रतिपादकं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति, येन लिङ्गेनात्मभेदं साधयेत्; यानि लिङ्गान्यात्मभेदसाधनाय नाम-

द्वारा साध्य होती है—ऐसा तो आपने ही स्वीकार किया है। तथा अनुमान भी क्रिया ही है। उसके विषयमें आपकी यह प्रतिज्ञा है कि आत्मा जिसका कर्ता है, ऐसी वह क्रिया शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मारूप कारकोंद्वारा निष्पन्न होती है। ऐसी स्थितिमें 'हम अनुमानकुशल हैं' ऐसा कहकर आप यह स्वीकार कर लेते हैं कि हम प्रत्येक शरीर, इन्द्रिय और मनरूप साधनवाले आत्मा अनेक हैं। अहो ! जिनके सींग और पूँछ नहीं हैं, ऐसे आप तार्किक-वृषभोंने यह अच्छा अनुमानकौशल दिखलाया। जो आत्माको ही नहीं जानता वह मूढ़ पुरुष किस प्रकार उसके भेद या अभेदको जान सकता है ?

ऐसी स्थितिमें वह क्या अनुमान करता है और किस लिङ्गके द्वारा करता है ? आत्माका अपनेसे भेद प्रतिपादन करनेवाला कोई लिङ्ग तो है नहीं, जिस लिङ्गके द्वारा कि वह आत्माओंका भेद सिद्ध कर सके। जिन नाम-रूपवान् लिङ्गोंका आत्मभेद सिद्ध करनेके लिये उल्लेख

रूपवन्त्युपन्यस्यन्ति, तानि नामरूपगतान्युपाधय एवात्मनो घटकरकापवरकभूच्छिद्राणीवाकाशस्य। यदाकाशस्य भेदलिङ्गं पश्यति, तदात्मनोऽपि भेदलिङ्गं लभेत सः; न ह्यात्मनः परतोऽपि विशेषमभ्युपगच्छद्भिस्तार्किकशतैरपि भेदलिङ्गमात्मनो दर्शयितुं शक्यते; स्वतस्तु दूरादपनीतमेव, अविषयत्वादात्मनः। यद्यत्पर आत्मधर्मत्वेनाभ्युपगच्छति, तस्य तस्य नामरूपात्मकत्वाभ्युपगमात्, नामरूपाभ्यां चात्मनोऽन्यत्वाभ्युपगमात्, "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" (छा० उ० ८। १४। १) इति श्रुतेः "नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० उ० ६। ३। २) इति च। उत्पत्तिप्रलयात्मके हि नामरूपं, तद्विलक्षणं च ब्रह्म—अतोऽनुमानस्यै-

किया जाता है, वे तो आकाशकी उपाधि घट, कमण्डलु, अपवरक (झरोखा) और भूछिद्रके समान आत्माकी नाम-रूपगत उपाधियाँ ही हैं। यदि वह आकाशके भेदका अनुमापक लिङ्ग देखता है तो आत्माके भेदका लिङ्ग भी पा सकता है। किंतु अन्य (उपाधियों) से भी आत्माका भेद माननेवाले सैकड़ों तार्किकोंद्वारा भी आत्माके भेदका वास्तविक लिङ्ग नहीं दिखलाया जा सकता है, स्वतः तो आत्मामें भेद होना दूरकी ही बात है; क्योंकि वह किसीका विषय नहीं है,[1] पूर्वपक्षी जिस-जिसको आत्माके धर्मरूपसे स्वीकार करता है, उसी-उसीको नाम-रूपात्मक माना गया है और "आकाश (ब्रह्म) ही नाम एवं रूपका निर्वाह करनेवाला है, ये जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है" इस श्रुतिसे तथा "मैं नाम-रूपोंको व्यक्त करूँ" इस वाक्यसे भी नाम और रूपोंसे आत्माका अन्यत्व स्वीकार किया गया है। नाम और रूप ही उत्पत्ति एवं प्रलयरूप हैं तथा ब्रह्म उनसे भिन्न है, अतः अनुमानका

१. तात्पर्य यह है कि आत्मामें औपाधिक और स्वाभाविक दोनों ही प्रकारका भेद नहीं हो सकता।

वाविषयत्वात्कुतोऽनुमानविरोधः?[1]

एतेनागमविरोधः प्रत्युक्तः ।

यदुक्तं ब्रह्मैकत्वे यस्मा उपदेशः, यस्य चोपदेशग्रहणफलम्, तदभावादेकत्वोपदेशानर्थक्यमिति, तदपि न, अनेककारकसाध्यत्वात्क्रियाणां कश्चोद्यो भवति । एकस्मिन्ब्रह्मणि निरुपाधिके नोपदेशः, नोपदेष्टा, न चोपदेशग्रहणफलम्; तस्मादुपनिषदां चानर्थक्यमित्येतदभ्युपगतमेव । अथानेककारकविषयानर्थक्यं चोद्यते—न, स्वतोऽभ्युपगमविरोधादात्मवादिनाम् ।

विषय ही न होनेके कारण अनुमानसे उसका विरोध कैसे हो सकता है? इससे शास्त्रविरोधका भी परिहार कर दिया गया ।[1]

ऐसा जो कहा कि ब्रह्मकी एकता स्वीकार करनेपर तो जिसको उपदेश किया जायगा और जिसे उपदेशग्रहणका फल होगा, उन दोनोंका अभाव होनेके कारण उसकी एकताके उपदेशकी व्यर्थता ही सिद्ध होगी, सो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि क्रियाएँ तो अनेक कारकोंद्वारा निष्पन्न होनेवाली होती ही हैं, अतः इस विषयमें किससे प्रश्न किया जा सकता है। एक निरुपाधिक ब्रह्ममें तो न उपदेश है, न उपदेष्टा है और न उपदेशग्रहणका फल ही है। अतः [ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर एकत्वोपदेशके साथ ही] सम्पूर्ण उपनिषदोंकी भी व्यर्थता सिद्ध होती है; और यह हमें भी मान्य ही है। यदि [ब्रह्मज्ञानके पहले भी] अनेक कारकोंके विषयभूत उपदेशको व्यर्थ बतावें तो ठीक नहीं है; क्योंकि इसका तो स्वयं आत्मज्ञानियोंके मतसे विरोध है।[2] अतः यह अल्पबुद्धि

१. क्योंकि औपाधिक भेदसे व्यवहार होना तो सम्भव है ही ।

२. यहाँ जो एकत्वके उपदेशको व्यर्थ बताया गया है, इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि क्रियाएँ अनेक कारकोंद्वारा साध्य होती हैं, अतः

तस्मात्तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गमिदमल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैश्च, "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" (क० उ० १।२।२१) "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा" (क० उ० १।१।२१) "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० उ०

पुरुषोंके लिये अगम्य और शास्त्र एवं गुरुकी कृपासे रहित पुरुषोंद्वारा दुर्भेद्य अभय दुर्ग तार्किक-चाटभट-राजोंके[1] लिये प्रवेशयोग्य नहीं है। "उस सहर्ष और हर्षरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है?" "इस विषयमें पूर्वकालमें देवताओंने भी संदेह किया था," "यह बुद्धि तर्कद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं

उपदेशरूप क्रिया भी अनेक कारकोंद्वारा साध्य होनेके कारण एकत्वका उपदेश उत्पन्न नहीं हो सकता। दूसरा अभिप्राय यह हो सकता है कि जब ब्रह्म एक और नित्य मुक्तस्वरूप है तो उसमें कभी भी द्वैतरूप बन्धन न होनेके कारण मुक्तिके लिये एकत्वका उपदेश निरर्थक है। इनमेंसे पहले अभिप्रायके अनुसार एकत्वके उपदेशको निरर्थक बताया गया है—ऐसा यदि कोई कहे तो उसके विरोधमें सिद्धान्ती कहता है—'तदपि न' इत्यादि। अर्थात् उक्त अभिप्रायसे एकत्वोपदेशको निरर्थक नहीं बताया जा सकता; क्योंकि क्रियाएँ तो अनेक कारकोंद्वारा निष्पन्न होनेवाली हैं ही, इसके लिये किससे प्रश्न किया जाय—कौन उत्तरदायी होगा? इस अनेकताको ही दूर करनेके लिये तो एकत्वका उपदेश होता है, अतः वह असंगत नहीं हो सकता। यदि दूसरे अभिप्रायके अनुसार अर्थात् ब्रह्मके नित्यमुक्त होनेके कारण उक्त उपदेशकी व्यर्थता बतायी गयी हो तो यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मका ज्ञान हो जानेके बाद उक्त उपदेशकी व्यर्थता सिद्ध होती है या पहले? यदि कहें बाद ही उसकी व्यर्थता है, तो इसको स्वयं भी स्वीकार करते हुए सिद्धान्ती कहता है—'एकस्मिन् ब्रह्मणि' इत्यादि। अर्थात् सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित एकमात्र ब्रह्ममें उपदेश, उपदेशक और उपदेशग्रहणका फल—यह कुछ भी नहीं है, इसलिये केवल एकत्वका उपदेश ही नहीं समस्त उपनिषदें ही उस अवस्थामें निरर्थक हैं और इसे हम भी स्वीकार करते ही हैं। यदि कहें 'ब्रह्मज्ञानके पहले भी एकत्वका उपदेश व्यर्थ है; क्योंकि यह अनेक कारकोंद्वारा साध्य होनेवाला है' तो ठीक नहीं, कारण कि अपनी मान्यताके विरुद्ध है। ज्ञानके पहले अविद्याकी निवृत्तिके लिये सभी आत्मज्ञानी एकत्वोपदेशकी सार्थकता स्वीकार करते हैं।

1. चाट = आर्यमर्यादाको तोड़नेवाले; भट = मिथ्यावादी।

१ । २ । ९)—वरप्रसादलभ्यत्वश्रुतिस्मृतिवादेभ्यश्च; "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" (ईशा० उ० ५) इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च । गीतासु च— "मत्स्थानि सर्वभूतानि" (९ । ४) इत्यादि । तस्मात्परब्रह्मव्यतिरेकेण संसारी नाम नान्यद्वस्त्वन्तरमस्ति । तस्मात्सुष्ठूच्यते "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (१ । ४ । १०) "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ" (३ । ८ । ११) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः । तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः 'सत्यस्य सत्यम्' नामोपनिषत्परा ॥ २० ॥

है" तथा देवतादिके वर और कृपाद्वारा उसके प्राप्यत्वका प्रतिपादन करनेवाले श्रुति एवं स्मृतिसम्बन्धी वाक्योंसे एवं "वह चलता है और वह नहीं चलता, वह दूर है और वह समीप भी है" इत्यादि ब्रह्ममें विरुद्ध धर्मोंका समवायित्व प्रकाशन करनेवाले मन्त्रवर्णोंसे भी यही सिद्ध होता है। गीतामें भी कहा है—"सब भूत मुझमें स्थित हैं' इत्यादि । अतः परब्रह्मसे भिन्न संसारी नामकी कोई अन्य वस्तु नहीं है । इसलिये "पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपनेको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ" "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है और इससे भिन्न कोई श्रोता भी नहीं है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंद्वारा ठीक ही कहा गया है। अतः 'सत्यका सत्य है' यह परम उपनिषद् परब्रह्मकी ही है ॥ २० ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथममजातशत्रुब्राह्मणम् ॥ १ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

उपक्रमः 'ब्रह्म ज्ञपयिष्यामि' इति प्रस्तुतम्; तत्र यतो जगज्जातं यन्मयं

'मैं तुम्हें ब्रह्मका बोध कराऊँगा' इस प्रकार यहाँ प्रसंग आरम्भ हुआ है। सो, जिससे जगत् उत्पन्न हुआ

यस्मिंश्च लीयते तदेकं ब्रह्मेति ज्ञापितम्। किमात्मकं पुनस्तज्जगज्जायते, लीयते च ? पञ्चभूतात्मकम्; भूतानि च नामरूपात्मकानि; नामरूपे सत्यमिति ह्युक्तम्; तस्य सत्यस्य पञ्चभूतात्मकस्य सत्यं ब्रह्म।

है, जो इसका स्वरूप है और जिसमें यह लीन हो जाता है, वह एक ही ब्रह्म है—ऐसा यहाँ बतलाया गया है। तो भला, यह जगत् किस रूपसे स्थित हुआ उत्पन्न और लीन होता है? पञ्चभूतरूपसे। वे भूत नाम-रूपात्मक हैं और नाम-रूप 'सत्य' हैं—ऐसा बतलाया जा चुका है। उस पञ्चभूतस्वरूप 'सत्य' का ब्रह्म सत्य है।

कथं पुनर्भूतानि सत्यमिति मूर्तामूर्तब्राह्मणम्। मूर्तामूर्तभूतात्मकत्वात्कार्यकरणात्मकानि भूतानि प्राणा अपि सत्यम्। तेषां कार्यकरणात्मकानां भूतानां सत्यत्वनिर्दिधारयिषया ब्राह्मणद्वयमारभ्यते सैवोपनिषद्व्याख्या। कार्यकरणसत्यत्वावधारणद्वारेण हि सत्यस्य सत्यं ब्रह्मावधार्यते। अत्रोक्तम् 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति। तत्र के प्राणाः ? कियत्यो वा प्राणविषया उपनिषदः ? काः ? इति च ब्रह्मोपनिषत्प्रसङ्गेन करणानां प्राणानां स्वरूपमवधार-

किंतु भूत सत्य किस प्रकार हैं, यह बतलानेके लिये ही यह मूर्तामूर्त ब्राह्मण है। मूर्तामूर्त भूतस्वरूप होनेके कारण देह-इन्द्रियरूप भूत और प्राण भी सत्य हैं। उन देहेन्द्रियस्वरूप भूतोंकी सत्यताका निश्चय करनेकी इच्छासे ये दो ब्राह्मण आरम्भ किये जाते हैं, यही इस उपनिषद्की व्याख्या है; क्योंकि देह और इन्द्रियोंके सत्यत्वका निश्चय करनेके द्वारा ही सत्यके सत्य ब्रह्मका निश्चय होता है। यहाँ यह बतलाया गया है कि प्राण ही सत्य हैं और यह उनका भी सत्य है;' सो प्राण कौन-से हैं ? तथा प्राणविषयक उपनिषदें कितनी और कौन-कौन-सी हैं ? इस प्रकार ब्रह्मोपनिषद्के प्रसङ्गसे, मार्गमें पड़नेवाले कुएँ और बगीचों आदिके

यति—पथिगतकूपारामाद्यवधारण-वत् । | निश्चयके समान, श्रुति इन्द्रियों और प्राणोंके स्वरूपका निश्चय करती है ।

शिशुसंज्ञक मध्यम प्राणका उसके उपकरणोंसहित वर्णन

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि । अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधान-मिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥ १ ॥

जो कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम (बन्धनरज्जु) के सहित शिशुको जानता है, वह अपनेसे द्वेष करनेवाले सात भ्रातृव्योंका अवरोध करता है। यह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है, उसका यह (शरीर) ही आधान है, यह (शिर) ही प्रत्याधान है, प्राण स्थूणा है और अन्न दाम है ॥ १ ॥

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद, तस्येदं फलम्; किं तत् ? सप्त सप्तसंख्याकान् ह द्विषतो द्वेषकर्तॄन् भ्रातृव्यान् । भ्रातृव्या हि द्विविधा भवन्ति, द्विषन्तोऽद्विषन्तश्च, तत्र द्विषन्तो ये भ्रातृव्यास्तान् द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि; सप्त ये शीर्षण्याः प्राणा विषयोपलब्धिद्वाराणि तत्प्रभवा विषयरागाः सहजत्वाद् भ्रातृव्याः । ते ह्यस्य स्वात्मस्थां दृष्टिं विषयविषयां

जो भी आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दामके सहित शिशुको जानता है, उसे यह फल प्राप्त होता है। वह फल क्या है ? वह द्वेष करनेवाले सात भ्रातृव्यों-का अवरोध करता है। भ्रातृव्य दो प्रकारके होते हैं—द्वेष करनेवाले और द्वेष न करनेवाले, उनमें जो द्वेष करनेवाले भ्रातृव्य होते हैं, उन द्वेषी भ्रातृव्योंका वह अवरोध करता है। शिरमें स्थित जो सात प्राण विषयोपलब्धिके द्वार हैं, उनसे होनेवाले विषयसम्बन्धी राग साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले होनेके कारण भ्रातृव्य हैं; क्योंकि वे ही उसकी आत्मस्थ दृष्टिको

कुर्वन्ति, तेन ते द्वेष्टारो भ्रातृव्याः। प्रत्यगात्मेक्षणप्रतिषेधकरत्वात् । काठके चोक्तम्—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" इत्यादि । (२।१।१) तत्र यः शिश्वादीन्वेद, तेषां याथात्म्यमवधारयति, स एतान् भ्रातृव्यानवरुणद्ध्यपावृणोति विनाशयति ।

विषयोन्मुख करते हैं, अतः वे द्वेष करनेवाले भ्रातृव्य हैं; कारण, वे प्रत्यगात्मदर्शनको रोकनेवाले हैं। कठोपनिषद्में भी कहा है-"स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है, इसलिये जीव बाह्य विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नहीं देखता" इत्यादि। सो, जो कोई इन शिशु आदिको जानता है, इनके यथार्थ स्वरूपका निश्चय करता है, वह इन भ्रातृव्यों-का अवरोध—अपावरण अर्थात् विनाश कर देता है।

तस्मै फलश्रवणेनाभिमुखीभूतायाह—अयं वाव शिशुः । कोऽसौ? योऽयं मध्यमः प्राणः, शरीरमध्ये यः प्राणो लिङ्गात्मा, यः पञ्चधा शरीरमाविष्टः—बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्नित्युक्तः, यस्मिन्वाङ्मनःप्रभृतीनि करणानि विषक्तानि-पड्वीशशङ्कुनिदर्शनात्; स एष शिशुरिव, विषयेष्वितरकरणवदपटुत्वात्;

इस प्रकार फलश्रवणसे अभिमुख हुए उस (गार्ग्य) से [अजातशत्रु] कहता है—निश्चय यही शिशु है। यह कौन? जो यह मध्यम प्राण है। शरीरके मध्यमें जो यह लिङ्गात्मा प्राण है, जो पाँच प्रकारसे शरीरमें प्रविष्ट होकर बृहन्, पाण्डरवास, सोम और राजन् इन नामोंसे कहा जाता है, जिसमें वाणी और मन आदि इन्द्रियाँ विशेषरूपसे निबद्ध हैं, जैसा कि घोड़ेके पैर बाँधनेके मेखोंके दृष्टान्तसे बतलाया गया है; वह यह प्राण शिशुके समान अन्य इन्द्रियोंकी तरह विषयोंमें पटु न होनेके कारण शिशु है।

शिशुं साधानमित्युक्तम् । किं पुनस्तस्य शिशोर्वत्सस्थानीयस्य

मूल मन्त्रमें 'शिशुं साधानम्' ऐसा कहा गया है। सो उस वत्सस्थानीय

करणात्मन आधानम् ?

तस्येदमेव शरीरमाधानं कार्यात्मकम्—आधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम्; तस्य हि शिशोः प्राणस्येदं शरीरमधिष्ठानम्, अस्मिन्हि करणान्यधिष्ठितानि लब्धात्मकान्युपलब्धिद्वाराणि भवन्ति, न तु प्राणमात्रे विषक्तानि। तथा हि दर्शितमजातशत्रुणा—उपसंहृतेषु करणेषु विज्ञानमयो नोपलभ्यते, शरीरदेशव्यूढेषु तु करणेषु विज्ञानमय उपलभमान उपलभ्यते—तच्च दर्शितं पाणिपेषप्रतिबोधनेन।

इदं प्रत्याधानं शिरः; प्रदेशविशेषेषु—प्रति प्रत्याधीयत इति प्रत्याधानम्। प्राणः स्थूणा अन्नपानजनिताशक्तिः—प्राणो बलमिति पर्यायः। बलावष्टम्भो हि प्राणोऽस्मिञ्छरीरे—"स यत्रायमात्मा बल्यं न्येत्य सम्मोहमिव" (बृ० उ० ४।४।१) इति दर्शनात्।

इन्द्रियरूप शिशुका आधान क्या है।

उसका यह कार्यरूप भौतिक शरीर ही आधान है—जिसमें कुछ रखा जाय उसे आधान कहते हैं, अतः उस शिशु अर्थात् प्राणका यह शरीर अधिष्ठान है; क्योंकि इसमें अधिष्ठित होकर अपने स्वरूपको प्राप्त करनेवाली इन्द्रियाँ विषयोंकी उपलब्धिका द्वार होती हैं; वे केवल प्राणमात्रमें ही निबद्ध नहीं होतीं। ऐसा ही अजातशत्रुने दिखलाया भी है—इन्द्रियोंका उपसंहार हो जानेपर विज्ञानमयकी उपलब्धि नहीं होती। शरीरस्थानमें एकत्रित हुई इन्द्रियोंमें तो उपलब्धिकर्ताके रूपमें ही विज्ञानमयकी उपलब्धि होती है-यह बात हाथ दबाकर जगानेके द्वारा दिखायी गयी है।

यह शिर प्रत्याधान है। इसका प्रदेशविशेषोंके प्रति प्रत्याधान किया जाता है, इसलिये यह प्रत्याधान है। प्राण, स्थूणा अर्थात् अन्नपानजनित शक्ति है। प्राण और बल ये पर्यायवाची हैं। इस शरीरमें बलका आधार ही प्राण है, जैसा कि "जिस अवस्थामें यह जीव शरीरको निर्बल करता हुआ सम्मोहको प्राप्त होता है" इस वाक्यमें देखा जाता है।

यथा वत्सः स्थूणावष्टम्भ एवं शरीरपक्षपाती वायुः प्राणः स्थूणेति केचित्।

अन्नं दाम—अन्नं हि भुक्तं त्रेधा परिणमते; यः स्थूलः परिणामः, स एतद्द्वयं भूत्वा इमामप्येति—मूत्रं च पुरीषं च। यो मध्यमो रसः स रसो लोहितादिक्रमेण स्वकार्यं शरीरं साप्तधातुकमुपचिनोति; स्वयोन्यन्नागमे हि शरीरमुपचीयतेऽन्नमयत्वात्; विपर्ययेऽपक्षीयते पतति; यस्त्वणिष्ठो रसः अमृतम् ऊर्क् प्रभावः—इति च कथ्यते, स नाभेरूर्ध्वं हृदयदेशमागत्य, हृदयाद्विप्रसृतेषु द्वासप्ततिनाडीसहस्रेष्वनुप्रविश्य यत्तत्करणसङ्घातरूपं लिङ्गं शिशुसंज्ञकम्, तस्य

जिस प्रकार बछड़ा स्थूणा (खूँटे) के आश्रित होता है, उसी प्रकार शरीरपक्षपाती [1]वायु-प्राण स्थूणा है—ऐसा किन्हींका[2] मत है।

अन्न दाम (बन्धन—रज्जु) है, क्योंकि भोजन किये जानेपर अन्न तीन प्रकारसे परिणामको प्राप्त हो जाता है। उसका जो स्थूल परिणाम होता है, वह मल और मूत्र दो रूपमें होकर इस भूमिको प्राप्त होता है। जो मध्यम परिणाम होता है वह रस है। वह रस लोहितादि क्रमसे अपने कार्यभूत सात धातुओंवाले शरीरको पुष्ट करता है। शरीर अन्नमय है, इसलिये अपने कारणभूत अन्नके आनेपर उसकी पुष्टि होती है, तथा उसके विपरीत होनेपर क्षीण होकर गिर जाता है। तथा जो सूक्ष्मतम रस होता है वह अमृत—ऊर्क् अथवा प्रभाव ऐसा कहा जाता है; वह नाभिसे ऊपर हृदयदेशमें आकर हृदयसे फैली हुई बहत्तर सहस्र नाडियोंमें प्रवेश कर स्थूणासंज्ञक बलको उत्पन्न करके जो शिशुसंज्ञक इन्द्रियसंघातरूप लिङ्गशरीर है, उसकी

१. शरीरपक्षपाती वायुसे श्वासोच्छ्वास करनेवाला शरीरान्तवर्ती प्राण समझना चाहिये। उसके अधीन ही इन्द्रियाभिमानी प्राण ग्रहण किया जाता है, इसलिये वह उसके खूँटे (बन्धनस्थान) के समान है।

२. भर्तृप्रपञ्च आदिका।

शरीरे स्थितिकारणं भवति बल-मुपजनयत्स्थूणाख्यम्; तेनान्नमुभयतः पाशवत्सदाभवत् प्राण-शरीरयोर्निबन्धनं भवति ॥ १ ॥

शरीरमें स्थिति रखनेका कारण होता है। इसीसे, जिसके दोनों ओर पाश हैं, ऐसी बछड़ा बाँधनेकी रस्सीके समान अन्न प्राण और शरीरका बन्धन है ॥ १५॥

मध्यम प्राणरूप शिशुके नेत्रान्तर्गत सात अक्षितियाँ

इदानीं तस्यैव शिशोः प्रत्याधान ऊढस्य चक्षुषि काश्चनोपनिषद उच्यन्ते—

अब प्रत्याधानमें आरूढ़ उसी शिशुके नेत्रमें कुछ उपनिषदें बतलायी जाती हैं—

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेन ँ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

उसका ये सात अक्षितियाँ उपस्थान (स्तवन) करती हैं—उनमेंसे जो ये आँखमें लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा रुद्र इस मध्यप्राणके अनुगत है और नेत्रमें जो जल है उसके द्वारा मेघ, जो कनीनका (दर्शनशक्ति) है उसके द्वारा आदित्य, जो कालिमा है उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्लता है उसके द्वारा इन्द्र अनुगत है। नीचेके पलकद्वारा पृथिवी इसके अनुगत है एवं ऊपरके पलकद्वारा द्युलोक। जो इस प्रकार जानता है, उसका अन्न क्षीण नहीं होता ॥ २ ॥

तमेताःसप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते—तं करणात्मकं प्राणं शरीरेऽन्न-

उसमें ये सात अक्षितियाँ उपस्थान करती हैं—शरीरमें अन्नके कारण रहनेवाले नेत्रस्थानमें आरूढ़ उस

बन्धनं चक्षुष्यूढमेता वक्ष्यमाणाः सप्त सप्तसङ्ख्याका अक्षितयोऽक्षितिहेतुत्वादुपतिष्ठन्ते। यद्यपि मन्त्रकरणे तिष्ठतिरुपपूर्व आत्मनेपदी भवति, इहापि सप्त देवताभिधानानि मन्त्रस्थानीयानि करणानि; तिष्ठतेरतोऽत्राप्यात्मनेपदं न विरुद्धम्।

इन्द्रियरूप प्राणमें ये आगे कही जानेवाली सात—सात संख्यावाली अक्षितियाँ जो अक्षिति (अक्षयता) का कारण होनेके कारण अक्षिति कहलाती हैं, रहती हैं। यद्यपि [उपान्मन्त्रकरणे (पा० सू० १। ३। २५) इस पाणिनिसूत्रके अनुसार] 'उप्' पूर्वक 'स्था' धातु मन्त्रकरण अर्थमें आत्मनेपदी होता है, तथापि यहाँ भी रुद्रादि सप्त-देवतासंज्ञक करण मन्त्रस्थानीय ही हैं, इसलिये यहाँ भी उपपूर्वक 'स्था' धातुमें आत्मनेपद रहना विरुद्ध नहीं है।

कास्ता अक्षितयः? इत्युच्यन्ते—तत्त्र या इमाः प्रसिद्धाः,अक्षन्नक्षणि लोहिन्यो लोहिता राजयो रेखाः,ताभिर्द्वारभूताभिरेनं मध्यमं प्राणं रुद्रोऽन्वायत्तोऽनुगतः; अथ या अक्षन्नक्षण्यापो धूमादिसंयोगेनाभिव्यज्यमानाः,ताभिरद्भिर्द्वारभूताभिः पर्जन्यो देवतात्मान्वायत्तोऽनुगतः उपतिष्ठत इत्यर्थः। स चान्नभूतोऽक्षितिः प्राणस्य; "पर्जन्ये वर्षत्यानन्दिनः प्राणा भवन्ति" इति श्रुत्यन्तरात्।

वे अक्षितियाँ कौन-सी हैं? सो बतलायी जाती हैं—उनमें ये जो नेत्रके भीतर लोहित वर्णकी प्रसिद्ध राजियाँ—रेखाएँ हैं, उन द्वारभूता रेखाओंके द्वारा रुद्र इस मध्यम प्राणके अनुगत है। तथा नेत्रमें जो धूमादिके संयोगसे अभिव्यक्त होनेवाला जल है, उस द्वारभूत जलके द्वारा देवस्वरूप मेघ इसके अनुगत है। वह प्राणका अन्नभूत अक्षिति है जैसा कि "मेघके बरसनेपर प्राण आनन्दित हो जाते हैं" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है।

या कनीनका दृक्छक्तिस्तया

जो कनीनका अर्थात् दर्शन-शक्ति

कनीनकया द्वारेणादित्यो मध्यमं प्राणमुपतिष्ठते; यत्कृष्णं चक्षुषि तेनैनमग्निरुपतिष्ठते; यच्छुक्लं चक्षुषि तेनेन्द्रः; अधरया वर्तन्या पक्ष्मणैनं पृथिव्यन्वायत्ता, अधरत्वसामान्यात् द्यौरुत्तरया, ऊर्ध्वत्वसामान्यात्; एताः सप्तान्नभूताः प्राणस्य सन्ततमुपतिष्ठन्ते—इत्येवं यो वेद, तस्यैतत्फलम्—नास्यान्नं क्षीयते, य एवं वेद ॥ २ ॥

है, उस कनीनकाके द्वारा आदित्य मध्यम प्राणमें प्रवेश करता है; नेत्रमें जो कृष्णवर्ण है उसके द्वारा अग्नि इसमें उपस्थित होता है; नेत्रमें जो शुक्लवर्ण है, उससे इन्द्र और नीचेके पलकद्वारा इसमें पृथिवी अनुगत है; क्योंकि इन दोनोंकी अधरत्वमें समानता है तथा ऊपरके पलकद्वारा द्युलोक अनुगत है; क्योंकि ऊर्ध्वत्वमें उन दोनोंकी समानता है; ये सातों निरन्तर प्राणके अन्न होकर उपस्थित होते हैं, इस प्रकार जो जानता है उसे यह फल प्राप्त होता है—जो इस तरह उपासना करता है, उसके अन्नका कभी क्षय नहीं होता ॥ २ ॥

श्रोत्रादि प्राणोंके सहित शिरमें चमसदृष्टिका विधान

तदेष श्लोको भवति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३ ॥

इस विषयमें यह श्लोक है। चमस नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ होता है, उसमें विश्वरूप यश निहित है, उसके तीरपर सात ऋषिगण और वेदके द्वारा संवाद करनेवाली आठवीं वाक् रहती है। जो नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ चमस है, वह शिर है; क्योंकि यही नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ चमस है। उसमें विश्वरूप यश निहित है—प्राण ही विश्वरूप यश हैं, प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। उसके तीरपर सात ऋषि रहते हैं, प्राण ही ऋषि हैं, प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। वेदके द्वारा संवाद करनेवाली वाक् आठवीं है, वही वेदके द्वारा संवाद करती है ॥ ३ ॥

तत्तत्रैतस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति—अर्वाग्बिलश्चमस इत्यादिः। तत्र मन्त्रार्थमाचष्टे श्रुतिः—अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इति। कः पुनरसावर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः इदं तत् शिरः, चमसाकारं हि तत्। कथम् एष अर्वाग्बिलो मुखस्य बिलरूपत्वात्, शिरसो बुध्नाकारत्वादूर्ध्वबुध्नः।

तहाँ इस अर्थमें यह श्लोक-मन्त्र है-'अर्वाग्बिलश्चमसः' इत्यादि। अब श्रुति इस मन्त्रका अर्थ बतलाती है—'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इत्यादि। किंतु यह नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओरसे उठा हुआ चमस कौन है? वह यह शिर है; क्योंकि वह चमसके समान आकारवाला है। किस प्रकार? क्योंकि यह नीचेकी ओर छिद्रवाला है, कारण, मुख छिद्ररूप है और शिर बुध्नाकार होनेके कारण यह ऊर्ध्वबुध्न है।

तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति यथा सोमश्चमसे, एवं तस्मिञ्छिरसि विश्वरूपं नानारूपं निहितं स्थितं भवति। किं पुनस्तद् यशः

इसमें विश्वरूप यश निहित है। जिस प्रकार चमसमें सोम रहता है, इसी प्रकार उस शिरमें विश्वरूप--नाना रूप अर्थात् अनेक रूपोंवाला यश निहित-स्थित है। वह यश क्या है?

प्राणा वै यशो विश्वरूपम्-प्राणाः श्रोत्रादयो वायवश्च मरुतः सप्तधा तेषु प्रसृता यशः—इत्येतदाह मन्त्रः, शब्दादज्ञानहेतुत्वात् । तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति—प्राणाः परिस्पन्दात्मकाः, त एव च ऋषयः प्राणानेतदाह मन्त्रः । वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति—ब्रह्मणा संवादं कुर्वती अष्टमी भवति; तद्धेतुमाह—वागष्टमी ब्रह्मणा संविद इति ॥ ३ ॥

प्राण ही अनेक रूपोंवाला यश है । प्राण अर्थात् सात [1]श्रोत्रादि और उनमें सात भागोंमें विभक्त होकर फैले हुए मरुत् यानी वायु यश हैं—ऐसा मन्त्र कहता है, क्योंकि वे (श्रोत्रादि) शब्दादि विषयोंके ज्ञानके हेतु हैं । उसके तीरपर सात ऋषि रहते हैं—यहाँ स्फुरणात्मक प्राण ही समझने चाहिये, वे ही ऋषि हैं, प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है । आठवीं वाक् वेदके द्वारा संवाद करती है । वह वेदके द्वारा संवाद करनेवाली वाक् आठवीं है । इसीसे कहा है—'वाक् ही आठवीं है, वह वेदके द्वारा संवाद करती है' इति ॥ ३ ॥

श्रोत्रादिमें विभागपूर्वक सप्तर्षि-दृष्टि

के पुनस्तस्य चमसस्य तीर आसत ऋषय इति ।

किंतु उस चमसके तीरपर कौन ऋषि रहते हैं, सो बतलाते हैं—

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

1. दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना—ये सात श्रोत्रादि हैं ।

ये दोनों [कान] ही गोतम और भरद्वाज हैं; यह ही गोतम है और यह [दूसरा] भरद्वाज है। ये दोनों [नेत्र] ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं; यह ही विश्वामित्र है और यह दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों [नासारन्ध्र] ही वसिष्ठ और कश्यप हैं; यह ही वसिष्ठ है और यह दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है; क्योंकि वागिन्द्रियद्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है। जिसे अत्रि कहते हैं, वह निश्चय 'अत्ति' नामवाला ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबका अत्ता (भक्षण करनेवाला) होता है, सब इसका अन्न हो जाता है ॥ ४ ॥

इमावेव गोतमभरद्वाजौ कर्णौ—अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजो दक्षिणश्चोत्तरश्च, विपर्ययेण वा। त चक्षुषी उपदिशन्नुवाच—इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी दक्षिणं विश्वामित्र उत्तरं जमदग्निर्विपर्ययेण वा। इमावेव वसिष्ठकश्यपौ—नासिके उपदिशन्नुवाच; दक्षिणः पुटो भवति वसिष्ठः, उत्तरः कश्यपः पूर्ववत्। वागेवात्रिः अदनक्रियायोगात्सप्तमः; वाचा ह्यन्नमद्यते तस्मादत्तिर्ह वै प्रसिद्धं नामैतत्—

ये दोनों कर्ण ही गोतम और भरद्वाज हैं। ये दक्षिण और उत्तर कर्ण ही क्रमशः अथवा विपरीत क्रमसे गोतम और भरद्वाज हैं। इसी प्रकार नेत्रोंके विषयमें उपदेश करते हुए मन्त्रने कहा है कि ये ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। इनमें दक्षिण नेत्र विश्वामित्र है और वाम नेत्र जमदग्नि है, अथवा इससे विपरीत क्रमसे समझना चाहिये। फिर नासारन्ध्रोंके विषयमें उपदेश करते हुए मन्त्रने कहा है कि ये ही दोनों वसिष्ठ और कश्यप हैं; पूर्ववत् दायाँ छिद्र वसिष्ठ है और बायाँ कश्यप है। अदन (भक्षण) क्रियाका सम्बन्ध होनेके कारण वाक् ही सप्तम ऋषि अत्रि है; क्योंकि वागिन्द्रियके द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है; अतः यह प्रसिद्ध अत्ति नामवाला है अर्थात्

अत्तृत्वादत्तिरिति, अत्तिरेव सन् यदत्रिरित्युच्यते परोक्षेण ।

सर्वस्यैतस्यान्नजातस्य प्राणस्यात्रिनिर्वचनविज्ञानादत्ता भवति । अत्तैव भवति नामुष्मिन्नन्नेन पुनः प्रतिपद्यत इत्येतदुक्तं भवति—सर्वमस्यान्नं भवतीति । य एवमेतद्यथोक्तं प्राणयाथात्म्यं वेद, स एवं मध्यमः प्राणो भूत्वा आधानप्रत्याधानगतो भोक्तैव भवति, न भोज्यम्, भोज्याद् व्यावर्तत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अत्ता होनेके कारण यह 'अत्ति' है; जो कि 'अत्ति' होते हुए ही परोक्षरूपसे 'अत्रि' कहा जाता है ।

इस 'अत्रि' शब्दकी निरुक्तिका ज्ञान होनेसे पुरुष प्राणके इस सम्पूर्ण अन्नसमुदायका अत्ता (भक्षण करनेवाला) होता है । यह अन्न भक्षण करनेवाला ही होता है, परलोकमें पुनः अन्नसे युक्त नहीं होता; 'सर्वमस्यान्नं भवति' इस वाक्यसे यही बात कही गयी है । जो इस प्रकार इस उपर्युक्त प्राणके यथार्थ स्वरूपको जानता है, वह इस तरह मध्यम प्राण होकर आधान-प्रत्याधानगत भोक्ता ही होता है, भोज्य नहीं होता अर्थात् भोज्यवर्गसे निवृत्त हो जाता है ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये
द्वितीयं शिशुब्राह्मणम् ॥ २ ॥

तृतीय ब्राह्मण

तत्र प्राणा वै सत्यमित्युक्तम् । याः प्राणानामुपनिषदः, ता ब्रह्मोपनिषत्प्रसङ्गेन व्याख्याताः—एते वै प्राणा इति च । ते किमात्मकाः?

ऊपर यह कहा गया है कि प्राण ही सत्य हैं । जो प्राणोंकी उपनिषदें हैं, उनकी 'वे ये प्राण हैं' ऐसा कहकर ब्रह्मोपनिषद्के प्रसङ्गसे व्याख्या कर दी गयी है । अब यह बतलाना है कि उनका स्वरूप क्या

कथं वा तेषां सत्यत्वम् ? इति च वक्तव्यमिति पञ्चभूतानां सत्यानां कार्यकरणात्मकानां स्वरूपावधारणार्थमिदं ब्राह्मणमारभ्यते—यदुपाधिविशेषापनयद्वारेण 'नेति नेति' इति ब्रह्मणः सतत्त्वं निर्दिधारयिषितम् ।

है और उनकी सत्यता किस प्रकार है ? अतः शरीर एवं इन्द्रियरूप 'सत्य' संज्ञक पञ्चभूतोंके स्वरूपका निश्चय करनेके लिये यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है, जिस उपाधिविशेषके निषेधद्वारा 'नेति-नेति' इत्यादि रूपसे श्रुतिको ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय कराना अभीष्ट है ।

ब्रह्मके दो रूप

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

ब्रह्मके दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत् ॥ १ ॥

तत्र द्विरूपं ब्रह्म पञ्चभूतजनितकार्यकरणसम्बद्धं मूर्तामूर्ताख्यं मर्त्यामृतस्वभावं तज्जनितवासनारूपं च सर्वज्ञं सर्वशक्ति सोपाख्यं भवति । क्रियाकारकफलात्मकं च सर्वव्यवहारास्पदम् । तदेव ब्रह्म विगतसर्वोपाधिविशेषं सम्यग्दर्शनविषयम् अजमजरममृतमभयम्, वाङ्मनसयोरप्यविषयमद्वै-

पञ्चभूतजनित देह और इन्द्रियोंसे सम्बद्ध ब्रह्म दो रूपोंवाला है, मूर्त और अमूर्त संज्ञावाला, मर्त्य और अमृत स्वभाववाला, तज्जनित वासनारूप एवं सर्वज्ञ और सर्वशक्ति ब्रह्म सोपाख्य[1] (सोपाधिक) है । वह क्रिया, कारक और फलस्वरूप तथा समस्त व्यवहारका आश्रय है । वही ब्रह्म समस्त उपाधिविशेषोंसे रहित, सम्यग्ज्ञानका विषय, अजन्मा, अजर, अमर, अभय, वाणी और मनका भी अविषय है तथा

१. जो शब्द-प्रतीतिका विषय हो उसे सोपाख्य कहते हैं ।

त्त्वात् 'नेति नेति' इति निर्दिश्यते ।

तत्र यदपोहद्वारेण 'नेति नेति' इति निर्दिश्यते ब्रह्म, ते एते द्वे वाव—वावशब्दोऽवधारणार्थः—द्वे एवेत्यर्थः—ब्रह्मणः परमात्मनो रूपे—रूप्यते याभ्याम-रूपं परं ब्रह्म अविद्याध्यारोप्यमाणाभ्याम् । के ते द्वे ? मूर्तं चैव मूर्तमेव च । तथामूर्तं चामूर्तमेव चेत्यर्थः । अन्तर्णीतस्वात्मविशेषणे मूर्तामूर्ते द्वे एवेत्यवधार्येते ।

कानि पुनस्तानि विशेषणानि मूर्तामूर्तयोः ? इत्युच्यन्ते—मर्त्यं च मर्त्यं मरणधर्मि, अमृतं च तद्विपरीतम्, स्थितं च—परिच्छिन्नं गतिपूर्वकं यत्स्थास्नु, यच्च—यातीति यत्—व्यापि-अपरिच्छिन्नं स्थितविपरीतम्, सच्च—सदित्यन्येभ्यो विशिष्यमाणा-

अद्वैत होनेके कारण उसका 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया जाता है ।

इस प्रकार जिनके अपवादद्वारा ब्रह्मका 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया जाता है वे उस पर-ब्रह्म परमात्माके ये दो रूप हैं । यहाँ 'वाव' शब्द निश्चयार्थक है । अर्थात् अविद्याद्वारा आरोप किये जानेवाले जिन रूपोंके द्वारा अरूप परब्रह्म निरूपित होता है, वे ये दो ही रूप हैं । वे दो रूप कौन-से हैं ? 'मूर्तं चैव'—मूर्त ही तथा 'अमूर्तं च'—अमूर्त ही [वे रूप हैं] । अर्थात् जिनमें उनके अपने अन्य विशेषणोंका अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसे ब्रह्मके ये मूर्त और अमूर्त दो ही रूप निश्चय किये जाते हैं ।

किंतु मूर्त और अमूर्तके वे अन्य विशेषण कौन-से हैं ? सो बतलाये जाते हैं—'मर्त्यं च,' मर्त्य—मरणधर्मा और अमृत—मर्त्यसे विपरीत स्वभाववाला, स्थित—परिच्छिन्न अर्थात् जो गतिपूर्वक स्थित रहनेवाला है और यत्—जो जाता हो अर्थात् व्यापक, अपरिच्छिन्न यानी स्थितसे विपरीत स्वभाववाला, सत्—दूसरोंकी अपेक्षा विशेषरूपसे निरूपित किये जाने-

साधारणधर्मविशेषवत्, त्यच्च तद्विपरीतम् 'त्यत्' इत्येव सर्वदा परोक्षाभिधानार्हम् ॥ १ ॥

वाले असाधारण धर्मविशेषवाला और त्यत्—सत्‌से विपरीत स्वभाववाला अर्थात् 'वह' इस प्रकार सर्वदा परोक्षरूपसे कहे जाने योग्य ॥ १ ॥

मूर्तामूर्तके विभागपूर्वक मूर्तरूप और उसके रसका वर्णन

तत्र चतुष्टयविशेषणविशिष्टं मूर्तं तथा अमूर्तं च। तत्र कानि मूर्तविशेषणानि ? कानि चेतराणि ? इति विभज्यते—

इस प्रकार मूर्त और अमूर्त चार विशेषण युक्त हैं। उनमें कौन-से विशेषण मूर्तके हैं और कौन-से अमूर्तके ? इसका विभाग किया जाता है—

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

जो वायु और अन्तरिक्षसे भिन्न है, वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है और यह सत् है। उस इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका, इस सत्‌का यह रस है, जो कि यह तपता है। यह सत्‌का ही रस है ॥ २ ॥

तदेतन्मूर्तं मूर्च्छितावयवम् इतरेतरानुप्रविष्टावयवं घनं संहतमित्यर्थः। किं तत् ? यदन्यत्; कस्मादन्यत् ? वायोश्चान्तरिक्षाच्च भूतद्वयात्—परिशेषात् पृथिव्यादिभूतत्रयम्।

वह यह मूर्त अर्थात् मिले हुए अवयवोंवाला है, इसके अवयव एक दूसरेमें अनुप्रविष्ट रहते हैं, यह घनीभूत अर्थात् संहत है। वह क्या है ? जो अन्य है; किससे अन्य है ? वायु और अन्तरिक्ष इन दो भूतोंसे; अतः बचे हुए पृथिवी आदि तीन भूत ही मूर्त हैं।

एतन्मर्त्यम्—यदेतन्मूर्ताख्यं भूतत्रयमिदं मर्त्यं मरणधर्मि; कस्मात् ? यस्मात्स्थितमेतत्; परिच्छिन्नं ह्यर्थान्तरेण सम्प्रयुज्यमानं विरुध्यते—यथा घटः स्तम्भकुड्यादिना; तथा मूर्तं स्थितं परिच्छिन्नम् अर्थान्तरसम्बन्धि ततोऽर्थान्तरविरोधान्मर्त्यम्; एतत्सद्विशेष्यमाणासाधारणधर्मवत्, तस्माद्धि परिच्छिन्नम्, परिच्छिन्नत्वान्मर्त्यम् अतो मूर्तम्; मूर्तत्वाद्वा मर्त्यम्, मर्त्यत्वात्स्थितम्, स्थितत्वात्सत्। अतोऽन्योन्याव्यभिचाराच्चतुर्णां धर्माणां यथेष्टं विशेषणविशेष्यभावो हेतुहेतुमद्भावश्च दर्शयितव्यः। सर्वथापि तु भूतत्रयं चतुष्टयविशेषणविशिष्टं मूर्तं रूपं ब्रह्मणः। तत्र चतुर्णामेकस्मिन्गृहीते विशेषणे इतरद्गृहीतमेव विशेषणमित्याह—तस्यैतस्य मूर्तस्य एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य, एतस्य

यह मर्त्य है—यह जो मूर्तसंज्ञक तीन भूत हैं मर्त्य—मरणधर्मी हैं। क्यों ? क्योंकि ये स्थित हैं। परिच्छिन्न वस्तु ही किसी अन्य वस्तुसे संयोग किये जानेपर उससे विरुद्ध रहती है, जिस तरह स्तम्भ और भित्ति आदिसे घट। इस प्रकार मूर्त स्थित, परिच्छिन्न और अर्थान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाला है, अतः अर्थान्तरसे विरोध होनेके कारण वह मर्त्य है। यह सत् अर्थात् विशेष्यमाण असाधारण धर्मोंवाला है, इसीसे परिच्छिन्न है, परिच्छिन्न होनेके कारण मर्त्य है और इसीसे मूर्त है। अथवा मूर्त होनेके कारण मर्त्य है, मर्त्य होनेके कारण स्थित है और स्थित होनेके कारण सत् है। अतः इन चारों धर्मोंका एक-दूसरेमें व्यभिचार न होनेके कारण इनका यथेष्ट विशेष्य-विशेषणभाव और कार्य-कारणभाव दिखलाना उचित है। यह चार विशेषणोंसे युक्त भूतत्रय सभी प्रकार ब्रह्मका मूर्तरूप है। इन चार विशेषणोंमेंसे किसी एकको ग्रहण करनेपर अन्य विशेषण भी गृहीत हो ही जाते हैं; इसीसे श्रुति कहती है—उस इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका

सतः—चतुष्टयविशेषणस्य भूतत्रयस्येत्यर्थः, एष रसः सारः इत्यर्थः।

त्रयाणां हि भूतानां सारिष्ठः सविता; एतत्साराणि त्रीणि भूतानि, यत एतत्कृतविभज्यमानरूपविशेषणानि भवन्ति; आधिदैविकस्य कार्यस्यैतद्रूपम्—यत्सविता यदेतन्मण्डलं तपति; सतो भूतत्रयस्य हि यस्मादेष रस इत्येतद् गृह्यते। मूर्तो ह्येष सविता तपति, सारिष्ठश्च। तत्त्वाधिदैविकं करणं मण्डलस्याभ्यन्तरम्, तद्वक्ष्यामः॥ २॥

और इस सत्का अर्थात् इन चार विशेषणोंसे युक्त भूतत्रयका यह रस यानी सार है।

तीनों ही भूतोंका सारतम सविता है। तीनों भूत इसी सारवाले हैं, क्योंकि वे इसीके द्वारा विभक्त किये हुए विभिन्न रूपोंवाले होते हैं। यह जो सविता है, जो यह सवितृमण्डल तपता है, वह आधिदैविक कार्यका रूप है; क्योंकि यह सत्‌रूप भूतत्रयका रस है—इस प्रकार ग्रहण किया जाता है। यह मूर्त सविता ही तपता है और सारतम भी है। और जो मण्डलान्तर्गत आधिदैविक करण है, उसका हम आगे वर्णन करेंगे॥ २॥



विशेषणोंसहित अमूर्त रूप और उसके रसका वर्णन

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम्॥ ३॥

तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं; ये अमृत हैं, ये यत् हैं और ये ही त्यत् हैं। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्‌का, इस त्यत्‌का यह सार है, जो कि इस मण्डलमें पुरुष है, यही इस त्यत्‌का सार है। यह अधिदैवत-दर्शन है॥ ३॥

अथामूर्तम्—अथाधुनामूर्तमुच्यते । वायुश्चान्तरिक्षं च यत्परिशेषितं भूतद्वयम्—एतदमृतम्, अमूर्तत्वात्; अस्थितम्, अथोऽविरुध्यमानं केनचित्, अमृतममरणधर्मि । एतद्यत्स्थितविपरीतम् व्यापि, अपरिच्छिन्नम्, यस्मात् 'यत्' एतद् अन्येभ्योऽप्रविभज्यमानविशेषम्, अतस्त्यत्, 'त्यत्' इति परोक्षाभिधानार्हमेव—पूर्ववत् ।

तस्यैतस्यामूर्तस्य तस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्य चतुष्टयविशेषणस्यामूर्तस्यैष रसः; कोऽसौ ? य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः—करणात्मको हिरण्यगर्भः प्राण इत्यभिधीयते यः, स एषोऽमूर्तस्य भूतद्वयस्य रसः पूर्ववत्सारिष्ठः ।

एतत्पुरुषसारं चामूर्तं भूतद्वयम्—हैरण्यगर्भलिङ्गारम्भाय हि भूतद्वयाभिव्यक्तिरव्याकृतात् । तस्मात्तादर्थ्यात्तत्सारं भूतद्वयम्

अब अमूर्तका वर्णन किया जाता है। वायु और अन्तरिक्ष जो दो भूत रह गये हैं, वे अमृत हैं; क्योंकि वे अमूर्त हैं तथा अमूर्त होनेके कारण ही वे अस्थित हैं। अतः किसीसे भी उनका विरोध नहीं है; अमृत कहते हैं अमरणधर्मीको, यह यत् (चल) अर्थात् स्थितसे विपरीत व्यापी यानी अपरिच्छिन्न है, चूँकि दूसरोंसे इस 'यत्' के विशेषण विभक्त नहीं हैं, इसलिये यह 'त्यत्' है, अर्थात् 'त्यत्' इस प्रकार पूर्ववत् परोक्षरूपसे ही पुकारे जाने योग्य है।

उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत् (गतिशील) का और इस त्यत् (परोक्ष) का अर्थात् इन चार विशेषणोंसे युक्त अमूर्तका यह रस है। वह कौन है ? जो कि यह इस मण्डलमें पुरुष यानी इन्द्रियात्मा हिरण्यगर्भ यानी प्राण—ऐसा कहा जाता है। वही इस अमूर्त भूतद्वयका रस अर्थात् पूर्ववत् सारतम भाग है।

अमूर्त भूतद्वय इस पुरुषरूप सारवाले हैं। हिरण्यगर्भरूप लिङ्गात्माके आरम्भके लिये ही अव्याकृतसे इन दोनों भूतोंकी अभिव्यक्ति होती है। अतः उसके लिये अर्थात् उसके साधन होनेसे ये भूतद्वय उस पुरुष-

त्यस्य ह्येष रसः—यस्माद्यो मण्डलस्थः पुरुषो मण्डलवन्न गृह्यते सारश्च भूतद्वयस्य, तस्मादस्ति मण्डलस्थस्य पुरुषस्य भूतद्वयस्य च साधर्म्यम्, तस्माद्युक्तं प्रसिद्धवद्धेतूपादानम्—त्यस्य ह्येष रस इति।

रूप सारवाले ही हैं। यह त्यत्का ही सार है; क्योंकि यह जो मण्डलस्थ पुरुष है, इसे मण्डलके समान ग्रहण नहीं किया जा सकता; इसलिये यह भूतद्वयका सार है; अतः मण्डलस्थ पुरुष और इन दोनों भूतोंका साधर्म्य है, अतः 'यह त्यत्का ही सार है' इस प्रकार प्रसिद्धके समान [त्यत्को इसका] हेतु बतलाना उचित ही है।

रसः कारणं हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा चेतन इति केचित्। तत्र च किल हिरण्यगर्भविज्ञानात्मनः कर्म वाय्वन्तरिक्षयोः प्रयोक्तृ, तत्कर्म वाय्वन्तरिक्षाधारं सदन्येषां भूतानां प्रयोक्तृ भवति, तेन स्वकर्मणा वाय्वन्तरिक्षयोः प्रयोक्तेति तया रसः कारणमुच्यत इति।

किन्हींका मत है[1] कि हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा चेतन रस यानी कारण है। उस अवस्थामें हिरण्यगर्भविज्ञानात्माका कर्म वायु और अन्तरिक्षका प्रेरक है, वह कर्म वायु और अन्तरिक्षरूप आधारवाला होकर अन्य भूतोंका प्रेरक होता है; उस अपने कर्मके द्वारा हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा वायु और अन्तरिक्षका प्रेरक है, इसलिये उनका रस यानी कारण कहा जाता है।

तन्न, मूर्तरसेनातुल्यत्वात्।

किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मूर्तके रस (सार) से इसकी सदृशता नहीं है।

मूर्तस्य तु भूतत्रयस्य रसो मूर्तमेव मण्डलं दृष्टं भूतत्रयसमानजातीयम्, न चेतनः, तथामूर्तयोरपि भूत-

तीन मूर्त भूतोंका रस तो मूर्तमण्डल ही देखा गया है, जो भूतत्रयसे समान जातिवाला अर्थात् जड है, उनका रस चेतन नहीं है। इसी प्रकार अमूर्त भूतोंका

1. भर्तृप्रपञ्चका।

योस्तत्समानजातीयेनैवामूर्तरसेन युक्तं भवितुम्; वाक्यप्रवृत्तेस्तुल्यत्वात्, यथा हि मूर्तामूर्ते चतुष्टयधर्मवती विभज्येते, तथा रसरसवतोरपि मूर्तामूर्तयोस्तुल्येनैव न्यायेन युक्तो विभागः, न त्वर्धवैशसम् ।

भी उनके समानजातीय ही अमूर्त रस होना चाहिये[1]; क्योंकि इन दोनों वाक्योंकी प्रवृत्ति समान ही है । जिस प्रकार चार धर्मोंसे युक्त मूर्त और अमूर्तका विभाग किया गया है[2] उसी प्रकार उसी न्यायसे मूर्तरसवान् और रस तथा अमूर्त रसवान् और रसका भी विभाग करना उचित है[3]; अर्धजरतीय न्यायका आश्रय लेना उचित नहीं है ।

मूर्तरसेऽपि मण्डलोपाधिश्चेतनो विवक्ष्यत इति चेत् ?

पूर्व०--[जिस प्रकार हम अमूर्त भूतोंके रसको चेतन मानते हैं, उसी प्रकार] यदि मूर्तभूतोंके रसमें भी मण्डलोपाधिक चेतन ही विवक्षित मानें तो ?

अत्यल्पमिदमुच्यते, सर्वत्रैव तु मूर्तामूर्तयोर्ब्रह्मरूपेण विवक्षितत्वात् ।

सिद्धान्ती—तुम्हारा यह कथन बहुत थोड़ा है, क्योंकि यहाँ [मूर्त और अमूर्त रस ही नहीं] सर्वत्र ही मूर्त और अमूर्त भूतमात्र ब्रह्मरूपसे विवक्षित हैं ।

१. अर्थात् जिस प्रकार अमूर्त भूत—वायु और अन्तरिक्ष जड जातिके हैं, उसी प्रकार उनका रस भी अमूर्त एवं जड़ होना उचित है ।

२. जैसे कि मन्त्र २ और ३ में यह बतलाया है कि ब्रह्मका मूर्त रूप मूर्तिमान्, मर्त्य, स्थित (परिच्छिन्न) और सत् है तथा अमूर्त रूप अमूर्तिमान्, अमृत, अस्थित (अपरिच्छिन्न) और त्यत् है ।

३. जैसे रसवान् (भूत) मूर्त और अमूर्त दो प्रकारके हैं, तथा जड़ हैं, उसी प्रकार रस भी मूर्त और अमूर्त—दो प्रकारका तथा जड होना चाहिये । ऐसा विभाग नहीं करना चाहिये कि मूर्त रस तो जड है और अमूर्त रस चेतन है । क्योंकि ऐसी कल्पना अर्धजरतीय होगी, जो अनुचित है ।

पुरुषशब्दोऽचेतनेऽनुपपन्न इति चेत्?

न, पक्षपुच्छादिविशिष्टस्यैव लिङ्गस्य पुरुषशब्ददर्शनात्। "न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजाः प्रजनयितुमिमान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्" इत्यादौ अन्नरसमयादिषु च श्रुत्यन्तरे पुरुषशब्दप्रयोगात्। इत्यधिदैवतमित्युक्तोपसंहारोऽध्यात्मविभागोक्त्यर्थः ॥ ३ ॥

पूर्व०—किंतु 'पुरुष' शब्दका अचेतनमें प्रयोग होना तो सम्भव नहीं है?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; [तैत्तिरीय-श्रुतिमें तो] पक्ष और पुच्छविशिष्ट लिङ्गशरीरको ही पुरुष-शब्दवाची देखा गया है। तथा "हम इस प्रकार अलग-अलग रहते हुए प्रजा उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः इन[1] सात पुरुषोंको हम एक कर दें—ऐसा विचारकर उन्होंने इन सात पुरुषोंको एक कर दिया" इत्यादि अन्यश्रुतियोंके वाक्योंमें अन्न-रसमयादिके अर्थमें पुरुष शब्दका प्रयोग किया गया है। 'यह अधिदेवत मूर्तामूर्त है' ऐसा कहकर जो पूर्वोक्तका उपसंहार किया गया है, वह अध्यात्म मूर्तामूर्तका विभाग बतलानेके लिये है ॥ ३ ॥

अध्यात्म मूर्तामूर्तके विभागपूर्वक मूर्तका वर्णन

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

अब अध्यात्म मूर्तामूर्तका वर्णन किया जाता है। जो प्राणसे तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश है उससे भिन्न है, यही मूर्त है। यह मर्त्य है,

१. सात पुरुष ये हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक् और मन।

यह स्थित है, यह सत् है। यह जो नेत्र है वही इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका एवं इस सत्का सार है यह सत्का ही सार है ॥ ४ ॥

अथाधुनाध्यात्मं मूर्तामूर्तयोर्विभाग उच्यते—किं तन्मूर्तम्? इदमेव, किं चेदम्? यदन्यत्प्राणाच्च वायोर्यश्चायमन्तरभ्यन्तरे आत्मन्नात्मन्याकाशः खं शरीरस्थश्च यः प्राण एतद् द्वयं वर्जयित्वा यदन्यच्छरीरारम्भकं भूतत्रयम्, एतन्मर्त्यमित्यादि समानमन्यत्पूर्वेण।

अथ—अब मूर्तामूर्तका अध्यात्म-विभाग बतलाया जाता है— वह मूर्त क्या है? यह ही है, यह क्या है? जो प्राणवायुसे भिन्न है अर्थात् इस आत्मा—शरीरके भीतर जो आकाश है और जो देहस्थ प्राण है इन दोनोंको छोड़कर जो शरीरके आरम्भक तीन भूत हैं वे ही मर्त्य हैं—इस प्रकार अन्य सब पूर्ववत् समझना चाहिये।

एतस्य सतो ह्येष रसः यच्चक्षुरिति, आध्यात्मिकस्य शरीरारम्भकस्य कार्यस्यैष रसः सारः; तेन हि सारेण सारवदिदं शरीरं समस्तं यथाधिदैवतमादित्यमण्डलेन।

इस सत्का ही, यह जो चक्षु है, रस है। अर्थात् आध्यात्मिक यानी शरीरारम्भक भूतोंका यही रस यानी सार है; जिस प्रकार अधिदैवत मूर्तवर्ग आदित्यमण्डलके कारण सारवान् है, उसी प्रकार यह समस्त शरीर उस सारसे ही सारवान् है।

प्राथम्याच्च—चक्षुषी एव प्रथमे सम्भवतः सम्भवत इति। "तेजो रसो निरवर्ततताग्निः" इति लिङ्गात्, तैजसं हि चक्षुः, एतत्सारम् आध्यात्मिकं भूतत्रयम्; सतो

[शरीरके अवयवोंमें] प्रथम होनेके कारण भी चक्षु सार हैं। उत्पन्न होनेवाले जीवके सबसे पहले नेत्र ही उत्पन्न होते हैं। इस विषयमें "अग्नि तेजरूप रसवाला हुआ" यह लिङ्ग है। चक्षु भी तैजस ही हैं, आध्यात्मिक भूतत्रय चक्षुरूपसारवाले ही हैं। 'यह सत्का ही रस है' यह

ह्येष रस इति मूर्तत्वसारत्वे हेत्वर्थः ॥ ४ ॥

कथन सत् (तीनों भूतों) का चक्षुके मूर्तत्व एवं सारत्वमें हेतुत्व-प्रतिपादन करनेके लिये है[1] ॥ ४ ॥

अध्यात्म अमूर्तका उसके विशेषणोंसहित वर्णन

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥ ५ ॥

अब अमूर्तका वर्णन करते हैं—प्राण और इस शरीरके अन्तर्गत जो आकाश है, वे अमूर्त हैं, यह अमृत है, यह यत् है और यही त्यत् है। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह रस है जो कि यह दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है यह त्यत्का ही रस है ॥ ५ ॥

अथाधुनामूर्तमुच्यते। यत्परिशेषितं भूतद्वयं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः, एतदमूर्तम्। अन्यत्पूर्ववत्। एतस्य त्यस्यैष रसः सारः, योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः—दक्षिणेऽक्षन्निति विशेषग्रहणम्, शास्त्रप्रत्यक्षत्वात्; लिङ्गस्य हि दक्षिणेऽक्षिण विशेषतोऽधिष्ठातृत्वं शास्त्रस्य प्रत्यक्षं सर्वश्रुतिषु

अथ—अब अमूर्तका वर्णन किया जाता है। जो बचे हुए दो भूत प्राण और यह देहान्तर्गत आकाश हैं, वे अमूर्त हैं। शेष अर्थ पूर्ववत् है। इस त्यत्का यह रस यानी सार है, जो कि यह दक्षिन नेत्रान्तर्गत पुरुष है, 'दक्षिण नेत्रमें' इस प्रकार विशेष नेत्रका ग्रहण शास्त्र-प्रत्यक्ष होनेके कारण है। लिङ्गदेहका विशेषरूपसे दक्षिण नेत्रमें अधिष्ठातृत्व है, ऐसा शास्त्रका प्रत्यक्ष है, क्योंकि समस्त श्रुतियोंमें ऐसा ही प्रयोग देखा गया

1. तात्पर्य यह है कि चक्षु मूर्त है, अतः उसका तीनों मूर्त भूतोंका कार्य होना उचित ही है; क्योंकि वह मूर्तके समान धर्मवाला है तथा देहके सम्पूर्ण अवयवोंमें प्रधान होनेके कारण वह आध्यात्मिक तीनों भूतोंका रस—सार है—यह सिद्ध होता है।



तथा प्रयोगदर्शनात् । त्यस्य ह्येष रस इति पूर्ववद्विशेषतोऽग्रहणादमूर्तत्वसारत्वे एव हेत्वर्थः ॥ ५ ॥

है। 'यह त्यत्‌का ही सार है' यह कथन पूर्ववद् विशेषरूपसे ग्रहण न होनेके कारण त्यत् (अमूर्त दोनों भूतों) का दक्षिण नेत्रस्थित पुरुषके अमूर्तत्व और सारत्वमें ही हेतुत्व प्रतिपादन करनेके लिये है ॥ ५ ॥

इन्द्रियात्मा पुरुषके स्वरूपका वर्णन

ब्रह्मण उपाधिभूतयोर्मूर्तामूर्तयोः कार्यकरणविभागेन अध्यात्माधिदैवतयोर्विभागो व्याख्यातः सत्यशब्दवाच्ययोः । अथेदानीम्-

'सत्य' शब्दके वाच्य एवं ब्रह्मके उपाधिभूत अध्यात्म और अधिदैवत मूर्तामूर्तके विभागका कार्यकरणभेदसे विभाग किया गया। अब—

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

उस इस पुरुषका रूप [ऐसा] है जैसा हल्दीमें रँगा हुआ वस्त्र, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र, जैसा इन्द्रगोप[१], जैसी अग्निकी ज्वाला, जैसा श्वेत कमल और जैसी बिजलीकी चमक होती है। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री बिजलीकी चमकके समान [सर्वत्र एक साथ फैलनेवाली] होती है। अब इसके पश्चात् 'नेति नेति' यह ब्रह्मका आदेश है। 'नेति नेति' इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्यका सत्य' यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य हैं, उनका यह 'सत्य है ॥ ६ ॥

१. वर्षा ऋतुमें उत्पन्न होनेवाला एक लाल रंगका कीड़ा।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य करुणात्मनो लिङ्गस्य रूपं वक्ष्यामो वासनामयं मूर्तामूर्तवासनाविज्ञानमयसंयोगजनितं विचित्रं पटभित्तिचित्रवन्मायेन्द्रजालमृगतृष्णिकोपमं सर्वव्यामोहास्पदम्—एतावन्मात्रमेव आत्मेति विज्ञानवादिनो वैनाशिका यत्र भ्रान्ताः, एतदेव वासनारूपं पटरूपवदात्मनो द्रव्यस्य गुण इति नैयायिका वैशेषिकाश्च सम्प्रतिपन्नाः, इदमात्मार्थं त्रिगुणं स्वतन्त्रं प्रधानाश्रयं पुरुषार्थेन हेतुना प्रवर्तत इति साङ्ख्याः।

औपनिषदम्मन्या अपि केचि-
भर्तृप्रपञ्चमतो- त्प्रक्रियां रचयन्ति—
पन्यासः मूर्तामूर्तराशिरेकः, परमात्मराशिरुत्तमः ताभ्यामन्योऽयं मध्यमः किल तृतीयः कर्त्रा भोक्त्रा विज्ञानमयेन अजातशत्रुप्रतिबोधितेन सह विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञासमुदायः, प्रयोक्ता

उस इस इन्द्रियात्मा लिङ्गशरीररूप पुरुषके वासनामय, मूर्तामूर्त स्वरूपकी वासना और विज्ञानमयके संयोगसे उत्पन्न हुए वस्त्र या भित्तिपर लिखे हुए चित्रके समान विचित्र तथा माया-इन्द्रजाल एवं मृगतृष्णाके समान सब प्रकारके व्यामोहके आश्रयभूत रूपका वर्णन करते हैं, जिसमें कि विज्ञानवादी वैनाशिकोंको ऐसा भ्रम हो गया है कि बस इतना ही आत्मा है, नैयायिक और वैशेषिक ऐसा मानने लगे हैं कि यह वासनारूप ही पटके रूपके समान 'आत्मा' नामक द्रव्यका गुण है तथा सांख्यवादियोंका मत है कि यह तीन गुणवाला, स्वतन्त्र एवं प्रधानरूप आश्रयवाला [अन्तःकरण] पुरुषार्थके हेतुसे आत्माके लिये प्रवृत्त होता है।

कोई-कोई अपनेको उपनिषद्-सिद्धान्तावलम्बी माननेवाले भी ऐसी प्रक्रिया रचते हैं—एक तो मूर्तामूर्तराशि है और दूसरी परमात्मसंज्ञक उत्तम राशि है! तथा अजातशत्रुद्वारा जगाये हुए कर्ता, भोक्ता विज्ञानमयके साथ जो विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञाका समुदाय है, वह पूर्वोक्त दोनोंसे भिन्न तीसरी मध्यम राशि है। [विद्या, पूर्वप्रज्ञा और] कर्मका

कर्मराशिः, प्रयोज्यः पूर्वोक्तो मूर्तामूर्तभूतराशिः साधनं चेति। तत्र च तार्किकैः सह सन्धिं कुर्वन्ति। लिङ्गाश्रयश्चैष कर्मराशिरित्युक्त्वा पुनस्ततस्त्रस्यन्तः साङ्ख्यत्वभयात्, सर्वः कर्मराशिः—पुष्पाश्रय इव गन्धः पुष्पवियोगेऽपि पुटतैलाश्रयो भवति तद्वत्—लिङ्गवियोगेऽपि परमात्मैकदेशमाश्रयति, स परमात्मैकदेशः किलान्यत आगतेन गुणेन कर्मणा सगुणो भवति निर्गुणोऽपि सन्, स कर्ता भोक्ता बध्यते मुच्यते च विज्ञानात्मा—इति वैशेषिकचित्तमप्यनुसरन्ति; स च कर्मराशिर्भूतराशेरागन्तुकः, स्वतो निर्गुण एव परमात्मैकदेशत्वात्; स्वत उत्थिता अविद्या अनागन्तुकाप्यूषरवदनात्मधर्मः—इत्यनया

समुदाय प्रयोजक है तथा पूर्वोक्त मूर्तामूर्तभूतराशि एवं ज्ञान-कर्मके साधन (कार्य-कारणसमूह) प्रयोज्य हैं। इस प्रकार तीन राशिकी कल्पना कर लेनेके पश्चात् वे तार्किकोंके साथ सन्धि कर लेते हैं। और यह कर्मराशि लिङ्गदेहके आश्रित है, ऐसा कहकर फिर उससे सांख्य-सिद्धान्त हो जानेके डरसे डरते हुए ऐसा कहने लगते हैं कि जिस प्रकार पुष्पके आश्रय रहनेवाला गन्ध पुष्पके न रहनेपर भी पुड़िया या तैलके आश्रित रहता है उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मराशि, लिङ्गदेहका वियोग होनेपर भी, परमात्माके एक देशको आश्रय करती है और परमात्माका वह एक देश अन्यसे प्राप्त हुए उस गुणरूप कर्मके द्वारा, निर्गुण होनेपर भी सगुण हो जाता है; तथा वह विज्ञानात्मा कर्ता भोक्ता ही बद्ध या मुक्त होता है—इस प्रकार वे वैशेषिकोंके चित्तका भी अनुसरण करते हैं। भूतराशिसे आनेवाली वह कर्मराशि स्वतः निर्गुण ही है; क्योंकि वह परमात्माका ही एक देश है। स्वयं उत्पन्न हुई अविद्या अनागन्तुका होनेपर भी [पृथिवीके धर्म] ऊसरके समान अनात्माका धर्म है। इस प्रकार इस

कल्पनया साङ्ख्यचित्तमनुवर्तन्ते ।

सर्वमेतत्तार्किकैः सह सामञ्जस्यकल्पनया रमणीयं पश्यन्ति, नोपनिषत्सिद्धान्तं सर्वन्यायविरोधं च पश्यन्ति; कथम् ? उक्ता एव तावत्सावयवत्वे परमात्मनःसंसारित्वसव्रणत्वकर्मफलदेशसंसरणानुपपत्त्यादयो दोषाः; नित्यभेदे च विज्ञानात्मनः परेणैकत्वानुपपत्तिः ।

लिङ्गमेवेति चेत्परमात्मन उपचरितदेशत्वेन कल्पितं घटकरकभूछिद्राकाशादिवत्, तथा लिङ्गवियोगेऽपि परमात्मदेशाश्रयणं वासनायाः । अविद्यायाश्च स्वत उत्थानम् ऊषरवत्-इत्यादि-

कल्पनासे वे सांख्यमतावलम्बियोंके चित्तका भी अनुसरण करते हैं ।

तार्किकोंके साथ सामञ्जस्यकी कल्पना करके वे इस सारी व्यवस्थाको रमणीय मानते हैं, किंतु औपनिषदसिद्धान्तको तथा सब प्रकारकी युक्तियोंसे आनेवाले विरोधको नहीं देखते । सो किस प्रकार ? परमात्माका सावयवत्व स्वीकार करनेपर उसमें संसारित्व, सच्छिद्रत्व तथा कर्मफलभोगके स्थानमें उत्पन्न होनेकी अनुपपत्ति आदि दोष बतलाये ही गये हैं । और यदि उनमें भेद माना जाय तो विज्ञानात्माका परमात्माके साथ अभेद होना सम्भव नहीं है ।

और यदि यह कहो कि घटाकाश, करकाकाश और भूछिद्राकाशादिके समान लिङ्गशरीर ही परमात्माके औपचारिक एक देशरूपसे कल्पित है [अर्थात् लिङ्गरूप उपाधिसे कल्पित जो परमात्माका अंश है, वही जीवात्मा है] तो ऐसी अवस्थामें लिङ्गदेहका वियोग होनेपर भी वासना परमात्माके एक देशको आश्रित कर लेगी[1] तथा 'ऊसर भूमिके समान अविद्याका स्वयं ही उदय हुआ है'

१. स्वप्न आदि अवस्थाओंमें लिङ्गदेहका वियोग होनेपर जीवात्मामें वासना नहीं रह सकती; क्योंकि लिङ्गका अभाव हो जानेपर उसके अधीन रहनेवाले जीवका भी अभाव हो जाना सम्भव है । अतः लिङ्गका अभाव होनेपर जीवमें वासना रहती है—यह प्रक्रिया असंगत होगी; इसलिये यह मत ठीक नहीं है ।

कल्पनानुपपन्नैव। न च वास्यदेशव्यतिरेकेण वासनाया वस्त्वन्तरसञ्चरणं मनसापि कल्पयितुं शक्यम्।

न च श्रुतयो गच्छन्ति "कामः संकल्पो विचिकित्सा" (बृ० उ० १।५।३) "हृदये ह्येव रूपाणि" (३।९।२०) "ध्यायतीव लेलायतीव" (४।३।७) "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (४।४।७) "तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य" (४।३।२२) इत्याद्याः। न चासां श्रुतीनां श्रुतादर्थान्तरकल्पना न्याय्या, आत्मनः परब्रह्मत्वोपपादनार्थपरत्वादासाम्, एतावन्मात्रार्थोपक्षयत्वाच्च सर्वोपनिषदाम्। तस्माच्छ्रुत्यर्थकल्पनाकुशलाः सर्व एवोपनिषदर्थमन्यथा कुर्वन्ति। तथापि वेदार्थश्चेत्स्यात्कामं भवतु, न मे द्वेषः।

न च 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इति राशित्रयपक्षे समञ्जसम्;

इत्यादि कल्पना असंगत ही ठहरेगी। इसके सिवा अपने निवासयोग्य स्थानको छोड़कर किसी अन्य वस्तुमें वासनाके सञ्चरित होनेकी तो मनसे भी कल्पना नहीं की जा सकती।

तथा इस विषयमें "काम, संकल्प और संशय," "हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं", "मानो ध्यान करता है, मानो वेगसे चल रहा है" "जो संकल्प इसके हृदयमें स्थित हैं", "उस समय वह हृदयके समस्त शोकोंसे पार हो जाता है" इत्यादि श्रुतियाँ भी सहमत नहीं हैं। इन श्रुतियोंका यथाश्रुत अर्थ छोड़कर किसी दूसरे अर्थकी कल्पना करनी उचित नहीं है; क्योंकि ये आत्माका परब्रह्मत्व प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त हैं तथा इसी अर्थमें समस्त उपनिषदोंका पर्यवसान होता है। अतः श्रुतिके अर्थकी कल्पना करनेमें कुशल ये सभी लोग उपनिषद्के अर्थको उलटा कर देते हैं। तो भी यदि वह वेदका तात्पर्य हो तो भले ही रहे, मेरा उससे कोई द्वेष नहीं है।

किंतु [भर्तृप्रपञ्चके] राशित्रयसिद्धान्तमें 'ब्रह्मके दो ही रूप हैं' ऐसा कहना उचित नहीं है; जब कि



यदा तु मूर्तामूर्ते तज्जनितवासनाश्च मूर्तामूर्ते द्वे रूपे, ब्रह्म च रूपि तृतीयम्, न चान्यच्चतुर्थमन्तराले—तदा एतदनुकूलमवधारणम्, द्वे एव ब्रह्मणो रूपे इति; अन्यथा ब्रह्मैकदेशस्य विज्ञानात्मनो रूपे इति कल्प्यम्, परमात्मनो वा विज्ञानात्मद्वारेणेति । तदा च रूपे एवेति द्विवचनमसमञ्जसम्, रूपाणीति वासनाभिः सह बहुवचनं युक्ततरं स्यात्—द्वे च मूर्तामूर्ते वासनाश्च तृतीयमिति ।

मूर्तामूर्त और तज्जनित वासनाएँ ये मूर्त और अमूर्त दो रूप हों और उनसे रूपवान् ब्रह्म तीसरा रूप हो तथा इनके बीचमें कोई चौथा रूप न हो, उसी समय ऐसा निश्चय करना ठीक होगा कि ब्रह्मके दो ही रूप हैं; नहीं तो ऐसा मानना होगा कि ये ब्रह्मके एक देश विज्ञानात्माके ही रूप हैं अथवा विज्ञानात्माके द्वारा परमात्माके रूप हैं। उस समय भी 'रूपे' ऐसा द्विवचनान्त प्रयोग उचित नहीं होगा, अपितु वासनाओंके साथ त्रित्व होनेके कारण 'रूपाणि' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग अधिक उचित होगा; अर्थात् दो तो मूर्त और अमूर्त एवं तीसरा रूप वासनाएँ ।

अथ मूर्तामूर्ते एव परमात्मनो रूपे, वासनास्तु विज्ञानात्मन इति चेत्—तदा विज्ञानात्मद्वारेण विक्रियमाणस्य परमात्मनः-इतीयं वाचोयुक्तिरनर्थिका स्यात्, वासनाया अपि विज्ञानात्मद्वारत्वस्य अविशिष्टत्वात्; न च वस्तु वस्त्वन्तरद्वारेण विक्रियत इति मुख्यया वृत्त्या शक्यं कल्पयितुम्,

यदि कहो कि परमात्माके रूप तो मूर्त और अमूर्त दो ही हैं, वासनाएँ तो विज्ञानात्माकी है तो उस अवस्थामें [मूर्तामूर्तके विषयमें] ऐसी वाचोयुक्ति प्रदर्शित करना कि ये विज्ञानात्माके द्वारा विकारको प्राप्त होते हुए परमात्माके रूप हैं, व्यर्थ ही होगा, क्योंकि विज्ञानात्माका द्वारत्व तो वासनाओंके लिये भी ऐसा ही है। इसके सिवा एक वस्तु किसी अन्य वस्तुके द्वारा विकारको प्राप्त होती है—ऐसी मुख्यवृत्तिसे कल्पना भी नहीं की

न च विज्ञानात्मा परमात्मनो वस्त्वन्तरम् तथा कल्पनायां सिद्धान्तहानात्। तस्माद् वेदार्थमूढानां स्वचित्तप्रभावा एवमादिकल्पना अक्षरबाह्याः; न ह्यक्षरबाह्यो वेदार्थो वेदार्थोपकारी वा, निरपेक्षत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यं प्रति; तस्माद्राशित्रयकल्पना असमञ्जसा।

'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' प्रकृतपरामर्शः इति लिङ्गात्मा प्रस्तुतोऽध्यात्मे, अधिदैवे च 'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति, 'तस्य' इति प्रकृतोपादानात्स एवोपादीयते योऽसौ त्यस्यामूर्तस्य रसो न तु विज्ञानमयः।

ननु विज्ञानमयस्यैवैतानि रूपाणि कस्मान्न भवन्ति? विज्ञानमयस्यापि प्रकृतत्वात्, 'तस्य' इति च प्रकृतोपादानात्।

जा सकती। और विज्ञानात्मा परमात्मासे कोई भिन्न वस्तु भी नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना करनेमें तो अद्वैतसिद्धान्तकी ही हानि होती है। अतः वेदार्थसे अनभिज्ञ उन पुरुषोंकी ऐसी मनमानी कल्पना वेदाक्षरोंसे बाह्य है और अक्षरोंको छोड़कर किया हुआ अर्थ वास्तविक वेदार्थ अथवा वेदार्थमें उपयोगी नहीं हो सकता; क्योंकि अपने प्रामाण्यमें वेद किसीकी अपेक्षा नहीं रखता; अतः राशित्रयकी कल्पना ठीक नहीं है।

'यह जो दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है' इस वाक्यद्वारा अध्यात्म-प्रकरणमें लिङ्गात्माका वर्णन आरम्भ किया गया है तथा अधिदैव-प्रकरणमें 'यह जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है' इस प्रकार 'तस्य' इस पदसे प्रकृत [लिङ्गात्मा] का ग्रहण किये जानेके कारण वही ग्रहण किया गया है जो कि यह अमूर्त त्यत्का रस है, विज्ञानमयका ग्रहण नहीं किया गया।

पूर्व०—यहाँ विज्ञानमयका भी प्रकरण है, इसलिये ये विज्ञानमयके ही रूप क्यों नहीं हैं? क्योंकि 'तस्य' इस पदसे तो प्रकृतका ही ग्रहण किया गया है।

नैवम्, विज्ञानमयस्यारूपित्वेन विजिज्ञापयिषितत्वात्; यदि हि तस्यैव विज्ञानमयस्यैतानि माहारजनादीनि रूपाणि स्युस्तस्यैव 'नेति नेति' इत्यनाख्येयरूपतयादेशो न स्यात्।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विज्ञानमयको अरूपत्वात्-रूपसे बतलाना अभीष्ट है। यदि ये माहारजनादिरूप उस विज्ञानमयके ही हों तो उसीका 'नेति-नेति' इस प्रकार अनिर्वचनीयरूपसे आदेश नहीं किया जा सकता।

नन्वन्यस्यैवासावादेशो न तु विज्ञानमयस्येति ?

पूर्व०-किंतु यह आदेश तो किसी औरका ही है, विज्ञानमयका नहीं है ?

न, षष्ठान्ते उपसंहारात्—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति विज्ञानमयं प्रस्तुत्य "स एष नेति नेति" (४।५।१५) इति; "विज्ञपयिष्यामि" इति च प्रतिज्ञाता अर्थवत्त्वात्। यदि च विज्ञानमयस्यैव असंव्यवहार्यमात्मस्वरूपं ज्ञापयितुमिष्टं स्यात्प्रध्वस्तसर्वोपाधिविशेषम्, तत इयं प्रतिज्ञार्थवती स्यात्—येनासौ ज्ञापितो जानात्यात्मानमेवाहं ब्रह्मास्मीति, शास्त्रनिष्ठां प्राप्नोति न बिभेति कुतश्चन।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि, "अरे मैत्रेयि! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने" इस प्रकार [विज्ञानमयरूपसे] आरम्भ करके छठे अध्यायके[1] अन्तमें "वह यह आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है" इस प्रकार उपसंहार किया है तथा ऐसा माननेपर ही "विशेषरूपसे ज्ञान कराऊँगा" यह प्रतिज्ञा भी सार्थक हो सकती है। यहाँ यदि विज्ञानमयके ही सर्वोपाधिविनिर्मुक्त व्यवहारातीत आत्मस्वरूपका ज्ञान कराना अभीष्ट होगा तभी यह प्रतिज्ञा सार्थक हो सकेगी, जिसका ज्ञान कराये जानेपर यह आनेहीको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जानता और शास्त्रनिष्ठाको प्राप्त करता है तथा किसीसे भी भयको प्राप्त नहीं होता।

१. अर्थात् उपनिषद्के चौथे अध्यायमें।

अथ पुनरन्यो विज्ञानमयः, अन्यः 'नेति नेति' इति व्यपदिश्यते—तदान्यददो ब्रह्मान्योऽहमस्मीति विपर्ययो गृहीतः स्यात् न 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' (१।४।९) इति। तस्मात् 'तस्य हैतस्य' इति लिङ्गपुरुषस्यैवैतानि रूपाणि।

और यदि विज्ञानमय कोई अन्य हो तथा 'नेति नेति' इस वाक्यसे किसी अन्यका निर्देश किया गया हो तो उस अवस्थामें 'यह ब्रह्म अन्य है तथा मैं अन्य हूँ' ऐसा विपरीत ग्रहण किया जायगा; 'अपनेको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ग्रहण नहीं होगा। अतः 'तस्य हैतस्य' इत्यादि मन्त्रसे बतलाये हुए ये रूप लिङ्गपुरुषके ही हैं।

लिङ्गात्मस्वरूप-निरूपणम्

सत्यस्य च सत्ये परमात्मस्वरूपे वक्तव्ये निरवशेषं सत्यं वक्तव्यम्; सत्यस्य च विशेषरूपाणि वासनाः; तासामिमानि रूपाण्युच्यन्ते, एतस्य पुरुषस्य प्रकृतस्य लिङ्गात्मन एतानि रूपाणि; कानि तानि? इत्युच्यन्ते—

सत्यके सत्य परमात्माका स्वरूप बतलाना है, अतः यहाँ सम्पूर्ण सत्य बतलाना आवश्यक है। सत्यके ही विशेषरूप वासनाएँ हैं, उनके ये रूप बतलाये जाते हैं, ये इस प्रकृत लिङ्गात्मा पुरुषके रूप हैं; वे रूप कौन-से हैं? सो बतलाये जाते हैं—

यथा लोके, महारजनं हरिद्रा तया रक्तं माहारजनं यथा वासो लोके, एवं स्त्र्यादिविषयसंयोगे तादृशं वासनारूपं रञ्जनाकारमुत्पद्यते चित्तस्य, येनासौ पुरुषो रक्त इत्युच्यते वस्त्रादिवत्।

लोकमें जिस प्रकार माहारजन वस्त्र—महारजन हल्दीको कहते हैं, उससे रँगा हुआ जो वस्त्र होता है, वही माहारजन है, उसी प्रकार स्त्री आदि विषयका संयोग होनेपर चित्तका वैसा ही रञ्जनाकार वासनामय रूप उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण यह पुरुष वस्त्रादिके समान रक्त (रँगा हुआ या अनुरक्त) कहा जाता है।

यथा च लोके पाण्ड्वाविकम्, अवेरिदम् आविकम् ऊर्णादि, यथा च तत्पाण्डुरं भवति, तथान्यद्वासनारूपम्। यथा च लोके इन्द्रगोपोऽत्यन्तरक्तो भवति एवमस्य वासनारूपम्। क्वचिद्विषयविशेषापेक्षया रागस्य तारतम्यम्, क्वचित्पुरुषचित्तवृत्त्यपेक्षया।

तथा लोकमें जिस प्रकार पाण्डु आविक (सफेद ऊन) होता है, अवि (भेड़) के विकार ऊन आदिको आविक कहते हैं, जिस प्रकार वह पाण्डुर (श्वेतवर्ण) होता है, उसी प्रकार दूसरी वासनाका रूप है। इसी प्रकार लोकमें जैसे इन्द्रगोप कीड़ा अत्यन्त लाल रंगका होता है, वैसा ही इस पुरुषकी वासनाका भी रूप होता है। यहाँ कहीं तो विषयविशेषकी अपेक्षासे रागका तारतम्य है और कहीं पुरुषकी चित्तवृत्तिकी अपेक्षासे है।

यथा च लोकेऽग्न्यर्चिर्भास्वरं भवति, तथा क्वचित्कस्यचिद्वासनारूपं भवति। यथा पुण्डरीकं शुक्लम्, तद्वदपि च वासनारूपं कस्यचिद्भवति। यथा सकृद्विद्युत्तम्, यथा लोके सकृद्विद्योतनं सर्वतः प्रकाशकं भवति, तथा ज्ञानप्रकाशविवृद्ध्यपेक्षया कस्यचिद्वासनारूपमुपजायते। नैषां वासनारूपाणामादिरन्तो मध्यं सङ्ख्या वा, देशः कालो निमित्तं वावधार्यते—असङ्ख्येयत्वाद्वास-

तथा लोकमें जिस प्रकार अग्निकी ज्वाला दीप्तिमती होती है, वैसे ही कहीं-कहीं किसीकी वासनाओंका रूप भी होता है। और जिस तरह पुण्डरीक (श्वेत कमल) सफेद रंगका होता है, उस प्रकार भी किसीकी वासनाओंका रूप होता है। जिस प्रकार सकृद्विद्युत्त—लोकमें बिजलीका एक बार चमकना सब ओर प्रकाश करनेवाला होता है, वैसे ही ज्ञानरूप प्रकाशकी वृद्धिकी अपेक्षासे किसीकी वासनाका रूप हो जाता है। वासनाके इन रूपोंके आदि, अन्त, मध्य, संख्या अथवा देश, काल या निमित्तका कोई निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि वासनाएँ अगणित हैं और

नायाः, वासनाहेतूनां चानन्त्यात्, तथा च वक्ष्यति पष्ठे—"इदंमयोऽदोमयः" (४।४।५) इत्यादि।

तस्मान्न स्वरूपसङ्ख्यावधारणार्था दृष्टान्ताः—'यथा माहारजनं वासः' इत्यादयः, किं तर्हि? प्रकारप्रदर्शनार्थाः—एवम्प्रकाराणि हि वासनारूपाणीति। यत्तु वासनारूपमभिहितमन्ते—सकृद्विद्योतनमिवेति, तत्किल हिरण्यगर्भस्य अव्याकृतात्प्रादुर्भवतः तडिद्वत्सकृदेव व्यक्तिर्भवतीति, तत्तदीयं वासनारूपं हिरण्यगर्भस्य यो वेद तस्य सकृद्विद्युत्तेव, ह वै इत्यवधारणार्थौ, एवमेवास्य श्रीः ख्यातिर्भवतीत्यर्थः, यथा हिरण्यगर्भस्य—एवमेतद्यथोक्तं वासनारूपमन्त्यं यो वेद।

वासनाओंके हेतुओंका भी कोई अन्त नहीं है; जैसा कि छठे (उपनिषद्‌के चौथे) अध्यायमें "इदंमयः अदोमयः" आदि श्रुति बतलावेगी।

अतः 'जिस प्रकार माहारजन वस्त्र होता है' इत्यादि दृष्टान्त स्वरूप-संख्याका निश्चय करनेके लिये नहीं हैं; तो फिर किसलिये हैं? रूपोंका प्रकार प्रदर्शित करनेके लिये हैं अर्थात् वासनाके रूप इस-इस प्रकारके हैं—यह दिखानेके लिये हैं। अन्तमें जो 'एक बार बिजलीके चमकनेके समान' वासनाका रूप दिखाया गया है, वह यह दिखानेके लिये है कि अव्याकृतसे प्रादुर्भूत होते हुए हिरण्यगर्भकी बिजलीके समान एक बार ही अभिव्यक्ति होती है। अतः जो उस हिरण्यगर्भकी वासनाके रूपको जानता है, उसकी सकृद्विद्युत्ता-सी होती है। यहाँ 'ह' और 'वै'—ये दोनों निपात निश्चयार्थक हैं। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जो वासनाके इस अन्तिम रूपको जानता है, उसकी इसी प्रकार श्री यानी ख्याति होती है, जैसी कि हिरण्यगर्भकी।

परमात्मस्वरूप-निर्देशः

एवं निरवशेषं सत्यस्य स्वरूपमभिधाय, यत्तत्सत्यस्य सत्यमवोचाम तस्यैव स्वरूपावधारणार्थं ब्रह्मण इदमारभ्यते — अथानन्तरं सत्यस्वरूपनिर्देशानन्तरम्, यत्सत्यस्य सत्यं तदेवावशिष्यते यस्मादतस्तस्मात्सत्यस्य सत्यं स्वरूपं निर्देक्ष्यामः। आदेशो निर्देशो ब्रह्मणः। कः पुनरसौ निर्देशः? इत्युच्यते- नेति नेतीत्येवं निर्देशः।

ननु कथमाभ्यां 'नेति नेति' इति शब्दाभ्यां सत्यस्य सत्यं निर्दिदिक्षितम् इत्युच्यते— सर्वोपाधिविशेषापोहेन। यस्मिन्न कश्चिद्विशेषोऽस्ति—नाम वा रूपं वा कर्म वा भेदो वा जातिर्वा गुणो वा; तद्द्वारेण हि शब्दप्रवृत्तिर्भवति। न चैषां कश्चिद् विशेषो ब्रह्मण्यस्ति; अतो न निर्देष्टुं शक्यते-इदं तदिति गौरसौ स्पन्दते शुक्लो विषाणीति

इस प्रकार सत्यके अशेष स्वरूपका निरूपण कर, जिसे हमने सत्यका सत्य कहा है, उसी ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय करनेके लिये यह आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—अथ—अनन्तर अर्थात् सत्यके स्वरूपका निरूपण करनेके पश्चात्, क्योंकि जो सत्यका सत्य है वही बच रहता है, अतः—इसलिये हम सत्यके सत्य स्वरूपका निर्देश करेंगे। आदेश अर्थात् ब्रह्मका निर्देश। किंतु वह 'निर्देश' क्या है? सो बताया जाता है—'नेति नेति' इस प्रकार किया हुआ निर्देश।

किंतु 'नेति नेति' इन दो शब्दोंद्वारा सत्यके सत्यका निरूपण किस प्रकार अभीष्ट है, सो बतलाया जाता है—समस्त उपाधिरूप विशेषके निषेधद्वारा [उसका निरूपण किया गया है] जिसमें कि नाम, रूप, कर्म, भेद, जाति अथवा गुणरूप कोई भी विशेषता नहीं है; क्योंकि शब्दकी प्रवृत्ति तो इन्हींके द्वारा होती है। किंतु ब्रह्ममें इनमेंसे कोई भी विशेषता नहीं है, इसलिये 'यह अमुक है' इस प्रकार उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार लोकमें 'यह बैल चेष्टा करता है, श्वेत है, सींगोंवाला है' ऐसा कहकर

यथा लोके निर्दिश्यते, तथा; अध्यारोपितनामरूपकर्मद्वारेण ब्रह्म निर्दिश्यते 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (३।९।२७-७) 'विज्ञानघन एव ब्रह्मात्मा' इत्येवमादिशब्दैः।

यदा पुनः स्वरूपमेव निर्दिदिक्षितं भवति; निरस्तसर्वोपाधिविशेषम्, तदा न शक्यते केनचिदपि प्रकारेण निर्देष्टुम्; तदा अयमेवाभ्युपायः—यदुत प्राप्तनिर्देशप्रतिषेधद्वारेण 'नेति नेति' इति निर्देशः।

इदं च नकारद्वयं वीप्साव्याप्त्यर्थम्, यद्यत्प्राप्तं तत्तन्निषिध्यते। तथा च सति अनिर्दिष्टाशङ्का ब्रह्मणः परिहृता भवति, अन्यथा हि नकारद्वयेन प्रकृतद्वयप्रतिषेधे, यदन्यत्प्रकृतात्प्रति-

वैलका निर्देश किया जाता है, उसी प्रकार उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। आरोपित नाम, रूप और कर्मके द्वारा 'ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है', 'विज्ञानघन ही ब्रह्मात्मा है' इत्यादि शब्दोंसे ब्रह्मका निरूपण किया जाता है।

किंतु जिस समय सम्पूर्ण उपाधिरूप विशेषसे रहित स्वरूपका ही निर्देश करना अभीष्ट होता है, तब तो उसका किसी भी प्रकारसे निर्देश नहीं किया जा सकता; तब तो यही एक उपाय रह जाता है कि प्राप्त निर्देशके प्रतिषेधद्वारा ही 'यह नहीं है, यह नहीं है' इस प्रकार उसका निरूपण किया जाय।

यहाँ 'नेति नेति' इन पदोंमें जो दो नकार हैं वे वीप्सा (द्विरुक्ति) द्वारा [समस्त विषयोंको] व्याप्त करनेके लिये हैं। अर्थात् जो कुछ भी विषयरूपसे प्राप्त होता है, इनके द्वारा उसका निषेध कर दिया जाता है। इससे ऐसी आशङ्काका भी परिहार हो जाता है कि [समस्त वस्तुओंका निषेध करनेके कारण इनके द्वारा] ब्रह्मका भी निर्देश नहीं हुआ। अन्यथा इन दो नकारोंके द्वारा जिन दो प्रकृत वस्तुओंका निषेध किया गया है, उन प्रकृत प्रतिषिद्ध दो पदार्थोंसे भिन्न जो

षिद्वद्वयाद् ब्रह्म तन्न निर्दिष्टम्, कीदृशं नु खलु—इत्याशङ्का न निवर्तिष्यते; तथा चानर्थकश्च स निर्देशः, पुरुषस्य विविदिषाया अविवर्तकत्वात्; 'ब्रह्म ज्ञपयिष्यामि' इति च वाक्यम् अपरिसमाप्तार्थं स्यात्।

ब्रह्म है, उसका निर्देश नहीं हुआ; 'वह कैसा है' इस आशङ्काकी निवृत्ति नहीं होगी; ऐसी स्थितिमें पुरुषकी जिज्ञासाका निवर्तक न होनेके कारण वह निर्देश भी निरर्थक होगा; और 'मैं तुझे ब्रह्मका ज्ञान कराऊँगा' इस वाक्यका प्रयोजन भी अपूर्ण रह जायगा।

यदा तु सर्वदिक्कालादिविविदिषा निवर्तिता स्यात् सर्वोपाधिनिराकरणद्वारेण तदा सैन्धवघनवदेकरसं प्रज्ञानघनमनन्तरमबाह्यं सत्यस्य सत्यमहं ब्रह्मास्मीति सर्वतो निवर्तते विविदिषा, आत्मन्येवावस्थिता प्रज्ञा भवति। तस्माद्वीप्सार्थं नेति नेतीति नकारद्वयम्।

किंतु जिस समय सम्पूर्ण दिशा और कालादिसम्बन्धिनी जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है, उस समय समस्त उपाधियोंके निराकरणद्वारा 'मैं लवणखण्डके समान एक रस, प्रज्ञानघन, अन्तरबाह्यशून्य और सत्यका सत्यरूप ब्रह्म हूँ' ऐसा बोध होता है। अतः सब प्रकारसे जिज्ञासाकी निवृत्ति हो जाती है और आत्मामें ही बुद्धि निश्चल हो जाती है; इसलिये 'नेति नेति' ये दो नकार वीप्साके लिये ही हैं।

ननु महता यत्नेन परिकरबन्धं कृत्वा किं युक्तमेवं निर्देष्टुं ब्रह्म?

पूर्व०—तो क्या बड़े प्रयत्नसे कमर कसकर ब्रह्मका इस प्रकार निरूपण करना उचित है?

बाढम्;

सिद्धान्ती—हाँ।

कस्मात्?

पूर्व०—कैसे?

न हि—यस्मात्, 'इति न, इति

सिद्धान्ती—'न हि'—क्योंकि 'न' पदसे अर्थात् 'इति न, इति न' इस

न' इत्येतस्मात्—इतीति व्याप्तव्य-प्रकारा नकारद्वयविषया निर्दिश्यन्ते, यथा ग्रामो ग्रामो रमणीय इति, अन्यत्परं निर्देशनं नास्ति; तस्मादयमेव निर्देशो ब्रह्मणः।

यदुक्तम्—'तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यम्' इति एवं प्रकारेण सत्यस्य सत्यं तत्परं ब्रह्म; अतो युक्तमुक्तं नामधेयं ब्रह्मणः नामैव नामधेयम्; किं तत्? सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति ॥ ६ ॥

आदेशके 'इति' शब्दसे व्याप्तव्य नकारद्वयसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त विषयोंके प्रकारोंका निर्देश किया गया है, जिस प्रकार कि 'गाँव-गाँव सुन्दर है' इस वीप्सा-द्वारा सभी गाँव अभिप्रेत हैं, इससे उत्कृष्ट कोई और निर्देश नहीं है, इसलिये यही ब्रह्मका निर्देश है।

और ऐसा जो कहा कि 'सत्यका सत्य' यह उसकी उपनिषद् है, सो इस प्रकारसे वह परब्रह्म सत्यका सत्य है। अतः यह ब्रह्मका उचित ही नामधेय बतलाया गया है। नामहीको नामधेय कहा जाता है। वह क्या है?—सत्यका सत्य है—प्राण ही सत्य है और यह उनका भी सत्य है ॥ ६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये
तृतीयं मूर्तामूर्तब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

उपक्रमः

आत्मेत्येवोपासीत; तदेव तस्मिन्सर्वस्मिन्पदनीयमात्मतत्त्वम्, यस्मात्प्रेयः पुत्रादेः—इत्युपन्यस्तस्य

'आत्मा है' इस प्रकार ही उपासना करे; वह आत्मतत्त्व ही इन सबमें प्राप्तव्य है; क्योंकि वह पुत्रादि-से भी बढ़कर प्रिय है, इस प्रकार जिसका उपन्यास किया गया है, उस

वाक्यस्य व्याख्यानविषये सम्बन्धप्रयोजने अभिहिते—'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (१ । ४ । १०) इति; एवं प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्याया विषय इत्येतदुपन्यस्तम्।

अविद्यायाश्च विषयः—'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (१।४।१०) इत्यारभ्य चातुर्वर्ण्यप्रविभागादिनिमित्तपाङ्क्तकर्मसाध्यसाधनलक्षणो बीजाङ्कुरवद्व्याकृताव्याकृतस्वभावो नामरूपकर्मात्मकः संसारः 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (१ । ६ । १) इत्युपसंहृतः। शास्त्रीय उत्कर्षलक्षणो ब्रह्मलोकान्तोऽधोभावश्च स्थावरान्तोऽशास्त्रीयः पूर्वमेव प्रदर्शितः—'द्वया ह' (१ । ३ । १) इत्यादिना। एतस्मादविद्याविषयाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयब्रह्मविद्यायामधिकारः कथं नाम स्यादिति—तृतीयेऽध्याये उपसंहृतः समस्तोऽविद्याविषयः।

वाक्यके व्याख्यानविषयक सम्बन्ध और प्रयोजनका 'उसने आत्माको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, इसलिये वह सर्वरूप हो गया' इस वाक्यमें वर्णन किया है। इस प्रकार यह बात दिखायी गयी है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्याका विषय है।

इसी प्रकार जो चातुर्वर्ण्यादि विभागके निमित्तभूत पाङ्क्तकर्मरूप साध्यसाधनवाला और बीजाङ्कुरके समान व्यक्ताव्यक्तरूप है, उस अविद्याके विषयभूत नाम रूप-कर्ममय संसारका 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है वह नहीं जानता' यहाँसे आरम्भ करके 'यह नाम, रूप और कर्म त्रयरूप है' इस प्रकार उपसंहार किया है। इसके सिवा ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्कर्षरूप शास्त्रीय भाव और स्थावरपर्यन्त अशास्त्रीय अधोभावका भी 'देव और असुर ये दो प्राजापत्य थे' इस वाक्यद्वारा पहले ही प्रदर्शन कराया गया है। इस अविद्याके विषयसे विरक्त हुए पुरुषका किसी प्रकार प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मविद्यामें अधिकार हो जाय—इसलिये तृतीय [अर्थात् उपनिषद्के पहले] अध्यायमें ही अविद्यासम्बन्धी समस्त विषयका उपसंहार कर दिया गया है।

चतुर्थे तु ब्रह्मविद्याविषयं प्रत्यगात्मानम् 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (२ । १ । १) इति 'ब्रह्म ज्ञपयिष्यामि' (२ । १ । १५) इति च प्रस्तुत्य, तद्ब्रह्मैकमद्वयं सर्वविशेषशून्यं क्रियाकारकफलस्वभावसत्यशब्दवाच्याशेषभूतधर्मप्रतिषेधद्वारेण 'नेति नेति' इति ज्ञापितम् ।

चतुर्थ अध्यायमें तो 'मैं तेरे प्रति ब्रह्मका उपदेश करूँगा' तथा 'मैं तुझे ब्रह्मज्ञान कराऊँगा' इस प्रकार ब्रह्मविद्याके विषयभूत प्रत्यगात्माका आरम्भ कर क्रिया, कारक, फल, स्वभाव और सत्य इन शब्दोंके वाच्य समस्त जीवधर्मोंके प्रतिषेधद्वारा 'नेति-नेति' इस वाक्यसे उस अशेषविशेषशून्य एक अद्वयब्रह्मका ज्ञान कराया गया है ।

संन्यासस्य ब्रह्मविद्याङ्गत्वम्

अस्य ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वेन संन्यासो विधित्सितः, जायापुत्रवित्तादिलक्षणं पाङ्क्तं कर्माविद्याविषयं यस्मान्नात्मप्राप्तिसाधनम्; अन्यसाधनं ह्यन्यस्मै फलसाधनाय प्रयुज्यमानं प्रतिकूलं भवति । न हि बुभुक्षापिपासानिवृत्त्यर्थं धावनं गमनं वा साधनम्; मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाधनत्वेन हि पुत्रादिसाधनानि श्रुतानि, नात्मप्राप्तिसाधनत्वेन ।

अब इस ब्रह्मविद्याके अङ्गरूपसे संन्यासका विधान करना है; क्योंकि स्त्री, पुत्र एवं धनादिरूप पाङ्क्तकर्म अविद्याका विषय है, वह आत्मप्राप्तिका साधन नहीं है । किसी अन्य फलकी प्राप्तिके लिये अन्य साधनका प्रयोग करना प्रतिकूल ही होता है । भूख या प्यासकी निवृत्तिके लिये दौड़ना या चलना साधन नहीं हो सकता । पुत्रादि साधन तो मनुष्यलोक, पितृलोक अथवा देवलोककी प्राप्तिके ही साधनरूपसे सुने गये हैं, आत्मप्राप्तिके साधनरूपसे नहीं सुने गये ।।

विशेषितत्वाच्च; न च ब्रह्मविदो विहितानि, काम्यत्वश्रवणात्—'एतावान्वै कामः' इति ।

['काम' शब्दसे] विशेषित होनेके कारण भी ये ब्रह्मविद्याके साधन नहीं हैं; 'इतना ही काम है' इस प्रकार कर्मोंका काम्यत्व सुना

ब्रह्मविदश्चाप्तकामत्वादाप्तकामस्य कामानुपपत्तेः । "येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (४।४।२२) इति च श्रुतेः ।

जानेके कारण विहित कर्म ब्रह्मवेत्ताके लिये नहीं हैं; क्योंकि ब्रह्मवेत्ता आप्तकाम होता है और आप्तकामको कोई कामना होनी सम्भव नहीं है। इसके सिवा "जिन हमारे लिये यह आत्मलोक ही इष्ट है" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है।

मतान्तर-निरासः

केचित्तु ब्रह्मविदोऽप्येषणासम्बन्धं वर्णयन्ति तैर्बृहदारण्यकं न श्रुतम्; पुत्राद्येषणानामविद्वद्विषयत्वम्; विद्याविषये च—"येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (४।४।२२) इत्यतः "किं प्रजया करिष्यामः" (४।४।२२) इत्येष विभागस्तैर्न श्रुतः श्रुत्या कृतः; सर्वक्रियाकारकफलोपमर्दस्वरूपायां च विद्यायां सत्याम्, सह कार्येणाविद्याया अनुपपत्तिलक्षणश्च विरोधस्तैर्न विज्ञातः ।

कोई-कोई तो ब्रह्मवेत्ताका भी एषणाओंसे सम्बन्ध बतलाने लगते हैं, उन्होंने बृहदारण्यक नहीं सुना। पुत्रादि एषणाओंका सम्बन्ध तो अविद्वान्‌से ही होता है; विद्याके विषयमें उन्होंने श्रुतिका किया हुआ यह विभाग नहीं सुना कि "जिन हमको यह आत्मलोक ही इष्ट है" इसलिये "हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे" इत्यादि। तथा उन्हें इस विरोधका भी पता नहीं है कि समस्त क्रिया, कारक और फलकी निषेधरूपा विद्याके होनेपर अपने कार्यके सहित अविद्या नहीं रह सकती।

व्यासवाक्यं च तैर्न श्रुतम्; कर्मविद्यास्वरूपयोर्विद्याविद्यात्मकयोः प्रतिकूलवर्तनं विरोधः; "यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।

तथा उन्होंने व्यासजीका वचन भी नहीं सुना; कर्मका स्वरूप अज्ञानमय और विद्याका स्वरूप ज्ञानमय है, उनमें एक दूसरेके विपरीत होना रूप विरोध है; जैसा कि "वेदके जो ऐसे वचन हैं कि 'कर्म करो' और 'कर्मका त्याग करो' सो

कां गतिं विद्यया यान्ति
कां च गच्छन्ति कर्मणा ।
एतद्वै श्रोतुमिच्छामि
तद्भवान्प्रब्रवीतु मे ।
एतावन्योन्यवैरूप्ये
वर्तेते प्रतिकूलतः ॥"
इत्येवं पृष्टस्य प्रतिवचनेन—
"कर्मणा बध्यते जन्तु-
र्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
यतयः पारदर्शिनः ॥"
इत्येवमादिविरोधः प्रदर्शितः ।

पुरुष ज्ञानके द्वारा किस गतिको प्राप्त होते हैं और कर्मसे किसे प्राप्त करते हैं? इसे मैं सुनना चाहता हूँ, आप मुझे यह बताइये; क्योंकि कर्म और ज्ञान तो एक दूसरेसे विरुद्ध स्वभाववाले और प्रतिकूलतया विद्यमान हैं" इस तरह पूछे हुए प्रश्नका उत्तर देते हुए-"जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है; इसलिये पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते" इस प्रकार कर्म तथा ज्ञानमें विरोध दिखाया गया है।

तस्मान्न साधनान्तरसहिता ब्रह्मविद्या पुरुषार्थसाधनम्, सर्वविरोधात्, साधननिरपेक्षैव पुरुषार्थसाधनमिति पारिव्राज्यं सर्वसाधनसंन्यासलक्षणमङ्गत्वेन विधित्स्यते ।

इसलिये ब्रह्मविद्या किसी अन्य साधनके साथ मिलकर पुरुषार्थका साधन नहीं होती, अपितु सबसे विरोध रहनेके कारण यह तो समस्त साधनोंसे निरपेक्ष रहकर ही पुरुषार्थका साधन होती है; अतः समस्त साधनोंके त्यागरूप संन्यासका इसके अङ्गरूपसे विधान करना अभीष्ट है।

एतावदेव अमृतत्वसाधनम् इत्यवधारणात्, षष्ठसमाप्तौ, लिङ्गाच्च—कर्मी सन्याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजेति । मैत्रेय्यै च कर्मसाधनरहितायै साधनत्वे-

'इतना ही अमृतत्वका साधन है' ऐसा निश्चय किये जानेसे, याज्ञवल्क्यने कर्मी होते हुए भी संन्यास लिया-ऐसा छठे अध्यायके अन्तमें लिङ्ग होनेसे तथा कर्मरूप साधनसे रहित मैत्रेयीके प्रति अमृतत्वके

नामृतत्वस्य ब्रह्मविद्योपदेशाद् वित्तनिन्दावचनाच्च। यदि ह्यमृतत्वसाधनं कर्म स्याद् वित्तसाध्यं पाङ्क्तं कर्म, इति तन्निन्दावचनमनिष्टं स्यात्। यदि तु परितित्याजयिषितं कर्म, ततो युक्ता तत्साधननिन्दा।

कर्माधिकारनिमित्तवर्णाश्रमादिप्रत्ययोपमर्दाच्च—"ब्रह्म तं परादात्" (२।४।६) "क्षत्रं तं परादात्" (२।४।६) इत्यादेः। न हि ब्रह्मक्षत्राद्यात्मप्रत्ययोपमर्दे, ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यं क्षत्रियेणेदं कर्तव्यमिति विषयाभावादात्मानं लभते विधिः। यस्यैव पुरुषस्योपमर्दितः प्रत्ययो ब्रह्मक्षत्राद्यात्मविषयः, तस्य तत्प्रत्ययसंन्यासात् तत्कार्याणां कर्मणां कर्मसाधनानां च अर्थप्राप्तश्च संन्यासः। तस्मा-

साधन रूपसे ब्रह्मविद्याका उपदेश किये जाने एवं धनकी निन्दा की जानेसे भी यही सिद्ध होता है। यदि कर्म अमृतत्वका साधन होता तो पाङ्क्तकर्म तो धनसे ही निष्पन्न होनेवाला है, अतः धनकी निन्दाका वचन इष्ट नहीं होता। कर्मके साधनभूत धनकी निन्दा तो तभी उचित होगी जब कि कर्मका त्याग कराना अभीष्ट होगा।

इसके सिवा "ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है" "क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है" इत्यादि वाक्यसे कर्माधिकारके निमित्तभूत वर्णाश्रमादि प्रत्ययकी निवृत्ति हो जानेसे भी [यही सिद्ध होता है]। ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वादि प्रत्ययका निरास हो जानेपर 'ब्राह्मणको यह करना चाहिये' 'क्षत्रियको यह करना चाहिये' इत्यादि विधिका कोई विषय न रहनेके कारण कोई स्वरूप नहीं रहता। जिस पुरुषका भी यह ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वरूप प्रत्यय निवृत्त हो गया है, उसे तत्सम्बन्धी प्रत्यय न रहनेके कारण स्वतः ही उसके कार्यभूत कर्म और कर्मके साधनोंका संन्यास प्राप्त हो जाता है। अतः आत्मज्ञान

दात्मज्ञानाङ्गत्वेन संन्यासविधित्सयैव आख्यायिकेयमारभ्यते—

के अङ्गरूपसे संन्यासका विधान करनेकी इच्छासे ही यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है—

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ १ ॥

'अरी मैत्रेयी !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। 'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम) से ऊपर (संन्यास-आश्रममें) जानेवाला हूँ। अतः [तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ' ॥ १ ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः—मैत्रेयीं स्वभार्यामामन्त्रितवान्याज्ञवल्क्यो नाम ऋषिः; उद्यास्यन्नूर्ध्वं यास्यन्पारिव्राज्याख्यमाश्रमान्तरं वै। अरे इति सम्बोधनम्। अहम्, अस्माद्गार्हस्थ्यात्, स्थानादाश्रमात्, ऊर्ध्वं गन्तुमिच्छन्नस्मि भवामि; अतो हन्तानुमतिं प्रार्थयामि ते तव; किञ्चान्यत्ते तवानया द्वितीयया भार्यया कात्यायन्यान्तं विच्छेदं करवाणि; पतिद्वारेण युवयोर्मया सम्बध्यमानयोर्यः सम्बन्ध आसीत्, तस्य सम्बन्धस्य

'अरी मैत्रेयी !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा—अर्थात् याज्ञवल्क्यनामक ऋषिने अपनी भार्या मैत्रेयीको पुकारा; 'अरे' यह सम्बोधन है। मैं उद्यास्यन्—यहाँसे ऊपर पारिव्राज्यसंज्ञक आश्रमान्तरमें जानेवाला हूँ अर्थात् इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर दूसरे आश्रममें जानेके लिये इच्छुक हूँ। इसलिये हन्त—तेरी अनुमति चाहता हूँ। और इसके सिवा [यह भी इच्छा है कि] इस अपनी दूसरी भार्या कात्यायनीके साथ तेरा अन्त यानी विच्छेद (बँटवारा) भी कर दूँ। पतिके द्वारा मुझसे सम्बद्ध हुई तुम दोनोंका आपसमें जो सम्बन्ध था, अब द्रव्यविभाग करके उस सम्बन्धका विच्छेद

विच्छेदं करवाणि द्रव्यविभागं कृत्वा; वित्तेन संविभज्य युवां गमिष्यामि ॥ १ ॥

कर दूँगा; अर्थात् धनके द्वारा तुम दोनोका वँटवारा करके मैं चला जाऊँगा ॥ १ ॥

सा होवाच मैत्रेयी । यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितश्स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥२॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'भगवन् ! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ ?' याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा । धनसे अमृतत्वकी तो आशा है नहीं ॥ २ ॥

सा एवमुक्ता होवाच— यद्यदि 'नु' इति वितर्के मे मम इयं पृथिवी, भगोः— भगवन्, सर्वा सागरपरिक्षिप्ता वित्तेन धनेन पूर्णा स्यात्; कथम् ? न कथञ्चनेत्याक्षेपार्थः, प्रश्नार्थो वा, तेन पृथिवीपूर्णवित्तसाध्येन कर्मणाग्निहोत्रादिना

इस प्रकार कही जानेपर मैत्रेयीने कहा—यहाँ 'नु' यह निपात वितर्कके लिये है। [क्या कहा ? सो बताते हैं—] भगवन् ! यदि यह समुद्रसे घिरी हुई तथा वित्त यानी धनसे पूर्ण सारी पृथिवी मेरी हो जाय, तो भी मैं किसी प्रकार [अमर हो सकती हूँ ?] अर्थात् किसी भी प्रकार अमर नहीं हो सकती—इस प्रकार 'कथम्' शब्द आक्षेपके अर्थमें है अथवा यह प्रश्नार्थक भी हो सकता है, अर्थात् पृथिवीभरमें भरे हुए उस धनसे सम्पन्न होनेवाले

अमृता किं स्यामिति व्यवहितेन सम्बन्धः ।

प्रत्युवाच याज्ञवल्क्यः—कथमिति यद्याक्षेपार्थम्, अनुमोदनं नेति होवाच याज्ञवल्क्य इति; प्रश्नश्चेत्प्रतिवचनार्थम्; नैव स्या अमृता, किं तर्हि ? यथैव लोके उपकरणवतां साधनवतां जीवितं सुखोपायभोगसम्पन्नम्; तथैव तद्वदेव तव जीवितं स्यात्; अमृतत्वस्य तु नाशा मनसाप्यस्ति वित्तेन वित्तसाध्येन कर्मणेति ॥ २ ॥

अग्निहोत्रादि कर्मसे क्या मैं अमर हो सकती हूँ-इस प्रकार इसका व्यवहित पदोंसे सम्बन्ध है ।

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया-'नहीं ।' यदि 'कथम्' पदको आक्षेपार्थक माना जाय तो याज्ञवल्क्यने 'नहीं' ऐसा कहकर उसका अनुमोदन किया है; और यदि उसे प्रश्नार्थक माना जाय-तो यह उत्तरके लिये है, अर्थात् तू उससे अमर नहीं हो सकती; तो क्या होगा ? लोकमें जैसा उपकरणवानोंका यानी नाना सामग्रियोंसे सम्पन्न लोगोंका जीवन सुखके साधनभूत भोगोंसे सम्पन्न होता है, वैसा ही तेरा जीवन भी हो जायगा; धनसे अर्थात् धनसाध्य कर्मसे अमृतत्वकी तो मनसे भी आशा नहीं है ॥ २ ॥

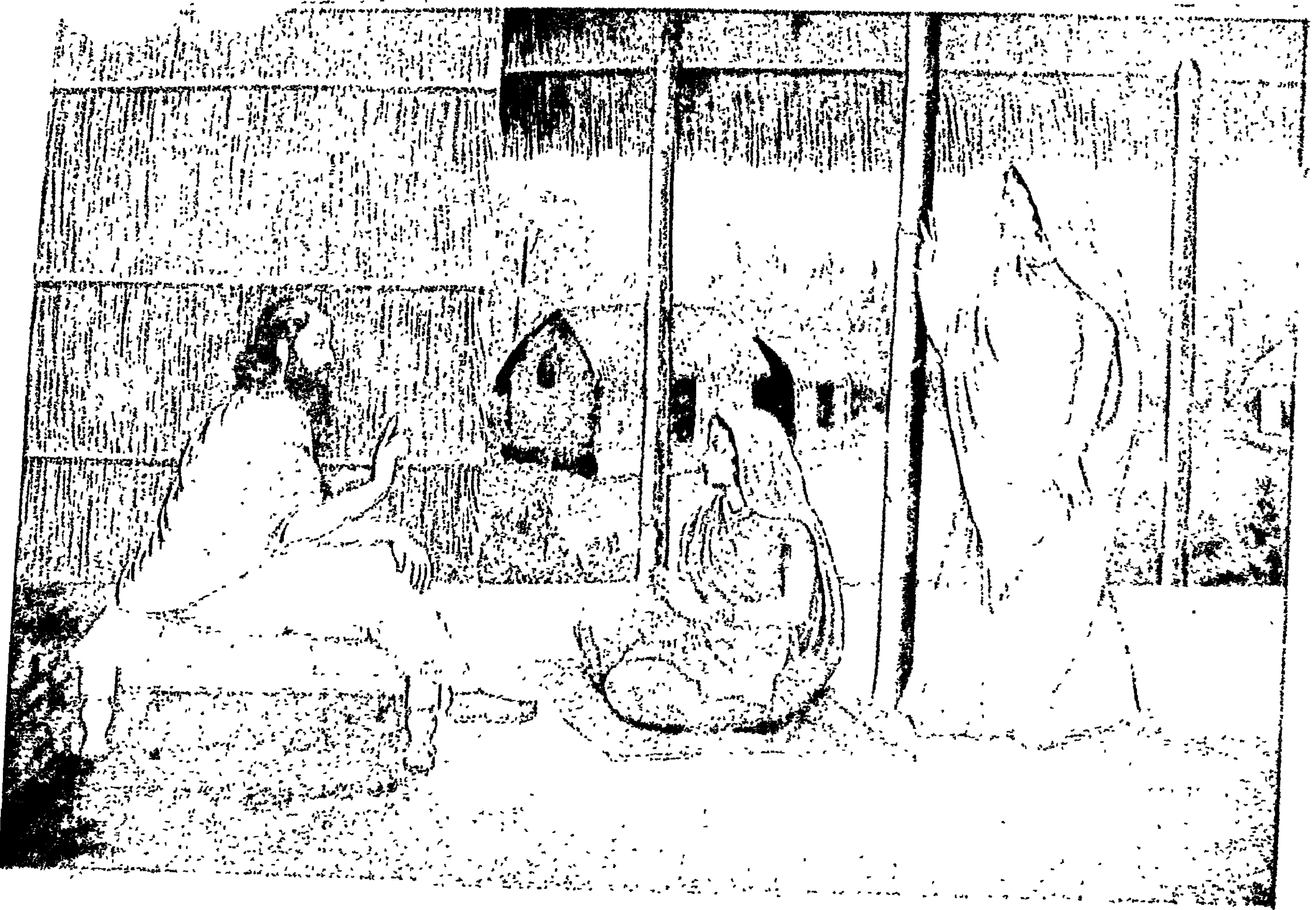
मैत्रेयीका अमृतत्वसाधनविषयक प्रश्न

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें ॥ ३ ॥

सा होवाच मैत्रेयी; एवमुक्ता प्रत्युवाच मैत्रेयी—यद्येवं येनाहं

उस मैत्रेयीने कहा; इस प्रकार कहे जानेपर मैत्रेयीने उत्तर दिया-यदि ऐसी बात है तो जिससे मैं



मैत्रेयीको उपदेश

नामृता स्याम्, किमहं तेन वित्तेन कुर्याम्? यदेव भगवान्केवलममृतत्वसाधनं वेद, तदेवामृतत्वसाधनं मे मह्यं ब्रूहि ॥ ३ ॥

अमृत नहीं हो सकती, उस धनसे मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ केवल अमृतत्वका साधन जानते हों, उस अमृतत्वके साधनका ही मुझे उपदेश करें ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्यजीका आश्वासन

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

उन याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'धन्य! अरी मैत्रेयी, तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी प्रिय लगनेवाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा, मैं तेरे प्रति उसकी व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्योंके अर्थका चिन्तन करना' ॥ ४ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः। एवं वित्तसाध्येऽमृतत्वसाधने प्रत्याख्याते, याज्ञवल्क्यः स्वाभिप्रायसम्पत्तौ तुष्ट आह; स होवाच—प्रियेष्टा, बतेत्यनुकम्प्याह, अरे मैत्रेयि नोऽस्माकं पूर्वमपि प्रिया सती भवन्ती इदानीं प्रियमेव चित्तानुकूलं भाषसे; अत एह्यास्स्वोपविश व्याख्यास्यामि—यत्तव इष्टम् अमृतत्वसाधनम् आत्मज्ञानं कथयिष्यामि। व्याचक्षाण-

उन याज्ञवल्क्यजीने कहा। इस प्रकार धनसे निष्पन्न होनेवाले अमृतत्वके साधनका त्याग कर दिये जानेपर याज्ञवल्क्यने अपने अभिप्रायकी पूर्तिसे संतुष्ट होकर कहा। वे बोले—बत अर्थात् उन्होंने अनुकम्पा करते हुए कहा—अरी मैत्रेयी! तू हमारी प्रिया—इष्टा है अर्थात् पहलेहीसे हमारी प्रिया होकर इस समय भी तू प्रिय यानी अनुकूल ही भाषण कर रही है; इसलिये आ, बैठ जा, मैं तेरे अभीष्ट अमृतत्वके साधनभूत आत्मज्ञानकी व्याख्या अर्थात् उपदेश

स्य तु मे मम व्याख्यानं कुर्वतो निदिध्यासस्व वाक्यान्यर्थतो निश्चयेन ध्यातुमिच्छेति ॥४॥	करूँगा। मेरे व्याख्यान करनेपर तू उसका निदिध्यासन करना, अर्थात् मेरे वाक्योंका अर्थतः निश्चय करके ध्यान करनेकी इच्छा करना ॥ ४ ॥

प्रियतम आत्माके लिये ही अन्य वस्तुएँ प्रिय होती हैं

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु



कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥ ५॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है, ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवताओंके प्रयोजनके लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देवता प्रिय होते हैं; प्राणियोंके प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय होते हैं; तथा सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं, अरी मैत्रेयि! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयि! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है॥ ५॥

स होवाच—अमृतत्वसाधनं वैराग्यमुपदिदिक्षुर्जायापतिपुत्रादिभ्यो विरागमुत्पादयति तत्संन्यासाय। न वै—वैशब्दः प्रसिद्धस्मरणार्थः; प्रसिद्धमेवैतल्लोके;

अमृतत्वके साधन वैराग्यका उपदेश करनेकी इच्छासे याज्ञवल्क्यजी स्त्री, पति एवं पुत्रादिसे, उनका त्याग करनेके लिये, वैराग्य उत्पन्न कराते हैं। उन्होंने कहा—'न वै'—यहाँ 'वै' शब्द प्रसिद्ध वस्तुकी याद दिलानेके लिये है अर्थात् लोकमें यह प्रसिद्ध ही है

पत्युर्भर्तुः कामाय प्रयोजनाय जायायाः पतिः प्रियो न भवति, किं तर्ह्यात्मनस्तु कामाय प्रयोजनायैव भार्यायाः पतिः प्रियो भवति। तथा न वा अरे जायाया इत्यादि समानमन्यत्, न वा अरे पुत्राणाम्, न वा अरे वित्तस्य, न वा अरे ब्रह्मणः, न वा अरे क्षत्रस्य, न वा अरे लोकानाम्, न वा अरे देवानाम्, न वा अरे भूतानाम्, न वा अरे सर्वस्य, पूर्वं पूर्वं यथासन्ने प्रीतिसाधने वचनम्; तत्र तत्रेष्टतरत्वाद्वैराग्यस्य; सर्वग्रहणमुक्तानुक्तार्थम्।

तस्माल्लोकप्रसिद्धमेतद्—आत्मैव प्रियः, नान्यत्। 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्' इत्युपन्यस्तम्, तस्यैतद् वृत्तिस्थानीयं प्रपञ्चितम्। तस्मादात्मप्रीतिसाधनत्वाद्गौणी अन्यत्र प्रीतिः, आत्मन्येव मुख्या। तस्मा-

कि पति यानी भर्ताके प्रयोजनसे स्त्रीको पति प्रिय नहीं होता। तो फिर क्या बात है? अपने लिये अर्थात् अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्रीको पति प्रिय होता है। इसी प्रकार 'न वा अरे जायायै' इत्यादि शेष वाक्यका अर्थ भी इसीके समान समझना चाहिये। अर्थात् हे मैत्रेयि! न पुत्रोंके, न धनके, न ब्राह्मणके, न क्षत्रियके, न लोकके, न देवोंके, न भूतोंके और न अन्य सभीके प्रयोजनके लिये वे प्रिय होते। यहाँ जो-जो प्रीतिके समीपतर साधन हैं, उनका पहले-पहले वर्णन किया है; क्योंकि उन-उनमें ही वैराग्य अधिकाधिक अभीष्ट है 'सर्व' शब्दका ग्रहण कहे और न कहे हुए सभी साधनोंको सूचित करनेके लिये है। अतः यह लोकमें प्रसिद्ध है कि आत्मा ही प्रिय है, अन्य कुछ नहीं। इसका 'तदेतत्प्रेयः[1] पुत्रात्' इस वाक्यसे उल्लेख किया है, उसी वाक्यका यह व्याख्यारूप वचन कहा है। अतः, आत्माकी प्रीतिका साधन होनेके कारण, जो अन्यत्र प्रीति है वह गौणी है, आत्मामें ही मुख्य प्रीति है। अतः हे मैत्रेयि! आत्मा

---

१. वह यह आत्मा पुत्रसे प्रिय है।

दात्मा वै अरे द्रष्टव्यो दर्शनार्हः, दर्शनविषयमापादयितव्यः; श्रोतव्यः पूर्वमाचार्यत आगमतश्च; पश्चान्मन्तव्यस्तर्कतः; ततो निदिध्यासितव्यो निश्चयेन ध्यातव्यः; एवं ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितैः। यदैकत्वमेतान्युपगतानि,तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं प्रसीदति,नान्यथा श्रवणमात्रेण।

यद्ब्रह्मक्षत्रादि कर्मनिमित्तं वर्णाश्रमादिलक्षणम् आत्मन्यविद्याध्यारोपितप्रत्ययविषयं क्रियाकारकफलात्मकमविद्याप्रत्ययविषयम्—रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः, तदुपमर्दनार्थम् आह—आत्मनि खल्वरे मैत्रेयि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितं विज्ञातं भवति॥ ५॥

ही द्रष्टव्य—दर्शन करने योग्य अर्थात् साक्षात्कारका विषय करने योग्य है, तथा पहले आचार्य और शास्त्रद्वारा श्रवण करनेयोग्य एवं पीछे तर्कद्वारा मनन करने योग्य है, इसके पश्चात् वह निदिध्यासितव्य अर्थात् निश्चयसे ध्यान करने योग्य है। क्योंकि इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनरूप साधनोंके सम्पन्न होनेपर ही इसका साक्षात्कार होता है। जिस समय इन सब साधनोंकी एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्वविषयक सम्यक्-दर्शनका प्रसाद होता है। अन्यथा केवल श्रवणमात्रसे उसकी स्फुटता नहीं होती।

आत्मामें अविद्यासे आरोपित प्रतीतिका विषयभूत जो ब्राह्मण और क्षत्रियादि वर्णाश्रमादिरूप कर्मका निमित्त है, वह क्रिया, कारक और फलरूप तथा रज्जुमें आरोपित सर्पप्रतीतिके समान अविद्याजनित प्रतीतिका विषय है। उसकी निवृत्तिके लिये श्रुति कहती है—हे मैत्रेयि! आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान होनेपर निश्चय ही यह सब विदित अर्थात् ज्ञात हो जाता है॥ ५॥

आत्मा सबसे अभिन्न है, इसका प्रतिपादन

ननु कथमन्यस्मिन्विदितेऽन्यद्विदितं भवति ?

नैष दोषः; न हि आत्मव्यतिरेकेणान्यत्किञ्चिदस्ति; यद्यस्ति न तद्विदितं स्यात्; न त्वन्यदस्ति; आत्मैव तु सर्वम्; तस्मात्सर्वमात्मनि विदिते विदितं स्यात्। कथं पुनरात्मैव सर्वमित्येतच्छ्रावयति—

शङ्का—किंतु अन्यका ज्ञान होनेपर उससे भिन्न वस्तुका ज्ञान कैसे हो जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं हैं; क्योंकि आत्माको छोड़कर और कोई भी वस्तु नहीं है; यदि होती तो [आत्मज्ञानसे ही] उसका ज्ञान भी न होता; किंतु अन्य वस्तु तो है ही नहीं, आत्मा ही तो सब कुछ है; अतः आत्माका ज्ञान होनेपर सभीका ज्ञान हो जाता है। किंतु आत्मा ही सब कुछ किस प्रकार है, सो श्रुति बतलाती है।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं जो लोकोंको आत्मासे भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं जो देवताओंको आत्मासे भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं जो भूतोंको आत्मासे भिन्न देखता

है। सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मासे भिन्न देखता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है ॥ ६ ॥

ब्रह्म ब्राह्मणजातिस्तं पुरुषं परादात्पराद्ध्यात्पराकुर्यात्; कम्? योऽन्यत्रात्मन आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण—आत्मैव न भवतीयं ब्राह्मणजातिरिति—तां यो वेद, तं पराद्ध्यात्सा ब्राह्मणजातिरनात्मस्वरूपेण मां पश्यतीति; परमात्मा हि सर्वेषामात्मा।

ब्रह्म—ब्राह्मणजाति उस पुरुषको परादात्—पराहित—पराकृत यानी परास्त कर देती है; किसे? जो आत्मासे भिन्न—आत्मस्वरूपको छोड़कर अर्थात् यह ब्राह्मणजाति आत्मा ही नहीं है, इस प्रकार जो उसे जानता है, उसे वह ब्राह्मणजाति यह सोचकर कि यह मुझे अनात्मारूपसे देखता है, परास्त कर देती है; क्योंकि परमात्मा ही सबका आत्मा है।

तथा क्षत्रं क्षत्रियजातिः, तथा लोकाः, देवाः, भूतानि, सर्वम्। इदं ब्रह्मेति—यान्यनुक्रान्तानि तानि सर्वाणि, आत्मैव, यदयमात्मा—योऽयमात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्य इति प्रकृतः; यस्मादात्मनो जायत आत्मन्येव लीयत आत्ममयं च स्थितिकाले, आत्मव्यतिरेकेणाग्रहणात्, आत्मैव सर्वम् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार क्षत्र—क्षत्रियजाति तथा लोक, देव, भूत और सर्व, जिनका 'इदं ब्रह्म इदं क्षत्रम्' इत्यादिरूपसे अनुक्रम है, वे सब आत्मामें ही हैं। जो यह आत्मा कि द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः इत्यादिरूपसे प्रकरणप्राप्त है; क्योंकि सब कुछ आत्मासे ही उत्पन्न होता है, आत्मामें ही लीन होता है तथा स्थितिकालमें भी आत्मस्वरूप ही है। आत्माको छोड़कर उपलब्ध न होनेके कारण सब कुछ आत्मा ही है ॥ ६ ॥

सबकी आत्मस्वरूपताके ग्रहणमें दुन्दुभि, शङ्ख और वीणाका दृष्टान्त

कथं पुनरिदानीमिदं सर्वमा-

प्रश्न—किंतु इस समय (स्थितिकालमें) 'यह सब आत्मा ही है'

त्मैवेति ग्रहीतुं शक्यते ?

चिन्मात्रानुगमात्सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति गम्यते । तत्र दृष्टान्त उच्यते—यत्स्वरूपव्यतिरेकेणाग्रहणं यस्य, तस्य तदात्मत्वमेव लोके दृष्टम् ।

ऐसा किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है?

उत्तर—सर्वत्र चिन्मात्रकी अनुवृत्ति होनेके कारण सबकी चित्स्वरूपता ही है—ऐसा जाना जाता है। इस विषयमें दृष्टान्त बताया जाता है—जिसका जिसके स्वरूपसे अलग ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह तद्रूप ही होता है—ऐसा लोकमें देखा गया है।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

वह दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार ताडन किये जाते हुए दुन्दुभि (नक्कारे) के बाह्य शब्दोंको कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किंतु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको ग्रहण करनेसे उसका शब्द भी ग्रहण कर लिया जाता है ॥ ७ ॥

स यथा—स इति दृष्टान्तः, लोके यथा दुन्दुभेर्भर्यादेः, हन्यमानस्य ताड्यमानस्य दण्डादिना, न, बाह्याञ्छब्दान् बहिर्भूताञ्छब्दविशेषान् दुन्दुभिशब्दसामान्यान्निष्कृष्टान् दुन्दुभिशब्दविशेषान् न शक्नुयाद् ग्रहणाय ग्रहीतुम्;

स यथा अर्थात् वह दृष्टान्त ऐसा है—लोकमें जिस प्रकार दण्डादिसे हनन-ताडन किये जाते हुए दुन्दुभि-भेरी आदिके बाह्य शब्दोंको अर्थात् बाहर फैले हुए शब्दविशेषोंको—दुन्दुभिके सामान्य शब्दमेंसे निकाले हुए दुन्दुभिके विशेष शब्दोंको कोई ग्रहण नहीं कर सकता। दुन्दुभिका ग्रहण

दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन, दुन्दुभिशब्दसामान्यविशेषत्वेन दुन्दुभिशब्दा एत इति, शब्दविशेषा गृहीता भवन्ति, दुन्दुभिशब्दसामान्यव्यतिरेकेणाभावात्तेषाम् ।

दुन्दुभ्याघातस्य वा, दुन्दुभेराहननम् आघातः, दुन्दुभ्याघातविशिष्टस्य शब्दसामान्यस्य ग्रहणेन तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति, न तु त एव निर्भिद्य ग्रहीतुं शक्यन्ते, विशेषरूपेणाभावात्तेषाम् । तथा प्रज्ञानव्यतिरेकेण स्वप्नजागरितयोर्न कश्चिद्वस्तुविशेषो गृह्यते, तस्मात्प्रज्ञानव्यतिरेकेण अभावो युक्तस्तेषाम् ॥७॥

होनेसे अर्थात् दुन्दुभिके सामान्य शब्दके विशेषरूपसे 'ये दुन्दुभिके शब्द हैं, इस प्रकार वे विशेष शब्द भी गृहीत हो जाते हैं, क्योंकि दुन्दुभिके सामान्य शब्दको छोड़कर तो उनकी सत्ता ही नहीं है ।

अथवा दुन्दुभिके आघात—दुन्दुभिके आहननका नाम आघात है—उस दुन्दुभ्याघातविशिष्ट शब्दसामान्यका ग्रहण होनेसे उसके अन्तर्वर्ती विशेषोंका भी ग्रहण हो जाता है । उससे अलग करके उनका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषरूपसे तो उनका अभाव है । इसी प्रकार स्वप्न और जागरितको किसी भी वस्तुविशेषका प्रज्ञानसे अलग ग्रहण नहीं किया जा सकता; अतः प्रज्ञानसे भिन्न उनका अभाव उचित ही है ॥ ७ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

वह [दूसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजाये जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता, किंतु शङ्खके अथवा शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ८ ॥

तथा स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य शब्देन संयोज्यमानस्य आपूर्यमाणस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयादित्येवमादि पूर्ववत् ॥८॥

तथा वह [दूसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जिस प्रकार बजाये जाते हुए शब्दसे संयुक्त किये जाते हुए अर्थात् फूँके जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको कोई ग्रहण नहीं कर सकता इत्यादि पूर्ववत् ऐसा ही अर्थ है ॥ ८ ॥



स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

वह [तीसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता; किंतु वीणा या वीणाके स्वरका ग्रहण होनेपर उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ९ ॥

तथा वीणायै वाद्यमानायै—वीणाया वाद्यमानायाः । अनेकदृष्टान्तोपादानमिह सामान्यबहुत्वख्यापनार्थम्—अनेके हि विलक्षणाश्चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः—तेषां पारम्पर्यगत्या यथैकस्मिन्महासामान्येऽन्तर्भावः प्रज्ञानघने, कथं नाम प्रदर्शयितव्य इति; दुन्दुभिशङ्खवीणाशब्दसामान्यविशेषाणां यथा

इसी प्रकार 'वीणायै वाद्यमानायै' अर्थात् बजायी जाती हुई वीणाका इत्यादि समझना चाहिये। यहाँ अनेक दृष्टान्तोंका ग्रहण सामान्योंकी बहुलता प्रकट करनेके लिये है। चेतन और अचेतन, सामान्य एवं विशेष अनेक और विलक्षण हैं। उनका जिस प्रकार परम्परा गतिसे एक प्रज्ञानघन महासामान्यमें अन्तर्भाव है—यही किसी-न-किसी तरह दिखलाना है। जिस प्रकार दुन्दुभि, शङ्ख और वीणाके सामान्य एवं विशेष

शब्दत्वेऽन्तर्भावः, एवं स्थितिकाले तावत्सामान्यविशेषाव्यतिरेकाद् ब्रह्मैकत्वं शक्यमवगन्तुम् ॥ ९ ॥

शब्दोंका शब्दत्वमें अन्तर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार स्थितिकालमें सामान्य और विशेषसे अभिन्न होनेके कारण ब्रह्मकी एकताका ज्ञान भी हो सकता है ॥ ९ ॥

परमात्माके निःश्वासभूत ऋग्वेदादिका उनसे अभिन्नत्वप्रतिपादन

एवमुत्पत्तिकाले प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवेति शक्यमवगन्तुम् । यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गधूमाङ्गारार्चिषां प्राग्विभागादग्निरेवेति भवत्यग्न्येकत्वम्, एवं जगन्नामरूपविकृतं प्रागुत्पत्तेः प्रज्ञानघन एवेति युक्तं ग्रहीतुमित्येतदुच्यते—

इस प्रकार यह जाना जा सकता है कि उत्पत्तिकालमें उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्म ही था । जिस प्रकार अग्निकी चिनगारी, धूम, अंगार और ज्वालाओंका विभाग होनेसे पूर्व अग्नि ही है, अतः अग्निकी एकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार नाम-रूप-विकारको प्राप्त हुआ जगत् उत्पत्तिसे पूर्व प्रज्ञानघन ही था—ऐसा ग्रहण करना उचित है—इसीसे यह कहा जाता है—

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि ॥ १० ॥

वह [चौथा दृष्टान्त—] जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूआँ निकलता है, हे मैत्रेयि ! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे इस महद्भूतके ही निःश्वास हैं ॥ १० ॥

स यथा—आर्द्रैधाग्नेः, आर्द्रैरेधोभिरिद्धोऽग्निरार्द्रैधाग्निः, तस्मात्, अभ्याहितात्पृथग्धूमाः, पृथग्, नानाप्रकारम्, धूमग्रहणं विस्फुलिङ्गादिप्रदर्शनार्थम्, धूमविस्फुलिङ्गादयो विनिश्चरन्ति विनिर्गच्छन्ति ।

एवम्—यथायं दृष्टान्तः, अरे मैत्रेय्यस्य परमात्मनः प्रकृतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत्, निश्वसितमिव निश्वसितम्; यथा अप्रयत्नेनैव पुरुषनिश्वासो भवत्येवं वा अरे ।

किं तन्निश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः—चतुर्विधं मन्त्रजातम्, इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः—"उर्वशी हाप्सराः" इत्यादिब्राह्मणमेव, पुराणम् "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० उ० २।६।१) इत्यादि, विद्या देवजनविद्या वेदः सोऽयमित्याद्या उपनिषदः "प्रि-

वह [चौथा दृष्टान्त—] जिस प्रकार आर्द्रैधा अग्निसे—जो आर्द्र (गीले) ईंधनसे बढ़ाया गया हो उसे आर्द्रैधाग्नि कहते हैं। उस आधान किये हुए अग्निसे जैसे पृथक् धूआँ निकलता है, पृथक् यानी नाना प्रकारका धूआँ। यहाँ 'धूम' शब्दका ग्रहण चिनगारी आदिको प्रदर्शित करनेके लिये है। अर्थात् धूम और चिनगारी आदि निकलते हैं।

इसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त है, हे मैत्रेयि! इस परमात्मा यानी प्रकृत महद्भूतका यह निःश्वसित है अर्थात् निःश्वसितके समान निःश्वसित है; जिस प्रकार बिना प्रयत्नके ही पुरुषका निःश्वास होता है, अरे! उसी प्रकार [उस विज्ञानघनसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है]।

उससे निःश्वासके समान क्या उत्पन्न हुआ है? जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार प्रकारका मन्त्रसमुदाय है तथा इतिहास यानी उर्वशी-पुरूरवाका संवादादि "उर्वशी हाप्सराः" इत्यादि ब्राह्मण ही इतिहास है, पुराण—"आरम्भमें यह असत् ही था" इत्यादि, विद्या—'वेदःसोऽयम्' इत्यादि देवजनविद्या,

-यमित्येतदुपासीत" (बृ० उ० ४ । १ । ३) इत्याद्याः, श्लोका ब्राह्मणप्रभवा मन्त्राः "तदेते श्लोकाः" (बृ० उ० ४।३।११) इत्यादयः; सूत्राणि वस्तुसङ्ग्रहवाक्यानि वेदे यथा—"आत्मेत्येवोपासीत" (१ । ४ । ७) इत्यादीनि, अनुव्याख्यानानि मन्त्रविवरणानि, व्याख्यानान्यर्थवादाः, अथवा वस्तुसङ्ग्रहवाक्यविवरणान्यनुव्याख्यानानि यथा चतुर्थाध्याये 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यस्य, यथा वा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवम्' (१ । ४ । १०) इत्यस्यायमेवाध्यायशेषः, मन्त्रविवरणानि व्याख्यानानि, एवमष्टविधं ब्राह्मणम् ।

एवं मन्त्रब्राह्मणयोरेव ग्रहणम्, नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्याभिव्यक्तिः पुरुषनिश्वासवत्, न च पुरुषबुद्धिप्रयत्नपूर्वकः; अतः प्रमाणं निरपेक्ष एव स्वार्थे; तस्माद्यत्तेनोक्तं तत्तथैव प्रतिपत्तव्यम्, आत्मनः

उपनिषद्—"प्रिय है—इस प्रकार उपासना करे" इत्यादि, श्लोक—"तदेते श्लोकाः" इत्यादि ब्राह्मण-भागके मन्त्र, सूत्र—वस्तुसंग्रहवाक्य—जिस प्रकार कि वेदमें "आत्मा है—इस प्रकार उपासना करे" इत्यादि मन्त्र हैं, अनुव्याख्यान—मन्त्र-विवरण, व्याख्यान अर्थवाद अथवा वस्तुसंग्रहवाक्यके विवरण ही अनु-व्याख्यान हैं, जिस प्रकार चतुर्थ अध्यायमें 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यकी व्याख्या है, अथवा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवम्' इस वाक्यका व्याख्यान यह शेष अध्याय ही है। मन्त्रविव-रणका अर्थ मन्त्रव्याख्यान है। इस प्रकार [इतिहासादि पदोंसे कहा हुआ] आठ प्रकारका ब्राह्मण-भाग है।

इस प्रकार [निःश्वसित-श्रुतिके सामर्थ्यसे ऋग्वेदादि शब्दोंसे] मन्त्र और [इतिहासादिसे] ब्राह्मणोंका ही ग्रहण करना चाहिये। पुरुषके निःश्वासोंके समान नियतरचनावान् विद्यमान वेदकी ही अभिव्यक्ति हुई है, पुरुषकी बुद्धिके प्रयत्नपूर्वक इनकी रचना नहीं हुई। इसलिये यह अपने निरपेक्ष अर्थमें ही प्रमाण है। अतः उसने ज्ञान या कर्म जिसका जैसा

श्रेय इच्छद्भिः, ज्ञानं वा कर्म वेति ।

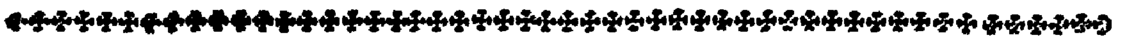
नामप्रकाशवशा हि रूपस्य विक्रियाव्यवस्था। नामरूपयोरेव हि परमात्मोपाधिभूतयोर्व्याक्रियमाणयोः सलिलफेनवत्तत्त्वान्यत्वेनानिर्वक्तव्ययोः सर्वावस्थयोः संसारत्वम्—इत्यतो नाम्न एव निश्वसितत्वमुक्तम्, तद्वचनेनैवेतरस्य निश्वसितत्वसिद्धेः ।

अथवा सर्वस्य द्वैतजातस्य अविद्याविषयत्वमुक्तम्—"ब्रह्म तं परादात्..... इदं सर्वं यदयमात्मा" (२ । ४ । ६) इति । तेन वेदस्याप्रामाण्यमाशङ्क्यते। तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमिदमुक्तम् । पुरुषनिश्वासवदप्रयत्नोत्थितत्वात्प्रमाणं वेदः, न यथा अन्यो ग्रन्थ इति ॥ १० ॥

निरूपण किया है, कल्याणकामियोंको उसे वैसा ही समझना चाहिये ।

रूपके विकारकी व्यवस्था नामप्रकाशके ही अधीन है। जल और फेनके समान जिनका वास्तविक अथवा अवास्तविक रूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता; उन परमात्माके उपाधिभूत एवं विकारको प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण अवस्थाओंमें स्थित नाम और रूपको ही संसार कहते हैं, इसलिये नामके ही निःश्वसित होनेका प्रतिपादन किया है; क्योंकि उसके निरूपणसे ही रूपका भी निःश्वसितत्व सिद्ध हो जाता है।

अथवा "ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है...यह सब जो कुछ है आत्मा है" इस मन्त्रद्वारा सम्पूर्ण द्वैतवर्गको अविद्याका कार्य बतलाया है। इससे [अविद्याकल्पित सिद्ध होनेके कारण] वेदके अप्रामाणिक होनेकी आशङ्का होती है। उस आशङ्काकी निवृत्तिके लिये ही यह कहा है—पुरुषके निःश्वासके समान बिना प्रयत्नके उत्पन्न हुआ होनेके कारण वेद प्रमाण है, यह अन्य ग्रन्थकी तरह [पुरुषयत्नजनित] नहीं है ॥ १० ॥



आत्मा ही सबका आश्रय है—इसमें दृष्टान्त

किञ्चान्यत्, न केवलं स्थित्युत्पत्तिकालयोरेव प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावाज्जगतो ब्रह्मत्वम्, प्रलयकाले च। जलबुद्बुदफेनादीनामिव सलिलव्यतिरेकेणाभावः, एवं प्रज्ञानव्यतिरेकेण तत्कार्याणां नामरूपकर्मणां तस्मिन्नेव लीयमानानामभावः। तस्मादेकमेव ब्रह्म प्रज्ञानघनमेकरसं प्रतिपत्तव्यमित्यत आह। प्रलयप्रदर्शनाय दृष्टान्तः—

इसके सिवा दूसरी बात यह है कि जगत्का ब्रह्मत्व केवल उत्पत्ति और स्थितिकालमें ही प्रज्ञानको छोड़कर न रहनेके कारण नहीं है, अपि तु प्रलयकालमें भी है। जिस प्रकार जल, बुद्बुद और फेनादिकी सत्ता जलको छोड़कर नहीं है, उसी प्रकार प्रज्ञानसे भिन्न उसके कार्य और उसीमें लीन होनेवाले नाम, रूप और कर्मोंकी भी सत्ता नहीं है। इसलिये एक ही प्रज्ञानघन एकरस ब्रह्म है—ऐसा जानना चाहिये। इसीसे श्रुति [निम्नाङ्कित मन्त्र] कहती है। प्रलय प्रदर्शित करनेके लिये यहाँ दृष्टान्त दिया गया है—

स यथा सर्वासामपाᳫं समुद्र एकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं स्पर्शानां त्वगेकायनमेवᳫं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं रसानां जिह्वैकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं रूपाणां चक्षुरेकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं शब्दानाᳫं श्रोत्रमेकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं संकल्पानां मन एकायनमेवᳫं सर्वासां विद्यानाᳫं हृदयमेकायनमेवᳫं सर्वेषां कर्मणाᳫं हस्तावेकायनमेवᳫं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवᳫं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवᳫं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवᳫं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

वह दृष्टान्त—जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन (प्रलयस्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाक् एक अयन है ॥ ११ ॥

स इति दृष्टान्तः; यथा येन प्रकारेण, सर्वासां नदीवापीतडागादिगतानामपाम्, समुद्रोऽब्धिरेकायनम्, एकगमनमेकप्रलयोऽविभागप्राप्तिरित्यर्थः; यथायं दृष्टान्तः; एवं सर्वेषां स्पर्शानां मृदुकर्कशकठिनपिच्छिलादीनां वायोरात्मभूतानां त्वगेकायनम्, त्वगिति त्वग्विषयं स्पर्शसामान्यमात्रम्, तस्मिन्प्रविष्टाः स्पर्शविशेषाः—आप इव समुद्रम्—तद्व्यतिरेकेणाभावभूता भवन्ति; तस्यैव हि ते संस्थानमात्रा आसन् ।

तथा तदपि स्पर्शसामान्यमात्रं त्वक्छब्दवाच्यं मनःसंकल्पे मनो-

वह दृष्टान्त—जिस प्रकार सम्पूर्ण नदी, बावड़ी और तड़ागादिके जलोंका समुद्र एकायन—एक गमनस्थान—एक प्रलयस्थान अर्थात् अभेदप्राप्तिका स्थल है, जैसा कि यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार वायुके स्वरूपभूत मृदु, कर्कश, कठोर और पिच्छिल आदि समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक प्रलयस्थान है। त्वचासे त्वचासम्बन्धी स्पर्शसामान्यमात्र समझना चाहिये, उसीमें समुद्रमें जलके समान स्पर्शविशेष प्रविष्ट हैं, उसके बिना वे सत्ताशून्य हो जाते हैं; क्योंकि वे उसीके संस्थानमात्र (पृथक् आकारमात्र) थे।

इसी प्रकार वह त्वक्शब्दवाच्य स्पर्शसामान्य, त्वचाके विषयमें स्पर्शविशेषोंके समान मनके विषय-

विषयसामान्यमात्रे, त्वग्विषय इव स्पर्शविशेषाः; प्रविष्टं तद्व्यतिरेकेणाभावभूतं भवति; एवं मनोविषयोऽपि बुद्धिविषयसामान्यमात्रे प्रविष्टस्तद्व्यतिरेकेणाभावभूतो भवति; विज्ञानमात्रमेव भूत्वा प्रज्ञानघने परे ब्रह्मण्याप इव समुद्रे प्रलीयते।

एवं परम्पराक्रमेण शब्दादौ सह ग्राहकेण करणेन प्रलीने प्रज्ञानघने उपाध्यभावात्सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघनमेकरसमनन्तमपारं निरन्तरं ब्रह्म व्यवतिष्ठते। तस्मादात्मैव एकमद्वयमिति प्रतिपत्तव्यम्।

तथा सर्वेषां गन्धानां पृथिवीविशेषाणां नासिके घ्राणविषयसामान्यम्, तथा सर्वेषां रसानामब्विशेषाणां जिह्वेन्द्रियविषयसामान्यम्, तथा सर्वेषां रूपाणां तेजोविशेषाणां चक्षुश्चक्षुर्विषयसामान्यम्, तथा शब्दानां श्रोत्रविषयसामान्यं पूर्ववत्। तथा श्रोत्रादिविषयसामान्यानां मनोविषयसामान्ये संकल्पे; मनो-

सामान्यमात्ररूप मनःसंकल्पमें प्रविष्ट होकर उससे पृथक् सत्ताशून्य हो जाता है इसी तरह मनका विषय भी बुद्धिके सामान्य विषयमात्रमें प्रवेश करके उससे पृथक् नहीं रहता तथा विज्ञानमात्र ही होकर समुद्रमें जलके समान प्रज्ञानघन परब्रह्ममें लीन हो जाता है।

इस प्रकार परम्पराक्रमसे अपने ग्राहक इन्द्रियके सहित शब्दादिके प्रज्ञानघनमें लीन हो जानेपर कोई उपाधि न रहनेके कारण लवणखण्डके समान एकरस, अनन्त, अपार, अखण्ड, प्रज्ञानघन ब्रह्म ही रह जाता है। अतः एकमात्र अद्वितीय आत्मा ही है—ऐसा जानना चाहिये।

इसी प्रकार पृथिवीके विशेषरूप समस्त गन्धोंका नासिकाएँ—घ्राणसम्बन्धी विषयसामान्य, जलके विशेषरूप समस्त रसोंका रसनेन्द्रियसम्बन्धी विषयसामान्य, तेजके विशेषरूप समस्त रूपोंका चक्षु—चक्षुसम्बन्धी विषयसामान्य और पहलेहीकी तरह शब्दोंका श्रोत्रसम्बन्धी विषयसामान्य आश्रय है। इसी प्रकार श्रोत्रादि विषयसामान्योंका मनके विषयसामान्यरूप संकल्पमें, मनके विषय-

विषयसामान्यस्यापि बुद्धिविषयसामान्ये विज्ञानमात्रे; विज्ञानमात्रे भूत्वा परस्मिन्प्रज्ञानघने प्रलीयते ।

सामान्यका भी बुद्धिके विषयसामान्यरूप विज्ञानमात्रमें और फिर विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानघन परमात्मामें लय हो जाता है।

तथा कर्मेन्द्रियाणां विषया वदनादानगमनविसर्गानन्दविशेषाः तत्तत्क्रियासामान्येष्वेव प्रविष्टा न विभागयोग्या भवन्ति, समुद्र इवाब्विशेषाः; तानि च सामान्यानि प्राणमात्रम्, प्राणश्च प्रज्ञानमात्रमेव । "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः" (कौषी० उ० । ३ । ३) इति कौषीतकिनोऽधीयते ।

इसी प्रकार कर्मेन्द्रियोंके भाषण, ग्रहण, गमन, त्याग और आनन्दरूप विशेष विषय उन-उन क्रियाओंके सामान्योंमें प्रविष्ट होकर विभागके योग्य नहीं रहते, जिस प्रकार कि समुद्रमें गये हुए जलविशेष । वे सारे सामान्य प्राणमात्र हैं और प्राण प्रज्ञानमात्र ही हैं। कौषीतकी शाखावाले कहते हैं—"जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है।"

ननु सर्वत्र विषयस्यैव प्रलयोऽभिहितः, न तु करणस्य; तत्र कोऽभिप्राय इति ?

शङ्का-किंतु यहाँ सर्वत्र विषयका ही लय बतलाया गया है, इन्द्रियका नहीं—सो इसमें क्या कारण है ?

बाढम्; किन्तु विषयसमानजातीयं करणं मन्यते श्रुतिः, न तु जात्यन्तरम्; विषयस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम—यथा रूपविशेषस्यैव संस्थानं दीपः करणं सर्वरूपप्रकाशने, एवं सर्वविषयविशेषाणामेव स्वा-

समाधान-ठीक है, किंतु श्रुति इन्द्रियको विषयकी सजातीय मानती है, अन्य जातिवाली नहीं। विषयका ही अपने ग्राहकरूपसे जो अन्य स्वरूप है, उसीका नाम इन्द्रिय है। जिस प्रकार रूपविशेषका ही संस्थानमात्र दीपक सब प्रकारके रूपोंको प्रकाशित करनेमें साधन है, इसी प्रकार दीपकहीकी तरह समस्त

स्वविशेषप्रकाशकत्वेन संस्थानान्तराणि करणानि प्रदीपवत् । तस्मान्न करणानां पृथक्प्रलये यत्नः कार्यः, विषयसामान्यात्मकत्वाद्विषयप्रलयेनैव प्रलयः सिद्धो भवति करणानामिति ॥ ११ ॥

विषयविशेषोंके स्वरूपविशेषके प्रकाशकरूपसे इन्द्रियाँ उन्हींके अन्य संस्थानमात्र हैं। इसलिये इन्द्रियोंके प्रलयके लिये पृथक् प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है, विषयसामान्य रूप होनेके कारण विषयके प्रलयसे ही इन्द्रियोंका भी प्रलय सिद्ध हो जाता है ॥ ११ ॥

विवेकद्वारा देहादिके विज्ञानघनस्वरूप होनेमें जलमें डाले हुए लवणखण्डका दृष्टान्त

तत्र 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (२ । ४ । ६) इति प्रतिज्ञातम्, तत्र हेतुरभिहितः—आत्मसामान्यत्वम्, आत्मजत्वम्, आत्मप्रलयत्वं च । तस्मादुत्पत्तिस्थितिप्रलयकालेषु प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावात् "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५ । ३) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इति प्रतिज्ञातं यत्, तत्तर्कतः साधितम् । स्वाभाविकोऽयं प्रलय इति पौराणिका वदन्ति । यस्तु बुद्धिपूर्वकः प्रलयो ब्रह्मविदां ब्रह्मविद्यानिमित्तः, अयमात्यन्तिक इत्याचक्षते— अविद्यानिरोधद्वारेण यो भवति; तदर्थोऽयं विशेषारम्भः—

तहाँ यह प्रतिज्ञा की गयी है कि 'यह जो कुछ है सब आत्मा है।' इसमें आत्मसामान्यत्व, आत्मजनितत्व और आत्मप्रलयत्व ये हेतु बतलाये हैं। अतः उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकालोंमें प्रज्ञानसे भिन्न किसीकी सत्ता न होनेके कारण जो ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि "प्रज्ञान ब्रह्म है" "यह सब आत्मा ही है" उसे तर्कसे भी सिद्ध कर दिया। यह प्रलय स्वाभाविक[1] है—ऐसा पौराणिक लोग कहते हैं। ब्रह्मवेत्ताओंका जो ब्रह्मविद्याजनित बुद्धिपूर्वक प्रलय होता है, वह आत्यन्तिक है—ऐसा कहते हैं, जो कि अविद्याके निरोधद्वारा होता है; उसीके लिये यह विशेष आरम्भ किया जाता है।

१. कार्यका कारणके आश्रित रहना यही इसकी स्वाभाविकता है।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव । एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

इसमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार जलमें डाला हुआ नमकका डला जलमें ही लीन हो जाता है। उसे जलसे निकालनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता । जहाँ-जहाँसे भी जल लिया जाय वह नमकीन ही जान पड़ता है, हे मैत्रेयि ! उसी प्रकार यह महद्भूत अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है । यह इन [सत्यशब्दवाच्य] भूतोंसे प्रकट होकर उन्हींके साथ नाशको प्राप्त हो जाता है; देहेन्द्रियभावसे मुक्त होनेपर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती । हे मैत्रेयि ! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १२ ॥

तत्र दृष्टान्त उपादीयते—स यथेति। सैन्धवखिल्यः—सिन्धोर्विकारः सैन्धवः, सिन्धुशब्देनोदकमभिधीयते, स्यन्दनात्सिन्धुरुदकम्, तद्विकारस्तत्र भवो वा सैन्धवः सैन्धवश्चासौ खिल्यश्चेति सैन्धवखिल्यः, खिल एव खिल्यः स्वार्थे यत्प्रत्ययः; उदके सिन्धौ स्वयोनौ प्रास्तः प्रक्षिप्तः,उदकमेव

यहाँ यह दृष्टान्त दिया जाता है—'स यथा' इत्यादि । सैन्धवखिल्य—सिन्धुके विकारका नाम सैन्धव है, सिन्धु' शब्दसे जल कहा जाता है। स्यन्दन करने (बहने) के कारण जल सिन्धु है, उसका विकार अथवा उससे उत्पन्न होनेवाला सैन्धव कहलाता है। जो सैन्धव हो और खिल्य (डला) हो, उसे सैन्धवखिल्य कहते हैं। खिल ही खिल्य है । यहाँ स्वार्थमें यत् प्रत्यय है । वह अपने कारणभूत सिन्धु यानी जलमें डाले जानेपर जलके साथ घुलता हुआ

विलीयमानमनुविलीयेत; यत्तद्भौमतैजससम्पर्कात्काठिन्यप्राप्तिः खिल्यस्य स्वयोनिसम्पर्कादपगच्छति तदुदकस्य विलयनम्, तदनु सैन्धवखिल्यो विलीयत इत्युच्यते। तदेतदाह उदकमेवानुविलीयेतेति।

उसीमें लीन हो जाता है। पार्थिव तैजसका सम्पर्क होनेसे जो उस डलेको कठिनताकी प्राप्ति हुई थी वह अपने कारणका संयोग होनेपर निवृत्त हो जाती है, यही जलका घुलना है, उसके साथ ही नमकका डला भी घुल गया—ऐसा कहा जाता है। इसीसे यह कहा गया है कि वह जलके साथ ही लीन हो जाता है।

न ह नैव अस्य खिल्यस्योद्ग्रहणायोद्धृत्य पूर्ववद्ग्रहणाय ग्रहीतुं नैव समर्थः कश्चित्स्यात्सुनिपुणोऽपि। इवशब्दोऽनर्थकः। ग्रहणाय नैव समर्थः; कस्मात्? यतो यतो यस्माद्यस्माद्देशात्तदुदकमाददीत गृहीत्वा स्वादयेत्, लवणास्वादमेव तदुदकं न तु खिल्यभावः।

इस डलेके उद्ग्रहण अर्थात् पूर्ववत् निकालकर ग्रहण करनेके लिये कोई अत्यन्त निपुण पुरुष भी समर्थ नहीं होता। यहाँ 'इव' शब्द अर्थहीन है। उसे ग्रहण करनेके लिये समर्थ हो ही नहीं सकता। क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि जिस-जिस जगहसे वह उस जलको ग्रहण करता है अर्थात् ग्रहण करके चखता है, वह जल लवणके ही स्वादवाला होता है, उसमें डलापन नहीं रहता।

यथायं दृष्टान्तः, एवमेव वा अरे मैत्रेयीदं परमात्माख्यं महद्भूतम्—यस्मान्महतो भूताद्विद्यया परिच्छिन्ना सती कार्यकरणोपाधिसम्बन्धात्खिल्यभाव-

जैसा कि यह दृष्टान्त है इसी प्रकार हे मैत्रेयि! यह परमात्मा नामका महद्भूत है, जिस महद्भूतसे तू अविद्यासे परिच्छिन्न होकर देहेन्द्रियरूप उपाधिके सम्बन्धसे खिल्यभावको प्राप्त हो गयी है तथा

आपन्नासि, मर्त्या जन्ममरणाशनायापिपासादिसंसारधर्मवत्यसि; नामरूपकार्यात्मिका—अमुष्यान्वयाहमिति, स खिल्यभावस्तव कार्यकरणभूतोपाधिसम्पर्कभ्रान्तिजनितो महति भूते स्वयोनौ महासमुद्रस्थानीये परमात्मनि अजरेऽमरेऽभये शुद्धे सैन्धवघनवदेकरसे प्रज्ञानघनेऽनन्तेऽपारे निरन्तरेऽविद्याजनितभ्रान्तिभेदवर्जिते प्रवेशितः।

मरणधर्मवाली, जन्म, मरण, क्षुधा और पिपासा आदि सांसारिक धर्मोंवाली एवं मैं नामरूपकार्यात्मिका और अमुक वंशमें उत्पन्न हुई हूँ—ऐसे भाववाली हो गयी है। देहेन्द्रियजनित उपाधिके सम्पर्कसे भ्रान्तिके कारण उत्पन्न हुआ तेरा वह खिल्यभाव अपने कारण महासमुद्रस्थानीय अजर, अमर. अभय, शुद्ध, सैन्धवघनके समान एकरस, प्रज्ञानघन, अनन्त, अपार, अखण्ड एवं अविद्याजनित भ्रान्तिमय भेदसे रहित परमात्मामें प्रविष्ट कर दिया गया है।

तस्मिन्प्रविष्टे स्वयोनिग्रस्ते खिल्यभावेऽविद्याकृते भेदभावे प्रणाशिते—इदमेकमद्वैतं महद्भूतम् महच्च तद् भूतं च महद्भूतं सर्वमहत्तरत्वादाकाशादिकारणत्वाच्च। भूतं त्रिष्वपि कालेषु स्वरूपाऽव्यभिचारात्सर्वदैव परिनिष्पन्नमिति त्रैकालिको निष्ठाप्रत्ययः।

उसमें प्रविष्ट होनेपर उस खिल्यभावके अपने कारणद्वारा लीन कर लिये जानेपर अविद्याजनित भेदभावका नाश हो जानेसे यह एक अद्वैत महद्भूत ही रहता है। महान् भूत होनेसे वह महद्भूत कहलाता है; क्योंकि आकाशादिका कारण होनेसे वह सबसे महान् है। तीनों ही कालोंमें उसके स्वरूपका व्यभिचार नहीं होता, वह सर्वदा ही ज्यों का त्यों रहता है, इसलिये भूत है। 'भूत' शब्दमें 'त' यह निष्ठाप्रत्यय त्रैकालिक है।

अथवा भूतशब्दः परमार्थवाची, महच्च पारमार्थिकं

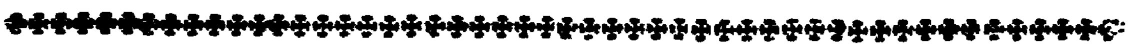
अथवा 'भूत' शब्द परमार्थवाची है। अर्थात् वह महत् है और

चेत्यर्थः; लौकिकं तु यद्यपि महद्भवति, स्वप्नमायाकृतं हिमवदादिपर्वतोपमं न परमार्थवस्तु; अतो विशिनष्टि—इदं तु महच्च तद्भूतं चेति। अनन्तं नास्यान्तो विद्यत इत्यनन्तम्; कदाचिदापेक्षिकं स्यादित्यतो विशिनष्ट्यपारमिति विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, विज्ञानं च तद्घनश्चेति विज्ञानघनः, घनशब्दो जात्यन्तरप्रतिषेधार्थः—यथा सुवर्णघनोऽयोघन इति; एवशब्दोऽवधारणार्थः—नान्यज्जात्यन्तरमन्तराले विद्यत इत्यर्थः।

पारमार्थिक है; [इसलिये महद्भूत है]। यद्यपि हिमालयादि पर्वतोंके समान लौकिक वस्तु भी महान् होती है; किंतु वह स्वप्न या मायाके समान है, परमार्थवस्तु नहीं। इसीसे श्रुति इसे विशेषित करती है कि यह महत् है और भूत भी है। अनन्त अर्थात् इसका अन्त नहीं है, इसलिये अनन्त है। कदाचित् इसकी अनन्तता आपेक्षिक हो, इसलिये 'अपारम्' ऐसा विशेषण देती है। विज्ञप्तिका नाम विज्ञान है, जो विज्ञान हो और घन हो उसे विज्ञानघन कहते हैं। यहाँ घनशब्द [विज्ञानमें] अन्य जातिकी वस्तुका निषेध करनेके लिये है; जैसे कि सुवर्णघन, लोहघन आदि। 'एव' शब्द निश्चयार्थक है। तात्पर्य यह है कि इसके भीतर कोई दूसरी विजातीय वस्तु नहीं है।

यदीदमेकमद्वैतं परमार्थतः स्वच्छं संसारदुःखासम्पृक्तम्, किन्निमित्तोऽयं खिल्यभाव आत्मनो जातो मृतः सुखी दुःख्यहं ममेत्येवमादिलक्षणोऽनेकसंसारधर्मोपद्रुतः? इत्युच्यते—

यदि यह आत्मतत्त्व एक, अद्वैत, परमार्थतः शुद्ध और सांसारिक दुःखोंसे असंस्पृष्ट है तो आत्माका यह खिल्यभाव क्यों है तथा यह मैं उत्पन्न हुआ, मरा, सुखी, दुःखी, अहं, मम इत्यादि लक्षणोंवाले अनेकों सांसारिक धर्मोंसे दूषित क्यों है? इसपर कहा जाता है—



एतेभ्यो भूतेभ्यो यान्येतानि कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि सलिलफेनबुद्बुदोपमानि स्वच्छस्य परमात्मनः सलिलोपमस्य, येषां विषयपर्यन्तानां प्रज्ञानघने ब्रह्मणि परमार्थविवेकज्ञानेन प्रविलापनमुक्तं नदीसमुद्रवत्—एतेभ्यो हेतुभूतेभ्यो भूतेभ्यः सत्यशब्दवाच्येभ्यः समुत्थाय सैन्धवखिल्यवत्—यथा अद्भ्यः सूर्यचन्द्रादिप्रतिबिम्बः, यथा वा स्वच्छस्य स्फटिकस्य अलक्तकाद्युपाधिभ्यो रक्तादिभावः, एवं कार्यकरणभूतभूतोपाधिभ्यो विशेषात्मखिल्यभावेन समुत्थाय सम्यगुत्थाय—येभ्यो भूतेभ्य उत्थितः तानि यदा कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि भूतान्यात्मनो विशेषात्मखिल्यहेतुभूतानि शास्त्राचार्योपदेशेन ब्रह्मविद्यया नदीसमुद्रवत्प्रविलापितानि विनश्यन्ति, सलिलफेनबुद्बुदादिवत्तेषु विनश्यत्सु अन्वेवैष विशेषात्मखिल्यभावो

इन भूतोंसे—ये जो देह और इन्द्रियरूप विषयके आकारमें परिणत जलके फेन और बुद्बुदोंके समान जलस्थानीय स्वच्छ परमात्माके नामरूपमय विकार हैं; जिनके सम्पूर्ण विषयोंतकका, समुद्रमें नदीके समान, पारमार्थिक विवेकज्ञानसे प्रज्ञानघन ब्रह्ममें लय होना बतलाया गया है, इन सबके हेतुभूत सत्य शब्दवाच्य भूतोंसे लवणखण्डके समान उत्पन्न होकर—जिस प्रकार जलसे सूर्य-चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब अथवा जैसे अलक्तक (महावर) आदि उपाधियोंके कारण स्वच्छ स्फटिकका रक्तादि भाव हो जाता है, इसी प्रकार देहेन्द्रियरूप भूतोंकी उपाधियोंके कारण विशेषात्मरूप खिल्यभावसे समुत्थित अर्थात् सम्यक् प्रकारसे उत्पन्न होकर जिन भूतोंसे यह उत्पन्न हुआ है, वे देह और इन्द्रियोंके आकारमें परिणत एवं आत्माके खिल्यभावरूप विशेषत्वके हेतुभूत भूत जिस समय शास्त्र और आचार्यके ब्रह्मविद्याके उपदेशसे समुद्रमें नदीके समान लीन होते हुए नाशको प्राप्त होते हैं, जलमें फेन और बुद्बुदोंके समान उनके नाश होनेके साथ ही यह विशेषात्मरूप खिल्यभाव भी नष्ट हो जाता है।

विनश्यति; यथा उदकालक्तकादिहेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिबिम्बो विनश्यति, चन्द्रादिस्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठते, तद्वत्प्रज्ञानघनमनन्तमपारं स्वच्छं व्यवतिष्ठते।

जिस प्रकार जल और अलक्तक आदि हेतुओंके हट जानेपर सूर्य, चन्द्र और स्फटिक आदिका प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है, केवल चन्द्रादिका पारमार्थिक स्वरूप ही रह जाता है उसी प्रकार फिर अनन्त, अपार और स्वच्छ प्रज्ञानघन ही रह जाता है।

न तत्र प्रेत्य विशेषसंज्ञास्ति कार्यकरणसङ्घातेभ्यो विमुक्तस्य—इत्येवमरे मैत्रेयि ब्रवीमि नास्ति विशेषसंज्ञेति—अहमसावमुष्य पुत्रो ममेदं क्षेत्रं धनं सुखी दुःखीत्येवमादिलक्षणा, अविद्याकृतत्वात्तस्याः; अविद्यायाश्च ब्रह्मविद्यया निरन्वयतो नाशितत्वात्कुतो विशेषसंज्ञासम्भवो ब्रह्मविदश्चैतन्यस्वभावावस्थितस्य? शरीरावस्थितस्यापि विशेषसंज्ञा नोपपद्यते किमुत कार्यकरणविमुक्तस्य सर्वतः? इति होवाचोक्तवान्किल परमार्थदर्शनं मैत्रेय्यै भार्यायै याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

फिर प्रेत्य—देहेन्द्रियभावसे मुक्त होनेपर उसकी विशेष संज्ञा नहीं रहती, इसीसे हे मैत्रेयि! मैं यह कहता हूँ कि उसकी 'मैं अमुक हूँ, अमुकका पुत्र हूँ, यह क्षेत्र और धन मेरा है, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ' इत्यादि प्रकारकी विशेष संज्ञा नहीं रहती; क्योंकि वह तो अविद्या-जनित ही है, और अविद्याका उसके कारणके सहित ब्रह्मविद्यासे नाश हो चुका है, इसलिये चैतन्यस्वरूप ब्रह्मवेत्ताकी विशेषसंज्ञा रहनेकी सम्भावना कहाँ है? उसकी तो शरीरमें रहते हुए भी कोई संज्ञा होनी सम्भव नहीं है, फिर सब प्रकार देह और इन्द्रियोंसे मुक्त होनेपर तो रह ही कैसे सकती है? इस प्रकार याज्ञवल्क्यने अपनी भार्या मैत्रेयीके प्रति परमार्थदृष्टिका निरूपण किया॥ १२॥

मैत्रेयीकी शङ्का और याज्ञवल्क्यका समाधान

एवं प्रतिबोधिता— | इस प्रकार बोध कराये जानेपर—

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'शरीरपातके अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती—ऐसा कहकर ही श्रीमान्‌ने मुझे मोहमें डाल दिया है।' याज्ञवल्क्यने कहा, "हे मैत्रेयि! मैं मोहका उपदेश नहीं कर रहा हूँ, अरी! यह तो उस (महद्भूत) का विज्ञान करानेके लिये पर्याप्त है' ॥ १३ ॥

सा ह किलोवाचोक्तवती मैत्रेयी—अत्रैव एतस्मिन्नेव एकस्मिन्वस्तुनि ब्रह्मणि विरुद्धधर्मवत्त्वमाचक्षाणेन भगवता मम मोहः कृतः; तदाह—अत्रैव मा भगवान्पूजावानमूमुहन्मोहं कृतवान्। कथं तेन विरुद्धधर्मवत्त्वम् उक्तमित्युच्यते—पूर्वं विज्ञानघन एवेति प्रतिज्ञाय पुनर्न प्रेत्य संज्ञास्तीति; कथं विज्ञानघन एव? कथं वा न प्रेत्य संज्ञा-

उस मैत्रेयीने कहा, यही—इस एक वस्तु ब्रह्ममें ही विरुद्ध धर्मवत्ताका वर्णन करनेवाले श्रीमान्‌ने तो मुझे मोह उत्पन्न कर दिया है। इसी बातको श्रुति कहती है—इस (ब्रह्मके) विषयमें ही मुझे आप भगवान्—पूजावान् अर्थात् पूज्य पुरुषने अमूमुहत्—मोह उत्पन्न कर दिया। उन्होंने ब्रह्मकी विरुद्धधर्मवत्ताका किस प्रकार वर्णन किया है—सो बतलाया जाता है—पहले 'वह विज्ञानघन ही है' ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर 'देहपातके अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती' ऐसा कहा है। सो किस प्रकार वह विज्ञानघन ही है और किस प्रकार देहपातके अनन्तर उसको कोई संज्ञा नहीं रहती? एक

स्तीति ? न ह्युष्णः शीतश्चाग्निरेवैको भवति । अतो मूढास्म्यत्र ।

स होवाच याज्ञवल्क्यः—न वा अरे मैत्रेय्यहं मोहं ब्रवीमि - मोहनं वाक्यं न ब्रवीमीत्यर्थः । ननु कथं विरुद्धधर्मत्वमवोचः—विज्ञानघनं संज्ञाभावं च ? न मयेदमेकस्मिन्धर्मिण्यभिहितम्, त्वयैवेदं विरुद्धधर्मत्वेनैकं वस्तु परिगृहीतं भ्रान्त्या, न तु मयोक्तम् । मया त्विदमुक्तम्—यस्त्वविद्याप्रत्युपस्थापितःकार्यकरणसम्बन्धी आत्मनः खिल्यभावः, तस्मिन्विद्यया नाशिते, तन्निमित्ता या विशेषसंज्ञा शरीरादिसम्बन्धिनी अन्यत्वदर्शनलक्षणा, सा कार्यकरणसङ्घातोपाधौ प्रविलापिते नश्यति हेत्वभावाद् उदकाद्याधारनाशादिव चन्द्रादिप्रतिबिम्ब-

ही अग्नि उष्ण और शीतल दोनों प्रकारका नहीं हो सकता; अतः इस विषयमें मुझे मोह (भ्रम) हो गया है।

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे मैत्रेयि ! मैं मोहका उपदेश नहीं कर रहा हूँ अर्थात् मोह उत्पन्न करनेवाली बात नहीं कह रहा हूँ।' [मैत्रेयी बोली] तो फिर 'वह विज्ञानघन है और उसकी कोई संज्ञा नहीं है, ये आपने उसके दो विरुद्ध धर्म क्यों बतलाये ? [याज्ञवल्क्यने कहा—] मैंने ये धर्म एक ही धर्मीमें नहीं बतलाये हैं; भ्रान्तिसे तूने ही एक वस्तुको विरुद्ध धर्मवाली समझ लिया है, मैंने ऐसा नहीं कहा। मैंने तो ऐसा कहा था कि आत्माका जो अविद्याद्वारा प्रस्तुत किया हुआ देहेन्द्रियसम्बन्धी खिल्यभाव है, उसका विद्याद्वारा नाश कर दिये जानेपर उस खिल्यभावके कारण पड़ी हुई जो शरीरादिसम्बन्धिनी अन्यत्वदर्शनरूपा विशेष संज्ञा होती है, वह कार्यकरणसंघातरूप उपाधिके लीन कर देनेपर कोई हेतु न रहनेके कारण इसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार जलादि आधारका नाश हो जानेपर चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब और

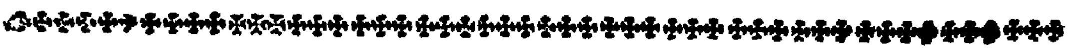
स्तन्निमित्तश्च प्रकाशादिः; न पुनः परमार्थचन्द्रादित्यस्वरूपानाशवदसंसारिब्रह्मस्वरूपस्य विज्ञानघनस्य नाशः; तद्विज्ञानघन इत्युक्तम्; स आत्मा सर्वस्य जगतः, परमार्थतो भूतनाशान्न विनाशी। विनाशी त्वविद्याकृतः खिल्यभावः, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुत्यन्तरात् । अयं तु पारमार्थिकः—अविनाशी वा अरेऽयमात्मा, अतोऽलं पर्याप्तं वै अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं यथाव्याख्यातं विज्ञानाय विज्ञातुम् । "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" (४ । ३ । ३०) इति हि वक्ष्यति ॥ १३ ॥

उससे होनेवाले प्रकाशादिका नाश हो जाता है। किंतु जिस प्रकार वास्तविक चन्द्रमा और सूर्यादिके स्वरूपका नाश नहीं होता, उसी प्रकार असंसारी ब्रह्मके स्वरूप विज्ञानघनका भी नाश नहीं होता; उसीको विज्ञानघन—इस नामसे कहा गया है; वह सम्पूर्ण जगत्का आत्मा है और भूतोंका नाश होनेपर भी परमार्थतः उसका नाश नहीं होता। विनाशी तो अविद्याजनित खिल्यभाव ही है, जैसा कि "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है। किंतु यह तो पारमार्थिक है और हे मैत्रेयि ! यह आत्मा तो अविनाशी है; अतः जिस प्रकार इसकी व्याख्या की गयी है, उसी प्रकार यह अनन्त और अपार महद्भूत जाना जा सकता है। "विज्ञाताके विज्ञानका विशेषरूपसे लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है" ऐसा श्रुति आगे कहेगी भी ॥ १३ ॥

व्यवहार द्वैतमें है, परमार्थ व्यवहारातीत है

कथं तर्हि प्रेत्य संज्ञा नास्ति ? इत्युच्यते, शृणु—

शरीरपातके अनन्तर उसकी संज्ञा किस प्रकार नहीं रहती ? सो बतलाया जाता है, सुनो—



यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है। किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने ? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? हे मैत्रेयि ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ? ॥ १४ ॥

यत्र यस्मिन्नविद्याकल्पिते कार्यकरणसङ्घातोपाधिजनिते विशेषात्मनि खिल्यभावे हि यस्मात्, द्वैतमिव—परमार्थतोऽद्वैते ब्रह्मणि द्वैतमिव भिन्नमिव वस्त्वन्तरमात्मनः—उपलक्ष्यते। ननु द्वैतेनोपमीयमानत्वाद् द्वैतस्य पारमार्थिकत्वमिति; न, "वाचा-

हि—क्योंकि जहाँ जिस अविद्याकल्पित देहेन्द्रियसंघातरूप उपाधिसे उत्पन्न हुए विशेषात्मरूप खिल्यभावमें द्वैत-सा अर्थात् परमार्थतः अद्वैत ब्रह्ममें द्वैत-सा भिन्न-सा अर्थात् आत्मासे भिन्न पदार्थ-सा प्रतीत होता है-[शङ्का-] किंतु द्वैतसे उपमा दिये जानेके कारण तो द्वैतकी पारमार्थिकता सिद्ध होती है। [समाधान-] नहीं, क्योंकि "विकार

रम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुत्यन्तरात्, "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इति च । तत्तत्र यस्माद् द्वैतमिव तस्मादेवेतरोऽसौ परमात्मनः खिल्यभूत आत्मापरमार्थः, चन्द्रादेरिवोदकचन्द्रादिप्रतिबिम्बः, इतरो घ्रातेतरेण घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं जिघ्रति;

वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" ऐसी एक अन्य श्रुति है, तथा "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है" "यह सब आत्मा ही है" ऐसी भी श्रुति है। अतः वहाँ चूँकि द्वैत-सा रहता है, इसलिये ही परमात्माका खिल्य-रूप वह अपारमार्थिक आत्मा उससे अन्य अर्थात् चन्द्रादिके जलमें पड़े हुए चन्द्रादि प्रतिबिम्बके समान भिन्न है अर्थात् परमात्मासे इतर सूँघनेवाला अन्य घ्राणेन्द्रियसे इतर सूँघनेयोग्य पदार्थोंको सूँघता है।

इतर इतरमिति कारकप्रदर्शनार्थम्, जिघ्रतीति क्रियाफलयोरभिधानम्, यथा छिनत्तीति—यथोद्यम्योद्यम्य निपातनम्; छेद्यस्य च द्वैधीभावः, उभयं छिनत्तीत्येकेनैव शब्देन अभिधीयते—क्रियावसानत्वात्क्रियाव्यतिरेकेण च तत्फलस्यानुपलम्भात्; इतरो घ्राता इतरेण घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं

यहाँ जो 'इतरः इतरम्' ऐसा कहा गया है वह [कर्ता और कर्म] कारकोंको प्रदर्शित करनेके लिये है और 'जिघ्रति' यह क्रिया और फलको बतलानेके लिये है, जिस प्रकार 'छिनत्ति—छेदन करता है। जैसे कुल्हाड़ी उठा-उठाकर मारना और छेद्य वस्तुके दो खण्ड हो जाना - ये दोनों ही 'छिनत्ति' इस एक ही शब्दसे कहे जाते हैं, क्योंकि उसीमें क्रियाकी समाप्ति होती है और क्रियाके बिना उस फलकी उपलब्धि भी नहीं होती। अतः [परमात्मासे] भिन्न सूँघनेवाला अपनेसे भिन्न घ्राणेन्द्रियके द्वारा उससे भिन्न घ्रातव्य पदार्थको

जिघ्रति—तथा सर्वं पूर्ववद्विजानाति; इयमविद्यावदवस्था ।

यत्र तु ब्रह्मविद्ययाविद्या नाशमुपगमिता तत्र आत्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावः; यत्र वै अस्य ब्रह्मविदः सर्वं नामरूपाद्यात्मन्येव प्रविलापितमात्मैव संवृत्तम्, यत्र एवमात्मैवाभूत्तत्र केन करणेन कं घ्रातव्यं को जिघ्रेत्? तथा पश्येद्विजानीयात्? सर्वत्र हि कारकसाध्या क्रिया, अतः कारकाभावेऽनुपपत्तिः क्रियायाः; क्रियाभावे च फलाभावः। तस्माद् अविद्यायामेव सत्यां क्रियाकारकफलव्यवहारः, न ब्रह्मविदः—आत्मत्वादेव सर्वस्य, नात्मव्यतिरेकेण कारकं क्रियाफलं

सूँघता है। इसी प्रकार आगेके पर्यायोंमें समझना चाहिये। पहलेहीके समान वह सबको विशेषरूपसे जानता है; यह उसकी अविद्यावान् (अज्ञानी) की अवस्था है।

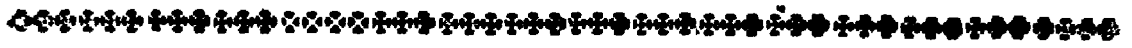
किंतु जहाँ ब्रह्मविद्याके द्वारा अविद्या नाशको प्राप्त हो गयी है, वहाँ आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुका अभाव हो जाता है। और जहाँ इस ब्रह्मवेत्ताके सम्पूर्ण नाम-रूपादि आत्माहीमें लीन किये जाकर आत्मा ही हो गये हैं, इस प्रकार जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया है, वहाँ किस इन्द्रियके द्वारा किस सूँघनेयोग्य पदार्थको कौन सूँघे? तथा कौन देखे, कौन जाने? क्योंकि सभी जगह क्रिया तो कारकसाध्य ही होती है, अतः कारकका अभाव हो जानेपर क्रिया सम्भव नहीं रहती तथा क्रिया न रहनेपर फल नहीं रहता। अतः अविद्याके रहते हुए ही क्रिया, कारक और फलका व्यवहार रहता है, ब्रह्मवेत्ताका ऐसा कोई व्यवहार नहीं रहता; क्योंकि वह तो सबका आत्मा ही है; उसकी दृष्टिमें आत्मासे भिन्न कारक, क्रिया अथवा फल है ही नहीं; और न

ऽस्ति; न चानात्मा सन्सर्व-मात्मैव भवति कस्यचित्, तस्मादविद्ययैव अनात्मत्वं परिकल्पितम्; न तु परमार्थत आत्म-व्यतिरेकेणास्ति किञ्चित्। तस्मात्परमार्थात्मैकत्वप्रत्यये क्रिया-कारकफलप्रत्ययानुपपत्तिः। अतो विरोधाद्ब्रह्मविदः क्रियाणां तत्साधनानां चात्यन्तमेव निवृत्तिः। केन कमिति क्षेपार्थं वचनं प्रकारान्तरानुपपत्तिदर्शनार्थम्, केनचिदपि प्रकारेण क्रियाकरणादि-कारकानुपपत्तेः। केनचित् कश्चित् कश्चित् कथञ्चिन्न जिघ्रेदेवेत्यर्थः।

यत्रापि अविद्यावस्थायामन्योऽन्यं पश्यति, तत्रापि येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्येन विजानाति तस्य करणस्य विज्ञेये विनियुक्तत्वात्, ज्ञातुश्च ज्ञेय एव हि जिज्ञासा नात्मनि। न

किसीके लिये अनात्मा रहते हुए सब कुछ आत्मा हो ही सकता है; अतः अनात्मत्व तो अविद्यासे ही कल्पित है, वास्तवमें तो आत्मासे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। अतः पारमार्थिक आत्मैकत्वका ज्ञान होनेपर क्रिया, कारक और फलकी प्रतीति होनी सम्भव नहीं है। इसलिये [ज्ञानदृष्टिसे] विरोध होनेके कारण ब्रह्मवेत्ताके लिये क्रिया और उनके साधनोंकी तो सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। 'केन कम्' ऐसा जो आक्षेपार्थक वचन है, वह प्रकारान्तरकी अनुपपत्ति प्रदर्शित करनेके लिये है; क्योंकि किसी भी प्रकारसे [ब्रह्मवेत्ताके लिये] क्रिया और करणादि कारकोंकी उपपत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि कोई भी किसीके द्वारा किसी प्रकार कुछ भी नहीं सूँघ सकता।

इसके सिवा अविद्यावस्थामें भी जहाँ अन्य अन्यको देखता है, वहाँ भी जिसके द्वारा इस सबको जानता है; उसे किसके द्वारा जाने, क्योंकि जिसके द्वारा वह जानता है वह इन्द्रिय तो उसके विज्ञेयवर्गमें आ जाती है और ज्ञाताकी जिज्ञासा भी ज्ञेयमें ही होती है, अपनेमें नहीं



चाग्नेरिव आत्मा आत्मनो विषयः, न चाविषये ज्ञातुर्ज्ञानमुपपद्यते। तस्माद् येनेदं सर्वं विजानाति तं विज्ञातारं केन करणेन को वान्यो विजानीयात्। यदा तु पुनः परमार्थविवेकिनो ब्रह्मविदो विज्ञातैव केवलोऽद्वयो वर्तते तं विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

होती [तथा अग्नि जैसे अपनेहीको नहीं जलाता,] उसी प्रकार आत्मा अपना ही विषय नहीं हो सकता। और जो विषय नहीं है, उसका ज्ञाताको ज्ञान नहीं हो सकता। अतः जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उस विज्ञाताको कोई अन्य अनात्मा किस करणके द्वारा जान सकता है। किंतु जिस अवस्थामें परमार्थका विवेक रखनेवाले ब्रह्मवेत्ताके लिये केवल अद्वितीय विज्ञाता ही विद्यमान रहता है, उस समय हे मैत्रेयि! उस विज्ञाताको वह किसके द्वारा जानेगा? ॥१४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये चतुर्थं मैत्रेयीब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

उपक्रमः

यत्केवलं कर्मनिरपेक्षममृतत्वसाधनं तद्वक्तव्यमिति मैत्रेयीब्राह्मणमारब्धम्, तच्चात्मज्ञानं सर्वसंन्यासाङ्गविशिष्टम्। आत्मनि च विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, आत्मा च प्रियः सर्वस्मात्;

जो कर्मकी अपेक्षासे रहित अकेला ही अमृतत्वका साधन है, उसका वर्णन करना था, इसीसे मैत्रेयीब्राह्मण आरम्भ किया गया था और वह सर्वसंन्यासरूप अङ्गसे युक्त आत्मज्ञान ही है। आत्माका ज्ञान होनेपर यह सब कुछ ज्ञान हो जाता है और आत्मा सबसे अधिक प्रिय है

तस्मादात्मा द्रष्टव्यः। स च श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति च दर्शनप्रकारा उक्ताः।

तत्र श्रोतव्य आचार्यागमाभ्याम्, मन्तव्यस्तर्कतः। तत्र च तर्क उक्तः 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति प्रतिज्ञातस्य हेतुवचनमात्मैकसामान्यत्वम् आत्मैकोद्भवत्वम् आत्मैकप्रलयत्वं च। तत्रायं हेतुरसिद्ध इत्याशङ्क्यत आत्मैकसामान्योद्भवप्रलयाख्यः। तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमेतद्ब्राह्मणमारभ्यते।

यस्मात्परस्परोपकार्योपकारकभूतं जगत्सर्वं पृथिव्यादि; यच्च लोके परस्परोपकार्योपकारकभूतं तदेककारणपूर्वकम् एकसामा-

इसलिये आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये। तथा उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये—ये उसके साक्षात्कारके प्रकार बतलाये गये हैं।

इनमें आत्माका श्रवण तो आचार्य और शास्त्रके द्वारा करना चाहिये और मनन तर्कसे करना चाहिये। इसमें तर्क यह बतलाया है कि जहाँ 'यह सब आत्मा ही है' ऐसी प्रतिज्ञा की है, उसमें एकमात्र आत्माका ही सबमें सामान्यरूपसे विद्यमान रहना, एक आत्मासे ही सबका उत्पन्न होना और एक आत्मामें ही सबका लीन होना—ये उसके हेतु बतलाये गये हैं। यहाँ यह शङ्का की जाती है कि यह जो एक आत्माका ही सबमें समानरूपसे रहना, उसीसे सबका उत्पन्न होना एवं उसीमें लय होनारूप हेतु है, वह असिद्ध है। इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिये यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है।

क्योंकि यह पृथिवी आदि सारा जगत् परस्पर उपकार्य और उपकारकरूप हैं तथा लोकमें जो भी पदार्थ परस्पर उपकार्य-उपकारकरूप होते हैं; वे एक कारणपूर्वक,

न्यात्मकम् एकप्रलयं च दृष्टम्। तस्मादिदमपि पृथिव्यादिलक्षणं जगत्परस्परोपकार्योपकारकत्वा-त्तथाभूतं भवितुमर्हति। एष अर्थोऽस्मिन्ब्राह्मणे प्रकाश्यते।

एक सामान्यरूप और एक प्रलय-स्थानवाले देखे गये हैं; इसलिये यह पृथिवी आदिरूप जगत् भी परस्पर उपकार्य-उपकारकरूप होनेके कारण वैसा ही होना चाहिये। यही विषय इस ब्राह्मणमें प्रकाशित किया जाता है।

अथवा 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति प्रतिज्ञातस्य आत्मोत्पत्तिस्थिति-लयत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधा-नेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यार्थ-स्य निगमनं क्रियते। तथा हि नैयायिकैरुक्तम् — 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्" इति।

अथवा 'यह सब आत्मा ही है' ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी, उसमें आत्मासे उत्पत्ति तथा उसीमें स्थिति और लय होनारूप हेतु बतलाकर अब इस शास्त्रप्रधान मधुब्राह्मणद्वारा प्रतिज्ञा किये हुए उसी अर्थका पुनः निगमन किया जाता है। ऐसा ही नैयायिकोंने कहा है कि "हेतुका प्रतिपादन करके प्रतिज्ञाको पुनः कहना निगमन कहलाता है।"

अन्यैर्व्याख्यातम्—आदुन्दुभि-दृष्टान्ताच्छ्रोतव्यार्थमागमवचनम्, प्राङ्मधुब्राह्मणान्मन्तव्यार्थमुपप-

[भर्तृप्रपञ्चादि] अन्य भाष्य-कारोंने ऐसी व्याख्या की है कि[1] दुन्दुभिके दृष्टान्त [से पहले] तक जो शास्त्रवचन है, वह 'श्रोतव्यः[2] इस विधिवाक्यमें कहे हुए श्रवणका निरूपण करनेके लिये है, फिर[3] मधुब्राह्मणके पहलेतक जो शास्त्र-वचन है, वह युक्ति दिखलाते हुए 'मन्तव्यः' इस वाक्यमें आये हुए मनन-

---

१. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिसे आरम्भ कर।

२. आत्माका श्रवण करना चाहिये।

३. दुन्दुभि-दृष्टान्तसे लेकर।

त्तिप्रदर्शनेन, मधुब्राह्मणेन तु निदिध्यासनविधिरुच्यत इति ।

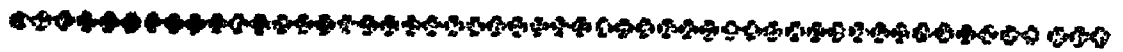
सर्वथापि तु यथा आगमेनावधारितं तर्कतस्तथैव मन्तव्यम् । यथा तर्कतो मतं तस्य तर्कागमाभ्यां निश्चितस्य तथैव निदिध्यासनं क्रियत इति पृथङ्निदिध्यासनविधिरनर्थक एव । तस्मात् पृथक्प्रकरणविभागोऽनर्थक इत्यस्मदभिप्रायः श्रवणमनननिदिध्यासनानामिति । सर्वथापि तु अध्यायद्वयस्यार्थोऽस्मिन्ब्राह्मणे उपसंह्रियते ।

का निरूपण करनेके लिये है और मधुब्राह्मणके द्वारा निदिध्यासनकी विधि बतलायी जाती है ।

किंतु [कुछ भी अर्थ किया जाय] सभी प्रकार जैसा शास्त्रने निश्चय किया हो, वैसा ही तर्कद्वारा मनन करना चाहिये और जैसा तर्कसे मनन किया गया है उस तर्क और शास्त्रसे निश्चित किये हुए अर्थका उसी प्रकार निदिध्यासन किया जाता है, इसलिये निदिध्यासनके लिये पृथक् विधि करना निरर्थक ही है । अतः हमारा यह अभिप्राय है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकरणोंका पृथक् विभाग करना व्यर्थ है । सभी तरहसे इस ब्राह्मणमें पूर्ववर्ती दोनों अध्यायोंके अर्थका उपसंहार किया जाता है ।

पृथिवी आदिमें मधुदृष्टि तथा उनके अन्तर्वर्ती पुरुषके साथ शारीर पुरुषकी अभिन्नता

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १ ॥



यह पृथिवी समस्त भूतोंका मधु है और सब भूत इस पृथिवीके मधु हैं। इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-शारीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ १ ॥

इयं पृथिवी प्रसिद्धा सर्वेषां भूतानां मधु, सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानां प्राणिनाम्, मधु कार्यम्, मध्विव मधु। यथैको मध्वपूपोऽनेकैर्मधुकरैर्निर्वर्तित एवमियं पृथिवी सर्वभूतनिर्वर्तिता। तथा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यै पृथिव्या अस्या मधु कार्यम्।

किं च यश्चायं पुरुषोऽस्यां पृथिव्यां तेजोमयश्चिन्मात्रप्रकाशमयोऽमृतमयोऽमरणधर्मा पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं शारीरः शरीरे भवः पूर्ववत्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, स च लिङ्गाभिमानी, स च सर्वेषां भूतानामुपकारकत्वेन मधु, सर्वाणि च भूतान्यस्य मधु—चशब्दसामर्थ्यात्। एवमेतच्चतुष्टयं तावदेकं सर्वभूतकार्यम्,

यह प्रसिद्ध पृथिवी समस्त भूतोंका मधु है; अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतों-प्राणियोंका मधु—कार्य है। यह मधुके समान मधु है; जिस प्रकार एक मधुका छत्ता अनेकों मधुकरोंद्वारा तैयार किया हुआ होता है, उसी प्रकार यह पृथिवी समस्त भूतोंद्वारा तैयार की गयी है तथा समस्त भूत इस पृथिवीके मधु—कार्य हैं।

इसके सिवा इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय—चिन्मात्रप्रकाशमय और अमृतमय-अमरणधर्मा पुरुष है और जो यह अध्यात्म शारीर—शरीरमें रहनेवाला पहलेहीके समान तेजोमय और अमृतमय पुरुष है तथा लिङ्ग-देहका अभिमानी है वह भी समस्त भूतोंका उपकारक होनेसे मधु है और समस्त भूत उसके मधु हैं—यह बात ['यश्चायमस्याम्' इस वाक्यके] 'च' शब्दके सामर्थ्यसे जानी जाती है। इस प्रकार ये चारों[1] ही एक मधु अर्थात् समस्त भूतोंके कार्य

१. पृथिवी, समस्त भूत, पार्थिव पुरुष और शारीर पुरुष।

सर्वाणि च भूतान्यस्य कार्यम्; अतोऽस्य एककारणपूर्वकता। यस्मादेकस्मात्कारणादेतज्जातं तदेवैकं परमार्थतो ब्रह्म, इतरत्कार्यं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमित्येष मधुपर्यायाणां सर्वेषामर्थः सङ्क्षेपतः।

अयमेव स योऽयं प्रतिज्ञातः "इदं सर्वं यदयमात्मा" (२। ४। ६) इति इदममृतम्; यन्मैत्रेय्या अमृतत्वसाधनमुक्तम्, आत्मविज्ञानमिदं तदमृतम्। इदं ब्रह्म, यद् 'ब्रह्म ते ब्रवाणि, ज्ञपयिष्यामि' इत्यध्यायादौ प्रकृतं यद्विषया च विद्या ब्रह्मविद्येत्युच्यते। इदं सर्वं यस्माद्ब्रह्मणो विज्ञानात्सर्वं भवति ॥ १ ॥

हैं और समस्त भूत इन चारोंके कार्य हैं; अतः इस जगत्की एक कारणपूर्वकता है। जिस एक कारणसे यह उत्पन्न हुआ वही एक तत्त्व परमार्थतः ब्रह्म है. उससे भिन्न उसका कार्य वाणीसे आरम्भ होनेवाला विकार नाममात्र है—इस प्रकार मधुके पर्यायोंका यह संक्षेपतः अर्थ है।

यही वह है जिसके विषयमें यह प्रतिज्ञा की गयी है कि "यह जो कुछ है सब आत्मा है।" यह अमृत है। मैत्रेयीको जो अमृतत्वका साधन बतलाया गया था वह यह आत्मविज्ञान अमृत है। यह ब्रह्म है, जिसका 'मैं तुझे ब्रह्मका उपदेश करूँगा; ब्रह्मका ज्ञान कराऊँगा' इस प्रकार इस अध्यायके आरम्भमें प्रकरण है तथा जिससे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या ब्रह्मविद्या इस नामसे कही जाती है। यह सर्व है, क्योंकि ब्रह्मका ज्ञान होनेसे सर्वरूप हो जाता है ॥ १ ॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाᳪ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो

यश्चायमध्यात्मꣳ रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ २ ॥

ये जल समस्त भूतोंके मधु हैं और समस्त भूत इन जलोंके मधु हैं। इन जलोंमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म रैतस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥२॥

तथा आपः । अध्यात्मं रेतस्यपां विशेषतोऽवस्थानम् ॥२॥	इसी प्रकार जल मधु है। अध्यात्म (शरीरके अन्तर्गत) रेतस्में जलकी विशेषरूपसे स्थिति है ॥२॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ३ ॥

यह अग्नि समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस अग्निके मधु हैं। इस अग्निमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ ३ ॥

तथा अग्निः । वाचि अग्नेर्विशेषतोऽवस्थानम् ॥ ३ ॥	इसी प्रकार अग्नि मधु है। वाणीमें अग्निकी विशेषरूपसे स्थिति है ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयःपुरुषो

यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ ४ ॥

यह वायु समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस वायुके मधु हैं। इस वायुमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-प्राणरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥४॥

तथा वायुः। अध्यात्मं प्राणः। भूतानां शरीरारम्भकत्वेनोपकारान्मधुत्वम्। तदन्तर्गतानां तेजोमयादीनां करणत्वेनोपकारान्मधुत्वम्। तथा चोक्तम् "तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः" (१।५।११) इति ॥४॥

इसी प्रकार वायु मधु है। अध्यात्ममधु प्राण है। प्राणियोंके शरीरोंके आरम्भकरूपसे उनका उपकारक होनेके कारण यह मधु है। उसके अन्तर्गत जो तेजोमयादि हैं, उनका मधुत्व उसके करणरूपसे उपकारक होनेके कारण है। ऐसा ही कहा भी है—"उस वाणीका पृथिवी शरीर है और यह अग्नि तेजोरूप है" ॥ ४ ॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ ५ ॥

यह आदित्य समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आदित्यके मधु हैं। यह जो इस आदित्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह

आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ ५ ॥

तथा आदित्यो मधु । चाक्षुषोऽध्यात्मम् ॥ ५ ॥

इसी प्रकार आदित्य मधु है। चाक्षुष पुरुष अध्यात्ममधु है ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाᳬ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मᳬश्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदᳬ सर्वम् ॥ ६ ॥

ये दिशाएँ समस्त भूतोंका मधु हैं तथा समस्त भूत इन दिशाओंके मधु हैं। यह जो इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ ६ ॥

तथा दिशो मधु। दिशां यद्यपि श्रोत्रमध्यात्मम्, शब्दप्रतिश्रवणवेलायां तु विशेषतः संनिहितो भवतीत्यध्यात्मं प्रातिश्रुत्कः—प्रतिश्रुत्कायां प्रतिश्रवणवेलायां भवः प्रातिश्रुत्कः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार दिशाएँ मधु हैं। यद्यपि श्रोत्र दिशाओंका अध्यात्म परिणाम है तो भी शब्दश्रवणके समय श्रौत्रपुरुष विशेषतः श्रोत्रोंके समीप रहता है, इसलिये वह अध्यात्म प्रातिश्रुत्क है। जो प्रतिश्रुत्कमें अर्थात् प्रत्येक श्रवणवेलामें रहता है, उसे प्रातिश्रुत्क कहते हैं ॥ ६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयो-ऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽ-मृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ७ ॥

यह चन्द्रमा समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस चन्द्रमाके मधु हैं। यह जो इस चन्द्रमामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मनःसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे वतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ ७ ॥

तथा चन्द्रः । अध्यात्मं मानसः ॥ ७ ॥	इसी प्रकार चन्द्रमा मधु है। यहाँ अध्यात्म मानस पुरुष है ॥७॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ८ ॥

यह विद्युत् समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस विद्युत्के मधु हैं। यह जो इस विद्युत्में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ ८ ॥

तथा विद्युत् । त्वक्तेजसि भव-स्तैजसोऽध्यात्मम् ॥ ८ ॥	इसी प्रकार विद्युत् मधु है। त्वचाके तेजमें रहनेवाला तैजस पुरुष अध्यात्म है ॥ ८ ॥

अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ ९ ॥

यह मेघ समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस मेघके मधु हैं। यह जो इस मेघमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म शब्द एवं स्वरसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ ९ ॥

तथा स्तनयित्नुः शब्दे भवः शाब्दोऽध्यात्मं यद्यपि, तथापि स्वरे विशेषतो भवतीति सौवरोऽध्यात्मम् ॥ ९ ॥

इसी प्रकार मेघ मधु है। शब्दमें रहनेवालेको शाब्द कहते हैं; वह यद्यपि अध्यात्म है, तथापि विशेषरूपसे स्वरमें रहता है, इसलिये सौवर (स्वरसम्बन्धी) पुरुष अध्यात्म है ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १० ॥

यह आकाश समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आकाशके मधु हैं। यह जो इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म हृदयाकाशरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ १० ॥

तथा आकाशः । अध्यात्मं हृद्याकाशः ॥ १० ॥

इसी प्रकार आकाश मधु है। अध्यात्मपुरुष हृदयाकाश है ॥१०॥

आकाशान्ताः पृथिव्यादयो भूतगणा देवतागणाश्च कार्यकरण-सङ्घातात्मान उपकुर्वन्तो मधु भवन्ति प्रतिशरीरिणमित्युक्तम् । येन ते प्रयुक्ताः शरीरिभिः सम्ब-ध्यमाना मधुत्वेनोपकुर्वन्ति तद् वक्तव्यमितीदमारभ्यते —

पृथिवीसे लेकर आकाशपर्यन्त भूतगण और देहेन्द्रियसंघातरूप देवगण उपकार करनेके कारण प्रत्येक देहधारीके लिये मधु होते हैं-ऐसा कहा गया। अब जिसके द्वारा प्रेरित होते हुए वे देहधारियों-से सम्बद्ध होकर मधुरूपसे उनका उपकार करते हैं, उसका वर्णन करना है, इसलिये यह आरम्भ किया जाता है—

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो-ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ११ ॥

यह धर्म समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस धर्मके मधु हैं। इस धर्ममें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ ११ ॥

अयं धर्मः—'अयम्' इत्यप्रत्य-क्षोऽपि धर्मः कार्येण तत्प्रयुक्तेन प्रत्यक्षेण व्यपदिश्यते—अयं धर्म

यह धर्म मधु है। 'अयम्' (यह) इस पदका प्रयोग प्रत्यक्ष वस्तुके लिये होता है, यद्यपि धर्म प्रत्यक्ष नहीं है, तो भी उससे होनेवाले प्रत्यक्ष कार्यके कारण 'अयं धर्मः' इस प्रकार प्रत्यक्षवत् व्यव-

इति प्रत्यक्षवत्। धर्मश्च व्याख्यातः श्रुतिस्मृतिलक्षणः; क्षत्रादीनामपि नियन्ता, जगतो वैचित्र्यकृत् पृथिव्यादीनां परिणामहेतुत्वात्, प्राणिभिरनुष्ठीयमानरूपश्च। तेन च 'अयं धर्मः' इति प्रत्यक्षेण व्यपदेशः।

सत्यधर्मयोश्चाभेदेन निर्देशः कृतः शास्त्राचारलक्षणयोः; इह तु भेदेन व्यपदेश एकत्वे सत्यपि, दृष्टादृष्टभेदरूपेण कार्यारम्भकत्वात्। यस्त्वदृष्टोऽपूर्वाख्यो धर्मः, स सामान्यविशेषात्मना अदृष्टेन रूपेण कार्यमारभते, सामान्यरूपेण पृथिव्यादीनां प्रयोक्ता भवति, विशेषरूपेण चाध्यात्मं कार्यकरणसङ्घातस्य। तत्र पृथिव्यादीनां प्रयोक्तरि यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयः, तथाध्यात्मं कार्यकरणसङ्घातकर्तरि। धर्मे भवो धार्मः॥ ११॥

हार किया जाता है। श्रुति-स्मृतिरूप धर्मकी व्याख्या तो की ही जा चुकी है, वह क्षत्रियादिका नियन्ता है, पृथिवी आदिके परिणामका हेतु होनेसे जगतकी विचित्रता करनेवाला है और प्राणियोंद्वारा पालन किया जाना ही इसका स्वरूप है। इस कारण भी 'यह धर्म' इस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे उसका उल्लेख किया गया है।

शास्त्र और आचाररूप सत्य और धर्मका अभेदरूपसे निर्देश किया गया है; किंतु एकत्व होनेपर भी यहाँ उसका भेदरूपसे व्यवहार किया गया है, क्योंकि दृष्ट और अदृष्टरूपसे वह कार्यका आरम्भक है। उनमें जो अपूर्वसंज्ञक अदृष्ट धर्म है, वह अपने सामान्य और विशेषात्मक अदृष्टरूपसे कार्यका आरम्भ करता है; वह सामान्यरूपसे पृथिवी आदिका प्रेरक होता है और विशेषरूपसे अध्यात्म देहेन्द्रियसंघातका। उनमेंसे पृथिवी आदिके प्रेरकके लिये 'यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयः' यह वाक्य है और 'अध्यात्मम्' इत्यादि वाक्य देहेन्द्रियसंघातके कर्ताके लिये है। जो धर्ममें रहता है, उसे 'धार्म' कहते हैं॥ ११॥

इद ँ सत्य ँ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म ँ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ १२ ॥

यह सत्य समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस सत्यके मधु हैं। यह जो इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सत्यसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ १२ ॥

तथा दृष्टेनानुष्ठीयमानेन आचाररूपेण सत्याख्यो भवति स एव धर्मः। सोऽपि द्विप्रकार एव सामान्यविशेषात्मरूपेण। सामान्यरूपः पृथिव्यादिसमवेतः, विशेषरूपःकार्यकरणसङ्घातसमवेतः। तत्र पृथिव्यादिसमवेते वर्तमानक्रियारूपे सत्ये, तथाध्यात्मं कार्यकरणसङ्घातसमवेते सत्ये भवः सात्यः—"सत्येन वायुरावाति" (महाना० २२।१) इति श्रुत्यन्तरात् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार वही धर्म दृष्ट—अनुष्ठीयमान यानी आचाररूपसे सत्य संज्ञावाला होता है। वह भी सामान्य और विशेषरूपसे दो प्रकारका ही है। सामान्यरूप पृथिवी आदिसें सम्बन्ध रखनेवाला है और विशेषरूप देहेन्द्रियसंघातसे सम्बद्ध है। तहाँ पृथिवी आदिसे सम्बद्ध वर्तमान क्रियारूप सत्यमें तथा अध्यात्म यानी देहेन्द्रियसंघातमें सम्बद्ध सत्यमें जो होनेवाला है, उसे सात्य कहते हैं; यह बात "सत्यसे वायु चलता है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होती है ॥ १२ ॥

धर्मसत्याभ्यां प्रयुक्तोऽयं कार्यकरणसङ्घातविशेषः, स येन जातिविशेषेण संयुक्तो भवति, स

यह देहेन्द्रियसंघातविशेष धर्म और सत्यद्वारा प्रेरित है, यह जिस जातिविशेषसे संयुक्त होता है, वह

जातिविशेषा मानुषादिः । तत्र मानुषादिजातिविशिष्टा एव सर्वे प्राणिनिकायाः परस्परोपकार्योपकारकभावेन वर्तमाना दृश्यन्ते । अतः—

जातिविशेष मनुष्य आदि है। तहाँ सम्पूर्ण जीवसमुदाय मनुष्यादि जातिविशिष्ट होकर ही परस्पर उपकार्यउपकारकभावसे विद्यमान दिखायी देते हैं। अतः—

इदं मानुषꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १३ ॥

यह मनुष्यजाति समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यजातिके मधु हैं। यह जो इस मनुष्यजातिमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मानुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस श्रुतिद्वारा बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ १३ ॥

मानुषादिजातिरपि सर्वेषां भूतानां मधु । तत्र मानुषादिजातिरपि बाह्या आध्यात्मिकी चेत्युभयथा निर्देशभाग्भवति ॥ १३ ॥

मनुष्यादि जाति भी समस्त भूतोंका मधु है। वह मनुष्यजाति भी बाह्य और आध्यात्मिक भेदसे दो तरहके निर्देशवाली है ॥ १३ ॥

यस्तु कार्यकरणसङ्घातो मानुषादिजातिविशिष्टः सः—

जो भी मनुष्यादि जातिविशिष्ट देहेन्द्रियसंघात है वह—

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः

पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥ १४ ॥

यह आत्मा (देह) समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आत्माके मधु हैं। यह जो इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ १४ ॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु।

यह आत्मा (देह) समस्त भूतोंका मधु है।

नन्वयं शरीरशब्देन निर्दिष्टः पृथिवीपर्याय एव।

शङ्का—किंतु यह तो 'शारीर' शब्दसे बतलाया हुआ पृथिवीका पर्याय ही है।[1]

न; पार्थिवांशस्यैव तत्र ग्रहणात्। इह तु सर्वात्मा प्रत्यस्तमिताध्यात्माधिभूताधिदैवादिसर्वविशेषः सर्वभूतदेवतागणविशिष्टः कार्यकरणसङ्घातः सः 'अयमात्मा' इत्युच्यते। तस्मिन्नस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽमूर्तरसः सर्वात्मको निर्दिश्यते। एकदेशेन तु पृथिव्यादिषु निर्दिष्टः, अत्राध्यात्मविशेषाभावात् स न निर्दिश्यते।

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ तो केवल पार्थिव अंशका ही ग्रहण किया गया है; किंतु यहाँ जो सर्वात्मा है, जिसमें अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवादि सब प्रकारके विशेषका अभाव है, जो समस्त भूत और देवगणसे विशिष्ट है तथा भूत और इन्द्रियोंका संघात है, वही यहाँ 'यह आत्मा' ऐसा कहा गया है। उस इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष सर्वात्मक अमूर्तरस ही बताया गया है। पृथिवी आदिमें तो अध्यात्मपुरुषका एकदेशरूपसे निर्देश किया है, किंतु यहाँ कोई अध्यात्मविशेष न होनेके कारण उसका निर्देश नहीं

१. अतः इसका पुनः उल्लेख करनेसे पुनरुक्ति दोष आता है।

यस्तु परिशिष्टो विज्ञानमयः—यदर्थोऽयं देहलिङ्गसङ्घात आत्मा—सः 'यश्चायमात्मा' इत्युच्यते ॥ १४ ॥

किया गया। इससे भिन्न जो विज्ञानमय पुरुष रह जाता है, जिसके लिये कि यह देहेन्द्रियसंघातरूप आत्मा है, वही 'जो यह आत्मा है' ऐसा कहकर बतलाया गया है ॥ १४ ॥

आत्माका सर्वाधिपतित्व और सर्वाश्रयत्वनिरूपण

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

वह यह आत्मा समस्त भूतोंका अधिपति एवं समस्त भूतोंका राजा है। इस विषयमें दृष्टान्त—जिस प्रकार रथकी नाभि और रथकी नेमिमें सारे अरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस आत्मामें समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त प्राण और ये सभी आत्मा समर्पित हैं ॥ १५ ॥

यस्मिन्नात्मनि परिशिष्टो विज्ञानमयोऽन्त्ये पर्याये प्रवेशितः, सोऽयमात्मा। तस्मिन्नविद्याकृतकार्यकरणसङ्घातोपाधिविशिष्टे ब्रह्मविद्यया परमार्थात्मनि प्रवेशिते, स एवमुक्तोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनभूतः सर्वेषां भूतानाम-

जिसका पहलेके पर्यायोंमें उपदेश नहीं हुआ, उस अवशिष्ट विज्ञानमयका अन्तिम पर्यायमें जिस आत्मामें प्रवेश कराया गया है, वह यहाँ 'यह आत्मा' इस प्रकार कहा गया है। अविद्याकृत देहेन्द्रियसंघातरूप उपाधिसे युक्त जीवका ब्रह्मविद्याके द्वारा उस परमार्थ आत्मामें प्रवेश कराये जानेपर वह इस प्रकार कहा हुआ आत्मा अर्थात् आत्मभावको प्राप्त हुआ विद्वान् अन्तर-बाह्यशून्य, पूर्ण और प्रज्ञानघनभूत है; यह समस्त भूतोंका आत्मा

यमात्मा सर्वैरुपास्यः सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वभूतानां स्वतन्त्रो न कुमारामात्यवत्, किं तर्हि ? सर्वेषां भूतानां राजा। राजत्वविशेषणमधिपतिरिति; भवति कश्चिद्राजोचितवृत्तिमाश्रित्य राजा, न त्वधिपतिः, अतो विशिनष्ट्यधिपतिरिति। एवं सर्वभूतात्मा विद्वान् ब्रह्मविन्मुक्तो भवति।

यदुक्तम् 'ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवत्' (१।४।९) इतीदं तद् व्याख्यातम्। एवमात्मानमेव सर्वात्मत्वेन आचार्यागमाभ्यां श्रुत्वा, मत्वा तर्कतो विज्ञाय साक्षादेवं यथा मधुब्राह्मणे दर्शितं तथा, तस्माद्ब्रह्मविज्ञानादेवंलक्षणात्, पूर्वमपि ब्रह्मैव सदविद्यया अब्रह्मासीत्, सर्वमेव च सदसर्वमासीत्, तां त्वविद्यामस्माद्विज्ञानात्तिरस्कृत्य

है, सबके द्वारा उपास्य है, सब भूतोंका अधिपति है और समस्त भूतोंमें स्वतन्त्र है, सो भी कुमार या मन्त्रीके समान नहीं, तो किस प्रकार ? समस्त भूतोंका राजा है। 'अधिपति' यह राजत्वका विशेषण है; कोई पुरुष राजोचितवृत्तिका आश्रय लेकर राजा तो हो जाता है, किंतु अधिपति नहीं होता, इसलिये उसका 'अधिपति' यह विशेषण देते हैं। ऐसा सर्वभूतात्मा ब्रह्मवेत्ता विद्वान् मुक्त हो जाता है।

[श्रुतिमें] पहले जो यह कहा है कि 'ब्रह्मविद्यासे हम सर्वरूप हो जायँगे—ऐसा मनुष्य मानते हैं, सो उस ब्रह्मने क्या जाना जिससे वह सर्वरूप होगया' उसीकी यह व्याख्या की गयी है। इस प्रकार गुरु और शास्त्रसे आत्माको ही सर्वात्मभावसे सुनकर, तर्कद्वारा मनन कर तथा जिस प्रकार मधुब्राह्मणमें दिखाया गया है, उस प्रकार उक्त लक्षणवाले उस ब्रह्मविज्ञानसे ही साक्षात् जानकर, जो पहले भी ब्रह्म होते हुए ही अविद्यावश अब्रह्म बना हुआ था, एवं सर्वरूप होते हुए ही असर्व था, अब इस ज्ञानके द्वारा उस अविद्या-

ब्रह्मविद्ब्रह्मैव सन्ब्रह्माभवत्, सर्वः स सर्वमभवत् ।

को नष्ट कर वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म होते हुए ही ब्रह्म और सर्वरूप होते हुए ही सर्व हो गया है ।

परिसमाप्तः शास्त्रार्थो यदर्थः प्रस्तुतः । तस्मिन्नेतस्मिन् सर्वात्मभूते ब्रह्मविदि सर्वात्मनि सर्वं जगत् समर्पितमित्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त उपादीयते—तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता इति प्रसिद्धोऽर्थः, एवमेवास्मिन्नात्मनि परमात्मभूते ब्रह्मविदि सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि, सर्वे देवा अग्न्यादयः, सर्वे लोका भूरादयः, सर्वे प्राणा वागादयः, सर्व एत आत्मानो जलचन्द्रवत् प्रतिशरीरानुप्रवेशिनोऽविद्याकल्पिताः, सर्वं जगदस्मिन् समर्पितम् ।

जिसके लिये यह प्रकरण आरम्भ किया गया था वह शास्त्रका तात्पर्य समाप्त हो गया । उस इस सबके आत्मभूत सर्वात्म ब्रह्मवेत्तामें सारा जगत् समर्पित है, इस अर्थमें यह दृष्टान्त दिया जाता है-जिस प्रकार यह बात प्रसिद्ध है कि रथकी नाभि और रथकी नेमिमें सारे अरे समर्पित हैं, उसी प्रकार इस परमात्मभूत ब्रह्मवेत्ता आत्मामें ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूत, अग्नि आदि समस्त देव, भूर्लोक आदि समस्त लोक, वाक् आदि समस्त प्राण तथा जलमें प्रतिविम्बित चन्द्रके समान प्रत्येक शरीरमें प्रवेश करनेवाले ये अविद्याकल्पित समस्त आत्मा समर्पित हैं । अभिप्राय यह है कि सारा जगत् इसीमें समर्पित है ।

ब्रह्मविदः सार्वात्म्योपपादनम्

यदुक्तं ब्रह्मविद्वामदेवः प्रतिपेदे—'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (१ । ४ । १०) इति, स एष सर्वात्मभावो व्याख्यातः । स एष विद्वान् ब्रह्मवित् सर्वोपाधिः सर्वात्मा सर्वो

पहले जो श्रुतिने कहा था कि ब्रह्मवेत्ता वामदेवने जाना 'मैं मनु हुआ और सूर्य भी' वहाँ कहे हुए इस सर्वात्मभावकी यह व्याख्या हुई है । वह यह विद्वान् ब्रह्मवेत्ता सर्वोपाधि, सर्वात्मा और सर्वरूप हो जाता है ।

भवति । निरुपाधिर्निरुपाख्यः अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनोऽजाऽजरोऽमृतोऽभयोऽचलो नेति नेत्यस्थूलोऽनणुरित्येवंविशेषणो भवति ।

तमेतमर्थमजानन्तस्तार्किकाः केचित् पण्डितम्मन्याश्चागमविदः शास्त्रार्थं विरुद्धं मन्यमाना विकल्पयन्तो मोहमगाधमुपयान्ति । तमेतमर्थमेतौ मन्त्रावनुवदतः— "अनेजदेकं मनसो जवीयः" (ई० उ० ४) "तदेजति तन्नैजति" (ई० उ० ५) इति । तथा च तैत्तिरीयके —"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्" (तै० आर० १० । १० । २०) "एतत्साम गायन्नास्ते" (तै० उ० ३ । १० । ५) "अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्" (तै० उ० ३ । १० । ६) इत्यादि । तथा च च्छान्दोग्ये "जक्षत् क्रीडन्रममाणः" (८ । १२ । ३) "स यदि पितृलोककामः" (८ । २ । १) "सर्वगन्धः सर्वरसः" (३ ।

तथा उपाधिशून्य, संज्ञाशून्य, अन्तरबाह्यशून्य, पूर्ण, प्रज्ञानघन, अजन्मा अजर, अमर, अभय, अचल, नेति नेति तथा अस्थूल और असूक्ष्म इत्यादि विशेषणोंवाला हो जाता है।

किंतु इस अर्थको न जाननेवाले कुछ तार्किक और अपनेको पण्डित माननेवाले लोग शास्त्रके तात्पर्यको इससे विपरीत मानकर विविध प्रकारकी कल्पना करते हुए अगाध मोहको प्राप्त होते हैं। उस इस अर्थका "अनेजदेकं मनसो जवीयः[1]" तथा 'तदेजति तन्नैजति"[2] ये दो मन्त्र अनुवाद करते हैं। तथा तैत्तिरीयश्रुतिमें भी कहा है—"जिससे पर और अपर कुछ भी नहीं है", तथा "ब्रह्मवेत्ता यह सामगान करता रहता है—" "मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ—" इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में कहा है–"हँसता, खेलता और रमण करता हुआ [अपने शरीरकी सुधि न रखते हुए विचरता है]", "वह यदि पितृलोककी कामना करनेवाला होता है [तो उसके संकल्पसे ही पितर वहाँ उपस्थित हो जाते हैं]", "सर्वगन्ध, सर्वरस" इत्यादि । आथर्वण

१. वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूपसे विचलित न होनेवाला, एक और मनसे भी अधिक वेगवान् है ।

२. वह चलता है और नहीं भी चलता ।

१४।२) इत्यादि। आथर्वणे च "सर्वज्ञः सर्ववित्" (मु० उ० १।१।९) "दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च" (मु० उ० ३।१।७)। कठवल्लीष्वपि "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (१।२।२०) "कस्तं मदामदं देवम्" (१।२।२१) "तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्" (ई० उ० ४) इति च। तथा गीतासु "अहं क्रतुरहं यज्ञः" (९।१६) "पिताहमस्य जगतः" (९।१७) "नादत्ते कस्यचित् पापम्" (५।१५) "समं सर्वेषु भूतेषु" (१३।२७) "अविभक्तं विभक्तेषु" (१८।२०) "ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च" (१३।१६) इत्येवमाद्यागमार्थं विरुद्धमिव प्रतिभान्तं मन्यमानाः स्वचित्तसामर्थ्यादर्थनिर्णयाय विकल्पयन्तः, अस्त्यात्मा नास्त्यात्मा कर्ताकर्ता मुक्तो बद्धः क्षणिको विज्ञानमात्रं शून्यं चेत्येवं विकल्पयन्तो न पारमधिगच्छन्त्य-

(मुण्डक) उपनिषद्में कहा है—"वह सर्वज्ञ, सर्ववित् है", "वह दूरसे भी दूर और यहाँ समीपमें भी है।" कठवल्लियोंमें भी कहा है—"वह अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् आत्मा…", "उस हर्षसहित और हर्षरहित देवको।" [ईशोपनिषद्में कहा है—] "वह स्वयं स्थिर रहकर ही अन्य सब दौड़नेवालोंसे आगे पहुँचा रहता है।" तथा गीतामें भी कहा है—"मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ", "मैं इस जगत्‌का पिता हूँ", "वह किसीके पाप [और पुण्य]को ग्रहण नहीं करता" "जो समस्त भूतोंमें परमेश्वरको समभावसे स्थित (देखता है)", "पृथक्-पृथक् भूतोंमें अखण्ड रूपसे स्थित" "वह सबका संहार करनेवाला तथा सबको उत्पन्न करनेवाला है—ऐसा जानना चाहिये" इत्यादि प्रकारके शास्त्राभिप्रायको विरुद्ध-सा भासनेवाला मानकर अपने चित्तके सामर्थ्यसे अर्थ-निर्णय करनेके लिये तरह-तरहकी कल्पना करते हुए तथा 'आत्मा है, आत्मा नहीं है, वह कर्ता है, वह अकर्ता है, मुक्त है, बद्ध है, क्षणिक विज्ञानमात्र है, शून्य है' इत्यादि विकल्प करते हुए अविद्याका पार नहीं पाते; क्योंकि

विद्यायाः, विरुद्धधर्मदर्शित्वात् सर्वत्र ।

तस्मात्तत्र य एव श्रुत्याचार्यदर्शितमार्गानुसारिणः, त एवाविद्यायाः पारमधिगच्छन्ति । त एव चास्मान्मोहसमुद्रादगाधादुत्तरिष्यन्ति, नेतरे स्वबुद्धिकौशलानुसारिणः ॥ १५ ॥

उन्हें सर्वत्र विरुद्ध धर्म ही दिखायी देता है ।

अतः उनमें जो श्रुति और आचार्यके दिखाये हुए मार्गका अनुसरण करनेवाले हैं, वे ही अविद्याका पार पाते हैं और वे ही इस अगाध मोहसमुद्रसे तर जायँगे, दूसरे लोग, जो अपने बुद्धिकौशलका अनुसरण करनेवाले हैं, उसे नहीं तर सकेंगे ॥ १५ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणद्वारा अश्विनीकुमारोंको मधुविद्याके उपदेशकी आख्यायिका

ब्रह्मविद्यास्तुतिलिङ्गानामुपन्यासः

परिसमाप्ता ब्रह्मविद्यामृतत्वसाधनभूता, यां मैत्रेयी पृष्टवती भर्तारम् 'यदेव भगवानमृतत्वसाधनं वेद तदेव मे ब्रूहि' इति । एतस्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थेयमाख्यायिका आनीता । तस्या आख्यायिकायाःसङ्क्षेपतोऽर्थप्रकाशनार्थावेतौ मन्त्रौ भवतः । एवं हि मन्त्रब्राह्मणाभ्यां स्तुतत्वात् अमृतत्वसर्वप्राप्तिसाधनत्वं ब्रह्मविद्यायाः प्रकटीकृतं राजमार्ग-

जिसके विषयमें मैत्रेयीने अपने पतिसे पूछा था कि 'श्रीमान् जो भी अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मेरे प्रति कहिये', वह अमृतत्वकी साधनभूता ब्रह्मविद्या तो समाप्त हो गयी । इस ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये यह (आगे कही जानेवाली) आख्यायिका प्रस्तुत की जाती है । उस आख्यायिकाके तात्पर्यको संक्षेपसे प्रकाशित करनेके लिये ये दो मन्त्र हैं । इसी प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंके द्वारा स्तुत होनेके कारण ब्रह्मविद्याका अमृतत्व एवं सर्वप्राप्तिका साधनत्व प्रकट किया गया है तथा उसे राजमार्गको प्राप्त कराया गया

मुपनीतं भवति—यथादित्य उद्यञ्छार्वरं तमोऽपनयतीति तद्वत् ।

अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या—या इन्द्ररक्षिता सा दुष्प्राप्या देवैरपि; यस्मादश्विभ्यामपि देवभिषग्भ्यामिन्द्ररक्षिता विद्या महतायासेन प्राप्ता । ब्राह्मणस्य शिरश्छित्त्वाश्व्यं शिरः प्रतिसन्धाय तस्मिन्निन्द्रेणच्छिन्ने पुनः स्वशिर एव प्रतिसन्धाय तेन ब्राह्मणस्य स्वशिरसैवोक्ताशेषा ब्रह्मविद्या श्रुता । तस्मात्ततः परतरं किञ्चित् पुरुषार्थसाधनं न भूतं न भावि वा, कुत एव वर्तमानम्, इति नातः परास्तुतिरस्ति ।

अपि चैवं स्तूयते ब्रह्मविद्या—सर्वपुरुषार्थानां कर्म हि साधनमिति लोके प्रसिद्धम् । तच्च कर्म वित्तसाध्यम्, तेनाशापि नास्त्यमृत-

है । जिस प्रकार उदय होनेवाला सूर्य रात्रिके अन्धकारको दूर कर देता है, उसी प्रकार [उदय होनेवाली विद्या अविद्याका नाश कर देती है] ।

इसके सिवा उस ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की गयी है कि जो इन्द्रसे सुरक्षिता थी, वह देवताओंके लिये भी दुष्प्राप्य हो रही थी; क्योंकि वह इन्द्ररक्षिता विद्या देववैद्य अश्विनीकुमारोंको भी बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुई थी । उन्होंने ब्राह्मणका शिर काटकर उसपर घोड़ेका शिर लगाया और जब उसे इन्द्रने काट दिया तो पुनः उनका अपना शिर जोड़कर फिर ब्राह्मणके उस अपने शिरसे ही कहे जानेपर समग्र ब्रह्मविद्याका श्रवण किया । अतः उससे बढ़कर कोई अन्य पुरुषार्थका साधन न कभी हुआ है और न होगा ही, फिर वर्तमान तो हो ही कैसे सकता है; अतः इससे बढ़कर उसकी स्तुति नहीं हो सकती है ।

इसके सिवा ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की जाती है—यह लोकमें प्रसिद्ध है कि समस्त पुरुषार्थोंका साधन कर्म ही है । वह कर्म धनसाध्य है, अतः उससे तो अमृतत्वकी आशा भी नहीं है । यह

त्वस्य। तदिदममृतत्वं केवलयात्मविद्यया कर्मनिरपेक्षया प्राप्यते; यस्मात् कर्मप्रकरणे वक्तुं प्राप्तापि सती प्रवर्ग्यप्रकरणे, कर्मप्रकरणादुत्तीर्य कर्मणा विरुद्धत्वात् केवलसंन्याससहिता अभिहिता अमृतत्वसाधनाय। तस्मान्नातः परं पुरुषार्थसाधनमस्ति।

अमृतत्व तो कर्मकी अपेक्षासे रहित केवल आत्मविद्याके द्वारा ही प्राप्त होता है; क्योंकि प्रवर्ग्यप्रकरणरूप कर्मके प्रकरणमें कहनेके लिये प्राप्त होनेपर भी कर्मसे विरुद्ध होनेके कारण उसे कर्मप्रकरणसे निकालकर अमृतत्वसाधनके लिये संन्यासके साथ वर्णन किया है। अतः इससे बढ़कर कोई और पुरुषार्थका साधन नहीं है।

अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या — सर्वो हि लोको द्वन्द्वारामः "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते" (बृ० उ० १।४।३) इति श्रुतेः। याज्ञवल्क्यो लोकसाधारणोऽपि सन्नात्मज्ञानबलाद्भार्यापुत्रवित्तादिसंसाररतिं परित्यज्य प्रज्ञानतृप्त आत्मरतिर्बभूव।

इसके सिवा ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की गयी है— सारा ही लोक द्वन्द्वोंमें रमण करनेवाला है, जैसा कि "वह विराट् पुरुष [अकेला होनेके कारण] रममाण नहीं हुआ, इसीसे अकेला पुरुष रमण नहीं करता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य साधारण लोकके समान होते हुए भी आत्मज्ञानके बलसे स्त्री, पुत्र एवं धन आदि संसारकी आसक्तिको छोड़कर ज्ञानतृप्त हो आत्मामें प्रेम करनेवाले हो गये थे।

अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या — यस्माद्याज्ञवल्क्येन संसारमार्गाद् व्युत्थिष्ठतापि प्रियायै भार्यायै

इसके सिवा ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की गयी है-क्योंकि संसार-मार्गसे निवृत्त होते हुए भी याज्ञवल्क्यजीने अपनी प्रेयसी भार्या-

प्रीत्यर्थमेवाभिहिता, "प्रियं भाषस एह्यास्स्व" (२ । ४ । ४) इति लिङ्गात् ।

तत्रेयं स्तुत्यर्थाख्यायिकेत्यवोचाम । का पुनः सा आख्यायिका ? इत्युच्यते—

को इसका प्रेमके कारण ही उपदेश किया था, जैसा कि "तू प्रिय भाषण करती है, अतः आ, बैठ जा" इस विशेष कथनरूप प्रमाणसे ज्ञात होता है ।

यहाँतक हमने यह बतलाया कि यह आख्यायिका [ब्रह्मविद्याकी] स्तुतिके लिये है। किंतु वह आख्यायिका है क्या ? सो अब बतलाया जाता है—

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

उस इस मधुको दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था । इस मधुको देखते हुए ऋषि (मन्त्र) ने कहा—'मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है, उसी प्रकार हे नराकार अश्विनीकुमारो ! मैं लाभके लिये किये हुए तुम दोनोंका वह उग्र दंस कर्म प्रकट किये देता हूँ, जिस मधुका दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिने तुम्हारे प्रति अश्वके शिरसे वर्णन किया था ॥ १६ ॥

इदमित्यनन्तरनिर्दिष्टं व्यपदिशति; बुद्धौ सन्निहितत्वात् । वैशब्दः स्मरणार्थः । तदित्याख्यायिकानिर्वृत्तं प्रकरणान्तराभिहितं परोक्षं वैशब्देन स्मारयन्निह व्यपदिशति । यत्तत् प्रवर्ग्यप्रकरणे

'इदम्' यह पद पीछे बतलाये हुए विषयका समीपस्थ वस्तुकी भाँति निर्देश करता है; क्योंकि वह बुद्धिमें सन्निहित है । 'वै' शब्द स्मरणके लिये है । 'तत्' पदसे आख्यायिकामें आनेवाले एवं दूसरे प्रकरणमें कहे हुए परोक्ष मधुका 'वै' शब्दसे स्मरण कराकर यहाँ निर्देश करते हैं । जिस मधुको प्रवर्ग्यप्रकरणमें सूचित

सूचितम्, नाविष्कृतं मधु, तदिदं मधिवहानन्तरं निर्दिष्टम्—'इयं पृथिवी' (२ । ५ । १) इत्यादिना ।

कथं तत्र प्रकरणान्ते सूचितम्—

दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच । तदेनयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति । स होवाचेन्द्रेण वा उक्तोऽस्म्येतच्चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति । तस्माद्वै बिभेमि, यद्वै मे स शिरो न छिन्द्यात् तद्वामुपनेष्य इति । तौ होचतुरावां त्वा तस्मात् त्रास्यावहे इति । कथं मा त्रास्येथे ? इति । यदा नावुपनेष्यसे; अथ ते शिरश्छित्त्वा अन्यत्राहृत्योपनिधास्यावः; अथाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावः; तेन नावनुवक्ष्यसि । यदा नावनुवक्ष्यसि,

किया गया है, किंतु प्रकट नहीं किया गया, उसी मधुका यहाँ पास ही 'इयं पृथिवी' इत्यादि मन्त्रोंसे निर्देश किया गया है ।

उस प्रकरणान्तरमें इसकी किस प्रकार सूचना दी है ?—आथर्वण दध्यङ्ने इन दोनों (अश्विनीकुमारों) को मधुब्राह्मण सुनाया । यह इनका प्रिय धाम है; यही आगे बतलाये जानेवाले प्रकारसे उपदेश करनेके लिये ब्राह्मण इन दोनोंके पास आचार्यरूपमें उपस्थित होता है । उस दध्यङ्ङाथर्वणने कहा, 'इन्द्रने मुझसे कहा है कि यदि तुम इसे किसी अन्यके प्रति कहोगे तो उसी समय मैं तुम्हारा मस्तक काट दूँगा । इसीसे मैं डरता हूँ, यदि वह मेरा मस्तक न काटे तो मैं तुम दोनोंका उपनयन करूँगा ।' उन्होंने कहा, 'हम उनसे आपकी रक्षा करेंगे ।' [दध्यङ्] 'किस प्रकार मेरी रक्षा करोगे ?' [अश्विनीकुमार] 'जिस समय आप हमारा उपनयन करेंगे, उस समय आपका शिर काटकर दूसरी जगह ले जाकर रख देंगे, फिर घोड़ेका शिर लाकर आपके लगा देंगे; उससे आप हमें उपदेश करेंगे । जिस समय वे आप हमें उपदेश करेंगे

अथ ते तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यति; अथ ते स्वं शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्याव इति ।

उस समय इन्द्र आपके उस मस्तकको काट देगा, फिर हम आपका निजी मस्तक लाकर उसे जोड़ देंगे।'

तथेति तौ होपनिन्ये । तौ यदोपनिन्ये, अथास्य शिरश्छित्त्वान्यत्रोपनिदधतुः; अथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः। तेन हाभ्यामनूवाच । स यदा आभ्यामनूवाचाथास्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेद । अथास्य स्वं शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुरिति ।

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन्होंने उनका उपनयन किया । जिस समय उनका उपनयन किया उस समय उन्होंने उनका मस्तक काटकर अन्यत्र रख दिया तथा घोड़ेका शिर लाकर उसे इनके जोड़ दिया। उससे दध्यङ्ने उन्हें उपदेश किया । जिस समय वे उन्हें उपदेश करने लगे तब इन्द्रने आकर उनका वह मस्तक काट दिया। फिर उनके अपने मस्तकको लाकर उसे उनके जोड़ दिया।

यावत्तु प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं मधु तावदेव तत्राभिहितम्, न तु कक्ष्यमात्मज्ञानाख्यम् । तत्र या आख्यायिकाभिहिता सेह स्तुत्यर्था प्रदर्श्यते । इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽनेन प्रपञ्चेनाश्विभ्यामुवाच ।

किंतु वहाँ जितना प्रवर्ग्यका अङ्गभूत मधु है उतना ही कहा गया है, आत्मज्ञानसंज्ञक कक्ष्य मधुका वर्णन नहीं किया गया । वहाँ जो आख्यायिका कही गयी है, उसे यहाँ स्तुतिके लिये प्रदर्शित किया जाता है। उस इस मधुका इन दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंके प्रति इस प्रकार प्रपञ्चके साथ वर्णन किया है।

तदेतदृषिः—तदेतत् कर्म, ऋषिर्मन्त्रः, पश्यन्नुपलभमानः,

उस इस ऋषिने—ऋषि यहाँ मन्त्रका वाचक है—इस कर्मको

अवोचत्—उक्तवान् । कथम्? तद्दंस इति व्यवहितेन सम्बन्धः। दंस इति कर्मणो नामधेयम्। तच्च दंसः किंविशिष्टम्? उग्रं क्रूरम्। वां युवयोः। हे नरा नराकारावश्विनौ। तच्च कर्म किन्निमित्तम्? सनये लाभाय! लाभलुब्धो हि लोकेऽपि क्रूरं कर्माचरति, तथैवैतावुपलभ्येते यथा लोके।

तदाविः प्रकाशं कृणोमि करोमि यद्रहसि भवद्भ्यां कृतम्, किमिव? इत्युच्यते—तन्यतुः पर्जन्यः, न इव। नकारस्तूपरिष्टादुपचार उपमार्थीयो वेदे, न प्रतिषेधार्थः; यथाश्वं न। अश्वमिवेति यद्वत्। तन्यतुरिव वृष्टिं यथा पर्जन्यो वृष्टिं प्रकाशयति स्तनयित्न्वादिशब्दैः, तद्वदहं युवयोः क्रूरं कर्म आविष्कृणोमीति सम्बन्धः।

देखते हुए कहा। किस प्रकार कहा? 'तद्दंस' इस प्रकार यहाँ 'तत्' और 'दंस' इन दूरवर्ती पदोंका अन्वय है। 'दंस' यह उस कर्मका नाम है। वह दंस कर्म किस विशेषणसे युक्त है? उग्र—क्रूर। वाम्-तुम दोनोंका। हे नरा—नराकार अश्विनीकुमारो! वह कर्म किसलिये था? सनये—लाभके लिये। क्योंकि लाभका लोभी पुरुष लोकमें भी क्रूर कर्म कर बैठता है। जिस प्रकार लोकमें होते हैं, वैसे ही ये दोनों भी देखे जाते हैं।

[मन्त्र कहता है--] तुमने जो एकान्तमें किया है, उसे मैं प्रकट किये देता हूँ। किसके समान? सो बतलाया जाता है—'तन्यतुः' 'न' अर्थात् मेघके समान। वेदमें जो नकार किसी पदके पीछे रहता है वह उपचारमात्रमें उपमाके अर्थमें होता है, निषेध अर्थमें नहीं होता। जैसे—'अश्वं न' यह वाक्य अश्वके समान—इस अर्थमें है, उसी प्रकार। जैसे मेघ गर्जनादि शब्दोंके सहित वृष्टिको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मैं तुम दोनोंके क्रूर कर्मको प्रकट करता हूँ—ऐसा इसका सम्बन्ध है।

नन्वश्विनोः स्तुत्यर्थौ कथमिमौ मन्त्रौ स्यातां निन्दावचनौ हीमौ। नैष दोषः; स्तुतिरेवैषा, न निन्दावचनौ । यस्मादीदृशमप्यतिक्रूरं कर्म कुर्वतोर्युवयोर्न लोम च मीयत इति। न चान्यत्किञ्चिद्धीयत एवेति। स्तुतावेतौ भवतः। निन्दां प्रशंसां हि लौकिकाः स्मरन्ति। तथा प्रशंसारूपा च निन्दा लोके प्रसिद्धा।

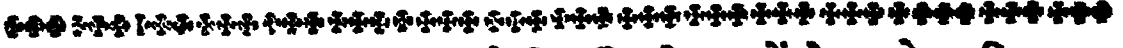
शङ्का-किंतु ये दोनों मन्त्र अश्विनीकुमारोंकी स्तुतिके लिये कैसे हो सकते हैं, ये तो उनकी निन्दाको ही बतलानेवाले हैं ?

समाधान-यह दोष नहीं है; यह उनकी स्तुति ही है, ये मन्त्र निन्दावाचक नहीं हैं; क्योंकि ऐसा क्रूर कर्म करनेपर भी तुम दोनोंका बाल भी बाँका नहीं होता और न तुम्हारी दूसरी ही कोई हानि हो रही है। अतः ये उनकी स्तुतिमें ही हैं। लौकिक पुरुष वहीं प्रशंसाको निन्दा मानते हैं, इसी प्रकार लोकमें प्रशंसारूपा निन्दा भी प्रसिद्ध है।

दध्यङ्नाम आथर्वणः। हेत्यनर्थको निपातः। यन्मधुकक्ष्यमात्मज्ञानलक्षणमाथर्वणो वां युवाभ्यामश्वस्य शीर्ष्णा शिरसा प्र यत् ईम् उवाच यत् प्रोवाच मधु। ईमित्यनर्थको निपातः ॥ १६ ॥

दध्यङ् नामके आथर्वणने—यहाँ 'ह' निरर्थक निपात है—जिस आत्मज्ञानरूप कक्ष्य—मधुका तुम्हें घोड़ेके शिरसे 'प्र यत् ईम् उवाच' प्रवचन किया था अर्थात् जिस मधुका उपदेश किया था। यहाँ 'ईम्' यह निरर्थक निपात है ॥ १६ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । आथर्वणायाश्विनौ दधीचेऽश्व्यँ शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ १७ ॥



उस इस मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) ने कहा है—हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों आथर्वण दध्यङ्के लिये घोड़ेका शिर लाये। उसने सत्यपालन करते हुए तुम्हें त्वाष्ट्र (सूर्यसम्बन्धी) मधुका उपदेश किया तथा हे दस्र (शत्रुहिंसक) जो [आत्मज्ञानसम्बन्धी] कक्ष्य (गोप्य) मधु था [वह भी तुमसे कहा] ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववन्मन्त्रान्तरप्रदर्शनार्थम्। तथान्यो मन्त्रस्तामेव आख्यायिकामनुसरति स्म। आथर्वणो दध्यङ् नाम, आथर्वणोऽन्यो विद्यत इत्यतो विशिनष्टि दध्यङ्नामाथर्वणः।

तस्मै दधीच आथर्वणाय हेऽश्विनाविति मन्त्रदृशो वचनम्, अश्व्यमश्वस्य स्वभूतं शिरः, ब्राह्मणस्य शिरसिच्छिन्नेऽश्वस्य शिरश्छित्त्वा ईदृशमतिक्रूरं कर्म कृत्वा अश्व्यं शिरो ब्राह्मणं प्रति ऐरयतं गमितवन्तौ युवाम्। स चाथर्वणो वां युवाभ्यां तन्मधु प्रवोचद् यत् पूर्वं प्रतिज्ञातं वक्ष्यामीति।

स किमर्थमेवं जीवितसन्देहमारुह्य प्रवोचत्? इत्युच्यते। ऋता-

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि कथन पूर्ववत् अन्य मन्त्र प्रदर्शित करनेके लिये है। अर्थात् इसी प्रकार दूसरे मन्त्रने भी उसी आख्यायिकाका अनुसरण किया। दध्यङ् नामवाला आथर्वण। आथर्वण तो दूसरा भी है इसलिये 'दध्यङ्नामक आथर्वण' ऐसा कहकर इसे विशेषणयुक्त करते हैं।

हे अश्विनीकुमारो! उस दध्यङ् आथर्वणके लिये—यह मन्त्रद्रष्टा ऋषिका वचन है—तुम अश्व्य—अश्वका स्वभूत शिर अर्थात् ब्राह्मणका शिर काट देनेपर तुम अश्वका शिर काटकर, ऐसा अत्यन्त क्रूर कर्म कर उस अश्वके शिरको तुमने ब्राह्मणके पास 'ऐरयतम्'–पहुँचाया और उस आथर्वणने तुम्हें उस मधुका उपदेश किया जिसके लिये उसने पहले यह प्रतिज्ञा की थी 'मैं कहूँगा।'

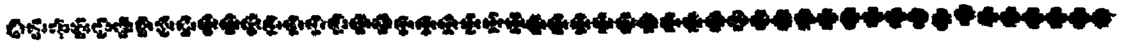
उसने इस प्रकार जीवनके संदेहमें पड़कर भी उसका उपदेश क्यों किया, सो बतलाया जाता है—

यन् यत् पूर्वं प्रतिज्ञातं सत्यं तत् परिपालयितुमिच्छन् । जीवितादपि हि सत्यधर्मपरिपालना गुरुतरेत्येतस्य लिङ्गमेतत् ।

किं तन्मधु प्रवोचत् ? इत्युच्यते—त्वाष्ट्रम्, त्वष्टा आदित्यस्तस्य सम्बन्धि, यज्ञस्य शिरश्छिन्नं त्वष्टाभवत्, तत्प्रतिसन्धानार्थं प्रवर्ग्यं कर्म । तत्र प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं यद् विज्ञानं तत्त्वाष्ट्रं मधु—यज्ञस्य शिरश्छेदप्रतिसन्धानादिविषयं दर्शनं तत्त्वाष्ट्रं यन्मधु हे दस्रौ, दस्राविति परबलानामुपक्षपयितारौ शत्रूणां वा हिंसितारौ, अपि च न केवलं त्वाष्ट्रमेव मधु कर्मसम्बन्धि युवाभ्यामवोचत्, अपि च कक्ष्यं गोप्यं रहस्यं परमात्मसम्बन्धि यद् विज्ञानं मधु मधुब्राह्मणेनोक्तमध्यायद्वयप्रकाशितम्, तच्च वां युवाभ्यां प्रवोचदित्यनुवर्तते ॥ १७ ॥

'ऋतायन्'—जो पहले प्रतिज्ञा किया हुआ सत्य था, उसका पालन करनेके लिये । यह इस बातका सूचक है कि सत्यधर्मका पालन जीवनसे भी बढ़कर है ।

उसने किस मधुका उपदेश किया ? सो कहा जाता है—त्वाष्ट्र मधुका । त्वष्टा सूर्यको कहते हैं, उससे सम्बन्ध रखनेवाले मधुका । यज्ञका शिर काटे जानेपर वह त्वष्टा हो गया, उसके प्रतिसन्धान (जोड़ने) के लिये प्रवर्ग्य कर्म है । वहाँ प्रवर्ग्यकर्मका अङ्गभूत जो विज्ञान है, वही त्वाष्ट्र मधु है । यज्ञके शिरश्छेदनके प्रतिसन्धानादिसे सम्बद्ध जो दर्शन है, वही त्वाष्ट्र मधु है । हे दस्रौ ! दस्र अर्थात् परपक्षकी सेनाका क्षय करनेवाले अथवा शत्रुओंके हिंसको ! इसके सिवा उन्होंने तुम्हें केवल कर्मसम्बन्धी त्वाष्ट्र मधुका ही उपदेश नहीं किया, अपितु कक्ष्य—गोप्य अर्थात् जो परमात्मसम्बन्धी रहस्यभूत मधु विज्ञान था, जिसका मधुब्राह्मणद्वारा वर्णन किया गया है और जो [तृतीय और चतुर्थ] दो अध्यायोंमें प्रकाशित किया गया, उसका भी तुम्हें उपदेश किया । यहाँ प्रवोचत् (उपदेश किया) इस क्रियापदकी अनुवृत्ति होती है ॥ १७ ॥



इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ॥ १८ ॥

उस इस मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया । इसे देखते हुए ऋषिने कहा—परमात्माने दो पैरोंवाले शरीर बनाये और चार पैरोंवाले शरीर बनाये । पहले वह पुरुष पक्षी होकर शरीरोंमें प्रविष्ट हो गया । वह यह पुरुष समस्त पुरों (शरीरों) में पुरिशय है । ऐसा कुछ भी नहीं है, जो पुरुषसे ढका न हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है, जिसमें पुरुषका प्रवेश न हुआ हो—जो पुरुषसे व्याप्त न हो ॥ १८ ॥

इदं वै तन्मध्विति पूर्ववत् । उक्तौ द्वौ मन्त्रौ प्रवर्ग्यसम्बन्ध्याख्यायिकोपसंहर्तारौ । द्वयोः प्रवर्ग्यकर्मार्थयोरध्याययोरर्थ आख्यायिकाभूताभ्यां मन्त्राभ्यां प्रकाशितः । ब्रह्मविद्यार्थयोस्त्वध्याययोरर्थउत्तराभ्यामृग्भ्यां प्रकाशयितव्यः, इत्यतः प्रवर्तते । यत् कक्ष्यं च मधूक्तवानाथर्वणो युवाभ्यामित्युक्तम् । किं पुनस्तन्मधु ? इत्युच्यते—

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है। उपर्युक्त दो मन्त्र प्रवर्ग्यसम्बन्धी आख्यायिकाका उपसंहार करनेवाले हैं । प्रवर्ग्यकर्मसम्बन्धी दो अध्यायोंका अर्थ इन उपर्युक्त आख्यायिकाभूत दो मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित किया गया है। ब्रह्मविद्यासम्बन्धी दो अध्यायोंका अर्थ आगेकी दो ऋचाओंद्वारा प्रकाशित करना है इसीसे श्रुति प्रवृत्त होती है। आथर्वणने तुम दोनोंसे जो कक्ष्य मधु कहा था—ऐसा ऊपर कहा गया है। वह मधु क्या था ? उसका वर्णन किया जाता है—

पुरश्चक्र, पुरः पुराणि शरीराणि, यत इयमव्याकृतव्याकरणप्रक्रिया-स परमेश्वरो नामरूपे अव्याकृते व्याकुर्वाणः प्रथमं भूरादीँल्लोकान् सृष्ट्वा चक्रे कृतवान्, द्विपदो द्विपादुपलक्षितानि मनुष्यशरीराणि पक्षिशरीराणि। तथा पुरः शरीराणि चक्रे चतुष्पदश्चतुष्पादुपलक्षितानि पशुशरीराणि।

पुरः पुरस्तात्, स ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरं भूत्वा पुरः शरीराणि—पुरुष आविशदित्यस्यार्थमाचष्टे श्रुतिः—स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु सर्वशरीरेषु पुरिशयः, पुरिशेत इति पुरिशयः सन् पुरुष इत्युच्यते। नैनेनानेन किञ्चन किञ्चिदप्यनावृतमनाच्छादितम्। तथा नैनेन किञ्चनासंवृतमन्तरनुप्रवेशितं बाह्यभूतेनान्तर्भूतेन च न अनावृतम्। एवं स एव नामरूपात्मना अन्तर्बहिर्भावेन कार्यकरणरूपेण व्यवस्थितः। पुरश्चक्रे इत्यादिमन्त्रः सङ्क्षेपत आत्मैकत्वमाचष्ट इत्यर्थः ॥१८॥

'पुरश्चक्रे—पुर अर्थात् शरीर; क्योंकि यह अव्यक्तके व्यक्त होनेकी प्रक्रिया है। उस परमेश्वरने अव्यक्त नामरूपको व्यक्त करते हुए पहले भूः आदि लोकोंकी रचना कर द्विपदोंको—दो पैरोंसे उपलक्षित मनुष्य-शरीर और पक्षिशरीरोंको 'चक्रे'—रचा। तथा चतुष्पद-चार पैरोंसे उपलक्षित पशुशरीरोंको बनाया।

पुरः अर्थात् पहले वह ईश्वर पक्षी-लिङ्गशरीर होकर पुर्-शरीरोंमें पुरुषरूपसे प्रविष्ट हो गया—इसी वाक्यका अर्थ श्रुति करती है—वही यह पुरुष समस्त पुरों—सम्पूर्ण शरीरमें पुरिशय है, पुरमें शयन करता है, अतः पुरिशय होनेके कारण वह 'पुरुष' इस प्रकार कहा जाता है। इससे कुछ भी अनावृत—अनाच्छादित नहीं है। तथा इससे कुछ भी असंवृत नहीं है, अर्थात् ऐसा कुछ भी नहीं है, जहाँ पुरुष भीतर और बाहर रहकर स्वयं प्रविष्ट—व्याप्त न हो। इस प्रकार वही नामरूपात्मक अन्तर्बाह्यभावसे देह और इन्द्रियरूपमें स्थित है। तात्पर्य यह है कि यह 'पुरश्चक्रे' इत्यादि मन्त्र संक्षेपसे आत्माके एकत्वका निरूपण करता है॥ १८॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९ ॥

उस इस मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया । यह देखते हुए ऋषिने कहा—वह रूप-रूपके प्रतिरूप हो गया । इसका वह रूप प्रतिख्यापन (प्रकट) करनेके लिये है । ईश्वर मायासे अनेकरूप प्रतीत होता है [शरीररूप रथमें जोड़े हुए] इसके [इन्द्रियरूप] घोड़े शत और दश हैं । यह (परमेश्वर) ही हरि (इन्द्रियरूप अश्व) है; यही दश, सहस्र, अनेक और अनन्त है । वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्यसे रहित) और अबाह्य है । यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है । यही समस्त वेदान्तोंका अनुशासन (उपदेश) है ॥ १९ ॥

इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववत् । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपो रूपान्तरं बभूवेत्यर्थः । प्रतिरूपोऽनुरूपो वा यादृक्संस्थानौ मातापितरौ तत्संस्थानस्तदनुरूप एव पुत्रो जायते । न हि चतुष्पदो द्विपाज्जायते द्विपदो वा चतुष्पात् ।

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है । रूप-रूपके प्रतिरूप हो गया अर्थात् रूप रूपके प्रति उसीके समान अन्य रूपवाला हो गया । प्रतिरूप अर्थात् अनुरूप, क्योंकि माता-पिता जैसे स्वरूपवाले होते हैं वैसे ही स्वरूपवाला अर्थात् उन्हींके अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है; क्योंकि चतुष्पदसे द्विपद और द्विपदसे चतुष्पदकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । सो

स एव हि परमेश्वरो नामरूपे व्याकुर्वाणो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

किमर्थं पुनः प्रतिरूपमागमनं तस्य? इत्युच्यते—तदस्यात्मनो रूपं प्रतिचक्षणाय प्रतिख्यापनाय। यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदा अस्यात्मनो निरूपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत। यदा पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतः, तदास्य रूपं प्रतिख्यायेत।

इन्द्रः परमेश्वरो मायाभिः प्रज्ञाभिः नामरूपभूतकृतमिथ्याभिमानैर्वा, न तु परमार्थतः; पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते, एकरूप एव प्रज्ञानघनः सन्नविद्याप्रज्ञाभिः। कस्मात् पुनः कारणात्? युक्ता रथ इव वाजिनः स्वविषयप्रकाशनाय, हि यस्मादस्य हरयो हरणादिन्द्रियाणि, शता

नाम और रूपको व्यक्त करनेवाला वह परमेश्वर ही रूप-रूपके प्रतिरूप हो गया।

किंतु उसका प्रतिरूपको प्राप्त होना किसलिये हुआ। सो अब बतलाया जाता है—वह इस आत्माके रूपके प्रतिचक्षण—प्रतिख्यापनके लिये है, क्योंकि यदि नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति न होती तो इस आत्माका प्रज्ञानघनसंज्ञक निरुपाधिक रूप प्रकट नहीं हो सकता था। किंतु जिस समय कार्य-करणभावसे नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति होती है, तभी इसका रूप प्रकट होता है।

इन्द्र—परमेश्वर मायाओंसे अर्थात् प्रज्ञासे अथवा नाम-रूप उपाधिजनित मिथ्या अभिमानसे पुरुरूप—अनेकरूप हुआ जाना जाता है, परमार्थतः अनेकरूप नहीं होता। अर्थात् वह प्रज्ञानघन एकरूप ही होते हुए अविद्याजनित प्रज्ञाओंसे अनेकरूप भासता है। किंतु ऐसा किस कारणसे होता है। क्योंकि अपने विषयोंको प्रकाशित करनेके लिये, रथमें जुते हुए घोड़ोंके समान, इसके शत और दश हरि (इन्द्रियाँ) हैं। विषयोंको हरण करनेके कारण इन्द्रियोंका

शतानि, दश च प्राणिभेदबाहुल्याच्छतानि दश च भवन्ति। तस्मादिन्द्रियविषयबाहुल्यात्तत्प्रकाशनार्थैव च युक्तानि तानि न आत्मप्रकाशनाय। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (२।१।१) इति हि काठके। तस्मात्तैरेव विषयस्वरूपैरीयते न प्रज्ञानघनैकरसेन स्वरूपेण।

एवं तर्हि अयमन्यः परमेश्वरोऽन्ये हरय इत्येवं प्राप्ते उच्यते—अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च। प्राणिभेदस्यानन्त्यात्। किं बहुना, तदेतद्ब्रह्म य आत्मा। अपूर्वं नास्य कारणं पूर्वं विद्यत इत्यपूर्वम्। नास्यापरं कार्यं विद्यत इत्यनपरम्। नास्य जात्यन्तरमन्तराले विद्यत इत्यनन्तरम्। तथा बहिरस्य न विद्यत इत्यबाह्यम्।

किं पुनस्तन्निरन्तरं ब्रह्म? अयमात्मा। कोऽसौ? यः प्रत्य-

नाम हरि है, प्राणिभेदकी बहुलताके कारण वे शत और दश हैं। अतः इन्द्रियोंके विषयोंकी बहुलता होनेके कारण वे उन्हींको प्रकाशित करनेमें नियुक्त हैं, आत्माको प्रकाशित करनेमें नहीं। कठोपनिषद्में कहा भी है कि "स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है।" अतः वह उन विषयरूपोंसे ही अनेकरूप भासता है, प्रज्ञानघन एकरसस्वरूपसे नहीं।

इस प्रकार तब तो यह परमेश्वर अन्य है और इन्द्रियाँ अन्य हैं—ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—यह परमेश्वर ही इन्द्रियाँ हैं तथा यही दश, सहस्र, अनेक और अनन्त हैं, क्योंकि प्राणियोंके भेदका कोई अन्त नहीं है। अधिक क्या कहा जाय, यह जो आत्मा है वही ब्रह्म है। यह अपूर्व है इसका कोई पूर्व यानी कारण नहीं है, इसलिये यह अपूर्व है। इसका अपर—कार्य नहीं है, इसलिये यह अनपर है। इसके मध्यमें कोई जात्यन्तर नहीं है, इसलिये यह अनन्तर है। तथा इसके बाहर कुछ नहीं है, इसलिये यह अबाह्य है।

तो फिर वह निरन्तर ब्रह्म कौन है? यह आत्मा। आत्मा कौन

गात्मा द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता सर्वानुभूः, सर्वात्मना सर्वमनुभवतीति सर्वानुभूः । इत्येतदनुशासनं सर्ववेदान्तोपदेशः । एष सर्ववेदान्तानामुपसंहृतोऽर्थः । एतदमृतमभयम् । परिसमाप्तश्च शास्त्रार्थः ॥ १९ ॥	है ? जो प्रत्यगात्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा अर्थात् जाननेवाला और सर्वानुभू है; सबको सब प्रकार अनुभव करता है, इसलिये वह सर्वानुभू है।' इस प्रकार यह अनुशासन अर्थात् समस्त वेदान्तोंका उपदेश है । यह सम्पूर्ण वेदान्तोंका उपसंहारभूत अर्थ है। यह अमृत और अभय है । इस प्रकार शास्त्रका अर्थ समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये
पञ्चमं मधुब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

मधुविद्याकी सम्प्रदायपरम्परा

अथ वꣳशः । पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳ सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भार-

द्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अब [मधुकाण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे, गौतमने ॥१॥ आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने शाण्डिल्यसे और आनभिम्लातसे,

आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने गौतमसे, गौतमने सैतव और प्राचीनयोग्यसे, सैतव और प्राचीनयोग्यने पाराशर्यसे, पाराशर्यने भारद्वाजसे, भारद्वाजने भारद्वाजसे और गौतमसे, गौतमने भारद्वाजसे, भारद्वाजने पाराशर्यसे, पाराशर्यने वैजवापायनसे, वैजवापायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने ॥ २ ॥ घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजन्धनिसे, औपजन्धनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे। कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपात् वाभ्रवसे, वत्सनपात् वाभ्रवने पन्थासौभरसे, पन्थासौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने मृत्यु-प्राध्वंसनसे, मृत्यु-प्राध्वंसनने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे और परमेष्ठीने ब्रह्मासे [इसे प्राप्त किया]। ब्रह्मा स्वयम्भु है, ब्रह्माको नमस्कार है ॥ ३ ॥

अथेदानीं ब्रह्मविद्यार्थस्य मधुकाण्डस्य वंशः स्तुत्यर्थो ब्रह्मविद्यायाः। मन्त्रश्चायं स्वाध्यायार्थो जपार्थश्च। तत्र वंश इव वंशः-यथा वेणुर्वंशःपर्वणःपर्वणो हि भिद्यते तद्वदग्रात्प्रभृति आमूलप्राप्तेरयं वंशः। अध्यायचतुष्ट-

अब ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये ब्रह्मविद्या जिसका प्रयोजन है, उस मधुकाण्डका वंश बतलाया जाता है। यह मन्त्र स्वाध्याय और जपके लिये है। यह वंश वंश (बाँस) के समान है। जिस प्रकार पर्वों (पोरियों) का वंशभूत वेणु (बाँस) पर्वोंसे भिन्न है, उसी प्रकार अग्रभागसे लेकर मूलपर्यन्त यह वंश भी भिन्न

यस्य आचार्यपरम्पराक्रमो वंश इत्युच्यते। तत्र प्रथमान्तः शिष्यः पञ्चम्यन्तः आचार्यः। परमेष्ठी विराट्, ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्। ततः परम् आचार्यपरम्परा नास्ति। यत्पुनर्ब्रह्म तन्नित्यं स्वयम्भु, तस्मै ब्रह्मणे स्वयम्भुवे नमः॥ १—३॥

है। यहाँ [ब्राह्मणभागके आरम्भिक] चार अध्यायोंकी आचार्यपरम्परा 'वंश' नामसे कही गयी है। इनमें प्रथमाविभक्त्यन्त शिष्य है और पञ्चम्यन्त आचार्य है। परमेष्ठी यानी विराट्ने ब्रह्मा—हिरण्यगर्भसे प्राप्त की। उससे आगे आचार्यपरम्परा नहीं है; क्योंकि जो ब्रह्मा है वह तो नित्य और स्वयम्भू है, उस स्वयम्भू ब्रह्माको नमस्कार है॥ १—३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये षष्ठं वंशब्राह्मणम्॥ ६॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥



तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

याज्ञवल्कीय काण्ड

'जनको ह वैदेहः' इत्यादि याज्ञवल्कीयं काण्डमारभ्यते। उपपत्तिप्रधानत्वादतिक्रान्तेन मधुकाण्डेन समानार्थत्वेऽपि सति न पुनरुक्तता। मधुकाण्डं ह्यागमप्रधानम्। आगमोपपत्ती ह्यात्मैकत्वप्रकाशनाय प्रवृत्ते शक्नुतः करतलगतबिल्वमिव दर्शयितुम्।

अब 'जनको ह वैदेहः' इत्यादि याज्ञवल्कीय काण्ड आरम्भ किया जाता है। गत मधुकाण्डसे समानार्थता होनेपर भी यह काण्ड युक्तिप्रधान होनेके कारण इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं है; क्योंकि मधुकाण्ड शास्त्रप्रधान है। जब शास्त्र और युक्ति दोनों ही आत्मैकत्व प्रदर्शित करनेके लिये प्रवृत्त हों तो वे उसका हथेलीपर रखे हुए बिल्वफलके समान साक्षात्कार करा सकते हैं।

'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति ह्युक्तम्। तस्मादागमार्थस्यैव परीक्षापूर्वकं निर्धारणाय याज्ञवल्कीयं काण्डमुपपत्तिप्रधानमारभ्यते। आख्यायिका तु विज्ञानस्तुत्यर्था उपायविधिपरा वा। प्रसिद्धो ह्युपायो विद्वद्भिः शास्त्रेषु च दृष्टः—दानम्। दानेन ह्युप-

'श्रवण करना चाहिये' 'मनन करना चाहिये' ऐसा पहले कहा गया है; अतः शास्त्र तात्पर्यको ही परीक्षापूर्वक निश्चय करनेके लिये यह युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्ड आरम्भ किया जाता है। यहाँ जो आख्यायिका है, वह तो विज्ञानकी स्तुतिके लिये और उसके उपायका विधान करनेके लिये है। दान—यह इसका प्रसिद्ध उपाय है और शास्त्रोंमें भी विद्वानोंने इसे ही देखा है, क्योंकि दानसे

नमन्ते प्राणिनः। प्रभूतं हिरण्यं गोसहस्रदानं चेहोपलभ्यते; अस्मादन्यपरेणापि शास्त्रेण विद्याप्राप्त्युपायदानप्रदर्शनार्था आख्यायिका आरब्धा।

अपि च तद्विद्यसंयोगस्तैश्च सह वादकरणं विद्याप्राप्त्युपायो न्यायविद्यायां दृष्टः; तच्चास्मिन्नध्याये प्राबल्येन प्रदर्श्यते। प्रत्यक्षा च विद्वत्संयोगे प्रज्ञावृद्धिः। तस्माद् विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थैव आख्यायिका।

प्राणी अपने प्रति विनीत हो जाते हैं। यहाँ बहुत-से सुवर्ण और सहस्र गौओंका दान देखा जाता है; अतः यहाँ शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय दूसरा होनेपर भी यह आख्यायिका विद्याप्राप्तिके उपायभूत दानको प्रदर्शित करनेके लिये आरम्भ की गयी है।

इसके सिवा किसी विद्यामें निष्णात पुरुषोंका संयोग और उनके साथ वाद करना भी न्यायविद्यामें विद्याप्राप्तिका उपाय देखा गया है; और वह वाद इस अध्यायमें बड़ी प्रौढ़िके साथ दिखाया जाता है। विद्वानोंके संयोगसे प्रज्ञाकी वृद्धि होती है—यह तो प्रत्यक्ष ही है। अतः यह आख्यायिका विद्याप्राप्तिका उपाय प्रदर्शित करनेके लिये ही है।

राजा जनकका सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ताको सहस्र गौएँ दान करनेकी घोषणा करना

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाꣳ सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः॥ १॥

विदेहदेशमें रहनेवाले राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाले यज्ञद्वारा यजन किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस

राजा जनकको यह जाननेकी इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणोंमें अनुवचन (प्रवचन) करनेमें सबसे बढ़कर कौन है ? इसलिये उसने एक सहस्र गौएँ गोशालामें रोक लीं । उनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दश-दश पाद सुवर्ण बँधे हुए थे ॥ १ ॥

जनको नाम ह किल सम्राड्राजा बभूव विदेहानाम्; तत्र भवो वैदेहः । स च बहुदक्षिणेन यज्ञेन, शाखान्तरप्रसिद्धो वा बहुदक्षिणो नाम यज्ञः, अश्वमेधो वा दक्षिणाबाहुल्याद्बहुदक्षिण इहोच्यते, तेनेजेऽयजत् ।

जनक नामका सम्राट् विदेह देशका राजा था, विदेह देशमें उत्पन्न होने और रहनेके कारण उसे वैदेह कहते हैं । उसने एक बहुत दक्षिणावाले यज्ञसे, अथवा शाखान्तरमें प्रसिद्ध बहुदक्षिणनामक यज्ञसे, या अधिक दक्षिणावाला होनेसे यहाँ अश्वमेध ही बहुदक्षिण कहा गया है—उससे, यजन किया ।

तत्र तस्मिन्यज्ञे निमन्त्रिता दर्शनकामा वा कुरूणां देशानां पञ्चालानां च ब्राह्मणाः, तेषु हि विदुषां बाहुल्यं प्रसिद्धम् अभिसमेता अभिसङ्गता बभूवुः । तत्र महान्तं विद्वत्समुदायं दृष्ट्वा तस्य ह किल जनकस्य वैदेहस्य यजमानस्य,को नु खल्वत्र ब्रह्मिष्ठ इति विशेषेण ज्ञातुमिच्छा विजिज्ञासा बभूव । कथम्? कः स्वित् को नु खल्वेषां ब्राह्मणानाम् अनूचानतमः?सर्व इमेऽनूचानाः, कः स्विदेषामतिशयेनानूचान इति ।

वहाँ उस यज्ञमें निमन्त्रित होकर अथवा उसे देखनेकी इच्छासे कुरु और पाञ्चाल देशोंके ब्राह्मण एकत्रित हुए, क्योंकि इन्हीं देशोंमें विद्वानोंकी बहुलता प्रसिद्ध है । वहाँ महान् विद्वत्समुदाय देखकर उस विदेहराज यजमान जनककी विशेषरूपसे यह जाननेकी इच्छा हुई कि इनमें कौन ब्रह्मिष्ठ है । कैसी इच्छा हुई ?—यह कि इन ब्राह्मणोंमें अनुवचन करनेमें सबसे अधिक समर्थ कौन है ? अनुवचन करनेवाले तो ये सभी हैं, किंतु इनमें अतिशय अनूचान (प्रवचन करनेवाला) कौन है ? यह उसने जानना चाहा ।

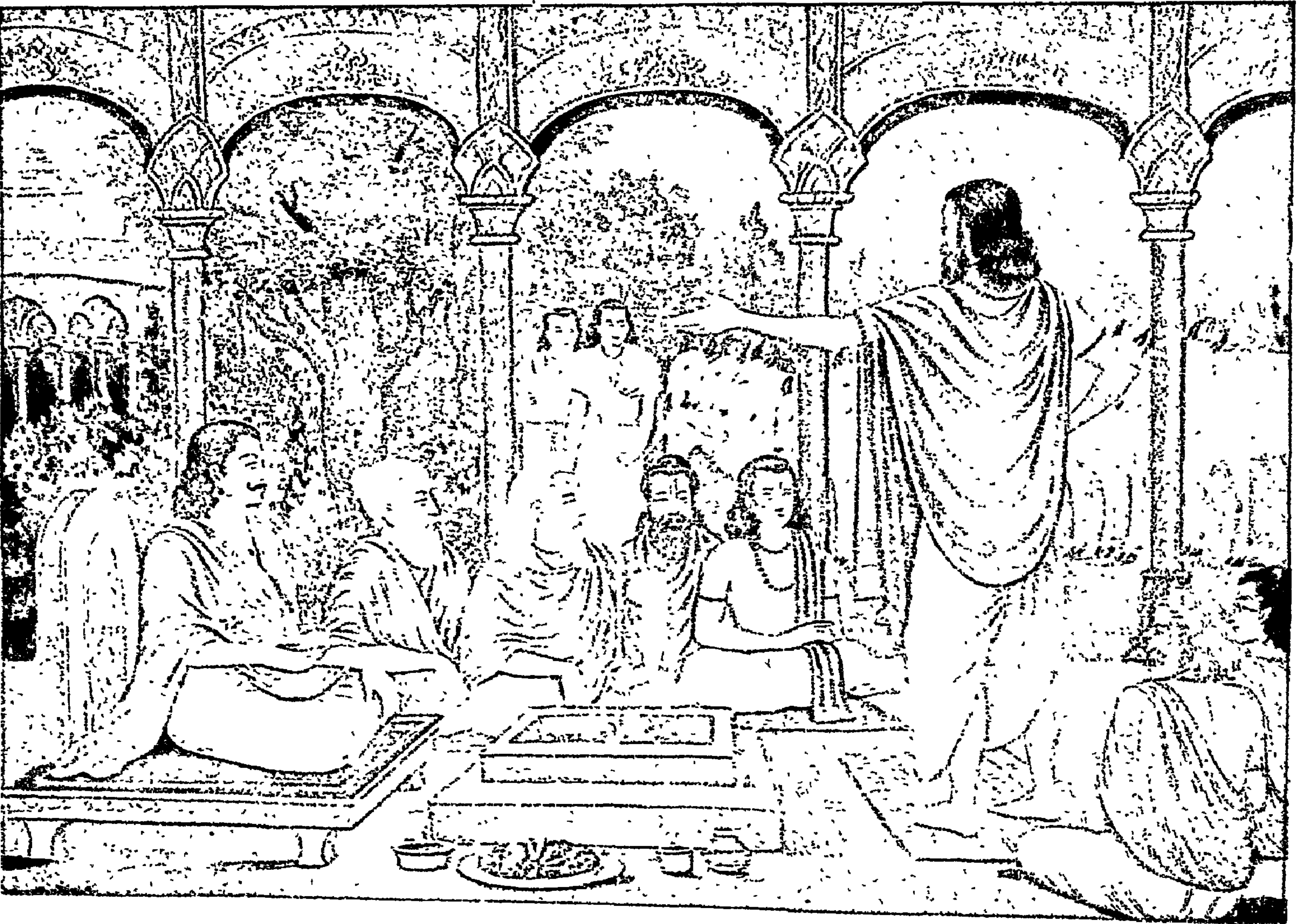
स ह अनूचानतमविषयोत्पन्नजिज्ञासः संस्तद्विज्ञानोपायार्थं गवां सहस्रं प्रथमवयसामवरुरोध, गोष्ठेऽवरोधं कारयामास। किंविशिष्टास्ता गावोऽवरुद्धाः! इत्युच्यते—पलचतुर्थभागः पादः सुवर्णस्य, दश दश पादा एकैकस्या गोः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः। पञ्च पञ्च पादा एकैकस्मिन् शृङ्गे ॥१॥

इस प्रकार अनूचानतमविषयक जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर उसे जाननेका उपाय करनेके लिये उसने नयी अवस्थावाली एक सहस्र गौएँ रोक लीं अर्थात् गोशालामें रोकवा दीं। वे किस विशेषणवाली गौएँ रोकी गयी थीं, सो बतलाया जाता है—पलका चतुर्थ भाग पाद होता है; ऐसे सुवर्णके दश-दश पाद एक-एक गौके सींगोंमें बाँधे हुए थे, अर्थात् एक-एक सींगमें पाँच-पाच पाद थे ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यका गौएँ ले जानेके लिये अपने शिष्यको आज्ञा देना, ब्राह्मणोंका कोप, अश्वलका प्रश्न

तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयँ स्म इति तँ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ॥ २ ॥

उसने उनसे कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गौओंको ले जाय।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ। तब



ब्रह्मचारियोंको याज्ञवल्क्यका आदेश

याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारीसे कहा, 'हे सोम्य सामश्रवा ! तू इन्हें ले जा ।' तब वह उन्हें ले चला । इससे वे ब्राह्मण 'यह हम सबमें अपनेको ब्रह्मिष्ठ कैसे कहता है' इस प्रकार कहते हुए क्रुद्ध हो गये । विदेहराज जनकका होता अश्वल था, उसने इससे पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो ?' उसने कहा, ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं ।' इसीसे होता अश्वलने उससे प्रश्न करनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

गा एवमवरुध्य ब्राह्मणां-स्तान् होवाच हे ब्राह्मणा भगवन्त इत्यामन्त्र्य । यो वो युष्माकं ब्रह्मिष्ठः, सर्वे यूयं ब्रह्माणोऽतिशयेन युष्माकं ब्रह्मा यः स एता गा उदजतामुत्कालयतु स्वगृहं प्रति ।

इस प्रकार गौओंको रोककर उसने उन ब्राह्मणोंसे 'हे पूज्य ब्राह्मणो !' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा, 'आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हो—ब्रह्मा (ब्रह्मवेत्ता) तो आप सभी हैं, किंतु जो आपमें अतिशयरूपसे ब्रह्मा हो—वह इन गौओंको अपने घरके प्रति हाँक ले जाय ।'

ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः । ह किलैवमुक्ता ब्राह्मणा ब्रह्मिष्ठतामात्मनः प्रतिज्ञातुं न दधृषुर्न प्रगल्भाः संवृत्ताः । अप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेष्वथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमात्मीयमेव ब्रह्मचारिणमन्तेवासिनमुवाच—एता गा हे सोम्योदजोद्गमयास्मद्गृहान् प्रति, हे सामश्रवः—सामविधिं हि शृणोत्यतोऽर्थाच्चतुर्वेदो याज्ञवल्क्यः ।

उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ । इस प्रकार कहे जानेपर उन ब्राह्मणोंका अपनी ब्रह्मिष्ठताके विषयमें प्रतिज्ञा करनेका साहस न हुआ—वे ऐसा प्रकट करनेकी धृष्टता न कर सके । ब्राह्मणोंके साहसहीन हो जानेपर याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारी अनुगत शिष्यसे कहा, 'हे सोम्य ! हे सामश्रवा ! इन गौओंको हमारे घर ले जा; सामविधिको श्रवण करनेके कारण उसे सामश्रवा कहा है, इससे स्वतः ही याज्ञवल्क्य चारों वेदोंका

ता गा होदाचकारोत्कालितवानाचार्यगृहं प्रति ।

याज्ञवल्क्येन ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणेन आत्मनो ब्रह्मिष्ठता प्रतिज्ञाता, इति ते ह चुक्रुधुः क्रुद्धवन्तो ब्राह्मणाः । तेषां क्रोधाभिप्रायमाचष्टे— कथं नोऽस्माकं एकैकप्रधानानां ब्रह्मिष्ठोऽस्मीति ब्रुवीतेति ।

अथ हैवं क्रुद्धेषु ब्राह्मणेषु जनकस्य यजमानस्य होता ऋत्विगश्वलो नाम बभूव आसीत् । स एनं याज्ञवल्क्यम्, ब्रह्मिष्ठाभिमानी राजाश्रयत्वाच्च धृष्टः, याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ पृष्टवान् । कथम् ? त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी ३ इति । प्लुतिर्भर्त्सनार्था ।

स होवाच याज्ञवल्क्यः— नमस्कुर्मो वयं ब्रह्मिष्ठाय, इदानीं गोकामाः स्मो वयमिति । तं

ज्ञाता सिद्ध होता है ।[1] तब वह उन गौओंको आचार्य याज्ञवल्क्यके घरकी ओर ले चला ।

याज्ञवल्क्यने ब्रह्मिष्ठसम्बन्धी पण स्वीकार करके अपनी ब्रह्मिष्ठताकी प्रतिज्ञा की है—इससे वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये । श्रुति उनके क्रोधका अभिप्राय बतलाती है—हममेंसे एक-एक प्रधान ब्राह्मणके सामने वह 'मैं ब्रह्मिष्ठ हूँ' ऐसा कैसे कहता है—इससे वे क्रुद्ध हो गये ।

तब इस प्रकार क्रुद्ध हुए ब्राह्मणोंमें यजमान जनकका होता जो अश्वल था, वह इस याज्ञवल्क्यसे बोला—राजाश्रयके कारण अभिमानी और धृष्ट होनेसे उसने याज्ञवल्क्यसे पूछा । किस प्रकार पूछा— 'याज्ञवल्क्य ! क्या निश्चय हम सबमें तुम्हीं ब्रह्मिष्ठ हो ?' यहाँ 'असि' पदमें प्लुत ईकारका प्रयोग भर्त्सना (धिक्कारने) के लिये है ।

उस याज्ञवल्क्यने कहा— 'ब्रह्मिष्ठको हम नमस्कार करते हैं, इस समय तो हम गौओंकी इच्छा-

१. याज्ञवल्क्य यजुर्वेदी हैं, उससे ब्रह्मचारी सामवेदका श्रवण (अध्ययन) करता है । साम ऋग्वेदमें आरूढ़ होकर ही गान किया जाता है, तथा अथर्ववेद इन तीन वेदोंके ही अन्तर्भूत है; इसलिये इस कथनसे याज्ञवल्क्य चारों वेदोंका ज्ञाता सिद्ध होता है ।

ब्रह्मिष्ठप्रतिज्ञं सन्तं तत एव ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणात् प्रष्टुं दध्रे धृतवान् मनो होता अश्वलः ॥२॥

वाले हैं। इस प्रकार ब्रह्मिष्ठकी प्रतिज्ञावाला होनेपर और इसी कारण ब्रह्मिष्ठपण स्वीकार करनेसे होता अश्वलने मनमें उससे प्रश्न करनेका निश्चय कर लिया ॥ २ ॥

मृत्युग्रस्त कर्मसाधनोंकी आसक्तिसे पार पानेका उपाय

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाप्तꣳ सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ३ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह सब जो मृत्युसे व्याप्त है, मृत्युद्वारा स्वाधीन किया हुआ है, उस मृत्युकी व्याप्तिका यजमान किस साधनसे अतिक्रमण करता है ?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'वह यजमान होता ऋत्विक्‌रूप अग्निसे और वाक्‌द्वारा उसका अतिक्रमण कर सकता है। वाक् ही यज्ञका होता है यह जो वाक् है, वही यह अग्नि है, वह होता है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है' ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच। तत्र मधुकाण्डे पाङ्क्तेन कर्मणा दर्शनसमुच्चितेन यजमानस्य मृत्योरत्ययो व्याख्यात उद्गीथप्रकरणे सङ्क्षेपतः। तस्यैव परीक्षाविषयोऽयमिति तद्गतदर्शनविशेषार्थोऽयं विस्तर आरभ्यते।

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा। तहाँ गत मधुकाण्डमें जो उद्गीथप्रकरण है, उसमें दर्शनसहितपाङ्क्तकर्मसे यजमानके मृत्युसे पार होनेका संक्षेपसे वर्णन किया गया है। यह प्रकरण उसीकी परीक्षाका विषय [अर्थात् उसीका विचार करनेके लिये] है, अतः उसमें आये हुए दर्शनविशेषके लिये ही यह विस्तार आरम्भ किया जाता है।

यदिदं साधनजातम् अस्य कर्मण ऋत्विगग्न्यादि मृत्युना कर्मलक्षणेन स्वाभाविकासङ्गसहितेन आप्तं व्याप्तम्, न केवलं व्याप्तमभिपन्नं च मृत्युना वशीकृतं च। केन दर्शनलक्षणेन साधनेन यजमानो मृत्योराप्तिमति मृत्युगोचरत्वम् अतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो मृत्योरवशो भवतीत्यर्थः।

इस कर्मका जो यह ऋत्विक् और अग्नि आदि साधनसमूह है, वह स्वाभाविक आसक्तिसहित कर्मरूप मृत्युसे व्याप्त है। केवल व्याप्त ही नहीं है, अपितु अभिपन्न अर्थात् मृत्युद्वारा वशमें किया हुआ है। सो किस दर्शनरूप साधनसे यजमान मृत्युकी प्राप्तिको पार कर अर्थात् मृत्युकी विषयताका अतिक्रमण कर मुक्त यानी स्वतन्त्र हो जाता है अर्थात् मृत्युके वशीभूत नहीं रहता।

ननूद्गीथ एवाभिहितं येनातिमुच्यते मुख्यप्राणात्मदर्शनेनेति।

आक्षेप—किंतु जिस मुख्य प्राणात्मदर्शनसे वह मुक्त होता है, उसका वर्णन तो उद्गीथप्रकरणमें ही कर दिया है।

बाढमुक्तम्, योऽनुक्तो विशेषस्तत्र, तदर्थोऽयमारम्भ इत्यदोषः।

समाधान—ठीक है, वहाँ वर्णन तो किया है; किंतु वहाँ जिस विशेषका उल्लेख नहीं किया, उसके लिये यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है; इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है।

होत्रर्त्विजाग्निना वाचेत्याह याज्ञवल्क्यः। एतस्यार्थं व्याचष्टे। कः पुनर्होता येन मृत्युमतिक्रामति? इत्युच्यते—वाग्वै यज्ञस्य यजमानस्य "यज्ञो वै यजमानः"

याज्ञवल्क्यने कहा, 'होता ऋत्विक्रूप अग्निसे और वाक्से उसका अतिक्रमण किया जा सकता है।' श्रुति इस वाक्यका अर्थ करती है। भला, जिसके द्वारा यजमान मृत्युको पार करता है वह 'होता' कौन है? यह बताया जाता है—वाक् ही यज्ञका अर्थात् "यज्ञ ही यजमान है" इस श्रुतिके

इति श्रुतेः। यज्ञस्य यजमानस्य या वाक् सैव होताधियज्ञे। कथम्? तत्त्र येयं वाग् यज्ञस्य यजमानस्य सोऽयं प्रसिद्धोऽग्निरधिदैवतम्। तदेतत् त्र्यन्नप्रकरणे व्याख्यातम्। स चाग्निर्होता "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः।

यदेतद् यज्ञस्य साधनद्वयम्—होता चर्त्विग् अधियज्ञम्, अध्यात्मं च वाक् एतदुभयं साधनद्वयं परिच्छिन्नं मृत्युना आप्तं स्वाभाविकाज्ञानासङ्गप्रयुक्तेन कर्मणा मृत्युना प्रतिक्षणमन्यथात्वमापद्यमानं वशीकृतम्। तद् अनेनाधिदैवतरूपेणाग्निना दृश्यमानं यजमानस्य यज्ञस्य मृत्योरतिमुक्तये भवति। तदेतदाह—स मुक्तिः स होता अग्निर्मुक्तिः, अग्निस्वरूपदर्शनमेव मुक्तिः।

यदैव साधनद्वयमग्निरूपेण पश्यति, तदानीमेव हि स्वाभावि-

अनुसार यजमानका होता है। [तात्पर्य यह है कि] जो वाणी है, वही अधियज्ञमें यज्ञ यानी यजमानका होता है। किस प्रकार? इस प्रकार कि यहाँ जो यह यज्ञ यानी यजमानकी वाणी है, वही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। उस इस अग्निकी त्र्यन्न प्रकरणमें व्याख्या की गयी है। तथा "अग्नि ही होता है" इस श्रुतिके अनुसार वह अग्नि ही होता है।

इस प्रकार यज्ञके जो ये दो साधन अधियज्ञ होता ऋत्विक् और अध्यात्म वाक् हैं; ये दोनों साधन परिच्छिन्न और मृत्युसे व्याप्त हैं तथा स्वभाविक अज्ञान और आसक्ति-प्रयुक्त कर्मरूप मृत्युसे प्रतिक्षण अन्यथात्वको प्राप्त हो रहे हैं और उसके द्वारा वशमें किये गये हैं। वे इस अधिदैवतरूप अग्निके द्वारा देखे जानेपर यजमानके यज्ञके मृत्युके अतिक्रमणके लिये होते हैं। इसीसे यह कहा है—वह मुक्ति है, वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होताको अग्निरूप देखना ही उसकी मुक्ति है।

जिस समय भी यजमान इन दोनों साधनोंको अग्निरूपसे देखता है, उसी समय वह स्वाभाविक

कादासङ्गान्मृत्योर्विमुच्यते आध्यात्मिकात् परिच्छिन्नरूपादाधिभौतिकाच्च। तस्मात् स होता अग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिर्मुक्तिसाधनं यजमानस्य। सा अतिमुक्तिः—यैव च मुक्तिः सातिमुक्तिः, अतिमुक्तिसाधनमित्यर्थः। साधनद्वयस्य परिच्छिन्नस्य या अधिदेवतारूपेणापरिच्छिन्नेनाग्निरूपेण दृष्टिः, सा मुक्तिः। यासौ मुक्तिरधिदेवतादृष्टिः सैव, अध्यात्माधिभूतपरिच्छेदविषयासङ्गास्पदं मृत्युमतिक्रम्य अधिदेवतात्वस्याग्निभावस्य प्राप्तिर्या फलभूता, सा अतिमुक्तिरित्युच्यते। तस्या अतिमुक्तेर्मुक्तिरेव साधनमिति कृत्वा सा अतिमुक्तिरित्याह।

यजमानस्य ह्यतिमुक्तिर्वागादीनामग्न्यादिभाव इत्युद्गीथप्रकरणे व्याख्यातम्। तत्र सामान्येन मुख्यप्राणदर्शनमात्रं मुक्तिसाधनमुक्तम्, न तद्विशेषः। वागादीनाम् अग्न्यादिदर्शनमिह

आसक्तिरूप मृत्युसे अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक परिच्छिन्नरूपसे मुक्त हो जाता है। अतः अग्निरूपसे देखा गया वह होता मुक्ति यानी यजमानकी मुक्तिका साधन है। वह अतिमुक्ति है—जो ही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति अर्थात् अतिमुक्तिका साधन है। इन दोनों परिच्छिन्न साधनोंकी जो अधिदैवरूप अपरिच्छिन्न अग्निरूपसे दृष्टि है, वही मुक्ति है। यह जो अधिदेवता-दृष्टिरूप मुक्ति है, वही अर्थात् अध्यात्म और अधिभूत परिच्छेदविषयक आसक्तिके स्थानभूत मृत्युको पार करके जो फलभूता अधिदैवत्व यानी अग्निभावकी प्राप्ति है, वही अतिमुक्ति कही जाती है। उस अतिमुक्तिका साधन मुक्ति ही है, इसलिये वह अतिमुक्ति है—ऐसा कहा गया है।

वागादिका अग्न्यादिभाव यजमानकी अतिमुक्ति है—इसकी व्याख्या उद्गीथप्रकरणमें की जा चुकी है। वहाँ मुख्य प्राणदर्शनमात्रको ही सामान्यरूपसे मुक्तिका साधन बतलाया है, उसका विशेष वर्णन नहीं किया। यहाँ वागादिमें अग्न्यादिदृष्टि करना यह विशेष बतलाया

विशेषो वर्ण्यते । मृत्युप्राप्त्यतिमुक्तिस्तु सैव फलभूता, योद्गीथब्राह्मणेन व्याख्याता—'मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते' (१ । ३ । १२) इत्याद्या ॥ ३ ॥

गया है। किंतु उसकी फलभूता जो मृत्युप्राप्तिसे अतिमुक्ति है, वह तो वही है, जिसकी उद्गीथब्राह्मण-द्वारा 'मृत्युको पार करके दीप्त होता है' इस प्रकारसे व्याख्या की गयी है ॥ ३ ॥

अहोरात्रादिरूप कालसे अतिमुक्तिका साधन

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद्ँ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्त्ँ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषादित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ४ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब दिन और रात्रिसे व्याप्त है, सब दिन और रात्रिके अधीन है। तब किस साधनके द्वारा यजमान दिन और रात्रिकी व्याप्तिका अतिक्रमण कर सकता है ?' [इसपर याज्ञवल्क्य बोला—] 'अध्वर्यु-ऋत्विक और चक्षुरूप आदित्यके द्वारा। अध्वर्यु यज्ञका चक्षु ही है। अतः यह जो चक्षु है, वह यह आदित्य है और वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच । स्वाभाविकादज्ञानासङ्गप्रयुक्तात्कर्मलक्षणान्मृत्योरतिमुक्तिर्व्याख्याता। तस्य कर्मणः सासङ्गस्य मृत्योराश्रयभूतानां दर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनानां यो विपरिणामहेतुः

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा। स्वाभाविक अज्ञानजनित आसक्तिसे होनेवाले कर्मरूप मृत्युसे अतिमुक्तिकी व्याख्या कर दी गयी जो उस आसक्तियुक्त कर्मरूप मृत्युके आश्रयभूत दर्श और पूर्णमासादि कर्मके साधनोंके विपरिणामका हेतु-

कालः, तस्मात् कालात् पृथगति-मुक्तिर्वक्तव्येतीदमारभ्यते, क्रिया-नुष्ठानव्यतिरेकेणापि प्रागूर्ध्वं च क्रियायाः साधनविपरिणामहेतु-त्वेन व्यापारदर्शनात् कालस्य। तस्मात्पृथक्कालादतिमुक्तिर्वक्तव्ये-त्यत आह—

भूतकाल है, उस कालसे पृथक् जो अतिमुक्ति है [अर्थात् जो उस कालसे मुक्त होनेका साधन है] उसका वर्णन करना है, इसलिये यह आरम्भ किया जाता है, क्योंकि क्रियाके अनुष्ठानके विना भी क्रियाके पूर्व और पश्चात् उसके साधनोंके विपरिणामके हेतुरूपसे कालका व्यापार देखा जाता है। अतः कालसे पृथक् अतिमुक्तिका वर्णन करना आवश्यक है, इसलिये श्रुति कहती है—

यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तम्, स च कालो द्विरूपः—अहोरात्रादि-लक्षणः, तिथ्यादिलक्षणश्च। तत्रा-होरात्रादिलक्षणात्तावदतिमुक्ति-माह—अहोरात्राभ्यां हि सर्वं जायते वर्धते विनश्यति च, तथा यज्ञसाधनं च।

यह जो कुछ है सब दिन और रात्रिसे व्याप्त है, वह काल दो प्रकारका है—दिन-रात्रिरूप और तिथ्यादिरूप। उनमेसे पहले अहोरात्रादिरूप कालसे अतिमुक्ति बतलायी जाती है-दिन-रातसे ही सब उत्पन्न होता, बढ़ता और नाशको प्राप्त होता है। इसी प्रकार यज्ञके साधन भी उन्हींसे उत्पन्न होते, बढ़ते और नष्ट होते हैं।

यज्ञस्य यजमानस्य चक्षुरध्व-र्युश्च। शिष्टान्यक्षराणि पूर्ववन्ने-यानि। यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च साधनद्वयमध्यात्माधिभूतपरिच्छेदं हित्वा अधिदैवतात्मना दृष्टं यत् स

यज्ञ यानी यजमानके नेत्र और अध्वर्यु—शेष अक्षरोंको पूर्ववत् लगाना चाहिये। अर्थात् यजमानके नेत्र और अध्वर्यु ये दोनों साधन अपने अध्यात्म और अधिभूत परि-च्छेदको त्यागकर जब अधिदैवरूप-से देखे जाते हैं तो वही इनकी मुक्ति

मुक्तिः । सोऽध्वर्युरादित्यभावेन दृष्टो मुक्तिः । सैव मुक्तिरेवातिमुक्तिरिति । पूर्ववत् आदित्यात्मभावमापन्नस्य हि नाहोरात्रे सम्भवतः ॥ ४ ॥

है । आदित्यभावसे देखा हुआ वह अध्वर्यु मुक्ति ही है । पूर्ववत् वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है, क्योंकि आदित्यभावको प्राप्त हुए पुरुषके लिये दिन-रात होने सम्भव नहीं हैं ॥ ४ ॥

तिथ्यादिरूप कालसे अतिमुक्तिका साधन

इदानीं तिथ्यादिलक्षणादतिमुक्तिरुच्यते—

अब तिथ्यादिरूप कालसे अतिमुक्ति बतलायी जाती है—

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳसर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ५ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा [अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षसे व्याप्त है; सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षद्वारा वशमें किया हुआ है । किस उपायसे यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्षकी व्याप्तिसे पार होकर मुक्त होता है ?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'उद्गाता ऋत्विक्से और वायुरूप प्राणसे; क्योंकि उद्गाता यज्ञका प्राण ही है । तथा यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है ॥ ५ ॥

यदिदं सर्वम् – अहोरात्रयोरविशिष्टयोरादित्यः कर्ता, न प्रतिपदादीनां तिथीनाम्; तासां तु वृद्धिक्षयोपगमनेन प्रतिपत्प्रभृतीनां

यदिदं सर्वम्—ये जो अविशिष्ट (वृद्धिक्षयशून्य) दिन-रात हैं, इन सबका कर्ता आदित्य है किंतु वह प्रतिपदादि तिथियोंका कर्ता नहीं है; उन प्रतिपदादिके तो वृद्धि और क्षय देखे जाते हैं, अतः उनका कर्ता तो

चन्द्रमाः कर्ता । अतस्तदापत्त्या पूर्वपक्षापरपक्षात्ययः, आदित्यापत्त्या अहोरात्रात्ययवत् ।

तत्र यजमानस्य प्राणो वायुः, स एवउद्गाता—इत्युद्गीथब्राह्मणेऽवगतम् 'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' इति च निर्धारितम् । 'अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः' इति च । प्राणवायुचन्द्रमसामेकत्वाच्चन्द्रमसा वायुना चोपसंहारे न कश्चिद् विशेषः । एवं मन्यमाना श्रुतिर्वायुना अधिदैवतरूपेणोपसंहरति ।

अपि च वायुनिमित्तौ हि वृद्धिक्षयौ चन्द्रमसः । तेन तिथ्यादिलक्षणस्य कालस्य कर्तुरपि कारयिता वायुः । अतो वायुरूपापन्नास्तिथ्यादिकालादतीतो भवतीत्युपपन्नतरं भवति । तेन

चन्द्रमा है । अतः आदित्यभावकी प्राप्तिसे जैसे अहोरात्रका अतिक्रमण होता है, उसी प्रकार चन्द्रभावकी प्राप्तिसे पूर्वपक्ष और अपरपक्षका अतिक्रमण किया जा सकता है ।

वहाँ (काण्वशाखाकी श्रुतिमें) यजमानका प्राण वायु है । वही उद्गाता है—यह बात उद्गीथ-ब्राह्मणमें जानी गयी थी और यह निश्चय किया गया था कि उसने वाक्से और प्राणसे उद्गान किया इस प्राणका जल शरीर है और यह चन्द्र ज्योतीरूप है । वायु, प्राण और चन्द्रमाकी एकता होनेके कारण यदि [उद्गीथब्राह्मणोक्त और उपर्युक्त श्रुतियोंका] चन्द्रमा और वायुरूपसे [अलग-अलग] उपसंहार किया गया है तो उसमें कोई अन्तर नहीं है । ऐसा मानकर ही श्रुति इस मन्त्रका अधिदेव वायुरूपसे उपसंहार करती है ।

इसके सिवा चन्द्रमाके वृद्धि और क्षय भी वायुके ही कारण हैं । अतः वायु तिथ्यादिरूप कालके कर्ता (चन्द्रमा) का भी करानेवाला है । इसलिये वायुरूपको प्राप्त हुआ पुरुष तिथ्यादिरूपकालसे पार हो जाता है—यह कथन और भी युक्तियुक्त है । अतः अन्य श्रुति (माध्यन्दिनीय

श्रुत्यन्तरे चन्द्ररूपेण दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्च । इह तु काण्वानां साधनद्वयस्य तत्कारणरूपेण वाय्वात्मना दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्चेति न श्रुत्योर्विरोधः ॥ ५ ॥

शाखा) में जो चन्द्ररूपसे दृष्टि है, वह मुक्ति और अतिमुक्ति है। परंतु यहाँ काण्वशाखावालोंके मतमें अहोरात्र और तिथि आदि दोनों ही साधनोंके कारणभूत वायुभावसे जो दृष्टि है, वह मुक्ति और अतिमुक्ति है--इसलिये इन श्रुतियोंमें विरोध नहीं है ॥ ५ ॥

परिच्छेदके विषयभूत मृत्युको पार करनेके आश्रयका वर्णन

मृत्योः कालादतिमुक्तिर्व्याख्याता यजमानस्य । सोऽतिमुच्यमानः केनावष्टम्भेन परिच्छेदविषयं मृत्युमतीत्य फलं प्राप्नोति--अतिमुच्यत इत्युच्यते—

यजमानकी मृत्युरूप कालसे अतिमुक्ति होनेकी व्याख्या की गयी। वह अतिमुक्ति होता हुआ किस आश्रयसे परिच्छेदके विषयभूत मृत्युको पार करके फल प्राप्त करता—अतिमुक्त होता है—सो बतलाया जाता है—

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ सम्पदः ॥ ६ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो अन्तरिक्ष है, वह निरालम्ब-सा है। अतः यजमान किस आलम्बनसे स्वर्गलोकमें चढ़ता है ।, [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'ब्रह्मा ऋत्विजके द्वारा और मनरूप चन्द्रमासे

ब्रह्मा यज्ञका मन ही है। और यह जो मन है, वही यह चन्द्रमा है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है।' इस प्रकार अतिमोक्षोंका वर्णन हुआ, अब सम्पदोंका निरूपण किया जाता है ॥ ६ ॥

यदिदं प्रसिद्धमन्तरिक्षमाकाशः अनारम्बणम् अनालम्बनम् इवशब्दादस्त्येव तत्रालम्बनम्, तत्तु न ज्ञायत इत्यभिप्रायः। यत्तु तदज्ञायमानमालम्बनम्, तत् सर्वनाम्ना केनेति पृच्छ्यते; अन्यथा फलप्राप्तेरसम्भवात्। येनावष्टम्भेनाक्रमेण यजमानः कर्मफलं प्रतिपद्यमानः अतिमुच्यते, किं तदिति प्रश्नविषयः। केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति, स्वर्गं लोकं फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्यर्थः।

यह जो प्रसिद्ध अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, वह अनारम्बण-अनालम्बन-सा है। 'इव' शब्दसे यह अभिप्राय है कि इसमें आलम्बन तो है किंतु वह जाना नहीं जाता। यहाँ जो ज्ञात न होनेवाला आलम्बन है, वही 'केन' इस सर्वनामद्वारा पूछा जाता है। नहीं तो [यदि आलम्बनका अभाव माना जायगा तो] फलप्राप्ति ही सम्भव न होगी। यहाँ प्रश्नका विषय यह है कि जिस आश्रयके द्वारा यजमान कर्मफलको प्राप्त होता हुआ अतिमुक्त होता है, वह क्या है? तात्पर्य यह है कि यजमान किस आश्रयसे स्वर्गलोक पर आरूढ़ होता है, यानी स्वर्गलोकरूप फलको प्राप्त करता अर्थात् अतिमुक्त हो जाता है।

ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेणेत्यक्षरन्यासः पूर्ववत्। तत्राध्यात्मं यज्ञस्य यजमानस्य यदिदं प्रसिद्धं मनः, सोऽसौ चन्द्रोऽधिदैवम्। मनोऽध्यात्मं चन्द्रमा अधिदैवत-

ब्रह्मारूप ऋत्विक्से और मनरूप चन्द्रमासे—इन अक्षरोंकी योजना पूर्ववत् करनी चाहिये। यहाँ यज्ञ यानी यजमानका जो यह प्रसिद्ध अध्यात्म मन है, वही यह अधिदैव चन्द्रमा है। मन अध्यात्म है और

मिति हि प्रसिद्धम्। स एव चन्द्रमा ब्रह्मर्त्विक्। तेनाधिभूतं ब्रह्मणः परिच्छिन्नं रूपमध्यात्मं च मनस एतद्द्वयमपरिच्छिन्नेन चन्द्रमसो रूपेण पश्यति। तेन चन्द्रमसा मनसावलम्बनेन कर्मफलं स्वर्गं लोकं प्राप्नोत्यतिमुच्यते इत्यभिप्रायः। इतीत्युपसंहारार्थं वचनम्। इत्येवम्प्रकारा मृत्योरतिमोक्षाः। सर्वाणि हि दर्शनप्रकाराणि यज्ञाङ्गविषयाण्यस्मिन्नवसर उक्तानीति कृत्वोपसंहारः। इत्यतिमोक्षाः, एवम्प्रकारा अतिमोक्षा इत्यर्थः।

अथ सम्पदः—अथाधुना सम्पद उच्यन्ते। सम्पन्नाम केनचित्सामान्येनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां फलवतां तत्फलाय सम्पादनं सम्पत्फलस्यैव वा। सर्वोत्साहेन फलसाधनानुष्ठाने प्रयतमानानां

चन्द्रमा अधिदैवत है—यह प्रसिद्ध ही है। वही चन्द्रमा ब्रह्मा ऋत्विक् है। इसीसे अधिभूत ब्रह्माके और अध्यात्म मनके जो परिच्छिन्नरूप हैं—इन दोनोंको चन्द्रमाके अपरिच्छिन्नरूपसे देखता है। उस चन्द्रमारूप मनको आश्रय मानकर उससे अपने कर्मफलभूत स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेता है अर्थात् अतिमुक्त हो जाता है—ऐसा इसका अभिप्राय है। 'इत्यतिमोक्षाः' इस वाक्यमें 'इति' पद उपसंहारके लिये कहा गया है। अर्थात् इतने प्रकारके मृत्युसे अतिमोक्ष हैं। इस वीचमें यज्ञाङ्गविषयक सभी दर्शन-प्रकारोंका वर्णन कर दिया गया है—इसलिये यह उपसंहार किया है। 'इत्यतिमोक्षाः' अर्थात् इतने प्रकारके अतिमोक्ष हैं।

'अथ सम्पदः'—अब सम्पदोंका वर्णन किया जाता है। 'सम्पद्' का तात्पर्य यह है कि किसी भी समानतासे अग्निहोत्रादि फलयुक्त कर्मोंका उस फलके लिये सम्पादन (आरोप) किया जाय, अथवा सम्पद्के फल (देवलोकादि) का ही [उज्ज्वलत्वादि सामान्यके कारण आज्यादि आहुतियोंमें सम्पादन किया जाय]। जो लोग पूर्ण उत्साहसे किसी फलके साधनका अनुष्ठान करनेके

केनचिद्वैगुण्येनासम्भवः । तदिदानीमाहिताग्निः सन् यत् किञ्चित् कर्माग्निहोत्रादीनां यथासम्भवमादाय आलम्बनीकृत्य कर्मफलविद्वत्तायां सत्यां यत्कर्मफलकामो भवति, तदेव सम्पादयति । अन्यथा राजसूयाश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधलक्षणानाम् अधिकृतानां त्रैवर्णिकानामप्यसम्भवः — तेषां तत्पाठः स्वाध्यायार्थ एव केवलः स्यात्, यदि तत्फलप्राप्त्युपायः कश्चन न स्यात् । तस्मात्तेषां सम्पदैव तत्फलप्राप्तिः, तस्मात् सम्पदामपि फलवत्त्वम्, अतः सम्पद आरभ्यन्ते ॥ ६ ॥

लिये प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें किसी भी दोषके कारण उसकी प्राप्ति असम्भव हो जाती है। अतः इस समय [सम्पद्के द्वारा] पुरुष आहिताग्नि होकर अग्निहोत्रादिमेंसे जिसका करना सम्भव हो ऐसे किसी कर्मको लेकर उसीके आश्रयसे, कर्म-फलका ज्ञान होनेपर, जिस कर्म-फलकी इच्छा होती है उसीका सम्पादन कर लेता है। नहीं तो राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध एवं सर्वमेधरूप कर्मोंके अधिकारी त्रैवर्णिकोंको भी उनका फल मिलना असम्भव है। यदि [धनाभावादिके कारण] उन राजसूयादिके फलकी प्राप्तिका कोई उपाय न हो तो उनका वह पाठ केवल स्वाध्यायके लिये ही होगा। अतः उन्हें उनकी सम्पत्तिसे ही उनके फलकी प्राप्ति हो जायगी।[1] इसलिये सम्पदोंकी भी फलवत्ता है; अतः सम्पदोंका आरम्भ किया जाता है ॥ ६ ॥

---

१. भावनाद्वारा किसी अन्य वस्तुका अन्यमें आरोप करना 'सम्पद्' कहलाता है। राजसूयादि कर्म बहुत द्रव्यसाध्य हैं तथा उनमेंसे प्रत्येक कर्मका सभी त्रैवर्णिकोंको अधिकार भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें जो धनाभाव या अन्य वर्णमें उत्पन्न होनेके कारण उनमेंसे किसी कर्मको नहीं कर सकते, वे सम्पद्द्वारा उनका फल प्राप्त कर सकते हैं। यदि सम्पत्-कर्म न होता तो उनके लिये उन यज्ञोंका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र केवल स्वाध्यायमें ही उपयोगी हो सकता था; इसलिये सम्पदोंका प्रतिपादन बहुत उपयोगी है।



शस्त्रसम्बन्धी ऋचाएँ और उनसे प्राप्त होनेवाला फल

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन् यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किञ्चेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज कितनी ऋचाओंके द्वारा होता इस यज्ञमें शस्त्र-शंसन करेगा ?' [याज्ञवल्क्यने कहा—] 'तीनके द्वारा ।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-सी हैं ? [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या ।' [अश्वल—] 'इनसे यजमान किसको जीतता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जितना भी प्राणिसमुदाय है। [उस सबको जीत लेता है]' ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच अभिमुखीकरणाय। कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन् यज्ञे कतिभिः कतिसङ्ख्याभिर्ऋग्भिर्ऋग्जातिभिः अयं होतर्त्विगस्मिन् यज्ञे करिष्यति शस्त्रं शंसति। आहेतरः—तिसृभिर्ऋग्जातिभिः। इत्युक्तवन्तं प्रत्याहेतरः—कतमास्तास्तिस्र इति। सङ्ख्येयविषयोऽयं प्रश्नः, पूर्वस्तु सङ्ख्याविषयः।

अपने अभिमुख करनेके लिये अश्वलने 'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा कहा। 'कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन् यज्ञे—आज यह होता इस यज्ञमें कितनी ऋचाओं अर्थात् कितनी संख्यावाली ऋग्जातियोंद्वारा शस्त्र-शंसन करेगा ?' इसपर इतर (याज्ञवल्क्य) ने कहा, 'तीन ऋग्जातियोंद्वारा।' इस प्रकार कहनेवाले याज्ञवल्क्यसे अश्वलने कहा, 'वे तीन कौन-कौन हैं ?' यह प्रश्न जिनकी [तीन-यह] संख्या की गयी है, उन ऋग्जातियोंके विषयमें है तथा इससे पहला प्रश्न उनकी संख्याके विषयमें था।

पुरोनुवाक्या च—प्राग् यागकालाद् याः प्रयुज्यन्ते ऋचः, सा ऋग्जातिः पुरोनुवाक्येत्युच्यते। यागार्थं याः प्रयुज्यन्ते ऋचः, सा ऋग्जातिर्याज्या। शस्त्रार्थं याः प्रयुज्यन्ते ऋचः, सा ऋग्जातिः शस्या। सर्वास्तु याः काश्चन ऋचः; ताः स्तोत्रिया वा अन्या वा सर्वा एतास्वेव तिसृषु ऋग्जातिष्वन्तर्भवन्ति।

किं ताभिर्जयतीति यत्किञ्चेदं प्राणभृदिति—अतश्च सङ्ख्यासामान्याद् यत्किञ्चित्प्राणभृज्जातम्, तत् सर्वं जयति तत् सर्वं फलजातं सम्पादयति सङ्ख्यादिसामान्येन॥ ७॥

'पुरोनुवाक्या च'—जो ऋचाएँ यागकालसे पहले प्रयुक्त होती हैं, वह ऋग्जाति 'पुरोनुवाक्या' कही जाती है। जो ऋचाएँ यागके लिये प्रयुक्त होती हैं, वह ऋग्जाति 'याज्या' कहलाती है। तथा जो ऋचाएँ शस्त्रकर्मके लिये प्रयुक्त होती हैं, वह ऋग्जाति 'शस्या' कही जाती हैं। जितनी भी ऋचाएँ हैं—वे स्तोत्रिया हों अथवा कोई अन्य—इन तीन ऋग्जातियोंके ही अन्तर्गत हैं।

'उनके द्वारा पुरुष किसपर जय प्राप्त करता है' इसपर कहते हैं—यह जो कुछ प्राणिसमुदाय है, उसे जीत लेता है। अतः [तीन ऋग्जाति और तीन लोकोंकी] संख्यामें समानता होनेके कारण यह जितना प्राणिसमुदाय है, वह इस सबको जीत लेता है। अर्थात् संख्यादिमें समानता होनेके कारण वह उस समस्त फलसमूहका सम्पादन कर लेता है॥ ७॥

होमसम्बन्धिनी आहुतियाँ और उनसे प्राप्त होनेवाले फल

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन् यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या

हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें यह अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ होम करेगा !' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-कौन-सी हैं, [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती है और जो होम की जानेपर पृथ्वीके ऊपर लीन हो जाती हैं।' [अश्वल—] 'इनके द्वारा यजमान किसको जीतता है।' [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं; उनसे यजमान देवलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि देवलोक मानो देदीप्यमान हो रहा है। जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह पितृलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि पितृलोक मानो अत्यन्त शब्द करनेवाला है। जो होम की जानेपर पृथ्वीपर लीन हो जाती हैं, उनसे मनुष्यलोकको ही जीतता है; क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है' ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत्। कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन् यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति, कत्याहुतिप्रकाराः ? तिस्र इति, कतमास्तास्तिस्र इति पूर्ववत्।

इतर आह—या हुता उज्ज्व-

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने पूर्ववत् [अपने अभिमुख करनेके लिये] कहा, 'आज यह अध्वर्यु इस यज्ञमें कितनी आहुतियाँ हवन करेगा ?' अर्थात् 'आहुतियोंके कितने प्रकार हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' फिर पूर्ववत् पूछता है—'कौन-कौन तीन ?'

इसपर इतर (याज्ञवल्क्य) कहता है—'जो हवन की जानेपर

लन्ति समिदाज्याहुतयः या हुता अतिनेदन्तेऽतीव शब्दं कुर्वन्ति मांसाद्याहुतयः, या हुता अधिशेरतेऽध्यधो गत्वा भूमेरधिशेरते पयःसोमाहुतयः।

किं ताभिर्जयतीति, ताभिरेवं निर्वर्तिताभिराहुतिभिः किं जयतीति। या आहुतयो हुता उज्ज्वलन्त्युज्ज्वलनयुक्ता आहुतयो निर्वर्तिताः, फलं च देवलोकाख्यमुज्ज्वलमेव, तेन सामान्येन या मयता उज्ज्वलन्त्य आहुतयो निर्वर्त्यमानास्ता एताः साक्षाद्देवलोकस्य कर्मफलस्य रूपं देवलोकाख्यं फलमेव मया निर्वर्त्यत इत्येवं सम्पादयति।

या हुता अतिनेदन्ते आहुतयः पितृलोकमेव ताभिर्जयति कुत्सितशब्दकर्तृत्वसामान्येन। पितृ-

प्रज्वलित होती हैं, वे समिध् और घृतकी आहुतियाँ, जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं, वे आहुतियाँ और जो होमकी जानेपर अधिशयन करतीं अर्थात् नीचे पृथ्वीपर जाकर लीन हो जाती हैं, वे दुग्ध और सोमकी आहुतियाँ।'

'इनसे यजमान किसको जीतता है? अर्थात् इस प्रकार सम्पन्न की हुई उन आहुतियोंसे यजमान क्या जीत लेता है!' [याज्ञवल्क्य--] जो हवन की हुई आहुतियाँ उज्ज्वलित होती हैं अर्थात् उज्ज्वलनयुक्त होती हैं, उनका देवलोकसंज्ञक फल भी उज्ज्वल ही है। इन दोनोंमें यह समानता होनेके कारण यजमान इस प्रकार सम्पादन (भावना) करता है कि मेरेद्वारा जो ये उज्ज्वलित आहुतियाँ दी जा रही हैं, वे साक्षात् इस कर्मके फलस्वरूप देवलोकका रूप हैं, अतः इनके द्वारा मैं देवलोकरूप फलको निष्पन्न कर रहा हूँ।

जो आहुतियाँ होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे यजमान पितृलोकको ही जीतता है, क्योंकि कुत्सित शब्द करनेवाले होनेसे इनके साथ उनकी समानता है।

लोकसम्बद्धायां हि संयमन्यां पुर्यां वैवस्वतेन यात्यमानानां 'हा हताः स्म मुञ्च मुञ्च' इति शब्दो भवति। तथावदानाहुतयः तेन पितृलोकसामान्यात् पितृलोक एव मया निर्वर्त्यत इति सम्पादयति।

पितृलोकसे सम्बद्ध संयमनीपुरीमें यमराजके द्वारा यातना भोगते हुए जीवोंका 'हाय मरे! छोड़! छोड़!' ऐसा शब्द होता रहता है। इसी प्रकार अवदान-आहुतियाँ भी शब्द करनेवाली हैं। अतः पितृलोकसे समानता होनेके कारण इनसे मेरे-द्वारा पितृलोक ही प्राप्त किया जाता है, इस प्रकार यजमान सम्पादन करता है।

या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयति भूम्युपरि सम्बन्धसामान्यात्। अध इव ह्यध एव हि मनुष्यलोकः उपरितनान् साध्याँल्लोकानपेक्ष्य, अथवाधोगमनमपेक्ष्य। अतो मनुष्यलोक एव मया निर्वर्त्यत इति सम्पादयति पयःसोमाहुतिनिर्वर्तनकाले॥ ८॥

जो आहुतियाँ होम की जानेपर पृथ्वीपर लीन हो जाती हैं, उनसे यजमान मनुष्यलोकपर ही विजय प्राप्त करता है; क्योंकि पृथ्वीके ऊपरी भागसे सम्बद्ध होनेमें उन दोनोंकी समानता है। मनुष्यलोक ऊपरके साधनसाध्य लोकोंकी अपेक्षा अधः—नीचे ही स्थित है। अथवा अधोगमनकी अपेक्षासे वे मनुष्यलोकको ही जीतते हैं। अतः दूध या सोमकी आहुति देते समय यजमान यही सम्पादन करता है कि इससे मेरेद्वारा मनुष्यलोक ही प्राप्त किया जाता है॥ ८॥

ब्रह्माके यज्ञरक्षाके साधन और उससे प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन

एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज यह ब्रह्मा यज्ञमें दक्षिणकी ओर बैठकर कितने देवताओंद्वारा यज्ञकी रक्षा करता है ?' [याज्ञवल्क्य-] 'एकके द्वारा ।' [अश्वल-] 'वह एक देवता कौन है ?' [याज्ञवल्क्य-] 'वह मन ही है। मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं; अतः उस मनसे यजमान अनन्त लोकको जीत लेता है' ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत् । अयमृत्विग्ब्रह्मा दक्षिणतो ब्रह्मासने स्थित्वा यज्ञं गोपायति। कतिभिर्देवताभिर्गोपायतीति प्रासङ्गिकमेतद्बहुवचनम्, एकया हि देवतया गोपायत्यसौ, एवं ज्ञाते बहुवचनेन प्रश्नो नोपपद्यते स्वयं जानतः । तस्मात् पूर्वयोः कण्डिकयोः प्रश्नप्रतिवचनेषु कतिभिः कति तिसृभिः तिस्र इति प्रसङ्गं दृष्ट्वेहापि बहुवचनेनैव प्रश्नोपक्रमः क्रियते। अथवा प्रतिवादिव्यामोहार्थं बहुवचनम्

'हे याज्ञवल्क्य ।' ऐसा अश्वलने पूर्ववत् [अभिमुख करनेके लिये] कहा 'यह ब्रह्मानामक ऋत्विक् दक्षिणकी ओर ब्रह्माके लिये निश्चित आसनपर बैठकर यज्ञकी रक्षा करता है। वह कितने देवताओंद्वारा उसकी रक्षा करता है ?' यहाँ देवता शब्दमें जो बहुवचन है, वह प्रसङ्गवश है; क्योंकि ब्रह्मा एक ही देवतासे यज्ञकी रक्षा करता है- यह स्वयं जानते हुए व्यक्तिके लिये बहुवचनद्वारा प्रश्न करना उचित नहीं है। अतः पहली दो कण्डिकाओंके प्रश्न और उत्तरोंमें 'कतिभिः कति' और 'तिसृभिः तिस्रः' ऐसा प्रसङ्ग देखकर यहाँ भी प्रश्नका आरम्भ बहुवचनसे ही किया जाता है। अथवा यह बहुवचन अपने प्रतिवादीको भ्रममें डालनेके लिये भी हो सकता है।

इतर आहैकयेति। एका सा देवता यया दक्षिणतः स्थित्वा ब्रह्मा आसने यज्ञं गोपायति। कतमा सैकेति। मन एवेति, मनः सा देवता। मनसा हि ब्रह्मा व्याप्रियते ध्यानेनैव। "तस्य यज्ञस्य मनश्च वाक्च वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा" (छा० उ० ४।१६।१) इति श्रुत्यन्तरात्। तेन मन एव देवता तया मनसा हि गोपायति ब्रह्मा यज्ञम्।

तच्च मनो वृत्तिभेदेनानन्तम्। वैशब्दः प्रसिद्धावद्योतनार्थः। प्रसिद्धं मनस आनन्त्यम्। तदानन्त्याभिमानिनो देवाः, अनन्ता वै विश्वे देवाः। "सर्वे देवा यत्रैकं भवन्ति" इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। तेन आनन्त्यसामान्यादनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥९॥

इसपर (याज्ञवल्क्य) कहते हैं, 'एकया इति; जिसके द्वारा दक्षिणकी ओर आसनपर बैठकर ब्रह्मा यज्ञकी रक्षा करता है, वह देवता एक है।' 'वह एक देवता कौन है?' इसपर कहते हैं—वह मन ही है—वह देवता मन ही है। मनके द्वारा ध्यान करके ही ब्रह्मा अपना कार्य करता है। "उस यज्ञके मन और वाक्-ये दो मार्ग हैं, उनमेंसे एक (वाक्) का संस्कार ब्रह्मा मन यानी मौनसे करता है" इस अन्य श्रुतिसे भी यही कहा गया है। अतः मन ही देवता है, उस मनसे ही ब्रह्मा यज्ञकी रक्षा करता है।

और वह मन वृत्तिभेदसे अनन्त है। 'वै' शब्द प्रसिद्ध अर्थका द्योतन करनेके लिये है। मनका अनन्तत्व प्रसिद्ध है। उस अनन्तत्वके अभिमानी जो देव हैं, वे सम्पूर्ण देव भी अनन्त हैं। "जिस मनमें समस्त देव एक (अभिन्न) हो जाते हैं" इत्यादि अन्य श्रुतिसे भी यही प्रकट होता है। अतः अनन्ततामें समानता होनेके कारण वह उसके द्वारा अनन्तलोकको ही जीत लेता है॥९॥

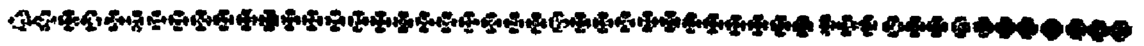
स्तवनसम्बन्धिनी ऋचाओंका और उनसे प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गातास्मिन् यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्यापानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकꣳ शस्यया ततो ह होताश्वल उपरराम ॥ १० ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओंका स्तवन करेगा ?' [याज्ञवल्क्य–] 'तीनका' [अश्वल—] 'वे तीन कौन सी हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'पुरोनुवाक्या' याज्या और तीसरी शस्या ।' [अश्वल-] 'इनमें जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य–] 'प्राण ही पुरोनुवाक्या है; अपान याज्या है और व्यान शस्या है ।' [अश्वल–] 'इनसे यजमान किनपर जय प्राप्त करता है ?' [याज्ञवल्क्य–] पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकपर ही जय प्राप्त करता है, तथा याज्यासे अन्तरिक्षलोकपर और शस्यासे द्युलोकपर विजय प्राप्त करता है । इसके पश्चात् होता अश्वल चुप हो गया ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत् । कति स्तोत्रियाः स्तोष्यतीत्ययमुद्गाता । स्तोत्रिया नाम ऋक्सामसमुदायः कतिपयानामृचाम् । स्तोत्रिया वा शस्या वा याः

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने पूर्ववत् [अभिमुख करनेके लिये] कहा, 'यह उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओंका स्तवन करेगा ?' 'स्तोत्रिया' यह कुछ ऋचाओंके ऋक्सामसमुदायका नाम है । स्तोत्रिया हो अथवा शस्या, जो कुछ



काश्चन ऋचः, ता सर्वास्तिस्र एवेत्याह। ताश्च व्याख्याताः—पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीयेति।

तत्र पूर्वमुक्तम्—यत्किञ्चेदं प्राणभृत् सर्वं जयतीति तत् केन सामान्येन? इत्युच्यते-कतमास्तास्तिस्र ऋचो या अध्यात्मं भवन्तीति। प्राण एव पुरोनुवाक्या, पशब्दसामान्यात्। अपानो याज्या, आनन्तर्यात्। अपानेन हि प्रत्तं हविर्देवता ग्रसन्ति, यागश्च प्रदानम्। व्यानः शस्या—"अप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति" (छा० उ० १।३।४)। इति श्रुत्यन्तरात्।

भी ऋचाएँ[1] हैं, ये सब तीन ही प्रकारकी हैं-यही बात अब बतायी जाती है। उन्हींकी पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या—ऐसा कहकर व्याख्या की गयी है।

यहाँ पहले (मन्त्र ७ में) जो यह कहा गया है कि यह जो कुछ प्राणिवर्ग है, उस सभीको जीत लेता है, सो किस समानताके कारण है—यह कहते हैं अर्थात् 'इनमें जो अध्यात्म (देहान्तर्वर्ती) हैं, वे तीन ऋचाएँ कौन-सी हैं'—इस प्रश्नद्वारा यह बतलाया जाता है—प्राण ही पुरोनुवाक्या है; क्योंकि 'प' शब्दमें इन दोनोंकी समानता है। अपान याज्या है क्योंकि आनन्तर्यमें दोनोंकी समानता है।[2] इसके सिवा देवगण दी हुई हविको अपानसे ही ग्रहण करते हैं; और प्रदान ही याग है [अतः अपान याज्या ऋचाएँ हैं]। व्यान शस्या है, जैसा कि "प्राण अपान-व्यापार न करता हुआ ऋचाओंका उच्चारण करता है" इस अन्य श्रुतिसे कहा गया है।

---

१. प्रगीत ऋचाओंको स्तोत्र कहते है और अप्रगीत ऋचाओंको शस्त्र। इनमें स्तोत्र ही स्तोत्रिया ऋचाएँ हैं और शस्त्र शस्या है।

२. कारण जैसे अपान प्राणके अनन्तर है, उसी प्रकार याज्या ऋचाएँ पुरोनुवाक्या ऋचाओंके अनन्तर हैं।

किं ताभिर्जयतीति व्याख्यातम्। तत्र विशेषसम्बन्धसामान्यमनुक्तमिहोच्यते, सर्वमन्यद् व्याख्यातम्। लोकसम्बन्धसामान्येन पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयति, अन्तरिक्षलोकं याज्यया, मध्यमत्वसामान्यात्। द्युलोकं शस्यया ऊर्ध्वत्वसामान्यात्। ततो ह तस्मादात्मनः प्रश्ननिर्णयादसौ होता अश्वल उपरराम नायमस्मद्गोचर इति ॥ १० ॥

'किं ताभिर्जयति' (उनसे किसपर विजय प्राप्त करता है)—इसकी व्यवस्था पहले की जा चुकी है। वहाँ जो इनका विशेषसम्बन्धसामान्य नहीं बतलाया गया, वह यहाँ बतलाया जाता है; और सब (संख्यासामान्यादि) की व्याख्या तो कर दी गयी है। लोकसम्बन्धी सामान्य होनेसे पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकपर ही विजय प्राप्त करता है।[1] मध्यमत्वमें समानता होनेके कारण याज्यासे अन्तरिक्ष लोकपर जय प्राप्त करता है तथा ऊर्ध्वत्वमें समानता होनेसे शस्यासे द्युलोकपर जय प्राप्त करता है। तब उस अपने प्रश्नके निर्णयसे होता अश्वल यह समझकर कि 'यह याज्ञवल्क्य हमारे काबूका नहीं है' चुप हो गया ॥ १० ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये प्रथममश्वलब्राह्मणम् ॥ १ ॥

१. लोकोंमें पृथिवीलोक प्रथम है और ऋचाओंमें पुरोनुवाक्या ऋचाएँ प्रथम हैं। इस प्रकार 'प्रथमत्व' रूप सम्बन्धकी दोनोंमें समानता होनेसे पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकको ही जीतता है।

द्वितीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-आर्तभाग-संवाद

उपक्रम

आख्यायिकासम्बन्धः प्रसिद्ध एव । मृत्योरतिमुक्तिर्व्याख्याता काललक्षणात् कर्मलक्षणाच्च । कः पुनरसौ मृत्युर्यस्मादतिमुक्तिर्व्याख्याता ? स च स्वाभाविकाज्ञानासङ्गास्पदोऽध्यात्माधिभूतविषयपरिच्छिन्नो ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युः । तस्मात् परिच्छिन्नरूपान्मृत्योरतिमुक्तस्य रूपाण्यग्न्यादित्यादीन्युद्गीथप्रकरणे व्याख्यातानि । अश्वलप्रश्ने च तद्गतो विशेषः कश्चित् । तच्चैतत् कर्मणां ज्ञानसहितानां फलम् ।

एतस्मात् साध्यसाधनरूपात् संसारान्मोक्षः कर्तव्य इत्यतो-बन्धनरूपस्य मृत्योः स्वरूपमुच्यते । बद्धस्य हि मोक्षः कर्तव्यः । यदप्यतिमुक्तस्य स्वरूपमुक्तं तत्रापि ग्रहातिग्रहाभ्यामविनिर्मुक्त एव

आख्यायिकाका सम्बन्ध तो प्रसिद्ध ही है । कालरूप और कर्मरूप मृत्युसे अतिमुक्तिकी व्याख्या की गयी । किंतु जिससे अतिमुक्तिकी व्याख्या की गयी है, वह मृत्यु क्या है ? वह मृत्यु स्वाभाविक अज्ञानजनित आसक्तिका स्थान, अध्यात्म और अधिभूत विषयसे परिच्छिन्न ग्रह-अतिग्रहरूप है । उस परिच्छिन्नरूप मृत्युसे अतिमुक्त हुए पुरुषके अग्नि-आदित्यादि [अपरिच्छिन्न] रूपोंकी व्याख्या उद्गीथ-प्रकरणमें की गयी है । अश्वलके प्रश्नमें उसीके अन्तर्वर्ती किसी विशेषका[1] वर्णन है । वह यह विशेष ज्ञानसहित[2] कर्मोंका फल है ।

इस साध्यसाधनरूप संसारसे मोक्ष करना है, इसलिये यहाँसे बन्धनरूप मृत्युका स्वरूप बतलाया जाता है; क्योंकि बद्धको ही मुक्त करना होता है । तथा जो अतिमुक्तका स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ भी वह मृत्युरूप ग्रह और अतिग्रहसे

१. अर्थात् अग्न्यादिमें ही दृष्टिभेदका ।

२. देवताज्ञान अर्थात् उपासनासहित ।

मृत्युरूपाभ्याम्। तथा चोक्तं "अशनाया हि मृत्युः" (बृ० उ० १ । २ । १) "एष एव मृत्युः" इति । आदित्यस्थं पुरुषमङ्गीकृत्याह "एको मृत्युर्बहवा" इति च ।

तदात्मभावापन्नो हि मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इत्युच्यते । न च तत्र ग्रहातिग्रहौ मृत्युरूपौ न स्तः। "अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यः" (बृ० उ० १ । ५ । १२) "मनश्च[1] ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतः" (३।२।७) इति, वक्ष्यति "प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण" (३।२।२) इति, "वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण" (३।२।३) इति च। तथा त्र्यन्नविभागे व्याख्यातमस्माभिः । सुविचारितं चैतद् यदेव प्रवृत्तिकारणं तदेव निवृत्तिकारणं न भवतीति ।

अतिमुक्त (विशेषरूपसे मुक्त) नहीं है। इस विषयमें कहा भी है— "भूख ही मृत्यु है" "यही मृत्यु है" इत्यादि । आदित्यान्तर्गत पुरुषको अङ्गीकार करके श्रुति कहती है "एक ही मृत्यु बहुत प्रकारकी है ।"

अग्न्यादिके तादात्म्यको प्राप्त हुआ पुरुष मृत्युकी प्राप्तिसे अतिमुक्त हो जाता है–ऐसा कहा जाता है; किंतु वहाँ मृत्युके रूप ग्रह और अतिग्रह न हों–ऐसी बात नहीं है । "तथा इस मनका द्युलोक शरीर है और ज्योतीरूप वह आदित्य है" "मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्राहसे गृहीत है" ऐसा श्रुति कहेगी भी, तथा "प्राण ही ग्रह है, वह अपानरूप अतिग्राहसे गृहीत है" और "वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्राहसे गृहीत है" ऐसा भी श्रुति कहेगी । तीन अन्नोंका विभाग करते समय हमनें इनकी ऐसी ही व्याख्या भी की है। तथा इस बातका भी अच्छी तरह विचार किया जा चुका है कि जो प्रवृत्तिका कारण होता है, वही निवृत्तिका भी कारण नहीं होता ।[2]

१. उपनिषद्में 'मनो वै' पाठ है ।

२. अर्थात् कर्म तो फलभोगका निमित्त होनेके कारण बन्धनका ही कारण है, वह मुक्तिका कारण नहीं हो सकता ।

केचित्तु सर्वमेव निवृत्तिकारणं कर्मणां निवृत्ति-मन्यन्ते । अतः कारणात् कारणत्वं मीमां-पूर्वस्मात् पूर्वस्मान्मृस्यते त्योर्मुच्यते उत्तरमुत्तरं प्रतिपद्यमानो व्यावृत्त्यर्थमेव प्रतिपद्यते न तु तादर्थ्यम्, इत्यत आ द्वैतक्षयात् सर्वं मृत्युः, द्वैतक्षये तु परमार्थतो मृत्योराप्तिमतिमुच्यते। अतश्च आपेक्षिकी गौणी मुक्तिरन्तराले । सर्वमेतद् एवम् अबार्हदारण्यकम् ।

ननु सर्वैकत्वं मोक्षः "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (बृ० उ० १ । ४ । १०) इति श्रुतेः ।

बाढं भवत्येतदपि, न तु "ग्रामकामो यजेत, पशुकामो यजेत" इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम् । यदि ह्यद्वैतार्थत्वमेव आसां ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थत्वं नास्तीति ग्रामपशु-

कोई-कोई तो सारे ही साधनोंको निवृत्तिका कारण मानते हैं। इस कारणसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट फलको प्राप्त होनेवाला कर्मठ भी पूर्व-पूर्व मृत्युसे मुक्त हो जाता है, अत: वह उस उत्कृष्ट फलको त्यागनेके लिये ही प्राप्त करता है, तद्रूप होनेके लिये नहीं। इस प्रकार द्वैतका क्षय होनेतक सब मृत्यु ही है, द्वैतका क्षय होनेपर तो वह परमार्थतः मृत्युकी प्राप्तिसे अतिमुक्त हो जाता है। इसलिये बीचमें जो मुक्ति बतलायी जाती है, वह आपेक्षिकी और गौणी ही है। इस प्रकार यह सब कल्पनाएँ बृहदारण्यकसे बाहरकी ही हैं।

पूर्व०-किंतु सबकी एकता तो मोक्ष ही है, क्योंकि "इसलिये वह सर्व हो गया" ऐसी श्रुति है।

सिद्धान्ती—ठीक है, यह तो बृहदारण्यकका विषय है। परंतु "ग्रामकी इच्छावाला यजन करे, पशुओंकी इच्छावाला यजन करे" इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य मोक्षमें नहीं हो सकता। यदि इनका तात्पर्य अद्वैतमें ही हो तो इनका ग्राम, पशु अथवा स्वर्गादिके लिये होना सम्भव नहीं है और इससे

स्वर्गादयो न गृह्येरन्, गृह्यन्ते तु कर्मफलवैचित्र्यविशेषाः । यदि च वैदिकानां कर्मणां तादर्थ्यमेव, संसार एव नाभविष्यत् ।

अथ तादर्थ्येऽपि अनुनिष्पादितपदार्थस्वभावः संसार इति चेत् । यथा च रूपदर्शनार्थ आलोके सर्वोऽपि तत्रस्थः प्रकाश्यत एव ।

न;प्रमाणानुपपत्तेः । अद्वैतार्थत्वे वैदिकानां कर्मणां विद्यासहितानाम् अन्यस्यानुनिष्पादितत्वे प्रमाणानुपपत्तिः । न प्रत्यक्षं नानुमानमत एव च नागमः ।

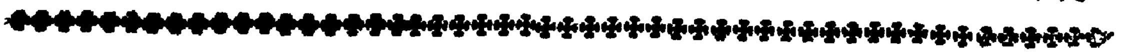
ग्राम, पशु और स्वर्गादिका ग्रहण भी नहीं होना चाहिये, परंतु कर्मफलवैचित्र्यरूप विशेषोंका ग्रहण होता ही है। यदि वैदिक कर्म मोक्षार्थ ही होते तो संसार ही नहीं रह सकता था।[1]

पूर्व०—यद्यपि कर्मश्रुति मोक्षार्थक है, तो भी उसके पीछे निष्पन्न हुए पदार्थका स्वभाव ही संसार है, जिस प्रकार कि प्रकाश रूपदर्शनके लिये होनेपर भी उससे वहाँ रखे हुए सभी पदार्थ प्रकाशित होते ही हैं। [अतः कर्मके मोक्षार्थक होनेपर संसार ही नहीं रह सकता था, ऐसी शङ्का नहीं उठानी चाहिये]।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं हो सकता। यदि ज्ञानसहित वैदिक कर्मोंको मोक्षार्थक माना जाय तो उनसे किसी अन्य पदार्थके अनुनिष्पन्न होनेमें कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इसमें न प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है न अनुमान और इसीसे आगम प्रमाण भी नहीं हो सकता।

---

१. संसारका मूल तो कर्मफल ही है। उसीके भोगके लिये उत्तमाधम योनियोंकी प्राप्ति होती है। यदि कर्मोंका फल मोक्ष ही माना जाय तो फिर संसारका कोई कारण ही नहीं रहता।



उभयम् एकेन वाक्येन प्रदर्श्यत इति चेत् कुल्याप्रणयनालोकादिवत् ।

तन्नैवम्; वाक्यधर्मानुपपत्तेः । न च एकवाक्यगतस्यार्थस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधनत्वमवगन्तुं शक्यते । कुल्याप्रणयनालोकादावर्थस्य प्रत्यक्षत्वाददोषः ।

यदप्युच्यते मन्त्रा अस्मिन्नर्थे दृष्टा इति । अयमेव तु तावदर्थः प्रमाणागम्यः । मन्त्राः पुनः किम् अस्मिन्नर्थ आहोस्विदन्यस्मिन्नर्थ इति मृग्यमेतत् । तस्माद् ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युर्बन्धः, तस्मा-

पूर्व०–यदि ऐसा मानें कि नाली निकालने और प्रकाश करने आदिके समान एक ही वाक्यसे [कर्मफल और मोक्ष] दोनोंका प्रदर्शन हो जाता है तो ?

सिद्धान्ती–यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि ऐसा होना वाक्यका धर्म नहीं हो सकता । एक ही वाक्यका अर्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका साधन हो–यह नहीं जाना जा सकता । नाली निकालने और प्रकाश करने आदिमें तो यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है, इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है ।

और ऐसा जो कहा जाता है कि इस अर्थमें ['विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि] मन्त्र देखे गये हैं, सो पहले तो यह विषय ही किसी भी प्रमाणसे अवगत होनेवाला नहीं है । मन्त्र भी क्या इसी अर्थमें हैं ? अथवा किसी अन्य अर्थमें हैं ?–यह बात भी विचारणीय ही है । अतः ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु बन्धन है, उससे मुक्त होनेका उपाय

१. नाली खेती सींचनेके लिये निकाली जाती है, परंतु वह आचमनादिमें भी उपयोगी होती है; प्रकाश रूपप्रकाशनके लिये किया जाता है, परंतु वह गमनादि क्रियाओंमें भी सहायक होता है, इसी प्रकार एक ही कर्मप्रतिपादक वाक्य कर्मफल और मोक्ष दोनोंकी प्राप्तिका कारण हो सकता है—यह पूर्वपक्षका अभिप्राय है ।

मोक्षो वक्तव्य इत्यत इदमारभ्यते। न च जानीमो विषयसन्धाविवान्तरालेऽवस्थानमर्धजरतीयं कौशलम्। यत्तु मृत्योरतिमुच्यत इत्युक्त्वा ग्रहातिग्रहावुच्येते, तत्त्वर्थसम्बन्धात्। सर्वोऽयं साध्यसाधनलक्षणो बन्धः, ग्रहातिग्रहाविनिर्मोकात्। निगडे हि निर्ज्ञाते निगडितस्य मोक्षाय यत्नः कर्तव्यो भवति; तस्मात्तादर्थ्येनारम्भः।

बतलाना है, इसलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। जैसे जाग्रत्-स्वप्न आदि दो विषयोंकी सन्धिमें स्थित होना असम्भव है, उसी प्रकार वैदिक कर्मोंसे न बन्धन होता है न मोक्ष, अपितु बीचकी अवस्था प्राप्त होती है—ऐसी कल्पना भी असङ्गत है, अतः हम इस प्रकार अर्धजरतीय व्याख्या करनेकी युक्ति नहीं जानते।' यहाँ जो मृत्युसे अतिमुक्त हो जाता है—ऐसा कहकर ग्रह और अतिग्रहका वर्णन किया जाता है, वह तो अर्थके सम्बन्धसे है, यह सब साध्य-साधनरूप बन्धन है; क्योंकि उसके द्वारा ग्रह और अतिग्रहसे उसकी मुक्ति नहीं होती। बन्धनका ज्ञान होनेपर ही उसमें बँधे हुए पुरुषका उससे मुक्त होनेके लिये यत्न करना आवश्यक होता है; अतः मोक्षके लिये ही इसका आरम्भ हुआ है।

ग्रह और अतिग्रहकी संख्या एवं स्वरूप

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

---

१. जैसे आधी गाय बूढ़ी हो जाय और आधी जवान रहकर बच्चा देती रहे। यह अर्धजरतीय कल्पना असम्भव है, उसी प्रकार कर्मकाण्ड साक्षात् मोक्ष या बन्धनका नहीं, दोनोंके बीचकी स्थितिका कारण है—ऐसा अर्थ भी असंगत ही है।

फिर उस (याज्ञवल्क्य से जारत्कारव आर्तभागने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं।' [आर्तभाग-] 'वे जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन-से हैं ?'

अथ हैनम्-हशब्द ऐतिह्यार्थः । अथानन्तरमश्वले उपरते प्रकृतं याज्ञवल्क्यं जरत्कारुगोत्रो जारत्कारवः—ऋतभागस्यापत्यमार्तभागः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाचेत्यभिमुखीकरणाय । पूर्ववत् प्रश्नः—कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः ।

तत्र निर्ज्ञातेषु वा ग्रहातिग्रहेषु प्रश्नः स्यादनिर्ज्ञातेषु वा ? यदि तावद्ग्रहा अतिग्रहाश्च निर्ज्ञाताः, तदा तद्गतस्यापि गुणस्य सङ्ख्याया निर्ज्ञातत्वात् कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति सङ्ख्याविषयः प्रश्नो नोपपद्यते । अथानिर्ज्ञातास्तदा

'अथ हैनम्' इसमें 'ह' शब्द इतिहासको सूचित करनेके लिये है। अथ—अनन्तर यानी अश्वलके चुप हो जानेपर उस प्रकृत याज्ञवल्क्यसे जो जरत्कारुगोत्रवाला था उस जारत्कारव आर्तभाग—ऋतभागके पुत्रने पूछा । वह अपने अभिमुख करनेके लिये बोला—'हे याज्ञवल्क्य !' 'कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं। यह प्रश्न पहलेहीके समान है। इसमें 'इति' शब्द वाक्यकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है।

किंतु यह प्रश्न सम्यक् प्रकारसे जाने हुए ग्रह और अतिग्रहोंके विषयमें है अथवा न जाने हुओंके विषयमें ? यदि ग्रह और अतिग्रह सम्यक् प्रकारसे ज्ञात हों तो उनमें रहनेवाला गुण जो संख्या है, वह भी ज्ञात ही रहेगी; उस अवस्थामें 'ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं, ऐसा संख्याविषयक प्रश्न उपपन्न नहीं होगा । और यदि उन्हें अज्ञात माना

सङ्ख्येयविषयप्रश्न इति के ग्रहाः केऽतिग्रहा इति प्रष्टव्यं न तु कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति प्रश्नः।

अपि च निर्ज्ञातसामान्यकेषु विशेषविज्ञानाय प्रश्नो भवति—यथा कतमेऽत्र कठाः कतमेऽत्र कालापा इति। न चात्र ग्रहातिग्रहा नाम पदार्थाः केचन लोके प्रसिद्धाः, येन विशेषार्थः प्रश्नः स्यात्।

ननु च 'अतिमुच्यते' इत्युक्तम्, ग्रहगृहीतस्य हि मोक्षः; "स मुक्तिः सातिमुक्तिः" इति हि द्विरुक्तम्, तस्मात्प्राप्ता ग्रहा अतिग्रहाश्च।

ननु तत्रापि चत्वारो ग्रहा अतिग्रहाश्च निर्ज्ञाता वाक्चक्षुः

जाय तो संख्येयविषयक प्रश्न होगा। ऐसी दशामें 'यह कौन हैं और अतिग्रह कौन हैं' इस प्रकार प्रश्न करना चाहिये। 'ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं।' ऐसा प्रश्न नहीं।

इसके सिवा, जिनके सामान्य स्वरूपका ज्ञान होता है, उन्हींके विशेषरूप जाननेके लिये ऐसा प्रश्न हुआ करता है, जिस प्रकार [ये ब्राह्मण कठशाखा और कलापशाखाके हैं-ऐसा सामान्य ज्ञान होनेपर] यह प्रश्न हो सकता है कि 'इनमें कठशाखाके कौन-से हैं और कलापशाखाके कौन-से हैं ?' किंतु यहाँ ग्रह और अतिग्रह नामवाले कोई पदार्थ लोकमें प्रसिद्ध नहीं हैं, जिससे कि उनके विशेष ज्ञानके लिये प्रश्न किया जाय।

किंतु पहले 'अतिमुच्यते'—अतिमुक्त होता है- ऐसा कहा गया है और मुक्ति ग्रहगृहीतकी ही होती है; और वहाँ 'वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है' इस प्रकार दो बार कहा है, इससे ग्रह और अतिग्रह दोनोंहीकी प्राप्ति होती है।

शङ्का—किंतु यहाँ तो वाक्, चक्षु, प्राण और मन—इन चार ग्रह और अतिग्रहोंका ज्ञान है ही; अतः

प्राणमनांसि, तत्र कतीति प्रश्नो नोपपद्यते निर्ज्ञातत्वात् ।

न; अनवधारणार्थत्वात्; न हि चतुष्ट्वं तत्र विवक्षितम्, इह तु ग्रहातिग्रहदर्शनेऽष्टत्वगुणविवक्षया कतीति प्रश्न उपपद्यत एव । तस्मात् 'स मुक्तिः सातिमुक्तिः' इति मुक्त्यतिमुक्ती द्विरुक्ते । ग्रहातिग्रहा अपि सिद्धाः, अतः कतिसङ्ख्याका ग्रहाः कति वा अतिग्रहा इति पृच्छति । इतर आह—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति । ये तेऽष्टौ ग्रहा अभिहिताः कतमे ते नियमेन ग्रहीतव्या इति ॥ १ ॥

सम्यक् प्रकारसे ज्ञान होनेके कारण उनके विषयमें 'वे कितने हैं' ऐसा प्रश्न होना उपपन्न नहीं है।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ ऐसा निश्चय नहीं किया गया अर्थात् वहाँ यह बतलाना अभीष्ट नहीं है कि वे चार ही हैं; यहाँ तो ग्रह-अतिग्रह दर्शनमें उनका आठ होना—यह गुण बतलाना अभीष्ट है, इसलिये वे कितने हैं ? ऐसा प्रश्न बन ही सकता है। पूर्व ब्राह्मणवाक्यसे 'स मुक्तिः सातिमुक्तिः' इस प्रकार मुक्ति और अतिमुक्ति दो बतलाये गये हैं, इसलिये ग्रह और अतिग्रह भी सिद्ध हो जाते हैं। इसीसे आर्तभाग यह प्रश्न करता है कि ग्रह कितनी संख्यावाले हैं और अतिग्रह कितने हैं। इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं—आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं। तब आर्तभाग पूछता है—वे जो आठ ग्रह बतलाये गये, सो नियमसे किन्हें ग्रहण करना चाहिये ॥ १ ॥

घ्राणादि इन्द्रियोंका ग्रहत्व और गन्धादि विषयोंका अतिग्रहत्वनिरूपण

तत्राह— इसपर याज्ञवल्क्य कहता है—

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २ ॥

प्राण ही ग्रह है, वह अपानरूप अतिग्राहसे गृहीत है, क्योंकि प्राण अपानसे ही गन्धोंको सूँघता है ॥ २ ॥

प्राणो वै ग्रहः—प्राण इति घ्राणमुच्यते, प्रकरणात् । वायुसहितः सः । अपानेनेति गन्धेनेत्येतत् । अपानसचिवत्वादपानो गन्ध उच्यते । अपानोपहृतं हि गन्धं घ्राणेन सर्वो लोको जिघ्रति । तदेतदुच्यते—अपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रतीति ॥२॥

प्राण ही ग्रह है—'प्राण' शब्दसे यहाँ घ्राणेन्द्रिय कही गयी है, क्योंकि उसीका प्रकरण है। वह वायुके सहित है। अपानसे अर्थात् गन्धसे। अपान गन्धका साथी है, इसलिये अपानको गन्ध कहा गया है, क्योंकि सम्पूर्ण लोक अपानद्वारा लाये गये गन्धको ही घ्राणेन्द्रियद्वारा सूँघता है। इसीसे यह कहा जाता है कि प्राणी अपानसे ही गन्धोंको सूँघता है ॥ २ ॥

वाग् वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥ जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान् विजानाति ॥ ४ ॥ चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥ श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति ॥ ६ ॥ मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान् कामयते ॥ ७ ॥ हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ॥ ८ ॥ त्वग् वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान् वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रहसे गृहीत है, क्योंकि, प्राणी वाक्से ही नामोंका उच्चारण करता है ॥ ३ ॥ जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी जिह्वासे ही रसोंको विशेषरूपसे जानता है ॥ ४ ॥ चक्षु ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी चक्षुसे ही रूपोंको देखता है ॥ ५ ॥ श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी श्रोत्रसे ही शब्दोंको सुनता है ॥ ६ ॥ मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी मनसे ही कामोंकी कामना करता है ॥ ७ ॥ हस्त ही ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं; क्योंकि प्राणी हस्तसे ही कर्म करता है ॥ ८ ॥ त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी त्वचासे ही स्पर्शोंको जानता है। इस प्रकार ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं ॥ ९ ॥

वाग् वै ग्रहः—वाचा ह्यध्यात्मपरिच्छिन्नया आसङ्गविषयास्पदया असत्यानृतासभ्यबीभत्सादिवचनेषु व्यापृतया गृहीतो लोकोऽपहृतः, तेन वाग् ग्रहः। स नाम्नातिग्राहेण गृहीतः—स वागाख्यो ग्रहः; नाम्ना वक्तव्येन विषयेणातिग्रहेण, अतिग्राहेणेति दैर्घ्यं छान्दसं नाम। वक्तव्यार्था हि वाक्; तेन वक्तव्येनार्थेन तादर्थ्येन प्रयुक्ता वाक् तेन वशीकृता; तेन तत्कार्यमकृत्वा नैव तस्या मोक्षः। अतो

वाक् ही ग्रह है; क्योंकि असत्य, अनृत, असभ्य एवं बीभत्सादि वचनोंमें प्रवृत्ता आसक्तिकी विषयभूता अध्यात्मपरिच्छिन्ना वाक्से ही गृहीत होकर लोक भूला हुआ है, इसलिये वाक् ग्रह है। वह नामरूप अतिग्रहसे गृहीत है—वह वाक्संज्ञक ग्रह नाम अर्थात् वक्तव्य विषयरूप अतिग्रहसे गृहीत है। 'अतिग्रहेण' के स्थानमें 'अतिग्राहेण' ऐसा दीर्घ प्रयोग छान्दस (वैदिकप्रक्रियाके अनुसार) है। वाक् वक्तव्य विषयके ही लिये होती है; उस वक्तव्य अर्थसे उसीके लिये प्रयुक्त होनेवाली वाक् उसीके वशीभूत है; अतः उस कार्यको किये बिना उसकी मुक्ति

नाम्नातिग्राहेण गृहीता वागित्युच्यते। वक्तव्यासङ्गेन हि प्रवृत्ता सर्वानर्थैर्युज्यते। समानमन्यत्। इत्येते त्वक्पर्यन्ता अष्टौ ग्रहाः स्पर्शपर्यन्ताश्चैतेऽष्टावतिग्रहा इति ॥ ३-९ ॥

नहीं है। इसीसे यह कहा जाता है कि वाक् नामरूप अतिग्राहसे गृहीत है; क्योंकि वक्तव्यकी आसक्तिसे प्रवृत्त होनेपर वह समस्त अनर्थोंसे युक्त होती है। शेष मन्त्रोंका अर्थ इसीके समान है। इस प्रकार ये त्वक्पर्यन्त आठ ग्रह हैं और स्पर्शपर्यन्त आठ अतिग्रह हैं ॥३-९ ॥

सर्वभक्षक मृत्यु किसका खाद्य है ?

उपसंहृतेषु ग्रहातिग्रहेषु आह पुनः—

ग्रह और अतिग्रहोंका उपसंहार हो जानेपर आर्तभाग फिर कहता है—

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित् सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'यह जो कुछ है सब मृत्युका खाद्य है; सो वह देवता कौन है, जिसका खाद्य मृत्यु है।' [इसपर याज्ञवल्क्य कहता है-] 'अग्नि ही मृत्यु है, वह जलका खाद्य है। [इस प्रकारके ज्ञानसे] पुनर्मृत्युका पराजय होता है' ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच, यदिदं सर्वं मृत्योरन्नम्—यदिदं व्याकृतं सर्वं मृत्योरन्नम्, सर्वं जायते विपद्यते च ग्रहातिग्रहलक्षणेन मृत्युना ग्रस्तम् — का स्वित् काचु

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'यह जो कुछ है, सब मृत्युका खाद्य है— यह जितना व्याकृत जगत् है, सब मृत्युका खाद्य है; क्योंकि ग्रहातिग्रहरूप मृत्युसे ग्रस्त होकर सब उत्पन्न होता और नाशको प्राप्त होता है, अतः वह

स्यात् सा देवता, यस्या देवताया मृत्युरपि अन्नं भवेत् "मृत्युर्यस्योपसेचनम्" (क० उ० १ । २ । २५) इति श्रुत्यन्तरात् ।

अयमभिप्रायः प्रष्टुः—यदि मृत्योर्मृत्युं वक्ष्यति, अनवस्था स्यात् । अथ न वक्ष्यति, अस्माद् ग्रहातिग्रहलक्षणान्मृत्योः मोक्षो नोपपद्यते; ग्रहातिग्रहमृत्युविनाशे हि मोक्षः स्यात्; स यदि मृत्योरपि मृत्युः स्याद् भवेद् ग्रहातिग्रहलक्षणस्य मृत्योर्विनाशः, अतो दुर्वचनं प्रश्नं मन्वानः पृच्छति 'का स्वित् सा देवता' इति ।

अस्ति तावन्मृत्योर्मृत्युः ।

नन्वनवस्था स्यात् तस्याप्यन्यो मृत्युरिति ।

नानवस्था; सर्वमृत्योर्मृत्य्वन्तरानुपपत्तेः ।

कथं पुनरवगम्यतेऽस्ति मृत्योर्मृत्युरिति ।

दृष्टत्वात्; अग्निस्तावत् सर्वस्य

देवता कौन है जिसका मृत्यु भी खाद्य है, जैसा कि "मृत्यु जिसके लिये साग है" इस अन्य श्रुतिसे कहा गया है ।

यहाँ प्रश्नकर्ताका यह अभिप्राय है—यदि याज्ञवल्क्यने कोई मृत्युका मृत्यु बता दिया, तब तो अनवस्था-दोष होगा और यदि न बतलाया तो इस ग्रहातिग्रहरूप मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकेगा; क्योंकि मोक्ष तो ग्रहातिग्रहरूप मृत्युका नाश होनेपर ही होगा, अतः यदि कोई मृत्युका भी मृत्यु होगा, तभी ग्रहातिग्रहरूप मृत्युका विनाश होगा, इसलिये इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन समझकर पूछता है कि 'वह कौन देवता है ?'

सिद्धान्ती-मृत्युका मृत्यु तो है ।

पूर्व०—तब तो अनवस्था-दोष होगा; क्योंकि फिर उसका भी कोई अन्य मृत्यु हो सकता है ।

सिद्धान्ती-अनवस्था-दोष नहीं होगा; क्योंकि जो सबका मृत्यु है, उसके लिये किसी दूसरे मृत्युका होना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—किंतु यह कैसे जाना जाता है कि मृत्युका मृत्यु भी है ।

सिद्धान्ती—क्योंकि ऐसा देखा गया है; सबका नाश करनेवाला

दृष्टो मृत्युः, विनाशकत्वात्; सोऽद्भिर्भक्ष्यते सोऽग्निरपामन्नम्; गृहाण तर्ह्यस्ति मृत्योर्मृत्युरिति। तेन सर्वं ग्रहातिग्रहजातं भक्ष्यते मृत्योर्मृत्युना तस्मिन् बन्धने नाशिते मृत्युना भक्षिते संसारान्मोक्ष उपपन्नो भवति। बन्धनं हि ग्रहातिग्रहलक्षणमुक्तम्, तस्माच्च मोक्ष उपपद्यत इत्येतत् प्रसाधितम्; अतो बन्धमोक्षाय पुरुषप्रयासः सफलो भवति। अतोऽपजयति पुनर्मृत्युम् ॥१०॥

होनेसे अग्नि मृत्युरूप देखा गया है, उसे जल भक्षण कर जाता है, अतः वह अग्नि जलका खाद्य है; अतः यह समझ लो कि मृत्युका मृत्यु भी है। उस मृत्युके मृत्युद्वारा सम्पूर्ण ग्रहातिग्रहसमुदाय भक्षण कर लिया जाता है। उस बन्धनको नष्ट कर देनेपर अर्थात् मृत्युद्वारा उसका भक्षण कर लिये जानेपर संसारसे मोक्ष होना सम्भव है। बन्धन ग्रहातिग्रहरूप कहा गया है और उससे मोक्ष होना भी सम्भव है—यह बात सिद्ध कर दी गयी है, अतः उस बन्धनकी निवृत्तिके लिये पुरुषका [श्रवणादिरूप] प्रयत्न सफल होता है। अतः [ज्ञानके द्वारा] पुरुष पुनर्मृत्युको जीत लेता है ॥ १० ॥

तत्त्वज्ञके देहावसानका क्रम

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११ ॥

'हे याज्ञवल्क्य!' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह मनुष्य मरता है, उस समय इसके प्राणोंका उत्क्रमण होता है या नहीं?' 'नहीं, नहीं,'

ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं। वह फूल जाता है, अर्थात् वायुको भीतर खींचता है और वायुसे पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है' ॥ ११ ॥

परेण मृत्युना मृत्यौ भक्षिते परमात्मदर्शनेन योऽसौ मुक्तो विद्वान् सोऽयं पुरुषो यत्र यस्मिन् काले म्रियते, उत् ऊर्ध्वम् अस्माद् ब्रह्मविदो म्रियमाणात्, प्राणाः—वागादयो ग्रहाः, नामादयश्चातिग्रहा वासनारूपा अन्तःस्थाः प्रयोजकाः क्रामन्त्यूर्ध्वम् उत्क्रामन्ति, आहो स्विन्नेति ?

'परमात्मदर्शनरूप परमृत्युके द्वारा मृत्युके भक्षण कर लिये जानेपर जो यह मुक्त हुआ विद्वान् है, वह जब–जिस समय मरता है, उस समय इस मरनेवाले ब्रह्मवेत्तासे प्राण—वागादि ग्रह और नामादि अतिग्रह, जो वासनारूप और भीतर स्थित रहकर प्रेरणा करनेवाले हैं, उत्क्रमण करते हैं या नहीं ?'

नेति होवाच याज्ञवल्क्यो नोत्क्रामन्ति, अत्रैवास्मिन्नेव परेणात्मनाविभागं गच्छन्ति विदुषि कार्याणि करणानि च स्वयोनौ परब्रह्मसतत्त्वे समवनीयन्ते एकीभावेन समवसृज्यन्ते, प्रलीयन्ते इत्यर्थः ऊर्मय इव समुद्रे। तथा च श्रुत्यन्तरं कलाशब्दवाच्यानां प्राणानां परस्मिन्नात्मनि प्रलयं दर्शयति—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" (प्र० उ० ६ । ५) इति।

याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं, वे उत्क्रमण नहीं करते। वे यहीं—इस परमात्मामें ही अभेदको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् इस विद्वान्में ये भूत और इन्द्रियवर्ग अपने मूलभूत परब्रह्मसत्तामें एकीभावसे विसृष्ट यानी लीन हो जाते हैं, जैसे कि समुद्रमें तरङ्गें। इसी प्रकार "ऐसे ही इस सर्वद्रष्टाकी ये सोलह कलाएँ पुरुषायण हैं अर्थात् वे पुरुषको प्राप्त होकर अस्त हो जाती हैं" यह अन्य श्रुति भी कलाशब्दवाच्य प्राणोंका परमात्मामें लय दिखलाती है।

इति परेणात्मनाविभागं गच्छन्तीति दर्शितम्। न तर्हि

इस प्रकार यह दिखलाया गया कि वे प्राण परमात्माके साथ अभेदको प्राप्त हो जाते हैं। तब तो यह

मृतः—न हि, मृतश्चायं यस्मात् स उच्छ्वयति—उच्छूनतां प्रतिपद्यते, आध्मायति बाह्येन वायुना पूर्यते दृतिवत्, आध्मातो मृतः शेते निश्चेष्टः। बन्धननाशे मुक्तस्य न क्वचिद्गमनमिति वाक्यार्थः ॥ ११ ॥

कहना चाहिये कि वह मरता ही नहीं है; ऐसी बात नहीं है; यह मरता तो है; क्योंकि वह उच्छून-भावको प्राप्त होता है अर्थात् फूल जाता है। वह धोंकनीके समान शरीरको बाह्य वायुसे भरता है और इस प्रकार भरकर मरा हुआ निश्चेष्ट पड़ा रहता है। इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि बन्धनका नाश हो जानेपर मुक्त पुरुषका कहीं गमन नहीं होता ॥ ११ ॥

मुक्तस्य किं प्राणा एव समवनीयन्ते, आहोस्वित् तत्प्रयोजकमपि सर्वम्? अथ प्राणा एव, न तत्प्रयोजकं सर्वम्, प्रयोजके विद्यमाने पुनः प्राणानां प्रसङ्गः, अथ सर्वमेव कामकर्मादि, ततो मोक्ष उपपद्यते, इत्येवमर्थ उत्तरः प्रश्नः।

तो क्या मुक्त पुरुषके केवल प्राणोंका ही लय होता है अथवा उसके सब प्रयोजकोंका भी? यदि कहें कि प्राण ही लीन होते हैं, उसके सभी प्रयोजक लीन नहीं होते, तो प्रयोजकोंके विद्यमान रहते हुए पुनः प्राणोंकी प्राप्तिका प्रसंग हो जायगा और यदि काम-कर्मादि सभीका लय माना जाय तो ही उसका मोक्ष होना बन सकता है; इस बातको स्पष्ट करनेके लिये ही आगेका प्रश्न है—

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह पुरुष मरता है, उस समय इसे क्या नहीं छोड़ता ?' [याज्ञवल्क्य–] 'नाम नहीं छोड़ता, नाम अनन्त ही हैं, विश्वेदेव भी अनन्त ही हैं, इस आनन्त्यदर्शनके द्वारा वह अनन्त लोकको ही जीत लेता है ॥ १२ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच, यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति; आहेतरो–नामेति । सर्वं समवनीयत इत्यर्थः, नाममात्रं तु न लीयत आकृतिसम्बन्धात् । नित्यं हि नाम; अनन्तं वै नाम । नित्यत्वमेवानन्त्यं नाम्नः । तदानन्त्याधिकृता अनन्ता वै विश्वे देवाः । अनन्तमेव स तेन लोकं जयति । तन्नामानन्त्याधिकृतान् विश्वान् देवानात्मत्वेनोपेत्य तेनानन्त्यदर्शनेनानन्तमेव लोकं जयति ॥ १२ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा 'जिस समय यह पुरुष मर जाता है, इसे क्या नहीं छोड़ता ?' याज्ञवल्क्यने 'नाम' ऐसा कहा । तात्पर्य यह है कि सब कुछ लीन हो जाता है, किंतु आकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण केवल नाम ही लीन नहीं होता । नाम तो नित्य है, वह अनन्त ही है । नित्य होना ही नामका अनन्तत्व है । उस अनन्तत्वके अधिकारी विश्वेदेव भी अनन्त ही हैं । अतः इस दर्शनसे वह अनन्त लोकको ही जीत लेता है । अर्थात् नामके अनन्तत्वके अधिकारी विश्वेदेवोंको आत्मभावसे प्राप्त होकर उस आनन्त्य-दर्शनके द्वारा वह अनन्त लोकको ही जीत लेता है ॥ १२ ॥

इन्द्रियाभिमानी देवताओंके निवृत्त हो जानेपर अस्वतन्त्र कर्ता पुरुषकी स्थितिका विचार

ग्रहातिग्रहरूपं बन्धनमुक्तं मृत्युरूपम्; तस्य च मृत्योर्मृत्युस-

ग्रहातिग्रहरूप जो मृत्युरूप बन्धन है, उसका वर्णन किया गया । उस मृत्युके मृत्युकी भी सत्ता होनेके

द्भावान्मोक्षश्चोपपद्यते । स च मोक्षो ग्रहातिग्रहरूपाणामिहैव प्रलयः, प्रदीपनिर्वाणवत् । यत्तद् ग्रहातिग्रहाख्यं बन्धनं मृत्युरूपम्, तस्य यत् प्रयोजकं तत्स्वरूपनिर्धारणार्थमिदमारभ्यते—याज्ञवल्क्येति होवाच ।

अत्र केचिद् वर्णयन्ति—ग्रहातिग्रहस्य सप्रयोजकस्य विनाशेऽपि किल न मुच्यते; नामावशिष्टोऽविद्ययाऊषरस्थानीयया स्वात्मप्रभवया परमात्मनः परिच्छिन्नो भोज्याच्च जगतो व्यावृत्तः उच्छिन्नकामकर्मा अन्तराले व्यवतिष्ठते । तस्य परमात्मैकत्वदर्शनेन द्वैतदर्शनमपनेतव्यमित्यतः परं परमात्मदर्शनमारब्धव्यम्,

कारण उससे मोक्ष होना सम्भव है। वह मोक्ष दीपकके शान्त हो जानेके समान ग्रहातिग्रहरूपोंका यहीं प्रलय हो जाना है। वह जो ग्रहातिग्रहसंज्ञक मृत्युरूप बन्धन है, उसका जो प्रयोजक है, उसके स्वरूपका निश्चय करनेके लिये 'याज्ञवल्क्येति होवाच' यह कण्डिका आरम्भ की जाती है।

यहाँ कुछ (ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादी)लोग यों कहते हैं—प्रयोजकोंके सहित ग्रहातिग्रहका नाश हो जानेपर भी विद्वान् मुक्त नहीं होता; स्वात्मासे उत्पन्न [1]ऊषरस्थानीया अविद्याके द्वारा परमात्मासे परिच्छिन्न तथा भोज्य जगत्से व्यावृत्त वह नाममात्रावशिष्ट विद्वान् काम और कर्मोंका उच्छेद हो जानेसे अन्तरालावस्थामें रहता है।[2] परमात्मैकत्वदर्शनके द्वारा उसकी द्वैतदृष्टिको निवृत्त करना है, इसलिये आगे परमात्मदर्शनका आरम्भ करना

१. यह लेशाविद्या उसके बन्धनकी हेतु नहीं होती; इसलिये इसे ऊषरस्थानीया कहा है।

२. तात्पर्य यह है कि ज्ञान कर्मसमुच्चयका अनुष्ठान करनेसे काम-कर्मादि प्रयोजकोंके सहित स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहोंका नाश हो जानेपर भी यद्यपि उसे मुक्ति नहीं मिलती तो भी पुनः बन्धनकी योग्यता न रहनेके कारण वह मुक्ति और बन्धनके बीचकी अवस्थामें रहता है।

इत्येवमपवर्गाख्यामन्तरालावस्थां परिकल्प्योत्तरग्रन्थसम्बन्धं कुर्वन्ति ।

चाहिये । इस प्रकार वे अपवर्ग-संज्ञक अन्तरालावस्थाकी कल्पना करके आगेके ग्रन्थका सम्बन्ध लगाते हैं ।

तत्र वक्तव्यम्—विशीर्णेषु करणेषु विदेहस्य परमात्मदर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनानि कथमिति; समवनीतप्राणस्य हि नाममात्रावशिष्टस्येति तैरुच्यते । 'मृतः शेते' इति ह्युक्तम् ।

इसमें हमें यह कहना है कि इन्द्रियोंके उच्छिन्न हो जानेपर जो देहहीन हो गया है, उसके द्वारा परमात्मदर्शन तथा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन किस प्रकार किये जा सकते हैं ? इसपर वे कहते हैं कि जिसके प्राण लीन हो गये हैं और जो नाममात्र अवशिष्ट रह गया है, उसीका विद्यामें अधिकार है; क्योंकि श्रुतिके द्वारा पहले कहा गया है कि 'वह मरकर पड़ा रहता है ।'

न मनोरथेनाप्येतदुपपादयितुं शक्यते । अथ जीवन्नेवाविद्यामात्रावशिष्टो भोज्यादपावृत्त इति परिकल्प्यते, तत्तु किन्निमित्तमिति वक्तव्यम् ।

किंतु मनोरथमात्रसे भी इस बातका उपपादन नहीं किया जा सकता । और यदि ऐसी कल्पना की जाय कि भोज्यवर्गसे व्यावृत्त अविद्यामात्रावशिष्ट जीवित पुरुष ही विद्याका अधिकारी है तो यह बतलाना चाहिये कि वह किस कारणसे भोज्यवर्गसे व्यावृत्त होता है ।[1]

समस्तद्वैतैकत्वात्मप्राप्तिनिमित्तमिति यद्युच्यते, तत् पूर्वमेव निराकृतम् । कर्मसहितेन द्वैते-

यदि यह कहा जाय कि इसका कारण समस्त द्वैतैकत्वरूप आत्मदर्शनकी प्राप्ति है तो इसका पहले ही निराकरण किया जा चुका है ।[2]

१. क्योंकि बिना सम्यग्दर्शनके भोज्यवर्गसे वैराग्य नहीं हो सकता ।

२. क्योंकि अपरविद्यासमुच्चित कर्म हिरण्यगर्भके भोगकी प्राप्ति करानेवाला है, वह भोज्यवर्गसे निवृत्त करनेवाला नहीं है- यह बात पहले अध्यायमें कही जा चुकी है ।

कत्वात्मदर्शनेन सम्पन्नो विद्वान् मृतः समवनीतप्राणो जगदात्मत्वं हिरण्यगर्भस्वरूपं वा प्राप्नुयात्, असमवनीतप्राणो भोज्याज्जीवन्नेव वा व्यावृत्तो विरक्तः परमात्मदर्शनाभिमुखः स्यात् । न चोभयम् एकप्रयत्ननिष्पाद्येन साधनेन लभ्यम् । हिरण्यगर्भप्राप्तिसाधनं चेत्, न ततो व्यावृत्तिसाधनम् । परमात्माभिमुखीकरणस्य भोज्याद् व्यावृत्तेः साधनं चेत्, न हिरण्यगर्भप्राप्तिसाधनम् । न हि यद् गतिसाधनं तद् गतिनिवृत्तेरपि ।

अथ मृत्वा हिरण्यगर्भं प्राप्य ततः समवनीतप्राणो नामावशिष्टः परमात्मज्ञानेऽधिक्रियते, ततोऽस्मदाद्यर्थं परमात्मज्ञानोपदेशोऽनर्थकः स्यात् । सर्वेषां हि ब्रह्मविद्यापुरुषार्थायोपदिश्यते —

कर्मसहित द्वैतैकत्वरूप आत्मदर्शनसे सम्पन्न हुआ विद्वान् मरनेपर प्राणोंके लीन हो जानेपर या तो जगदात्मभावको प्राप्त हो जायगा और या हिरण्यगर्भस्वरूप हो जायगा; अथवा जबतक उसके प्राणोंका लय नहीं होगा तबतक वह जीवित रहता हुआ ही भोज्यवर्गसे व्यावृत्त यानी विरक्त रहकर परमात्मदर्शनके अभिमुख होगा। दोनों फल एक ही प्रयत्नसे निष्पन्न होनेवाले साधनसे प्राप्त नहीं हो सकते। यदि वह प्रयत्न हिरण्यगर्भकी प्राप्तिका साधन होगा तो उससे व्यावृत्त होनेका साधन नहीं हो सकता; और यदि वह परमात्माके सम्मुख करने और भोज्यवर्गसे विरक्ति करानेका साधन होगा तो हिरण्यगर्भकी प्राप्तिका साधन नहीं हो सकता; क्योंकि जो गतिका साधन होता है, वही गतिकी निवृत्तिका भी साधन नहीं होता।

यदि कहो कि वह मरकर हिरण्यगर्भको प्राप्त होनेके पश्चात् लीनप्राण और नाममात्रावशिष्ट होकर परमात्मज्ञानका अधिकारी होता है तो हम लोगोंके लिये तो परमात्मज्ञानका उपदेश व्यर्थ ही होगा। किंतु "तद्यो यो देवानाम्" इत्यादि श्रुतिके

"तद्यो यो देवानाम्" (बृ० उ० १ । ४ । १०) इत्याद्यया श्रुत्या । तस्मादत्यन्तनिकृष्टा शास्त्रबाह्यैवेयं कल्पना । प्रकृतं तु वर्तयिष्यामः । तत्र केन प्रयुक्तं ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनमित्येतन्निर्दिधारयिषया आह—

द्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश सभीके पुरुषार्थसाधनके लिये किया गया है । अतः यह कल्पना अत्यन्त निकृष्ट और शास्त्रविरुद्ध ही है । अब हम प्रकृत विषयका अनुसरण करेंगे । यहाँ, यह निश्चय करनेके लिये कि वह ग्रहातिग्रहरूप बन्धन किसकी प्रेरणासे प्राप्त हुआ है ? श्रुति कहती है—

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत् प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत् प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा 'जिस समय इस मृतपुरुषकी वाक् अग्निमें लीन हो जाती है तथा प्राण वायुमें, चक्षु आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें, शरीर पृथिवीमें, हृदयाकाश भूताकाशमें, लोम ओषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें लीन हो जाते हैं तथा लोहित और वीर्य जलमें स्थापित हो जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है ?' [याज्ञवल्क्य--] 'हे प्रियदर्शन आर्तभाग ! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा, हम दोनों ही इस प्रश्नका उत्तर जानेंगे; यह प्रश्न जनसमुदायमें होने योग्य नहीं है।'

तब उन दोनोंने उठकर [एकान्तमें] विचार किया। उन्होंने जो कुछ कहा वह कर्म ही कहा, तथा जिसकी प्रशंसा की वह कर्मकी ही प्रशंसा की। वह यह कि पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यवान् होता है और पापकर्मसे पापी होता है, इसके पीछे जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

यत्रास्य पुरुषस्यासम्यग्दर्शिनः शिरःपाण्यादिमतो मृतस्य वागग्निमप्येति, वातं प्राणोऽप्येति चक्षुरादित्यमप्येतीति सर्वत्र सम्बध्यते। मनश्चन्द्रम्, दिशः श्रोत्रम्, पृथिवीं शरीरम्, आकाशमात्मेति, अत्रात्मा अधिष्ठानं हृदयाकाशमुच्यते; स आकाशमप्येति; ओषधीरपियन्ति लोमानि; वनस्पतीनपियन्ति केशाः; अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत इति पुनरादानलिङ्गम्।

जिस समय इस सम्यग्ज्ञानहीन शिर एवं हाथ आदि अवयवोंवाले मृत पुरुषकी वाक् अग्निमें लीन हो जाती है, प्राण वायुमें लीन हो जाता है और चक्षु आदित्यमें लीन हो जाता है—इस प्रकार 'अप्येति' इस क्रियापदका सर्वत्र सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें, शरीर पृथिवीमें, आत्मा आकाशमें—'आत्मा' शब्दसे यहाँ उसका आश्रयभूत हृदयाकाश कहा गया है, वह आकाशमें लीन हो जाता है—लोम ओषधिमें लीन हो जाते हैं, केश वनस्पतिमें विलुप्त हो जाते हैं और लोहित तथा शुक्र जलमें स्थापित हो जाते हैं—'निधीयते' यह क्रियापद लोहित और शुक्रके पुनर्ग्रहणको सूचित करनेवाला है [क्योंकि जो वस्तु कहीं स्थापित होती या रक्खी जाती है, उसको पुनः ग्रहण किया जा सकता है]।

सर्वत्र हि वागादिशब्देन देवताः परिगृह्यन्ते, न तु करणा-

यहाँ वागादि शब्दोंसे सर्वत्र देवता ही ग्रहण किये जाते हैं, मोक्ष होनेसे

न्येवापक्रामन्ति प्राङ्मोक्षात् तत्र । देवताभिरनधिष्ठितानि करणानि न्यस्तदात्राद्युपमानानि, विदेहश्च कर्ता पुरुषोऽस्वतन्त्रः किमाश्रितो भवति ? इति पृच्छ्यते—क्वायं तदा पुरुषो भवतीति, किमाश्रितस्तदा पुरुषो भवति ? इति यमाश्रयमाश्रित्य पुनः कार्यकरणसङ्घातमुपादत्ते, येन ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनं प्रयुज्यते, तत् किम् ? इति प्रश्नः ।

अत्रोच्यते- स्वभावयदृच्छाकालकर्मदैवविज्ञानमात्रशून्यानि वादिभिः परिकल्पितानि; अतोऽनेकविप्रतिपत्तिस्थानत्वान्नैव जल्पन्यायेन वस्तुनिर्णयः । अत्र वस्तुनिर्णयं चेदिच्छसि, आहर सोम्य हस्तमार्तभाग हे, आवामेव

पूर्व इन्द्रियोंका उच्छेद नहीं होता । उस अवस्थामे देवताओंसे अनधिष्ठित इन्द्रियाँ कर्ताके हाथसे छूटे हुए दराँत आदि औजारोंके समान हो जाती हैं, अतः अस्वतन्त्र कर्ता पुरुष देहहीन होनेपर किसके आश्रित रहता है। यही 'कायं तदा पुरुषो भवति' इस वाक्यसे पूछा जाता है, अर्थात् उस समय यह पुरुष किसके आश्रित रहता है ? जिस आश्रयको आश्रित करके यह पुनः कार्य-करण संघातको ग्रहण करता है और जिसकी प्रेरणासे ग्रहातिग्रहरूप बन्धन प्राप्त होता है, वह आश्रय क्या है ? ऐसा प्रश्न है।

इस विषयमें यह कहा जाता है—वादियोंने स्वभाव, यदृच्छा, काल, कर्म, दैव, विज्ञानमात्र और शून्य ऐसे अनेकों आश्रयस्थानोंकी कल्पना की है; इसलिये अनेक विरोधोंका स्थान होनेके कारण केवल [1]जल्पन्यायसे वस्तुका निर्णय नहीं हो सकता । इस विषयमें यदि तुम वस्तुका निर्णय सुनना चाहते हो तो हे प्रियदर्शन आर्तभाग ! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ । तुम्हारे प्रश्नका जो ज्ञातव्य

1. जीतकी इच्छासे किये हुए व्यर्थ उत्तर-प्रत्युत्तर या विवादको 'जल्प' कहते हैं ।

एतस्य त्वत्पृष्टस्य वेदितव्यं यत्, वेदिष्यावो निरूपयिष्यावः; कस्मात्? न नौ आवयोरेतद्वस्तु सजने जनसमुदाये निर्णेतुं शक्यते; अत एकान्तं गमिष्यावो विचारणाय।

तौ हेत्यादि श्रुतिवचनम्, तौ याज्ञवल्क्यार्तभागावेकान्तं गत्वा किं चक्रतुः? इत्युच्यते—तौ होत्क्रम्य सजनाद्देशान्मन्त्रयाञ्चक्राते; आदौ लौकिकवादिपक्षाणामेकैकं परिगृह्य विचारितवन्तौ। तौ ह विचार्य यदूचतुरपोह्य पूर्वपक्षान् सर्वानेव, तच्छृणु; कर्म हैव आश्रयं पुनः पुनः कार्यकरणोपादानहेतुं तत्रोचतुरुक्तवन्तौ। न केवलम्; कालकर्मदैवेश्वरेष्वभ्युपगतेषु हेतुषु यत् प्रशशंसतुस्तौ, कर्म हैव तत् प्रशशंसतुः।

यस्मान्निर्धारितमेतत् कर्मप्रयुक्तं ग्रहातिग्रहादिकार्यकरणोपादानं पुनः पुनः, तस्मात् पुण्यो वै शास्त्रविहितेन पुण्येन कर्मणा

है, उसे हम दोनों ही मिलकर निरूपण करेंगे। क्यों? क्योंकि हम दोनों इस वस्तुका जनसमुदायमें निर्णय नहीं कर सकते; इसलिये इसका विचार करनेके लिये एकान्तमें चलेंगे।

'तौ ह' इत्यादि श्रुतिका वचन है; उन याज्ञवल्क्य और आर्तभागने एकान्तमें जाकर क्या किया? सो बतलाया जाता है—उन्होंने जनसमुदाययुक्त स्थानसे निकलकर परस्पर विचार किया। पहले लौकिक वादियोंके पक्षोंमेंसे एक-एकको लेकर मीमांसा की। इस प्रकार मीमांसा कर समस्त पूर्वपक्षोंका निराकरण कर उन्होंने जो कहा, सो सुनो; वहाँ उन्होंने पुनः-पुनः कर्मको ही आश्रय अर्थात् देह और इन्द्रियोंके ग्रहणका हेतु बतलाया। इतना ही नहीं, अपितु स्वीकार किये हुए काल, कर्म, दैव, ईश्वर आदि हेतुओंमें भी उन्होंने जो प्रशंसा की वह कर्मकी ही की।

क्योंकि पुनः-पुनः यही निश्चय किया गया है कि ग्रहातिग्रहादिरूप कार्य-करणसंघातका ग्रहण कर्मजनित है, इसलिये पुरुष पुण्य यानी शास्त्रविहित कर्मसे पुण्य (पुण्ययोनियुक्त)

भवति, तद्विपरीतेन विपरीतो भवति पापः पापेन—इत्येवं याज्ञवल्क्येन प्रश्नेषु निर्णीतेषु, ततोऽशक्यप्रकम्प्यत्वाद् याज्ञवल्क्यस्य, ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥

होता है और उससे विपरीत पापकर्मसे पापयोनियुक्त होता है—इस प्रकार याज्ञवल्क्यद्वारा प्रश्नोंका निर्णय हो जानेपर याज्ञवल्क्यको वादके द्वारा स्वसिद्धान्तसे विचलित करना अशक्य समझकर जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये द्वितीयमार्तभागब्राह्मणम् ॥ २ ॥

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-भुज्यु-संवाद

पूर्ववृत्तानुवादः

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ। ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनमुक्तम्; यस्मात् सप्रयोजकान्मुक्तो मुच्यते, येन वा बद्धः संसरति, स मृत्युः। तस्माच्च मोक्षः उपपद्यते, यस्मान्मृत्योर्मृत्युरस्ति मुक्तस्य च न गतिः क्वचित्, सर्वोत्सादो नाममात्रावशेषः प्रदीपनिर्वाणवत्—इति चावधृतम्।

'अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ'। ग्रहातिग्रहरूप बन्धनका वर्णन किया गया। जिस सप्रयोजक बन्धनसे मुक्त हुआ पुरुष मुक्त हो जाता है और जिससे बँधा होनेपर वह संसारको प्राप्त होता है, वही मृत्यु है। उससे मुक्त होना सम्भव है, क्योंकि उस मृत्युका मृत्यु भी है। और जो मुक्त है, उसका कहीं गमन नहीं होता; क्योंकि वह तो प्रदीपनिर्वाणके समान सबका उच्छेद होकर केवल नाममात्र अवशिष्ट रह जाता है—ऐसा निश्चय किया जा चुका है।

शुभाशुभ-कर्मक्षये एव मोक्षसम्भवः

तत्र संसरतां मुच्यमानानां च कार्यकरणानां स्वकारणसंसर्गे समाने मुक्तानामत्यन्तमेव पुनरनुपादानम्; संसरतां तु पुनः पुनरुपादानं येन प्रयुक्तानां भवति, तत् कर्म इत्यवधारितं विचारणापूर्वकम्। तत्क्षये च नामावशेषेण सर्वोत्सादो मोक्षः। तच्च पुण्यपापाख्यं कर्म, 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० उ० ३। २। १३) इत्यवधारितत्वात्, एतत्कृतः संसारः।

मोक्षस्य पुण्य-फलत्वनिरासा-योत्तरब्राह्मणम्

तत्रापुण्येन स्थावरजङ्गमेषु स्वभावदुःखबहुलेषु नरकतिर्यक्प्रेतादिषु च दुःखमनुभवति पुनः पुनर्जायमानो म्रियमाणश्चेत्येतद् राजवर्त्मवत् सर्वलोकप्रसिद्धम्। यस्तु शास्त्रीयः 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' तत्रैवादरः क्रियत

उनमें संसारबन्धनको प्राप्त और मुक्त होते हुए देह और इन्द्रियोंका अपने कारणसे संसर्ग होना समान होनेपर भी मुक्त पुरुषोंको उनका पुनः सर्वथा अग्रहण होता है; और जिसकी प्रेरणासे संसारमें आनेवाले पुरुषोंको उनका पुनर्ग्रहण होता है, वह कर्म है—ऐसा विचारपूर्वक निर्णय किया गया है। उस (कर्म) का क्षय हो जानेपर नाममात्र शेष रहकर बाकी सबका उच्छेद हो जाता है, उसे मोक्ष कहते हैं। वह कर्म पुण्य और पाप संज्ञावाला है; क्योंकि 'पुण्यकर्मसे पुण्यशरीरयुक्त होता है और पापकर्मसे पापशरीरयुक्त' ऐसा पहले निश्चय किया गया है; इसका किया हुआ ही संसार है।

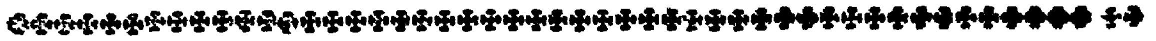
उनमें पापकर्मसे जिनमें स्वभावतः ही दुःखकी अधिकता है, उन नरक, तिर्यक् एवं प्रेतादि स्थावर-जङ्गमयोनियोंमें पुनः-पुनः जन्म और मरणको प्राप्त होता हुआ पुरुष दुःख अनुभव करता है—यह बात राजमार्गके समान समस्त जगत्में प्रसिद्ध है। यहाँ श्रुति 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' इस वाक्यसे प्रतिपादित जो शास्त्रीय मार्ग है, उसीमें आदर करती है। पुण्यकर्म ही

इह श्रुत्या। पुण्यमेव च कर्म सर्वपुरुषार्थसाधनमिति सर्वे श्रुतिस्मृतिवादाः। मोक्षस्यापि पुरुषार्थत्वात् तत्साध्यता प्राप्ता। यावद्यावत्पुण्योत्कर्षः तावत्तावत्फलोत्कर्षप्राप्तिः; तस्मादुत्तमेन पुण्योत्कर्षेण मोक्षो भविष्यतीत्याशङ्का स्यात्, सा निवर्तयितव्या। ज्ञानसहितस्य च प्रकृष्टस्य कर्मण एतावती गतिः, व्याकृतनामरूपास्पदत्वात् कर्मणस्तत्फलस्य च, न त्वकार्ये नित्येऽव्याकृतधर्मिणि अनामरूपात्मके क्रियाकारकफलस्वभाववर्जिते कर्मणो व्यापारोऽस्ति; यत्र च व्यापारः स संसार एवेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय ब्राह्मणमारभ्यते।

समस्त पुरुषार्थोंका साधक है—ऐसा समस्त श्रुति-स्मृतियोंका सिद्धान्त है। अतः पुरुषार्थ होनेके कारण मोक्षका भी उस पुण्यकर्मसे साध्य होना प्राप्त होता है जितनी-जितनी पुण्यकी उत्कृष्टता होती है, उतनी-उतनी ही फलकी उत्कृष्टता प्राप्त होती है; इसलिये ऐसी आशङ्का हो सकती है कि उत्तम पुण्योत्कर्षसे मोक्ष प्राप्त होगा, सो इसकी निवृत्ति करनी चाहिये। ज्ञानसहित प्रकृष्ट कर्मकी तो इतनी (संसारमात्र) ही गति है; क्योंकि कर्म और उसके फलके आश्रय व्याकृत नाम-रूप ही हैं। जो किसीका कार्य नहीं है, उस नित्य अव्याकृतधर्मा, नामरूपरहित, क्रियाकारकफलस्वभावहीन मोक्षमें कर्मका कोई व्यापार नहीं हो सकता; और जहाँ व्यापार है, वहाँ संसार ही है—इस बातको प्रदर्शित करनेके लिये ही यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है।

यत्तु कैश्चिदुच्यते—विद्यासहितं विद्यासहितस्य कर्म निरभिसन्धि विषकर्मण एव दध्यादिवत् कार्यान्तर-

कुछ लोगोंका जो कथन है कि फलाकाङ्क्षासे रहित होकर किया हुआ विद्यासहित कर्म विष और दधि आदिके समान कार्यान्तरका



मोक्षजनकत्व- मारभत इति; तन्न; मित्यनूद्य अनारभ्यत्वान्मोक्षस्य। दूषयति बन्धननाश एव हि मोक्षः; न कार्यभूतः; बन्धनं चाविद्येत्यवोचाम; अविद्यायाश्च न कर्मणा नाश उपपद्यते, दृष्टविषयत्वाच्च कर्मसामर्थ्यस्य। उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारा हि कर्मसामर्थ्यस्य विषयाः। उत्पादयितुं प्रापयितुं विकर्तुं संस्कर्तुं च सामर्थ्यं कर्मणो नातो व्यतिरिक्तविषयोऽस्ति कर्मसामर्थ्यस्य, लोके अप्रसिद्धत्वात्; न च मोक्ष एषां पदार्थानामन्यतमः, अविद्यामात्रव्यवहित इत्यवोचाम।

बाढम्, भवतु केवलस्यैव कर्मण एवंस्वभावता, विद्यासंयुक्तस्य तु निरभिसन्धेः भवत्य-

आरम्भ करता है,[1] सो ठीक नहीं है; क्योंकि मोक्षका आरम्भ होनेवाला नहीं है। मोक्ष तो बन्धनका नाशमात्र ही है, वह किसीका कार्य नहीं है और बन्धन अविद्या है—ऐसा हम कह चुके हैं। तथा अविद्याका कर्मसे नाश होना सम्भव नहीं है; क्योंकि जिनमें कर्मका सामर्थ्य है, वे विषय तो प्रत्यक्ष हैं। उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार ही कर्मके सामर्थ्यके विषय हैं। उत्पन्न करने, प्राप्त कराने, विकार करने और संस्कार करनेमें ही कर्मका सामर्थ्य है; कर्मके सामर्थ्यका इनसे भिन्न कोई विषय नहीं है; कारण, लोकमें कर्मके सामर्थ्यका कोई अन्य विषय प्रसिद्ध नहीं है; और इनमेंसे ही किसी एक पदार्थका नाम मोक्ष है नहीं, वह तो केवल अविद्यासे ही व्यवधानयुक्त है - ऐसा हम कह चुके हैं।

पूर्व०—ठीक है, केवल कर्मका ऐसा ही स्वभाव रहे, किंतु जो ज्ञानसहित और फलाशासे रहित है,

१. तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार केवल विष और दही मृत्यु तथा ज्वरादिके कारण होते हैं किंतु औषधविशेष और शर्कराके साथ सेवन किये जानेपर वे ही आरोग्यवर्द्धक हो जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि केवल कर्म बन्धनका कारण है, तथापि निष्काम और ज्ञानके सहित होनेपर वही मुक्तिका कारण हो जाता है।

न्यथा स्वभावः। दृष्टं ह्यन्यशक्तित्वेन निर्ज्ञातानामपि पदार्थानां विषदध्यादीनां विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तानामन्यविषये सामर्थ्यम्। तथा कर्मणोऽप्यस्त्विति चेत्?

न, प्रमाणाभावात्। तत्र हि कर्मण उक्तविषयव्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोऽस्ति।

ननु फलान्तराभावे चोदनान्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति। न हि नित्यानां कर्मणां विश्वजिन्न्यायेन फलं कल्प्यते, नापि श्रुतं

उसका दूसरा स्वभाव है। यह बात देखी गयी है कि जो अन्य शक्तिवाले माने गये हैं, उन विष एवं दधि आदि पदार्थोंका विद्या, मन्त्र एवं शर्करादिसे संयुक्त होनेपर अन्य विषयमें सामर्थ्य हो जाता है। इसी प्रकार विद्यासहित कर्मका भी अन्य स्वभाव हो सकता है—ऐसा माना जाय तो?

सिद्धान्ती-ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ कर्मके उक्त विषयोंसे भिन्न किसी अन्य विषयमें सामर्थ्य होनेका न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान है, न अर्थापत्ति है और न शब्दप्रमाण है।

पूर्व०—किंतु [नित्य और निष्काम कर्मोंका मोक्षके सिवा] कोई अन्य फल न होनेपर किसी अन्य कारणसे इनकी विधिकी उत्पत्ति न होना ही इसमें [अर्थापत्ति] प्रमाण है। [तात्पर्य यह है कि] नित्य-कर्मोंका [1]विश्वजित्न्यायसे तो कोई फल कल्पना किया नहीं जाता और उनका कोई

१. 'विश्वजिता यजेत'—विश्वजित्यागसे यजन करे—इस वाक्यमें याग-कर्तव्यतारूप विधि देखी जाती है। इस विधिका कोई नियोज्य पुरुष होना चाहिये अर्थात् यह बतलाना चाहिये कि विश्वजित् यागसे कौन यजन करे। तो वहाँ 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' अर्थात् जहाँ किसी कर्मका कोई विशिष्ट फल न बतलाया गया हो, वहाँ उसका फल स्वर्ग ही समझना चाहिये, क्योंकि स्वर्ग सभी कर्मोंका सामान्य फल है, इस न्यायसे स्वर्गकाम (स्वर्गकी इच्छावाला) ही विश्वजित् यागका नियोज्य है ऐसी कल्पना कर ली जायगी। यही विश्वजित्-न्याय है।

फलमस्ति; चोद्यन्ते च तानि; पारिशेष्यान्मोक्षस्तेषां फलमिति गम्यते; अन्यथा हि पुरुषा न प्रवर्तेरन्।

ननु विश्वजिन्न्याय एव आयातो मोक्षस्य फलस्य कल्पितत्वात्। मोक्षे वान्यस्मिन् वा फलेऽकल्पिते पुरुषा न प्रवर्तेरन्निति मोक्षः फलं कल्प्यते श्रुतार्थापत्त्या, यथा विश्वजिति। नन्वेवं सति कथमुच्यते विश्वजिन्न्यायो न भवतीति। फलं च कल्प्यते विश्वजिन्न्यायश्च न भवतीति विप्रतिषिद्धमभिधीयते।

मोक्षः फलमेव न भवतीति चेन्न; प्रतिज्ञाहानात्। कर्म कार्यान्तरं विषदध्यादिवदारभत इति

श्रुत फल भी है नहीं; तथा उनकी विधि है ही; इसलिये परिशेषतः मोक्ष ही उनका फल है-ऐसा जाना जाता है। नहीं तो पुरुषोंकी उनमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

सिद्धान्ती—तब तो यहाँ भी विश्वजित्न्याय ही आ जाता है; क्योंकि मोक्षरूप फलकी कल्पना की गयी है। मोक्ष अथवा किसी अन्य फलकी कल्पना न करनेपर पुरुषोंकी प्रवृत्ति नहीं होगी, इसीसे विश्वजित्यागके स्वर्गरूप फलके समान यहाँ[1] श्रुतार्थापत्तिसे मोक्षरूप फलकी कल्पना की जाती है। किंतु ऐसी स्थितिमें यह कैसे कहा जाता है कि यहाँ विश्वजित्न्याय नहीं है। फलकी कल्पना भी की जाती है और विश्वजित्न्याय भी नहीं है—यह कथन तो विरुद्ध है।

यदि कहो कि मोक्ष तो किसीका फल ही नहीं है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि इससे तुम्हारी प्रतिज्ञा भङ्ग होती है। तुमने यह प्रतिज्ञा की है कि विष और दधि आदिके समान

१. जहाँ कोई बात स्वीकार किये बिना किसी श्रुत अर्थमें आपत्ति या अनुपपत्ति आती हो, वहाँ उसे स्वीकार करना पड़ता है, यही श्रुतार्थापत्ति प्रमाण है। मोक्षरूप फल स्वीकार किये बिना नित्यकर्मोंमें किसीकी प्रवृत्ति न होनेसे उसकी विधि व्यर्थ हो जायगी, इसलिये श्रुतार्थापत्ति प्रमाणसे वह स्वीकार करना पड़ता है।

हि प्रतिज्ञातम्। स चेन्मोक्षः कर्मणः कार्यं फलमेव न भवतीति सा प्रतिज्ञा हीयेत। कर्मकार्यत्वे च मोक्षस्य स्वर्गादिफलेभ्यो विशेषो वक्तव्यः, अथ कर्मकार्यं न भवति, 'नित्यानां कर्मणां फलं मोक्षः' इत्यस्या वचनव्यक्तेः कोऽर्थ इति वक्तव्यम्। न च कार्यफलशब्दभेदमात्रेण विशेषः शक्यः कल्पयितुम्। अफलं च मोक्षः, नित्यैश्च कर्मभिः क्रियते; नित्यानां कर्मणां फलम्; न कार्यम्; इति चैषोऽर्थो विप्रतिषिद्धोऽभिधीयते यथाग्निः शीत इति।

[नित्य और निष्काम] कर्म कार्यान्तरका आरम्भ करता है। यदि वह मोक्ष कर्मका कार्य—फल ही न हो, तो वह प्रतिज्ञा भंग हो जाती है। यदि मोक्ष कर्मका कार्य है तो स्वर्गादि फलोंसे उसका भेद बतलाना चाहिये और यदि वह कर्मका कार्य नहीं है तो 'मोक्ष नित्य कर्मोंका फल है' इस वाक्यका क्या अर्थ होगा—यह बतलाना चाहिये। 'कार्य' और 'फल' शब्दोंके भेदमात्रसे ही किसी भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती। मोक्ष किसीका फल नहीं है और नित्य कर्मोंसे होता है, वह नित्य कर्मोंका फल है और कार्य नहीं है—यह सब विषय तो विरुद्ध ही कहा जाता है, जैसे कोई कहे—'अग्नि शीतल है।'

ज्ञानवदिति चेत्—यथा ज्ञानस्य कार्यं मोक्षो ज्ञानेनाक्रियमाणोऽप्युच्यते, तद्वत् कर्मकार्यत्वमिति चेत्? न; अज्ञाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य अज्ञानव्यवधाननिवर्त-

यदि कहो कि वह ज्ञानके समान उसका फल है अर्थात् जैसे ज्ञानद्वारा न किया जानेपर भी मोक्ष ज्ञानका कार्य कहा जाता है, उसी प्रकार वह कर्मका भी कार्य हो सकता है—तो यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान तो अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला है। ज्ञान मोक्षके अज्ञानरूप व्यवधानकी निवृत्ति करने-

त्त्वादज्ञानस्य मोक्षोऽज्ञानकार्यमित्युपचर्यते; न तु कर्मणा निवर्तयितव्यमज्ञानम्, न चाज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं शक्यम्, नित्यत्वान्मोक्षस्य साधकस्वरूपाव्यतिरेकाच्च—यत्कर्मणा निवर्त्येत।

वाला है, इसलिये उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि मोक्ष ज्ञानका कार्य है; किंतु कर्मसे अज्ञानकी निवृत्ति हो नहीं सकती और अज्ञानके सिवा मोक्षके किसी अन्य व्यवधानकी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसकी कि कर्मसे निवृत्ति हो; क्योंकि मोक्ष नित्य है और साधकके स्वरूपसे अभिन्न है।

अज्ञानमेव निवर्तयतीति चेन्न, विलक्षणत्वात्। अनभिव्यक्तिरज्ञानम्, अभिव्यक्तिलक्षणेन ज्ञानेन विरुध्यते; कर्म तु नाज्ञानेन विरुध्यते; तेन ज्ञानविलक्षणं कर्म। यदि ज्ञानाभावो यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वोच्यतेऽज्ञानमिति, सर्वं हि तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यते, न तु कर्मणा, अन्यतमेनापि विरोधाभावात्।

यदि कहो कि कर्म भी अज्ञानकी ही निवृत्ति करता है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि कर्म ज्ञानसे विलक्षण है। अज्ञान अप्रकाशरूप है, वह प्रकाशरूप ज्ञानका ही विरोधी है, कर्मका अज्ञानसे विरोध नहीं है; इसलिये कर्म ज्ञानसे विलक्षण है। यदि ज्ञानाभावको, संशयज्ञानको अथवा विपरीत ज्ञानको अज्ञान कहा जाय तो इन सभीकी निवृत्ति ज्ञानसे ही हो सकती है; किसी भी कर्मसे नहीं हो सकती, क्योंकि उसका [इनमेंसे किसी भी प्रकारके] अज्ञानके साथ विरोध नहीं है।

अथादृष्टं कर्मणामज्ञाननिवर्तकत्वं कल्प्यमिति चेन्न, ज्ञानेन अज्ञाननिवृत्तौ गम्यमानायाम्

यदि कहो कि कर्मोंका अज्ञाननिवर्तकत्व—यह अदृष्ट फल है ऐसी कल्पना कर लेनी चाहिये तो ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति

अदृष्टनिवृत्तिकल्पनानुपपत्तेः । यथा अवघातेन व्रीहीणां तुषनिवृत्तौ गम्यमानायाम् अग्निहोत्रादिनित्यकर्मकार्या अदृष्टा न कल्प्यते तुषनिवृत्तिः । तद्वद् ज्ञाननिवृत्तिरपि नित्यकर्मकार्या अदृष्टा न कल्प्यते । ज्ञानेन विरुद्धत्वं चासकृत् कर्मणामवोचाम । यदविरुद्धं ज्ञानं कर्मभिस्तद्देवलोकप्राप्तिनिमित्तमित्युक्तम्; "विद्यया देवलोकः" (१ । ५ । १६) इति श्रुतेः ।

किञ्चान्यत्, कल्प्ये च फले नित्यानां कर्मणां श्रुतानां यत्कर्मभिर्विरुध्यते द्रव्यगुणकर्मणां कार्यमेव न भवति, किं तत्कल्प्यताम्, यस्मिन् कर्मणः सामर्थ्यमेव न दृष्टम् ? किं वा यस्मिन् दृष्टं सामर्थ्यम्, यच्च कर्मणां फलम् अविरुद्धम्, तत् कल्प्यताम् ? इति । पुरुषप्रवृत्तिजननायावश्यं

जब साक्षात् अनुभव होती है, तो अदृष्टफलके रूपमें निवृत्तिकी कल्पना करनी उपयुक्त नहीं है । जिस प्रकार [मुसलसे] कूटनेपर धानके तुषकी निवृत्ति होती है—यह स्पष्टतया ज्ञात होनेपर ऐसी कल्पना नहीं की जाती कि वह अग्निहोत्रादि नित्यकर्मोंका अदृष्ट कार्य है । इसी प्रकार अज्ञाननिवृत्ति भी नित्यकर्मोंका कार्य एवं अदृष्ट फल है—ऐसी कल्पना नहीं की जाती । ज्ञानसे कर्मोंका विरोध है—यह तो हम अनेकों बार कह चुके हैं । जो ज्ञान कर्मोंसे अविरुद्ध है, वह तो "विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है" इस श्रुतिके अनुसार देवलोककी प्राप्तिका कारण है—ऐसा पहले बतलाया गया है ।

इसके सिवा, यदि श्रुति-प्रतिपादित नित्य कर्मोंके फलकी कल्पना करनी ही है तो जो कर्मोंसे विरुद्ध स्वभाववाला है–जो द्रव्य, गुण और कर्मोंका कार्य ही नहीं हो सकता तथा जिसमें कर्मका सामर्थ्य ही नहीं देखा गया, क्या उसीकी कल्पना करनी चाहिये अथवा जिसमें कर्मोंका सामर्थ्य देखा गया है तथा जो कर्मोंका अविरुद्ध फल है, उसकी कल्पना की जाय ? यदि पुरुषोंकी प्रवृत्ति करानेके लिये कर्मफलकी कल्पना

चेत् कर्मफलं कल्पयितव्यम्, कर्माविरुद्धविषय एव श्रुतार्थापत्तेः क्षीणत्वान्नित्यो मोक्षः फलं कल्पयितुं न शक्यः, तद्व्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा; अविरुद्धत्वाद् दृष्टसामर्थ्यविषयत्वाच्चेति ।

पारिशेष्यन्यायान्मोक्ष एव कल्पयितव्य इति चेत्—सर्वेषां हि कर्मणां सर्वं फलम्, न चान्यदित्यकर्मफलव्यतिरेकेण फलं कल्पनायोग्यमस्ति; परिशिष्टश्च मोक्षः, स चेष्टो वेदविदां फलम्; तस्मात् स एव कल्पयितव्य इति चेत् ?

न, कर्मफलव्यक्तीनाम् आनन्त्यात्पारिशेष्यन्यायानुपपत्तेः ।

करनी आवश्यक ही है तो श्रुतार्थापत्तिका पर्यवसान कर्मके अविरोधी विषयों (उत्पत्ति, आप्ति, संस्कार और विकार) में ही होनेके कारण उन्हींकी कल्पना करनी चाहिये, नित्य मोक्ष अथवा मोक्षके व्यवधानभूत अज्ञानकी निवृत्ति—ये कर्मोंके फलरूपसे कल्पना नहीं किये जा सकते; क्योंकि कर्म और अज्ञानका अविरोध है और जिन (उत्पत्ति आदि) मे उनका सामर्थ्य देखा गया है, वे ही उनके विषय हैं ।

पूर्व०—पारिशेष्यन्यायसे मोक्षको ही नित्यकर्मोंका फल मानना चाहिये—ऐसा कहें तो ? तात्पर्य यह है कि सब कुछ समस्त कर्मोंका ही फल है, नित्य कर्मोंके सिवा अन्य जितने कर्म हैं, उनके फलोंसे भिन्न कोई और ऐसी वस्तु नहीं है, जो नित्य कर्मोंके फलरूपसे कल्पना किये जानेयोग्य हो; ऐसा तो केवल मोक्ष ही अवशिष्ट रहता है, अतः वेदवेत्ताओंको वही उसका फल इष्ट है; इसलिये उसीकी उसके फलरूपसे कल्पना करनी चाहिये—यदि ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मफलकी व्यक्तियाँ तो अनन्त हैं, इसलिये उनमें पारिशेष्यन्याय लगाना उचित नहीं है ।

न हि पुरुषेच्छाविषयाणां कर्मफलानामेतावत्त्वं नाम केनचिद् असर्वज्ञेनावधृतम्, तत्साधनानां वा पुरुषेच्छानां वा अनियतदेशकालनिमित्तत्वात्, पुरुषेच्छाविषयसाधनानां च पुरुषेष्टफलप्रयुक्तत्वात्। प्रतिप्राणि चेच्छावैचित्र्यात् फलानां तत्साधनानां चानन्त्यसिद्धिः। तदानन्त्याच्चाशक्यमेतावत्त्वं पुरुषैर्ज्ञातुम्। अज्ञाते च साधनफलैतावत्त्वे कथं मोक्षस्य परिशेषसिद्धिरिति।

पुरुषकी इच्छाके विषयभूत कर्मफलोंकी इयत्ताका किसी भी असर्वज्ञ जीवने निश्चय नहीं किया; क्योंकि उनके साधन अथवा पुरुषकी इच्छाओंके देश, काल और निमित्त नियत नहीं हैं; कारण, वे पुरुषकी इच्छाके विषय और उनके साधन पुरुषके इष्ट फलोंद्वारा प्रेरित हैं। अतः प्रत्येक प्राणीकी इच्छाओंमें विचित्रता रहनेके कारण उनके साधन और फलोंकी अनन्तताकी भी सिद्धि होती है। उनकी अनन्तता होनेके कारण पुरुषोंको उनकी इयत्ताका ज्ञान होना असम्भव है तथा साधन और फलोंकी इयत्ताका ज्ञान न होनेपर मोक्षकी परिशेषता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

कर्मफलजातिपारिशेष्यमिति चेत्—सत्यपि इच्छाविषयाणां तत्साधनानां चानन्त्ये, कर्मफलजातित्वं नाम सर्वेषां तुल्यम्। मोक्षस्त्वकर्मफलत्वात् परिशिष्टः स्यात्। तस्मात् परिशेषात् स एव युक्तः कल्पयितुमिति चेत् ?

पूर्व०—कर्मफलोंकी जातिकी परिशेषता तो सिद्ध हो ही सकती है ? इच्छाके विषय और उनके साधन अनन्त होनेपर भी उन सबमें कर्मफलजातित्व तो समान ही है किंतु मोक्ष कर्मफल है नहीं, अतः वही अवशिष्ट होना चाहिये; इसलिये परिशेषतः उसीको नित्य कर्मोंका फल कल्पना करना उचित है—यदि ऐसा मानें तो ?

न, तस्यापि नित्यकर्मफलत्वाभ्युपगमे कर्मफलसमानजातीयत्वोपपत्तेः परिशेषानुपपत्तिः। तस्मादन्यथाप्युपपत्तेः क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः। उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्काराणामन्यतममपि नित्यानां कर्मणां फलमुपपद्यत इति क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि उसे भी नित्य कर्मोंका फल माना जायगा तो उसमें भी कर्मफलसे सजातीयताकी उपपत्ति होनेसे परिशेषकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इससे भिन्न प्रकारसे भी नित्यकर्मोंके फलकी उपपत्ति हो सकती है, इसलिये वहीं यह श्रुतार्थापत्ति क्षीण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, आप्ति, विकार और संस्कारोंमेंसे कोई भी नित्यकर्मोंका फल हो सकता है, इसलिये उन्हींमें यह श्रुतार्थापत्ति क्षीण हो जाती है।

चतुर्णामन्यतम एव मोक्ष इति चेत्?

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि मोक्ष भी इन चारोंमेंसे ही कोई एक है तो?

न तावदुत्पाद्यो नित्यत्वात्, अत एवाविकार्यः, असंस्कार्यश्चात एवासाधनद्रव्यात्मकत्वाच्च, साधनात्मकं हि द्रव्यं संस्क्रियते, यथा पात्राज्यादि प्रोक्षणादिना न च संस्क्रियमाणः, संस्कारनिर्वर्त्यो वा यूपा-

सिद्धान्ती-नहीं, वह नित्य है, इसलिये उत्पाद्य नहीं हो सकता और इसी कारण विकार्य भी नहीं हो सकता और इसी कारणसे तथा साधनात्मक द्रव्य न होनेसे संस्कार्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कार साधनात्मक द्रव्यका ही होता है, जैसे प्रोक्षणादिसे पात्र और घृत आदि। मोक्ष न तो संस्कृत किया जानेवाला है और न यूपादिके समान संस्कारद्वारा निष्पन्न होने-

दिवत्। पारिशेष्यादाप्यः स्यात्, नाप्योऽपि, आत्मस्वभावत्वादेकत्वाच्च।

इतरैः कर्मभिर्वैलक्षण्यान्नित्यानां कर्मणां तत्फलेनापि विलक्षणेन भवितव्यमिति चेत्?

न, कर्मत्वसालक्षण्यात् सलक्षणं कस्मात् फलं न भवतीतरकर्मफलैः?

निमित्तवैलक्षण्यादिति चेत्?

न, क्षामवत्यादिभिः समानत्वात्; यथा हि गृहदाहादौ निमित्ते क्षामवत्यादीष्टिः, यथा भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोतीत्येवमादौ नैमित्तिकेषु कर्मसु न मोक्षः फलं कल्प्यते, तैश्चाविशेषान्नैमित्तिकत्वेन, जीवनादिनिमित्ते च श्रवणात्, तथा नित्यानामपि न मोक्षः फलम्। आलो-

वाला है। परिशेषतः आप्य हो सकता है, सो आत्माका स्वभाव और एकमात्र होनेके कारण आप्य भी नहीं है।

पूर्व०-किंतु नित्य कर्म अन्य कर्मोंसे विलक्षण हैं, इसलिये उनका फल भी विलक्षण ही होना चाहिये।

सिद्धान्ती-नहीं, कर्मत्वमें तो वे समान लक्षणवाले हैं, फिर उसका फल भी अन्य कर्मफलोंके समान लक्षणोंवाला ही क्यों न होगा?

पूर्व०-यदि कहें, अन्य कर्मोंसे निमित्तमें विलक्षणता होनेके कारण तो फलमें विलक्षणता होनी ही चाहिये तो?

सिद्धान्ती-नहीं, क्योंकि क्षामवती आदि इष्टियोंसे इनकी समानता है; जिस प्रकार गृहदाहादि निमित्त होनेपर क्षामवती आदि इष्टियोंका विधान है और जैसे 'भिन्ने जुहोति' 'स्कन्ने जुहोति' इत्यादि विधियोंमें भेदन और स्कन्दनके प्रायश्चित्तरूपसे किये हुए नैमित्तिक कर्मोंका फल मोक्ष नहीं कल्पना किया जा सकता, क्योंकि नैमित्तिकत्वमें ये भी उनके समान ही हैं, कारण, श्रुति जीवनादि निमित्तसे इनका विधान करती है, इसी प्रकार नित्य कर्मोंका फल भी मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकाश-

कस्य सर्वेषां रूपदर्शनसाधनत्वे उलूकादय आलोकेन रूपं न पश्यन्तीत्युलूकादिचक्षुषो वैलक्षण्यादितरलोकचक्षुर्भिर्न रसादिविषयत्वं परिकल्प्यते; रसादिविषये सामर्थ्यस्यादृष्टत्वात्। सुदूरमपि गत्वा यद्विषये दृष्टं सामर्थ्यं तत्रैव कश्चित् विशेषः कल्पयितव्यः।

यत् पुनरुक्तं विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तविषदध्यादिवन्नित्यानि कार्यान्तरमारभन्त इति; आरभ्यतां विशिष्टं कार्यं तदिष्टत्वादविरोधः। निरभिसन्धेः कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य विशिष्टकार्यान्तरारम्भे न कश्चिद् विरोधः। देवयाज्यात्मयाजिनोरात्मयाजिनोविशेषश्रवणात् "देवयाजिनः श्रेयानात्मयाजी" इत्यादौ "यदेव

सबके लिये रूपदर्शनका साधन है, तथापि उल्लू आदिको प्रकाशसे रूपकी उपलब्धि नहीं होती; इस प्रकार उल्लूकी दृष्टिमें अन्य जीवोंकी दृष्टिसे विलक्षणता होनेसे भी उसका विषय रसादि नहीं कल्पना किया जाता; क्योंकि रसादि विषयमें नेत्रका सामर्थ्य नहीं देखा जाता। बहुत दूर जाकर भी जिस विषयमें जिसका सामर्थ्य देखा जाता है, उसीमें कुछ विशेषकी कल्पना करनी चाहिये; [सर्वथा विपरीत कल्पना करनी उचित नहीं है]।

और ऐसा जो कहा कि विद्या, मन्त्र एवं शर्करादियुक्त विष और दधि आदिके समान नित्यकर्म किसी अन्य कार्यका आरम्भ करते हैं, सो वे भले ही किसी विशिष्ट कार्यका आरम्भ करें, वह इष्ट होनेके कारण उससे हमारा कोई विरोध नहीं है। फलाशारहित विद्यासंयुक्त कर्मके विशिष्टकार्यान्तर आरम्भ करनेमें हमारा कोई विरोध नहीं है; क्योंकि "देवयाजीसे आत्मयाजी श्रेष्ठ है" तथा "जो भी विद्यासे करता है वह बलवत्तर होता है" इत्यादि

विद्यया करोति" (छा० उ० १ । १ । १०) इत्यादौ च ।

यस्तु परमात्मदर्शनविषये मनुनोक्त आत्मयाजिशब्दः "समं पश्यन्नात्मयाजी" (मनु० १२ । ९१) इत्यत्र, समं पश्यन्नात्मयाजी भवतीत्यर्थः, अथवा भूतपूर्वगत्या । आत्मयाजी आत्मसंस्कारार्थं नित्यानि कर्माणि करोति "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते" इति श्रुतेः । तथा "गार्भैर्होमैः" इत्यादिप्रकरणे कार्यकरणसंस्कारार्थत्वं नित्यानां कर्मणां दर्शयति । संस्कृतश्च य आत्मयाजी तैः कर्मभिः समं द्रष्टुं समर्थो भवति । तस्येह वा जन्मान्तरे वा सममात्मदर्शनमुत्पद्यते । समं पश्यन् स्वाराज्यमधिगच्छतीत्येषोऽर्थः । आत्मयाजिशब्दस्तु भूतपूर्वगत्या प्रयुज्यते, ज्ञानयुक्तानां नित्यानां कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिसाधनत्वप्रदर्शनार्थम् ।

वाक्योंमें देवयाजी और आत्मयाजियोंमें आत्मयाजी विशेष सुना गया है ।

मनुजीने जो "समं पश्यन्नात्मयाजी" इत्यादि वाक्यमें आत्मयाजी" शब्दका परमात्मदर्शनके विषयमें प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य तो यह है कि समस्त भूतोंमें समदृष्टि रखनेवाला आत्मयाजी है, अथवा वहाँ भूतपूर्व गतिसे इसका प्रयोग हो सकता है । "इसके द्वारा मेरा यह अङ्ग संस्कारयुक्त होता है" इस श्रुतिके अनुसार आत्मयाजी आत्मा के संस्कारके लिये नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करता है तथा "गर्भसम्बन्धी होमोंसे [बीजगत पाप निवृत्त होते हैं]" इत्यादि प्रकरणमें भी नित्य कर्मोंका प्रयोजन देहेन्द्रियसंघातका संस्कार दिखलाया गया है । जो आत्मयाजी उन कर्मोंसे संस्कृत हो गया है, वही समदर्शनमें समर्थ होता है । उसको ही इस जन्ममें या जन्मान्तरमें सम आत्मदर्शन होना सम्भव है । इसका अर्थ यह है कि समदर्शन करनेवाला पुरुष स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है । यहाँ 'आत्मयाजी' शब्दका प्रयोग तो ज्ञानयुक्त नित्य कर्मोंको ज्ञानोत्पत्तिकी साधनता प्रदर्शित करनेके लिये भूतपूर्व गतिसे किया जाता है ।

किञ्चान्यत् "ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च। उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" इति च देवसार्ष्टिंव्यतिरेकेण भूताप्ययं दर्शयति "भूतान्यप्येति पञ्च वै"। भूतान्यत्येतीति पाठं ये कुर्वन्ति, तेषां वेदविषये परिच्छिन्नबुद्धित्वाददोषः।

न चार्थवादत्वमध्यायस्य ब्रह्मान्तकर्मविपाकार्थस्य तद्व्यतिरिक्तात्मज्ञानार्थस्य च कर्मकाण्डोपनिषद्भ्यां तुल्यार्थत्वदर्शनात्। विहिताकरणप्रतिषिद्धकर्मणां च स्थावरश्वसूकरादिफलदर्शनात्, वान्ताश्यादिप्रेतदर्शनाच्च।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी कही है कि "ब्रह्मा, विश्वस्रष्टा (प्रजापति), धर्म, महत्तत्त्व और अव्यक्त-इन्हें विचारवान् पुरुष उत्तम सात्त्विक[1] की गति बतलाते हैं।" तथा "पाँच भूतोंमें लीन हो जाता है" यह स्मृति देवसार्ष्टिसे[2] भूतोंमें लय होनेको पृथक् दिखलाती है। जो लोग यहाँ 'भूतान्यप्येति' के स्थानमें 'भूतान्यत्येति' (भूतोंको पार कर जाता है) ऐसा पाठ करते हैं, उनकी बुद्धि ही वेदके विषयमें सङ्कुचित है, अतः उनका कोई दोष नहीं है।

ब्रह्मलोकपर्यन्त कर्मविपाक जिसका विषय है तथा उससे भिन्न जो आत्मज्ञान है, वह जिसका प्रयोजन है, ऐसे इस अध्यायको अर्थवाद भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कर्मकाण्ड और उपनिषद् इन दोनोंसे इसकी समानार्थता देखी जाती है। तथा विहित कर्मोंके न करने और प्रतिषिद्धोंके करनेका फल स्थावर एवं श्वान-सूकरादि योनियोंकी प्राप्ति देखा जाता है और उन्हें वमन भक्षण करनेवाले आदि प्रेत होते भी देखा जाता है।

१. इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानयुक्त नित्य कर्मोंका फल संसार ही है, अवश्य ही है वह सात्त्विक।

२. इष्टदेवके समान ऐश्वर्यप्राप्ति।

न च श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धव्यतिरेकेण विहितानि वा प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि केनचिदवगन्तुं शक्यन्ते, येषामकरणादनुष्ठानाच्च प्रेतश्वसूकरस्थावरादीनि कर्मफलानि प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभ्यन्ते; न चैषां कर्मफलत्वं केनचिदभ्युपगम्यते। तस्माद्विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवानां यथैते कर्मविपाकाः प्रेततिर्यक्स्थावरादयः, तथोत्कृष्टेष्वपि ब्रह्मान्तेषु कर्मविपाकत्वं वेदितव्यम्। तस्मात् 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' 'सोऽरोदीत्' इत्यादिवन्नाभूतार्थवादत्वम्।

और श्रुति-स्मृतिद्वारा जो विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्म हैं, उनके सिवा दूसरे विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्मोंका किसीको भी ज्ञान नहीं हो सकता, जिनके न करने और करनेसे प्रत्यक्ष एवं अनुमानद्वारा प्रेत, श्वान, सूकर एवं स्थावरादि कर्मफल प्राप्त होते हैं। उनके कर्मफलोंकी कोई कल्पना ही कर लेता हो—ऐसी बात नहीं है। अतः जिस प्रकार विहित कर्मोंके न करने और प्रतिषिद्धोंके करनेके ये प्रेत, तिर्यक् एवं स्थावरादि कर्मफल हैं, उसी प्रकार ब्रह्मापर्यन्त उत्कृष्ट पदोंको भी कर्मफल ही समझना चाहिये। अतः 'स[1] आत्मनो वपामुदखिदत्' [2]'सोऽरोदीत्' इत्यादि प्रकरणोंके समान इस अध्यायकी अभूतार्थवादता नहीं है।

तत्राप्यभूतार्थवादत्वं माभूदिति चेत्? भवत्वेवम्; न चैतावता अस्य न्यायस्य बाधो भवति; न चास्मत्पक्षो वा दुष्यति, न च "ब्रह्मा विश्वसृजः" इत्यादीनां काम्यकर्मफलत्वं शक्यं वक्तुम्, तेषां देवसार्ष्टितायाः फलस्योक्तत्वात्।

यदि कहो कि इन प्रकरणोंमें भी अभूतार्थवादता नहीं माननी चाहिये तो ऐसा ही सही; किन्तु इतनेहीसे इस न्यायका बाध नहीं होता और न हमारा पक्ष ही दूषित होता है। "ब्रह्मा विश्वसृजः" इत्यादिको काम्य कर्मोंका फल भी नहीं बतलाया जा सकता; क्योंकि उन काम्यकर्मोंका फल तो देवसार्ष्टिता बतलाया गया

१. उस (ब्रह्मा) ने अपना वीर्य पतन किया। २. वह (रुद्र) रोया।



तस्मात् साभिसन्धीनां नित्यानां कर्मणां सर्वमेधाश्वमेधादीनां च ब्रह्मत्वादीनि फलानि ।

निष्कामानां नित्यकर्मणामात्मसंस्कारार्थत्वनिरूपणम्

येषां पुनर्नित्यानि निरभिसन्धीन्यात्मसंस्कारार्थानि, तेषां ज्ञानोत्पत्त्यर्थानि तानि । "ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" इति स्मरणात् तेषामारादुपकारकत्वान्मोक्षसाधनान्यपि कर्माणि भवन्तीति न विरुध्यते । यथा चायमर्थः षष्ठे जनकाख्यायिकासमाप्तौ वक्ष्यामः ।

यत्तु विषदध्यादिवदित्युक्तम्, तत्र प्रत्यक्षानुमानविषयत्वादविरोधः । यस्तु अत्यन्तशब्दगम्योऽर्थः, तत्र वाक्यस्याभावे तदर्थप्रतिपादकस्य न शक्यं कल्पयितुं विषदध्यादिसाधर्म्यम् ।

है । अतः ये ब्रह्मत्वादि फलाकाङ्क्षासहित नित्यकर्मोंके और सर्वमेध, अश्वमेधादि यज्ञोंके फल हैं ।

किंतु जिनके फलाशाशून्य नित्यकर्म चित्तशुद्धिके लिये होते हैं, उनके वे ज्ञानोत्पत्तिके कारण होते हैं, जैसा कि "यह शरीर ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य किया जाता है" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है । उन (मुमुक्षुओं) के समीपसे उपकारक होनेके कारण वे कर्म मोक्षके भी साधन होते हैं, इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है । यह किस प्रकार मोक्षका साधन है, यह बात हम छठे [अर्थात् इस उपनिषद्के चौथे] अध्यायमें जनकआख्यायिकाकी समाप्तिमें कहेंगे ।

ऊपर जो विष और दधि आदिके समान—ऐसा कहा है, सो वे (मन्त्र एवं शर्करादियुक्त विष और दधि आदि) तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके विषय हैं, इसलिये उनके विषयसे वैसा कहनेमें कोई विरोध नहीं है । परंतु जो विषय सर्वथा शब्दसे ही जाना जा सकता है, उसके विषयमें उस अर्थका प्रतिपादन करनेवाला कोई वाक्य न होनेके कारण उसका विष एवं दधि आदिसे साधर्म्य नहीं कल्पना किया जा सकता ।

न च प्रमाणान्तरविरुद्धार्थविषये श्रुतेः प्रामाण्यं कल्प्यते, यथा शीतोऽग्निः क्लेदयतीति। श्रुते तु तादर्थ्ये वाक्यस्य प्रमाणान्तरस्य आभासत्वम्। यथा खद्योतोऽग्निरिति, तलमलिनमन्तरिक्षमिति बालानां यत् प्रत्यक्षमपि तद्विषयप्रमाणान्तरस्य यथार्थत्वे निश्चिते, निश्चितार्थमपि बालप्रत्यक्षम् आभासोभवति।

और जो विषय प्रमाणान्तरसे विरुद्ध है, उसमें श्रुतिप्रामाण्यकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, जैसे कोई कहे कि 'अग्नि शीतल होता है और भिगो देता है।'[1] वाक्यका वैसा अर्थ यदि श्रुतिसम्मत हो तो अन्य प्रमाण प्रमाणाभास हो जाते हैं। जैसे मूर्खोंको यह प्रत्यक्ष होता है कि खद्योत अग्नि है, अन्तरिक्षका तल मलिन होता है; तथापि उनके विषयमें यथार्थताका प्रमाणान्तरसे निश्चय हो जानेपर वह मूर्खोंद्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ निश्चित अर्थ भी मिथ्या हो जाता है।

प्रकरणार्थ-निर्धारणम्

तस्माद् वेदप्रामाण्यस्याव्यभिचारात्तादर्थ्ये सति वाक्यस्य तथात्वं स्यात्, न तु पुरुषमतिकौशलम्। न हि पुरुषमतिकौशलात् सविता रूपं न प्रकाशयति। तथा वेदवाक्यानि

अतः वेदके प्रामाण्यका सर्वदा अव्यभिचार होनेके कारण उसका वैसा तात्पर्य होनेपर ही वाक्यकी यथार्थता होती है, केवल मनुष्यकी बुद्धिका कौशल ही वाक्यार्थका निर्णय नहीं कर सकता।[2] पुरुषकी बुद्धिके कौशलसे ही यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सूर्य प्रकाश नहीं करता। इसी प्रकार वेदवाक्योंका भी

१. यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध है, इसलिये यदि कोई ऐसा वाक्य हो तो वह प्रमाण नहीं माना जा सकता।

२. तात्पर्य यह है कि उपक्रम और उपसंहारादि लिङ्गोंसे जिस वाक्यका जैसा तात्पर्य होता है, वही प्रमाणभूत माना जाता है, केवल बुद्धिकौशलसे कल्पना किया हुआ अर्थ प्रामाणिक नहीं होता।



अपि नान्यार्थानि भवन्ति तस्मान्न मोक्षार्थानि कर्माणीति सिद्धम् । अतः कर्मफलानां संसारत्वप्रदर्शनायैव ब्राह्मणमारभ्यते—

[विभिन्न बुद्धियोंके अनुसार] भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं किया जा सकता अतः यह सिद्ध हुआ कि कर्मोंका फल मोक्ष नहीं है । अतः कर्मफलोंका संसारत्व प्रदर्शित करनेके लिये ही यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है—

पारिक्षित कहाँ रहे ?

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् सुधन्वाङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

फिर इसं याज्ञवल्क्यसे लाह्यायनि भुज्युने पूछा । वह बोला 'हे याज्ञवल्क्य ! हम व्रताचरण करते हुए मद्रदेशमें विचर रहे थे कि कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर पहुँचे । उसकी पुत्री गन्धर्वसे गृहीत थी । [अर्थात् उसपर गन्धर्वका आवेश था] हमने उससे पूछा, 'तू कौन है ?' वह बोला "आङ्गिरस सुधन्वा हूँ ।' जब उससे लोकोंके अन्तके विषयमें पूछा तो हमने उससे यों कहा, 'पारिक्षित कहाँ रहे ? पारिक्षित कहाँ रहे ?' सो हम तुमसे पूछते हैं कि 'पारिक्षित कहाँ रहे ?' ॥ १ ॥

अथानन्तरम् उपरते जारत्कारवे, भुज्युरिति नामतो लह्यस्यापत्यं

फिर—इसके पश्चात् जरत्कारुपुत्र आर्तभागके चुप हो जानेपर भुज्युनामवाले

लाह्यस्तदपत्यं लाह्यायनिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच ।

लाह्यायनि—लह्यके पुत्रको लाह्य कहते हैं, उसके पुत्र लाह्यायनिने पूछा । उसने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य !'

आदावुक्तमश्वमेधदर्शनम्; समष्टिव्यष्टिफलश्चाश्वमेधक्रतुः, ज्ञानसमुच्चितो वा केवलज्ञानसम्पादितो वा, सर्वकर्मणां परा काष्ठा; भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरिति हि स्मरन्ति; तेन हि समष्टिं व्यष्टीश्च प्राप्नोति; तत्र व्यष्टयो निर्ज्ञाता अन्तरण्डविषया अश्वमेधयागफलभूताः; 'मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेका भवति' (१ । २ । ७) इत्युक्तम् ।

[इस उपनिषद्के] आरम्भमें अश्वमेधदर्शन कहा गया है । अश्वमेध यज्ञ समष्टि और व्यष्टि फल देनेवाला है । वह ज्ञानसमुच्चित हो अथवा केवल ज्ञानसम्पादित हो समस्त कर्मोंकी पराकाष्ठा है । भ्रूणहत्यासे बढ़कर कोई पाप और अश्वमेधसे बढ़कर कोई पुण्य नहीं है—ऐसी स्मृति है । उस (अश्वमेध) के द्वारा ही पुरुष समष्टि या व्यष्टि फलको प्राप्त करता है । उनमें जो अश्वमेधयागके फलभूत [अग्नि, वायु और आदित्यादि] अण्डान्तर्गत देवता हैं, वे व्यष्टि जाने गये हैं तथा [समष्टि देवताके विषयमें] 'मृत्यु इसका आत्मा हो जाता है, यह इन देवताओंमेंसे कोई एक हो जाता है' ऐसा कहा है ।

मृत्युश्चाशनायालक्षणो बुद्ध्यात्मा समष्टिः प्रथमजो वायुः सूत्रं सत्यं हिरण्यगर्भः; तस्य व्याकृतो विषयः—यदात्मकं सर्वं द्वैतैकत्वम्।

वह मृत्यु क्षुधारूप बुद्ध्यात्मा और समष्टि है, वह प्रथमोत्पन्न वायु, सूत्रात्मा, सत्य और हिरण्यगर्भ है । जितना भी सम्पूर्ण द्वैत (व्यष्टि) और एकत्व (समष्टि) है, उसका जो स्वरूपभूत है, वह व्याकृत उसका

यः सर्वभूतान्तरात्मा लिङ्गम् अमूर्तरसो यदाश्रितानि सर्वभूतकर्माणि, यः कर्मणां कर्मसम्बद्धानां च विज्ञानानां परा गतिः परं फलम्, तस्य कियान् गोचरः कियती व्याप्तिः सर्वतः परिमण्डलीभूता, सा वक्तव्या; तस्याम् उक्तायां सर्वः संसारो बन्धगोचर उक्तो भवति। तस्य च समष्टिव्यष्ट्यात्मदर्शनस्य अलौकिकत्वप्रदर्शनार्थमाख्यायिकामात्मनो वृत्तां प्रकुरुते; तेन च प्रतिवादिबुद्धिं व्यामोहयिष्यामीति मन्यते।

मद्रेषु मद्रा नाम जनपदास्तेषु, चरका अध्ययनार्थं व्रतचरणाच्चरकाः अध्वर्यवो वा, पर्यव्रजाम पर्यटितवन्तः; ते पतञ्चलस्य—ते वयं पर्यटन्तः, पतञ्चलस्य नामतः, काप्यस्य कपिगोत्रस्य, गृहान् ऐम गतवन्तः। तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता—गन्धर्वेण अमानुषेण सत्त्वेन केनचिदाविष्टा; गन्धर्वो वा धिष्ण्योऽग्निर्ऋत्विगृदेवता विशिष्टविज्ञानत्वादव-

विषय है। जो समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, लिङ्ग और अमूर्तरस है, सम्पूर्ण भूत जिसके आश्रित हैं, जो कर्मों और कर्मोंसे सम्बद्ध विज्ञानोंकी परा गति और परम फल है, उसका कितना विषय है—सब ओरसे मण्डलाकार फैली हुई कितनी व्याप्ति है—यह बतलानी चाहिये; उसे बतला दिये जानेपर बन्धका विषयभूत सारा संसार बता दिया जायगा। उस समष्टि-व्यष्टिरूप दर्शनका अलौकिकत्व प्रदर्शित करनेके लिये भुज्यु अपने साथ बीती हुई आख्यायिका कहता है और समझता है कि इससे मैं अपने प्रतिवादीकी बुद्धिमें व्यामोह पैदा कर दूँगा।

हम मद्रोंमें—मद्र नामके जो देश हैं, उनमें, चरक—अध्ययनके लिये व्रताचरण करनेसे चरक अथवा अध्वर्यु होकर विचर रहे थे; वे हम विचरते-विचरते काप्य—कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल नामवाले पुरुषके यहाँ पहुँचे। उसकी पुत्री गन्धर्व-गृहीता थी—गन्धर्व अर्थात् किसी अमानवजीवसे आविष्ट थी। अथवा विशिष्ट ज्ञानवान् होनेसे 'गन्धर्व' शब्दसे धिष्ण्य यानी गृह्य अग्नि ऋत्विग्देवता निश्चय किया

सीयते; न हि सत्त्वमात्रस्येदृशं विज्ञानमुपपद्यते ।

तं सर्वे वयं परिवारिताः सन्तोऽपृच्छाम—कोऽसीति, कस्त्वमसि किन्नामा किंसतत्त्वः । सोऽब्रवीद् गन्धर्वः सुधन्वा नामतः, आङ्गिरसो गोत्रतः । तं यदा यस्मिन् काले लोकानामन्तान् पर्यवसानानि अपृच्छाम अथैनं गन्धर्वमब्रूम—भुवनकोशपरिमाणज्ञानाय प्रवृत्तेषु सर्वेष्वात्मानं श्लाघयन्तः पृष्टवन्तो वयम्; कथम् ? क पारिक्षिता अभवन्निति ।

स च गन्धर्वः सर्वमस्मभ्यमब्रवीत् । तेन दिव्येभ्यो मया लब्धं ज्ञानम्, तत्तव नास्ति, अतो निगृहीतोऽसि, इत्यभिप्रायः । सोऽहं विद्यासम्पन्नो लब्धागमो गन्धर्वात् त्वा त्वां पृच्छामि याज्ञवल्क्य—क पारिक्षिता अभवन्—तत् त्वं किं जानासि ? हे याज्ञवल्क्य 'कथय पृच्छामि क पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

जाता है; क्योंकि केवल किसी जीवमात्रका ऐसा ज्ञान होना सम्भव नहीं है ।

हम सबने उसे चारों ओरसे घेरकर पूछा, 'तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है और क्या स्वरूप है ?' उस गन्धर्वने कहा, 'नामसे मैं सुधन्वा हूँ और गोत्रसे आङ्गिरस हूँ ।' फिर जब उससे लोकोंके अन्त यानी पर्यवसानके विषमें पूछा तो हमने उस गन्धर्वसे कहा, अर्थात् भुवनकोशका परिमाण जाननेके लिये प्रवृत्त होनेपर हम सबने अपनी प्रशंसा करते हुए पूछा । किस प्रकार पूछा—'पारिक्षित कहाँ रहे ?'

और उस गन्धर्वने हमें सब बातें बता दीं । अतः मैंने दिव्य जीवोंसे ज्ञान प्राप्त किया है, वह तुमको प्राप्त नहीं है; इसलिये अब तुम हरा दिये गये—ऐसा इसका अभिप्राय है । मैं विद्यासम्पन्न हूँ और मुझे गन्धर्वसे शास्त्रज्ञान प्राप्त हुआ है, वही मैं तुमसे पूछता हूँ कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम जानते हो कि पारिक्षित कहाँ रहे ? हे याज्ञवल्क्य ! बताओ, मैं पूछता हूँ कि पारिक्षित कहाँ रहे ? ॥ १ ॥

पारिक्षितोंकी गतिका वर्णन

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन् वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत् पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत् समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान् वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'उस गन्धर्वने निश्चय यह कहा था कि वे वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं।' [भुज्यु] 'अच्छा तो, अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है। उसे चारों ओरसे दूनी पृथिवी घेरे हुए है। उस पृथिवीको सब ओरसे दूना समुद्र घेरे हुए है। सो जितनी पतली छुरेकी धार होती है, अथवा जितना सूक्ष्म मक्खीका पंख होता है, उतना उन अण्डकपालोंके मध्यमें आकाश है। इन्द्र (चित्य अग्नि) ने पक्षी होकर उन पारिक्षितोंको वायुको दिया। उन्हें वायु अपने स्वरूपमें स्थापित कर वहाँ ले गया, जहाँ अश्वमेधयाजी रहते हैं; इस प्रकार उस गन्धर्वने वायुकी प्रशंसा की थी। अतः वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। जो ऐसा जानता है, वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है।' तब लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः; उवाच वै सः—वैशब्दः स्मरणार्थः—उवाच वै स गन्धर्वस्तुभ्यम्।

उस याज्ञवल्क्यने कहा—'उसने निश्चय यही कहा था'—यहाँ 'वै' शब्द स्मरणके लिये है—उस गन्धर्वने निश्चय तुमसे यही कहा था कि वे

अगच्छन् वै ते पारिक्षिताः, तत्र तत्र; क्व ? यत्र यस्मिन्नश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति, इति निर्णीते प्रश्ने आह· क्व नु कस्मिन्नश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । तेषां गतिविवक्षया भुवनकोशपरिमाण माह—

पारिक्षित वहाँ चले गये । कहाँ ?-- जहाँ अर्थात् जिस लोकमें अश्वमेधयाजी जाते हैं—इस प्रकार प्रश्नका निर्णय हो जानेपर भुज्यु बोला—'कहाँ अर्थात् किस लोकमें अश्वमेधयाजी जाते हैं ?' तब याज्ञवल्क्य उनकी गति बतलानेकी इच्छासे भुवनकोशका परिमाण बताते हैं—

द्वात्रिंशतं वै, द्वे अधिके त्रिंशद् द्वात्रिंशतं वै, देवरथाह्न्यानि—देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्य रथस्य गत्या अह्ना यावत् परिच्छिद्यते देशपरिमाणं तद् देवरथाह्न्यम् , तद् द्वात्रिंशद्गुणितं देवरथाह्न्यानि, तावत्परिमाणोऽयं लोको लोकालोकगिरिणा परिक्षिप्तः; यत्र वैराजं शरीरं यत्र च कर्मफलोपभोगः प्राणिनां स एष लोकः; एतावाँश्लोकः, अतः परम् आलोकः ।

यह लोक द्वात्रिंशत्—दो अधिक तीस अर्थात् बत्तीस देवरथाह्न्य है। देव है आदित्य (सूर्य) उसका रथ ही देवरथ है, उस रथकी गतिसे एक दिनमें संसारका जितना भाग मापा जाता है, उतना देवरथाह्न्य कहलाता है, उसको बत्तीसगुना करनेपर बत्तीस देवरथाह्न्य होते हैं। लोकालोकपर्वतसे घिरा हुआ यह लोक इतने परिमाणवाला है; जहाँ वैराज शरीर है और जिसमें प्राणियोंके कर्मफलका उपभोग होता है, वह यही लोक है। इतना तो लोक है; इससे आगे आलोक है।

तं लोकं समन्तं समन्ततः लोकविस्ताराद् द्विगुणपरिमाणविस्तारेण परिमाणेन, तं लोकं परिक्षिप्ता पर्येति पृथिवी; तां पृथिवीं तथैव समन्तम् , द्विस्तावद्

उस लोकको चारों ओरसे लोकविस्तारकी अपेक्षा दूने परिमाणके विस्तारवाले परिमाणसे पृथिवी घेरे हुए है। इसी प्रकार उस पृथिवीको उससे दूने परिमाणसे सब ओरसे

द्विगुणेन परिमाणेन समुद्रः पर्येति, यं घनोदमाचक्षते पौराणिकाः।

तत्र अण्डकपालयोर्विवरपरिमाणमुच्यते, येन विवरेण मार्गेण बहिर्निर्गच्छन्तो व्याप्नुवन्त्यश्वमेधयाजिनः। तत्र यावती यावत्परिमाणा क्षुरस्य धारा अग्रम्, यावद्वा सौक्ष्म्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रम्, तावांस्तावत्परिमाणः, अन्तरेण मध्ये अण्डकपालयोः, आकाशश्छिद्रम्, तेनाकाशेनेत्येतत्।

तान् पारिक्षितानश्वमेधयाजिनः प्राप्तानिन्द्रः परमेश्वरः—योऽश्वमेधेऽग्निश्चितः, सुपर्णः—यद्विषयं दर्शनमुक्तम्—'तस्य प्राची दिक्शिरः' इत्यादिना, सुपर्णः पक्षी भूत्वा पक्षपुच्छात्मकः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्—मूर्तत्वान्नास्त्यात्मनो गतिस्तत्रेति; तान् पारिक्षितान् वायुरात्मनि धित्वा स्थापयित्वा स्वात्मभूतान् कृत्वा तत्र तस्मिन्नगमयत्; क? यत्र पूर्वेऽतिक्रान्ताः पारिक्षिता अश्वमेधयाजिनोऽभव-

समुद्र घेरे हुए है, जिसे पौराणिक 'घनोद' कहते हैं।

अब अण्डकपालोंके छिद्रका परिमाण बतलाया जाता है, जिस छिद्ररूप मार्गसे बाहर जानेवाले अश्वमेधयाजी व्याप्त होते हैं। जितनी अर्थात् जितने परिमाणवाली छुरेकी धार होती है, यानी जितना छुरेका अग्रभाग होता है, अथवा जितनी सूक्ष्मतासे युक्त मक्खीका पंख होता है, उतने परिमाणवाला अण्डकपालोंके मध्यमें आकाश-छिद्र होता है। उस आकाशसे [वे जाते हैं]—ऐसा इसका तात्पर्य है।

उन प्राप्त हुए पारिक्षितों—अश्वमेधयाजियोंको इन्द्र—परमेश्वरने—जो अश्वमेधयागमें चयन किया हुआ अग्नि ही है, सुपर्ण होकर जिसके विषयमें कि 'उसका प्राची दिशा शिर है' इत्यादि मन्त्रसे दृष्टि करना बताया गया है, सुपर्ण—पक्षी होकर अर्थात् पंख और पूँछवाला पक्षी होकर वायुको दे दिया, क्योंकि मूर्त होनेके कारण उसे वहाँ अपनी गति दिखायी नहीं देती; उन पारिक्षितोंको वायुने अपनेमें स्थापित कर—उन्हें अपने स्वरूपभूत कर वहाँ पहुँचा दिया। कहाँ ?—जहाँ पूर्ववर्ती अर्थात् अतीत पारिक्षित—अश्वमेधयाजी रहे। इस

न्निति। एवमिव वै—एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव प्रशशंस पारिक्षितानां गतिम्।

प्रकार उस गन्धर्वने पारिक्षितोंकी गतिरूप वायुकी ही प्रशंसा की थी।

समाप्ता आख्यायिका। आख्यायिकानिर्वृत्तं त्वर्थमाख्यायिकातोऽपसृत्य स्वेन श्रुतिरूपेणैव आचष्टेऽस्मभ्यम्; यस्माद्वायुः स्थावरजङ्गमानां भूतानामन्तरात्मा, बहिश्च स एव, तस्मादध्यात्माधिभूताधिदैवभावेन विविधा या अष्टिर्व्याप्तिः स वायुरेव—तथा समष्टिः केवलेन सूत्रात्मना वायुरेव। एवं वायुमात्मानं समष्टिव्यष्टिरूपात्मकत्वेनोपगच्छति यः—एवं वेद।

आख्यायिका तो समाप्त हुई। आख्यायिकासे सिद्ध होनेवाला जो अर्थ है, उसे आख्यायिकासे निकालकर अपने श्रुतिरूपसे ही बतलाते हैं; क्योंकि वायु ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंका अन्तरात्मा है और वही बाहर भी है, अतः अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभावसे जो भी विविध प्रकारकी अष्टि (व्यष्टि) यानी व्याप्ति है, वह वायु ही है तथा केवल सूत्ररूपसे वायु ही समष्टि है। इस प्रकार जो ऐसा जानता है, वह समष्टि-व्यष्टिभावसे अपने स्वरूपभूत वायुको ही प्राप्त होता है।

तस्य किं फलमित्याह—अप पुनर्मृत्युं जयति, सकृन्मृत्वा पुनर्न म्रियते। तत आत्मनः प्रश्ननिर्णयाद् भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

उसे क्या फल मिलता है सो बतलाते हैं—वह अपमृत्यु—पुनर्मृत्युको जीत लेता है अर्थात् एक बार मरकर फिर नहीं मरता। तब अपने प्रश्नका निर्णय हो जानेसे लाह्यका पुत्र भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये तृतीयं भुज्युब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-उषस्त-संवाद

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ। पुण्यपापप्रयुक्तैर्ग्रहातिग्रहैर्गृहीतः पुनः पुनर्ग्रहातिग्रहांस्त्यजन् उपाददत् संसरतीत्युक्तम्। पुण्यस्य च पर उत्कर्षो व्याख्यातो व्याकृतविषयः समष्टिव्यष्टिरूपो द्वैतैकत्वात्मप्राप्तिः।

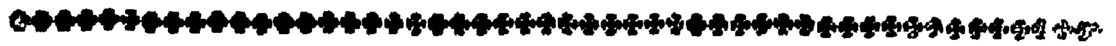
य स्तु ग्रहातिग्रहैर्ग्रस्तः संसरति, सोऽस्ति वा नास्ति? अस्तित्वे च किंलक्षणः? —इत्यात्मन एव विवेकाधिगमायोपस्तप्रश्न आरभ्यते। तस्य च निरुपाधिस्वरूपस्य क्रियाकारकविनिर्मुक्तस्वभावस्य अधिगमाद् यथोक्ताद् बन्धनाद् विमुच्यते सप्रयोजकात्; आख्यायिकासम्बन्धस्तु प्रसिद्धः।

'अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ' पहले यह कहा जा चुका है कि पुण्य-पापप्रयुक्त ग्रहातिग्रहोंसे गृहीत हुआ पुरुष पुनः-पुनः ग्रहातिग्रहोंको त्यागता और ग्रहण करता हुआ संसारको प्राप्त होता है। तथा पुण्यके परम उत्कर्षकी भी व्याख्या कर दी गयी, जो व्याकृतविषयक समष्टि-व्यष्टिरूप द्वैत और एकत्वभावको प्राप्त होना है।

[अब प्रश्न होता है कि] जो ग्रह और अतिग्रहोंसे ग्रस्त होकर संसारको प्राप्त होता है, वह है या नहीं और यदि है तो किन लक्षणोंवाला है? इस प्रकार आत्माका ही विवेक करनेके लिये उषस्तका प्रश्न आरम्भ किया जाता है। उस निरुपाधिस्वरूप क्रियाकारकविनिर्मुक्तस्वभाव आत्माका साक्षात्कार होनेपर ही पुरुष प्रयोजकसहित उपर्युक्त बन्धनसे मुक्त होता है। आख्यायिकाका सम्बन्ध तो प्रसिद्ध ही है।

सर्वान्तर आत्माका निरूपण

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे



व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

फिर उस याज्ञवल्क्यसे चाक्रायण उषस्तने पूछा। वह बोला, 'हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' [याज्ञवल्क्य—] 'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' [उषस्त] 'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो अपानसे अपानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है' ॥ १ ॥

अथ हैनं प्रकृतं याज्ञवल्क्यम्, उषस्तो नामतः; चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः, पप्रच्छ। यद् ब्रह्म साक्षाद् अव्यवहितं केनचिद् द्रष्टुरपरोक्षाद् अगौणम् न श्रोत्रब्रह्मादिवत्, किं तत्? य आत्मा आत्मशब्देन प्रत्यगात्मोच्यते, तत्र आत्मशब्दस्य प्रसिद्धत्वात्,

फिर इस प्रकृत याज्ञवल्क्यसे जो नामसे उषस्त था उस चाक्रायण—चक्रके पुत्रने पूछा,-'जो ब्रह्म साक्षात् किसी भिन्न वस्तुसे व्यवधानको न प्राप्त हुआ और द्रष्टासे अपरोक्ष—अगौण है, ('श्रोत्रं ब्रह्म मनो ब्रह्म' इत्यादि वाक्यमें कहे हुए) श्रोत्र-ब्रह्मादिके समान नहीं है, वह क्या है ? जो आत्मा है—यहाँ 'आत्मा' शब्दसे प्रत्यगात्मा कहा गया है, क्योंकि इसी अर्थमें 'आत्मा' शब्द

सर्वस्याभ्यन्तरः सर्वान्तरः, यद्यः-शब्दाभ्यां प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मेति-तमात्मानम्, मे मह्यम्, व्याचक्ष्वेति, विस्पष्टं शृङ्गे गृहीत्वा यथा गां दर्शयति, तथा आचक्ष्व, सोऽयमित्येवं कथयस्वेत्यर्थः ।

एवमुक्तः प्रत्याह याज्ञवल्क्यः-एष ते तवात्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरः; सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणम्; यत् साक्षाद् अव्यवहितम् अपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तमम् आत्मा सर्वस्य सर्वस्याभ्यन्तरः, एतैर्गुणैः समस्तैर्युक्त एषः, कोऽसौ? तवात्मा; योऽयं कार्यकरणसङ्घातस्तव, स येनात्मना आत्मवान् स एष तव आत्मा—तव कार्यकरणसङ्घातस्येत्यर्थः ।

तत्र पिण्डः, तस्याभ्यन्तरे लिङ्गात्मा करणसङ्घातः, तृतीयो यश्च सन्दिह्यमानः—तेषु कतमो

प्रसिद्ध है—तथा जो सर्वान्तर—सबके अभ्यन्तर है—श्रुतिमें 'यत्' और 'यः' इन पदोंसे यह प्रदर्शित किया जाता है कि यह प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्म है—उस आत्माका मेरे प्रति व्याख्यान करो—जिस प्रकार सींगोंको पकड़कर गौ दिखलाते हैं, उसी प्रकार स्पष्ट बतलाओ अर्थात् वह यह है—इस प्रकार उसका वर्णन करो।

इस प्रकार कहे जानेपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, 'तेरा यह आत्मा सर्वान्तर—सबका अन्तर्वर्ती है। 'सर्वान्तर' शब्दका ग्रहण समस्त विशेषणोंके उपलक्षणके लिये है। जो साक्षात्—अव्यवहित और अपरोक्ष—अगौण ब्रह्म—बृहत्तम आत्मा सबके अभ्यन्तर है, यह इन समस्त गुणोंसे युक्त है; वह कौन है?—तेरा आत्मा है; यह जो तेरा कार्य-करण (देह-इन्द्रिय) संघात है, वह जिस आत्माके द्वारा आत्मवान् है, वही यह तेरा आत्मा है; तेरा अर्थात् कार्य-करणसंघातका।

अब, भुज्युके यह कहनेपर कि पहला तो पिण्ड है, उसके भीतर इन्द्रियसंघातरूप लिङ्गदेह है और तीसरा वह है, जिसके विषयमें सन्देह

ममात्मा सर्वान्तरस्त्वया विवक्षित इत्युक्त इतर आह-यः प्राणेन मुखनासिकासञ्चारिणा प्राणिति प्राणचेष्टां करोति, येन प्राणः प्रणीयत इत्यर्थः -स ते तव कार्यकरणसङ्घातस्य आत्मा विज्ञानमयः; समानमन्यत्; योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीतीति-छान्दसं दैर्घ्यम्।

सर्वाः कार्यकरणसङ्घातगताः प्राणनादिचेष्टा दारुयन्त्रस्येव येन क्रियन्ते-न हि चेतनावदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादिचेष्टा विद्यन्ते; तस्माद् विज्ञानमयेनाधिष्ठितं विलक्षणेन दारुयन्त्रवत् प्राणनादिचेष्टां प्रतिपद्यते—

है—इनमें तुम किसे मेरा सर्वान्तर आत्मा बतलाना चाहते हो ? ऐसा प्रश्न करनेपर इतर (याज्ञवल्क्य) ने कहा—'जो मुख और नासिकाद्वारा संचार करनेवाले प्राणसे प्राणचेष्टा करता है, तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा प्राण प्रणीत (चेष्टायुक्त होता है, वह विज्ञानमय कार्यकरणसंघातरूप तेरा आत्मा है। शेष वाक्यका अर्थ इसीके समान है। योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीति' इस वाक्यके 'अपानीति, व्यानीति' इन पदोंमें 'नी' ऐसा जो दीर्घप्रयोग है, वह छान्दस है।

[तात्पर्य यह है कि] काष्ठयन्त्रके समान देहेन्द्रियसंघातमें होनेवाली प्राणनादि समस्त चेष्टाएँ जिसके द्वारा की जाती हैं [वही तेरा सर्वान्तर आत्मा है]। जैसे किसी चेतन अधिष्ठाताकी प्रेरणाके बिना लकड़ीका यन्त्र हिल नहीं सकता, उसी प्रकार इस स्थूल शरीरकी प्राणनादि चेष्टाएँ भी चेतन आत्माके बिना नहीं हो सकतीं। अतः यह अपनेसे भिन्न विज्ञानमय आत्मासे अधिष्ठित होकर काष्ठके यन्त्रके समान प्राणनादि चेष्टा करता है; इसलिये

इत्यस्मात्सोऽस्ति कार्यकरणसङ्घात-विलक्षणः, यश्चेष्टयति ॥ १ ॥	जो इससे चेष्टा करता है, वह कार्यकरणसंघातसे विलक्षण [तेरा सर्वान्तर आत्मा] है ॥ १ ॥

आत्माकी अनिर्वचनीयता

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥ २ ॥

उस चाक्रायण उषस्तने कहा, 'जिस प्रकार कोई [चलना और दौड़ना दिखाकर] कहे कि यह (चलनेवाला) बैल है, यह (दौड़नेवाला) घोड़ा है, उसी प्रकार तुम्हारा यह कथन है; अतः जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसे तुम स्पष्टतया बतलाओ ।' [याज्ञवल्क्य—] 'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।' [उषस्त] 'हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकते, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकते, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकते, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकते । तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है ।' इसके पश्चात् चाक्रायण उषस्त चुप हो गया ॥ २ ॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणः— यथा कश्चिदन्यथा प्रतिज्ञाय पूर्वम्, पुनर्विप्रतिपन्नो ब्रूयादन्यथा—	उस चाक्रायण उषस्तने कहा, 'जिस प्रकार पहले कोई अन्य प्रकारसे प्रतिज्ञा कर फिर विपरीत भाषण करे, अर्थात् पहले ऐसी

असौ गौरसावश्वो यश्चलति धावतीति वा, पूर्वं प्रत्यक्षं दर्शयामीति प्रतिज्ञाय, पश्चाच्चलनादिलिङ्गैर्व्यपदिशति, एवमेवैतद् ब्रह्म प्राणनादिलिङ्गैर्व्यपदिष्टं भवति त्वया, किं बहुना। त्यक्त्वा गोतृष्णानिमित्तं व्याजम्, यदेव साक्षादपरोक्षाद्‌ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्वेति।

इतर आह—यथा मया प्रथमं प्रतिज्ञातस्तवात्मा—एवंलक्षण इति—तां प्रतिज्ञामनुवर्त एव; तत्तथैव, यथोक्तं मया। यत् पुनरुक्तं तमात्मानं घटादिवद् विषयीकुर्विति, तद् अशक्यत्वान्न क्रियते। कस्मात् पुनस्तदशक्यम्? इत्याह—वस्तुस्वाभाव्यात्; किं पुनस्तद् वस्तुस्वाभाव्यम् दृष्ट्यादिद्रष्टृत्वम्; दृष्टेर्द्रष्टा ह्यात्मा। दृष्टिरिति द्विविधा

प्रतिज्ञा करके कि तुम्हें प्रत्यक्ष [गौ और अश्व] दिखलाऊँगा फिर चलन आदि लिङ्गसे कहे कि जो चलती है, वह गौ है और जो दौड़ता है, वह घोड़ा है; इसी प्रकार इस ब्रह्मका तुम प्राणनादि लिङ्गोंद्वारा व्यपदेश कर रहे हो; अतः तुम गौओंकी तृष्णाके कारण ब्रह्मवेत्ता होनेका बहाना छोड़कर जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, उसका मेरे प्रति स्पष्ट उल्लेख करो।

इतर (याज्ञवल्क्य) ने कहा—'मैंने जैसी पहले प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारा आत्मा ऐसे लक्षणोंवाला है, उस प्रतिज्ञाका मैं अनुवर्तन कर ही रहा हूँ, मैंने जैसा कहा है, वह वैसा ही है और तुमने जो कहा कि उस आत्माको घटादिके समान हमारा विषय कर दो, सो वैसा सम्भव न होनेके कारण नहीं किया जाता। वह असम्भव क्यों है? सो बतलाते हैं—वस्तुका ऐसा ही स्वभाव होनेके कारण; वह वस्तुका स्वभाव क्या है? दृष्टि आदिका द्रष्टा होना आत्माका स्वभाव है; आत्मा दृष्टिका द्रष्टा है। दृष्टि—यह दो प्रकारकी होती है—

भवति—लौकिकी पारमार्थिकी चेति; तत्र लौकिकी चक्षुःसंयुक्ता अन्तःकरणावृत्तिः, सा क्रियत इति जायते विनश्यति च; या त्वात्मनो दृष्टिः—अग्न्युष्ण-प्रकाशादिवत्, सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च। सा क्रियमाणयोपाधिभूतया संसृष्टे वेति, व्यपदिश्यते—द्रष्टेति, भेदवच्च—द्रष्टा दृष्टिरिति च;

लौकिकी और पारमार्थिकी; उनमें चक्षुसे संयुक्त जो अन्तःकरणकी वृत्ति है वह लौकिकी दृष्टि है; वह की जाती है, इसलिये उत्पन्न होती है और नष्ट भी होती है; किंतु जो अग्निके उष्णत्व और प्रकाशादिके समान आत्माकी दृष्टि है, वह द्रष्टाका स्वरूप होनेके कारण न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वह क्रियमाण उपाधिभूता दृष्टिसे संसर्गयुक्त-सी है, इसलिये आत्मा 'द्रष्टा' कहा जाता है। तथा द्रष्टा, दृष्टि ऐसा भेदवत् व्यवहार होता है।

यासौ लौकिकी दृष्टिश्चक्षुर्द्वारा रूपोपरक्ता जायमानैव नित्यया आत्मदृष्ट्या संसृष्टेव, तत्प्रतिच्छाया—तया व्याप्तैव जायते तथा विनश्यति च; तेनोपचर्यते द्रष्टा सदा पश्यन्नपि—पश्यति न पश्यति चेति; न तु पुनर्द्रष्टुर्दृष्टेः कदाचिदप्यन्यथात्वम्; तथा च वक्ष्यति षष्ठे "ध्यायतीव लेलायतीव"

और यह जो लौकिकी दृष्टि है वह मानो चक्षुद्वारा रूपसे संश्लिष्ट-सी ही उत्पन्न होनेवाली है; वह नित्य आत्मदृष्टिसे संसृष्ट-सी, उसकी प्रतिच्छाया और उससे व्याप्त ही उत्पन्न होती और विनाशको प्राप्त होती है। उसीके कारण, सर्वदा देखनेवाला होनेपर भी द्रष्टाके विषयमें 'वह देखता है, नहीं देखता है' ऐसा उपचार किया जाता है; किंतु द्रष्टाकी दृष्टिमें कभी अन्यथात्व नहीं होता; ऐसा छठे (उपनिषद्के चौथे) अध्यायमें कहेंगे भी—"मानो ध्यान करता हुआ, मानो चेष्टा करता

(४।३।७) 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (४।३।२३) इति च।

हुआ" तथा 'द्रष्टाकी दृष्टिका विपरिलोप नहीं होता" इत्यादि।

तमिममर्थमाह—लौकिक्या दृष्टेः कर्मभूतायाः, द्रष्टारं स्वकीयया नित्यया दृष्ट्या व्याप्तारम्, न पश्येः; यासौ लौकिकी दृष्टिः कर्मभूता, सा रूपोपरक्ता रूपाभिव्यञ्जिका नात्मानं स्वात्मनो व्याप्तारं प्रत्यञ्चं व्याप्नोति; तस्मात्तं प्रत्यगात्मानं दृष्टेर्द्रष्टारं न पश्येः। तथा श्रुतेः श्रोतारं न शृणुयाः, तथा मतेर्मनोवृत्तेः केवलाया व्याप्तारं न मन्वीथाः। तथा विज्ञातेः केवलाया बुद्धिवृत्तेर्व्याप्तारं न विजानीयाः। एष वस्तुनः स्वभावः; अतो नैव दर्शयितुं शक्यते गवादिवत्।

उसी बातको याज्ञवल्क्य इस प्रकार कहता है—जो अपनी कर्मभूता लौकिकी दृष्टिका द्रष्टा और उसे अपनी नित्यदृष्टिसे व्याप्त करनेवाला है, उसे तुम नहीं देख सकते। यह जो उसकी कर्मभूता लौकिकी दृष्टि है, वह रूपसे उपरक्त होकर रूपकी अभिव्यञ्जिका है, वह अपनेको व्याप्त करनेवाले प्रत्यगात्माको व्याप्त नहीं कर सकती; अतः उस दृष्टिके द्रष्टा प्रत्यगात्माको नहीं देख सकते। इसी प्रकार उस श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकते तथा मति—केवल मनोवृत्तिके व्याप्त करनेवालेका मनन नहीं कर सकते। एवं विज्ञाति—केवल बुद्धिवृत्तिके व्याप्त करनेवालेको नहीं जान सकते। यह [उस] वस्तुका स्वभाव है, इसलिये उसे गौ आदिके समान दिखाया नहीं जा सकता।

'न दृष्टेर्द्रष्टारम्' इत्यक्षराण्यन्यथा व्याचक्षते केचित्—न दृष्टेर्द्रष्टारं दृष्टेः कर्तारं दृष्टिभेदमकृत्वा दृष्टिमात्रस्य कर्तारम्, न पश्येरिति;

कोई-कोई [भर्तृप्रपञ्चादि] 'न दृष्टेर्द्रष्टारम्' इत्यादि श्रुतिके अक्षरोंकी दूसरी तरह व्याख्या करते हैं। दृष्टिके द्रष्टा अर्थात् दृष्टिके कर्ताको नहीं देख सकते यानी दृष्टिभेद बिना किये तुम केवल दृष्टिमात्रके कर्ताको नहीं देख सकते; यहाँ

दृष्टेरिति कर्मणि षष्ठी, सा दृष्टिः क्रियमाणा घटवत् कर्म भवति, द्रष्टारमिति तृजन्तेन द्रष्टुर्दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे, तेनासौ दृष्टेर्द्रष्टा दृष्टेः कर्तेति व्याख्यातॄणामभिप्रायः।

तत्र दृष्टेरिति षष्ठ्यन्तेन दृष्टिग्रहणं निरर्थकमिति दोषं न पश्यन्ति; पश्यतां वा पुनरुक्तम् असारः प्रमादपाठ इति वा न आदरः, कथं पुनराधिक्यम्? तृजन्तेनैव दृष्टिकर्तृत्वस्य सिद्धत्वाद् दृष्टेरिति निरर्थकम्, तदा 'द्रष्टारं न पश्येः' इत्येतावदेव वक्तव्यम्; यस्माद्धातोः परस्तृच् श्रूयते, तद्धात्वर्थकर्तरि हि तृच् स्मर्यते;'गन्तारं भेत्तारं वा नयति'

'दृष्टेः' इस पदमें कर्ममें षष्ठी है, वह दृष्टि क्रियमाण होनेसे घटके समान कर्म है और 'द्रष्टारम्' इस तृजन्त-पदसे द्रष्टाका दृष्टिकर्तृत्व बतलाया गया है; अतः उन व्याख्याताओंका अभिप्राय यह है कि यह दृष्टिका द्रष्टा—दृष्टिका कर्ता है।

ऐसी व्याख्या करनेमें वे यह दोष नहीं देखते कि 'दृष्टेः' इस षष्ठ्यन्तरूपसे 'दृष्टि' पदका ग्रहण निरर्थक हो जाता है। अथवा यदि देखते होंगे तो 'यह पुनरुक्त है, असार है, प्रमादपाठ है' ऐसा समझकर उसपर ध्यान नहीं देते। यह अधिक पाठ किस प्रकार है? दृष्टिकर्तृत्वरूप अर्थ तो ['द्रष्टारम्' इस] तृजन्त पदसे ही सिद्ध हो जाता है[1] इसलिये 'दृष्टेः' यह पद निरर्थक ही है; उस स्थितिमें तो 'द्रष्टारं न पश्येः' केवल इतना ही कहना चाहिये था; क्योंकि जिस धातुसे परे 'तृच्' प्रत्यय सुना जाता है, वहाँ वह 'तृच्' उस धात्वर्थके कर्ता-अर्थमें ही होती है; जैसे गन्ता (गमन करनेवाले) को अथवा भेत्ता (भेदन करनेवाले) को ले जाता

१. क्योंकि 'ण्वुल्तृचौ कर्तरि' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार 'तृच्' प्रत्यय कर्ता-अर्थमें ही होता है।

इत्येतावानेव हि शब्दः प्रयुज्यते; न तु 'गतेर्गन्तारं भिदेर्भेत्तारम्' इति असत्यर्थविशेषे प्रयोक्तव्यः; न च अर्थवादत्वेन हातव्यं सत्यां गतौ; न च प्रमादपाठः, सर्वेषामविगानात्; तस्माद् व्याख्यातॄणामेव बुद्धिदौर्बल्यम् नाध्येतृप्रमादः ।

है—केवल इतना ही शब्द प्रयुक्त होता है, यदि कोई अन्य विशेष अभिप्राय न हो तो 'गतिके गन्ताको' या 'भेदनके भेत्ताको' ऐसा प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। जब कि इस अधिक पदप्रयोगकी दूसरी गति है तो इसे अर्थवाद कहकर छोड़ देना भी उचित नहीं है, और न यह प्रमादपाठ ही है, क्योंकि सभी शाखाओंका इसमें मतभेद नहीं है। अतः यहाँ उन व्याख्याताओंकी ही बुद्धिकी दुर्बलता है, अध्ययनकर्ताओंका प्रमाद नहीं है।

यथा त्वस्माभिर्व्याख्यातम्—लौकिकदृष्टेर्विविच्य नित्यदृष्टिविशिष्ट आत्मा प्रदर्शयितव्यः—तथा कर्तृकर्मविशेषणत्वेन दृष्टिशब्दस्य द्विः प्रयोग उपपद्यते, आत्मस्वरूपनिर्धारणाय; "न हि द्रष्टुर्दृष्टेः" (४ । ३ । २३) इति च प्रदेशान्तरवाक्येनैव एकवाक्यतोपपन्ना भवति; तथा च "चक्षूंषि पश्यति" (के० उ० १ । ६) "श्रोत्रमिदं श्रुतम्" (के० उ० १ । ७) इति श्रुत्यन्तरेण एकवाक्यतोपपन्ना। न्यायाच्च—एव-

किंतु जिस प्रकार हमने व्याख्या की है कि 'आत्माको लौकिकी दृष्टिसे अलग करके नित्यदृष्टिविशिष्ट दिखाना है' उस प्रकार आत्माके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये कर्म और कर्ताके विशेषणरूपसे 'दृष्टि' शब्दका दो बार प्रयोग होना बन सकता है तथा "न[1] हि द्रष्टुर्दृष्टेः" इस प्रदेशान्तरके वाक्यसे भी इसकी एकवाक्यता हो जाती है एवं "चक्षूंषि[2] पश्यति" "श्रोत्र[3]मिदं श्रुतम्" इत्यादि अन्य श्रुतियोंसे भी एकवाक्यता हो जाती है। तथा युक्तिसे भी यही

१. द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता। २. जिसके द्वारा चक्षु इन्द्रिय देखता है। ३. जिसके द्वारा यह श्रोत्रेन्द्रिय सुन सकता है।

मेव ह्यात्मनो नित्यत्वमुपपद्यते विक्रियाभावे; विक्रियावच्च नित्यमिति च विप्रतिषिद्धम्। "ध्यायतीव लेलायतीव" (४।३।७) "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (४।३।२३) "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" (४।४।२३) इति च श्रुत्यक्षराण्यन्यथा न गच्छन्ति।

उचित जान पड़ता है; क्योंकि विकारका अभाव होनेके कारण इसी प्रकार आत्माका नित्यत्व सम्भव हो सकता है। [किंतु यदि आत्माको दृष्टिकर्ता माना जायगा तो वह विकारी होगा] और जो विकारी है, वह नित्य हो—ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है। इसके सिवा "ध्यायतीव लेलायतीव" "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" "एष[1] नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" इत्यादि श्रुतियोंके अक्षरोंकी भी अन्य किसी प्रकार गति नहीं है।

ननु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञातेत्येवमादीन्यप्यक्षराण्यात्मनोऽविक्रियत्वे न गच्छन्तीति, न; यथाप्राप्तलौकिकवाक्यानुवादित्वात्तेषाम्। न आत्मतत्त्वनिर्धारणार्थानि तानि, 'न दृष्टेर्द्रष्टारम्' इत्येवमादीनामन्यार्थासम्भवाद् यथोक्तार्थपरत्वमवगम्यते। तस्मादनवबोधादेव हि विशेषणं परित्यक्तं दृष्टेरिति।

यदि कहो कि आत्माको विकारहीन माननेपर तो द्रष्टा, श्रोता मन्ता, विज्ञाता इत्यादि शब्दोंकी भी कोई सङ्गति नहीं लग सकती, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो यथाप्राप्त लौकिक वाक्योंका अनुवाद करनेवाले हैं। वे आत्मतत्त्वका निर्णय करनेके लिये नहीं हैं; "न दृष्टेर्द्रष्टारम्" इत्यादि श्रुतियोंका कोई अन्य अर्थ होना सम्भव न होनेके कारण उनका उपर्युक्त अर्थमें ही तात्पर्य समझा जाता है। अतः अन्य व्याख्याताओंने अज्ञानसे ही 'दृष्टेः' इस विशेषणका त्याग किया है।

१. यह ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) की नित्य महिमा है।

एष ते तवात्मा सर्वैरुक्तै-र्विशेषणैर्विशिष्टः, अत एतस्मा-दात्मनोऽन्यदार्तम् कार्यं वा शरी-रम्, करणात्मकं वा लिङ्गम्, एतदेवैकमनार्तमविनाशि कूट-स्थम्; ततो ह उपस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥ २ ॥

तुम्हारा यह आत्मा उपर्युक्त समस्त विशेषणोंसे विशिष्ट है; इस-लिये इस आत्मासे भिन्न और सब कार्यभूत शरीर अथवा करणात्मक लिङ्ग देह आर्त (नाशवान्) है, एक यही अनार्त-अविनाशी अर्थात् कूटस्थ है; तब चाक्रायण उषस्त चुप हो गया ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये चतुर्थमुपस्तब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-कहोल-संवाद

बन्धनं सप्रयोजकमुक्तम्, यश्च बद्धस्तस्याप्यस्तित्वमधिग-तम्, व्यतिरिक्तत्वं च । तस्ये-दानीं बन्धमोक्षसाधनं ससंन्यास-मात्मज्ञानं वक्तव्यमिति कहोल-प्रश्न आरभ्यते—

प्रयोजकोंके सहित बन्धनका वर्णन किया गया और जो बद्ध है उसका अस्तित्व तथा [देहेन्द्रिय-संघातसे] भिन्नत्व भी विदित हुआ। अब उसके बन्धनसे मुक्त होनेके साधनरूप संन्याससहित आत्मज्ञानका प्रतिपादन करना है, इसलिये कहोलका प्रश्न आरम्भ किया जाता है—

संन्याससहित आत्मज्ञानका निरूपण

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे

व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति । एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद् येन स्यात् तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

फिर इस याज्ञवल्क्यसे कौषीतकेय कहोलने पूछा; उसने 'हे याज्ञवल्क्य !' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' [यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा] 'यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है।' [कहोल-] 'याज्ञवल्क्य ! यह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य-] 'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है। उस इस आत्माको ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे अलग हटकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों ही [साध्य-साधनेच्छाएँ] एषणाएँ ही हैं। अतः ब्राह्मण पाण्डित्य (आत्मज्ञान) का पूर्णतया सम्पादन कर आत्मज्ञानरूप बलसे स्थित रहनेकी इच्छा करे। फिर बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया प्राप्त कर वह मुनि होता है। तथा अमौन और मौनका पूर्णतया सम्पादन करके ब्राह्मण (कृतकृत्य) होता है। वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है? जिस प्रकार भी हो, ऐसा ही ब्राह्मण होता है; इससे भिन्न और सब आर्त (नाशवान्) है।' तब कौषीतकेय कहोल चुप हो गया ॥ १ ॥

अथ हैनं कहोलो नामतः, कुषीतकस्यापत्यं कौषीतकेयः, पप्रच्छ; याज्ञवल्क्येति होवाचेति, पूर्ववत्—यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तं मे व्याचक्ष्वेति—यं विदित्वा बन्धनात् प्रमुच्यते। याज्ञवल्क्य आह—एष ते तवात्मा।

फिर इस याज्ञवल्क्यसे कहोल नामवाले कौषीतकेय—कुषीतकके पुत्रने पूछा 'हे याज्ञवल्क्य!' इस प्रकार पूर्ववत् सम्बोधनद्वारा अभिमुख करके उसने कहा, 'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो, जिसको जानकर पुरुष बन्धनसे मुक्त हो जाता है।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'यह तुम्हारा आत्मा है।'

उषस्तकहोलप्रश्नयोर्विवेचनम्

किम् उषस्तकहोलाभ्यामेक आत्मा पृष्टः, किं वा भिन्नावात्मानौ तुल्यलक्षणाविति। भिन्नाविति युक्तम्, प्रश्नयोरपुनरुक्तत्वोपपत्तेः। यदि ह्येक आत्मा उषस्तकहोलप्रश्नयोर्विवक्षितः, तत्रैकेनैव प्रश्नेनाधिगतत्वात्तद्विषयो द्वितीयः प्रश्नोऽनर्थकः स्यात्। न चार्थवादरूपत्वं वाक्यस्य; तस्माद् भिन्नावेतावात्मानौ क्षेत्रज्ञपरमात्माख्यौ इति केचिद् व्याचक्षते।

यहाँ प्रश्न होता है कि उषस्त और कहोलने एक ही आत्माके विषयमें पूछा है या समान लक्षणोंवाले भिन्न आत्माओंके विषयमें? [उत्तर—] विभिन्न आत्माओंके विषयमें मानना ही अच्छा है, क्योंकि प्रश्नोंमें पुनरुक्तिका दोष न आना ही उचित है। यदि उषस्त और कहोल दोनोंके प्रश्नोंसे एक ही आत्मा बतलाना अभीष्ट होता तो उसका ज्ञान तो एक ही प्रश्नसे हो जाता है, अतः उसके विषयमें दूसरा प्रश्न करना निरर्थक ही होगा; तथा इस वाक्यकी अर्थवादरूपता मानी नहीं जा सकती। अतः ये क्षेत्रज्ञ और परमात्मासंज्ञक भिन्न-भिन्न आत्मा ही हैं—इस प्रकार कोई-कोई विद्वान् व्याख्या करते हैं।

तन्न; 'ते' इति प्रतिज्ञानात्; 'एष त आत्मा' इति हि प्रतिवचने प्रतिज्ञातम्। न चैकस्य कार्यकरणसङ्घातस्य द्वावात्मानौ उपपद्येते; एको हि कार्यकरणसङ्घात एकेनात्मना आत्मवान्। न च उषस्तस्यान्यः कहोलस्यान्यो जातितो भिन्न आत्मा भवति, द्वयोः अगौणत्वात्मत्वसर्वान्तरत्वानुपपत्तेः। यद्येकमगौणं ब्रह्म द्वयोरितरेणावश्यं गौणेन भवितव्यम्, तथा आत्मत्वं सर्वान्तरत्वं च, विरुद्धत्वात् पदार्थानाम्। यद्येकं सर्वान्तरं ब्रह्म आत्मा मुख्यः, इतरेण असर्वान्तरेण अनात्मना अमुख्येनावश्यं भवितव्यम्, तस्मादेकस्यैव द्विः श्रवणं विशेषविवक्षया।

यत्तु पूर्वोक्तेन समानं द्वितीये प्रश्नान्तर उक्तम्, तावन्मात्रं पूर्व-

ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'तुम्हारा' ऐसी प्रतिज्ञा की गयी है, अर्थात् उत्तरमें ऐसी प्रतिज्ञा की गयी है कि 'यह तुम्हारा आत्मा है।' और एक ही देहेन्द्रियसंघातके दो आत्मा होने सम्भव नहीं हैं, क्योंकि एक देहेन्द्रियसंघात एक ही आत्मासे आत्मवान् होता है। उषस्तका आत्मा अन्य हो और कहोलका अन्य हो—ऐसा उनमें जातितः भेद नहीं हो सकता, क्योंकि दोका अगौणत्व (मुख्यत्व), आत्मत्व और सर्वान्तरत्व उपपन्न नहीं हो सकता। यदि दोमेंसे एक ब्रह्म मुख्य है तो दूसरेका गौण होना अवश्यम्भावी है; इसी प्रकार उनका आत्मत्व और सर्वान्तरत्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि उन पदार्थोंमें विरुद्धता है। [अभिप्राय यह है कि] यदि एक सर्वान्तर ब्रह्म आत्मा मुख्य होगा तो दूसरेको अवश्य असर्वान्तर अनात्मा और अमुख्य होना चाहिये; अतः एकहीका कुछ विशेष विवक्षासे दो बार श्रवण हुआ है।

और जो बात दूसरे प्रश्नान्तरमें पूर्व प्रश्नके ही समान कही गयी है, उतना पहले ही प्रश्नका अनुवाद है,

स्यैवानुवादः, तस्यैवानुक्तः कश्चिद् विशेषो वक्तव्य इति। कः पुनरसौ विशेषः? इत्युच्यते पूर्वस्मिन् प्रश्ने अस्ति व्यतिरिक्त आत्मा यस्यायं सप्रयोजको बन्ध उक्त इति। द्वितीये तु, तस्यैव आत्मनोऽशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं विशेष उच्यते। यद्विशेषपरिज्ञानात् संन्याससहितात् पूर्वोक्ताद् बन्धनाद् विमुच्यते। तस्मात् प्रश्नप्रतिवचनयोः 'एष त आत्मा' इत्येवमन्तयोस्तुल्यार्थतैव।

क्योंकि उसीकी कुछ विशेषता बतलानी है, जो अभी बतायी नहीं गयी है। वह विशेषता क्या है? सो बतलाया जाता है; पूर्व प्रश्नमें जिसका यह प्रयोजकोंसहित बन्ध बतलाया गया है, वह देहादिसे व्यतिरिक्त आत्मा है। दूसरे प्रश्नमें उसी आत्माका क्षुधादि संसारधर्मोंसे परे होना यह विशेषता बतलायी जाती है, जिस विशेषताका संन्यासपूर्वक ज्ञान होनेपर पुरुष पूर्वोक्त बन्धनसे मुक्त हो जाता है। अतः 'एष त आत्मा' इस वाक्यतक इन दोनों प्रश्न और उत्तरोंकी समानार्थता ही है।

ननु कथमेकस्यैवात्मन अशनायाद्यतीतत्वं तद्वत्त्वं चेति विरुद्धधर्मसमवायित्वमिति?

शङ्का-किंतु एक ही आत्माका क्षुधादिसे अतीत और उनसे युक्त होना—यह विरुद्धधर्मसमवायित्व किस प्रकार सम्भव है?

न, परिहृतत्वात्। नामरूपव्यवहारतदभाव- विकारकार्यकरणसमन्वयः लक्षणसङ्घातोपाधिभेदसम्पर्कजनितभ्रान्तिमात्रं हि संसारित्वम् इत्यसकृदवोचाम। विरुद्धश्रुतिव्याख्यानप्रसङ्गेन च,

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसका तो परिहार किया जा चुका है। उसका संसारित्व नाम-रूपात्मक विकाररूप जो देहेन्द्रियसंघात है, उस उपाधिभेदके सम्पर्कसे होनेवाली भ्रान्तिमात्र है—ऐसा हम अनेकों बार कह चुके हैं। तथा विरुद्धार्थवाची श्रुतियोंकी व्याख्याके प्रसङ्गमें भी यह बात कही जा

यथा रज्जुशुक्तिकागगनादयः सर्परजतमलिना भवन्ति पराध्यारोपितधर्मविशिष्टाः, स्वतः केवला एव रज्जुशुक्तिकागगनादयः, न चैवं विरुद्धधर्मसमवायित्वे पदार्थानां कश्चन विरोधः ।

चुकी है; जिस प्रकार कि रज्जु, शुक्ति और आकाश आदि दूसरोंके आरोपित किये धर्मोंसे युक्त होकर सर्प, रजत और मलिन प्रतीत होते हैं, किंतु वे स्वयं शुद्ध रज्जु, शुक्ति और आकाशादि ही हैं; इस प्रकार पदार्थोंके विरुद्ध धर्म-समवायी होनेमें कोई विरोध भी नहीं है ।

नामरूपोपाध्यस्तित्वे—"एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० उ० ४ । ४ । १९) इति श्रुतयो विरुध्येरन्निति चेत् ?

शङ्का-किंतु नाम-रूप उपाधिकी सत्ता स्वीकार करनेपर तो "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", "यहाँ नाना कुछ नहीं है" इन श्रुतियोंसे विरोध होगा—ऐसा कहें तो ?

न, सलिलफेनदृष्टान्तेन परिहृतत्वात्, मृदादिदृष्टान्तैश्च; यदा तु परमार्थदृष्ट्या परमात्मतत्त्वाच्छ्रुत्यनुसारिभिरन्यत्वेन निरूप्यमाणे नामरूपे मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः सलिलफेनघटादिविकारवदेव, तदा तदपेक्ष्य "एकमेवाद्वितीयम्" "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादिपरमार्थदर्शनगोचरत्वं प्रतिपद्यते । यदा तु स्वाभा-

समाधान—नहीं, इस शङ्काका तो जल और फेनके दृष्टान्तसे तथा मृत्तिकादिके दृष्टान्तसे परिहार किया जा चुका है, जिस समय श्रुतिका अनुसरण करनेवाले पुरुषोंद्वारा अन्यरूपसे निरूपण किये जानेवाले नाम और रूप परमार्थदृष्टिसे मृत्तिकादिके विकार तथा जल-फेन और घटादिके विकारके समान ही परमात्मतत्त्वसे वस्तुतः कोई भिन्न पदार्थ नहीं रहते, तब उसकी दृष्टिकी अपेक्षासे ही "एक ही अद्वितीय है" "यहाँ नाना कुछ नहीं है" इस परमार्थदृष्टिका बोध होता है । किंतु जिस समय

विद्ययाविषया ब्रह्मस्वरूपं रज्जुशुक्तिकागगनस्वरूपवदेव स्वेन रूपेण वर्तमानं केनचिदस्पृष्टस्वभावमपि सत्—नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिभ्यो विवेकेन नावधार्यते, नामरूपोपाधिदृष्टिरेव च भवति स्वाभाविकी, तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः ।

रज्जु, शुक्ति और आकाशके स्वरूपके समान किसीसे भी अछूते स्वभाववाला होकर अपने निजरूपसे विद्यमान रहते हुए भी ब्रह्मके स्वरूपका स्वाभाविकी अविद्याके कारण नामरूपजनित देहेन्द्रियरूप उपाधिसे अलग करके निश्चय नहीं किया जाता और स्वाभाविकी नाम-रूप उपाधिकी ही दृष्टि रहती है, उस समय यह ब्रह्मसे भिन्न वस्तुकी सत्तासे सम्बन्ध रखनेवाला सारा व्यवहार रहता है ।

अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारः, येषां ब्रह्मतत्त्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते, येषां च नास्ति; परमार्थवादिभिस्तु श्रुत्यनुसारेण निरूप्यमाणे वस्तुनि—किं तत्त्वतोऽस्ति वस्तु किं वा नास्तीति, ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं सर्वसंव्यवहारशून्यमिति निर्धार्यते, तेन न कश्चिद् विरोधः ।

तथा यह भेदकृत मिथ्या व्यवहार तो, जिनकी दृष्टिमें ब्रह्मतत्त्वसे भिन्न वस्तु है और जिनकी दृष्टिमें नहीं है, उन दोनोंको ही रहता है; किंतु जो परमार्थवादी हैं वे, कौन-सी वस्तु तत्त्वतः है और कौन-सी नहीं है—इस प्रकार श्रुतिके अनुसार वस्तुका निरूपण किये जानेपर, यही निश्चय करते हैं कि सम्पूर्ण व्यवहारसे रहित एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है; इसलिये उनका व्यवहार रहनेमें भी कोई विरोध नहीं है ।

न हि परमार्थावधारणनिष्ठायां वस्त्वन्तरास्तित्वं प्रतिपद्यामहे—"एकमेवाद्वितीयम्" "अनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २।५।१९)

हम परमार्थनिश्चयकी निष्ठामें किसी अन्य वस्तुकी सत्ता स्वीकार नहीं करते, जैसा कि "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है" "वह अन्तरबाह्यशून्य है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध

इति श्रुतेः । न च नामरूपव्यवहारकाले त्वविवेकिनां क्रियाकारकफलादिसंव्यवहारो नास्तीति प्रतिषिध्यते । तस्माज्ज्ञानाज्ञाने अपेक्ष्य सर्वः संव्यवहारः शास्त्रीयो लौकिकश्च, अतो न काचन विरोधशङ्का । सर्ववादिनामप्यपरिहार्यः परमार्थसंव्यवहारकृतो व्यवहारः ।

तत्र परमार्थात्मस्वरूपमपेक्ष्य प्रश्नः पुनः—कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तर इति ।

परमार्थात्मस्वरूपनिरूपणम्

प्रत्याहेतरः—योऽशनायापिपासे, अशितुमिच्छाशनाया, पातुमिच्छा पिपासा; ते अशनायापिपासे योऽत्येतीति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः, अविवेकिभिस्तलमलवदिव गगनं गम्यमानमेव तलमले अत्येति परमार्थतः, ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात् । तथा

होता है और नाम-रूप व्यवहारकालमें अविवेकियोंकी दृष्टिमें भी क्रिया, कारक और फलादिका सम्यक् व्यवहार नहीं होता—ऐसा प्रतिषेध भी नहीं किया जाता । अतः शास्त्रीय और लौकिक सारा ही व्यवहार ज्ञान और अज्ञानकी अपेक्षासे है; इसलिये इसमें विरोधकी कोई शङ्का नहीं हो सकती । परमार्थ और संव्यवहारकृत व्यवहार तो सभी वादियोंके लिये अपरिहार्य है ।

अब, पारमार्थिक आत्मस्वरूपकी अपेक्षासे ही पुनः प्रश्न किया जाता है, 'हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर आत्मा कौन-सा है ?'

इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'जो अशनाया-पिपासा—अशनकी इच्छा अशनाया है और पीनेकी इच्छा पिपासा—उन अशनाया और पिपासाको जो अतिक्रमण किये हुए है—इस प्रकार इसका आगेसे सम्बन्ध है; अविवेकी पुरुष आकाशको तलमलादियुक्त मानते हैं, तो भी वस्तुतः वह उनसे अछूने स्वभाववाला होनेके कारण तलमलको अतिक्रमण किये हुए है । इसी प्रकार

मूढैः अशनायापिपासादिमद् ब्रह्म गम्यमानमपि क्षुधितोऽहं पिपासितोऽहमिति, ते अत्येत्येव परमार्थतः। ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात्; "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (क० उ० २। २। ११) इति श्रुतेः—अविद्वल्लोकाध्यारोपितदुःखेनेत्यर्थः। प्राणैकधर्मत्वात् समासकरणमशनायापिपासयोः।

यद्यपि मूढ़लोग 'मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ' ऐसा मानकर ब्रह्मको भूख-प्याससे युक्त समझते हैं तो भी उनसे असंसृष्ट स्वभाववाला होनेके कारण वह परमार्थतः उनका अतिक्रमण ही किये हुए हैं; इस विषयमें "वह लोकदुःखसे लिप्त नहीं होता, उससे बाह्य है" ऐसी श्रुति भी है। तात्पर्य यह है कि वह अविद्वान् पुरुषोंद्वारा आरोपित दुःखसे लिप्त नहीं होता। एक प्राणके ही धर्म होनेके कारण 'अशनाया' और 'पिपासा' पदोंका समास किया गया है।

शोकं मोहम्—शोक इति कामः; इष्टं वस्तूद्दिश्य चिन्तयतो यदरमणम्, तत्तृष्णाभिभूतस्य कामबीजम्; तेन हि कामो दीप्यते; मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः, स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्; भिन्नकार्यत्वात्तयोः शोकमोहयोरसमासकरणम्। तौ

'शोकं मोहम्' इनमें शोक यह काम है; इष्ट वस्तुके लिये चिन्तन करनेवालेका जो अरमण (खेद) है, वह तृष्णाभिभूत पुरुषके कामका बीज होता है; क्योंकि उससे काम उत्तेजित होता है; मोह विपरीत प्रतीतिसे होनेवाला अविवेक यानी भ्रम है; यही समस्त अनर्थोंकी उत्पत्तिकी बीजभूता अविद्या है[1]; शोक और मोहके कार्य भिन्न हैं इसलिये इनका समास नहीं किया गया।

१. योगदर्शनमें अविद्याका लक्षण इस प्रकार किया है -'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मामें नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि होना अविद्या है—यही विपरीत प्रतीति है।

मनोऽधिकरणौ, तथा शरीराधिकरणौ जरां मृत्युं चात्येति; जरेति कार्यकरणसङ्घातविपरिणामो वलीपलितादिलिङ्गः; मृत्युरिति तद्विच्छेदो विपरिणामावसानः, तौ जरामृत्यू शरीराधिकरणावत्येति।

इन दोनोंका अधिकरण मन है, इनको तथा शरीर जिनका अधिकरण है, उन जरा और मृत्युको भी आत्मा अतिक्रमण किये हुए है। जरा—यह देहेन्द्रियसंघातका विपरिणाम है, झुर्रियाँ पड़ जाना, बाल पक जाना आदि इसके चिह्न हैं तथा मृत्यु शरीरका विच्छेद और विपरिणामका अन्त हो जाना है; उन शरीररूप अधिकरणवाले जरा-मृत्युका वह अतिक्रमण किये हुए है।

ये तेऽशनायादयः प्राणमनःशरीराधिकरणा प्राणिष्वनवरतं वर्तमाना अहोरात्रादिवत् समुद्रोर्मिवच्च प्राणिषु संसार इत्युच्यन्ते, योऽसौ दृष्टेर्द्रष्टेत्यादिलक्षणः साक्षादव्यवहितोऽपरोक्षादगौणः सर्वान्तर आत्मा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामशनायापिपासादिभिः संसारधर्मैः सदा न स्पृश्यते, आकाश इव घनादिमलैः।

ये जो प्राण, मन और शरीररूप अधिकरणवाले तथा प्राणियोंमें दिन-रात और समुद्रकी तरङ्गोंके समान निरन्तर रहनेवाले क्षुधादि धर्म हैं, वे ही प्राणियोंमें 'संसार' इस नामसे कहे जाते हैं; किंतु यह जो दृष्टिका द्रष्टा आदि लक्षणोंवाला, साक्षात्—अव्यवहित और अपरोक्ष—अगौण सर्वान्तर—ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतोंका आत्मा है, वह मेघादि मलोंसे आकाशके समान कभी संसारधर्मोंसे स्पर्श नहीं किया जाता।

विदुषो व्युत्थाननिरूपणम्

तमेतं वै आत्मानं स्वं तत्त्वं विदित्वा ज्ञात्वा अयमहमस्मि परं ब्रह्म सदा सर्वसंसारविनिर्मुक्तं नित्य-

उस इस आत्मा—स्वरूपको यह सर्वदा सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित नित्यतृप्त परब्रह्म मैं हूँ—ऐसा जानकर ब्राह्मणलोग—क्योंकि

वृत्तमिति, ब्राह्मणाः ब्राह्मणानाम् एवाधिकारो व्युत्थाने, अतो ब्राह्मणग्रहणम्, व्युत्थाय वैपरीत्येन उत्थानं कृत्वा, कुत इत्याह— पुत्रैषणायाः पुत्रार्थैषणा पुत्रैषणा— पुत्रेणेमं लोकं जयेयमिति लोकजयसाधनं पुत्रं प्रतीच्छा—एषणा दारसङ्ग्रहः। दारसङ्ग्रहमकृत्वेत्यर्थः—

व्युत्थान (संन्यास) में ब्राह्मणोंका ही अधिकार है, इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण' पद ग्रहण किया गया है—'व्युत्थाय' विपरीतभावसे उत्थान करके, कहाँसे उत्थान करके ? सो बताते हैं—पुत्रैषणासे, पुत्रके लिये जो एषणा (इच्छा) होती है, उसे पुत्रैषणा कहते हैं—मैं पुत्रके द्वारा यह लोक जीतूँगा, इसलिये लोकजयके साधन पुत्रके प्रति जो इच्छा होती है वही पुत्रैषणा है; यहाँ 'एषणा' से स्त्रीपरिग्रह लक्षित होता है। भाव यह कि स्त्रीसंग्रह न करके—

वित्तैषणायाश्च—कर्मसाधनस्य गवादेरुपादानम्—अनेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति, विद्यासंयुक्तेन वा देवलोकम्, केवलया वा हिरण्यगर्भविद्यया दैवेन वित्तेन देवलोकम्।

तथा वित्तैषणासे उत्थान करके, कर्मके साधनभूत गौ आदि मानुषवित्तको इस भावसे ग्रहण करना कि इसके द्वारा कर्म करके मैं पितृलोकपर विजय प्राप्त करूँगा अथवा विद्यासंयुक्त कर्मसे देवलोक या केवल हिरण्यगर्भविद्यारूप दैववित्तसे देवलोक प्राप्त करूँगा, [इसका नाम वित्तैषणा है]।

दैवाद् वित्ताद् व्युत्थानमेव नास्तीति केचित्, यस्मात्तद्बलेन हि किल व्युत्थानमिति, तदसत्, "एतावान्वै कामः" (बृ० उ० १।४।१७) इति

किन्हीं-किन्हींका मत है कि दैववित्तसे तो व्युत्थान होता ही नहीं, क्योंकि उसके बलसे ही तो व्युत्थान होता है; किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि "एतावान्वै कामः" इस

पठितत्वादेषणामध्ये दैवस्य वित्तस्य; हिरण्यगर्भादिदेवताविषयैव विद्या वित्तमित्युच्यते, देवलोकहेतुत्वात्, न हि निरुपाधिकप्रज्ञानघनविषया ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्तिहेतुः, "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "आत्मा ह्येषां स भवति" (१ । ४ । १०) इति श्रुतेः तद्बलेन हि व्युत्थानम्, "एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (३।५।१) इति विशेषवचनात् ।

श्रुतिद्वारा दैववित्तको एषणाके बीचमें ही पढ़ा गया है और हिरण्यगर्भादि देवताविषयिणी विद्या ही दैववित्त कही जाती है, क्योंकि वह देवलोकप्राप्तिकी हेतु है। निरुपाधिक प्रज्ञानघनविषयिणी ब्रह्म विद्या देवलोककी प्राप्तिकी हेतु नहीं है, जैसा कि "अतः वह सर्व हो गया" "वह इनका आत्मा ही हो जाता है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है। और व्युत्थान भी ब्रह्मविद्याके ही बलसे होता है, क्योंकि इस विषयमें "उस इस आत्माको जानकर" ऐसा विशेष वाक्य है।

तस्मात् त्रिभ्योऽप्येतेभ्योऽनात्मलोकप्राप्तिसाधनेभ्य एषणाविषयेभ्यो व्युत्थाय—एषणा कामः "एतावान् वै कामः" (१ । ४ । १७) इति श्रुतेः—एतस्मिंस्त्रिविधेऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः ।

अतः एषणाके विषयभूत इन तीनों ही अनात्मलोकप्राप्तिके साधनोंसे व्युत्थान करके—'निश्चय इतना ही काम है' इस श्रुतिके अनुसार एषणा कामका ही नाम है—तात्पर्य यह है कि अनात्मलोककी प्राप्तिके इस त्रिविध साधनमें तृष्णा न करके [भिक्षाचर्या करते हैं ।]

सर्वा हि साधनेच्छा फलेच्छैव, अतो व्याचष्टे श्रुतिः एकैव एषणेति, कथम्? या ह्येव पुत्रैषणा सा

एषणाद्वय- स्यैकत्वम्

साधनसम्बन्धिनी सारी इच्छा फलेच्छा ही है, इसलिये श्रुति ऐसी व्याख्या करती है कि एक ही एषणा है; किस प्रकार ?—जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है; क्योंकि

वित्तैषणा, दृष्टफलसाधनत्वतुल्यत्वात्, या वित्तैषणा सा लोकैषणा; फलार्थैव सा, सर्वः फलार्थप्रयुक्त एव हि सर्वं साधनमुपादत्ते; अत एकैव एषणा, या लोकैषणा सा साधनमन्तरेण सम्पादयितुं न शक्यत इति, साध्यसाधनभेदेन उभे हि यस्मादेते एषणे एव भवतः; तस्माद् ब्रह्मविदो नास्ति कर्म कर्मसाधनं वा।

उनका दृष्ट फलमें साधन होना समान है, और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है, क्योंकि वह फलके ही लिये है; सब लोग फलरूप प्रयोजनसे प्रेरित होकर ही सारे साधनोंको स्वीकार करते हैं, अतः एक ही एषणा है; जो लोकैषणा है, उसका साधनके बिना सम्पादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार साध्य-साधन-भेदसे ये दोनों एषणाएँ ही हैं; अतः ब्रह्मवेत्ताके लिये कर्म और कर्मका साधन दोनों ही नहीं हैं।

भिक्षाचर्यविधानम्

अतो येऽतिक्रान्ता ब्राह्मणाः सर्वं कर्म कर्मसाधनं च सर्वं देवपितृमानुषनिमित्तं यज्ञोपवीतादि; तेन हि दैवं पित्र्यं मानुषं च कर्म क्रियते, "निवीतं मनुष्याणाम्" इत्यादिश्रुतेः। तस्मात् पूर्वे ब्राह्मणा ब्रह्मविदो व्युत्थाय कर्मभ्यः कर्मसाधनेभ्यश्च यज्ञोपवीतादिभ्यः, परमहंसपारिव्राज्यं प्रतिपद्य, भिक्षाचर्यं चरन्ति

अतः जो पूर्ववर्ती ब्राह्मण थे, वे सम्पूर्ण कर्म और देव, पितृ एवं मनुष्यलोकसम्बन्धी यज्ञोपवीतादि सम्पूर्ण कर्मसाधनोंको [छोड़कर], क्योंकि उन्हींसे देव, पितृ और मनुष्यलोकसम्बन्धी कर्म किये जाते हैं, जैसा कि "मनुष्योंके लिये निवीत[1] [पितरोंके लिये प्राचीनावीत[2] और देवोंके लिये उपवीत[3] है]" इस श्रुतिसे ज्ञात होता है। अतः पूर्ववर्ती ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता-लोग कर्म और कर्मके साधन यज्ञोपवीतादिसे व्युत्थान कर, परमहंस परिव्राजकभावको प्राप्त होकर भिक्षाचर्या करते हैं।

१. जनेऊको मालाकी भाँति पहनना। २. जनेऊको अपसव्यभावसे अर्थात् दायें कन्धेपर पहनना। ३. जनेऊको सव्यभावसे यानी बायें कन्धेपर पहनना।

भिक्षार्थं चरणं भिक्षाचर्यम् चरन्ति त्यक्त्वा स्मार्तं लिङ्गं केवलम् आश्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यव्यञ्जकम्; विद्वाँल्लिङ्गवर्जितः—"तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः" इत्यादिस्मृतिभ्यः, "अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः" (जाबालोप० ५) इत्यादिश्रुतेः, "सशिखान् केशान्निकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतम्" (कठश्रुतिः १) इति च।

भिक्षाके लिये विचरना भिक्षाचर्या है, उसका चरण—आचरण करते हैं, जो केवल आश्रममात्रमें रहनेवालोंके जीवनका साधन और संन्यासका अभिव्यञ्जक है, उस [त्रिदण्डादि] स्मार्त चिह्नको त्याग कर भिक्षा करते हैं, बाह्य चिह्नोंसे रहित एवं विद्वान् होकर जैसा कि "इसलिये [यति] अलिङ्ग, धर्मज्ञ, अव्यक्तलिङ्ग और अव्यक्ताचार होता है" इत्यादि स्मृतियोंसे ज्ञात होता हैं तथा "परिव्राट् विवर्णवस्त्रयुक्त, मुण्डित और अपरिग्रह होता है" इत्यादि श्रुतिसे और "शिखाके सहित केशोंको काटकर यज्ञोपवीत को त्यागकर" इत्यादि वाक्यसे भी सिद्ध होता है।

व्युत्थानविधिराक्षिप्यते

ननु 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति वर्तमानापदेशादर्थवादोऽयम्; न विधायकः प्रत्ययः कश्चिच्छ्रूयते लिङ्लोट्तव्यानाम् अन्यतमोऽपि। तस्मादर्थवादमात्रेण श्रुतिस्मृतिविहितानां यज्ञोपवीतादीनां साधनानां न शक्यते परित्यागः कारयितुम्, "यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेद्यजेत वा"

पूर्व०—किंतु 'व्युत्थान करके भिक्षाचर्या करते हैं' ऐसा वर्तमानकालिक प्रयोग होनेके कारण यह अर्थवाद ही है। लिङ्, लोट्, तव्य—इन विधिसूचक प्रत्ययोंमेंसे तो यहाँ किसीका भी श्रवण नहीं है; अतः केवल अर्थवादके ही कारण श्रुतिस्मृतिविहित यज्ञोपवीतादि साधनोंमेंसे किसीका भी त्याग नहीं कराया जा सकता; "यज्ञोपवीतीको ही अध्ययन, याजन अथवा यजन

पारिव्राज्ये तावदध्ययनं विहितम्—"वेदसंन्यसनाच्छूद्रस्तस्माद् वेदं न संन्यसेत्" इति। "स्वाध्याय एवोत्सृज्यमानो वाचम्" इति च आपस्तम्बः। "ब्रह्मोज्झं वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः। गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥" इति वेदपरित्यागे दोषश्रवणात्। "उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात्" इति परिव्राजकधर्मेषु च गुरूपासनस्वाध्यायभोजनाचमनादीनां कर्मणां श्रुतिस्मृतिषु कर्तव्यतया चोदितत्वाद् गुर्वाद्युपासनाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात् तत्परित्यागो नैवावगन्तुं शक्यते। यद्यप्येषणाभ्यो व्युत्थानं विधीयत एव, तथापि पुत्राद्येषणाभ्यस्त्रिसृभ्य एव व्युत्थानं न तु सर्वस्मात् कर्मणः कर्मसाधनाच्च व्युत्थानम्

करना चाहिये।" पारिव्राज्यमें भी अध्ययन तो विहित है ही; "वेदका त्याग करनेसे शूद्र हो जाता है, इसलिये वेदका त्याग न करे।" आपस्तम्बने भी कहा है, "वाणीका त्याग करनेवालेको केवल स्वाध्याय ही करना चाहिये।" तथा "वेदका त्याग, वेदकी निन्दा, कूट-साक्ष्य, मित्रका वध तथा गर्हित अन्न और भक्ष्य भोजन करना—ये छः सुरापानके समान हैं" इस प्रकार वेदत्यागमें दोष सुना गया है। "गुरु, वृद्ध और अतिथियोंकी उपासनामें, होममें, जपकर्ममें, भोजनमें, आचमनमें और स्वाध्यायमें यज्ञोपवीती होना चाहिये।" इस प्रकार श्रुति और स्मृतियोंमें परिव्राजकोंके धर्मोंमें भी गुरुकी उपासना, भोजन और आचमन आदि कर्मोंका कर्तव्यरूपसे विधान किया गया है, इसलिये गुरु आदिकी उपासनाके अङ्गरूपसे यज्ञोपवीतका विधान होनेके कारण उसका परित्याग उचित नहीं माना जा सकता, यद्यपि एषणाओंसे व्युत्थान करनेका विधान है ही, तथापि पुत्रादि तीन ही एषणाओंसे व्युत्थान करना चाहिये, सारे ही कर्म और कर्मसाधनोंसे व्युत्थान करनेकी आवश्यकता नहीं

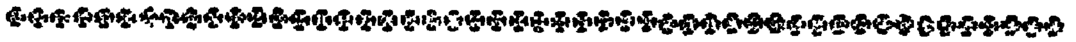
सर्वपरित्यागे चाश्रुतं कृतं स्यात् श्रुतं च यज्ञोपवीतादि हापितं स्यात्, तथा च महानपराधो विहिताकरणप्रतिषिद्धाचरणनिमित्तः कृतः स्यात्; तस्माद् यज्ञोपवीतादिलिङ्गपरित्यागोऽन्धपरम्परैव।

न, "यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद् वर्जयेद्यतिः" (कठश्रुतिः ४) इति श्रुतेः। अपि च आत्मज्ञानपरत्वात् सर्वस्या उपनिषदः—आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति हि प्रस्तुतम्; स चात्मैव साक्षादपरोक्षात् सर्वान्तरः अशनायादिसंसारधर्मवर्जित इत्येवं विज्ञेय इति तावत् प्रसिद्धम्। सर्वा हीयमुपनिषद् एवम्परेति विध्यन्तरशेषत्वं तावन्नास्ति, अतो नार्थवादः, आत्मज्ञानस्य कर्तव्यत्वात्; आत्मा च अशनायादिधर्मवान्न भवतीति साधनफलविलक्षणो ज्ञातव्यः, अतो-

उक्ताक्षेपनिरासः

है। सबका परित्याग करनेपर तो अविहितका अनुष्ठान और यज्ञोपवीतादि विहितका परित्याग हो जायगा। और इस प्रकार तो विहितका पालन न करने और निषिद्ध कर्मका आचरण करनेके कारण महान् अपराध हो जायगा। अतः यज्ञोपवीतादि लिङ्गोंका परित्याग अन्धपरम्परा ही है।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि "यति यज्ञोपवीत एवं वेद इन सभीका त्याग कर दे" ऐसी श्रुति है। इसके सिवा सारी उपनिषदें भी आत्मज्ञानपरक ही हैं—और 'आत्मा साक्षात् करनेयोग्य, श्रवण करने योग्य एवं मनन करने योग्य है' इस प्रकार आत्मज्ञानका उपक्रम किया गया है; तथा यह भी प्रसिद्ध ही है कि वह आत्मा ही साक्षात्, अपरोक्ष, सर्वान्तर और क्षुधादि संसारधर्मोंसे रहित है—इस प्रकार जानना चाहिये। इस सारी उपनिषद्का तात्पर्य इसीमें है, यह किसी दूसरी विधिका शेषभूत नहीं है, इसलिये अर्थवाद नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञान तो कर्तव्य है और आत्मा क्षुधादि धर्मोंवाला है नहीं, इसलिये उसे साधन और फलसे विलक्षण ही



ऽव्यतिरेकेणात्मनो ज्ञानमविद्या—"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (४ । ४ । १९) "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (४ । ४ । २०) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८—१६) इत्यादिश्रुतिभ्यः । क्रियाफलं साधनं च अशनायादिसंसारधर्मातीतादात्मनोऽन्यदविद्याविषयम्—"यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २ । ४ । १४) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (१।४।१०) "अथ येऽन्यथातो विदुः" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादिवाक्यशतेभ्यः ।

न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतः, विरोधात्—तमःप्रकाशाविव; तस्मादात्मविदोऽविद्याविषयोऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः, मृत्योः

समझना चाहिये। अतः आत्माको इनसे अविलक्षणरूपसे जानना ही अविद्या है; जैसा कि "यह ब्रह्म अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है वह नहीं जानता", "जो यहाँ नानावत् देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है", "निरन्तर एकरूपसे ही देखना चाहिये", "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", "वह तू है" इत्यादि श्रुतियोंसे विदित होता है। कर्मफल और उसके साधन तो क्षुधादि सांसारिक धर्मोंसे अतीत आत्मासे भिन्न अविद्याके अन्तर्गत हैं; जैसा कि "जहाँ द्वैत-सा होता है" "यह अन्य है, मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है, वह नहीं जानता", "और जो इससे अन्य प्रकारसे जानते हैं" इत्यादि सैकड़ों श्रौत वाक्योंसे सिद्ध होता है।

इसके सिवा एक ही पुरुषमें विद्या और अविद्या साथ-साथ रह नहीं सकतीं, क्योंकि उनमें अन्धकार और प्रकाशके समान परस्पर विरोध है; इसलिये आत्मवेत्ताका क्रिया, कारक और फलका भेदरूप अविद्याविषयक अधिकार नहीं देखना

स मृत्युमाप्नोति' इत्यादिनिन्दितत्वात्; सर्वक्रियासाधनफलानां च अविद्याविषयाणां तद्विपरीतात्मविद्यया हातव्यत्वेनेष्टत्वात्, यज्ञोपवीतादिसाधनानां च तद्विषयत्वात्।

चाहिये, क्योंकि 'वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है' इत्यादि रूपसे उसकी निन्दा की गयी है; तथा अविद्याके विषयभूत सम्पूर्ण क्रिया, साधन और फल उससे विपरीत आत्मविद्याद्वारा हेयरूपसे इष्ट हैं, एवं यज्ञोपवीतादि साधन भी उस (अविद्या) के विषय हैं।

तस्मादसाधनफलस्वभावादात्मनोऽन्यविषया विलक्षणैषणा। उभे ह्येते साधनफले एषणे एव भवतः, यज्ञोपवीतादेस्तत्साध्यकर्मणां च साधनत्वात्, 'उभे ह्येते एषणे एव' इति हेतुवचनेनावधारणात्। यज्ञोपवीतादिसाधनात् तत्साध्येभ्यश्च कर्मभ्योऽविद्याविषयत्वादेषणारूपत्वाच्च जिहासितव्यरूपत्वाच्च व्युत्थानं विधित्सितमेव।

अतः जो साधन और फलसे भिन्न स्वभाववाला है, उस आत्मासे एषणा भिन्नविषयिणी एवं विलक्षण है। ये साधन और फल दोनों एषणाएँ ही हैं, यज्ञोपवीतादि और उनसे साध्य कर्म भी साधन ही हैं; (अतः वे भी एषणाएँ हैं) क्योंकि 'ये (साध्य और साधन) दोनों एषणाएँ ही हैं'—इस हेतुसूचक वाक्यसे यही निश्चय किया गया है। अतः यज्ञोपवीतादि साधनसे और उससे साध्य कर्मोंसे व्युत्थानका विधान करना अभीष्ट ही है, क्योंकि वे अविद्याके विषय एवं एषणारूप हैं और इनका त्याग ही अभीष्ट है।

व्युत्थानश्रुतेः विद्यास्तुत्यर्थत्वमाशङ्क्यते

ननु उपनिषद आत्मज्ञानपरत्वाद् व्युत्थानश्रुतिः तत्स्तुत्यर्था, न विधिः।

पूर्व०—किंतु उपनिषदें तो आत्मज्ञानपरक हैं, इसलिये व्युत्थानश्रुति उसकी स्तुतिके लिये है, वह विधि नहीं है।

न; विधित्सितविज्ञानेन समानकर्तृकत्वश्रवणात् ।

तन्निरसनम्

न हि अकर्तव्येन कर्तव्यस्य समानकर्तृकत्वेन वेदे कदाचिदपि श्रवणं सम्भवति; कर्तव्यानामेव हि अभिषवहोमभक्षाणां यथा श्रवणम्, अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति, तद्वदात्मज्ञानैषणाव्युत्थानभिक्षाचर्याणां कर्तव्यानामेव समानकर्तृकत्वश्रवणं भवेत् ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जिसकी विधि करनी अभीष्ट है, उस विज्ञानका और इसका श्रुतिने एक ही कर्ता बतलाया है। वेदमें अकर्तव्यके साथ कर्तव्यका समानकर्तृकरूपसे (अर्थात् वे दोनों एक ही कर्ताद्वारा कर्तव्य हैं—इस प्रकारसे) श्रवण होना कभी सम्भव नहीं है। जिस प्रकार सोम निकालना, हवन करना और भक्षण करना—इन कर्तव्यकर्मोंका ही 'सोम निकालकर हवन करके भक्षण करते हैं' इस प्रकार एककर्तृकरूपसे विधान किया गया है, उसी प्रकार आत्मज्ञान, एषणाव्युत्थान और भिक्षाचर्या—इन कर्तव्योंका ही समानकर्तृकत्व श्रवण होना सम्भव हो सकता है।

अविद्याविषयत्वादेषणात्वाच्च अर्थप्राप्त आत्मज्ञानविधेरेव यज्ञोपवीतादिपरित्यागः, न तु विधातव्य इति चेत् ।

न, सुतरामात्मज्ञानविधिनैव विहितस्य समानकर्तृकत्वश्रवणेन

यदि कहो कि अविद्याका विषय और एषणारूप होनेके कारण यज्ञोपवीतादिका परित्याग तो आत्मज्ञानकी विधिसे ही स्वतः प्राप्त हो जाता है, उसके लिये विधि करनेकी आवश्यकता नहीं है—तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार आत्मज्ञानकी विधिसे ही विहित व्युत्थानका उसी कर्ताके द्वारा कर्तव्यत्व श्रवण होनेसे और भी पुष्टि हो जाती है, उसी प्रकार ऐसी विधि

दार्ढ्योपपत्तिः, तथा भिक्षाचर्यस्य च ।

यत् पुनरुक्तं वर्तमानापदेशादर्थवादमात्रमिति—न, औदुम्बरयूपादिविधिसमानत्वाददोषः ।

'व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्यनेन पारिव्राज्यं विधीयते, पारिव्राज्याश्रमे च यज्ञोपवीतादिसाधनानि विहितानि, लिङ्गं च श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च । अतस्तद् वर्जयित्वा अन्यस्माद् व्युत्थानम् एषणात्वेऽपीति चेत् ?

विद्वदविद्वत्संन्यास-विवेचनम्

न, विज्ञानसमानकर्तृकात् पारिव्राज्यादेषणाव्युत्थानलक्षणात् पारिव्राज्यान्तरोपपत्तेः; यद्धि तदेषणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यं तदात्मज्ञानाङ्गम्, आत्मज्ञान-

करनेसे भिक्षाचर्याकी भी दृढ़ता होती है;

और ऐसा जो कहा कि वर्तमानकालिक प्रयोग होनेसे यह केवल अर्थवादमात्र है, सो यह ठीक नहीं, क्योंकि (औदुम्बरो[1] यूपो भवति—ऐसी) औदुम्बरयूपादि-सम्बन्धी विधिके समान होनेके कारण यह भी निर्दोष है ।

पूर्व०—'व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस वाक्यसे संन्यासका विधान किया जाता है और संन्यासाश्रममें श्रुति-स्मृतियोंद्वारा यज्ञोपवीतादि साधन एवं (त्रिदण्डादि) लिङ्गका विधान किया गया है । अत: एषणा होनेपर भी इन्हें छोड़कर अन्य एषणाओंसे ही व्युत्थान करना चाहिये ऐसा कहें तो ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है क्योंकि विज्ञानका जो कर्ता है, उसीके द्वारा किये जानेवाले एषणाव्युत्थानरूप संन्याससे भिन्न प्रकारका भी संन्यास होना सम्भव है । यह जो एषणाओंसे ऊपर उठनारूप संन्यास है; वह आत्मज्ञानका अङ्ग है, क्योंकि यह

१. इस वाक्यमें 'भवति' क्रिया वर्तमानकालिक होनेपर भी इसका 'गूलरका यूप होना चाहिये' ऐसा विधिपरक अर्थ किया जाता है ।

विरोध्येषणापरित्यागरूपत्वात्, अविद्याविषयत्वाच्चैषणायाः, तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफलप्राप्तिसाधनम्, यद्विषयं यज्ञोपवीतादिसाधनविधानं लिङ्गविधानं च।

आत्मज्ञानकी विरोधिनी एषणाओंका परित्यागरूप है; कारण, एषणाएँ तो अविद्याका विषय हैं; उक्त संन्याससे भिन्न आश्रमरूप संन्यास ब्रह्मलोकादि फलकी प्राप्तिका साधन-भूत है, जिसके विषयमें कि यज्ञोपवीतादि साधन और लिङ्गोंका विधान किया गया है।

न च एषणारूपसाधनोपादानस्य आश्रमधर्ममात्रेण पारिव्राज्यान्तरे विषये सम्भवति सति, सर्वोपनिषद्विहितस्य आत्मज्ञानस्य बाधनं युक्तम्, यज्ञोपवीताद्यविद्याविषयैषणारूपसाधनोपादित्सायां चावश्यम् अशाधनफलरूपस्य अशनायादिसंसारधर्मवर्जितस्य अहं ब्रह्मास्मि, इति विज्ञानं बाध्यते, न च तद्बाधनं युक्तम्, सर्वोपनिषदां तदर्थपरत्वात्।

तथा अन्य प्रकारके संन्यासमें आश्रमधर्ममात्रसे एषणारूप साधनोंका ग्रहण सम्भव है—इतनेहीसे सम्पूर्ण उपनिषदोंद्वारा प्रतिपाद्य आत्मज्ञानका बाध होना उचित नहीं है, यज्ञोपवीतादि अविद्याविषयक एषणारूप साधनोंको ग्रहण करनेकी इच्छा रहनेपर तो इस असाधन-फलरूप एवं क्षुधादि सांसारिक धर्मोंसे रहित आत्माके 'मैं ब्रह्म हूँ' विज्ञानका अवश्य बाध हो जायगा, और उसका बाध होना उचित नहीं है; क्योंकि समस्त उपनिषदोंका तात्पर्य उसीमें है।

'भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्येषणां ग्राहयन्ती श्रुतिः स्वयमेव बाधत इति चेत्? अथापि स्यादेषणाभ्यो व्युत्थानं विधाय पुनरेषण-

पूर्व०-किंतु 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' यह एषणाको ग्रहण करानेवाली श्रुति तो स्वयं ही उसका बाध कर रही है। तात्पर्य यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय तो भी एषणाओंसे व्युत्थानका विधान करके श्रुति एषणाके ही एक देश

कदेशं भिक्षाचर्यं ग्राहयन्ती तत्स-म्बद्धमन्यदपि ग्राहयतीति चेत्? न, भिक्षाचर्यस्याप्रयोजकत्वाद् हुत्वोत्तरकालभक्षणवत्। शेषप्रतिपत्तिकर्मत्वादप्रयोजकं हि तत्, असंस्कारकत्वाच्च—भक्षणं पुरुषसंस्कारकमपि स्यात्, न तु भिक्षाचर्यम्; नियमादृष्टस्यापि ब्रह्मविदोऽनिष्टत्वात्।

नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे किं भिक्षाचर्येणेति चेत्?

न, अन्यसाधनाद् व्युत्थानस्य विहितत्वात्। तथापि किं तेनेति चेत्? यदि स्यात्, बाढमभ्यु-

भिक्षाचर्याका ग्रहण करानेके कारण उससे सम्बद्ध अन्य एषणाओंका भी ग्रहण कराती ही है—यदि ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि हवनके पश्चात् भोजन करनेके समान भिक्षाचर्या किसी फलकी प्रयोजिका नहीं हैं, हवनके पश्चात् भोजन कराना भी शेषप्रतिपत्ति कर्म होनेके कारण किसी फलका प्रयोजक नहीं है, इसके सिवा संस्कार न करनेवाली होनेसे भी भिक्षाचर्या प्रयोजिका नहीं है, हुतशेषका भक्षण तो पुरुषके संस्कारका हेतु भी होता है, किंतु भिक्षाचर्या वैसी भी नहीं है, क्योंकि नियमविधिजनित अदृष्ट भी ब्रह्मवेत्ताको अनिष्ट ही है।

पूर्व०—यदि उसे नियमविधिजनित अदृष्ट इष्ट नहीं है तो भिक्षाचर्याका क्या प्रयोजन है?—ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं, क्योंकि अन्य साधनोंसे तो व्युत्थान करनेका विधान किया गया है। इसपर भी यदि तुम कहो कि निष्क्रिय आत्मज्ञानसे सर्वनिवृत्ति तो हो ही जायगी फिर भिक्षाचर्यासे क्या प्रयोजन है? तो ठीक है, यदि ऐसा हो जाय तो हम भी

पगम्यते हि तत्। यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि "यज्ञोपवीत्येवाधीयीत" इत्यादीनि, तान्यविद्वत्पारिव्राज्यमात्रविषयाणीति परिहृतानि; इतरथा आत्मज्ञानबाधः स्यादिति ह्युक्तम्, "निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्। अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः" इति सर्वकर्माभावं दर्शयति स्मृतिर्विदुषः, "विद्वाँल्लिङ्गविवर्जितः" "तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञः" इति च। तस्मात् परमहंसपारिव्राज्यमेव व्युत्थानलक्षणं प्रतिपद्येतात्मवित् सर्वकर्मसाधनपरित्यागरूपमिति। यस्मात् पूर्वे ब्राह्मणा एतमात्मानम् असाधनफलस्वभावं विदित्वा

उसे स्वीकार करते हैं।[1] संन्यासाश्रममें जो "यज्ञोपवीती होकर ही अध्ययन करे" इत्यादि वचन कहे गये हैं, वे केवल अविद्वत्संन्यासमात्रसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं—ऐसा कहकर उनका परित्याग किया जा चुका है; और यह भी कहा गया है कि यदि ऐसा न मानेंगे [उन्हें विद्वत्संन्याससम्बन्धी समझेंगे] तो आत्मज्ञानका बाध हो जायगा। "जिसे किसी प्रकारकी कामना नहीं है, जो सब प्रकारके आरम्भसे शून्य तथा नमस्कार और स्तुतिसे रहित है, जो स्वयं अक्षीण है, किंतु जिसके कर्मोंका क्षय हो चुका है, उसे देवगण ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) मानते हैं" यह स्मृति विद्वान्‌के समस्त कर्मोंका अभाव दिखाती है। तथा "विद्वान् लिङ्गरहित होता है" "अतः वह लिङ्गरहित और धर्मज्ञ होता है" इत्यादि वचन भी यही दिखलाते हैं। अतः आत्मवेत्ताको समस्त कर्म साधनोंके परित्यागरूप व्युत्थानलक्षण परमहंस पारिव्राज्यका ही आश्रय लेना चाहिये।

क्योंकि पूर्ववर्ती ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञ) लोग इस असाधनफलस्वभाव आत्माको

1. तथापि क्षुधादिकी निवृत्तिके लिये भिक्षाटनादिकी कर्तव्यता प्राप्त होनेके कारण उसकी विधि सार्थक ही है।

सर्वस्मात् साधनफलस्वरूपादेषणालक्षणाद् व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति स्म, दृष्टादृष्टार्थं कर्म तत्साधनं च हित्वा, तस्माद् अद्यत्वेऽपि ब्राह्मणो ब्रह्मवित् पाण्डित्यं पण्डितभावम्, एतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यम्, निर्विद्य निःशेषं विदित्वा आत्मविज्ञानं निरवशेषं कृत्वेत्यर्थः—आचार्यत आगमतश्च, एषणाभ्यो व्युत्थाय—एषणाव्युत्थानावसानमेव हि तत् पाण्डित्यम् एषणातिरस्कारोद्भवत्वादेषणाविरुद्धत्वात्; एषणामतिरस्कृत्य न ह्यात्मविषयस्य पाण्डित्यस्योद्भव इत्यात्मज्ञानेनैव विहितमेषणाव्युत्थानम् आत्मज्ञानसमानकर्तृकक्त्वाप्रत्ययोपादानलिङ्गश्रुत्या दृढीकृतम्। तस्मादेषणाभ्यो व्युत्थाय ज्ञानबलभावेन बाल्येन तिष्ठासेत् स्थातुमिच्छेत्।

जानकर एषणालक्षण साधन और फलस्वरूप समस्त विषयोंसे ऊपर उठकर अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट फलवाले सम्पूर्ण कर्म और उसके साधनको छोड़कर भिक्षाचर्या करते थे, इसलिये इस समय भी ब्राह्मण यानी ब्रह्मवेत्ता पाण्डित्य—पण्डितभावको—यह आत्मज्ञान ही पाण्डित्य है, इसे निर्विद्य—निःशेषतया जानकर अर्थात् आचार्य और शास्त्रसे पूर्णतया आत्मज्ञान सम्पादन करके एषणाओंसे व्युत्थान कर, क्योंकि उस पाण्डित्यका पर्यवसान एषणाओंसे व्युत्थान करनेमें ही है, कारण, वह एषणाओंके तिरस्कारसे ही उत्पन्न होता है और एषणाओंसे विरुद्ध भी है, एषणाओंका तिरस्कार किये बिना तो आत्मविषयक पाण्डित्यका उदय ही नहीं हो सकता, अतः आत्मज्ञानद्वारा ही एषणाओंसे व्युत्थान सम्पादित होता है; आत्मज्ञान और व्युत्थानका एक ही कर्ता है—यह सूचित करनेके लिये 'व्युत्थाय' इस पदमें 'क्त्वा' प्रत्ययका प्रयोग किया गया है, इसलिये इस लिङ्गभूता श्रुतिने उक्त अभिप्रायको और भी पुष्ट कर दिया है। अतः एषणाओंसे उत्थान कर बाल्यसे—ज्ञानबलभावसे 'तिष्ठासेत्'—स्थित रहनेकी इच्छा करे।

साधनफलाश्रयणं हि बलमितरेषामनात्मविदाम्, तद् बलं हित्वा विद्वान् असाधनफलस्वरूपात्मविज्ञानमेव बलं तद्भावमेव केवलमाश्रयेत्, तदाश्रयणे हि करणान्येषणाविषये एनं हृत्वा स्थापयितुं नोत्सहन्ते; ज्ञानबलहीनं हि मूढं दृष्टादृष्टविषयायाम् एषणायामेवैनं करणानि नियोजयन्ति; बलं नाम आत्मविद्ययाशेषविषयदृष्टितिरस्करणम्; अतस्तद्भावेन बाल्येन तिष्ठासेत्; तथा "आत्मना विन्दते वीर्यम्" (केन० २ ४) इति श्रुत्यन्तरात्। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मु० उ० ३ । २ । ४) इति च।

अन्य जो अनात्मज्ञ हैं, उनका बल तो साधन और फलोंका आश्रय लेना ही है; उस बलको त्यागकर विद्वान्‌को जो असाधन-फलस्वरूप आत्मविज्ञान ही बल है, केवल उस बलभावका ही आश्रय लेना चाहिये। उसका आश्रय लेनेसे (विषयलोलुप) इन्द्रियाँ इसे आकृष्ट करके एषणाओंके विषयमें स्थापित करनेका साहस नही कर सकतीं। जो ज्ञानबलसे रहित है, उस मूढ़को ही इन्द्रियाँ दृष्ट और अदृष्ट विषयोंकी एषणामें नियुक्त कर देती हैं; आत्मज्ञानके द्वारा समस्त विषयदृष्टिका तिरस्कार कर देना ही बल है; अतः उस बलभावसे—बाल्यसे स्थित रहनेकी इच्छा करे; ऐसा ही "आत्मज्ञानके द्वारा वीर्य (विषयदृष्टिके तिरस्कार-का सामर्थ्य) प्राप्त होता है" इस अन्य श्रुतिसे विदित होता है, तथा "यह आत्मा बलहीनको नहीं मिल सकता" यह श्रुति भी यही कहती है।

बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य निःशेषं कृत्वाथ मननान्मुनिर्योगी भवति; एतावद्धि ब्राह्मणेन कर्तव्यम्, यदुत सर्वानात्मप्रत्यय-

इस प्रकार बाल्य और पाण्डित्यको निर्विद्य, निःशेष जान करके फिर मुनि—मनन करनेके कारण मुनि—योगी होता है। समस्त अनात्मप्रत्ययोंका तिरस्कार करना—यही ब्राह्मण

तिरस्करणम्; एतत् कृत्वा कृतकृत्यो योगी भवति ।

अमौनं च आत्मज्ञानानात्मप्रत्ययतिरस्कारौ पाण्डित्यबाल्यसंज्ञकौ निःशेषं कृत्वा, मौनं नाम अनात्मप्रत्ययतिरस्करणस्य पर्यवसानं फलम्, तच्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः कृतकृत्यो भवति—ब्रह्मैव सर्वमिति प्रत्यय उपजायते । स ब्राह्मणः कृतकृत्यः, अतो ब्राह्मणः, निरुपचरितं हि तदा तस्य ब्राह्मण्यं प्राप्तम्; अत आह—स ब्राह्मणः केन स्यात् केन चरणेन भवेत् ? येन स्याद् येन चरणेन भवेत्, तेनेदृश एवायम्—येन केनचिच्चरणेन स्यात् तेनेदृश एव उक्तलक्षण एव ब्राह्मणो भवति; येन केनचिच्चरणेनेति स्तुत्यर्थम्—येयं ब्राह्मण्यावस्था सेयं स्तूयते, न तु चरणेऽनादरः ।

(ब्रह्मवेत्ता) का कर्तव्य है; ऐसा करके वह कृतकृत्य योगी हो जाता है ।

आत्मज्ञान और अनात्मप्रत्यय-का तिरस्कार जिनकी पाण्डित्य और बाल्यसंज्ञा है—ये अमौन हैं, इन्हें निःशेष करके तथा अनात्मप्रत्यय तिरस्कारका पर्यवसान—फल मौन है, उसे भी निःशेष जान करके ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है। उसे 'सब ब्रह्म ही है' ऐसा प्रत्यय उत्पन्न हो जाता है। वह ब्राह्मण कृतकृत्य है, इसलिये ब्राह्मण है; उस समय उसे उपचारशून्य ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है; इसीसे श्रुति कहती है—वह किससे अर्थात् किसी आचरणसे ब्राह्मण हो सकता है? [उत्तर—] जिससे अर्थात् जिस आचरणसे भी हो वह ऐसा ही होगा—तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी आचरणसे हो उससे ऐसा यानी ऐसे लक्षणोंवाला ही ब्राह्मण होता है; 'जिस किसी भी आचरण-से' यह कथन स्तुतिके लिये है; अर्थात् ऐसा कहकर यह जो ब्राह्मण्यावस्था है, उसकी स्तुति की जाती है, इससे आचरणमें अनादर प्रदर्शित नहीं होता ।

अत एतस्माद् ब्राह्मण्यावस्थानाद् अशनायाद्यतीतात्मस्वरूपाद् नित्यतृप्ताद् अन्यद् अविद्याविषयम् एषणालक्षणं वस्त्वन्तरम्, आर्तं विनाशि आर्तिपरिगृहीतम्, स्वप्नमायामरीच्युदकसमम् असारम्, आत्मैवैकः केवलो नित्यमुक्त इति। ततो ह कहोलः कौषीतकेयः उपरराम ॥ १ ॥

अतः इस क्षुधादिरहित आत्मस्वरूप नित्यतृप्त ब्राह्मण्यपदमें स्थिति होनेसे भिन्न जो अविद्याकी विषयभूत एषणारूप अन्य वस्तुएँ हैं, वे आर्त-विनाशी आर्तिसे व्याप्त अर्थात् स्वप्न, माया और मरु-मरीचिकाके जलके समान असार हैं; केवल एक आत्मा ही नित्यमुक्त है। तब कौषीतकेय कहोल उपरत हो गया ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये
पञ्चमं कहोलब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवाद

यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म सर्वान्तर आत्मेत्युक्तम्, तस्य सर्वान्तरस्य स्वरूपाधिगमाय आ शाकल्यब्राह्मणाद् ग्रन्थ आरभ्यते। पृथिव्यादीनि ह्याकाशान्तानि भूतानि अन्तर्बहिर्भावेन व्यवस्थितानि; तेषां यद् बाह्यं बाह्यम् अधिगम्याधिगम्य निराकुर्वन् द्रष्टुः साक्षात् सर्वान्तरोऽगौण आत्मा

जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर आत्मा है—ऐसा कहा गया है, उस सर्वान्तरके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये शाकल्य-ब्राह्मणपर्यन्त आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। पृथ्वीसे लेकर आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण भूत अन्त-र्बहिर्भावसे स्थित हैं। उनमेंसे जो बाह्य-बाह्य भूत है, उसे जान-जानकर निराकरण करते हुए, जो सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे रहित साक्षात् सर्वान्तर मुख्य आत्मा है,

सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तो दर्शयितव्य इत्यारम्भः— | उसका दर्शन द्रष्टा (मुमुक्षु) को कराता है; इसलिये यह आरम्भ किया जाता है—

जलसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्तरोत्तर अधिष्ठानतत्त्वोंका निरूपण

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद ँ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥

फिर इस याज्ञवल्क्यसे वाचक्नुकी पुत्री गार्गीने पूछा; वह बोली, 'हे याज्ञवल्क्य ! यह जो कुछ है, सब जलमें ओतप्रोत है, किंतु वह जल

किसमें ओतप्रोत है ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! वायुमें ।' [गार्गी–] 'वायु किसमें ओतप्रोत है ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोकोंमें ।' [गार्गी–] 'अन्तरिक्षलोक किसमे ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! गन्धर्वलोकमें ।' [गार्गी–] 'गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! आदित्यलोकोंमें ।' [गार्गी–] आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! चन्द्रलोकोंमें ।' [गार्गी–] 'चन्द्रलाक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! नक्षत्रलोकोंमें ।' [गार्गी–] 'नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! देवलोकोंमें ।' [गार्गी–] 'देवलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! इन्द्रलोकोंमें ।' [गार्गी–] 'इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! प्रजापतिलोकोंमें ।' [गार्गी–] 'प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'हे गार्गि ! ब्रह्मलोकोंमें ।' [गार्गी–] 'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत कर। तेरा मस्तक न गिर जाय ! तू, जिसके विषयमें अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देवताके विषयमें अतिप्रश्न कर रही है। हे गार्गि ! तू अतिप्रश्न न कर।' तब वचक्नुकी पुत्री गार्गी उपरत हो गयी ॥ १ ॥

अथ हैनं गार्गी नामतः, वाचक्नवी वचक्नोर्दुहिता, पप्रच्छ; याज्ञवल्क्येति होवाच; यदिदं सर्वं पार्थिवं धातुजातम् अप्सूदके ओतं च प्रोतं च, ओतं दीर्घपटतन्तुवत् प्रोतं तिर्यक्तन्तुवद् विप-

फिर उस याज्ञवल्क्यसे वाचक्नवी वचक्नुकी पुत्रीने, जो नामसे गार्गी थी, पूछा। उसने 'हे याज्ञवल्क्य !' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा—यह जो कुछ पार्थिव धातुसमुदाय है वह अप्—जलोंमें ओतप्रोत है, ओत—वस्त्रकी लंबाईके तन्तुके समान और प्रोत—वस्त्रकी चौड़ाईके तन्तुके समान अथवा इससे उलटा समझो। तात्पर्य यह है कि यह अपने

रीतं वा—अद्भिः सर्वतोऽन्तर्बहिर्भूताभिर्व्याप्तमित्यर्थः, अन्यथा सक्तुमुष्टिवद् विशीर्येत ।

इदं तावदनुमानमुपन्यस्तम्—यत् कार्यं परिच्छिन्नं स्थूलम्, कारणेनापरिच्छिन्नेन सूक्ष्मेण व्याप्तमिति दृष्टम्—यथा पृथिवी अद्भिः, तथापूर्वं पूर्वमुत्तरेणोत्तरेण व्यापिना भवितव्यम्, इत्येष आ सर्वान्तरादात्मनः प्रश्नार्थः ।

तत्र भूतानि पञ्च संहतान्येवोत्तरमुत्तरं सूक्ष्मभावेन व्यापकेन कारणरूपेण च व्यवतिष्ठन्ते, न च परमात्मनोऽर्वाक् तद्व्यतिरेकेणव-स्त्वन्तरमस्ति "सत्यस्य सत्यम्" (बृ० उ० २ । १ । २०) इति श्रुतेः । सत्यं च भूतपञ्चकम्, सत्यस्य सत्यं च पर आत्मा । कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति—तासामपि कार्यत्वात् स्थूलत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च क्वचिद्धि ओतप्रोतभावेन भवितव्यम्;

बाहर-भीतर सब ओर विद्यमान हुए जलसे ही व्याप्त है, नहीं तो यह सत्तूकी मुट्ठीके समान छिन्न-भिन्न हो जाता ।

यह तो अनुमानका उपन्यास किया गया, इससे यह देखा गया कि जो कार्य, परिच्छिन्न और स्थूल तत्त्व है, वह कारण, अपरिच्छिन्न और सूक्ष्म तत्त्वसे व्याप्त रहता है—जिस प्रकार पृथिवी जलसे व्याप्त है; उसी प्रकार पूर्व-पूर्व जलादि अपने उत्तरोत्तरवर्ती कारण वायु आदिसे व्याप्त हैं; सर्वान्तर आत्मापर्यन्त इस प्रश्नका यही तात्पर्य है ।

तहाँ, भूत पाँच हैं, जो परस्पर मिलकर ही उत्तरोत्तर व्यापक सूक्ष्मभावसे और कारणरूपसे विद्यमान हैं । परमात्मासे नीचे उससे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है जैसा कि "वह सत्य-का-सत्य है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है । पाँचों भूत तो सत्य हैं और परमात्मा सत्य-का-सत्य है । [अतः प्रश्न होता है कि] जल किसमें ओत-प्रोत हैं ? कार्य स्थूल और परिच्छिन्न होनेके कारण उन्हें भी किसीमें ओतप्रोतभावसे रहना चाहिये;

क्व तासामोतप्रोतभाव इति । एवमुत्तरोत्तरप्रश्नप्रसङ्गो योजयितव्यः । वायौ गार्गीति ।

नन्वग्नाविति वक्तव्यम् ।

तो उनका ओतप्रोतभाव कहाँ है ? इसी प्रकार आगे-आगेके प्रश्नोंके प्रसङ्गकी योजना करनी चाहिये । [याज्ञवल्क्य—] हे गार्गि ! वायुमें ।'

शङ्का-किंतु यहाँ तो याज्ञवल्क्यको 'अग्निमें' ऐसा कहना चाहिये था !

नैष दोषः, अग्नेः पार्थिवं वा आप्यं वा धातुमनाश्रित्य इतरभूतवत् स्वातन्त्र्येण आत्मलाभो नास्तीति तस्मिन्नोतप्रोतभावो नोपदिश्यते ।

समाधान—ऐसा कहनेमें दोष नहीं है, क्योंकि अन्य भूतोंके समान अग्निके स्वरूपकी सिद्धि किसी पार्थिव या जलीय धातुका आश्रय लिये बिना नहीं होती, इसलिये उसमें ओतप्रोतभावका उपदेश नहीं किया जाता ।

कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति तान्येव भूतानि संहतान्यन्तरिक्षलोकाः, तान्यपि गन्धर्वलोकेषु, गन्धर्वलोका आदित्यलोकेषु, आदित्यलोकाश्चन्द्रलोकेषु, चन्द्रलोका नक्षत्रलोकेषु, नक्षत्रलोका देवलोकेषु, देवलोका इन्द्रलोकेषु, इन्द्रलोका विराट्शरीरारम्भकेषु भूतेषु प्रजापतिलोकेषु, प्रजापतिलोका ब्रह्मलोकेषु । ब्रह्मलोका नाम अण्डारम्भकाणि भूतानि; सर्वत्र हि सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण

(गार्गी—) 'वायु किसमें ओत-प्रोत है ?' (याज्ञवल्क्य—) 'हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोकोंमें ।' परस्पर संहत हुए ये भूत ही अन्तरिक्षलोक हैं । वे भी गन्धर्वलोकोंमें, गन्धर्वलोक आदित्यलोकोंमें, आदित्यलोक चन्द्रलोकोंमें, चन्द्रलोक नक्षत्रलोकोंमें, नक्षत्रलोक देवलोकोंमें, देवलोक इन्द्रलोकोंमें, इन्द्रलोक विराट् शरीरके आरम्भक भूतरूप प्रजापतिलोकोंमें और प्रजापतिलोक ब्रह्मलोकोंमें ओतप्रोत हैं । ब्रह्मलोक ब्रह्माण्डके आरम्भक भूतोंको कहते हैं; इन सभी लोकोंमें सूक्ष्मताके तारतम्यक्रमसे प्राणियोंके

ण्युपभोगाश्रयाकारपरिणतानि भूतानि संहतानि तान्येव पञ्चेति बहुवचनभाञ्जि ।

कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति— स होवाच याज्ञवल्क्यो हे गार्गि मातिप्राक्षीः स्वं प्रश्नम्, न्यायप्रकारमतीत्य आगमेन प्रष्टव्यां देवतामनुमानेन मा प्राक्षीरित्यर्थः, पृच्छन्त्याश्च मा ते तव मूर्धा शिरो व्यपप्तद् विस्पष्टं पतेत्; देवतायाः स्वप्रश्न आगमविषयः; तं प्रश्न-विषयमतिक्रान्तो गार्ग्याः प्रश्नः; आनुमानिकत्वात् स यस्या देवतायाः प्रश्नः सातिप्रश्न्या, नातिप्रश्न्यानतिप्रश्न्या, स्वप्रश्न-विषयैव, केवलागमगम्येत्यर्थः, तामनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि। अतो गार्गि मातिप्राक्षीः,

उपभोगके आश्रय (शरीर) के आकारमें परिणत हुए परस्परसंहत वे ही पाँच भूत हैं, इसलिये वे बहुवचनके भागी हैं।

[गार्गी—] 'अच्छा तो, वे ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' इसपर उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे गार्गि ! तू अपने प्रश्नको अतिप्रश्न न कर, अर्थात् न्यायोचित प्रकारको छोड़कर आचार्यपरम्पराद्वारा पूछने-योग्य शास्त्रगम्य देवताको अनुमान-से मत पूछ। इस प्रकार पूछनेसे तेरा मूर्द्धा-मस्तक विपतित— विस्पष्टतया पतित न हो जाय!' यह देवताका स्वप्रश्न शास्त्रका विषय है; गार्गीका प्रश्न आनुमानिक होनेके कारण उस प्रश्नविषय-का अतिक्रमण कर गया है; यह प्रश्न जिस देवताके विषयमें है, वह अतिप्रश्नया हो रही है; किंतु वह नातिप्रश्नया—अतिप्रश्न करनेके अयोग्य अर्थात् अपने प्रश्नकी ही विषय है; तात्पर्य यह है कि 'वह केवल आचार्योपदेशसे शास्त्रद्वारा ही जानी जा सकती है, उस अनति-प्रश्नया देवताके विषयमें तू अतिप्रश्न करती है। अतः हे गार्गि! यदि तुझे मरनेकी इच्छा न हो तो

नर्तुं चेन्नेच्छसि। ततो ह गार्गी वाचक्नवी उपरराम ॥ १ ॥

अतिप्रश्न न कर।' तब वचक्नुकी पुत्री गार्गी उपरत हो गयी ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये षष्ठं गार्गीब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

सप्तम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-आरुणि-संवाद

इदानीं ब्रह्मलोकानामन्तरतमं सूत्रं वक्तव्यमिति तदर्थ आरम्भः, तच्च आगमेनैव प्रष्टव्यमितीतिहासेन आगमोपन्यासः क्रियते—

अब ब्रह्मलोकोंका जो अन्तरतम सूत्र है, उसे बतलाना है, इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। उसे आगम (आचार्योपदेश) के द्वारा ही विचारना चाहिये, इसलिये इतिहासके द्वारा आगमका उपन्यास किया जाता है—

सूत्र और अन्तर्यामीके विषयमें प्रश्न

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम, पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत् सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यो नाहं तद् भगवन् वेदेति

सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन् वेदेति सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत् काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित् स लोकवित् स देववित् स वेदवित् स भूतवित् स आत्मवित् स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत् सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद् ब्रूयाद् वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥ १ ॥

फिर इस याज्ञवल्क्यसे आरुणि उद्दालकने पूछा; वह बोला, 'हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेशमें यज्ञशास्त्रका अध्ययन करते हुए कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्वद्वारा गृहीत थी। हमने उस (गन्धर्व) से पूछा, 'तू कौन है ?' उसने कहा, 'मैं आथर्वण कबन्ध हूँ।' उसने कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिकोंसे पूछा, 'काप्य ! क्या तुम उस सूत्रको जानते हो जिसके द्वारा यह लोक, परलोक और सारे भूत ग्रथित हैं ?' तब उस काप्य पतञ्चलने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा, 'काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतोंको भीतरसे नियमित करता है ?' उस पतञ्चल काप्यने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा; 'काप्य ! जो कोई उस सूत्र और उस अन्तर्यामीको जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता है, वह लोकवेत्ता है, वह देववेत्ता है, वह वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है और वह सर्ववेत्ता है ।

तथा इसके पश्चात् गन्धर्वने उन (काप्य आदि) से सूत्र और अन्तर्यामी-को बताया। उसे मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जाननेवाले होकर ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' [याज्ञवल्क्य-] 'हे गौतम! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ।' [उद्दालक-] 'ऐसा तो जो कोई भी कह सकता है -'मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ' [किंतु यों व्यर्थ ढोल पीटनेसे क्या लाभ? यदि वास्तवमें तुम्हें उसका ज्ञान है तो] जिस प्रकार तुम जानते हो वह कहो' ॥ १ ॥

अथ हैनमुद्दालको नामतः, अरुणस्यापत्यमारुणिः पप्रच्छ; याज्ञवल्क्येति होवाच; मद्रेषु देशेष्ववसामोषितवन्तः, पतञ्चलस्य—पतञ्चलो नामतस्तस्यैव कपिगोत्रस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयाना यज्ञशास्त्राध्ययनं कुर्वाणाः। तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता; तमपृच्छाम—कोऽसीति; सोऽब्रवीत् कबन्धो नामतः, अथर्वणोऽपत्यमाथर्वण इति।

फिर उस याज्ञवल्क्यसे उद्दालक नामसे प्रसिद्ध आरुणि—अरुणके पुत्रने पूछा। वह बोला, 'हे याज्ञवल्क्य! हम मद्रदेशमें पतञ्चलके—जो नामसे पतञ्चल था उस काप्य—कपिगोत्रीयके घर यज्ञ—यज्ञशास्त्रका अध्ययन करते हुए रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्वसे गृहीत थी [अर्थात् उसपर गन्धर्वका आवेश था]। उससे हमने पूछा, 'तू कौन है?' उसने कहा, 'मैं नामसे कबन्ध तथा गोत्रतः आथर्वण—अथर्वाका पुत्र हूँ।'

सोऽब्रवीद् गन्धर्वः पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च तच्छिष्यान्—वेत्थ नु त्वं हे काप्य जानीषे तत् सूत्रम्? किं तत्? येन सूत्रेणायं च लोक इदं च जन्म, परश्च लोकः परं च

उस गन्धर्वने पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिक शिष्योंसे पूछा, 'हे काप्य! क्या तुम उस सूत्रको जानते हो? वह कौन? जिस सूत्रके द्वारा यह लोक—यह जन्म, परलोक—

प्रतिपत्तव्यं जन्म, सर्वाणि च भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि, सन्दब्धानि सङ्ग्रथितानि स्रगिव सूत्रेण विष्टब्धानि भवन्ति येन— तत् किं सूत्रं वेत्थ ? सोऽब्रवीदेवं पृष्टः काप्यः—नाहं तद् भगवन् वेदेति, तत् सूत्रं नाहं जाने हे भगवन्निति सम्पूजयन्नाह ।

सोऽब्रवीत् पुनर्गन्धर्व उपाध्यायमस्मांश्च—वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणम् ? अन्तर्यामीति विशेष्यते—य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरोऽभ्यन्तरः सन् यमयति नियमयति, दारुयन्त्रमिव भ्रामयति, स्वं स्वमुचितव्यापारं कारयतीति । सोऽब्रवीदेवमुक्तः पतञ्चलः काप्यः—नाहं तं जाने भगवन्निति सम्पूजयन्नाह ।

सोऽब्रवीत् पुनर्गन्धर्वः; सूत्रतदन्तर्गतान्तर्यामिणोर्विज्ञानं स्तूयते—यः कश्चिद् वै तत् सूत्रं हे काप्य विद्याद् विजानीयात् तं चान्तर्या-

आगे प्राप्त होनेवाला जन्म और ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूत संदब्ध—संग्रथित—सूत्रसे मालाके समान सम्यक् प्रकारसे धारण किये हुए हैं, क्या उस सूत्रको तुम जानते हो ?' इस प्रकार पूछे जानेपर उस काप्यने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता ।' 'हे भगवन् !' इस प्रकार सत्कार करते हुए उसने कहा, 'मैं उस सूत्रको नहीं जानता ।'

'उस गन्धर्वने उपाध्यायसे और हमसे फिर पूछा, 'काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामीको जानते हो ?' 'अन्तर्यामी' इस पदका विशेषण बतलाता है—'जो इस लोकको, परलोकको और सम्पूर्ण भूतोंको अन्तर—भीतर रहकर नियमित करता है—काष्ठयन्त्रके समान भ्रमित अर्थात् अपना-अपना उचित व्यापार कराता है [क्या उसे तुम जानते हो ?]' । इस प्रकार कहे जानेपर उस पतञ्चल काप्यने 'भगवन् !' इस प्रकार सत्कार करते हुए कहा, 'मैं उसे नहीं जानता ।'

'उस गन्धर्वने फिर कहा; अब सूत्र और उसके अन्तर्वर्ती अन्तर्यामीके विज्ञानकी स्तुति की जाती है— 'हे काप्य ! तुममेंसे जो कोई भी उस सूत्रको और सूत्रके अन्तर्गत उसी सूत्रके नियन्ता अन्तर्यामीको

मिणं सूत्रान्तर्गतं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारं विद्यात् यः—इत्येवमुक्तेन प्रकारेण, स हि ब्रह्मवित् परमात्मवित् स लोकांश्च भूरादीनन्तर्यामिणा नियम्यमानाँल्लोकान् वेत्ति, स देवांश्चाग्न्यादींल्लोकिनो जानाति, वेदांश्च सर्वप्रमाणभूतान् वेत्ति, भूतानि च ब्रह्मादीनि सूत्रेण ध्रियमाणानि तदन्तर्गतेनान्तर्यामिणा नियम्यमानानि वेत्ति, स आत्मानं च कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टं तेनैवान्तर्यामिणा नियम्यमानं वेत्ति, सर्वं च जगत् तथाभूतं वेत्तीति ।

उक्त प्रकारसे जान ले वही ब्रह्मवित्—परमात्माको जाननेवाला है; वही अन्तर्यामीसे नियम्यमान भूरादि लोकोंको जानता है, सबके प्रमाणभूत वेदोंको जानता है तथा सूत्रसे धारण किये हुए और उसके अन्तर्वर्ती अन्तर्यामीसे नियमित होते हुए ब्रह्मादि भूतोंको जानता है। वह उस अन्तर्यामीसे ही नियमित होते हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट आत्माको जानता है तथा सम्पूर्ण जगत्को भी ऐसा ही जानता है।'

एवं स्तुते सूत्रान्तर्यामिविज्ञाने प्रलुब्धः काप्योऽभिमुखीभूतः, वयं च; तेभ्यश्चास्मभ्यमभिमुखीभूतेभ्योऽब्रवीद् गन्धर्वः सूत्रमन्तर्यामिणं च; तदहं सूत्रान्तर्यामिविज्ञानं वेद गन्धर्वाल्लब्धागमः सन् । तच्चेद् याज्ञवल्क्य सूत्रं तं चान्तर्यामिणमविद्वांश्चेदब्रह्मवित् सन् यदि ब्रह्मगवीरुदजसे ब्रह्मविदां स्वभूता गा उदजसे उन्नयसि त्वम्

'सूत्र और अन्तर्यामीके विज्ञानकी इस प्रकार स्तुति होनेपर अत्यन्त लुब्ध होकर काप्य और हम उसके अभिमुख हुए; इस प्रकार अपने अभिमुख हुए हमलोगोंके प्रति उस गन्धर्वने सूत्र और अन्तर्यामीका वर्णन किया; सो मैं गन्धर्वसे आचार्योपदेश प्राप्त करके उस सूत्र और अन्तर्यामीके विज्ञानको जानता हूँ; अतः हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जाननेवाले अर्थात् अब्रह्मवित् होकर तुम 'ब्रह्मगवीः'—ब्रह्मवेताओंकी स्वभूता गौओंको अन्यायसे ले जाओगे तो

अन्यायेन, ततो मच्छापदग्धस्य मूर्धा शिरस्ते तव विस्पष्टं पतिष्यति ।

एवमुक्तो याज्ञवल्क्य आह—वेद जानाम्यहं हे गौतमेति गोत्रतः, तत् सूत्रं यद् गन्धर्व-स्तुभ्यमुक्तवान् यं चान्तर्यामिणं गन्धर्वाद् विदितवन्तो यूयम्, तं चान्तर्यामिणं वेदाहमिति ।

एवमुक्ते प्रत्याह गौतमः—यः कश्चित् प्राकृत इदं यत्त्वयोक्तं ब्रूयात्—कथम् ? वेद वेदेति—आत्मानं श्लाघयन्, किं तेन गर्जितेन कार्येण दर्शय; यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥ १ ॥

मेरे शापसे दग्ध तुम्हारा मूर्धा—शिर विस्पष्टतया (निश्चय ही) गिर जायगा ।'

इस प्रकार कहे जानेपर याज्ञवल्क्यने 'हे गौतम !' इस प्रकार गोत्रतः सम्बोधन करते हुए कहा, 'तुम्हारे प्रति गन्धर्वने जिस सूत्रका वर्णन किया है, उसे मैं जानता हूँ तथा तुमलोगोंने जिस अन्तर्यामीको गन्धर्वसे जाना है, उस अन्तर्यामी-को भी मैं जानता हूँ ।'

याज्ञवल्क्यके इस प्रकार कहने-पर गौतमने उत्तरमें कहा, 'जो कोई साधारण पुरुष भी ऐसा, जैसा कि तुमने कहा है, कह सकता है; किस प्रकार कह सकता है ? 'मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ' इस प्रकार अपनी बड़ाई करता हुआ कह सकता है, परंतु उसके उस गर्जनसे क्या लाभ है ? तुम कार्य-द्वारा उसे दिखाओ, जैसा जानते हो वैसा कहो' ॥ १ ॥

सूत्रका निरूपण

स होवाच वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि

सन्दृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ २ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है; गौतम! वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुँथे हुए हैं। हे गौतम! इसीसे मरे हुए पुरुषको ऐसा कहते हैं कि इसके अङ्ग विस्रस्त (विशीर्ण) हो गये हैं, क्योंकि हे गौतम! वे वायुरूप सूत्रसे ही संग्रथित होते हैं।' [आरुणि—] 'हे याज्ञवल्क्य! ठीक है, यह तो ऐसा ही है, अब तुम अन्तर्यामीका वर्णन करो' ॥ २ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मलोका यस्मिन्नोताश्च प्रोताश्च वर्तमाने काले, यथा पृथिव्यप्सु, तत् सूत्रम् आगमगम्यं वक्तव्यमिति तदर्थं प्रश्नान्तरमुत्थापितम्; अतस्तन्निर्णयायाह—वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम्, नान्यत्; वायुरिति सूक्ष्ममाकाशवद्विष्टम्भकं पृथिव्यादीनाम्, यदात्मकं सप्तदशविधं लिङ्गं कर्मवासनासमवायि प्राणिनाम्, यत्तत् समष्टिव्यष्ट्यात्मकम्, यस्य बाह्या भेदाः सप्तसप्त मरुद्गणाः

उस याज्ञवल्क्यने कहा। जिस प्रकार जलमें पृथिवी ओतप्रोत है उसी प्रकार जिसमें वर्तमान कालमें ब्रह्मलोक ओतप्रोत हैं, शास्त्रद्वारा जानने योग्य उस सूत्रका वर्णन करना है, इसीलिये एक अन्य प्रश्न उठाया गया था, उसका निर्णय करनेके लिये याज्ञवल्क्य कहते हैं, 'हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है, और कुछ नहीं।' यहाँ वायु—यह आकाशके समान सूक्ष्म तत्त्व है और पृथिवी आदि भूतोंको धारण करनेवाला है;' प्राणियोंका यह कर्म-वासनासमवायी (कर्म-संस्कारसे युक्त) सत्रह अवयवोंवाला लिङ्गदेह जिससे उत्पन्न हुआ है, जो समष्टि एवं व्यष्टिरूप है तथा समुद्रकी तरङ्गोंके समान उनचास मरुद्गण

समुद्रस्येवोर्मयः, तदेतद् वायव्यं सर्वं सूत्रमित्यभिधीयते ।

वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति सङ्ग्रथितानि भवन्तीति प्रसिद्धमेतत् । अस्ति च लोके प्रसिद्धिः, कथम् ? यस्माद् वायुः सूत्रम्, वायुना विधृतं सर्वम्, तस्माद् वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुः कथयन्ति—व्यस्रंसिषत विस्रस्तान्यस्य पुरुषस्याङ्गानीति; सूत्रापगमे हि मण्यादीनां प्रोतानामवस्रंसनं दृष्टम्; एवं वायुः सूत्रम्, तस्मिन् मणिवत् प्रोतानि यद् यस्याङ्गानि स्युस्ततो युक्तमेतद् वाय्वपगमेऽवस्रंसनमङ्गानाम् अतो वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीति निगमयति ।

एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य सम्यगुक्तं सूत्रम्; तदन्तर्गतं त्विदानीं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारमन्तर्यामिणं ब्रूहीत्युक्त आह ॥ २ ॥

जिसके बाह्य भेद हैं, वह यह वायुतत्त्व 'सूत्र' कहा जाता है ।

'हे गौतम ! वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक परलोक और सम्पूर्ण भूत सन्दब्ध—संग्रथित हैं—यह प्रसिद्ध है। लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है, कैसी ? क्योंकि वायु सूत्र है, इसलिये वायुने सबको धारण किया है; इसीसे हे गौतम ! मृत पुरुषके विषयमें ऐसा कहते हैं कि इस पुरुषके अङ्ग विस्रस्त हो गये हैं; यह देखा गया है कि सूत्र (धागे) के न रहनेपर उसमें पिरोये हुए मणि आदि बिखर जाते हैं, इसी प्रकार वायु सूत्र है और यदि उसमें उस प्राणीके अङ्ग मणियोंके समान पिरोये हुए हैं, तो वायुके निवृत्त होनेपर इसके अङ्गोंका विशीर्ण हो जाना उचित ही है; इसीसे याज्ञवल्क्य ऐसा निगमन करते हैं कि 'हे गौतम ! ये वायुरूप सूत्रसे संग्रथित हैं ।'

[गौतमने कहा—] 'याज्ञवल्क्य ! यह ठीक ऐसा ही है, तुमने सूत्रका यथार्थ वर्णन किया है। अब तुम उसके अन्तर्वर्ती और उस सूत्रके ही नियन्ता अन्तर्यामीका वर्णन करो ।' गौतमके ऐसा कहनेपर याज्ञवल्क्य कहते हैं—॥ २ ॥

अन्तर्यामीका निरूपण

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

जो पृथिवीमें रहनेवाला पृथिवीके भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ३ ॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् भवति, सोऽन्तर्यामी, सर्वः पृथिव्यां तिष्ठतीति सर्वत्र प्रसङ्गो मा भूदिति विशिनष्टि—पृथिव्या अन्तरोऽभ्यन्तरः। तत्रैतत् स्यात् पृथिवीदेवतैव अन्तर्यामीत्यत आह—यमन्तर्यामिणं पृथिवी देवतापि न वेद मय्यन्यः कश्चिद्वर्तत इति। यस्य पृथिवी शरीरम्—यस्य च पृथिव्येव शरीरम्, नान्यत्—पृथिवीदेवताया यच्छरीरम्, तदेव शरीरं यस्य, शरीरग्रहणं चोपलक्षणार्थम्, करणं च पृथिव्याः, तस्य स्वकर्मप्रयुक्तं

जो पृथ्वीमें रहनेवाला है, वह अन्तर्यामी है; किंतु पृथिवीमें तो सभी रहते हैं, अतः इससे सर्वत्र अन्तर्यामीका प्रसङ्ग न हो जाय, इसलिये उसका विशेषण बतलाते हैं—'जो पृथिवीके अन्तर-भीतर है।' इससे यह शङ्का हो सकती है कि पृथिवी देवता ही अन्तर्यामी है, इसलिये फिर कहते हैं—'जिस अन्तर्यामीको पृथिवी देवता भी नहीं जानती कि 'मेरे भीतर और भी कोई है।' जिसका पृथिवी शरीर है अर्थात् पृथिवी ही जिसका शरीर है, कोई और नहीं; यानी जो पृथिवी देवताका शरीर है, वही जिसका शरीर है; यहाँ 'शरीर' शब्द उपलक्षणार्थक है, अर्थात् केवल शरीर ही नहीं, पृथिवी देवताका जो करण (इन्द्रिय) है, वही उसका करण भी है। पृथिवी

हि कार्यं करणं च पृथिवीदेवतायाः, तदस्य स्वकर्माभावादन्तर्यामिणो नित्यमुक्तत्वात्। परार्थकर्तव्यतास्वभावत्वात् परस्य यत् कार्यं करणं च तदेवास्य, न स्वतः, तदाह—यस्य पृथिवी शरीरमिति।

देवताको कार्य और करण (देह और इन्द्रिय) उसके कर्मानुसार प्राप्त हुए हैं; वे ही इस अन्तर्यामीके हैं; क्योंकि नित्यमुक्त होनेके कारण उसके कोई स्वकर्म नहीं हैं। परार्थकर्तव्यता—दूसरेके अर्थको करना यह अन्तर्यामीका स्वभाव है, अतः जो दूसरेके देह और इन्द्रिय हैं; वे ही इसके भी हैं, स्वतः इसके कोई देह या इन्द्रिय नहीं है; इसीसे श्रुति कहती है कि जिसका पृथिवी शरीर है।

देवताकार्यकरणस्येश्वरसाक्षिमात्रसान्निध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्; य ईदृगीश्वरो नारायणाख्यः, पृथिवीं पृथिवीदेवताम्, यमयति नियमयति स्वव्यापारे, अन्तरोऽभ्यन्तरस्तिष्ठन्, एष त आत्मा, ते तव, मम च सर्वभूतानां चेत्युपलक्षणार्थमेतत्; अन्तर्यामी यस्त्वया पृष्टः, अमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् ॥ ३ ॥

देवताके देह और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति-निवृत्ति साक्षिमात्र ईश्वरके सांनिध्यसे नियमानुसार हुआ करती है, जो ऐसा नारायणसंज्ञक ईश्वर पृथिवीको—पृथिवी देवताको नियमित करता है—पृथिवीके भीतर विद्यमान रहकर अपने व्यापारमें नियुक्त करता है, यह तुम्हारा आत्मा है, तुम्हारा अर्थात् तुम्हारा और मेरा समस्त प्राणियोंका आत्मा है—इस प्रकार 'ते (तुम्हारा)' यह कथन सबके उपलक्षणके लिये है। यही अन्तर्यामी है, जिसके विषयमें तुमने पूछा है और यह अमृत यानी सम्पूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित है ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्‌भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥४॥ योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥५॥ योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥६॥ यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥ यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥८॥ य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥९॥ यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१०॥ यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥११॥ य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१२॥ यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो

न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१३॥ यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

जो जलमें रहनेवाला जलके भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जलका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥४॥ जो अग्निमें रहनेवाला अग्निके भीतर है, जिसे अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अग्निका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥५॥ जो अन्तरिक्षमें रहनेवाला अन्तरिक्षके भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अन्तरिक्षका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥ जो वायुमें रहनेवाला वायुके भीतर है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वायुका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ७ ॥ जो द्युलोकमें रहनेवाला द्युलोकके भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, द्युलोक जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर द्युलोकका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ८ ॥ जो आदित्यमें रहनेवाला आदित्यके भीतर है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आदित्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ९ ॥ जो दिशाओंमें रहनेवाला दिशाओंके भीतर है, जिसे दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर दिशाओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १० ॥ जो चन्द्रमा और ताराओंमें रहनेवाला चन्द्रमा और ताराओंके भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ नहीं जानतीं, चन्द्रमा और ताराएँ जिसका



शरीर है और जो भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ११ ॥ जो आकाशमें रहनेवाला आकाशके भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाशका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १२ ॥ जो तममें रहनेवाला तमके भीतर है, जिसे तम नहीं जानता, तम जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तमका नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १३ ॥ जो तेजमें रहनेवाला तेजके भीतर है, जिसे तेज नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तेजका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, यह अधिदैवत-दर्शन हुआ, आगे अधिभूत-दर्शन है ॥ १४ ॥

समानमन्यत् । योऽप्सु तिष्ठन्-अग्नौ, अन्तरिक्षे, वायौ, दिवि, आदित्ये, दिक्षु, चन्द्रतारके, आकाशे, यस्तमस्यावरणात्मके बाह्ये तमसि, तेजसि तद्विपरीते प्रकाशसामान्ये इत्येवमधिदैवतम् अन्तर्यामिविषयं दर्शनं देवतासु । अथाधिभूतं भूतेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु अन्तर्यामिदर्शनमधिभूतम् ॥ ४-१४ ॥

शेष सब तृतीय मन्त्रके समान ही है। जो जलमें, अग्निमें, अन्तरिक्षमें, वायुमें, द्युलोकमें, आदित्यमें दिशाओंमें, चन्द्रमा एवं ताराओंमें और आकाशमें रहनेवाला है; जो तम अर्थात् आवरणात्मक बाह्य तममें, तेज अर्थात् तमसे विपरीत सामान्य प्रकाशमें रहनेवाला है; इस प्रकार यह अन्तर्यामिविषयक अधिदैवत—देवतान्तर्गत दर्शन है, इससे आगे अधिभूत-दर्शन है, ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतोंमें जो अन्तर्यामिदर्शन है, वह अधिभूत-दर्शन है ॥ ४-१४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत

इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥ यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१६॥ यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १७ ॥ यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥ यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳश्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१९॥ यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२०॥ यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ २१ ॥ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२२॥ यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यꣳ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति

विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

जो समस्त भूतोंमें स्थित रहनेवाला समस्त भूतोंके भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतोंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है, अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है ॥१५॥ जो प्राणमें रहनेवाला प्राणके भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राणका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १६ ॥ जो वाणीमें रहनेवाला वाणीके भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १७ ॥ जो नेत्रमें रहनेवाला नेत्रके भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १८ ॥ जो श्रोत्रमें रहनेवाला श्रोत्रके भीतर है, जिसे श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर श्रोत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १९ ॥ जो मनमें रहनेवाला मनके भीतर है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मनका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २० ॥ जो त्वक्‌में रहनेवाला त्वक्‌के भीतर है, जिसे त्वक् नहीं जानती, त्वक् जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर त्वक्‌का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २१ ॥ जो विज्ञानमें रहनेवाला विज्ञानके भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर विज्ञानका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २२ ॥ जो वीर्यमें रहनेवाला वीर्यके भीतर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वीर्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी न

देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है। यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है। इसके पश्चात् अरुण-का पुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया ॥ २३ ॥

अथाध्यात्मम्—यः प्राणे प्राणवायुसहिते घ्राणे, यो वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, विज्ञाने, बुद्धौ, रेतसि प्रजनने। कस्मात् पुनः कारणात् पृथिव्यादिदेवता महाभागाः सत्यो मनुष्यादिवदात्मनि तिष्ठन्तमात्मनो नियन्तार-मन्तर्यामिणं न विदुरित्यत आह—अदृष्टो न दृष्टो न विषयी-भूतः चक्षुर्दर्शनस्य कस्यचित्, स्वयं तु चक्षुषि सन्निहितत्वाद् दृशिस्वरूप इति द्रष्टा।

अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—जो प्राणमें—प्राणवायुसहित घ्राणेन्द्रियमें, जो वाणीमें, नेत्रमें, श्रोत्रमें, मनमें, त्वक्‌में, विज्ञान यानी बुद्धिमें तथा रेत (वीर्य)—प्रजननेन्द्रियमें रहनेवाला है। किंतु पृथिवी आदि [के अधिष्ठाता] देवता बड़े प्रभावशाली होनेपर भी मनुष्यादिके समान अपने भीतर रहनेवाले अपने नियामक अन्तर्यामी-को क्यों नहीं जानते ? इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह अदृष्ट—न देखा हुआ अर्थात् किसीकी भी नेत्रदृष्टिका विषयीभूत नहीं है, किंतु स्वयं नेत्रमें सन्निहित होनेके कारण दर्शनस्वरूप है, इसलिये द्रष्टा है।

तथाश्रुतः श्रोत्रगोचरत्वमना-पन्नः कस्यचित्, स्वयं त्वलुप्तश्रवण-शक्तिः सर्वश्रोत्रेषु सन्निहितत्वा-च्छ्रोता। तथामतो मनःसङ्कल्प-

इसी प्रकार वह अश्रुत—किसीके भी श्रोत्रकी विषयताको अप्राप्त किंतु स्वयं जिसकी श्रवण-शक्ति लुप्त नहीं होती—ऐसा है और समस्त श्रोत्रोंमें सन्निहित होनेके कारण श्रोता है; ऐसे ही वह अमत-मनके संकल्पोंकी

विषयतामनापन्नः; दृष्टश्रुते एव हि सर्वः सङ्कल्पयति; अदृष्टत्वादश्रुतत्वादेवामतः; अलुप्तमनन-शक्तित्वात् सर्वमनःसु सन्निहित-त्वाच्च मन्ता। तथाविज्ञातो नि-श्चयगोचरतामनापन्नो रूपादिवत् सुखादिवद्वा, स्वयं त्वलुप्त-विज्ञानशक्तित्वात्तत्सन्निधानाच्च विज्ञाता।

विषयताको अप्राप्त है; क्योंकि सब लोग देखे-सुने पदार्थोंका ही संकल्प करते हैं, अतः अदृष्ट और अश्रुत होनेके कारण ही वह अमत है; तथा मनन-शक्ति लुप्त न होनेसे और समस्त मनोंमें सन्निहित होने-के कारण वह मन्ता है। इसी तरह अविज्ञात—रूपादि अथवा सुखादि-के समान निश्चयकी विषयताको अप्राप्त किंतु स्वयं जिसकी विज्ञान-शक्ति लुप्त नहीं है—ऐसा एवं बुद्धिमें सन्निहित होनेके कारण विज्ञाता है।

तत्र यं पृथिवी न वेद यं सर्वाणि भूतानि न विदुरिति चान्ये नियन्तव्या विज्ञातारोऽन्यो नियन्ता अन्तर्यामीति प्राप्तम्, तदन्यत्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थमुच्यते—नान्योऽतः, नान्यः अतोऽस्मा-दन्तर्यामिणो नान्योऽस्ति द्रष्टा, तथा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्यो-ऽतोऽस्ति विज्ञाता।

यहाँ 'जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसे समस्त भूत नहीं जानते' इत्यादि कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि जिनका नियमन किया जाता है, वे विज्ञाता भिन्न हैं और उनका नियमन करनेवाला अन्त-र्यामी उनसे भिन्न है। उनके भिन्न-त्वकी आशङ्काको निवृत्त करनेके लिये यह कहा जाता है—'नान्यो-ऽतोऽस्ति द्रष्टा' अर्थात् अतः—इस अन्तर्यामीसे भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है। इसी प्रकार इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, तथा इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है।

यस्मात् परो नास्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता, योऽदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, अमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जितः सर्वसंसारिणां कर्मफलविभागकर्ता— एष ते आत्मान्तर्याम्यमृतः अस्मादीश्वरादात्मनोऽन्यदार्तम्। ततो ह उद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ १५-२३ ॥

जिससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है, जो दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है; मनका अविषय किंतु मनन करनेवाला है, स्वयं अविज्ञात किंतु विज्ञाता है तथा अमृत—सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित एवं समस्त संसारियोंके कर्मफलोंका विभाग करनेवाला है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है; इस ईश्वर आत्मासे भिन्न और सब आर्त (विनाशी) है। तब अरुणका पुत्र उद्दालक निवृत्त हो गया ॥ १५—२३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये सप्तममन्तर्यामिब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

अष्टम ब्राह्मण

अतः परमशनायादिविनिर्मुक्तं निरुपाधिकं साक्षादपरोक्षात् सर्वान्तरं ब्रह्म वक्तव्यमित्यत आरम्भः—

इससे आगे क्षुधादिरहित निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्मका निरूपण करना है, इसलिये आरम्भ किया जाता है—

दो प्रश्न पूछनेके लिये गार्गीका आज्ञा माँगना

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ता-

हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

फिर वाचक्नवीने कहा, 'पूजनीय ब्राह्मणगण! अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछूँगी। यदि ये मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो आपमेंसे कोई भी इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वादमें नहीं जीत सकेगा।' [ब्राह्मण-] 'अच्छा गार्गि! पूछ' ॥ १ ॥

अथ ह वाचक्नव्युवाच। पूर्वं याज्ञवल्क्येन निषिद्धा मूर्धपातभयादुपरता सती पुनः प्रष्टुं ब्राह्मणानुज्ञां प्रार्थयते—हे ब्राह्मणा भगवन्तः पूजावन्तः शृणुत मम वचः; हन्ताहमिमं याज्ञवल्क्यं पुनर्द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि, यद्यनुमतिर्भवतामस्ति; तौ प्रश्नौ चेद्यदि वक्ष्यति कथयिष्यति मे, कथञ्चिन्न वै जातु कदाचिद् युष्माकं मध्ये इमं याज्ञवल्क्यं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं ब्रह्मवदनं प्रति जेता न वै कश्चिद् भवेदिति। एवमुक्ता ब्राह्मणा अनुज्ञां प्रददुः—पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

फिर वाचक्नवीने कहा। पहले याज्ञवल्क्यके निषेध करनेपर मस्तक गिर जानेके भयसे मौन हुई वाचक्नवी पुनः प्रश्न करनेके लिये ब्राह्मणोंसे आज्ञा माँगती है—'हे भगवान्—पूजावान् ब्राह्मणगण! मेरी बात सुनिये; यदि आपलोगोंकी अनुमति हो तो मैं इन याज्ञवल्क्यजीसे दो प्रश्न और पूछूँगी। यदि ये उन दो प्रश्नोंका मुझे उत्तर दे देंगे तो आपमेंसे कोई भी इन याज्ञवल्क्यजीको ब्रह्मसम्बन्धी वादमें कभी किसी प्रकार भी जीतनेवाला नहीं हो सकेगा। इस प्रकार कहे जानेपर ब्राह्मणोंने 'हे गार्गि! तू पूछ' ऐसा कहकर अपनी अनुमति दे दी ॥ १ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

वह बोली, 'हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी या विदेहका रहने वाला कोई वीर-वंशज प्रत्यञ्चाहीन धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओंको अत्यन्त पीडा देनेवाले दो बाणवान् शर हाथमें लेकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ; तुम मुझे उनका उत्तर दो ।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, गार्गि ! 'पूछ' ॥ २ ॥

लब्धानुज्ञा ह याज्ञवल्क्यं सा होवाच—अहं वै त्वा त्वां द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामीत्यनुषज्यते; कौ ताविति जिज्ञासायां तयोर्दुरुत्तरत्व द्योतयितुं दृष्टान्तपूर्वकं तावाह—हे याज्ञवल्क्य यथा लोके काश्यः-काशिषु भवः काश्यः, प्रसिद्धं शौर्यं काश्ये, वैदेहो वा विदेहानां वा राजा, उग्रपुत्रः शूरान्वय इत्यर्थः, उज्ज्यम् अवतारितज्याकं धनुः पुनरधिज्यम् आरोपितज्याकं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ -बाणशब्देन शराग्रे यो वंशखण्डः सन्धीयते, तेन विनापि शरो भवतीत्यतो विशिनष्टि बाणवन्ताविति—द्वौ

आज्ञा मिलनेपर उसने याज्ञवल्क्यसे कहा—'मैं तुमसे दो प्रश्न पूछूँगी' ऐसा इसका अन्वय है । वे प्रश्न कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर यह दिखलानेके लिये कि उनका उत्तर देना कठिन है, गार्गी उन्हें दृष्टान्तपूर्वक बतलाती है—'हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार लोकमें कोई काश्य—'काशि' प्रान्तमें उत्पन्न हुआ, काशि-प्रान्तमें उत्पन्न होनेवालोंमें शूरवीरता प्रसिद्ध है अथवा वैदेह—विदेह-निवासी या विदेह देशका राजा उग्रपुत्र अर्थात् जो वीर वंशमें उत्पन्न हुआ है, वह उज्ज्य—जिसकी ज्या (डोरी) उतार ली गयी है, ऐसे धनुषको पुनः ज्यायुक्त कर अर्थात् उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ा करके दो बाणवान्—यहाँ 'बाण' शब्दसे यह व्यक्त होता है कि शरके अग्रभागोंमें जो बाँसका टुकड़ा लगाया जाता है, उसके बिना भी बाण होता है, इसीसे 'बाणवान्' यह विशेषण दिया गया है, तात्पर्य यह

बाणवन्तौ शरौ, तयोरेव विशेषणं सपत्नातिव्याधिनौ शत्रोः पीडाकरावतिशयेन, हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेत् समीपत आत्मानं दर्शयेत् एवमेवाहं त्वा त्वां शरस्थानीयाभ्यां प्रश्नाभ्यां द्वाभ्यामुपोदस्थां उत्थितवत्यस्मि त्वत्समीपे। 'तौ मे ब्रूहीति—ब्रह्मविच्चेत्। आहेतरः—पृच्छ गार्गीति ॥२॥

कि दो बाणवान् शर, इन्हींका विशेषण है 'सपत्नातिव्याधिनौ', इसका अर्थ है—शत्रुओंको अत्यन्त पीडा देनेवाले, ऐसे बाणोंको हाथमें लेकर उपस्थित हो—अपनेको पास जाकर दिखाये, उसी प्रकार मैं शरस्थानीय दो प्रश्न लेकर तुम्हारे निकट उपस्थित हुई हूँ, अतः यदि तुम ब्रह्मवेत्ता हो तो उनका उत्तर दो।' इसपर इतर (याज्ञवल्क्य) ने कहा—'गार्गि! पूछ' ॥ २ ॥

पहला प्रश्न

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३॥

वह बोली, 'हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओत-प्रोत हैं?' ॥ ३ ॥

सा होवाच—यदूर्ध्वमुपरि दिवःअण्डकपालाद् यच्चावागधः पृथिव्या अधोऽण्डकपालात्, यच्चान्तरा मध्ये द्यावापृथिवी

वह बोली, 'जो 'द्युलोकरूप अण्डकपालसे ऊर्ध्व—ऊपर है और जो पृथिवीसे यानी इस नीचेके अण्डकपालसे नीचे है तथा जो द्यावापृथिवीके मध्यमें है अर्थात् द्युलोक और

द्यावापृथिव्योः अण्डकपालयोः, इमे च द्यावापृथिवी, यद् भूतं यच्चातीतम्, भवच्च वर्तमानं स्वव्यापारस्थम्, भविष्यच्च वर्तमानादूर्ध्वकालभावि लिङ्गगम्यम्—यत् सर्वमेतदाचक्षते कथयन्त्यागमतः—तत् सर्वं द्वैतजातं यस्मिन्नेकीभवतीत्यर्थः—तत् सूत्रसंज्ञं पूर्वोक्तं कस्मिन्नोतं च प्रोतं च पृथिवीधातुरिवाप्सु ॥ ३ ॥

पृथिवी—इन अण्डकपालोंके बीचमें है; एवं स्वयं जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जो कुछ भी भूत—यानी बीत चुका है, भवत्—वर्तमान अर्थात् अपने व्यापारमें स्थित और भविष्यत्—वर्तमानके बादके समयमें होनेवाला एवं अनुमानगम्य है—ऐसा जो यह सब आगमद्वारा कहा जाता है, वह सम्पूर्ण द्वैतवर्ग जिसमें एक हो जाता है, वह पहले बतलाया हुआ सूत्रसंज्ञक तत्त्व, जलमें पृथिवीतत्त्वके समान, किसमें ओत-प्रोत है ?' ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्यका उत्तर

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ४ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे गार्गि ! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ओतप्रोत हैं' ॥ ४ ॥

स होवाचेतरः—हे गार्गि यत् त्वयोक्तम् 'ऊर्ध्वं दिवः' इत्यादि, तत् सर्वं यत् सूत्रमाचक्षते तत् सूत्रम्, आकाशे तदोतं प्रोतं च,

उस इतर याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे गार्गि ! तूने जिसे द्युलोकसे ऊपर इत्यादि कहकर बतलाया वह सब, जिसे कि 'सूत्र' ऐसा कहते हैं—वह सूत्र आकाशमें ओतप्रोत है। यह

यदेतद् व्याकृतं सूत्रात्मकं जगद्-व्याकृताकाशे, अप्स्विव पृथिवी-धातुः, त्रिष्वपि कालेषु वर्तते उत्पत्तौ स्थितौ लये च ॥ ४ ॥

जो सूत्रस्वरूप व्याकृत जगत् है, वह जलमें पृथिवीतत्त्वके समान उत्पत्ति स्थिति और लय तीनों कालोंमें अव्याकृत आकाशमें विद्य-मान है' ॥ ४ ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

वह बोली, 'हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे इस प्रश्नका उत्तर दे दिया; अब आप दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाइये। [याज्ञवल्क्य-] 'गार्गि ! पूछ' ॥ ५ ॥

पुनः सा होवाच; नमस्तेऽस्त्वित्यादि प्रश्नस्य दुर्वचत्व-प्रदर्शनार्थम्; यो मे ममैतं प्रश्नं व्यवोचो विशेषेणापाकृतवानसि; एतस्य दुर्वचत्वे कारणम्—सूत्रमेव तावदगम्यमितरैर्दुर्वाच्यम्, किमुत तत्, यस्मिन्नोतं च प्रोतं चेति; अतो नमोऽस्तु ते तुभ्यम्। अपरस्मै द्वितीयाय प्रश्नाय धारयस्व दृढीकुर्वात्मान-मित्यर्थः। पृच्छ गार्गीतीतर आह ॥ ५ ॥

उसने पुनः कहा; आपको नमस्कार है—इत्यादि कथन यह प्रदर्शित करनेके लिये है कि इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन था। 'जिन आपने मेरे इस प्रश्नकी व्याख्या की है अर्थात् इसका विशेषरूपसे निराकरण किया है। इस प्रश्नकी कठिनाईमें कारण यह है कि प्रथम तो सूत्र ही अगम्य यानी किसी दूसरेके लिये दुर्वाच्य है, फिर जिसमें वह भी ओतप्रोत है, उसका तो कहना ही क्या है; इसलिये आपको नमस्कार है। अब अन्य यानी द्वितीय प्रश्नके लिये अपनेको तैयार यानी पक्का कर लीजिये। इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! पूछ' ॥ ५ ॥



उपक्रमसहित दूसरा प्रश्न

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

वह बोली, 'हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं ?' ॥ ६ ॥

व्याख्यातमन्यत्; सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्येत्यादिप्रश्नः प्रतिवचनं च उक्तस्यैवार्थस्यावधारणार्थं पुनरुच्यते; न किञ्चिदपूर्वमर्थान्तरमुच्यते ॥ ६ ॥

अन्य (छठे मन्त्रके पदों) की व्याख्या पहले (तृतीय मन्त्रमें) की जा चुकी है । 'यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य' इत्यादि प्रश्न और इसका उत्तर पूर्वोक्त अर्थका ही निश्चय करनेके लिये पुनः कहा गया है; यहाँ कोई दूसरा अपूर्व (नूतन) अर्थ नहीं कहा गया ॥ ६ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ७ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे गार्गि ! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ही ओतप्रोत हैं ।' [गार्गी—] 'किंतु आकाश किसमें ओतप्रोत है ?' ॥ ७ ॥

सर्वं यथोक्तं गार्ग्या प्रत्युच्चार्य तमेव पूर्वोक्तमर्थमवधारितवाना-काश एवेति याज्ञवल्क्यः ।

गार्ग्याह—कस्मिन्नु खल्वा-काश ओतश्च प्रोतश्चेति । आका-शमेव तावत् कालत्रयातीतत्वाद् दुर्वाच्यम्, ततोऽपि कष्टतर-मक्षरम्, यस्मिन्नाकाशमोतं च प्रोतं च, अतोऽवाच्यमिति कृत्वा, न प्रतिपद्यते सा अप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं तार्किकसमये; अथा-वाच्यमपि वक्ष्यति, तथापि विप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानम्; विरुद्धा प्रतिपत्तिर्हि सा, यद-वाच्यस्य वदनम्; अतो दुर्वचनं प्रश्नं मन्यते गार्गी ॥ ७ ॥

गार्गीके पूर्वोक्त वाक्यको पुनः कहकर याज्ञवल्क्यने 'आकाशमें ही ओतप्रोत है' ऐसा कहकर पहले कही हुई बातकी ही पुष्टि की है ।

गार्गीने कहा, 'किंतु आकाश किसमें ओतप्रोत है ?' तीनों कालोंसे परे होनेके कारण पहले तो आकाश-का ही बतलाना कठिन है, उससे भी क्लिष्टतर अक्षर है, जिसमें कि आकाश ओतप्रोत है; अतः यह समझकर कि वह अवाच्य है उसे कोई अनुभव नहीं कर सकता और अप्रतिपत्ति (अनुभव न होना)-यह तार्किकोंके सिद्धान्तमें निग्रह-स्थान माना जाता है; और यदि याज्ञवल्क्यने इस अवाच्य विषयका भी वर्णन किया तो यह विप्रति-पत्तिरूप (विपरीत अनुभवरूप) निग्रहस्थान होगा, क्योंकि अवाच्य-को कहना यह विरुद्ध प्रतिपत्ति ही है; इसलिये गार्गी इस प्रश्नका उत्तर बताना कठिन समझती है ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्यका उत्तर

तद् दोषद्वयमपि परिजिहीर्ष-न्नाह—

इन (अप्रतिपत्ति और विप्रति-पत्ति) दोनों दोषोंको निवृत्त करने-की इच्छासे याज्ञवल्क्य कहते हैं—

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे गार्गि! उस इस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं; यह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अन्तर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता' ॥ ८ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—एतद् वै तद् यत् पृष्टवत्यसि कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति, किं तत्? अक्षरम्—यन्न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम्-तदक्षरं हे गार्गि ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽभिवदन्ति। ब्राह्मणाभिवदनकथनेन—नाहमवाच्यं वक्ष्यामि न च न प्रतिपद्येयम्—इत्येवं दोषद्वयं परिहरति।

उस याज्ञवल्क्यने कहा—तूने जिसके विषयमें पूछा था कि यह आकाश किसमें ओतप्रोत है? वह यही है। वह क्या है? अक्षर, जो क्षीण नहीं होता अथवा क्षरित नहीं होता, वह अक्षर है, सो हे गार्गि! उसे ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता लोग अक्षर कहते हैं। 'ब्राह्मण कहते हैं' इस कथनके द्वारा—मैं अवाच्यका वर्णन नहीं करूँगा, तथा यह भी नहीं कि मैं उसे नहीं जानता—इस प्रकार सूचित करके दोनों दोषोंका परिहार करते हैं।

एवमपाकृते प्रश्ने पुनर्गार्ग्याः प्रतिवचनं द्रष्टव्यम्—ब्रूहि किं तदक्षरम् ? यद् ब्राह्मणा अभिवदन्ति, इत्युक्त आह—अस्थूलं तत् स्थूलादन्यत्, एवं तर्ह्यणु ? अनणु, अस्तु तर्हि ह्रस्वम्, अह्रस्वम्; एवं तर्हि दीर्घम्, नापि दीर्घमदीर्घम्; एवमेतैश्चतुर्भिः परिमाणप्रतिषेधैर्द्रव्यधर्मः प्रतिषिद्धः, न द्रव्यं तदक्षरमित्यर्थः।

अस्तु तर्हि लोहितो गुणः, ततोऽप्यन्यदलोहितम्; आग्नेयो गुणो लोहितः; भवतु तर्ह्यपां स्नेहनम्, न, अस्नेहनम्; अस्तु तर्हिच्छाया, सर्वथाप्यनिर्देश्यत्वात्, छायाया अप्यन्यदच्छायम्; अस्तु तर्हि तमः, अतमः; भवतु वायुस्तर्हि, अवायुः; भवेत्तर्ह्याकाशम्,

इस प्रकार प्रश्नका निराकरण हो जानेपर फिर गार्गीका यह प्रश्न समझना चाहिये, 'अच्छा तो बताओ ब्रह्मवेत्ता लोग जिसका वर्णन करते हैं, वह अक्षर क्या है ?' ऐसा कहे जानेपर याज्ञवल्क्य कहते हैं-वह अस्थूल-स्थूलसे भिन्न है; तो क्या अणु (सूक्ष्म) है ? नहीं, अनणु (सूक्ष्मसे भिन्न) है; अच्छा तो ह्रस्व (छोटा) होगा ?—नहीं, वह ह्रस्व भी नहीं है; ऐसी बात है तो वह दीर्घ हो सकता है ? नहीं, दीर्घ भी नहीं है, अदीर्घ है; इस प्रकार उसके स्थूलत्व (मोटाई) आदि परिमाणका प्रतिषेध करनेवाले इन चार पदोंद्वारा द्रव्य-धर्मका निषेध किया गया है। तात्पर्य यह कि वह अक्षर द्रव्य नहीं है।

तो फिर वह लोहित (लाल) गुण हो सकता है ? नहीं उससे भी भिन्न अलोहित है; लोहित अग्निका गुण है; अच्छा तो जलका गुण स्नेहन (द्रवीभाव) होगा ? नहीं, वह अस्नेह है; तो फिर वह छाया होगा ? नहीं, सर्वथा ही अनिर्देश्य होनेके कारण छायासे भी भिन्न अच्छाय है; तो फिर तम होगा ? नहीं, अतम है; अच्छा तो वह वायु होगा ? नहीं, वह अवायु है; तो फिर आकाश

अनाकाशम्; भवतु तर्हि सङ्गात्मकं जतुवत्, असङ्गम्' रसोऽस्तु तर्हि, अरसम्; तथा गन्धोऽस्त्वगन्धम्; अस्तु तर्हि चक्षुः, अचक्षुष्कम्—न हि चक्षुरस्य करणं विद्यतेऽतोऽचक्षुष्कम्; "पश्यत्यचक्षुः" (श्वेता० उ० ३ । १९) इति मन्त्रवर्णात्।

तथाश्रोत्रम्; "स शृणोत्यकर्णः" (श्वेता० उ० ३ । १९) इति; भवतु तर्हि वागवाक्; तथामनः; तथातेजस्कम्—अविद्यमानं तेजोऽस्य तदतेजस्कम्; न हि तेजोऽग्न्यादिप्रकाशवदस्य विद्यते; अप्राणम्—आध्यात्मिको वायुः प्रतिषिध्यतेऽप्राणमिति; मुखं तर्हि द्वारं तदमुखम्; अमात्रम्—मीयते येन तन्मात्रम् अमात्रं मात्रारूपं तन्न भवति, न तेन किञ्चिन्मीयते; अस्तु तर्हि च्छिद्रवत्, अनन्तरम्—नास्यान्तरमस्ति;

होगा? नहीं, अनाकाश है; तो फिर जतु (लाक्षा) के समान सङ्गवान् होगा ? नहीं, वह असङ्ग है; तो रस होगा ? नहीं, अरस है; अच्छा तो गन्ध होगा ? नहीं, अगन्ध है; तो फिर चक्षु होगा ? नहीं, अचक्षुष्क है; इसके चक्षु इन्द्रिय नहीं है; इसलिये यह अचक्षुष्क है; जैसा कि "यह चक्षुहीन होनेपर भी देखता है" इस मन्त्रवर्णसे प्रमाणित होता है।

इसी प्रकार "वह कर्णहीन होकर भी सुनता है" इस श्रुतिके अनुसार अश्रोत्र है; तो फिर वाक् होगा ? नहीं, अवाक् है; तथा अमन है और इसी प्रकार अतेजस्क जिसमें तेज नहीं है, ऐसा अतेजस्क, है, क्योंकि अग्नि आदिके प्रकाशके समान इसमें तेज नहीं है; अप्राण—ऐसा कहकर शरीरान्तर्गत वायुका प्रतिषेध किया जाता है, अतः अप्राण है। तो फिर वह मुख यानी द्वार है ? नहीं, वह अमुख है; वह अमात्र है, जिससे माप किया जाय उसे मात्र कहते हैं, वह अमात्र अर्थात् मात्रारूप नहीं है, उससे किसीका भी माप नहीं किया जाता; तो फिर वह छिद्रवान् होगा ? नहीं, वह अनन्तर है, उसमें अन्तर (छिद्र) नहीं है; तो फिर उसका

सम्भवेत् तर्हि बहिस्तस्य, अबाह्यम्; अस्तु तर्हि भक्षयितृ तत् न तदश्नाति किञ्चन; भवेत्तर्हि भक्ष्यं कस्यचित्, न तदश्नाति कश्चन; सर्वविशेषणरहितमित्यर्थः; एकमेवाद्वितीयं हि तत् केन किं विशिष्यते ॥ ८ ॥

बाह्य तो सम्भव हो ही सकता है? नहीं, वह अबाह्य है, अच्छा तो वह भक्षण करनेवाला होगा? नहीं, वह कुछ भी नहीं खाता; तब वह स्वयं ही किसी दूसरेका भक्ष्य हो सकता है? नहीं; उसे कोई भी नहीं खाता; तात्पर्य यह है कि वह समस्त विशेषणोंसे रहित है; वह तो द्वितीयसे रहित अकेला ही है, फिर किससे किसको विशेषित किया जाय? ॥ ८ ॥

अनुमानप्रमाणद्वारा अक्षरका निरूपण

अनेकविशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्योपगमितं श्रुत्या; तथापि लोकबुद्धिमपेक्ष्याशङ्क्यते यतः, अतोऽस्तित्वायानुमानं प्रमाणमुपन्यस्यति—

श्रुतिने अनेक विशेषणोंके प्रतिषेधरूप प्रयासद्वारा तबतक उस अक्षरका अस्तित्व समझा दिया है; तो भी चूँकि लोकबुद्धिकी अपेक्षासे उसके अस्तित्वमें आशङ्का की जाती है, इसलिये इसके लिये अनुमान प्रमाणका उल्लेख करती है—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रती-

च्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथिवी विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, अर्धमास (पक्ष) मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतोंसे बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस-जिस दिशाको बहने लगती हैं, उसीका अनुसरण करती रहती हैं। हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें मनुष्य दाताकी प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमानका और पितृगण दर्वीहोमका अनुवर्तन करते हैं ॥ ९ ॥

एतस्य वा अक्षरस्य; यदेतदधिगतमक्षरं सर्वान्तरं साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म, य आत्मा अशनायादिधर्मातीतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने —यथा राज्ञः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नियतं वर्तते, एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ, सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ अहोरात्रयोर्लोकप्रदीपौ, तादर्थ्येन प्रशासित्रा ताभ्यां निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञान-

'एतस्य वा अक्षरस्य' इत्यादि; यह जो सर्वान्तर साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मरूप अक्षर जाना गया है, जो क्षुधादि धर्मोंसे रहित आत्मा है, हे गार्गि ! इस अक्षरके प्रशासनमें—जैसे कि राजाके प्रशासनमें राज्य अखण्ड और नियमितरूपसे रहता है, इसी प्रकार इस अक्षरके प्रशासनमें सूर्याचन्द्रमसौ—सूर्य और चन्द्र, जो दिन और रातके समय लोकके दीपक ही हैं और जिन्हें उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले लोकके प्रयोजनको जाननेवाले प्रशासनकर्ताने उस उद्देश्यकी पूर्तिके

वता निर्मितौ च, स्यातां साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वाल्लौकिकप्रदीपवत्। तस्मादस्ति तद् येन विधृतावीश्वरौ स्वतन्त्रौ सन्तौ निर्मितौ तिष्ठतो नियतदेशकालनिमित्तोदयास्तमयवृद्धिक्षयाभ्यां वर्तेते; तदस्त्येवमेतयोः प्रशासित्रक्षरम्, प्रदीपकर्तृविधारयितृवत् ।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ द्यौश्च पृथिवी च सावयवत्वात् स्फुटनस्वभावे अपि सत्यौ गुरुत्वात् पतनस्वभावे संयुक्तत्वाद् वियोगस्वभावे चेतनावदभिमानिदेवताधिष्ठितत्वात् स्वतन्त्रे अपि एतस्याक्षरस्य प्रशासने वर्तेते विधृते तिष्ठतः; एतद्ध्यक्षरं सर्वव्यवस्थासेतुः सर्वमर्यादाविधरणम्, अतो नास्याक्षरस्य प्र-

लिये रचा है, साधारणतया समस्त प्राणियोंका प्रकाशरूप उपकार करनेवाले होनेसे लौकिक दीपकोंके समान धारण किये हुए स्थित हैं। अतः ये दोनों (सूर्य और चन्द्र) स्वतन्त्र ईश्वर होनेपर भी जिसके द्वारा निर्मित और विधृत होकर नियत देश, काल और [प्राणियोंके अदृष्टरूप] निमित्तसे उदय-अस्त एवं वृद्धि-क्षयको प्राप्त होते हुए विद्यमान रहते हैं, वह अक्षर है तथा इस प्रकार वह अक्षर दीपकके कर्ता और विधारयिताके समान इन दोनोंका प्रशासनकर्ता है।

हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें 'द्यावापृथिव्यौ'—द्युलोक और पृथिवी सावयव होनेके कारण फूटनेके स्वभाववाले, भारी होनेके कारण गिरनेके स्वभाववाले, संयुक्त होनेके कारण वियुक्त होनेके स्वभाववाले और चेतनावान् अभिमानी देवतासे अधिष्ठित होनेके कारण स्वतन्त्र होनेपर भी इस अक्षरके प्रशासनमें विधृत होकर स्थित हैं। यह अक्षर ही समस्त व्यवस्थाओंका सेतु—समस्त मर्यादाओंका विधारक है; अतः द्युलोक और पृथिवी इसके

शासनं द्यावापृथिव्यावतिक्रामतः; तस्मात् सिद्धमस्यास्तित्वमक्षरस्य अव्यभिचारि हि तल्लिङ्गम्, यद् द्यावापृथिव्यौ नियते वर्तेते; चेतनावन्तं प्रशासितारमसंसारिणमन्तरेण नैतद् युक्तम्। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" इति मन्त्रवर्णात्।

प्रशासनका अतिक्रमण नहीं कर सकते; इससे इस अक्षरका अस्तित्व सिद्ध होता है; द्युलोक और पृथिवी इसके द्वारा नियमित होकर विद्यमान हैं-यह इसकी सत्ताका अव्यभिचारी लिङ्ग है; क्योंकि किसी चेतनावान् असंसारी शासकके बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है; जैसा कि "जिसके द्वारा द्युलोक उग्र और पृथिवी दृढ की गयी है" इत्यादि मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि, निमेषा मुहूर्ता इत्येते कालावयवाः सर्वस्य अतीतानागतवर्तमानस्य जनिमतः कलयितारः—यथा लोके प्रभुणा नियतो गणकः सर्वमायं व्ययं चाप्रमत्तो गणयति, तथा प्रभुस्थानीय एषां कालावयवानां नियन्ता।

हे गार्गि! इस अक्षरके प्रशासनमें ही निमेष, मुहूर्त इत्यादि कालके अवयव उत्पन्न होनेवाले समस्त अतीत और अनागत पदार्थोंकी कलना (गणना) करनेवाले हैं; जिस प्रकार लोकमें स्वामीके द्वारा नियुक्त किया हुआ गणक (मुनीम) प्रमादशून्य रहकर समस्त आय और व्ययकी गणना करता है, उसी प्रकार इन कालावयवोंका नियन्ता भी इनका प्रभुरूप है।

तथा प्राच्यः प्रागञ्चनाः पूर्वदिग्गमना नद्यः स्यन्दन्ते स्रवन्ति श्वेतेभ्यो हिमवदादिभ्यः पर्वतेभ्यो गिरिभ्यो गङ्गाद्या नद्यस्ताश्च यथा

इसी तरह हिमालय आदि श्वेत पर्वतोंसे निकलनेवाली प्राच्य—पूर्वकी ओर बहनेवाली अर्थात् पूर्व-दिशाकी ओर गमन करनेवाली गङ्गा आदि नदियाँ, अन्य दिशामें प्रवृत्त होनेका

प्रवर्तिता एव नियताः प्रवर्तन्ते- ऽन्यथापि प्रवर्तितुमुत्सहन्त्यः; तदेतल्लिङ्गं प्रशास्तुः। प्रतीच्यो- ऽन्याः प्रतीचीं दिशमञ्चन्ति सिन्ध्वाद्या नद्यः; अन्याश्च यां यां दिशमनुप्रवृत्तास्तां तां न व्यभिचरन्ति; तच्च लिङ्गम्।

सामर्थ्य होनेपर भी, जिस ओर नियुक्त कर दी गयी हैं, उसी ओर प्रवृत्त रहती हैं, यह भी उस प्रशासनकर्ताकी सत्ताका लिङ्ग है। तथा अन्य सिन्धु आदि नदियाँ प्रतीच्य-प्रतीची (पश्चिम) दिशा- को बहती हैं। अन्य नदियाँ भी जिस-जिस दिशामें अनुप्रवृत्त कर दी गयी हैं, उस-उसको नहीं छोड़तीं; यह भी उस अक्षर प्रशास्ताके अस्तित्वका लिङ्ग है।

किञ्च ददतो हिरण्यादीन् प्रय- च्छत आत्मपीडां कुर्वतोऽपि प्रमाणज्ञा अपि मनुष्याः प्रशं- सन्ति; तत्र यच्च दीयते, ये च ददति, ये च प्रतिगृह्णन्ति, तेषा- मिहैव समागमो विलयश्चान्वक्षो दृश्यते; अदृष्टस्तु परः समागमः; तथापि मनुष्या ददतां दानफलेन संयोगं पश्यन्तः प्रमाणज्ञतया प्रशंसन्ति; तच्च, कर्मफलेन संयो- जयितरि कर्तुः कर्मफलविभागज्ञे प्रशास्तर्यसति न स्यात्; दान- क्रियायाः प्रत्यक्षविनाशित्वात्;

इसके सिवा अपनेको कष्ट देकर भी दान करनेवाले—सुवर्णादि देने- वाले पुरुषकी भी प्रमाणज्ञजन प्रशंसा करते हैं; सो जो कुछ दिया जाता है, जो देते हैं और जो ग्रहण करते हैं, उनका यहीं मिलना और बिछुड़ना प्रत्यक्ष देखा जाता है; पारलौकिक समागम तो अदृष्ट है; तो भी दानीका दानके फलसे संयोग देखनेवाले पुरुष प्रमाणके ज्ञाता होनेके कारण उनकी प्रशंसा करते हैं; किंतु यह बात कर्मफलसे संयोग करानेवाले कर्ता और कर्मफलके ज्ञाता प्रशास्ताकी सत्ता न होनेपर होनी सम्भव नहीं थी, क्योंकि दान- क्रिया तो प्रत्यक्ष विनाशिनी है।

तस्मादस्ति दानकर्तॄणां फलेन संयोजयिता।

अपूर्वमिति चेत्?

न, तत्सद्भावे प्रमाणानुपपत्तेः

प्रशास्तुरपीति चेत्।

न, आगमतात्पर्यस्य सिद्धत्वात्; अवोचाम ह्यागमस्य वस्तुपरत्वम्। किञ्चान्यत्, अपूर्वकल्पनायां चार्थापत्तेः क्षयोऽन्यथैवोपपत्तेः। सेवाफलस्य सेव्यात् प्राप्तिदर्शनात्। सेवायाश्च क्रियात्वात्, तत्सामान्याच्च यागदानहोमादीनां सेव्याद् ईश्वरादेः फलप्राप्तिरुपपद्यते दृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यमपरित्यज्यैव

अतः दानकर्ताओंका फलसे संयोग करानेवाला कोई है ही।

पूर्व०—यदि कहें कि अपूर्व ही फलदाता है तो?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उसकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है।

पूर्व०—सो तो प्रशास्ताकी सत्तामें भी नहीं है?

सिद्धान्ती—नहीं, उसमें तो शास्त्रका तात्पर्य सिद्ध हो चुका है; हम शास्त्रका आत्मवस्तुपरत्व प्रतिपादन कर चुके हैं; इसके सिवा एक बात और भी है—अपूर्वकी कल्पना करनेमें जिस अर्थापत्ति[1]का आश्रय लिया जाता है, उसका क्षय तो अन्यथा उपपत्ति (दूसरे प्रकारसे भी फलकी सिद्धि) होनेसे ही हो जाता है, क्योंकि सेवाके फलकी प्राप्ति सेव्यसे होती देखी जाती है; सेवा क्रिया है, अतः उसीके समान होनेके कारण याग, दान और होमादिके फलकी प्राप्ति भी ईश्वरादि सेव्योंसे ही होनी उचित है। क्रियाधर्मके दृष्टसामर्थ्य-

---

1 जहाँ अन्यथा अनुपपत्ति होती हो अर्थात् किसी एक वस्तु या सिद्धान्तको माने बिना काम न चलता हो, सङ्गति न लगती हो, वहाँ ही 'अर्थापत्ति' स्वीकार की जाती है; जैसे यज्ञादि क्रिया तो इस लोकमें ही समाप्त हो जाती है, कालान्तरमें मिलनेवाले स्वर्गादि फलका सम्बन्ध उस क्रियाके साथ क्योंकर माना जा सकता है? क्रिया तो नष्ट हो चुकी है, वह है ही कहाँ जो फल दे सके?

फलप्राप्तिकल्पनोपपत्तौ दृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यपरित्यागो न न्याय्यः। कल्पनाधिक्याच्च; ईश्वरः कल्प्योऽपूर्वं वा ? तत्र क्रियायाश्च स्वभावः सेव्यात् फलप्राप्तिर्दृष्टा न त्वपूर्वात्; न चापूर्वं दृष्टम्; तत्रापूर्वमदृष्टं कल्पयितव्यं तस्य च फलदातृत्वे सामर्थ्यम्, सामर्थ्ये च सति दानं चाभ्यधिकमिति। इह तु ईश्वरस्य सेव्यस्य सद्भावमात्रं कल्प्यम्, न तु फलदानसामर्थ्यं

को बिना त्यागे ही यदि फलप्राप्तिकी कल्पना उत्पन्न हो सकती है तो उस दृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यका त्याग करना युक्तियुक्त नहीं है।

इसके सिवा अपूर्वकी कल्पना करनेमें कल्पनाधिक्यका दोष भी होता है; विचार करो कि ईश्वरकी कल्पना करनी चाहिये या अपूर्वकी। किंतु क्रियाका स्वभाव तो सेव्यसे फल-प्राप्ति होना देखा गया है, अपूर्वसे नहीं और अपूर्व दृष्ट भी नहीं है। अतः उस पक्षमें अदृष्ट अपूर्वकी कल्पना करनी पड़ती है और उसमें फल-प्रदान करनेके सामर्थ्यकी भी। इस प्रकार सामर्थ्य स्वीकार करनेपर दानकी अधिक कल्पना की जाती है। किंतु इस पक्षमें केवल सेव्य ईश्वरकी सत्तामात्रहीकी कल्पना की जाती है, उसके फलदानके सामर्थ्य और

इस प्रकार फलसिद्धिमें अनुपपत्ति देखकर मीमांसक लोग क्रियासे अपूर्वकी उत्पत्ति मानते हैं; वह अपूर्व ही कालान्तरमें स्वर्गादि फलका जनक होता है।

भाष्यकार अर्थापत्तिका खण्डन करते हुए कहते हैं—अन्यथा अनुपपत्ति हो तो 'अपूर्व स्वीकार करनेमें' हर्ज नहीं मगर यहाँ तो अन्यथा भी उपपत्ति हो जाती है. अपूर्व स्वीकार किये विना भी क्रियाके फलकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं आती। जैसे सेवा एक क्रिया है, उसका मूल्य लोकमें स्वामी चुकाता है, उसी प्रकार दान और यज्ञ भी क्रिया हैं, इनका फल भी लौकिक स्वामीकी भाँति सेव्य परमेश्वर ही विचारकर दे सकते हैं। इस प्रकार अर्थापत्तिका यहाँ क्षय हो जाता है, क्योंकि यहाँ अन्यथा भी फलकी उपपत्ति (सिद्धि) होती है। ईश्वरको न मानकर अपूर्वकी कल्पनामें जो दोष आते हैं, उनको भाष्यकारने आगे भाष्यमें बताया है।

दातृत्वं च, सेव्यात् फलप्राप्तिदर्शनात्। अनुमानं च दर्शितम्—'द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' इत्यादि।

तथा च यजमानं देवा ईश्वराः सन्तो जीवनार्थेऽनुगताः, चरुपुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेन, अन्यथापि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां दीनां वृत्तिमाश्रित्य स्थिताः, तच्च प्रशास्तुः प्रशासनात् स्यात्। तथा पितरोऽपि तदर्थं दर्वीं दर्वीहोममन्वायत्ता अनुगता इत्यर्थः; समानं सर्वमन्यत्॥ ९॥

दातृत्वकी नहीं; क्योंकि सेव्यसे फलप्राप्ति होती देखी ही गयी है। इस विषयमें 'द्युलोक और पृथिवी धारण किये हुए स्थित हैं'—इत्यादिरूपसे अनुमान भी दिखाया गया है।

इसी प्रकार देवगण समर्थ होनेपर भी जो जीवनके लिये—चरुपुरोडाशादिके आश्रय जीवनयापनके प्रयोजनसे यजमानके अनुगत रहते है, अर्थात् अन्य प्रकारसे जीवित रहनेमें समर्थ होनेपर भी वे जो इस कृपण-दीन वृत्तिको आश्रित करके स्थित रहते हैं, यह भी उस प्रशास्ताके प्रशासनसे ही होना सम्भव है। इसी प्रकार पितृगण भी जीविकाके लिये दर्वीके अर्थात् पितरोंके उद्देश्यसे किये जानेवाले दर्वीहोमके अन्वायत्त—अनुगत हैं। शेष सब इसीके समान समझना चाहिये॥ ९॥

अक्षरके ज्ञान और अज्ञानके परिणाम

इतश्चास्ति तदक्षरं यस्मात्तदज्ञाने नियता संसारोपपत्तिः। भवितव्यं तु तेन, यद्विज्ञानात् तद्विच्छेदः, न्यायोपपत्तेः। ननु क्रियात एव

इस अक्षरकी सत्ता इसलिये भी है; क्योंकि इसके अज्ञानसे ही नियमतः संसारकी उपपत्ति हो सकती है। जिसके विज्ञानसे उस (संसार) का विच्छेद हो सकता है, वह वस्तु होनी ही चाहिये क्योंकि यही न्यायोचित है। यदि

तद्विच्छित्तिः स्यादिति चेत् ?

न—

कहो कि उसका विच्छेद कर्मसे ही हो जायगा तो ऐसा कहना उचित नहीं [क्योंकि-]

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

हे गार्गि ! जो कोई इस लोकमें इस अक्षरको न जानकर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त तप करता है उसका वह सब कर्म अन्तवान् ही होता है। जो कोई भी इस अक्षरको विना जाने इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण (दीन) है और हे गार्गि ! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

यो वा एतदक्षरं हे गार्गि अविदित्वाविज्ञाय अस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते यद्यपि बहूनि वर्षसहस्राणि, अन्तवद् एवास्य तत् फलं भवति, तत्फलोपभोगान्ते क्षीयन्त एवास्य कर्माणि। अपि च यद्विज्ञानात् कार्पण्यात्ययः संसारविच्छेदः, यद्विज्ञानाभावाच्च कर्मकृत् कृपणः कृतफलस्यैवोपभोक्ता जननमरणप्रबन्धारूढः संसरति, तदस्त्यक्षरं

हे गार्गि ! इस लोकमें जो कोई इस अक्षरको न जानकर अर्थात् बिना जाने हवन, यज्ञ और अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त तप भी करता है तो उसका वह फल अन्तवान् ही होता है; उस फल-भोगके पश्चात् इसके कर्म क्षीण हो ही जाते हैं। इसके सिवा जिसके विज्ञानसे कृपणताका अतिक्रमण और संसारका विच्छेद होता है तथा जिसका विज्ञान न होनेसे कर्मकर्ता कृपण, किये हुए कर्मके फलका ही उपभोग करनेवाला और जन्म-मरणकी परम्परापर आरूढ होकर संसारबन्धनको प्राप्त होता है, वह अक्षर ही

प्रशासितृ; तद्वेतदुच्यते—यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः, पणक्रीत इव दासादिः। अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

प्रशास्ता है। इसीसे यह कहा जाता है—हे गार्गि! जो भी इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे मरकर जाता है, वह पैसोंसे खरीदे हुए गुलाम आदिकी तरह कृपण (दीन) है। और हे गार्गि! जो कोई इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है ॥१०॥

अक्षरका स्वरूप, लक्षण और अद्वितीयत्व

अग्नेर्दहनप्रकाशकत्ववत् स्वाभाविकमस्य प्रशास्तृत्वमचेतनस्यैवेत्यत आह—

[प्रधानवादीका कथन है कि] अग्निके दहन और प्रकाशकत्वके समान यह अचेतन ही स्वाभाविक शासन करनेवाला है, इसीसे याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

तद् वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतँ श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रे तस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

हे गार्गि! यह अक्षर स्वयं दृष्टिका विषय नहीं, किंतु द्रष्टा है, श्रवणका विषय नहीं, किंतु श्रोता है, मननका विषय नहीं, किंतु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंका विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश ओतप्रोत है ॥ ११ ॥

तद् वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं न केनचिद् दृष्टम्, अविषयत्वात्

हे गार्गि! वह यह अक्षर अदृष्ट है, दृष्टिका विषय न होनेके कारण वह किसीके द्वारा देखा नहीं गया है, किंतु

स्वयं तु द्रष्टृ दृष्टिस्वरूपत्वात्। तथा श्रुतं श्रोत्राविषयत्वात्, स्वयं श्रोतृ श्रुतिस्वरूपत्वात्। तथामतं मनसोऽविषयत्वात्, स्वयं मन्तृ मतिस्वरूपत्वात्। तथाविज्ञातं बुद्धेरविषयत्वात्, स्वयं विज्ञातृ विज्ञानस्वरूपत्वात्।

स्वयं दृष्टिस्वरूप होनेके कारण द्रष्टा है। इसी प्रकार यह श्रोत्रका अविषय होनेके कारण सुना नहीं गया है, किंतु स्वयं श्रुतिस्वरूप होनेसे श्रोता है। तथा मनका अविषय होनेके कारण यह मननका विषय नहीं होता, किंतु स्वयं मतिस्वरूप होनेसे मन्ता है। इसी तरह बुद्धिका अविषय होनेके कारण विज्ञात नहीं है; किंतु स्वयं विज्ञानस्वरूप होनेसे विज्ञाता है।

किञ्च नान्यदतोऽस्मादक्षरादस्ति—नास्ति किञ्चिद् द्रष्टृ दर्शनक्रियाकर्तृ; एतदेवाक्षरं दर्शनक्रियाकर्तृ सर्वत्र। तथा नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ; तदेवाक्षरं श्रोतृ सर्वत्र। नान्यदतोऽस्ति मन्तृ; तदेवाक्षरं मन्तृ सर्वत्र सर्वमनोद्वारेण। नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ विज्ञानक्रियाकर्तृ, तदेवाक्षरं सर्वबुद्धिद्वारेण विज्ञानक्रियाकर्तृ, नाचेतनं प्रधानमन्यद् वा।

यही नहीं, इस अक्षरसे भिन्न कोई द्रष्टा--दर्शन-क्रियाका कर्ता भी नहीं है; यह अक्षर ही सर्वत्र दर्शन-क्रियाका कर्ता है; इसी प्रकार इससे भिन्न कोई श्रोता भी नहीं है; यह अक्षर ही सर्वत्र श्रोता है। इससे भिन्न कोई मन्ता भी नहीं है; सम्पूर्ण मनोंके द्वारा सर्वत्र वह अक्षर ही मनन करनेवाला है और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता—विज्ञान—क्रियाका कर्ता है, समस्त बुद्धियोंके द्वारा वह अक्षर ही विज्ञान क्रियाका कर्ता है–अचेतन प्रधान अथवा कोई अन्य नहीं।

एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरोऽशनायादिसंसारधर्मातीतः, यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोत-

हे गार्गि! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश ओतप्रोत है। जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो क्षुधादि संसारधर्मोंसे अतीत सर्वान्तर आत्मा है और जिसमें आकाश ओतप्रोत

श्च, एषा परा काष्ठा, एषा परा गतिः, एतत् परं ब्रह्म, एतत् पृथिव्यादेराकाशान्तस्य सत्यस्य सत्यम् ॥ ११ ॥

है, वह (यह अक्षर) ही पराकाष्ठा है, यह परा गति है, यह परब्रह्म है और यही पृथिवीसे लेकर आकाशपर्यन्त समस्त सत्यका सत्य है ॥ ११ ॥

गार्गीका निर्णय

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥ १२ ॥

उस गार्गीने कहा, 'पूज्य ब्राह्मणगण ! आपलोग इसीको बहुत मानें कि इन याज्ञवल्क्यजीसे आपको नमस्कारद्वारा ही छुटकारा मिल जाय । आपमेंसे कोई भी कभी इन्हें ब्रह्मविषयक वादमें जीतनेवाला नहीं है ।' तदनन्तर वचक्नुकी पुत्री गार्गी चुप हो गयी ॥ १२ ॥

सा होवाच—हे ब्राह्मणा भगवन्तः शृणुत मदीयं वचः; तदेव बहु मन्येध्वम्; किं तत् ? यदस्माद् याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्वम्—अस्मै नमस्कारं कृत्वा तदेव बहु मन्यध्वमित्यर्थः; जयस्त्वस्य मनसापि न आशंसनीयः, किमुत कार्यतः; कस्मात् ? न वै युष्माकं मध्ये जातु कदाचिदपीमं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मोद्यं प्रति जेता ।

वह बोली, 'हे भगवन् (पूजनीय) ब्राह्मणो ! मेरी बात सुनो; तुमलोग इसीको बहुत समझो; सो किसको ? यही कि तुम इन याज्ञवल्क्यजीसे नमस्कारके द्वारा ही मुक्त हो जाओ अर्थात् यदि इन्हें नमस्कार करके ही छुटकारा पा जाओ तो इसीको बहुत मानो; इनको जीतनेकी तो मनसे भी आशा नहीं करनी चाहिये, कार्यद्वारा जीतनेकी तो बात ही क्या है ? क्यों ? क्योंकि आपमेंसे कोई भी कभी इन याज्ञवल्क्यजीको ब्रह्मसम्बन्धी वादमें जीतनेवाला नहीं है।

प्रश्नौ चेन्मह्यं वक्ष्यति, न जेता भवितेति पूर्वमेव मया प्रतिज्ञातम्; अद्यापि ममायमेव निश्चयः—ब्रह्मोद्यं प्रत्येतत्तुल्यो न कश्चिद् विद्यत इति। ततो ह वाचक्नव्युपरराम।

मैं पहले ही प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ कि यदि ये मेरे दो प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो आपमेंसे कोई भी विजयी नहीं होगा। आज भी मेरा यही निश्चय है कि ब्रह्मसम्बन्धी वादमें इनके समान कोई नहीं है।' तदनन्तर वचक्नुकी पुत्री गार्गी चुप हो गयी।

प्रकरणार्थ-परामर्श

अत्र अन्तर्यामिब्राह्मणे एतद् उक्तम्—यं पृथिवी न वेद, यं सर्वाणि भूतानि न विदुरिति च। यमन्तर्यामिणं न विदुर्ये च न विदुर्यच्च तदक्षरं दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वेन सर्वेषां चेतनाधातुरित्युक्तम्—कस्तेषां विशेषः, किं वा सामान्यमिति।

यहाँ अन्तर्यामिब्राह्मणमें यह कहा गया था कि जिसे पृथिवी नहीं जानती तथा जिसे सम्पूर्ण भूत नहीं जानते इत्यादि। इस प्रकार जिन अन्तर्यामीको नहीं जानते, जो नहीं जानते और जो वह अक्षर है, जिसे समस्त विषयोंकी दर्शनादि-क्रियाओंके कर्तारूपसे सबकी चेतनाका धातु कहा गया है—इन सबमें क्या अन्तर है और क्या समानता है?

तत्र केचिदाचक्षते—परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणोऽक्षरस्य अप्रचलितस्वरूपस्येषत्प्रचलितावस्थान्तर्यामी; अत्यन्तप्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञः, यस्तं न वेदान्तर्यामिणम्; तथान्याः पञ्चावस्थाः परिकल्पयन्ति, तथा अष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्ति।

यहाँ कोई-कोई कहते हैं—महासमुद्रस्थानीय अविचलरूप अक्षर परब्रह्मकी किञ्चिद् विचलित अवस्थाका नाम अन्तर्यामी है और उसकी अत्यन्त विचलित अवस्था क्षेत्रज्ञ है, जो कि उस अन्तर्यामीको नहीं जानता; इनके सिवा वे उसकी [पिण्ड, जाति, विराट्, सूत्र और देव—इन] अन्य पाँच अवस्थाओंकी भी कल्पना करते हैं; इस प्रकार वे कहते हैं कि ब्रह्मकी कुल आठ अवस्थाएँ हैं।

अन्येऽक्षरस्य शक्तय एता इति वदन्ति, अनन्तशक्तिमदक्षरमिति च। अन्ये त्वक्षरस्य विकारा इति वदन्ति। अवस्थाशक्ती तावन्नोपपद्येते अक्षरस्य, अशनायादिसंसारधर्मातीतत्वश्रुतेः। न ह्यशनायाद्यतीतत्वमशनायादिधर्मवदवस्थावत्त्वं चैकस्य युगपदुपपद्यते; तथा शक्तिमत्त्वं च। विकारावयवत्वे च दोषाः प्रदर्शिताश्चतुर्थे। तस्मादेता असत्याः सर्वाः कल्पनाः।

कस्तर्हि भेद एषाम्? उपाधिकृत इति ब्रूमः; न स्वत एषां भेदोऽभेदो वा, सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघनैकरसस्वाभाव्यात्, "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २।५।१९) "अयमात्मा ब्रह्म" (२।५।१९) इति च श्रुतेः। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २।१।२) इति

इनसे भिन्न दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि ये अक्षरकी शक्तियाँ हैं; और उनका यह भी कथन है कि वह अक्षर अनन्त शक्तिमान् है। इनके सिवा दूसरे लोग यह कहते हैं कि ये अक्षरके विकार हैं। किंतु इनका अक्षरकी अवस्था या शक्ति होना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह क्षुधादि संसारधर्मोंसे अतीत है—ऐसी श्रुति है। एक ही वस्तुका एक साथ क्षुधादि धर्मोंसे अतीत होना और क्षुधादि धर्मवाली अवस्थाओंसे युक्त होना सम्भव नहीं है; इसी प्रकार उसका शक्तिमान् होना भी असम्भव है। उसके विकार या अवयव माननेमें जो दोष हैं, वे चतुर्थ ब्राह्मणमें दिखाये जा चुके हैं। इसलिये ये सारी कल्पनाएँ असत्य हैं।

तो फिर इनका भेद क्या है? हमारा कथन है कि इनका भेद उपाधिकृत है। स्वयं तो इनका भेद या अभेद कुछ भी नहीं है, क्योंकि ये सैन्धवघनके समान एकमात्र प्रज्ञानघनरसस्वरूप हैं। जैसा कि "वह कारणसे भिन्न, कार्यसे भिन्न अन्तररहित और अबाह्य है" "यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है तथा "वह बाहर-भीतरके सहित सर्वत्र विद्यमान एवं अजन्मा है" ऐसा आथर्वण

पाथर्वणे । तस्मान्निरुपाधिकस्यात्मनो निरुपाख्यत्वान्निर्विशेषत्वादेकत्वाच्च "नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इति व्यपदेशो भवति ।

अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते । नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्मान्तर्यामीश्वर उच्यते, स एव निरुपाधिः केवलः शुद्धः स्वेन स्वभावेनाक्षरं पर उच्यते, तथा हिरण्यगर्भाव्याकृतदेवताजातिपिण्डमनुष्यतिर्यक्प्रेतादिकार्यकरणोपाधिभिर्विशिष्टस्तदाख्यस्तद्रूपो भवति । तथा "तदेजति तन्नैजति" (ईशा० उ० ५) इति व्याख्यातम् । तथा "एष त आत्मा" (बृ० उ० ३ । ७ । ३–२३) "एष सर्वभूतान्तरात्मा" (मु० उ० २ । १ । ४) "एष सर्वेषु भूतेषु गूढः" (क० उ० १ । ३ । १२) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८ । १६) "अहमेवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । १) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ० उ० ३ । ७ । २३) इत्यादिश्रुतयो न विरुध्यन्ते । कल्पनान्तरेष्वेताः श्रुतयो न

श्रुतिमें कहा है । अतः उपाधिशून्य आत्मा अनिर्वचनीय, निर्विशेष और एक होनेके कारण उसका "नेति नेति" इस प्रकार उपदेश किया जाता है ।

अविद्या, काम और कर्मविशिष्ट देह एवं इन्द्रियरूप उपाधिवाला आत्मा संसारी जीव कहा जाता है । तथा नित्य निरतिशय ज्ञानशक्तिरूप उपाधिवाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है । वही उपाधिशून्य, केवल और शुद्ध होनेपर अपने स्वरूपसे अक्षर या पर कहा जाता है, तथा हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, देवता, जाति, पिण्ड, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत एवं शरीर और इन्द्रियरूप उपाधियोंसे विशिष्ट होकर वह उन्हीं नाम और रूपोंवाला होता है । ऐसा ही "वह चलता है, वह नहीं चलता" इत्यादि श्रुतिमें व्याख्या किया गया है और इस प्रकार "यह तेरा आत्मा", "यह समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है", "यह समस्त भूतोंमें छिपा हुआ है", "वह तू है", "मैं ही यह सब हूँ", "यह सब आत्मा ही है", "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध नहीं रहता । दूसरे प्रकारकी कल्पनाओंमें इन श्रुतियोंकी संगति नहीं लगती ।

गच्छन्ति । तस्मादुपाधिभेदे-नैव एषां भेदो नान्यथा । 'एक-मेवाद्वितीयम्' इत्यवधारणात् सर्वोपनिषत्सु ॥ १२ ॥

अतः उपाधिके भेदसे ही इनमें भेद है, और किसी प्रकार नहीं; क्योंकि समस्त उपनिषदोंमें यही निश्चय किया गया है कि 'ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय ही है' ॥ १२ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये
ऽष्टममक्षरब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

नवम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-शाकल्य-संवाद

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ । पृथिव्यादीनां सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण पूर्वस्य पूर्वस्य उत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नोतप्रोतभावं कथयन् सर्वान्तरं ब्रह्म प्रकाशितवान्, तस्य च ब्रह्मणो व्याकृतविषये सूत्रभेदेषु नियन्तृत्वमुक्तम्—व्याकृतविषये व्यक्ततरं लिङ्गमिति । तस्यैव ब्रह्मणः साक्षादपरोक्षत्वे नियन्तव्यदेवताभेदसंकोचविका

'अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ' । पृथिवी आदिके सूक्ष्मतारतम्यक्रमसे पूर्व-पूर्व पदार्थका उत्तरोत्तरवर्ती पदार्थमें ओत-प्रोतभाव बतलाते हुए याज्ञवल्क्यने सर्वान्तर ब्रह्मको प्रकाशित किया है । और उस ब्रह्मका, नाम-रूपात्मक द्वैत-प्रपञ्चमें जो पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न सूत्र हैं, उनमें नियन्तृत्व बतलाया गया है । व्याकृत विषयोंमें ब्रह्मके नियन्ता होनेमें अत्यन्त स्पष्ट लिङ्ग है[1] । उसी ब्रह्मका नियन्तव्य देवताभेदके [प्राणपर्यन्त] संकोच और [आनन्त्यपर्यन्त] विकासद्वारा साक्षात् एवं अपरोक्ष

१. 'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इत्यादि मन्त्रोंमें जो परतन्त्र पृथिवी आदिका ग्रहण किया है, इससे इनका नियम्य होना और ब्रह्मका नियामक होना सूचित होता है ।

सद्वारेणाधिगन्तव्ये इति तदर्थं शाकल्यब्राह्मणमारभ्यते—

ज्ञान प्राप्त करना है, इसीलिये शाकल्यब्राह्मण आरम्भ किया जाता है—

देवताओंकी संख्या

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् इस याज्ञवल्क्यसे शाकल्य विदग्धने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य ! कितने देवगण हैं ?' तब याज्ञवल्क्यने इस आगे कही जानेवाली निविद्से ही उनकी संख्याका प्रतिपादन किया। 'जितने वैश्वदेवकी निविद्में अर्थात् देवताओंकी संख्या बतानेवाले मन्त्रपदोंमें बतलाये गये हैं। वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र (तीन हजार तीन सौ छः) हैं।' [तब शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा। फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'तैंतीस'। [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'तो, याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'छः !' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन !' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पुनः पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'दो।' [शाकल्य-

ने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'डेढ़ ।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा, और पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'एक ।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र देव कौन-से हैं ?' ॥ १ ॥

अथ हैनं विदग्ध इति नामतः शकलस्यापत्यं शाकल्यः पप्रच्छ—कतिसंख्याका देवा हे याज्ञवल्क्येति । स याज्ञवल्क्यः, ह किल, एतयैव वक्ष्यमाणया निविदा प्रतिपेदे संख्याम्, यां संख्यां पृष्टवाञ्शाकल्यः । यावन्तो यावत्संख्याका देवा वैश्वदेवस्य शस्त्रस्य निविदि—निविन्नाम देवतासंख्यावाचकानि मन्त्रपदानि, कानिचिद् वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यन्ते तानि निवित्संज्ञकानि; तस्यां निविदि यावन्तो देवाः श्रूयन्ते तावन्तो देवा इति ।

फिर इस याज्ञवल्क्यसे विदग्ध इस नामवाले शाकल्य—शकलके पुत्रने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य ! देवगण कितनी संख्यावाले हैं ?' उस याज्ञवल्क्यने, जो संख्या शाकल्यने पूछी थी उस संख्याका इस आगे बतलायी जानेवाली निविद्से निरूपण किया । जितने—जितनी संख्यावाले देवता विश्वेदेवसम्बन्धी शस्त्रकी निविद् (मन्त्र-पद) में बताये गये हैं (उतने सब देव हैं), निविद् कहते हैं देवताओंकी संख्या बतानेवाले मन्त्रपदोंको, विश्वेदेव-सम्बन्धी शस्त्रमें देवसंख्याप्रतिपादक कुछ मन्त्रपदोंका उपदेश किया गया है, वे सब 'निविद्' कहलाते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि उस निविद्में जितने देवगण श्रुतिद्वारा बताये जाते हैं, उतने ही कुल देवता हैं ।

का पुनः सा निविदिति तानि निवित्पदानि प्रदर्श्यन्ते—त्रयश्च त्री च शता—त्रयश्च देवाः,

किंतु वह निविद् क्या है ? वे निविद्के पद दिखलाये जाते हैं—'त्रयश्च त्री च शता' अर्थात् देवगण

देवानां त्री च त्रीणि च शतानि; पुनरप्येवं त्रयश्च, त्री च सहस्रा सहस्राणि—एतावन्तो देवा इति शाकल्योऽप्योमिति होवाच।

एवमेषां मध्यमा संख्या सम्यक्तया ज्ञाता, पुनस्तेषामेव देवानां संकोचविषयां संख्यां पृच्छति—कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति; त्रयस्त्रिंशत्; षट्, त्रयः, द्वौ, अध्यर्धः, एक इति। देवतासंकोचविकासविषयां संख्यां पृष्ट्वा पुनः संख्येयस्वरूपं पृच्छति—कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

तीन हैं और तीन सौ हैं। तथा इसी प्रकार वे तीन और तीन सहस्र हैं। यानी सम्पूर्ण देव इतने हैं। इसपर शाकल्यने भी 'ठीक है' ऐसा कहा।

इस प्रकार इनकी मध्यमा संख्याका ठीक-ठीक पता लग गया। फिर शाकल्य उन्हीं देवताओंकी संकोचविषयिणी संख्या पूछता है, 'हे याज्ञवल्क्य! देव कितने हैं?' तब याज्ञवल्क्य क्रमशः 'तैंतीस, छः, तीन, दो, डेढ़ और एक' ऐसा बतलाते हैं। इस प्रकार देवताओंके संकोच और विकासविषयक संख्या पूछकर फिर संख्येयके स्वरूपके विषयमें पूछता है, 'वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र देव कौन-से हैं?' ॥१॥

तैंतीस देवताओंका विवरण

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ २ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'ये तो इनकी महिमाएँ ही हैं। देवगण तो तैंतीस ही हैं।' [शाकल्य-] 'वे तैंतीस देव कौन-से हैं?' [याज्ञवल्क्य-] 'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य—ये इकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र और प्रजापतिके सहित तैंतीस हैं' ॥ २ ॥

स होवाचेतरः—महिमानो विभूतयः, एषां त्रयस्त्रिंशतः देवानाम् एते त्रयश्च त्री च शतेत्यादयः; परमार्थतस्तु त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्युच्यते—अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्यास्ते एकत्रिंशत्, इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति त्रयस्त्रिंशतः पूरणौ ॥ २ ॥

इसपर इतर (याज्ञवल्क्य) ने कहा—ये तीन और तीन सौ आदि देवगण इन तैंतीस देवताओंकी महिमा—विभूति ही हैं। वस्तुतः तो तैंतीस ही देवगण हैं, वे तैंतीस देवगण कौन-से हैं ? सो बतलाया जाता है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य—ये इकतीस हुए तथा इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीसकी पूर्ति करनेवाले हैं ॥ २ ॥

वसु कौन हैं ?

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीद्ꣳ सर्वꣳ हितमिति तस्माद् वसव इति ॥ ३ ॥

[शाकल्य-] 'वसु कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य-] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये वसु हैं; इन्हींमें यह सब जगत् निहित है, इसीसे ये वसु हैं' ॥ ३ ॥

कतमे वसव इति तेषां स्वरूपं प्रत्येकं पृच्छ्यते; अग्निश्च पृथिवी चेति—अग्न्याद्या नक्षत्रान्ता एते वसवः—प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति

'वसु कौन हैं ?' इस प्रकार उनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप पूछा जाता है। 'अग्निश्च पृथिवी च'—इस प्रकार अग्निसे लेकर नक्षत्रपर्यन्त ये सब वसु हैं। प्राणियोंके कर्मफलके आश्रय होकर उनके निवासस्थान देहेन्द्रियसंघातरूपसे विपरिणामको प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण जगत्‌को बसाये हुए हैं और स्वयं भी बसते हैं; [यह

वः; ते यस्माद् वासयन्ति तस्माद् वसव इति ॥ ३ ॥

उनका वसुत्व है]। वे चूँकि [दूसरोंको अपनेमें] बसाये हुए हैं, इसलिये वसु हैं ॥ ३ ॥

रुद्र कौन हैं ?

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

[शाकल्य—] 'रुद्र कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरुषमें ये दश प्राण (इन्द्रियाँ) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन)। ये जिस समय इस मरणशील शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, उस समय रुलाते हैं; अतः उत्क्रमण-कालमें चूँकि अपने सम्बन्धियोंको रुलाते हैं; इसलिये [रोदनके कारण होनेसे] रुद्र' कहलाते हैं' ॥ ४ ॥

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे कर्मबुद्धीन्द्रियाणि प्राणाः, आत्मा मन एकादशः—एकादशानां पूरणः; ते एते प्राणा यदा अस्माच्छरीरान्मर्त्यात् प्राणिनां कर्मफलोपभोगक्षये उत्क्रामन्ति—अथ तदा रोदयन्ति तत्सम्बन्धिनः। तत्तत्र यस्माद्रोदयन्ति ते सम्बन्धिनः, तस्माद् रुद्रा इति ॥ ४ ॥

'रुद्र कौन हैं ? [याज्ञवल्क्य—] 'इस पुरुषमें कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय—ये दश प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा—मन, जो ग्यारहकी पूर्ति करनेवाला है। वे ये प्राण जिस समय प्राणियोंके कर्मफलोपभोगका क्षय हो जानेपर इस मरणशील शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, उस समय ये उसके सम्बन्धियोंको रुलाते हैं। उस समय चूँकि ये सम्बन्धियोंको रुलाते हैं, इसलिये रोदनमें निमित्त होनेसे रुद्र कहलाते हैं' ॥ ४ ॥

आदित्य कौन हैं ?

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीद सर्वमाददाना यन्ति ते यदिद सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥५॥

[शाकल्य—] 'आदित्य कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'संवत्सरके अवयवभूत ये बारह मास ही आदित्य हैं; क्योंकि ये इस सबका आदान (ग्रहण) करते हुए चलते हैं, इसलिये आदित्य हैं' ॥ ५ ॥

कतम आदित्या इति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य कालस्यावयवाः प्रसिद्धाः, एते आदित्याः; कथम् ? एते हि यस्मात् पुनः पुनः परिवर्तमानाः प्राणिनामायूंषि कर्मफलं च आददाना गृह्णन्त उपाददतो यन्ति गच्छन्ति ते यद् यस्मादेवमिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

'आदित्य कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य-] बारह महीने संवत्सररूप कालके अवयव प्रसिद्ध हैं—वे ही आदित्य हैं। सो किस प्रकार ? क्योंकि ये ही पुनः-पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियोंकी आयु और कर्मफलका आदान—ग्रहण यानी उपादान करते हुए चलते हैं। वे चूँकि इस प्रकार इस सबका आदान करते हुए चलते हैं, इसलिये 'आददाना यन्ति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आदित्य कहलाते हैं' ॥ ५ ॥

इन्द्र और प्रजापति कौन हैं ?

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

[शाकल्य-] 'इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] स्तनयित्नु (विद्युत्) ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है।' [शाकल्य—]

'स्तनयित्नु कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अशनि।' [शाकल्य—] 'यज्ञ कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पशुगण' ॥ ६ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति, स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति, कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। अशनिर्वज्रं वीर्यं बलम्, यत् प्राणिनः प्रमापयति, स इन्द्रः; इन्द्रस्य हि तत् कर्म। कतमो यज्ञ इति पशव इति—यज्ञस्य हि साधनानि पशवः; यज्ञस्यारूपत्वात् पशुसाधनाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते ॥ ६ ॥

"इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है।' 'स्तनयित्नु ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है।' स्तनयित्नु कौन है?' 'अशनि।' अशनिवज्र-वीर्य अर्थात् बल, जो प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह अशनि इन्द्र है; इन्द्रका ही वह कर्म है। 'यज्ञ कौन है ?' 'पशुगण,' क्योंकि पशु यज्ञके साधन हैं; यज्ञ रूपरहित है और पशुरूप साधनके अधीन है इसलिये पशु यज्ञ हैं—ऐसा कहा जाता है ॥ ६ ॥

छः देवताओंका विवरण

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदꣳ सर्वं षडिति॥ ७ ॥

[शाकल्य—] 'छः देवगण कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक— ये छः देवगण हैं। ये वसु आदि तैंतीस देवताओंके रूपमें अग्नि आदि छः ही हैं' ॥ ७ ॥

कतमे षडिति; त एवाग्न्यादयो वसुत्वेन पठिताश्चन्द्रमसं नक्षत्राणि च वर्जयित्वा षड् भवन्ति—षट्संख्याविशिष्टाः। एते हि यस्मात्, त्रयस्त्रिंशदादि यदुक्तमिदं सर्वम्, एत एव षड् भवन्ति

'छः देवगण कौन हैं ?' 'वे वसु रूपसे पढ़े हुए अग्नि आदि ही चन्द्रमा और नक्षत्रोंको छोड़कर छः अर्थात् षट्संख्याविशिष्ट होते हैं, क्योंकि ये तैंतीस आदि बतलाये हुए समस्त देवगण ये छः ही होते

सर्वो हि वस्वादिविस्तर एतेष्वेव षट्स्वन्तर्भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

हैं। तात्पर्य यह है कि यह वसु आदि सम्पूर्ण देवताओंका विस्तार इन छः में ही अन्तर्भूत हो जाता है ॥ ७ ॥

—:o:—

देवताओंकी तीन, दो और डेढ़ संख्याओंका विवरण

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥८॥

[शाकल्य—] 'वे तीन देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'ये तीन लोक ही तीन देव हैं। इन्हींमें ये सब देव अन्तर्भूत हैं। [शाकल्य—] 'वे दो देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अन्न और प्राण।' [शाकल्य—] 'डेढ़ देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो यह बहता है' ॥ ८ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इति; इम एव त्रयो लोका इति—पृथिवीमग्निं चैकीकृत्यैको देवः, अन्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्य द्वितीयः, दिवमादित्यं चैकीकृत्य तृतीयः—ते एव त्रयो देवा इति। एषु, हि यस्मात्, त्रिषु देवेषु सर्वे देवा अन्तर्भवन्ति तेन त एव देवास्त्रयः—इत्येष नैरुक्तानां केषाञ्चित् पक्षः। कतमौ तौ द्वौ देवाविति—अन्नं चैव

'वे तीन देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य —] 'ये तीन लोक ही तीन देव हैं। पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव हैं, अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव हैं तथा द्युलोक और आदित्य मिलाकर तीसरे देव हैं। 'ते एव त्रयो देवाः' इति—क्योंकि इन तीन देवोंमें ही समस्त देवोंका अन्तर्भाव होता है, इसलिये ये ही तीन देव हैं—ऐसा किन्हीं निरुक्तवेत्ताओंका पक्ष है।'[1] 'वे दो देव कौन हैं ?' 'अन्न और प्राण—

१. तात्पर्य यह है कि कुछ ही लोगोंका ऐसा मत है, दूसरे लोग 'त्रयो लोकाः' इस पदसे 'भूः, भुवः, स्वः' इन नामोंसे प्रसिद्ध तीन लोक ही ग्रहण करते हैं।

'प्राणश्चैतौ द्वौ देवौ, अनयोः सर्वेषामुक्तानामन्तर्भावः । कतमोऽध्यर्ध इति—योऽयं पवते वायुः ॥ ८ ॥

ये दो देव हैं, इन्हींमें पूर्वोक्त सभी देवताओंका अन्तर्भाव हो जाता है।' 'डेढ़ देव कौन है?' 'जो यह बहता है, वह वायु डेढ़ देव है' ॥८॥

डेढ़ और एक देवका विवरण

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निद्ᳳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥

यहाँ ऐसा कहते हैं—'यह जो वायु है, एकही-सा बहता है, फिर यह अध्यर्ध—डेढ़ किस प्रकार है?' [उत्तर—] 'क्योंकि इसीमें यह सब ऋद्धिको प्राप्त होता है, इसलिये यह अध्यर्ध (डेढ़) है।' [शाकल्य—] "एक देव कौन है?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राण, वह ब्रह्म है, उसीको 'त्यत्' ऐसा कहते हैं' ॥ ९ ॥

तत्तत्राहुश्चोदयन्ति—यदयं वायुरेक इवैव एक एव पवते; अथ कथमध्यर्ध इति? यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्—अस्मिन् वायौ सतीदं सर्वमध्यार्ध्नोत्—अधिऋद्धिं प्राप्नोति, तेनाध्यर्ध इति।

इस विषयमें कोई ऐसा प्रश्न करते हैं—'यह जो वायु है 'एक इव'—एक-सा ही चलता है, फिर यह अध्यर्ध-डेढ़ क्यों है?" [उत्तर—] 'क्योंकि इसीमें यह सब 'अध्यार्ध्नोत् (अधिऋद्धि प्राप्नोत्)' अर्थात् इस वायुके रहते ही यह सब अधिऋद्धिको प्राप्त होता है, इसलिये यह अध्यर्ध है।'

कतम एको देव इति? प्राण इति स प्राणो ब्रह्म—सर्वदेवात्मकत्वान्महद् ब्रह्म, तेन स ब्रह्म त्य-

'एक देव कौन है?' 'प्राण' वह प्राण ब्रह्म है, सर्वदेवरूप होनेके कारण वह महद् ब्रह्म है; इसलिये

दित्याचक्षते--त्यदिति तद् ब्रह्मा-चक्षते परोक्षाभिधायकेन शब्देन ।

देवानामेतदेकत्वं नानात्वं च । अनन्तानां देवानां निविदसंख्याविशिष्टेष्वन्तर्भावः, तेषामपि त्रयस्त्रिंशदादिषूत्तरोत्तरेषु यावदेकस्मिन् प्राणे । प्राणस्यैव चैकस्य सर्वोऽनन्तसङ्ख्यातो विस्तरः । एवमेकश्चानन्तश्च अवान्तरसंख्याविशिष्टश्च प्राण एव । तत्र च देवस्यैकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदः, अधिकारभेदात् ॥ ९ ॥

वह ब्रह्म 'त्यत्' है—ऐसा कहते हैं। अर्थात् उस ब्रह्मको 'त्यत्' इस परोक्षवाचक शब्दसे कहते हैं।

यही देवताओंका एकत्व और नानात्व है। अनन्त देवोंका निवित्संख्याविशिष्ट देवोंमें अन्तर्भाव है, और उनका भी तैंतीस आदि उत्तरोत्तर देवोंमें यहाँतक कि अकेले प्राणमें ही अन्तर्भाव है। एक प्राणका ही यह सब अनन्त-संख्याके रूपमें विस्तार हुआ है। इस प्रकार एक, अनन्त तथा अन्यान्य संख्याओंसे विशिष्ट एक प्राण ही है। वहाँ अधिकारभेदसे एक ही देवके नाम, रूप, कर्म, गुण और शक्तिका भेद है ॥ ९ ॥

प्राणब्रह्मके आठ प्रकारके भेद

इदानीं तस्यैव प्राणस्य ब्रह्मणः पुनरष्टधा भेद उपदिश्यते—

अब उस प्राणब्रह्मके ही आठ प्रकारके भेद बतलाये जाते हैं—

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥ १० ॥

[शाकल्य—] 'पृथिवी ही जिसका आयतन है तथा अग्नि लोक (दर्शनशक्ति) और मन ज्योति (संकल्प-विकल्पका साधन) है, जो भी

उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण जानता है, वही ज्ञाता (पण्डित) है। याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघातका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। यह जो शारीर पुरुष है, वही यह है। शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'अच्छा, उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'अमृत' ऐसा कहा ॥ १० ॥

पृथिव्येव यस्य देवस्यायतनमाश्रयः, अग्निर्लोको यस्य—लोकयत्यनेनेति लोकः, पश्यतीति—अग्निना पश्यतीत्यर्थः। मनोज्योतिः मनसा ज्योतिषा संकल्पविकल्पादिकार्यं करोति यः, सोऽयं मनोज्योतिः। पृथिवीशरीरोऽग्निदर्शनो मनसा संकल्पयिता पृथिव्यभिमानी कार्यकरणसंघातवान् देव इत्यर्थः।

जिस देवका पृथिवी ही आयतन अर्थात् आश्रय है, अग्नि जिसका लोक है—इसके द्वारा अवलोकन करता है, इसलिये यह इसका लोक है, 'लोकयति' का अर्थ है—देखता है अर्थात् वह अग्निसे देखता है। तथा मनोज्योति है—जो मनरूप ज्योतिसे संकल्प-विकल्पादि कार्य करता है, वह यह देव मनोज्योति है। तात्पर्य यह है कि यह पृथिवीका अभिमानी कार्यकरणसंघातवान् देव पृथिवीरूप शरीरवाला, अग्निरूप दर्शनशक्तिवाला और मनसे संकल्प करनेवाला है।

य एवं विशिष्टं वै तं पुरुषं विद्याद् विजानीयात् सर्वस्यात्मन आध्यात्मिकस्य कार्यकरणसंघातस्य आत्मनः परमयनं पर आश्रयस्तं परायणम्। मातृजेन त्वङ्मांसरुधिररूपेण क्षेत्रस्थानीयेन बीजस्थानीयस्य पितृजस्य अस्थि-

जो ऐसे लक्षणोंसे युक्त उस पुरुषको सम्पूर्ण आत्माका—आध्यात्मिक कार्य-करणसंघातरूप आत्माका परम अयन यानी परम आश्रय जानता है अर्थात् मातृजनित क्षेत्रस्थानीय त्वचा, मांस और रुधिररूपसे पितृजनित बीजस्थानीय अस्थि-मज्जा और

मज्जाशुक्ररूपस्य परमयनम्, करणात्मनश्च, स वै वेदिता स्यात्। य एतदेवं वेत्ति स वै वेदिता पण्डितः स्यादित्यभिप्रायः। याज्ञवल्क्य त्वं तमजानन्नेव पण्डिताभिमानीत्यभिप्रायः।

यदि तद्विज्ञाने पाण्डित्यं लभ्यते, वेद वै अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ यं कथयसि तमहं वेद। तत्र शाकल्यस्य वचनं द्रष्टव्यम्—यदि त्वं वेत्थ तं पुरुषम्, ब्रूहि—किंविशेषणोऽसौ? शृणु यद्विशेषणः सः—य एवायं शारीरः—पार्थिवांशे शरीरे भवः शारीरो मातृजकोशत्रयरूप इत्यर्थः, स एष देवः, यस्त्वया पृष्टः, हे शाकल्य। किन्त्वस्ति तत्र वक्तव्यं विशेषणान्तरम्, तद् वदैव पृच्छैवेत्यर्थः, हे शाकल्य।

वीर्यरूपका तथा इन्द्रियात्माका वह परम अयन है—ऐसा जानता है, वही जाननेवाला है। तात्पर्य यह है कि जो इसे इस प्रकार जानता है, वही वेत्ता यानी पण्डित है। 'हे याज्ञवल्क्य! तुम तो उसे बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान करते हो'—ऐसा इसका अभिप्राय है।

[याज्ञवल्क्य—] 'यदि उसके विज्ञानसे ही पाण्डित्यकी प्राप्ति होती है तो मैं उस पुरुषको तो जानता हूँ; तुम जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करणसंघातका परायण बतलाते हो उस पुरुषका मुझे पता है।' यहाँ शाकल्यका यह वचन समझना चाहिये—'यदि तुम उस पुरुषको जानते हो तो बताओ वह किन विशेषणोंवाला है।' [याज्ञवल्क्य—], अच्छा, वह जिन विशेषणोंसे युक्त है, सो सुनो—जो भी यह शारीर है—शरीररूप पार्थिवांशमें होनेवालेको शारीर कहते हैं अर्थात् जो मातृजनित कोशत्रयरूप है, हे शाकल्य! वही वह देव है, जिसके विषयमें तुमने पूछा है। किंतु उसके विषयमें एक और विशेषण बतलाना आवश्यक है सो हे शाकल्य! उसको कहो अर्थात् उसके सम्बन्धमें पूछो।'

स एवं प्रक्षोभितोऽमर्षवशग आह—तोत्त्रार्दित इव गजः—तस्य देवस्य शारीरस्य का देवता ? यस्मान्निष्पद्यते यः सा तस्य देवतेत्यस्मिन् प्रकरणे विवक्षितः; अमृतमिति होवाच । अमृतमिति यो भुक्तस्यान्नस्य रसो मातृजस्य लोहितस्य निष्पत्तिहेतुः । तस्माद्ध्यन्नरसाल्लोहितं निष्पद्यते स्त्रियां श्रितम्, ततश्च लोहितमयं शरीरं बीजाश्रयम् । समानमन्यत् ॥ १० ॥

इस प्रकार अत्यन्त क्षुभित किये जानेपर उसने अंकुशसे पीडित हुए हाथीके समान क्रोधके वशीभूत होकर पूछा, 'उस शरीरमें होनेवाले देवका देवता कौन है ?' जिसके द्वारा जो निष्पन्न होता है वही उसका देवता है-ऐसा इस प्रकरणमें बताना अभीष्ट है [शाकल्यके किये हुए प्रश्नके उत्तरमें] 'वह अमृत है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा । खाये हुए अन्नका जो रस मातृजनित लोहितकी निष्पत्तिका कारण होता है, वही अमृत है । उस अन्नके रससे ही स्त्रीमें आश्रित लोहित निष्पन्न होता है । उसीसे बीजका आश्रयभूत लोहितमय शरीर बनता है । आगेके अन्य पर्यायोंका अर्थ भी इसीके समान है ॥ १० ॥

काम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ११ ॥

[शाकल्य—] 'काम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-



समूहका परायण जानता है, वही ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करणसंघातका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'स्त्रियाँ' ॥ ११ ॥

काम एव यस्यायतनम्। स्त्रीव्यतिकराभिलाषः कामः कामशरीर इत्यर्थः। हृदयं लोको- हृदयेन बुद्ध्या पश्यति। य एवायं काममयः पुरुषोऽध्यात्म- मपि काममय एव। तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच; स्त्रीतो हि कामस्य दीप्ति- र्जायते ॥ ११ ॥

काम ही जिसका आयतन है। स्त्रीप्रसङ्गकी अभिलाषाका नाम काम है, अतः तात्पर्य यह है कि जो कामरूप शरीरवाला है। हृदय जिसका लोक है—जो हृदय यानी बुद्धिसे देखता है। जो भी यह काम- मय पुरुष है अर्थात् जो अध्यात्म भी काममय ही है। [शाकल्य—] 'इसका देवता कौन है?' याज्ञ- वल्क्यने 'स्त्रियाँ' ऐसा कहा, क्योंकि स्त्रीसे ही कामका उद्दीपन होता है ॥ ११ ॥

—:*:—

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

[शाकल्य—] 'रूप ही जिसका आयतन है, चक्षु लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही

पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]' [याज्ञवल्क्य-] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्यमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य और बोलो।' [शाकल्य-] 'उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'सत्य' ऐसा कहा ॥ १२ ॥

रूपाण्येव यस्यायतनम्। रूपाणि शुक्लकृष्णादीनि। य एवासावादित्ये पुरुषः—सर्वेषां हि रूपाणां विशिष्टं कार्यमादित्ये पुरुषः। तस्य का देवतेति ? सत्यमिति होवाच। सत्यमिति चक्षुरुच्यते, चक्षुषो ह्यध्यात्मतः आदित्यस्याधिदैवतस्य निष्पत्तिः ॥ १२ ॥

रूप ही जिसका आयतन हैं। रूप हैं शुक्ल-कृष्ण आदि। जो भी यह आदित्यमें पुरुष है—सम्पूर्ण रूपोंका जो विशिष्ट कार्य है वही आदित्यमें पुरुष है। उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्यने 'सत्य' ऐसा कहा। सत्य—इस शब्दसे चक्षु कहा गया है, क्योंकि अध्यात्म-चक्षु-से ही अधिदैवत आदित्यकी निष्पत्ति होती है ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

[शाकल्य-] 'आकाश ही जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य-] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण कहते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क पुरुष है, यही वह है, हे शाकल्य !

और बोलो।' [शाकल्य-] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'दिशाएँ' ऐसा कहा ॥ १३ ॥

आकाश एव यस्यायतनम् य एवायं श्रोत्रे भवः श्रौत्रः, तत्रापि प्रतिश्रवणवेलायां विशेषतो भवतीति प्रातिश्रुत्कः, तस्य का देवतेति ? दिश इति होवाच । दिग्भ्यो ह्यसावाध्यात्मिको निष्पद्यते ॥ १३ ॥

आकाश ही जिसका आयतन है। जो भी यह श्रोत्रमें रहनेवाला श्रोत्र और उसमें भी जो प्रतिश्रवणके समय विशेषरूपसे रहता है, वह प्रातिश्रुत्क है, उसका देवता कौन है ? इसपर [याज्ञवल्क्यने] कहा, 'दिशाएँ' क्योंकि दिशाओंसे ही यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है ॥ १३ ॥

तम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १४ ॥

[शाकल्य-] 'तम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण जानता है, वही ज्ञाता है, याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य-] 'तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्य-करणसमूहका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य-] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'मृत्यु' ऐसा कहा ॥ १४ ॥

तम एव यस्यायतनम् । तम इति शार्वराद्यन्धकारः परिगृह्यते ।

तम ही जिसका आयतन है। 'तम' शब्दसे रात्रि आदिका अन्धकार

अध्यात्मं छायामयोऽज्ञानमयः पुरुषः । तस्य का देवतेति ? मृत्युरिति होवाच । मृत्युरधिदैवतं तस्य निष्पत्तिकारणम् ॥ १४ ॥

ग्रहण किया जाता है। अध्यात्मपक्षमें छायामय—अज्ञानमय पुरुष ही तम है। उसका कौन देवता है। 'मृत्यु' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। अधिदैवत मृत्यु[1] ही उस (छायामय पुरुष) की निष्पत्तिका कारण है॥ १४॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥ १५ ॥

[शाकल्य–] 'रूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसंघातका परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसंघातका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदर्श (दर्पण) के भीतर पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'असु' ऐसा कहा॥ १५॥

रूपाण्येव यस्यायतनम् । पूर्वं साधारणानि रूपाण्युक्तानि, इह तु

रूप ही जिसका आयतन है। पहले साधारण रूप कहे गये हैं,

---

१. 'मृत्यु' शब्दसे यहाँ ईश्वर (अव्याकृत) समझना चाहिये, जैसा कि यह श्रुति कहती है—'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' अर्थात् पहले यह मृत्युसे ही व्याप्त था। अविवेककी प्रवृत्ति ईश्वरके ही अधीन है, इसलिये वह अज्ञानमय आध्यात्मिक पुरुषकी उत्पत्तिका कारण है।

प्रकाशकानि विशिष्टानि रूपाणि गृह्यन्ते । रूपायतनस्य देवस्य विशेषायतनं प्रतिबिम्बाधारमादर्शादि तस्य का देवतेति ? असुरिति होवाच । तस्य प्रतिबिम्बाख्यस्य पुरुषस्य निष्पत्तिरसोः प्राणात् ॥ १५ ॥

किंतु यहाँ प्रकाश करनेवाले विशिष्ट रूप ग्रहण किये जाते हैं। रूप जिसका आयतन (आश्रय) है, उस देवका विशेष आयतन प्रतिबिम्बके आधारभूत आदर्शादि हैं। उसका कौन देवता है? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा 'असु' (प्राण)। अर्थात् उस प्रतिबिम्ब-संज्ञक-पुरुषकी निष्पत्ति असु[1]—प्राणसे होती है ॥ १५ ॥

आप एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १६ ॥

[शाकल्य—] 'जल ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसंघातका परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो!]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण बतलाते हो उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह जलमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'वरुण' ऐसा कहा ॥ १६ ॥

---

[1]. प्राणद्वारा घर्षण करनेपर ही आदर्शादि प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेके योग्य होते हैं; इसलिये असुको प्रतिबिम्बसंज्ञक पुरुषकी निष्पत्तिका कारण बतलाना उचित ही है।

आप एव यस्य आयतनम्। साधारणाः सर्वा आप आयतनम्; वापीकूपतडागाद्याश्रयास्वप्सु विशेषावस्थानम्। तस्य का देवतेति? वरुण इति; वरुणात् सङ्घातकर्त्र्योऽध्यात्मभाप एव वाप्याद्यपां निष्पत्तिकारणम्॥ १६॥

जल ही जिसका आयतन है। सभी साधारण जल जिसका आयतन हैं; वापी, कूप और तडागादिमें रहनेवाले जलमें जिसकी विशेष स्थिति है। उसका देवता कौन है? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, 'वरुण'; क्योंकि वरुणके द्वारा संघात करनेवाला अध्यात्म जल ही वापी आदिके जलकी निष्पत्तिका कारण है[1]॥ १६॥

रेत एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच॥ १७॥

[शाकल्य—] 'वीर्य ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसंघातका परायण जानता है, वही ज्ञाता है' हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो!]' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'प्रजापति' ऐसा कहा॥ १७॥

---

१. वापी एवं कूपादिसे पिया हुआ जल जो शरीरमें मूत्रादि संघातको करता है वह वरुणसे ही होता है। रश्मियोंद्वारा पृथिवीपर गिरा हुआ जल 'वरुण' शब्दसे कहा जाता है; क्योंकि वह सूर्यकिरणोंसे पृथिवीपर गिरनेवाला जल ही पिये जानेवाले वापी-कूपादिके जलकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये वह जलमय अध्यात्म पुरुषका भी कारण है।

रेत एव यस्यायतनम् । य एवायं पुत्रमयो विशेषायतनं रेत आयतनस्य, पुत्रमय इति च अस्थिमज्जाशुक्राणि पितुर्जातानि । तस्य का देवतेति ? प्रजापतिरिति होवाच । प्रजापतिः पितोच्यते, पितृतो हि पुत्रस्योत्पत्तिः ॥ १७ ॥

वीर्य ही जिसका आयतन है ।" जो भी यह वीर्यरूप आयतनवाले पुरुषका पुत्ररूप विशेष आयतन है; पुत्रमय अर्थात् पितासे उत्पन्न हुए अस्थि, मज्जा और शुक्र । उसका देवता कौन है ? 'प्रजापति' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा । 'प्रजापति' पिताको कहते हैं, क्योंकि पितासे ही पुत्रकी उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥

शाकल्यको चेतावनी

अष्टधा देवलोकपुरुषभेदेन त्रिधा त्रिधा आत्मानं प्रविभज्यावस्थित एकैको देवः प्राणभेद एवोपासनार्थं व्यपदिष्टः । अधुना दिग्विभागेन पञ्चधा प्रविभक्तस्य आत्मन्युपसंहारार्थमाह । तूष्णीम्भूतं शाकल्यं याज्ञवल्क्यो ग्रहेणेवावेशयन्नाह—

एक-एक देवता ही अपनेको देवलोक और पुरुषभेदसे[1] तीन-तीन भागोंमें विभक्त करके आठ प्रकारसे स्थित हुआ है; प्राणभेद अर्थात् पृथक्-पृथक् इन्द्रिय-समुदाय ही वह देवता है, उपासनाकी सुविधाके लिये यहाँ विभागपूर्वक उनका उपदेश किया गया है । अब विभिन्न दिशाओंके अनुसार पाँच भागोंमें विभक्त हुए उस प्राणभेदका आत्मामें उपसंहार करनेके लिये श्रुति कहती है । अपने प्रश्नोंका उत्तर पाकर मौन हुए शाकल्यको ग्रहाविष्ट-सा करते हुए याज्ञवल्क्यने कहा—

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति ॥ १८ ॥

१. लोकका अर्थ है—सामान्य आकार, पुरुषका अर्थ है—विशेष-विशेष आकारमें स्थित चेतन तथा देवताका अर्थ है—इन दोनोंका कारण ।

'शाकल्य !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'इन ब्राह्मणोंने निश्चय ही तुम्हें अंगारे निकालनेका चिमटा बना रखा है' ॥ १८ ॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यः ; त्वां स्विदिति वितर्के, इमे नूनं ब्राह्मणाः, अङ्गारावक्षयणम्—अङ्गारा अवक्षीयन्ते यस्मिन् सन्दंशादौ तदङ्गारावक्षयणम्—तद् नूनं त्वामकृत कृतवन्तो ब्राह्मणाः, त्वं तु तन्न बुध्यसे आत्मानं मया दह्यमानम् इत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

'हे शाकल्य !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। 'त्वां स्विद्' इसमें 'स्विद्' यह निपात वितर्क अर्थमें है, निश्चय ही इन ब्राह्मणोंने तुम्हें अङ्गारावक्षयण-जिस चिमटे आदि पर अंगारे अवक्षीण होते अर्थात् पड़ते हैं, उसे अङ्गारावक्षयण कहते हैं-सो निश्चय ही तुम्हें इन ब्राह्मणोंने आगमें जलनेवाला चिमटा ही बना रखा है। अभिप्राय यह है कि मेरे द्वारा तुम्हारा दाह हो रहा है—किंतु तुम्हें इसका पता नहीं है ॥ १८ ॥

देवता और प्रतिष्ठासहित दिशाओंके ज्ञानकी प्रतिज्ञा

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा शाकल्यने कहा, यह जो तुम इन कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणोंपर आक्षेप करते हो सो क्या तुम ब्रह्मवेत्ता हो—ऐसा समझकर करते हो ?' [याज्ञवल्क्य—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि] 'मैं देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंका ज्ञान रखता हूँ।' [शाकल्य—] 'यदि तुम देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंको जानते हो' ॥ १९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यः—यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः—अत्युक्तवानसि—स्वयं

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा शाकल्यने कहा, 'तुमने जो यह कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणोंका अतिवाद—अतिभाषण (आक्षेपद्वारा तिरस्कार) किया

भीतास्त्वामङ्गारावक्षयणं कृतवन्त इति-किं ब्रह्म विद्वान् सन्नेवमधिक्षिपसि ब्राह्मणान्? याज्ञवल्क्य आह-ब्रह्म विज्ञानं तावदिदं मम, किं तत्? दिशो वेद दिग्विषयं विज्ञानं जाने। तच्च न केवलं दिश एव, सदेवा देवैः सह दिगधिष्ठातृभिः, किंच सप्रतिष्ठाः प्रतिष्ठाभिश्च सह। इतर आह—यद् यदि दिशो वेत्थ सदेवाः, सप्रतिष्ठा इति, सफलं यदि विज्ञानं त्वया प्रतिज्ञातम् ॥ १९ ॥

है कि 'ये स्वयं भयग्रस्त होनेके कारण तुम्हें अंगारे निकालनेका चिमटा बनाये हुए हैं' सो क्या तुम ब्रह्मवेत्ता होनेके कारण इस प्रकार ब्राह्मणोंका तिरस्कार करते हो ?" याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरा ब्रह्मज्ञान तो यह है, क्या है ? कि मैं दिशाओंको जानता हूँ, मुझे दिशासम्बन्धी विज्ञानका ज्ञान है। वह भी केवल दिशाओंका ही नहीं, सदेवा तथा सप्रतिष्ठा दिशाओंका ज्ञान है अर्थात् दिशाओंके अधिष्ठाता देवताओंके साथ और दिशाओंके अधिष्ठानसहित उन दिशाओंका मुझे ज्ञान है। इसपर शाकल्यने कहा, 'यदि तुम देव और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंको जानते हो—यदि तुमने फलसहित विज्ञानकी प्रतिज्ञा की है तो' ॥ १९ ॥

देवता और प्रतिष्ठासहित पूर्वदिशाका वर्णन

किन्देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

'इस पूर्वदिशामें तुम किस देवतासे युक्त हो ?' [याज्ञवल्क्य—'वहाँ मैं आदित्य (सूर्य) देवतावाला हूँ।' [शाकल्य–] 'वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य–] 'नेत्रमें।' [शाकल्य–] 'नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है ? [याज्ञवल्क्य–] 'रूपोंमें, क्योंकि पुरुष नेत्रसे ही रूपोंको देखता है।' [शाकल्य–] 'रूप किसमें प्रतिष्ठित है ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें, क्योंकि पुरुष हृदयसे ही रूपोंको जानता है, अतः हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं।' [शाकल्य–] 'हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २० ॥

किन्देवतः का देवतास्य तव दिग्भूतस्य। असौ हि याज्ञवल्क्यो हृदयमात्मानं दिक्षु पञ्चधा विभक्तं दिगात्मभूतम्, तद्द्वारेण सर्वं जगदात्मत्वेनोपगम्य, अहमस्मि दिगात्मेति व्यवस्थितः, पूर्वाभिमुखः—सप्रतिष्ठावचनाद्, यथा याज्ञवल्क्यस्य प्रतिज्ञा तथैव पृच्छति—किन्देवतस्त्वमस्यां दिश्यसीति।

सर्वत्र हि वेदे यां यां देवतामुपास्ते, इहैव तद्भूतस्तां तां प्रति-

तुम किस देवतावाले हो ? अर्थात् दिशास्वरूपमें स्थित हुए तुम्हारा कौन देवता है ? यहाँ इस प्रकार प्रश्न करनेका कारण यह है कि वे याज्ञवल्क्य दिशाओंमें पाँच प्रकारसे विभक्त अपने हृदयोपाधिक आत्माको 'दिगात्म' स्वरूप समझकर और उसके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को आत्मभावसे जानकर 'मैं दिक्स्वरूप हूँ' इस प्रकार स्थित हैं; वह पूर्वाभिमुख है [इसलिये पहले पूर्वदिशाके विषयमें ही पूछा जाता है] तथा उसका कथन है कि प्रतिष्ठासहित दिशाओंको जानता हूँ, [इससे यह जान पड़ता है कि वह समस्त जगत्‌को आत्मरूप जानकर स्थित है।] इसलिये जैसी याज्ञवल्क्यकी प्रतिज्ञा है, वैसे ही शाकल्य पूछता है—'तुम इस पूर्वदिशामें कौन-से देवतावाले हो ?'

वेदमें सभी जगह पुरुष जिस-जिस देवताकी उपासना करता है, इस लोकमें तद्रूप हुआ ही वह

पद्यत इति; तथा च वक्ष्यति— "देवो भूत्वा देवानप्येति" (बृ० उ० ४ । १ । २) इति । अस्यां प्राच्यां का देवता दिगात्मनस्तवाधिष्ठात्री, कया देवतया त्वं प्राची दिग्रूपेण सम्पन्न इत्यर्थः ।

इतर आह—आदित्यदेवत इति । प्राच्यां दिशि मम आदित्यो देवता, सोऽहमादित्यदेवतः । सदेवा इत्येतदुक्तम्, सप्रतिष्ठा इति तु वक्तव्यमित्याह— स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? चक्षुषीति । अध्यात्मतश्चक्षुष आदित्यो निष्पन्न इति हि मन्त्रब्राह्मणवादाः—"चक्षोः सूर्यो अजायत" (यजु० ३१ । १२) "चक्षुष आदित्यः" (ऐ० उ० १ । ४) इत्यादयः । कार्यं हि कारणे प्रतिष्ठितं भवति ।

कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति ? रूपेष्विति; रूपग्रहणाय हि रूपात्मकं चक्षु रूपेण प्रयुक्तम्; यैर्हि

उस-उस देवताको प्राप्त होता है । ऐसा ही "देव होकर देवोंमें लीन होता है" यह श्रुति कहेगी । [अतः प्रश्न यह है कि] दिशारूपमें स्थित हुए तुम्हारा इस पूर्व दिशामें कौन अधिष्ठाता देवता है ? अर्थात् किस देवताके द्वारा तुम प्राची दिशाके रूपमें सम्पन्न हुए हो ?

इतर (याज्ञवल्क्य) ने कहा, '[प्राची दिशामें] मैं आदित्यदेवतावाला हूँ । अर्थात् पूर्वदिशामें आदित्य मेरा देवता है, इसलिये मैं आदित्यदेवतावाला हूँ ।' इस प्रकार देवतासहित प्राची दिशा तो कह दी, अब प्रतिष्ठासहित कहनी है, इसलिये शाकल्य कहता है-'वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'चक्षुमें' । अध्यात्म चक्षुसे आदित्य निष्पन्न हुआ है— ऐसा "चक्षुसे सूर्य उत्पन्न हुआ" "चक्षुसे आदित्य" इत्यादि मन्त्र और ब्राह्मण कहते हैं । और कार्य कारणमें ही प्रतिष्ठित होता है; [अतः आदित्य चक्षुमें प्रतिष्ठित है] ।

'चक्षु किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'रूपोंमें'; क्योंकि रूपात्मक चक्षु रूपको ग्रहण करनेके लिये ही रूपसे प्रेरित होता है; और जिन रूपों-

रूपैः प्रयुक्तं तैरात्मग्रहणायारब्धं चक्षुः । तस्मात् सादित्यं चक्षुः सह प्राच्या दिशा सह तत्स्थैः सर्वै रूपेषु प्रतिष्ठितम् ।

चक्षुषा सह प्राची दिक् सर्वा रूपभूता, तानि च कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति ? हृदय इति होवाच । हृदयारब्धानि रूपाणि । रूपाकारेण हि हृदयं परिणतम् । यस्माद् हृदयेन हि रूपाणि सर्वो लोको जानाति । हृदयमिति बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशः; तस्माद् हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि । हृदयेन हि स्मरणं भवति रूपाणां वासनात्मनाम्; तस्माद् हृदये रूपाणि प्रतिष्ठितानि इत्यर्थः । एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

द्वारा वह प्रयुक्त होता है, उन्होंने अपनेको ग्रहण करनेके लिये ही चक्षुको उत्पन्न किया है। अतः आदित्यके सहित चक्षु प्राची दिशा और उस दिशामें स्थित समस्त पदार्थोंके सहित रूपोंमें प्रतिष्ठित है।

[शाकल्य-] चक्षुके सहित सम्पूर्ण प्राची दिशा रूपमात्र हैं, किंतु वे रूप किसमें प्रतिष्ठित हैं ?' याज्ञवल्क्यने 'हृदयमें' ऐसा कहा। रूप हृदयसे आरम्भ (उत्पन्न) होनेवाले हैं; हृदय ही रूपाकारसे परिणत होता है, क्योंकि सब लोग हृदयसे ही रूपको जानते हैं। 'हृदयम्' इस प्रकार मन और बुद्धिको एक करके कहा गया है; अतः हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं। वासनारूप रूपोंका हृदयसे ही स्मरण होता है; अतः तात्पर्य यह है कि हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं। [शाकल्य-] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है' ॥ २० ॥

देवता और प्रतिष्ठाके सहित दक्षिण दिशाका वर्णन

किन्देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा

प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाꣳ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

'इस दक्षिण दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो ?' [याज्ञवल्क्य—] 'यमदेवतावाला हूँ' [शाकल्य—] 'वह यमदेवता किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'यज्ञमें ।' [शाकल्य—] 'यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—]'दक्षिणामें ।' [शाकल्य—] 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—]'श्रद्धामें, क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है, तभी दक्षिणा देता है, अतः श्रद्धामें ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है ।' [शाकल्य—] 'श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ?' याज्ञवल्क्यने कहा, हृदयमें, क्योंकि हृदयसे ही पुरुष श्रद्धाको जानता है, अतः हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है ।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २१ ॥

किन्देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति पूर्ववत् । दक्षिणायां दिशि का देवता तव ? यमदेवत इति, यमो देवता मम दक्षिणादिग्भूतस्य । स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? यज्ञ इति— यज्ञे कारणे प्रतिष्ठितो यमः सह दिशा । कथं पुनर्यज्ञस्य कार्यं यमः ? इत्युच्यते— ऋत्विग्भिर्निष्पादितो यज्ञो दक्षिणया यजमानस्तेभ्यो यज्ञं निष्क्रीय तेन

'किन्देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिशि असि' इस वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये । अर्थात् दक्षिण दिशामें तुम्हारा कौन देवता है ? 'मैं यम देवतावाला हूँ अर्थात् दक्षिण दिशारूपसे स्थित हुए मेरा यम देवता है ।' 'वह यम किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'यज्ञमें' अर्थात् दिशाके सहित यम अपने कारणभूत यज्ञमें प्रतिष्ठित है । किंतु यम यज्ञका कार्य क्यों है ? सो बतलाया जाता है— यज्ञ ऋत्विजोंद्वारा निष्पन्न किया जाता है, उनसे दक्षिणाद्वारा यजमान यज्ञको खरीदकर उस यज्ञके द्वारा यमके

यज्ञेन दक्षिणां दिशं सह यमेनाभिजयति । तेन यज्ञे यमः कार्यत्वात् प्रतिष्ठितः सह दक्षिणया दिशा ।

कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति ? दक्षिणायामिति—दक्षिणया स न क्रीयते, तेन दक्षिणाकार्यं यज्ञः। कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति ? श्रद्धायामिति—श्रद्धा नाम दित्सुत्वम् आस्तिक्यबुद्धिभक्तिसहिता । कथं तस्यां प्रतिष्ठिता दक्षिणा ? यस्माद् यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति, नाश्रद्दधद् दक्षिणां ददाति; तस्माच्छ्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति ।

कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति ? हृदय इति होवाच—हृदयस्य हि वृत्तिः श्रद्धा यस्मात्, हृदयेन हि श्रद्धां जानाति, वृत्तिश्च वृत्तिमति प्रतिष्ठिता भवति । तस्माद् हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीति । एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

सहित दक्षिण दिशाको जीत लेता है। अतः [यज्ञका] कार्य होनेके कारण दक्षिण दिशाके सहित यम यज्ञमें प्रतिष्ठित है ।

'यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ?' इसके उत्तरमें कहा—'दक्षिणामें'; क्योंकि वह दक्षिणासे खरीद लिया जाता है, इसलिये यज्ञ दक्षिणाका कार्य है । 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'श्रद्धामें'—श्रद्धासे अभिप्राय है देनेकी इच्छा अर्थात् भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धि । उसमें दक्षिणा किस प्रकार प्रतिष्ठित है ? क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है, तभी दक्षिणा देता है; श्रद्धा किये बिना दक्षिणा नहीं देता । इसलिये श्रद्धामें ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है ।

'श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें'—क्योंकि श्रद्धा हृदयकी ही वृत्ति है, हृदयसे ही पुरुष श्रद्धाको जानता है और वृत्ति वृत्तिमान्‌में प्रतिष्ठित रहा करती है । इसलिये हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है । [शाकल्य-] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २१ ॥

देवता और प्रतिष्ठाके सहित पश्चिमदिशाका वर्णन

किन्देवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणःकस्मिन् प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रति-

ष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तः हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

'इस पश्चिम दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो ?' [याज्ञवल्क्य—] 'वरुणदेवतावाला हूँ ।' [शाकल्य—] 'वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'जलमें ।' [शाकल्य—] 'जल किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'वीर्यमें ।' [शाकल्य –] 'वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें, इसीसे पिताके अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्रको लोग कहते हैं कि यह मानो पिताके हृदयसे ही निकला है, मानो पिताके हृदयसे ही बना है, क्योंकि हृदयमें ही वीर्य स्थित रहता है ।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २१ ॥

किन्देवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति ? तस्यां वरुणोऽधिदेवता मम । स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? अप्स्विति—अपां हि वरुणः कार्यम्, "श्रद्धा वा आपः" "श्रद्धातो वरुणमसृजत" इति श्रुतेः । कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति ? रेतसीति—"रेतसो ह्यापः सृष्टाः" इति श्रुतेः ।

कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति ? हृदय इति—यस्माद् हृदयस्य कार्यं रेतः । कामो हृदयस्य वृत्तिः,

'इस पश्चिम दिशामें तुम किस देवतावाले हो ?' 'उस दिशामें मेरा अधिष्ठातृदेव वरुण है ।' 'वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'जलमें'—क्योंकि वरुण जलका ही कार्य है, जैसा कि "श्रद्धा ही जल है," "श्रद्धासे वरुणको रचा" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है।' 'जल किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'वीर्यमें'—यह बात "वीर्यसे जलकी रचना हुई" इस श्रुतिसे कही गयी है।

'वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'हृदयमें,—क्योंकि वीर्य हृदयका ही कार्य है। काम हृदयकी वृत्ति है,

कामिनो हि हृदयाद्रेतोऽधिस्कन्दति । तस्मादपि प्रतिरूपमनुरूपं पुत्रं जातमाहुर्लौकिकाः—अस्य पितुर्हृदयादिवायं पुत्रः सृप्तो विनिःसृतः, हृदयादिव निर्मितो यथा सुवर्णेन निर्मितः कुण्डलः । तस्मात् हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीति । एवमेवैतत् याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

क्योंकि कामीके हृदयसे ही वीर्य स्खलित होता है । इसीसे पिताके प्रतिरूप-अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्रके विषयमें लौकिक पुरुष ऐसा कहते हैं कि यह पुत्र मानो अपने पिताके हृदयसे ही सृप्त—विशेषरूपसे निःसृत हुआ है, स्वर्णसे बने हुए कुण्डलके समान मानो यह उसके हृदयसे ही बना है, अतः हृदयमें ही वीर्य प्रतिष्ठित है ।' 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २२ ॥

देवता और प्रतिष्ठाके सहित उत्तर दिशाका वर्णन

किन्देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २३ ॥

'इस उत्तर दिशामें तुम किस देवतावाले हो ?' [याज्ञवल्क्य—] 'सोमदेवतावाला हूँ ।' [शाकल्य—] 'वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'दीक्षामें ।' [शाकल्य—] 'दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'सत्यमें, इसीसे दीक्षित पुरुषसे कहते हैं कि सत्य बोलो, क्योंकि सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है ।' [शाकल्य—] 'सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'हृदयमें ।' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, क्योंकि पुरुष हृदयसे ही सत्यको जानता है, अतः हृदयमें ही सत्य प्रतिष्ठित है । [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २३ ॥

किन्देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति ? सोमदेवत इति—सोम इति लतां सोमं देवतां चैकीकृत्य निर्देशः। स सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? दीक्षायामिति—दीक्षितो हि यजमानः सोमं क्रीणाति, क्रीतेन सोमेनेष्ट्वा ज्ञानवानुत्तरां दिशं प्रतिपद्यते सोमदेवताधिष्ठितां सौम्याम् । कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति ! सत्य इति; कथम् ? यस्मात् सत्ये दीक्षा प्रतिष्ठिता, तस्मादपि दीक्षितमाहुः—सत्यं वदेति; कारणभ्रेषे कार्यभ्रेषो मा भूदिति; सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति । कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति ? हृदय इति होवाच; हृदयेन हि सत्यं जानाति; तस्माद् हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीति । एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥२३॥

'इस उत्तर दिशामें तुम कौन देवतावाले हो ?' 'सोमदेवतावाला हूँ'—'सोम' इस शब्दसे सोमलता और सोमदेवताको एक मानकर निर्देश किया गया है। 'वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'दीक्षामें'—क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोमको खरीदता है और खरीदे हुए सोमसे यजन करके वह ज्ञानवान् सोमदेवतासे अधिष्ठित सोमसम्बन्धिनी उत्तर दिशाको प्राप्त होता है।

'दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'सत्यमें'; किस प्रकार ? क्योंकि दीक्षा सत्यमें प्रतिष्ठित है, इसीसे दीक्षित पुरुषसे कहते हैं कि 'सत्य बोलो' जिससे कि [सत्यरूप] कारणका नाश होनेसे [दीक्षारूप] कार्यका नाश न हो; अतः सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है। 'सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें; क्योंकि हृदयसे ही सत्यको जानता है; इसलिये सत्य हृदयमें ही प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य-] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २३ ॥

देवता और प्रतिष्ठाके सहित ध्रुवा दिशाका वर्णन

किन्देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

'इस ध्रुवा दिशामें तुम कौन देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्निदेवतावाला हूँ' [शाकल्य—] 'वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वाक्‌में।' [शाकल्य—] 'वाक् किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें।' [शाकल्य—] 'हृदय किसमें प्रतिष्ठित है?' ॥ २४ ॥

किन्देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीति। मेरोः समन्ततो वसतामव्यभिचारादूर्ध्वा दिग् ध्रुवेत्युच्यते। अग्निदेवत इति—ऊर्ध्वायां हि प्रकाशभूयस्त्वम्, प्रकाशश्चाग्निः। सोऽग्निः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? वाचीति। कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति? हृदय इति।

'इस ध्रुवा दिशामें तुम कौन देवतावाले हो?' मेरुके चारों ओर निवास करनेवाले लोगोंकी दृष्टिसे ऊर्ध्व दिशाका कभी व्यभिचार नहीं होता, इसलिये वह ध्रुवा कही जाती है। [याज्ञवल्क्य-]'मैं अग्नि देवतावाला हूँ।' क्योंकि ऊर्ध्व-दिशामें प्रकाशकी बहुलता है और प्रकाश ही अग्नि है। 'वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है?' 'वाक्‌में।' 'और वाक् किसमें प्रतिष्ठित है?' 'हृदयमें।'

तत्र याज्ञवल्क्यः सर्वासु दिक्षु विप्रसृतेन हृदयेन सर्वा दिश आत्मत्वेनाभिसम्पन्नः; सदेवाः सप्रतिष्ठा दिश आत्मभूतास्तस्य नामरूपकर्मात्मभूतस्य याज्ञवल्क्य-

उस समय समस्त दिशाओंमें फैले हुए हृदयके द्वारा याज्ञवल्क्य सम्पूर्ण दिशाओंको आत्मभावसे प्राप्त था; अर्थात् नामरूप और कर्मके स्वरूपभूत उस याज्ञवल्क्यको देवता और प्रतिष्ठाके सहित सम्पूर्ण दिशाएँ

स्य । यद् रूपं तद् प्राच्या दिशा सह हृदयभूतं याज्ञवल्क्यस्य । यत् केवलं कर्म पुत्रोत्पादनलक्षणं च ज्ञानसहितं च सहफलेनाधिष्ठात्रीभिश्च देवताभिर्दक्षिणाप्रतीच्युदीच्यः कर्मफलात्मिका हृदयमेव आपन्नास्तस्य, ध्रुवया दिशा सह नाम सर्वं वाग्द्वारेण हृदयमेव आपन्नम् ।

आत्मभूत थीं । जो रूप था, वह पूर्वदिशाके सहित याज्ञवल्क्यका हृदयस्वरूप हो गया था । तथा जो केवल कर्म, पुत्रोत्पादनरूप कर्म और ज्ञानसहित कर्म थे वे अपने फल और अधिष्ठातृदेवोंके सहित कर्मफलरूप दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओंके साथ उसका हृदय ही हो गये थे । तथा ध्रुवा दिशाके सहित सम्पूर्ण नाम भी वाक्के द्वारा उसके हृदयको ही प्राप्त हो गये थे ।

एतावद्धीदं सर्वम्, यदुत रूपं वा कर्म वा नाम वेति तत् सर्वं हृदयमेव, तत् सर्वात्मकं हृदयं पृच्छ्यते—कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

जो कुछ रूप, कर्म अथवा नाम है, वह सब इतना ही है और वह सब हृदय ही है; उस सर्वात्मक हृदयके विषयमें प्रश्न किया जाता है—'हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ?' ॥ २४ ॥

हृदय और शरीरका अन्योन्याश्रयत्व

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥ २५ ॥

याज्ञवल्क्यने 'अहल्लिक ! (प्रेत!)' ऐसा सम्बोधन करके कहा— 'जिस समय तुम इसे अलग मानते हो, उस समय यदि यह हमसे अलग हो जाय तो इसे कुत्ते खा जायँ, अथवा इसे पक्षी चोंच मारकर मथ डालें ॥ २५ ॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञ-

याज्ञवल्क्यने 'अहल्लिक'[1] ऐसा कहा ।

---

१. 'अहनि लीयते इति अहल्लिकः' जो दिनमें लीन हो जाता है वह अहल्लिक अर्थात् प्रेत है ।

वल्क्यः, नामान्तरेण सम्बोधनं कृतवान्। यत्र यस्मिन्काले, एतद् हृदयमात्मास्य शरीरस्यान्यत्र क्वचिद्देशान्तरे, अस्मदस्मत्तो वर्तत इति मन्यासै मन्यसे—यद्धि यदि ह्येतद् हृदयमन्यत्रास्मत् स्याद् भवेत्, श्वानो वैनच्छरीरं तदा अद्युः, वयांसि वा पक्षिणो वैनद् विमथ्नीरन् विलोडयेयुः विकर्षेरन्निति। तस्मान्मयि शरीरे हृदयं प्रतिष्ठितमित्यर्थः। शरीरस्यापि नामरूपकर्मात्मकत्वात् हृदये प्रतिष्ठितत्वम् ॥ २५ ॥

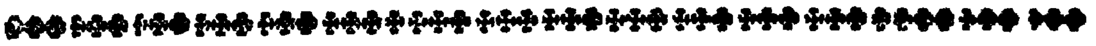
अर्थात् [प्रेतवाची] अन्य नामसे सम्बोधन किया। जिस समय यह हृदय—इस शरीरका आत्मा हमसे अन्यत्र किसी देशान्तरमें रहता है—ऐसा मानते हो; उस समय यदि इस शरीरसे यह हृदय—आत्मा अन्यत्र हो जाय, तो इस शरीरको या तो कुत्ते खा जायँ या पक्षी इसे विमथित-विलोडित कर दें यानी चोंच मार-मारकर नोच डालें। अतः तात्पर्य यह है कि हृदय मुझ शरीरमें प्रतिष्ठित है। शरीर भी नाम, रूप एवं कर्ममय होनेके कारण हृदयमें ही प्रतिष्ठित है ॥ २५ ॥

समानपर्यन्त शरीरादिकी प्रतिष्ठा तथा आत्मस्वरूपका वर्णन
और शाकल्यका शिरःपतन

हृदयशरीरयोरेवमन्योन्यप्रतिष्ठोक्ता कार्यकारणयोः; अतस्त्वां पृच्छामि—

[शाकल्य—] इस प्रकार तुमने कार्य और करणरूप शरीर एवं हृदयकी परस्पर प्रतिष्ठा बतलायी; इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ—

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति।

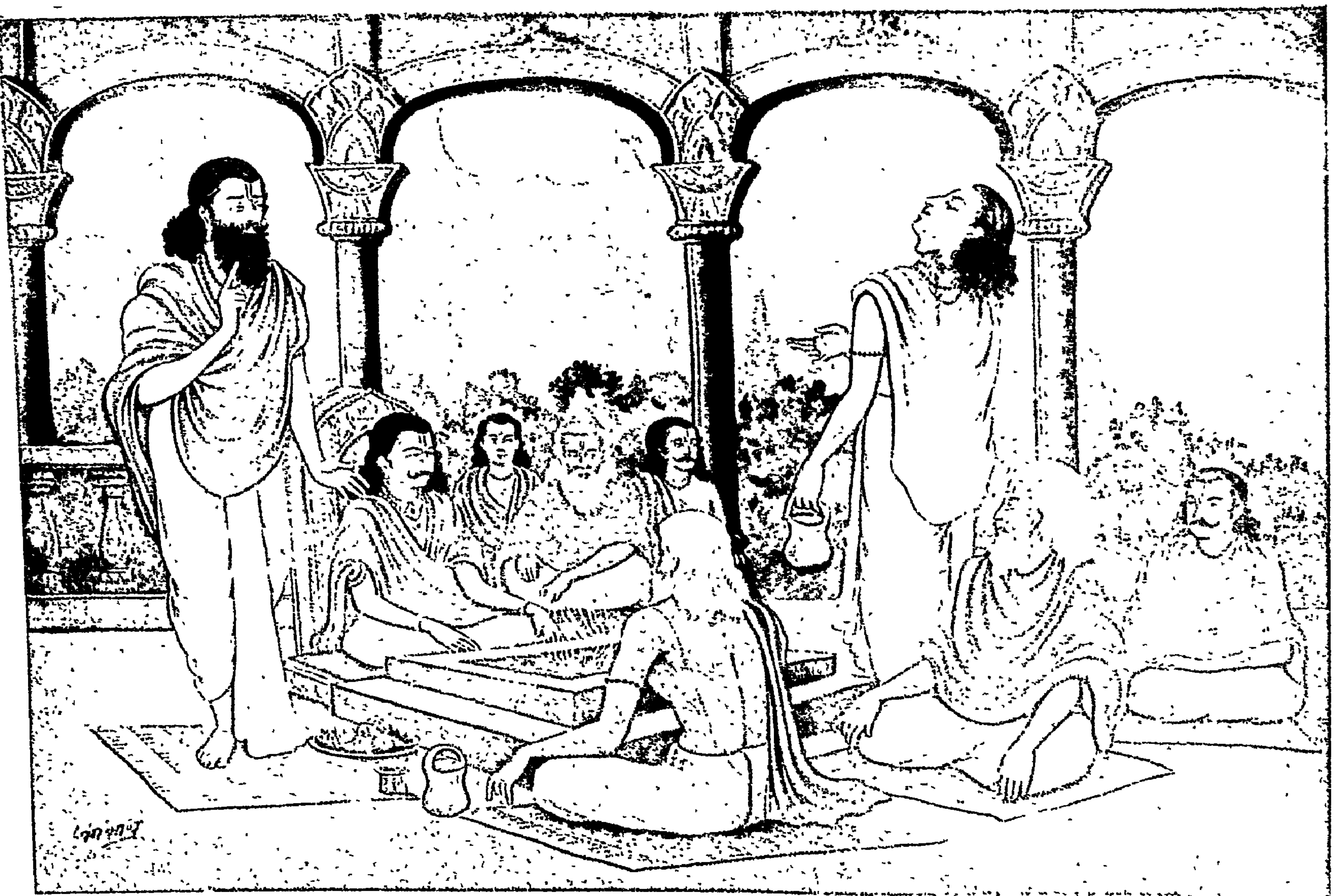


एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति। तꣳह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥

'तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित हो।' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राणमें।' [शाकल्य—] 'प्राण किसमें प्रतिष्ठित है?' 'अपानमें।' 'अपान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'व्यानमें।' 'व्यान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'उदानमें।' 'उदान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'समानमें।' जिसका [मधुकाण्डमें] 'नेति-नेति' ऐसा कहकर निरूपण किया गया है, वह आत्मा अगृह्य है—वह ग्रहण नहीं किया जा सकता, अशीर्य है—वह शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है—वह संसक्त नहीं होता, असित है—वह व्यथित और हिंसित नहीं होता। ये आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं आठ देव हैं और आठ पुरुष हैं। वह जो उन पुरुषोंको निश्चयपूर्वक जानकर उनका अपने हृदयमें उपसंहार करके औपाधिक धर्मोंका अतिक्रमण किये हुए है, उस औपनिषद पुरुषको मैं पूछता हूँ; यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया न बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया। यही नहीं, अपितु चोरलोग उसकी हड्डियोंको कुछ और समझकर चुरा ले गये ॥ २६ ॥

कस्मिन्नु त्वं च शरीरमात्मा च तव हृदयं प्रतिष्ठितौ स्थ इति? प्राण इति; देहात्मानौ प्राणे प्रतिष्ठितौ स्यातां प्राणवृत्तौ। कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इति अपान इति—सापि प्राणवृत्तिः

'तुम शरीर और तुम्हारा आत्मा-हृदय किसमें प्रतिष्ठित हो?' 'प्राणमें; देह और आत्मा—ये दोनों प्राणमें—प्राणवृत्तिमें प्रतिष्ठित हैं।' 'प्राण किसमें प्रतिष्ठित है?' 'अपानमें, —क्योंकि वह प्राणवृत्ति भी यदि



शाकल्यका सिर गिरना

प्रागेव प्रेयात् अपानवृत्त्या चेन्न निगृह्येत। कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति? व्यान इति—साप्यपानवृत्तिश्च एव यायात् प्राणवृत्तिश्च प्रागेव, मध्यस्थया चेद्व्यानवृत्त्या न निगृह्येत। कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इति? उदान इति—सर्वास्तिस्रोऽपि वृत्तय उदाने कीलस्थानीये चेन्न निबद्धा, विष्वगेवेयुः। कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति? समान इति—समानप्रतिष्ठा ह्येताः सर्वा वृत्तयः।

एतदुक्तं भवति—शरीरहृदयवायवोऽन्योन्यप्रतिष्ठाः, सङ्घातेन नियता वर्तन्ते विज्ञानमयार्थप्रयुक्ता इति। सर्वमेतद् येन नियतं यस्मिन् प्रतिष्ठितमाकाशान्तमोतं च प्रोतं च, तस्य निरुपाधिकस्य साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मणो निर्देशः कर्तव्य इत्ययमारम्भः।

स एषः—स यो नेति नेतीति निर्दिष्टो मधुकाण्डे, एष सः। सोऽयमात्मागृह्यो न गृह्यः।

अपानवृत्तिद्वारा रोकी न जाय तो वह ऊपर-ही-ऊपर बाहर निकल जाय।' 'अपान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'व्यानमें,—क्योंकि यदि मध्यवर्तिनी व्यानवृत्तिसे न रोकी जाय तो अपानवृत्ति नीचेको ही चली जाय और प्राणवृत्ति ऊपरको ही निकल जाय।' 'व्यान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'उदानमें,—यदि ये तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानीय उदानवृत्तिमें बँधी न हों तो सब ओर ही चली जायँ।' 'उदान किसमें प्रतिष्ठित है?' समानमें,—ये सब वृत्तियाँ समानमें ही प्रतिष्ठित हैं।'

यहाँ कहा यह गया है कि शरीर, हृदय और प्राण-ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं और विज्ञानमयके लिये प्रयुक्त होकर सङ्घातरूपसे नियमपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। यह सब जिसके द्वारा नियत है, जिसमें प्रतिष्ठित है और जिसमें यह आकाशपर्यन्त ओतप्रोत है, उस निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मका निर्देश करना है, इसीसे यह आगे आरम्भ किया जाता है।

स एषः—वह, जिसका कि मधुकाण्डमें 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया है, यह है। वह यह आत्मा अगृह्य है, ग्रहण करने

कथम् ? यस्मात् सर्वकार्यधर्मातीतः, तस्मादगृह्यः । कुतः ? यस्मान्न हि गृह्यते । यद्धि करणगोचरं व्याकृतं वस्तु, तद् ग्रहणगोचरम्, इदं तु तद्विपरीतमात्मतत्त्वम् ।

तथाशीर्यः; यद्धि मूर्तं संहतं शरीरादि तच्छीर्यते; अयं तु तद्विपरीतोऽतो न हि शीर्यते । तथासङ्गो मूर्तो मूर्तान्तरेण सम्बध्यमानः सज्यतेऽयं च तद्विपरीतोऽतो न हि सज्यते । तथासितोऽबद्धः, यद्धि मूर्तं तद् बध्यते; अयं तु तद्विपरीतत्वादबद्धत्वान्न व्यथते, अतो न रिष्यति—ग्रहणविशरणसम्बन्धकार्यधर्मरहितत्वान्न रिष्यति न हिंसामापद्यते न विनश्यतीत्यर्थः ।

योग्य नहीं है, किस प्रकार ? क्योंकि यह समस्त कार्यधर्मोंसे अतीत है, इसलिये अगृह्य है । क्यों अगृह्य है ? क्योंकि यह ग्रहण नहीं किया जा सकता । जो व्याकृत वस्तु इन्द्रियका विषय होती है, वही ग्रहणका विषय होती है, किंतु यह आत्मतत्त्व तो उससे विपरीत है ।

इसी प्रकार यह अशीर्य है; जो मूर्त और संहत शरीरादि हैं, वे ही शीर्ण होते हैं; यह उससे विपरीत है, इसलिये यह शीर्ण (नष्ट) नहीं होता । तथा यह असङ्ग है । मूर्त पदार्थ ही किसी दूसरे मूर्त पदार्थसे सम्बन्ध होनेपर उसमें संसक्त होता है, यह उससे विपरीत स्वभाववाला है, इसलिये कहीं संसक्त नहीं होता । तथा यह असित-अबद्ध है, क्योंकि जो पदार्थ मूर्त होता है, वही बँधता है; किंतु यह उससे विपरीत (अमूर्त) और अबद्ध होनेके कारण व्यथित नहीं होता और इसीसे रेष (हिंसा) को नहीं प्राप्त होता है—ग्रहण, विशरण, सम्बन्ध आदि कार्य धर्मोंसे रहित होनेके कारण यह रेष अर्थात् हिंसाको नहीं प्राप्त होता; भाव यह कि वह कभी नष्ट नहीं होता ।

क्रममतिक्रम्य औपनिषदस्य पुरुषस्य आख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुत्या स्वेन रूपेण त्वरया निर्देशः कृतः; ततः पुनराख्यायिकामेवाश्रित्याह - एतानि यान्युक्तान्यष्टावायतनानि 'पृथिव्येव यस्यायतनम्' इत्येवमादीनि, अष्टौ लोका अग्निलोकादयः, अष्टौ देवाः अमृतमिति होवाच' इत्येवमादयः; अष्टौ पुरुषाः शारीरः पुरुषः, इत्यादयः; स यः कश्चित् तान् पुरुषाञ्शारीरप्रभृतीन् निरुह्य निश्चयेनोह्य गमयित्वाष्टचतुष्कभेदेन लोकस्थितिमुपपाद्य, पुनः प्राचीदिगादिद्वारेण प्रत्युह्य उपसंहृत्य स्वात्मनि हृदयेऽत्यक्रामदतिक्रान्तवानुपाधिधर्मं हृदयाद्यात्मत्वम्; स्वेनैवात्मना व्यवस्थितो य औपनिषदः पुरुषोऽशनायादिवर्जितः उपनिषत्स्वेव विज्ञेयो नान्यप्रमाणगम्यः, तं त्वा त्वां विद्याभिमानिनं पुरुषं पृच्छामि । तं चेद्यदि

यहाँ श्रुतिने उतावलीके कारण क्रमको छोड़कर आख्यायिकासे हट-कर औपनिषद पुरुषका स्वरूपतः निर्देश कर दिया है; इसलिये अब फिर आख्यायिकाका ही आश्रय लेकर कहती है—'ये जो 'पृथिव्येव यस्यायतनम्' इत्यादि प्रकारसे वर्णित आठ आयतन, 'अग्निलोक' आदि आठ लोक, 'अमृतमिति होवाच' इत्यादि प्रकारसे कहे हुए आठ देव तथा 'शारीर पुरुष' आदि आठ पुरुष बतलाये गये हैं; जो कोई इन शारीरप्रभृति आठ पुरुषों-को निरुह्य—निश्चयपूर्वक ऊहा करके अर्थात् इनका ज्ञान प्राप्त कराकर आयतन, लोक, देव और पुरुषरूप चार भेदोंके समुदायके क्रमसे आठ विभागोंद्वारा लोकस्थितिके अनुकूल विस्तारपूर्वक उपपादन कर फिर प्राची दिगादिके द्वारा उन्हें स्वात्मा-में- अपने हृदयमें प्रत्युह्य अर्थात् उपसंहृत कर उपाधिधर्म हृदयादि-रूपताका अतिक्रमण किये हुए है तथा जो क्षुधादिधर्मरहित औपनि-षद पुरुष अपने ही स्वरूपसे स्थित और उपनिषदोंमें ही विज्ञेय है, किसी अन्य प्रमाणसे नहीं जाना जा सकता, उस पुरुषके विषयमें मैं विद्याका अभिमान रखनेवाले तुमसे प्रश्न करता हूँ, यदि तुम मेरे प्रति उसका विविक्त्यान—

मे न विवक्ष्यसि विस्पष्टं न कथयिष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीत्याह याज्ञवल्क्यः ।

तं त्वौपनिषदं पुरुषं शाकल्यो न मेने ह न विज्ञातवान् किल तस्य ह मूर्धा विपपात विपतितः। समाप्ताख्यायिका । श्रुतेर्वचनं तं ह न मेन इत्यादि। किं चापि हास्य परिमोषिणस्तस्करा अस्थीन्यपि संस्कारार्थं शिष्यैर्नीयमानानि गृहान् प्रत्यपजह्रुः—अपहृतवन्तः किन्निमित्तम् ? अन्यद् धनं नीयमानं मन्यमानाः ।

पूर्ववृत्ता ह्याख्यायिकेह सूचिता । अष्टाध्याय्यां[1] किल शाकल्येन याज्ञवल्क्यस्य समानान्त एव किल संवादो निर्वृत्तः; तत्र याज्ञवल्क्येन शापो दत्तः—पुरेऽतिथ्ये मरिष्यसि न तेऽस्थीनि च न गृहान् प्राप्स्यन्तीति । स ह तथैव ममार । तस्य हाप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुः; तस्मान्नोप-

विशेष स्पष्टरूपसे निरूपण नहीं करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ।

उस औपनिषद पुरुषको शाकल्य नहीं जानता था—उसे उसका स्पष्ट ज्ञान नहीं था; अतः उसका मस्तक विपपात अर्थात् गिर गया । बस, आख्यायिका समाप्त हो गयी । 'तं ह न मेने' इत्यादि श्रुतिके वचन हैं । यही नहीं, उसके शिष्यगण जो उसकी अस्थियोंको संस्कारके लिये घरकी ओर ले जा रहे थे, उन्हें परिमोषी—लुटेरोंने छीन लिया । क्यों ? उन्हें ले जाये जाते हुए कोई अन्य धन समझकर ।

यह पहले घटी हुई आख्यायिका ही यहाँ सूचित की गयी है । अष्टाध्यायीमें शाकल्यके साथ याज्ञवल्क्यका समानपर्यन्त ही संवाद हुआ है; फिर याज्ञवल्क्यने उसे शाप दिया है कि 'तू पुण्यक्षेत्रातिरिक्त देश और पुण्यातिथिशून्य कालमें मरेगा और तेरी हड्डियाँ भी घरतक नहीं पहुँचेंगी ।' वह इसी प्रकार मरा । यहाँतक कि अन्य वस्तु समझकर उसकी हड्डियोंको लुटेरे ले गये; इसलिये उपवादी (तिरस्कार करनेवाला) नहीं होना

१. यह बृहदारण्यकसे पूर्ववर्ती कर्मविषयक ग्रन्थ है ।

वादी स्याद्गुरु ह्येवंवित् परो भवतीति। सैषा आख्यायिका आचारार्थं सूचिता विद्यास्तुतये चेह ॥ २६ ॥

चाहिए; क्योंकि ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ होता है। यह आख्यायिका यहाँ आचारप्रदर्शन और विद्याकी स्तुतिके लिये सूचित की गयी है ॥ २६ ॥

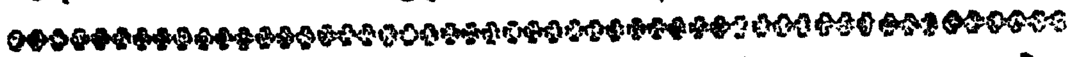
याज्ञवल्क्यका सभासदोंको प्रश्न करनेके लिये आमन्त्रण

यस्य नेति नेतीत्यन्यप्रतिषेधद्वारेण ब्रह्मणो निर्देशः कृतः, तस्य विधिमुखेन कथं निर्देशः कर्तव्यः, इति पुनराख्यायिकामेव आश्रित्याह मूलं च जगतो वक्तव्यमिति। आख्यायिकासम्बन्धस्त्वब्रह्मविदो ब्राह्मणाञ्जित्वा गोधनं हर्तव्यमिति। न्यायं मत्वाह—

जिस ब्रह्मका 'नेति-नेति' इस प्रकार अन्य पदार्थोंके प्रतिषेधद्वारा निर्देश किया गया है, उसका विधिमुखसे किस प्रकार निर्देश करना चाहिये, अतः इस उद्देश्यसे कि जगत्‌का मूल बतलाना है, श्रुति पुनः आख्यायिकाका ही आश्रय लेकर कहती है। आख्यायिकाका सम्बन्ध तो यही है कि अब्रह्मज्ञ ब्राह्मणोंको जीतकर गोधन ले जाना उचित है। अतः न्याय समझकर याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥ २७ ॥

फिर याज्ञवल्क्यने कहा, 'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो वह मुझसे प्रश्न करे, अथवा आप सभी मुझसे प्रश्न करें, इसी प्रकार आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, उससे मैं प्रश्न करता हूँ या आप सभीसे मैं प्रश्न करता हूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ ॥ २७ ॥



अथ होवाच । अथानन्तरं तूष्णीम्भूतेषु ब्राह्मणेषु होवाच, हे ब्राह्मणा भगवन्त इत्येवं सम्बोध्य—यो वो युष्माकं मध्ये कामयते इच्छति—याज्ञवल्क्यं पृच्छामीति, स मा मामागत्य पृच्छतु; सर्वे वा मा पृच्छत—सर्वे वा यूयं मा मां पृच्छत । यो वः कामयते याज्ञवल्क्यो मां पृच्छत्विति, तं वः पृच्छामि; सर्वान् वा वो युष्मानहं पृच्छामि । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः—ते ब्राह्मणा एवमुक्ता अपि न प्रगल्भाः संवृत्ताः किञ्चिदपि प्रत्युत्तरं वक्तुम् ॥ २७ ॥

'अथ होवाच'—अथ—इसके अनन्तर ब्राह्मणोंके मौन हो जानेपर याज्ञवल्क्यने 'हे पूज्य ब्राह्मणगण !' इस प्रकार सम्बोधन करके कहा, 'आपमें जिसकी ऐसी कामना-इच्छा हो कि मैं याज्ञवल्क्यसे प्रश्न करूँ, वह मेरे सामने आकर पूछ सकता है। 'सर्वे वा मा पृच्छत'—अथवा आप सभी मुझसे पूछ सकते हैं। और आपमेंसे जिसकी ऐसी इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे, उससे मैं पूछता हूँ अथवा आप सभीसे मैं पूछता हूँ।' उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ-इस प्रकार कहे जानेपर भी वे ब्राह्मण किसी प्रकारका प्रत्युत्तर देनेकी प्रगल्भता (धृष्टता) न कर सके ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्यके प्रश्न

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यने उनसे इन श्लोकोंद्वारा प्रश्न किया—वनस्पति (विशालता आदि गुणोंसे युक्त) वृक्ष जैसा (जिस धर्मोंसे युक्त) होता है, पुरुष (जीवका शरीर) भी वैसा ही (उन्हीं धर्मोंसे सम्पन्न) होता है—यह बिल्कुल सत्य है। वृक्षके पत्ते होते हैं और उस पुरुषके शरीरमें पत्तोंकी जगह रोएँ होते हैं; इसके शरीरमें जो त्वचा (चाम) है, उसकी समतामें इस वृक्षके बाहरी भागमें छाल होती है ॥ १ ॥

तेषु अप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेषु तान् हैतैर्वक्ष्यमाणैः श्लोकैः पप्रच्छ पृष्टवान् । यथा लोके वृक्षो वनस्पतिः, वृक्षस्य विशेषणं वनस्पतिरिति, तथैव पुरुषोऽमृषा—अमृषा सत्यमेतत्—तस्य लोमानि; तस्य पुरुषस्य लोमानीतरस्य वनस्पतेः पर्णानि; त्वगस्योत्पाटिका बहिः—त्वगस्य पुरुषस्य इतरस्योत्पाटिका वनस्पतेः ॥ १ ॥

जब वे ब्राह्मण कुछ बोलनेका साहस न कर सके तो याज्ञवल्क्यने उनसे इन आगे कहे जानेवाले श्लोकोंद्वारा पूछा । जिस प्रकार लोकमें वनस्पति अर्थात् विशालता आदि गुणोंसे युक्त वृक्ष है—वनस्पति यह वृक्षका विशेषण है—उसी प्रकार यानी उस वृक्षके समान धर्मोंसे सम्पन्न पुरुष भी है—यह बिल्कुल सत्य बात है । उसके लोम—उस पुरुषके लोम हैं और उन्हींके समान इतर यानी इस वनस्पतिके पत्ते होते हैं तथा 'त्वगस्योत्पाटिका बहिः' इस पुरुषके शरीरमें जो त्वचा है, उसकी समानता रखनेवाली इतर यानी इस वनस्पति वृक्षके बाहरी भागमें छाल है ॥ १ ॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥२॥

इस पुरुषकी त्वचासे ही रक्त चूता है और वृक्षकी भी त्वचा (छाल) से ही गोंद निकलता है । वृक्ष और पुरुषकी इस समानताके कारण ही जिस प्रकार आघात लगनेपर वृक्षसे रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुए पुरुष-शरीरसे रक्त प्रवाहित होता है ॥ २ ॥

त्वच एव सकाशादस्य पुरुषस्य रुधिरं प्रस्यन्दि, वनस्पतेस्त्वच

इस पुरुषकी त्वचाके ही पाससे रक्त चूकर गिरता है और वनस्पतिकी

उत्पटः—त्वच एवोत्स्फुटति यस्मात्; एवं सर्वं समानमेव वनस्पतेः पुरुषस्य च; तस्माद् आतृण्णात् हिंसितात् प्रति तद् रुधिरं निर्गच्छति वृक्षादिव आहताच्छिन्नाद् रसः ॥ २ ॥

भी त्वचा (छाल) से ही उत्पट अर्थात् गोंद निकलता है; क्योंकि वह (गोंद) वृक्षकी छालसे ही फूटकर बहता है। इस प्रकार वनस्पति और पुरुषकी सभी बातें एक-ही-जैसी हैं। इसीलिये आहत अर्थात् कटे हुए वृक्षसे निकले हुए रसकी भाँति चोट खाये हुए पुरुष-शरीरसे भी वह रुधिर निकलता है ॥ २ ॥

मांसान्यस्य शकराणि किनाट स्नाव तत् स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥ ३ ॥

पुरुषके शरीरमें मांस होते हैं और वनस्पतिके शकर (छालका भीतरी अंश), पुरुषके स्नायु—जाल होते हैं और वृक्षमें किनाट (शकरके भी भीतरका अंश-विशेष)। वह किनाट स्नायुकी ही भाँति स्थिर होता है। पुरुषके स्नायु-जालके भीतर जैसे हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्षमें किनाटके भीतर काष्ठ हैं तथा मज्जा तो दोनोंमें मज्जाके ही समान निश्चित की गयी है ॥ ३ ॥

एवं मांसान्यस्य पुरुषस्य, वनस्पतेस्तानि शकराणि शकलानीत्यर्थः । किनाटं वृक्षस्य, किनाटं नाम शकलेभ्योऽभ्यन्तरं वल्कलरूपं काष्ठसंलग्नम्, तत् स्नाव पुरुषस्य; तत् स्थिरम्—तच्च किनाटं स्नाववद्

इसी प्रकार इस पुरुषके मांस हैं और वनस्पतिके मांसस्थानीय शकर—शकल (छालके भीतरका अंश) है। वृक्षके किनाट होता है, किनाट उसे कहते हैं जो शकलोंसे भीतर काठसे लगी हुई छाल होती है, वह [अर्थात् उसके सदृश] पुरुषकी शिराएँ हैं। वह स्थिर है अर्थात् वह किनाट शिराओंके समान दृढ़ है। पुरुषकी

दृष्टं हि तत्; अस्थीनि पुरुषस्य, स्नाव्नो ऽन्तरतोऽस्थीनि भवन्ति; तथा किनाटस्याभ्यन्तरतो दारूणि काष्ठानि; मज्जा, मज्जैव वनस्पतेः पुरुषस्य च मज्जोपमा कृता, मज्जाया उपमा मज्जोपमा, नान्यो विशेषोऽस्तीत्यर्थः; यथा वनस्पतेर्मज्जा तथा पुरुषस्य, यथा पुरुषस्य तथा वनस्पतेः॥३॥

शिराओंके भीतर अस्थियाँ होती हैं; इसी प्रकार किनाटके भीतर काष्ठ होता है; मज्जा—वनस्पति तथा पुरुषकी मज्जा ही मज्जाकी उपमा नियत की गयी है, मज्जाकी उपमा ही मज्जोपमा है, अर्थात् उनमें कोई अन्य भेद नहीं है; जिस प्रकार वनस्पतिकी मज्जा होती है, वैसे ही पुरुषकी होती है और जैसे पुरुषकी होती है वैसे ही वनस्पतिकी होती है ॥ ३ ॥

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥४॥

किंतु यदि वृक्षको काट दिया जाता है तो अपने मूलसे पुनः और भी नवीन होकर अङ्कुरित हो जाता है; इसी प्रकार यदि मनुष्यको मृत्यु काट डाले तो वह किस मूलसे उत्पन्न होगा ? ॥ ४ ॥

यद् यदि वृक्षो वृक्णश्छिन्नो रोहति पुनः पुनः प्ररोहति प्रादुर्भवति मूलात् पुनर्नवतरः पूर्वस्मादभिनवतरः; यदेतस्माद् विशेषणात् प्राग् वनस्पतेः पुरुषस्य च, सर्वं सामान्यमवगतम्; अयं तु वनस्पतौ विशेषो दृश्यते यच्छिन्नस्य प्ररोह-

यदि वृक्षको काट दिया जाय तो वह पुनः-पुनः अपनी जड़से अतिशय नवीन—पहलेकी अपेक्षा नवीनतर होकर अङ्कुरित-प्रादुर्भूत हो जाता है। इस विशेषणसे पूर्व वनस्पति और पुरुषकी सब प्रकार समानता जानी गयी है; किंतु कट जानेपर पुनः अङ्कुरित हो जाना यह वनस्पतिमें विशेषता देखी जाती है, परंतु

णम्; न तु पुरुषे मृत्युना वृक्णे पुनः प्ररोहणं दृश्यते; भवितव्यं च कुतश्चित्प्ररोहणेन; तस्माद् वः पृच्छामि—मर्त्यो मनुष्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ? मृतस्य पुरुषस्य कुतः प्ररोहणमित्यर्थः ॥ ४ ॥

मृत्युद्वारा छेदन किये जानेपर पुरुषको पुनः अङ्कुरित होते नहीं देखा जाता; किंतु वह किसीसे अङ्कुरित अवश्य होना चाहिये; इसीसे मैं आपलोगोंसे पूछता हूँ कि यदि मृत्युद्वारा मनुष्यका छेदन कर दिया जाय तो वह किस मूलसे अङ्कुरित होता है ? अर्थात् मरे हुए पुरुषकी उत्पत्ति कहाँसे होती है ? ॥ ४ ॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते ।
धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य सम्भवः ॥५॥

वह वीर्यसे उत्पन्न होता है—ऐसा तो मत कहो, क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुषसे ही उत्पन्न होता है [मृत पुरुषसे नहीं]। वृक्ष भी [केवल तनेसे ही नहीं उत्पन्न होता,] बीजसे भी उत्पन्न होता है, किंतु बीजसे उत्पन्न होनेवाला वृक्ष भी कट जानेके पश्चात् पुनः अङ्कुरित होकर उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष देखा गया है ॥ ५ ॥

यदि चेदेवं वदथ—रेतसः प्ररोहतीति, मा वोचत मैवं वक्तुमर्हथ; कस्मात् ? यस्माज्जीवतः पुरुषात्तद् रेतः प्रजायते, न मृतात्। अपि च धानारुहः, धाना बीजम्, बीजरुहोऽपि वृक्षो भवति, न केवलं काण्डरुह एव; इवशब्दोऽनर्थकः,

यदि तुम ऐसा कहो कि वह वीर्यसे उत्पन्न होता है, तो मत कहो-ऐसा कहना उचित नहीं है; क्यों नहीं है ? क्योंकि वीर्य जीवित पुरुषसे ही उत्पन्न होता है, मरे हुएसे नहीं होता। वृक्ष धानारुह भी है, धाना बीजको कहते हैं, उस बीजसे उत्पन्न होनेवाला भी वृक्ष होता है; वह केवल तनेसे ही उत्पन्न नहीं होता; 'इव' शब्द-

वै वृक्षोऽञ्जसा साक्षात् प्रेत्य मृत्वा सम्भवो धानातोऽपि प्रेत्य सम्भवो भवेदञ्जसा पुनर्वनस्पतेः ॥ ५ ॥

का कोई अर्थ नहीं है; यह प्रसिद्ध है कि वृक्ष मरकर भी पुनः साक्षात् उत्पन्न हो जाता है; धाना अर्थात् बीजसे उत्पन्न हुए वनस्पतिका भी कटनेके बाद पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है [किंतु जीवके शरीरका इस प्रकार आविर्भाव नहीं देखा जाता] ॥ ५ ॥

यत् समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥ ६ ॥

यदि वृक्षको मूलसहित उखाड़ दिया जाय तो वह फिर उत्पन्न नहीं होगा; इसी प्रकार यदि मनुष्यका मृत्यु छेदन कर दे तो वह किस मूलसे उत्पन्न होता है ? ॥ ६ ॥

यद् यदि सह मूलेन धानया वा आवृहेयुरुद्यच्छेयुरुत्पाटयेयुर्वृक्षम्, न पुनराभवेत् पुनरागत्य न भवेत्। तस्माद् वः पृच्छामि सर्वस्यैव जगतो मूलम् -मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥ ६ ॥

यदि वृक्षको मूल अथवा बीजके सहित 'आवृहेयुः'—आकर्षित कर लें—उखाड़ लें तो फिर वह वृक्ष कहींसे आकर उत्पन्न नहीं होगा। इसलिये मैं तुमलोगोंसे सम्पूर्ण जगत्के मूलके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहा हूँ—यदि मृत्यु मनुष्यका छेदन कर दे तो वह किस मूलसे उत्पन्न होता है ? ॥ ६ ॥

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत् पुनः ।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥ ७ ॥ २८ ॥

[यदि ऐसा मानो कि] पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, अतः फिर उत्पन्न नहीं होता [तो यह ठीक नहीं; क्योंकि वह मरकर पुनः उत्पन्न होता ही है] ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् इसे पुनः कौन उत्पन्न करेगा ? [यह प्रश्न है; ब्राह्मणोंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसलिये श्रुति स्वयं ही उसका निर्देश करती है—] विज्ञान आनन्द ब्रह्म है, वह धनदाता (कर्म करनेवाले यजमान) की परम गति है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ताका भी परम आश्रय है ॥ ७ ॥ २८ ॥

जात एवेति मन्यध्वं यदि किमत्र प्रष्टव्यमिति—अनिष्यमाणस्य हि सम्भवः प्रष्टव्यः, न जातस्य, अयं तु जात एवातोऽस्मिन् विषये प्रश्न एव नोपपद्यत इति चेत्—न, किं तर्हि ? मृतः पुनरपि जायत एवान्यथाकृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गात्; अतो वः पृच्छामि—को न्वेनं मृतं पुनर्जनयेत् ?

तन्न विजज्ञुर्ब्राह्मणाः—यतो मृतः पुनः प्ररोहति जगतो मूलं न विज्ञातं ब्राह्मणैः; अतो ब्रह्मिष्ठत्वाद् हृता गावः; याज्ञवल्क्येन

यदि तुम ऐसा मानते हो कि पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, उसके विषयमें क्या पूछना—क्योंकि जो उत्पन्न होनेवाला होता है, उसीकी उत्पत्तिके विषयमें पूछा जाता है, जो उत्पन्न हो चुका है, उसके विषयमें नहीं पूछा जाता; वह पुरुष तो उत्पन्न हो चुका है, इसलिये इसके विषयमें प्रश्न करना उचित नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; तो क्या बात है ? मरनेपर भी तो यह पुनः उत्पन्न होता ही है, नहीं तो बिना कियेकी प्राप्ति और किये हुएके नाशका प्रसङ्ग आ जायगा; इसीसे मैं तुमलोगोंसे पूछता हूँ कि मरनेपर इसे पुनः कौन उत्पन्न करेगा ?

ब्राह्मणोंको इसका विशेष ज्ञान नहीं था, जहाँसे मरनेपर पुरुष पुनः जन्म लेता है; उस जगत्के मूलका ब्राह्मणोंको पता नहीं था। अतः ब्रह्मिष्ठ होनेके कारण याज्ञवल्क्यने गायोंको हरण कर लिया और वे

जिता ब्राह्मणाः । समाप्ता आख्यायिका ।

यज्जगतो मूलम्, येन च शब्देन साक्षाद् व्यपदिश्यते ब्रह्म, यद् याज्ञवल्क्यो ब्राह्मणान् पृष्टवांस्तत् स्वेन रूपेण श्रुतिरस्मभ्यमाह—विज्ञानं विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, तच्च आनन्दम्, न विषयविज्ञानवद् दुःखानुविद्धम्, किं तर्हि ? प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः, किं तद् ब्रह्म उभयविशेषणवद् रातिः—रातेः षष्ठ्यर्थे प्रथमा, धनस्येत्यर्थः, धनस्य दातुः कर्मकृतो यजमानस्य परायणं परा गतिः कर्मफलस्य प्रदातृ । किञ्च व्युत्थायैषणाभ्यस्तस्मिन्नेव ब्रह्मणि तिष्ठत्यकर्मकृत्, तद् ब्रह्म वेत्तीति तद्विच्च; तस्य—तिष्ठमानस्य च तद्विदः, ब्रह्मविद इत्यर्थः, परायणमिति ।

ब्राह्मण जीत लिये गये। आख्यायिका समाप्त हुई।

जो जगत्का मूल है, जिस शब्दसे ब्रह्मका साक्षात् निर्देश किया जाता है और जिसके विषयमें याज्ञवल्क्यने ब्राह्मणोंसे पूछा था, उसे श्रुति हमारे लिये स्वयं ही बतलाती है—विज्ञान—विज्ञप्तिका नाम विज्ञान है, वही आनन्द भी है, विषयविज्ञानके समान वह दुःखसे अनुविद्ध नहीं है, तो फिर कैसा है ? प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास नित्यतृप्त और एकरस है—ऐसा इसका तात्पर्य है । जो [विज्ञान और आनन्द इन] दोनों विशेषणोंसे युक्त है वह ब्रह्म क्या है ? रातिः—रातेः (रातिका) अर्थात् धनका इस प्रकार 'रातिः' शब्दमें षष्ठीके अर्थमें प्रथमा विभक्ति है, तात्पर्य यह कि धन देनेवाले अर्थात् कर्म करनेवाले यजमानका परायण—परा गति अर्थात् कर्मफल प्रदान करनेवाला है । इसी प्रकार जो एषणाओंसे अलग होकर उस ब्रह्ममें ही परिनिष्ठित है, कर्मकर्ता नहीं है, और उस ब्रह्मको जानता है, इसलिये तद्वित् (ब्रह्मविद्) है, उस ब्रह्मनिष्ठ और तद्विद् यानी ब्रह्मवेत्ताका भी परायण है ।

ब्रह्मानन्दस्य वेद्यत्वावेद्यत्वं मीमांस्यते

अत्रेदं विचार्यते—आनन्दशब्दो लोके सुखवाची प्रसिद्धः, अत्र च ब्रह्मणो विशेषणत्वेन आनन्दशब्दः श्रूयते—आनन्दं ब्रह्मेति । श्रुत्यन्तरे च—"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० उ० ३ । ६ । १) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तै० उ० २।४।१) "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २ । ८ । १) "यो वै भूमा तत् सुखम्" (छा० उ० ७।२३।१) इति च; "एष परम आनन्दः" (बृ० उ० ४।३।३३) इत्येवमाद्याः । संवेद्ये च सुखे आनन्दशब्दः प्रसिद्धः; ब्रह्मानन्दश्च यदि संवेद्यः स्याद् युक्ता एते ब्रह्मण्यानन्दशब्दाः ।

ननु च श्रुतिप्रामाण्यात् संवेद्यानन्दस्वरूपमेव ब्रह्म, किं तत्र विचार्यम् ?

इति न, विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात्—सत्यम्, आनन्दशब्दो ब्रह्मणि श्रूयते,

यहाँ यह विचार किया जाता है—लोकमें "आनन्द' शब्द सुखवाची प्रसिद्ध है; और यहाँ 'आनन्दं ब्रह्म' इस प्रकार 'आनन्द' शब्द ब्रह्मके विशेषणरूपमें श्रुत है; अन्य श्रुतियोंमें भी यह ब्रह्मके विशेषणरूपसे श्रुत हुआ है; जैसे—"[1]आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "आनन्दं[2] ब्रह्मणो विद्वान्" "यदेष[3] आकाश आनन्दो न स्यात्" "यो[4] वै भूमा तत् सुखम्" इत्यादि तथा ऐसी ही "एष[5] परम आनन्दः" इत्यादि श्रुतियाँ हैं। किंतु 'आनन्द' शब्द संवेद्य (ज्ञेय) सुखके अर्थमें ही प्रसिद्ध है; अतः यदि ब्रह्मानन्द भी संवेद्य (ज्ञेय) हो तभी ब्रह्ममें ये 'आनन्द' शब्द सार्थक हो सकते हैं।

पूर्व०—किंतु श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्म संवेद्य आनन्दस्वरूप तो है ही, फिर इसमें विचार क्या करना है ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस विषयमें विरुद्ध श्रुतिवाक्य देखे जाते हैं—यह तो ठीक है कि ब्रह्ममें 'आनन्द' शब्द श्रुत होता है;

---

१. आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना। २. ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला। ३. यदि यह आकाश आनन्द न होता। ४. जो भी भूमा है, वही सुख है। ५. यह परम आनन्द है।

विज्ञानप्रतिषेधश्चैकत्वे—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्" (बृ० उ० ४।५।१५) "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छा० उ० ७।२४।१) "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद" (बृ० उ० ४।३।२१) इत्यादि; विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात् तेन कर्तव्यो विचारः; तस्माद् युक्तं वेदवाक्यार्थनिर्णयाय विचारयितुम्।

किंतु साथ ही एक होनेके कारण उसके विज्ञानका प्रतिषेध भी श्रुत होता है। जैसे—"जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, उस अवस्थामें किसके द्वारा किसको देखे और किसके द्वारा किसको जाने?" "जहाँ अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता और अन्य कुछ नहीं जानता वह भूमा है" "प्रज्ञानात्मासे आलिङ्गित (अभिन्न) होकर यह बाह्य कुछ भी नहीं जानता" इत्यादि। इस प्रकार उससे विरुद्ध श्रुतिवाक्य देखे जाते हैं, इसलिये विचार करना आवश्यक है; अतः वेदके वचनोंका तात्पर्य निर्णय करनेके लिये विचार करना उचित ही है।

मोक्षवादिविप्रतिपत्तेश्च—सांख्या वैशेषिकाश्च मोक्षवादिनो नास्ति मोक्षे सुखं संवेद्यमित्येवं विप्रतिपन्नाः; अन्ये निरतिशयं सुखं स्वसंवेद्यमिति; किं तावद् युक्तम्?

इसके सिवा मोक्षवादियोंमें मतभेद होनेके कारण भी विचार करना आवश्यक है—सांख्य और वैशेषिक मोक्षवादियोंका ऐसा विपरीत विचार है कि मोक्षमें संवेद्य सुख है ही नहीं, किंतु दूसरे मोक्षवादियोंका मत है कि मोक्षमें निरतिशय स्वसंवेद्य सुख है; सो इनमें कौन सी बात ठीक है?

आनन्दादिश्रवणात् "जक्षत् क्रीडन् रममाणः" (छा० उ० ८।१२।३) "स यदि पितृलोककामो भवति" (छा० उ० ८।२।१)

पूर्व० आनन्दादिका श्रवण होनेसे तथा "भक्षण करता हुआ, क्रीडा करता हुआ रमण करता हुआ" "वह यदि पितृलोककी इच्छावाला

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुण्डक० १ । १ । ९) "सर्वान् कामान् समश्नुते" (तै० उ० २ । ५ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यो मोक्षे सुखं संवेद्यमिति ।

होता है" "जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है" "समस्त कामोंको प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुतियोंसे तो मोक्षमें संवेद्य सुख जान पड़ता है ।

नन्वेकत्वे कारकविभागाभावाद् विज्ञानानुपपत्तिः, क्रियायाश्चानेककारकसाध्यत्वाद् विज्ञानस्य च क्रियात्वात् ।

सिद्धान्ती—किंतु उस समय एकत्व होनेके कारण कारकविभागका अभाव होनेसे विज्ञान होना सम्भव नहीं है, क्योंकि क्रिया अनेक कारकद्वारा साध्य होती है और विज्ञान भी एक क्रिया ही है ।

नैष दोषः; शब्दप्रामाण्याद् भवेद् विज्ञानमानन्दविषये; "विज्ञानमानन्दम्" इत्यादीनि आनन्दस्वरूपस्यासंवेद्यत्वेऽनुपपन्नानि वचनानीत्यवोचाम ।

पूर्व०-यह दोष नहीं हो सकता; शब्दप्रामाण्य होनेके कारण उस समय आनन्दविषयक विज्ञान रहना ही चाहिये; यदि आनन्दस्वरूप असंवेद्य होगा तो "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य अनुपपन्न हो जायँगे—ऐसा हम पहले कह चुके हैं ।

ननु वचनेनाप्यग्नेः शैत्यमुदकस्य चौष्ण्यं न क्रियत एव, ज्ञापकत्वाद् वचनानाम् । न च देशान्तरेऽग्निः शीत इति शक्यते ज्ञापयितुम्; अगम्ये वा देशान्तरे उष्णमुदकमिति ।

सिद्धान्ती—किंतु वचनके द्वारा भी अग्निकी शीतलता और जलकी उष्णता नहीं की जा सकती, क्योंकि वचन तो ज्ञापक ही हैं और यह बात बतलायी नहीं जा सकती कि किसी देशान्तरमें अग्नि शीतल है और किसी अगम्य देशान्तरमें जल उष्ण है ।

न, प्रत्यगात्मन्यानन्दविज्ञानदर्शनात्; न 'विज्ञानमानन्दम्' इत्येवमादीनां वचनानां शीतो-

पूर्व०-ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रत्यगात्मामें तो आनन्दका विज्ञान देखा जाता है । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य 'अग्नि शीत है'-

ऽग्निरित्यादिवाक्यवत् प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वम् । अनुभूयते त्वविरुद्धार्थता; सुख्यहमिति सुखात्मकमात्मानं स्वयमेव वेदयते; तस्मात् सुतरां प्रत्यक्षाविरुद्धार्थता; तस्मादानन्दं ब्रह्म विज्ञानात्मकं सत् स्वयमेव वेदयते । तथा आनन्दप्रतिपादिकाः श्रुतयः समञ्जसाः स्युः 'जक्षत् क्रीडन् रममाणः' इत्येवमाद्याः पूर्वोक्ताः ।

इत्यादि वाक्योंके समान प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले नहीं हैं। इनकी अविरुद्धार्थताका तो अनुभव होता है। 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार सुखस्वरूप आत्माको पुरुष स्वयं ही जानता है, इसलिये इनकी अविरुद्धता तो अत्यन्त प्रत्यक्ष ही है। अतः आनन्द ब्रह्म विज्ञानात्मक होते हुए स्वयं ही जानता है। इसी प्रकार पहले कही हुई 'जक्षत् क्रीडन् रममाणः' इत्यादि आनन्दका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ सुसंगत हो सकती हैं।

न, कार्यकरणाभावेऽनुपपत्तेर्विज्ञानस्य—शरीरवियोगो हि मोक्ष आत्यन्तिकः; शरीराभावे च करणानुपपत्तिः, आश्रयाभावात्; ततश्च विज्ञानानुपपत्तिः, अकार्यकरणत्वात्; देहाद्यभावे च विज्ञानोत्पत्तौ सर्वेषां कार्यकरणोपादानानर्थक्यप्रसङ्गः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि देह और इन्द्रियोंका अभाव होनेपर विज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती—शरीरका वियोग हो जाना ही आत्यन्तिक मोक्ष है और शरीर न रहनेपर आश्रयका अभाव हो जानेके कारण इन्द्रियोंका रहना भी असम्भव है; अतः देह और इन्द्रियोंका अभाव हो जानेसे उस समय विज्ञान नहीं हो सकता; यदि देहादिके अभावमें भी विज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाय तो समस्त जीवोंके देह और इन्द्रियोंको ग्रहण करनेकी व्यर्थताका प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

एकत्वविरोधाच्च—परं चेद् ब्रह्म आनन्दात्मकमात्मानं नित्यविज्ञानत्वान्नित्यमेव विजानीयात्, तन्न, संसार्यपि संसारविनिर्मुक्तः स्वाभाव्यं प्रतिपद्येत; जलाशय इवोदकाञ्जलिः क्षिप्तो न पृथक्त्वेन व्यवतिष्ठते आनन्दात्मकब्रह्मविज्ञानाय, तदा मुक्त आनन्दात्मकमात्मानं वेदयते इत्येतदनर्थकं वाक्यम्।

अथ ब्रह्मानन्दमन्यः सन् मुक्तो वेदयते, प्रत्यगात्मानं च, अहमस्म्यानन्दस्वरूप इति, तदैकत्वविरोधः, तथा च सति सर्वश्रुतिविरोधः, तृतीया च कल्पना नोपपद्यते।

किञ्चान्यत्, ब्रह्मणश्च निरन्तरात्मानन्दविज्ञाने विज्ञानाविज्ञान-

इसके सिवा एकत्वसे विरोध होनेके कारण भी विज्ञान होना अनुपपन्न है—यदि ऐसा मानो कि नित्यविज्ञानानन्दस्वरूप होनेके कारण परब्रह्म अपने आनन्दमय स्वरूपको नित्य ही जानता रहता है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि संसारी जीव भी संसारसे मुक्त होनेपर ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त हो जाता है, जलाशयमें डाली हुई जलकी अञ्जलिके समान वह भी आनन्दस्वरूप ब्रह्मके विज्ञानके लिये पृथक् होकर स्थित नहीं हो सकता; ऐसी स्थितिमें यह कहना कि मुक्त पुरुष आनन्दस्वरूप आत्माको जानता है, निरर्थक ही है।

और यदि ऐसा कहो कि मुक्त पुरुष ब्रह्मसे अलग रहकर ब्रह्मानन्दको और 'मैं आनन्दस्वरूप हूँ' इस प्रकार प्रत्यगात्माको जानता है तो ऐसी स्थितिमें एकत्वसे विरोध आता है; और ऐसा होनेपर सभी श्रुतियोंसे विरोध होता है। इन दो पक्षोंके[1] सिवा कोई तीसरी कल्पना होनी सम्भव नहीं है।

एक बात और भी है, ब्रह्मको आत्मानन्दका निरन्तर विज्ञान माननेपर उसके विज्ञान और अविज्ञानकी

१. मुक्त पुरुषको ब्रह्मसे अभिन्न या भिन्न माननेके सिवा।

कल्पनानर्थक्यम्; निरन्तरं चेदात्मानन्दविषयं ब्रह्मणो विज्ञानम्, तदेव तस्य स्वभाव इत्यात्मानन्दं विजानातीति कल्पनानुपपन्ना; अतद्विज्ञानप्रसङ्गे हि कल्पनाया अर्थवत्त्वम्, यथा आत्मानं परं च वेत्तीति, न ह्योष्वाद्यासक्तमनसो नैरन्तर्येणेषुज्ञानाज्ञानकल्पनाया अर्थवत्त्वम्।

कल्पना भी व्यर्थ हो जाती है; यदि ब्रह्मको आत्मानन्दविषयक विज्ञान निरन्तर रहता है, तो वही उसका स्वभाव समझना चाहिये; अतः वह आत्मानन्दको जानता है—यह कल्पना नहीं बन सकती। इस कल्पनाकी सार्थकता तो उसका विज्ञान न होनेका प्रसङ्ग होनेपर ही हो सकती है; जैसे—वह अपनेको और दूसरेको जानता है; जिसका चित्त निरन्तर बाणमें लगा हुआ है, उसके विषयमें बाणके ज्ञान और अज्ञानकी कल्पना सार्थक नहीं हो सकती।

अथ विच्छिन्नमात्मानन्दं विजानाति—विज्ञानस्य आत्मविज्ञानच्छिद्रे अन्यविषयत्वप्रसङ्गः; आत्मनश्च विक्रियावत्त्वं ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः; तस्माद् विज्ञानमानन्दमिति स्वरूपान्वाख्यानपरैव श्रुतिः, नात्मानन्दसंवेद्यत्वार्था।

और यदि वह विच्छिन्नरूपसे ही आत्मानन्दको जानता है तो आत्मविज्ञानके छिद्रमें अर्थात् जिस समय आत्मानन्दका ज्ञान नहीं रहता, उस क्षणमें किसी अन्य विषयके विज्ञानके रहनेका प्रसङ्ग होगा; इससे आत्मा विकारी सिद्ध होगा और ऐसा होनेसे उसके अनित्य होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा; अतः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश करनेवाली ही है, आत्मानन्दका संवेद्यत्व बतलानेवाली नहीं है।

'जक्षत् क्रीडन्' इत्यादिश्रुति-

पूर्व०—किंतु आत्मानन्दका

विरोधोऽसंवेद्यत्व इति चेत् ।

न; सर्वात्मैकत्वे यथाप्राप्तानुवादित्वात्—मुक्तस्य सर्वात्मभावे सति यत्र क्वचिद् योगिषु देवेषु वा जक्षणादि प्राप्तम्, तद् यथाप्राप्तमेवानूद्यते-तत्तस्यैव सर्वात्मभावादिति सर्वात्मभावमोक्षस्तुतये ।

यथाप्राप्तानुवादित्वे दुःखित्वमपीति चेत्—योग्यादिषु यथाप्राप्तजक्षणादिवत् स्थावरादिषु यथाप्राप्तदुःखित्वमपीति चेत् ।

न, नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिसम्पर्कजनितभ्रान्त्यध्यारोपितत्वात् सुखित्वदुःखित्वादिविशेष-

असंवेद्यत्व माननेपर 'जक्षत् क्रीडन्' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा ।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि यह सर्वात्मैकत्वकी अनुभूति होनेपर यथाप्राप्त भक्षणादिका अनुवाद करनेवाली है । मुक्त पुरुषको सर्वात्मैकत्वकी प्राप्ति हो जानेपर जहाँ-कहीं योगियों अथवा देवताओंमें भक्षणादिकी प्राप्ति होती है, उस यथाप्राप्त भक्षणादिका ही इसके द्वारा अनुवाद किया गया है। अर्थात् सर्वात्मभाव होनेके कारण वह भक्षणादि उस मुक्त पुरुषका ही है—इस प्रकार यह कथन मोक्षकी स्तुतिके लिये है ।

पूर्व०—यदि यह श्रुति यथाप्राप्त भक्षणादिका अनुवाद करनेवाली है तब तो उसका दुःखी होना भी प्राप्त होगा—योगी आदिकोंमें यथाप्राप्त भक्षणादिकी प्राप्तिके समान उसे स्थावरादिमें यथाप्राप्त दुःखित्वकी भी प्राप्ति होगी—ऐसा कहें तो ?

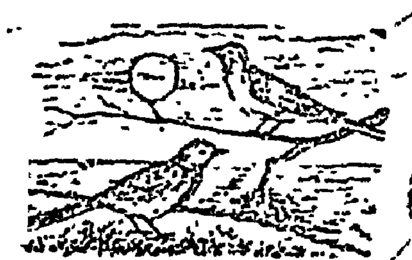
सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सुखित्व और दुःखित्व आदि विशेष धर्म नाम-रूपजनित देह और इन्द्रियरूप उपाधिके सम्पर्कसे होनेवाली भ्रान्तिसे आरोपित हैं—इस प्रकार इन सब शङ्काओंका पहले ही

स्येति परिहृतमेतत् सर्वम् । विरुद्धश्रुतीनां च विषयमवोचाम । तस्मात् "एषोऽस्य परम आनन्दः" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इतिवत् सर्वाण्यानन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि ॥ ७ ॥ २८ ॥

परिहार किया जा चुका है । विरुद्ध-श्रुतियोंका विषय भी हम पहले कह चुके हैं ।[1] अतः आनन्दप्रतिपादक समस्त वाक्योंको "एषोऽस्य परम आनन्दः" इस वाक्यके समान ही समझना चाहिये ॥ ७ ॥ २८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये नवमं शाकल्यब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



१. मधुकाण्डमें जो ब्रह्मका वेद्यत्व है, वह सोपाधिक होनेके कारण है । निरुपाधिक ब्रह्म तो अवेद्य ही है ।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद

जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे ।

अस्य सम्बन्धः —

उपोद्घातः

शारीराद्यानष्टौ पुरुषान्निरुह्य, प्रत्युह्य पुनर्हृदये, दिग्भेदेन च पुनः पञ्चधा व्यूह्य, हृदये प्रत्युह्य, हृदयं शरीरं च पुनरन्योन्यप्रतिष्ठं प्राणादिपञ्चवृत्त्यात्मके समानाख्ये जगदात्मनि सूत्र उपसंहृत्य, जगदात्मानं शरीरहृदयसूत्रावस्थमतिक्रान्तवान् य औपनिषदः पुरुषो नेति नेतीति व्यपदिष्टः, स साक्षाच्चोपादानकारणस्वरूपेण च निर्दिष्टः 'विज्ञानमानन्दम्' इति । तस्यैव वागादिदेवताद्वारेण पुनरधिगमः कर्तव्य इत्यधि-

'जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे' इसका पहले अध्यायसे इस प्रकार सम्बन्ध है—शारीरादि आठ पुरुषोंका निरूपण करके पुनः उनका हृदयमें उपसंहार कर तथा फिर दिशाओंके भेदसे उन्हें पाँच भागोंमें विभक्त करके पुनः उनका हृदयमें उपसंहार कर तथा एक दूसरेमें प्रतिष्ठित हृदय और शरीरका प्राणादि पाँच वृत्तियोंवाले समान-संज्ञक जगदात्मा सूत्रमें उपसंहार कर जो 'नेति-नेति' इस प्रकार बतलाया हुआ औपनिषद पुरुष शरीर, हृदय और सूत्रमें स्थित जगदात्माको अतिक्रमण किये हुए है, उसीका 'ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है' इस प्रकार साक्षात् और उपादान कारणरूपसे निर्देश किया गया है। उसीका वागादि देवतारूप द्वारसे पुनः बोध कराना है, इसीलिये इन



जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद

गमनोपायान्तरार्थोऽयमारम्भो ब्राह्मणद्वयस्य । आख्यायिका त्वाचारप्रदर्शनार्था—

दो ब्राह्मणोंका आरम्भ किया गया है । [यहाँ] आख्यायिका तो आचार प्रदर्शित करनेके लिये है ।

जनककी सभामें याज्ञवल्क्यका आगमन, जनकका प्रश्न

ॐ जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज । तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

विदेह जनक आसनपर स्थित था । तभी [उसके पास] याज्ञवल्क्यजी आये । उनसे [जनकने] कहा, 'याज्ञवल्क्यजी ! कैसे आये ? पशुओंकी इच्छासे, अथवा सूक्ष्मान्त [प्रश्न श्रवण करने] के लिये ?' 'राजन् ! मैं दोनोंके लिये आया हूँ' ऐसा [याज्ञवल्क्यने] कहा ॥ १ ॥

जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे आसनं कृतवानास्थायिकां दत्तवानित्यर्थः, दर्शनकामेभ्यो राज्ञः । अथ ह तस्मिन्नवसरे याज्ञवल्क्यः आवव्राज — आगतवानात्मनो योगक्षेमार्थम्, राज्ञो वा विविदिषां दृष्ट्वानुग्रहार्थम् । तमागतं याज्ञवल्क्यं यथावत् पूजां कृत्वोवाच हास्मै जनकः - हे याज्ञवल्क्य किमर्थम् अचारीः —आगतोऽसि ? किं पशूनिच्छन् पुनरपि, आहोस्विदण्वन्तान् सूक्ष्मान्तान् सूक्ष्मवस्तुनिर्णयान्तान् प्रश्नान् मत्तः श्रोतुमिच्छन्निति ।

विदेह देशका राजा जनक आसनपर स्थित था—आसन लगाये हुए था अर्थात् उसने राजाका दर्शन करनेकी इच्छावालोंके लिये अवसर दे रखा था । तब उस समय अपने योगक्षेमके अथवा राजाकी जिज्ञासा देखकर उसपर कृपा करनेके लिये वहाँ याज्ञवल्क्यजी आये । उन याज्ञवल्क्यजीको आये देख उनकी यथावत् पूजा कर राजा जनकने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! आप किसलिये आये हैं ? क्या पुनः पशुओंकी इच्छासे ही आये हैं, अथवा मुझसे सूक्ष्मान्त—सूक्ष्म वस्तुके निर्णयमें समाप्त होनेवाले प्रश्न सुननेकी इच्छासे ?'

उभयमेव पशून् प्रश्नांश्च हे सम्राट्—सम्राडिति वाजपेययाजिनो लिङ्गम्; यश्च आज्ञया राज्यं प्रशास्ति, स सम्राट्; तस्या मन्त्रणं हे सम्राडिति; समस्तस्य वा भारतस्य वर्षस्य राजा ॥१॥

'हे सम्राट्! पशु और प्रश्न दोनोंहीके लिये [आया हूँ]।' 'सम्राट्' यह पद वाजपेय यज्ञ करनेवालेका सूचक है; जो भी अपनी आज्ञासे राज्यपर शासन करता है, वह 'सम्राट्' होता है; 'हे सम्राट्' यह उसीका सम्बोधन है; अथवा समस्त भारतवर्षका राजा [सम्राट् कहा गया है] ॥ १ ॥

शैलिनिके बतलाये हुए वाक्-ब्रह्मकी उपासनाका फलसहित वर्णन

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग् वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद् वाग् वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद् वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य। वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य। वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग् जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं

विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ २ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुझसे किसी आचार्यने जो कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] 'मुझसे शिलिनके पुत्र जित्वाने कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है।' [याज्ञवल्क्य–] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शिलिनके पुत्रने 'वाक् ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि न बोलनेवालेको क्या लाभ हो सकता है ? किंतु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं ?' [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'राजन् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'याज्ञवल्क्य ! वह हमें आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] 'वाक् ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है; उसकी 'प्रज्ञा' इस प्रकार उपासना करे।' [जनक–] 'याज्ञवल्क्यजी ! प्रज्ञता क्या है ?' राजन् ! वाक् ही प्रज्ञता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे सम्राट् ! वाक्से ही बन्धुका ज्ञान होता है और राजन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित (भूखेको अन्न खिलानेसे होनेवाले धर्म), पायित (प्यासेको पानी पिलानेसे होनेवाले धर्म), यह लोक, परलोक और समस्त भूत वाक्से ही जाने जाते हैं। हे सम्राट् ! वाक् ही परब्रह्म है। इस प्रकार उपासना करनेवालेको वाक् नहीं त्यागता, सम्पूर्ण भूत उसको उपहार देते हैं। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' विदेहराज जनकने कहा, 'मैं आपको—जिनसे हाथीके समान बैल उत्पन्न हों ऐसी–सहस्र गौएँ देता हूँ।' उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ २ ॥

किंतु यत्ते तुभ्यं कश्चिदब्रवीदाचार्यः; अनेकाचार्यसेवी हि

किंतु तुमसे जो कुछ किसी आचार्यने कहा है, वह हम सुनें, क्योंकि तुम बहुत-से आचार्योंकी सेवा

भवान्; तच्छृणवामेति। इतर आह—अब्रवीदुक्तवान् मे ममाचार्यः, जित्वा नामतः, शिलिनस्यापत्यं शैलिनिः—वाग् वै ब्रह्मेति वाग्देवता ब्रह्मेति।

आहेतरः—यथा मातृमान् माता यस्य विद्यते पुत्रस्य सम्यगनुशास्त्री अनुशासनकर्त्री स मातृमान्; अत ऊर्ध्वं पिता यस्यानुशास्ता स पितृमान्; उपनयनादूर्ध्वमासमावर्तनादाचार्यो यस्यानुशास्ता स आचार्यवान्; एवं शुद्धित्रयहेतुसंयुक्तः स साक्षादाचार्यः स्वयं न कदाचिदपि प्रामाण्याद् व्यभिचरति; स यथा ब्रूयाच्छिष्याय तथासौ जित्वा शैलिनिरुक्तवान् वाग् वै ब्रह्मेति; अवदतो हि किं स्यादिति—न हि मूकस्येहार्थममुत्रार्थं वा किञ्चन स्यात्। किंतु, अब्रवीदुक्तवांस्ते तुभ्यं तस्य ब्रह्मण आयतनं प्रतिष्ठां च—आयतनं

करनेवाले हो; इतर (जनक) ने कहा, मुझसे जित्वा नामवाले शिलिनके पुत्र शैलिनिने कहा था कि 'वाक् ही ब्रह्म है' अर्थात् 'वाग्देवता ब्रह्म है।'

इतर (याज्ञवल्क्यजी) बोले, 'जिस प्रकार मातृमान्—जिस पुत्रका सम्यक् प्रकारसे अनुशासन करनेवाली माता विद्यमान है, वह मातृमान्, इसके पश्चात् जिसका अनुशासन करनेवाला पिता है, वह पितृमान् तथा उपनयनके पश्चात् समावर्तन संस्कारतक आचार्य जिसका अनुशासन करनेवाला है, वह आचार्यवान् है; इस प्रकार जो तीन प्रकारकी शुद्धिके हेतुओंसे संयुक्त है, वह साक्षात् आचार्य कभी भी प्रमाणसे व्यभिचरित नहीं हो सकता, वह जिस प्रकार अपने शिष्यको उपदेश करे, उसी प्रकार इस शिलिनके पुत्र जित्वाने तुम्हें यह उपदेश किया है कि वाक् ही ब्रह्म है; क्योंकि न बोलनेवालेको क्या लाभ हो सकता है? मूकको तो लौकिक या पारलौकिक कोई भी लाभ नहीं हो सकता; किंतु क्या उसने तुम्हें उस ब्रह्मके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये

नाम शरीरम्; प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेषु य आश्रयः।

थे? आयतन शरीरको कहते हैं और जो तीनों कालोंमें आश्रय हो वह प्रतिष्ठा कहलाता है।

आहेतरः—न मेऽब्रवीदिति।

दूसरे (जनक) ने कहा, 'मुझे नहीं बतलाये।'

इतर आह—यद्येवमेकपाद् वै एतत्; एकः पादो यस्य ब्रह्मणस्तदिदं एकपाद् ब्रह्म त्रिभिः पादैः शून्यमुपास्यमानमपि न फलाय भवतीत्यर्थः।

अन्य (याज्ञवल्क्य) बोला, 'यदि ऐसी बात है तो वह एकपाद ब्रह्म है, जिस ब्रह्मका एक पाद हो वह एकपाद ब्रह्म है, तात्पर्य यह है कि वह तीन पादोंसे शून्य ब्रह्म उपासना किये जानेपर भी फलप्रद नहीं होता।'

यद्येवम्, स त्वं विद्वान् सन्नोऽस्मभ्यं ब्रूहि हे याज्ञवल्क्येति।

(जनक-) 'यदि ऐसी बात है तो हे याज्ञवल्क्यजी! आप उसके ज्ञाता हैं, इसलिये हमारे प्रति उसका वर्णन कीजिये।'

स चाह—वागेवायतनम्, वाग्देवस्य ब्रह्मणो वागेव करणमायतनं शरीरम्, आकाशोऽव्याकृताख्यः प्रतिष्ठोत्पत्तिस्थितिलयकालेषु। प्रज्ञेत्येनदुपासीत—प्रज्ञेतीयमुपनिषद् ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः—प्रज्ञेति कृत्वैनद् ब्रह्मोपासीत।

याज्ञवल्क्यने कहा—'वाक् ही आयतन है—उस वाग्देवरूप ब्रह्मका वाक् ही करण—आयतन अर्थात् शरीर है तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके समय अव्याकृत-संज्ञक आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। उसकी 'प्रज्ञा' इस रूपसे उपासना करे। 'प्रज्ञा' यह उपनिषद् उस ब्रह्मका चतुर्थ पाद है। 'प्रज्ञा' ऐसा मानकर उस ब्रह्मकी उपासना करे।'

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य? किं

[जनक-] 'याज्ञवल्क्यजी! प्रज्ञता

स्वयमेव प्रज्ञा, उत प्रज्ञानिमित्ता—यथा आयतनप्रतिष्ठे ब्रह्मणो व्यतिरिक्ते, तद्वत् किम् ? न, कथं तर्हि ?

वागेव सम्राडिति होवाच; वागेव प्रज्ञेति होवाचोक्तवान्, न व्यतिरिक्ता प्रज्ञेति। कथं पुनर्वागेव प्रज्ञा ? इत्युच्यते—वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते—अस्माकं बन्धुरित्युक्ते प्रज्ञायते बन्धुः; तथर्ग्वेदादि, इष्टं यागनिमित्तं धर्मजातम्, हुतं होमनिमित्तं च, आशितमन्नदाननिमित्तम्, पायितं पानदाननिमित्तम्, अयं च लोकः, इदं च जन्म, परश्च लोकः, प्रतिपत्तव्यं च जन्म, सर्वाणि च भूतानि—वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते। अतो वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं यथोक्तब्रह्मविदं वाग् जहाति; सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति बलिदानादिभिः; इह देवो

क्या है ? क्या स्वयं प्रजा ही प्रज्ञता है अथवा जिसका प्रज्ञा निमित्त है, [वह वाक्] प्रज्ञता है ? जिस प्रकार आयतन और प्रतिष्ठा [वाक्‌रूप] ब्रह्मसे भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रज्ञता भी है क्या ? नहीं, तो फिर किस प्रकार है ?

'हे सम्राट् ! वह वाक् ही है' ऐसा [याज्ञवल्क्यने] उत्तर दिया, 'वाक् ही प्रज्ञा है. प्रज्ञा उससे भिन्न नहीं है—इस प्रकार याज्ञवल्क्यने कहा।' किंतु वाक् ही प्रज्ञा किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है, 'हे सम्राट् ! वाक्‌से ही बन्धुका ज्ञान होता है। 'यह हमारा बन्धु है' ऐसा कहनेपर ही बन्धुका ज्ञान होता है। इसी प्रकार ऋग्वेदादि, इष्ट—यागसे होनेवाले धर्म, हुत—होमसे होनेवाले धर्म, आशित—अन्नदानजनित धर्म, पायित-जलदानजनित धर्म, यह लोक, यह जन्म, परलोक, आगे प्राप्त होनेवाला जन्म और सम्पूर्ण भूत-हे सम्राट् ! इन सबका वाक्‌से ही ज्ञान होता है, अतः हे सम्राट् ! वाक् ही परम ब्रह्म है। इस उपर्युक्त ब्रह्मको जाननेवालेका वाक् त्याग नहीं करती। समस्त भूत उपहारादिके द्वारा इसका उपकार करते हैं।

भूत्वा पुनः शरीरपातोत्तरकालं देवानप्येति—अपि गच्छति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते ।

विद्यानिष्क्रयार्थं हस्तितुल्य ऋषभो हस्त्यृषभो यस्मिन् गोसहस्रे तद् हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ।

स होवाच याज्ञवल्क्यः—अननुशिष्य शिष्यं कृतार्थमकृत्वा शिष्याद् धनं न हरेतेति मे मम पिता—अमन्यत । ममाप्ययमेवाभिप्रायः ॥ २ ॥

जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह इस लोकमें देव होकर फिर शरीरपातके अनन्तर देवोंको प्राप्त होता है।'

तब वैदेह जनकने कहा, 'इस विद्याके बदलेमें मैं आपको जिन सहस्र गौओंसे हाथीके समान बैल होते हैं, ऐसे सहस्र हस्त्यृषभ देता हूँ।

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका ऐसा विचार था कि शिष्यका अनुशासन किये बिना—उसे कृतार्थ किये बिना शिष्यके यहाँसे धन नहीं ले जाना चाहिये। और मेरा भी ऐसा ही अभिप्राय है' ॥ २ ॥

उदङ्कोक्त प्राण-ब्रह्मकी उपासनाका फलसहित वर्णन

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत् प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किंस्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्य-

प्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३ ॥

[याज्ञवल्क्य-] 'तुमसे किसी [आचार्य] ने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक-] 'मुझसे शुल्बके पुत्र उदङ्कने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शुल्बके पुत्रने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि प्राणक्रिया न करनेवालेको क्या लाभ हो सकता है ? किंतु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं ?' [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'राजन् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक-] 'याज्ञवल्क्यजी ! वह हमें आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य-] 'प्राण ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, उसकी 'प्रिय' इस रूपसे उपासना करे।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य ! प्रियता क्या है ?'' 'हे सम्राट् ! प्राण ही प्रियता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन् ! प्राणके लिये ही अयाज्यसे यजन कराते हैं, प्रतिग्रह न लेनेयोग्यसे प्रतिग्रह लेते हैं तथा जिस दिशामें जाते हैं, उसमें ही वधकी आशंका करते हैं। हे सम्राट् ! यह सब प्राणके ही लिये होता है। हे राजन् ? प्राण ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है उसे प्राण नहीं त्यागता, उसको सब भूत उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक हजार गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ३ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, उदङ्को नामतः शुल्बस्यापत्यं शौल्बायनोऽब्रवीत्; प्राणो वै ब्रह्मेति, प्राणो वायुर्देवता—पूर्ववत्। प्राण एव आयतनमाकाशः प्रतिष्ठा; उपनिषत्—प्रियमित्येनदुपासीत।

कथं पुनः प्रियत्वम्? प्राणस्य वै हे सम्राट् कामाय प्राणस्यार्थायायाज्यं याजयति पतितादिकमपि; अप्रतिगृह्यस्याप्युग्रादेः प्रतिगृह्णात्यपि; तत्र तस्यां दिशि वधनिमित्तमाशङ्कम्—वधाशङ्केत्यर्थः, यां दिशमेति तस्कराद्याकीर्णां च तस्यां दिशि वधाशङ्का; तच्चैतत् सर्वं प्राणस्य प्रियत्वे भवति, प्राणस्यैव सम्राट् कामाय। तस्मात् प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं प्राणो जहाति; समानमन्यत्॥ ३॥

'यदेव ते कश्चिदब्रवीत्' इत्यादि मुझसे उदङ्क नामवाले शौल्बायन-शुल्बके पुत्रने कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है। पूर्ववत् 'प्राण' वायुदेवता है। प्राण ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी 'प्रिय' इस रूपसे उपासना करे—यह उपनिषद् है।

'किंतु इसकी प्रियता किस प्रकार है?' 'हे सम्राट्! प्राणकी ही कामनासे—प्राणके ही लिये अयाज्यसे पतितादिकसे भी यजन कराते हैं और प्रतिग्रहके अयोग्य उग्र (उद्दण्ड) आदिसे भी प्रतिग्रह लेते हैं तथा चोर और लुटेरों आदिसे आक्रान्त जिस दिशामें जाते हैं, उस दिशामें वधके कारण होनेवाली आशङ्का रखते हैं; उस दिशामें वधकी आशङ्का रहती है; यह सब प्राणकी प्रियता होनेपर ही होता है; हे सम्राट्! प्राणके ही लिये यह सब होता है। अतः हे राजन्! प्राण ही परम ब्रह्म है। [जो ऐसी उपासना करता है] उसे प्राण नहीं छोड़ता।' शेष पूर्ववत् है॥ ३॥

वर्कुके बताये हुए चक्षुर्ब्रह्मकी उपासनाका फलसहित वर्णन

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे वर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान्

ब्रूयात्तथा तद् वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳस्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवी-दित्येकपाद् वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञ-वल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येन-दुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत् सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥४॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक-] 'मुझसे वृष्णके पुत्र बर्कुने कहा है कि चक्षु ही ब्रह्म है।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान् आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस वार्ष्णने 'चक्षु ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि न देखनेवाले-को क्या लाभ हो सकता है ? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं।' [जनक-] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य-] 'हे सम्राट् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक-] 'याज्ञवल्क्य-जी ! वह हमें आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] 'चक्षु ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'सत्य' इस रूपसे उपासना करे।' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य ! सत्यता क्या है ?' 'हे राजन् ! चक्षु ही सत्यता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे सम्राट् ! चक्षुसे देखने-वालेसे ही 'क्या तूने देखा' ऐसा जब कहा जाता है और वह कहता है कि 'मैंने देखा' तो वह सत्य होता है। राजन् ! चक्षु ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका चक्षु त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और

वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक हजार गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ४ ॥

यदेव ते कश्चिद् वर्कुरिति नामतो वृष्णस्यापत्यं वार्ष्णः; चक्षुर्वै ब्रह्मेति; आदित्यो देवता चक्षुषि। उपनिषत्—सत्यम्; यस्माच्छ्रोत्रेण श्रुतमनृतमपि स्यात्, न तु चक्षुषा दृष्टम्; तस्माद् वै सम्राट् पश्यन्तमाहुः—अद्राक्षीस्त्वं हस्तिनमिति, स चेदद्राक्षमित्याह, तत् सत्यमेव भवति यस्त्वन्यो ब्रूयात्—अहमश्रौषमिति; तद् व्यभिचरति; यत्तु चक्षुषा दृष्टं तदव्यभिचारित्वात् सत्यमेव भवति ॥ ४ ॥

'यदेव ते कश्चित्'—वर्कु इस नामवाले वार्ष्ण—वृष्णके पुत्रने 'चक्षु ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; चक्षुमें आदित्य देवता है। उसकी 'सत्य' यह उपनिषद् है, क्योंकि कानसे सुना हुआ तो मिथ्या भी हो सकता है, किंतु नेत्रसे देखा हुआ नहीं हो सकता; हे सम्राट्! इसीसे देखनेवालेसे कहते हैं 'तुमने हाथी देखा?' इसपर यदि वह कहे कि देखा है तो वह सत्य ही होता है। यदि कोई अन्य कहे कि मैंने सुना है तो उसमें तो अन्तर आ सकता है। किंतु जो नेत्रसे देखा हुआ होता है, उसमें अन्तर न आनेके कारण वह सत्य ही होता है ॥ ४ ॥

गर्दभीविपीतके कहे हुए श्रोत्रब्रह्मकी उपासनाका फलसहित वर्णन

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तद् भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यश्रृण्वतो हि किꣲस्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं

प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्त इत्येनदुपासीत कानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳश्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳश्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥५॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] 'मुझसे भारद्वाजगोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीतने कहा है कि श्रोत्र ही ब्रह्म है।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस भारद्वाजने 'श्रोत्र ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि न सुननेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?' [जनक] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बताइये।' [याज्ञवल्क्य—] 'श्रोत्र ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है तथा इसकी 'अनन्त' इस रूपसे उपासना करे।' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य! अनन्तता क्या है?' 'हे सम्राट्! दिशाएँ ही अनन्तता हैं' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा 'इसीसे हे सम्राट्! कोई भी जिस किसी दिशाको जाता है, वह उसका अन्त नहीं पाता; क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं और हे सम्राट्! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं। श्रोत्र ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, श्रोत्र उसका त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको

हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक हजार गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ५ ॥

'यदेव ते' गर्दभीविपीत इति नामतः, भारद्वाजो गोत्रतः; श्रोत्रं वै ब्रह्मेति—श्रोत्रे दिग् देवता, अनन्त इत्येनदुपासीत; कानन्तता श्रोत्रस्य ? दिश एव श्रोत्रस्यानन्त्यं यस्मात्, तस्माद् वै सम्राट् प्राचीमुदीचीं वा यां काञ्चिदपि दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छति कश्चिदपि; अतोऽनन्ता हि दिशः; दिशो वै सम्राट् श्रोत्रम्; तस्माद्दिगानन्त्यमेव श्रोत्रस्यानन्त्यम् ॥ ५ ॥

'यदेव ते'—गर्दभीविपीत ऐसे नामवाले गोत्रतः भारद्वाजने 'श्रोत्र ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है। श्रोत्रमें दिग् देवता है, उसकी 'अनन्त' इस रूपसे उपासना करनी चाहिये। श्रोत्रकी अनन्तता क्या है ? हे सम्राट्! चूँकि दिशाएँ ही श्रोत्रकी अनन्तता हैं, इसलिये पूर्व या उत्तर जिस किसी भी दिशाको जाय, कोई उसका अन्त नहीं पाता; इसलिये दिशाएँ अनन्त हैं। हे सम्राट्! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं; अतः दिशाओंकी अनन्तता ही श्रोत्रकी अनन्तता है ॥ ५ ॥

जाबालोक्त मनोब्रह्मकी उपासनाका फलसहित वर्णन

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्द इत्येनदुपासीत कानन्दता

याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ।६।

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें ।' [जनक—] 'मुझसे जबालाके पुत्र सत्यकामने कहा है कि मन ही ब्रह्म है ।' [याज्ञवल्क्य—] 'जैसे मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस जबालाके पुत्रने 'मन ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि मनोहीनको क्या लाभ हो सकता है ? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा बतलाये हैं ?' [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये ।' [याज्ञवल्क्य-] 'हे सम्राट् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है ।' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य ! वह हमें आप बतलाइये ।' [याज्ञवल्क्य-] 'मन ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'आनन्द' इस रूपसे उपासना करे ।' [जनक-] 'याज्ञवल्क्य ! आनन्दता क्या है ?' 'हे सम्राट् ! मन ही आनन्दता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे राजन् ! मनसे ही स्त्रीकी इच्छा करता है, उसमें अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है, वह आनन्द है ! हे सम्राट् ! मन ही परम ब्रह्म है । जो विद्वान् इसको इस प्रकार उपासना करता है, उसे मन नहीं त्यागता, सब भूत उसका उपकार करते हैं तथा वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है ।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक हजार गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा । उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ६ ॥

सत्यकाम इति नामतः जबालाया अपत्यं जाबालः। चन्द्रमा मनसि देवता। आनन्द इत्युपनिषत्। यस्मान्मन एवानन्दः, 'तस्मान्मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते प्रार्थयत इत्यर्थः। तस्माद् यां स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते, तस्यां प्रतिरूपोऽनुरूपः पुत्रो जायते; स आनन्दहेतुः पुत्रः; स येन मनसा निर्वर्त्यते, तन्मन आनन्दः॥ ६॥

सत्यकाम ऐसे नामवाले जाबाल—जबालाके पुत्रने। मनमें चन्द्रमा देवता है। 'आनन्द' यह उपनिषद् है। क्योंकि मन ही आनन्द है, इसलिये हे सम्राट्! मनसे स्त्रीकी इच्छा करते हुए उसका अभिहरण अर्थात् प्रार्थना करता है। अतः जिस स्त्रीकी कामना करते हुए प्रार्थना करता है, उसीमें प्रतिरूप—अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है, वह पुत्र आनन्दका हेतु है। जिस मनके द्वारा वह निष्पन्न होता है, वह मन आनन्द है॥ ६॥

शाकल्योक्त हृदयब्रह्मकी उपासनाका फलसहित वर्णन

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति

सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ७ ॥

[याज्ञवल्क्य-] 'तुमसे किसी आचार्यने जो कहा है वह हम सुनें।' [जनक-] 'मुझसे विदग्ध शाकल्यने कहा है कि हृदय ही ब्रह्म है।' [याज्ञवल्क्य-] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुष उपदेश करे, उसी प्रकार उस शाकल्यने 'हृदय ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि हृदयहीनको क्या मिल सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?' [जनक-] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य-] 'हे सम्राट्! यह तो एक पदवाला ही ब्रह्म है।' [जनक-] 'याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य-] 'हृदय ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है तथा इसकी 'स्थिति' इस रूपसे उपासना करे।' [जनक-] 'याज्ञवल्क्य! स्थितता क्या है?' हे सम्राट्! हृदय ही स्थितता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन्! हृदय ही समस्त भूतोंका आयतन है, हृदय ही सब भूतोंकी प्रतिष्ठा है और हृदयमें ही समस्त भूत प्रतिष्ठित होते हैं। हे सम्राट्! हृदय ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका हृदय त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार समर्पण करते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' वैदेह जनकने कहा, 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक हजार गौएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ७ ॥

विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति। हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानाम् आयतनम्। नाम-

विदग्ध शाकल्यने 'हृदय ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है। हे सम्राट्! हृदय ही समस्त भूतोंका आयतन है।

रूपकर्मात्मकानि हि भूतानि हृदयाश्रयाणीत्यवोचाम शाकल्यब्राह्मणे हृदयप्रतिष्ठानि चेति। तस्माद् हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति। तस्माद् हृदयं स्थितिरित्युपासीत। हृदये च प्रजापतिः देवता ॥ ७ ॥

नाम, रूप और कर्मात्मक भूत हृदयके ही आश्रित हैं और हृदयमें ही प्रतिष्ठित हैं—ऐसा हम शाकल्य-ब्राह्मणमें कह चुके हैं। अतः हे सम्राट्! समस्त भूत हृदयमें ही प्रतिष्ठित हैं। अतः हृदयकी 'स्थिति' इस रूपसे उपासना करे। हृदयमें प्रजापति देवता है ॥ ७ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्याये
प्रथमं षडाचार्यब्राह्मणम् ॥ १ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

जनक उपसत्ति

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद् भगवन् वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद् वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥ १ ॥

विदेहराज जनकने कूर्च [नामक एक विशेष प्रकारके आसन] से उठकर [याज्ञवल्क्यके] समीप जाकर कहा, 'याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है, मुझे उपदेश कीजिये।' उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, 'राजन्! जिस प्रकार लंबे

मार्गको जानेवाला पुरुष सम्यक् प्रकारसे रथ या नौकाका आश्रय ले, उसी प्रकार तू इन उपनिषदों (उपासनाओं) से युक्त प्राणादि ब्रह्मोंकी उपासना कर समाहितचित्त हो गया है। इस प्रकार तू पूज्य, श्रीमान्, अधीतवेद और उक्तोपनिषत्क (जिसे आचार्यने उपनिषद्का उपदेश कर दिया है—ऐसा) हो गया है। इतना होनेपर भी तू इस शरीरसे छूटकर कहाँ जायगा ?' [जनक–] 'भगवन् ! मैं कहाँ जाऊँगा, सो मुझे मालूम नहीं है।' [याज्ञवल्क्य—] 'अब मैं तुझे यही बतलाऊँगा—जहाँ तू जायगा।' [जनक—] 'भगवान् मुझे बतलावें' ॥ १ ॥

जनको ह वैदेहः। यस्मात् सविशेषणानि सर्वाणि ब्रह्माणि जानाति याज्ञवल्क्यः, तस्मादाचार्यकत्वं हित्वा जनकः कूर्चादासनविशेषादुत्थाय उप समीपमवसर्पन् पादयोर्निपतन्नित्यर्थः, उवाचोक्तवान्—नमस्ते तुभ्यमस्तु हे याज्ञवल्क्य; अनु मा शाध्यनुशाधि मामित्यर्थः, इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः।

'जनको ह वैदेहः'। चूँकि याज्ञवल्क्य विशेषणोंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्मोंको जानता है, इसलिये जनक आचार्यकत्व (ज्ञानित्वाभिमान) को छोड़कर कूर्च—आसनविशेषसे उठकर उसके समीप जा अर्थात् चरणोंमें गिरकर बोला, 'हे याज्ञवल्क्य ! तुम्हें नमस्कार है; 'अनु मा शाधि' अर्थात् मेरा अनुशासन करो। [शाधीति इसमें] 'इति' शब्द वाक्यकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है।

स होवाच याज्ञवल्क्यः—यथा वै लोके हे सम्राट् महान्तं दीर्घमध्वानमेष्यन् गमिष्यन्, रथं वा स्थलेन गमिष्यन्, नावं वा जलेन गमिष्यन् समाददीत—एवमेवैतानि ब्रह्माण्येताभिरुपनिषद्भिर्युक्तानि उपासीनः समाहितात्मा-

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे सम्राट् ! लोकमें जिस प्रकार महान् यानी लंबे मार्गको जानेवाला पुरुष स्थलसे जानेपर रथ और जलसे जानेपर नौकाका आश्रय ले, उसी प्रकार तू इन उपनिषदों—उपासनाओंसे युक्त इन ब्रह्मोंकी उपासना करके समाहितचित्त हो

सि, अत्यन्तमेताभिरुपनिषद्भिः संयुक्तात्मासि; न केवलमुपनिषत्समाहितः, एवं वृन्दारकः पूज्यश्चाढ्यश्चेश्वरो न दरिद्र इत्यर्थः; अधीतवेदोऽधीतो वेदो येन स त्वमधीतवेदः, उक्ताश्चोपनिषद आचार्यैस्तुभ्यं स त्वमुक्तोपनिषत्कः।

गया है, अर्थात् इन उपासनाओंसे अत्यन्त संयुक्तचित्त हो गया है; केवल उपनिषदों (उपासनाओं) से समाहित (संयुक्त) ही नहीं है, इसी प्रकार वृन्दारक—पूज्य और आढ्य अर्थात् श्रीमान् भी है, भाव यह कि दरिद्र नहीं है, तथा तू अधीतवेद—जिसने वेदाध्ययन कर लिया है, ऐसा अधीतवेद है और उक्तोपनिषत्क – जिसे आचार्योंने उपनिषदोंका उपदेश कर दिया है, ऐसा तू उक्तोपनिषत्क है।

एवं सर्वविभूतिसम्पन्नोऽपि सन् भयमध्यस्थ एव परमात्मज्ञानेन विनाकृतार्थ एव तावदित्यर्थः, यावत् परं ब्रह्म न वेत्सि। इतोऽस्माद्देहाद् विमुच्यमान एताभिर्नौरथस्थानीयाभिः समाहितः क्व कस्मिन् गमिष्यसि, किं वस्तु प्राप्स्यसीति ?

'इस प्रकार सम्पूर्ण विभूतियोंसे सम्पन्न होनेपर भी परमात्माका बोध हुए बिना तू भयके मध्यमें ही स्थित है अर्थात् तबतक तो तू अकृतार्थ ही है, जबतक कि परब्रह्मको नहीं जानता। तू यहाँसे—इस देहसे छूटकर इन नौका और रथस्थानीय उपासनाओंसे समाहित होकर कहाँ जायगा ? किस वस्तुको प्राप्त करेगा ?'

नाहं तद् वस्तु भगवन् पूजावन् वेद जाने यत्र गमिष्यामीति।

[जनक—] 'हे भगवन्! हे पूज्य! मैं उस वस्तुको नहीं जानता, जहाँ कि मैं [देह छोड़नेपर] जाऊँगा।'

अथ यद्येवं न जानीषे यत्र गतः कृतार्थः स्याः, अहं वै ते तुभ्यं तद् वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति।

[याज्ञवल्क्य—] 'अच्छा, यदि तू यह नहीं जानता कि कहाँ जानेपर तू कृतार्थ होगा तो मैं तुझे वह स्थान बतलाऊँगा जहाँ तू जायगा।'

ब्रवीतु भगवानिति, यदि प्रसन्नो मां प्रति ।

शृणु—॥ १ ॥

[जनक—] 'यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो भगवान् मुझे उसका उपदेश करें।'

[याज्ञवल्क्य–] 'सुन'—॥ १ ॥

दक्षिणनेत्रस्थ इन्द्रसंज्ञक पुरुषका परिचय

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

यह जो दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, इन्ध नामवाला है, उसी इस पुरुषको इन्ध होते हुए भी परोक्षरूपसे इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवगण मानो परोक्ष-प्रिय हैं, प्रत्यक्षसे द्वेष करनेवाले हैं ॥ २ ॥

इन्धो ह वै नाम—इन्ध इत्येवन्नामा, यश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति पुरोक्त आदित्यान्तर्गतः पुरुषः स एषः, योऽयं दक्षिणेऽक्षन् अक्षणि विशेषेण व्यवस्थितः—स च सत्यनामा; तं वै एतं पुरुषं दीप्तिगुणत्वात् प्रत्यक्षं नाम अस्येन्ध इति, तमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण; यस्मात् परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः प्रत्यक्षनामग्रहणं द्विषन्ति। एष त्वं वैश्वानरमात्मानं सम्पन्नोऽसि ॥ २ ॥

'इन्धो ह वै नाम'—'इन्ध' ऐसे नामवाला है, 'चक्षु ही ब्रह्म है' इस प्रकार जिस आदित्यान्तर्गत पुरुषका पहले वर्णन किया गया है, वह यह है जो कि विशेषरूपसे दक्षिण नेत्रमें स्थित है; वह सत्य नामवाला है; दीप्ति गुणवाला होनेसे इसका 'इन्ध' यह प्रत्यक्ष नाम है, उस इस पुरुषको, इन्ध होते हुए भी, परोक्षरूपसे 'इन्द्र' ऐसा कहते हैं; क्योंकि देवगण मानो परोक्षप्रिय हैं, प्रत्यक्षद्वेषी हैं—प्रत्यक्ष नामग्रहणसे द्वेष करते हैं। यह तू वैश्वानर आत्माको प्राप्त हो गया है ॥ २ ॥



वामनेत्रस्थ इन्द्रपत्नी तथा विराट्का परिचय और उन दोनोंके संस्ताव, अन्न, प्रावरण एवं मार्गादिका वर्णन

अथैतद् वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत् प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

और यह जो बायें नेत्रमें पुरुषरूप है, वह इस (इन्द्र) की पत्नी विराट् (अन्न) है; उन दोनोंका यह संस्ताव (मिलनका स्थान) है जो कि यह हृदयान्तर्गत आकाश है। उन दोनोंका यह अन्न है जो कि यह हृदयान्तर्गत लाल पिण्ड है। उन दोनोंका यह प्रावरण है जो कि यह हृदयान्तर्गत जाल-सा है। उन दोनोंका यह मार्ग—संचार करनेका द्वार है जो कि यह हृदयसे ऊपरकी ओर नाडी जाती है। जिस प्रकार सहस्र भागोंमें विभक्त हुआ केश होता है, वैसी ही ये हिता नामकी नाडियाँ हृदयके भीतर स्थित हैं। इन्हींके द्वारा जाता हुआ यह अन्न [शरीरमें] जाता है; इसीसे इस (स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानर) से यह (सूक्ष्मदेहाभिमानी तैजस) सूक्ष्मतर आहार ग्रहण करनेवाला ही होता है ॥ ३ ॥

अथैतद् वामेऽक्षणि पुरुषरूपम्, एषास्य पत्नी—यं त्वं वैश्वानरमात्मानं सम्पन्नोऽसि तस्यास्येन्द्रस्य भोक्तुर्भोग्यैषा पत्नी विराडन्नं

और यह जो वाम नेत्रमें पुरुषरूप है, वह इसकी पत्नी है—तुम जिस वैश्वानर आत्माको सम्पन्न हुए हो, उस इस भोक्ता इन्द्रकी यह भोग्यरूपा पत्नी है, भोग्य होनेके

भोग्यत्वादेव। तदेतदन्नं चात्ता चैकं मिथुनं स्वप्ने। कथम्? तयोरेष इन्द्राण्या इन्द्रस्य चैष संस्तावः, सम्भूय यत्र संस्तवं कुर्वाते अन्योन्यं स एष संस्तावः। कोऽसौ? य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, अन्तर्हृदये हृदयस्य मांसपिण्डस्य मध्ये।

अथैनयोरेतद् वक्ष्यमाणमन्नं भोज्यं स्थितहेतुः; किं तत्? य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डो लोहित एव पिण्डाकारापन्नो लोहितपिण्डः। अन्नं जग्धं द्वेधा परिणमते; यत् स्थूलं तदधो गच्छति; यदन्यत्तत् पुनरग्निना पच्यमानं द्वेधा परिणमते—यो मध्यमो रसः स लोहितादिक्रमेण पाञ्चभौतिकं पिण्डं शरीरमुपचिनोति, योऽणिष्ठो रसः स लोहितपिण्ड इन्द्रस्य लिङ्गात्मनो हृदये मिथुनीभूतस्य, यं तैजसमाच-

कारण विराट् अन्न है। वह यह अन्न और अत्ता स्वप्नमें एक मिथुन होते हैं। किस प्रकार? उन इन्द्राणी और इन्द्रका यह संस्ताव है; जहाँ दोनों मिलकर एक-दूसरेका संस्तव (प्रशंसा) करते हैं, वह संस्ताव कहलाता है। वह संस्ताव क्या है? जो कि यह हृदयान्तर्गत आकाश है। अन्तर्हृदयमें अर्थात् मांसपिण्डरूप हृदयके भीतर।

और इन दोनोंका यह आगे कहा जानेवाला अन्न—भोज्य यानी स्थितिका हेतु है, वह क्या है? जो कि यह हृदयके भीतर लोहितपिण्ड है—पिण्डाकारको प्राप्त हुआ लोहित ही लोहितपिण्ड है। खाया हुआ अन्न दो प्रकारसे परिणत होता है; जो स्थूल होता है, वह नीचे चला जाता है और जो दूसरे प्रकारका होता है, वह पुनः अग्निसे पचाया जाकर दो प्रकारसे परिणत हो जाता है—जो मध्यम रस होता है, वह लोहितादि क्रमसे पाञ्चभौतिक पिण्डरूप शरीरको पुष्ट बनाता है और जो सूक्ष्मतम रस होता है, वह हृदयमें मिथुनभावको प्राप्त हुए लिङ्गात्मा इन्द्रका यह लोहितपिण्ड है, जिसे तैजस कहते

क्षते । स तयोरिन्द्रेन्द्राण्योर्हृदये मिथुनीभूतयोः सूक्ष्मासु नाडीष्वनुप्रविष्टः स्थितिहेतुर्भवति, तदेतदुच्यते—अथैनयोरेतदन्नमित्यादि ।

किञ्चान्यत्, अथैनयोरेतत् प्रावरणम्; भुक्तवतोः स्वपतोश्च प्रावरणं भवति लोके, तत्सामान्यं हि कल्पयति श्रुतिः; किं तदिह प्रावरणम्? यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव—अनेकनाडीछिद्रबहुलत्वाज्जालकमिव ।

अथैनयोरेषा सृतिर्मार्गः, सञ्चरतोऽनयेति सञ्चरणी, स्वप्नाज्जागरितदेशागमनमार्गः; का सा सृतिः? यैषा हृदयाद् हृदयदेशादूर्ध्वाभिमुखी सती उच्चरति नाडी; तस्याः परिमाणमिदमुच्यते—यथा लोके केशः सहस्रधा भिन्नोऽत्यन्तसूक्ष्मो भवति, एवं सूक्ष्मा अस्य देहस्य सम्बन्धिन्यो हिता नाम हिता इत्येवं ख्याता नाड्यः; ताश्चान्तर्हृदये मांसपिण्डे

हैं। वह सूक्ष्म नाडियोंमें अनुप्रविष्ट होकर हृदयमें मिथुनभावको प्राप्त हुए उन इन्द्र और इन्द्राणीकी स्थितिका कारण होता है; यही बात 'अथैनयोरेतदन्नम्' इत्यादि वाक्यसे कही जाती है।

इसके सिवा दूसरी बात यह है—यही इन दोनोंका प्रावरण है। लोकमें भोजन करनेवालों और सोनेवालोंका प्रावरण (आच्छादन) होता है, श्रुति उसीकी समानताकी कल्पना करती है। यहाँ वह प्रावरण क्या है? यह जो हृदयके भीतर जाल-सा है—अनेक नाडीछिद्रोंकी बहुलता होनेके कारण जालके समान है।

और यह इनकी सृति यानी मार्ग है; इससे संचार करते हैं, इसलिये यह सञ्चरणी अर्थात् स्वप्नसे जागरित देशमें आनेका मार्ग है। वह मार्ग क्या है? जो कि यह हृदयसे—हृदयदेशसे ऊपरकी ओर नाडी जाती है; यह उसका परिमाण बतलाया जाता है—लोकमें जिस प्रकार सहस्रों भागोंमें बाँटा हुआ केश अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसी प्रकार इस देहसे सम्बन्ध रखनेवाली ये हिता-हिता नामसे विख्यात नाडियाँ सूक्ष्म होती हैं, तथा ये हृदयके भीतर मांस-पिण्डमें

प्रतिष्ठिता भवन्ति; हृदयाद् विप्ररूढास्ताः सर्वत्र कदम्बकेसरवत्; एताभिर्नाडीभिरत्यन्तसूक्ष्माभिरेतदन्नमास्रवद् गच्छदास्रवति गच्छति।

प्रतिष्ठित हैं; कदम्ब-पुष्पकी केसरके समान ये हृदयसे सब ओर फैली हुई हैं; इन अत्यन्त सूक्ष्म नाडियोंसे जाता हुआ यह अन्न [शरीरमें सर्वत्र] जाता है।

तदेतद् देवताशरीरमनेनान्नेन दामभूतेनोपचीयमानं तिष्ठति, तस्माद् यस्मात् स्थूलेनान्नेनोपचितः पिण्डः, इदं तु देवताशरीरं लिङ्गं सूक्ष्मेणान्नेनोपचितं तिष्ठति। पिण्डोपचयकरमप्यन्नं प्रविविक्तमेव मूत्रपुरीषादिस्थूलमपेक्ष्य लिङ्गस्थितिकरं त्वन्नं ततोऽपि सूक्ष्मतरम्; अतः प्रविविक्ताहारः पिण्डः, तस्मात् प्रविविक्ताहारादपि प्रविविक्ताहारतर एष लिङ्गात्मा इवैव भवति। अस्माच्छरीराच्छरीरमेव शारीरं तस्माच्छारीरादात्मनो वैश्वानरात्तैजसः सूक्ष्मान्नोपचितो भवति॥ ३॥

वह यह देवताशरीर इस रज्जुभूत अन्नसे बढ़ता (पुष्टि पाता) रहता है; अतः चूँकि पिण्ड स्थूल अन्नसे वृद्धिको प्राप्त होता है, यह देवताशरीररूप लिङ्गदेह सूक्ष्म अन्नसे वृद्धिको प्राप्त होता हुआ स्थित रहता है। मलमूत्रादि स्थूल भागकी अपेक्षा तो पिण्डकी वृद्धि करनेवाला अन्न भी सूक्ष्म ही है; उससे भी लिङ्गदेहकी स्थिति करनेवाला अन्न तो अत्यन्त सूक्ष्मतर है। अतः पिण्ड सूक्ष्माहारी है, उस सूक्ष्माहारीसे भी यह लिङ्गात्मा सूक्ष्मतर आहार करनेवाला ही है। इस शरीरसे—शरीर ही शारीर है, उस शारीर आत्मा वैश्वानरसे तैजस अधिक सूक्ष्म अन्नद्वारा उपचित होता है॥ ३॥

प्राणात्मभूत विद्वान्‌की सर्वात्मकताका वर्णन, जनककी अभयप्राप्ति और याज्ञवल्क्यके प्रति आत्मसमर्पण

स एष हृदयभूतस्तैजसः सूक्ष्मभूतेन प्राणेन विध्रियमाणः प्राण एव भवति।

वह यह हृदयभूत तैजस सूक्ष्मभूत प्राणसे धारण किया जाकर प्राण ही हो जाता है।

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः । स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

उस विद्वान्‌के पूर्व दिशा पूर्व प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊपरकी दिशा ऊपरके प्राण हैं, नीचेकी दिशा नीचेके प्राण हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ सम्पूर्ण प्राण हैं। वह यह 'नेति-नेति' रूपसे वर्णन किया हुआ आत्मा अगृह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है, शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है, उसका सङ्ग नहीं होता; वह अबद्ध है, व्यथित नहीं होता और क्षीण नहीं होता। हे जनक! तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। उस विदेहराज जनकने कहा, 'हे भगवन् याज्ञवल्क्य! जिन आपने मुझे अभय ब्रह्मका ज्ञान कराया है, उन आपको अभय प्राप्त हो, आपको नमस्कार हो, ये विदेह देश और यह मैं आपके अधीन हैं' ॥४॥

तस्यास्य विदुषः क्रमेण वैश्वानरात्तैजसं प्राप्तस्य हृदयात्मानमापन्नस्य हृदयात्मनश्च प्राणात्मानमापन्नस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राग्गताः प्राणाः, तथा दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः, तथा प्रतीची

क्रमशः वैश्वानरसे तैजसको, उससे हृदयात्माको और हृदयात्मासे प्राणात्मभावको प्राप्त हुए उस इस विद्वान्‌के प्राची दिशा पूर्वगत प्राण हैं तथा दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण

दिक् प्रत्यञ्चः प्राणाः, उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः, ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणाः, अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः, सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः।

एवं विद्वान् क्रमेण सर्वात्मकं प्राणमात्मत्वेनोपगतो भवति। तं सर्वात्मानं प्रत्यगात्मन्युपसंहृत्य द्रष्टुर्हि द्रष्टृभावं नेति नेत्यात्मानं तुरीयं प्रतिपद्यते। यमेष विद्वाननेन क्रमेण प्रतिपद्यते, स एष नेति नेत्यात्मेत्यादि न रिष्यतीत्यन्तं व्याख्यातमेतत्।

अभयं वै जन्ममरणादिनिमित्तभयशून्यं हे जनक प्राप्तोऽसि, इति हैवं किलोवाचोक्तवान् याज्ञवल्क्यः। तदेतदुक्तम्। अथ वै तेऽहं तद् वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति।

स होवाच जनको वैदेहोऽभयमेव त्वा त्वामपि गच्छताद् गच्छतु यस्त्वं नोऽस्मान् हे याज्ञवल्क्य भगवन् पूजावन् अभयं ब्रह्म वेदयसे ज्ञापयसि प्रापितवानुपाधिकृताज्ञानव्यवधानापनयनेन इत्यर्थः।

हैं; इसी प्रकार पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण हैं; नीचेकी दिशा नीचेके प्राण हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ सम्पूर्ण प्राण हैं।

इस प्रकार विद्वान् क्रमशः सर्वात्मक प्राणको आत्मभावसे प्राप्त हो जाता है। उस सर्वात्माका प्रत्यगात्मामें उपसंहार कर द्रष्टाके द्रष्टृभाव अर्थात् 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किये गये तुरीय आत्माको प्राप्त हो जाता है। इस क्रमसे यह विद्वान् जिसे प्राप्त होता है, वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा है। 'नेति नेति आत्मा' इससे लेकर 'न रिष्यति' यहाँतककी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

हे जनक! तू अभयको अर्थात् जन्म-मरणादिशून्य ब्रह्मको प्राप्त हो गया है—ऐसा निश्चय ही याज्ञवल्क्यने कहा। इस प्रकार यह कहा गया। अब तुझे यह बतलाता हूँ जहाँ कि तू जायगा।

उस वैदेह जनकने कहा—हे भगवन्—पूज्य याज्ञवल्क्य! जो आप हमें अभय ब्रह्मका ज्ञान करा रहे हैं, अर्थात् उपाधिकृत अज्ञानरूप पर्देको हटाकर ब्रह्मकी प्राप्ति करा रहे हैं, उन आपको भी अभय ही प्राप्त

किमन्यदहं विद्यानिष्क्रयार्थं प्रयच्छामि, साक्षादात्मानमेव दत्तवतः अतो नमस्तेऽस्तु इमे विदेहास्तव यथेष्टं भुज्यन्ताम्; अयं चाहमस्मि दासभावे स्थितः; यथेष्टं मां राज्यं च प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

हो। साक्षात् आत्माका ही दान करनेवाले आपको मैं इस विद्याके बदलेमें और क्या दूँ ? इसलिये आपको नमस्कार है; यह विदेह-राज्य आपका ही है, आप इसका यथेच्छ भोग करें और यह मैं भी आपके दासभावमें स्थित हूँ; तात्पर्य यह है कि मुझे और इस राज्यको आप इच्छानुसार प्राप्त करें ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्याये द्वितीयं कूर्चब्राह्मणम् ॥ २ ॥

तृतीय ब्राह्मण

उपक्रमः जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगामेत्यस्याभिसम्बन्धः। विज्ञानमय आत्मा साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म सर्वान्तरः पर एव—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इत्यादिश्रुतिभ्यः। स एष इह प्रविष्टो वदनादिलिङ्गः, अस्ति व्यतिरिक्त इति मधुकाण्डेऽजातशत्रुसंवादे प्राणादिकर्तृत्व-

'जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम' इत्यादि रूपसे आरम्भ होनेवाले ब्राह्मणका सम्बन्ध इस प्रकार है—विज्ञानमय आत्मा साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर परब्रह्म ही है; जैसा कि 'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई द्रष्टृ नहीं है' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है। इस देहमें प्रविष्ट वह भाषणादि लिङ्गवाला विज्ञानात्मा शरीरसे भिन्न है—ऐसा मधुकाण्डमें अजातशत्रुके संवादमें [गार्ग्य और काश्यके प्रश्नमें] प्राणादिके कर्तृत्व-

भोक्तृत्वप्रत्याख्यानेनाधिगतोऽपि सन् पुनः प्राणनादिलिङ्गमुपन्यस्य औषस्तप्रश्ने प्राणनादिलिङ्गो यः सामान्येनाधिगतः 'प्राणेन प्राणिति' इत्यादिना, 'दृष्टेर्द्रष्टा' इत्यादिना अलुप्तशक्तिस्वभावोऽधिगतः।

भोक्तृत्वके निराकरणद्वारा ज्ञात होनेपर भी फिर औषस्त (उषस्त चाक्रायण) के प्रश्नमें जो 'प्राणसे प्राणन करता है' इत्यादि वाक्यद्वारा प्राणनादि लिङ्गका उपन्यास कर सामान्यरूपसे प्राणनादि लिङ्गवाला जाना गया है, वही दृष्टिका द्रष्टा है' इत्यादि वाक्यसे अलुप्तशक्तिस्वभाव ज्ञात हुआ है।

तस्य च परोपाधिनिमित्तः संसारः-यथा रज्जूषरशुक्तिकागगनादिषु सर्पोदकरजतमलिनत्वादि पराध्यारोपणनिमित्तमेव, न स्वतः, तथा।

उसे [अज्ञान और उसके कार्य अन्तःकरणादि इस] अन्य उपाधिके कारण संसारकी प्राप्ति हुई है, जिस प्रकार कि रज्जु, ऊसर, शुक्ति और आकाशादिमें सर्प, जल, रजत और मलिनता आदिकी प्रतीति दूसरोंके आरोप करनेके कारण ही है, स्वतः नहीं, उसी प्रकार [यहाँ समझना चाहिये]।

निरुपाधिको निरुपाख्यो नेति नेतीति व्यपदेश्यः साक्षादपरोक्षात् सर्वान्तर आत्मा ब्रह्माक्षरमन्तर्यामी प्रशास्ता औपनिषदः पुरुषो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यधिगतम्। तदेव पुनरिन्धसंज्ञः प्रविविक्ताहारः, ततोऽन्तर्हृदये लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतरः; ततः

इस प्रकार निरुपाधिक, निरुपाख्य (मन और वाणीका अविषय), 'नेति नेति' इस वाक्यसे निर्देश्य, साक्षात् अपरोक्ष, सर्वान्तर आत्मा, ब्रह्म, अक्षर, अन्तर्यामी, प्रशास्ता, औपनिषद पुरुष विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म है—यह ज्ञात हुआ। वही फिर सूक्ष्माहार करनेवाला इन्धसंज्ञक वैश्वानर, फिर उससे भी सूक्ष्मतर आहार करनेवाला हृदयान्तर्वर्ती लिङ्गात्मा और फिर उससे भी

परेण जगदात्मा प्राणोपाधिः; ततोऽपि प्रविलाप्य जगदात्मानमुपाधिभूतं रज्ज्वादाविव सर्पादिकं विद्यया, 'स एष नेति नेति' इति साक्षात् सर्वान्तरं ब्रह्माधिगतम्। एवमभयं परिप्रापितो जनको याज्ञवल्क्येनागमतः संक्षेपतः।

सूक्ष्म प्राणोपाधिक जगदात्मा जाना गया। फिर रज्जु आदिमें सर्पादिके समान उपाधिभूत जगदात्माका भी ज्ञानद्वारा लय करके 'स एष नेति नेति' इस वाक्यद्वारा साक्षात् सर्वान्तर ब्रह्म जाना गया है। इस प्रकार संक्षेपतः शास्त्रद्वारा याज्ञवल्क्यसे जनक अभयको प्राप्त कराया गया है।

अत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयाण्युपन्यस्तान्यन्यप्रसङ्गेन—इन्धः, प्रविविक्ताहारतरः, सर्वे प्राणाः, स एष नेति नेतीति। इदानीं जाग्रत्स्वप्नादिद्वारेणैव महता तर्केण विस्तरतोऽधिगमः कर्तव्यः; अभयं प्रापयितव्यम्; सद्भावश्चात्मनो विप्रतिपत्त्याशङ्कानिराकरणद्वारेण—व्यतिरिक्तत्वं शुद्धत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वमलुप्तशक्तिस्वरूपत्वं निरतिशयानन्दस्वाभाव्यम् अद्वैतत्वं चाधिगन्तव्यम्—इतीदमारभ्यते। आख्यायिका तु विद्यासम्प्रदानग्रहणविधिप्रकाशनार्था, विद्यास्तुतये च विशेषतः, वरदानादिसूचनात्।

यहाँ (द्वितीय ब्राह्मणमें) [उपासककी क्रममुक्तिरूप] अन्य प्रसङ्गसे 'इन्धः' 'प्रविविक्ताहारतरः' 'सर्वे प्राणाः' 'स एष नेति नेति' इत्यादि रूपसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयका उल्लेख किया गया है। अब जाग्रत्, स्वप्नादिके द्वारा ही महान् तर्कसे उसका विस्तारपूर्वक बोध और अभय प्राप्त कराना है तथा विपरीत ज्ञानकी आशङ्काके निराकरणद्वारा आत्माके अस्तित्व, देहादिसे भिन्नत्व, शुद्धत्व, स्वयंप्रकाशत्व अलुप्तशक्तिस्वरूपत्व, निरतिशयानन्दस्वभावत्व और अद्वैतत्वका भी बोध कराना है; इसीसे [आगेका ग्रन्थ] आरम्भ किया जाता है। आख्यायिका तो विद्याके दान और ग्रहणकी विधि प्रदर्शित करनेके लिये तथा विशेषतः विद्याकी स्तुतिके लिये है, वरदानादिकी सूचनासे यही बात ज्ञात होती है।

जनकके पास याज्ञवल्क्यका आना और राजाका पहले प्राप्त किये हुए इच्छानुसार प्रश्नरूप वरके कारण उनसे प्रश्न करना

जनकꣳह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳहास्मै ददौ तꣳह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १ ॥

विदेहराज जनकके पास याज्ञवल्क्य गये। उनका विचार था मैं कुछ उपदेश नहीं करूँगा। किंतु, पहले कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्यने अग्निहोत्रके विषयमें परस्पर संवाद किया था, उस समय याज्ञवल्क्यने उसे वर दिया था और उसने इच्छानुसार प्रश्न करना ही माँगा था। यह वर याज्ञवल्क्यने उसे दे दिया था; अतः उनसे पहले राजाने ही प्रश्न किया ॥ १ ॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम। स च गच्छन्नेवं मेने चिन्तितवान्—न वदिष्ये किञ्चिदपि राज्ञे; गमनप्रयोजनं तु योगक्षेमार्थम्। न वदिष्य इत्येवंसंकल्पोऽपि याज्ञवल्क्यो यद् यज्जनकः पृष्टवांस्तत्तत् प्रतिपेदे; तत्र को हेतुः संकल्पितस्यान्यथाकरणे—इत्यत्राख्यायिकामाचष्टे।

विदेहराज जनकके पास याज्ञवल्क्य गये। उन्होंने जाते हुए ऐसा विचार किया—यह सोचा कि मैं राजाके प्रति कुछ उपदेश नहीं करूँगा; जानेका प्रयोजन तो योगक्षेमके लिये था। 'कुछ उपदेश नहीं करूँगा' इस प्रकार संकल्पवाले होनेपर भी याज्ञवल्क्यने जो जो भी जनकने पूछा वह सभी बतलाया; इस प्रकार संकल्पित विचारके विरुद्ध करनेमें क्या हेतु था, इस विषयमें श्रुति आख्यायिका बतलाती है।

पूर्वत्र किल जनकयाज्ञवल्क्ययोः संवाद आसीदग्निहोत्रे निमित्ते। तत्र जनकस्याग्निहोत्रविषयं विज्ञा-

इससे पहले याज्ञवल्क्य और जनकका अग्निहोत्रके निमित्तसे संवाद हुआ था। उसमें जनकके अग्निहोत्र-

नमुपलभ्य परितुष्टो याज्ञवल्क्यस्तस्मै जनकाय ह किल वरं ददौ; स च जनको ह कामप्रश्नमेव वरं वव्रे वृतवान्; तं च वरं हास्मै ददौ याज्ञवल्क्यः; तेन वरप्रदानसामर्थ्येन अव्याचिख्यासुमपि याज्ञवल्क्यं तूष्णीं स्थितमपि सम्राडेव जनकः पूर्वं पप्रच्छ ।

तत्रैवानुक्तिर्ब्रह्मविद्यायाः कर्मणा विरुद्धत्वात्; विद्यायाश्च स्वातन्त्र्यात्— स्वतन्त्रा हि ब्रह्मविद्या सहकारिसाधनान्तरनिरपेक्षा पुरुषार्थसाधनेति च ॥१॥

विषयक ज्ञानको देखकर उससे संतुष्ट हो याज्ञवल्क्यने जनकको वर दिया था, उस जनकने उस समय इच्छानुसार प्रश्न करनेका वर ही माँगा था और याज्ञवल्क्यने उसे यह वर दे दिया था। उस वरप्रदानके सामर्थ्यसे कुछ कहनेकी इच्छावाले न होने और चुप बैठे रहनेपर भी पहले राजा जनकने ही याज्ञवल्क्यसे पूछा।

कर्मसे विरुद्ध होनेके कारण उस कर्मकाण्डके प्रसङ्गमें ही ब्रह्मविद्याका वर्णन नहीं किया गया, क्योंकि विद्या तो स्वतन्त्र है—ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र है, अन्य सहकारी साधनकी अपेक्षासे रहित है और पुरुषार्थकी साधनभूत है ॥ १ ॥

पुरुषके व्यवहारमें उपयोगी पाँच ज्योतियाँ

१—आदित्यज्योति

याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्‌ याज्ञवल्क्य ॥२॥

'हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ?' 'हे सम्राट् ! यह आदित्यरूप ज्योतिवाला है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'यह आदित्यरूप ज्योतिसे ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट जाता है।' 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २ ॥

हे याज्ञवल्क्येत्येवं सम्बोध्याभिमुखीकरणाय, किं ज्योतिरयं पुरुष इति—किमस्य पुरुषस्य ज्योतिर्येन ज्योतिषा व्यवहरति, सोऽयं किं ज्योतिः ? अयं प्राकृतः कार्यकरणसंघातरूपः शिरःपाण्यादिमान् पुरुषः पृच्छ्यते। किमयं स्वावयवसंघातबाह्येन ज्योतिरन्तरेण व्यवहरति, आहो स्वित् स्वावयवसंघातमध्यपातिना ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यमयं पुरुषो निर्वर्तयति, इत्येतदभिप्रेत्य पृच्छति।

'हे याज्ञवल्क्य' इस प्रकार अपने अभिमुख करनेके लिये सम्बोधन करके जनक पूछता है—यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ? अर्थात् इस पुरुषकी ज्योति क्या है, जिस ज्योतिसे कि यह व्यवहार करता है। (इसी अभिप्रायसे पूछता है—) सो यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ? यहाँ इस प्राकृत देहेन्द्रियसंघातरूप शिर और हाथ आदि अवयवोंवाले पुरुषके विषयमें प्रश्न किया जाता है। क्या यह अपने अवयवोंसे बाहर रहनेवाली किसी अन्य ज्योतिसे व्यवहार करता है, अथवा अपने अवयवोंके संघातमें रहनेवाली ज्योतिसे यह पुरुष ज्योतिका कार्य पूरा करता है—इस अभिप्रायसे ही जनक पूछता है।

किं चातः, यदि व्यतिरिक्तेन यदि वाव्यतिरिक्तेन ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यं निर्वर्तयति। शृणु तत्र कारणम्—यदि व्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यनिर्वर्तकत्वम् अस्य स्वभावो निर्धारितो भवति, ततोऽदृष्टज्योतिष्कार्यविषयेऽप्यनुमास्यामहे व्यतिरिक्तज्योतिर्निमित्तमेवेदं कार्यमिति;

किंतु देहादि संघातसे व्यतिरिक्त अथवा अव्यतिरिक्त किसी भी प्रकारकी ज्योतिसे यह ज्योतिका कार्य पूर्ण करता हो—इससे क्या हुआ ? इसमें जो कारण है, सो सुनो—यदि इसका स्वभाव किसी व्यतिरिक्त ज्योतिसे ही ज्योतिका कार्य पूरा करनेका निश्चय किया जाय तो जहाँ ज्योति नहीं देखी गयी है, उस कार्यके विषयमें भी हम ऐसा अनुमान करेंगे कि यह कार्य किसी व्यतिरिक्त ज्योतिके कारण ही हुआ है; और यदि

अथाव्यतिरिक्तेनैव स्वात्मना ज्योतिषा व्यवहरति, ततोऽप्रत्यक्षेऽपि ज्योतिषि ज्योतिष्कार्यदर्शनेऽव्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेयम्; अथानियम एव—व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा ज्योतिः पुरुषस्य व्यवहारहेतुः, ततोऽनध्यवसाय एव ज्योतिर्विषये—इत्येवं मन्वानः पृच्छति जनको याज्ञवल्क्यम्—किं ज्योतिरयं पुरुष इति।

यह अपनेसे अभिन्न ज्योतिद्वारा ही व्यवहार करता है तो ज्योतिका प्रत्यक्ष न होनेपर भी ज्योतिका कार्य देखनेपर अभिन्न ज्योतिका ही अनुमान करना होगा; यदि ऐसा मानें कि पुरुषके व्यवहारकी हेतु व्यतिरिक्त या अव्यतिरिक्त ज्योति है—इसका नियम है ही नहीं, तब तो ज्योतिके विषयमें अनिश्चय ही रहेगा—ऐसा मानकर ही जनक याज्ञवल्क्यसे पूछता है कि यह पुरुष किस ज्योतिवाला है?

नन्वेवमनुमानकौशले जनकस्य किं प्रश्नेन, स्वयमेव कस्मान्न प्रतिपद्यत इति?

शङ्का—किंतु यदि जनकमें ऐसा अनुमानकौशल है तो उसे प्रश्न करनेकी क्या आवश्यकता थी, उसने स्वयं ही [अनुमान करके] क्यों नहीं जान लिया?

सत्यमेतत्; तथापि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धविशेषाणामत्यन्तसौक्ष्म्याद् दुरवबोध्यतां मन्यते बहूनामपि पण्डितानाम्, किमुतैकस्य; अत एव हि धर्मसूक्ष्मनिर्णये परिषद्व्यापार इष्यते, पुरुषविशेषश्चापेक्ष्यते—दशावरा

समाधान-यह ठीक है; तथापि लिङ्ग और लिङ्गी [अर्थात् व्यापक और व्याप्य] के सम्बन्धविशेषोंको अत्यन्त सूक्ष्मताके कारण वह उन्हें अनेकों विद्वानोंके लिये भी दुर्बोध समझता है, एककी तो बात ही क्या है; इसीसे धर्म-जैसे सूक्ष्म विषयका निर्णय करनेके लिये परिषद्व्यापार (अनेकोंकी गोष्ठी) की अपेक्षा होती है तथा विशिष्ट पुरुषकी भी अपेक्षा होती है। कम-से-कम दश पुरुषोंकी

परिषत्, त्रयो वैको वेति; तस्माद् यद्यप्यनुमानकौशलं राज्ञः, तथापि तु युक्तो याज्ञवल्क्यः प्रष्टुम्, विज्ञानकौशलतारतम्योपपत्तेः पुरुषाणाम् ।

अथवा श्रुतिः स्वयमेव आख्यायिकाव्याजेन अनुमानमार्गमुपन्यस्य अस्मान् बोधयति पुरुषमतिमनुसरन्ती ।

याज्ञवल्क्योऽपि जनकाभिप्रायाभिज्ञतया व्यतिरिक्तमात्मज्योतिर्बोधयिष्यन् जनकं व्यतिरिक्तप्रतिपादकमेव लिङ्गं प्रतिपेदे, यथा—प्रसिद्धमादित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच ।

कथम् ? आदित्येनैव स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेन चक्षुषोऽनुग्राहकेण ज्योतिषायं प्राकृतः पुरुष आस्ते उपविशति, पल्ययते पर्येति क्षेत्रमरण्यं वा तत्र गत्वा कर्म कुरुते, विपल्येति विपर्येति च यथागतम् अत्यन्तव्यतिरिक्तज्यो-

परिषद् होती है, तथा [सदाचारसम्पन्न] तीन पुरुषोंकी और [अध्यात्मनिष्ठ] एक पुरुषकी भी परिषद् हो सकती है। इसलिये यद्यपि राजामें अनुमान करनेकी कुशलता है, तो भी याज्ञवल्क्यसे पूछना उचित ही है; क्योंकि पुरुषोंके विज्ञान और कौशलका तो तारतम्य होना सम्भव है।

अथवा पुरुषकी बुद्धिका अनुसरण करनेवाली श्रुति आख्यायिकाके मिषसे अनुमानके मार्गका उल्लेख करके हमें स्वयं ही बोध करा रही है। [इसमें राजा अथवा मुनि किसीकी भी बुद्धिकी कुशलता अभिप्रेत नहीं है]।

जनकके अभिप्रायको जाननेवाले होनेसे याज्ञवल्क्यजीने भी देहादिसे व्यतिरिक्त आत्मज्योतिका बोध करानेके लिये जनकको व्यतिरिक्त ज्योतिका प्रतिपादक लिङ्ग ही बतलाया; यथा—हे सम्राट् ! वह प्रसिद्ध आदित्य ज्योतिवाला है, ऐसा उन्होंने कहा।

किस प्रकार आदित्य ज्योतिवाला है ? [सो बतलाते हैं-] यह प्राकृत पुरुष अपने अवयवसंघातसे व्यतिरिक्त नेत्रेन्द्रियके अनुग्राहक आदित्यके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर क्षेत्र या जंगलमें जाता, वहाँ जाकर कर्म करता और जैसे गया था, वैसे लौट भी आता है। पुरुषके अत्यन्त व्यतिरिक्त ज्योतिष्टकी

तिष्टप्रसिद्धताप्रदर्शनार्थम् अनेकविशेषणम्; बाह्यानेकज्योतिःप्रदर्शनं च लिङ्गस्याव्यभिचारित्वप्रदर्शनार्थम् ।

एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

प्रसिद्धता प्रदर्शित करनेके लिये यहाँ अनेक विशेषण दिये गये हैं। और बाह्य अनेक ज्योतियोंका प्रदर्शन लिङ्गका अव्यभिचारित्व प्रदर्शित करनेके लिये है।

[जनक-] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २ ॥

२-चन्द्रज्योति

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

[जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य ! आदित्यके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'उस समय चन्द्रमा ही उसकी ज्योति होता है, चन्द्रमारूप ज्योतिके द्वारा ही यह बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ ३ ॥

तथास्तमिते आदित्ये याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरेवायं पुरुष इति; चन्द्रमा एवास्य ज्योतिः ॥ ३ ॥

'तथा आदित्यके अस्त होनेपर हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?' 'चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है' ॥ ३ ॥

३-अग्निज्योति

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योति-

र्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ ४ ॥

'हे याज्ञवल्क्य ! आदित्यके अस्त हो जानेपर तथा चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?' 'अग्नि ही इसकी ज्योति होता है। यह अग्निरूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है ।' 'हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥४॥

अस्तमिते आदित्ये चन्द्रमस्य-स्तमितेऽग्निर्ज्योतिः ॥ ४ ॥	आदित्यके अस्त होनेपर और चन्द्रमाके अस्त होनेपर अग्नि ज्योति होता है ॥ ४ ॥



४—वाग्ज्योति

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किं ज्योतिरेवायं पुरुष इतिवागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद् वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

'हे याज्ञवल्क्य ! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर और अग्निके शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?' 'वाक् ही इसकी ज्योति होती है। यह वाक्रूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है। इसीसे हे सम्राट्! जहाँ अपना हाथ भी नहीं जाना जाता, वहाँ ज्यों ही वाणीका उच्चारण किया जाता है कि पास चला जाता है।' 'हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ ५ ॥

शान्तेऽग्नौ वाग्ज्योतिः; वागिति शब्दः परिगृह्यते; शब्देन विष-	अग्निके शान्त होनेपर वाक् ज्योति है। 'वाक्' इस शब्दसे शब्द ग्रहण किया जाता है; शब्द-

येण श्रोत्रमिन्द्रियं दीप्यते; श्रोत्रेन्द्रिये सम्प्रदीप्ते मनसि विवेक उपजायते; तेन मनसा बाह्यां चेष्टां प्रतिपद्यते—"मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति" (बृ० उ० १।५।३) इति ब्राह्मणम्।

कथं पुनर्वाग्ज्योतिरिति, वाचो ज्योतिष्ट्वमप्रसिद्धमित्यत आह—तस्माद् वै सम्राड् यस्माद् वाचा ज्योतिषानुगृहीतोऽयं पुरुषो व्यवहरति, तस्मात् प्रसिद्धमेतद् वाचो ज्योतिष्ट्वम्; कथम्? अपि—यत्र यस्मिन् काले प्रावृषि प्रायेण मेघान्धकारे सर्वज्योतिःप्रत्यस्तमये स्वोऽपि पाणिर्हस्तो न विस्पष्टं निर्ज्ञायते—अथ तस्मिन् काले सर्वचेष्टानिरोधे प्राप्ते बाह्यज्योतिषोऽभावाद् यत्र वागुच्चरति, श्वा वा भषति, गर्दभो वा रौति, उपैव तत्र न्येति—तेन शब्देन ज्योतिषा श्रोत्रमनसोर्नैरन्तर्यं भवति, तेन ज्योतिष्कार्यत्वं वाक् प्रतिपद्यते, तेन वाचा ज्योतिषोपन्येत्येव—

रूप विषयसे श्रोत्रेन्द्रिय दीप्त होती है; श्रोत्रेन्द्रियके सम्यक् प्रकारसे दीप्त होनेपर मनमें विवेक उत्पन्न होता है; उस मनसे बाह्य चेष्टाका अनुभव करता है;' मनसे ही देखता है, मनसे सुनता है" ऐसा प्रथम अध्यायके पञ्चम ब्राह्मणका कथन है।

किंतु वाक् किस प्रकार ज्योति है? वाक्का ज्योति होना तो प्रसिद्ध नहीं है; इसीसे श्रुति कहती है;—इसीसे हे सम्राट्! चूँकि यह पुरुष वाणीरूप ज्योतिसे अनुगृहीत होकर व्यवहार करता है, इसलिये इस वाणीका ज्योति होना प्रसिद्ध है। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] जब- जिस समय वर्षाकालमें मेघके अन्धकारमें प्रायः समस्त ज्योतियोंके अस्त हो जानेपर अपने हाथका भी स्पष्टतया भान नहीं होता, उस समय समस्त चेष्टाओंका निरोध प्राप्त होनेपर बाह्यज्योतियोंका अभाव होनेसे जहाँ वाणीका उच्चारण होता है, कुत्ता भोंकता है अथवा गधा रेंकता है वहीं उसके समीप पुरुष चला जाता है; उस शब्दरूप ज्योतिसे श्रोत्र और मनकी निरन्तरता हो जाती है, इससे वाक् ज्योतिकी

उपगच्छत्येव तत्र संनिहितो भवतीत्यर्थः; तत्र च कर्म कुरुते, विपल्येति ।

तत्र वाग्ज्योतिषो ग्रहणं गन्धादीनामुपलक्षणार्थम्; गन्धादिभिरपि हि घ्राणादिष्वनुगृहीतेषु प्रवृत्तिनिवृत्त्यादयो भवन्ति; तेन तैरप्यनुग्रहो भवति कार्यकरणसंघातस्य; एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

कार्यताको प्राप्त हो जाती है, तात्पर्य यह है कि उस वाणीरूप ज्योतिसे पुरुष उपत्येति-समीप जाता अर्थात् निकटवर्ती हो जाता है और वह कर्म करता तथा पुनः लौट आता है।

जहाँ वाक्रूप ज्योतिका ग्रहण गन्धादिके उपलक्षणके लिये है; गन्धादिके द्वारा भी घ्राणादिके अनुगृहीत होनेपर प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि होते हैं; अतः उनसे भी देहेन्द्रियसंघातका अनुग्रह होता है; [जनक-] 'हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ ५ ॥

५—आत्मज्योति

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥ ६ ॥

'हे याज्ञवल्क्य ! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर, अग्निके शान्त होनेपर और वाक्के भी शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला रहता है ?' 'आत्मा ही इसकी ज्योति होता है। यह आत्मज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है' ॥ ६ ॥

शान्तायां पुनर्वाचि, गन्धादिष्वपि च शान्तेषु बाह्येष्वनुग्राहकेषु, सर्वप्रवृत्तिनिरोधः प्राप्तोऽस्य

वाणीके शान्त हो जानेपर तथा गन्धादि बाह्य अनुग्राहकोंके भी निवृत्त हो जानेपर इस पुरुषकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका निरोध प्राप्त होता

पुरुषस्य। एतदुक्तं भवति — जाग्रद्विषये बहिर्मुखानि करणानि चक्षुरादीन्यादित्यादिज्योतिर्भिरनुगृह्यमाणानि यदा, तदा स्फुटतरः संव्यवहारोऽस्य पुरुषस्य भवतीति; एवं तावज्जागरिते स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्य पुरुषस्य दृष्टा तस्मात्ते वयं मन्यामहे—सर्वबाह्यज्योतिःप्रत्यस्तमयेऽपि स्वप्नसुषुप्तिकाले जागरिते च तादृगवस्थायां स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्येति, दृश्यते च स्वप्ने ज्योतिष्कार्यसिद्धिः—बन्धुसंगमनवियोगदर्शनं देशान्तरगमनादि च; सुषुप्ताच्चोत्थानम्—सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति; तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं किमपि ज्योतिः।

है। यहाँ यह कहा गया है—जिस समय जाग्रत्-अवस्थामें आदित्यादि ज्योतियोंसे अनुगृहीत होनेवाली चक्षु आदि इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं, उस समय इस पुरुषका व्यवहार स्पष्टतर होता है; इस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें तो इस पुरुषके ज्योतिसम्बन्धी कार्योंकी सिद्धि अपने अवयवसंघातसे व्यतिरिक्त ज्योतिके द्वारा ही देखी गयी है; अतः हम समझते हैं कि स्वप्न और सुषुप्तिकालमें सम्पूर्ण बाह्य ज्योतियोंके अस्त हो जानेपर तथा जाग्रत्कालमें भी ऐसी अवस्था आनेपर अपने अवयवसंघातसे व्यतिरिक्त ज्योतिके द्वारा ही इस पुरुषके ज्योतिसम्बन्धी कार्यकी सिद्धि होती है; स्वप्नमें बन्धुओंके संयोग-वियोग दिखायी देने और देशान्तरमें जाने आदि ज्योतिके कार्योंकी सिद्धि देखी ही जाती है; इसी प्रकार सुषुप्तिसे उठना और 'मैं सुखसे सोया उस समय कुछ भी भान नहीं रहा' ऐसा अनुभव भी देखा ही जाता है। अतः कोई व्यतिरिक्त ज्योति है।

किं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवति ? इत्युच्यते— आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति । आत्मेति कार्यकरणस्वावयवसंघातव्यतिरिक्तं कार्यकरणावभासकम्, आदित्यादिबाह्यज्योतिर्वत् स्वयमन्येनानवभास्यमानमभिधीयते ज्योतिः; अन्तःस्थं च तत् पारिशेष्यात्—कार्यकरणव्यतिरिक्तं तदिति तावत् सिद्धम्; यच्च कार्यकरणव्यतिरिक्तं कार्यकरणसंघातानुग्राहकं च ज्योतिस्तद् बाह्यैश्चक्षुरादिकरणैरुपलभ्यमानं दृष्टम्; न तु तथा तच्चक्षुरादिभिरुपलभ्यते, आदित्यादिज्योतिःषूपरतेषु; कार्यं तु ज्योतिषो दृश्यते यस्मात्, तस्मादात्मनैवायं ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति; तस्मान्नूनमन्तःस्थं ज्योतिरित्यवगम्यते । किं च आदित्यादिज्योतिर्विलक्षणं तदभौतिकं च; स एव

किंतु उस वाणीके शान्त होनेपर कौन ज्योति होती है ? सो बतलाया जाता है—उस समय आत्मा ही इस पुरुषकी ज्योति होता है । आत्मा—यह देहेन्द्रियरूप अपने अवयवसंघातसे व्यतिरिक्त, देह और इन्द्रियोंका अवभासक तथा आदित्यादि बाह्य ज्योतियोंके समान स्वयं किसी अन्यसे भासित न होनेवाली ज्योति कहा जाता है । तथा [किन्हीं बाह्य ज्योतियोंमें न होनेके कारण] वह पारिशेष्य न्यायसे अन्तःस्थ है; वह देह और इन्द्रियोंसे भिन्न है—यह तो सिद्ध ही हो चुका है;और जो ज्योति देहेन्द्रियसे भिन्न तथा देहेन्द्रियसंघातकी उपकारक होती है, वह नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे उपलब्ध होती देखी जाती है; किंतु आदित्यादि ज्योतियोंके निवृत्त हो जानेपर यह आत्मा उनकी तरह चक्षु आदिसे उपलब्ध नहीं होता; किंतु तो भी चूँकि ज्योतिका कार्य देखा ही जाता है, इसलिये यह पुरुष आत्मज्योतिसे ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है; अतः यह ज्ञात होता है कि निश्चय ही आत्मा अन्तःस्थ ज्योति है; यही नहीं वह आदित्यादि ज्योतियोंसे विलक्षण और अभौतिक भी है; यही

हेतुर्यच्चक्षुराद्यग्राह्यत्वम्, आदित्यादिवत्।

आत्मज्योतिषो-ऽन्यज्योतिर्वैलक्षण्ये आक्षेपः

न, समानजातीयेनैवोपकारदर्शनात्— यदादित्यादिविलक्षणं ज्योतिरान्तरं सिद्धमिति, एतदसत्; कस्मात्? उपक्रियमाणसमानजातीयेनैव आदित्यादिज्योतिषा कार्यकरणसंघातस्य भौतिकस्य भौतिकेनैवोपकारः क्रियमाणो दृश्यते; यथादृष्टं चेदमनुमेयम्; यदि नाम कार्यकरणादर्थान्तरं तदुपकारकमादित्यादिवज्ज्योतिः, तथापि कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेवानुमेयम्, कार्यकरणसंघातोपकारकत्वात्, आदित्यादिज्योतिर्वत्। यत् पुनरन्तःस्थत्वादप्रत्यक्षत्वाच्च वैलक्षण्यमुच्यते, तच्चक्षुरादिज्योतिर्भिरनैकान्तिकम्; यतोऽप्रत्यक्षाण्यन्तःस्थानि च चक्षुरादिज्योतींषि भौतिकान्येव। तस्माच्चव मनो-

कारण है कि वह आत्मज्योति आदित्यादिके समान चक्षु आदिसे ग्राह्य नहीं है।

पूर्व०—यह नहीं हो सकता, क्योंकि समान जातिवाले पदार्थसे ही उपकार होता देखा जाता है, आदित्यादिसे भिन्न जो आन्तर ज्योति सिद्ध की गयी है, वह ठीक नहीं है; क्यों? क्योंकि जिनका उपकार किया जाता है, उन भौतिक देहेन्द्रियसंघातका अपने समान जातिवाले भौतिक आदित्यादि ज्योतिसे ही उपकार होता देखा जाता है; और जैसा देखा गया है, वैसा ही इसका अनुमान करना चाहिये। यदि देह और इन्द्रियोंकी उपकारक ज्योति आदित्यादिके समान उनसे कोई भिन्न पदार्थ है, तो भी उसे देहेन्द्रियसंघातसे समान जातिवाली ही अनुमान करनी चाहिये; क्योंकि आदित्यादि ज्योतियोंके समान वह देहेन्द्रियसंघातका उपकार करनेवाली है। इसके सिवा अन्तःस्थ और अप्रत्यक्ष होनेके कारण जो उसकी विलक्षणता बतलायी जाती है, वह तो नेत्रादि ज्योतियोंके द्वारा व्यभिचरित है; क्योंकि अप्रत्यक्ष और अन्तःस्थ होनेपर भी नेत्रादि ज्योतियाँ भौतिक ही हैं। अतः 'आत्म-

स्थमात्रम्—विलक्षणमात्मज्योतिः सिद्धमिति ।

कार्यकरणसंघातभावभावित्वा-
आत्मनः संघात- च्च संघातधर्मत्वम्
साधर्म्य युक्त्या अनुमीयते ज्योतिषः
न्तरम् सामान्यतो दृष्टस्य
चानुमानस्य व्यभिचारित्वादप्रा-
माण्यम्; सामान्यतो दृष्टबलेन

ज्योति इनसे विलक्षण है—यह सिद्ध होता है' ऐसा कहना तुम्हारी मनमानी कल्पनामात्र है ।

इसके सिवा देहेन्द्रियसंघातके रहनेपर ही रहती है, इसलिये यह चैतन्यज्योति [रूप आदिके समान] संघातका ही धर्म है, ऐसा भी अनुमान[1] होता है । सामान्यतो दृष्ट अनुमान[2] व्यभिचारी[3] होता है, इसलिये उसकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जा सकती । आप सामान्यतो दृष्ट अनुमानके बलसे ही तो

१. अनुमान-वाक्य इस प्रकार है—चैतन्यं शरीरधर्मः, तद्भावभावित्वात्, रूपवत् ।

२. अनुमान साधारणतः तीन प्रकारका होता है—१. पूर्ववत्, २ शेषवत् और ३. सामान्यतो दृष्ट । कारण देखकर जो कार्यका अनुमान किया जाता है, वह 'पूर्ववत्' है, जैसे मेघकी घिरी हुई घटा देखकर वृष्टिका अनुमान । कार्य देखकर जो कारणका अनुमान होता है, वह 'शेषवत्' कहलाता है; जैसे नदीमें बाढ़ आयी देखकर पर्वतपर वृष्टि होनेका अनुमान । तथा प्रत्यक्षमूलक साधारण नियम या व्याप्तिके अनुसार जो परोक्षवस्तुका अनुमान किया जाता है, वह सामान्यतो दृष्ट अनुमान है; जैसे प्रत्येक कार्यका एक कर्ता देखा जाता है, चूँकि यह जगत् भी एक कार्य है, अतः इसका भी एक कर्ता अवश्य होगा । जो इसका कर्ता है, वही ईश्वर है । यहाँ 'विमतं चैतन्यज्योतिः संघाताद् भिन्नम् तद्भासकत्वात् आदित्यादिवत्' (विवादकी विषयभूत चैतन्यज्योति संघातसे भिन्न है; क्योंकि यह संघातको प्रकाशित करनेवाली है, जैसे आदित्य)—इस प्रकार 'प्रकाशक प्रकाश्यसे भिन्न होता है, इस व्याप्तिके अनुसार परोक्ष 'चैतन्यज्योति' को संघातसे भिन्न सिद्ध किया जा रहा है; अतः यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान है ।

३. नेत्र देहका प्रकाशक होकर भी देहसे पृथक् नहीं है; अतः संघातकी प्रकाशिका होनेके कारण जो चैतन्यज्योतिको संघातसे भिन्न सिद्ध करते हैं, उनका यह हेतु नेत्र आदिके विषयमें अनैकान्तिक (व्यभिचरित) हो गया है—इसी युक्तिसे पूर्वपक्षीने सामान्यतो दृष्ट अनुमानको व्यभिचारी कहा है ।

हि भवानादित्यादिवद् व्यतिरिक्तं ज्योतिः साधयति कार्यकरणेभ्यः; न च प्रत्यक्षमनुमानेन बाधितुं शक्यते; अयमेव तु कार्यकरणसंघातः प्रत्यक्षं पश्यति शृणोति मनुते विजानाति च; यदि नाम ज्योतिरन्तरमस्योपकारकं स्यादादित्यादिवत्, न तदात्मा स्यात्, ज्योतिरन्तरम्, आदित्यादिवदेव; य एव तु प्रत्यक्षं दर्शनादिक्रियां करोति स एवात्मा स्यात् कार्यकरणसंघातः, नान्यः, प्रत्यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात् ।

आदित्यादिके समान ज्योतिको देह और इन्द्रियोंसे भिन्न सिद्ध करते हैं; किंतु अनुमानके द्वारा प्रत्यक्षका बाध नहीं हो सकता; वह देहेन्द्रियसंघात ही तो प्रत्यक्ष देखता, सुनता, मनन करता और विशेषरूपसे जानता है; यदि आदित्यादिके समान इसका उपकार करनेवाली कोई अन्य ज्योति हो तो वह आत्मा नहीं हो सकती, अपितु आदित्यादिके समान ही कोई अन्य ज्योति होगी; जो भी प्रत्यक्ष दर्शनादि कर्म करता है, वह देहेन्द्रियसंघात ही आत्मा होना चाहिये, कोई दूसरा नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध होनेपर अनुमानकी प्रामाणिकता नहीं हो सकती ।

यथोक्तयुक्तेरनैकान्तिकत्वम्

नन्वयमेव चेद्दर्शनादिक्रियाकर्ता आत्मा संघात कथमविकृतस्यैवास्य दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वं कदाचिद् भवति कदाचिन्नेति ।

सिद्धान्ती–किंतु यदि यह संघात ही दर्शनादि क्रियाओंका करनेवाला आत्मा हो तो ऐसा क्यों होता है कि इसमें कोई विकार न आनेपर भी कभी तो इसमें दर्शनादि क्रियाओंका कर्तृत्व रहता है और कभी नहीं रहता है ?

तन्निरासपूर्वकं स्वभावस्य निर्निमित्तत्वनिरूपणम्

नैष दोषः, दृष्टत्वात्; न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न हि खद्योते प्रकाशाप्रकाशकत्वेन

पूर्व०—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा गया है और देखी हुई बातमें अनुपपत्ति नहीं होती; खद्योतको प्रकाशक और

दृश्यमाने कारणान्तरमनुमेयम्; अनुमेयत्वे च केनचित् सामान्यात् सर्वं सर्वत्रानुमेयं स्यात्; तच्चानिष्टम्; न च पदार्थस्वभावो नास्ति; न ह्यग्नेरुष्णस्वाभाव्यम् अन्यनिमित्तम्, उदकस्य वा शैत्यम्। प्राणिधर्माधर्माद्यपेक्षमिति चेत्; धर्माधर्मादेर्निमित्तान्तरापेक्षस्वभावप्रसङ्गः। अस्त्विति चेत्, न; तदनवस्थाप्रसङ्गः; स चानिष्टः।

अप्रकाशकरूपसे देखनेमें किसी अन्य कारणका अनुमान नहीं करना चाहिये; यदि किसीसे समानता होनेके कारण उसके विषयमें भी अनुमान किया जाय तब तो सब जगह सबके विषयमें अनुमान ही करना होगा; और यह इष्ट नहीं है, क्योंकि पदार्थका कोई स्वभाव ही न हो—ऐसी बात नहीं है; अग्निका उष्णस्वभाव होना अथवा जलका शीतल होना किसी अन्य कारणसे नहीं है। यदि कहो कि स्वभाव भी प्राणियोंके धर्माधर्मकी अपेक्षासे होता है, तो धर्माधर्मादिका भी किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा रखनेवाला स्वभाव माननेका प्रसङ्ग होगा। यदि कहो कि होने दो, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि इससे अनवस्थाका प्रसङ्ग होगा और वह इष्ट नहीं है।

स्वभाववादिपक्षनिरसनम्

न, स्वप्नस्मृत्योर्दृष्टस्यैव दर्शनात्—यदुक्तं स्वभाववादिना देहस्यैव दर्शनादिक्रिया न व्यतिरिक्तस्येति, तन्न; यदि हि देहस्यैव दर्शनादिक्रिया स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनं न स्यात्; अन्धः स्वप्नं पश्यन् दृष्टपूर्वमेव पश्यति

सिद्धान्ती—तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न और स्मृतिमें देखे हुएका ही दर्शन होता है—स्वभाववादीने जो कहा कि दर्शनादि क्रिया देहके ही हैं, उससे भिन्नके नहीं हैं, सो ऐसी बात नहीं है; यदि दर्शनादि क्रिया देहकी ही होती तो स्वप्नमें देखे हुएको ही न देखा जाता। अन्धा पुरुष स्वप्न देखनेके समय पहले देखे हुए पदार्थों-

न शाकद्वीपादिगतमदृष्टरूपम्; ततश्चैतत् सिद्धं भवति—यः स्वप्ने पश्यति दृष्टपूर्वं वस्तु, स एव पूर्वं विद्यमाने चक्षुष्यद्राक्षीत्, न देह इति; देहश्चेद् द्रष्टा, स येनाद्राक्षीत् तस्मिन्नुद्धृते चक्षुषि स्वप्ने तदेव दृष्टपूर्वं न पश्येत्; अस्ति च लोके प्रसिद्धिः—पूर्वं दृष्टं मया हिमवतः शृङ्गमद्याहं स्वप्नेऽद्राक्षमित्युद्धृतचक्षुषामन्धानामपि; तस्मादनुद्धृतेऽपि चक्षुषि यः स्वप्नदृक् स एव द्रष्टा, न देह इत्यवगम्यते।

को ही देखता है, जिन्हें पहले कभी नहीं देखा, उन शाकद्वीपादिके पदार्थोंको नहीं देखता; इससे यह सिद्ध होता है कि स्वप्नमें जो पहले देखे हुए पदार्थोंको देखता है, उसीने पहले नेत्रोंके रहते हुए उन पदार्थोंको देखा था, देहने नहीं; यदि देह ही देखनेवाला होता तो जिनके द्वारा उसने पहले देखा था उन नेत्रोंके निकाल लिये जानेपर उन पूर्वदृष्ट पदार्थोंको स्वप्नमें न देखता; किंतु जिनके नेत्र निकाल लिये गये हैं, उन अन्धोंके विषयमें भी लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि आज स्वप्नमें मैंने पहले देखा हुआ हिमालयका शिखर देखा। इससे यह ज्ञात होता है कि जो स्वप्न देखनेवाला है, वही नेत्रोंके न निकालनेपर भी द्रष्टा है, देह द्रष्टा नहीं है।

तथा स्मृतौ—द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वे सति य एव द्रष्टा स एव स्मर्ता; यदा चैवं तदा निमीलिताक्षोऽपि स्मरन् दृष्टपूर्वं यद् रूपं तद् दृष्टवदेव पश्यतीति; तस्माद् यन्निमीलितं तन्न द्रष्टृ; यन्निमीलिते चक्षुषि

द्रष्टुर्देहेन्द्रियादि-व्यतिरिक्तत्वम्

इसी प्रकार स्मरणमें समझना चाहिये-द्रष्टा और स्मरण करनेवाले-की एकता होनेपर जो द्रष्टा होता है, वही स्मरण करनेवाला होता है। जब कि ऐसी बात है तभी आँख मूँदकर स्मरण करनेवाला भी जो पहले देखा हुआ रूप है; उसे देखे हुएके समान ही देखता है; अतः जिन्हें मूँद रखा है, वे नेत्र द्रष्टा नहीं

स्मरद् रूपं पश्यति तदेवानिमीलितेऽपि चक्षुषि द्रष्टृ आसीदित्यवगम्यते ।

मृते च देहेऽविकलस्यैव च रूपादिदर्शनाभावात्—देहस्यैव द्रष्टृत्वे मृतेऽपि दर्शनादिक्रिया स्यात् । तस्माद् यदपाये देहे दर्शनं न भवति, यद्भावे च भवति, तद् दर्शनादिक्रियाकर्तृ न देह इत्यवगम्यते ।

चक्षुरादीन्येव दर्शनादिक्रियाकर्तॄणीति चेन्न, यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामीति भिन्नकर्तृकत्वे प्रतिसंधानानुपपत्तेः मनस्तर्हीति चेन्न, मनसोऽपि विषयत्वाद् रूपादिवद् द्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तिः । तस्मादन्तःस्थं व्यतिरिक्तमादित्यादिवदिति सिद्धम् ।

हैं, जो नेत्रोंके मूँदनेपर स्मरण किये जानेवाले रूपको देखता है, वही नेत्रोंके न मूँदनेपर भी द्रष्टा था—ऐसा जाना जाता है ।

इसके सिवा शरीरके मर जानेपर उसमें कोई विकार न होनेपर भी वह रूपादिका दर्शन नहीं करता—यदि देह ही द्रष्टा होता तो उसके मरनेपर भी उसमें दर्शनादि क्रिया होती । अतः जिसके देहमें न रहनेपर दर्शन नहीं होता और रहनेपर होता है, वही दर्शनादि क्रियाका कर्ता है, देह नहीं—ऐसा ज्ञात होता है ।

यदि कहो कि नेत्रादि इन्द्रियाँ ही दर्शनादि क्रिया करनेवाली हैं, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि [वैसी स्थितिमें] दर्शन और स्पर्श भिन्न कर्ताओंकी क्रिया होनेके कारण 'जिसे मैंने देखा था, उसका स्पर्श करता हूँ' ऐसा अनुभव नहीं हो सकता था; अच्छा तो, मन ही द्रष्टा है—ऐसा मानें तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि रूप आदिकी भाँति विषय (दृश्य) होनेके कारण मनका भी द्रष्टा होना सम्भव नहीं है । अतः यह सिद्ध हुआ कि चैतन्य-ज्योति अन्तःस्थ है और आदित्यादिके समान शरीरसे भिन्न है ।

यदुक्तम्—कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेव ज्योतिरन्तरमनुमेयम्, आदित्यादिभिः तत्समानजातीयैरेव उपक्रियमाणत्वादिति—तदसत्, उपकार्योपकारकभावस्यानियमदर्शनात्; कथम्? पार्थिवैरिन्धनैः पार्थिवत्वसमानजातीयैस्तृणोलपादिभिरग्नेः प्रज्वलनोपकारः क्रियमाणो दृश्यते; न च तावता तत्समानजातीयैरेवाग्नेः प्रज्वलनोपकारः सर्वत्रानुमेयः स्यात्, येनोदकेनापि प्रज्वलनोपकारो भिन्नजातीयेन वैद्युतस्याग्नेः जाठरस्य च क्रियमाणो दृश्यते; तस्माद् उपकार्योपकारकभावे समानजातीयासमानजातीयनियमो नास्ति; कदाचित् समानजातीया मनुष्या मनुष्यैरेवोपक्रियन्ते कदाचित् स्थावरपश्वादिभिश्च भिन्न-

ऐसा जो कहा कि देहेन्द्रिय-संघातके समान जातिवाली ही किसी अन्य ज्योतिका अनुमान करना चाहिये, क्योंकि आदित्यादि तथा उसके समान जातीय ज्योतियों-से ही संघातका उपकार होता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपकार्य-उपकारकभावका कोई नियम नहीं देखा जाता; किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] पार्थिव इन्धन-से एवं पार्थिवत्वमें समान जाति-वाले तृण और उलप (घास) आदिसे अग्निका प्रज्वलनरूप उप-कार होता देखा जाता है, किंतु इतनेहीसे सर्वत्र ऐसा अनुमान नहीं कर लेना चाहिये कि उनके समान-जातीय पदार्थोंसे ही अग्निका प्रज्वलनरूप उपकार होगा, क्योंकि उनसे भिन्न जातिवाले जलसे भी बिजलीरूप अग्निका तथा पेटके भीतरकी अग्निका प्रज्वलनरूप उपकार होता देखा जाता है; अतः उपकार्योपकारकभावमें समान-जातीय अथवा असमानजातीय होनेका नियम नहीं है; कभी तो समानजातीय मनुष्य मनुष्योंसे ही उपकृत होते हैं और कभी स्थावर एवं पशु आदि भिन्न जातिवालोंसे ही

जातीयैः; तस्मादहेतुः कार्यकरणसंघातसमानजातीयैरेव आदित्यादिज्योतिर्भिरुपक्रियमाणत्वादिति ।

यत् पुनरात्थ—चक्षुरादिभिरादित्यादिज्योतिर्वद् अदृश्यत्वादित्ययं हेतुर्ज्योतिरन्तरस्यान्तःस्थत्वं वैलक्षण्यं च न साधयति, चक्षुरादिभिरनैकान्तिकत्वादिति—तदसत्, चक्षुरादिकरणेभ्योऽन्यत्वे सतीति हेतोर्विशेषणत्वोपपत्तेः ।

उनका उपकार होता है; अतः कार्यकरणसंघातके समानजातीय आदित्यादि ज्योतियोंसे उपकृत होनेके कारण ही आत्मज्योति संघातके समानजातीय ही होनी चाहिये—यह कोई हेतु नहीं है।

और तुमने जो ऐसा कहा कि आदित्यादिकी ज्योतिके समान चक्षु आदि इन्द्रियोंसे दिखायी देनेवाली न होनेके कारण [आत्मज्योति अन्तःस्थ और भिन्न प्रकारकी है] —यह हेतु तो चक्षु आदिसे व्यभिचरित होनेके कारण उस अन्य ज्योतिका अन्तःस्थ और विलक्षण होना सिद्ध नहीं कर सकता, सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भिन्न होते हुए' [उनसे न दिखायी देनेके कारण आत्मज्योति अन्तःस्थ एवं विलक्षण है] इस प्रकार उपर्युक्त हेतुमें विशेषण लगा देनेसे उसकी उपपत्ति हो सकती है।[1]

१. तात्पर्य यह है कि पहले अनुमानका स्वरूप यों था 'आत्मज्योतिः अन्तःस्थम्, आदित्यादिवच्चक्षुरादिभिरदृश्यत्वात् ।' अर्थात् आत्मज्योति अपने भीतर है, क्योंकि वह सूर्य आदिकी भाँति आँखोंसे नहीं दिखायी देती। यह हेतु नेत्रके विषयमें व्यभिचरित था; क्योंकि अपना नेत्र भी अपने ही नेत्रसे नहीं देखा जा सकता। इस दोषको मिटानेके लिये सिद्धान्तीने हेतुमें 'चक्षुरादिकरणेभ्योऽन्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ दिया। अब अनुमानका स्वरूप इस प्रकार हो गया—'आत्मज्योतिः अन्तःस्थम्, चक्षुरादिकरणेभ्योऽन्यत्वे सति चक्षुरादिभिरदृश्यत्वात् ।' अर्थात् आत्मज्योति अपने भीतर स्थित है; क्योंकि वह चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भिन्न होती हुई इन इन्द्रियोंसे देखी नहीं जाती—ऐसा हेतु माननेपर कहीं भी दोष नहीं आता।

कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति यदुक्तम्, तन्न, अनुमानविरोधात्; आदित्यादिज्योतिर्वत् कार्यकरणसंघातादर्थान्तरं ज्योतिरिति ह्यनुमानमुक्तम्; तेन विरुध्यते इयं प्रतिज्ञा—कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति। तद्भावभावित्वं त्वसिद्धम्, मृते देहे ज्योतिषोऽदर्शनात्।

तथा उस ज्योतिको जो देहेन्द्रियसंघातके धर्मवाली बतलाया, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अनुमानसे विरोध आता है; आदित्यादि ज्योतिके समान यह ज्योति देहेन्द्रियसंघातसे भिन्न पदार्थ है, ऐसा अनुमान कहा गया है; उस अनुमानसे इस प्रतिज्ञाका कि उस ज्योतिमें देहेन्द्रियसंघातका धर्मत्व है, विरोध आता है; देह तद्भावभावित है [अर्थात् जबतक देह है, तबतक उसके धर्मरूपसे चैतन्यज्योति भी रहती है] यह तुम्हारा हेतु तो असिद्ध है, क्योंकि मृत देहमें वह ज्योति नहीं देखी जाती।[1]

सामान्यतो दृष्टस्यानुमानस्याप्रामाण्ये सति पानभोजनादिसर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः; स चानिष्टः; पानभोजनादिषु हि क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमुपलब्धवतः तत्सामान्यात् पानभोजनाद्युपादनं दृश्यमानं लोके न प्राप्नोति; दृश्यन्ते

सामान्यतो दृष्ट अनुमानकी अप्रामाणिकता माननेपर तो भोजन और जलपानादि सभी व्यवहारोंके लोपका प्रसङ्ग उपस्थित होगा; और वह इष्ट नहीं है; क्योंकि तब तो, जलपान और भोजनादि करनेपर भूख और प्यासकी निवृत्ति देखनेवालेको उसीकी समानतासे लोकमें जलपान और भोजन ग्रहण करते दिखायी देना सिद्ध नहीं हो सकता [क्योंकि सामान्यतो दृष्ट नियमको वह

१. अतः इस हेतुके असिद्ध होनेसे तुम्हारा अनुमान अप्रामाणिक है, इससे आत्मज्योतिको देहेन्द्रियसंघातका धर्म नहीं सिद्ध किया जा सकता।

ह्युपलब्धपानभोजनाः सामान्यतः पुनः पानभोजनान्तरैः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमनुमिन्वन्तस्तदा-दर्थ्येन प्रवर्तमानाः ।

यदुक्तम्—अयमेव तु देहो दर्शनादिक्रियाकर्तेति, तत् प्रथममेव परिहृतं स्वप्नस्मृत्योर्देहा-दर्थान्तरभूतो द्रष्टेति । अनेनैव ज्योतिरन्तरस्य अनात्मत्वमपि प्रत्युक्तम् । यत् पुनः खद्योतादेः कादाचित्कं प्रकाशाप्रकाशकत्वम्, तदसत्, पक्षाद्यवयवसंकोचविकासनिमित्तत्वात् प्रकाशाप्रकाशकत्वस्य । यत् पुनरुक्तम्, धर्माधर्मयोरवश्यं फलदातृत्वं स्वभावोऽभ्युपगन्तव्य इति—तदभ्युपगमे भवतः सिद्धान्तहानात् । एतेनानवस्थादोषः प्रत्युक्तः । तस्मा-

अप्रामाणिक मान लेगा] किंतु जिन्होंने जलपान और भोजन किया है, वे लोग फिर भी जलपान और भोजन करनेसे क्षुधा-पिपासादिकी निवृत्तिका अनुमान करके उसके लिये प्रवृत्त होते देखे ही जाते हैं ।

ऐसा जो कहा है कि यही देह दर्शनादि क्रियाका कर्ता है; इसका तो 'स्वप्न और स्मृतियोंका देहसे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा है' ऐसा कहकर पहले ही परिहार कर दिया गया है। तथा इसीसे [अर्थात् संघातके द्रष्टृत्वका निराकरण करके] उस अन्य ज्योतिके अनात्मत्वका भी निषेध कर दिया है तथा खद्योतका जो कभी प्रकाशकत्व और कभी अप्रकाशकत्व बतलाया, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे प्रकाशकत्व और अप्रकाशकत्व तो पंख आदि अवयवोंके सिकोड़ने और खोलनेके कारण हैं तथा यह जो कहा कि 'अवश्य फल देना'—यह धर्म और अधर्मका स्वभाव ही स्वीकार कर लेना चाहिये; सो ऐसा स्वीकार करनेपर तुम्हारे ही सिद्धान्तकी हानि होगी । और इसीसे (सिद्धान्तमें विरोध होनेके ही कारण) तुम्हारे द्वारा आशङ्कित अनवस्था-दोषका भी निराकरण कर दिया गया । अतः

दस्ति व्यतिरिक्तं चान्तःस्थं ज्योतिरात्मेति ॥ ६ ॥

संघातसे पृथक् और अपने भीतर ही स्थित आत्मज्योति है-यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

आत्माका स्वरूप

यद्यपि व्यतिरिक्तत्वादि सिद्धम् तथापि समानजातीयानुग्राहकत्व-दर्शननिमित्तभ्रान्त्या करणानामे-वान्यतमो व्यतिरिक्तो वा इत्य-विवेकतः पृच्छति—

यद्यपि आत्माका देहादिसे भिन्न होना इत्यादि बातें सिद्ध हो गयीं तो भी आदित्यादि समानजातीय पदार्थोंका ही अनुग्राहकत्व देखनेके कारण उत्पन्न हुई भ्रान्तिसे 'आत्मा इन्द्रियोंमेंसे ही कोई एक है अथवा उनसे भिन्न है' इसका विवेक न होनेसे जनक पूछता है—

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त-र्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमति-क्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

'आत्मा कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जो प्राणोंमें बुद्धिवृत्तियोंके भीतर रहनेवाला विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है, वह समान (बुद्धि-वृत्तियोंके सदृश) हुआ इस लोक और परलोक दोनोंमें संचार करता है। वह [बुद्धिवृत्तिके अनुसार] मानो चिन्तन करता है और [प्राणवृत्तिके अनुरूप होकर] मानो चेष्टा करता है। वही स्वप्न होकर इस लोक (देहेन्द्रियसंघात) का अतिक्रमण करता है और [शरीर तथा इन्द्रिय-रूप] मृत्युके रूपोंका भी अतिक्रमण करता है ॥ ७ ॥

कतम इति; न्यायसूक्ष्मताया दुर्विज्ञेयत्वादुपपद्यते भ्रान्तिः । अथवा

प्रश्नस्यौचित्यं बीजं च

'कतम इति'—सूक्ष्म युक्तियाँ कठिनतासे समझमें आती हैं; इस-लिये भ्रान्ति होनी सम्भव ही है।

शरीरव्यतिरिक्ते सिद्धेऽपि करणानि सर्वाणि विज्ञानवन्तीव, विवेकत आत्मनोऽनुपलब्धत्वात्; अतोऽहं पृच्छामि—कतम आत्मेति; कतमोऽसौ देहेन्द्रियप्राणमनःसु, यस्त्वयोक्त आत्मा, येन ज्योतिषास्त इत्युक्तम्।

अथवा आत्मा शरीरसे व्यतिरिक्त सिद्ध होनेपर भी समस्त इन्द्रियाँ विज्ञानवती-सी जान पड़ती हैं, क्योंकि आत्मा उनसे पृथक्‌रूपसे उपलब्ध नहीं होता। इसलिये मैं पूछता हूँ कि आत्मा कौन-सा है? जिसका आपने उल्लेख किया है, वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन—इनमेंसे कौन-सा है, जिस ज्योतिके द्वारा पुरुष बैठता है—ऐसा कहा गया है।

अथवा योऽयमात्मा त्वयाभिप्रेतो विज्ञानमयः, सर्व इमे प्राणा विज्ञानमया इव, एषु प्राणेषु कतमः? यथा समुदितेषु ब्राह्मणेषु, सर्व इमे तेजस्विनः कतम एषु षडङ्गविदिति।

अथवा जो यह आत्मा आपको विज्ञानमयरूपसे अभिप्रेत है, सो ये सभी प्राण विज्ञानमयके समान हैं, इन प्राणोंमें वह कौन-सा है? जिस प्रकार उपस्थित ब्राह्मणोंमें ये सभी तेजस्वी हैं, इनमें छहों वेदाङ्गोंका जाननेवाला कौन है? [ऐसा प्रश्न किया जाय।]

पूर्वस्मिन् व्याख्याने कतम आत्मेत्येतावदेव प्रश्नवाक्यम्, योऽयं विज्ञानमय इति प्रतिवचनम्; द्वितीये तु व्याख्याने प्राणेष्वित्येवमन्तं प्रश्नवाक्यम्—अथवा सर्वमेव प्रश्नवाक्यम्—विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः कतम इत्येतदन्तम्। योऽयं विज्ञानमय इत्येतस्य शब्दस्य निर्धारितार्थविशेष-

[इन दोनों व्याख्याओंमेंसे] पूर्व व्याख्यामें 'कतम आत्मा' (कौन-सा आत्मा है) इतना ही प्रश्नवाक्य है, और 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि उत्तर है; तथा दूसरी व्याख्यामें 'प्राणेषु' यहाँ तक प्रश्न वाक्य है अथवा 'विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' कतमः यहाँ तक सारा ही प्रश्नवाक्य है। किंतु 'योऽयं विज्ञानमयः' इस शब्दका निश्चित अर्थविशेषसे सम्बन्ध

विपर्यस्तत्वम्, कतम आत्मेतीति-शब्दस्य प्रश्नवाक्यपरिसमाप्त्यर्थत्वम्—व्यवहितसम्बन्धमन्तरेण युक्तमिति कृत्वा, कतम आत्मेतीत्येवमन्तमेव प्रश्नवाक्यम्, योऽयमित्यादि परं सर्वमेव प्रतिवचनमिति निश्चीयते।

रखनेवाला होना तथा 'कतम आत्मेति' इसमें इति शब्दका प्रश्न-वाक्यकी समाप्तिके लिये होना किसी व्यवहित सम्बन्धके बिना ही उचित है—ऐसा समझकर 'कतम आत्मेति' इसके इति शब्दपर्यन्त ही प्रश्नवाक्य है; 'योऽयम्' इत्यादि आगेका सारा वाक्य उत्तर ही है—ऐसा निश्चय होता है।

आत्मनो विज्ञान-मयत्वविशेषणे हेतुः योऽयमित्यात्मनः प्रत्यक्षत्वान्निर्देशः; विज्ञानमयो विज्ञानप्रायो बुद्धिविज्ञानोपाधिसम्पर्काविवेकाद् विज्ञानमय इत्युच्यते—बुद्धिविज्ञानसम्पृक्त एव हि यस्मादुपलभ्यते, राहुरिव चन्द्रादित्यसम्पृक्तः; बुद्धिर्हि सर्वार्थकरणम्; तमसीव प्रदीपः पुरोऽवस्थितः; 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' इति ह्युक्तम्, बुद्धिविज्ञानालोकविशिष्टमेव हि सर्वं विषयजातमुपलभ्यते, पुरोऽवस्थितप्रदीपालोकविशिष्टमिव तमसि; द्वारमात्राणि त्वन्यानि

आत्मा प्रत्यक्ष है, इसलिये 'योऽयम्' (जो यह) ऐसा निर्देश किया गया है; विज्ञानमय-विज्ञान-प्राय, बुद्धि-विज्ञानरूप उपाधिके सम्पर्कका विवेक न होनेके कारण यह विज्ञानमय कहा जाता है; क्योंकि जिस प्रकार राहु चन्द्रमा और सूर्यके सम्पर्कमें आकर ही उपलब्ध होता है, उसी प्रकार यह बुद्धिरूप विज्ञानसे सम्पर्क रखकर ही अनुभवमें आता है; अन्धकारमें सामने रखे हुए दीपकके समान बुद्धि ही सब प्रकारके व्यापारोंका साधन है; 'मनहीसे देखता है, मनहीसे सुनता है' ऐसा कहा भी है। जिस प्रकार अन्धकारमें समस्त पदार्थ सम्मुखस्थ दीपकके प्रकाशसे युक्त होकर ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ बुद्धिरूप विज्ञानके आलोकसे विशिष्ट होकर ही उपलब्ध होते हैं। अन्य इन्द्रियाँ

करणानि बुद्धेः; तस्मात्तेनैव विशेष्यते—विज्ञानमय इति।

येषां परमात्मविज्ञप्तिविकार मयटो विकारार्थ इति व्याख्यानम्, तन्निराकरणम् तेषां 'विज्ञानमयः' 'मनोमयः' इत्यादौ विज्ञानमय-शब्दस्य अन्यार्थदर्शनादश्रौतार्थतावसीयते; संदिग्धश्च पदार्थोऽन्यत्र निश्चितप्रयोगदर्शनान्निर्धारयितुं शक्यः; वाक्यशेषात्, निश्चितन्यायबलाद् वा; सधीरिति चोत्तरत्र पाठात्, 'हृद्यन्तः' इति वचनाद् युक्तं विज्ञानप्रायत्वमेव।

प्राणेष्विति व्यतिरेकप्रदर्श- 'प्राणेषु' 'हृदि' इत्यादिप्रयोगानामभिप्रायः नार्था सप्तमी—यथा वृक्षेषु पाषाण इति

तो बुद्धिकी द्वारमात्र हैं। इसलिये आत्माको उस (बुद्धि) के द्वारा ही विज्ञानमय इस प्रकार विशेषित किया जाता है।

जिनके मतमें 'विज्ञानमय' शब्दकी व्याख्या 'परमात्माकी विज्ञप्तिका विकार' है, उनका यह अर्थ, 'विज्ञानमयः' 'मनोमयः' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुतियोंमें विज्ञानमय शब्दका दूसरा अर्थ देखे जानेके कारण, श्रुतिविरुद्ध सिद्ध होता है।[1] जहाँ किसी पदके अर्थमें संदेह हो वहाँ अन्य स्थानमें निश्चित प्रयोग देखकर उसके अनुसार ही निश्चय किया जाता है; इसके सिवा वाक्यशेषसे अथवा निश्चित न्यायके बलसे भी उसका निश्चय हो सकता है।[2] तथा आगे 'सधीः' (बुद्धिके सहित) ऐसा पाठ है और 'हृद्यन्तः' ऐसा वचन भी है; इनसे भी उसका विज्ञानप्रायता—विज्ञानाधिक्य ही उचित है।

'प्राणेषु' यह सप्तमी व्यतिरेक प्रदर्शित करनेके लिये है; जैसे 'वृक्षेषु पाषाणः' यहाँ

१. तात्पर्य यह है कि इन तैत्तिरीय-श्रुतियोंमें मयट् प्रत्यय प्राचुर्य (प्रायः अथवा आधिक्य) अर्थमें ही हो सकता है, विकारार्थक नहीं हो सकता; इसलिये यदि यहाँ इसका अर्थ विकार किया जायगा तो इसका उन श्रुतियोंसे विरोध होगा; इसलिये यहाँ भी इसे प्राचुर्यार्थक ही समझना चाहिये।

२. क्योंकि यदि आत्मा विज्ञानका विकार होगा तो उसे मोक्ष नहीं मिल सकता।

सामीप्यलक्षणा; प्राणेषु हि व्यतिरेकाव्यतिरेकता संदिह्यत आत्मनः; प्राणेषु प्राणेभ्यो व्यतिरिक्त इत्यर्थः; यो हि येषु भवति, स तद्व्यतिरिक्तो भवत्येव—यथा पाषाणेषु वृक्षः।

सामीप्य अर्थको लक्षित करानेवाली सप्तमी है[1] प्राणोंमें ही आत्माकी भिन्नता या अभिन्नताके विषयमें संदेह होता है; अतः 'प्राणेषु' अर्थात् प्राणोंसे भिन्न है, क्योंकि जो जिनमें होता है, वह उनसे भिन्न होता ही है; जैसे पाषाणोंमें होनेवाला वृक्ष [पाषाणोंसे भिन्न होता है]।

हृदि तत्रैतत् स्यात्; प्राणेषु प्राणजातीयैव बुद्धिः स्यादित्यत आह—हृद्यन्तरिति। हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डम्, तात्स्थ्याद् बुद्धिर्हृत्, तस्यां हृदि बुद्धौ; अन्तरिति बुद्धिवृत्तिव्यतिरेकप्रदर्शनार्थम्, ज्योतिरवभासात्मकत्वादात्मोच्यते; तेन ह्यवभासकेन आत्मना ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते, चेतनावानिव ह्ययं कार्यकरणपिण्डः—यथा आदित्यप्रकाशस्थो घटः।

'हृदि'—हृदयमें, वहाँ यह रहता है; प्राणोंमें प्राणजातिकी ही बुद्धि रहेगी, इसलिये श्रुति कहती है—'हृद्यन्तः'। यहाँ 'हृत्' शब्दसे पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड कहा गया है, उसमें रहनेके कारण बुद्धि हृत् है, उस हृत्में अर्थात् बुद्धिमें; 'अन्तः' यह बुद्धिवृत्तिसे उसकी भिन्नता प्रदर्शित करनेके लिये है, प्रकाशस्वरूप होनेके कारण आत्मा 'ज्योतिः' कहा गया है; उस प्रकाशस्वरूप आत्मज्योतिसे चेतनावान्-सा होकर ही यह देहेन्द्रियसंघात सूर्यके प्रकाशमें स्थित घटके समान रहता, इधर-उधर जाता और कर्म करता है।

यथा वा मरकतादिर्मणिः क्षीरादिद्रव्ये प्रक्षिप्तः परीक्षणाय, आत्मच्छायमेव तत् क्षीरादिद्रव्यं

अथवा जिस प्रकार परीक्षाके लिये दुग्धादि द्रव्यमें डाली हुई मरकतादि मणि उस दुग्धादि द्रव्यको अपनी ही

1. अतः 'वृक्षेषु पाषाणः' का अर्थ होता है—वृक्षके निकट पत्थर है।

करोति, तादृगेतदात्मज्योतिर्बुद्धेरपि हृदयात् सूक्ष्मत्वाद् हृद्यन्तःस्थमपि हृदयादिकं कार्यकरणसंघातं चैकीकृत्य आत्मज्योतिश्छायं करोति, पारम्पर्येण सूक्ष्मस्थूलतारतम्यात्, सर्वान्तरतमत्वात् ।

बुद्धिस्तावत् स्वच्छत्वादानन्तर्याच्चात्मचैतन्यज्योतिःप्रतिच्छाया भवति; तेन हि विवेकिनामपि तत्र आत्माभिमानबुद्धिः प्रथमा; ततोऽप्यानन्तर्यान्मनसि चैतन्यावभासता, बुद्धिसम्पर्कात्; तत इन्द्रियेषु, मनःसंयोगात्; ततोऽनन्तरं शरीरे, इन्द्रियसम्पर्कात् । एवं पारम्पर्येण कृत्स्नं कार्यकरणसंघातमात्मा चैतन्यस्वरूपज्योतिषावभासयति । तेन हि सर्वस्य लोकस्य कार्यकरणसंघाते तद्वृत्तिषु चानियतात्माभिमानबुद्धिर्यथाविवेकं जायते ।

अनात्मन्यात्मचैतन्याभाससंक्रान्तेः क्रमः

तथा च भगवतोक्तं गीतासु—

कान्तिवाला कर देती है, उसी प्रकार यह आत्मज्योति बुद्धि अर्थात् हृदयसे भी सूक्ष्म होनेके कारण हृत्पिण्डमें स्थित हृदयादिक और देहेन्द्रियसंघातको भी अपनेसे अभिन्न करके आत्मज्योतिकी कान्तिसे युक्त ही कर देती है, क्योंकि परम्परासे सूक्ष्म-स्थूल तारतम्यसे यह सबकी अपेक्षा अन्तरतम है ।

बुद्धि तो स्वच्छ है और आत्माकी समीपवर्तिनी है, इसलिये वह आत्मचैतन्यकी प्रतिच्छायासे युक्त हो जाती है; इसीसे विवेकियोंको भी पहले उसीमें आत्माभिमानबुद्धि होती है; उसका भी समीपवर्ती होनेसे बुद्धिके सम्पर्कसे मनमें चैतन्यावभासता आती है और मनका [इन्द्रियोंसे] सम्पर्क होनेके कारण मनसे इन्द्रियोंमें; फिर इन्द्रियोंका शरीरसे सम्पर्क होनेके कारण उनसे शरीरमें चैतन्यावभासता आ जाती है; इस प्रकार परम्परासे आत्मा सम्पूर्ण देहेन्द्रियसंघातको चैतन्यस्वरूप प्रकाशसे प्रकाशित कर देता है, इसीसे सब लोगोंकी देहेन्द्रियसंघात और उसकी वृत्तियोंमें अपने-अपने विवेकके अनुसार अनियत आत्माभिमानबुद्धि उत्पन्न हो जाती है ।

ऐसा ही भगवान्‌ने भी गीतामें



"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥" (१३। ३३) "यदादित्यगतं तेजः" (१५। १२) इत्यादि च। "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (२। २। १४) इति च काठके। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (क० उ० २। २। १६) इति च। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च मन्त्रवर्णः। तेनायं हृद्यन्तर्ज्योतिः।

कहा है- "हे भारत! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री [आत्मा] सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है" "जो आदित्यगत तेज है [वह मेरा ही जानो]" इत्यादि। "जो अनित्योंमें नित्य और चेतनोंमें चेतन है" ऐसा कठोपनिषद्में भी कहा है और ऐसा भी कहा है कि "सब उसीके प्रकाशित होनेसे प्रकाशित होता है तथा यह सब उसीके तेजसे प्रकाशित है।" इनके सिवा "जिसके तेजसे तेजोमय होकर सूर्य तपता है" ऐसा मन्त्र वर्ण भी है। अतः यह आत्मा हृदयान्तर्गत ज्योति है।

पुरुषः—आकाशवत् सर्वगतत्वात् पूर्ण इति पुरुषः; निरतिशयं चास्य स्वयंज्योतिष्ट्वम्, सर्वावभासकत्वात् स्वयमन्यानवभास्यत्वाच्च। स एष पुरुषः स्वयमेव ज्योतिःस्वभावः, यं त्वं पृच्छसि—कतम आत्मेति।

'पुरुषः' आकाशके समान सर्वगत होनेके कारण पूर्ण है, इसलिये पुरुष है; सबका प्रकाशक और स्वयं दूसरोंसे अप्रकाश्य होनेके कारण इसकी स्वयंप्रकाशता सबसे बढ़कर है। वह यह पुरुष, जिसके विषयमें तुम पूछते हो कि आत्मा कौन-सा है?' स्वयं ही ज्योतिःस्वभाव है।

बाह्यानां ज्योतिषां सर्वकरणानुग्राहकाणां प्रत्यस्तमयेऽन्तःकरणद्वारेण हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष आत्मानुग्राहकः करणानामित्युक्तम्।

(हाशिये में: आत्मनः सर्वव्यवहारहेतुत्वम्)

समस्त इन्द्रियोंकी उपकारक बाह्य ज्योतियोंके अस्त हो जानेपर हृदयके भीतर अन्तर्ज्योतिःस्वरूप पुरुष— पूर्ण आत्मा अन्तःकरणके द्वारा इन्द्रियोंका उपकारक है— ऐसा पहले कहा गया

यदापि बाह्यकरणानुग्राहकाणा-मादित्यादिज्योतिषां भावः, तदा-प्यादित्यादिज्योतिषां परार्थत्वात् कार्यकरणसङ्घातस्याचैतन्ये स्वा-र्थानुपपत्तेः स्वार्थज्योतिष आत्मनोऽनुग्रहाभावेऽयं कार्य-करणसङ्घातो न व्यवहाराय कल्पते; आत्मज्योतिरनुग्रहेणैव हि सर्वदा सर्वः संव्यवहारः, "यदेतद् हृदयं मनश्चैतत् संज्ञा-नम्" (ऐ० उ० ३ । २) इत्यादि श्रुत्यन्तरात्; साभिमानो हि सर्वप्राणिसंव्यवहारः; अभिमान-हेतुं च मरकतमणिदृष्टान्ते-नावोचाम ।

है। जिस समय बाह्य इन्द्रियोंकी उपकारक आदित्यादि ज्योतियोंकी भी सत्ता रहती है, उस समय भी आदित्यादि ज्योतियाँ परार्थ होनेके कारण और कार्यकरणसङ्घात अचेतन है, इसलिये उसमें स्वार्थका भाव सम्भव न होनेसे स्वार्थज्योतिः (जिसका प्रकाश अपने ही लिये है उस) आत्माके अनुग्रहके बिना यह देहेन्द्रियसङ्घात व्यवहारमें समर्थ नहीं हो सकता; सारा व्यव-हार सर्वदा आत्मज्योतिके अनुग्रहसे ही होता है, "जो यह हृदय है, वही मन है और वही संज्ञान है" ऐसी एक अन्य श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। प्राणियोंका सारा व्यव-हार अभिमानपूर्वक ही होता है और अभिमानका हेतु हमने मरकत-मणिके दृष्टान्तसे बतला दिया है।

यद्यप्येवमेतत्, तथापि जाग्र-द्विषये सर्वकरणागोचरत्वादात्म-ज्योतिषो बुद्ध्यादिबाह्याभ्यन्तर-कार्यकरणव्यवहारसन्निपातव्या-कुलत्वान्न शक्यते तज्ज्योतिरा-त्माख्यं मुञ्जेषीकावन्निष्कृष्य दर्शयितुमित्यतः स्वप्ने दिदर्शयिषुः

यद्यपि यह बात ऐसी ही है, तथापि जाग्रत्-कालमें आत्मज्योति सारी ही इन्द्रियोंकी अविषय तथा बुद्धि आदि बाह्य और आभ्यन्तर देह एवं इन्द्रिय आदिके व्यवहार-समूहसे चञ्चल रहती है, इसलिये उस आत्मसंज्ञक ज्योतिको मूँजमेंसे सींकके समान निकालकर पृथक्रूपसे नहीं दिखाया जा सकता, अतः उसे स्वप्नमें



प्रक्रमते—

स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति । यः पुरुषः स्वयमेव ज्योतिरात्मा; स समानः सदृशः सन्—केन ? प्रकृतत्वात् सन्निहितत्वाच्च हृदयेन; 'हृदि' इति च हृच्छब्दवाच्या बुद्धिः प्रकृता सन्निहिता च; तस्मात्तयैव सामान्यम् ।

किं पुनः सामान्यम् ? अश्वमहिषवद् विवेकतोऽनुपलब्धिः; अवभास्या बुद्धिः, अवभासकं तदात्मज्योतिः, आलोकवत्; अवभास्यावभासकयोर्विवेकतोऽनुपलब्धिः प्रसिद्धा; विशुद्धत्वाद्ध्यालोकोऽवभास्येन सदृशो भवति; यथा रक्तमवभासयन् रक्तसदृशो रक्ताकारो भवति, यथा हरितं नीलं लोहितं च अवभासयन्नालोकः

दिखानेकी इच्छासे श्रुति आरम्भ करती है ।

वह पुरुष समान रहकर इस लोक और परलोक–दोनोंमें सञ्चार करता है । जो पुरुष स्वयंज्योतिःस्वरूप आत्मा ही है, वह समान–एक जैसा रहकर; किसके समान रहकर ? प्रकरण प्राप्त और समीपवर्ती होनेके कारण हृदयके; 'हृदि' इससे 'हृत्' शब्दवाच्य बुद्धि ही प्रकरणप्राप्त है और वही समीपवर्तिनी भी है; अतः उसीसे आत्माकी समानता रहती है ।

वह समानता किस प्रकारकी है ? घोड़े और भैंसेके समान उनका अलग अलग उपलब्ध न होना; बुद्धि प्रकाश्य है और प्रकाशके समान आत्मज्योति प्रकाशक है; प्रकाश्य और प्रकाशकका अलग-अलग उपलब्ध न होना प्रसिद्ध ही है; क्योंकि प्रकाश शुद्ध होनेके कारण प्रकाश्यके समान हो जाता है, जिस प्रकार लाल रंगकी वस्तुको प्रकाशित करते समय वह लालके समान–लाल आकारवाला हो जाता है। एवं हरे, नीले और लोहित पदार्थोंको प्रकाशित करते...

तत्समानो भवति, तथा बुद्धिमवभासयन् बुद्धिद्वारेण कृत्स्नं क्षेत्रमवभासयति—इत्युक्तं मरकतमणिनिदर्शनेन। तेन सर्वेण समानो बुद्धिसामान्यद्वारेण।

'सर्वमयः' इति चात एव वक्ष्यति; तेनासौ कुतश्चित् प्रविभज्य मुञ्जेषीकावत् स्वेन ज्योतीरूपेण दर्शयितुं न शक्यत इति, सर्वव्यापारं तत्राध्यारोप्य नामरूपगतम्, ज्योतिधर्मं च नामरूपयोः, नामरूपे चात्मज्योतिषि, सर्वो लोको मोमुह्यते—अयमात्मा नायमात्मा, एवंधर्मा नैवंधर्मा, कर्ताऽकर्ता, शुद्धोऽशुद्धो बद्धो मुक्तः, स्थितो गत आगतः, अस्ति नास्तीत्यादिविकल्पैः।

अतः समानः सन्नुभौ लोकौ प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्यौ इहलोकपरलोकावुपात्तदेहेन्द्रियादिसङ्घातत्यागान्योपादानसन्तानप्रबन्धशतसन्निपातैरनुक्रमेण सञ्चरति।

समय वह तद्रूप हो जाता है। इसी प्रकार बुद्धिको प्रकाशित करते समय वह बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करने लगता है; यह बात मरकतमणिके दृष्टान्तसे बतला दी गयी है। इसीसे बुद्धिकी समानताके द्वारा वह सबके समान हो जाता है।

इसीसे श्रुति उसे 'सर्वमयः' ऐसा कहेगी; अतः यह मूँजसे सींकके समान किसीसे भी अलग करके अपने ज्योतिःस्वरूपसे नहीं दिखाया जा सकता। उसमें नाम-रूपके सारे व्यापारोंका, नाम-रूपमें ज्योतिके धर्मका तथा आत्मज्योतिमें नाम-रूपका आरोप करके सम्पूर्ण लोक 'यह आत्मा है, यह आत्मा नहीं है, आत्मा ऐसे धर्मोंवाला है, ऐसे धर्मोंवाला नहीं है, कर्ता है, अकर्ता है, शुद्ध है, अशुद्ध है, बद्ध है, मुक्त है, स्थित है, गत है, आगत है, सद्रूप है, असद्रूप है' इत्यादि विकल्पोंसे अत्यन्त मोहित हो रहा है।

अतः यह समान रहकर प्राप्त इहलोक और प्राप्त करने योग्य परलोक—इन दोनोंमें प्राप्त देहेन्द्रियसङ्घातके त्याग और अप्राप्त देहेन्द्रिय सङ्घातके ग्रहणकी परम्परासे निरन्तर सैकड़ों सम्बन्धोंके क्रमसे सञ्चार करता रहता है। तात्पर्य यह है कि उसके

धीसादृश्यमेवोभयलोकसञ्चरणहे-तुर्न स्वत इति ।

दोनों लोकोंमें सञ्चारका कारण बुद्धिकी सदृशता ही है, वह स्वयं सञ्चार नहीं करता ।

तत्र नामरूपोपाधिसादृश्यं भ्रान्तिरेवात्मनः भ्रान्तिनिमित्तं य-संसरणहेतुः सदेव हेतुर्न स्वतः, इत्येतदुच्यते -यस्मात् स समानः सन्नुभौ लोकावनुक्रमेण सञ्चरति-तदेतत् प्रत्यक्षमित्येतद्दर्शयति - यतो ध्यायतीव ध्यानव्यापारं करोतीव, चिन्तयतीव, ध्यान-व्यापारवतीं बुद्धिं स तत्स्थेन चि-त्स्वभावज्योतीरूपेणावभासयन् त-त्सदृशस्तत्समानः सन् ध्यायतीव, आलोकवदेव—अतो भवति चिन्तयतीति भ्रान्तिर्लोकस्य; न तु परमार्थतो ध्यायति ।

इस सञ्चारमें जो भ्रान्तिजनित नामरूपोपाधिकी सदृशता है, वही हेतु है, वह स्वतः सञ्चार नहीं करता—यही बात अब बतलायी जाती है; क्योंकि वह समान रह-कर क्रमशः दोनों लोकोंमें सञ्चार करता है—यह बात प्रत्यक्ष ही है, सो श्रुति दिखलाती है—क्योंकि वह मानो ध्यान करता है—ध्यानव्या-पार-सा करता है, चिन्तन-सा करता है । तात्पर्य यह है कि वह प्रकाशके समान ही अपने चित्स्व-भाव ज्योतिःस्वरूपसे ध्यानव्यापार-वती बुद्धिको तटस्थरूपसे प्रकाशित करता हुआ उसीके समान होकर मानो ध्यान करता है । इसीसे लोकको ऐसी भ्रान्ति होती है कि वह चिन्तन करता है; किंतु वह वस्तुतः ध्यान नहीं करता ।

तथा लेलायतीव अत्यर्थं चल-तीव, तेष्वेव करणेषु बुद्ध्यादिषु वायुषु च चलत्सु तदवभासक-त्वात् तत्सदृशं तदिति-लेला-यतीव,न तु परमार्थतश्चलनधर्मकं तदात्मज्योतिः ।

इसी प्रकार 'लेलायतीव'--मानो अधिक चलता है । उन इन्द्रियोंके अर्थात् बुद्धि आदि वायुओंके चलने-पर उनका अवभासक होनेके कारण वह उनके समान जान पड़ता है; इसीसे मानो अधिक चलता है । वास्तवमें तो वह आत्मज्योति चलनधर्मवाली नहीं है ।

कथं पुनरेतदवगम्यते, तत्समानत्वभ्रान्तिरेवोभयलोकसञ्चरणादिहेतुर्न स्वतः—इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय हेतुरुपदिश्यते—स आत्मा हि यस्मात् स्वप्नो भूत्वा, स यदा धिया समानः, सा धीर्यद् यद् भवति तत्तदसावपि भवतीव; तस्माद् यदासौ स्वप्नो भवति स्वापवृत्तिं प्रतिपद्यते धीः, तदा सोऽपि स्वप्नवृत्तिं प्रतिपद्यते; यदा धीर्जिजागरिषति, तदा असावपि।

किंतु यह कैसे जाना जाता है कि उन बुद्धि आदिकी समानताकी भ्रान्ति ही आत्माके दोनों लोकोंमें सञ्चारादि करनेका हेतु है, वह स्वतः सञ्चारादि नहीं करता—इसी अर्थको प्रदर्शित करनेके लिये हेतु बतलाया जाता है—'क्योंकि वह आत्मा ही स्वप्न होकर [इस लोकका अतिक्रमण करता है]।' वह जिस बुद्धिके समान होता है, वह बुद्धि जो-जो होती है, वही-वही मानो यह भी हो जाता है; इसलिये जिस समय वह स्वप्न होती है अर्थात् जिस समय बुद्धि स्वप्नवृत्तिको प्राप्त होती है, उस समय यह आत्मा भी स्वप्नवृत्तिको प्राप्त हो जाता है, और जिस समय बुद्धि जागनेकी इच्छा करती है उस समय यह भी जागना चाहता है।

अत आह-स्वप्नो भूत्वा स्वप्नवृत्तिमवभासयन् धियः स्वापवृत्त्याकारो भूत्वेमं लोकं जागरितव्यवहारलक्षणं कार्यकरणसङ्घातात्मकं लौकिकशास्त्रीयव्यवहारास्पदम्, अतिक्रामत्यतीत्य क्रामति, विविक्तेन स्वेन आत्मज्योतिषा स्वप्नात्मिकां धीवृत्तिमवभासयन्न-

इसलिये श्रुति कहती है—स्वप्न होकर-बुद्धिकी स्वप्नवृत्तिको प्रकाशित करता हुआ अर्थात् स्वप्नवृत्त्याकार होकर लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहारके योग्य इस देहेन्द्रियसंघातमय जागरित व्यवहाररूप लोकका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् इसको पार करके चला जाता है, उस समय चूँकि यह अपने विशुद्ध आत्मतेजसे बुद्धिकी स्वप्नात्मिका वृत्तिको प्रकाशित करता हुआ

वतिष्ठते यस्मात्—तस्मात् स्वयंज्योतिःस्वभाव एवासौ; विशुद्धः स कर्तृक्रियाकारकफलशून्यः परमार्थतः, धीसादृश्यमेव तु उभयलोकसञ्चारादिसंव्यवहारभ्रान्तिहेतुः।

स्थित रहता है, इसलिये यह स्वयंज्योतिःस्वरूप ही है; वह वस्तुतः कर्ता, क्रिया, कारक एवं फलसे रहित शुद्धस्वरूप है, उसके दोनों लोकोंमें सञ्चारादि व्यवहाररूप भ्रान्तिकी हेतु बुद्धिके समान होना ही है।

मृत्यो रूपाणि, मृत्युः कर्माविद्यादिः, न तस्यान्यद् रूपं स्वतः, कार्यकरणान्येवास्य रूपाणि; अतस्तानि मृत्यो रूपाण्यतिक्रामति क्रियाफलाश्रयाणि।

मृत्युके रूपोंको—कर्म एवं अविद्यादि ही मृत्यु हैं, इनके सिवा उसका स्वतः कोई रूप नहीं है; देह और इन्द्रियाँ ही उसके रूप हैं; अतः कर्म और फलके आश्रयभूत उन मृत्युके रूपोंको वह पार कर जाता है।

व्यतिरिक्तात्मसत्तायामाक्षेपः

ननु नास्त्येव धिया समानमन्यद् धियोऽवभासकमात्मज्योतिः, धीव्यतिरेकेण प्रत्यक्षेण वा अनुमानेन वानुपलम्भात्—यथान्या तत्काल एव द्वितीया धीः। यच्चावभास्यावभासकयोरन्यत्वेऽपि विवेकानुपलम्भात् सादृश्यमिति घटाद्यालोकयोः—तत्र भवत्वन्यत्वे न आलोकस्योपलम्भाद् घटादेः, संश्लिष्टयोः सादृश्यं भिन्नयोरेव; न च तथेह घटादेरिव धियोऽव-

पूर्व०—किंतु बुद्धिके समान बुद्धिको प्रकाशित करनेवाली कोई अन्य आत्मज्योति तो है नहीं, क्योंकि अप्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे भी बुद्धिसे व्यतिरिक्त उसकी उपलब्धि नहीं होती जिस प्रकार कि उसी कालमें [अर्थात् एक बुद्धिकी उपलब्धिके समय] दूसरी बुद्धिकी उपलब्धि नहीं होती। और ऐसा जो कहा कि अवभास्य घट आदि और अवभासक आलोकका भेद होनेपर भी विवेक न हो सकनेके कारण सादृश्य है, सो वहाँ आलोककी भिन्नरूपसे उपलब्धि होनेके कारण उन दोनोंके भिन्न होनेपर भी घटादिके साथ मिलनेपर सदृशता हो सकती है, किंतु यहाँ

भासकं ज्योतिरन्तरं प्रत्यक्षेण वानुमानेन वोपलभामहे; धीरेव हि चित्स्वरूपावभासकत्वेन स्वाकारा विषयाकारा च; तस्मान्नानुमानतो नापि प्रत्यक्षतो धियोऽवभासकं ज्योतिः शक्यते प्रतिपादयितुं व्यतिरिक्तम् ।

यदपि दृष्टान्तरूपमभिहितम्, अवभास्यावभासकयोर्भिन्नयोरेव घटाद्यालोकयोः संयुक्तयोः सादृश्यमिति—तत्राभ्युपगममात्रमस्माभिरुक्तम्; न तत्र घटाद्यवभास्यावभासकौ भिन्नौ; परमार्थतस्तु घटादिरेवावभासात्मकः सालोकः; अन्योऽन्यो हि घटादिरुत्पद्यते; विज्ञानमात्रमेव सालोकघटादिविषयाकारमवभासते; यदैवम्, तदा न बाह्यो दृष्टान्तोऽस्ति, विज्ञानलक्षणमात्रत्वात् सर्वस्य ।

तो घटादिके समान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणसे भी बुद्धिकी प्रकाशक कोई अन्य ज्योति हमें उपलब्ध नहीं होती; अपि तु चित्स्वरूपसे प्रकाशक होनेके कारण बुद्धि ही बुद्ध्याकार और विषयाकार हो जाती है। अतः बुद्धिकी अवभासक उससे भिन्न कोई अन्य ज्योति न तो अनुमानसे और न प्रत्यक्षसे ही बतलायी जा सकती है।

इसके सिवा [स्वरूपतः] भिन्न किंतु परस्पर मिले हुए अवभास्य घटादि और अवभासक आलोकका जो दृष्टान्तरूपसे सादृश्य बतलाया गया है, उसे भी हमने एक प्रकारकी मान्यतामात्र कहा है; किंतु वहाँ घटादि अवभास्य और उनका अवभासक भिन्न नहीं हैं; वास्तवमें तो आलोकके सहित घटादि ही अवभासस्वरूप हैं। अन्य-अन्य घटादि उत्पन्न होते रहते हैं, केवल विज्ञान ही आलोकसहित घटादिरूप विषयके आकारमें भासित होता रहता है। जब कि ऐसी बात है, तो वस्तुतः कोई बाह्य दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि सब कुछ विज्ञानस्वरूपमात्र ही है।[1]

१. यहाँतक विज्ञानवादी बौद्धोंका मत कहा गया, इससे आगे इस मतका अनुवाद करते हुए शून्यवादी बौद्धोंका मत बतलाते हैं।

शून्यवादिमतानुवादः

एवं तस्यैव विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारतामलं परिकल्प्य, तस्यैव पुनर्विशुद्धिं परिकल्पयन्ति; तद् ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तं विज्ञानं स्वच्छीभूतं क्षणिकं व्यवतिष्ठत इति केचित्। तस्यापि शान्तिं केचिदिच्छन्ति; तदपि विज्ञानं संवृतं ग्राह्यग्राहकांशविनिर्मुक्तं शून्यमेव घटादिबाह्यवस्तुवदित्यपरे माध्यमिका आचक्षते।

सिद्धान्ती-इस प्रकार उस विज्ञानकी ही ग्राह्य-ग्राहकाकारताकी पूर्णतया कल्पना कर फिर उसीकी अत्यन्त शुद्धिकी कल्पना करते हैं; वह ग्राह्य-ग्राहकभावसे रहित विज्ञान स्वच्छ और क्षणिकरूपसे स्थित है—ऐसा किन्हीं-किन्हींका मत है। कोई तो उस क्षणिक विज्ञानकी भी शान्ति करना चाहते हैं; अविद्यासे आच्छादित वह विज्ञान भी घटादि बाह्य वस्तुओंके समान ग्राह्य-ग्राहकांशसे रहित शून्यमात्र ही है—ऐसा दूसरे माध्यमिक बौद्ध कहते हैं।

तन्निरासः

सर्वा एताः कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासकस्य व्यतिरिक्तस्यात्मज्योतिषोऽपह्नवादस्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्षभूता वैदिकस्य। तत्र येषां बाह्योऽर्थोऽस्ति, तान् प्रत्युच्यते— न तावत् स्वात्मावभासकत्वं घटादेः, तमस्यवस्थितो घटादिस्तावन्न कदाचिदपि स्वात्मनावभास्यते; प्रदीपाद्यालोकसंयोगेन तु नियमेनैवावभास्यमानो दृष्टः सालोको घट इति; संश्लिष्टयोरपि घटालोकयोरन्य-

ये सारी कल्पनाएँ बुद्धिरूप विज्ञानके अवभासक एवं उससे व्यतिरिक्त आत्मज्योतिका त्याग करनेवाली होनेसे इस वैदिक कल्याणमार्गकी विघ्नरूपा हैं। अब जिनके मतमें घटादि बाह्य पदार्थकी सत्ता है, उनसे कहा जाता है— घटादि स्वयं ही अपने प्रकाशक हों-ऐसी बात तो है नहीं; अंधेरेमें रखे हुए घटादि तो कभी अपने-आप प्रकाशित होते ही नहीं; हाँ, दीपकादिके प्रकाशसे संयोग होनेपर तो 'यह घट प्रकाशयुक्त है' इस प्रकार उसका नियमसे प्रकाशित होना देखा जाता है; मिले हुए घट और प्रकाश भी एक-दूसरे-

त्वमेव; पुनः पुनः संश्लेषे विश्लेषे च विशेषदर्शनाद् रज्जुघटयोरिव । अन्यत्वे च व्यतिरिक्तावभासकत्वम्; न स्वात्मनैव स्वमात्मानमवभासयति ।

विज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वे प्रदीपदृष्टान्तोपन्यासः

ननु प्रदीपः स्वात्मानमेवावभासयन् दृष्ट इति न हि घटादिवत् प्रदीपदर्शनाय प्रकाशान्तरमुपाददते लौकिकाः; तस्मात् प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति ।

तन्निरसनम्

न, अवभास्यत्वाविशेषात्; यद्यपि प्रदीपोऽन्यस्यावभासकः स्वयमवभासात्मकत्वात्, तथापि व्यतिरिक्तचैतन्यावभास्यत्वं न व्यभिचरति, घटादिवदेव यदा चैवम्, तदा व्यतिरिक्तावभास्यत्वं तावदवश्यम्भावि ।

ननु यथा घटश्चैतन्यावभास्यत्वेऽपि व्यतिरिक्तमालोकान्त-

से हैं भिन्न ही; क्योंकि रस्सी और घटके समान उनका पुनः-पुनः संयोग और वियोग होनेपर उनमें विशेषता दिखायी देती है । इस प्रकार यदि उनका भेद है तो प्रकाश्य पदार्थोंका कोई अन्य प्रकाशक है—यह भी सिद्ध हो जाता है; वे स्वयं ही अपनेको प्रकाशित नहीं करते ।

पूर्व०—किंतु दीपक तो स्वयं ही अपनेको प्रकाशित करता देखा जाता है; क्योंकि लौकिक पुरुष घटादिके समान दीपकको देखनेके लिये कोई अन्य प्रकाश ग्रहण नहीं करते; इसलिये दीपक स्वयं ही अपनेको प्रकाशित करता है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि प्रकाश्यत्वमें दीपककी घटादिसे समानता है, यद्यपि स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेके कारण दीपक दूसरोंका प्रकाशक है, तथापि घटादिके समान ही वह अपनेसे भिन्न चैतन्यद्वारा प्रकाशित होनेकी योग्यताका त्याग नहीं करता; जब कि ऐसी बात है, तो अपनेसे भिन्नसे प्रकाशित होना तो अनिवार्य ही है ।

पूर्व०—किंतु जिस प्रकार चैतन्यसे अवभासित होने योग्य होनेपर भी घटको अपनेसे भिन्न दूसरे आलोककी

रमपेक्षते, न त्वेवं प्रदीपोऽन्यमालोकान्तरमपेक्षते; तस्मात् प्रदीपोऽन्यावभास्योऽपि सन्नात्मानं घटं चावभासयति ।

न, स्वतः परतो वा विशेषाभावात्—यथा चैतन्यावभास्यत्वं घटस्य, तथा प्रदीपस्यापि चैतन्यावभास्यत्वमविशिष्टम् ।

यत्तूच्यते, प्रदीप आत्मानं घटं चावभासयतीति, तदसत्; कस्मात्? यदा आत्मानं नावभासयति, तदा कीदृशः स्यात्? न हि तदा प्रदीपस्य स्वतो वा परतो वा विशेषः कश्चिदुपलभ्यते; स ह्यवभास्यो भवति, यस्यावभासकसन्निधावसन्निधौ च विशेष उपलभ्यते; न हि प्रदीपस्य स्वात्मसन्निधिरसन्निधिर्वा शक्यः कल्पयितुम्; असति च कादा-

अपेक्षा होती है, उस प्रकार दीपकको तो किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होती; अतः अन्यसे अवभासित होनेवाला होनेपर भी दीपक अपनेको और घटको प्रकाशित करता है ।

सिद्धान्ती—नहीं, उसमें स्वतः अथवा परतः कोई भी विशेषता नहीं है; जिस प्रकार घट चैतन्यसे अवभासित होनेवाला है, उसी प्रकार उसके समान ही दीपक भी चैतन्यसे अवभासित होनेवाला है ।

तथा ऐसा जो कहा जाता है कि दीपक अपनेको और घटको भी प्रकाशित करता है; सो यह भी ठीक नहीं है; क्यों नहीं है? सो बतलाते हैं—जिस समय दीपक अपनेको प्रकाशित नहीं करता, उस समय वह कैसा रहता है? उस अवस्थामें तो दीपकका अपनेसे अथवा अन्यसे कोई भी अन्तर नहीं देखा जाता; अवभास्य तो वही होता है, जिसमें अवभासककी सन्निधि अथवा असन्निधि होनेपर कोई अन्तर देखा जाय। किंतु दीपककी अपनेसे ही सन्निधि अथवा असन्निधि होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती; अतः इस प्रकार कभी-कभी [सन्निधि अथवा असन्निधिके कारण] होनेवाले अन्तर-

चित्के विशेषे, आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयतीति मृषैवोच्यते ।

चैतन्यग्राह्यत्वं तु घटादिभिरविशिष्टं प्रदीपस्य; तस्माद् विज्ञानस्यात्मग्राह्यग्राहकत्वे न प्रदीपो दृष्टान्तः । चैतन्यग्राह्यत्वं च विज्ञानस्य बाह्यविषयैरविशिष्टम् ।

चैतन्यग्राह्यत्वे च विज्ञानस्य, किं ग्राह्यविज्ञानग्राह्यतैव, किं वा ग्राहकविज्ञानग्राह्यतेति तत्र सन्दिह्यमाने वस्तुनि, योऽन्यत्र दृष्टो न्यायः स कल्पयितुं युक्तो न तु दृष्टविपरीतः; तथा च सति यथा व्यतिरिक्तेनैव ग्राहकेण बाह्यानां प्रदीपानां ग्राह्यत्वं दृष्टम् तथा विज्ञानस्यापि चैतन्यग्राह्यत्वात् प्रकाशकत्वे सत्यपि प्रदीपवद् व्यतिरिक्तचैतन्यग्राह्यत्वं युक्तं कल्पयितुम्, न त्वनन्यग्राह्यत्वम्; यश्चान्यो विज्ञानस्य ग्रहीता, स

के न होनेपर 'दीपक अपनेको प्रकाशित करता है' ऐसा मिथ्या ही कहा जाता है ।

दीपकका चैतन्यग्राह्य होना तो घटादिके समान ही है; अतः विज्ञानके अपने ही ग्राह्य और ग्राहक होनेमें दीपक दृष्टान्त नहीं हो सकता । हाँ, विज्ञानका चैतन्य ग्राह्य होना तो बाह्य विषयोंके समान ही है ।

विज्ञानकी चैतन्यग्राह्यता सिद्ध होनेपर भी क्या ग्राह्य (विषय-विषयक) विज्ञानकी ग्राह्यता है अथवा ग्राहक (विषयिविषयक) विज्ञान-की ? इस प्रकार वस्तुके विषयमें संदेह होनेपर जो न्याय अन्य पदार्थोंके विषयमें देखा गया है, उसीकी यहाँ भी कल्पना करनी चाहिये, दृष्टन्यायसे विपरीत कल्पना करनी उचित नहीं है; ऐसी स्थितिमें, जिस प्रकार अपनेसे व्यति-रिक्त ग्राहकके द्वारा बाह्य प्रदीपों-की ग्राह्यता देखी गयी है, उसी प्रकार विज्ञानकी भी चैतन्यग्राह्यता होनेके कारण, प्रकाशक होनेपर भी दीपकके समान अपनेसे भिन्न चैतन्य-द्वारा ही ग्राह्यता कल्पना करनी चाहिये, उसकी अनन्यग्राह्यता (विज्ञानग्राह्यता) माननी उचित नहीं है, इस प्रकार जो विज्ञानका ग्रहीता

आत्मा ज्योतिरन्तरं विज्ञानात्।

तदानवस्थेति चेन्न, ग्राह्यत्वमात्रं हि तद्ग्राहकस्य वस्त्वन्तरत्वे लिङ्गमुक्तं न्यायतः; न त्वेकान्ततो ग्राहकत्वे तद्ग्राहकान्तरास्तित्वे वा कदाचिदपि लिङ्गं सम्भवति; तस्मान्न तदनवस्थाप्रसङ्गः।

विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वे करणान्तरापेक्षायामनवस्थेति चेन्न, नियमाभावात्—न हि सर्वत्रायं नियमो भवति; यत्र वस्त्वन्तरेण गृह्यते वस्त्वन्तरम्, तत्र ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणान्तरं स्यादिति नैकान्तेन नियन्तुं शक्यते, वैचित्र्यदर्शनात्; कथम्? घटस्तावत् स्वात्मव्यतिरिक्तेनात्मना गृह्यते; तत्र प्रदीपादिरालोको ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणम्, न हि प्रदीपाद्यालोको

है, वह आत्मा विज्ञानसे भिन्न ज्योति है।

यदि कहो कि तब तो अनवस्था हो जायगी, तो ऐसी बात नहीं है। किसी वस्तुका ग्राह्य होना ही उसके ग्राहकके अन्य पदार्थ होनेमें न्यायतः लिङ्ग कहा गया है; किंतु उस आत्माके अव्यभिचारी ग्राहकत्व और उसके किसी अन्यग्राहकके अस्तित्वमें कभी कोई लिङ्ग होना सम्भव नहीं है, इसलिये उस अनवस्थाका प्रसङ्ग नहीं हो सकता।

यदि कहो कि विज्ञानको किसी अन्यसे ग्राह्य माननेपर इन्द्रियान्तरकी अपेक्षा होनेके कारण अनवस्था होगी तो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि ऐसा नियम नहीं है—सर्वत्र यही नियम नहीं होता, जहाँ किसी अन्य वस्तुसे कोई अन्य वस्तु ग्रहण की जाती है, वहाँ ग्राह्य और ग्राहकसे भिन्न कोई अन्य इन्द्रिय भी होनी चाहिये-ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि इसमें विचित्रता देखी जाती है; किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] घट अपनेसे भिन्न आत्माके द्वारा गृहीत होता ही है; वहाँ ग्राह्य और ग्राहकसे भिन्न प्रदीपादि प्रकाश उसका करण है; क्योंकि प्रदीपादिका

घटांशश्चक्षुरंशो वा, घटवच्चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि प्रदीपस्य, चक्षुःप्रदीपव्यतिरेकेण न बाह्यमालोकस्थानीयं किञ्चित् करणान्तरमपेक्षते। तस्मान्नैव नियन्तुं शक्यते—यत्र यत्र व्यतिरिक्तग्राह्यत्वं तत्र तत्र करणान्तरं स्यादेवेति। तस्माद् विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यत्वे न करणद्वारानवस्था, नापि ग्राहकत्वद्वारा कदाचिदप्युपपादयितुं शक्यते; तस्मात् सिद्धं विज्ञानव्यतिरिक्तमात्मज्योतिरन्तरमिति।

विज्ञानातिरिक्त- ग्राह्यग्राहकस्यासत्त्वोपपादनं तन्निरासश्च नन्वस्त्येव बाह्योऽर्थो घटादिः प्रदीपो वा विज्ञानव्यतिरिक्तः, यद्धि यद्व्यतिरेकेण नोपलभ्यते, तत्तावन्मात्रं वस्तु दृष्टम्—यथा स्वप्नविज्ञानग्राह्यं घटपटादिवस्तु स्वप्नविज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भात् स्वप्नघटप्रदीपादेः स्वप्नविज्ञानमात्रतावगम्यते, तथा जागरितेऽपि घटप्रदीपादेर्जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भाज्जाग्रद्विज्ञानमात्रतैव

आलोक न घटका अंश है और न नेत्रका ही; किंतु दीपक घटके समान नेत्रसे ग्राह्य होनेपर भी नेत्र और दीपकसे व्यतिरिक्त बाह्य प्रकाशस्थानीय किसी अन्य करणकी अपेक्षा नहीं करता। इसलिये ऐसा नियम नहीं किया जा सकता कि जहाँ-जहाँ अपनेसे भिन्न वस्तुद्वारा ग्राह्यता होती है, वहाँ-वहाँ कोई अन्य करण होना ही चाहिये। अतः विज्ञानकी व्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यता होनेपर भी न तो करणके कारण और न ग्राहकत्वके द्वारा ही कभी अनवस्था सिद्ध की जा सकती है; अतः विज्ञानसे पृथक् आत्मज्योति दूसरी ही है—यह सिद्ध हुआ।

विज्ञानवादी—किंतु घटादि अथवा दीपक आदि कोई बाह्य पदार्थ विज्ञानसे व्यतिरिक्त तो है ही नहीं, जो वस्तु जिसके बिना उपलब्ध नहीं होती, वह तत्स्वरूप ही देखी गयी है—जिस प्रकार स्वप्नविज्ञानसे गृहीत होनेवाली घट-पटादि वस्तु स्वप्नविज्ञानसे अलग उपलब्ध न होनेके कारण स्वप्नदृष्ट घट-प्रदीपादिकी स्वप्नविज्ञानमात्रता ज्ञात होती है; इसी प्रकार जागरित-अवस्थामें भी घट एवं प्रदीपादिकी जाग्रद्विज्ञानके सिवा उपलब्धि न होनेके कारण जाग्रद्विज्ञान-

युक्ता भवितुम्। तस्मान्नास्ति बाह्योऽर्थो घटप्रदीपादिः, विज्ञानमात्रमेव तु सर्वम्; तत्र यदुक्तम्—विज्ञानस्य व्यतिरिक्तावभास्यत्वाद् विज्ञानव्यतिरिक्तमस्ति ज्योतिरन्तरं घटादेरिवेति, तन्मिथ्या, सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वे दृष्टान्ताभावात्।

मात्रता ही होनी उचित है अतः घट एवं प्रदीपादि बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं, सब कुछ विज्ञानमात्र ही है; ऐसी स्थितिमें जो यह कहा गया कि घटादिके समान विज्ञान भी अपनेसे भिन्न साक्षीद्वारा भास्य है, इसलिये उससे व्यतिरिक्त कोई अन्य ज्योति है, सो यह ठीक नहीं क्योंकि जब सभी विज्ञानमात्र हैं, तो [उससे भिन्न कोई अन्य ज्योति है; इसमें] कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता।

न, यावत्तावदभ्युपगमात्—न तु बाह्योऽर्थो भवता एकान्तेनैव नाभ्युपगम्यते;

सिद्धान्ती—ऐसी बात मत कहो, जहाँतक तुम बाह्यार्थकी सत्ता स्वीकार करते हो वहाँतक तो है ही। तुम सर्वथा ही बाह्यार्थ न मानते हो—ऐसी बात तो है नहीं।

ननु मया नाभ्युपगम्यत एव।

विज्ञान०—हाँ, मैं तो नहीं ही मानता।

न, विज्ञानं घटः प्रदीप इति च शब्दार्थपृथक्त्वाद् यावत्, तावदपि बाह्यमर्थान्तरमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। विज्ञानादर्थान्तरं वस्तु न चेदभ्युपगम्यते, विज्ञानं घटः पट इत्येवमादीनां शब्दानामेकार्थत्वे पर्यायशब्दत्वं प्राप्नोति।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'विज्ञान, घट, प्रदीप' इत्यादि शब्द और इनके अर्थ पृथक् हैं, जबतक ऐसा है, तबतक भी तुम्हें बाह्य अर्थान्तर अवश्य स्वीकार करना होगा। यदि विज्ञानसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं माना जायगा तो विज्ञान, घट, पट इत्यादि शब्दोंका एक (विज्ञानमात्र) ही अर्थ माननेपर इनका पर्याय शब्द होना सिद्ध होगा।

तथा साधनानां फलस्य चैकत्वे, साध्यसाधनभेदोपदेशशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गः; तत्कर्तुरज्ञानप्रसङ्गो वा ।

इस प्रकार साधन और फलकी भी एकता होनेपर तो साध्य-साधनरूप भेदका उपदेश करनेवाले शास्त्रकी व्यर्थताका प्रसङ्ग उपस्थित होगा, तथा उनके रचयिताओंके भी अज्ञानका प्रसङ्ग होगा ।

किञ्चान्यत्—विज्ञानव्यतिरेकेण वादिप्रतिवादिवाददोषाभ्युपगमात्; न ह्यात्मविज्ञानमात्रमेव वादिप्रतिवादिवादस्तद्दोषो वाभ्युपगम्यते, निराकर्तव्यत्वात् प्रतिवाद्यादीनाम्; न ह्यात्मीयं विज्ञानं निराकर्तव्यमभ्युपगम्यते, स्वयं वा आत्मा कस्यचित्; तथा च सति सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः।

इसके सिवा दूसरी बात यह है कि वादी-प्रतिवादीके वाद और दोष ये विज्ञानसे व्यतिरिक्त ही स्वीकार किये जाते हैं; वादी और प्रतिवादीके वाद अथवा दोष—आत्मविज्ञानमात्र ही नहीं स्वीकार किये जाते; क्योंकि प्रतिवादी आदिके लिये इनका निराकरण करना आवश्यक होता है; किंतु किसीके भी लिये अपना विज्ञान अथवा स्वयं आत्मा ही निराकरणके योग्य नहीं होता, यदि ऐसा हो तब तो सब प्रकारके सम्यक् व्यवहारके लोपका ही प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय ।

न च प्रतिवाद्यादयः स्वात्मनैव गृह्यन्त इत्यभ्युपगमः; व्यतिरिक्तग्राह्या हि तेऽभ्युपगम्यन्ते ।

प्रतिवादी आदि विज्ञानरूप आत्मासे ही ग्रहण किये जाते हैं—ऐसा विज्ञानवादीको स्वीकार भी नहीं है; वे अपनेसे भिन्न वादी आदिके द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं—ऐसी मान्यता है। अतः उन्हींके समान सब वस्तुएँ अपनेसे भिन्न ग्राहकद्वारा ही ग्राह्य हैं, क्योंकि वे जाग्रत्के विषय हैं,

तस्मात् तद्वत् सर्वमेव व्यतिरिक्तग्राह्यं वस्तु जाग्रद्विषयत्वात्,

जाग्रद्वस्तु प्रतिवाद्यादिवदिति सुलभो दृष्टान्तः; सन्तत्यन्तरवद् विज्ञानान्तरवच्चेति । तस्माद् विज्ञानवादिनापि न शक्यं विज्ञानव्यतिरिक्तं ज्योतिरन्तरं निराकर्तुम् ।

जाग्रत्-कालकी वस्तु प्रतिवादी आदिके समान, इस प्रकार यह [प्रतिज्ञा और हेतुसहित] दृष्टान्त सुलभ है; इसके सिवा दूसरी संतान तथा दूसरे विज्ञानके समान भी वे वस्तुएँ अपनेसे भिन्न ग्राहकद्वारा ग्रहण करने योग्य हैं[1] । अतः विज्ञानवादी भी विज्ञानसे पृथक् अन्य ज्योतिका निराकरण करनेमें समर्थ नहीं है ।

स्वप्ने विज्ञानव्यतिरेकाभावाद्-युक्तमिति चेन्न, अभावादपि भावस्य वस्त्वन्तरत्वोपपत्तेः भवतैव तावत् स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतम्; तदभ्युपगम्य तद्व्यतिरेकेण घटाद्यभाव उच्यते, स विज्ञानविषयो घटादिर्यद्यभावो यदि वा भावः स्यात्, उभयथापि घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतमेव; न तु तन्निवर्तयितुं शक्यते, तन्निवर्तकन्यायाभावात् ।

यदि कहो कि स्वप्नमें तो विज्ञानके सिवा दूसरी वस्तुका अभाव है तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि अभावसे भी भावका भिन्न वस्तु होना तो सिद्ध होता ही है—स्वप्नमें घटादि विज्ञानकी भावस्वरूपता तो आप भी स्वीकार करते ही हैं, वैसा मानकर ही उससे भिन्न घटादिका अभाव बतलाया जाता है, उस विज्ञानका विषय घटादि अभाव हो अथवा भाव, दोनों ही प्रकार घटादि विज्ञानकी भावरूपता तो मान ही ली गयी, उसका तो निराकरण किया नहीं जा सकता; क्योंकि उसकी निवृत्ति करनेवाली

१. जिस प्रकार व्यवहारमें रामकी संतानसे श्यामकी संतानका तथा असर्वज्ञोंके ज्ञानसे सर्वज्ञके ज्ञानका अनुमान होता है, उसी प्रकार नीलादि पदार्थ और उनके विज्ञानके भेदसे विज्ञान और उनके प्रकाशक आत्मज्योतिके भेदका भी अनुमान किया जा सकता है; अतः विज्ञानवादियोंका मत ठीक नहीं है ।

एतेन सर्वस्य शून्यता प्रत्युक्ता । प्रत्यगात्मग्राह्यता चात्मनोऽहमिति मीमांसकपक्षः प्रत्युक्तः ।

यत्तूक्तम्, सालोकोऽन्यश्चान्यश्च घटो जायत इति, तदसत्, क्षणान्तरेऽपि स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञानात्; सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं कृत्तोत्थितकेशनखादिष्विवेति चेन्न, तत्रापि क्षणिकत्वस्यासिद्धत्वात्, जात्येकत्वाच्च ।

कृत्तेषु पुनरुत्थितेषु च केशनखादिषु केशनखत्वजातेरेकत्वात् केशनखत्वप्रत्ययस्तन्निमित्तोऽभ्रान्त एव । न हि दृश्यमानलूनोत्थितकेशनखादिषु व्यक्तिनिमित्तः स

कोई युक्ति नहीं है। इससे सबकी शून्यताका निराकरण हो गया। तथा आत्मा 'अहम्' इस प्रकार प्रत्यगात्माद्वारा ग्राह्य है-ऐसा मीमांसकोंके पक्षका भी खण्डन हो गया।[1]

ऐसा जो कहा कि प्रकाशसहित दूसरा-दूसरा घट उत्पन्न होता रहता है, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि दूसरे क्षणमें भी 'यह वही घट है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है; यदि कहो कि काट देनेपर पुनः बढ़े हुए केश और नखादिके समान उन घटोंमें समानता होनेके कारण ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है तो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि वहाँ भी उनकी क्षणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती; इसके सिवा उन केश और नखादिकी एक ही जाति होनेके कारण भी ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

काटे हुए और पुनः बढ़े हुए केश और नखादिकी केशत्व और नखत्वरूपसे एक ही जाति होनेके कारण उससे होनेवाली केशत्व और नखत्वकी प्रतीति अभ्रान्त ही है। साक्षात् काटे और बढ़े हुए केश एवं नखादिमें 'यह वही है' ऐसी प्रतीति व्यक्ति-

१. क्योंकि एक ही आत्माका ग्राह्य और ग्राहक उभयरूप होना सम्भव नहीं है।

एवेति प्रत्ययो भवति; कस्यचिद्दीर्घकालव्यवहितदृष्टेषु च तुल्यपरिमाणेषु, तत्कालीनवालादितुल्या इमे केशनखाद्या इतिप्रत्ययो भवति, न तु त एवेति; घटादिषु पुनर्भवति स एवेति प्रत्ययः; तस्मान्न समो दृष्टान्तः।

प्रत्यक्षेण हि प्रत्यभिज्ञायमाने वस्तुनि तदेवेति, न चान्यत्वमनुमातुं युक्तम्, प्रत्यक्षविरोधे लिङ्गस्याभासत्वोपपत्तेः; सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तेश्च, ज्ञानस्य क्षणिकत्वात्; एकस्य हि वस्तुदर्शिनो वस्त्वन्तरदर्शने सादृश्यप्रत्ययः स्यात्; न तु वस्तुदर्शी एको वस्त्वन्तरदर्शनाय क्षणान्तरमवतिष्ठते; विज्ञानस्य क्षणिकत्वात् सकृद्वस्तुदर्शनेनैव क्षयोपपत्तेः।

के लिये (एक-एक नख या केशके लिये) नहीं होती। किसी-किसीको दीर्घकालके पश्चात् देखे हुए समान परिमाणवाले केश-नखादिमें तो ये केश और नखादि उस समयके केश-नखादिके समान हैं—ऐसा प्रत्यय होता है, परंतु 'ये वही हैं' ऐसा नहीं होता; किंतु घटादिमें तो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यय होता है, इसलिये यह (कटकर बढ़े हुए केश आदिका) दृष्टान्त ठीक नहीं है।

यदि किसी वस्तुके विषयमें प्रत्यक्षतया ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह वही है तो उसके अन्य होनेका अनुमान करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध होनेपर लिङ्गका आभासत्व सिद्ध होगा; तथा ज्ञान क्षणिक है, इसलिये सदृशताका भान होना भी सम्भव नहीं है। एक ही वस्तुदर्शीको किसी दूसरी वस्तुके देखनेपर सादृश्य-प्रत्यय हो सकता है; और [तुम्हारे सिद्धान्तानुसार] एक वस्तुदर्शी दूसरी वस्तुको देखनेके लिये दूसरे क्षणमें रहता नहीं है; क्योंकि विज्ञान क्षणिक होनेके कारण उसका एक बार वस्तु देखनेसे ही क्षय होना सिद्ध हो जाता

तेनेदं सदृशमिति हि सादृश्यप्रत्ययो भवति; तेनेति दृष्टस्मरणम् इदमिति वर्तमानप्रत्ययः; तेनेति दृष्टं स्मृत्वा, यावदिदमिति वर्तमानक्षणकालमवतिष्ठेत, ततः क्षणिकवादहानिः; अथ तेनेत्येवोपक्षीणः स्मार्तः प्रत्ययः, इदमिति चान्य एव वार्तमानिकः प्रत्ययः क्षीयते, ततः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तेनेदं सदृशमिति अनेकदर्शिन एकस्याभावात्;

व्यपदेशानुपपत्तिश्च—द्रष्टव्यदर्शनेनैवोपक्षयाद् विज्ञानस्येदं पश्याम्यदोऽद्राक्षमिति व्यपदेशानुपपत्तिः, दृष्टवतो व्यपदेशक्षणानवस्थानात्; अथावतिष्ठेत, क्षणिकवादहानिः; अथादृष्टवतो व्यपदेशः सादृश्यप्रत्ययश्च, तदानीं जात्यन्धस्येव रूपविशेषव्यपदेश-

है, यह उसके समान है' ऐसा सादृश्यप्रत्यय हुआ करता है, 'उसके' यह पहले देखे हुएका स्मरण है और 'यह' इस पदसे वर्तमानकी प्रतीति होती है; यदि 'तेन' इस प्रकार पहले देखे हुएको स्मरण रखकर देखनेवाला 'इदम्' ऐसे अनुभवपर्यन्त वर्तमान क्षणकालतक रहेगा तो क्षणिकवादकी हानि होगी; और यदि 'तेन' इतनेहीसे स्मृतिज्ञान क्षीण हो गया और 'इदम्' ऐसा दूसरा ही वार्तमानिक ज्ञान क्षीण होता है तो ऐसी अवस्थामें सादृश्यज्ञान होना सम्भव नहीं है, 'क्योंकि यह उसके समान है' इस प्रकार [इस और उस] अनेक वस्तुओंको देखनेवाला कोई एक नहीं है।

[विज्ञानकी क्षणिकता माननेपर] व्यवहारकी भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विज्ञान तो द्रष्टव्यको देखकर ही क्षीण हो जाता है। 'मैं यह देखता हूँ' 'मैंने इसे देखा' ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं है, क्योंकि जो देखनेवाला है, वह ऐसा कहनेके क्षणमें नहीं रहता; यदि मानें कि रहता है तो क्षणिकवादकी हानि होती है; यदि वह कथन न देखनेवालेका है और कहो कि उसीको सादृश्यप्रत्यय होता है तो उस अवस्थामें वह जन्मान्धक

स्वतत्सादृश्यप्रत्ययश्च, सर्वमन्धपरम्परेति प्रसज्येत सर्वज्ञशास्त्रप्रणयनादि; न चैतदिष्यते; अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषौ तु प्रसिद्धतरौ क्षणवादे ।

रूप-विशेषकथन और उसीका सादृश्यज्ञान होगा; तब तो सर्वज्ञ बुद्धके शास्त्रप्रणयनादि सब-के-सब अन्धपरम्परा ही हैं—ऐसा कहनेका प्रसंग होगा और यह बात इष्ट नहीं है; इस क्षणिकवादमें बिना कियेकी प्राप्ति और किये हुएका नाश—ये दो दोष तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

दृष्टव्यपदेशहेतुः पूर्वोत्तरसहित एक एव हि शृङ्खलावत् प्रत्ययो जायत इति चेत्, 'तेनेदं सदृशम्' इति च; न वर्तमानातीतयोर्भिन्नकालत्वात्—तत्र वर्तमानप्रत्यय एकः शृङ्खलावयवस्थानीयः, अतीतश्चापरः, तौ प्रत्ययौ भिन्नकालौ; तदुभयप्रत्ययविषयस्पृक् चेच्छृङ्खलाप्रत्ययः, ततः क्षणद्वयव्यापित्वादेकस्य विज्ञानस्य पुनः क्षणवादहानिः; ममतवतादिविशेषानुपपत्तेश्च सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः ।

पूर्वदृष्टके निर्देशका हेतु पूर्वोत्तर प्रत्ययसे युक्त शृङ्खलाके समान एक ही ज्ञान होता है तथा 'उसके समान यह है' ऐसा भी प्रत्यय होता है—यदि यह कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमान और भूत तो भिन्न काल हैं—उनमें शृङ्खलाका अवयवरूप एक वर्तमान प्रत्यय है और दूसरा अतीत प्रत्यय है। वे दोनों प्रत्यय भिन्नकालिक हैं; यदि वह शृङ्खलाके समान प्रत्यय उन दोनों प्रत्ययोंके विषयोंको स्पर्श करनेवाला है तो एक ही विज्ञानके दो क्षणोंमें व्यापक होनेके कारण पुनः क्षणिकवादकी हानि होती है तथा मेरा-तेरा आदि भेदकी उपपत्ति न होनेके कारण सम्पूर्ण व्यवहारके लोपका प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

सर्वस्य च स्वसंवेद्यविज्ञानमात्रत्वे, विज्ञानस्य च स्वच्छाववो-

सब स्वसंवेद्य विज्ञानमात्र होनेपर तथा विज्ञानको स्वच्छ ज्ञानप्रकाश-

स्वच्छावभासमात्रस्वाभाव्याभ्युपगमात्, तद्दर्शिनश्चान्यस्याभावे, अनित्यदुःखशून्यानात्मत्वाद्यनेककल्पनानुपपत्तिः। न च दाडिमादेरिव विरुद्धानेकांशवत्त्वं विज्ञानस्य, स्वच्छावभासस्वाभाव्याद् ज्ञानस्य। अनित्यदुःखादीनां विज्ञानांशत्वे च सति—अनुभूयमानत्वाद् व्यतिरिक्तविषयत्वप्रसङ्गः।

अथ अनित्यदुःखाद्यात्मैकत्वमेव विज्ञानस्य, तदा तद्वियोगाद् विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः; संयोगिमलवियोगाद्धि विशुद्धिर्भवति, यथा आदर्शप्रभृतीनाम्; न तु स्वाभाविकेन धर्मेण कस्यचिद् वियोगो दृष्टः; न ह्यग्नेः स्वाभाविकेन प्रकाशेन औष्ण्येन वा वियोगो

स्वरूप माननेपर यदि उसके साक्षी किसी अन्य पदार्थकी सत्ता नहीं मानी जायगी तो उसमें अनित्यत्व, दुःखत्व, शून्यत्व और अनात्मत्व आदि अनेकों कल्पनाओंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अनार आदिके समान विज्ञान बहुत-से विरुद्ध अंशोंसे युक्त हो - ऐसी बात भी है नहीं, क्योंकि विज्ञान तो स्वच्छ प्रकाशस्वरूप है। यदि अनित्य दुःखादिको विज्ञानका अंश माना जाय तो अनुभूत होनेवाले होनेके कारण उन्हें किसी दूसरेका विषय माननेका प्रसङ्ग होगा।[1]

और यदि विज्ञानको अनित्य दुःखादिरूप ही माना जाय तो उनकी निवृत्तिद्वारा उसकी विशुद्धिकी कल्पना करनी सम्भव नहीं है, क्योंकि विशुद्धि तो लगे हुए मलको दूर करनेसे ही होती है, जैसे कि दर्पणादिकी; किंतु अपने स्वाभाविक धर्मसे किसीका भी वियोग होता नहीं देखा जाता; अग्निका अपने स्वाभाविक प्रकाश अथवा उष्णतासे वियोग

१. क्योंकि विज्ञान ही अनुभव करनेवाला और अनित्यत्वादि विज्ञानके अंश ही उसके अनुभवके विषय हों—यह सम्भव नहीं है। कारण प्रमेय और प्रमाणका अंशांशिभाव अथवा धर्म-धर्मिभाव किसी भी प्रकार नहीं हो सकता, वे अवश्य पृथक्-पृथक् ही होने चाहिये।

दृष्टः; यदपि पुष्पगुणानां रक्तत्वादीनां द्रव्यान्तरयोगेन वियोजनं दृश्यते, तत्रापि संयोगपूर्वत्वमनुमीयते—बीजभावनया पुष्पफलादीनां गुणान्तरोत्पत्तिदर्शनात्; अतो विज्ञानस्य विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः ।

होता कभी नहीं देखा गया; पुष्पके गुण लालिमादिका जो अन्य द्रव्योंके योगसे वियोग होता देखा जाता है, वहाँ भी उनकी संयोगपूर्वताका अनुमान किया जाता है, क्योंकि बीजकी भावनासे (संस्कारसे) पुष्प एवं फलादिमें अन्य गुणोंकी उत्पत्ति होती देखी जाती है; अतः [अनित्य दुःख आदिको विज्ञानका स्वरूप माननेपर] विज्ञानके विशुद्ध (दुःखादिरहित) होनेकी कल्पना असम्भव होगी ।

विषयविषय्याभासत्वं च यन्मलं परिकल्प्यते विज्ञानस्य, तदप्यन्यसंसर्गाभावादनुपपन्नम्; न ह्यविद्यमानेन विद्यमानस्य संसर्गः स्यात्; असति चान्यसंसर्गे यो धर्मो यस्य दृष्टः, स तत्स्वभावत्वान्न तेन वियोगमर्हति—यथाग्नेरौष्ण्यम्, सवितुर्वा प्रभा; तस्मादनित्यसंसर्गेण मलिनत्वं तद्विशु-

विज्ञानके विषय और विषयीरूपसे प्रकाशित होनारूप जिस मलकी कल्पना की जाती है, वह भी दूसरेका संसर्ग न होनेपर सम्भव नहीं है; और जो पदार्थ है ही नहीं, उससे किसी विद्यमान वस्तुका संसर्ग हो नहीं सकता;[1] इस प्रकार यदि किसी दूसरेका संसर्ग नहीं है तो जो जिसका धर्म देखा गया है, वह उसका स्वभाव होनेके कारण उससे वियुक्त नहीं हो सकता; जैसे अग्निकी उष्णता और सूर्यकी प्रभा; अतः अनित्य वस्तुओंके संसर्गसे विज्ञानकी

१. विज्ञानवादीके मतमें विज्ञानसे भिन्न किसी अन्य वस्तुकी सत्ता है ही नहीं, इसलिये विद्यमान वस्तु विज्ञानका किसी भी अविद्यमान पदार्थसे संसर्ग होना सर्वथा असम्भव है ।

द्धिश्च विज्ञानस्येतीयं कल्पना अन्धपरम्परैव प्रमाणशून्येत्यव-गम्यते ।

यदपि तस्य विज्ञानस्य निर्वाणं पुरुषार्थं कल्पयन्ति, तत्रापि फलाश्रयानुपपत्तिः; कण्टकविद्धस्य हि कण्टकवेध-जनितदुःखनिवृत्तिः फलम्; न तु कण्टकविद्धमरणे तद्दुःख-निवृत्तिफलस्याश्रय उपपद्यते; तद्वत् सर्वनिर्वाणे, असति च फलाश्रये, पुरुषार्थकल्पना व्यर्थैव; यस्य हि पुरुषशब्द-वाच्यस्य सत्त्वस्य आत्मनो विज्ञानस्य चार्थः परिकल्प्यते, तस्य पुनः पुरुषस्य निर्वाणे कस्यार्थः पुरुषार्थ इति स्यात् ।

यस्य पुनरस्त्यनेकार्थदर्शी विज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा, तस्य दृष्टस्मरणदुःखसंयोगवियोगादि

मलिनता और [उनके वियोगसे] विशुद्धि होती है—यह कल्पना अन्धपरम्परा ही है तथा इसका कोई प्रमाण भी नहीं है—ऐसा ज्ञात होता है ।

इसके सिवा उस विज्ञानका निर्वाण ही पुरुषार्थ है—ऐसी जो वे कल्पना करते हैं, उसमें भी कोई उस फलका आश्रय होना सम्भव नहीं है; जो काँटेसे बिंधा हुआ है, उसीको कण्टकवेधजनित दुःखकी निवृत्तिरूप फल मिल सकता है; यदि कण्टकविद्ध मर जाय तो वह उस दुःखनिवृत्तिरूप फलका आश्रय नहीं हो सकता; इसी प्रकार सबकी निवृत्ति हो जानेपर कोई फलका आश्रय न रहनेके कारण पुरुषार्थकी कल्पना करना व्यर्थ ही है; क्योंकि जिस 'पुरुष' शब्दवाच्य जीव, आत्मा अथवा विज्ञानका अर्थ कल्पना किया जाता है, उस पुरुषका ही निर्वाण हो जानेपर किसके अर्थको 'पुरुषार्थ' ऐसा कहा जायगा ।

हाँ, जिसके मतमें अनेकों अर्थों-का साक्षी विज्ञानसे व्यतिरिक्त कोई आत्मा है, उसके सिद्धान्तानुसार देखे हुएका स्मरण, दुःखके संयोग-

सर्वमेवोपपन्नम्, अन्यसंयोगनिमित्तं कालुष्यम्, तद्वियोगनिमित्ता च विशुद्धिरिति। शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते ॥ ७ ॥

वियोगादि, दूसरेके संयोगके कारण होनेवाली मलिनता और उसके वियोगसे होनेवाली शुद्धि–ये सभी हो सकते हैं। किंतु शून्यवादीका पक्ष तो सभी प्रमाणोंसे विरुद्ध है, अतः उसके निराकरणके लिये और प्रयत्न नहीं किया जाता ॥ ७ ॥

आत्मा जन्म और मरणके साथ देहेन्द्रियरूप पापको ग्रहण और त्याग करता है

यथैवेहैकस्मिन् देहे स्वप्नो भूत्वा मृत्यो रूपाणि कार्यकरणान्यतिक्रम्य स्वप्ने स्व आत्मज्योतिष्यास्ते, एवम्—

जिस प्रकार यहाँ एक देहमें स्वप्न होकर आत्मा मृत्युके रूप देह और इन्द्रियोंका अतिक्रमण कर स्वप्नमे अपने आत्मज्योतिःस्वरूपमें ही स्थित रहता है, उसी प्रकार—

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

वह यह पुरुष जन्म लेते समय शरीरको आत्मभावसे प्राप्त होता हुआ पापोंसे (देह और इन्द्रियोंसे) संश्लिष्ट हो जाता है तथा मरते समय—उत्क्रमण करते समय पापोंको त्याग देता है ॥ ८ ॥

स वै प्रकृतः पुरुषोऽयं जायमानः-कथं जायमानः? इत्युच्यते-शरीरं देहेन्द्रियसंघातमभिसम्पद्यमानः, शरीरे आत्मभावमापद्यमान इत्यर्थः, पाप्मभिः पाप्मसमवायिभिर्धर्माधर्माश्रयैः कार्यकरणैः

वह यह प्रकृत पुरुष जन्म लेते समय; किस प्रकार जन्म लेते समय ? सो बतलाया जाता है—शरीर यानी देहेन्द्रियसंघातको प्राप्त होता हुआ अर्थात् शरीरमें आत्मभाव करता हुआ, पापोंसे अर्थात् पापके समवायी कारण धर्म और अधर्मके आश्रयभूत देह

रित्यर्थः, संसृज्यते संयुज्यते, स एवोत्क्रामञ्छरीरान्तरमूर्ध्वं क्रामन् गच्छन् म्रियमाण इत्येतस्य व्याख्यानमुत्क्रामन्निति। तानेव संश्लिष्टान् पाप्मरूपान् कार्यकरणलक्षणान्, विजहाति तैर्वियुज्यते, तान् परित्यजति।

यथायं स्वप्नजाग्रद्वृत्त्योर्वर्तमाने एवैकस्मिन् देहे पाप्मरूपकार्यकरणोपादानपरित्यागाभ्यामनवरतं संचरति धिया समानः सन्, तथा सोऽयं पुरुषः उभाविहलोकपरलोकौ जन्ममरणाभ्यां कार्यकरणोपादानपरित्यागौ अनवरतं प्रतिपद्यमानः, आ संसारमोक्षात् संचरति। तस्मात् सिद्धमस्य आत्मज्योतिषोऽन्यत्वं कार्यकरणरूपेभ्यः पाप्मभ्यः, संयोगवियोगाभ्याम्, न हि तद्धर्मत्वे सेति, तैरेव संयोगो वियोगो वा युक्तः ॥ ८ ॥

और इन्द्रियोंसे संसृष्ट—संयुक्त हो जाता है। तथा वही उत्क्रमण करते समय—शरीरान्तरप्राप्तिके लिये ऊपरकी ओर जाते समय, श्रुतिमें 'म्रियमाणः' (मरते समय) इस पदकी ही व्याख्या 'उत्क्रामन्' इस पदसे की गयी है. उन संश्लिष्ट देहेन्द्रियरूप पापरूपोंको त्याग देता है उनसे विमुख हो जाता है अर्थात् उन्हें छोड़ देता है।

जिस प्रकार यह जीव, इस एक वर्तमान शरीरमें ही बुद्धिकी समानताको प्राप्त होकर स्वप्न और जाग्रत् दोनों वृत्तियोंमें पापरूप देह तथा इन्द्रियोंका ग्रहण और त्याग करता हुआ निरन्तर संचार करता रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष जन्म और मरणके द्वारा देहेन्द्रियका निरन्तर ग्रहण और त्याग करता हुआ इहलोक और परलोक दोनोंमें तबतक संचार करता रहता है, जबतक इस संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हो जाता। अतः इन संयोग और वियोगके कारण इस आत्मज्योतिका देहेन्द्रियरूप पापोंसे अन्यत्व सिद्ध होता है; उन्हींका धर्म होनेपर तो इसका उन्हींसे संयोग या वियोग होना बन ही नहीं सकता ॥ ८ ॥

आत्माके दो स्थानोंका वर्णन

ननु न स्तोऽस्योभौ लोकौ, यौ जन्ममरणाभ्यामनुक्रमेण संचरति स्वप्नजागरिते इव, स्वप्नजागरिते तु प्रत्यक्षमवगम्येते, न त्विहलोकपरलोकौ केनचित् प्रमाणेन, तस्मादेते एव स्वप्नजागरिते इहलोकपरलोकौ। इत्युच्यते—

किंतु स्वप्न और जाग्रत्के समान यह पुरुष जन्म और मरणके द्वारा क्रमशः जिनमें संचार करता है, इसके वे दोनों लोक तो हैं नहीं; स्वप्न और जाग्रत् तो प्रत्यक्ष जाने जाते हैं, किंतु इहलोक और परलोकका तो किसी भी प्रमाणसे ज्ञान नहीं होता, अतः ये स्वप्न और जागरित ही इहलोक और परलोक हैं। इसपर कहा जाता है—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन् संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाꣳश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

उस इस पुरुषके दो ही स्थान हैं—यह लोक और परलोकसम्बन्धी स्थान; तीसरा स्वप्नस्थान संध्यस्थान है। उस संध्यस्थानमें स्थित रहकर यह इस लोकरूप स्थान और परलोकस्थान—इन दोनोंको देखता है। यह पुरुष परलोकस्थानके लिये जैसे साधनसे सम्पन्न होता है, उस साधनका आश्रय लेकर यह पाप (पापका फलरूप दुःख) और आनन्द दोनों-

हीको देखता है। जिस समय यह सोता है, उस समय इस सर्वावान् लोककी मात्रा (एकदेश) को लेकर, स्वयं ही इस स्थूलशरीरको अचेत करके तथा स्वयं अपने वासनामय देहको रचकर, अपने प्रकाशसे अर्थात् अपने ज्योतिःस्वरूपसे शयन करता है; इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयं ज्योतिःस्वरूप होता है ॥ ९ ॥

तस्यैतस्य पुरुषस्य वै द्वे एव स्थाने भवतः, न तृतीयं चतुर्थं वा, के ते? इदं च यत् प्रतिपन्नं वर्तमानं जन्म शरीरेन्द्रियविषयवेदनाविशिष्टं स्थानं प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानम्, परलोक एव स्थानं परलोकस्थानम्—तच्च शरीरादिवियोगोत्तरकालानुभाव्यम्।

उस इस पुरुषके निश्चय दो ही स्थान होते हैं; न तो तीसरा होता है और न चौथा ही। वे कौन-से हैं? यह जो प्राप्त वर्तमान जन्म है, अर्थात् जो शरीर, इन्द्रिय, विषय और वेदनायुक्त प्रत्यक्षतया अनुभव होनेवाला स्थान है तथा परलोक-स्थान—जिसमें परलोक ही स्थान है; वह शरीरादिके वियोगके पश्चात् अनुभव होनेवाला है।

ननु स्वप्नोऽपि परलोकः, तथा च सति द्वे एवेत्यवधारणमयुक्तम्।

शङ्का—किंतु स्वप्न भी तो परलोक है और यदि ऐसी बात है तो दो ही इस प्रकार निश्चय करना उचित नहीं है।

न, कथं तर्हि? संध्यं तत्—इहलोकपरलोकयोर्यः संधिस्तस्मिन् भवं संध्यं यत् तृतीयं तत् स्वप्नस्थानम्, तेन स्थानद्वित्वावधारणम्, न हि ग्रामयोः संधिस्तावेव ग्रामावपेक्ष्य तृतीयत्वपरिगणनमर्हति।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, तो फिर कैसी बात है? वह संध्य है—इहलोक और परलोककी जो संधि है, उसमें रहनेवाला जो तीसरा संध्यस्थान है, वह स्वप्नस्थान है। इसीसे स्थानोंके दो होनेका निश्चय किया गया है; क्योंकि दो ग्रामोंकी संधि उन ग्रामोंकी अपेक्षा तृतीयरूपसे गिनने योग्य नहीं मानी जाती।

कथं पुनस्तस्य परलोकस्थानस्यास्तित्वमवगम्यते ? यदपेक्ष्य स्वप्नस्थानं संध्यं भवेत्—यतस्तस्मिन् संध्ये स्वप्नस्थाने तिष्ठन् भवन् वर्तमानः एते उभे स्थाने पश्यति; के ते उभे ? इदं च परलोकस्थानं च। तस्मात् स्तः स्वप्नजागरितव्यतिरेकेणोभौ लोकौ, यौ धिया समानः सन्ननुसंचरति जन्ममरणसंतानप्रबन्धेन।

किंतु उस परलोकस्थानके अस्तित्वका ज्ञान कैसे होता है ? जिसकी अपेक्षासे स्वप्नस्थान संध्यस्थान होता है ? [इसका उत्तर देते हैं] क्योंकि उस संध्य स्वप्नस्थानमें स्थित अर्थात् वर्तमान रहकर पुरुष इन दोनों स्थानोंको देखता है; वे दोनों स्थान कौन-से हैं ?—यह लोकरूप स्थान और परलोकस्थान। अतः स्वप्न और जागरितसे भिन्न दोनों लोक हैं ही, जिनमें कि अपनी बुद्धिकी समानताको प्राप्त होकर पुरुष जन्म-मरणपरम्पराके क्रमसे निरन्तर संचार करता रहता है।

स्वप्नस्थपुरुषस्योभयस्थानावलोकनप्रकारः

कथं पुनः स्वप्ने स्थितः सन्नुभौ लोकौ पश्यति किमाश्रयः, केन विधिना ? इत्युच्यते—अथ कथं पश्यति ? इति शृणु—यथाक्रम आक्रामत्यनेनेत्याक्रमः—आश्रयोऽवष्टम्भ इत्यर्थः। यादृश आक्रमोऽस्य, सोऽयं यथाक्रमः; अयं पुरुषः परलोकस्थाने प्रतिपत्तव्ये निमित्ते, यथाक्रमो भवति यादृशेन परलोकप्रतिपत्तिसाधनेन विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणेन युक्तो

किंतु पुरुष स्वप्नमें स्थित रहकर किस प्रकार, किस आश्रयमें रहकर और किस विधिसे दोनों लोकोंको देखता है ? सो बतलाया जाता है—अब वह किस प्रकार देखता ? है सो सुनो—'यथाक्रम', जिससे जीव आक्रमण करता है, उसे आक्रम-आश्रय अर्थात् अवष्टम्भ (आधार) कहते हैं। इस जीवका जैसा आक्रम हो, उसके अनुसार यह 'यथाक्रम' कहलाता है; यह पुरुष अपने प्राप्त करने योग्य परलोकस्थानरूप निमित्तमें जैसे आक्रमवाला होता है अर्थात् विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञारूप जिस प्रकारके परलोकप्राप्तिके साधनसे

भवतीत्यर्थः; तमाक्रमं परलोकस्थानायोन्मुखीभूतं प्राप्ताङ्कुरीभावमिव बीजं तमाक्रममाक्रम्यावष्टभ्याश्रित्योभयान् पश्यति —बहुवचनं धर्माधर्मफलानेकत्वात्—उभयानुभयप्रकारानित्यर्थः ।

कांस्तान् ? पाप्मनः पापफलानि—न तु पुनः साक्षादेव पाप्मनां दर्शनं सम्भवति, तस्मात् पापफलानि दुःखानीत्यर्थः—आनन्दांश्च धर्मफलानि सुखानीत्येतत्, तानुभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति जन्मान्तरदृष्टवासनामयान्; यानि च प्रतिपत्तव्यजन्मविषयाणि क्षुद्रधर्माधर्मफलानि, धर्माधर्मप्रयुक्तो देवतानुग्रहाद्वा पश्यति ।

तत् कथमवगम्यते परलोकस्थानभावितपाप्मानन्ददर्शनं स्वप्ने ? इत्युच्यते — यस्मादिह जन्मन्यननुभाव्यमपि पश्यति बहु; न च स्वप्नो नामापूर्वं दर्शनम्;

युक्त होता है, उस आक्रमको—अङ्कुरभावको प्राप्त हुए बीजके समान परलोकस्थानके प्रति उन्मुख हुए उस आक्रमको आक्रान्त कर, उसका अवष्टम्भ अर्थात् आश्रय लेकर दोनों लोकोंको देखता है। 'उभयान्' इस पदमें बहुवचन धर्माधर्मके फलोंकी अनेकताके कारण है।[1] उभयान् अर्थात् उभय प्रकारके।

उनको किनको ? पापोंको अर्थात् पापके फलोंको। साक्षात् पापोंका ही दर्शन होना तो सम्भव है नहीं, इसलिये पापोंके फल अर्थात् दुःखोंको और आनन्दोंको अर्थात् धर्मके फलरूप सुखोंको—इन जन्मान्तरदृष्ट वासनाओंके कार्य पाप (दुःख) और आनन्द दोनोंहीको देखता है। इनके सिवा, जो प्राप्त होनेवाले जन्मोंसे सम्बद्ध धर्म और अधर्मोंके क्षुद्र फल हैं, उन्हें भी धर्माधर्मसे प्रेरित होकर अथवा देवताके अनुग्रहसे देखता है।

किंतु यह कैसे जाना जाता है कि स्वप्नमें परलोकस्थानमें होनेवाले सुखदुःखोंका दर्शन होता है; सो बतलाया जाता है—क्योंकि जिनका इस जन्ममें अनुभव नहीं हो सकता, ऐसी भी बहुत-सी बातें देखता है; और स्वप्न अपूर्वदर्शन हो—ऐसी बात है नहीं,

---

१. क्योंकि वे दोनों लोक हैं तो धर्माधर्मके परिणाम ही ।

पूर्वदृष्टस्मृतिर्हि स्वप्नः प्रायेण; तेन स्वप्नजागरितस्थानव्यतिरेकेण एव उभौ लोकौ।

अधिकतर तो पहले देखे हुएकी स्मृतिका नाम ही स्वप्न है। अतः दोनों लोक स्वप्न और जागरित-स्थानोंसे भिन्न हैं।

यदादित्यादिबाह्यज्योतिषामभावेऽयं कार्यकरणसंघातः पुरुषः येन व्यतिरिक्तेन आत्मना ज्योतिषा व्यवहरतीत्युक्तम्—तदेव नास्ति, यद् आदित्यादिज्योतिषामभावगमनम्, यत्रेदं विविक्तं स्वयंज्योतिरुपलभ्येत; येन सर्वदैवायं कार्यकरणसंघातः संसृष्ट एवोपलभ्यते तस्मादसत्समोऽसन्नेव वा स्वेन विविक्तस्वभावेन ज्योतीरूपेणात्मेति। अथ क्वचिद् विविक्तः स्वेन ज्योतीरूपेणोपलभ्येत बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकसंसर्गशून्यः, ततो यथोक्तं सर्वं भविष्यतीत्येतदर्थमाह—

जिन आदित्यादि बाह्यज्योतियोंके अभावमें यह देहेन्द्रियसंघातरूप पुरुष जिस अपनेसे भिन्न आत्मज्योतिके द्वारा व्यवहार करता है—ऐसा कहा गया है, सो उन आदित्यादि ज्योतियोंका जो अभाव होना है, जहाँ कि इस विशुद्ध स्वयंज्योति आत्माकी उपलब्धि होती है, वह स्थान ही नहीं है; क्योंकि यह देहेन्द्रियसंघात सर्वदा बाह्यज्योतियोंसे संश्लिष्ट ही देखा जाता है; अतः अपने विविक्तस्वभाव ज्योतीरूपसे यह आत्मा असत्के समान अर्थात् असत् ही है। यदि यह कभी बाह्य, आध्यात्मिक तथा भूत और भौतिक पदार्थोंके संसर्गसे शून्य अपने विशुद्ध ज्योतिःस्वरूपसे उपलब्ध होता तो ऊपर कहा हुआ सब कुछ हो सकता था—इसलिये श्रुति कहती है—

स यः प्रकृत आत्मा यत्र यस्मिन् काले प्रस्वपिति प्रकर्षेण स्वापमनुभवति; तदा किमुपादानः

जो प्रकृत आत्मा है, वह जिस समय 'प्रस्वपिति'—प्रकर्षतया स्वाप (निद्रा) का अनुभव करता है, उस समय वह किस उपादानवाला होकर

केन विधिना स्वपिति संध्यं स्थानं प्रतिपद्यते ? इत्युच्यते— अस्य दृष्टस्य लोकस्य जागरितलक्षणस्य, सर्वावतः सर्वमवतीति सर्वावानयं लोकः कार्यकरणसंघातो विषयवेदनासंयुक्तः; सर्वावत्त्वमस्य व्याख्यातमन्नत्रयप्रकरणे "अथो अयं वा आत्मा" इत्यादिना । सर्वा वा भूतभौतिकमात्रा अस्य संसर्गकारणभूता विद्यन्त इति सर्ववान्, सर्ववानेव सर्वावान्, तस्य सर्वावतो मात्रामेकदेशमवयवम्, अपादायापच्छिद्य आदाय गृहीत्वा—दृष्टजन्मवासनावासितः सन्नित्यर्थः स्वयमात्मनैव विहत्य देहं पातयित्वा निःसम्बोधमापाद्य—जागरिते ह्यादित्यादीनां चक्षुरादिष्वनुग्रहो देहव्यवहारार्थः, देहव्यवहारश्चात्मनो धर्माधर्मफलोपभोगप्रयुक्तः, तद्धर्माधर्मफलोपभोगोपरमणमस्मिन् देहे आत्मकर्मोपरमकृतमित्यात्मास्य

किस विधिसे सोता यानी संध्यस्थानको प्राप्त होता है ? सो बतलाया जाता है—इस जागरितरूप दृष्ट लोकको सर्वावान्—जो सबका अवन (पालन) करता है, वह यह लोक अर्थात् विषय एवं सुखदुःखादि वेदनायुक्त देहेन्द्रियसंघात, इसके सर्वावत्त्वकी व्याख्या "अथो अयं वा आत्मा" इत्यादि वाक्यद्वारा अन्नत्रयके प्रकरणमें कर दी गयी है। अथवा सम्पूर्ण भूत भौतिक मात्रा [अध्यात्मादि भागोंके साथ] इसके संसर्गकी कारणभूता है, इसलिये यह सर्ववान् है और सर्ववान् ही 'सर्वावान्' कहा गया है, उस सर्वावान्की मात्रा—एकदेश अर्थात् अवयवका अपादान—अपच्छेदन—आदान अर्थात् ग्रहण कर यानी दृष्ट जन्मकी वासनाओंसे सम्पन्न हो, स्वयं अर्थात् आप ही देहको विहत—चेतनाशून्य कर—जागरित अवस्थामें ही देहके व्यवहारके लिये चक्षु आदि इन्द्रियोंमें आदित्यादिका उपकार होता है और देहका व्यवहार आत्माके धर्म-धर्मके फलोपभोगके कारण होता है, तथा इस देहमें वह धर्माधर्मके फलोपभोगकी उपरति आत्माके कर्मकी उपरतिके कारण है, इसलिये आत्मा

विहन्तेत्युच्यते—स्वयं निर्माय निर्माणं कृत्वा वासनामयं स्वप्नदेहं मायामयमिव, निर्माणमपि तत्कर्मापेक्षत्वात् स्वयंकर्तृकमुच्यते—स्वेन आत्मीयेन, भासा मात्रोपादानलक्षणेन भासा दीप्त्या प्रकाशेन, सर्ववासनात्मकेन अन्तःकरणवृत्तिप्रकाशेनेत्यर्थः—सा हि तत्र विषयभूता सर्ववासनामयी प्रकाशते, सा तत्र स्वयं भा उच्यते—तेन स्वेन भासा विषयभूतेन, स्वेन च ज्योतिषा तद्विषयिणा विविक्तरूपेण अलुप्तदृक्स्वभावेन तद् भारूपं वासनात्मकं विषयीकुर्वन् प्रस्वपिति। यदेवं वर्तनम्, तत् प्रस्वपितीत्युच्यते।

अत्रैतस्यामवस्थायाम् एतस्मिन् काले, अयं पुरुष आत्मा, स्वयमेव विविक्तज्योतिर्भवति—बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकसंसर्गरहितं ज्योतिर्भवति।

इसका हनन करनेवाला कहा जाता है—तथा स्वयंनिर्माण कर—मायामयके समान वासनामय स्वप्नदेह रचकर [शयन करता है।] देहका निर्माण भी आत्माके कर्मोंकी अपेक्षासे है, इसलिये वह आत्मकर्तृक कहा गया है। स्वकीय यानी अपने भाससे—मात्रोपादानरूपभास—दीप्ति अर्थात् प्रकाशसे यानी सर्ववासनात्मक अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रकाशसे, क्योंकि वह सर्ववासनामयी वृत्ति ही वहाँ विषयभूता होकर प्रकाशित होती है, उस अवस्थामें वह स्वयं भा (प्रकाश) कही जाती है। उस अपनी विषयभूता भासे तथा उसको विषय करनेवाली विशुद्धरूपा [1]अलुप्तदृक्स्वभावा आत्मज्योतिसे उस अपने वासनात्मक प्रकाशस्वरूपको विषय करता हुआ प्रस्वाप (शयन) करता है। इस प्रकार जो रहना है, वही 'प्रस्वपिति' ऐसा कहा जाता है।

यहाँ—इस अवस्थामें—इस कालमें यह पुरुष अर्थात् आत्मा स्वयं ही विशुद्धज्योतिःस्वरूप होता है अर्थात् बाह्य आध्यात्मिक भूत एवं भौतिक संसर्गसे रहित ज्योति होता है।

1. जिसके बोधस्वरूप या साक्षीस्वभावका कभी लोप नहीं हुआ है।



नन्वस्य लोकस्य मात्रोपादानं कृतम्, कथं तस्मिन् सत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीत्युच्यते? नैष दोषः; विषयभूतमेव हि तत्, तेनैव चात्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्दर्शयितुं शक्यः; न त्वन्यथासति विषये कस्मिंश्चित् सुषुप्तकाल इव; यदा पुनः सा भा वासनात्मिका विषयभूता उपलभ्यमाना भवति, तदा असिः कोशादिव निष्कृष्टः सर्वसंसर्गरहितं चक्षुरादिकार्यकरणव्यावृत्तस्वरूपमलुप्तदृगात्मज्योतिः स्वेन रूपेणावभासयद् गृह्यते। तेनात्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीति सिद्धम् ॥ ९ ॥

शङ्का-किंतु इसने तो इस लोककी [विषय-वेदनासंयुक्त] मात्राको ग्रहण किया है; फिर उसके रहते हुए यह पुरुष स्वयंज्योति होता है—ऐसा कैसे कहा जाता है?

समाधान-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह मात्रा तो विषयभूता ही होती है। इसीलिये यहाँ यह पुरुष [आत्मा] 'स्वयंज्योतिः' स्वरूपसे दिखाया जा सकता है, नहीं तो सुषुप्तावस्थाके समान, जब कि कोई भी विषय नहीं रहता, इस स्वयंज्योतिका दर्शन नहीं कराया जा सकता। और जिस समय कि वह वासनात्मिका ज्योति विषयभूता होकर उपलब्ध होती है, उस समय म्यानसे निकाली हुई तलवारके समान सर्वसंसर्गशून्य, चक्षु आदि कार्य-करणसे व्यावृत्तस्वरूप तथा जिसके बोध-स्वभावका कभी लोप नहीं होता, वह आत्मज्योति अपने स्वरूपसे प्रकाश करती हुई स्वयं गृहीत होती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता है॥ ९ ॥

स्वप्नावस्थामें रथादिका अभाव है, इसलिये उस समय आत्मा स्वयंज्योति है

नन्वत्र कथं पुरुषः स्वयंज्योतिर्येन जागरित इव ग्राह्यग्राहका-

शङ्का-किंतु इस अवस्थामें पुरुष स्वयंज्योति कैसे हो सकता है? क्योंकि जागरितके समान इस समय

दिलक्षणःसर्वो व्यवहारो दृश्यते, चक्षुराद्यनुग्राहकाश्च आदित्याद्या लोकास्तथैव दृश्यन्ते यथा जागरिते—तत्र कथं विशेषावधारणं क्रियते - अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीति ?

उच्यते—वैलक्षण्यात् स्वप्नदर्शनस्य; जागरिते हि इन्द्रियबुद्धिमनआलोकादिव्यापारसंकीर्णमात्मज्योतिः; इह तु स्वप्ने इन्द्रियाभावात् तदनुग्राहकादित्याद्यालोकाभावाच्च विविक्तं केवलं भवति तस्माद् विलक्षणम् ।

ननु तथैव विषया उपलभ्यन्ते स्वप्नेऽपि, यथा जागरिते; तत्र कथमिन्द्रियाभावाद् वैलक्षण्यमुच्यत इति ?

शृणु—

भी ग्राह्य-ग्राहकादिरूप सारा व्यवहार देखा जाता है तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके उपकारक आदित्यादि लोक भी उसी प्रकार देखे जाते हैं, जैसे कि जागरित-अवस्थामें देखे जाते थे, फिर 'इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता है' इस प्रकार विशेषरूपसे निश्चय क्यों किया जाता है ?

समाधान—बतलाते हैं-क्योंकि स्वप्नदर्शनकी जागरितसे विलक्षणता है, जागरित-अवस्थामें आत्मज्योति इन्द्रिय, बुद्धि, मन और आलोकादि व्यापारसे व्याप्त रहती है किंतु यहाँ स्वप्नमें तो इन्द्रियोंके अभाव तथा उनके उपकारक आदित्यादिके प्रकाशके अभावके कारण वह विशुद्ध अर्थात् केवल रहती है, इसलिये यह विलक्षण है ।

शङ्का—किंतु जिस प्रकार जागरितमें दिखायी देते हैं उसी प्रकार स्वप्नमें भी विषयोंकी उपलब्धि होती ही है, फिर इन्द्रियोंके अभावके कारण ही उसकी विलक्षणता क्यों बतायी जाती है ?

समाधान—सुनो—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ॥ १० ॥

उस अवस्थामें न रथ हैं, न रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] हैं और न मार्ग ही हैं। परंतु वह रथ, रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] और रथके मार्गोंकी रचना कर लेता है। उस अवस्थामें आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं हैं, किंतु वह आनन्द, मोद और प्रमोदकी रचना कर लेता है। वहाँ छोटे-छोटे कुण्ड, सरोवर और नदियाँ नहीं हैं; वह कुण्ड, सरोवर और नदियोंकी रचना कर लेता है—वही उनका कर्ता है ॥ १० ॥

न तत्र विषयाः स्वप्ने रथादिलक्षणाः; तथा न रथयोगाः, रथेषु युज्यन्ते इति रथयोगा अश्वादयः, तत्र न विद्यन्ते; न च पन्थानो रथमार्गा भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान् पथश्च सृजते स्वयम् ।

वहाँ—उस स्वप्नावस्थामें रथादिरूप विषय नहीं हैं और न रथयोग हैं, जो रथमें जोते जाते हैं, वे रथयोग अर्थात् अश्वादि वहाँ मौजूद नहीं हैं; और न पथ-रथके मार्ग ही हैं। किंतु यह रथ, रथयोग और मार्गोंकी स्वयं रचना कर लेता है।

कथं पुनः सृजते रथादिसाधनानां वृक्षादीनामभावे ?

शङ्का-किंतु रथादिके साधन वृक्षादिका अभाव होनेपर भी यह उनकी रचना कैसे कर लेता है ?

उच्यते—ननूक्तम् 'अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय' इति; अन्तःकरणवृत्तिरस्य लोकस्य वासना-

समाधान-बतलाते हैं, ऐसा कहा है न कि 'इस सर्ववान् लोककी मात्राको लेकर अपनेको चेतनाशून्य कर तथा दूसरा शरीर रचकर' इत्यादि; सो अन्तःकरणकी वृत्ति ही इस

मात्रा तामुपादाय, रथादिवासना-रूपान्तःकरणवृत्तिस्तदुपलब्धि-निमित्तेन कर्मणा चोद्यमाना दृश्यत्वेन व्यवतिष्ठते; तदुच्यते-स्वयं निर्माय इति; तदेवाह—रथादीन् सृजत इति।

लोककी वासनाकी मात्रा है, उसे लेकर रथादिकी वासनारूपा जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, वह उसकी उपलब्धिके निमित्तभूत कर्मसे प्रेरित होकर दृश्यरूपसे स्थित होती है। उसीको 'स्वयं निर्माय' इस प्रकार कहा है और उसीको 'रथादीन् सृजते' इन शब्दोंसे कहा है।

न तु तत्र, करणं वा करणानुग्राहकाणि वा आदित्यादिज्योतींषि, तदवभास्या वा रथादयो विषया विद्यन्ते; तद्वासनामात्रं तु केवलं तदुपलब्धिकर्मनिमित्त-चोदितोद्भूतान्तःकरणवृत्त्याश्रयं दृश्यते। तद् यस्य ज्योतिषो दृश्यतेऽलुप्तदृशः, तदात्म-ज्योतिरत्र केवलमसिरिव कोशाद् विविक्तम्।

उस अवस्थामें इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अनुग्राहक आदित्यादि प्रकाश अथवा उनसे प्रकाश्य रथादि विषय भी नहीं हैं, उनकी उपलब्धिके हेतुभूत जो कर्म हैं, उन कर्मरूप निमित्तसे प्रेरित जो अन्तःकरणकी उद्भूत वृत्ति है, उसके आश्रित रहनेवाली केवल उनकी वासनामात्र तो देखी जाती है। वह जिस नित्यज्ञानस्वरूप ज्योतिको दिखायी देती है, वह आत्मज्योति इस अवस्थामें म्यानसे निकाली हुई तलवारके समान शुद्ध होती है।

तथा न तत्रानन्दाः सुखविशेषाः, मुदो हर्षाः पुत्रादिलाभ-निमित्ताः, प्रमुदस्त एव प्रकर्षो-पेताः, अथ चानन्दादीन् सृजते। तथा न तत्र वेशान्ताः पल्वलाः, पुष्करिण्यस्तडागाः, स्रवन्त्यो नद्यो

इसी प्रकार उस समय आनन्द-सुखविशेष, मुद्–पुत्रादिकी प्राप्तिसे होनेवाले हर्ष और प्रमुद्–प्रकर्षको प्राप्त हुए वे हर्ष भी नहीं हैं; किंतु यह आनन्दादिको रच लेता है। तथा उस अवस्थामें न वेशान्त–पल्वल (छोटी तलैया), न पुष्करिणी तडाग और न स्रवन्ती–नदियाँ ही

भवन्ति; अथ वेशान्तादीन् सृजते वासनामात्ररूपान्, यस्मात् स हि कर्ता; तद्वासनाश्रयचित्तवृत्त्युद्भवनिमित्तकर्महेतुत्वेनेत्यवोचाम तस्य कर्तृत्वम्; न तु साक्षादेव तत्र क्रिया सम्भवति, साधनाभावात् ।

न हि कारकमन्तरेण क्रिया सम्भवति; न च तत्र हस्तपादादीनि क्रियाकारकाणि सम्भवन्ति; यत्र तु तानि विद्यन्ते जागरिते, तत्र आत्मज्योतिरवभासितैः कार्यकरणै रथादिवासनाश्रयान्तःकरणवृत्त्युद्भवनिमित्तं कर्म निर्वर्त्यते; तेनोच्यते—स हि कर्तेति; तदुक्तम्—'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते' इति; तत्रापि न परमार्थतः स्वतः कर्तृत्वं चैतन्यज्योतिषोऽवभासकत्वव्यतिरेकेण—यच्चैतन्यात्मज्योतिषा-

है; किंतु यह उन वासनामात्ररूपी पल्वलादिकी रचना कर लेता है; क्योंकि वही करता है; उन विषयोंकी वासनाकी आश्रयभूता जो चित्तवृत्ति है उसके परिणामके कारण होनेवाले जो कर्म हैं, उनके कारण ही उसका कर्तृत्व बतलाया गया है, साक्षात्‌रूपसे ही उसमें क्रियाका होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसके पास क्रियाके साधनोंका अभाव है।

कारकके बिना क्रियाका होना सम्भव नहीं है और वहाँ क्रियाके कारक हाथ-पैर आदि हैं नहीं; जहाँ जागरित-अवस्थामें वे रहते हैं वहाँ आत्मज्योतिसे प्रकाशित देह और इन्द्रियोंके द्वारा रथादिकी वासनाओंकी आश्रयभूता अन्तःकरणकी वृत्तिके उत्थानसे होनेवाला कर्म निष्पन्न हो सकता है, इसीसे ऐसा कहा जाता है कि वही कर्ता है।

और इसीसे 'वह आत्मज्योतिसे ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है' ऐसा कहा है; वहाँ भी अवभासक होनेके सिवा इस चैतन्यज्योतिका वास्तवमें स्वतः कोई कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि आत्मा अन्तःकरणके द्वारा चैतन्यात्म-

न्तःकरणद्वारेणावभासयति कार्यकरणानि, तदवभासितानि कर्मसु व्याप्रियन्ते कार्यकरणानि, तत्र कर्तृत्वमुपचर्यत आत्मनः। यदुक्तम्—'ध्यायतीव लेलायतीव' इति, तदेवानूद्यते—'स हि कर्ता' इतीह हेत्वर्थम् ॥१०॥

ज्योतिसे देह और इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है और उससे प्रकाशित हुई देह और इन्द्रियाँ कर्ममें प्रवृत्त होती हैं, इसीसे उनमें आत्माके कर्तृत्वका उपचार किया जाता है। ऊपर जो 'मानो ध्यान करता है, मानो अत्यन्त चञ्चल होता है' ऐसा कहा है, उसीका कर्तृत्वमें हेतु दिखानेके लिये यहाँ 'वही कर्ता है' इस प्रकार अनुवाद किया गया है ॥ १० ॥

स्वप्नसृष्टिके विषयमें प्रमाणभूत मन्त्र

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳहिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ ११ ॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—आत्मा स्वप्नके द्वारा शरीरको निश्चेष्ट कर स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है। वह शुद्ध-इन्द्रियमात्रारूपको लेकर पुनः जागरित स्थानमें आता है। हिरण्मय (ज्योतिःस्वरूप) पुरुष अकेला ही [दोनों स्थानोंमें] जानेवाला है ॥ ११ ॥

तदेते—एतस्मिन्नुक्तेऽर्थ एते श्लोका मन्त्रा भवन्ति—

स्वप्नेन स्वप्नभावेन, शारीरं शरीरम्, अभिप्रहत्य निश्चेष्टमापाद्यासुप्तः स्वयमलुप्तदृगादिशक्तिस्वाभाव्यात्, सुप्तान् वासनाकारोद्भूतानन्तःकरणवृत्त्याश्रयान् वा-

इस उक्त अर्थमें ये श्लोक—मन्त्र हैं—

स्वप्नसे—स्वप्नभावसे शारीर—शरीरको अभिप्रहत्य—निश्चेष्ट कर स्वयं अलुप्तज्ञानादिशक्तिस्वरूप होनेके कारण असुप्त रहकर सुप्त अर्थात् वासनारूपसे उद्भूत अन्तःकरणवृत्ति-

आध्यात्मिकान् सर्वानेव भावान् स्वेन रूपेण प्रत्यस्तमितान् सुप्तान्; अभिचाकशीति, अलुप्तया आत्मदृष्ट्या पश्यत्यवभासयतीत्यर्थः ।

के आश्रित बाह्य और आध्यात्मिक सभी भावोंको, जो अपने स्वरूपसे प्रत्यस्तमित अर्थात् सोये रहते हैं, प्रकाशित करता है। तात्पर्य यह है कि उन्हें अपनी अलुप्त आत्म-दृष्टिसे देखता अर्थात् अवभासित करता है।

शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मदिन्द्रियमात्रारूपम्, आदाय गृहीत्वा, पुनः कर्मणे जागरितस्थानमैत्यागच्छति, हिरण्मयो हिरण्मय इव चैतन्यज्योतिःस्वभावः, पुरुषः, एकहंसः—एक एव हन्तीत्येकहंसः—एको जाग्रत्स्वप्नेहलोकपरलोकादीन् गच्छतीत्येकहंसः ॥ ११ ॥

तथा शुक्र—शुद्ध ज्योतिष्मान् इन्द्रियमात्रारूपको ग्रहणकर वह पुनः कर्म अर्थात् जागरित स्थानमें आ जाता है। वह हिरण्मय—हिरण्मयके समान चैतन्यज्योतिःस्वरूप पुरुष एकहंस है; अकेला ही हन्ति—चलता है, इसलिये एक हंस है। वह अकेला ही जाग्रत्, स्वप्न तथा इहलोक-परलोकादिमें जाता है, इसलिये एकहंस है ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳहिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ १२ ॥

इस निकृष्ट शरीरकी प्राणसे रक्षा करता हुआ वह अमृतधर्मा शरीरसे बाहर विचरता है। वह अकेला विचरनेवाला हिरण्मय अमृत पुरुष जहाँ वासना होती है, वहाँ चला जाता है ॥ १२ ॥

तथा प्राणेन पञ्चवृत्तिना रक्षन् परिपालयन्—अन्यथा मृतभ्रान्तिः स्यात्, अवरं निकृष्टमनेकाशुचिसंघातत्वादत्यन्तबीभत्सम्, कुलायम्

इसी प्रकार प्राणापानादि पाँच वृत्तियोंवाले प्राणसे रक्षण-परिपालन करता हुआ, नहीं तो मरनेकी भ्रान्ति हो जाती, अतः इस अवर-निकृष्ट-अनेकों अपवित्र वस्तुओंका संघात होनेके कारण अत्यन्त बीभत्स कुलाय

नीडं शरीरम्, स्वयं तु बहिस्तस्मात् कुलायात्, चरित्वा—यद्यपि शरीरस्थ एव स्वप्नं पश्यति तथापि तत्सम्बन्धाभावात् तत्स्थ इव आकाशो बहिश्चरित्वेत्युच्यते, अमृतः स्वयममरणधर्मा, ईयते गच्छति, यत्र कामम्—यत्र यत्र कामो विषयेषु उद्भूतवृत्तिर्भवति तं तं कामं वासनारूपेणोद्भूतं गच्छति ॥ १२ ॥

—घोंसले अर्थात् शरीरकी रक्षा करता हुआ, किंतु स्वयं उस कुलायसे बाहर विचरकर; यद्यपि वह शरीरमें रहकर ही स्वप्न देखता है, तथापि उसके सम्बन्धसे रहित होनेके कारण तदन्तर्वर्ती आकाशके समान मानो बाहर विचरकर—ऐसा कहा जाता है, स्वयं अमृत—अमरणधर्मा रहकर ईयते—जाता है, जहाँ कामना होती है अर्थात् जहाँ-जहाँ विषयोंमें कामना उद्भूतवृत्ति रहती है, वासनारूपसे उद्भूत उस-उस काम (कामनाके विषय) के प्रति जाता है ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

वह देव स्वप्नावस्थामें ऊँच नीच भावोंको प्राप्त होता हुआ बहुत-से रूप बना लेता है। इसी प्रकार वह स्त्रियोंके साथ आनन्द मानता हुआ, [मित्रोंके साथ] हँसता हुआ तथा [व्याघ्रादि] भय देखता हुआ-सा रहता है ॥ १३ ॥

किञ्च स्वप्नान्ते स्वप्नस्थाने, उच्चावचम्—उच्चं देवादिभावम् अवचं तिर्यगादिभावं निकृष्टं तदुच्चावचम्, ईयमानो गम्यमानः आप्नुवन्, रूपाणि, देवो द्योतनावान् कुरुते निर्वर्तयति वासनारूपाणि बहून्यसंख्येयानि । उतापि

इसके सिवा स्वप्नान्तमें—स्वप्न-स्थानमें ऊँच-नीच—ऊँच देवादिभाव और नीच तिर्यगादि निकृष्टभाव—ऐसे ऊंच नीच भावोंको प्राप्त होता हुआ वह देव—द्योतनावान् पुरुष 'बहूनि'—असंख्य वासनामय रूप बना लेता है।

स्त्रीभिः सह मोदमान इव, जक्षदिव हसन्निव वयस्यैः, उतेवापि भयानि—बिभेत्येभ्य इति भयानि सिंहव्याघ्रादीनि, पश्यन्निव॥१३॥

वह स्त्रियोंके साथ आनन्द मानता हुआ, मित्रोंके साथ हँसता हुआ और भय—जिनसे वह डर जाता है, ऐसे सिंह-व्याघ्रादि भयोंको देखता हुआ-सा रहता है ॥ १३ ॥

स्वप्नस्थानके विषयमें मतभेद और उसके स्वयंज्योतिष्ट्वका निश्चय

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यꣳ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते। अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति॥ १४ ॥

सब लोग उसके आराम (क्रीडाकी सामग्री) को ही देखते हैं, उसे कोई नहीं देखता। उस सोये हुए आत्माको सहसा न जगावे—ऐसा [वैद्यलोग] कहते हैं। जिस इन्द्रियप्रदेशमें यह सोया हुआ होता है, उसमें प्राप्त न होनेसे इसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। इसीसे अवश्य ही कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि यह (स्वप्नस्थान) इसका जागरितदेश ही है; क्योंकि जिन पदार्थोंको यह जागनेपर देखता है, उन्हींको सोया हुआ भी देखता है [किंतु यह ठीक नहीं है]; क्योंकि इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। [जनक—] वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्षके लिये उपदेश कीजिये ॥ १४ ॥

आराममारमणमाक्रीडामनेन निर्मितां वासनारूपाम् अस्यात्मनः, पश्यन्ति सर्वे जनाः—ग्रामं नगरं स्त्रियम् अन्नाद्यमित्यादिवासनानि-

सब लोग इस आत्माके आराम-आरमण अर्थात् आक्रीडाको यानी इसकी रची हुई वासनारूप क्रीडाको देखते हैं। वे ग्राम, नगर, स्त्री और भक्ष्य अन्नरूप वासनानिर्मित

मितम् आक्रीडनरूपम्; न तं पश्यति तं न पश्यति कश्चन। कष्टं भो वर्ततेऽत्यन्तविविक्तं दृष्टिगोचरापन्नमपि—अहो भाग्यहीनता लोकस्य; यच्छक्यदर्शनमप्यात्मानं न पश्यति—इति लोकंप्रत्यनुक्रोशं दर्शयति श्रुतिः। अत्यन्तविविक्तः स्वयंज्योतिरात्मा स्वप्ने भवतीत्यभिप्रायः।

आक्रीडनके रूपको देखते हैं; उसे नहीं देखते—उस आत्माको कोई नहीं देखता। अहो! बड़ा कष्ट है; जो अत्यन्त भिन्न और दृष्टिकी विषयताको प्राप्त है, जिसका दर्शन भी किया जा सकता है, उस आत्माको कोई नहीं देखता। अहो! जीवोंका कैसा दुर्भाग्य है? इस प्रकार जीवोंके प्रति श्रुति करुणा प्रदर्शित करती है। तात्पर्य यह है कि स्वप्नावस्थामें यह स्वयंज्योति आत्मा अत्यन्त संसर्गशून्य हो जाता है।

तं नायतं बोधयेदित्याहुः—प्रसिद्धिरपि लोके विद्यते, स्वप्न आत्मज्योतिषो व्यतिरिक्तत्वे; कासौ? तमात्मानं सुप्तम्, आयतं सहसा भृशम्, न बोधयेत्—इत्याहुरेवं कथयन्ति चिकित्सकादयो जना लोके; नूनं ते पश्यन्ति—जाग्रद्देहादिन्द्रियद्वारतोऽपसृत्य केवलो बहिर्वर्तत इति, यत आहुः—तं नायतं बोधयेदिति।

'तं नायतं बोधयेदित्याहुः'—स्वप्नमें आत्मज्योतिकी व्यतिरिक्तताके विषयमें लोकमें प्रसिद्धि भी है; वह प्रसिद्धि क्या है—उस सोये हुए आत्माको आयतम्—सहसा—एकाएकी न जगावे ऐसा चिकित्सकादि लोग लोकमें कहते हैं। निश्चय ही वे देखते हैं कि आत्मा जाग्रद्देहसे उसके इन्द्रियरूप द्वारसे निकलकर विशुद्धरूपसे बाहर विद्यमान है; इसीसे 'उसे सहसा न जगावे' ऐसा कहते हैं।

तत्र च दोषं पश्यन्ति—भृशं ह्यसौ बोध्यमानस्तानीन्द्रियद्वाराणि सहसा प्रतिबोध्यमानो न प्रतिप-

उसमें वे यह दोष भी देखते हैं—सहसा जगाये जानेपर वह एकाएकी जगाया हुआ उन इन्द्रियद्वारोंको प्राप्त

यत इति; तदेतदाह—दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते; यमिन्द्रियद्वारदेशम्—यस्माद्देशाच्छुक्रमादायापसृतस्तमिन्द्रियदेशम्—एष आत्मा पुनर्न प्रतिपद्यते, कदाचिद् व्यत्यासेनेन्द्रियमात्राः प्रवेशयति, तत आन्ध्यबाधिर्यादिदोषप्राप्तौ दुर्भिषज्यं दुःखभिषक्कर्मता हास्मै देहाय भवति, दुःखेन चिकित्सनीयोऽसौ देहो भवतीत्यर्थः। तस्मात् प्रसिद्ध्यापि स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वमस्य गम्यते।

नहीं हो सकता। जिस इन्द्रियद्वार-देशको—जिस देशसे कि वह शुक्र (इन्द्रियमात्रा) को लेकर हट गया था, उस इन्द्रियदेशको यह आत्मा फिर प्राप्त नहीं होता। इसीसे श्रुति कहती है, 'दुर्भिषज्यं हास्मै भवति' जिसे कि यह प्राप्त नहीं होता। जिस इन्द्रियद्वारदेशको—जिस देश-से कि यह शुक्र (इन्द्रियमात्रा) लेकर हट गया है, उस इन्द्रियदेश-को यह आत्मा फिर प्राप्त नहीं होता। यदि कभी विपरीतरूपसे इन्द्रियमात्राओंको प्रविष्ट कर देता है तो अन्धत्व-बधिरत्व आदि दोष-की प्राप्ति होनेपर इस देहके लिये दुर्भिषज्य—कष्टकर वैद्यक्रिया हो जाती है, अर्थात् तब यह देह कठिनतासे चिकित्साके योग्य हो जाता है। अतः प्रसिद्धिसे भी स्वप्नमें इसकी स्वयंप्रकाशता ज्ञात होती है,

स्वप्नो भूत्वातिक्रान्तो मृत्यो रूपाणीति तस्मात् स्वप्ने स्वयंज्योतिरात्मा। अथो अपि खल्वन्य आहुः—जागरितदेश एवास्यैष यः स्वप्नः—न संध्यं स्थानान्तरमिहलोकपरलोकाभ्यां व्यतिरिक्तम्, किं तर्हि? इह लोक एव जागरितदेशः।

यह स्वप्न होकर [शरीरादि] मृत्युके रूपोंसे पार हो जाता है, इसलिये स्वप्नमें आत्मा स्वयंज्योति है। इसीसे अवश्य ही कोई-कोई लोग कहते हैं कि यह जो स्वप्न है, इस आत्माका जागरितदेश ही है। इहलोक और परलोकसे भिन्न कोई संध्यस्थान नहीं है; तो फिर क्या है? इहलोक अर्थात् जागरितदेश ही है।

यद्येवम्, किञ्चातः ? शृण्वतो यद् भवति—यदा जागरितदेश एवायं स्वप्नः, तदायमात्मा कार्यकरणेभ्यो न व्यावृत्तस्तैर्मिश्रीभूतः, अतो न स्वयंज्योतिरात्मा—इत्यतः स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनाय अन्ये आहुः—जागरितदेश एवास्यैष इति। तत्र च हेतुमाचक्षते—जागरितदेशत्वे यानि हि यस्माद् हस्त्यादीनि पदार्थजातानि, जाग्रज्जागरितदेशे, पश्यति लौकिकः, तान्येव सुप्तोऽपि पश्यतीति।

यदि ऐसी बात है, तो इससे क्या हुआ ? इससे जो होता है, सो सुनो—यदि यह स्वप्न जागरित देश ही है तो उस समय यह आत्मा देह और इन्द्रियोंसे पृथक् नहीं होता, उनसे मिला ही रहता है, अतः आत्मा स्वयंज्योति नहीं है, इसलिये उसके स्वयंज्योतिष्ट्वको बाधित करनेके लिये कोई लोग कहते हैं कि यह इसका जागरित-देश ही है। उसकी 'जागरितदेशता-में वे यह हेतु बतलाते हैं; क्योंकि लौकिक पुरुष जागरितदेशमें जिन हाथी आदि पदार्थोंको देखता है, उन्हींको वह स्वप्नमें भी देखता है।

तदसत्, इन्द्रियोपरमात्, उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान् पश्यति; तस्मान्नान्यस्य ज्योतिषस्तत्र सम्भवोऽस्ति; तदुक्तम्—'न तत्र रथा न रथयोगाः' इत्यादि; तस्मादत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवत्येव।

यह ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं। इन्द्रियोंके उपरत होनेपर ही पुरुष स्वप्न देखता है; इसलिये उस अवस्थामें किसी अन्य ज्योतिका होना तो सम्भव नहीं है, इसीसे कहा है—'वहाँ न रथ हैं, न रथ-योग हैं' इत्यादि; इसलिये इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता ही है।

स्वयंज्योतिरात्मा अस्तीति स्वप्ननिदर्शनेन प्रदर्शितम्, अति-

स्वयंज्योति आत्मा है—यह बात स्वप्नके दृष्टान्तसे दिखा दी गयी और

क्रामति मृत्यो रूपाणीति च; क्रमेण संचरन्निहलोकपरलोकादीनिहलोकपरलोकादिव्यतिरिक्तः, तथा जाग्रत्स्वप्नकुलायाभ्यां व्यतिरिक्तः, तत्र च क्रमसंचारान्नित्यश्च—इत्येतत् प्रतिपादितं याज्ञवल्क्येन। अतो विद्यानिष्क्रयार्थं सहस्रं ददामीत्याह जनकः; सोऽहमेवं बोधितस्त्वया भगवते तुभ्यं सहस्रं ददामि; विमोक्षश्च कामप्रश्नो मयाभिप्रेतः; तदुपयोग्यं तादर्थ्यात्तदेकदेश एव; अतस्त्वां नियोक्ष्यामि समस्तकामप्रश्ननिर्णयश्रवणेन—विमोक्षायात ऊर्ध्वं ब्रूहीति, येन संसाराद् विप्रमुच्येयं त्वत्प्रसादात्। विमो-

यह भी दिखा दिया गया कि वह मृत्युके रूपोंको पार कर जाता है। वह क्रमशः इहलोक और परलोकादिमें संचार करता हुआ भी इहलोक और परलोकादिसे व्यतिरिक्त है तथा जाग्रत् और स्वप्नके शरीरोंसे पृथक् है और उनमें क्रमशः संचार करनेके कारण नित्य भी है—ऐसा याज्ञवल्क्यने प्रतिपादन किया; अतः विद्यादानसे उऋण होनेके लिये जनकने 'मैं आपको सहस्र मुद्रा देता हूँ' ऐसा कहा। आपके द्वारा इस प्रकार उपदेश किये जानेपर मैं आपको सहस्र मुद्रा देता हूँ। अब मुझे अपने मनोवाञ्छित प्रश्न मोक्षके विषयमें सुनना अभीष्ट है; यह आत्मप्रत्ययका उपदेश मोक्ष या सम्यग्बोधमें उपयोगी है; अतः उसका साधन होनेके कारण यह उस यथार्थ बोधका एकदेश (अङ्ग) ही है, इसलिये समस्त इच्छित प्रश्नोंका निर्णय सुननेके द्वारा मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ; अब आगे मोक्षके लिये उपदेश कीजिये, जिससे कि आपकी कृपासे मैं संसारसे विमुक्त हो

क्षपदार्थैकदेशनिर्णयहेतोः सहस्रदानम् ॥१४॥

जाऊँ, यह सहस्रदान तो जो विमोक्षपदार्थके एकदेशका निर्णय किया गया है, उसके लिये है ॥१४॥

यत् प्रस्तुतम्—'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' इति, तत् प्रत्यक्षतः प्रतिपादितम्—अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति, इति स्वप्ने। यत्तूक्तम्—'स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि' इति तत्रैतदाशङ्क्यते—मृत्यो रूपाण्येवातिक्रामति, न मृत्युम्; प्रत्यक्षं ह्येतत् स्वप्ने कार्यकरणव्यावृत्तस्यापि मोदत्रासादिदर्शनम्; तस्मान्नूनं नैवायं मृत्युमतिक्रामति। कर्मणो हि मृत्योः कार्यं मोदत्रासादि दृश्यते; यदि च मृत्युना बद्ध एवायं स्वभावतः, ततो विमोक्षो नोपपद्यते; न हि स्वभा-

[1]'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' इस प्रकार जिसका प्रस्ताव किया था, उसका स्वप्नमें 'यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है' इस प्रकार प्रत्यक्षतः प्रतिपादन कर दिया। किंतु ऐसा जो कहा कि 'यह स्वप्न होकर इस लोकको अतिक्रमण कर जाता है—मृत्युके रूपोंको पार कर जाता है' उसमें यह आशङ्का रहती है कि वह मृत्युके रूपोंको ही पार करता है, मृत्युको पार नहीं करता; स्वप्नमें देह और इन्द्रियोंसे व्यावृत्त हुए पुरुषको भी आनन्द और भय आदिका दर्शन होता है; यह बात प्रत्यक्ष भी है; अतः निश्चय ही यह मृत्युका अतिक्रमण नहीं करता।

आनन्द और भय आदि कर्मरूप मृत्युके ही कार्य देखे जाते हैं; यदि यह जीव स्वभावतः मृत्युसे ही बँधा हुआ है तो इसका मोक्ष होना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वभावसे किसीकी

---

१. यह पुरुष अपने स्वरूपभूत ज्योतिसे ही प्रकाशित होता है।

बात् कश्चिद् विमुच्यते; अथ स्वभावो न भवति मृत्युः, तत-स्तस्मान्मोक्ष उपपत्स्यते। यथासौ मृत्युरात्मीयो धर्मो न भवति, तथा प्रदर्शनाय अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीत्येवं जनकेन पर्यनुयुक्तो याज्ञवल्क्यस्तद्दिदर्शयिषया प्रववृते—

भी मुक्ति नहीं हो सकती, यदि मृत्यु स्वभाव न हो तभी उससे मोक्ष होना संभव होगा। जिस प्रकार यह मृत्यु आत्माका धर्म नहीं है, वह दिखानेके लिये 'अब आगे मोक्षके लिये उपदेश कीजिये' इस प्रकार जनकद्वारा प्रश्न किये जानेपर याज्ञवल्क्यजी उसे दिखानेकी इच्छासे प्रवृत्त हुए।

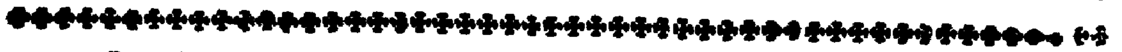
सुषुप्तिके भोगसे आत्माकी असङ्गता

स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च। पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

वह यह आत्मा इस सुषुप्तिमें रमण और विहार कर पुण्य और पापको केवल देखकर, जैसे आया था और जहाँसे आया था, पुनः स्वप्नस्थानको ही लौट आता है। वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे असम्बद्ध रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। [जनक—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है, मैं श्रीमान्को सहस्र मुद्रा देता हूँ, इससे आगे भी मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये' ॥ १५ ॥

स वै प्रकृतः स्वयंज्योतिः पुरुषः, एष यः स्वप्ने प्रदर्शितः, एतस्मिन्सम्प्रसादे—सम्यक् प्रसी-

वह यह प्रकृत स्वयंज्योति पुरुष, जिसे कि स्वप्नावस्थामें प्रदर्शित किया है, इस सम्प्रसादमें—इसमें पुरुष



दत्यस्मिन्निति सम्प्रसादः; जागरिते देहेन्द्रियव्यापारशतसन्निपातजं हित्वा कालुष्यं तेभ्यो विप्रमुक्त ईषत् प्रसीदति स्वप्ने, इह तु सुषुप्ते सम्यक् प्रसीदति —इत्यतः सुषुप्तं सम्प्रसाद उच्यते; "तीर्णो हि सदा सर्वाञ्शोकान्" (४ । ३ । २२) इति "सलिल एको द्रष्टा" (४ । ३ । ३२) इति हि वक्ष्यति सुषुप्तस्थमात्मानम् ।

सम्यक् प्रकारसे प्रसादयुक्त (प्रसन्न) होता है, इसलिये सुषुप्तिको सम्प्रसाद कहते हैं; जागरित-अवस्थामें जो देह और इन्द्रियोंके सैकड़ों व्यापारोंके सम्बन्धसे हुआ क्लेश था, उसे छोड़कर उन देह और इन्द्रियोंसे मुक्त हो जानेके कारण स्वप्नमें वह थोड़ा प्रसन्न होता है, किंतु इस सुषुप्तावस्थामें वह सम्यक्तया प्रसन्न हो जाता है; इसलिए सुषुप्तिको सम्प्रसाद कहते हैं; सुषुप्तस्थ आत्माके विषयमें श्रुति "उस अवस्थामें वह सम्पूर्ण शोकोंसे पार हो जाता है" "जलमें प्रतिबिम्बके समान एक ही द्रष्टा है" ऐसा कहेगी भी ।*

---

* शाङ्करभाष्यमें प्रायः अनेकों जगह सुषुप्तिके दृष्टान्तसे मुक्त आत्माके स्वरूपका कुछ आभास दिया गया है; इसमें कुछ लोग इस भ्रममें पड़ जाते हैं कि सुषुप्तावस्थामें स्थित और मुक्त पुरुषकी प्रायः एक ही स्थिति होती है; किन्तु ऐसा समझना भारी भूल है; मुक्त पुरुषका सभी अवस्थाओं और स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरसे भी सदाके लिये सम्बन्ध छूट जाता है, उसके सभी मायिक बन्धनोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है; लोकदृष्टिमें उसके शारीरिक व्यवहारोंकी प्रतीति होती रहनेपर भी मुक्त पुरुषका उनसे कुछ भी सम्पर्क नहीं रहता । परंतु सुषुप्ति एक अवस्था है, जो स्वयं बन्धन है, अतः सुषुप्त जीवकी मुक्त आत्माके साथ कोई वास्तविक समानता नहीं है । इसका दृष्टान्त इसलिये दिया जाता है कि जिस प्रकार मुक्त आत्मा सभी प्रकारके हर्ष-शोक आदि विकारोंसे सदाके लिये सम्बन्धरहित हो जाता है, उसी प्रकार सुषुप्त जीव भी कुछ क्षणके लिये हर्ष-शोक आदिकी अनुभूतिसे रहित होता है; क्योंकि उस समय वह अव्याकृत मायाके अंशभूत कारण शरीरके सहित ही ब्रह्ममें स्थित होता है, इसलिये उसे कुछ भान नहीं होता । यदि वास्तवमें मुक्तकी-सी ही उसकी स्थिति होती तो पुनः संसारमें उसका प्रत्यागमन नहीं होता, अतः सुषुप्तिके सुखको मोक्ष-सुख मानकर उसके अनुभवके लिये रात-दिन सोये पड़े रहनेकी भूल कभी नहीं करनी चाहिये ।

स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे क्रमेण सम्प्रसन्नः सन् सुषुप्ते स्थित्वा; कथं सम्प्रसन्नः ? स्वप्नात् सुषुप्तं प्रविविक्षुः स्वप्नावस्थ एव रत्वा रतिमनुभूय मित्रबन्धुजनदर्शनादिना, चरित्वा विहृत्यानेकधा चरणफलं श्रममुपलभ्येत्यर्थः, दृष्ट्वैव न कृत्वेत्यर्थः, पुण्यं च पुण्यफलम्, पापं च पापफलम्; न तु पुण्यपापयोः साक्षाद्दर्शनमस्तीत्यवोचाम; तस्मान्न पुण्यपापाभ्यामनुबद्धः; यो हि करोति पुण्यपापे, स ताभ्यामनुबध्यते; न हि दर्शनमात्रेण तदनुबद्धः स्यात्।

वह यह आत्मा इस सम्प्रसादमें-क्रमशः सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न होता हुआ इस सुषुप्तावस्थामें स्थित रहकर किस प्रकार सम्यक् प्रसन्न होता हुआ ? स्वप्नसे सुषुप्तावस्थामें प्रवेश करनेकी इच्छावाला आत्मा स्वप्नावस्थामें रहनेपर ही मित्र और बन्धुजनोंके दर्शनादिसे रतिका अनुभव कर तथा अनेक प्रकारसे विहार कर अर्थात् उस विहारके फलस्वरूप श्रमकी उपलब्धिकर; तात्पर्य यह है कि केवल देखकर, करके नहीं [किसे-?] पुण्य—पुण्यफलको और पाप—पापफलको; यह हम कह चुके हैं कि पुण्य और पापका साक्षात् दर्शन नहीं होता; इसलिये वह पुण्य-पापसे अनुबद्ध नहीं होता; जो पुरुष पुण्य पाप करता है, वही उससे अनुबद्ध होता है; केवल दर्शनमात्रसे उसका अनुबन्धन नहीं होता।

तस्मात् स्वप्नो भूत्वा मृत्युमतिक्रामत्येव, न मृत्युरूपाण्येव केवलम्। अतो न मृत्योरात्मस्वभावत्वाशङ्का; मृत्युश्चेत् स्वभावोऽस्य, स्वप्नेऽपि कुर्यात्; न तु करोति;

अतः स्वप्न होकर वह मृत्युको ही पार कर जाता है, केवल मृत्युके रूपोंको ही नहीं; अतः मृत्यु आत्माका स्वभाव है-ऐसी आशङ्का नहीं हो सकती; यदि मृत्यु इसका स्वभाव होता तो यह स्वप्नमें भी [पुण्य-पापरूप कर्म] करता; किंतु

स्वभावश्चेत् क्रिया स्यात्; अनिर्मोक्षतैव स्यात्; न तु स्वभावः, स्वप्नेऽभावात्; अतो विमोक्षोऽस्योपपद्यते मृत्योः पुण्यपापाभ्याम् ।

ननु जागरितेऽस्य स्वभाव एव ।

न बुद्ध्याद्युपाधिकृतं हि तत्; तच्च प्रतिपादितं सादृश्यात् 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति । तस्मादेकान्तेनैव स्वप्ने मृत्युरूपातिक्रमणान्न स्वाभाविकत्वाशङ्का अनिर्मोक्षता वा ।

तत्र 'चरित्वा' इति—चरणफलं श्रममुपलभ्येत्यर्थः, ततः सम्प्रसादानुभवोत्तरकालं पुनः प्रतिन्यायं यथान्यायं यथागतम्—निश्चित आयो न्यायः, अयनमायो

यह करता नहीं है; यदि स्वभाव होता तो क्रिया भी होती और फिर इसका छुटकारा हो ही नहीं सकता था; किंतु स्वप्नमें क्रियाका अभाव होनेके कारण वह इसका स्वभाव नहीं है; इसलिये इसका पाप-पुण्यरूप मृत्युसे मोक्ष होना सम्भव ही है।

शङ्का-किंतु जागरितमें तो यह इसका स्वभाव है ही।

समाधान-नहीं यह तो बुद्धि आदि उपाधिके कारण ही है। यह बात 'ध्यान-सा करता है, अत्यन्त चञ्चल-सा होता है' इस वाक्यमें सादृश्यद्वारा प्रतिपादित कर दी गयी है। अतः स्वप्नावस्थामें मृत्युके रूपोंका नियमतः अतिक्रमण करनेके कारण उसके स्वाभाविकत्वकी आशङ्का अथवा आत्माके अनिर्मोक्षकी आशङ्का नहीं हो सकती।

वहाँ (स्वप्नावस्थामें) विहार करके अर्थात् विहारके फल श्रमको उपलब्ध करके फिर सम्प्रसादके अनुभवके पश्चात् पुनः प्रतिन्याय-यथान्याय-जिस प्रकार कि आया था निश्चित आयको न्याय कहते हैं तथा अयन-निर्गमनका नाम आय है,

निर्गमनम्, पुनः पूर्वगमनवैपरीत्येन यदागमनं स प्रतिन्यायः—यथागतं पुनरागच्छतीत्यर्थः। प्रतियोनि यथास्थानम्; स्वप्नस्थानाद्धि सुषुप्तं प्रतिपन्नः सन् यथास्थानमेव पुनरागच्छति—प्रतियोनि आद्रवति, स्वप्नायैव स्वप्नस्थानायैव।

पुनः पहले जानेके विपरीत क्रमसे अर्थात् जाकर जो फिर उलटे लौट आना है, उसे प्रतिन्याय कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार गया था, उसी प्रकार उलटे वापस आ जाता है। प्रतियोनि—यथास्थान। स्वप्नस्थानसे ही सुषुप्तिको प्राप्त होकर वह यथास्थान फिर आ जाता है, अर्थात् वह प्रतियोनि (यथास्थान) स्वप्न यानी स्वप्नस्थानके लिये ही लौट आता है।

ननु स्वप्ने न करोति पुण्यपापे तयोः फलमेव पश्यतीति कथमवगम्यते ? यथा जागरिते तथा करोत्येव स्वप्नेऽपि, तुल्यत्वाद् दर्शनस्य—इत्यत आह—स आत्मा, यत् किञ्चित् तत्र स्वप्ने पश्यति पुण्यपापफलम्, अनन्वागतोऽननुबद्धस्तेन दृष्टेन भवति, नैवानुबद्धो भवति।

किंतु यह कैसे जाना गया कि वह स्वप्नमें पाप-पुण्य करता नहीं, केवल उनके फलको ही देखता है ? जिस प्रकार जागरितमें वैसे ही स्वप्नमें भी वह कर्म करता ही है, क्योंकि इन दोनों अवस्थाओंका दर्शन समान रूपसे ही होता है; ऐसी शङ्का होनेपर श्रुति कहती है—वह आत्मा स्वप्नमें जो कुछ पुण्य-पापका फल देखता है, उस देखे हुए-से वह अनन्वागत—बिना बँधा हुआ ही रहता है अर्थात् वह उससे बँधता नहीं है।

यदि हि स्वप्ने कृतमेव तेन स्यात्, तेनानुबध्येत; स्वप्नादुत्थितोऽपि समन्वागतः स्यात्; न च तल्लोके—स्वप्नकृतकर्मणा अन्वागत-

यदि उसने स्वप्नमें वैसा किया ही होता तो वह उससे बँध जाता और स्वप्नसे उठनेपर भी उससे संश्लिष्ट रहता; किंतु, लोकमें स्वप्नमें किये हुए कर्मसे संश्लेष होनेकी प्रसिद्धि

स्त्वप्रसिद्धिः, न हि स्वप्नकृतेनागसा आगस्कारिणमात्मानं मन्यते कश्चित्; न च स्वप्नदृश आगः श्रुत्वा लोकस्तं गर्हति परिहरति वा; अतोऽनन्वागत एव तेन भवति।

तस्मात् स्वप्ने कुर्वन्निवोपलभ्यते, न तु क्रियास्ति परमार्थतः; 'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानः' इति श्लोक उक्तः; आख्यातारश्च स्वप्नस्य सह इवशब्देनाचक्षते—हस्तिनोऽद्य घटीकृता धावन्तीव मया दृष्टा इति; अतो न तस्य कर्तृत्वमिति।

कथं पुनरस्याकर्तृत्वमिति—कार्यकरणैर्मूर्तैः संश्लेषो मूर्तस्य स तु क्रियाहेतुर्दृष्टः; न ह्यमूर्तः कश्चित् क्रियावान् दृश्यते; अमूर्तश्चात्मा, अतोऽसङ्गः; यस्माच्चासङ्गोऽयं पुरुषः, तस्मादनन्वागतस्तेन स्वप्नदृष्टेन; अत एव न क्रिया-

नहीं है; स्वप्नमें किये हुए अपराधसे कोई भी पुरुष अपनेको अपराधी नहीं मानता और लोक भी स्वप्न देखनेवालेके अपराधको सुनकर उसका तिरस्कार या त्याग नहीं करता; अतः वह उससे असंश्लिष्ट ही रहता है।

अतः स्वप्नमें पुरुष केवल करता हुआ-सा दिखायी देता है, वस्तुतः उस समय कोई क्रिया नहीं होती। इसीसे 'मानो वह स्त्रियोंके साथ आनन्दानुभव करता रहता है' ऐसा मन्त्रमें कहा है। स्वप्नका वर्णन करनेवाले भी उसका 'इव' शब्दके साथ ही वर्णन करते हैं—'आज मैंने हाथियोंको एकत्रित होकर दौड़ते हुए-से देखा'; इसलिये स्वप्नद्रष्टामें कर्तृत्व नहीं है।

अच्छा तो इसका अकर्तृत्व किस प्रकार है? मूर्त पदार्थका जो मूर्त देह और इन्द्रिय आदिसे संश्लेष है, वही क्रियाका कारण देखा गया है; कोई भी अमूर्त पदार्थ क्रियावान् नहीं देखा जाता; और आत्मा अमूर्त है, इसलिये वह असङ्ग है; चूँकि यह पुरुष असङ्ग है, इसलिये उस स्वप्नदृष्ट पुण्य-पापसे असंश्लिष्ट है; इसीसे

कर्तृत्वमस्य कथञ्चिदुपपद्यते; कार्यकरणसंश्लेषेण हि कर्तृत्वं स्यात्; स च संश्लेषः सङ्गोऽस्य नास्ति, यतोऽसङ्गो ह्ययं पुरुषः; तस्मादमृतः ।

किसी भी प्रकार इसे क्रियाका कर्तृत्व सम्भव नहीं है; देह और इन्द्रियोंके संश्लेषसे ही कर्तृत्व होता है और इस पुरुषको वह संश्लेष है नहीं, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है; अतः यह अमृत है ।

एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य; सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि; अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि; मोक्षपदार्थैकदेशस्य कर्मप्रविवेकस्य सम्यग्दर्शितत्वात्; अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

[जनक—] याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है; मैं श्रीमान्को सहस्र मुद्रा देता हूँ; अब आगे मोक्षके लिये ही वर्णन कीजिये; क्योंकि ऊपर मोक्षपदार्थके एकदेश कर्मविवेकका अच्छी तरह दिग्दर्शन करा दिया गया है, इसलिये अब आगे मोक्षके लिये ही वर्णन कीजिये ॥ १५ ॥

स्वप्नावस्थाके भोगोंसे आत्माकी असङ्गता

तत्र 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यसङ्गताकर्तृत्वे हेतुरुक्तः; उक्तं च पूर्वम्—कर्मवशात् स ईयते यत्र काममिति; कामश्च सङ्गः; अतोऽसिद्धो हेतुरुक्तः—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति ।

शङ्का—वहाँ (पूर्व मन्त्रमें) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस वाक्यद्वारा असङ्गता ही अकर्तृत्वमें हेतु बतलायी गयी है और पहले यह भी कहा है कि यह कर्मवश जहाँ इसकी इच्छा होती वहीं चला जाता है, तथा इच्छा ही सङ्ग है, इसलिये 'क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है' यह तो असिद्ध हेतु ही कहा गया है ।

न त्वेतदस्ति; कथं तर्हि ? असङ्ग एवेत्येतदुच्यते—

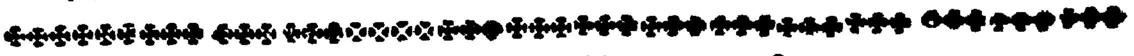
समाधान—ऐसी बात नहीं है; तो फिर यह असङ्ग ही किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है—

स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १६ ॥

वह यह आत्मा इस स्वप्नावस्थामें रमण और विहार कर तथा पुण्य और पापको देखकर ही फिर जिस प्रकार आया था और जहाँसे आया था उस जागरित स्थानको ही लौट जाता है; वह वहाँ जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। (जनक—) याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। मैं श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा भेंट करता हूँ; इससे आगे आप मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये ॥ १६ ॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने स वा एष पुरुषः सम्प्रसादात् प्रत्यागतः स्वप्ने रत्वा चरित्वा यथाकामम्, दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च—इति सर्वं पूर्ववत्; बुद्धान्तायैव जागरितस्थानाय। तस्मादसङ्ग एवायं पुरुषः; यदि स्वप्ने सङ्गवान् स्यात् कामी, ततस्तत्सङ्गजैर्दोषैर्बुद्धान्ताय प्रत्यागतो लिप्येत ॥ १६ ॥

'स वा एषः'-वह यह पुरुष इस स्वप्नावस्थामें सुषुप्तिसे लौटकर स्वप्नमें रमण और विहार कर इच्छानुसार पुण्य और पापको देखकर ही इत्यादि सब अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये बुद्धान्तायैव—जागरितस्थानके लिये ही [लौट आता है]। अतः यह पुरुष असङ्ग ही है। यदि यह इच्छावान् होनेके कारण स्वप्नमें सङ्गवान् होता तो जागरित-अवस्थामें लौटनेपर यह उन सङ्गजनित दोषोंसे लिप्त हो जाता ॥ १६ ॥



जागरित-अवस्थाके भोगोंसे आत्माकी असङ्गता

यथासौ स्वप्नेऽसङ्गत्वात् स्वप्नसङ्गजैर्दोषैर्जागरिते प्रत्यागतो न लिप्यते, एवं जागरितसङ्गजैरपि दोषैर्न लिप्यत एव बुद्धान्ते; तदेतदुच्यते—

जिस प्रकार यह स्वप्नावस्थामें असङ्ग होनेके कारण जागरित-स्थानमें लौटनेपर उन स्वप्नसङ्ग-जनित दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जागरितअवस्थामें भी यह जागरितसङ्गजनित दोषोंसे लिप्त नहीं हो सकता—यही बात अब कही जाती है—

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥ १७ ॥

वह यह पुरुष इस जागरित-अवस्थामें रमण और विहार कर तथा पुण्य और पापको देखकर फिर जिस प्रकार आया था उसी मार्गसे यथा-स्थान स्वप्नस्थानको ही लौट जाता है ॥ १७ ॥

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते जागरिते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववत्। स यत्तत्र बुद्धान्ते किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति—असङ्गो ह्ययं पुरुष इति।

वह यह पुरुष इस बुद्धान्त-जागरित-स्थानमें रमण और विहार कर—इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। वह उस जागरित-अवस्थामें जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है।

ननु दृष्ट्वैवेति कथमवधार्यते? करोति च तत्र पुण्यपापे; तत्फलं च पश्यति।

शङ्का—किंतु यह कैसे निश्चय किया जाता है कि वह उन्हें देखकर ही [लौट आता है]? वहाँ तो वह पुण्य पापोंको करता भी है और उनका फल भी देखता है।

न, कारकावभासकत्वेन कर्तृत्वोपपत्तेः; 'आत्मनैवायं ज्योतिषा

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसका कर्तृत्व कर्ता-कर्मादि कारकोंके अवभासकरूपसे ही है। 'यह पुरुष आत्मज्योतिके द्वारा ही

आस्ते' इत्यादिना आत्मज्योतिषावभासितः कार्यकरणसंघातो व्यवहरति। तेनास्य कर्तृत्वमुपचर्यते, न स्वतः कर्तृत्वम्; तथा चोक्तम् 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति—बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव न स्वतः; इह तु परमार्थापेक्षयोपाधिनिरपेक्ष उच्यते—दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च न कृत्वेति; तेन न पूर्वापरव्याघाताशङ्का; यस्मान्निरुपाधिकः परमार्थतो न करोति, न लिप्यते क्रियाफलेन; तथा च भगवतोक्तम्—"अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥" (गीता १३। ३१) इति।

रहता है' इत्यादि उक्तिके अनुसार आत्मज्योतिसे अवभासित देहेन्द्रिय-संघात व्यवहार करता है। उसके कारण उसके कर्तृत्वका आरोप किया जाता है, इसमें स्वतः कर्तृत्व नहीं है; ऐसा ही कहा भी है—'ध्यान करता हुआ-सा, अत्यन्त चञ्चल होता हुआ सा' इत्यादि इसका कर्तृत्व बुद्धि आदि उपाधिके कारण ही है, स्वतः नहीं है। यहाँ तो उपाधिकी अपेक्षा न रखकर परमार्थकी अपेक्षासे ही ऐसा कहा जाता है कि वह पुण्य-पापको देखकर ही लौट आता है, करके नहीं; इसलिये यहाँ पूर्वापरके व्याघातकी आशङ्का नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक होनेके कारण वह परमार्थतः नहीं करता और न क्रियाफलसे लिप्त ही होता है; ऐसा ही श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—"हे कुन्तीनन्दन! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहते हुए भी न करता है और न लिप्त होता है" इत्यादि।

तथा सहस्रदानं तु कामप्रविवेकस्य दर्शितत्वात्। तथा 'स

तथा सहस्र मुद्राका दान तो कामविवेक प्रदर्शित किये जानेके कारण है। इस प्रकार 'वह

वा एष एतस्मिन् स्वप्ने' 'स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते' इत्येताभ्यां कण्डिकाभ्यामसङ्गतैव प्रतिपादिता; यस्माद् बुद्धान्ते कृतेन स्वप्नान्तं गतः सम्प्रसन्नोऽसम्बद्धो भवति स्तैन्यादिकार्यादर्शनात्, तस्मात् त्रिष्वपि स्थानेषु स्वतोऽसङ्ग एवायम्; अतोऽमृतः स्थानत्रयधर्मविलक्षणः ।

प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव, सम्प्रसादायेत्यर्थः—दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्य स्वप्नशब्देनाभिधानदर्शनात्, अन्तशब्देन च विशेषणोपपत्तेः; 'एतस्मा अन्ताय धावति' इति च सुषुप्तं दर्शयिष्यति ।

यदि पुनरेवमुच्यते—'स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा' 'एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च' इति दर्शनात्, 'स्वप्नान्तायैव' इत्यत्रापि दर्शनवृत्तिरेव

यह पुरुष इस स्वप्नावस्थामें' 'वह यह पुरुष इस जागरित-अवस्थामें' इत्यादि इन दोनों कण्डिकाओंद्वारा आत्माकी असङ्गताका ही प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें जाकर सम्यक् प्रकारसे प्रसादको प्राप्त हुआ यह पुरुष जागरितस्थानमें किये हुए कर्मसे सम्बद्ध नहीं होता, कारण, इस समय इसके चोरी आदि कार्य नहीं देखे जाते; अतः तीनों स्थानोंमें यह स्वयं असङ्ग ही है; इसलिये यह अमृत और तीनों स्थानोंके धर्मोंसे विलक्षण है ।

यह 'प्रतियोनि'—यथास्थान स्वप्नान्त यानी सम्प्रसादके प्रति ही लौट आता है, दर्शनवृत्ति स्वप्नका 'स्वप्न' शब्दसे उल्लेख देखा गया है, अतः 'अन्त' शब्दसे उसके विशेषणकी उत्पत्ति होती है; 'एतस्मा अन्ताय धावति' इस वाक्यसे (वाक्यके 'अन्ताय' पदसे) श्रुति सुषुप्तको प्रदर्शित करेगी ।

और यदि ऐसा कहा जाय कि 'स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा' और 'एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च' ऐसा देखे जानेके कारण 'स्वप्नान्तायैव' इस प्रयोगमें भी दर्शन-

स्वप्न उच्यत इति— तथापि न किञ्चिद् दुष्यति; असङ्गता हि सिषाधयिषिता सिध्यत्येव; यस्माज्जागरिते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च रत्वा चरित्वा च स्वप्नान्तमागतः, न जागरितदोषेणानुगतो भवति ॥ १७ ॥

वृत्तिको ही स्वप्न कहा गया है तो भी कुछ दोष नहीं आता; क्योंकि असङ्गताकी सिद्धि अभीष्ट है और वह सिद्ध हो ही जाती है; कारण यह कि जागरितअवस्थामें पुण्य और पापको देखकर ही तथा रमण और विहार कर यह स्वप्नान्तमें आता है, किंतु उस समय जागरितके दोषसे लिप्त नहीं होता ॥ १७ ॥

एवमयं पुरुष आत्मा स्वयंज्योतिः कार्यकरणविलक्षणस्तत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्यां विलक्षणः—यस्मादसङ्गो ह्ययं पुरुषः असङ्गत्वात्—इत्ययमर्थः 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे' इत्याद्याभिस्तिसृभिः कण्डिकाभिः प्रतिपादितः; तत्रासङ्गतैव आत्मनः; कुतः ? यस्माज्जागरितात् स्वप्नम्, स्वप्नाच्च सम्प्रसादम्, सम्प्रसादाच्च पुनः स्वप्नम्, क्रमेण बुद्धान्तं जागरितम्, बुद्धान्ताच्च पुनः स्वप्नान्तम् इत्येवमनुक्रमसंचारेण स्थानत्रयस्य व्यतिरेकः साधितः। पूर्वमप्युपन्यस्तोऽयमर्थः 'स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि'

इस प्रकार यह पुरुष आत्मा स्वयंज्योति, देह और इन्द्रियोंसे विलक्षण और उनके प्रयोजक काम एवं कर्मसे भी विलक्षण है, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग ही है, असङ्ग होनेके कारण ही 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे' इत्यादि तीन मन्त्रोंद्वारा इस अर्थका प्रतिपादन किया गया है; इससे आत्माकी असङ्गता ही सिद्ध होती है; क्यों ? क्योंकि वह जागरितसे स्वप्नको, स्वप्नसे सुषुप्तिको और सुषुप्तिसे पुनः स्वप्नको तथा क्रमशः बुद्धान्त यानी जागरितको और जागरितसे पुनः स्वप्नको—इस प्रकार क्रमिक संचारके द्वारा उससे तीनों स्थानोंका व्यतिरेक सिद्ध किया गया है। पहले भी 'स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि' इस वाक्यद्वारा इस अर्थका उल्लेख किया

इति—तं विस्तरेण प्रतिपाद्य, केवलं दृष्टान्तमात्रमवशिष्टम्, तद् वक्ष्यामीत्यारभ्यते—

गया है। उसका विस्तारसे प्रतिपादन कर अब जो केवल दृष्टान्तमात्र रह गया है, उसका वर्णन करूँगी—इस उद्देश्यसे श्रुति आरम्भ करती है—

पुरुषके अवस्थान्तर-संचारमें महामत्स्यका दृष्टान्त

तद् यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८ ॥

जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदीके पूर्व और अपर दोनों तीरोंपर क्रमशः संचार करता है, उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों ही स्थानोंमें क्रमशः संचार करता है ॥ १८ ॥

तत्तत्रैतस्मिन् यथा प्रदर्शितेऽर्थे दृष्टान्तोऽयमुपादीयते—यथा लोके महामत्स्यः, महांश्चासौ मत्स्यश्च, नादेयेन स्रोतसाहार्य इत्यर्थः, स्रोतश्च विष्टम्भयति, स्वच्छन्दचारी, उभे कूले नद्याः पूर्वं चापरञ्चानुक्रमेण संचरति; संचरन्नपि कूलद्वयं तन्मध्यवर्तिना उदकस्रोतोवेगेन न परवशी-क्रियते—एवमेवायं पुरुष एता-

'तत्' का अर्थ है; तत्र (वहाँ) अर्थात् इस ऊपर दिखाये हुए विषयमें यह दृष्टान्त बताया जाता है—जिस प्रकार लोकमें महामत्स्य—जो महान् हो और मत्स्य हो अर्थात् जो नदीके स्रोतसे अक्षुण्ण रहनेवाला हो तथा स्रोतको भी रोक देता हो, वह स्वच्छन्द विचरनेवाला महामत्स्य जैसे नदीके पूर्व और अपर दोनों तीरोंपर क्रमशः संचार करता है और संचार करता हुआ भी उन दोनों तीरोंके बीचमें रहनेवाले जलप्रवाहके वेगसे विवश नहीं होता, इसी प्रकार यह पुरुष इन दोनों स्थानोंमें क्रमशः

वुभौ अन्तौ अनुसंचरति; कौ तौ ? स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ।

संचार करता है; वे दोनों स्थान कौन से हैं? स्वप्नस्थान और जागरित-स्थान ।

दृष्टान्तप्रदर्शनफलं तु—मृत्युरूपः कार्यकरणसंघातः सहतत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्याम् अनात्मधर्मः, अयं चात्मा एतस्माद् विलक्षणः—इति विस्तरतो व्याख्यातम् ॥१८॥

दृष्टान्त प्रदर्शन करनेका फल तो यह है कि अपने प्रयोजक काम और कर्मोंके सहित मृत्युरूप देहेन्द्रियसंघात अनात्मधर्म है और यह आत्मा इससे विलक्षण है—इस प्रकार इसकी विस्तारसे व्याख्या कर दी गयी ॥ १८ ॥

अत्र च स्थानत्रयानुसंचारेण स्वयंज्योतिष आत्मनः कार्यकरणसंघातव्यतिरिक्तस्य कामकर्मभ्यां विविक्ततोक्ता; स्वतो नायं संसारधर्मवान्, उपाधिनिमित्तमेव त्वस्य संसारित्वम् अविद्याध्यारोपितम्—इत्येष समुदायार्थ उक्तः ।

यहाँ स्थानत्रयके क्रमिक संचारके द्वारा देहेन्द्रियसंघातसे व्यतिरिक्त स्वयंप्रकाश आत्माकी काम और कर्मोंसे भिन्नता बतलायी गयी है; यह स्वयं संसारधर्मवान् नहीं है, इसका संसारित्व अविद्यासे आरोपित उपाधिके कारण ही है—इस प्रकार यह समुदायका सारांश बतलाया गया ।

तत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानानां त्रयाणां विप्रकीर्णरूप उक्तः, न पुञ्जीकृत्यैकत्र दर्शितः—यस्माज्जागरिते ससङ्गः समृत्युः सकार्यकरणसंघात उपलक्ष्यतेऽविद्यया; स्वप्ने तु कामसंयुक्तो

परंतु यहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त तीनों स्थानोंका पृथक्-पृथक् रूप कहा गया है, सबको मिलाकर एक स्थानमें नहीं दिखाया गया; क्योंकि जागरित-अवस्थामें वह अविद्यावश, ससङ्ग (आसक्तियुक्त), मृत्युयुक्त और कार्यकरणसंघात सहित देखा जाता है, किंतु स्वप्नमें

मृत्युरूपविनिर्मुक्त उपलभ्यते; सुषुप्ते पुनः सम्प्रसन्नोऽसङ्गो भवतीत्यसङ्गतापि दृश्यते; एकवाक्यतया तूपसंह्रियमाणं फलं नित्यमुक्तबुद्धशुद्धस्वभावतास्य नैकत्र पुञ्जीकृत्य प्रदर्शिता, इति तत्प्रदर्शनाय कण्डिका आरभ्यते।

सुषुप्ते ह्येवंरूपतास्य वक्ष्यमाणा 'तद् वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्' इति; यस्मादेवंरूपं विलक्षणं सुषुप्तं प्रविविक्षति; तत् कथम्? इत्याह दृष्टान्तेनास्यार्थस्य प्रकटीभावो भवतीति तत्र दृष्टान्त उपादीयते—

कामयुक्त तथा मृत्युके रूपोंसे विनिर्मुक्त दिखायी देता है और फिर सुषुप्तिमें [1]सम्प्रसादको प्राप्त होकर असङ्ग हो जाता है—इस प्रकार उसकी असङ्गता भी देखी जाती है। अतः एकवाक्यतारूपसे जो उपसंहार किया जानेवाला फल है, वह इसकी नित्य शुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभावता एक स्थानपर संगृहीत करके नहीं दिखायी गयी; अतः अब उसे दिखानेके लिये यह कण्डिका आरम्भ की जाती है।

इसका ऐसा रूप 'तद् वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्' इस वाक्यद्वारा सुषुप्तिमें ही बतलाया जानेवाला है; क्योंकि ऐसे विलक्षणरूपवाले[2] सुषुप्तस्थानमें आत्मा प्रवेश करना चाहता है; वह किस प्रकार, सो श्रुति बतलाती है—दृष्टान्तसे इस अर्थकी स्पष्टता होती है, इसलिये इस विषयमें दृष्टान्त दिया जाता है—

---

१. यह सम्प्रसाद भी क्षणिक ही है; चित्तका लय होनेसे सब प्रकारकी चिन्ताओं और क्लेशोंका बोध न होनेके कारण प्रसन्नता रहती है; उस समय मानसिक विकारोंका सम्पर्क न रहनेसे वह असङ्ग होता है; इसी असङ्गताको बतानेके लिये यह दृष्टान्तमात्र है, वास्तविक असङ्गता तो तत्त्व-बोधसे ही होती है; और उसकी पूर्णतया समानता कहीं नहीं है।

२. जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंकी अपेक्षा सुषुप्तिमें विलक्षणता अवश्य है; क्योंकि उसमें वह कामना, पाप और भय आदिसे रहित होता है; किंतु इसकी यह अकामता आदि क्षणिक ही है। वस्तुतः अकाम, निष्पाप एवं निर्भय तो मुक्त आत्मा ही है, जो सब अवस्थाओंसे परेकी स्थिति है।

सुषुप्ति आत्माका विश्रान्तिस्थान है, इसमें श्येनका दृष्टान्त

तद् यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥

जिस प्रकार इस आकाशमें श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण (तेज उड़नेवाला बाज) सब ओर उड़कर थक जानेपर पंखोंको फैलाकर घोंसलेकी ओर ही उड़ता है, इसी प्रकार यह पुरुष इस स्थानकी ओर दौड़ता है, जहाँ सोनेपर यह किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है ॥ १९ ॥

तद् यथा—अस्मिन्नाकाशे भौतिके श्येनो वा सुपर्णो वा, सुपर्णशब्देन क्षिप्रः श्येन उच्यते; यथा आकाशेऽस्मिन् विहृत्य विपरिपत्य श्रान्तो नानापरिपतनलक्षणेन कर्मणा परिखिन्नः; संहृत्य पक्षौ सङ्गमय्य सम्प्रसार्य पक्षौ; सम्यग्लीयते अस्मिन्निति संलयो नीडः; नीडायैव ध्रियते स्वात्मनैव धार्यते स्वयमेव; यथायं दृष्टान्तः, एवमेवायं पुरुषः; एतस्मा एतस्मै अन्ताय धावति। अन्तशब्दवाच्यस्य विशेषणम्—यत्र यस्मिन्नन्ते सुप्तः, न कञ्चन न कञ्चिदपि;

जिस प्रकार इस भौतिक आकाशमें श्येन अथवा सुपर्ण—सुपर्ण शब्दसे वेगवान् श्येन कहा गया है, जिस प्रकार इस आकाशमें विहार कर—सब ओर उड़कर थक जानेपर कई बार उड़ान भरनारूप कर्मसे खिन्न होकर पंखोंके संहृत—सङ्गत अर्थात् फैलाकर संलय—जिसमें सम्यक् प्रकारसे लीन होता है, उस घोंसलेका नाम संलय है, उस घोंसलेके प्रति स्वयं ही अपनेको धारण करता है; जैसा यह दृष्टान्त है, इसी प्रकार यह पुरुष एतस्मै—इस स्थानके प्रति दौड़ता है। अन्तशब्दवाच्य स्थानका विशेषण—जिस स्थानमें शयन करनेपर यह किसी

कामं कामयते; तथा न कश्चन स्वप्नं पश्यति ।

'न कश्चन कामम्' इति स्वप्नबुद्धान्तयोरविशेषेण सर्वः कामः प्रतिषिध्यते, 'कश्चन' इत्यविशेषिताभिधानात्; तथा 'न कश्चन स्वप्नम्', इति—जागरितेऽपि यद् दर्शनम्, तदपि स्वप्नं मन्यते श्रुतिः, अत आह—न कश्चन स्वप्नं पश्यतीति; तथा च श्रुत्यन्तरम्—"तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः" (ऐ० उ० १ । ३ । १२) इति ।

यथा दृष्टान्ते पक्षिणः परिपतनजश्रमापनुत्तये स्वनीडोपसर्पणम्, एवं जाग्रत्स्वप्नयोः कार्यकरणसंयोगजक्रियाफलैः संयुज्यमानस्य, पक्षिणः परिपतनज इव, श्रमो भवति; तच्छ्रमापनुत्तये स्वात्मनो नीडमायतनं सर्वसंसारधर्मविलक्षणं सर्वक्रियाकारक-

भोगकी इच्छा नहीं करता और इसी प्रकार न किसी स्वप्नको ही देखता है ।

'न कश्चन कामम्' इससे स्वप्न और जागरितके सभी भोगोंका समानरूपसे प्रतिषेध किया जाता है, क्योंकि 'कश्चन' (किसी भी) इस पदके द्वारा किसी भोगविशेषका नाम न लेकर समानरूपसे ही कहा गया है । इसी प्रकार 'न कश्चन स्वप्नम्' इस वाक्यसे भी समझना चाहिये; जागरितमें भी जो कुछ देखा जाता है, उसे भी श्रुति स्वप्न ही मानती है, इसीसे कहती है कि कोई स्वप्न नहीं देखता; ऐसी ही एक अन्य श्रुति भी है—"उसके तीन आवसथ (स्थान) हैं और तीन स्वप्न हैं" इत्यादि ।

जिस प्रकार दृष्टान्तमें उड़ानसे उत्पन्न हुए श्रमकी निवृत्तिके लिये पक्षीका अपने घोंसलेमें जाना दिखाया है, इसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओंमें देहेन्द्रियके संयोगसे होनेवाले क्रियाफलोंसे संयुक्त हुए जीवको, पक्षीके उड़नेसे होनेवाले श्रमके समान ही, श्रम होता है; उस श्रमकी निवृत्तिके लिये वह अपने घोंसले-निवासस्थान अर्थात् सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे विलक्षण तथा सब प्रकार-

फलायासशून्यं स्वमात्मानं प्रविशति ॥ १९ ॥

के क्रिया, कारक और फलके श्रमसे रहित अपने [1]आत्मामें प्रवेश करता है ॥ १९ ॥

स्वप्नदर्शनकी स्थानभूता हिता नाम्नी नाडियोंका वर्णन

यद्यस्यायं स्वभावः—सर्वसंसारधर्मशून्यता, परोपाधिनिमित्तं चास्य संसारधर्मित्वम्; यन्निमित्तं चास्य परोपाधिकृतं संसारधर्मित्वम्, सा चाविद्या—तस्या अविद्यायाः किं स्वाभाविकत्वम्? आहोस्वित् कामकर्मादिवदागन्तुकत्वम्? यदि चागन्तुकत्वम्, ततो विमोक्ष उपपद्यते; तस्याश्चागन्तुकत्वे कोपपत्तिः? कथं वा नात्मधर्मोऽविद्या? इति सर्वानर्थबीजभूताया अविद्यायाः सतत्त्वावधारणार्थं परा कण्डिका आरभ्यते—

यदि यह सर्वसंसारधर्मशून्यता, इस आत्माका स्वभाव है तो इसका सांसारिक धर्मोंसे युक्त होना अन्य उपाधिके कारण है; और जिस हेतुसे इसका परोपाधिकृत संसारधर्मित्व है, वह अविद्या है। अब प्रश्न होता है—वह अविद्या स्वाभाविक है अथवा काम एवं कर्मादिके समान आगन्तुक है? यदि आगन्तुक है, तब तो उससे मोक्ष होना सम्भव है। किंतु उसके आगन्तुक होनेमें युक्ति क्या है? अविद्या आत्माका ही धर्म क्यों नहीं है? अतः सम्पूर्ण अनर्थोंकी बीजभूता अविद्याका स्वरूप निर्णय करनेके लिये आगेकी कण्डिका आरभ की जाती है—

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः

१. सुषुप्तिमें जो जीवका आत्मामें प्रवेश करना कहा है, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वह मुक्त आत्माकी भाँति स्वरूपमें स्थित हो जाता है, यह स्थिति तो पूर्ण बोध होनेपर ही हो सकती है। सुषुप्त जीवका अव्याकृत मायाके अंशभूत कारण-शरीरसे सम्बन्ध बना रहता है; अतः उक्त कथनका तात्पर्य ब्रह्ममें कारण-शरीरके सहित प्रवेश करना है—ऐसा समझना चाहिये।

सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेद सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ २० ॥

उसकी वे ये हिता नामकी नाडियाँ, जिस प्रकार सहस्र भागोंमें विभक्त केश होता है वैसी ही सूक्ष्मतासे रहती हैं। वे शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल रंगके रससे पूर्ण हैं। सो जहाँ इस पुरुषको मानो मारते, मानो अपने वशमें करते हैं और जहाँ मानो इसे हाथी खदेड़ता है अथवा जहाँ यह मानो गड्ढेमें गिरता है; इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्थाके भय देखता है, उन्हें इस स्वप्नावस्थामें अविद्यासे मानता है और जहाँ यह देवताके समान, राजाके समान अथवा मैं ही यह सब हूँ—ऐसा मानता है, वह इसका परमधाम है ॥ २० ॥

ता वै, अस्य शिरःपाण्यादिलक्षणस्य पुरुषस्य, एता हिता नाम नाड्यः, यथा केशः सहस्रधा भिन्नः, तावता तावत्परिमाणेनाणिम्ना अणुत्वेन तिष्ठन्ति; ताश्च शुक्लस्य रसस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः, एतैः शुक्लत्वादिभी रसविशेषैः पूर्णा इत्यर्थः; एते च रसानां वर्णविशेषा वातपित्तश्लेष्मणाम् इतरेतरसंयोगवैषम्यविशेषाद् विचित्रा बहवश्च भवन्ति।

इस शिर एवं हाथ आदि अवयवोंवाले पुरुषकी ये हिता नामकी नाडियाँ, जिस प्रकार सहस्र भागोंमें विभक्त हुआ केश रहता है, उतने ही परिमाण यानी सूक्ष्मतासे रहती हैं; और वे शुक्ल, नील, पीत, हरित एवं लोहित रसकी भरी हुई हैं अर्थात् इन शुक्लत्वादिविशिष्ट रसोंसे पूर्ण हैं; ये रसोंके वर्णविशेष वात, पित्त और कफोंके पारस्परिक संयोगकी विशेष विषमताके कारण विभिन्न और बहुत प्रकारके होते हैं।

तास्वेवंविधासु नाडीषु सूक्ष्मासु वालाग्रसहस्रभेदपरिमाणासु शुक्लादिरसपूर्णासु सकलदेहव्यापिनीषु सप्तदशकं लिङ्गं वर्तते। तदाश्रिताः सर्वा वासना उच्चावचसंसारधर्मानुभवजनिताः; तल्लिङ्गं वासनाश्रयं सूक्ष्मत्वात् स्वच्छं स्फटिकमणिकल्पं नाडीगतरसोपाधिसंसर्गवशाद् धर्माधर्मप्रेरितोद्भूतवृत्तिविशेषं स्त्रीरथहस्त्याद्याकारविशेषैर्वासनाभिः प्रत्यवभासते।

इन इस प्रकारकी शुक्लादि रसोंसे पूर्ण सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई और वालाग्रके सहस्रांश परिमाणवाली सूक्ष्म नाडियोंमें वह सतरह तत्त्वोंका लिङ्गशरीर रहता है। उसीके अधीन संसारके ऊँच-नीच धर्मोंके अनुभवसे उत्पन्न हुई सारी वासनाएँ हैं। वासनाओंका आश्रयभूत वह लिङ्गशरीर सूक्ष्म होनेके कारण स्वच्छ और स्फटिकमणिके समान है, वह नाडीगत रसरूप उपाधिके संसर्गसे धर्माधर्मप्रेरित उद्भूतवृत्तिविशेषवाला तथा स्त्री, रथ, हाथी आदि आकारवाली विशेष वासनाओंसे युक्त भासित होता है।

अथैवं सति, यत्र यस्मिन् अविद्याप्रत्ययो· काले केचन शत्रवो ऽन्ये वा तस्करा उद्भूतदुःखानुभव- प्रदानम्

मामागत्य घ्नन्ति—इति मृषैव वासनानिमित्तः प्रत्ययो ऽविद्याख्यो जायते, तदेतदुच्यते—एनं स्वप्नदृशं घ्नन्तीवेति; तथा जिनन्तीव वशीकुर्वन्तीव; न केचन घ्नन्ति, नापि वशीकुर्वन्ति, केवलं त्वविद्यावासनोद्भवनिमित्तं भ्रान्तिमात्रम्; तथा हस्तीवैनं विच्छाययति वि-

ऐसी स्थितिमें, जिस समय वासनाओंके कारण 'कोई शत्रु अथवा अन्य चोर आदि आकर मुझे मारते हैं' ऐसा अविद्यासंज्ञक वृथा ही प्रत्यय हो जाता है, उसके विषयमें यह कहा जाता है—इस स्वप्नद्रष्टाको मानो मारते हैं, तथा 'जिनन्तीव'—मानो वशमें करते हैं। [वास्तवमें] उस समय न कोई मारते हैं और न वशमें ही करते हैं, यह तो केवल अविद्याजनित वासनाके उद्भवके कारण भ्रान्तिमात्र हो जाती है; इसी प्रकार हाथीके समान कोई इसे विच्छायित-

च्छादयति विद्रावयति धावयतीवेत्यर्थः; गर्तमिव पतति—गर्तं जीर्णकूपादिकमिव पतन्तमात्मानमुपलक्षयति; तादृशी ह्यस्य मृषा वासनोद्भवत्यत्यन्तनिकृष्टाधर्मोद्भासितान्तःकरणवृत्त्याश्रया, दुःखरूपत्वात् ।

किं बहुना, यदेव जाग्रद्भयं पश्यति हस्त्यादिलक्षणम्, तदेव भयरूपम् अत्रास्मिन् स्वप्ने विनैव हस्त्यादिरूपं भयमविद्यावासनया मृषैवोद्भूतया मन्यते ।

विद्याप्रत्ययोद्भूत-देवात्मत्वप्रदर्शनम्

अथ पुनर्यत्राविद्यापकृष्यमाणा विद्या चोत्कृष्यमाणा—किंविषया किंलक्षणा च ? इत्युच्यते—अथ पुनर्यत्र यस्मिन् काले, देव इव स्वयं भवति, देवताविषया विद्या यदोद्भूता जागरितकाले, तदोद्भूतया वासनया देवमिवात्मानं मन्यते; स्वप्नेऽपि तदुच्यते—देव इव, राजेव;

विद्रावित करता अर्थात् दौड़ाता (पीछा करता) है तथा यह मानो गर्तमें गिरता है अर्थात् अपनेको गर्त-पुराने कूपादिमें गिरता-सा देखता है; इसे इस प्रकारकी मिथ्या वासना पैदा हो जाती है, जो दुःखरूपा होनेके कारण अत्यन्त निकृष्ट और अन्तःकरणकी अधर्मोद्भासिता वृत्तिके आश्रित रहती है ।

अधिक क्या, जागरित-अवस्थामें जो कुछ यह हाथी आदिरूप भय देखता है, इस स्वप्नावस्थामें भी हस्त्यादिरूप भयके बिना ही जाग्रत् हुई अविद्यावासनासे उस भयरूपको, जो मिथ्या ही है, सच मानने लगता है ।

और फिर जब अविद्याका अपकर्ष और विद्याका उत्कर्ष होने लगता है, तो उसका क्या विषय और क्या लक्षण होता है ? सो बतलाया जाता है-फिर जब-जिस समय वह स्वयं देवताके समान हो जाता है; अर्थात् जब जागरितकालमें देवताविषयिणी विद्याका उद्भव होता है, तब उस उद्भूत हुई वासनासे वह अपनेको देवताके समान मानता है, स्वप्नमें भी ऐसा ही कहा जाता है कि वह देवताके समान तथा राजाके समान होता है;

राज्यस्थोऽभिषिक्तः स्वप्नेऽपि राजाहमिति मन्यते राजवासनावासितः ।

एवमत्यन्तप्रक्षीयमाणाविद्या उद्भूता च विद्या सर्वात्मविषया यदा, तदा स्वप्नेऽपि तद्भावभावितः—अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते; स यः सर्वात्मभावः, सोऽस्यात्मनः परमो लोकः परम आत्मभावः स्वाभाविकः ।

यत्तु सर्वात्मभावादर्वाग् वाला-
विद्याविद्ययोर्भेदः ग्रमात्रमप्यन्यत्वेन दृश्यते—नाहमस्मीति, तदवस्थाविद्या; तया अविद्यया ये प्रत्युपस्थापिता अनात्मभावा लोकाः, तेऽपरमाः स्थावरान्ताः; तान् संव्यवहारविषयाँल्लोकानपेक्ष्यायं सर्वात्मभावःसमस्तोऽनन्तरोऽबाह्यः, सोऽस्य परमो लोकः । तस्मादपकृष्यमाणायामविद्यायां विद्यायां च काष्ठां गतायां सर्वात्मभावो मोक्षः, यथा स्वयंज्योतिष्ट्वं स्वप्ने प्रत्यक्षत उपलभ्यते तद्वद् विद्याफलमुपलभ्यत इत्यर्थः ।

[तात्पर्य यह है कि] जागरित-अवस्थामें अभिषेकपूर्वक राज्यपर स्थित हुआ पुरुष उस राजवासनासे युक्त होनेके कारण स्वप्नमें भी 'मैं राजा हूँ' ऐसा मानता है ।

इसी प्रकार जब अविद्या अत्यन्त क्षीण हो जाती है और सर्वात्मविषयिणी विद्याका उद्भव हो जाता है, उस समय उस भावसे भावित रहनेके कारण वह स्वप्नमें भी 'मैं ही यह सर्वरूप हूँ' ऐसा मानता है; यह जो सर्वात्मभाव है, वह इस आत्माका परम लोक—स्वाभाविक परम आत्मभाव है ।

और जो सर्वात्मभावसे उतरकर अपनेको वालाग्रमात्र भी 'मैं यह नहीं हूँ' इस प्रकार अन्यरूपसे देखता है, वह अवस्था अविद्या है, उस अविद्याद्वारा प्रस्तुत किये गये जो अनात्मभाव हैं, वे स्थावरपर्यन्त लोक अपरम हैं; उन व्यवहारविषयक लोकोंकी अपेक्षा यह सर्वात्मभाव पूर्ण तथा अन्तर-बाह्यशून्य है, वह इसका परम लोक है; अतः अविद्याका अपकर्ष और विद्याकी पराकाष्ठा होनेपर सर्वात्मभावकी प्राप्ति ही मोक्ष है, तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वप्नमें आत्माका स्वयंप्रकाशत्व प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, उसी प्रकार विद्याके फल मोक्षकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है ।

तथाविद्यायामप्युत्कृष्यमाणायाम्, तिरोधीयमानायां च विद्यायाम्, अविद्यायाः फलं प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते—'अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव' इति। ते एते विद्याविद्याकार्ये सर्वात्मभावः परिच्छिन्नात्मभावश्च; विद्यया शुद्धया सर्वात्मा भवति; अविद्यया चासर्वो भवति; अन्यतः कुतश्चित् प्रविभक्तो भवति; यतः प्रविभक्तो भवति, तेन विरुध्यते; विरुद्धत्वाद् हन्यते जीयते विच्छाद्यते च। असर्वविषयत्वे च भिन्नत्वादेतद् भवति; समस्तस्तु सन् कुतो भिद्यते येन विरुध्येत; विरोधाभावे केन हन्यते जीयते विच्छाद्यते च?

इसी प्रकार अविद्याका उत्कर्ष और विद्याका तिरोभाव होनेपर भी 'जिस समय मानो इसे कोई मारते हैं अथवा वशमें करते हैं' इत्यादि रूपसे अविद्याका फल प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है। वे ये सर्वात्मभाव और परिच्छिन्नात्मभाव क्रमशः विद्या और अविद्याके कार्य हैं; शुद्ध विद्यासे पुरुष सर्वात्मा हो जाता है और अविद्यासे असर्व होता है; वह किसी अन्यसे विभक्त हो जाता है और जिससे विभक्त होता है, उससे विरुद्ध रहता है तथा विरुद्ध रहनेके कारण मारा जाता है, जीता जाता है तथा खदेड़ा जाता है। असर्वका विषय रहनेपर ही भिन्न होनेके कारण यह सब होता है; यदि सर्वरूप रहता तो किससे भिन्न होता, जिससे कि उसका विरोध हो सकता और विरोध न होनेपर वह किसके द्वारा मारा जाता, जीता जाता अथवा खदेड़ा जाता?

अत इदमविद्यायाः सतत्त्वमुक्तं भवति—सर्वात्मानं सन्तमसर्वात्मत्वेन ग्राहयति, आत्मनोऽन्यद् वस्त्वन्तरमविद्यमानं प्रत्युपस्थापयति आत्मानमसर्वमापादयति;

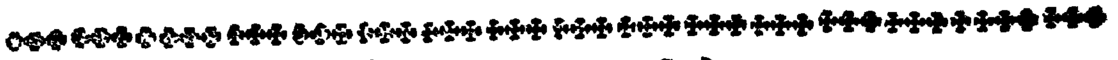
अतः यह अविद्याका स्वभाव बतलाया जाता है कि पुरुष सर्वात्मा होते हुए अपनेको असर्वात्मरूपसे ग्रहण कराता है, आत्मासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु न होनेपर भी उसे उपस्थित करता है तथा आत्माको असर्वरूप बना देता है; फिर

ततस्तद्विषयः कामो भवति यतो भिद्यते, कामतः क्रियामुपादत्ते ततः फलम्—तदेतदुक्तं वक्ष्यमाणं च—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यादि।

जिससे भेद मानता है, उसके विषयमें कामना होती है, कामनासे क्रिया स्वीकार करता है और उससे फल होता है, इसीसे यह कहा है और आगे कहा भी जायगा कि 'जहाँ द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको देखता है' इत्यादि।

इदमविद्यायाः सतत्त्वं सह कार्येण प्रदर्शितम्; विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावः प्रदर्शितोऽविद्याया विपर्ययेण। सा चाविद्या नात्मनः स्वाभाविको धर्मः—यस्माद् विद्यायामुत्कृष्यमाणायां स्वयमपचीयमाना सती, काष्ठां गतायां विद्यायां परिनिष्ठिते सर्वात्मभावे सर्वात्मना निवर्तते, रज्ज्वामिव सर्पज्ञानं रज्जुनिश्चये। तच्चोक्तम्—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्" (बृ० उ० ४।५।१५) इत्यादि; तस्मान्नात्मधर्मोऽविद्या; न हि स्वाभाविकस्योच्छित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते, सवितुरिवौष्ण्यप्रकाशयोः। तस्मात् तस्या मोक्ष उपपद्यते॥ २०॥

यह अविद्याका स्वरूप उसके कार्यके सहित दिखाया गया तथा अविद्याके विपरीतरूपसे विद्याका कार्य सर्वात्मभाव दिखाया गया। वह अविद्या आत्माका स्वाभाविक धर्म नहीं है, क्योंकि विद्याका उत्कर्ष होनेपर वह स्वयं क्षीण होने लगती है और जिस समय विद्याकी परात्मभावकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, उस समय रज्जुका निश्चय होनेपर रज्जुमें सर्पज्ञानके समान उसकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। ऐसा ही कहा भी है—"जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा क्या देखे ?" इत्यादि; इसलिये अविद्या आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि सूर्यके उष्णता और प्रकाशके समान स्वाभाविक धर्मोंका कभी उच्छेद नहीं हो सकता। अतः उससे मोक्ष होना सम्भव है॥ २०॥



मोक्षका स्वरूप प्रदर्शित करनेमें स्त्रीसे मिले हुए पुरुषका दृष्टान्त

इदानीं योऽसौ सर्वात्मभावो मोक्षो विद्याफलं क्रियाकारकफलशून्यम्, स प्रत्यक्षतो निर्दिश्यते, यत्राविद्याकामकर्माणि न सन्ति। तदेतत् प्रस्तुतम्—'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति' इति—

अब, यह जो विद्याका फल क्रियाकारक एवं फलसे रहित सर्वात्मभावरूप मोक्ष है, जिसमें कि अविद्या, काम और कर्मका अभाव है, उसका प्रत्यक्षतया निर्देश किया जाता है। 'जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है' इस प्रकार जिसका प्रकरण चला था—

तद् वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयꣳ रूपम्। तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं तद् वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳरूपꣳशोकान्तरम्॥ २१॥

वह इसका कामरहित, पापरहित और अभयरूप है। व्यवहारमें जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्याको आलिङ्गन करनेवाले पुरुषको न कुछ बाहरका ज्ञान रहता है और न भीतरका, इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित होनेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है और न भीतरका; यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है॥ २१॥

तदेतद् वा अस्य रूपम्—यः सर्वात्मभावः 'सोऽस्य परमो लोकः' इत्युक्तः—तदतिच्छन्दा अतिच्छन्द-

इसका यह रूप, जो कि सर्वात्मभाव एवं 'यह इसका परम लोक है' इस प्रकार कहा गया है, वह अतिच्छन्दा अर्थात् अतिच्छन्द-रूप

मित्यर्थः; रूपपरत्वात्; छन्दः कामः, अतिगतश्छन्दो यस्माद्रूपात् तदतिच्छन्दं रूपम्; अन्योऽसौ सान्तश्छन्दःशब्दो गायत्र्यादिच्छन्दोवाची; अयं तु कामवचनः, अतः स्वरान्त एव; तथाप्यतिच्छन्दा इति पाठः स्वाध्यायधर्मो द्रष्टव्यः। अस्ति च लोके कामवचनप्रयुक्तश्छन्दशब्दः 'स्वच्छन्दः' 'परच्छन्दः' इत्यादौ; अतः 'अतिच्छन्दम्' इत्येवमुपनेयम्, कामवर्जितमेतद् रूपमित्यस्मिन्नर्थे।

है; क्योंकि अतिच्छन्द शब्द रूपका विशेषण है।[1] छन्द कामको कहते हैं, अतः जिस रूपसे छन्द (काम) की निवृत्ति हो गयी है, वह अतिच्छन्दरूप कहलाता है; जो सान्त छन्दस् शब्द है, वह इससे भिन्न है, जो गायत्री आदि छन्दोंका वाचक है; यह छन्द शब्द तो कामवाची है, इसलिये स्वरान्त ही है। फिर भी 'अतिच्छन्दा' ऐसा दीर्घान्त पाठ तो स्वाध्यायधर्म ही समझना चाहिये। लोकमें 'स्वच्छन्द' 'परच्छन्द' इत्यादि शब्दोंमें छन्द शब्दका काम अर्थमें प्रयोग प्रसिद्ध है; अतः कामवर्जित इस अर्थमें इस रूपका 'अतिच्छन्दम्' इस प्रकार परिवर्तन कर लेना चाहिये।

तथापहतपाप्म-पाप्मशब्देन धर्माधर्मावुच्येते, "पाप्मभिः संसृज्यते" (बृ० उ० ४।३।८) "पाप्मनो विजहाति" (४।३।८) इत्युक्तत्वात्; अपहतपाप्म धर्माधर्मवर्जितमित्येतत्।

इसी प्रकार वह अपहतपाप्म है—यहाँ पाप्म शब्दमें धर्म-अधर्म दोनों ही कहे गये हैं जैसा कि "पाप्मभिः संसृज्यते"[2] "पाप्मनो विजहाति"[3] इन वाक्योंमें कहा गया है; अतः 'अपहतपाप्म' अर्थात् धर्माधर्मसे रहित।

किञ्च, अभयम्—भयं हि नामाविद्याकार्यम्, 'अविद्या

तथा अभय है—भय तो अविद्याका ही कार्य है, 'अविद्यासे

1. इसलिये इसका 'अतिच्छन्दम्' ऐसा नपुंसकलिङ्ग प्रयोग होना चाहिये।
2. "धर्माधर्मके आश्रयभूत देह और इन्द्रियोंसे संयुक्त हो जाता है।"
3. "धर्माधर्मके आश्रयभूत देह-इन्द्रियोंको त्याग देता है।"

भयं मन्यते' इति ह्युक्तम् । तत्कार्यद्वारेण कारणप्रतिषेधोऽयम्; अभयं रूपमित्यविद्यावर्जितमित्येतत् । यदेतद् विद्याफलं सर्वात्मभावः, तदेतदतिच्छन्दापहतपाप्माभयं रूपम्—सर्वसंसारधर्मवर्जितम्, अतोऽभयं रूपमेतत् । इदं च पूर्वमेवोपन्यस्तमतीतानन्तरब्राह्मणसमाप्तौ "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" (४ । २ । ४) इत्यागमतः । इह तु तर्कतः प्रपञ्चितं दर्शितागमार्थप्रत्ययदार्ढ्याय ।

भय मानता है' ऐसा पहले कहा जा चुका है । यह उस (अविद्या) के कार्यके द्वारा कारणका प्रतिषेध किया गया है; अभयरूप अर्थात् जो अविद्यासे रहित है । [इस प्रकार] यह जो विद्याका फल सर्वात्मभाव है, वह कामरहित, पुण्यपापरहित एवं अभयरूप है, यह सम्पूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित है, इसलिये अभयरूप है । इसका इससे पूर्ववर्ती ब्राह्मण-की समाप्तिमें "हे जनक ! तू अभय-को प्राप्त हो गया है" इस वाक्य-द्वारा पहले ही वर्णन कर दिया गया है । यहाँ तो पूर्वप्रदर्शित वेदार्थमें प्रत्यय (विश्वास) की दृढ़ताके लिये ही उसका युक्तिपूर्वक विस्तार किया गया है ।

अयमात्मा स्वयं चैतन्यज्योतिःस्वभावः सर्वं स्वेन चैतन्यज्योतिषावभासयति—स यत्तत्र किञ्चित् पश्यति, रमते, चरति, जानाति चेत्युक्तम् ; स्थितं चैतन्यायत्तो नित्यं स्वरूपं चैतन्यज्योतिष्ट्वमात्मनः ।

यह स्वयं चैतन्यज्योतिःस्वरूप आत्मा सबको अपने चैतन्यप्रकाश-से प्रकाशित करता है—'वह जो कुछ उस अवस्थामें देखता, रमण करता, विहार करता एवं जानता है [उस सबसे असङ्ग रहता है]' ऐसा पहले कहा जा चुका है; यह चैतन्यज्योतिष्ट्व आत्माका नित्यस्वरूप है—ऐसा युक्तिसे भी निश्चय होता है ।

स यद्यात्मा अत्राविनष्टः स्वेनैव रूपेण वर्तते, कस्मादयम्—अहम-

इस सुषुप्तावस्थामें यदि वह आत्मा नष्ट न होकर अपने स्वरूपसे ही विद्य-



स्मीत्यात्मानं वा, बहिर्वा—इमानि भूतानीति' जाग्रत्स्वप्नयोरिव न जानाति ? इत्यत्रोच्यते; शृण्वत्रा-ज्ञानहेतुम्—एकत्वमेवाज्ञान-हेतुः; तत् कथम् ? इत्युच्यते । दृष्टान्तेन हि प्रत्यक्षीभवति विवक्षितोऽर्थं इत्याह—

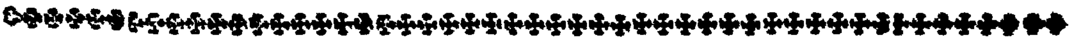
तत्तत्र यथा लोके प्रिययेष्टया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः सम्यक् परिष्वक्तः कामयन्त्या कामुकः सन् न बाह्यमात्मनः किञ्चन किञ्चिदपि वेद—मत्तोऽन्यद् वस्त्विति, न चान्तरम्—अयमहमस्मि सुखी दुःखी वेति; अपरिष्वक्तस्तु तया प्रविभक्तो जानाति सर्वमेव बाह्यम् आभ्य-न्तरं च; परिष्वङ्गोत्तरकालं त्वेकत्वापत्तेर्न जानाति—एवमेव, यथा दृष्टान्तोऽयं पुरुषः क्षेत्रज्ञो

मान रहता है तो जाग्रत् और स्वप्नके समान 'मैं यह हूँ' इस प्रकार अपनेको और अपनेसे बाहर इन भूतोंको क्यों नहीं जानता ?—इसपर यहाँ कहा जाता है—इस अवस्थामें उसके न जाननेका जो हेतु है, सो सुनो—उसके न जाननेका कारण एकत्व[1] ही है; सो किस प्रकार ? यह बतलाया जाता है। विवक्षित अर्थ दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जाता है, इसलिये श्रुति कहती है—

इस विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि जिस प्रकार लोकमें अपनी कामना करनेवाली प्रिया—इष्ट स्त्रीसे स्वयं भी कामुक होकर सम्यक् प्रकारसे आलिङ्गित हुआ पुरुष अपनेसे बाहर 'मुझसे भिन्न कोई भी वस्तु है' ऐसा नहीं जानता और न भीतर ही 'यह मैं सुखी अथवा दुःखी हूँ' ऐसा ही जानता है; उससे आलिङ्गित न होनेपर तो उससे अलग रहकर बाहरी और भीतरी सब बातोंको जानता है, आलिङ्गनके बाद तो एकाकारता हो जानेसे वह कुछ नहीं जानता—इसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त है,

---

१. यहाँ एकत्वका अर्थ आत्माका अद्वैत-बोध नहीं समझना चाहिये; क्योंकि सुषुप्तिमें यह बोध नहीं होता, बोध होनेपर तो किसी अवस्थाविशेषसे, जिसका शब्दद्वारा निर्देश किया जा सके, सम्बन्ध रहता ही नहीं। सुषुप्तिमें चित्तका लय होनेसे कुछ क्षणके लिये नानात्वका भान नहीं होता; इसी आशयसे एकत्वको कारण बताया है।



भूतमात्रासंसर्गतः सैन्धवखिल्यवत् प्रविभक्तः, जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत् कार्यकरण इह प्रविष्टः, सोऽयं पुरुषः, प्राज्ञेन परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेनात्मना परेण ज्योतिषा, सम्परिष्वक्तः सम्यक् परिष्वक्त एकीभूतो निरन्तरः सर्वात्मा, न बाह्यं किञ्चन वस्त्वन्तरम्, नाप्यान्तरमात्मनि—अयमहमस्मि सुखी दुःखी वेति वेद।

तत्र चैतन्यज्योतिःस्वभावत्वे कस्मादिह न जानातीति यत्प्राक्षीः, तत्रायं हेतुर्मयोक्त एकत्वम्, यथा स्त्रीपुंसयोःसम्परिष्वक्तयोः।

क्षेत्रज्ञ पुरुष भूतमात्राके संसर्गसे लवणखण्डके समान विभक्त होकर, जलादिमें चन्द्रमादिके प्रतिबिम्बके समान इस देहेन्द्रियमें प्रविष्ट हो रहा है, वह यह पुरुष अपने स्वाभाविक परमार्थस्वरूप परज्योति प्राज्ञसे सम्यक् प्रकारसे परिष्वक्त अर्थात् एकीभूत होकर निरन्तर और सर्वात्मा होनेके कारण न तो किसी बाह्य वस्त्वन्तरको जानता है और न आन्तर अर्थात् आत्मामें ही 'यह सुखी अथवा दुःखी मैं हूँ' ऐसा समझता है।[1]

इस प्रकार तुमने जो पूछा था कि चैतन्यात्मज्योतिःस्वरूप होनेपर भी वह इस अवस्थामें क्यों नहीं जानता, सो उसमें मैंने एकत्व यह हेतु बतलाया, जिस प्रकार कि परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुषका

१. इस प्रसङ्गसे कोई यह न समझ ले कि सुषुप्तिमें जीव वस्तुतः आत्मनिष्ठ एक अद्वितीय एवं सर्वात्मा हो जाता है। यह तो बोधवान्का स्वरूप है। जो किसी अवस्थाविशेषसे परिच्छिन्न होगा, वह सर्वात्मा कैसे हो सकता है? इस प्रकरणका तात्पर्य, जैसा कि पहले टिप्पणीमें बताया गया है, इतना ही है कि उस समय कुछ भी भान नहीं रहता; सुषुप्तिसे जागनेपर मनुष्य यही अनुभव सुनाता है कि 'मैं सुखसे सोया, कुछ नहीं जाना' इत्यादि। उसको सर्वात्मभावका बोध नहीं रहता; क्योंकि आवरण दूर हुए बिना यह बोध प्रकाशित नहीं होता और बोध हो जानेपर आवरण रहता नहीं; सुषुप्तिसे जीव पुनः जाग्रत्-अवस्थामें आता है; इससे इसको स्वरूपस्थिति नहीं मानी जा सकती; स्त्री-पुरुषके मिलनका दृष्टान्त अथवा सुषुप्तिका दृष्टान्त वस्तुको समझानेके लिये सब एकदेशी दृष्टान्तमात्र है; मुक्त पुरुषको किसी दूसरेसे वास्तविक तुलना हो ही नहीं सकती।

तत्रार्थान्नानात्वं विशेषविज्ञानहेतुरित्युक्तं भवति; नानात्वे च कारणम्—आत्मनो वस्त्वन्तरस्य प्रत्युपस्थापिकाविद्येत्युक्तम्। तत्र चाविद्याया यदा प्रविविक्तो भवति, तदा सर्वेणैकत्वमेवास्य भवति; ततश्च ज्ञानज्ञेयादिकारकविभागेऽसति, कुतो विशेषविज्ञानप्रादुर्भावः कामो वा सम्भवति स्वाभाविके स्वरूपस्थ आत्मज्योतिषि ?

यस्मादेवं सर्वैकत्वमेवास्य रूपम् अतस्तद् वा अस्यात्मनः स्वयंज्योतिःस्वभावस्यैतद् रूपमाप्तकामम्। यस्मात् समस्तमेतत्, तस्मादाप्ताः कामा अस्मिन् रूपे तदिदमाप्तकामम्; यस्य ह्यन्यत्वेन प्रविभक्तः कामः, तदनाप्तकामं भवति, यथा जागरितावस्थाया देवदत्तादिरूपम्; न त्विदं तथा कुतश्चित् प्रविभज्यते; अतस्तदाप्तकामं भवति।

एकत्व होता है। इससे स्वतः ही यह बात बतला दी गयी कि नानात्व विशेष विज्ञानका हेतु है और नानात्वका कारण आत्मासे भिन्न वस्तुको प्रस्तुत करनेवाली अविद्या है—यह बतलाया जा चुका है। सो जिस समय यह अविद्यासे अलग हो जाता है, उस समय इसकी सबके साथ एकता ही हो जाती है; तब आत्मज्योतिके अपने स्वाभाविक स्वरूपमें स्थित हो जानेपर ज्ञान-ज्ञेयादि कारकविभागके न रहनेपर विशेष विज्ञानका प्रादुर्भाव तथा कामना कैसे हो सकते हैं ?

क्योंकि इस प्रकार सबके साथ एकता ही इसका रूप है, इसलिये इस स्वयंज्योतिःस्वरूप आत्माका यह रूप आप्तकाम है। चूँकि यह इसका समस्त रूप है, इसलिये इस रूपमें समस्त काम प्राप्त रहते हैं, अतः यह आप्तकाम है; जिसकी इच्छा उससे अन्य रूपसे विभक्त रहती है, वह अनाप्तकाम होता है, जिस प्रकार जागरित-अवस्थामे देवदत्तादि रूप; किंतु यह आत्मतत्त्व उनकी तरह किसीसे विभक्त नहीं है; इसलिये यह आप्तकाम है।

किमन्यस्माद् वस्त्वन्तरान्न प्रविभज्यते ? आहोस्विदात्मैव तद् वस्त्वन्तरम् ? अत आह—नान्यदस्त्यात्मनः, कथम् ? यत आत्मकामम्—आत्मैव कामा यस्मिन् रूपे, अन्यत्र प्रविभक्ता इवान्यत्वेन काम्यमाना यथा जाग्रत्स्वप्नयोः, तस्यात्मैव अन्यत्वप्रत्युपस्थापकहेतोरविद्याया अभावात्—आत्मकामम्; अत एवाकाममेतद्रूपं काम्यविषयाभावात्; शोकान्तरं शोकच्छिद्रं शोकशून्यमित्येतत्, शोकमध्यमिति वा, सर्वथाप्यशोकमेतद् रूपं शोकवर्जितमित्यर्थः ॥२१॥

क्या यह (आत्माका ज्योतिर्मय रूप) किसी अन्य वस्तुसे विभिन्न नहीं है ? अथवा आत्मा ही वह वस्त्वन्तर है ? इसपर श्रुति कहती है—आत्मासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है—कैसे नहीं है ? क्योंकि वह रूप आत्मकाम है; जिस प्रकार स्वप्न और जागरित-अवस्थाओंमें आत्मासे अन्यत्र विभक्तके समान तथा अन्य रूपसे कामना किये जानेवाले काम होते हैं, उस प्रकार सुषुप्तिमें अन्यत्वको प्रस्तुत करनेवाले अविद्यारूप हेतुका[1] अभाव होनेके कारण आत्मा ही उसके काम हैं, इसलिये वह रूप आत्मकाम है। इसीसे काम्य विषयोंका अभाव होनेके कारण यह रूप अकाम है; तथा शोकान्तर—शोकच्छिद्र अर्थात् शोकशून्य है अथवा यह शोकमध्य है; तात्पर्य यह कि यह रूप सर्वथा ही अशोक अर्थात् शोकरहित है ॥ २१ ॥

सुषुप्तिस्थ आत्माकी निःसङ्ग और निःशोक स्थितिका वर्णन

प्रकृतः स्वयंज्योतिरात्माविद्याकामकर्मविनिर्मुक्त इत्यु-

जिसका प्रकरण चल रहा है, वह स्वयंज्योति आत्मा अविद्या, काम और कर्मसे रहित है—ऐसा कहा जा

१. यहाँ अविद्याका तात्पर्य सांसारिक राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिसे है, उसका अभाव हो जानेका अर्थ है, उसका भान न होना। सुषुप्तिमें जैसा कि पहले बता आये हैं, अव्याकृत मायासे सम्पर्क तो बना ही रहता है। भान तो इसलिये नहीं होता है कि चित्त लीन रहता है; अन्यथा अविद्याका अत्यन्ताभाव मान लेनेपर तो मुक्त और सुषुप्तिमें अन्तर ही नहीं रह जायगा।

-क्तम्, असङ्गत्वादात्मनः, आगन्तुकत्वाच्च तेषाम्। तत्रैवमाशङ्का जायते; चैतन्यस्वभावत्वे सत्यप्येकीभावान्न जानाति स्त्रीपुंसयोरिव सम्परिष्वक्तयोरित्युक्तम्, तत्र प्रासङ्गिकमेतदुक्तम्—कामकर्मादिवत् स्वयंज्योतिष्ट्वमप्यस्यात्मनो न स्वभावः, यस्मात् सम्प्रसादे नोपलभ्यते—इत्याशङ्कायां प्राप्तायां तन्निराकरणाय स्त्रीपुंसयोः दृष्टान्तोपादानेन विद्यमानस्यैव स्वयंज्योतिष्ट्वस्य सुषुप्तेऽग्रहणमेकीभावाद्धेतोः, न तु कामकर्मादिवदागन्तुकम्।

इत्येतत् प्रासङ्गिकमभिधाय यत् प्रकृतं तदेवानुप्रवर्तयति। अत्र चैतत् प्रकृतम्—अविद्याकामकर्मविनिर्मुक्तमेव तद् रूपम्, यत् सुषुप्ते आत्मनो गृह्यते प्रत्यक्षत

चुका है, क्योंकि आत्मा असङ्ग है और वे (अविद्यादि) आगन्तुक हैं। इससे यह आशङ्का होती है—ऊपर यह कहा गया है कि चैतन्यस्वभाव होनेपर भी परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुषोंके समान एकीभाव होनेके कारण आत्मा नहीं जानता; वहाँ प्रसङ्गानुसार यह कहा गया था कि काम और कर्मादिके समान स्वयं-ज्योतिष्ट्व भी इस आत्माका स्वभाव नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें इसकी उपलब्धि नहीं होती, इस आशङ्काके प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करनेके लिये 'स्त्री-पुरुष' का दृष्टान्त देकर [यह बतलाया गया था कि]—[1]एकी-भावरूप हेतुके कारण सुषुप्तिमें विद्यमान स्वयंज्योतिष्ट्वका ही ग्रहण नहीं होता, वह काम-कर्मादिके समान आगन्तुक नहीं है।

इस प्रकार इस प्रासङ्गिक स्वयंज्योतिष्ट्वका निरूपण कर जो प्रकृत है, उसका ही श्रुति उल्लेख करती है। यहाँ प्रकरण यह है कि सुषुप्तिमें आत्माके जिस रूपका प्रत्यक्षतया ग्रहण किया जाता है, वह अविद्या, काम और कर्मसे रहित ही है।[2]

---

१. इस एकीभाव या एकत्वका तात्पर्य पहले टिप्पणी (पृष्ठ ९७१) में बताया जा चुका है।

२. इस प्रसङ्गको समझनेके लिये पृष्ठ ९४५ और ९७२ की टिप्पणी देखिये।

इति। तदेतद् यथाभूतमेवाभिहितम्—सर्वसम्बन्धातीतमेतद् रूपमिति; यस्मादत्रैतस्मिन् सुषुप्तस्थाने अतिच्छन्दापहतपाप्माभयमेतद् रूपम्, तस्मात्—

अतः यह बात ठीक ही कही गयी है कि यह रूप सब प्रकारके—सम्बन्धोंसे परे है; चूँकि यहाँ इस सुषुप्त-स्थानमें यह रूप कामरहित, धर्माधर्म रहित और अभय होता है, इसलिये—

अत्र पितापिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

इस सुषुप्तावस्थामें पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं और वेद अवेद हो जाते हैं। यहाँ चोर अचोर हो जाता है, भ्रूणहत्या करनेवाला अभ्रूणहा हो जाता है, तथा चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस अपौल्कस, श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते हैं। उस समय यह पुरुष पुण्यसे असम्बद्ध तथा पापसे भी असम्बद्ध होता है और हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पार कर लेता है ॥ २२ ॥

अत्र पिता जनकः—तस्य च जनयितृत्वाद् यत् पितृत्वं पुत्रं प्रति, तत् कर्मनिमित्तम्, तेन च कर्मणायमसम्बद्धोऽस्मिन् काले। तस्मात् पितापुत्रसम्बन्धनिमित्तात् कर्मणो विनिर्मुक्तत्वात् पिताप्यपिता भवति; तथा पुत्रोऽपि पितुर्पुत्रो

यहाँ पिता अर्थात् जनक जन्म देनेके कारण जो उसका पुत्रके प्रति पिताका भाव होता है, वह 'कर्म' रूप निमित्तसे है, उस कर्मसे इस कालमें (सुषुप्तिमें) यह असम्बद्ध रहता है। अतः पिता-पुत्र-सम्बन्धके हेतुभूत कर्मसे रहित होनेके कारण इस अवस्थामें पिता भी अपिता हो जाता है; इसी प्रकार पुत्र भी पिताका अपुत्र हो जाता है—ऐसा

भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते; [उभयोर्हि सम्बन्धनिमित्तं कर्म, तदयमतिक्रान्तो वर्तते; 'अपहतपाप्म' इति (४।३।२१) ह्युक्तम्।

वाक्यके सामर्थ्यसे जाना जाता है; क्योंकि दोनोंहीके सम्बन्धका कारण कर्म है, उसका यह अतिक्रमण कर जाता है; क्योंकि इसके स्वरूपको 'अपहतपाप्म' (पापरहित) ऐसा कहा गया है।

तथा मातामाता, लोकाः कर्मणा जेतव्या जिताश्च—तत्कर्मसम्बन्धाभावाल्लोका अलोकाः। तथा देवाः कर्माङ्गभूताः—तत्कर्मसम्बन्धात्ययाद् देवा अदेवाः। तथा वेदाः साध्यसाधनसम्बन्धाभिधायकाः, मन्त्रलक्षणाश्चाभिधायकत्वेन कर्माङ्गभूताः, अधीता अध्येतव्याश्च— कर्मनिमित्तमेव सम्बध्यन्ते पुरुषेण; तत्कर्मातिक्रमणादेतस्मिन् काले वेदा अप्यवेदाः सम्पद्यन्ते।

इसी प्रकार माता अमाता हो जाती है। कर्मसे जीते जानेवाले तथा जीते हुए लोक, उस कर्मसम्बन्धके न रहनेके कारण अलोक हो जाते हैं। और कर्मके अङ्गभूत देवता, उस कर्मसम्बन्धका अतिक्रमण हो जानेके कारण देव अदेव हो जाते हैं। तथा साध्यसाधनसम्बन्धका वर्णन करनेवाले और अभिधायकरूपसे कर्मके अङ्गभूत मन्त्रात्मक वेद, वे अध्ययन किये हुए हों अथवा अध्ययन किये जानेवाले हों, कर्मके कारण ही पुरुषसे सम्बद्ध हैं; उस कर्मका अतिक्रमण करनेके कारण इस अवस्थामें वेद भी अवेद हो जाते हैं।

न केवलं शुभकर्मसम्बन्धातीतः, किं तर्हि? अशुभैरप्यत्यन्तघोरैः कर्मभिरसम्बद्ध एवायं वर्तत इत्येतमर्थमाह—अत्र स्तेनो

[उस अवस्थामें] यह केवल शुभ कर्मके सम्बन्धसे ही परे नहीं होता, तो क्या बात है? यह अशुभ अर्थात् अत्यन्त घोर कर्मोंसे भी असम्बद्ध ही रहता है-यही बात श्रुति बतलाती है-यहाँ चोर अर्थात्

ब्राह्मणसुवर्णहर्ता, भ्रूणघ्ना सह पाठादवगम्यते—स तेन घोरेण कर्मणैतस्मिन् काले विनिर्मुक्तो भवति, येनायं कर्मणा महापातकी स्तेन उच्यते।

तथा भ्रूणहाभ्रूणहा; तथा चाण्डालो न केवलं प्रत्युत्पन्नेनैव कर्मणा विनिर्मुक्तः, किं तर्हि ? सहजेनाप्यत्यन्तनिकृष्टजातिप्रापकेणापि विनिर्मुक्त एवायम्, चाण्डालो नाम शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्नश्चण्डाल एव चाण्डालः, स जातिनिमित्तेन कर्मणासम्बद्धत्वादचाण्डालो भवति। पौल्कसः, पुल्कस एव पौल्कसः, शूद्रेणैव क्षत्रियायामुत्पन्नः, सोऽप्यपौल्कसो भवति।

तथा आश्रमलक्षणैश्च कर्मभिरसम्बद्धो भवतीत्युच्यते, श्रमणः

ब्राह्मणका सुवर्ण चुरानेवाला, यह बात स्तेन शब्दका भ्रूणहाके साथ पाठ होनेसे जानी जाती है,[1] वह इस कालमें उस घोर कर्मसे मुक्त हो जाता है, जिस कर्मके कारण कि यह महापापी स्तेन (चोर) कहा जाता है।

इसी प्रकार भ्रूणहत्या (श्रेष्ठ-ब्राह्मणकी हत्या) करनेवाला अभ्रूणहा हो जाता है; तथा चाण्डाल केवल आगन्तुक कर्मसे ही मुक्त नहीं होता, तो फिर क्या-क्या होता है ? वह अत्यन्त निकृष्ट जातिकी प्राप्ति करानेवाले अपने स्वाभाविक कर्मसे भी मुक्त हो जाता है; चाण्डाल शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुए चण्डालको कहते हैं; वह चण्डाल ही चाण्डाल है। वह अपने जातिसम्बन्धी कर्मसे असम्बद्ध होनेके कारण अचाण्डाल हो जाता है। पौल्कस—शूद्रसे क्षत्राणीमें उत्पन्न हुआ पुल्कस ही पौल्कस कहलाता है; वह भी अपौल्कस हो जाता है।

इसी प्रकार पुरुष आश्रमसम्बन्धी कर्मोंसे भी असम्बद्ध हो जाता है, सो बतलाते हैं—श्रमण अर्थात् जिस

१. 'भ्रूणहा' श्रेष्ठ ब्राह्मणकी हत्या करनेवालेको कहते हैं, इसलिये 'स्तेन' शब्दसे भी साधारण चोर न समझकर ब्राह्मणका सुवर्ण चुरानेवाला समझना चाहिये।

परिव्राट्-यत्कर्मनिमित्तो भवति, स तेन विनिर्मुक्तत्वादश्रमणः; तथा तापसो वानप्रस्थोऽतापसः। सर्वेषां वर्णाश्रमादीनाम् उपलक्षणार्थमुभयोर्ग्रहणम् ।

किं बहुना ? अनन्वागतम्-नान्वागतमनन्वगतम् असम्बद्ध-मित्येतत्, पुण्येन शास्त्रविहितेन कर्मणा, तथा पापेन विहिताकरणप्रतिषिद्धक्रियालक्षणेन; रूपपरत्वान्नपुंसकलिङ्गम्; 'अभयं रूपम्' इति ह्यनुवर्तते ।

किं पुनरसम्बद्धत्वे कारणम् ? इति तद्धेतुरुच्यते—तीर्णोऽतिक्रान्तः, हि यस्मात् एवंरूपः, तदा तस्मिन् काले सर्वाञ्छोकान्—शोकाः कामाः, इष्टविषयप्रार्थना हि तद्विषयवियोगे शोकत्वमापद्यते । इष्टं हि विषयमप्राप्तं वियुक्तं चोद्दिश्य चिन्तयानस्तद्गुणान् संतप्यते पुरुषः, अतः शोकोऽरतिः काम इति पर्यायाः ।

कर्मके कारण पुरुष परिव्राट् होता है, उससे मुक्त होनेके कारण वह अश्रमण हो जाता है तथा तापस यानी वानप्रस्थ अतापस हो जाता है । इन दोनोंका ग्रहण सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमोंके उपलक्षणके लिये है ।

अधिक क्या, वह पुण्य अर्थात् शास्त्रविहित कर्मसे अनन्वागत—असम्बद्ध रहता है तथा विहितका न करना और अविहितका करनारूप पापसे भी असम्बद्ध रहता है; रूपपरक होनेके कारण अनन्वागतम् ऐसा नपुंसकलिङ्ग प्रयोग किया गया है; क्योंकि 'अभयं रूपम्' इसकी यहाँ अनुवृत्ति की जाती है ।

किंतु उसकी असम्बद्धतामें कारण क्या है ? सो उसका हेतु बतलाया जाता है—चूँकि उस समय इस प्रकारका यह पुरुष सम्पूर्ण शोकोंको पार कर जाता है; शोक अर्थात् काम, क्योंकि इष्ट विषयकी प्रार्थना ही उस विषयका वियोग होनेपर शोकरूप हो जाती है । अप्राप्त अथवा वियुक्त हुए इष्टविषयके उद्देश्यसे उसके गुणोंका चिन्तन करनेवाला पुरुष संतप्त होता है, इसलिये शोक, अरति, काम- ये पर्याय शब्द हैं ।

यस्मात् सर्वकामातीतो ह्यत्रायं भवति, 'न कञ्चन कामं कामयते' 'अतिच्छन्दा' इति ह्युक्तम्, तत्प्रक्रियापतितोऽयं शोकशब्दः कामवचन एव भवितुमर्हति। कामश्च कर्महेतुः, वक्ष्यति हि—स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते' इति। अतः सर्वकामातितीर्णत्वाद् युक्तमुक्तम्—'अनन्वागतं पुण्येन' इत्यादि।

हृदयस्य—हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः, तत्स्थमन्तःकरणं बुद्धिर्हृदयमित्युच्यते; तात्स्थ्यात्, मञ्चक्रोशनवत्। हृदयस्य बुद्धेय शोकाः बुद्धिसंश्रया हि ते, "कामः संकल्पो विचिकित्सेत्यादि सर्वं मन एव" (१।५।३)

क्योंकि इस अवस्थामें पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंसे पार हो जाता है, कारण, 'वह किसी कामकी कामना नहीं करता', अतिच्छन्दा है' ऐसा उसके विषयमें कहा गया है, इसलिये उस प्रकरणमें आया हुआ यह 'शोक' शब्द कामका ही वाचक होना चाहिये। काम ही कर्मका कारण है; श्रुति ऐसा कहेगी भी कि 'वह जैसी कामनावाला होता है, वैसे संकल्पवाला होता है, और जैसे संकल्पवाला होता है वैसा कर्म करता है।' अतः समस्त कर्मोंसे अतिक्रान्त होनेके कारण 'वह पुण्यसे असम्बद्ध है' इत्यादि कथन ठीक ही है।

'हृदयस्य'—हृदय कमलके आकारवाले मांसपिण्डको कहते हैं, उसमें स्थित अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि हृदयस्थ होनेके कारण मञ्चके चिल्लानेके[1] समान 'हृदय' कही जाती है। हृदयके अर्थात् बुद्धिके जो शोक हैं; वे बुद्धिके ही आश्रित होते हैं; क्योंकि "काम, संकल्प, विचिकित्सा—ये सब

१. जिस प्रकार 'मञ्चाः क्रोशन्ति' (मञ्च चिल्लाते हैं) इस वाक्यके 'मञ्च' शब्दसे मञ्चस्थ पुरुष ग्रहण किये जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ 'हृदय' शब्दसे हृदयस्थ बुद्धि ग्रहण करनी चाहिये।

इत्युक्तत्वात्। वक्ष्यति च—"कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (४।४।७) इति।

आत्मसंश्रयभ्रान्त्यपनोदाय हीदं वचनम्, हृदि श्रिता हृदयस्य शोका इति च हृदयकरणसम्बन्धातीतश्चायमस्मिन् काले "अतिक्रामति मृत्यो रूपाणि" (४।३।७) इति ह्युक्तम्। हृदयकरणसम्बन्धातीतत्वात्, तत्संश्रयकामसम्बन्धातीतो भवतीति युक्ततरं वचनम्।

सविशेषात्मवाद-निराकरणम् ये तु वादिनो हृदि श्रिताः कामा वासनाश्च हृदयसम्बन्धिनमात्मानमुपसृप्योपश्लिष्यन्ति, हृदयवियोगेऽपि च आत्मन्यवतिष्ठन्ते पुटतैलस्थ इव पुष्पादि गन्ध इत्याचक्षते, तेषां "कामः संकल्पः" (१।५।३) "हृदये ह्येव रूपाणि" (३।९।२०) "हृदयस्य शोकाः" इत्यादीनां वचनानामानर्थक्यमेव।

हृदयकरणोत्पाद्यत्वादिति चेत्, न, 'हृदि श्रिताः' इति

मन ही है" ऐसा कहा गया है। तथा "जो काम इसके हृदयमें आश्रित हैं" ऐसा श्रुति कहेगी भी।

'हृदि श्रिताः' 'हृदयस्य शोकाः' ये वचन शोकादिके आत्माश्रयत्वकी भ्रान्तिका निराकरण करनेके लिये हैं। इस सुषुप्तावस्थामें यह पुरुष हृदयरूप इन्द्रियके सम्बन्धसे परे हो जाता है, जैसा कि "यह मृत्युके रूपोंको पार कर जाता है" इस वाक्यद्वारा कहा गया है, अतः हृदयेन्द्रियके सम्बन्धसे अतीत होनेके कारण यह हृदयाश्रित कामके सम्बन्धसे परे हो जाता है—यह कथन उचित ही है।

किंतु जो [भर्तृप्रपञ्चादि] मतवादी ऐसा कहते हैं कि हृदयमें स्थित काम और वासनाएँ हृदयसम्बन्धी आत्माके पास जाकर उसका आलिङ्गन करती हैं तथा हृदयका वियोग हो जानेपर भी पुटतैलमें स्थित पुष्पादिके गन्धके समान वे आत्मामें विद्यमान रहती हैं, उनके लिये तो "कामः संकल्पः" "हृदये ह्येव रूपाणि" "हृदयस्य शोकाः" इत्यादि वाक्योंकी व्यर्थता ही है।

यदि कहो कि कामादि हृदयरूप करणसे उत्पाद्य होनेके कारण [हृदयसे सम्बद्ध हैं] तो यह ठीक नहीं, क्योंकि 'हृदि श्रिताः' (हृदयमें स्थित)

विशेषणात्। न हि हृदयस्य करणमात्रत्वे 'हृदि श्रिताः' इति वचनं समञ्जसम्, 'हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि' इति च। आत्मविशुद्धेश्च विवक्षितत्वाद् हृच्छ्रयणवचनं यथार्थमेव युक्तम्; 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति च श्रुतेरन्यथासम्भवाद्।

'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इति विशेषणादात्माश्रया अपि सन्तीति चेन्न, अनाश्रितापेक्षत्वात्—नात्र आश्रयान्तरमपेक्ष्य ये हृदीति विशेषणम्, किं तर्हि? ये हृद्यनाश्रिताः कामास्तानपेक्ष्य विशेषणम्। ये त्वप्ररूढा भविष्या भूताश्च प्रतिपक्षतो निवृत्तास्ते नैव हृदि श्रिताः। सम्भाव्यन्ते

ऐसा विशेषण दिया गया है। यदि हृदय उनकी उत्पत्तिका करणमात्र ही हो तो 'हृदि श्रिताः' तथा 'हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि' ये वचन यथार्थ नहीं हो सकते; किंतु यहाँ आत्माकी विशुद्धि विवक्षित होनेके कारण उनका हृदयाश्रयत्व बतलाना यथार्थ एवं उचित ही है, क्योंकि 'ध्यायतीव लेलायतीव' इस श्रुतिका कोई दूसरा अर्थ होना सम्भव नहीं है।

यदि कहो 'जो काम इसके हृदयमें स्थित हैं' ऐसा विशेषण देनेसे ज्ञात होता है कि कुछ काम आत्माके आश्रित भी हैं, तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि यह हृदयमें अनाश्रित कामोंकी अपेक्षासे है—यहाँ 'ये हृदि' ऐसा विशेषण कामोंके किसी अन्य आश्रयकी अपेक्षासे नहीं है, तो किस कारणसे है? जो काम हृदयके आश्रित नहीं हैं, उनकी अपेक्षासे यह विशेषण है। भविष्यमें होनेवाले जो काम हृदयमें आरूढ नहीं हैं, तथा जो भूतकालमें होकर विरोधके कारण निवृत्त हो गये हैं, वे हृदयमें स्थित नहीं हैं। उनकी भी सम्भावना

च ते, अतो युक्तं तानपेक्ष्य विशेषणम्—ये प्ररूढा वर्तमाना विषये ते सर्वे प्रमुच्यन्त इति।

तथापि विशेषणानर्थक्यमिति चेन्न, तेषु यत्नाधिक्याद् हेयार्थत्वात्। इतरथा अश्रुतमनिष्टं च कल्पितं स्यादात्माश्रयत्वं कामानाम्।

'न कश्चन कामं कामयते' इति प्राप्तप्रतिषेधादात्माश्रयत्वं कामानां श्रुतमेवेति चेन्न, 'सधीः स्वप्नो भूत्वा' इति परनिमित्तत्वात् कामाश्रयत्वप्राप्तेः। असङ्गवचनाच्च; न हि कामाश्रयत्वेऽसङ्गवचनमुपपद्यते, सङ्गश्च काम इत्यवोचाम।

हो सकती थी, इसलिये उनकी अपेक्षासे ऐसा विशेषण देना कि 'जो आरूढ अर्थात् विषयमें विद्यमान हैं वे सब ही मुक्त हो जाते हैं,' उचित ही है।

यदि कहो ऐसा माननेपर भी यह विशेषण निरर्थक है तो ठीक नहीं, क्योंकि हृदयारूढ़ काम ही हेय हैं कारण कि उन्हींकी निवृत्तिके लिये अधिक यत्नकी आवश्यकता होती है। यदि यह विशेषण न दिया गया होता तो 'कामनाएँ आत्माके आश्रित हैं' ऐसी कल्पना होती, जिसका न तो श्रुति में ही प्रतिपादन हुआ है और न उसको मानना इष्ट ही है।

प्रतिषेध प्राप्त वस्तुका ही होता है, अतः 'किसी कामकी कामना नहीं करता' ऐसा प्रतिषेध होनेके कारण कामोंका आत्माश्रयत्व तो श्रुतिसम्मत ही है—ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि 'बुद्धिके सहित स्वप्न होकर' इस वाक्यके अनुसार आत्माको कामाश्रयत्वकी प्राप्ति अन्य (बुद्धि) के कारण है। आत्माको असङ्ग बतलानेसे भी यही सिद्ध होता है; कामका आश्रयभूत होनेपर तो आत्माको असङ्ग कहना उचित नहीं हो सकता, सङ्ग ही काम है—ऐसा हम कह चुके हैं।

'आत्मकामः' इति श्रुतेरात्मविषयोऽस्य कामो भवतीति चेन्न, व्यतिरिक्तकामाभावार्थत्वात्तस्याः। वैशेषिकादितन्त्रन्यायोपपन्नमात्मनः कामाद्याश्रयत्वमिति चेन्न, 'हृदि श्रिताः' इत्यादि विशेषश्रुतिविरोधादनपेक्ष्यास्ता वैशेषिकादितन्त्रोपपत्तयः; श्रुतिविरोधे न्यायाभासत्वोपगमात्।

स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनाच्च; कामादीनां च स्वप्ने केवलदृशिमात्रविषयत्वात् स्वयंज्योतिष्ट्वं सिद्धं स्थितं च बाध्येत; आत्मसमवायित्वे दृश्यत्वानुपपत्तेः, चक्षुर्गतविशेषवत्। द्रष्टुर्हि दृश्यमर्थान्तरभूतमिति द्रष्टुः स्वयंज्योतिष्ट्वं

यदि कहो 'आत्मकामः' ऐसी श्रुति होनेके कारण इसे आत्मसम्बन्धी कामना तो होती ही है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह श्रुति आत्मभिन्न कामका अभाव बतलानेके लिये है; यदि कहो कि आत्माका कामाश्रयत्व वैशेषिकादि शास्त्रोंकी युक्तिसे सिद्ध होता है तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि 'हृदि श्रिताः' इत्यादि विशेष श्रुतियोंसे विरुद्ध होनेके कारण वे वैशेषिकादि शास्त्रोंकी उपपत्तियाँ उपेक्षाके योग्य हैं; कारण श्रुतिसे विरुद्ध होनेपर उनको न्यायाभास माना गया है।

इसके सिवा ऐसा माननेसे आत्माका स्वयंज्योतिष्ट्व भी बाधित हो जाता है; स्वप्नमें कामादि केवल साक्षीमात्रके विषय हैं, इससे जो उसका सिद्ध एवं विद्यमान स्वयंज्योतिष्ट्व है वह बाधित हो जायगा; क्योंकि उनका आत्मासे समवायसम्बन्ध होनेपर वे आत्माका दृश्य नहीं हो सकेंगे, जैसे नेत्रगत शुक्लत्व-कृष्णत्व आदि विशेष नेत्रके दृश्य नहीं होते। द्रष्टाका दृश्य उससे भिन्न पदार्थ होता है, इसीसे द्रष्टाका स्वयंप्रकाशत्व

सिद्धम्। तद् बाधितं स्याद् यदि कामाद्याश्रयत्वं परिकल्प्येत। सर्वशास्त्रार्थविप्रतिषेधाच्च। परस्यैकदेशकल्पनायां कामाद्याश्रयत्वे च सर्वशास्त्रार्थजातं कुप्येत। एतच्च विस्तरेण चतुर्थेऽवोचाम। महता हि प्रयत्नेन कामाद्याश्रयत्वकल्पनाः प्रतिषेद्धव्याः, आत्मनः परेणैकत्वशास्त्रार्थसिद्धये। तत्कल्पनायां पुनः क्रियमाणायां शास्त्रार्थ एव बाधितः स्यात्। यथेच्छादीनामात्मधर्मत्वं कल्पयन्तो वैशेषिका नैयायिकाश्च उपनिषच्छास्त्रार्थेन न सङ्गच्छन्ते, तथेयमपि कल्पनोपनिषच्छास्त्रार्थबाधनान्नादरणीया॥ २२॥

सिद्ध होता है। अतः यदि आत्मामें कामादिके आश्रयत्वकी कल्पना की जायगी तो वह बाधित हो जायगा। सम्पूर्ण शास्त्रोंके तात्पर्यसे विरोध होनेके कारण भी [यह सिद्धान्त अग्राह्य है]। जीव परमात्माका एक देश है तथा आत्मा कामादिका आश्रय है—ऐसा माननेसे तो सम्पूर्ण शास्त्रके तात्पर्योंका व्याकोप हो जायगा। यह बात हमने चतुर्थ[1] अध्यायमें विस्तारसे कही है; अतः आत्माका परमात्मासे एकत्व है—इस शास्त्र-तात्पर्यकी सिद्धिके लिये 'आत्मा कामादिका आश्रय है' इस कल्पनाका पूरा प्रयत्न करके विरोध करना चाहिये। पुनः इस कल्पनाके करनेपर तो शास्त्रका तात्पर्य ही बाधित हो जायगा। जिस प्रकार इच्छादिको आत्माका धर्म कल्पना करनेवाले वैशेषिक और न्यायमतावलम्बियोंकी औपनिषद शास्त्रतात्पर्यसे सङ्गति नहीं होता, उसी प्रकार औपनिषद शास्त्रार्थकी बाधिका होनेके कारण यह कल्पना भी आदरणीय नहीं है॥ २२॥

सुषुप्तिमें स्वयंज्योति आत्माकी दृष्टि आदिका अनुभव न होनेमें हेतु

स्त्रीपुंसयोरिवैकत्वान्न पश्यती-

शङ्का—स्त्री और पुरुषके समान

1. उपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें।

त्युक्तम्, स्वयंज्योतिरिति च। स्वयंज्योतिष्ट्वं नाम चैतन्यात्मस्वभावता। यदि हि अग्न्युष्णत्वादिवच्चैतन्यात्मस्वभाव आत्मा स कथमेकत्वेऽपि हि स्वभावं जह्यात्, न जानीयात्? अथ न जहाति, कथमिह सुषुप्ते न पश्यति? विप्रतिषिद्धमेतत्—चैतन्यमात्मस्वभावो न जानाति चेति।

सुषुप्तिमें जीव और परमात्माकी एकता हो जानेके कारण वह नहीं देखता तथा आत्मा स्वयंज्योति है—यह कहा गया; स्वयंज्योतिष्ट्व-का अर्थ है चैतन्यात्मस्वरूपता। यदि अग्निके उष्णत्वादिके समान आत्मा चैतन्यस्वरूप है तो परमात्माके साथ एकत्व होनेपर भी वह अपने स्वभावको कैसे छोड़ देता है, जिससे कि वह नहीं जानता? और यदि वह स्वभावको नहीं छोड़ता तो यहाँ सुषुप्तिमें देखता क्यों नहीं है? वह चैतन्य स्वरूप है और दूसरेको नहीं जानता-यह कथन तो सर्वथा विरुद्ध है।

न विप्रतिषिद्धम्, उभयमप्येतदुपपद्यत एव। कथम्—

समाधान—यह विरुद्ध नहीं है, ये दोनों बातें भी सम्भव ही हैं। किस प्रकार—

यद् वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्॥ २३॥

वह जो नहीं देखता सो देखता हुआ ही नहीं देखता; द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस समय उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे देखे॥ २३॥

यद् वै सुषुप्ते तन्न पश्यति पश्यन् वै तत्, तत्र पश्यन्नेव न पश्यति। यत् तत्र सुषुप्ते न

वह जो सुषुप्तिमें नहीं देखता सो निश्चय उस अवस्थामें देखता हुआ ही नहीं देखता। तुम जो ऐसा जानते हो कि वह सुषुप्तिमें नहीं

पश्यतीति जानीषे तन्न तथा गृह्णीयाः; कस्मात् ? पश्यन् वै भवति तत्र ।

देखता सो वैसा मत समझो; क्यों ? क्योंकि वहाँ भी वह देखता ही रहता है ।

नन्वेवं न पश्यतीति सुषुप्ते जानीमो यतो न चक्षुर्वा मनो वा दर्शने करणं व्यापृतमस्ति । व्यापृतेषु हि दर्शनश्रवणादिषु पश्यतीति व्यवहारो भवति शृणोतीति वा । न च व्यापृतानि करणानि पश्यामः; तस्मान्न पश्यत्येवायम् ।

शङ्का—किंतु वह सुषुप्तिमें इस प्रकार नहीं देखता—ऐसा हम जानते हैं; क्योंकि वहाँ चक्षु या मन कोई भी इन्द्रिय दर्शनमें व्यापार करनेवाली नहीं होती । दर्शन और श्रवणादि इन्द्रियोंके व्यापार करनेपर ही 'देखता है' अथवा 'सुनता है' ऐसा व्यवहार होता है । और वहाँ हम इन्द्रियोंको व्यापारयुक्त नहीं देखते; इसलिये यह नहीं ही देखता है ।

न हि; किं तर्हि ? पश्यन्नेव भवति, कथम् ? न हि यस्माद् द्रष्टुर्दृष्टिकर्तुर्या दृष्टिस्तस्या दृष्टेर्विपरिलोपो विनाशः, स न विद्यते । यथाग्नेरौष्ण्यं यावदग्निभावि, तथायं चात्मा द्रष्टाविनाशी, अतोऽविनाशित्वादात्मनो दृष्टिरप्यविनाशिनी, यावद्द्रष्टृभाविनी हि सा ।

समाधान—नहीं; तो फिर क्या बात है ? यह देखता ही है, किस प्रकार ? क्योंकि द्रष्टा-दर्शनक्रियाके कर्ताकी जो दृष्टि है, उस दृष्टिका जो विपरिलोप विनाश है, वह नहीं होता । जिस प्रकार अग्निकी उष्णता अग्निकी सत्तातक रहनेवाली है, उस प्रकार यह द्रष्टा आत्मा तो अविनाशी है, अतः आत्माके अविनाशी होनेके कारण आत्माकी दृष्टि भी अविनाशिनी है—वह द्रष्टाकी स्थितितक रहनेवाली ही है ।

ननु विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते द्रष्टुः सा दृष्टिर्न विपरिलुप्यत इति च। दृष्टिश्च द्रष्ट्रा क्रियते; दृष्टिकर्तृत्वाद्धि द्रष्टेत्युच्यते; क्रियमाणा च द्रष्ट्रा दृष्टिर्न विपरिलुप्यत इति चाशक्यं वक्तुम्। ननु न विपरिलुप्यत इति वचनादविनाशिनी स्यात्; न, वचनस्य ज्ञापकत्वात्। न हि न्यायप्राप्तो विनाशः कृतकस्य वचनशतेनापि वारयितुं शक्यते; वचनस्य यथाप्राप्तार्थज्ञापकत्वात्।

नैष दोषः; आदित्यादिप्रकाशकत्ववद् दर्शनोपपत्तेः; यथा आदित्यादयो नित्यप्रकाशस्वभावा एव सन्तः स्वाभाविकेन नित्येनैव प्रकाशेन प्रकाशयन्ति, न ह्यप्रकाशात्मानः सन्तः प्रकाशं कुर्वन्तः प्रकाशयन्तीत्युच्यन्ते; किं

शङ्का-किंतु द्रष्टाकी वह दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता—यह कथन तो परस्परविरुद्ध है। दृष्टि तो द्रष्टाद्वारा ही की जाती है; दृष्टिकर्ता होनेके कारण ही वह द्रष्टा कहा जाता है; द्रष्टाके द्वारा दृष्टि की जानेवाली है और उसका लोप नहीं होता—यह तो कहा ही नहीं जा सकता। यदि कहो कि 'न विपरिलुप्यते' इस वचनके अनुसार वह अविनाशिनी होनी ही चाहिये तो यह ठीक नहीं; क्योंकि वचन तो केवल ज्ञापक है कृतक वस्तुका विनाश न्यायप्राप्त है, अतः उसका सैकड़ों वचनोंसे भी निवारण नहीं किया जा सकता; क्योंकि वचन तो जो वस्तु जैसी प्राप्त हुई है, उसे वैसी ही सूचित कर देनेवाला है।

समाधान—यह दोष नहीं है; क्योंकि आदित्यादिके प्रकाशकत्वके समान इसका देखना भी उपपन्न ही है। जिस प्रकार आदित्यादि नित्यप्रकाशस्वभाव होते हुए ही अपने नित्यस्वाभाविक प्रकाशसे प्रकाश करते हैं, वे स्वयं अप्रकाशस्वरूप होकर उससे अपनेसे भिन्न प्रकाश उत्पन्न करके प्रकाशित करते हैं—ऐसा उनके विषयमें नहीं कहा जाता तो,